VHP

श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १०७

श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचितं-

शारदातिलकम्

श्रीमद्राघवभट्टकृत 'पदार्थादर्श' व्याख्यासहितम्

सम्पादकः—

महामहोपाध्याय श्रीमुकुन्दझा बख्शी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१०७



श्रीलक्ष्मणदेशिकेन्द्रविरचितं—

शारदातिलकम्

श्रीमद्राघवभट्टकृत 'पदार्थादर्श'-व्याख्यासहितम्

दर्शनसङ्कायाध्यक्ष डा० महाप्रभुलालगोस्वामिकृतया
विस्तृतहिन्दीभूमिकया समेतम्

सम्पादक :—

महामहोपाध्यायश्रीमुकुन्दझाबख्शी



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : तृतीय, वि० संवत् २०४३ (प्रथम बार हिन्दी भूमिका के साथ)
मूल्य : रु० १००-००

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
107
*****

ŚĀRADĀTILAKAM

OF

ŚRĪ LAKŚMAṆADEŚIKENDRA

with

Padārthādarśa Commentary

By

ŚRĪMAD RĀGHAVA BHAṬṬA

Edited by

M. M. ŚRĪ MUKUNDA JHA BKASHI

With *A Critical and Comparative introduction*

by

Dr. MAHĀPRABHU LĀLA GOSVĀMI

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Third Edition : 1986 (First time with Hindi Introduction)

Price : Rs. 100-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

प्रस्तावना

आर्य साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। यह अपौरुषेय धारा अनवच्छिन्न परम्परा से प्रवाहित अदिति के अनन्त रूप को धारण कर रही है। काल और देश इसके बाह्य आवरणों के परिवर्तित रूप की प्राप्ति में सहायक अवश्य ही रहे हैं, किन्तु अन्तः सलिला के अक्षुण्ण सारस्वत प्रवाह की अभिव्यक्ति आज भी सुलभ एवं सुरक्षित है। बाह्य स्तर का आवेश मूलक अनेक खण्डन-मण्डन पूर्व-पर के सिद्धान्तों के थपेड़ों से आकम्पित एवं आन्दोलित हो रहे हैं—इसमें सन्देह का अवसर कहाँ है? किन्तु अन्तः दीप्ति का यह आवरण के आकार का स्फुरण मात्र है, आवरक की समाप्ति के साथ यह महाज्योतिः के साथ नित्य समन्वय समुपलब्ध है। मन्त्रमयी मूर्ति मनोमयी मूर्ति के साथ ऐक्य स्थापन करती हुई आज की भावनात्मक प्रतीकात्मिका भौतिक मूर्ति के रूप में जन मन की बाह्य अभिव्यक्ति ही तो है। मन-मनन और मन्त्र के द्वारा प्रतिष्ठा के विना चित्त द्रुति रूपा सरस्वती का अवस्थान कहाँ हो सकता है?

यह श्रौत धारा अतीत सभ्यता और संस्कृति को आत्मसात् कर वर्तमान कलेवर में अभिव्यक्त हुई और यह वर्तमान से अनागत की ओर अग्रसर हुई; इस प्रवाहित धारा का प्रभव आज भी अलक्ष्य है, किन्तु इस आर्य भावना का प्रभाव आज भी जाग्रत और जीवन्त है। शाक्त भावना के इतिहास का अनुधावन करने पर गङ्गोत्री के हिमवाह के समान वैदिक साहित्य को ही तान्त्रिक क्रियात्मक साधना का ध्रुव पद के रूप में मानना पड़ेगा। वेदोत्तर भावना की मूल ज्योतिः का दीर्घ-युगवाहित सुनियन्त्रित स्वरूप इसी में परिनिष्ठित एवं प्रतिष्ठित है। आदिमानव की चित दीप्ति का अनतिवर्तनीथ रूप का सङ्केत इसी मूलधारा पर अवलम्बित है और प्राण के साथ सम्पृक्त सनातन और अच्छेद्य है। अध्यात्म प्रगति की उपयोगिता की 'इति श्री' सम्भव ही नहीं है।

इस सनातन साहित्य का परम प्रधान उपजीव्य क्रियात्मक देववाद है। इसमें क्रिया और भाव दोनों का समान स्थान है। क्रिया के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति है, भाव ही धारक और पोषक है। क्रिया में चेतना बहिरावृत्त और भाव में अन्तरावृत्त है। धी, ध्यान; चित्तता; क्रिया का जीवन है। साधना और साध्य का सेतु ध्यान है। ध्यान-तन्मयता शक्ति की दीप्ति, आत्मा, विश्व और परमशक्ति के सायुज्य में पर्यवसित होती है। शक्ति का स्वरूप एवं विभूति ही अनुध्येय हैं और वह देवी देवता के रूप में प्रतिष्ठित है। निदिध्यासन धी भाव-प्रवणता भावात्मक देवता है। कर्म और प्रज्ञा ये दोनों ही धी के अर्थ हैं। विश्वभुवन रक्षक शक्ति ही धीर है, जो धी का स्वभाव है, यह अप्रज्ञा के मध्य में आविष्ट हो प्रज्ञा के उन्मेष की उपलब्धि है, विश्व की गोप्त्री शक्ति ही धीर है, कर्म और प्रज्ञा ये दैवत वैभव हैं। "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकम् अत्राविवेश[1]"।

देव या देवी यह यौगिक परिभाषिक शब्द है। वैदिक साहित्य के विश्लेषण की ओर दृष्टिपात करने पर निर्वचन ही अर्थ की प्रतीति में एकमात्र अवलम्बन है। 'दिव्' धातु से देव की निष्पत्ति है, **'सर्व नाम धातुजमाह'** इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ प्रातिपादिक दिव् का व्यवहार है, धातु का नहीं। दीप्ति या आलोक अर्थ को कहने वाली 'दिव्' का निर्देश किया गया है। निरुक्त में देव का निर्वचन करते हुए लिखा गया है–'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता[2]। प्रातिपदिक दिव् द्युलोक या आलोकमय आकाश का बोधक है आसमन्तात् काशते इति। आकाश शब्द भी चारो ओर परिव्याप्त दीप्ति अर्थ को लेकर प्रयुक्त है, और इसी आकाश के लिए प्रयुक्त 'दिवा' शब्द इसका प्रवृत्ति-निमित्त है। इस वैदिक विश्लेषण के आधार पर दिव्, दिवा, देव ये शब्द एक ही भावना का आयाम या प्रकाश है। इसी भावना को आलोक या चिन्मयभूमि कहा जा सकता है। इस देवता या देवी का स्वरूप प्रकाश ज्योतिः है। वाह्य आलोक ही अभ्यन्तर प्रकाश के रूप में बोध या जागना, चिति या विवेक है, दूसरे शब्दों में वेद है। इस बोध का फल प्रज्ञान, संज्ञान और संवित् है। अतः देवता साधक का आत्मज्ञान है। उषा

---

१. ऋग्वेद (१।१६४।२१) २. निरु० ७।१५

की अरुण आभा से पृथिवी के जन-जन में चैतन्य और बोध के सञ्चार के साथ नव जागरण का सन्देश मिलता है। वेद में बुध का प्रयोग होने पर भी बोध शब्द प्रयुक्त नहीं है। बुध्न्य शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है "उपरि बुध्न्य एषाम्" (ॠ. १।२४।७) ऋतस्य बुध्न्य (३।६१।७) संस्कृत में इसी भावना के प्रवाह में बुध का अर्थ सचेतन होता है। वेदि में अग्निशिखा साँप की फणा के समान जागती है, इसीलिये अग्नि के लिए 'अहिर्बुध्न्यः' प्रयोग किया गया है। हठयोग के वर्णन के प्रसङ्ग में मूलाधार में स्थित सर्परूपिणी कुण्डलिनी का वर्णन मिलता है। इस प्रकार यह स्थिर होता है कि अहिर्बुध्न्य शब्द का चरम सत्य चेतना का बोधक है। It is suggested that Aryan 'Budhu' meant the place of growth of ultimate Lose. यह संज्ञा परम अयन है और इसका फल पूर्ण प्रज्ञा या संवित् है (ऋ. ८।५८।१) देवता की अपर ज्योतिर्मय अर्थ का बोधक वसु है, इससे निष्पन्न उषस्, उस्न, वासर, विवस्वत्, वसुमति वसिष्ठ है। अवेस्ता में Vanhus है, जो वहाँ दीप्ति का बोधक है। इसी आलोक अर्थ को लेकर क्लीवलिङ्ग वसु शब्द का धन के अर्थ में प्रयोग किया गया है। विवस्वान् यह परम देवता की संज्ञा है, जिसका प्रतीक सूर्य है।

अवेस्ता में वसिष्ठ = ज्योतिष्मत्तम के लिए Vahista स्वर्ग (चिन्मयमूर्ति) और Vahista परम पुरुष की संज्ञा मानी गई है। एक महान् आत्मा देवता है, और वह सूर्य है, इसी लिए ऋषि ने कहा है, जो क्रियाये हैं, स्थिर हैं, सभी का आत्मा सूर्य है, इसी ज्योतिः स्वरूप अखण्ड आदित्य की विभूति अन्य देवता हैं। इसी ज्यतिः को पक्षवान् दिव्य सुपर्ण कहा गया है। इन्द्र, वरुण आदि इसकी संज्ञामात्र है। अवेस्ता और वेद एक ही धारा का वहन कर रहा है।

आर्य हृदय में देवता के प्रति अभिनिवेश ज्योतिः के लिए ही अभिनिवेश है। वसिष्ठ ने आर्य का लक्षण करते हुए ज्योतिः जिनका अग्रगामी है—यह दिया है ।। "तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः" (ऋ. ७।३३।७ ।) इसी प्रकार ज्योतिः स्वरूप तीन वाक् को भी अग्रज्योतिः कहा गया है। (७।१०१।१ ।) वे ज्योतिः स्वरूप गुहामें सन्निहित है। निरुक्त में गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति" कहा गया है।

देवता के निरूपण प्रसङ्ग में ज्योतिः के साथ समन्वय प्राप्त होना है, साथ ही अखण्डिता व्यापिका एक शक्ति के साथ भी देवता का अभेद है। देवगण या आदित्य अदिति के पुत्र है। अदिति अखण्डिता शक्ति है। वह अनन्त स्वरूप है, जिसका प्रतीक आकाश या **व्योमन्** है, आकाश में आदित्य ज्योतिः ताप का विकिरण करती है, जिससे सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि है।

ऋक्संहिता में दिव् और व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है, इनमें प्रथम शब्द में द्योतना या ज्योतिः की भावना है, दूसरे शब्द से व्याप्ति और तुङ्गता की ओर संकेत है। पद पाठ में वि+उमन् प्रयोग है। अव् धातु का उन्नीस अर्थ है, किन्तु प्रसाद, अधिक्षरण और संवरण इन अर्थों में इस धातु का विशेष व्यवहार है। व्योमन् शब्द उणादि सूत्र से निपातन के द्वारा सिद्ध है, अव् + मन् टिलोप अवतेष्टि-लोपश्च (उणादि १।१४०) व्येमन् संवरण का ऊम् के साथ सुस्पष्ट सम्बन्ध सूचित होता है। अधिदैवत अध्यात्म दृष्टि से वाक् या ऊम् का अविनाभूत परिस्पन्द है। 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं भारती वाक्, (ऋ. १०।११४।८) इतना सत्य है कि परं ब्रह्म के समान परम शब्द का व्योमन् के साथ प्रयोग उपलब्ध होता है। यह अक्षर परम व्योमन् गौरी वाक् है। इस प्रकार परम व्योमन् दक्ष का जन्मस्थान और अदिति की योनि है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सत्य है कि दीप्ति एवं चेतना के रूप में देवता प्रत्यक्ष सिद्ध है। देवता की किसी भी विभूति की उपासना करें इसका पर्यवसान आदित्य द्योतना में होता है, देवता आदित्य या अदिति के पुत्र हैं, अतः देवत्व की प्राप्ति परम ज्योतिः की प्राप्ति है, दुर्गा के मध्यम चरित्र में उपलब्ध ज्योतिः स्वरूपा देवी के चरित्र की तुलना करें[1]।

देवता का स्वरूप :—

शक्ति की कोई भी उपासना ज्योतिः की उपासना से अतिरिक्त नहीं है। इतना सत्य है वैदिक साधना में मूर्ति की प्रधानता नहीं है। संहिता में देवता का अमर अर्थात् अमूर्त या चिन्मय स्वरूप स्पष्ट

---

१. अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥ (दुर्गा २।१२)

है। 'ये स्था निचेतारो अमुरोः" (ऋ. १०।६१।२७) देवता के अमुर होने पर भी वह अरूप या निराकार नहीं है।

निरुक्त के सप्तम अध्याय में देवता के आकार के विषय में विचार किया गया है। देवता का आकार माना गया है। यह विचारणीय है कि देवता का आकार मनुष्य के समान है या नहीं ? सचेतन व्यक्तियों के समान उनकी स्तुति एवं आह्वान किया जाता है, मनुष्य के समान ही उनके अङ्ग, प्रत्यङ्ग और क्रियाकलापों का वर्णन मिलता है। अन्य पक्ष का कहना है कि, अग्नि, आदित्य, वायु आदि देवताओं का आकार मनुष्य के समान नहीं है, मन्त्रों की वर्णना के अनुसार तो इनका आकार सचेतन प्राणी के समान ही है। देवता का स्वरूप अपुरुष के समान है। अपुरुष विधवादियों के मत में सचेतन या अचेतन जो कुछ भी देखा जाता है––सभी देव स्वरूप हैं, अतः उनपर विग्रहवान् होने का आरोप समीचीन एवं प्रयोजनहीन है। पुरुष विधवादी के मत में इन सबकी अधिष्ठातृ चेतना पुरुषाकार है[1]। देवताओं का अधिभूत आकार और उसके स्वरूप के मध्य में एक भाव विग्रह माना गया है। किन्तु, उपासना के समय इसके विग्रह को मूर्त रूप देने की न तो आवश्यकता है न अनुभूति है। जैसे अग्नि की उपासना के समय प्रत्यक्ष अग्निका अवलम्बन करते हैं, अपुरुष विधिवादी का अनुभव विशुद्ध चैतन्य है और पुरुषविधि अग्नि के पुरुष विग्रह की भावना करते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष अग्नि की जगह अग्नि का अधिभूत विग्रह की स्थिति नहीं है। देवता को वस्तुतः अमूर या अमूर्त मानने पर भी यास्क ने दोनों दृष्टियों का समन्वय कर अध्यात्म चेतना के सम्पर्क में एक विशिष्ट ज्ञान की अवतारणा की है। जो इन्द्रिय ग्राह्य है, उसकी उद्बुद्ध एवं उदीप्त चेतना अरूप में उत्तीर्ण होती है, तब वहाँ रूप का निराकरण देखता है और ऐसी स्थिति में तात्त्विक दर्शन होता है, भाव वस्तु में अवतीर्ण होता है और वस्तु के मध्य भाव की स्फूर्ति देखता है। मानव की देवोपासना में पुरुष विधाता की छाप अपरिहार्य एवं अनिवार्य है। परम देवता को पुरुष शब्द से भी कहा गया है। पुरुष मनुष्य का ही आकार है। पुरुष सूक्त के अधार पर पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन जो शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है, उसका द्रष्टा पुरुष नारायण

---

१. निरुक्त ७।७।

और देवता आदित्य है। इस प्रसङ्ग में दो प्रकार के देवता का निर्देश मिलता है (१) कर्म-देव (२) आजान-देव। उत्कृष्ट कर्म से देवत्व की प्राप्ति करने वाला कर्म देवता है और सृष्टि की आदि में उत्पन्न आजानदेव है। यह कर्मदेव से श्रेष्ठ है। 'ये शतं कर्मदेवानाम् आनन्दाः स एक आजानदेवानाम् आनन्दः (बृ. ४।३।२) सूर्य आदि आजानदेव हैं। अन्यत्र कर्मदेव का गुणगान भी मिलता है। ये शतम् आजानजानां देवानाम् आनन्दः स एको देवानाम् आनन्दः। (तै. उ. २।८) पुरुषसूक्त का द्रष्टा नारायण और देवता आदित्य है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म का दो रूप वर्णित है, मूर्त एवं अमूर्त; जो मूर्त है वह मर्त्य स्थावर एवं सत् है, जो अमूर्त है वह अमृत जङ्गम एवं त्यत् है। मूर्त का सार अधिदैवत दृष्टि से तपन या आदित्य है और अध्यात्म दृष्टि से चक्षुः है, इसी प्रकार अमूर्त का सार अक्षि पुरुष और मूर्त का सार आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है। इस पुरुष का रूप विद्युत् रेखा, कमल एवं अग्नि-शिखा के समान है। अमूर्त की मूर्ति प्रत्यक्षदृष्ट आदित्य है। विश्लेषण से यह अवगत है कि आर्य देवोपासक थे, किन्तु मूर्ति या देवायतन नहीं थे। देवता को न मानने वाले के प्रति इनकी घृणा थी, अतः, अदेववादी वेद में श्रद्धास्पद नहीं थे।

वैदिक देवता का गुण और कर्म :—

अजर और अमृत यह देवता का प्रधान लक्षण है। मनुष्य के लिए भी परम पुरुषार्थ विजर और विमृत्यु होना है। जरा और मृत्यु प्रकृति का परिणाम है, देवता इससे परे है, वह सत् या सत्य स्वरूप है। उसकी सत्यता से ब्रह्माण्ड के भूत भौतिक पदार्थ सत् है, इसीलिए वह सत्पति है। इस सत्य सत्ता में कालगति न होने से काल से अपरिच्छिन्न है, इसी की सूचना पतञ्जलि ने 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (यो. सू. १।१।२६) अनादि है, अतः काल से अवच्छिन्न न होने से वह सभी में श्रेष्ठ है। वह किसी के कारण नहीं अपि स्व से स्व का धारण-पोषण करता है, अतः स्वधावान् है। जरा, व्याधि और मृत्यु के जय के लिए सङ्कल्प लेकर बुद्ध ने घर का त्याग किया था, जरा के जय से जीवन के उल्लास का परिचय है। सूर्य की उपासना के मूल में विष्णु के परमपद से मृत्यु या अमृत चेतना

का उत्स है। (ऋ. १।१०४।६) जिसकी महिमा से युवा अकुमार अर्थात् नित्यतरुण रहता है। (ऋ. १।१५५।६) ऋग्वेद में स्थाणु और जङ्गम में एक होकर रहने से असुर संज्ञा देव की मानी गई है, "महद् देवानाम् असुरत्वमेकम् (ऋ. ३।५५) प्रचेता: शब्द से देवता का व्यवहार करते हुए उसको चिन्मय अर्थात् उसकी आभा सर्वत्र परिव्याप्त है—इसकी सूचना दी गई है। हमलोगों की दृष्टि अचिति या अविवेक से आच्छन्न है—इसीलिए हमलोग नचिकेता है, और देवता चिकित्वान है, सब देखते हैं और जानते हैं।

वेद में देवबहुत्व की अनायास ही प्रतीति होती है, किन्तु गुण और कर्म का विचार करनें पर बहुत्व एकत्व की भावना पर स्थिर है। बृहदारण्यक उपनिषद् में देवता की संख्या की दृष्टि से शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का विचार उपलब्ध होता है। याज्ञवल्क्य से शाकल्य ने जिज्ञासा की है कि देवता कितने हैं ? उतर में कहा तीन सौ, तीन हजार, और तीन। क्रमश: संख्या को कम करते हुए कहा देवता एक है। यह प्राण है, जिसको तत्त्ववेत्ता ब्रह्म या त्यत् कहते हैं। यह प्राण ब्रह्म ही विभिन्न लोक में अर्थात् मनो ज्योति में आलोकित चेतना की विभिन्न भूमि में अभिव्यक्त होता है—शरीर, पुरुष, आदित्य पुरुष या छाया पुरुष। ये सभी अधिष्ठात्री देवता हैं। हृदय की प्रतिष्ठा पञ्चवृत्ति प्राण में है और प्राण की प्रतिष्ठा **नेतिनेति** के द्वारा सूचित असङ्ग आत्मा में है, ये विज्ञान, आनन्द, ब्रह्म है। (बृ. उ. ३।९) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने एक देववाद (Monotheism) देववाद पराक् (Objective) दृष्टि से इष्टज्ञेय है और ज्ञान के इष्ट होने पर प्रत्यक् (Subjective) अनुभव स्वरूप है। इसीको याज्ञवल्क्य ने **त्यत्** कहा है। इसी लिए दुर्गा सप्तशती के दशम अध्याय में—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतय: ॥ (१०)

गीता में भी एकदेववाद का समर्थन विभूति के रूप किया गया है। बौद्धों ने महाशून्य में हजारों देवों और देवियों की भीड़ कर दी है।

ईश्वर की सर्वात्मकता का प्रदर्शन करते हुए वेद में लिखा गया है—तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो,

दण्डधारी विचरणशील वृद्ध, तुम अनन्त मूर्ति में प्रकाशमान हो अर्थात् नानामूर्ति में जन्म ग्रहण करते हो।

त्वं स्त्री त्वं पुमनासि
त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। (अथ. सं. १०।८।१७-२६)

देवता की प्रकाशरूपता का विवरण प्रस्तुत करते हुए वेद में लिखा गया है कि सूर्यरश्मि के समान स्वयं प्रकाश चैतन्य पदार्थ है। यह स्वप्रकाश चैतन्य ही भूत भौतिक रूप जगत् में सर्वत्र परिव्याप्त है। यह स्वप्रकाश चैतन्य ही परमात्मा है, जो ब्रह्माण्ड में तिर्यक् भाव से परिव्याप्त है। यह जागतिक वस्तुओं के अधोभाग में अवस्थित है? या उपरिभाग में अवस्थित है? मन्त्र में 'स्वित्' शब्द का दो बार प्रयोग होने से इन दो विकल्पों की सूचना है।

स्वयं प्रकाश चैतन्य सभी वस्तुओं के मध्य में वस्त्र के वृहत् तन्तु के समान परिव्याप्त है। किसी वस्तु के अधोभाग में भी चिद्वस्तु विद्यमान है और ऊपर के भाग में भी चिद्वस्तु की अवस्थिति है, यह चैतन्य केवल मध्य भाग में ही है ऐसी वात नहीं है। मृत्तिका जिस प्रकार घट में सर्वत्र अनुस्यूत है उसी प्रकार उपादान की उपादेय में सर्वत्र परिव्याप्ति है। अतः, चैतन्य उपादान एवं उपादेय में सर्वत्र परिव्याप्त है।

सभी भूतभौतिक पदार्थ वितत सूर्य की रश्मि के समान स्वप्रकाश चैतन्य तेज का धारक है। चिदेकरस वस्तु का सद्रूप ही सार है। चित् को सद्रूप न मानने पर बन्ध्या पुत्र के समान यह असत् होगा, अतः, चिदेकरस वस्तु का सार सद्रूप है। सभी जगत् में इसी की परिव्याप्ति के कारण सद्रूप में भासमान है। जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसकी महानता के विषय में क्या कहना है? इस मन्त्र में "स्वधा" शब्द कहा गया है, यह स्वधा ही पारमेश्वरी शक्ति है। यह शक्ति और परमात्मा दोनों ही जगत् के कारण है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा-
मधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमा न आसनत्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ (ऋ. ८।७।१७६)

भारतवर्ष में विभिन्न उपासक सम्प्रदाय विभिन्न रूप में उपासना में रत हैं। कोई पिता रूप में, कोइ बन्धु रूप में, कोई सम्प्रदाय सखा, कोई सम्प्रदाय माता के रूप में, कोई माता-पिता उभय रूप में उपासना करता है, किन्तु विभिन्न रूप में उपासना करनें पर भी विरोध की सम्भावना नहीं है, ये विभिन्न उपासनाएँ भारत की देन है। उपासकों में परस्पर विभेद की दृष्टि से सम्प्रदाय के द्वारा अपप्रयास करने पर भी इसकी अखण्डता एकता सुस्पष्ट है। स्वार्थ प्रणोदित नीच व्यक्ति सम्प्रदाय के आधार पर विच्छेद और विद्वेष करने का प्रयास तो करते ही हैं। वेद धारा के द्वारा प्लावित पवित्रीकृत भारत ईश्वर की धारणा के लिए अन्यत्र मधुकरी करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता हैं। भारतीय ईश्वरत्व सङ्कुचित रूप में अवस्थित नहीं हैं। उतैषां पिता उत वा पुत्र एषामु उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ।। (अथ. १०।२३।४-२९।)

ईश्वर का एकत्व :—

देवी, देवताओं के एकत्व की चर्चा से सामान्य लोगों की यह धारणा है कि ईश्वर का बहुत्व माना गया हैं। ईश्वर सृष्ट जीव, मनुष्य और देवता की अनेकता ईश्वर के अनेकत्व का कारण नहीं है, देव-देवियाँ ही जब अनेक नहीं हैं, तब ईश्वर के अनेकत्व का प्रश्न ही कहाँ उठता है। ईश्वर के समान कोई नहीं है, अतः ईश्वर सर्वातिशायी एक है।——वाजसनेयी यजुः संहिता में कहा हैं——

"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः"। (यजु. ३२ अ.)

महीधर ने अपने भाष्य में कहा है "यस्य पुरुषस्य प्रतिभा प्रतिमानम्——उपमानं किञ्चिद्वस्तु नास्ति, अत एव नाम प्रसिद्धं महद् यशः यस्यास्ति सर्वातिरिक्तयशाः इत्यर्थः (१।३२।३) जिस प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि है, उसी प्रमाण से इसका एकत्व भी सिद्ध हैं। एकत्व की सिद्धि के विना ईश्वर की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किसी एक कार्य की विरुद्ध इच्छा-सम्पन्न दो ईश्वर के रहने परे किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यदि किसी भी ईश्वर की इच्छा प्रतिहत होगी तो वह अनीश्वर होगा। दो में एक के अनुसार कार्य होगा, अतः, जिसके अनुसार कार्य नही होगा वह अनीश्वर हो जायगा। (न्या. सू. ४।१।२१)

पातञ्जल सूत्र के व्यासभाष्य में कहा है—"तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् त देव तत्स्यात्। तस्माद् यत्र काष्ठा प्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति·······तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः (पा. सू. व्या. भा. १।२४)

वाचस्पति ने कहा है कि अनेक ईश्वर मानने पर कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ईश्वर में रागद्वेष न होने के कारण ये विरुद्ध इच्छा सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। इस विषय में यह विचारणीय है कि विरुद्ध इच्छा न होने पर एक ईश्वर की इच्छा से ही कार्य हो सकता है, अतः अन्य ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि कोई भी ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि, परिषद् सभ्यों के द्वारा एकमत होकर कार्य कग्ने पर उस कार्य में किसी एक का कर्तृत्व नहीं रहता है, ऐसी स्थिति में परिषद् के सभ्य के समान एक भी ईश्वर नहीं रहेगा। अनेक ईश्वर के रहने पर भी वे एक साथ कार्य नहीं करते हैं, क्रमिक रूप में सभी ईश्वर कार्य करते हैं—यह कथन भी ठीक नहीं है। ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य है, नित्य ईशना रहने पर क्रमिक कार्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती है। नित्य ईशना आज कार्य करेगी और दूसरे दिन कार्य नहीं करेगी—यह सम्भव नहीं है। ईशना रहने पर कार्य न करने पर ईशना ही नहीं रहेगी। अतः पूर्वोक्त वैदिक निर्णय के अनुसार ईश्वर एक ही है।

ईश्वर की कारुणिकता :—

न्यायसूत्र में वात्स्यायन ने कहा है कि वेद-शास्त्र का प्रामाण्य आप्त प्रमाण मूलक है। आप्त के प्रामाण्य का क्या कारण है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि आप्त व्यक्ति जिस विषय का उपदेश करता है, उस विषय का उसे साक्षात्कार रहता है। सुदृढ़ प्रमाण के द्वारा वह आप्तकर्तृकत्व निश्चित होता है। आप्तपुरुषों की प्राणियों के प्रति दया होने के कारण एवं साक्षात्कार किये गये यथार्थ वस्तुओं के प्रतिपादन करने की इच्छा भी उनमें रहती है—इन तीन विशेषणों से विशिष्ट पुरुष ही आप्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रिय की पटुता को भी चतुर्थ विशेषण के रूप में सन्निविष्ट किया है। शरीर भुवन आदि का निर्माता पुरुष सभी

वस्तुओं के तत्त्व का ज्ञाता सर्वज्ञ होता है। स्वभावतः वह क्लेश कर्म विपाक एवं आशय-वासना से रहित होता है। ऐसे ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से रहित होता है, अर्थात् इन पाँच प्रकार के क्लेशों से वह रहित है, पाप पुण्य कर्म नहीं रहते हैं। कर्म का फल जन्म आयु और भोग एवं भोगानुकूल वासना संस्कार भी नहीं रहते हैं, साथ वह अतिशय कारुणिक है। सामान्य प्राणी अनेक दुःखों से सन्तप्त रहते हैं, अपने हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के उपाय को वे नहीं जानते हैं, इस कारण से वे करुणा से परिव्याप्त रहते हैं। राग और द्वेष से परिपूर्ण व्यक्ति को अन्य की अज्ञता और दुःख को देखकर करुणा नहीं होती है। रागद्वेषशून्य व्यक्ति को अज्ञ और, दुःखी को देखकर सन्ताप होना स्वाभाविक है। ईश्वर प्राणियों की हित प्राप्ति और अहित परिहार के साधनों को जानता है, अतः, उपदेश किये विना नहीं रह सकता है। और अयथार्थ उपदेश भी नहीं कर सकता है। इसलिये परम कारुणिक परमेश्वर पृथिवी आदि की सृष्टि कर उनके हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के उपायों का भी उपदेश करता है। सन्ततियों के प्रति माता, पिता, सखा, बन्धु के रूप में परमेश्वर की करुणा स्वभाविक है। साहित्य दर्पण में इसी दृष्टि से कहा हैं—स्थायि-वत्सलता स्नेहः पुत्रास्त्वालम्बनं मतम्" (सा. द. ३।२५१) स्नेह ही वत्सल्यरस का स्थायिभाव है। ईश्वर का कारुण्य और उनके उपासकों के प्रति उपास्य का स्नेह वात्सल्य पूर्वोक्त ऋग्वेद के मन्त्रों से ही सुस्पष्ट है। पिता, माता के रूप में अराध्य होने के कारण ही उनमें निरतिशय कारुण्य मानना उचित है।

ईश्वर में करुणा मानने पर मीमांसकों की आपत्ति :—

मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते हैं, अतः, करुणा का प्रश्न ही नहीं उठता है। ईश्वर आप्तकाम है, अतः, उसके लिए प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु नहीं है, सभी वस्तु प्राप्त रहने के कारण प्राप्तव्य किसी वस्तु की अभिलाषा सम्भव नहीं है। लीला और क्रीडा ईश्वर का स्वभाव होने से लीला विस्तार के लिए सृष्टि यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लीला से अप्राप्त किसी सुख के लाभ की सम्भावना न होने से क्रीड़ा भी सङ्गत नहीं है। करुणा के कारण सृष्टि विस्तार भी समीचीन नहीं है। करुणा के कारण जगत् की सृष्टि मानने पर

दुःखमय सृष्टि नहीं होती यह मानने पर की स्वेच्छा प्रेरित सृष्टि नहीं है, प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा कर सृष्टि होने से इनका अधर्म ही दुःखबहुल सृष्टि का कारण है। यह सत्य है कि अधर्म दुःख का साधन है, किन्तु, अचेतन अधर्म ईश्वर से अधिष्ठित हुए विना दुःख का साधन नहीं हो सकता है। कारुणिक ईश्वर को दुःख का अधिष्ठाता होना उचित नहीं है। जीव को संसार से वैराग्य उत्पन्न होने के लिए दुःख का अनुभव भी आवश्यक है। अधर्म का अधिष्ठाता होने पर ईश्वर का कारुण्य समाप्त नहीं होता है। प्रत्युत दुःखमय सृष्टि से ईश्वर का कारुण्य ही समर्थित होता है। यह व्याख्या तो पङ्क में पैर डालकर पुनः उनके धोकर साफ करने के समान है। कारुणिक ईश्वर की जीव के लिए दुःख की उत्पत्ति से विमुख रहना ही उचित है। अधर्म का अष्ठिाता न होने पर दुःख की अत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग अनायास ही सुलभ होगा।

इन आपत्तियों के समाधान में आचार्यों ने कहा है कि, ईश्वर की अतिशयित महिमा रहने पर भी अनित्य धर्म और अधर्म ईश्वर की महिमा से कभी भी नित्य नहीं हो सकते हैं। धर्म और फल की उत्पत्ति कराये विना विनष्ट नहीं होते हैं। धर्म का सुख की उत्पत्ति-सामर्थ्य-सम्पन्न और अधर्म दुःख की उत्पत्तिसामर्थ्य सम्पन्न है, ईश्वर इनको अन्यथा नहीं कर सकता है और फल प्रदान के विना विनिष्ट भी नहीं हो सकता है। फल प्रदान से पूर्व अधर्म का विनाश ईश्वर नहीं कर सकता है। अतः कारुणिक होने से इनका विरोध नहीं है। जीव के कर्मों की अपेक्षा के विना ही जगत् की सृष्टि मानी जाय तो जीव का शरीर लाभ आदि आकस्मिक हो जायेगा। ईश्वर का कार्य कर्म-निरपेक्ष मानने पर ही कारुण्य के मानने में आपत्ति हो सकती है। गौडपाद ने भी कहा है 'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (आ. प्र. ९)

शाक्त धारा :—

शक्ति साधना की विस्तृत अलोचना तन्त्र शास्त्र से उपलब्ध है। आदि मानव की आदि देवता शक्ति ही है। आर्यों के मध्य आरम्भ से ही शक्ति की साधना प्रचलित है। मातृत्व का निर्देश ऋग्वेद में देवमाताओं के रूप में अदिति से उपलब्ध है। ब्रह्ममयी अखण्डात्मिका महाशक्ति-स्वरूप-अदिति की अराधना ही शक्तिधारा का मूल उत्स है

यह श्रौत रूप अदिति ही काली, दुर्गा आदि ज्योतिः रूप सर्वदेव स्वरूपिणी शक्ति है। दुर्गा के पञ्चम अध्याय की देव स्तुति श्रौत अदिति का ही विवरण है। इस अखण्डित अबन्धना सर्वव्यापिनी आद्याशक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋ. १।८९।१०)

तन्त्र में उपलब्ध अनेक धारणाओं की सूचना वेद में मिलती है। शाक्त तन्त्र के वर्णित आचारों का मूल तत्त्व अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। शाक्त धर्म सनातन होने पर भी बौद्धों एवं तिब्वत की अनेक परम्परायें इसमें अपना विसर्जन कर चुकी है। रात्रिसूक्त और देवीसूक्त में महा शक्ति भावमयी मूर्ति का स्पष्ट निर्देश मिलता है। अदिति और वाक् एक हो गई, वाक् और सरस्वती एक हो गई। वैदिक रणदेवी सरस्वती में दुर्गा का अभास मिलता है। मूल वैदिक सोम है, वह पार्वती उमा के रूप में पर्वत पुत्री के रूप में उपलब्ध है। सोऽहं और साऽहं के रूप में अद्वैतवाद ही तन्त्रावलम्बित चिन्मयी भावमूर्ति का मूलाधार है। इस चिन्मय तत्त्व जिसे संवित् शब्द से अन्तःज्ञान के लिये प्रयोग हुआ है, इसी वैदिक संवित् तत्त्व का विश्लेषण और साधना तन्त्र शास्त्र है।

वेद के मन्त्रों के साथ क्रिया काण्ड का योग अतिशय गम्भीर है। यह स्पष्ट एवं सत्य है कि ज्ञान और कर्म के साथ वैदिक युग में किसी प्रकार का भेद नहीं था। तन्त्र के विस्तार एवं अनेक क्रियाकाण्डों के मधुर-मिश्रण के साथ ही कर्म और ज्ञान के मध्य एक दीवाल खड़ी हो गई। गीता में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता एवं सभी को ज्ञान में परिसमाप्ति का यही रहस्य है। आत्मा का लोकोत्तर चिन्मय भूमि में अवतीर्ण करना ही प्रधान लक्ष्य है। यह चिन्मयभूमि ही कर्मकाण्ड का स्वर्ग जिसकी प्राचीन संज्ञा स्वः अर्थात् ज्योतिर्मय अनुभव है। स्वर्ग और मोक्ष ये दो परस्पर विरुद्ध भावनाये नहीं हैं। तन्त्र इसी मन्त्र की विपुल या समन्वय भूमि है—जहाँ अन्तः प्रकाश स्वरूप संवित्, है। जिसकी मूलभूमि देववाद है, इसकी प्रतिष्ठा श्रद्धा पर है, जो मानवचित्त की मौलिक वृत्ति है। जिसका मूलाधार आवेश है। इसी के साथ मानव

चित्र की एक वृत्ति है, जिसे ऊह या तर्क कहा जाता है, तर्क के मूल में जिज्ञासा है, और इसकी परिणति आत्मवाद में है। देवता भी अतीन्द्रिय ज्योतिर्मय है और आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्योतिर्मय है। आत्मवीर्य के बल से चेतना की चरमभूमि में आगमन सत्य है। एक तर्क और जिज्ञासा को आधार बनाकर चलते हैं और अन्य हृदय के आवेग बोधिग्राह्य के द्वारा स्वरूप संवित् का प्रकाश प्राप्त करते हैं। इनकी प्राप्ति का साधन श्रद्धा है। वेद हो या तन्त्र इन दोनों की अपौरुषेयता शास्त्र में वर्णित है। वैदिक हो या तान्त्रिक एक देववाद जो अखण्ड और निर्गुण निराकार है यहाँ पर्यवसान करते हैं, बहुदेववाद का इसके साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अखण्डदर्शी के लिए अखण्ड सत्ता में ईश्वर और जगत् का विरोध सर्वथा अखण्ड चेतना की आत्मदृष्टि या विश्वात्मिका संवित् में विश्रान्ति लाभ करता है। एकदेववादी शङ्कर और अभिनव बहुदेववादी भी हैं। एकदेववाद और बहुदेववाद निर्विवाद संवित् या ज्योति. में पर्यवसित है। "संविदेव ही भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्" परा और अपरा विद्या शब्द वैखरी हैं चेतना या संवित् के स्वोत्तरण में देवता एक उपलक्षणमात्र है। चिति शक्ति के द्वारा जडशक्ति को अधीन करने की चेष्टा ही तन्त्र, मन्त्र, विज्ञान है। जड के अनुभव को सूक्ष्म चैतन्य की भूमि में उत्तीर्ण करना एवं उसको वश में लाने की चेष्टा करना ही एक मात्र लक्ष्य है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया इनमें ज्ञान संवित् या प्रकाश है, इच्छा शक्ति मन के ऊपर अवस्थित सङ्कल्प है और जड के ऊपर क्रिया शक्ति है, इनको चित् की सूक्ष्म शक्ति की सहायता से जडशक्ति को प्रभावित कर सकते हैं—या नहीं इसी के लिए ऊह और श्रद्धा का विकास चल रहा है। अध्यात्म चेतना शक्ति की व्याप्ति से व्यक्ति में अलौकिक शक्ति का आविर्भाव होता है यह शक्ति का आविर्भाव सर्वत्र अनुस्यूत रहता है।

पूर्वोक्त विवरण से श्रद्धा और आवेश के आधार पर, क्रिया का सम्पादन भी आर्यभावना या तान्त्रिक उपासना है। उपास्य सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता के सम्पादन करनें के लिए ही श्रीशङ्कराचार्य ने प्रपञ्चसार नामक आगम ग्रन्थ किया है, जिसकी पद्मपादाचार्य ने व्याख्या की है। इसी प्रपञ्चसार को

मूलाधार मानकर आचार्य लक्षणदेशिक ने शारदातिलक नामक संग्रह ग्रन्थ की रचना की है। इसकी व्याख्या राघवभट्ट ने इसे परममान्य मानकर किया है, ऐसा आपाततः प्रतीत होता है कि उपासना को ये लोग नहीं मानते हैं। यद्यपि कतिपय आचार्यों ने इस ग्रन्थ को आचार्य शङ्कर की रचना नहीं मानते हैं। किन्तु अमलानन्द ने प्रपञ्चसार को भगवत्पाद की रचना मानी है। वेद एवं ब्रह्मसूत्र भी उपासना के विचार से परिपूर्ण है। अतः अद्वैतवाद उपासना का विरोधी नहीं है। यदि उपासना अद्वैतवाद का विरोधी होता तो आगमाचार्य अद्वैतवाद प्रतिपादन व्यर्थ हो जाता।

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

त्रिपुरारहस्य में इसी आशय की अभिव्यक्ति है—

न सृष्टिर्नापि संहारो न स्थितिर्नापि च क्रमः।
चिदानन्दघनं चेत्थमात्मतत्त्वं प्रकाशते॥
(त्रिपुरार० ज्ञा० का० ता० दी० १४।६०)

कल्पतरुकार की पूर्व उक्ति से उपासना का रहस्य स्पष्ट हो रहा है। मैंने त्रिपुरारहस्य का भी वचन उद्धृत किया है—उससे आत्माद्वैत की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है। वस्तुतः आगमशास्त्र ब्रह्मकाण्ड नहीं है वरन् उपासनाकाण्ड है। प्रसङ्ग प्राप्त ब्रह्मचर्चा उपासना काण्ड में होने पर भी उपास्य ब्रह्म सगुण ही है और वही मुख्यतः इसका प्रधान प्रतिपाद्य है। किन्तु सगुणशास्त्र का प्रतिपादक शास्त्र निर्गुणशास्त्र का विरोधी नहीं होता है। सगुण तत्त्व के बोध के विना निर्गुण तत्त्व का बोध नहीं हो सकता है।

आगमशास्त्र को स्मृति प्रस्थान के अन्तर्गत माना है श्रुति प्रस्थान के अन्तर्गत नहीं माना है, अतः, आगमशास्त्र का मूल श्रुति प्रस्थान ही है, श्रुति विरोधी आगमशास्त्र प्रमाण नहीं है। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने कहा है अन्य स्मृतिशास्त्र श्रुतिमूलक होने से उसके अर्थ के प्रतिपादक के रूप में उनका प्रमाण्य सुप्रसिद्ध है, इस आगमस्मृति का प्रमाण्य कैसे वेदमूलक माना गया है—यह शङ्का कर समाधान में कहा है। उपक्रम और उपसंहार अपनी लीलारूपी अनिर्वाच्य अनादि अविद्या की सहायता से परमानन्द-स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव पर ब्रह्म ने ही सम्पूर्ण विश्व की

सृष्टि की है। उपासना काण्ड ही क्रियात्मक रूप में आगम शास्त्रात्मक है।[1] अप्पयदीक्षित भट्टोजीदीक्षित आदि प्राचीन आचार्यों ने भी आगमशास्त्र के अधिकारी के निरूपण में यही कहा है। श्री राघवभट्ट ने आगमशास्त्र वेदप्रतिपाद्य विषय की ही अलोचना करता है, इस विषय का विस्तृत निरूपण शारदातिलक की टीका में ही उपक्रम से किया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि ऐसी स्थिति मैं आगम शास्त्र की क्या आवश्यकता है? श्रौतसाधनों से ही जीव स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। यह प्रश्न उत्थापित कर राघवभट्ट ने कहा है कि उपक्रम उपसंहार आदि के द्वारा श्रुतियों की आलोचना करने पर यही सिद्ध होता है कि परमानन्दस्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव पर ब्रह्म अपनी लीला से अनादि अनिर्वचनीय अविद्या की सहायता से समस्त जगत् की सृष्टि करता है। ब्रह्म के जगत् स्रष्टा होने पर भी राघव भट्ट के अनुसार अविधा को न मानने पर असङ्ग ब्रह्म में जगत् की कारणता नहीं हो सकती हैं। असङ्ग चैतन्य कारण नहीं हो सकता हैं इसका प्रतिपादन आगमशास्त्र में ही किया गया है। भर्तृहरि ने भी धातु-समीक्षा प्रकरण में कहा है कि शुद्ध ब्रह्म को प्रपञ्च का हेतु मानने पर प्रपञ्च ब्रह्म के समान ही परमार्थ सत्य होता, प्रपञ्च की पारमार्थिक सत्ता मानने पर उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं हो सकती थी[2] अतः माया ही ज्ञानज्ञेयादिरूप प्रपञ्च का साधन है। इतना ही नहीं शारदातिलक की टीका में राघव भट्ट ने आध्यात्मविवेक के पद्यों के आगम वाक्य को उद्धत कर अद्वैतवाद का ही समर्थन न किया है। स्वयम् प्रकाश निरंजन सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, अग्नि के स्फुलिङ्ग के समान अनादि हैं।

---

१. अन्येषां तु स्मृतिशास्त्रादीनां तन्मूलकत्वेन तदर्थप्रतिपादकत्वेन च प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धतरम्, अस्यास्त्वागमस्मृतेः कथं तन्मूलकत्वम्? ...... अनेकजन्मसिद्धस्ततो यान्ति परां गतिमिति वचनादत एतदुपासनाकाण्डमेवागमशास्त्रात्मकं गरीय इति सिद्धम्। पदार्थादर्श पृ. १–२

२. धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्:—

शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः॥

शारदा १ म पटल ३१ पृ. चित्सुखी टीका पृ. ६०

अविद्यारूप उपाधि के कारण ब्रह्म का अंश जीवसमूह अनादि कर्मों के अनुसार सुख-दुःख पुण्य-पाप आदि से युक्त होता है।[1]

शैवागम के परमाचार्य अप्पय दीक्षित ने "रत्नत्रयपरीक्षा" शास्त्र के उपसंहार में कहा है कि [2]शैवभाष्यरूप समुद्रमन्थन कर मैंने तीन रत्न प्राप्त किया है—ये तीन-शिव, गौरी और हरि हैं। शैवागम, शाक्तागम और वैष्णवागम का मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु का प्रदर्शन इस "रत्नत्रयपरीक्षा" में किया गया है। आरम्भ में ही ग्रन्थकार अप्पयदीक्षित ने कहा है, "दोषलेश रहित निरतिशय सुखस्वरूप नित्य एक ब्रह्म चैतन्य ही माया के कारण धर्म और धर्मिभाव में पृथक् दो स्वरूप लाभ करता है।[3] सभी कार्यों के अनुकूल सर्वविषयक अनुभूति ही धर्म के नाम से कही जाती है। गौरी एवं नारायण ही धर्म है एवं परमशिव ही धर्मी है। इसी प्रकार त्रिविध आगम शास्त्रों का अद्वैत में ही पर्यवसान होता है। शाक्तागम के परमाचार्य भास्कर रायने भी चण्डी की गुप्तवती टीका में अप्पय दीक्षित का ही समर्थन किया है। पाञ्चरात्रागम के अन्तर्गत परमात्म संहिता में भी अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ही जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रदर्शन किया गया है, जीव और ब्रह्म का ऐक्य निगमागम श्रुतिशिद्ध हैं। देह का भेद प्रयुक्त ही जीव का बहुत्व भासमान होता है, जैसे एक मुख ही अनेक दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर अनेक वैसे ही जीव अनेक रूप में भास-

---

१. अस्ति ब्रह्म चिदानन्दं स्वयं ज्योतिर्निरञ्जनम्।
सर्वशक्तिः च सर्वज्ञं तदंशा जीवसंज्ञकाः॥
अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः।
दीर्घाद्युपाधिसम्भिन्नास्ते कर्मभिरनादिभिः॥
सुख-दुःखप्रदैः पुण्यपापरूपैर्नियन्त्रिताः।
तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगञ्च कर्मजम्॥ (शा. ति. टी. ३१)

२. आमथ्य भाष्यदुग्धाब्धि मयाप्तं रत्नत्रयं ततः।
शम्भुर्गौरीहरिश्चेति तच्च सम्यक् परीक्षितम्॥ (रत्नप. अन्तिमपद)

३. नित्यं निर्दोषगन्धं निरतिशयसुखं ब्रह्म चैतन्यमेकं
धर्म्मोधर्मीति रूपद्वयमयति पृथक् भूतमायावशेन।
धर्मस्तत्रानुभूतिः सकल विषयिणी सर्वकार्यानुकूला
शक्तिश्चेच्छादिरूपा भवति गुणगणश्चाश्रयस्त्वेक एव॥ (र.प.१श्लोक)

मान होता है. इसी प्रकार एक ही ब्रह्म देह रूप उपाधि के कारण अनेक जीवरूप में भासमान होता है।[1]

कुमारिल भट्ट के तंत्रवार्तिक से यह अवगत होता है कि जैमिति नें छान्दोग्यानुवादादि ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। मीमांसा शास्त्र के संकर्षण काण्ड की रचना जो चार अध्यायो में थी वह भी जैमिनि ने की थी। उसमें उपासना तत्त्व का विश्लेषण था। इसी संकर्षण काण्ड का दूसरा नाम—देवताकाण्ड था। प्रपञ्च हृदय में चार अध्याय के इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में वर्णित विषय देवता तत्त्व का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में विधि, अर्थवाद, नामधेय देवता का विशेषत्व आदि वर्णित हैं। तृतीय अध्याय में एक ही साथ में अनेक शरीर को धारण कर सकते हैं। अनेक स्थान में व्यक्त हो सकते हैं और अपनी इच्छानुसार तिरोहित हो सकते हैं, चतुर्थ अध्याय में सत्कर्म के फलस्वरूप देवत्व लाभ अपवर्ग या क्रममुक्ति का निर्देशन है। देवता तत्त्व का प्रतिपादन होने के कारण ही यह उपासना काण्ड के नाम से विख्यात है यही तन्त्र का मूलाधार है।

महामुनि बोधायन ईसा से पूर्व का माना गया है। उन्होने द्वादशलक्षणी मीमांसा का चार अध्यायात्सक संकर्षण काण्ड एवं उत्तर मीमांसा के ऊपर कृतकोटिभाष्य नामक विशाल भाष्य की रचना की थी। वृत्तिकार उपवर्ष ने बीस अध्याय के ऊपर वृत्ति की रचना की थी। अनन्तर देवस्वामी ने उत्तर काण्ड के चार अध्यायों को छोड़कर सोलह अध्याय पर भाष्य की रचना की।

आचार्य शंकर ने भी असमुद्र हिमाचल भारत के सभी देवी देवताओं की स्तुति कर उनकी पूजा और प्रतिष्ठा के साथ विग्रहवती पंचदेवता की उपासना के साथ उनकी प्रतिष्ठा की। अतः दोनों का कार्य विरुद्ध है। वस्तुतः शंकर के विषय में पंचदेव की उपासना को

---

१. परक्षेत्रज्ञयोरैक्यमात्मनोः श्रुतिचोदितम्।
क्षेत्रज्ञस्य बहुत्वं हि देहभेदात् प्रतीयते ॥
एकस्यैव तु बिम्बस्य दर्पणेषु यथा भिदा
भूतपञ्चक-सङ्घातः क्षेत्रं तत्र व्यवस्थितः ॥
जीवो यस्तं विदुः प्राज्ञाः क्षेत्रज्ञं परसंज्ञितम् ॥
(नृसिंहाश्रम. अद्वैतदीपिका १ प. सू. १।१।५)

वेद विरुद्ध व्यवहार सिद्ध करना भी आपात रमणीय है, क्योंकि कृष्ण अजुर्वेद के मैत्रायणी शाखामें रुद्र महादेव, गौरी, गणेश, ब्रह्मा विष्णु एवं सूर्य की उपासना के लिए उनकी गायत्री पठित है। अग्निचयन की विजय कहकर उस चित् अग्नि में पूजा के लिए महादेव शिव का आवाहन करने के लिए मंत्र में कहा गया है। तन्त्र में भी इन्हीं की उपासना है। केवल मन्त्रों में भेद है।

देवानां च ऋषीणां चासुराणां च पूर्वजम्।
महादेवं सहस्राक्षं शिवमावाहयाम्यहम् ॥

शिव के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रूद्रः प्रचोदयात्। शक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है "उदगाङ्गो चयाय विद्महे गिरिसुताय धीमहि तन्नो गौरी प्रचोदयात्।

गणपति के सम्बन्ध में कहा है—

तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।

विष्णु के सम्बन्ध में कहा गया है—

तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

सूर्य के सम्बन्ध में कथित है—

तद्भास्कराय विद्महे प्रभाकराय धीमहि तन्नो भानुः प्रचोदयात्।

कार्तिकेय के सम्बन्ध में कथित है—

तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय च धीमहि तन्नो स्कन्दः प्रचोदयात्।

ब्रह्मा के विषय में—

तच्चतुर्मुखाय विद्महे पद्मासनाय धीमहि तन्नो ब्रह्मा प्रचोदयात्। (वर्लिन प्रकाशित मैत्रायणी संहिता अग्नि चिति प्रकरण ११९-१२०)

अतः पञ्चदेवो की उपासना अश्रौत नहीं है। अतः इस अंश में दोनों आगम और निगमकारों का सिद्धान्त-विरोध नहीं है। कर्मवाद के सम्बन्ध में भी पारमार्थिक दृष्टि से विरोध नहीं है। अशुद्ध चित्त कामना वशीकृत जीव ज्ञान मार्ग का पथिक नहीं हो सकता, वह कर्म मार्ग का ही अधिकारी है। चित्त शुद्धि के लिए

यज्ञदान कर्म अवश्य ही अनुष्ठेय है। यह ज्ञान मार्गी भी मानते हैं। तन्त्र और दर्शन में 'यजति चोदना द्रव्यदेवतादिक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात।' (४।२।२७) यह कहा गया है।

कल्पसूत्रकार कात्यायन ने भी यज्ञं व्याख्यस्यामः द्रव्यं देवता त्यागः (१।१।१।२) यही कहा है। इसी विषय को श्रुति भी कहती है यस्यै देवतायै हविर्गृहीतनस्गात तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्।

(ऐतरेयब्राह्मण २।१।८) इत्यादि वेद वचन से देवता का ध्यान कर हविः का त्याग करना चाहिए। यह भी दोनों पक्ष में स्मरणीय हैं। शवर स्वामी ने मीमांसा दर्शन के (६।१।६) देवताधिकरण भाष्य में कहा है वह प्रौढ़िवाद मात्र है। क्योंकि खण्डदेव ने अपने भाट्ट कौस्तुभ में इस विषय का सिद्धान्त तन्त्र के अनुसार उपस्थापित किया है। छठे अध्याय प्रथम पाद के पञ्चम सूत्र के तिर्यगधिकरण भाष्य में न देवानां देवतान्तराभावाद् इस वचन से सामञ्जस्य भी तन्त्र का होता है। वहां टीका में कुमारिल भट्ट ने कहा है येषां शब्द एव देवता तेषां अप्युक्तो ग्रन्थः अर्थात् जिसके मन में विग्रहवान् देव नहीं हैं अपितु शब्दमयी देवता है उस मत में यह युक्ति संगत नहीं होती हैं। अतः यदि यह माना जाय कि देवता का विग्रहवत्त्वापलाप सामञ्जस्य की दृष्टि से शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। अन्यथा संकर्षकाण्ड की देवतात्व आलोचना व्यर्थ हो जायगी। इसीलिए तन्त्र के अनुसार देवता का पाँच विग्रह प्रदर्शित किया गया है।

विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतद पञ्चकं विग्रहादिकम्।।

अर्थात् इच्छानुसार शरीर धारण कर यज्ञ में प्रदत्त वस्तु का भक्षण, सभी पर प्रभुत्व, समर्पित की प्राप्ति से तृप्ति, फलदातृत्व ये पञ्चविग्रहादि कहे गये हैं। अतः कर्मप्रतिपादनपरक आगम शास्त्र में कर्म का प्राधान्य स्वाभाविक है। इस विषय में विस्तृत विश्लेषण आगे प्रस्तुत करने जा रहा हूं एवं इस प्रसङ्ग में इतना ही कहना उचित होगा कि कर्म और ज्ञान के प्राचीर में शास्त्र विशेष का तात्पर्य न होने के कारण यह परवर्ती काल की देन है। आर्यभावना दीप्ति की उपासना है और मुक्ति और स्वर्ग चिन्मय भूमि प्रस्तुत करती है।

वैदिक धारा का अन्वेषण करने पर दो धारायें सम्मुख उपस्थित होती है एक ऋषिधारा और दूसरी तान्त्रिकों की तन्त्रधारा। वैदिक ऋषियों ने अनेक प्रसङ्ग में अदेव एवं देवनिद् के प्रति अतिशय कटाक्ष किया हैं। यद्यपि इसका सामान्य अर्थ वेदनिन्दक होता है, किन्तु नास्तिक के रूप में चार्वाक आदि का ग्रहण नहीं है, वरन् सम्प्रदाय-वाद के वाद की भूमि पर किसी सिद्धान्त के प्रवर्तक का ग्रहण किया है। दार्शनिक या तान्त्रिक चिन्ताधारा वैदिक हो या अवैदिक, इतना सत्य है कि आत्म दर्शन मनन का ही फल है, अतः दर्शन को तर्क प्रस्थान कहा गया है और इसी की धारा पर प्रवहमान दार्शनिक चिन्ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक बौद्ध धारा (Rationalist) और दूसरी ब्राह्मण (Intuitionist) धारा है। यही मुनिधारा या तन्त्रधारा है, यह तार्किक आघात-प्रतिघात में अपनी धारा की रक्षा के लिए लक्ष्य से बहुत दूर हो जाती हैं। यही मुनिधारा दार्शनिक इतिहास की पृष्ठभूमि है। इसका आयतन इतना विशाल है कि सहस्रधाराओं में प्रवाहित इस धारा के लिए मुनिमतद्वैध के कारण श्रुतिद्वैध आभासित होने लगा है। इस धारामें ही कर्म, भक्ति और ज्ञान एवं ईश्वरवाद अनीश्वर-वाद, आत्मवाद, निरात्मवाद तक अवस्थित हुआ है। योग भूमि पर मुनियों की आगन्तुक सर्वज्ञता का तारतम्य तथा उनके मौन की व्याख्या में तार्किक समीक्षा आचार के लिए प्रतिष्ठित ज्ञान को पाश्चात्य दार्शनिकों के विद्याविलोसात्मक फिलोसफी के समान इसके अध्ययन को मनन तक ही सीमित कर दिया तथा आचार से उपक्रम पर प्रस्तुत ज्ञान को इच्छा कृति के रूप में आचार, और प्रचार से शून्य कर दिया। यह है मनन के आधार पर प्रस्तुत मुनि-धारा जिससे निरतिशय सर्वज्ञ से उपलब्ध ऋषिधारा सर्वथा म्लान क्षीण हतप्रभ हो प्रवहमान होने लगी। वेद मीमांसा तो दूर वेद भवन पर प्रतिष्ठित तर्कात्मक घात-प्रतिघात के अध्ययन में ही जीवन की इति श्री होने लगी। भारत की देवी अखण्डिता या अदिति एक थोथे विचार का विषय या देव जननी मात्र रह गई और पौराणिक गाथाओं में उनका सत्य स्वरूप विस्मृत होने लगा।

यह सत्य है कि मन्त्रभूमि की व्याख्या ही ब्राह्मण है। प्राचीनतम वेदका विभाग मन्त्र और ब्राह्मण ही है, आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण के ही अन्तर्गत है। मन्त्र और ब्राह्मण की अपेक्षा उपनिषद्

की भाषा और भाव की सरलता से इसका अतिशय प्रचार हुआ। मन्त्र की व्याख्या ब्राह्मण को मानने पर भी उसे कर्ममीमांसा माना जा सकता है, वेदार्थमीमांसा नहीं। मन्त्र के साथ ज्ञान के फल क्रिया का योग असाधारण है। क्रिया का सुशृंखल और सुस्पष्ट रूप का निदर्शन ही ब्राह्मण है। व्याख्या में मन्त्र के रहस्यार्थ का आविष्कार आवश्यक होने से मीमांसा के द्वारा रहस्यार्थ का आविष्कार किया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना आवश्यक है; ज्ञान और कर्म के मध्य में एक प्राचीर की रचना परवर्ती काल की देन है जिसे तन्त्र धारा से बलाधान हुआ। वैदिक युग एक अदिति (अखण्ड) दीप्ति की उपासना होने से यह प्राचीर नहीं था। द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ की चर्चा गीता में उपलब्ध हैं, वहाँ भी समस्त कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही की गई है। आत्मा चेतना को लोकोत्तर चिन्मयभूमि में अवतीर्ण करना ही ज्ञान और कर्म का समान लक्ष्य है। इस चिन्मय भूमि का ही नाम स्वर्ग है, जिसकी प्राचीन-संज्ञा 'स्वः' = दीप्तिमय अनुभव। ज्ञानयज्ञ से जिस भूमि पर उत्तीर्ण करना चाहते हैं, वहीं तान्त्रिक अपनी साधना से भी उत्तीर्ण करना चाहते है। स्वर्ग और मोक्ष ये दोनों परस्पर विरुद्ध भावना नहीं वरन् एक ही की दो संज्ञा है। शुक्लयजुर्वेद के संहिता भाग के अवसान में ईशोपनिषद् अन्तर्मुक्त हैं, यजुर्वेद को कर्मवेद माना गया है। इस उपनिषद् का कर्म के अवसान में सन्निवेश अतिशय अर्थपूर्ण है। उदार एवं उदात्त दृष्टि के साथ विराट् समन्वय की चेष्टा ही इसकी अतुलनीय देन है। कर्म के शेष में सार्वभौम ज्ञान की दीप्ति में ही कर्म का अवसान तत्त्व ज्ञान है जो तन्त्र की दिशा प्रशस्त करती है।

ज्ञान की धारा के प्रदीपको योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रियतमा मैत्रेयी को गृहस्थ कर्म के शेष में उद्दीप्त किया—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च"। याज्ञवल्क्य के इस उपदेश में भारतीय जनता का जीवन प्रवाह आशा आकाङ्क्षा का पर्यवसान परिलक्षित होता है। 'एतावदरे खल्वमृतम्'। आत्मा का श्रवण मनन और निदिध्यासन ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। इस उपदेश के व्याख्यान में ही भारतीय दर्शन की असंख्य धाराएँ प्रवाहित हैं। आत्मतत्त्व का अपरोक्षावभासन ही मोक्ष है, और इसी आत्मतत्त्व की चिन्मय भूमि में अवतीर्ण होना स्वर्ग है। इस आत्म-

तत्त्व के निदिध्यासन या उपासना में प्रवृत्त होकर समस्त जगत्प्रपञ्च को आत्मव्यतिरिक्त प्रतीति ही सुलभ रहती है। इस अवस्था का अवलम्बन कर ही कर्ममीमांसा एवं तन्त्र की साधना की प्रवृत्ति मानी जा सकती है, कुमारिल का मङ्गलाचरण भी इस समन्वय भावना का परिचायक है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे॥

सम्पूर्ण विश्व को चिन्मय मान कर गुरुदीक्षापूर्वक साधना ही आगम है।

शुक्लयजुर्वेद का प्रवर्तक आचार्य याज्ञवल्क्य ही ज्ञानधारा एवं तन्त्रधारा का भी प्रवर्तक है जिसकी प्राप्ति सविता से होती है। अतः ज्ञानवासना और कर्मवासना दोनों चरम में तन्त्र से प्राप्त हो या मन्त्र से भूमि एक ही है। मन्त्र का मीमांसा से सम्बन्ध है। मननात्मक मन् विस्तार और ज्ञानार्थक तन् धातु से मन्त्र और तन्त्र निष्पन्न है। मन्त्र शब्द दीप्त्यात्मक देवाविष्ट मनन का स्वतः विच्छुरण है और तन्त्र संविद् बोध करने की प्रचेष्टा ही है। मन्त्र के रहस्य को स्वतः सिद्ध मानकर उसके प्रतिपाद्य कर्मचोदना और ज्ञान प्रेरणा को सुसम्बद्ध रूप देने की चेष्टा से तन्त्र का आविर्भाव है। ज्ञान के लिए वेदार्थ की आदि मीमांसा मन्त्र है, जिसमें कर्ममीमांसा एवं ब्रह्ममीमांसा भी प्राप्त होती है। मीमांसा की धारा अक्षुण्ण प्रवाहित होने पर भी इसे सुसम्बद्ध रूप दार्शनिकों ने दिया है। कालक्रम में दर्शन के मत-वाद को एक विशिष्ट आकार तार्किक बुद्धि की देन है। वैदिक साहित्य में अध्यात्मसाधना का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उसके मूल में शब्द मूर्ति देववाद है। देववाद की भित्ति श्रद्धा है और श्रद्धा मानव चित्त की मौलिकवृत्ति अतीन्द्रिय पदार्थ है। इसी के सान्निध्य में एक अन्यवृत्ति भी प्राचीनकाल से वर्तमान है, जिसकी ऊह या वाद की तर्क संज्ञा हो गई है। तर्क की दृष्टि प्रत्यक्वृत्त है और उसके मूल में जिज्ञासा है। साधना के परिणामस्वरूप आत्मवाद है। देवता और आत्मा दोनों ही अतीन्द्रिय है। आत्मदर्शन या देव-दर्शन दोनों ही अतिप्राकृत है। आत्मवाद संशय को निमित्त रूप से मानता है। देववादी या आत्मवादी दोनों ही सार्वभौम को ही आधार करता है। तन्त्र भाषा में एक आवेगकल्पित विप्र है और एक

पौरुषदृप्त नर है। एक के पास प्राप्ति का साधन श्रद्धा है और एक के पास तर्क या बुद्धि है।

जिस वाणी की सङ्गति के साधन में तन्त्र की समस्त शक्ति नियोजित रहती है वही आगम है। समग्र तन्त्र की तान्त्रिक मीमांसा आज भी दुर्लभ है। पूर्व मीमांसा का उपजीव्य आगम भाग है, और तन्त्र का उपजीव्य साक्षात् शिव और शक्ति है यह सत्य है कि समस्त वेद और तन्त्र का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। किन्तु एकत्र कर्ममीमांसा, कर्मकाण्ड या साधन शास्त्र है साधना का उपकरण स्थूल द्रव्य अवश्य है, किन्तु उसका लक्ष्य स्वर्ग या अध्यात्म चेतना की भूमि है। द्रव्ययज्ञ या ज्ञानयज्ञ ही इसकी प्राप्ति का साधन है। किन्तु इस स्थूल के साथ सम्बद्ध, साधन का सूक्ष्मतम तत्त्व उपकरण है। मनोमय साधना की विवृति और श्रद्धा की आलोचना से तान्त्रिक शिव और शक्ति की परम्परा में ऋषि के अध्यात्मदर्शन की पूर्ण छवि सुलभ होती है।

इसमें विप्रतिपत्ति का अवसर ही कहा है कि वेदमन्त्रों की रक्षा करने का शुद्ध प्रयास कर्मकाण्ड में किया गया है, आत्मचिन्तन में नहीं।

आर्य समाजियों ने भी वेद की व्याख्या करने का असफल प्रयास किया था, क्योंकि, वह सम्प्रदाय में आबद्ध होने के कारण उसमें ऋषिधारा या आगम का पल्लवित रूप उपलब्ध नहीं हो सका, अतः मनन की भूमि पर तर्क प्रतिष्ठित यह व्याख्या नास्तिक से बहिर्भूत नहीं है। आगन्तुक सार्वज्ञ्य का आरोप कर प्रस्तुत वेदार्थ कभी अपौरुषेय निरतिशय सहज सर्वज्ञ की व्याख्या नहीं हो सकती है।

इसी क्रम में वेदव्याख्या के लिए वेदाङ्ग का भी अवसर प्राप्त होता है। इन वेदाङ्गों में निरुक्तकार का विशेष महत्त्व है। यद्यपि निरुक्त में आनुपूर्वी व्याख्या नहीं है तथापि अनेक मन्त्रों की व्याख्या उपलब्ध होती हैं। यह व्याख्या कर्मपरक होते हुए विद्युत्प्रकाश के समान अनेक रहस्यों का भी उद्घाटन करती है, इतना ही नहीं वेद विभिन्न धाराओं का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। यास्क इन व्याख्याकारों में अन्तिम आचार्य हैं। इसके साथ ही मध्ययुग के शेष भाग में सायणाचार्य उपलब्ध होते हैं, जिनकी समग्र वेद की आनुपूर्वी व्याख्या मिलती है। किन्तु इनकी व्याख्या आकस्मिक नहीं है वरन्

प्राचीन धारा का क्रमानुवर्तन है, जो आज भी व्याख्यान क्रम में अनुवर्तित है। इस समय तान्त्रिक पल्लवन हो चुका था। सायण ने कर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी अन्य धाराओं को भी उदात्त उदाररूप में परिगृहीत किया। इस प्रकार यह अवगत होता है कि वेदकाल से ही तन्त्र, निरुक्त मीमांसा आदि के क्रम में अविच्छिन्न अक्षुण्ण वेद की व्याख्या प्रवाहित हो रही है, किन्तु मध्य में विच्छेद होते हुए भी ब्राह्मण्यधारा और आगमधारा में विशेष भेद नहीं है। यास्क की परम्परा से वेद के रहस्यार्थ के उद्बोधन की परम्परा भी चलती रही है। देवतकाण्ड ने देवतत्त्व की आलोचना से निगूढ रहस्य की ओर इङ्गित करती है। जिसे मीमांसा ने मन्त्रमूर्ति के रूपमें प्रतिष्ठित किया और तन्त्र में दीक्षा के आधार पर देवतत्त्व को चेतनतत्त्व का ही रूप दिया है। अलौकिक अनुभव का फल होने से अध्यात्म व्यञ्जन से दूर रहना सम्भव ही नहीं है। कर्म के आधार पर मीमांसाशास्त्र पूर्व और उत्तर रूप में उपलब्ध है, जहाँ द्रव्ययज्ञ के विना भी चिन्मय भूमि में उत्तीर्ण होने की सम्भावना है। किन्तु वेदार्थ का शैथिल्य तर्कमार्गियों बोद्धों के कुतर्क की देन एवं प्रभाव है।

तर्क में एक आवेश होता है। वह एकाङ्गी होकर किसी विशेष व्याख्या में पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष का एक क्रम चलता है जो लक्ष्य से सहज ही दूर अवतीर्ण करा देता है। ज्ञान काण्ड की अवतारणा के साथ मन्त्रार्थ की उपेक्षा आरम्भ हो गई थी।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वेद सार्वभौम अखण्ड दीप्ति की साधना है और इसका उद्देश्य आचार और अविचार की भूमि पर प्रचार है। कर्म और ज्ञान की यात्रा का चरम लक्ष्य अमृतत्वलाभ है। इस अमृतत्व की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही निगम और आगम से प्रतिपादित है।

ऋग्वेद में सोमका बहुधा उल्लेख मिलता है। एक मण्डल ही सोममन्त्रों का संग्रह है। वर्णन के आधार पर सभी यज्ञों में श्रेष्ठसोम याग है। इसका अनुष्ठान भी जटिलतम है। देवत्व प्राप्ति का तन्त्र और यह भी साधन है। अमृतत्वलाभ ज्योतिर्मय जीवन में उतीर्ण होना है। यदि यह कहा जा सकता है कि विश्वात्मक ज्योति से एकात्मता है। जिसमें सम्पूर्ण विश्व के साथ एकात्म होकर सबके कल्याण के लिए एकाङ्गी जीवन से निरपेक्ष सार्वजनिक जीवन के रूप में कर्तव्य

पथ पर आरूढ़ होना और आरूढ़ करने की भावना सन्निहित है। एक खण्ड सत्य के आधार पर एक गोष्ठी के कल्याण की भावना की प्रेरणा नहीं है। इस प्रकार यह जटिल कर्मरूप है और दूसरी ओर सरलज्ञान रूप है। वेद में कहा है:—जिसने औषधि स्वरूप सोम का पान किया या मानस सोमका पान किया, किन्तु जो सोम को ब्रह्म जानते हैं, उस रसको कोई नहीं पा सकता है। योग और तन्त्र की साधना में अग्निषोमतत्त्व एवं अमृतस्यन्दन की विवृति एवं प्रयोग का अध्ययन एवं अनुशीलन करे तो इसके रहस्य का उद्‌घाटन सम्भव है।

वेद एवं तन्त्र के व्याख्यान से पूर्व श्रुति का अर्थज्ञान अपेक्षित है— ऋष् गतौ धातु से सर्वधातुभ्यइन् (उ. सू. ५५७) इन् इगुपधात् कित् (उ. सू. ५५९) से कित् कर 'ऋषि' शब्द निष्पन्न होता है। वेद की प्राप्ति के लिए तप का अनुष्ठान करने वाले पुरुष को स्वयम्भु वेद पुरुष ने प्राप्त किया अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्व-भ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवत् (तै. आ. २।९।१) अतीन्द्रिय वेद का परमेश्वर के अनुग्रहण प्रथम दर्शन के कारण ही ऋषि कहे गये।

युग के अन्त में अन्तर्हित इतिहास के साथ वेद को महर्षियों ने तपके द्वारा स्वयम्भु के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया।

तपोवन में महर्षि कल्प जीवन परायण मुनिगण त्रैगुण्य विषयक ज्ञान के निस्त्रैगुण्य होते हुए भी जीवों के प्रति महाकरुणा से सदा आर्द्रचित्त आत्म अनुग्रह की इच्छा के विना भी ज्ञान-कल्पतरु दुःख त्रयनाशक ज्ञान विज्ञान फल के मीमांसा को योग समृद्धि से अविष्कृत किया। यह वही समय था जब परमकरुणामयी शक्ति वृद्धा माता के समान करुणा की पात्र वन गई थी। आपातमधुर पर्यन्त परिताप-फलक शरीर को ही सर्वस्व मानने वाली सन्तान कल्याण राशि सम्पादक माता की सेवा से विमुख थी। लोक प्रतिष्ठा की अभिलाषा से सेवा भले ही किसी ने की, किन्तु यह सेवा नहीं इस सेवाभास से जननी की रक्षा नहीं, वरन् क्षय मार्ग की प्रशस्ति थी। इस प्रकार तन्त्र और वेद अनादि हैं।

तन्त्र और उसका विभाग :—

तन्त्रशास्त्र से विहित साधना शक्ति की साधना है। काशिका में "तिवुत्रतथसिसुसरकसेषु च" (६।२।९) इस पाणिनि सूत्र की व्याख्या में कहा है, विस्तारर्थक तन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय कर तन्त्र

शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् तन्यते विस्तार्यंते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्। ज्ञान का विस्तार होने के कारण ही इसे तन्त्र कहा जाता है। कामिकागमों के अनुसार यह शास्त्र तत्त्व एवं मन्त्र समेत विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर जीव का त्राण करता है, ईसीलिए इसे तन्त्र कहा जाता है।

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते। (पृ. ५५)

यद्यपि तन्त्र शब्द के अनेक अर्थ कोष आदि में कहे गये हैं, किन्तु उसका विवरण अप्रस्तुत होने से उपेक्षाकर शिव आदि से कथित तन्त्र का ही विश्लेषण प्रस्तुत है। तन्त्रशास्त्र का अपर पर्याय साधना शास्त्र या कर्म शास्त्र है। इसका प्रणेता कोई नहीं है, वरन् इसका अनुस्मरणकर्ता ही है। तन्त्रशास्त्र का प्रधान रूप से, आगम, यामल और तन्त्र ये तीन विभाग किये जा सकते हैं[1]।

आगम——सृष्टि, प्रलय, देवताओं की विधिपूर्वक अर्चना, मन्त्रों की साधना, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन एवं चतुर्विध ज्ञान योग इन सात लक्षणों से समन्वित शास्त्र को आगम कहा जाता है।

"सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार जिस शास्त्र में आचार का वर्णन हो, एवं यथाविधि दिव्य गति की प्राप्ति का साधन निरूपित हो, और महान् आत्मतत्त्व का वर्णन हो——उसको आगम कहा जाता है[2]

रुद्रयामल तन्त्र में आगम की व्याख्या करते हुए कहा गया है—— शिवमुख से आगत गिरिजामुख में गत वासुदेव सम्मत होने से आगम कहा जाता है। आगतम्, गतम्, मतम् इन पदों के प्रथम तीन अक्षरों के आधार पर ही आगम[3] संज्ञा है। आगम के साथ ही निगम का भी

---

१. षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः। (भा. त. भू. पृ. २)
तन्त्रशास्त्रन्तु प्रधानतस्त्रिधा विभक्तम्——आगम-यामल-तन्त्रभेदतः।
(मातृ. भू. पृ. २)

२. आचारकथनाद्दिव्यगति-प्राप्ति-विधानतः।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये॥ (कु. त. पृ. १६)

३. आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतञ्च गिरिजामुखे।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥ (रु. या. पृ. २)

निर्देश मिलता है, अतः, निगम की अर्थविंगति भी प्रसङ्ग प्राप्त है, जिसका विचार पूर्व पृष्ठों में प्रस्तुत है।

निगमः—गिरिजा के मुख से निर्गत शिवकर्ण में गत वासुदेव सम्मत है, अतः, यह निगम है[1]। पूर्ववत् आदि तीन अक्षरों से **निगम** संज्ञा है। इस प्रकार स्वरूप और व्यवहार से निगम और आगम में भेद नहीं है। भास्कर राय ने कामिकादि अट्ठाइस आगम को वेद सम्मत और कपाल भैरव आदि को वेदविरुद्ध माना है। परमेश्वर के मुख से उत्पन्न होने से उनकी आज्ञा के अनुरूप है, अतः, वेदानुयायी आगम निगम है। "तेषु वैदिकानि निगमपदवाच्यानि परमेश्वरस्य मुखोद्भूतत्वादाज्ञारूपाणि।" निगम और उड्डीश श्रेणी के तन्त्र की कहने वाली देवी है। (ल. स. ११८)

सम्प्रदाय के भेद से आगम अनेक हैं—शक्तिसङ्गमतन्त्र में शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, महावीर, पाशुपत, वीरवैष्णव, वीरशैव, चान्द्र, स्वायम्भुव, ग्यारह शाबर, ग्यारह घोर मायाकापालिक, वीर, बौद्ध, जैन, दश प्रकार के चीन, सौ प्रकार के बौद्ध, दश प्रकार के पाशुपत, अट्ठारह प्रकार के कौल आगम की चर्चा है।

इतना सत्य है कि शक्तिसङ्गम के प्रचार के समय विभिन्न सम्प्रदाय के अनेक आगम प्रचलित थे। शाक्तानन्दतरङ्गिणी के अनुसार सदागम ही आगम हैं। "सदागम एव आगमशब्दस्य मुख्यत्वात्"। (शा. त. उ. २) आगम संहिता में शिव ने आज के तान्त्रिक साधना की स्पष्ट निन्दा की है—हे देवेशि ? कलियुग के मनुष्य राजस एवं तामस मनोवृत्ति के होते हैं। निषिद्ध आचारण परायण संसार को मोहग्रस्त करते हैं, स्वयं वर्णाश्रमाचार का परित्याग कर मांस, रक्त एवं सुरा आदि हमलोगों को अर्पित करते हैं—निश्चित ही ये भूत, प्रेत पिचाश एवं ब्रह्मराक्षस होते हैं[2]। अतः इसमें

---

१. निर्गतो गिरिजावक्त्रात् गतश्च गिरिशश्रुतिम्।
मतश्च वासुदेवस्य निगमः परिकथ्यते॥ (आ. द्वै. व. ८)

२. कलौ प्रायेण देवेशि ? राजसास्तामसास्तथा।
निषिद्धाचरणाः सन्तो मोहयन्त्यपरान् बहून्॥
आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुराञ्चैव सुरेश्वरि ?
वर्णाश्रमोचितं धर्ममविचार्य्यार्पयन्ति ये।
भूतप्रेतपिशाचास्ते भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः॥
(आ. संहिता प्र. शा. त. उ. २)

सन्देह नहीं कि वर्णाश्रम-धर्मसम्मत आचार अनुष्ठान आदि जिसमें विहित नहीं हैं—वे असदागम हैं। कतिपय आचार्यो ने तन्त्रशास्त्र के अनुसार ही विहित और अविहित आचार के आधार पर सत् और असत् की कल्पना करते हैं। शिव ने स्वयं कूर्मपुराण में कहा है—मोहकारक वेदवादविरुद्ध शास्त्रों की सृष्टि मैंने की है, उन लोक-मोहन वाम, पाशुपत, सोम, लाकुल, वेदबाह्य होने से असेव्य हैं[1]। पाञ्चरात्रागम वेदविरुद्ध नहीं है।

कतिपय स्थलों में, तन्त्र, यामल और डामर के भेद से तीन विभाग माना गया है। तन्त्र सात्त्विक है, यामल राजस और डामर तामस है।

गान्धर्वतन्त्र के अनुसार पूर्वोक्त विभाग की उपेक्षा कर कहा है—मैंने तामस राजस और सात्त्विक के भेद से तीन तन्त्रों की रचना की है, बुद्धिमान् व्यक्ति इसका विभाजन कर लें। तामस तन्त्र नरक का साधन है, राजस स्वर्ग और सात्त्विक मोक्ष प्रद है[2]।

वाराहीतन्त्र के अनुसार जिस तन्त्र में सृष्टि, ज्योतिष, नित्यकृत्य का उपदेश, क्रम, सूत्र, वर्णभेद, जातिभेद और युगधर्म—इन आठ विषयों का निर्देश रहता है, उसको यामल का जाता है।

"सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम्।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च।
युगधर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्टलक्षणम्।। (वि० को०)

रुद्र, स्कन्द, ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुवेर और इन्द्र के भेद से आठ यामल है। ये यामल स्वच्छन्द, क्रोध, उन्मत्त, उग्र, कपाली, झङ्कार, शेखर और विजय—इन आठ व्यक्तियों से प्रणीत हैं। सेतु-बन्ध आदि के अनुसार ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, लक्ष्मी, उमा, स्कन्द, गणेश और जयद्रथ को यामल माना है[3]।

अमरवाराहीतन्त्र के अनुसार छ प्रकार के अमरों का उल्लेख मिलता है साथ ही श्लोकों की संख्या कामी निर्देश दिया गया है—योग अमर, २,३५३३ श्लोक, शिवअमर, ११००६ श्लोक, दुर्गाअमर ११५०३ श्लोक, सारस्वत अमर ९९०५ ब्रह्मअमर, ६१९५ और गान्धर्व अमर ६००६० श्लोक। वाचस्पत्यम्

---

१. कू. पु' ६७।१४६—४७
२. ग० त० १।२८-३०। ३. से० ब० १।१५।

पञ्चाम्नायः---तन्त्रों का अन्य दृष्टि से पाँच आम्नाय के रूप में विभाग उपलब्ध होता है---आम्नाय शब्द का वेद और तन्त्र दोनों अर्थ होता है। कुलार्णवतन्त्र के अनुसार शिव के पाँच मुखों से पाँच आम्नायों की उत्पत्ति होती है पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर एवं ऊर्द्ध्व ये पाँच आम्नाय मोक्ष साधन हैं।

"मम पञ्चमुखेभ्यश्च पञ्चाम्नायाः समुद्गताः।
पूर्वश्च पश्चिश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा।
उर्ध्वम्नायाश्च पञ्च ते मोक्षमार्गाः प्रकीर्तिताः। (कू० त० ३।७)

इन पाँच मुखों के नाम निम्नलिखित हैं---(१) सद्योजात, यह मुख शुद्ध स्फटिक के समान शुक्ल वर्ण है। (२) कामदेव, यह मुख पीतवर्ण सौम्य और मनोहर है। (३) अघोर---यह कृष्णवर्ण और भयङ्कर है। (४) तत्पुरुष---यह रक्तवर्ण दिव्य और मनोहर है। (५) ईशान---यह श्यामल सर्व देवशिवात्मक है[1]।

पूर्वाम्नाय और दक्षिणम्नाय कथित कर्म पशुभाव के साधकों के उपयोगी हैं। पश्चिम्नाय के कर्म पशु एवं वीर भाव के साधक के उपयोगी हैं। उत्तराम्नाय में कथित कर्म दिव्य और वीर भाव के साधक के उपयोगी हैं और ऊर्ध्वाम्नाय के द्वारा कथित कर्म दिव्य भाव के साधक के उपयोगी हैं[2]। पूर्वोक्त पाँच मुखों से उत्पन्न तन्त्रों की संख्या २८ है। सद्योजात से कामिकादि ५ आगम या संहिता, वामदेव से दीप्त्यादि पाँच संहिता, अघोरमुख से विजयादि ५ संहितायें, तत्पुरुष मुख से रोरवादि ५ संहितायें, ईशानमुख से प्रोतगीतादि आठ संहिताएँ उत्पन्न हुई हैं। शक्तिसङ्गम एवं समयाचार तन्त्र के अनुसार छ आम्नाय हैं।

श्रीविद्या एवं इसके भेद, तारा, त्रिपुरा, भुवनेशी, और अन्नपूर्णा पूर्वाम्नाय है। वगलामुखी, बालभैरवी (वशिनी) त्वरिता, धनदा, महिषघ्नी और महालक्ष्मी दक्षिणाम्नाय में वर्णित है। कालिका और उसका भेद, तारा और उसका भेद, मातङ्गी, भैरवी, छिन्ना, धूमावती,---ये उत्तराम्नाय में वर्णित हैं। कलियुग में ये शीघ्र फल

१. विभाव्य मुखपद्मं हि शिवस्य वरवर्णिनि ?
सद्योजातं वामदेवमघोरञ्च ततः परम्।
श्यामलञ्च तथेशानं सर्वदेवशिवात्मकम्। (निर्वाणतन्त्र)

२. निरुक्ततन्त्र

प्रब मानी जाती हैं। उर्ध्वाम्नाय के द्वारा एवं प्रसादनन्त्र और अधः आम्नाय में वागीश्वरी आदि देवताओं का वर्णन है। देव्यागम के अनुसार पूर्वाम्नाय में मन्त्रादि के साथ श्री भुनेश्वरी, ललिता, पद्म शूलिनी, सरस्वती, त्वरिता, नित्या, वज्र प्रस्तारिणी, अन्नपूर्णा, महालक्ष्मी, लक्ष्मी, वाग्वादिनी का मन्त्र, पूजा और अनुष्ठान आदि का वर्णन है।

दक्षिणाम्नाय में प्रसाद सदाशिव, महाप्रसादमन्त्र, दक्षिणामूर्ति, वटुक मञ्जुघोष, भैरव, मृतसञ्जीवनीविद्या और मृत्युञ्जय। पश्चिमाम्नाय में गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव' नृसिंह, वामन, वराह, रामचन्द्र, विष्णु हरिहर, गणेश, अग्नि, यम, सूर्य, विधु, विभिन्न ग्रह, गरुड, दिक्पाल, हनुमान् एवं अन्य देवगण। उत्तराम्नाय में दक्षिणकालिका, महाकाली, गुह्यकाली, श्मशानकाली, भद्रकाली, एकजटा, उग्रतारा, तारिणी, कात्यायनी, छिन्नमस्ता, नीलसरस्वती, दुर्गा, जयदुर्गा, नवदुर्गा, वाशुली, धूमावती, विशालाक्षी, गौरी, बगलामुखी, प्रत्यङ्गिरा, मातङ्गी, और महिषमर्दिनी का वर्णन है। ऊर्ध्वाम्नाय में त्रिपुर सुन्दरी, त्रिपुरेशी भैरवी, त्रिपुर भैरवी, श्मशान भैरवी, भुवनेश्वरी, भुवनेश्वरी भैरवी, षट्कूटभैरवी, अन्नपूर्णा भैरवी, पञ्चमी, षोडशी, मालिनी और बलाबला का वर्णन है। अधः आम्नाय में देवता का स्थान, आसन, यन्त्र, माला, नैवेद्य, वलिदान, साधना, पुरश्चरण और मन्त्रसिद्धि का वर्णन है।

सम्प्रदाय के अनुसार भी तन्त्रों का विभाग है, शाक्त का चार सम्प्रदाय है। केरल, काश्मीर, गौड और विलास। सम्मोहनतन्त्रमत से अङ्ग से मालव तक केरल श्रेणी का, मद्र से नेपाल तक काश्मीर श्रेणी का, श्रीहट्ट से समुद्र पर्यन्त गौडतन्त्र और विलास श्रेणी का तन्त्र सर्वत्र प्रचलित है। ब्रह्मयामल के अनुसार दक्षिण वाम एवं मध्यम स्रोत ये तीन विभाग हैं। सत्त्वगुण–प्रधान दक्षिण, शुद्ध है, रजोगुण प्रधान वाम, मिश्र है, तमोगुण प्रधान मध्यम अशुद्ध है।

दक्षिण स्रोततन्त्र––योगिनी-जाल, योगिनी-हृदय, मन्त्रमालिनी, अघोरेशी, अघोरेश्वरी, क्रीडाघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारिचि, महामारिचि, और उग्रविद्यागण है।

मध्यमस्रोतः––विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वातुल, वीरभद्र, रौरव, माकुट और वीरेश। ब्रह्मयामल के अनुसार चन्द्रज्ञान, बिम्ब प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सवोद्गीत, किरण और पारमेश्वर

तन्त्र उच्च श्रेणी के है। अधिकारी की दृष्टि से तन्त्र का भेद है। राघव भट्ट एवं सेतुबन्ध आदि में महामाया आदि चौसठ तन्त्रों को वेदतुल्य माना है। क्योंकि वेद के उपासनाकाण्ड में अन्तर्भुक्त होने से आगमशास्त्रात्मक उपासनाकाण्ड ही तन्त्र है[1] इसका विश्लेषण पूर्व में प्रदर्शित है।

मेरुतन्त्र के अनुसार वेदाङ्ग के रूप में तन्त्र की गणना है। प्रणव के विना वेद नहीं है, अतः वेदपरक मन्त्र होने से आगम वेदाङ्ग है।

"न वेदप्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदसमुत्थितः।
तस्माद् वेदपरो मन्त्रो वेदाङ्गश्चागमः स्मृतः॥

निरुत्तर तन्त्र के अनुसार आगम या तन्त्र पञ्चम वेद है, एवं मनु के अनुसार वैदिकी और तान्त्रिकी दो श्रुतियाँ है।

आगमः पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः। (निरु. त. ६४)
श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च। (मनु. २।१)

किन्तु पूर्व विवेचन से यह सिद्ध है कि वैदिक और अवैदिक दो प्रकार के तन्त्र हैं। किन्तु साधन मार्ग होने से एवं सङ्कर्षण काण्ड के अन्तर्गत न होने से सभी का प्रामाण्य न होने से वेदमार्गी सभी तन्त्रों का अवलम्बन नहीं करते हैं। भले ही लौकिक अभीष्ट को सिद्धि उनसे होती हैं।

वैदिक और तान्त्रिक दोनों में ही क्रियापूर्वक उपासना का विधान है, तान्त्रिक गायत्री का जप कर सूर्य को अर्घ्य देना होता है, और परमाक्षरी वैदिक गायत्री का जप करना होता है।

गायत्रीं तान्त्रिकीं जप्त्वा सूर्यार्घ्यश्च तान्त्रिकम्।
प्रजपेद् वैदिकीं नित्यां गायत्रीं परमाक्षरीम्॥ (गा. न. व. ४)

अनुष्ठान का भेद :––वैदिक और तान्त्रिक अनुष्ठान भिन्न है। वेदानुसारी अनुष्ठान भिन्न होता है और तन्त्रानुसारी अनुष्ठान भिन्न होता है। आचमन सन्ध्या आदि सभी कर्म पुराण एवं स्मृति के अनुरूप तथा तन्त्र के अनुसार भी होते हैं।

शिव ने कहा है कि––नित्यनैमित्तिक कर्मों में जो विधान है, उनका निरूपण ब्रह्मा के रूप में वेद में निरूपण किया है। संस्कारों में एवं अन्य कर्मों में जिन मन्त्रों का प्रयोग प्रणव-घटित रूप में दिया

---

१. तत्र सर्वासु श्रुतिषु काण्डत्रयं कर्मोपासनाब्रह्मभेदेन।
.........उपासनाकाण्डात्मकं गरीय इति सिद्धम्। (शा. ति. टी. १।७)

गया है, सत्य, द्वापर और त्रेता में वैसा ही रहेगा, किन्तु कलि में वे मन्त्रों के प्रयोग चलने पर भी प्रणव के स्थान पर 'ह्रीं' बीज देकर आरम्भ करना होगा।

"कलौ तु परमेशानि तैरेव मनुभिर्नवाः।
मायाद्यैः सर्वकर्माणि कुर्युः शङ्करशासनात्॥ (महा. त. ६।१०)

इससे यह सिद्ध है प्रणव वैदिकबीजमन्त्र है, किन्तु तन्त्र में भी अनेक तान्त्रिकों ने इसे आत्मसात् कर लिया है, क्योंकि ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्र में अ ऊ, म मिलकर ॐ प्रणव होता है। अकार सात्त्विक, ऊकार राजस, मकार तामस इस प्रकार मूल प्रकृति प्रणव है। अन्यत्र इसे कुण्डलिनी स्वरूप प्रणव शब्द ब्रह्म माना है।

"अकारः सात्त्विको ज्ञेयः ऊकारो राजसः स्मृतः।
मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते॥

(-ज्ञान स. त. विमलनन्द द्वारा उद्धृत)

"तद्विद्यमानबिन्दुरूपं चैतन्यं कुण्डलिस्वरूपं प्रणवाकारं प्राणिनां देहमध्यगं सत् वर्णात्मनाविर्भवति प्रकाशत इत्यन्वयः"

(प्रा. तो. का. ३)

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि वेद और तन्त्रको लेकर सनातन की पूर्णता है। वेद प्रवाहित धर्मशास्त्र ही काल-क्रम में तन्त्र की अभिनव धारा में प्रवाहित हुआ है। अतः इनमें मौलिक विरोध नहीं है देवी ने भागवत में इसी विषय को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

"मैंने दो भुजाओं के द्वारा स्थावर राजस एवं तमोगुणात्मक सम्पूर्ण विश्व को धारण किया है। आगम और वेद ये ही दो बाहु हैं। अतः इनका लङ्घन करने से अधः पतित होता है[1]।" किन्तु इतना सत्य है कि वैदिककृत्य की अपेक्षा कलि में तान्त्रिककृत्य की प्रशस्ति है। इस विषय का समर्थन महानिर्वाणतन्त्र में मिलता है। देवी श्री आद्या ने 'सदाशिव को कहा था—भगवन्! सर्वभूताधिपति, सर्वधर्मवेत्ता आपने पूर्व समय में कृपाकर अन्तर्यामी के रूप में ब्रह्मा के द्वारा सर्वधर्म वर्द्धक चारों वेदों का प्रकाश किया था, इनके द्वारा वर्णाश्रमादि नियम प्रतिष्ठित हुआ। उस समय पुण्यशील मनुष्य

---

१. दे. भा. पृ. १९८

३ शा० भू०

वेदोक्त याग यज्ञों से देवता एवं पितरों को प्रसन्न करते थे स्वध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दान का अभ्यास करते थे, जितेन्द्रिय, महाबल, महावीर्य, महासत्त्व पराक्रम देवकल्प होते थे, सत्यधर्म परायण होते थे[1] किन्तु कलियुग में इतना बल न होने से तन्त्र-परायणता महानिर्वाण तन्त्र के द्वारा कही गई है।

शिव और शिवा ने दुर्बल मनुष्यों के लिए करुणा वश इसका प्रवर्तन किया है। अतः धर्म प्रवर्तन के रूप में ही इसका प्रयोग है। स्वात्माभिन्न संविन्मयी भैरवी के प्रश्न के उत्तर में वेद के सारभूत रूप में तन्त्र शास्त्र का प्रणयन माना है। करुणामयी भगवती और करुणापरायण शिवका उत्तर यह सिद्ध करता है कि जीवका कल्याण विधान ही तन्त्र का एक मात्र उद्देश्य है

तन्त्र की अवतारणाः—

शिव और शक्ति के प्रश्नोत्तर के व्याज से तन्त्र का आविर्भाव माना गया है। स्वच्छन्दतन्त्र में स्पष्ट ही निर्देश मिलता है कि सदा शिव ने स्वयं गुरु और शिष्य के रूप में अवस्थित हो तन्त्र की अवतारणा की है।

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत ॥

(स्वच्छन्दतन्त्र १।१२)

तन्त्र शास्त्र और तान्त्रिक साधना गुरु शिष्य परम्परा क्रम में चलती है। कर्ण परम्परा से उपदेश क्रम में तन्त्र पृथिवीं में सम्प्राप्त होता है। "कर्णोत्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम्"। ग्रन्थ के अध्ययन मात्र से तन्त्र में ज्ञान सम्पन्न होने पर भी कृतार्थ नहीं हो सकता है, एकमात्र गुरु के उपदेश से ही कृतार्थ हो सकता है। "विद्वान् समर्थोऽपि पुस्तक वाचनादिना सम्पन्नज्ञानो न कृतार्थो भवितुमर्हति, किन्तु गुरूपदिष्टमार्गेणैवेति।" प० क० सू० १।२। किन्तु साधना जाति और वर्ण से निरपेक्ष है, गुरु सभी को शिष्य नहीं बनाता है, शास्त्र के अनुसार योग्य को ही शिष्य बनाया जाता है। सभी के लिये उन्मुक्त तन्त्र शास्त्र अधिकारी के विना उपदिष्ट

---

१. भगवन् सर्वभूतेश······देवायतनगा मर्त्या देवकल्पा दृढव्रताः। सत्यधर्मपराः सर्वे साधवः सत्यवादिनः॥ (महा. त. १।१८-२२)

नहीं होता है। दीक्षा के बाद भी पर शिष्य, नास्तिक, गुरुशुश्रुषा में आलसी और अनर्थप्रद व्यक्ति को तन्त्र का उपदेश नहीं दिया जाता है।

"न देयं परशिष्येभ्यो नास्तिकानां न चेश्वरि।
न शुश्रुषालसानां च नैवानर्थप्रदायिनाम्॥
(पा० नि० ६।४)

तन्त्र में अधिकारी का निरूपण करते हुए लिखा गया है कि संसार सागर से उद्धार के इच्छुक-न अतिशय तत्त्वज्ञ और न मूर्ख है—वे ही इस शास्त्र में अधिकारी है।

संसाराम्बुनिधिर्यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः।
नात्यन्ततज्ज्ञो न मूर्खः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्॥
(तन्त्रा २।४)

इतना ही गान्धर्व तन्त्र में आस्तिक, शुचि, दान्त, द्वैतहीन-जितेन्द्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मवादी, ब्रह्मी, ब्रह्मपरायण, सर्वहिंसा विनिर्मुक्त सभी प्राणियों के हित में रत व्यक्ति ही अधिकारी होता है, इस तरह का जो व्यक्ति नहीं है वह भ्रमात्मक साधक है[1]। यह तर्कशास्त्र के समान लौकिक बुद्धिगम्य विचार शास्त्र नहीं है, वरन् यह शास्त्र गुरुगम्य है। सद्गुरु के उपदेश को छोड़कर इसके गम्भीर तत्त्व को अवगत नहीं किया जा सकता है। यह सिद्धि मूलक साधन नीति है, इसके ज्ञान के अनुरूप ही साधना करनी है। ज्ञान के अभाव में भी साधना के प्रभाव से यह प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु मात्र ज्ञान रहने पर भी साधना के अभाव में वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। यह साधना का मार्ग है, इसीलिए तन्त्र से साधना पर ही अधिक बलाधान दिया गया है।

तन्त्र और विज्ञान—

तन्त्र शास्त्र बुद्धि विलास या मनोविनोद नहीं है। चिकित्सा, ज्योतिष और तन्त्रवाद प्रत्यक्ष फलप्रद शास्त्र है। प्रत्यक्ष फल होने के कारण ही यह श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक युग के लिए उपयोगी है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचारशील मनुष्य प्रत्यक्ष से जिसका ज्ञान नहीं किया जा सकता है, उसको जानना नहीं चाहता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पदार्थ

---

१. गं० तं० २।१८-१९

विज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान का जिस प्रकार संस्कृत मन और दृढ़ संकल्प को लेकर सत्य के प्रत्यक्ष के लिए परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार तन्त्र की सत्यता को लेकर परीक्षा करने पर उसके सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित विषय का भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र शक्ति के आधार पर देवता और उच्चतर शक्ति के अस्तित्व की सत्यता का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। अधिकारी साधक व्यक्ति साधना के बल से उच्च से उच्चतर स्तर पर आरोहण करता हुआ सच्चिदानन्द स्वरूप का लाभ कर सकता है। कोई भी साधक तन्त्र के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष कर सकता है। इस साधन विज्ञान से सिद्धि परीक्षित सत्य है। विज्ञान में जैसे सूत्र, संकेत अनेक जटिल यन्त्रादि एवं साधनों के उपाय का चिन्तन है वैसे ही तन्त्र में मन्त्र यन्त्र देश कालोपयोगी अनेक साधनाओं का भी विवरण है। अनधिकारी के लिए विज्ञान या तन्त्र दोनों के साधन अर्थ-हीन हैं। अवैज्ञानिक के लिए Fdx या 4 Gmlac आदि निरर्थक है वैसे ही तन्त्र के अनधिकारी के लिए 'ह्रों' या 'क्लीं' आदि का कोई अर्थ नहीं है। अधिकारी व्यक्ति के लिए ही ये वर्ण अपना सुस्पष्ट अर्थ व्यक्त करते हैं। किन्तु यह सत्य है कि विज्ञान का द्वार जैसे सबके लिए उन्मुक्त है वैसे ही तन्त्र का द्वार भी सभी के लिए उन्मुक्त हैं कोई भी निर्दिष्ट पद्धति से आराधना कर सिद्धि का लाभ कर सकता है। अद्वय ब्रह्मसिद्धि से लेकर रोगप्रशमन शत्रुदमन सभी इससे सम्भव है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही सन्निहित हैं।

तन्त्र का विषय शुद्ध आध्यात्मिक नहीं है, मानव जीवन के साथ सम्बद्ध अनेक विषयों की आलोचना इसमें की गई है। सृष्टि स्थिति और लय के साथ ही दर्शन, विज्ञान रसायन, चिकित्सा, छन्द, कोश, व्याकरण, ज्योतिष, शकुनविद्या, मन्त्र, यन्त्र, पूजा आदि सभी अध्यात्म सम्बद्ध विषयों का वर्णन के साथ ही लोकाचार देशाचार, इन्द्रजाल, व्यवहार, समाजनीति, धर्मनीति आदि की विशद आलोचना है। इस प्रकार यह विश्वकोष है, किन्तु इसका प्रधान विषय मन्त्र एवं साधना है। वेद पुराण आदि में भी तान्त्रिक क्रिया-कलापों का वर्णन है तन्त्र के प्रति ऐहिक सुख समृद्धि की कामना ही प्रवृत्ति का कारण है। अनिष्ट परिहार शत्रु विनाशमूलक इसमें सहज प्रवृत्ति, योगिनी तन्त्र शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण,

उच्चाटन, मारण---ये छ कर्म इसमें वर्णित है। साथ ही रोग, अभिचार एवं ग्रह दोष का नाश तन्त्र साध्य है।

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा।
मारणं परमेशानि षट्कर्मेदं प्रकीर्तितम्॥

(षो० त० ३)

इन छः कर्मों में शान्ति कर्म को छोड़कर अन्य कर्मों का आश्रयण तन्त्र की विकृति और प्रक्षेप का ग्रहण मात्र है। समय के साथ तन्त्र व्यावसायिक हो गया और पशु शास्त्र के समान भेद को मूलाकार बनाकर स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन नहीं रह गया।

"पशु-शास्त्राणि सर्वाणि मयैव कथितानि हि।
मूर्त्यन्तरं तु सम्प्राप्य मोहनाय दुरात्मनाम्"॥

भारतीय संस्कृति के इतिहास के अवलोकन से यह सिद्ध है कि तन्त्र का सनातनी पर ही नहीं वरन् सभी पर प्रभाव है। वैदिक पद्धति की अपेक्षा तन्त्र पद्धति का विशिष्ट आश्रयण है। पुराण पर भी इसका अतिशय प्रभाव है। मत्स्यपुराण आदि का अभिचारादि वर्णन तान्त्रिक प्रक्रिया का स्पष्ट निर्देशन करता है। शैव, वैष्णव, एवं शाक्त इन तीनों की साधन भजन प्रक्रियाएँ सनत्कुमार तन्त्र, गौतमीय तन्त्र, शारदातिलक आदि क्रम दीक्षा को महत्त्व देती हैं। शाक्त तन्त्र के अनुसार यहाँ भी जप समर्पण, आत्मसमर्प आदि सविधि वर्णित है। शिव और शक्ति के समान ही यहाँ कृष्ण और राधा है। श्री राधा कृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री ब्रह्म स्वरूपा देवी है, इनमें कोई भेद नहीं है, राधा कृष्णमयी सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति-स्वरूपिणी और मनमोहिनी है।

"न विकृत्रिमा च सा नित्या सत्यरूपा यथा हरिः।
प्राणाधिष्ठात्री या देवी राधारूपा च सा मुनेः॥

(गौ० त० २।३।५४)

द्वयोश्चैको न भेदश्च दुग्धधावल्ययोर्यथा।
देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहिनी परा॥

(ब्रह्मा० सं० पृ० ४)

इस प्रकार युगल पूजा निर्वाण तन्त्र आदि में पूर्ण रूप से वर्णित है। सहस्रार में श्रीकृष्ण का स्थान निर्दिष्ट है। ब्राह्म वालक मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा इन छः चक्रों की भावना कर सहस्रदल पद्म में अपनी शक्ति कुण्डलिनी के साथ अवस्थित द्विभुज, पीताम्बर धारी सुन्दर नवीन मेघ कान्ति परमेश्वर श्रीकृष्ण को अपनें हृदय में दर्शन करे।

सहस्रदल पद्म ही गोकुल है, ब्रह्म संहिता में कहा गया है कि यही श्रीकृष्ण का सर्वोत्कृष्ट स्थान है, इस पद्म की कर्णिका ही वह धाम है। यह षट्कोण महायन्त्र है, इसके कोण में "क्लीं" बीजहीरक के समान देदीप्यमान है। षट्कोण में षट्पदी "क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा" यह षडङ्ग अष्टादशाक्षर मन्त्र विराजमान है। चिन्मय राधाकृष्ण यहाँ नित्य रस रास विहार करते हैं[1]।

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवम्॥
कर्णिकारं महद् यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
षडङ्ग-षट्पदी-स्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च॥
प्रेमानन्द-महानन्द-रसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम्॥
तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि॥

(ब्रह्मसंहिता २-४)

राधा कृष्ण की मिलन रूप रस उपलब्धि ही वैष्णव रस-साधना-सिद्धि है। यह रस-तत्त्व-साधना तान्त्रिक साधना है। यह साधना प्रकृति पुरुषात्मक साधना है। काम कामनामुक्त व्यक्ति ही रस तत्त्व और साध्य साधन के अधिकारी हैं। जीव के आत्मस्थ होकर आत्मा में राधा तत्त्व को विकास करना ही रस तत्त्व है। साधना सभी के वश की वस्तु नहीं है। रस-तत्त्व-साधना भावगत हो या देहगत दोनों ही दुरुह है। भावगत साधना में मानस व्यापार रहता है। इस साधना में जीव राधा या शक्ति है और परमात्मा श्रीकृष्ण या शिव है। इसमें सम्भोगात्मक परब्रह्म के साथ अभिन्न और परम प्रेम प्रलीन चिन्तन ही है देहगत रसतत्त्व साधना है, जिसकी तीन

१. द्रष्टव्य ना० प० १।३।६०-६२।

अवस्था मानी गई है दासभाव, मञ्जरीभाव और सखीभाव। इसमें नाम और मन्त्र दो ही आश्रय है। इन्द्रियों का कठोर संयम, पवित्र जीवन, तीर्थवास, नाम और नामी में अभेद ज्ञान, अपराध वर्जित रूप में सदा नाम ग्रहण—यह प्रथम भूमि है। इसके लिए श्रीगुरुचरण का आश्रयण आवश्यक है। उनकी कृपा से मन्त्र शक्ति की प्राप्ति होती है। मन्त्र की यथाविधि साधना से चैतन्य सम्पादन, एवं सिद्धि से पूर्व तक प्रथम अवस्था रहती है। साधक भूमि द्वितीय भूमि है। यह कुलाचार साधना है। इसमें प्रकृति का साहाय्य अपेक्षित होता है। प्रथम भूमि के संसाधन से काम निवृत्त होता है; यही द्वितीय भूमि में प्रवेश की योग्यता है। द्वितीय भूमि का उद्देश्य रस सिद्धि है साधना के प्रभाव से जीवभाव से ईश्वर भाव का उदय होता है—यही स्वामिभाव है। यहाँ प्रकृति से पुरुष रूप में परिगणन की योग्यता होती है। बिन्दु का अचल रूप ईश्वर भाव है और सिद्ध भूमि तृतीय भूमि है। इस साधना में इस समय के प्रचलित सभी तन्त्र समन्वित है। सहजिया या वाउलों की साधना भी प्रथम भूमि की ही साधना है, परमहंस निगमानन्द के अनुसार स्वभावानुगत साधना ही सहज साधना है। भोग से सहसा योग की अवतारणा सम्भव नहीं है। भोग के क्रम से योग में उन्नीत करना ही स्वाभावानुगत सहज साधना है। बहुधा आजकल वाउलो के समान गीत सुनाकर कुण्डलिनी जागृति का रूप देकर भ्रान्त किया जा रहा है। प्राकृत नर नारी माया रञ्जित विकृत मानव है माया के गुण राग में रञ्जित है। सहज मानुष में नित्य वृन्दावन ये दास, सखा, पिता, माता और कान्ता ये चार होते हैं, ये श्रीकृष्ण के नित्य सिद्ध सेवक है। इनकी उपासना सहज नाम या गुण कीर्तन है। रसिक मधुर रस के अन्तरङ्ग साधक है। राधाकृष्ण का सहज मिलन ही वैष्णव तान्त्रिक साधना है।

शाक्त और वैष्णव में उपास्य भेद के अतिरिक्त प्रकार समान है गौतमीय तन्त्र के अनुसार कृष्ण और दुर्गा में भेद नहीं है।

य: कृष्ण: सैव दुर्गा स्यात् या दुर्गा कृष्ण एव. सः।
अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न विमुच्यते॥

(ब्रह्मसंहिता में जीव के द्वारा उद्धृत ३)

नारद पञ्चरात्र में भी कृष्ण की पराकान्ता ही दुर्गा है और वही परा परमा महाविष्णुरूपिणी शक्ति है।

जाताज्येका परा कान्ता सैव दुर्गा तदात्मिका ।
या परा परमा शक्तिर्महावैष्णवस्वरूपिणी ।।

(ना० प०)

सम्मोहन तन्त्र में भी दुर्गा और राधा को एक कहा गया है। नित्या, परा, अद्वया ही राधा है, वही महालक्ष्मी, दुर्गा है।

सबसे वैशिष्टच तो यह है कि दश महाविद्याएँ दशावतार से अभिन्न रूप में निर्दिष्ट है। तोडल तन्त्र में कहा है—तारा मत्स्यावतार, वगला कूर्मावतार, धूमावती वराहावतार, छिन्नमस्ता नृसिंहावतार, भुवनेश्वरी वामनावतार, मातङ्गी श्रीरामावतार, त्रिपुरा जामदग्न्यरामावतार, भैरवी बलरामावतार, महालक्ष्मीबुद्धावतार, दुर्गा कल्कि अवतार, भगवती काली स्वयं कृष्ण मूर्ति। इस प्रकार उपास्य के अभेद मत भेद हटाया गया है।

आज के विशिष्ट सिद्धान्त एवं समाज सेवा प्रवर्तकों में अनेक तान्त्रिक हुए है राजा रामामोहनराय ने हरिहरानन्द भारती से तान्त्रिक दीक्षा ली थी। यही महानिर्वाण तन्त्र के टीका के रचयिता है। जिसकी प्रतिलिपि राजारामभोहन ने स्वयं की थी। प्रारम्भ में 'ॐ नमो ब्रह्मणे' लिखा है और नवम उल्लास के प्रारम्भ में "श्रीश्रीनाथपादाम्बुजे नियतं मतिरस्तु मे" यह लिखा है। यह तन्त्र ही उनके धर्म की भित्ति है। ब्रह्मसमाज में इनकी मृत्यु के बाद इस तन्त्र का प्रभाव नहीं रहा। नाथसम्प्रदाय, बौद्धतन्त्र और सहजय.न, कालचक्रयान पर तन्त्र का प्रभाव हैं। महायानी ग्रन्थ ने शून्यता को प्रज्ञा करुणा को उपाय कहा गया है, वज्रयानी शून्यता और प्रज्ञा को स्त्री तथा करुणा एवं उपाय को पुरुष कहा है भारत से बाहर भी इसका प्रभाव रहा है। यहूदी में कव्वलह (Kabbalah) नाक से एक भर भी मत है। यह उनका तन्त्र मत है। सूफीमत के साथ इसका समन्वय है वर्णों की शक्ति जादूमन्त्र कबजभाविज, देवता से सृष्टि का प्रकाश या विवर्त आदि इसमें निर्दिष्ट है। यह भारतीय तन्त्र के वर्णित सिद्धान्तो का अनुकरण हैं। कव्वलह मन में सीमित जगत् असीम ईश्वर से निकला है जो तेजः स्वरूप है, वह विवर्त या परिणाम है। पिण्ड (Microcosm) एवं ब्रह्माण्ड (Macrocosm) में ऐक्य स्वीकृत है। यह मत मिश्र से यूरोप में आया, नवम शताब्दी में मिश्र में प्रचलित था और वाद में यूरोप में आया। मिश्र के साथ

भारत का सम्बन्ध प्राचीनतम है। खृष्टो में अनेक तान्त्रिक क्रियाये लक्षित है। यहाँ के अभिषेक के अनुकरण में पवित्र जल का छिड़कना जिसे व्याप्ति जल कहा जाता है। यद्यपि व्यक्त प्रभाव प्रदर्शन सम्भव नहीं है। किन्तु साधना में तन्त्र का उत्स विश्व भर में उपलब्ध है। तन्त्र की प्राचीनता में सन्देह नहीं है। (१) प्रागैतिहासिक युग (२) बुद्ध परवर्ती युग (मध्ययुग) १२०० A. D. तक। (३) आधुनिक युग, प्राचीन युग का पृथक् तन्त्र ग्रन्थ नहीं है, वह श्रुति के आकार में था। तैत्तिरीयारण्यक का फट् फट् जहि, छिन्धि, भिन्धि हन्धि कट्। इति वाचः कुर्वाणि" (तै० आ० ४-२७) सायण के मतानुसार यह आभिचारिक क्रिया से सम्बद्ध है। **पञ्चमुण्डी** आसन पर साधना से दो चाण्डाल का मुण्ड, एक श्रृगाल का मुण्ड, एक वानर का मुण्ड, एक सर्प का मुण्ड रहता है—इससे पञ्चमुण्डी आसन बनता है। इसका पूर्वरूप वैदिक यज्ञ के अग्नि वेदि की रचना में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—एक मनुष्य लेकर पाँच प्राणियों का बलि देकर उनके मुण्ड के ऊपर अग्नि वेदि की रचना की जाती है प्राणियों के शरीर को जल में फेककर उस जल से वेदी का ईंट तैयार करना चाहिए, यह स्थायी शक्तिशाली होता है।

कुण्डलिनी की वर्णना वेद में है जिसका वर्णन योग निरूपण के दिया जायगा जो तान्त्रिकों की अमूल्य-निधि है। अशोक के शिला-लेख में तान्त्रिक वर्णो का विवरण देते हुए श्री शाम शास्त्री ने देव-नागरी लिपि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में तान्त्रिक रेखा चित्र या यन्त्र को मूल माना है। अशोक की लिपि कतिपय तन्त्र में वर्णित है। (The origin of the Devanagan Alphabet I. A. 1909) अशोक के शिलालेख का प्रकार △ त्रिकोणाकृति है, एकार त्रिकोणा-त्मक है।

यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम् (वा० नि० ११६)

इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध हैं कि तन्त्र भारतीय प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध है और विश्व की साधन क्रियाओं को प्रभावित किया है। इस समय अध्ययन के अभाव में इसका रूप विकृत हो गया है और खाने-पीने की वस्तु रह गई है। अतः इसका शुद्ध स्वरूप विकसित होने पर विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित हो सकता है।

योग

समाध्यर्थक युज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय कर योगशब्द निष्पन्न होता है––युज्यते अनेन इति योगः; कुछ आचार्यों ने अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर युज्यते अस्मिन् इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिये योग और समाधि को अपर पर्याय माना गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा ओर परमात्मा का संयोग ही योग है। "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः"। महाभारत के अनुसार––परब्रह्म के साथ एकत्व ही योग है। इस विश्लेषण के अनुसार परमात्मा और आत्मा का ऐक्यस्वरूप योग साध्य है, इसको समाधि कहा जा सकता है, जो योग का साध्य है। क्योंकि जैसे–– जल और लवण का संयोग से ऐक्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि कहा जाता है।

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते॥

योग और समाधि व्युत्पत्ति के भेद से साधन और साध्य उभय रूप में व्यवहृत होता है। योगभाष्य में व्यास ने 'घृत ही आयु है' इत्यादि व्यवहार के समान उपकार्य और उपकारक रूप में अङ्ग और अङ्गी में अभेद की विवक्षा होने से योग और समाधि को अपर पर्याय माना है। जिससे चित्त को एकाग्र किया जाता है, इस रूप में करण साधन समाधि शब्द को मान कर योगाङ्ग अर्थ को समाधि शब्द कहता है "समाधीयते = एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन" इति समाधिः"। जिस अवस्था विशेष में प्राण आदि वृत्तियों का अवरोध होता है, उसको समाधि कहा जाता है। इस अधिकरण साधन योग में सम्प्रज्ञात जौर असम्प्रज्ञात दोनों का ग्रहण हो जाता है।

योग दर्शन में अपरिणामी कूटस्थ नित्य चिति शक्ति है, पुरुष शब्द से निर्दिष्ट यह ज्ञान का धर्म नहीं है। बुद्धि = चित्त की परिणामात्मक ज्ञान रूप राजस-तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है। विक्षिप्त चित्त के द्वारा ऐसा नहीं किया जा सकता है, अतः राजस तामस वृत्ति को छोड़कर केवल सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए, सात्त्विक वृत्ति के दृढ होने पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए, इस अवस्था में योग्यता की सम्प्राप्ति होती है, उसकी दृढ़ता

की अवस्था होने पर निरोध का अभ्यास सम्भव होता है और निरोध स्थिर होने पर असम्प्रज्ञात योग तक होता है। दूसरे रूप में यह अष्टाङ्ग योग है। समाधि मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के भेद से चित्त की चारभूमियों वाली हैं। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति, और स्थिति-शील के कारण त्रिगुणात्मक है। प्रख्या तत्त्व-ज्ञान है। तत्त्वज्ञान से उपलक्षित प्रसन्नता, लघुता प्रकाशकत्व आदि सात्त्विक गुण होते हैं। प्रवृत्तिशील होने से शोक, दुःख आदि राजस गुण होते हैं। प्रवृत्ति-विरोधिनी स्थिति-शील तमोगुण होने से गुरुता, आवरण दैन्य, निद्रादि तामस होते हैं। चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों की विचित्रता के कारण विचित्र परिणाम सम्पन्न होता हुआ पाँच अवस्था वाला होता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ है। रजोगुण के कारण विषयों में क्षिप्यमाण= अस्थिर क्षिप्त अवस्था है। क्षिप्त चित्त दैन्य, दानव, मद-भ्रान्त विषयी पुरुषों का रहता है। तमोगुण केआधिक्य होने ने निद्रा आदि वृत्तियों से मूढ़ चित्त, राक्षस, पिशाच एवं मादक द्रव्यों के सेवन से उन्मत्त विवेक शून्य व्यक्तियों का रहता है। क्षिप्त से विशिष्ट अस्थिरता वहुल अर्थात् कभी स्थिरता कभी अस्थिरता यह अवस्था स्वाभाविक या व्याधि आलस्य भय आदि से उत्पन्न होती है। ऐसा चित्त ब्रह्मज्ञान इच्छा रखनेवाले एवं विवेकी पुरुषों का चित्त होता है। एकाग्रता=एकतानता है। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार मात्र शेष चित्त निरुद्ध होता है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्था में योग की सम्भावना नहीं है। विक्षिप्त हृदय में कभी समाधि हो भी सकती है, परमार्थ विषयक चित्त की स्थिरता योगपक्ष में नहीं हो सकती है, अतः समाधिविशेष के कारण गौण रहती है। यह क्लेशादि की निवृत्ति में सक्षम नहीं है। कुछ क्षणों के लिए जो तप्त बीज हैं, उनमें अंकुर के उत्पादन की क्षमता रहती है। एकाग्र चित्त में सम्यक् प्रतिष्ठित परमार्थभूत अर्थ का प्रकाशन अर्थात् साक्षात्कार होता है, वह पंचविध क्लेशों की उत्पत्ति कराकर कर्मरूप बन्धन शिथिल करता हुआ अदृष्ट पापपुण्य के उत्पादन में अक्षम होता है एवं निरोध की ओर अभिमुख रखता है यही सम्प्रज्ञात योग है। चित्त की सत्त्ववृत्ति के द्वारा सम्वेदन योग्य विषयों का सम्यक् साक्षात्कार जिस अवस्थाविशेष में होता है—वह सम्प्रज्ञात ही अर्थात् अच्छी तरह संयम विपरीत अनिश्चित रहित होने से प्रकृष्ट रूप से

भाव्य स्वरूप का ज्ञान, जिस भावना विशेष से, जिस अवस्था में होता है, वह सम्प्रज्ञात है। भावना से तात्पर्य अन्य विषयों को छोड़कर पुनः—पुनः चित्तवृत्ति-सन्निवेश है।

सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है—

(१) वितर्कानुगत।
(२) विचारानुगत।
(३) आनन्दानुगत।
(४) अस्मितानुगत।

(१) पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय मूर्ति में चित्त की उस साक्षात्कार विषयक प्रज्ञा वितर्क है, स्थूल विषयक होने से यह स्थूल है।

(२) चित्त के आलम्बन सूक्ष्म शरीर में स्थूल कारणीभूत सूक्ष्म तन्मात्र लिङ्ग अलिङ्ग विषयक साक्षात्कार विचार है।

(३) इन्द्रिय के स्थूल आलम्बन में चित्त का साक्षात्कार आह्लादात्मक है, प्रकाशशील होने से एवं सत्त्व प्रधान रहने से अहङ्कार ने इन्द्रियों की सत्त्व प्रधान उत्पत्ति है, अतः वे सुखात्मक है।

(४) ग्रहीतृ—विषयक-सम्प्रज्ञातस्वरूप एकात्मक ज्ञान अस्मिता है।

योग का फल और साधन

सभी वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष की उपाधि रहित अपने चैतन्य में अवस्थिति होती है। यह सत्य है कि चिति शक्ति व्युत्थान अवस्था में अपने कूटस्थ स्वरूप को नहीं छोड़ती है, किन्तु असम्प्रज्ञात रूप होने से प्रकाशित नहीं होती है। पुरुष चेतन स्वरूप असङ्ग है, यह प्रकाश स्वरूप एवं ज्ञानमय है, प्रकाश और ज्ञान उस निर्गुण का धर्म नहीं है। सभी धर्मों से रहित होने पर बुद्धि वृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण भ्रमवश बुद्धि के धर्मो का पुरुष पर आरोप होता है। वस्तुतः पुरुष, बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि परिणामी है और बुद्धि का विषय ज्ञात और अज्ञात हो सकता है। जिस वस्तु के आकार में बुद्धि का परिणाम है, वह ज्ञात होता है और अन्य अज्ञात रहता है। पुरुष का परिणाम न होने पर भी प्रतिबिम्ब-पात के कारण बुद्धि की वृत्तियों को जान पाते हैं। बुद्धि दूसरे के लिए है। क्लेश, कर्म, वासना, विषय, इन्द्रिय आदि के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य

सिद्ध करती है, क्योंकि संहत्यकारी अर्थात् अन्य से मिलकर जो कार्य करता है, वह दूसरे के प्रयोजन का साधक होता है। संहत्यकारी न होने से असङ्ग पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। शान्त, घोर और मूढ के रूप में सभी वस्तुओं के आकार में बुद्धि परिणत होती है एवं ज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन और ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता और चेतन है। पुरुष स्वतन्त्र है, बुद्धि पुरुष के अधीन है, पुरुष द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है। अचेतन बुद्धि पुरुष के सम्बन्ध से चेतन के समान प्रतीयमान होती है। व्यास एवं पतञ्जलि तथा वाचस्पति मिश्र ये तीनों ही पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं।[1]

पञ्चशिखाचार्य भी बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। पुरुष चेतन, अपरिणामी, प्रतिसम्भरण शून्य है, बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। पुरुष विषयाकार में परिणत नहीं होता है। विषयाकार परिणत बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और भ्रमवश बुद्धि के धर्मों को पुरुष अपना धर्म समझा करता है। योग-भाष्यकार ने इस मत को उद्धृत किया है।[2]

व्यासदेव ने भी कहा है, जय या पराजय सैनिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु राजा में उसका आरोप होता है और राजा की जय या पराजय कही जाती है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है, इसी प्रकार पुरुष का सुख आदि का साक्षात्कार रूप भोग एवं दुःख-त्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग बुद्धिकृत होने से बुद्धि में ही वर्तमान रहता है, पुरुष में वे आरोपित है। पुरुष उस फल का भोक्ता नहीं है। पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण नहीं करता है, अपि तु प्रतिबिम्व रूप में ग्रहण करता है। पुरुष का यह भोग वास्तविक नहीं है, आपाततः प्रतीयमान है।

व्योमवती में एक कारिका उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि विषय सम्बद्ध इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति होती है, क्रमशः

---

१. पा० योगभाष्य २।२०

२. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिप्रथिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तः चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुमात्रतया बुद्धिवृत्यवशिष्टो हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। —पञ्चशिख० योग-भा० २।२८।२, यो० भा० २।१८

बुद्धि उस विषयाकार में परिणत इन्द्रिय के रूप को प्राप्त करती है। इसी स्थिति में सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है, सत्त्वगुण की प्रवलता से बुद्धि स्वच्छ रहती है, और इस अवस्था में बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, कलुषित में नहीं। इस प्रकार सत्त्वप्रधान बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तमः प्रधान में नहीं पड़ता है।[1] पुरुष में स्वाभाविक भोग मानने पर पूर्व स्वरूप की निवृत्ति और अन्य स्वरूप प्रतिरूप परिणामित्व का प्रसङ्ग नहीं है।

बौद्ध दर्शन में चित्त अर्थात् बुद्धि से पृथक् पुरुष का अस्तित्व नहीं माना जाता है। योगदर्शन में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि विभिन्न वासनाओं के द्वारा चित्रीकृत चित्र दूसरे के भोग और अपवर्ग के लिए ही है, अपने लिए नहीं है। चित् का कार्य अनेक अङ्गों से साध्य होने से संहत रूप है। संहत्यकारी संहत स्वरूप दूसरे के उपकार की सिद्धि के लिए होता है, जैसे अनेक उपादानों से रचित गृह दूसरे के भोग के लिए ही वर्तमान है। भोग्यचित् चित् के भोग के लिए नहीं है, इसी प्रकार अपवर्ग चित् भी चित् के अपवर्ग के लिए नहीं है, वह दूसरे के लिए ही है। चित् जिसके उद्देश्य का साधन करता है, वह असंहत पुरुष है। पुरुष ही चित् के द्वारा उपस्थित सुख-दुःख का भोग करता है। ज्ञान पुरुष के लिए ही अभिप्रेत है। ज्ञान ही पुरुष की मुक्ति का साधन करता है। इस प्रकार चित् पुरुष का ही भोग और अपवर्ग का साधन करता है। बौद्ध-गण द्रष्टा, ज्ञाता और भोक्ता का पृथक् अस्तित्व भले ही न माने किन्तु ज्ञेय से ज्ञाता का, दृश्य से द्रष्टा का, भोग्य से भोक्ता का पृथक् अस्तित्व उन्हें मानना ही पड़ेगा।[2]

- अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति मानी गई है। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी चेतन है। अदृष्ट के अधीन पुरुषों के सान्निध्यवश प्रकृति की साम्यावस्था समाप्त होती है। अयस्कान्तमणि जिस प्रकार सान्निध्य वश ही लोहे के काँटे को निकाल लेता है, किन्तु स्वयं स्थिर रहता है, पुरुष भी इसी प्रकार स्वयं स्थिर रहते हुए भी केवल सामीप्य

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५२१।

२. योगभा० पृ० ४।२४

के कारण प्रकृति को कार्योन्मुख करता है। प्रकृति का सत्त्व-बहुल प्रथम परिणाम महत्=चित् तत्त्व है। किन्तु यह परिणाम उद्देश्य-मूलक है। इसमें दो उद्देश्य हैं, एक प्रकृति पक्ष में और दूसरा पुरुष पक्ष में। प्रकृति पुरुष की भोग सामग्री के रूप में जब परिणत होती है, तब प्रकृति सम्बन्धी उद्देश्य की सिद्धि होती है, प्रकृति सुख-दुःख मोहात्मिका है। इस दुःख-दुख का अनुभव न होने पर इसकी त्रिगुणात्मकता विफल होगी। भोक्ता के विना भोग्य निरर्थक है। भोक्ता की अपेक्षा कर ही भोग्य है। अतः भोग्य प्रकृति भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती हैं। पुरुष असङ्ग मुक्त स्वभाव है। इसलिए मुक्ति के लिए पुरुष अपेक्षा करता है। मुक्त स्वभाव भी पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति के साथ सर्वथा संयुक्त होता है। प्रतिविम्ब होकर बुद्धि के दुःखत्रय को अपने ऊपर आरोपित करता है। दुःख ज्वाला से सन्तप्त पुरुष इनके आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना करता है। आत्यन्तिक रूप में दुःखत्रय निवृत्ति रूप कैवल्य के लिए तत्त्व पुरुष का भेद ज्ञान अर्थात् विवेकज्योति अपेक्षित है। इस विवेकख्याति के साधन के लिए बुद्धि=चित् की अपेक्षा है, विना उसके ज्ञान सम्भव ही नहीं है। साम्यावस्थापन्न प्रकृति का भोग सम्भव नहीं है, वह अव्यक्त है। क्योंकि पुरुष और महत् तत्त्व के विना भोग अपवर्ग सम्भव ही नहीं है।

जीव के विचित्र कर्मकलाप ही प्रकृति के विचित्र परिणाम का कारण है। प्रकृति जीवन का उपादान कारण और जीव का धर्म, अधर्म निमित्त कारण है। प्रकृति के साथ पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। प्रकृति के एक होने पर भी पुरुष के विविध कार्य के लिए विचित्र सृष्टि करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध जगत् की निष्कारण सृष्टि मानकर खरहे की सींग के समान अलीक माना जा सकता है। अपरिणामी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि, ब्रह्म अपरिणामी है, अतः जगत् के रूप में उसका परिणाम सम्भव नहीं है। ईश्वरकर्तृक प्रकृति का महत्तत्त्व आदि के रूप में परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि, क्लेश-कर्म विपाक आशय में अपरामृष्ट पुरुष विशेष रूप ईश्वर सभी व्यापारों से रहित है, और अधिष्ठान व्यापार शून्य ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है।

अचेन प्रकृति को प्रवृत्ति कैसे सम्भव है ? यह आपत्ति भी ठीक नहीं है। गौ के स्तन्य की वृद्धि और उससे दूध का क्षरण होता है। अतः स्तन की प्रवृत्ति है और वह चेतन नहीं है। गौ के चेतन रहने पर भी स्तन की प्रवृत्ति गौ की प्रवृत्ति के अधीन नहीं है। गौ की प्रवृत्ति होने पर बहुधा स्तन की वृद्धि और दूध का क्षरण नहीं होता है। स्तन दूध की प्रवृत्ति का कारण वत्स पोषण है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी पुरुष के मोक्ष और भोग के लिए प्रवृत्ति सम्भव है, अतः प्रकृति का महत् तत्त्व के रूप में परिणाम होता है।

योग और चरकसंहिता—चरकसंहिता के अनुसार एक धातुक, षड् धातुक एवं चतुर्विंशतिक इस प्रकार त्रिविध पुरुष का निर्देश मिलता है। चरक मत में आत्मा अनादि, अनन्त और शाश्वत है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह परमात्मा है।[1] सृष्टि के आरम्भ में वे वर्तमान थे। यह व्यक्त, अव्यय सर्वव्यापक अचिन्तनीय है। शुद्ध चिन्मय अद्वितीय एक होते हुए भी सभी प्राणियों के चैतन्य का शरण है। अन्तरात्मा के रूप में शरीर में वह अवस्थित रहता है। शरीर में अवस्थित होने के कारण ब्रह्म की पुरुष संज्ञा है। जीवात्मा के रूप में अनेक होते हुए भी परमात्मा के रूप में एक है। रजोगुण और तमोगुण के कारण देह कोष में जब तक आबद्ध रहता है—तब तक वह बद्ध ही जीव के कर्मों से उत्पन्न देह की असंख्यता के कारण जीवात्मा असंख्य हैं। किन्तु मुक्त अवस्था में ब्रह्म रूप में अवस्थान करता है, अतः परं ब्रह्मभुतो जीवात्मा नोपलभ्यते (च० शा० १।१५५) कहा गया है। चरक और योग में समन्वय होने पर भी आत्मा को ब्रह्म स्वरूप कहा हैं। यह पुरुष बहुत्व ब्रह्म की प्रतिमूर्ति स्वरूप है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'[2] इस योगसूत्र के अनुसार कोई भेद नहीं है। पञ्च महाभूत के साथ सम्मिलित चिन्मय आत्मा षड्धातुमय पुरुष के रूप में वर्णित हैं।[2]

चरक के प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्र या पञ्चविषयक के समवाय को चातुर्विंशतिक पुरुष माना है। प्रकृति और विकृति वर्ग को लेकर वह कहा गया है।

---

१. प्रभवो न विद्यते ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः। च० शा० १।५३

२. स्वादयश्चेतना षष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः। च० शा० १।१३

चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में कहा है—अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतचिकित्साविषयः पुरुषः।

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ।।

(च० शा० १।३५)

यह राशि पुरुष का जीवन-मरण होने से यह चिकित्सा के योग्य है। क्योंकि, निर्विकार आत्मा चिकित्सा के योग्य नहीं है। यह ज्ञातव्य है कि महाभारत में भी स्थूल देह के अर्थ में राशि शब्द का प्रयोग किया गया है। चरक संहिता में प्रकृति जात तत्त्वसमूह क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ के नाम ने कहा जाता है। क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का अनादि और अनन्त सम्बद्ध माना गया है। तमोगुण और रजोगुण की प्रबलता के कारण प्रकृति के साथ आत्मा का सम्बन्ध अविच्छिन्न भाव से चलता है। सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर संसार के कारण रजोगुण और तमोगुण का विलय होने पर विवेक ज्ञान वश आत्मा की मुक्ति होती है।[१] भोगतृष्णा ही शरीर की उत्पत्ति का साधन है। भोगतृष्णावश धर्माधर्म का अर्जन कर एवं उसके फलभोग के लिए शरीर ग्रहण करता है। भोगवासना का नाश होते ही जीव का किसी भी विषय में राग और द्वेष नहीं रहता है, फलतः कर्म में प्रवृत्ति न होने से धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। भोग के द्वारा आबद्ध कर्म का क्षय होने पर विवेकी व्यक्ति का शरीर नाश होने पर मुक्ति होने से पुनः संसार में आगमन नहीं होता है। अविवेक के कारण सुखदुःख आदि का आत्मा में आरोप होता है।

आत्मा के ज्ञाता होने पर भी सभी समय सभी विषयों का ज्ञान उसको नहीं रहता है। मन, बुद्धि और इन्द्रिय के साथ संयोग के फलस्वरूप ही ज्ञान प्रवर्तित होता है। कारण समूह के मलिन होनें पर अथवा उनके साथ संयोग के अभाव में ज्ञान नहीं होती है। डा० दासगुप्ता ने भी आत्मा में ज्ञान की विद्यामानता नहीं मानी है। मन और ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से ही ज्ञान होता है।[२] करण समूह के

---

१. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया विवर्तते ।। च० शा० १।३६

२. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यात् अयोगाद्वा न प्रवर्तते ।। च० शा० १।५४

The self is in it self without consiousness. Con-
४ शा० भू०

साथ योग होने से कर्म और बन्धन एवं योग के अभाव में कर्म निवृत्ति और मुक्ति होती है। वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए कारण की आवश्यकता होती है, कारण और सहकारी के विना एकाकी वह कार्य के सम्पादन में असमर्थ रहता है। अविवेकवश कारण समूह के साथ आत्मा का संयोग स्थापित होता है। ज्ञाता ही साक्षी होता है। आत्मा ज्ञाता होकर साक्षी के रूप में अवस्थित है। भूत समुदाय उसके द्वारा परिदृष्ट होता रहता है। आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है, मन अचेतन होते हुए भी सक्रिय है। आत्मा के साथ वियुक्त होने में गति नहीं होती है, मन की क्रिया की ही आत्मा की क्रिया के रूप में भ्रान्ति हैं। चिन्मय पुरुष के अधिष्ठान के फलस्वरूप मन की क्रिया परिलक्षित होती है और आत्मा कर्ता होता है। वस्तुतः आत्मा निष्क्रिय है। मन सक्रिय होते हुए भी कर्ता नहीं है। परमार्थिक दृष्टि से कार्य का निष्पादक मन ही है। आत्मा स्वतन्त्र स्वयं स्व का परिचालक है। उसका अन्य कोई नियन्ता नहीं है। आत्मा धर्म और अधर्म का सहायक बनाकर अनेक योनियों में गमन के लिए स्वतन्त्र है और यह व्यापक है। रजोगुण और तमोगुण संयुक्त वद्ध जीव पूर्वजन्मार्जित कर्मो के अनुसार विभिन्न शरीर ग्रहण करता है। देह स्थिर इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न सुख-दुखादि का अनुभव करता है। एक देह के इन्द्रियों से अन्य देह का सुख-दुःखादि ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः व्यापक होते हुए भी सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है। सुख-दुःखादि की अनुभूति में प्रधान सहकारी मन है और वह कर्म के अनुसार विभिन्न रूप में है। किन्तु योगी और तान्त्रिक योग और साधन के प्रभाव से दूसरे में स्थित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार योग तन्त्र से चरक सिद्धान्त बुद्धि और मन के भेद को छोड़कर साम्य रखता है। श्वास-प्रश्वास चक्षु का उन्मेष और निमेष, जीवन-मरण मन की विभिन्न देश में गति, इन्द्रियान्तर से मन का संयोग, विषयान्तर से मन का सम्पर्क, स्वप्नयोग में मन की विभिन्न देशों में गति, इच्छा द्वेष, सुख-दुःख, धैर्य्य, चैतन्य, बुद्धि, स्मृति अहङ्कार आदि आत्मसंयुक्त देह में देखा जाता है, शून्य मृत शरीर में इन चिह्नों की उपलब्धि नहीं

---

siousness can only come to it through its connection with the sence organe an manas. Hist. of Ind. Phil. vol. I, P. n14

है। षड्धातुमय यह शरीर है, आत्मा के अभाव में पाँच धातु अवशिष्ट रह जाता है, इसी लिए मृत्यु को पञ्चत्व प्राप्ति कहा गया है।[1]

योग एवं तन्त्र में ये सभी बुद्धि के धर्म हैं। इस विश्लेषण में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव भी तन्त्र पर लक्षित है।

खण्डन

बौद्धों का चरक के अनुसार खण्डन—

बौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ क्षणिक है, वे अस्थायी आत्मा नहीं मानते हैं। चरक में उनका खण्डन मिलता है। जीव की प्रतिभा और मोह का कारण धर्माधर्म है। आत्मा के अभाव में निराश्रित धर्माधर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है। सत्य उपादेय धर्म का जनक एवं मिथ्या अनुपादेय अधर्म का जनक है। स्थायी आत्मा के अभाव में सत्य और मिथ्या से धर्म और अधर्म नहीं हो सकता है। आत्मा के अभाव में शुभाशुभ कर्मो की भी सम्भावना नहीं है। कर्ता ही कारणों का ज्ञाता होता है। बोद्धा पूर्व और ऊपर अवस्था का द्रष्टा होता है। स्थिर आत्मा के अभाव मैं यह सम्भव नहीं है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग्य भोक्ता के विना व्यर्थ है। सुख दुःख की भोग्यता भी आत्मा के विना सम्भव नहीं है। ज्ञाता के लिए शास्त्र और शास्त्रार्थ-विज्ञान व्यर्थ ही है।

आत्मा के अभाव में जन्म मृत्यु, बन्धन और मुक्ति सभी निरर्थक है। गृह-निर्माता के अभाव में केवल मिट्टी, दण्ड, चक्र के द्वारा घट आदि का उत्पादन सम्भव नहीं हैं। आत्म-निरपेक्ष सम्मिलित उत्पादन से देह की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के स्थायित्व के विना किसी के द्वारा किये गये कर्मों का कोई दूसरा भोग करेगा। जब कि भावी फल की प्राप्ति की अभिलाषा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। किसी का फल कोई भोग करेगा तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः देहातिरिक्त आत्मा है। (च० शा० १-३९-४८) विवेकज्ञान एवं साधना से मुक्ति एवं पुरुष के भोग और सृष्टि के लिए आत्मा है, यह चरक में भी स्वीकृत है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से प्रकृति से बुद्धि आदि की उत्पत्ति एवं प्रलय से प्रकृति में लय उभयत्र समान है, पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान होने पर प्रकृति उनके लिए शरीर का उत्पादन नहीं करती है।

---

१. चरकशा० १। ६०–६३।

तन्त्र और योग—

तन्त्र में कुण्डलिनी का जागरण अपेक्षित है। इसके विना पूजा, अर्चा साधना सभी व्यर्थ है। जितने समय तक कुण्डलिनी निद्रित रहती है, तब तक सिद्धि लाभ की सम्भावना नहीं है, योगाभ्यास करने पर भी ज्ञान नहीं होता है। देवी कुण्डलिनी के जागरण से ही अष्टविध ऐश्वर्य मुक्त हो महायोगी शिव के समान संसार में विचरण करता है।[1]

इस कुण्डलिनी के जागरण के लिए योग और तन्त्र साधना एकान्त रूप से अपेक्षित है। योग तन्त्र के विना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव नहीं है। रुद्रयामल में योग के अधीन ही कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है।

विना योगं न सिध्येत कुण्डली-चङ्क्रमः प्रभो। (ग० त० ६।३६)
वेदाधीनं महायोगं योगाधीना कुण्डली।
(कुरु० या० उ० न० प० २१)

इतना सत्य है कि विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इनसे सम्बलित योग के द्वारा ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। कुण्डलिनी नाद ब्रह्म है, अतः सङ्गीत के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, क्योंकि स्वर नाद ब्रह्म है। वेद और तन्त्र में कर्म, ज्ञान, भक्ति सम्बलित योग की अपेक्षा कही गई है। वस्तुतः योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग से अतिरिक्त कोई साधना ही नहीं हैं। अतः साधना का अर्थ ही योग है। किन्तु कुण्डलिनी-जागरण की दृष्टि से कुण्डलिनी योग, हठयोग एवं लययोग ही गृहीत है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म सर्वमन्त्रमयी सर्वदेवमयी, सर्वसत्त्वमयी है। योग की चितिशक्ति या पुरुष कुण्डलिनी से अभिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूपा, सनातनी, विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है। योग के अनुसार चेतन निष्क्रिय है, किन्तु चितिशक्ति को सक्रिय एवं निष्क्रिय उभय माना है। कुण्डलिनी पद्म के मृणाल सूत्र के आकार की है, आदित्य के या अङ्गार के समान जाज्वल्यमान है, सूर्य कोटि की प्रभा के समान उसकी प्रभा है, होती

१. जार्गात यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद् विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः॥ गन्धर्वतन्त्र ६।३७-३८

मूलाधार में चतुर्दल रक्त कमल है, गुह्यदेश से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे सुषुम्णा नाडी के मुख से संलग्न अधोमुख पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर में बज्रा नाडी के मुख में त्रैपुर नामक विजली के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। उस त्रिकोण में परिव्याप्त कोटि सूर्य के समान देदीप्यमान रक्तबन्धु पुष्प के समान रक्ताभ जीवधारक कन्दर्प नामक वायु है। श्रीक्रम के सिद्धान्तानुसार यह त्रिकोण कामाख्ययोनि है और कन्दर्प अपानवायु है।[१] शाक्तानन्द–तरङ्गिणी के अनुसार त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख छिद्र युक्त स्वमन्युलिङ्ग है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुल कुण्डली अपने मुख के द्वार ब्रह्मद्वार = स्वयम्भु है, गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जिस द्वार से निरामय ब्रह्म स्थान में प्रगति की जाती है, वही ब्रह्मद्वार है। ब्रह्मद्वार की ओर मुख कर उसको सदा आवृत कर यह रहती है—यही स्वतन्त्र लिङ्ग—रन्ध्र ब्रह्मद्वार है।

"ब्रह्मद्वार-मुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम् ॥

यह कुण्डलिनी केवल शिव को ही आवृत करतो है—ऐसी वात नहीं है। वरन् सभी नाडियों को संवेष्टन कर स्थिर रहती है। गुह्य और मेढ्र के मध्य में अधोमुख त्रिकोण योनि है, वहाँ सभी नाडियों का मूलाधार कन्द है, उस कन्द से सदा कुण्डलिनी वर्तमान रहती है, सुषुम्णा नाडी के विवर में पुच्छ को मुख में निविष्ट कर अवस्थित है।

गुदा से दो अङ्गुल ऊपर मेढ्र से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत पक्षी के अण्ड के समान स्थित कन्दमूल है। इसी से वहत्तर हजार नाडियाँ उत्पन्न होती है।

यह कुण्डलिनी शक्ति ही विश्व की प्राण शक्ति एवं जीव की जोवन शक्ति है। यह जीवन शक्ति प्राण के रूप में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर भी उसका श्वास-प्रश्वास अव्याहत गति से चलता रहता है। इसके निःश्वास प्रश्वास के द्वारा यह जगत् में जीव को धारण करती है, विश्वास क्रिया जीवन प्रवाह का मूल है और

---

१. कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी ।
अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तत्त्रिकोणके ॥ विश्वनाथ टीका

कुण्डलिनी जीव का जीवत्व है। प्राणायाम जो यह योग का आधार है, यह कुण्डलिनी के सम्मुख में ही उपयुक्त होता है। प्राण के 'हंस' कहने का अर्थ दो अक्षरों के अनवरत प्रवाह के कारण ही प्राण को हंस यह संज्ञा है। इसी हंस का आश्रय कर कुण्डलिनी अपने को व्यक्त करती है।

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राज्ञस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥
(ष० नि० श्लो० ११)

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है, इस शक्ति को कुण्डलिनी शब्द से कहने का कारण यह है कि साँप के समान कुण्डलो मार कर रहती है, अतः यह नाडी कुण्डलिनी है। योगियों ने अपनी योग दृष्टि के आधार पर सर्पाकार में इसका प्रत्यक्ष किया है--इसलिए इसको सर्पी भी कहा है। सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः प्राण शक्ति के प्रतीकभूत सर्प के आधार पर भी इसे सर्पी कहा जाता है। जोड़ा साँप की अलङ्करण मूर्ति (motif) मेसोपोटामिया के लेगोश के राजा King Gudea of Lagash के यज्ञीय पान पात्र में चिह्नित पायी जाती है। इस राजा का आनुमानिक समय ३६०० B. c. माना गया गया है। प्रायः यह ऐतिह्य भी समसामयिक ही है। साँप प्राणशक्ति का प्रतीक है, यह साधारण जनता में भी प्रसिद्ध है।

इस सर्व-सत्त्वमयी महाकुण्डली के द्वारा अनेक विलक्षण क्रियात्मक प्रपञ्च मूर्ति विश्व की सृष्टि होती है। इसका प्रसारण ही चिद् अचिद् जगत् का उन्मेष है, इसी लिए यह मूलाधार है। गुरु कृपा ही इसकी उपलब्धि का साधन है।

योग दृष्टि के आधार पर मानव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसी लिए मूलाधार में इसका स्थान माना गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्दश भुवन एवं उससे सम्बद्ध सभी पदार्थ इस पिण्ड में अवस्थित है। मूलाधार पाद के अधोभाग में सप्तभुवन= सप्त पाताल और ऊपर शिर तक भूः आदि सात भुवन है।

इस मूलाधार से ऊपर चक्र का स्थान है। मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाडी है। इसी में या चित्रिणी नाडी में पद्म का स्थान है। सुषुम्णा नाडी में श्वास नाडी है और उसके अभ्यन्तर चित्रिणी नाडी का

स्थान है। चक्र कथन से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, एवं विशुद्ध, इन प्रधान छ चक्रों को समझा जाता है। इनसे अतिरिक्त ललना सोमचन्द्र आदि का भी निर्देश मिलता है। ये चक्र प्राणशक्ति के अतिसूक्ष्म केन्द्र है, सजीव मानव के शरीर में प्राणवायु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये चक्र चक्राधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति के स्थूल स्पन्दन से होते है, उक्त स्थान को व्याप्त कर चन्द्र अवस्थित रहता है एवं उसी स्थान को वह नियन्त्रित करता है। इन चक्रों का स्वरूप ग्रहण महाशक्ति ही करती है। शक्ति की गति वृत्ताकार और चक्राकार धारण करती है. यह चक्राकार अवस्था ही योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है। पद्म चक्र के चार दल है। योगनाडी की संख्या के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र घेर कर एवं मूलाधार के मध्य में चार नाडियों के जाने से चतुर्दल पद्म आकार की प्राप्ति होती है। ये योग नाडियाँ स्नायु नहीं वरन् प्राणवायु का प्रवाह पथ है, गत्यर्थक नड् धातु से निष्पन्न नाडी शब्द प्राणवायु के यातायात की बोधक है। प्रधान दश नाडियाँ है—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा और शङ्खिनी, किसी के मत में चौदह प्रधान नाडियाँ हैं:— ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा सरस्वती, वारुणी, पुषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वादरी, कुडु, शङ्खिनी पयस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी।[1] इनमें भी प्रधान ईडा, पिङ्गला और सुषुम्णा है। मेरुदण्ड के बाह्यदेश में वाम भाग स्थित चन्द्रनाडी, दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य ने तीन गुणों वाली चन्द्रसूर्य और दीप्तिस्वरूपा सुषुम्णा है।

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।

(ष० नि० श्लो०)

यह नाडी सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी इन तीन रूप के भेद से त्रिसूत्ररूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रा सूर्यरूपा अनार किञ्जल्क-कान्ति और सुषुम्णा अग्निरूप रक्तवर्ण है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय अन्नमय-कोश में अभिमान होता है, तब ईडा और पिङ्गला की क्रिया चलती है, किन्तु जब सुषुम्णा उद्बुद्ध होती है,

१. ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१-५३। योगियाज्ञवल्क्य

तब इस जागरण की मात्रा के अनुसार ईडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है प्राणवायु के सञ्चार के अनुसार ईडा और पिङ्गला के सञ्चार में ह्रास आता है और क्रिया में अवरोध भी होता है। अभिमान अहन्तत्त्व की प्राणमय कोश में क्रीडा आरम्भ हो जाती है। प्राणमय कोश ने प्रवेश के अनुरूप अन्नमयकोश समाप्त हो जाता है इस कोश की क्रिया के अवसान के साथ अथवा इस क्रिया की अवस्था में ही गुरु कृपा या साधना के बल पर वज्रिणी या (वज्रा) नाडी का द्वार अनावृत्त हो जाता है। शक्ति इसी नाडी से क्रियाशील होती है। अहन्ता प्राणमय कोश का त्याग कर प्राणमय कोश का आश्रयण करता है। वज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अहन्ता मनोमयकोश से ज्ञानमय कोश में प्रवेश करती है चरमावस्था में चित्रिणी नाडी का भी त्याग हो जाता है। इस अवस्था में यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण होता है और शक्तिलीला आरम्भ हो जाती है। अहन्ता विज्ञानमय को छोड़कर आनन्दमयकोश का आश्रयण करता है। इस कोश में किसी प्रकार का मालिन्य नहीं है। यही जीव का शक्ति के अङ्क में अवस्थान है आनन्दमय कोश की सम्यक् अनुभूति वर्तमान रहती है। यही महा-चैतन्य का परम साक्षी अवस्था में अवस्थान है।[1]

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥
(ध्या० दि० उप० पृ० ६६)

शास्त्र की प्रक्रिया के सनुसार साधना करने पर कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी में ऊर्ध्वंगमन करती है। चित्रिणी नाडी के मुख पर ब्रह्मद्वार है। पञ्चशिव शक्ति के साम-रस्य से निःसृत अमृत धारा में अभिषिक्त देश में प्रवेश करती है, जहाँ से निकलने का यही द्वार है इस द्वार से कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में गमनागमन करती है। योग प्रक्रिया में उपलब्ध इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थान या सुषुम्णाका मुख कहते हैं।

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधधार–गम्य–प्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति ॥
(षट् च० निरूपण श्लोक ३)

---

१. पू. त. पृ. ६९-७०

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर यह विचारणीय है कि मूलाधार को वह शून्य करती हुई जाती है क्या ? कुण्डलिनी जब मूलाधार से ऊपर जाती है, देह के अस्तित्व एवं प्राण क्रिया तथा जीवनाधार स्वरूप यह शवदेह नहीं होता है, क्योंकि सहस्रार में शिव-शक्ति के मिलन के लिए प्रवाहित अमृत ही रक्षक रहता है। कतिपय आचार्य ऊर्ध्वगमन के समय भी मूलाधार की शून्यता को नहीं मानते है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की एक प्रसृति (ejection) का ही ऊर्ध्वगमन मानते हैं। प्रपञ्चसार के अनुसार मूलाधार से स्फुरित विद्युत आभा के समान सूक्ष्माभा प्रभा ही मस्तक पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है, यह सभी तेज रूप का मूलाधार है। प्रभा का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक होता है। फलतः सर्पाकार कुण्डलिनी का मस्तक ऊपर जाता है और अधोभाग नीचे रहता है।

"मूलाधारात् स्फुरति–तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमनुतरा तेजसां मूलभूता" (प्र० सा० १०।७) .

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी असीम और पूर्णरूप है, अतः स्थितिशील रूप में और असोम गतिशील रूप में चक्रों का भेदन करती हुई वलयाकारता में नहीं रहती है, जीव का स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के देहों का लय हो जाता है और विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस व्यष्टि मुक्ति में संसार का लय नहीं होता है, क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि के समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्द्धत्रिवलय के आकार में अवस्थान करती है। अतः संसार की स्थिति रहती है। कुण्डलिनी के जागरण और उद्ध्र्व-गमन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

योग और कुण्डलिनी

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है। गौतमीय-तन्त्र में योग शब्द से संसार का उत्तीर्ण होना कहा है। इस जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप योग द्रष्टा-स्वरूप में अवस्थान है।

"संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदः॥ (गौ० त०)

पातञ्जलयोगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध स्वरूपयोग के साथ तन्त्रोक्त योग का विरोध नहीं है, चित्तवृत्ति निरोधस्वरूप योग के

द्वारा किसी अभीष्ट योग विषय में चित्त को स्थिर करना होता है।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि भेद की चर्चा हुई है। ग्रन्थि भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिए ग्रन्थि भेद आवश्यक है। ब्रह्मग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया, धन, ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं, इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है। रुद्रग्रन्थि भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा मोह पर विजय करता है, फलतः लोकैषणा दूर होती है प्रतीकात्मक रीति से चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता या अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन-मुक्ति है। बन्धन का तीन प्रकार है—

(१) देहज
(२) प्राणज
(३) आत्मज

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट् देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि दोष या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार ने एक-एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य-परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्मग्रन्थि भेद है।

प्राण-मय विज्ञानमयकोश में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विस्तृत होकर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन करता है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनी शक्ति या प्राण का खेल चल रहा है, सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध है—इस तत्त्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध सुख-दुःख समष्टि गत सुख-दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का अर्थ आनन्द है, उसको एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आवद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने से म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टि गत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करती है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्द-वर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[1] ब्रह्मग्रन्थि भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभकर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है—सभी की एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्म प्रकाश का अनुभव करता है। इष्ट मूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती है। सर्वत्र एक ही तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्मा के रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णु ग्रन्थि भेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्ड प्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मों को अपना कर्म मानता है सभी के सुख-दुःख में आत्म सुख-दुःख का अनुभव करता है, सभी के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णु-ग्रन्थि के भेद से साधक के सञ्चित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभाव द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है, इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सञ्चीयमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गासप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिड़ी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि के द्वारा उद्बुद्ध किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं। कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता इनका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित

---

१. पूजातत्त्व—पृ. ५७-५८

जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति के लिए (Paraclete) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे आनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समाष्टि का तादात्म्य एवं समष्टि का हित साधन है।

प्रागैतिहासिक युग के महेन्जोदारों के भग्नावशेष में भी योगी की मूर्ति उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त योग की भङ्गिमा में दण्डायमान देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध है।[1] इस भङ्गी को किसी ने जैनियों की कायोत्सर्ग भङ्गी माना है तो किसी ने योगमुद्रा या वायुपुराण-वर्णित पाशुपतयोगमुद्रा माना है। ऋग्वेद के सूक्त[2] में योगी का वर्णन उपलब्ध है रुद्र के साथ केशी विषपात्र से विषपान कर रहा है, और वह वायुरूप प्राप्त करता है और कुत्सित लोगों को ध्वस्त करना चाहता है। वायुस्मा उपामथन्त् पिनष्टिस्मानु क्र्णनमा केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणादिवत्सह (१०।१३६) अर्थात् यह योगी योग बल से वायुरूपता को प्राप्त कर आकाश पथ से गमन करता है। गमन काल में विश्व के सभी पदार्थो को अपने तेज से देखता चलता है। इस अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा व्यक्ति का आहार वायु का मित्र है। यह वायु रूप को ही प्राप्त करता है। अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् (१०।१३४।४)

"वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः" (१०।१३६।५)

इस साधना से सम्पन्न अनेक मुनि थे। वे अतीन्द्रिय पदार्थद्रष्टागण कपिल वर्ण मलिन वस्त्र को धारण करते थें, तपस्या की महिमा से देदीप्यमान देवता के स्वरूप में प्रवेश करते थें और वायु गति सम्पन्न थे।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसने मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।। १०।१३६।२

योंग साधना की प्राचीनता होने पर भी इस साधना में प्राणवायु संयमन ही मुख्य है। इस दृष्टि से प्राणायाम का अतिशय महत्त्व है, अतः प्राणायाम की अवगति आवश्यक है। बुद्धदेव के समय योग–साधना सिद्धि के लिए एकान्त रूप से अपेक्षित थी, स्वयं सिद्धार्थ

१. PL × cVili, Pls, c × Vi 29& c × viii, 11)
२. ऋग्वेद १५।१३६

प्राणवायु के नियन्त्रण के आधार पर बुद्ध हुए। यह भी सत्य है कि स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए भी सिद्धों की निन्दा की है।

योग शास्त्र का अनुशासक पतञ्जलि को मानने पर भी इनको योगशास्त्र का प्रवर्तक नहीं माना गया है। सभी साधनाओं में योग का स्थान किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, चाहे वह सनातनी हो, बौद्ध हो या जैनी हो—योग का स्थान मानना ही पड़ता है।

कुण्डलिनी का सङ्केत वेद में मन्त्रों के अध्ययन से भी उपलब्ध है। षोडशी, भुवनेश्वरी जो चितिशक्तिरूपा भुवन की उत्पत्ति का हेतु है। अन्धकार से आलोक की ओर आगमन में सूर्य की दुहिता सूर्या कही गई है, इसमें अपत्य वाचक प्रत्यय नहीं हैं, अतः यह सूर्य की शक्ति है, चैतन्य का परिणाम नहीं होता है, वह विकास मात्र है जैसे चन्द्रमा की अभिवृद्धि होती है। तन्त्र में भी देखने को मिलता है कि गिरीश की जाया, अर्द्धाङ्गिनी और अभिन्न शक्ति स्वरूपा है। गिरि के कूटस्थ चैतन्य के आधार पर ही गिरीश की जाया या दुहिता कुछ भी प्रतीत रूप में कहा है। संहिता में ही "स्वायां देवो दुहितरि त्विषि धात्" देवता अपनी दुहिता ने ही अपने तेजको सन्निहित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से सूर्या सूर्य की दुहिता है और उषा अर्थाद् चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसको योगदृष्टि ने प्रतिभा संवित् कहते हैं। तारुण्य में वह सूर्य की योषा, दिव की दुहिता ही भुवन की पत्नी या भुवनेश्वरी हैं। "दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी" (ऋ ७।७।७५।४) सूर्य भी विशुद्ध चैतन्य एवं परमरूप में उत्तम ज्योति है, स्थावरजङ्गम की आत्मा तुरीय ब्रह्म गम्य है। किन्तु इसके भी परे एक सत्य का बन्धु है, वह जाना भी जा सकता है, और नहीं भी जाना जा सकता है "परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" १०।१२९।।४।७

अश्विद्वय रथ ही त्रिचक्र है। तेज की उपासना में रत विप्रगण दो चक्रों का ज्ञान रखते हैं, वह है दिन और रात का आवर्तन; किन्तु इससे परे भी एक भूमि है, जहाँ न दिन है न रात है। इसी को मुण्डक में सूर्यद्वार का भेद कहा गया है।

पितृगृह सूर्य का त्यागकर अपने चन्द्र स्वामिगृह में रश्मि का गमन है। इसी स्थान में अश्विद्वय का रथ तृतीय चक्र से चलता है। इसी को 'अचक्र स्वधा' कहा गया है। उस चन्द्र के गम्भीर गहन में आलोक की एक गुप्त रश्मि का आगमन है। यह नित्य वर वधू का

अनुपमेय वासर है। सोम से अमृत क्षरण लोकोत्तर अमृत की दीप्ति है। ऋग्वेद ने कहा है––"गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्' इत्था चन्द्रमसो गृहे"। १।८४।१५॥ इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है––नाम नमनं प्रह्वत्वेनावस्थानमित्यर्थः।४२५ यजुर्वेद में इस रश्मि को "सुषुम्णः सूर्यरश्मिः" कहा है (वा० १८।४०) यह वही रश्मि है जो आदित्य से प्रसूत हो चन्द्रमा को आलोकित करती है। त्वष्टा की गो सविताकी किरण है। क्योंकि त्वष्टा सविता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ह्रासवृद्धियुक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार है और उसकी षोडशी ध्रुवा कला आदित्य के उस पार है। इसके बाद तन्त्र में वर्णित सप्तदशी अमा की कला है। इस रूपकरणसे साधना की अद्वैत भावना विकसित हो रही है। यहीं सतरहवीं कला सुषुम्णा की रश्मि है जिसका नाम अपीच्य या गुह्य है। यह संहिता का "अमृतस्य लोकः" है (१०।८५।२०) इस ध्रुवा और अमा कला के ऊपर है जहाँ रात और दिन का निशान भी नहीं है, "न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः" (१०।१२९।२)।

अब पवमान सोममन्त्र की ओर दृष्टिपात करे। इसके ऋषि काश्यप या असित देवल हैं। सात ध्यान चेतना के द्वारा निहित पवमान सोम प्राण को चञ्चल करता है। जैसे द्रोहहीन उस नदी के एक नेत्र के सम्वर्द्धित करता है। "धीतिभिर्हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुहः या एकम् अक्षिवावृधुः" (९।९।४) वैदिक सोमयाग सभी यागों में श्रेष्ठ है––इसी का फल अमृतत्व प्राप्ति है। अमृतत्व एक दीप्ति है और इसी ज्योति की विभूति देवता हैं। "अपाम् सोम-ममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम् देवान्" (ऋ० ८।४८।३) अद्वैत का सम्यक् अनुभव एक और बहुत्व का समन्वय यहीं होता है। आधिभौतिक दृष्टि से सोम एक औषधि है। औषधि शब्द की ओर दृष्टिपात करने पर उष या उषस, वस् दीप्ति या उष् दहन अर्थ में उष् के आगे धि अर्थात् उषाका आलोक जिसमें निहित है, वैदिक दृष्टि से चेतना का प्रथम उन्मेष औषधि में इसके बाद पशु में अनन्तर मनुष्य में है। इस यथाक्रम में चिन्मय अन्न, प्राण और मन का वाहन है। ओषधि सोम राज्ञो और सोम राजा है। सवन या निष्पीडन से पृथिवी स्थानीय सोम की दीप्त्यर्थक मन्त्रात्मक देवी के उद्देश्य से अग्नि में रस का निक्षेप एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। सोम की मत्तता, आत्मविस्मृति, जगत् विस्मृति की तन्मयता है। योग

चेतना में प्राकृत चेतना और विक्षेप की गूढ़ता होती है। इतिहास में आत्माराम की योगशक्ति बलराम वारुणीपान से नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज है। आत्म समर्पण सुधापान की मत्तता एक अनिवर्चनीय है।

इस विश्लेषण से ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा है। अग्नि, सूर्य और सोम तीन ज्योति हैं, व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम है। सोम की सोलह कला है। यह षोडशी कला नित्य ध्रुवा है--इसीलिए वेद पुरुष षोडशकला है। तन्त्र की महाशक्ति षोडशी है। वैष्णव भावना के विकास में चन्द्रावली ह्लादिनी पन्दरहवी कला राधा षोडशी है, और षोडश कला से युक्त कृष्ण अनिर्वचनीय है। उपसंहार में अध्यात्म दृष्टि से सोम ही तन्त्र की सुषुम्णा है सूर्य रश्मि ही आदित्य मण्डल में अमृत है, वह अमृत सूर्य रश्मि के द्वारा वाहित होकर ब्रह्म रन्ध्र को प्रणालिका से जोवन के हृदय को आधान करती हैं। उपनिषद् में अनेक स्थान में इसका वर्णन उपलब्ध है। अमृत दाहिनी यह नाडी हठयोग की सुषुम्णा है। अध्यात्म दृष्टि में नाडी और अधिभूत दृष्टि में नही हैं, योग तन्त्र की सुषुम्णा नाडी ऋक्संहिता की सुषोमा नदीं है इस तरह सुषोमा, सुषुम्णा सोम इन तीनों की व्युत्पत्ति एक धातु से है और तीनों में अमृत प्रवाह की व्यञ्जना है। निघण्टु के अनुसार इसका अर्थ सुख होता है, फलतः सोम आनन्द चेतना, साहित्यिकों की रस चेतना अमृत और महासुख है। सोमयाग इसकी प्राप्ति का साधन है और योग में कुण्डलिनी का जागरण इसी सुषुम्णा से होता है जिससे आनन्द धारा का क्षरण सम्भव है। अतः कुण्डलिनी का जागरण में वैदिक, तान्त्रिक और योग का समन्वय है।

१. उपनिषद् में इस प्रणालिका का नाम हिता नाडी है (ऐ० उ० १।१२) (वृ० उ० ४।२।३, ३।२०।) रश्मि नाडी और नदी की एकता ऋक् संहिता में सिद्ध है। "याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद गातुमूर्मिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातुना नः" (ऋ० ७।४४।४) सूर्य जिनका विस्तार करते हैं, उनकी रश्मियों से इन्द्र जिनके लिए पथनिर्माण करते हैं, वह सिन्धु हमलोगों के मध्य वैपुल्य धारण करे। नाडी विज्ञान का भी यहाँ सङ्केत उपलब्ध है। सूर्य रश्मि में चिन्मय ही हठयोग में चित्रिणी है, इन्द्र तेज में

ओजस्वी वज्रिणी वृत्र की परिधि में अर्थात् आवरक तमः शक्ति की वेष्टनी में नदी की धारा अवरुद्ध है इन्द्र वज्र शक्ति से उस अवरोध का विदारण करता है (द्र० ३।३३।११) धारा चेतना के साथ प्रवाहित होती है। इसी तरह ऋक संहिता में ही "अथ ते शर्यणा-वति सुषोमायाम् अधि प्रियः आर्जीकीय मदिन्तमः (८।७।२९) हे इन्द्र तुम्हारा यह प्रिय सोम शर्यणावत् सुषोमा एवं आर्जीयकी में रहता है आदि। वीर्यशाली मरुद्गण ज्योतिर्मय महाप्राण को रथ चक्र गभीर से वहाँ पहुँचे तीन धामों में उनका नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यनावत् है। (८।६४।११) शाकटायन ब्राह्मण के शर्यणावत् का अर्थ कुरुक्षेत्र के अधोदेश में स्पन्दमान सरोवर (सायण भा० १।८४।१३) वस्तुतः इस शरीर में ही कुरुक्षेत्र एवं देवयजन भूमि है, ऐसी स्थिति में शर्याणवत् उसके अधोदेश में स्थित मूलाधार है, आर्जीक या आर्जीकीय का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ऋजुता रूप में जो चले वर्थात् जहाँ से चेतना की अकुटिल गति होती है। इस प्रकार इसको सहस्रार कह सकते है, दोनों के मध्य में सुषोमा नदी या सुषोम धाम हैं। सुषमा अमृत प्रवाहिनी सोम की धारा उसके मध्य में प्रवाहित है। इसका सङ्केत हठयोग की योनि मुद्रा में है। यथा "यत्र ब्रह्मा ग्राब्णो सोमे महीयते सोमेनान्द जनयन्। (९।९९३। ६) ग्रावा सोमचेतनाका पाषाण अर्थात् योनिकन्द है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि कुण्डलिनी जागरण का सङ्केत वेद में है इसके मूल में सुषुम्णा नाडी की आवश्यकता है कुण्डलिनी की अकुटिलता के साथ सहस्रार गति और वहाँ सोम समन्विति और अमृत क्षरण होता है, महासुख की दीप्ति और प्रातिभ सवित की यही सम्पत्ति है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठाहरवें सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं ' "यस्मादृते न सिध्य-न्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ० १।१८।७) इसी का छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र की मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा, सनः""। (ऋ० १।५।४, साम ३०१।२।१०३, अथर्ववेद २०।६९१)

में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिये वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध है प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे सवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ० १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्मज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आचरण के रूप में है; इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप में उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है। कषाय ही बन्धन के कारण है, नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रय के अवरोध के विना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव ही नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण हैं, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसके द्वारा जीव, आजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आस्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किंअणयइ ? संजमएण अण्णह एतं जणयइ। तवेण भन्ते, जीवे किं जणयइ ? तवेणं जणयइ। (उत्तराध्ययन, २९, २६–२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मा-दिट्ठि) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्काय-दृष्टि आदि से विभूषित होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि हैं। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपश्यना आती है जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आस्रवक्षयज्ञान षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानु-स्मृति और केवल ज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है—सम्यक्चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह ।।

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७। पृ. ४) समत्वप्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्वप्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योगका परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है, इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्य पदट्ठान'[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तिर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योग-प्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोध में विषम विश्व का उन्मूलन कर कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविद्या के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकाग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण की कामना उद्‌बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से

---

१. विशुद्धिमग्गों पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्वेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम ? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तंते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

कायसम्पत् समृद्ध होता है । मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है ।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural law' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इनकी उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुष या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का त्रान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का अवलम्बन करता है। इस विचार प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् concepticn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान चेष्टा-शून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करना है सङ्कीर्णता की भूमि से छुडाकारा अर्थात् Paricularity के region से अलगकर unive-

rsality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर; विघ्न-द्वन्द्व शून्य हो; समता और स्वच्छन्दता मुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorpiton into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorugh understanding aud firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। धृतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते हैं। पातञ्जल की दृष्टि में आकर शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीव को स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रस्तुत होता है।

योग भूमि में छ शत्रुओं का नाश :—

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरण के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्मस्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्वसंविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाष स्वरूप

१. शारदाति० पदार्थादर्श-पृ० ५३८।

काम, प्राणियों के मारनें की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्त्वज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर---ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रवणतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूपमिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यह है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय, सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय, क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेशन देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु वह वाक्य बाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्यं' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो कर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[1]

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित

१. व्यासभाष्य–पृ० २।३०

होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थं का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रों के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

योग और दश नियम :—

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्त श्रवण ही, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ही है, क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनः पुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३९।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्धयते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मांत्त्रितयमाचरेत्॥

करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

योग और प्राणायाम आदि :—

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भी आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है—

प्राणायाम :—बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे—यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे—यह रेचक है।

मात्रा :—जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है, वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु (जङ्घा के मध्य भाग) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि में अंगुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अंगुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनो धैर्य्यं ज्ञानादैश्वर्य्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥

(व० सं०, शा० ति० पृ० ५४४)

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया॥

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम है। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायाम :—मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप निधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद वाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्तिशून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासश्वासयोर्गतिविच्छिन्नः प्राणायामः। (यो. सू. २।४९) प्राणायाम के लिए उपयुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है।[1]

स्थान :—निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटीर प्राणायाम का स्थान है।

काल :—घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

अथवा—स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा—जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥
(शा० ति० पद्मा० पृ० ४४१)

१. घे० सं० ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धौ रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥ (घे० सं० ५।६)

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्वीवार बीज-मन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक ,एवं चालीसवार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित है; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रूके मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[1]।

प्रत्याहार :—विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का वलपूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्—अपने-अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्मविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणा :—अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः सीवनी लिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण-धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा :—हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते॥ (घे० सं० ६।१७)

कलाल युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करनें वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है।[1]

(२) वारुणी धारणा :—अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृश धवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार वीज-युक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी कही जाती है।[2]

(३) वैश्वनरी धारणा :—तत्त्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारणा करती हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है।[3]

(४) वायु धारणा :—जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौओं के मध्य में उसके समान सत्त्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण की धारणा करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है।[4]

---

१. प्रासश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा॥

२. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसंहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

३. तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम्।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा॥

४. यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहितं यन्त्रेश्वरी देवता।

(५) नभोधारणा:--सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके साथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभो धारणा कही जाती है।[१]

कर्मों की साधिकायें ये सभी धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[२]

योग :—

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है,। चित्त का परिणामी वृत्ति है। और इस वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात् अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थित करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल बृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[३] आत्मदर्शन समाथि लभ्य परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के

प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥

१. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः ।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

२. कर्मणो साधिकाः सर्वा धारणा पञ्च दुर्लभाः ।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

३. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निर्दग्धकर्मचयोचिरात् । (वि० पु० ७ अंश)

द्वारा परम्परा क्रम चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता। गौतमीयतन्त्र में—संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[1] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। (ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[2]) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगे न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥
(कु० त० ३०।६)

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। (म० त० १४।१२३) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[3] पातञ्जल योग दर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के साथ तन्त्र एवं गीतोक्त योग का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो. सू. १।३) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

---

१. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। (गो० त० २२।८);
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (ग० त० २२।६)

२. शा० ति० २५

३. करपादमुखातिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥
(आ० पृ० ५४३)

योग का भेद :—सभी साधनायें साधारिण रूप से योग के नाम से परिचित है। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग आदि।

इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगर्निर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के विना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है।[1] दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

"योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः।[2]

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये अवस्था भेद मात्र है।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥[3]

लययोग—योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगो को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होत्ता

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५
२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३९
३. यो० शि० १।१२९

है।[1] हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता है; तब लय-योग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना—यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी लय की साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड़ लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान = आत्मज्योतिः का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी उत्थापन कहा है, श्रेष्ठ लययोग है।

मन्त्र योग :—

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसःमन्त्र का जप करते हैं गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है—यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय है—वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम् (पा० सू० १।२८) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभाव मानी गई है, इसमें बाह्यव्यवहार विहित है, बाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपका ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

---

१. यो० शि० उ० पृ० ३६

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥"

(ह० प्र० ४।३२)

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गम-तन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई है। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है।[1] कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता है। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरूद्ध हो प्राण सुसुम्णा में प्रविष्ट होता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाबिन्दु में अवस्थित है––यही तज्जपस्तदर्थभावन रूप मन्त्र योग है।

हठयोग :—

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य चन्द्र का ऐक्य ही हठयोग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी-किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रदसिद्धि सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है; शरीर के विना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का धनिष्ठ सम्बन्ध, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रय गृह स्वरूप है; एवं कर्म जैसे पृथिवी का आधार है

१. श० सं० त० १।२६–३०

वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, चक्षु की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाडी विशुद्धि होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगताबिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्"।।[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्होंने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके सात अङ्ग हैं। उससे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्राणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[2]

राजयोग :—

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राज-योग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं ब्रजते-स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम्।। (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग हो राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
(योग. उप. १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभाव-विवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राजृ (राज्) से यह निष्पन्न

१. ह० प्र० २।७८ २. घे० सं० १।१०-११

है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में 'योगराज' प्रयोग होगा। सर्वदा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदशप्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तथा ॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा ॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥"

(ह. प्र. १।२)

समाधिः—ध्यान की चरम परिणत समाधि है। पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है।[1] ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है। जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप का आधान करता हैं। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या. भा. ३।३)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है।[2] समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस

---

१. तदेवामार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो. सू. ३।३)
२. भटाद्भिन्न मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ॥ (ह० प्र० ६।२)

अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है— जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है——मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के वाक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः'। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्म-भावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है——यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है[1]। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार——एकादश इन्द्रियों की अपनें कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है"।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है— "जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वें विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियत फल के अधीन ही वे रहते हैं, अतः

---

१. तत्समं च द्वयोरैक्यं को वात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ (ह० प्र० ४।६)

२. ह० प्र० ४।५। यो० उ० १०६
कु० व० ६।१०–१४

सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन–प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने से वेद उनके लिए बन्धन का कारण नहीं होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींचकर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञा है। उपसंहार में कहा है––योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योंकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है, अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट जीवन यापन करता है, अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति है।

षट्कर्मः––धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्धौति, मूलशोधनधौति इन से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है––वातसार, वारिसार, अग्निसार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति––जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११९–१३२

वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुद्धवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है ।

जलवस्तिः शुद्धवस्तिः वस्तिः स्याद्विधा स्मृता ।
जलवस्ति जले कुर्याच्छुकवस्ति सदा क्षितौ ॥ (घे० सं० १।४६)

लौलिकी या नौलीः––पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है, इससे सभी रोग दूर होते हैं और देहाग्नि वर्द्धित होती है ।

नेतिः––एक वित्ता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे––यही नेति कर्म है । इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है ।

त्राटकः––नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य की ओर पलक गिराये विना देखना त्राटक है । इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है । सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है ।

कपालभातिः––वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपाल-भाँति तीन प्रकार की है, उसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है ।

वामक्रमः––वाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे । इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे । इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है ।[1]

व्युत्क्रमः––नाक से जल धींचकर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे । इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है ।[2]

शीत्क्रमः––शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खीच कर नाक से बाहर करे । इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, इससे शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है ।[3]

---

१. घे० सं १।५५　　　२. घे० सं० १।५९

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेव-समो भवेत् । न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते । भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ॥ (घे० सं० १।५०–५१)

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः ॥[1]

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे—यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है—यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशम्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ॥[2]

आसनः—हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट हैं और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा—सिद्ध, पद्म, भद्र, वज्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धन, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शल, वृषमकर, उष्ट्र भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः—मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष हैं। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्धन, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग–प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, बज्रोली, शक्तिचालनी ये दशायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि

१. ह० प्र० २।२९ २. ह० प्र० २।३१

मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ (ह. प्र ३।१२८)

चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फलस्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है—

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।
२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।
३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।
४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।
   (क) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।
   (ख) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।
   (ग) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करते हैं। पुरुषार्थ विरहित होकर कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का (मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करता है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[१]) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है।

१. योग सू० कै० पा० ३४

कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान--यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है (चिति-शक्तिरेव केवला[1])। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होती है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ("पुरुषास्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[2]) सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-रूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं, तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप-मुक्ति होती है। (तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।[3]) कैवल्या-वस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक बन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[4] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। (सा. प्रा. व्या. भा. २७) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप

---

१. व्यास भाष्य ३४, २. विभूतिपाद ५० व्या० सा०
३. वि० पा० ५० ४. सा० पाद २५

अवस्थान चैत्तन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

समाधि का छ भेदः—

१. ध्यानयोग समाधि।	४. लयसिद्धियोग समाधि।
२. नादयोग समाधि।	५. भक्तियोग समाधि।
३. रसानन्दयोग समाधि।	६. राजयोग समाधि।

ध्यानयोग समाधिः——योगी शाम्भवी मुद्रा से आत्मा का प्रत्यक्ष करता है, बिन्दु को ब्रह्ममय समझकर उसके मध्य में मन को निवेश करता है। उसके बाद 'ख' अर्थात् ब्रह्म ('ख' ब्रह्मेतिः छा. उ. म. ४।१०।०) मध्य में आत्मा को और आत्मा के मध्य में ब्रह्म का दर्शन करता है, इस स्थिति में आत्मा का ब्रह्ममय दर्शन करने के बाद किसी प्रकार की बाधा नही रहती है, योगी सदानन्दमय हो समाधिस्थ हो जाता है।[1]

नादयोग समाधिः——खेचरी मुद्रा की साधना से रसना=जिह्वा के ऊर्ध्वगत होने पर समाधिसिद्धि होने से साधारण क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता है।[2]

रसानन्दयोग समाधिः——धीरे-धीरे वायु को पूर्ण कर भ्रामरी कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे वायु का रेचन करना होता है, इस स्थिति में भ्रमर गुञ्जन होता है, अन्दर में भ्रमर का गञ्जन सुनकर उसमें मनको निविष्ट करने पर समाधि होती है एवं सोऽहं ज्ञान एवं परमानन्द लाभ होता है।[3]

---

१. शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥
खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते॥
सदानन्दमयी भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥ (घे० सं० ७।७-८)

२. साधनात् खेचरीमुद्रा रसोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥ (घे० सं० ७।९)

३. अनि ं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं चरेद् वायुं भृङ्गनादः ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥ (घे० सं० ७।१०)

लयसिद्धियोग समाधिः—योगी योनिमुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं शक्तिमय होता है एवं परमात्मा के साथ शृङ्गार रसमय विहार करता है, इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म के साथ ऐक्य अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है।[1]

भक्तियोग समाधिः—साधक अपने हृदय में भक्ति-प्रवण हो परमानन्दमय इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करे, ध्यान के फल-स्वरूप रोमाञ्च, अश्रुपात आदि होता है और क्रमशः समाधि एवं मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।[2]

राजयोग समाधिः—मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक कर मन को आत्मा में संयुक्त करे, परमात्म संयोग होने से ही यह समाधि होती है।[3]

राजयोग समाधि ही योगसूत्र की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्त की सविकल्प और निर्विकल्प समाधि भी यही है। सविकल्प और सम्प्रज्ञात में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय ये तीन पदार्थ भासमान होते हैं और निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात में तीनों का लय होकर स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है वाराहोपनिषद् के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने इस योग को लययोग का साधन कहा है। क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य या स्वरूपावस्थान ही लययोग है।

योग की प्राचीनताः—महेञ्जोदाडो के ध्वंसावशेष में एक योगी की मूर्ति है। (Plxcviii) अनेकत्र योगभङ्गी में दण्डायमान देव-

---

१ योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
सदानन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ (घे० सं० ८।१२।१३)

२. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी॥ (घे० सं० ८।१४।१५)

३. मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ (घे० सं० १।१६)

मूर्तियाँ हैं। (Pls, exvi 29 and exviii, ii) एक भङ्गी में योगी की कायोत्सर्ड भङ्गी उपलब्ध है। वायु पुराण में वर्णित पाशुपात-योग मुद्रा से इसकी समता है।[1]

ऋग्वेद में वायुरूपता की प्राप्ति आकाशपथ से गमन, समस्त विश्व के सभी रूप्य पदार्थों को अपने तेज से देखता रहता है। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी इस व्यक्ति का आहार वायु रहता है, यह वायु के मित्र और द्योतमान वायु के द्वारा ये वायुरूप होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी कपिलवर्ण का मलिनवस्त्र धारण करता है तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप में प्रवेश करता है। यहाँ मुनयः यह वहुवचन का प्रयोग होने से अनेक मुनि हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशङ्ग वसने मला।
वास्याणुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥"

(२१०।१३६।२)

उपनिषदों में भी इसकी परिपूर्ण चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर (२।८, २।९) एवं कठोपनिषद् का (२।३।१०, २।३।११, १।३।६) द्रष्टव्य है।

तन्त्र आदि में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

बुद्ध के समय में योगसाधना पूर्ण रूप से प्रचलित थी, वे स्वयं योगसाधना करते थे। अपने समय के योगियों की वे निन्दा करते थे किन्तु अपने शिष्यों को योगसाधना का उपदेश देते थे। बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा में योगदर्शन का प्रचुर प्रभाव सुव्यक्त है।

आज तो असंख्य योगी एवं असंख्य योग केन्द्र है। वास्तविक योगी कितने हैं—यह भगवान् ही जानता है।

तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण के लिए एकमात्र योग ही सहायक है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्ललेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवे रूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं। "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ.

---

१. R. I. P. 301–334.

२. ऋ० १०।१३६।४, ५, ७।

१।१८।७) इसी की छाया गीता के "योग: कर्मसु कौशलम्" पद्म में उपलब्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः"। (ऋ. १।५।४, साम ३०१।२।१०३ अथर्ववेद २०।६९१) में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिए वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहेसवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ. १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्म ज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आवरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत हैं।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्म-पुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीनो रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का है। इसके द्वारा जीव, आजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आश्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों

का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किम जणयइ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं मन्ते, जीवे किं जणयइ? (उत्तराध्ययन २९, २६-२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिती) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्ददृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः. अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु: दिव्यश्रोत्र, चेतः-पर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृति-ज्ञान-च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञानरूप षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवलज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। सम्यक् चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय-प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह ॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७।पृ. ४) समत्व प्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योग का परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बौद्ध

१. बुद्धवचन पृ० २१

साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता हीं बौद्धो की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठान"[1]।

बुद्धमार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न हैं। और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व से उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यंह सत्य है कि अनादि अविधा के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से

---

१. विशुद्धि मग्गों पृ० १८१

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्वेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेयकाग्रता नाम ? एकालम्वना। एवं र्तहि चित्तान्येवैकालम्धनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तंते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से कायसम्यत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमासाक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objest रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural lawi' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की 'यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषस्य या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।'

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकाश प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है---यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् conceptіcn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का स्पन्दन होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Particularity के region से अलगकर universalty भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि nere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorption into concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorought understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। यह धृतिगृहीत ज्ञान को प्रीतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मन को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभकर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribvte आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते हैं। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियार्थों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तब निष्काय निःस्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्रभेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है और तन्त्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान शारदातिलक में माना गया है।

तन्त्र में त्रिरत्न की महत्ता है, शिव, विष्णु-कृष्ण या सूर्य-गणेशादि, शक्ति और बिन्दु। इनमें शिवादि अधिष्ठाता हैं एवं शक्तिमान् है। शक्ति एवं बिन्दु ये दोनों ही शिव आदि के द्वारा अधिष्ठित एवं शिव में आश्रित हैं। चित् शक्ति समवायिनी है। शिवादि स्वरूप में समवेत है। शिवतत्त्व और शक्ति दोनों ही चित्स्वरूप और दोनों अविनाभाव सम्बन्ध है। बिन्दु समवेत न होकर भी आश्रित रहता है। शिव परमेश्वर है, किन्तु शक्तिहीन शिव शवमात्र है, किन्तु यह कभी भी शक्ति हीन नहीं होता है। शक्ति के सहयोग से शिव सर्वज्ञ और सर्व-कर्ता रहता है। शक्ति ही ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में अपने को प्रकाशित करती है। शक्ति की क्रियाशक्ति के प्राधान्य में बिन्दु क्षुब्ध होता है, फलतः बिन्दु सृष्टि का उपादान और क्रिया शक्ति निमित्त कारण है। क्रिया के मूल में इच्छा की बहिर्मुखता है। इच्छा के अन्तर्मुख रहने पर क्रिया का उन्मेष नहीं होता है, और क्रिया के उन्मेष के विना बिन्दु का क्षोभ नही होता है।

शारदातिलक :—

यह लक्ष्मणदेशिकेन्द्र प्रणीत है, इनकी प्रसिद्ध रचना "शारदा तिलक" है। इसमें पचीस पटल हैं। प्रथम पटल में तन्त्र का स्वरूप एवं तान्त्रिक सृष्टि प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण उपलब्ध है। इसमें कुण्डलिनी की प्रधानता है। मन्त्रमय जगत् की उत्पत्ति, परा, पश्यन्ती, मध्यमा स्वरूप, कुण्डली शक्ति का विभुत्व, एवं इस शक्ति को सर्वदेवमयी, सर्वमन्त्रमयी और शिवा माना गया है। सूक्ष्म सूक्ष्मतर रूप का वर्णन करते हुए इसे शब्द ब्रह्म स्वरूपिणी माना है। विश्वात्मक स्वरूप में इसका प्रसव मन्त्रमय जगत् की उत्पत्ति का कारण है। बीज स्वरूप में इसकी सर्वस्वरूपता है। जितने भी देव एवं देवी के स्वरूप हैं, वे बीजात्मक रूप में अन्तर्निहित है।

शरीर को अग्नि और सोमात्मक एवं बिन्दु को उभयात्मक है। दक्षिण अंश सूर्य, वामभाग चन्द्र है, दश नाडियाँ हैं, इनमें प्रधान तीन नाडियाँ इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा है, मध्य में सुषुम्णा है, जिसका अतिशय महत्त्व वर्णित है। बिजली के आकार की देदी-प्यमान सर्प के समान वलयाकार होने से कुण्डली नाम से विख्यात पर देवता है, यह विश्वात्म रूप से जब प्रबुद्ध होती है तभी मन्त्रमय जगत् का स्फुरण होता है।

प्रथम पटल में सभी देवगणों के बीज का वर्णन मिलता है। सभी देवताओं के मन्त्रों का सामान्य रूप से निर्देश करते हुए, किस देवता का मन्त्र कितने अक्षरों का होता है, ऋतुओं के वर्णन अनन्तर सरस्वती, यक्षिणी, त्रिपुरा, पद्मावती, रमा आदि महादेवियों के मन्त्रों का वर्णन किया गया है। देवों के भेद के अनुसार चौवीस अक्षरों की विभिन्न गायत्री मन्त्र का निरूपण किया गया है। शारदातिलक में आचार्य ने सोम, सूर्य, अग्नि के रूप में सृष्टि का क्रम निरूपित है।

अर्थसृष्टि, शब्दसृष्टि का सूक्ष्मतम रूप का विवरण प्रस्तुत कर वैखरी सृष्टि का विश्लेषण द्वितीय पटल में किया गया है। सुषुम्णा छिद्र से, वायु से कण्ठ आदि करणों के आधार से उत्पन्न वर्णों के उच्चारण आदि का वर्णन किया गया है। इन वर्णों के देवों का अमृत, मानद आदि फलों का वर्णन मिलता है। नादों के वर्णन प्रसङ्ग में न्यास का किस प्रकार इनमें संयोजन होना चाहिए—इसका वर्णन किया गया है। मन्त्रों के उच्चारण आदि दोषों से दुष्ट रहने पर किसी भी तरह सिद्धि नहीं हो सकती है इसका निर्देश किया गया है। मन्त्रों का योनिमुद्रा से शोधन, मन्त्रों को जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण आप्यायन, तर्पण, दीपन, और गोपन ये दश संस्कार कहे गये है। इनका विस्तृत वर्णन एवं प्रक्रियाएँ भी इसी क्रम मे निरूपित की गई हैं। लग्नराशि के अनुसार मन्त्रों की स्थिति और विभाग का विशद वर्णन किया गया है। अपने नाम के आदि अक्षरों के मन्त्र का जप करने वाला साध्य, सिद्धिप्रद, आदि का ज्ञान करे इसी क्रम में इनके फलों का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत है। वर्णों की ब्राह्मणादि वर्ण व्यवस्था का निरूपण कर ॐकार का आदि में प्रयोग की व्यवस्था वर्णित है।

आशय यह है कि शब्दार्थ स्वरूप ही चराचर जगत् है, इस शब्दार्थमय जगत् को छ अध्वात्मक जगत् भी कहा जाता है। तन्त्र में सम्पूर्ण जगत् को जिस तरह षडध्वात्मक माना है, वैसे ही जीव शरीर भी षडध्वात्मक है, राघव भट्ट ने "यतः षडध्वात्मकमेव शरीरम्" इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट निर्दिष्ट किया है। यह षडध्वात्मक जगत् चित्स्वरूपा महाशक्ति के मध्य में प्रकाशित है। सौभाग्यहृदय में भी कहा है—हे देवेशि चित्स्वरूपा तुम में ही वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन—ये छ अवभासित हैं।

"वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च ।
इत्यध्वषट्कं देवेशि ! भाति त्वयि चिदात्मनि[1] ॥"

अध्वा शब्द से साधन अर्थ को कहा गया है। वाच्य और वाचक के भेद से अध्वा दो प्रकार का है वर्ण पद और मन्त्र वाचक है, कला-तत्त्व और भुवन वाच्य है। इनसे अतिरिक्त षोडशाधार लिङ्गत्रय और व्योमपञ्चक का ज्ञान तन्त्र में आवश्यक माना गया है। षोडशाधार शब्द से मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धाख्यचक्र, आज्ञाचक्र, विन्दु, कला, निरोधिका, अर्धेन्दु, नाद, नादान्त, उन्मनी, विष्णुचक्र, ध्रुवमण्डल और शिव विवक्षित हैं।

देहस्थ स्वयम्भूलिङ्ग, वाणलिङ्ग और इतरलिङ्ग इन तीन को लिङ्गत्रय कहा जाता है। व्योम, मरुत्, तेज, जल, और क्षिति ये पाँच महाभूत हैं।

छत्तीस तत्त्व ही अर्थमयी सृष्टि है, पूर्व में शब्द है और बाद में अर्थ है। राघवभट्ट के अनुसार शब्दब्रह्मरूपिणी परा शक्ति ही शब्द और अर्थरूप को व्याप्त करती है। शब्द प्रकाशक और अर्थ प्रकाश्य हैं। तन्त्र में शब्द और अर्थ में वस्तुतः भेद न होने से पूर्व और पर कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ में अभेद की मूल क्षिति ही तन्त्र का सार है। व्यवहार की दृष्टि से प्रकाशक और प्रकाश्य के रूप में भेद माना जाता है। शारदातिलक की दृष्टि से शब्दसृष्टि की मुख्यता मानकर शब्दसृष्टि ही प्रथम मानी जाती है।

अर्थ दो प्रकार के हैं स्थूल एवं सूक्ष्म, मनोग्राह्य बाह्य वस्तु स्थूल अर्थ है, उस स्थूल अर्थ के संस्पर्श में होने पर मन विषयाकार आकारित होता है, मन की यह वृत्ति या बाह्य अर्थ का मानस आकार सूक्ष्म अर्थ है, इस सूक्ष्म अर्थ को ही प्रक्षेपण कहा जाता है। विषयाकार होने के साथ ही मन विषय का ग्रहण भी करता है, इस प्रकार मन ग्राहक और ग्राह्य दोनों ही होता है। ग्राहक रूप शब्द है ग्राह्य रूप अर्थ है। फलतः शब्द और अर्थ का ग्राहक-ग्राह्य-स्वरूप सम्बन्ध है। अंकुर और छाया के समान ही शब्दार्थ सृष्टि है। शब्द शक्ति के मूल में भी शक्ति और शक्तिमान् है। शारदातिलक के अनुसार सनातन शिव सगुण और निर्गुण शिव प्रकृति या शक्ति के साथ सम्बन्ध-शून्य है और सगुण शिव कला के साथ है। कला अर्थात् प्रकृति या शक्ति है।

---

१. शा. ति. १।१

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सबलः स्मृतः । (शा. ति. १।६)

शिव और शक्ति के अभेद के कारण निर्गुण के साथ अनुद्भूत शक्ति है। इसी लिए शारदातिलक में "सच्चिदानन्द-विभव कहा गया है। शक्ति की उद्भूत अवस्था नाद बिन्दु के उद्भव क्रम में है"[1]।

इसकी व्याख्या में राघवभट्ट ने लिखा है महाप्रलय के समय विश्व शक्ति में लीन होता है, उस समय शक्ति सूक्ष्म आकार में चैतन्याध्यासित होकर अवस्थित रहती है। शक्ति के गुण की विषमता के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस सृष्टि योग्य प्रपञ्च कार्य के साधन में विस्तृतावस्था ही शक्ति, नाद और बिन्दु की उत्पत्ति है। शक्ति की उत्पत्ति यह लाक्षणिक प्रयोग है। क्योंकि, सत्कार्यवाद का ही अनुसरण शारदातिलक में किया गया है[2]।

अभिव्यक्ता परा शक्ति जो चिद्रूपा है, बिन्दु उसका प्रथम क्रिया रूप है, क्रिया प्राधान्य ही बिन्दु का लक्षण है,[3]" तोडल तन्त्र के अनुसार निराकार पर ज्योति अव्यय बिन्दु है :—

"निराकारं परं ज्योतिर्बिन्दुश्चाव्ययसंज्ञकम्"।

शारदातिलक में लिखा है कि साक्षात् पर शक्तिमय बिन्दु त्रिधा भिन्न होता है—जिसे बिन्दु नाद और बीज शब्द से कहा जाता है, बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक और उनका परस्पर क्षोभात्मक सम्बन्ध नाद है। शिव शक्ति का संयोग नाद है अर्थात् शिव शक्त्यात्मक[4] है। इसमें प्रथम नाद बिन्दु कारण और परवर्ती नाद बिन्दु कार्य है, अतः प्रथम नाद परनाद एवं पर बिन्दु या महाबिन्दु कहा जाता है, बाद के नाद बिन्दु को अपरनाद और अपरबिन्दु कहा जाता है।

भास्करराय के अनुसार कारण बिन्दु से क्रमशः कार्य बिन्दु नाद एवं बीज उत्पन्न होता है।

कारणबिन्दु, कार्यबिन्दु, नाद एवं बीज इन चारों की अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म संज्ञा है।

---

१. शा. ति. १।६।　　२. पदार्थादर्श १।६।

३. अभिव्यक्ता परा शक्तिः'''प्रयाति बिन्दुभावञ्च क्रिया-प्राधान्यलक्षणम्। शा. ति. टी. १।६।

४. शा. ति. १।८–९। ल. सं. पृ. ९०

	अधिदैवत	अधिभूत	अध्यात्म
कारण बिन्दु	अव्यक्ता शान्ता अम्बिका	कामरूपपीठ	शक्तिपिण्ड कुण्डलिनी परावाक् पराशब्द ।
कार्य बिन्दु	" ईश्वर, वामा, इच्छा, नाद	" पूर्णगिरि पीठ	" पश्यन्ती
नाद	हिरण्यगर्भ ज्येष्ठा, ज्ञानी	जालन्धर पीठ	मध्यमा
बीज	विराट् , रौद्री, क्रिया	उड्यान पीठ	वैखरी

शारदातिलक में बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा, बीज से वामा और इनसे क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और रसाधिप उत्पन्न होते हैं[1]। इस विषय का विस्तृत विवरण टीका से अवगत करें।

वस्तुतः बिन्दु रहस्य अतिशय गम्भीर है प्रकाश, प्रकाश-विमर्श एवं विमर्श या सित, मिश्र एवं शोण पूर्वोक्त बिन्दु आदि का नामान्तर हैं।

कामकला :—

अग्नि और सोम को कामकला कहा जाता है अर्थात् रवि बिन्दु की कला, कला विमर्श शक्ति है, कामविशिष्टा कला ही कामकला है। विमर्श बिन्दु एवं प्रकाश बिन्दु की समष्टि कामकला है।

चित्कला :—

प्रकाशविमर्श की साम्य-भङ्गजनित प्रस्पन्द कार्य से अभिव्यक्त संवित् या चैतन्य ही चित्कला है। अग्नि के ताप में घृत जिस प्रकार धारा रूप में प्रवाहित होता है, वैसे ही प्रकाशात्मक शिव के संस्पर्श से विमर्श रूप पराशक्ति द्रवीभूत होती है और परमानन्दमय अमृत प्रवाहित होती है—यही चित्कला है। आचार्य भास्कर राय ने इसको व्यक्त करते हुए लिखा है कि लौकिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की सामरस्य अवस्था में ब्रह्मरन्ध्र स्थित शुक्ल बिन्दु काम-मन्दिर में प्रविष्ट होता है और शोण बिन्दु के साथ एकीभूत होता है, उस समय बाह्यान्तर भानविहीन केवल आनन्द रूप चित् अवभासित होता है—यह अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार शारदातिलक के 'अनुसार सर्वभूत

१. शा. १।१०

चैतन्य ही शब्द ब्रह्म है और यह चैतन्य कुण्डली स्वरूप को प्राप्त कर वर्ण रूप में गद्य-पद्यात्मक रूप आविर्भूत होता है[1] सोम-सूर्य एवं अग्नि त्रिधा जननी यह शब्दस्वरूपिणी भूतलिपि मन्त्रमयी है एवं पचास मातृका वर्णरूपिणी है[2]।

"त्रिधा जननी देवी शब्दब्रह्मरूपिणी। द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥ (शान्ति १।५६) अ इ उ ऋ लृ पाँच ह्रस्वस्वर, ए, ऐ, ओ, औ चार सन्धि वर्ण, मकारादि मकारान्त पचीश स्पर्शवर्ण, य र ल व श ष स ह—ये आठ व्यापक वर्ण इस प्रकार बेयालीस भूत-लिपि, ये वर्ण पञ्चभूतात्मक होने से भूतलिपि कही जाती है, इनके आश्रित मन्त्र ही भूतलिपि मन्त्र है। इस प्रकार कामकला मन्त्र शरीर है।

वर्ण मातृका है, मातृका शिवात्मिका है, अतः वर्ण शिवशक्तिमय है। मातृका ब्रह्मस्वरूपिणी होने से नित्य है[3]। वर्ण का उद्भव अभिव्यक्ति मात्र है। शारदातिलक में सौम्यवर्ण, सौरवर्ण, आग्नेय वर्ण आदि के रूप का विस्तृत विवरण दिया गया है। वर्णों का पाञ्च-भौतिक विभाग भी स्पष्ट रूप में किया गया है। द्रष्टव्य शारदा तिलक २।१०–११।

इस मातृका शक्ति का स्वरूप प्रत्येक वर्ण में शक्ति का एक विशेषरूप अभिव्यक्त है, इनकी मूर्ति भी स्वरूपानुरूप कल्पित है एवं ध्यान भी निर्दिष्ट है, यथा अकार का स्वरूप—अकार शरत्काल के चन्द्र के समान उज्ज्वल, पञ्चकोणमय पञ्चदेवमय शक्ति द्वय से समन्वित, निर्गुण, गुणयुक्त, कैवल्य मूर्ति, बिन्दुद्वयवर्ण, यह प्रकृति स्वरूपिणी मातृका है। चामीकरनिभं शूल-गदाराजद्भुजाष्टकाः, चतुरास्योऽतिकायः स्यादकारः कूर्मवाहनः। (शा. ति. ६।४)

ऋषि के सम्बन्ध में शारदातिलक में कहा गया है कि मन्त्र का द्रष्टा और जिस मन्त्र से जिसने सिद्धि लाभ की है—वही ऋषि होता है[4]। गौतमीतन्त्र के अनुसार मन्त्र का साधक ही उसका ऋषि है।

१. चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डली रूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मना आविर्भवति गद्य-पद्यादिभेदतः। १।१३–१४

२. कारणात्पञ्चभूतानामुद्भूता मातृका यतः। ततो भूतात्मकवर्णाः।

३. तेषु स्वराः स्वतन्त्राः स्युः। शा. ति. २।३–३

४. शा. ति. १।५।

जिस मन्त्र का जो देवता होता है उस मन्त्र के देवता का वहीं रूप है[1]। विनियोग, प्रयोग, छन्द आदि का विवरण भी शारदातिलक में विस्तार पूर्वक दिया गया है।

वीज मन्त्र के निरूपण प्रसङ्ग में कहा गया है कि प्रत्येक अक्षर का ऋषि, छन्द, देवता बीज का उच्चारण किया जाता है, उस अक्षर का ध्यान किया जाता है, उन्हीं अक्षरों से गन्ध आदि का प्रदान होता है। (शा. ति. ६।८१)

दीक्षा :—

जैसे उपनयन के विना विप्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं होता है, वैसे ही दीक्षा के विना तन्त्र में अर्चना का अधिकार नहीं रहता है। दीक्षा का वैशिष्ट्य प्रदर्शन करते हुए लिखा गया है कि दीक्षा के बाद भी हृदय में विश्वास यदि उत्पन्न नहीं होता है तो यथार्थ दीक्षा नहीं मानी जाती है। दीक्षा के द्वारा प्रबुद्ध चैतन्य विशिष्ट गुरु अपने चैतन्य का शिष्य में सञ्चार करता है, फलस्वरूप शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति उद्‌बुद्ध होती है[2]। द्विजों को गायत्री की दीक्षा के बाद इष्ट मन्त्र की दीक्षा कही गई है। वैदिक गायत्री के समान ही तान्त्रिक गायत्री भी है, किन्तु वैदिक या तान्त्रिक दोनों हीं प्रशस्त मानी गई है[3]।

तान्त्रिक दीक्षा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी के भेद से चार प्रकार की है।

क्रियावती दीक्षा :—

अनुष्ठान बहुल यह दीक्षा होती है, गुरु के द्वारा शिष्य के सरीर में अवस्थित छ अध्वा का शोधन, शिष्य में आत्म-चैतन्य नियोजन, शिष्य का अभिषेक इत्यादि विभिन्न अनुष्ठान इस दीक्षा का अङ्ग है। साधारणतया गुरु शिष्य को इस क्रियावती दीक्षा ही देता है।

कलावती दीक्षा :—

कलावती दीक्षा का भी विस्तृत अनुष्ठान होता है। इस दीक्षा में गुरु शिष्य के शरीर का पैर से लेकर शिर पर्यन्त विभिन्न स्थानों

---

१. शा. ति. १।५ पञ्च पञ्च विभागतः शा. ७।६

२. विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या तं शिशुं देशिकोत्तमः।
आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत् ॥ शा. ति. ५।९६

३. महानि. त. ८।८५।

में निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत इन पाँच कलाओं के अवस्थानक शास्त्र निर्दिष्ट रूप में ध्यान करता है और संहार क्रम में शिवावधि संयोजन कर शिष्य को दीक्षा देता है[१]।

वर्णमयी दीक्षा :—

इस दीक्षा में गुरु शिष्य के शरीर में शास्त्र निर्दिष्ट स्थान से वर्ण समूह का न्यास करता है एवं प्रतिलोम क्रम में उन वर्णों का और उसके साथ शिष्य के चैतन्य को परमात्मा में लीन करता है, एवं परमात्मा से वर्ण समूह और शिष्य चैतन्य को उत्थापित करता है, शिष्य शरीर में अनुलोम क्रम में या सृष्टिक्रम में न्यस्त करता है, इस प्रकार शिष्य परमानन्दमय देवभाव को प्राप्त करता है[२]।

वेधमयी दीक्षा :—

यह दीक्षा मनोदीक्षा या मानस दीक्षा कही जाती है। यह दीक्षा कुलार्णवतन्त्र में वर्णित है। कच्छप जिस प्रकार शुद्ध ध्यान के द्वारा ही वत्स का पोषण करता है, वेध दीक्षा उपदेश भी वैसा ही मानस व्यापार है अर्थात् इस दीक्षा में गुरु ध्यान के द्वारा ही शिष्य को दीक्षित या प्रबुद्ध करता है[३]। इनसे अतिरिक्त भी अनेक दीक्षाएँ कही गई हैं।

दीक्षा के विषय में अनेक तन्त्रों में विस्तृत वर्णन मिलता है, शारदातिलक में भी दीक्षा के साथ गुरु के प्रति शिष्यों के कर्तव्य विपुल वर्णन किया गया है।

इस वर्णन क्रम में ही वास्तुयाग, मण्डप, बलिदान आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। दीक्षा प्रकरण में किस प्रकार गुरु को दीक्षा देनी चाहिए इसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन अनेक प्रामाणिक तथ्यों के साथ दिया गया है। इस प्रसङ्ग में कुण्डों का भेद एवं उनके प्रयोगों का सविधि वर्णन किया गया है। स्तुक्, वेदि, स्तुव, सर्वतो-भद्रमण्डल, नवनाभमण्डल एवं पञ्चाब्जमण्डल का विस्तृत निर्देश के रूप में यह पटल समाप्त होता है।

चतुर्थ पटल का आरम्भ दीक्षा के निरूपण से होता है, भूतशुद्धि

---

१. शा. ति. ५ १२१–१२६।

२. शा. ति. ५।११६–१२१।

३. कु. त. पृ. १४

आत्म-लाभ तत्त्वों की अपनें स्थान में प्राप्ति के साथ तान्त्रिक दृष्टि से अनेक मुद्राओं का निरूपण किया जाता है।

दीक्षा के विना छल-छद्म से किसी मन्त्र की प्राप्ति होने पर भी तदनुसार क्रिया करने पर भी कोई फल नहीं होता :—

दीक्षातो ह्यनवाप्तश्च प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः।
तावुभौ व्यर्थकर्माणौ साङ्गाच्छ्रौतात् फलं यतः॥

तन्त्रकौमुदी पृ० २२७

मन्त्र-ग्रहण विधि :—

कलश स्थापन पूर्वक मन्त्र ग्रहण किया जाता है, किन्तु इसके अभाव में शुभ दिन नित्य कृत्य सम्पन्न कर गुरु से प्राप्त मन्त्र को देव की पूजा कर शङ्ख में भर ले। 'फड्' यह कहकर शङ्ख का प्रक्षालन कर जल देकर अष्ट गन्ध प्रदान करे। जल में अं आं इं ईं उँ ऊँ आदि अः तक लिखकर "अमृता मानदा पूषा तुष्टि-पुष्टि-रति-धृति-शशिनी चन्द्रिका कान्ति ज्योत्स्ना श्रीप्रीत्यङ्गदा पूर्णा पूर्णामृता इहागच्छत इह तिष्ठतेति" इस मन्त्र से आवाहन कर पूजन आदि का विधान बताया गया है। अनन्तर मन्त्रों के संस्कार की विधि कही गई है। मन्त्र के लेखन के लिये स्वर्ण की लेखनी का प्रयोग कहा गया है। मातृका मन्त्र को लिखकर मूल मन्त्र को बाहर कर अभिमत मन्त्र लिखना चाहिए। मूल मन्त्र को प्रणव से सम्पुटितकर जप करना मन्त्र जीवन है। पात्र में लिखित मन्त्र वर्णों का चन्दन जल से 'यं' मन्त्र से ताडन करना चाहिए। अनन्तर 'रं' बीज से हनन करना रोधन है। मन्त्राक्षर के सम संख्यक अश्वत्थ पल्लवों से एक साथ मन्त्र का अभिषेचन करे। 'ओं, ह्रौं' इस ज्योति मन्त्र से कायिक वाचिक मानस पाप या यौन रूप तीन मलों का दहन करे यह विमलीकरण है। योनि मुद्रा बन्धन के समान अपान वायु को ऊर्ध्व आकर्षण कर उत्थित तेज से दहन समाचार है। लिखित मन्त्र का कुश जल के द्वारा प्रत्यक्ष मन्त्र से प्रोक्षण आप्यायन है, अनन्तर देव का तर्पण करे। तारा माया श्री बीज को आदि में देकर जप ही दीपदान है। इसी क्रम से जपकर्ता के लिए मुद्रा एवं भूतबलि का विधान है :—

भूतानि यानीह वसन्ति भूतले बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम्।
अन्यत्र वा संपरिकल्पयन्तु क्षमन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्यः॥

इससे पूर्व इस मन्त्र से भूतबलि प्रदान करे—

ओं ये रौद्रा रौद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिनः ।
विघ्नभूतास्तथा चान्ये दिग्विदिक्षु समाश्रिताः ।
सर्वे ते प्रीतमनसः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ।।

त. कौ. पृ. २३१

इसी प्रकार पुरश्चरण क्रम में अपेक्षित सभी विधियों की विशद समीक्षा की गई है।

पञ्चम पटल में अग्नि जनन, कुण्ड संस्कार, अग्नि संस्कार आदि का विशद व्याख्यान करते हुए होम आदि का फल निरूपित किया गया है। अग्नि तेज का ही स्थूल भौतिक स्वरूप है, अतः अग्नि की आराधना का एवं होमादि की साधना में विशेष महत्त्व है, अतः इस पटल में इसका वर्णन करते हुए कलाध्व, शिवतत्त्व, वैष्णवतत्त्व आदि का वर्णन कर हवन की विधि और उसके फल का विवेचन है। इसी क्रम में शिष्य कृत्यों का आत्मचैतन्य की दृष्टि के लिए वर्णन है। इनमें अष्टाङ्ग प्रणाम आदि का विवेचन कर पुनः दीक्षा का भेद वर्णित है।

षष्ठ पटल में मातृका का परिचय देते हुए ध्यान, बीज एवं न्यासों का वर्णन है। प्रथम वागधिष्ठात्री देवता का ध्यान वर्णित है, मातृका-चक्र, पीठ-शक्ति आदि का वर्णन है। सृष्टि, स्थिति और संहार न्यास के बाद मातृकापूजा नवरत्नमुद्रिका और मातृकाधारणयन्त्र वर्णित हैं।

शिष्य का गुरु का देवी के प्रति अपना भाव प्रदर्शन प्रसङ्ग में पुरश्चर्यार्णव में लिखा है :—

कारुण्यनिलये देवि सर्वसन्निधिसंश्रये ।
शरण्ये वत्सले मातः कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ।।
आणवप्रमुखैः पाशैः पाशितस्य सुरेश्वरि ।
दीनास्यास्य दयाधारे कुरु कारुण्यमीश्वरि ।।
ऐहिकामुष्मिकैर्भोगैरपि सम्बध्यतामसौ ।
स्वभक्तिः सकला चास्मै दीयतां निष्कलाश्रये ।।

पृ. ३८१

आशय यह है कि "हे मातः! करुणानिलये, सर्वसन्निधिसंश्रये, शरण्ये, वत्सले हो, तुम इस शिशु पर कृपा करो; आणव प्रमुख पाशों के द्वारा यह शिशु आबद्ध है, मां ! तुम दयामयी हो, इस दीन पर करुणामयी कृपा करो, ऐहिक पारलौकिक भोगों से युक्त करो। सर्वाश्रियस्वरूपे ! मा ! तुम निष्कला हो, किन्तु सभी कलाओं से इसे पूर्ण करो।"

पूर्व वर्णन के अनुसार शिष्य को गुरुचरण दण्डवत् अष्टाङ्ग प्रणाम कहा गया है—हे नाथ, हे भगवन्। गुरुरूपिशिव ! सर्वदेवमय, सर्वमन्त्रमय आपको प्रणाम है। हे नाथ ! तुम्हारी कृपा से मैं घोर मृत्युपाश से विमुक्त हुआ हूँ। तुम्हारी कृपा से मैं आज सर्वविध कृतकृत्य हूँ :—

नमस्ते नाथ ! भगवन् ! शिवाय गुरुरूपिणे।
सर्वदेवस्वरूपाय सर्वमन्त्रमयाय च ॥
घोरान्मृत्युमहापाशान्मोचितः कृपया त्वया।
त्वत्प्रसादाद् हे नाथ ! कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः ॥

पुरश्चर्या पृ. ३८३

दीक्षा के बाद ही पुरश्चरण का प्रसङ्ग आता है, पुरश्चरण के विना मन्त्र मृत कहा जाता है, जीवन विहीन शरीर के समान ही पुरश्चरण विहीन मन्त्र किसी भी कार्य के साधन से अक्षम रहता है:—

विना पुरस्क्रियां देवि मन्त्रो मृत इतीरितः।
जीवहीनो यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः ॥
पुरश्चरणसम्पन्नो ,मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।

(शक्तिसङ्गमतन्त्रसुन्दरी खण्ड ३।१५५–५६)

पुरश्चरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन मन्त्र है। उस मन्त्र की सिद्धि के पुरः अर्थात् प्रथम चर्या = अनुष्ठान ही पुरश्चरण है।

पुरश्चरण में जप, होम, तर्पण, अभिषेक और विप्र-भोजन पचाङ्ग उपासना अपेक्षित है :—

जपहोमौ तर्पणश्चाभिषेको विप्रभोजनम्।
पञ्चाङ्गोपासनं लोके पुरश्चरणमुच्यते ॥

क्रियासार से उद्धृत वृ. त. सा. पृ. ४८

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार त्रैकालिकी पूजा, नित्य जप एवं तर्पण, होम और ब्राह्मण-भोजन को पुरश्चरण कहा गया है।

दशाङ्ग पुरश्चरण का वर्णन भी उपलब्ध होता है। यथा—जप, होम, तर्पण, अभिषेक, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य, जलपान, प्रणाम, पूजा एवं विप्रभोजन[1]।

पुरश्चरण के प्रसङ्ग में होम, न्यास आदि का विशद अपेक्षित वर्णन इस पटल में किया गया है।

सप्तम पटल में ४२ अक्षरों की भूतलिपि का प्रथम वर्णन किया गया है। अनन्तर ब्रह्म, विष्णु, रुद्र आदि के मन्त्रों का वर्णन किया गया है। वर्णों की भूत स्वरूपता का वर्णन कवर्ग आदि के देवों का वर्णन कर वागीश्वरी का ध्यान आदि वर्णित है। अनन्तर आग्नेय आदि यन्त्रों का वर्णन करते हुए वागीश्वरी साधना का निरूपण है।

इस प्रसङ्ग में शक्ति के भेद का निरूपण करने से पूर्व शक्ति का स्वरूप निरूपण करना आवश्यक माना है। क्योंकि शारदातिलक में सात पटल से बारह पटल तक शक्ति का भेद निरूपण ही है।

शक्ति शब्द शक् धातु से क्तिन् प्रत्ययकर निष्पन्न होता है, शक धातु का अर्थ होना या करने का सामर्थ्य होता है। फलतः यह ज्ञान सामर्थ्य वाची होने से इसे ज्ञानवाची मानना होगा, क्योंकि "विद्या विषये ज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः" (माधवीय धातुवृत्ति स्वादि १५) होने या करने के मूल में इच्छा है, अतः शक्ति ज्ञान, इच्छा और क्रिया स्वरूप है। भाषा की व्युत्पत्ति की दृष्टि से जिसके द्वारा कोई कार्य सम्पन्न या कार्य के रूप में परिणत के योग्य है या जो कारण का आत्मभूत है—वही शक्ति है।

शक्ति तत्त्व के विश्लेषण से यह सिद्ध है कि एक आद्या शक्ति का ही यह विभिन्न रूप है, आद्या शक्ति ही महाशक्ति है। महाकाल-संहिता में कहा गया है—हे देवि! तुम अचिन्त्य अपरिमिताकारा शक्ति स्वरूपिणी, प्रत्येक व्यक्त वस्तु की अधिष्ठान सत्ता भी तुम ही हो, अर्थात् व्यक्त तुममें अधिष्ठित है, गुणातीता, द्वन्द्वातीता, अद्वितीय, परब्रह्मस्वरूपिणी हो :—

---

१. पुरश्चरण तन्त्र, पृ. ७

अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा
प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्त्वैव मूर्तिः।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥

शक्तिसङ्गमतन्त्र के अनुसार सर्वाद्या शक्ति आनन्दघन स्वरूप में अनुभूत होती है, वह चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप है :—

सर्वाद्या तु भवेच्छक्तिरानन्दघनगोचरा।
ब्रह्मरूपिचिदानन्दपरब्रह्मैव केवलम् ॥

श. स. त. १।६६

सौभाग्यभास्कर में भास्कर राय ने कहा है—परब्रह्मस्वरूपिणी महाशक्ति परशिव से अभिन्ना लोकतीता है, घनीभूत घृत के समान रजस्तम सम्पर्क शून्य शुद्ध सत्त्व घनीभूत स्वरूपा है। (ल. स. पृ. ४)

यह मायाशक्ति भिन्न-भिन्न रूप से कही जाती है श्रीकुल के उपासकवृन्द इसको त्रिपुरा या त्रिपुरसुन्दरी या श्रीविद्या कहते हैं। यह ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय स्वरूपा है, यही मातृका है।

काली कुल के अनुसार आद्या शक्ति काली है। निर्वाणतन्त्र में आद्याशक्ति महाकाली को देवता-सृष्टिकारिणी कहा है :—

"आद्याशक्ति महाकाली देवनिर्माणकारणी"।

(नि. त. १० पटल)

निरुक्ततन्त्र में निर्गुण और सगुण भेद भी माना गया है, निर्गुण दीप्तिमयी परब्रह्मस्वरूपिणी है—"निर्गुणज्योतिषां वृन्दं परब्रह्म-सनातनी" (नि. त. २)।

परब्रह्म को स्त्री, पुरुष, या नपुंसक नहीं माना जाता है। इसी प्रकार यह भी स्त्रीत्व, पुरुषत्व, नपुंस्कत्व शून्य है। अब यह विचारणीय है कि स्त्रीलिंग से इसका निर्देश क्यों हो रहा है। तन्त्र में इसके समाधान में कहा गया है—"तथापि कल्पवल्लीवत्स्त्रीशब्देन युज्यते"। यह स्त्री या पुरुष आदि नहीं है, फिर भी कल्पलता यह स्त्रीत्व वाचक शब्द व्यवहृत होता है, शक्ति भी इसी प्रकार स्त्री रूप में व्यवहृत है। कल्पलता के पास लता का फल, वृक्ष का फल, जो भी प्रार्थना करता है वही प्राप्त हो जाता है, लता और वृक्ष की शक्ति का अतिक्रमणकर दैवशक्ति ही प्रकाशित होती है। फिर भी

वह लता स्वरूपा ही है, इसी प्रकार निखिल मूर्ति स्वरूपा, निखिल मूर्ति से अतीता होने पर भी वह स्त्री रूपधारिणी है। शारदातिलक टीका में इसी को व्यक्त करते हुए राघव भट्ट नें लिखा है कि परशक्ति लिङ्गत्रय वाच्या है, किन्तु अचल शक्ति भाव से परिश्रान्त भक्तों की सभी आङ्क्षाओं को कल्पलता के समान शीघ्र ही पूर्ण करती है। (शा. ति. १।५२ श्लोक टीका) अरूपा होते हुए भी लीला छाल से दीप्ति स्वरूप का धारण करती है। सूर्य के तेजः स्वरूप होने पर सूर्य का तेज यह कहा जाता है, आत्मपदार्थ शक्ति स्वरूप होने पर भी लोकावगति के लिए शक्तिमान् कहा जाता है। अतः सभी देवता शक्ति स्वरूप है। विमर्श शक्ति की ही यह क्रीडा है। अरूपा रूप धारिणी है :—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

(अभिनवलो. प्र. उ.)

इसी एक तत्त्व जो अचिन्त्य स्वरूप उसका क्रीडा छल से दश महाविद्या, काली एवं उसके अनेक भेद, वागीश्वरी उसके अनेक भेद नील सरस्वती, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, अन्नपूर्णा, छिन्नमस्ता, लक्ष्मी, दुर्गा, वनदुर्गा आदि विस्तृत विवरण एवं पुरश्चरण आदि का निरूपण किया गया है।

त्रयोदश पटल में गणपति प्रकरण प्रारम्भ होता है जिसमें गणपति की विभिन्न अर्चा एवं भेद तथा पुरश्चरण का स्वरूप निरूपण किया है। गणपति को सभी प्रकार की सिद्धियों का प्रदाता माना गया है। यह विघ्नहर्ता है। दाक्षिणात्य इनकी विविध पूजा करते हैं।

चतुर्दश पटल में सूर्य सम्बन्धी आराधनाओं का विश्लेषण किया गया है। पुरश्चरण प्रकार एवं उसका मन्त्र तथा अनुष्ठान प्रक्रिया कही गई है।

पञ्चदश पटल विष्णु की अर्चा का निरूपण करता है। इस पटल में विष्णु के विभिन्न अवतारों की साधना के लिए विभिन्न मन्त्रों का निरूपण अनुष्ठान प्रकार तथा यन्त्र आदि का विवरण है। विष्णु के मन्त्रों का उपक्रम करते हुए इसे महामन्त्र एवं सर्वार्थ साधक कहा गया है। भवसागर से पार होने के लिए इन्हीं की अराधना अपेक्षित है।

सोलहवें और सतरहवें पटलों में नृसिंह एवं विष्ण के आयुधों को अर्चा एवं पुरश्चरण कहे गये हैं।

अट्ठारहवाँ पटल शिव सम्बन्धी है, इस पटल का आरम्भ शिव के मन्त्रों, यन्त्रों और पुरश्चरण प्रक्रिया के निर्देश से होता है। इसी प्रकरण में मृत्युञ्जय आदि मन्त्रों की भी आराधना निर्दिष्ट है।

उन्नीसवें पटल में दक्षिणामूर्ति, नीलकण्ठ आदि की अराधना का वर्णन किया गया है।

विंश पटल अघोर प्रकरण है। इस पटल में भी पाशुपतास्त्रमन्त्र अघोर यन्त्र, अघोर शिव की साधना का विशद वर्णन है।

एक्कीसवाँ पटल गायत्री प्रकरण है। इसमें गायत्री की आराधना वर्णित है, आग्नेयास्त्रमन्त्रों एवं नक्षत्रों का देवासुर-मनुष्य भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं। इसी प्रकरण में अतिदुर्गा, विश्वदुर्गा आदि की आराधना वर्णित है। आग्नेयास्त्रयन्त्र का निर्देश भी किया गया है।

बाइसवें पटल में दिनास्त्र, कृत्यास्त्र, पुत्तली प्रयोग आदि का वर्णन कर यामवती, दुर्गा, भद्रकाली आदि का वर्णन है।

तेइसवें पटल में त्र्यम्बक मन्त्रों एवं उसके अनुष्ठान के प्रकार वर्णित है, प्राण प्रतिष्ठा यन्त्र, अनेक मुद्रायें, मारणप्रकरण, षट्कर्म-योग, यन्त्राधार आदि वर्णित है।

चौबीसवें पटल में विविध यन्त्र विभिन्न प्रयोगों के लिए निर्दिष्ट हैं। इस प्रकरण में लौकिक दृष्टि से ज्वर, वशीकरण आदि यन्त्र भी वर्णित हैं।

पचीसवाँ पटल योग प्रकरण है। इसमें विविध योगों का मार्मिक विवरण है तथा प्राणायाम का भी विवरण इसी में दिया गया है, शरीरस्थ नाडियाँ उनका स्थान कुण्डिलिनी जागरण विधाएँ भी वर्णित है।

अन्त में लक्ष्मण देशिक ने अपना संक्षिप्त परिचय प्रदान करते हुए लिखा है। ग्रन्थकर्ता के पूर्वज महाबल है, उनके पुत्र आचार्य पण्डित है, उनके पुत्र श्रीकृष्ण हैं, इनके ही पुत्र लक्ष्मणदेशिक ग्रन्थ-कर्ता है। यह सभी कलाओं और विद्याओं में परिपूर्ण है, विद्वानों की प्रसन्नता के लिए इस ग्रन्थ की रचना निखिल आगामों के अखिल

सारों को लेकर किया है। इसी प्रसङ्ग में राघव भट्ट ने भी अपना परिचय प्रस्तुत किया है।

मन्त्रों एवं तन्त्रों का विशद वर्णन एवं कामना आदि सिद्धि के लिए भूमिका लेखक की अन्यकृति में विस्तृत गुप्त एवं परम्परा प्राप्त प्रयोगों की जानकारी तन्त्रामोद से प्राप्त करे।

प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन में वंशपरम्परा से बद्ध परिकर श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्र कुमार गुप्त की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह उनके सत्य स्वरूप का परिचायक नहीं हो सकता है। प्राचीन ग्रन्थों की सुरक्षा ही इनका एक मात्र ध्येय है।

विद्वज्जन का मेरे लेख से यदि कुछ भी उपकार होता है तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। अशुद्धि-परिमार्जन पूर्वक इसे ग्रहण कर कृतार्थ करें।

कार्तिकी पूर्णिमा
दिनांक २७।११।८५

महाप्रभुलाल गोस्वामी

"पदार्थादर्श" व्याख्योपेतस्य

श्रीशारदातिलकस्य

उपोद्घातः (भूमिका-)

अथात्र धर्म्मप्रधाने भारते वर्षे निगमागमयोरेव धर्मस्थितिः पूर्वैरप्युपवर्णितेति सर्ववादिसम्मतम् । तत्र निगमपदेन मन्त्र-ब्राह्मणोभयात्मको वेद उच्यते । यन्निरुक्ति-र्निंतरा-मत्यन्तम् निश्चयेन वा गच्छन्ति अवगच्छन्ति (जानन्ति) धर्ममनेनेति निगमशब्द इति वामन-भट्टोजिदीक्षितादिभिरुपवर्णिता । "गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वमि"ति च । अत्र च पराऽपरभेदेन द्विविधाऽपि विद्याऽवतिष्ठत इति विद्यास्थानन्धर्म्मस्थानञ्च निगम एवेति धर्म्मशास्त्रनिर्णयः । तथाच मनुः

'वेदप्रणिहितोधर्म्मोह्यधर्म्मस्तद्विपर्य्ययः" इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि साङ्गोपाङ्गस्यास्यैव विद्यास्थानत्वं धर्म्मथानत्वमाह यथा—

पुराणन्यायमीमांसाधर्म्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्म्मस्य च चतुर्द्दश" इति ॥

अत्र पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्म्मशास्त्राण्युपाङ्गानि । अङ्गानि च छन्दः कल्पाज्योतिर्निरुक्तं शिक्षा व्याकरणञ्चेति । यथाह पिङ्गलाचार्य्यः ।

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मभूयाय कल्पते" इति ॥

तत्राऽपराविद्या ऋग्वेदादिः पराचोपनिषदिति श्रूयते—"द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवाऽपरा च । तत्रापरा—ऋग्वेदोयजुर्वेदः समवेदोऽथर्ववेदश्च"त्यादिः, "अथ परा यया तदक्षरमवगम्यते" इति । यथात्र कर्मोपास्तिज्ञानभेदात्काण्डत्रयमुपनिबद्धं, यत्र कर्म्मकाण्डं पूर्वमीमांसादौ, जैमिन्यादिभिः । उपासना काण्डञ्चपञ्चरात्रादौ नारदादिभिः ज्ञानकाण्डञ्चोत्तरमीमांसायां व्यासादिभिरुपवर्णितम् । एवमागमस्मृतावपि काण्डत्रयं वरीवर्त्ति ।

निगमागमयोश्चाविशेषेण धर्म्मस्थानत्वमामनन्ति । निगमोहि श्रुतिनाम्नाऽऽम्नायते-या हि श्रूयत एव गुरुपरम्परया, न केन चित्क्रियत इति श्रुतिरित्युपवर्णिता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्वाचस्पतिमिश्रादिभिः । तदर्थोपनिबन्धृत्वात्स्मृतीनां प्रामाण्यमाह मनुः—

"वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्रामाण्यं हि मनोः स्मृतम्" ।

इति । अत्र मनोरित्युपलक्षणमन्येषामपि वेदार्थस्मर्तॄणामृषीणाम् एयं हि स्मर्यते पूर्वैर्म्महर्षिभिर्वेदार्थोऽनयेति स्मृतिरिति निरुच्यते । अत एव "श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे" इत्यादिभागवतोक्तिः सङ्गच्छते ।

तथाच यथा वेदार्थस्मारकमन्वादीनां धर्म्मशास्त्रप्रवर्त्तकत्वमुक्तम् याज्ञवल्क्येन—

"मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसम्वर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशर-व्यास-शङ्ख- लिखिता-दक्ष-गौतमौ ।
शातातपो-वशिष्ठश्च धर्म्मशास्त्रप्रवर्त्तकाः ॥" इति ।

अत्र मनोः सर्वतः प्राथम्यमुक्तपूर्वं भृगुणा । बृहस्पतिरप्याह—
"मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न्न प्रशस्यते" इति ।
श्रुतिरपि साक्षादाह "यन्मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः" इति ॥

तथाच यथा मन्वाद्युक्तस्मृतीनांप्रामाण्यंधर्म्मे, एवमागमस्मृतेरपि कलिकलुषजुषां लुप्तश्रुतिस्मृतिधर्म्माणां मनुष्याणामुद्धृतये साक्षाच्छिवप्रणीतत्वेन प्रामाण्ये नास्तिसंशयलेशोऽपि ।

तेन हि श्रुतिवदत्रापि काण्डत्रयमुपनिबद्धङ्किन्तु कर्मकाण्डमुपासनाङ्गतयैव श्लोकेनोपनिबद्धम् । ज्ञानकाण्डन्तु पृथगेव श्रीशिवसूत्ररूपेण "चैतन्यमात्मे"-त्यादिसप्तसप्ततिसूत्रैः । यान्येतानि उन्मेषत्रयेणोपनिबद्धानि । तानि महादेवगिरौशङ्करोपल-(शङ्करपल्) नाम्नि वसुगुप्तगुरुणा(१)लब्धानि । प्रकाशितानि च निजसच्छिष्येषु भट्टकल्लटादिषु । काश्मीरदेशे (श्रीनगरे) व्याख्यातानि च श्री शिवविमर्शिन्यां श्रीमद्भिरभिनवगुप्ताचार्यपादैर्म्मम्मटाचार्यगुरुभिः ॥

आगमोहि-जगति निजकर्मपाशबद्धानुत्पत्तिमरणप्रवाहपतितान्संसारसिन्धुन्तरीतुमक्षमान् जन्तूनुद्धर्त्तुं परमकारुणिकः शिवः शिवायाउपवर्णितः (उपदिष्टः) इति तत्पदनिरुक्तिस्मरणादवगम्यते-यथाहुः—

"आगतं शिववक्त्राज्जाद्गतं तु गिरिजाश्रुतौ ।
तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम् ॥" इति ।

अत्र "गिरिजामुखे" इति पाठे श्रुत्वा तयाऽभ्यस्तमिति तदर्थोऽवसेयः ॥

अत्र सर्वोऽप्यधिकारीतिमहान् विशेषोऽन्य-(निगम-)तः । इदञ्चोपासनाकाण्डमागमीयं रामपूर्वोत्तरतापनीय-नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीय-सौराष्टाक्षर-शैव-पञ्चाक्षरादिरूपेण श्रुतावप्याम्नायते ।

अत्र विशिष्य मन्त्रजातं यन्त्रजातं तन्त्रञ्चेतिकर्त्तव्यतारूपं शिवेनाम्नातं, तत्रेदमुपासनाकाण्डं वैदिककर्म्मोपासनाकाण्डादगणितश्चयाथासादिसाध्यादरीय इति-विज्ञाय—पूर्वतन्त्राणामनेकेषामेकैकमन्त्रविधानकथनप्रवृत्तानामतिविततानाङ्गम्भीराशयानाञ्च विज्ञानेऽसमर्थानां सुकुमारमतीनामल्पायुषामल्पमेधसाञ्चाधुनातनानांकृते परमकारुणिकाश्श्रीमदुत्पलाचार्यशिष्याश्श्रीमल्लक्ष्मणाचार्यदेशिकेन्द्रा एकस्मिन्नेव सर्वमन्त्राणां विधानं (तन्त्रं) "श्रीशारदातिलक"—नाम्नि ग्रन्थे सरलश्लोकैः—संगृहीतवन्तः । यदत्र सुलभेनार्थावबोधउपपद्यतामिति । किन्त्वेषोऽपि कालेन

१. एषां प्रादुर्भावे वार्त्तिकम् "श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा । सिद्धादेशात्प्रादुरासञ्छिवसूत्राणितस्यहि" इति । एवं तत्पारम्पर्यप्राप्तानि स्पन्दसूत्राणि—स्पन्दनिर्णयेऽभिनवगुप्ताचार्यपादैर्व्याख्यातानि यान्येतानि मुद्रितानि काश्मीरश्रीनगरतोलभ्यानि ॥

दुरवबोध एव संवृत्त इति "गूढार्थदीपिकया"ऽस्यार्थोमाधवभट्टैर्भू मिवेदाङ्क पृथिवी—(१६४१)—मिते वैक्रमाब्दे प्रकाशितोऽपि निगूढार्थं एवावातिष्ठतेति खवाणशरभू-(१५५०) मितवैक्रमाब्दे महाराष्ट्रदेशाभिजनस्य नर्मदोपकूले जनस्थाननाम्नि नगरे जनिमतः सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-रामभट्ट-तनुजन्मनोलानाशास्त्रनिष्णातमतेः पृथ्वीधरभट्टादन्तिमे वयसि निर्वाणदां वाराणसीं समागतवतोलब्धजन्मा सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रतिभोराघवभट्टः "पदार्थादर्श"नाम्न्या व्याख्ययोपबृंहितमेतत्-"शारदातिलक" नामकं तन्त्रं प्रचरितमन्त्रमहोदध्यादिसकलसम्प्रदायिकतन्त्र-(मन्त्र-) शास्त्रपुस्तकमूलभूतं लोकहिताय प्रावर्त्तयत्। अत्र च प्रतिपटलं "सत्संप्रदायकृतव्याख्यायामि"त्येव-मभिदधानोऽसौ व्यञ्जयाञ्चकार यदसत्संप्रदायेनापि आगमशास्त्रमिदं कलङ्कितमभूद्भविता वेति। यथाचाधुनिका आगमिकाः शिवोक्तं वचनजातं पठन्ति—

"आगमोक्तविधानेन कलौ देवान्यजेत्सुधीः ॥ ८ ॥
कलावागममुल्लङ्घ्य योऽन्यमार्गं प्रवर्त्तते ॥
न तस्य गतिरस्तीति सत्यं सत्यं न संशयः" ॥ ९ ॥

एतत्समर्थनाय चातः पूर्वम्— (महानि-२ उ०)

"आयाते पापिनि कलौ सर्वधर्मविलोपिनि ।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्टकर्म्मप्रवर्त्तके ॥ ३७ ॥
न वेदाः प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः ॥
नानेतिहासयुक्तानां नानामार्गप्रदर्शिनाम् ॥ ३८ ॥
बहुलानां पुराणानां विनाशो भविता विभो ! ॥
तदा लोका भविष्यन्ति धर्मकर्मबहिर्मुखाः" ॥ ३९ ॥

इति गौरीप्रश्ने—शिवस्योत्तरम्— (महानि—१ उ०)

"कलौ तन्त्रादिता मन्त्राः सिद्धास्तूर्णफलप्रदाः ।
शस्ताः कर्म्मसु सर्वेषु जपयज्ञक्रियादिषु ॥ १४ ॥
निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव" ॥इति॥(महानि-२उ०)

ततश्चास्य जीवजातस्योद्धाराय मार्गं निगमयन्ति मन्त्र मुक्त्का तन्त्रम्

"प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य सच्चित्पदमुदीरयेत ॥
एकं पदान्ते ब्रह्मेति मन्त्रोद्धारः प्रकीर्त्तितः" ॥१२॥ (महानि-उ०३)
"अनेन ब्रह्ममन्त्रेण भक्ष्यपेयादिकञ्च यत् ॥
दीयते परमेशाय तदेव पावनं महत् ॥ ७९ ॥
गङ्गातोये शिलादौ च स्पृष्टदोषोऽपि वर्त्तते ।
परब्रह्मार्पिते द्रव्ये स्पृष्टास्पृष्टन्न विद्यते ॥ ८० ॥
पक्वं वापि न पक्वं वा मन्त्रेणानेन मन्त्रितम् ॥
साधकोब्रह्मसात्कृत्वा भुञ्जीयात्स्वजनैः सह ॥ ८१ ॥
नात्र वर्णविचारोऽस्ति नोच्छिष्टादिविवेचनम् ॥
न कालनियमोऽप्यत्र शौचाशौचन्तथैव च ॥ ८२ ॥

यथाकाले यथादेशे यथायोगेन लभ्यते ।
ब्रह्मसात्कृतनैवेद्यमश्नीयादविचारयन् ॥ ८३ ॥
आनीतं श्वपचेनाऽपि श्वमुखादपि निःसृतम् ।
तदन्नं पावनं देवि ! देवानामपि दुर्लभम् ॥ ८४ ॥
किम्पुनर्मनुजादीनां वक्तव्यन्देववन्दिते ! ॥
परमेशस्य नैवेद्यसेवनाद्यत्फलं भवेत् ॥ ८५ ॥
महापातकयुक्तोवा युक्तोवाऽप्यन्यपातकैः ॥
सकृत्प्रसादग्रहणान्मुच्यते नात्र संशयः ॥८६॥" इति । (महानि० ३उ)

तदेतत्सर्वथा वार्त्तमेव । तथा चोक्तं मीमांसावार्त्तिककृद्भिर्भट्टकुमारिलपुज्यपादैः—

"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥" इति मानवं बचनम्

तदेतेन "पदार्थादर्श" कृता सर्वथाऽसत्संप्र(१)दायोक्ततयोक्षितम् ॥ सर्वमेव प्रमाणजातमस्मिन् (प० द०) श्रुतिस्मृति सम्मतमेवोट्टङ्कितं प्रामाणिकाऽऽगमग्रन्थेभ्यः ॥

एतन्मुद्रापणं यद्यपि–रसिकमोहन चट्टोपाध्यायैः खवसुवसुभू (१८८०) मितेशवीयशकेऽथ चाग्निवेदाङ्कभू (१९४३) मितवै० शके जीवानन्दविद्यासागर (बी० ए०) महाशयैः कारितमासीत्काश्यामपि–पश्चान्मुद्रितेयं टीका । किन्तु संशोधने शैथिल्यं सर्वत्रैवोपलभ्यते ।

यापि-आगमानुसन्धानसमित्यध्यक्षेण महाराजाधिराजमिथिलेश"रमेश्वरसिंह"महोदयेन कलिकातानगरे "एशियाटिक् सोसायटी—" नाम्न्या संस्थया मुद्रापिता सा बहुभ्योमुद्रितामुद्रितपुस्तकेभ्यः साहाय्यमवाप्यापि बहुत्राऽ शुद्धैव प्रतिभातीति पुनरस्या मुद्रणे कृतमतिभिःश्रीजयकृष्णदास—हरिदास-गुप्तमहोदयैरहं संशोधनायास्याभ्यर्थितः प्रावर्त्तिषि निद्दुर्दिष्टकार्ये।

अत्र साहायकं काशिक-रत्नफटाक-प्रकोष्ठवासि-धर्माधिकारि-श्रीमल्लक्ष्मीधरपन्तमहोदयानां हस्तलिखितमेकमपरञ्चैवं नेपालदेशीयं पुस्तकमासाद्य यथाबुद्धिवैभवं संशोधितमिदं पुस्तकन्तथापि कार्यान्तरव्याप्तिमदीयमतिदोषेण सीसकाक्षरयोजकदोषेण चोपनता अशुद्धयः सम्भाव्यान्ते ताश्चाचिरेण शुद्धिपत्रसन्निवेशनेनापनेष्याम्यवश्यमिति निश्चिन्वानोविरमामि निरर्थकाद्विस्तरादिति । साम्प्रतं शुद्धिपत्रसन्निवेशनकार्यम्प्रवृत्तमस्तीति च विज्ञैर्विज्ञेयमिति ॥

निवेदको—
विदुषामाश्रवो
श्रीमुकुन्दझावख्शी (म० म०)

---

(१) वस्तुवस्त्वेतद्वचनजातमाधुनिकैरामगोहनरायमहाशयै–"ब्रह्मसमाज" नामकाभिसंस्थाप्रवर्तकैरुपनिबद्धमागमाम्नायं दूषयतीति विजानन्ति विज्ञाः ।

॥ श्रीः ॥

सटीकश्रीशारदातिलकस्य

विषय सूची ।

द्वितीयः पटलः

* टीकोक्तविषयाः

मूलोक्तविषयाः — पृष्ठाङ्कः

तृतीयः पटलः

सप्तदशः पटलः

अष्टादशः पटलः

अथ शारदातिलकम्

श्रीमद्राघवभट्टकृतपदार्थादर्शटीकासहितम् ।

नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद् ।
व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत् ॥

श्रीगणेशायनमः ।

श्रीकण्ठं निजताण्डवप्रवणताप्रोद्दाममोदोदयम्
पश्यन्त्याः कुतुकाद्भुतप्रियतया संजातभावं मुहुः ।
मन्दान्दोलितदुग्धसिन्धुलहरीलीलालसंलोचन-
प्रान्तालोकनमातनोतु भवतां भूतिम्भवान्याः शुभाम् ॥ १ ॥
संसेव्यमानमृषिभिः सनकादिमुख्यै र्योगैकगम्यमविनश्वरमादिभूतम् ।
संसारदृङ्निगमसारविचारसारं शैवं महो मनसि मे मुदमादधातु ॥ २ ॥
भद्राय भवतां भूयाद्भारती भक्तिभाविता ।
स्मृतेरुज्जृम्भते यस्या वाग्विलासोऽतिदुर्लभः ॥ ३ ॥
शारदातिलके तन्त्रे गुरूणामुपदेशतः ।
पदार्थादर्शटीकेयं राघवेण विरच्यते ॥ ४ ॥
संप्रदायागतं किञ्चिद् गणितागमसंमतम् ।
यदुक्तमत्र तत्सन्तो विचारयितुमर्हथ ॥ ५ ॥
पिशुनो दूषकश्चेत्स्यान्न तद् दोषाय दूषणम् ।
दोषावहाहिविकृतिर्न, स्वभावो हि दुस्त्यजः ॥ ६ ॥

अथेश्वरः सर्वा अपि श्रुतीर्भवपाशबद्धानां जन्तूनां स्वर्गाय मुक्तये च समुपदिशति स्म । अन्येषां तु स्मृतिशास्त्रादीनां तन्मूलकत्वेन तदर्थप्रतिपादकत्वेन च प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धतरम् ॥ अस्यास्त्वागमस्मृतेः कथं तन्मूलकत्वम्? अन्यच्च तैरेव विशेषेण पर्यालोचितैः स्वर्गोऽथ वा मुक्तिरपि भविष्यतीति किमनयेति प्राप्ते, *ब्रूमः* । "स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेये"ति । तथा "ततो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्वे"त्युपक्रम्य "आनन्दाद्ध्येवं खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दंप्रयन्त्यभिसंविशन्ती"त्यादि—"इदं सर्वं यदयमात्मैवे"त्यन्तेनोपसंहृतम् । अतः "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये" इत्युक्तत्वात् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां स्वलीलारूपानाद्यनिर्वाच्याऽविद्यासहायसंपन्नं परमानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धस्वभावं परब्रह्मैव स्वात्मविवर्त्तरूपं सकलं जगत् ससर्जेति श्रुतिवाक्यप्रतिपादितोऽर्थः । नन्वस्तु जगत्सृष्टिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणः, अनाद्यविद्याङ्गीकरणं किमर्थमिति चेन्न । तया विनाऽसङ्गस्य तत्कारणतैवानुपन्ना, तथेममर्थं श्रुत्यागमावपि वदतः—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति । "शिवो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन" इति । एवं जाते जगति निजकर्म्मपाशबद्धा जन्तवोऽनात्मज्ञा उत्पत्तिमरणप्रवाहपतिता नाशक्नुवन् संसारसिन्धुं तरीतुम् एवंभूता न्तानवलोक्य परमकरुणतया किञ्चिदुपाधिविशिष्टः सर्वाः श्रुतीः समुपदिशति स्म । तत्र सर्वासु श्रुतिषु काण्डत्रयं कर्मोपासनाब्रह्मभेदेन । तत्र कर्मकाण्डे जैमिनिप्रभृ-

शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतम् ।
तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः ॥ १ ॥

तिभिः सम्यक्तया विवृतम् । इदमुपासनाकाण्डं नारदादिभि,र्ब्रह्मकाण्डं भगवद्व्यासादिभिरिति स्मृ(श्रु)तिमूलकता अस्य प्रत्यक्षोपलब्धा । श्रुतिमूलकता तु रामपूर्वोत्तरतापिनीयनृसिंहपूर्वोत्तरतापिनीयसौराष्टाक्षरशैवपञ्चाक्षरात्मिका च साक्षाच्छ्रुतिरुपलभ्यत एव । तत्र कर्मकाण्डे सर्वोऽप्यधिकारी । मुमुक्षोरपि तत्त्वज्ञानपर्यन्तं स्वचित्तशुद्ध्यर्थं प्रत्यवायपरिहारार्थं च कर्मकरणेऽधिकारसंभवात् । तद्वदुपासनाकाण्डेऽपि । यतः साकारोपासनातः स्वर्गादि बहु फलं भवति क्रमतो मुक्तिश्च, कर्मकाण्डात्तु स्वर्गादिफलं बहुतरव्ययाऽऽयासेन भवति । ब्रह्मकाण्डात् मुक्तिरपि आदरनैरन्तर्यदीर्घकालाभ्याससाध्याऽनेकेषु जन्मसु तादृशेष्वेव गतेषु भवति । "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि"ति वचनादत एतदुपासनाकाण्डमेवागमशास्त्रात्मकं गरीय इति सिद्धम् । तत्रोत्पलाचार्यपूज्यपादशिष्यश्रीलक्ष्मणाचार्यः पूर्वतन्त्राणामनेकेषामेकैकमन्त्रविधानकथनप्रवृत्तानामतिविततानां गम्भीराणामिदानीन्तनानामल्पमतीनामल्पायुषामेकस्मिन्सर्वमन्त्रविधानमभीप्सूनां पुंसामशक्त्या दुरवगाहत्वमवलोक्याऽतिकृपालुः शारदातिलकतन्त्रं चिकीर्षुश्चिकीर्षितस्याविघ्नेन समाप्त्यर्थं प्रचयगम(१)नार्थं च सकलशिष्टैकवाक्यतया"ऽभिमतकर्मारम्भसमये तत्समासिकामैर्मङ्गलमाचरणीयमि"ति सदाचारानुमितश्रुतिबोधितं परदेवतानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमुपनिबध्नन्नाह—*नित्येति* । तन्महोऽनिशंवोऽव्यादित्यन्वयः । तन्मह एतावतैव परदेवतानुस्मरणस्य सिद्धौ सत्यासत्यस्य पदस्य यत्किंचित् क्रियापेक्षायां विघ्नोपशमनद्वाराऽभिलषितफलवितरणप्रवणत्वरूपावनक्रियानिर्देशेन देवतासांमुख्यं दर्शितम् । तत्र सामान्यकर्मसम्बन्धे प्राप्ते क्रियमाणग्रन्थस्य निर्विघ्नपाठमभिप्रेप्सोः शिष्योपरि कृपां सूचयतो व इति कर्म निर्देशः । वो युष्मान् शिष्यान् पातु इत्यर्थः । एषामेवात्र संबोधनयोग्यत्वात् संबोधनप्रधानत्वाच्च युष्मदर्थस्य यतः शिष्यकृपयैव विदितवेद्य आचार्यो ग्रन्थकरणे प्रवृत्तः । तथाच तेषां कञ्चित्कालमवने सिद्धे निर्विघ्नं पाठसमाप्तावपि तच्छिष्यद्वारा प्रचारमिच्छोरनिशमित्युक्तिः, एतेन सर्वदाऽवने सिद्धे स्वशिष्याणां तच्छिष्याणामपि च निर्विघ्नपाठसिद्धौ ग्रन्थप्रचारो भविष्यतीत्याशयः । किं तन्मह इत्यपेक्षायामाह—*नित्यानन्दवपुरिति* । नित्यो योऽयमानन्दः स वपुर्यस्य । एतेन शक्त्यसंभिन्नं परशिवस्वरूपमुक्तम् । ननु "शक्त्याविना शिवे सूक्ष्मे नामधाम न विद्यते" इत्युक्तेर्निर्गुणस्यासङ्गस्य निराकारस्य तस्य कथमवनक्रियाकर्तृत्वमित्याह—*वाचामधीशमिति* । अनेन शक्त्युपहितं सदाशिवात्मकं रूपं वागुपदेष्टृत्वेनोक्तम् । ननु वागुपदेष्टृत्वं चतुर्मुखोपाध्युपहितस्यापि वर्त्तते, तन्निवृत्त्यर्थमाह—*शशाङ्कसदनमिति* । शशाङ्कस्य चन्द्रस्य सदनं स्थानं चन्द्रकलावतंसमित्यर्थः । शब्दसृष्टेरत्र मुख्यत्वात् मन्त्रमयं तत्स्वरूपं सूचयति, *अनिशं शशाङ्कसदनमिति* पदाभ्याम् । अः विष्णुस्तेन संकर्षणस्तेन औ ए(तेन) तत् सहिता निशा हकारो यत्रेत्युत्तरपदलोपी बहुव्रीहिस्तेन हाविति सिद्धम् । शशाङ्केत्यादिना बिन्दुरुक्तः, वागैश्वर्यमुपबृंहयन् वक्ष्यमाणां शब्दार्थसृष्टिं सूचयन् व्यापकतामाह *येनचराचरात्मकमिदं* स्थावरजङ्गमात्मकं शब्दार्थरूपं जगत् क्रमाद् व्याप्तम् कैः ? निरन्तरमनवरतं गलन्तो व्यक्तीभवन्तः पञ्चाशदर्णा वर्णास्तैः । अत्र "समासे वर्णशब्दस्य वा वलोपो वक्तव्य"इति वर्णशब्द इव वलोपे अर्णशब्दो वर्णवाची । केचन नित्येत्याद्यर्णैरित्यन्तमेकमेव पदमित्याहुः । अत्र वर्णानामेकपञ्चाशत्त्वेपि सामीप्यसम्बन्धेन लक्षणया पञ्चाशत्त्वमुक्तम् । अन्वयानुपपत्ति-

(१) प्रचयोनाम शिष्यपरम्परा तत्र गमनमेतदाचरणस्य । तस्मै इतितदर्थः । मदीयमङ्गलन्दृष्ट्वा मच्छिष्या अप्येवंकुर्युरिति ।

वत्तात्पर्यानुपपत्तेरपि लक्षणाबीजस्याभ्युपगतत्वात्। अथवा "मकारः पुरुषो यतः" इत्युक्तेः तस्य स्वस्वरूपत्वात् पञ्चाशदित्युक्तिः। यद्वा क्षकारस्य कषसंयोगात्मकत्वात् तयोरुपदेशेनैवास्योपदेश इत्यपुनरुक्तं पञ्चाशद्ग्रहणम्। यद्वा विसर्गस्य केवलशक्तित्वात् पञ्चभूतात्मकत्वाभावात् सर्ववर्णोत्पत्तिहेतुत्वाच्च तं त्यक्त्वा तथोक्तिः। तदुक्तं—"अमा(१)योऽनन्त्य एव चे"ति। क्वचिद्वाह्येऽपि तावतामेवोपयोगाद्वा तथोक्तिः। यद्वा मूलाधारादि–आज्ञान्त–षड्चक्रेषु पञ्चाशद्वर्णानामेव स्थितत्वात् पञ्चाशदित्युक्तिः। अनयोर्व्याख्यानयोर्बहिरान्तरभेदेन व्यवस्था-ज्ञेया। आन्तरस्य च मुख्यत्वात् शास्त्रे सर्वत्र मुख्येन व्यवहार इति ज्ञेयम्। अनेनान्तर्मातृकान्यासोऽपि सूचितः। सचान्त्यपटले कुण्डलिनीस्तुतौ स्फुटीभविष्यति। अतएव द्वितीयादिचतुर्विंशतिपटलान्तं यत्प्रपञ्चितं तत्सर्वं मातृकाविकार इत्यपि सूचितम्। ननु "सर्वव्यापी सदाशिवः"इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य स्वत एव सर्वव्यापित्वे कुतः कैरितिकारणापेक्षेति चेत्–सत्यम् तस्य स्वतएव सर्वव्यापित्वं किंतु अत्रशास्त्रे शब्दसृष्टेर्मुख्यत्वद्योतनाय निरन्तरगलत्पञ्चाशद्वर्णैरिति कारणतोक्तिः। किंच पूर्वमपि यत्किंचिच्छक्त्युपाधिविशिष्टत्वे वक्तव्ये वाचामधीशमित्युक्तिः। सा(२)पि। अत्र वर्णानामर्थरूपव्यापकतोक्तिरपि तत्र शब्दस्वरूपमभिव्याप्यैवार्थरूपं व्याप्नोतीति क्रमादिमादित्युक्तिः, तेषां शब्दरूपव्यापकता सम्भवत्येव अर्थरूपव्यापकता तु सर्वस्याप्यर्थस्य शब्दप्रकाश्यत्वनियमात् ज्ञेया। तदुक्तं भगवता *भर्तृहरिणा*—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गृ(३)ह्यते"इति। अथवा येषां मते शब्दार्थयोरभेदस्तन्मतमालम्ब्योक्तम्। तदुक्तं *तेनैव* "एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थौ वा पृथक् स्थिताविं"ति। अतएव मन्त्रदैवतयोरैक्यमत्रशास्त्रे। अतएव पूर्वं सदाशिवमन्त्रोद्धारः। यद्वा शक्तिसंभिन्नत्वात् तस्य शक्त्यंशत्वेन शब्दरूपव्यापकत्वं शिवांशत्वेनार्थरूपव्यापकत्वं ज्ञेयम्। तदुक्तं *वायवीयसंहितायां* "शब्दजातमशेषं तु धत्ते शङ्करवल्लभा। अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः"इति। एतत्पक्षे तृतीया उपलक्षणत्वेन योज्या। उपलक्षणत्वं च तदुत्पन्नत्वात्तेषां, शब्दसृष्टिप्राधान्यमेवोपबृंहयन्नाह—*सुकृतिनो यदन्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्मेत्यूचिरे इति*। सुकृतिनस्तत्त्वज्ञास्तादृशा इत्यर्थः। "चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः" इति वक्ष्यमाणत्वात्। तस्य सर्वव्यापित्वात् तदंशस्यैव सर्वजन्तुचैतन्यरूपत्वाच्छब्दब्रह्मता सम्भवत्येव। किंच यस्मात् बिन्दोः शब्दब्रह्मण उत्पत्तिस्तस्मादेव बिन्दोः सदाशिवस्याप्युत्पत्तिरित्यपि। तत्र शब्दसृष्टौ शब्दब्रह्मेत्युक्तिः। अर्थसृष्टौ सदाशिव इति परं विशेषः। "भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्। शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः" इति। "अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः। अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिव" इति वक्ष्यमाणत्वात्। अथवा हेतुहेतुमद्भावेन योजना कार्या। यतः सुकृतिनः यत् अन्तर्गतं चैतन्यं शब्दब्रह्मेत्यूचिरे। अतो येन निरन्तरगलत्पञ्चाशद्वर्णैर्जगद् व्याप्तमिति। "तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्। वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः" इति वक्ष्यमाणत्वात्। अन्ये त्वन्यथा योजयन्ति—यत्परमशिवस्वरूपं सुकृतिनो वेदान्तिनः तच्छशब्देन ब्रह्मेत्यूचिरे। अयमर्थः। अस्माभिः परमशिवं इत्युच्यते, तैस्तु ब्रह्मेत्युच्यते इति शब्दमात्रेण परं भेदः। वस्तुतस्तु नित्यानन्दादिस्वरूपत्वं तैरप्यस्माभिरप्यङ्गीक्रियत एवं। तत्कीदृक्?—*वाचामधीशम्,* "यस्य निश्वसितं वेदा" इत्यादिश्रुतेर्वाचामधीशत्वं प्रसिद्धमेव। यतो वाचामधीशमत एव निरन्तरगलत्पञ्चाशद्वर्णैर्येन जगद् व्याप्तमिति यथासम्भवं तत्रापि योजनीयं, यतो वेदस्य वर्णमयत्वात्। इत्येकाव्याख्या। यद्वाऽत्र शास्त्रे शब्दसृष्टेरिवार्थसृष्टेरपि कुण्डलिन्या एवोत्पत्तेस्तस्या

---

(१) माया—विसर्गः। (२) शब्दसृष्टेर्मुख्यत्वद्योतनायेत्यन्वयः प्राक्।

(३) भासते इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः।

एव "कुण्डली परदेवते"ति परदेवतात्वोक्तेस्तदनुस्मरणमेवोचितमिति। महः शब्देन तेजो रूपा कुण्डलिनी उच्यते। "आदित्येन्द्वादितेजोमयद्यत्तत्तन्मयोविभुरि"त्युक्तेः। सा कीदृक्? *नित्यानन्दवपुः* । असावेवान्त्ये पटले कुण्डलीस्वरूपं वक्ष्यति "नित्यानन्दमयी गलत्परसुधावर्षैरि"त्यादिना। येन यया कुण्डल्या शब्दार्थरूपं परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीरूपत्वेन शब्दजनकत्वात् कार्यकारणोपचाराच्छब्दरूपं, विषयत्वादर्थरूपम्। स्वभावेन चरं, पृथिव्यंशाधिक्यात्कार्यकारणोपचारादचरमेवम्भूतं गच्छतीति जगद्विनश्वरं शरीरं व्याप्तं यत् यया शब्दार्थरूपं चराचरात्मकं जगद्विश्वं व्याप्तं "सर्वगा विश्वरूपिणी। दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने"त्यग्रत उक्तेः। कैः? *निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः* "पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकां सूते" इतिवक्ष्यमाणत्वात्। *सुकृतिनः* पुण्यात्मानस्तत्त्वज्ञाः। इत्यर्थः। यां शब्दमयीमाहुः। "सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुरि"ति वक्ष्यमाणत्वात् *चैतन्यं* चिच्छक्तिस्तद्रूपा। अयमेव वक्ष्यति "ततश्चैतन्यरूपा से"ति। *अन्तर्गतम्* सुषुम्णान्तर्गतमित्यर्थः। "या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगते"त्युक्तेः। *शशाङ्कसदनं* सहस्रारेन्दुमण्डलगतत्वा*द्वाचामधीशं* सर्वशब्दोत्पादकत्वात्। सर्वमन्त्रोत्पादकत्वाच्च, तथाऽयमेव वक्ष्यति "विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्" इति, यद्वा वाचामधीशं वाग्भवरूपेत्यर्थः। "शक्तिः कुण्डलिनीति या निगदिता आईमसंज्ञे"त्युक्तेः। यद्वाऽत्र ग्रन्थारम्भे सरस्वतीदेवता तस्या एव स्मरणात् ग्रन्थरूपा स्फूर्तिर्भवित्री। किंचात्र ग्रन्थे प्रथमतः सरस्वतीमन्त्राणामेव वक्ष्यमाणत्वात् तेन सरस्वतीदेवतानुस्मरणमेवोचितमिति *तद्वाचामधीशं महः* सारस्वतं तेजः वोऽव्यात्। अथ च वाचामधीशमित्यनेन केवलं वाग्भवस्य सरस्वतीमन्त्रत्वमुक्तम् "एतज्जपन्नरवरोभुवि वाग्भवाख्यं वाचां सुधारसमुचां लभते स सिद्धिमि"त्युक्तेः। तत्कीदृक्? *शशाङ्कसदनम्* अनेन चन्द्रकलावतंसत्वेन ध्यानमुक्तम्। यदाहुः "धृतशशधरखण्डोल्लासिकोटीरचूडा भवतु सपदि वाचामीश्वरी भूतये व" इति। पुनः कीदृक्? नित्यं सर्वदा आनन्दयतीत्यानन्दम् आनन्दजनकं वपुर्यस्य तत्। साधकानां सुधारससहोदरसरससूक्तिसंस्फुरणादाह्लादजनकमित्यर्थः। तथा च सरस्वतीस्तवे *आचार्य्याः* "क्षौमाम्बरपरिधाने मुक्तामणिभूषणे मुदावासे" इति। पुनः कीदृक्? *चैतन्यमन्तर्गतम्* अनेन सूक्ष्मापरपर्याया पराख्या उक्ता। यदाहुः "स्वरूपज्योतिरेवाहुः सूक्ष्मा वागनपायिनी"ति। अन्यत्रापि "सूक्ष्मा कुण्डलिनी मध्ये ज्योतिर्मात्रा परा मते"ति। येन महसा निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः चराऽचरात्मकं शब्दार्थरूपं जगद् व्याप्तम्। अत्र पञ्चाशदर्णैरित्यनेन वर्णरूपा पश्यन्ती उक्ता। शब्दार्थरूपमित्यनेन पदरूपा मध्यमा उक्ता। यत्सारस्वतं महः सुकृतिनः शब्दब्रह्मेत्यूचिरे। अत्र शब्दब्रह्मशब्देन वेदा उच्यन्ते। तेन वेदात्मकमित्यर्थः। तदुक्तं वार्तिककारपादैर्ब्रह्माधिकरणे "शब्दब्रह्मेति यद्वेदशास्त्रं वेदाख्यमुच्यत" इति। अनेन वाक्यरूपा वैखरी उक्ता। यदाहुः "ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्। यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वागधीशामुपास्महे" इति। अन्यत्रापि(१) "आदिक्षान्तविलासलालसतया तासान्तुरीया तु या क्रोडीकृत्य जगत्त्रयं विजयते वेदादिविद्यामयी"ति। अपरेत्वत्र ग्रन्थकर्त्रा (कृता) भैरवीमन्त्रोद्धारः कृत इति वदन्ति। यद्यथा—तत् त्रैपुरं महोऽव्यात्। कीदृक्? अगलत् अविनश्वरम्। पुनः कीदृक्? नित्यानन्दवपुः। नित्यः पुरुषः तेन हकारः। आनन्दयतीति आनन्दोत्पादकत्वाद्वा आनन्दः शक्तिः। तेन सः। एतौ वपुः शरीरं यस्य। एतेनैतयोर्बीजत्रयेऽपि सत्त्वमुक्तं भवति। अन्तः मध्ये मध्यबीजमित्यर्थः। तत् कीदृत्? क्रमात् कश्च रश्च मश्च करमाः तानतति लक्षणया गृह्णातीति क्रमात्तेन ककारः। तदधो लकारः। अत्र रेफेण लकारस्य ग्रहणं व्याकरणपरिभाषया। उक्तञ्च "रेणलोऽपि च इष्यते ग्रहणं तेने"ति। *संहितायामपि*

(१) सकलागमाचार्यचक्रवर्तिश्रीपृथ्वीधराचार्यैर्भुवनेशीस्तोत्रे।

"अतएव महेशानि रलयोः समता भवेदि"ति । तदधो मकारः पुरुषः । तेन हः । पुनः कीदृक् ? अन्तर्गतम् अन्ते रः गतः संगतो यत्र तत् । पुनः कीदृक् ? व्याप्तं विः चतुःसंख्या तेन चतुर्थस्वरः । तेन आप्तं गृहीतम् । अत्र गन्थकृतो वाररुचःसंकेतोऽभिप्रेतः स द्वितीयपटले स्फुटीभविष्यति । "निध्वनेऽपि शून्यं ज्ञेयमि"ति वा वाररुचः संकेतः । तेन शून्यं तस्य बिन्दुरूपत्वाद्बिन्दुरुद्धृतः, एतेन षट्कूटं मध्यबीजमुद्धृतम् । अतएव वक्ष्यते "षट्कूटं त्रिपुरामन्त्रमि"ति । एवं मध्यमबीजमुक्त्वा प्रथमबीजे हकारसकारयोः पूर्वमेवोक्तत्वात् । ऐच-ऐकारोपि योजनीयः । कीदृक् प्रथमं ? शशाङ्कसदनम् । एतेन बिन्दुस्थं प्रथमबीजमुद्धृतम् । अन्त्यं कीदृक् ? शब्दार्थरूपम् । अत्र शब्दशब्देन शब्दादयो गृह्यन्ते अर्थशब्दो विषयवाचो । तेनशब्दादयो विषयास्ते च दशेति दशसंख्या, तया औकरः । तद्रूपं यत्र तत्तथा, अन्यच्च "अङ्कानां वामतो गतिरि"त्युक्तेर्वा वाररुचसंकेतेन तकारस्य षट्संख्या "पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्का"इत्युक्तेर्न्य इति यकारस्यैकोऽङ्कः । एवं षोडश तेन विसर्गः । एवं तृतीयं बीजमुद्धृतम् । तदुक्तं *सिद्धेश्वरीमते* "हंसाख्यौ(१) दन्त्यसकारयुक्ता वस्वब्धिपङ्क्तिस्वरसंविभिन्नाः । अन्त्यो विसर्गी इतरौ सबिन्दू मध्यो विरिञ्चीन्द्रहराग्नियुक्त" इति । अथच ऐचेति स्वतन्त्रतया निर्देशात् व्याप्तमित्याप्तशब्दग्रहणात् शब्दार्थरूपशब्दोपादानात् केवलाख्यः स्वरा एवास्य मन्त्रस्य चेतनीमन्त्र इति सूचितम् । यदाहुः, "शिवा(२)ष्टमं केवलमादिबीजं भगस्य पूर्वाष्टमबीजमन्यत् । परं शिरोऽन्तं गदिता त्रिवर्णा संकेतविद्या गुरुवक्त्रगम्ये"ति ॥ उक्तबीजानां क्रमेण वाग्भव-कामराज-शाक्त-त्वमाह-*वाचामधीशमिति* अनेनाद्यस्य वाग्भवत्वमुक्तं *चराचरात्मकं जगद्येनेति* मैथुनसृष्टेरुत्पन्नत्वात् जगतो, मध्यमबीजस्य कामराजतोक्ता । सुकृतिनः यत् अन्त्यबीजं शब्दब्रह्मेत्यूचिरे इत्यनेनान्त्यस्य शाक्तत्वमुक्तम् । "त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी" इति वक्ष्यमाणत्वात् । यदुक्तं *सिद्धेश्वरीमते,* "वाग्भवं प्रथमं बीजं कामराजं द्वितीयकम् । शक्तिबीजं तृतीयं तु चतुर्वर्गफलप्रदमि"ति । अथ "ओंतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत" इत्युक्तेः शब्दात्मकं ब्रह्म शब्दब्रह्मेति प्रणवं चराचरात्मकं जगद्येनेति मैथुनसृष्टेः कामादुत्पत्तेः कामबीजं, वाचा नकारः बृहत्तत्त्वन्यासे नकारेण सह शब्दतत्त्वन्यासात् । मश्च धीशक्तिरूपः । ईशः प्रभुः । अनेन विसर्गः, "माया शक्त्यभिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुरि"त्युक्तेः । एवं नमःशब्दः । एवंमस्य मन्त्रस्याह्लादिनीमन्त्र उक्तः । यदाहुः "कमलं(३) परिलुप्तमध्यमान्त्यस्वरमीशादियुतं सबिन्दुनादम् । निगमादि नमोऽन्तरे विराजद् भुवि देवीहृदयं प्रदिष्टमेतदि"ति । त्रयाणां बीजानां सामान्येन विशेषणमाह-*अनिशमिति* न विद्यते निशा हकारो यत्र । "आदावि"ति शेषः । केशवादिन्यासे निशा हकारशक्तिस्तेनादौ हकाराभावे सकारस्यादित्वमुक्तं, तेनादौ सकारः पश्चात् हकारः । यद्वा निरित्यनेनेव आद्यबीजस्यापि बिन्दोरुद्धृतत्वात् अनिशं हकाररहितं शशाङ्कसकनं शशाङ्कः सः सदने स्थाने यस्य । अनेन हकारस्थाने सकारः । तदधो ह-

---

(१) अस्यायमर्थः । हंसाः हकारात्रयः । कीदृशाः ? संयुक्ताः । तथा क्रमात् वस्वब्धिपङ्क्तिस्वरैः क्लीवान् विनाऽष्टम ऐ । चतुर्थ ई । दशम औ । तैर्युक्ताः, विशेषमाह-तृतीयो-विसर्गयुक्तः । इतरौ प्रथमद्वितीयौ सानुस्वारौ । मध्यः पुनः विरिञ्च्यादियुक्तः विरिञ्चिः कः । इन्द्रो लः । हरो हः अग्नी रेफः । एतैर्युक्तः । इदं षट्कूटं मध्यबीजम् । इयं त्रिबीजा भैरवी ।

(२) शिवउः । तदष्टम ऐ । भगमे । ततोविलोमाष्टममीशिरोऽन्त्ये यस्येत्यौ ॥

(३) परिलुप्तौ मध्यमान्त्यस्वरौ यत्रेदृक्कमलम् । तथा ईशउः । तदादिरी तेन युतं सानुस्वारं च । कमलेतिशब्दे म-लगताकारस्यलोपे ईबिन्दुयोगे च कामबीजम् । तत्कीदृक् ? प्रणवनमसोरन्तःस्थितम् ॥

स्त्वर्थादायातः। *उक्तंच* "भैरवीयमुदिताकुल(१)पूर्वा दैदिकैर्यदि भवेत्कुल(२)पूर्वा। सैव शीघ्रफलदा भुवि विद्येत्युच्यते पशुजनेष्वतिगोप्ये"ति। अनेनास्य मन्त्रत्वं विद्यात्वमप्युक्तं *यत्पिङ्गलामते* "शक्त्याद्या तु भवेद्विद्या शिवाद्यो मन्त्र उच्यते। दीक्षाभिषेकपूता तु प्राणिनां भुक्तिमुक्तिदा" इति। अन्यदपि बीजत्रयसामान्यविशेषणमाह—*पञ्चाशदर्णैरिति* उपलक्षितमित्यर्थः। अनेन सर्वस्य मन्त्रस्य मातृकान्तरितत्वेन जप उक्तः। यदाहुः—"मन्त्रराजममुं समस्तजगद्विमोहनकारणम्। मातृकान्तरितं जपेदनुलोमतोऽपि विलोमत" इति। अथवा अनेन विशेषणेन च हहसैं, सहसैं इत्यादि, डहसकलहरइं ढहसकलहरईं। इत्यादि। अहसौः। आहसौः इत्याद्यन्तर्मातृकान्यासोऽपि सूचितः। यदाहुः "क्रमेण षट्चक्रवर्णान् तद्दलेषु प्रविन्यसेत्। चक्रद्वयक्रमेणैव देवीरुद्धांश्च मन्त्रवि"दिति। *अन्यत्राऽपि* मूलाधारकथनप्रस्तावे "चतुर्ब्जपत्रेतु देवीनिरुद्धान् जलेन्द्राग्निवायून्न्यसेत्केवलान्वा। सबिन्दूनमन्दप्रभावान् प्रसिद्धानि"ति। अथवा पञ्चाशच्छब्देन सामीप्यसम्बन्धेन लक्षणया एकपञ्चाशद्ग्रहणे तैरुपलक्षितमित्यनेन बीजत्रयस्यापि दीपिन्युद्धारः सूचितः। तत्र प्रथमबीजदीपिनी तु व्यञ्जनस्वरैः पृथक्कृतैः सप्तदशवर्णात्मिका, द्वितीयबीजदीपिनी तु पूर्ववदेव पञ्चविंशत्यक्षरा, तृतीयबीजदीपिनीपूर्ववन्नवाक्षरा, एवमेकपञ्चाशद्वर्णात्मका वर्णास्तत्र द्वितीयतृतीययोः क्षकारस्य सत्त्वात् तस्य च एकमेव व्यञ्जनं गृहीतं मातृकायां पृथगुपदेशात्। यद्ययं व्यञ्जनद्वयात्मैव स्यात्तदा ज्ञ—वदस्यापि पृथगुपदेशो न स्यात्। तयोरेव बिन्दुद्वयमस्ति तदपि न पृथग्गणितं तादृशस्यैव पञ्चदशस्वरत्वात्। प्रणवेऽपि बिन्दुः प्रणवान्तर्गत एवेति न पृथग्गणित इति सर्वमनवद्यम्। अयं च दीपिन्याद्युद्धारो ग्रन्थकृताऽत्र सूचितः। मया तु भैरवीपटले स्फुटीकरिष्यते। अथवा बालामन्त्रोद्धारो ग्रन्थकृतोऽभिप्रेत इति यतो भैरव्यादीनामपि स एव मूलभूतः। यदाहुः बालामुक्त्वा—"विद्यामूलोत्पत्तिरेषा मयोक्ता ज्ञातव्येयं देशिकैः सिद्धिकामै"रिति। तद्यथा—वाचामधीशमिति वाग्भवम्। अन्तः मध्ये मध्यस्थं क्रमात् कश्च रश्च मा लक्ष्मीस्तेन ईकारः। रेण पूर्ववद् लस्य ग्रहणं, निरिति बिन्दुः। एवं मध्यमं बीजं, शशाङ्कः सकारः। सत्औंकारः। अकारो नकारश्च शून्यद्वयं तेन विसर्गः। "नेजि च शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथितमि"त्युक्तेः। सत्शब्देव कथमोङ्कारग्रहणमिति चेदुच्यते। ओंकारस्य ताव"दोन्तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत" इत्युभयोर्ब्रह्मवाचकत्वात् "सदोंकारो निगद्यत" इत्युक्तेश्च सच्छब्दवाचकता। सोऽत्राकृतपररूप एव केवलं विवक्षितः। स च सामीप्यसम्बन्धेनाग्रिमस्य लक्षकः। यद्वा "तस्यैवौकारयोगेन स्यादौकाराह्वयःस्वर" इति आचार्योक्तेरोकार एवंविधः स्वजन्यौकारस्य लक्षकः। यद्वा शशोशशस्वरूपमस्मिन्निति मत्वर्थीयोऽच्। तेन शशश्चन्द्रः। तेन सः। शशन् गमनशीलः शशो हंसस्तेन वा सः। अङ्कशब्देन पिण्डन्यायादकारः। यथा स वामदृक् "पवनगुणान्वितः कर"एत्यत्र करशब्देन ककारः। यथा हरिहयषष्ठवत्। वनमित्यत्र वनशब्देन वकारः सच्छब्देनोङ्कारएव तस्य पूर्वेण सह सन्धावौकारोऽनाभ्यां विसर्गः। ननु प्रणवस्य सबिन्दुकत्वात् बालान्त्यबीजे ग्रन्थकारो विसर्गमात्रं वक्ष्यति अत्र च बिन्दुविसर्गावुद्धृताविति विरोध इति चेत् न, बालाया मन्त्रभेदेषु क्वचिद्बिन्दुः क्वचिद्विसर्गः क्वचिद्बिन्दुविसर्गावप्युद्धृतौ तदपि सूचयितुमत्रेद्गुद्धारः कृतः। यदाहुः *सनत्कुमारे* "अष्टमस्य तृतीयं तु चतुर्दशसमन्वितम्। दण्डकुण्डलमेतद्धि सारस्वतमुदाहृतमि"ति। अन्यत्रतु "दन्ता(३)न्तेन युतं तु दण्डिसकलं सम्मोहनाख्यं कुलमि"ति। अन्यव्

---

(१) अकुलं हस्ततपूर्वा॥ (२) कुलं सस्ततपूर्वा भैरवी शीघ्रसिद्धिदा।

(३) दन्तान्तऔ दण्डि—सानुस्वारम्। सकलं सविसर्गः कुलं सः। एतत्सम्मोहनसञ्ज्ञं बीजम्।

अन्तःस्मितोल्लसितमिन्दुकलावतंस-मिन्दीवरोदरसहोदरनेत्रशोभि ॥
हेतुस्त्रिलोकविभवस्य नवेन्दुमौले-रन्तःपुरं दिशतु मङ्गलमादराद्वः॥२॥
संसारसिन्धोस्तरणैकहेतून्दधे गुरून्मूर्द्धिन शिवस्वभावान् ॥
रजांसि येषां पदपङ्कजानां तीर्थाभिषेकश्रियमावहन्ति ॥ ३ ॥

पूर्ववदिति संक्षेपः । एतच्च व्याख्यानद्वयं गुरुवचननियन्त्रितेन मया कृतमिति क्षन्तव्यं देशिकेन्द्रैः ॥ १ ॥

यदुपहितस्य सृष्टिकर्तृत्वं तामुपस्तौति-*अन्तरिति* । नवेन्दुमौलेरन्तःपुरं वो मङ्गलमादराद्दिशत्विति योजना । अत्रापि वो मङ्गलं दिशतु इत्यनेन शिष्ये कृपासूचिता । यद्यपि तत्त्वतः शैवदर्शने "न शिवेन विना शक्तिर्न्नशक्तिरहितः शिवः । न तत्त्वतस्तयोर्भेदश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव" इतिशक्तिशिवयोरैक्यमेव तथापि द्वितीयेन विना सृष्ट्यनुपपत्तेः लीलागृहीतं देहं स्त्रीस्वरूपं वर्ण्यते । एतेन मैथुनसृष्टिः सूचिता । तस्य जगत्कारणतामाह—*त्रिलोकविभवस्य हेतुरिति* । चराचरात्मकत्वेन विस्तारो विभवः । कीदृशम् ? अन्तःस्मितोल्लसितम् कल्पितमिदं जगद्विलसतीति हास्यकारणम् । ईश्वरे साभिलाषतया वा हासः । एतेनास्या ईश्वरक्षोभकता सूचिता । किंच-"यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वद्र्धते" इति स्मृते र्दम्पत्यानुकूल्यतो विचित्रजगन्निर्माणं सूचितम् । पुनः कीदृक् ? *इन्दुकलावतंसम्* । अत्रावतंसशब्देन मुकुटाभरणमुच्यते । तथाच *नामलिङ्गानुशासने* "पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरेऽपि शेखरे" इति । पुनः कीदृक् ? *इन्दीवरोदरसहोदरेति* । एतेन सर्वातिशायिसौन्दर्यं वर्णितं, यद्वा नवेन्दुमौलेरन्तः पुरमित्यनेन भुवनेशीमन्त्र उक्तः । विशेषणैस्तदुद्धारः । त्रिलोकविभवस्य हेतुः शिवः तेन हकारः । अन्तःस्मितं प्रकाशो यस्यासावन्तःस्मितोऽग्निः । रेफः । तेन उल्लसितं युक्तम् । इन्दुकलावतंसमिति बिन्दुः । इन्दीवरोदरसहोदरे नेत्रे यस्याः सा लक्ष्मीः । तेन ईकारः । यद्वा इन्दीवरोदरस्य सहोदरं सुहृत् नेत्रं चन्द्ररूपं तच्च वाममिति दीर्घईकारः । तेन मिलित्वा भुवनेशीबीजम् ॥ २ ॥

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इत्यागमात्परदेताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्याप्राप्तावन्तरङ्गसाधनत्वावगमात् परदेवतयोः स्मरणानन्तरं गुरुनमस्कारमाह—*संसारेति* । शिवस्वभावान् गुरून् मूर्ध्नि दध इत्यन्वयः । शिवस्वभावान् शिवरूपानित्यर्थः । एतेन गुरुध्यानं तत्तद्देवतारूपतया कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । तदुक्तम् । "गुरुं न मर्त्यं बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु । कदापि न भवेत् सिद्धिर्न मन्त्रैर्देवपूजनैरि"ति । *अन्यत्राऽपि* । "तस्माद्देवं विदित्वा तु गुरुन्देवं च नान्यथा । त्रिकालप्रणिपातेन ध्यानयोगेन संयजेत्" इति । *अन्यत्राऽपि* । "ललाटे नयनं चान्द्रीं कलामपि च दोर्द्वयम् । अन्तर्विधाय वक्ष्या(त्स्या)मि गुरुं मर्त्यो महीतले ॥" इति । मूर्द्ध्नि दधे इत्यनेन गुरुध्यानं मूर्ध्नि कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । *तदुक्तं* "प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् । प्रसन्नवदनं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्" । इति । *अन्यत्रापि* श्रीमद्गुरुपदाम्भोजं मूर्द्धन्येव सदा स्थितम् । यः स्मरेत्सात्त्विकैर्भावैः सोऽचिरात् खेचरो भवेत्" । इति । गुरूनितिबहुवचनं पूजार्थं गुरु-परमगुरु-परमेष्ठिगुर्वपेक्षया वा । तथाच ग्रन्थकृद् *गुरुपङ्क्तिः* "श्रीकण्ठं वसुमन्तं श्रीसोमानन्दमुत्पलाचार्यानि"ति "लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजं च"-इत तच्छिष्याः । कीदृशान् ? *संसारसिन्धोस्तरणैकहेतूनिति* । अनेन विना गुरूपदेशं संसारतरणमशक्यमित्युक्तम् । *तथा च श्रुतिः*-"राचार्यवान् पुरुषो वेद सत्यम् तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे"दिति । *आगमश्च* । "अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः" इति । गुरुप्रणाममाहात्म्यमाह-*रजांसीति* । एतेन पापोपशमपूर्वकं गुरुनमस्कारः कर्त्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

सारं वक्ष्यामि तन्त्राणां शारदातिलकं शुभम् ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तेः प्रथमकारणम् ॥ ४ ॥
शब्दार्थस्त्रष्टृभिर्मुनिभिश्छन्दोभिर्दैवतैः सह ॥

अथ "सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजन" इत्युक्तेः शिष्यबुध्यनुकूलनार्थं ग्रन्थमाहात्म्यं प्रकाशयन् श्रोतृप्रवृत्तिनिमित्तभूतान् विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणो दर्शयति—सारमित्यादिश्लोकद्वयेन। तन्त्राणां सारं श्रेष्ठं संग्रहरूपं चेत्यनेनास्योपादेयताऽतिसंक्षिप्तता चोक्ता । तत्र *तन्त्राणामिति* वैष्णवशैवशाक्तगाणपत्यसौराणां यतः सारमतएव शुभं शब्दसंक्षेपेऽप्याकाङ्क्षितसकलार्थप्रतिपादकत्वमेव शुभत्वं धर्मार्थकामेत्यादिं वक्ष्यति तदुपयिको नामनिर्देशः। *शारदातिलकम्*—शीर्यत इति शारं स्थूलं कर्मफलं तद्ददातीति शरदा तत्तत्कारणत्वेन ब्रह्मविद्याऽधिरूढा सती द्यति खण्डयतीति वा शारदा चिच्छक्तिः। यद्वा शरः स्वतन्त्रं तस्य भावः शारं स्वतन्त्र्यं तद्ददातीति । अनाद्यविद्यां परिच्छेद्य जीवभावनिरासेन परमैश्वर्यप्रदायिका । तदुक्तं *गौतमेन—तन्त्रव्याकरणे ।* "शरः स्वतन्त्रं हृदयं स्फुरत्ता परमेशिता। शारश्चेत्युदिताः शब्दाः पर्यायाः स्वार्थ-(शब्द) वाचकाः" इति। तस्याः तिलको भूषणम्। अनेनोत्कृष्टता दर्शिता। तत्रापि भूषणान्तरं न भवति किन्तु तिलकरूपः। तेन यथा मुखे वर्त्तमानः तिलकः सर्वतः प्रथमं दृश्यो भवति तद्वयमपीत्यभिप्रायः। *प्रथमकारणं* यथा चास्य मुखत्वं तथा ग्रन्थसङ्गतिकथनप्रस्तावे अस्माभिः पूर्वमेव प्रपञ्चितं, शब्दार्थसृष्ट्यादिविषयश्चतुर्वर्गः फलम्। अनयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः। तदर्थी चाधिकरी। अस्य शास्त्रस्य च व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः। शास्त्रविषयस्य फलस्य च साध्यसाधनभावः सम्बन्धः। इत्याद्यन्योऽपि यथायथमूहनीयः॥४॥

सहेति—भिः सम्बध्यते *मुनिभिः* तपोयोगबलेन मन्त्रप्रथमज्ञातृभिः प्रथमाराधकैः। तदुक्तं *गौतमेन*। "महेश्वरमुखात् ज्ञात्वा गुरुर्यस्तपसा मनुम्। संसाधयति शुद्धात्मा पूर्वं स ऋषिरीरितः" इति। तथाऽन्यत्र—"येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै। मन्त्रेण तस्य तत्प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकम्" इति। छन्दः शब्दव्युत्पत्तिरुक्ताऽन्यत्र—"छादनात् छन्द उद्दिष्टं वाससी इवचाकृतेः। आत्मासंछादितो देवै र्मृत्योर्भीतैस्तु वै पुरा॥ आदित्यैर्वसुभीरुद्रैस्तेन च्छन्दांसि तानि वै" इति। *तथान्यत्रापि*। "मृत्युर्भीतैः पुरा देवै रात्मनश्छादनाय च। छन्दांसि संवृतानीह च्छादितास्तैस्ततो ऽमराः॥ छादनाच्छन्दउद्दिष्टं सर्वं छन्दोभिरावृतमि"ति। तत्तु गायत्र्यादि प्रसिद्धं, दैवतं तत्तन्मन्त्रोद्दिष्टम्। यदाहुः—"यस्य यस्य तु मन्त्रस्य उद्दिष्टा देवता तु या। तदाकारं भवेत्तस्य देवत्वं देवतोच्यत" इति। *दैवतैरिति* विनियोगस्याप्युपलक्षणम् तत्स्वरूपमुक्त मन्यत्र—"पुरा कल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च। अनेन चेदं कर्त्तव्यं विनियोगः स उच्यते"। इति। तथान्यत्रापि—"धर्मार्थकाममोक्षेषु शास्त्रमार्गेण योजनम्। सिद्धमन्त्रस्य संप्रोक्तो विनियोगो विचक्षणैः"इति। तत्ज्ञानाभावे दोषोऽप्युक्तोऽन्यत्र—"दौर्बल्यं याति तन्मन्त्रो विनियोगमजानतः"इति। छन्दऋषिदेवताज्ञानं मन्त्रसाफल्यार्थमवश्यमपेक्षितम्। तदुक्तं *छन्दोगानामार्षेयब्राह्मणे*—"यो ह वा अविदितार्षेय च्छन्दोदैवतेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा ध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छेति गर्त्तं वापद्यति प्रवामीयते पापीयान् भवति यातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ति। अथ यो मन्त्रं मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान्भवति अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्याद्दीपीणो सैस्थानो भवति, सस्थानो भवति ब्रह्मणः, स्वर्गं लोके महीयते स्मरन्वाजायते पुनरि"ति' *कात्यायनोऽपि* "एतान्यविदित्वा योऽधीते ऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयति वा तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अनु विज्ञायैतानि योऽधीते वीर्यवत्तरं, यो यथार्थवित्तस्य वीर्यवत्तमं, भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा फलं प्राप्नोती"ति "यश्च जानाति तत्त्वेन आर्षं छन्दश्च दैवतं-

त्रिभिश्च यन्त्रमन्त्राणां तन्त्रेऽस्मिन्नभिधीयते ॥ ५ ॥
निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ॥
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ ६ ॥
सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात् ॥

मि" त्यादिना ऽऽगमेपि ।*याज्ञवल्क्योपि* "आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगं तथैव च । वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ अविदित्वा तु यः कुर्याद्याजनाध्यापनं जपम् । होममन्यच्च यत्किञ्चि(१)त्तस्य चाल्पं फलंभवेत्"। इति। *विधिरिति* । न्यासजपपूजाहोमतर्पणाभिषेकसम्पातपातादिः । चकारः शब्दसृष्ट्यादिप्रधानाऽप्रधानस्य समुच्चये *मन्त्रयन्त्राणामिति* एकपदोपादानेऽपि मुन्यादीनां यथायोगं संबन्धः । तत्र मुनिच्छन्दसी होमतर्पणे च मन्त्र एव । देवतादीनि अन्यान्युभयत्रापि । संपातपातस्तु यन्त्रे तदुपलक्षितेषु प्रतिकृतिकुम्भ-शिलाप्रतिमागुलिकातैलघृतादिषु संबध्यते । एतानि देवतोपासकस्य स्थूलरूपतयोक्तानि । एषां सूक्ष्मं रूपं यथा-यदाहुः-"स्वात्मैव देवताप्रोक्ता मनोज्ञा विश्वविग्रहा । न्यासस्तु देवतात्मत्वात् स्वात्मनो देहकल्पना ॥ जपस्तन्मयतारूपभावनं सम्यगीरितम् । पूजा तु चञ्चलत्वेऽपि तन्मयत्वाप्रमत्तता ॥ होमो विश्वविकल्पानामात्मन्यस्तमयोमतः । एषामन्योऽन्यसंमेलभावनं तर्पणं स्मृतम् ॥ अभिषेकस्तु विद्या स्यादात्मैव स्वाश्रयो महान् । प्रयोगाः स्युरुपाधीनां हेतोः स्वात्मवि(२)मर्शनम् ॥ सन्ध्यासु भजनं तासामादिमध्यान्तवर्ज्जनम् । मोहाज्ञानादिदुःखानामात्मन्यस्तमयो दृढमि"ति ॥ ५ ॥

सृष्टिं वक्तुमुपोद्घातमाह-*निर्गुणइति* । सनातनो नित्यः शिवो निर्गुणः सगुणश्च ज्ञेयः ॥ आद्यस्य स्वरूपमाह-*निरिति* । प्रकृतेरन्यस्तत्संबन्धशून्यः । षष्ठ्या एवात्रप्राधान्येनोद्देश्यत्वात् तेन सूक्ष्म इत्यर्थः। अतएवान्यशब्दार्थाभावात् न पञ्चमीयं, तथा सत्यनुवादे पर्यवसाने स्यात्। तदुक्तं *प्रयोगसारे*। "नित्यः सर्वगतः सूक्ष्मः सदानन्दो निरामयः। विकाररहितःसाक्षी शिवो ज्ञेयः सनातनः" । इति । *नारायणीयेऽपि* "निष्क्रियं निर्गुणं शान्तमानन्दमजमव्ययम् । अजरामरमव्यक्तमज्ञेयमचल न्ध्रुवम्॥ ज्ञानात्मकं परं ब्रह्म स्वसंवेद्यं हृदि स्थितम्। सत्यं बुद्धेः परं नित्यं निर्मलं निष्कलं स्मृतमि"ति ॥ द्वितीयस्य स्वरूपमाह-*सइति*। सगुणः। *सकलः* कलाप्रकृतिस्तत्सहितः। सांख्यमते सत्त्वरजस्तमसां साम्याऽवस्था प्रधानापरपर्याया प्रकृतिः । अतएव सगुण इत्युक्तिः । वेदान्तनये तु अविद्या । शिवतन्त्रे शक्तिः । उक्तंच *नारायणीयप्रयोगसारयोः* "तच्छक्तिभूतः सर्वेशोभिन्नो ब्रह्मादिमूर्तिभिः । कर्त्ता भोक्ता च संहर्त्ता सकलः स जगन्मय" इति ॥ ६ ॥

सृष्टिमाह *सदिति* अविद्याशबलितत्वेन जडत्वेऽपि कथं तस्य सृष्टिकर्तृत्वमित्याशङ्कां वारयति-*सच्चिदानन्दविभवादिति* । अनेनाविद्योपहितत्वेऽपि तस्य न स्वरूपहानिरित्यर्थः । सकलात् शक्तिरासीत् इति योजना । शक्तिसहितादेव पुनः शक्तिः कथमासीत्? इति चेत्सत्यम् । या अनादिरूपा चैतन्याभा(ध्या)सेन महाप्रलये सूक्ष्मा स्थिता तस्याः गुणवैषम्यानुगुणतया सात्त्विकराजसतामसस्रष्टव्यप्रपञ्चकार्यसाधने उच्छूनावस्थात्वमेव उपचारादुत्पत्तिः। इयं च सदुत्पत्तिवादिसाङ्ख्यमतमाश्रित्य ग्रन्थकारस्योक्तिरिति ज्ञेयम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे* । "तस्माद्विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसम्भवा" इति । *वायवीयसंहितायामपि* । "शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता । ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव"

---

(१) "होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पं फलम्भवेदिति" मिताक्षरादिसम्मतः पाठः । अन्तर्जलादीनि-जलेमध्ये क्रियमाणान्यमघर्षणादीनीति तद्व्याख्यातारः ॥

(२) नि नाशनम् । इतिपाठोबहुत्र ।

आसीच्छक्तिस्ततोनादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥ ७ ॥
परशक्तिमयः साक्षात्त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ॥
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥ ८ ॥
बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ॥
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥ ९ ॥
रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज् ज्येष्ठा बीजादजायत ॥
वामा, ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाधिपाः ॥ १० ॥
सज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणः ॥

इति। *पञ्चरात्रेऽपि* "एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम्। समस्ततत्त्वसङ्घातस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ॥ व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान्" इति। तस्या एव नादबिन्दू सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ। तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी। शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥ सैव सर्गक्षमा तेने"ति। *आचार्यास्तु*। "सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रज्योतिषः संनिधेस्तदा। विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्" इति। *अन्यत्रापि* "अभिव्यक्ता परा शक्तिरविनाभावलक्षणा। अखण्डपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः॥ समस्ततत्त्वभावेन विवर्त्तेच्छासमन्विता। प्रयाति बिन्दुभावं च क्रियाप्राधान्यलक्षणम्" इति। अत एव वक्ष्यमाणशैवतत्त्वेषु शुद्धानां पञ्चानामेव ग्रहणम्। अत्र यद्यप्यन्यैर्ग्रन्थकृद्भिर्नादावस्था नोक्ता तथापि ग्रन्थकृता तारस्य सप्तात्मकत्वं सूचयितुमेतदुक्तिः कृता। कालं प्रस्तुवद्भिराचार्यैः सूचितैव नादावस्था। यदाहुः—"स्वात्मन्यथो कालतत्त्वे" इति। भुवनेशीस्तुतावप्याचार्यैः "नमस्ते स्वत्वेन तत्त्वाभिधाने" इत्युक्तम् ॥ ७ ॥

इच्छासत्त्वादिरूपतया बिन्दोस्त्रैविध्यमाह—*परेति*। साक्षात् परशक्तिमयः। अतः पश्चात्तदवस्थात्मकत्वमेवोक्तम्। अथवा परः शिवः। तन्मयः शक्तिमयः। एवमुभयात्मकः। "बिन्दुः शिवात्मक"इति वक्ष्यमाणत्वात्। असौ त्रिधा भिद्यते। एतौ नादबिन्दू प्रथमोक्तनादबिन्दुभ्यामन्यौ तत्कार्यरूपौ ज्ञेयौ। तदुक्तं "स बिन्दुर्भवति त्रिधे"ति ॥ ८ ॥

बिन्द्वादेर्भेदत्रयस्य परंपरास्वरूपमाह—*बिन्दुरिति*। धर्मिणावुक्त्वा तत्सम्बन्धोवाच्य इत्यभिप्रायेण व्युत्क्रमः। शक्त्युत्पत्त्यनुरोधात्पूर्वत्र तथाक्रमः। समवायः सम्बन्धः क्षोभ्यक्षोभकरूपः सृष्टिहेतुः। उक्तेर्थे प्रमाणमाह—*सर्वागमविशारदैः* इति, ॥ ९ ॥

रौद्रीति। ततः तस्माद् बिन्दोरौद्री यतस्तस्य शिवमयत्वम् अतोऽन्वर्थताऽपि *नादाज्ज्येष्ठेति*। मध्योच्चारितत्वेनान्वर्थत्वं ज्ञेयं, बीजाद्वामा अजायतेति संबन्धः। तस्य शक्तिमयत्वात् अन्वर्थत्वं,*तदुक्तं प्रयोगसारे* "बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्। तयोर्योगे भवेन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥ रौद्री बिन्दोः समुद्भूता ज्येष्ठा नादादजायत। वामा बीजादभूच्छक्तिस्ताभ्यो देवास्त्रयोऽभवन्नि"ति ॥ १० ॥

सज्ञानेइति। सज्ञाने इच्छाक्रिये तदात्मानस्तेन रुद्रब्रह्मरमाधिपाः क्रमेणेच्छाशक्तिक्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति स्वरूपाः। क्वचित्ते ज्ञानेच्छेति पाठः सोऽसाम्प्रदायिक एव। अत एते वन्हीन्द्वर्कस्वरूपिणो रुद्रब्रह्मरमाधिपाः शब्दसृष्ट्यन्तर्गताः निरोधिकाऽर्धेन्दुबिन्दुरूपाः। शक्तेरेवावस्थाविशेषा ज्ञेयाः। एषामिच्छाक्रियाज्ञानात्मत्वं तु शक्तित उत्पन्नत्वात्। वक्ष्यति च-"इच्छाज्ञानक्रियात्मासावि"ति। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामपि,* "यत इच्छन्ति तज् ज्ञातुं कर्तुं वा स्वेच्छया क्रियाः। अनन्तरं हि तत् कार्यज्ञानदर्शनशक्तिता ॥ ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थूलः समुद्यमः। सा क्रिया शक्तिरुदिता ततः सर्वं जगत्पर"मिति। यतः पुनस्तेषां वक्ष्यमाणत्वात्ततो रुद्रसमुद्भवस्ततो विष्णुस्ततोब्रह्मा इति। अन्यथा पूर्वापरविरोधोऽपि स्यात्।

भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ॥ ११ ॥
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ॥
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे विदुः (जगुः) ॥ १२ ॥
न हि तेषां तयोः सिद्धि र्ज्जडत्वादुभयोरपि ॥
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ॥ १३ ॥

यतो ग्रन्थकृ"त्तस्यां सूर्येन्दुपावकान्। प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरि"ति वक्ष्यति । तत्र प्रणवांशा अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मकाः "अकाराद्ब्रह्मोत्पन्न" इत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । *आगमान्तरे च* "ब्रह्मविष्णवीश्वरास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिता" इति । तेन तत्र सूर्यरूपः अकारो ब्रह्मा । अत्र च सूर्यरूपोविष्णुरिति । अतो वक्ष्यमाणक्रमोऽर्थसृष्ट्यनुसारेणानुसन्धेयः । ग्रन्थकृच्च वक्ष्यति "शब्दार्थभावि भुवनं सृजतीन्दुरूपा या तद् बिभर्ति पुनरर्कतनुः स्वशक्त्या । ब्रह्मात्मिका हरति तत् सकलं युगान्ते तां शारदां मनसि जातु न विस्मरामो"ति । *गोरक्षसंहितायामपि* "इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी । त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत् परं ज्योतिरोमि"ति । *आचार्या अपि* "आद्यैस्त्रिभेदैस्तपनान्तिकैर्यदि"ति । शब्दब्रह्मण उत्पत्तिमाह–*भिद्यमानादिति* । पराद् बिन्दोरित्यनेन शक्त्यवस्थारूपो यः प्रथमो बिन्दुस्तस्मादव्यक्तात्मा वर्णादिविशेषरहितोऽखण्डो नादमात्रं रव उत्पन्नः ॥ ११ ॥

तत्स्वरूपमेवाह–*शब्दब्रह्मेति* । *सर्वागमविशारदाः* सर्वश्रुत्यर्थविदः । तदुक्त*माचार्यैः* "सर्वैः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते" इति । सृष्ट्युन्मुखपरमशिवप्रथमोल्लासमात्रे अखण्डोऽव्यक्तो नादबिन्दुमय एव व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः शब्दब्रह्मेत्यर्थः । उक्तंच— "क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम् । प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माभवत् परम्" इति ॥ अथान्तरस्फोटवादिमतं जातिव्यक्तिस्फोटात्मकबाह्यस्फोटवादिमतं च दूषयितुमुपक्रमते– *शब्देति* । एक आचार्याः । शब्दार्थम् आन्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः । यथाह "निरंश एवाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमय आन्तरस्फोट" इति । अपरे वैयाकरणाः पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्तं तत्तत्पदसंस्कारसहायचरमपदग्रहोद्बुद्धं वाक्यस्फोटलक्षणं शब्दमखण्डैकार्थप्रकाशकं शब्दब्रह्मे ति वदन्ति । *यदाह* "एकएव नित्योवाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डोवर्णस्फोटो वा बहीरूप" इति ॥ १२ ॥

तदुभयमतं दूषयन् स्वमतमाह–*नहीति* । तेषां वादिनां मते तयोः शब्दशब्दार्थयोः सिद्धिः शब्दब्रह्मत्वसिद्धिर्न, उभयोस्तयोर्जडत्वात् । यदि शब्दार्थः शब्दो वा शब्दब्रह्म त्युच्यते तदा ब्रह्मपदवाच्यत्वं नोपपद्यते, यतः सच्चिदानन्दरूपो ब्रह्मपदार्थः । तौ च जडौ तदु(१)क्तम् "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत" इति । *अन्यत्रापि* । "शब्दब्रह्मेति शब्दावगम्यमर्थं विदुर्बुधाः । स्वतोर्थानवबोधत्वात् प्रोक्तो नैतादृशोरवः ॥ स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकारे पुनः । आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृत" इति । तेन सर्वागमविशारदा इत्यनेन सहैकवाक्यतैवास्य तद्बिन्दुरूपरवस्यैव सर्वशरीरेऽव्याविर्भूतत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । यदुक्तं *प्रयोगसारे*–"सोऽन्तरात्मा तदा देवी नादात्मा नदते स्वयम् । यथा संस्थानभेदेन सभूयो वर्णतां गतः ॥ वायुना प्रेर्यमाणोऽसौ पिण्डाद्व्यक्तिं प्रयास्यति" इति । *केचित्तु* शब्दब्रह्मे ति शब्दस्य अर्थं शब्दमेवाहुरिति योजनां कृत्वा सर्वागमविशारदा इत्येकः पक्षः । अपरे बिन्दुरिति द्वितीयस्तयोर्दूषणमित्याहुः । तन्न । जडत्वादिति हेतुः प्रथमपक्षे न संभवति । आचार्यमतविरोधश्चापद्येत । तेन सर्वागमविशारदा इत्ययमेव पक्षो ग्रन्थकृदभिमत इति ॥ १३ ॥

(१) हरिणेति क्वचिदधिकः पाठः ।

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥ १४ ॥
अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः ॥
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥ १५ ॥

एवं परान्तां सब्दसृष्टिमुक्त्वा सामान्यतः समापयति—*तत्प्राप्येति* । प्राणिनां देहमध्यगं कुण्डलीरूपं कुण्डलिनीस्वरूपं तच्चैतन्यं गद्यपद्यादिभेदतो वर्णात्मनाऽऽविर्भवति इति । किंकृत्वा ? प्राप्य "कण्ठादिकरणानी"ति शेषः । अतएव वक्ष्यमाणा सृष्टिः कुण्डलिनीत इति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

एवं प्राधान्यद्योतनाय प्रथमोद्दिष्टां परां तां शब्दसृष्टिमुक्त्वा पश्यन्त्यादीनां शरीरसृष्टिव्यतिरेकेण वक्तुमशक्यत्वात्तां वक्तुमर्थसृष्टिमारभते—*अथेति* । कला माया तदात्मनस्तत उत्पन्नत्वाद्बिन्दुरपि तस्यैवावस्थान्तरम् । तदात्मन इत्युभयत्र । कार्ये कारणोपचारात् । शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । *तदुक्तं*—"सर्वज्ञादिगुणोपेतामभिन्नामात्मनः सदे"ति । यद्वा कला निवृत्त्याद्याः । अधिष्ठातृसदाशिवादीनां प्रातिलोम्येनोत्पादकास्तदात्मनःकालबन्धोरित्यनाद्यनन्ते काले सृष्टिरूपकालसहायान्नादात्मन इत्यर्थः । *शम्भोः* परमशिवात् सृष्टिस्थितिध्वंसनिग्रहानुग्रहकार्यपञ्चककर्त्ता अतएव जगन्निर्माणबीजरूपोजगत्साक्षीसदाशिवो जातः । अथ च कालबन्धोः अतएव कलात्मन इति हेतुहेतुमद्भावेन योजना । "सा तु कालात्मना सम्यङ्मयैव ज्ञायते सदे"त्याचार्योक्तेः । अनेन विशेषणद्वयेन प्रकृतेः कालस्यच महाप्रलयेऽप्यवस्थानमुक्तम् । अत एवानयोरापेक्षिकनित्यता । स्वतोनित्यत्वं पुरुषस्यैव सर्वोविनाशस्य पुरुषावधित्वादन्यथानवस्थानादित्यादियुक्तिर्द्रष्टव्या । अथ च कालबन्धोरिति बन्धुशब्देन कालस्य निमित्तत्वं सूचितं, *यदाहुः* "लवादिप्रलयान्तोऽयं तमः शक्तिविजृम्भितः । निमित्तभूतः कालोऽयं भावानां जनूमनाशयोरि"ति । *अन्यत्रापि* । "अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते । अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमा" इति । कालबन्धोरित्यनेन अपरः लवादिप्रलयान्तः कालोऽपि सूचितः। तेनैव परकालस्योक्तत्वात् । स च "नलिनीपत्रसंहत्यां सूक्ष्मसूच्यभिवेधने । दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञकः ॥ लवैस्त्रुटिः स्यात् त्रिंशद्भिः" इत्यादिना, "स वायुर्मम निश्वासः कालेनैवं प्रचोद्यते" इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेणर्चैविवेचितः । अस्माभिस्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तः । *अन्येत्वेवं व्याचक्षते*—कालबन्धोर्ज्ञानात्मनः । कश्च लश्चेति प्रत्याहारेण व्यञ्जनानि गृहीतानि । अश्चेत्यनेन स्वरा अपि गृहीताः । तदात्मन इति । । *अन्येत्वन्यथा व्याचक्षते* कश्चलश्च आत्मा दीर्घकारः । चतुर्णामात्मनां चतुर्थ उक्तः । कालशब्देनार्कस्तेन मः । यद्वा काशब्देन महाकालो मकारस्य रुद्रसूचिर्गृहीता । भीमो भीमसेन इति वत् । तेन मकारः । एवं मिलित्वा कामबीजमुद्धृतम् । तस्मात्—इत्युक्तं भवति । तस्य जगन्मूलत्वात् शंभोः ॥ "भ्रमन्तं योन्यन्तः स्फुरदरुणबन्धूकुसुमप्रभं कामं ध्यायेजरठशशभृत्कोटिशिशिरमि" त्यादिना, शरीरे मूलाधारे तेजस्त्रयरूपस्य तस्यैवोक्तत्वात् शक्तिरूपत्वाच्च बिन्द्वात्मन इति । तदुक्तम्—"विश्वं भूतेन्द्रियान्तः करणमयमिनेन्द्वग्निरूपं समस्तं वर्णात्मैतत्प्रधाने कलनयनमये बीजरूपक्रमेण । नीत्वा तं पुंसिबिन्द्वात्मनि तमपि रवात्मन्यथोकालतत्वे तं वै शक्तौ चिदात्मन्यपि नयतु च तां केवले धाम्नि शान्ते" इति। *अन्येतु* शम्भोः हकारात् कलाऽर्धेन्दुरात्मा ईकारः। बिन्दुः बिन्दुरेव। कालोऽग्निः प्रलये सर्वविनाशकत्वात् । एवं मायाबीजमुद्धृतम् । तस्मादित्युक्तम्। अस्या जगन्मूलबीजभूतत्वं प्रसिद्धमेव। इदं च व्याख्यानमाचार्यचरणसम्मतमिति । *तदुक्तमाचार्यैः* "स्वामिन् प्रसीद विश्वेश के वयं केन भाविताः। किंक्रियाः सर्वमस्मभ्यं वक्तुमर्हसीति पृष्टः परज्योतिरुवाच "प्रमिताक्षरमि"ति। अस्य पद्यस्य व्याख्याने पद्मपादाचार्यै र्व्याख्यातम् सर्वेश्वर उपादा-

सदाशिवाद्भवेदीशस्ततो रुद्रसमुद्भवः ॥
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेवं समुद्भवः ॥ १६ ॥
मूलभूतात्ततोऽव्यक्ताद्विकृतात्परवस्तुनः ॥
आसीत्किल महत्तत्वं गुणान्तः करणात्मकम् ॥ १७ ॥
अभूत्तस्मादहङ्कारस्त्रिगुणः (विधिः) सृष्टिभेदतः ॥
वैकारिकादहङ्काराद्देवा वैकारिका दश ॥ १८ ॥
दिग्वाताऽर्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥
तैजसादिन्द्रियाण्यासंस्तन्मात्राक्रमयोगतः ॥ १९ ॥

नादिकं संग्रहेणोक्तवानित्याह—"इति पृष्ट" इति । प्रकर्षेण मीयते ज्ञायते इति प्रमिता प्रकृतिः । प्रमिणोति जानातीति प्रमितः पुरुषः । प्रमिणोति परिच्छिनत्ति इति प्रमितः कालः । तेषां प्रमितानां वाचकमक्षरं प्रमिताक्षरं परा वाक् । स तत्त्वं हकार इत्यर्थः । तस्य बीजबिन्दुनादरूपेण प्रकृत्यादिवाचकत्वं द्रष्टव्यम् । एतेन हेत्युत्तरमुवाचेत्यर्थः । संग्रहेणोक्तस्याप्रतिपचिमालक्ष्य तदेव विवृणोति—"यूयमक्षरसंभूताः सृष्टिस्थित्यन्तहेतव" इति । न क्षरत्यश्नुते वेति व्युत्पत्त्या "अक्षरात् सम्भवतीह विश्वमि" त्यादिना । *तेषामिति* । शब्दसृष्टौ तेषामुद्भव उक्त एव । तेषामेव समुद्भवः अर्थसृष्टावित्यर्थः ॥ १९-१६ ॥

एवं प्रकृतायामर्थसृष्टौ तत्त्वसृष्टिं वक्तुमारभते—*मूलेति* । *मूलभूतात्* सर्वसृष्टिमूलरूपादत एव परवस्तुनः *अव्यक्तात्* बिन्दुरूपात् । यद्वा शब्दब्रह्मणः विकृतात् सृष्ट्युन्मुखात् महत्तत्त्वम्महन्नाम पदार्थः । आसीदुत्पन्नः । यस्य शैवमते बुद्धितत्त्वमिति संज्ञा । किं रूपं ? सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकम् । मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तस्वरूपसन्तः करणचतुष्टयात्मकता तु तत्कारणत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । एवं शैवसिद्धान्तविदः । *तदुक्तमीशानशिवेन* "बोद्धव्यलक्षणा सैव प्रकृतिः शक्तिजृम्भिता । बुद्धितत्त्वम्भवेद् व्यक्तं सात्त्विकङ्गुणमाश्रिता ।। सैवबुद्धिर्महन्नाम तत्त्वं साङ्ख्ये निगद्यते" इति । *वामकेश्वरतन्त्रे*—"अव्यक्तविग्रहात् शब्दब्रह्मणः सर्वकारणम् । व्यक्तसत्त्वगुणं व्यक्तं बुद्धितत्त्वमजायते"ति । साङ्ख्यमते तु सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपं प्रकृतिः प्रधानापरपर्यायमव्यक्तशब्देनोच्यते । तत् परवस्तु सर्वमूलभूतं गुणन्यूनातिरेकेण विकृतात्तस्मान्महानु(१)त्पन्नः । स कीदृशः? गुणान्तः करणात्मा । गुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणि । एषामन्तः करणचतुष्टयस्याऽपि कारणरूपः । उपचारादुभयात्मकः । तथा सृष्टिक्रमोऽपि "प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कार" इति ॥ १७ ॥

अभूदिति । तस्मात् महतस्त्रिविधो ऽहङ्कारः सृष्टिभेदतो जातः । वैकारिकस्तैजसो भूतादिश्चेति । तदुक्तम् "अव्यक्तमेव तु व्यक्तन्तन्महन्नाम लक्षणम् । ततोऽहङ्कारतत्त्वं स्यात्सत्त्वादिगुणभेदकम् ।। सोऽहङ्कारस्त्रिभेदः स्यात्पृथक्सत्त्वादिभेदतः। वैकारः सात्त्विकोनाम तैजसो राजसः स्मृतः ।। भूतादिस्तामसस्तेऽपि पृथक्तत्त्वान्यवासृजन्"इति। तत्तत्कार्यं वदन्नेवं त्रैविध्यमुन्मीलयति—*वैकारिकादित्यादिना* । शक्तिसामरस्यविकृतपरमेश्वरादुत्पन्नत्वात् वैकारिकत्वमस्य तदुत्पन्नत्वाद्देवानामपि तथात्वम् । सांख्यमतेऽपि गुणोद्रेकविकृतप्रधानोत्पत्तेस्तादृक्त्वम् ॥ १८ ॥

तानेवाह—*दिगिति*अश्वीत्यश्विनीकुमारौ । यद्यप्येतौ द्वौ तथापि सहचारित्वात् सहजातत्वात् एकत्वेनोक्तिः । उपेन्द्रो विष्णोरेका मूर्त्तिः । मित्रस्तृतीयः सूर्यः । तदुक्तम् "मित्रो भानुस्तृतीयक" इति । को ब्रह्मण एका मूर्त्तिश्चन्द्रोऽपि ज्ञेयः । एते इन्द्रियाधिष्ठातृदेवा इति ज्ञेयम् । यदाहुः "वैकारिका दिगाद्या ये चन्द्रेणैकादश स्मृताः। इन्द्रियाणामधिष्ठातृदेवा-

(१) मूले तत्त्वाभिप्रायेण नपुंसकतया निर्देशोबोध्यः ॥

भूतादिकादहङ्कारात्पञ्च भूतानि जज्ञिरे ॥
शब्दात्पूर्वं वियत्स्पर्शाद्वायू रूपाद्हुताशनः ॥ २० ॥
रसादम्भः क्षमा गन्धादिति तेषां समुद्भवः ॥
स्वच्छं वियन्मरुत्कृष्णो रक्तोऽग्निर्विशदं पयः ॥ २१ ॥
पीता भूमिः पञ्च भूतान्येकैकाधारतो विदुः ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा भूतगुणाः स्मृताः ॥ २२ ॥
वृत्तं दिवस्तत्षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः ॥

स्ते परिकीर्त्तिता" इति । *तैजसादिति* तैजसादहङ्कारादिन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च । तदुक्तम् "यच्चाऽपरं मनस्तत्त्वम् ससंकल्पविकल्पकम् । तैजसादेव सञ्जातमि"ति । *अन्यत्रापि* "तैजसतस्तत्र मनो वैकारिकतो भवन्ति चाक्षाणि । भूतादेस्तन्मात्राण्येषां सर्गोऽयमेतस्मादि"ति । अक्षाणि—अक्षाधिष्ठातृदेवताः । साङ्ख्यमते वैकारिकादहङ्कारात् तैजसाहङ्कारमिलितात् इन्द्रियाण्यासन् इति । एवं तैजसाहङ्कारसहितात भूतादेरपि तन्मात्रोत्पत्तिः । तदुक्त(१)म् । "सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयमि"ति ॥ १९ ॥

भूतादिकादहङ्कारात्तन्मात्राक्रमयोगतः । पञ्चभूतानि जज्ञिरे इति संबन्धः । कः स्वार्थिकः । तत्रादौ आकाशादीनां कारणभूताः पञ्चतन्मात्रा जाताः । शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा गन्धतन्मात्रा । एताभ्यः आकाश वायु तेजो जल पृथिवीरूपाणि पञ्च भूतान्युत्पन्नानि । *उक्तं च"*—शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः । तन्मात्रादेव विषया भूतादेरभवन् क्रमात् ॥ ततः समभवद्व्योम शब्दतन्मात्ररूपकम् । स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजोरूपात्मकन्ततः ॥ आपो रसात्मिकास्तस्मात्ताभ्यो गन्धात्मिका मही । ततः स्थूलानि भूतानि पञ्च तेभ्यो विराडपी"ति ॥ तत्र भूतोत्पत्तिप्रकारमेवाह—*शब्दादिति* । शब्दतन्मात्रादाकाशः । स्पर्शतन्मात्रतो वायुः । रूपतन्मात्रातोऽग्निः । रसतन्मात्रातो जलम् । गन्धतन्मात्रातः पृथिवी । केचित् पूर्वपूर्वानुविद्धानामेषां कारणत्वमाहुः । पूर्वशब्दसामर्थ्यात् । तदुक्तम्—"शब्दाद्व्योम स्पर्शतस्तेन वायुस्ताभ्यां रूपाद्वह्निरेतैरसाच्च । अम्भांस्येभिर्गन्धतो भूरि"ति ॥ २० ॥ २ ॥

पञ्चभूतवर्णानुपदिशति—*स्वच्छमिति* । स्वच्छम् श्वेतम् । अत्र केषाञ्चिदपि द्रव्याणां वर्णकथनमुपासनार्थं स्वशास्त्रानुरोधेन । तेषां स्वरूपमन्यत्रोक्तम्—"खमपि सुषिरचिह्नमीरणः स्याच्चल रपरिपाकवान् कृशानुः । जलमपि रसवद्घनाधरे"ति । एतैस्तानि ज्ञायन्त इत्यर्थः ॥ २१ ॥

एकैकाधारत इति । स्वस्वकारणाधाराणीत्यर्थः । तदुक्तम्—"परस्परानुप्रविष्टैर्महाभूतैश्चतुर्विधैः । व्यासाकाशैर्जगत्सर्वं दृश्यं निष्पाद्यतेऽखिलमि"ति । *अन्यत्रापि*—"व्योम्नि मरुदत्र दहनस्तत्रापस्तासु संस्थिता पृथ्वी"ति । भूतगुणास्तत्तद्विशेषगुणाः इति नैयायिकादयः । यद्वा शब्दो गुणो वियतः । शब्दस्पर्शौ वायोः । तौ रूपञ्चाग्नेः । रसेन सह तानि जलस्य । गन्धेन सह पञ्च पृथिव्या इति सांख्याः । इदमेव स्फोरयितुम् एकैकाधारतइत्युक्तिः । उक्तञ्च *ज्ञानशिवेन*—"शब्दैकगुणमाकाशः शब्दस्पर्शगुणो मरुत् । शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणन्तेज इष्यते ॥ शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही"ति ॥ २२ ॥

भूतमण्डलान्याह—*वृत्तमिति* । दिवः आकाशस्य । वृत्तं—तद्वृत्तमेव समभागेन वृ-

(१) ईश्वरकृष्णाचार्यैः ॥

त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं वह्नेरर्द्धेन्दुसंयुतम् ॥ २३ ॥
अम्भोजमम्भसो भूमेश्चतुरस्रं सवज्रकम् ॥
तत्तद्भूतसमाभानि मण्डलानि विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥
वर्णैः स्वैरङ्कितान्याहुः स्वस्वनामावृतान्यपि ॥
धरादिपञ्चभूतानां निवृत्त्याद्याः कलाःस्मृताः ॥ २५ ॥
निवृत्तिः सुप्रतिष्ठा स्याद्विद्या शान्तिरनन्तरम् ॥
शान्त्यतीतेति विज्ञेया नाददेहसमुद्भवाः ॥ २६ ॥

सपरिधिरेखामध्ये षड्बिन्दुलाञ्छितम् *मातरिश्वनः*—वायोः । त्रिकोणमूर्ध्वाग्रम् । "ऊर्ध्व वह्निरधः शक्तिरि" त्युक्तत्वात् । *अन्यत्रापि*—"इन्द्राक्षसवायव्यकोणैस्तद्वह्निमण्डलमि" ति । *स्वस्तिकोपेतं* (त्रिकोण) संपातरेखाः संवर्ध्य तत्र स्वस्तिकाकारं कुर्य्यादित्यर्थः । तदुक्तम्—"हृदि त्रिकोणं निर्गच्छत् स्वस्तिके रक्ततेजसी"ति । स्वस्तिकं नाम परस्परसम्बद्धं विदिग्गतचतुर्वक्रं रेखाद्वयं, वह्नेरिति पूर्वेणान्वेति । अर्द्धेन्दुसंयुतम् अम्भोजमम्भस इति सम्बन्धः । अर्द्धेन्दौ संयुतं अर्द्धेन्दुसंयुतमिति सप्तमीति योगविभागात् समासः । यद्वा—अर्द्धेन्दु अम्भोजं संयुतन्मुभयं मिलितमम्भसोमण्डलं तेनार्द्धेन्दुं कृत्वा तदुभयभागे सरोजद्वयं कुर्यादिति । *तदुक्तमाचार्यैः*—"अब्जोपेतार्द्धेन्दुमद्भिस्त्वमाप्यमि"ति । *अन्यत्रापि*—"अर्द्धचन्द्रं द्रवं सौम्यं शुभ्रमम्भोजसंयुतमि" ति । *प्रयोगसारेऽपि*—"अब्जाङ्कोर्द्धेन्दुरम्भस" इति । *तथान्यत्रापि*—"तेषां क्रमेण शशिबिम्बसमन्तदेव षड्बिन्दुमद्दहनशस्ययुतं त्रिकोणम् । अम्भोजयुग्मशशिखण्डसमानरूपं वेदास्रकं सदशनं त्विह मण्डलानि" इति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि,* "चन्द्रार्द्धमण्डलं वापि श्वेतं पङ्कजयुग्मयुक्" इति । *स्वायम्भुवेनारसिंहेऽपि*, "आप्यमर्द्धेन्दुपद्माङ्कितमि"ति । यस्तु अष्टदलपद्मं कृत्वा तद्दलाग्रेषु अर्द्धचन्द्राकारान् कुर्यादिति वदतिस्म । स भ्रान्त एव । अन्ये तु—अर्द्धचन्द्रं कृत्वा तन्मध्ये पद्मं लिखेत् इति वदन्ति । तदपि भूतलिपिपटले वक्ष्यमाणत्वादत्र न वाच्यं, सवज्रकं चतुरस्रं भूमेरिति संबन्धः । चतुरस्रसंपातरेखाः सम्बर्द्ध्याष्टवज्राणि कुर्य्यादिति केचित् । सम्प्रदायविदस्तु—चतुरस्ररेखास्वेवाष्टवज्राणि कार्याणीति वदन्ति । तदुक्तम् *शौनककल्पे*—"भूगृहं चतुरस्रं स्यादष्टवज्रविभूषितमि"ति । *हिरण्यगर्भसंहितायामपि*, 'बाह्ये वज्राष्टकविभूषितं चतुष्कोणं शुभमयो' इति । *आचार्याश्च* "वसुकुलिशगमि"ति, । ग्रन्थकारोऽपि "वज्रेष्वष्टस्वि"ति वक्ष्यति । अन्योऽन्याभिमुखतया त्रिवक्रं रेखाद्वयं परस्परसंबद्धं वज्रं परस्परसंबद्धमध्यं रेखाद्वयमिति केचन । मण्डलध्यानमाह—*तत्तदिति* । अनेन भूम्यादौ मण्डललिखने तत्तद्वर्णरजोभिः पूरणमप्युक्तं भवति ॥ २३ ॥ २४ ॥

वर्णैः—द्वितीये वक्ष्यमाणभूतवर्णैः । *स्वस्वनामावृतान्यपीति* । अस्यायमर्थः । वक्ष्यमाणभूतलिपियन्त्रेषु यः कर्णिकालिखितो मन्त्रस्तेनावृतानीति । सांप्रदायिकाश्चैवं मन्यन्ते-कलात्मन इति पूर्वमुक्तेः भूतकारणभूताः बिन्दुतत्त्वविनिर्गताः शक्तीः । संहारक्रमेण प्रयोगार्थमाह—*धरेति* । धरादिपञ्चभूतानाम् "त्पादिकाः" इति शेषः । तदुक्तं *वायवीयसंहितायां* "शक्तिः प्रथमसंभूता शान्त्यतीतपदोत्तरा । शान्त्यतीतपदाच्छक्तेस्ततः शान्तिपदं क्रमात् ॥ ततोविद्यापदं तस्मात्प्रतिष्ठापदसंग्रहः । निवृत्तिपदमुत्पन्नं प्रतिष्ठा पदतः परम् ॥ एवमुक्तस्त्व समासेन सृष्टिरीश्वरचो (नो) दिता । अनुलोम्यादथैतेषां प्रातिलोम्येन संहृतिः ॥ अस्मात् पञ्चपदोद्दिष्टान्न सृष्ट्यन्तरमिष्यते । कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तं यस्मादविश्वमिदं जगदि"ति ॥ २५ ॥

नादेति । नादाद्देहो यस्य स नाददेहः । बिन्दुः । ततस्समुद्भवा इत्यर्थः । यद्वा ना-

पञ्चभूतात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ॥
अचरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदतः ॥ २७ ॥

सां स्थूलवाचकांशमाह—*नाददेहसमुद्भवा इति* नादो हकारः। नादस्य ध्वनेर्देह उत्पत्तिर्यस्मात् स वायुस्तेन यः स। धर्मधर्मिणोरभेदात्। देहशब्देनोत्पत्तिरुक्ता "मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति ध्वनिम्" इत्युक्तेर्नादोत्पत्तिहेतुत्वं तस्य समुद्दीप्यमाना भा दीप्तिर्यस्येति अग्निस्तेन रः बाह्यरूपं, तत्र यरलवानां क्रमेणग्रहणे कर्त्तव्ये यत्त्रयाणामेव ग्रहणं कृतवान् तेन लकारोऽप्यस्तीति ज्ञेयं, प्रथमतो नादग्रहणाद्बिन्दुयोगोऽप्येषां ज्ञेयः। एतानि विलोमेन तन्मात्राबीजानि। अथवा नादो हकारः तस्य देहः स्वरूपं तत्र समुद्भवः स्थितिर्येषाम् एवंभूताः। आ आवर्णादयः। आ ई ऊ ऐ औ काराः। एषां सबिन्दुकत्वं ज्ञेयम्। तदुक्तम् *त्रिकोणोत्तरे* "नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्। मूर्त्तिदं परमं दिव्यं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥ शान्तं सर्वगतं शून्यं मात्रापञ्चकसंस्थितम्" इति। *केचन* क्रमेण एषां लवरयहयोगमाहुः। तद्यथा ह्लांह्वींह्रूंह्यैंहौं एतानि अपञ्चीकृतभूतबीजानि। अथवा नादोहकारः शरीरस्य पृथिव्यंशाधिक्याद्देहशब्देन लकारः। तस्य समुद्भवः स्थितिर्यत्र स देहसमुद्भवः येषु अकारादिषु ते नाददेहसमुद्भवाः। अत्र क्रमेण लवरयहयोगमाहुः। तद्यथा ह्लांह्वींह्रूंह्यैंहौं एतानि पञ्चीकृतभूतबीजानि। भूतबीजानामेव तद्रश्मिमानिनिवृत्त्याद्यादिबीजत्वं ज्ञेयम्। *तदुक्तमाचार्यैः*—"नादकलादिभूता" इति ॥ २६ ॥

एवं भूतान्युक्त्वा जगतस्तदात्मकत्वमाह—*पञ्चेति*। एतेन त्रिवृत्करणपक्षः पञ्चीकरणपक्षोऽपि सूचितः। तत्र ये तैजसा देवाः तेषामपि शरीरोर्द्ध्वभागस्तैजसश्चतुर्थांऽशः पृथिव्याः चतुर्थांशो जलस्येति त्रिवृत्करणपक्षः। पञ्चीकरणपक्षेतु—पृथिव्याश्चत्वारोंऽशाः। अन्येषामष्टमः अष्टमोंऽशः। एवमन्यत्रापि। तदुक्तम्। "द्विधा विधाय चैकैकञ्चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्चते"ति। अथवा षडंशास्तेजसः पृथिवीजलवाय्वाकाशादीनां दशमो दशमोंऽशः। एवं पार्थिवे अस्मदादिशरीरेऽपि षड् भागाः पृथिव्याः। अन्येषां दशमो दशमोंऽशः। एवं वरुणलोकनिवासिनामाप्यादिशरीराणामप्यवगन्तव्यम्। यदुक्तम्—"पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा। एकैकम्भागमादाय पञ्चधा विभजेत्पुनः ॥ एकैकभागमेकैकं भूतैः संवेशयेत्क्रमात्। ततश्चाकाशभूतस्य स्वभागाः षड् भवन्ति हि ॥ वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्। पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिन" इति। *अन्यत्र विशेषः*। "अस्थि मांसं त्वचं स्नायु रोम एव तु पञ्चमम्। इति पञ्चविधा प्रोक्ता पृथिवी कठिनात्मिका ॥ लाला मूत्रं तथा शुक्रं शोणितं मज्ज पञ्चमम्। अपां पञ्च गुणा एते द्रवरूपाः प्रकीर्त्तिताः ॥ क्षुधा तृष्णा भयं निद्रा आलस्यं क्षान्तिरेवच। तृष्णात्मका गुणा एते तेजसः परिकीर्त्तिताः ॥ धावनं वल्गनं भुक्तिराकुञ्चनं प्रसारणम्। एते पञ्च गुणा वायोः क्रियारूपा व्यवस्थिताः ॥ रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहस्तथैव च। व्योम्नः पञ्च गुणा एते-शून्याख्ये सुषिरात्मनि" ॥ इति। *चरम्*। जङ्गमम् *अचरं* स्थावरं, चरेषु बहुवक्तव्यत्वात् प्रथमोद्दिष्टं तं विहायाचरानाह—*अचरा इति*। अत्र "ते स्वेदाण्डजजरायुजा" इति वक्ष्यति। तेन सृष्टत्वादेषामौद्भिदत्वमुक्तम्। यदाहुः "देहश्चतुर्विधो ज्ञेयो जन्तोरुत्पत्तिभेदतः। उद्भिज्जः स्वेदजोऽण्डोत्थश्चतुर्थस्तु जरायुजः ॥ उद्भिद्य भूमिं निर्गच्छेदौद्भिदः स्थावरस्तु स" इति। एषामुत्पत्तिप्रकारोऽ*न्यत्रोक्तः* "उद्भिदः स्थावरा ज्ञेयास्तृणगुल्मादिरूपिणः। तत्र सिक्ता जलैर्भूमिरन्तरूष्मविपाचिता ॥ वायुना व्यूह्यमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते। तथा चोप्तानि बीजानि संसिक्तान्यम्भसा पुनः ॥ उच्छूनतां मृदुत्वं च मूलभावं प्रयान्ति च। तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिरङ्कुरात्पर्णसंभवः ॥ पर्णात्मकं ततः काण्डं काण्डाच्च प्रसवः पुनरि"ति ॥ २७ ॥

चरास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताःस्वेदजाण्डजजरायुजाः ॥
स्वेदजाः क्रिमिकीटाद्या अण्डजाः पन्नगादयः ॥ २८ ॥
जारायुजा मनुष्याद्यास्तेषु नृणां निगद्यते ॥
उद्भवः पुंस्त्रियो र्योगात् (१) शुक्रशोणितसंयुतात् ॥ २९ ॥
बिन्दुरेको भवेद्गर्भमुभयात्मा क्रमादसौ ॥
रजोऽधिके भवेन्नारी भवेद्रेतोऽधिके पुमान् ॥ ३० ॥
उभयोः समतायां तु नपुंसकमिति स्थितिः ॥
पूर्वकर्मानुरूपेण मोहपाशेन यन्त्रितः ॥ ३१ ॥

विभागपूर्वं चरानुद्दिशति—*चरास्त्विति* । जनैः प्रत्येकं सम्बन्धं दर्शयन् तद्विशेषादाह—*स्वेदजा* इत्यादिना । *क्रिमिकीटाद्याः* इति । अनस्थित्वे उभयोरपि दंशकादंशकत्वाभ्यां भेदः । आदिशब्देन पतङ्गादीनां ग्रहणम् । यदाहुः—"क्रमिकीटपतङ्गाद्याः स्वेदजा नाम देहिन" । इति । तदुत्पत्तिप्रकारोऽन्यत्रोक्तः—"स्वेदजाःस्विद्यमानेभ्योऽभूवन्द्वद्भ्यः प्रजापतेः"इति । अनेनैषामयोनिजत्वमुक्तम् । *यत्प्रयोगसारे* । "किं तत्र स्वेदजा ये तु ज्ञेयास्ते चाप्ययोनिजाः । स्थिरा विवायवो भिन्नाश्चत्वारिंशत्सहस्रधा" इति । *पन्नगादय* इत्यादिशब्देन पक्षिकच्छपादिग्रहणम् । यदाहुः—"अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रमत्स्याश्च कच्छपाः" इति । तदुत्पत्तिप्रकारोऽपि—"अण्डजो वर्तुलीभूताच्छुक्रशोणितसंयुतात् । कालेन भिन्नात् पूर्णात्मा निर्गच्छन् प्रक्रमिष्यती"ति ॥ २८ ॥

जरायुः—गर्भाशयो जालिकारूपः । *मनुष्याद्याः* इत्यादिशब्देन पश्वादयः । एषां संख्योक्ता *प्रयोगसारे* । "योनिजाः प्राणिनो भिन्नाश्चतुः षष्टिसहस्रधे"ति । तेषां नृणां निगद्यते उद्भव इति संबन्धः । यतः सर्वशास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वात् । शोणितसंयुतादित्यनेन तस्याप्रधानतोक्ता । अतः—पुत्रः पितृजात्यादियुक्तः । तथा च *महाभारते* "माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव स"इति । भस्त्रा वाय्वाधारं चर्ममयम् ॥ २९ ॥

उभयात्मा शुक्रशोणितात्मा । अतएव अग्नीषोमात्मा । एको बिन्दुर्गर्भं विशेत् । क्रमादसावित्युत्तरेणान्वयः । असौ बिन्दुः रजोधिकः क्रमात् नारी भवेद्रेतोऽधिकः क्रमात् पुमान् भवेदिति योजना । अत्राधिक्यमुक्तप्रमाणतोज्ञेयं, मुक्तप्रमाणसाम्ये नपुंसकोत्पत्तिरित्यपि । यदाहुः "द्वाविंशतिरजोभागाः शुक्रमात्राश्चतुर्द्दशागर्भसंजने काले पुंस्त्रियोः संभवन्ति हि ॥ नारी रजोधिकेंऽशे स्यात् नरः शुक्राधिकेंऽशके । उभयोरुक्तसंख्यायां स्यान्नपुंसकसंभवः" इति । क्रमादित्यनेनैतदुक्तं भवति सएव विन्दुर्वायुना पृथक्भिन्नः सन् बह्वपत्यतां जनयति । यदाहु—*वाग्भटे* शारीरस्थाने—"शुक्रार्त्तवे पुनः । वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता ॥ वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः । पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ॥ शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि । वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः ॥ रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वे"ति ॥ ३० ॥ ३ ॥

तस्मिन् बिन्दौ जीवसंचारमाह—*पूर्वेति* । पूर्वजन्मशतसञ्चितकर्मणां मध्ये फलप्रदानोन्मुखं प्रबलमेकं पुण्यपापात्मकं सुखदुःखोभयात्मकफलकं मनुष्यशरीरोपभोगयोग्यं यत्कर्म तदनुरूपेण *मोहपाशेन* अविद्यारूपेण *यन्त्रितो* बद्धः उत्पद्यते । एतेन नित्यस्यात्मनोऽनुत्पत्तिरुक्ता । गृहमिव देहमात्मा प्रविष्ट इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

---

(१) योगे शुक्राच्छोणितसंयुतादिति पाठोबहुत्र ।

कश्चिदात्मा तदा तस्मिन् जीवभावं प्रपद्यते ॥
अथ मात्राहृतैरन्नपानाद्यैः पोषितः क्रमात् ॥ ३२ ॥
दिनात् पक्षात् ततो मासात् वर्द्धते तत्त्वदेहवान् ॥

कश्चिदिति। "नानात्मानो व्यवस्थात" इति कणादसूत्रानुसारात्। "पुरुषबहुत्वं सिद्धमि"ति सांख्योक्तेश्च। *वेदान्तनये तु*। अविद्याकल्पितो भेदोऽङ्गीकर्तव्यः। अन्यथा यद्यात्मज्ञानेनाविद्या नष्टा तदा "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुने"ति वचनात् पूर्वसंचितकर्मणां फलदानासामर्थ्यादग्रिमकर्मभिर्लेप एव नास्ति। "न लिप्यते कर्मभिः स पद्मपत्रमिवाम्भसे"ति वचनात्। तस्यैकत्वाद् मुक्तत्वाच्च अवतार एव न स्यात् इत्यवतारकारणं मोहपाशेनेत्युक्तम्। तदुक्त*मध्यात्मविवेके*—"अस्ति ब्रह्मचिदानन्दं स्वयं ज्योतिर्निरञ्जनम्। सर्वशक्ति च सर्वज्ञं तदंशा जीवसंज्ञकाः॥ अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः। दीर्घाद्युपाधिसंभिन्नास्ते कर्मभिरनादिभिः॥ सुखदुःखप्रदैः पुण्यपापरूपैर्नियन्त्रिताः। तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगं च कर्मजम्॥ प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते" इति ॥ ३१ ॥ $\frac{3}{2}$ ॥

अथेति। तत्र प्रकारो *योगार्णवे*। "आविश्य भुक्तमाहारं स वायुः कुरुते द्विधा। संप्रविश्यात्र मध्यस्थं पृथक् किट्टं पृथग् जलम्॥ अग्नेरूर्ध्वं जलं स्थाप्य तदन्नं च जलोपरि। जलस्याधः स्वयं प्राणः स्थित्वाऽग्निं धमते शनैः॥ वायुना व्यूह्यमानोऽग्निरत्युष्णं कुरुते जलम्। अन्नं तदुष्णतोयेन समन्तात् पच्यते पुनः॥ द्विधा भवति तत्पक्वं पृथक् किट्टं पृथक् रसम्। रसेन तेन ता नाडीः प्राणः पूरयते पुनः॥ प्रतर्पयन्ति सम्पूर्णास्ताश्च देहं समन्ततः। मातृरसवहां नाडीमनुबद्धा पराभिधा॥ नाभिस्थनाडीगर्भस्य मात्राहृतरसावहा" इति ॥३२॥

दिनादिति। तदुक्तम्—"रथरेणुद्वयं जन्तुः क्षणमात्रेण वर्द्धते। नाडिकामात्रतो यूका युगलं च मुहूर्त्ततः॥ यूकानां वेदसंख्यं च दिनमात्राद्यवद्वयम्" इति। *योगार्णवे* च—"कललं चैकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्। शोणितं दशरात्रेण मांसपेशी चतुर्दशे॥ घनमांसं च विंशाहे पिण्डीभावोपलक्षितम्। पञ्चविंशतिपूर्णाहे पलं सर्वाङ्कुरायते॥ एकमासे तु संपूर्णं पञ्चभूतान्वि धारयेत्। मासद्वये तु संप्राप्ते शिरोद्भेदः प्रजायते॥ मज्जास्थि च त्रिभिर्मासैः केशाङ्गुल्यश्चतुर्थके। कर्णाक्षिनासिकानां च रन्ध्रं मासे तु पञ्चमे॥ आस्यरन्ध्रोदरं षष्ठे पायुरन्ध्रं च सप्तमे। सर्वाङ्गसन्धिसंपूर्णं मासैरष्टभिरिष्यते" इति। *अध्यात्मविवेके तु* विशेषः—"द्रवत्वं प्रथमे मासे कललाख्यं प्रजायते। द्वितीये तु घनः पिण्डः पेशी पङ्घनमर्बुदम्॥ पुंस्त्रीनपुंसकानां तु प्रागवस्थाः क्रमादिमाः। तृतीये त्वङ्कुराः पञ्च कराङ्घ्रिशिरसो मताः॥ अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्माःस्युर्युगपत्तदा। विहाय श्मश्रुदन्तादीन् जन्मानन्तरसंभवात्॥ एषा प्रकृतिरन्या तु विकृतिः समता सताम्। चतुर्थे व्यक्तता तेषां भावानामपि जायते॥ मातृजं चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति। अतो मातृमनोभीष्टं कुर्याद्गर्भसमृद्धये॥ तां च द्विहृदयां नारीमाहुर्दौहृदिनीं बुधाः। अदानाद्दोहदानां स्युर्गर्भस्य व्यङ्गतादयः॥ मातुर्यद्विषयालाभस्तदार्त्तो जायते सुतः। गर्भःस्यादर्थवान् भोगी दोहदाद्राजदर्शने। अलङ्कारे सुललितो धर्मिष्ठस्तापसाश्रमे। देवतादर्शने भक्तो हिंस्रो भुजगदर्शने॥ गोधाशशे तु निद्रालुर्बली गोमांसभक्षणे। माहिषेण तु रक्ताक्षं लोमशं सूयते शिशुम्॥ प्रबुद्धं पञ्चमे पित्तं मांसशोणितपुष्टता। षष्ठेऽस्थिस्नायुनखकेशरोमविविक्तता॥ बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता। अष्टमे त्वक्श्रुती स्यातामोजश्चेतश्च हृद्भवम्॥ शुद्धमापीतरक्तं च निमित्तं जीविते मतम्। पुनरम्बां पुनर्गर्भं चञ्चलं तत् प्रधावति॥ अतो जातोऽष्टमे मासे न जीवत्योजसोज्झित" इति। *याज्ञवल्क्योऽपि*। "पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति। अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यत" इति। एवम्—"ओजोयदाभवे द्वाले तदा माता न जीवती"ति ज्ञेयम्। यदा तूभयोर्हृदि तदोजो न स्यात् तदोभयोरपि जीवनं नेति ज्ञेयम्॥ *तत्त्वदेहवान्* चतुर्विंशतितत्त्वात्मकशरीरः। त-

दोषैर्दूष्यैः सुखं प्राप्तो व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैः ॥ ३३ ॥
वातपित्तकफा दोषाः दूष्याः स्युः सप्त धातवः ॥
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि तान्विदुः ॥ ३४ ॥
ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वग् दृग्जिह्वानासिका विदुः ॥
ज्ञानेन्द्रियार्थाश्शब्दाद्याः स्मृताः, कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ ३५ ॥
वाक्पाणिपादपाय्वन्धुसंज्ञान्याहुर्मनीषिणः ॥
वचनादानगतयो विसर्गानन्दसंयुताः ॥ ३६ ॥
कर्मेन्द्रियार्थाः संप्रोक्ता अन्तः करणमात्मनः ॥
मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं च परिकीर्तितम् ॥ ३७ ॥

त्वान्यनन्तरं वक्ष्यति ॥ *दोषैरिति* । सुखं यथा स्यात्तथा दोषैर्दूष्यैः प्राप्तोनिजेन्द्रियैर्व्यक्तिं याति । अनेनाष्टममासपर्यन्तं वृद्धिरुक्ता ॥ ३३ ॥

दोषादीनेवाह-*वातेति* ॥ *तानिति* धातून् । एषां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणता ज्ञेया । तदुक्तं *सुश्रुते*-"वसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । भवन्त्यन्योऽन्यतः सर्वे प्रचिताः पक्तृतेजसा" इति ॥ ननु कथं त्वचोऽसृजं प्रति कारणतेति चेत्सत्यं त्वगसृजी तु रसत उत्पन्ने, तदुक्तम्-"रसः स नाडीमध्यस्थः शारीरेणोष्मणा भृशम् । पच्यते पच्यमानाच्च भवेत्पाकद्वयं पुनः ॥ चर्मावेष्ट्य समन्ताच्च रुधिरं च प्रजायते" इति ॥ *अन्यत्रापि* "त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । सप्त स्युस्तत्र चोक्ता त्वक्त्वक्त्वं(रक्तं)जाठरवह्निना ॥ पक्वान्नवेदन्नरसादेवं रक्तादिभिस्तथा । स्वस्वकोशाग्निना पक्वैर्जन्यन्ते धातवः क्रमात्" ॥ इति । *नारायणीयेतु* । त्वगित्यादि पठित्वा "रसास्त्वेति पठन्त्येके" इत्युक्तम्॥३४॥

व्यक्तिं याति निजेन्द्रियैरित्युक्तन्तानीन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गात्तेषां च विषयानप्याह-*ज्ञानेति* । अर्थशब्दो विषयवाची उभयत्रापि *शब्दाद्याः* शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पूर्वं भूतगुणेपूक्तेरत्रादिनोक्तिरित्यवधेयम् ॥ ३५ ॥

अन्धु लिङ्गम् ॥ ३६ ॥

आत्मनः-"ग्राहकमि"मि शेषः । तेन मनसो विषय आत्मेत्युक्तं भवति । अन्तष्करणस्यैव चातुर्विध्यमाह-*मन* इत्यादिना । तत्र सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः, सर्वभावनिश्चयकारिणी बुद्धिः, ज्ञात्रभिमानयुक्तो ऽहङ्कारः, निर्विकल्पकं चित्तमित्येषां भेदः । यदाहुः-"एषा शक्तिः परा जीवरूपिणी प्रोक्तलक्षणा । सङ्कल्पं च विकल्पं च कुर्वाणं तु मनो भवेत ॥ बुद्धिरूपा तथा सर्वभावनिश्चयकारिणी । ज्ञात्र्यस्मीत्यभिमानाद्या सैवाऽहङ्कारसंज्ञिता ॥ निर्विकल्पात्मिका सैव खलु चित्तस्वरूपिणी । एवमेकैव बहुधा नर्त्तकीव प्रतीयते" इति ॥३७॥

एवं पूर्वभूतानि इन्द्रियाण्यप्युक्त्वा तेषां मिलितानां सञ्ज्ञान्तराण्यप्याह-श्लोकद्वयेन । अथवा तत्त्वदेहवानिति यदुक्तन्तानि तत्त्वान्याह-*दशेति*। विकारादिसंज्ञास्तत्प्रसङ्गसङ्गत्या उक्ता इति ज्ञेयम् ॥ यद्वा सूचीकटाहन्यायेन दोषान्दूष्यानुक्त्वा तत्त्वदेहवानित्युद्दिष्टानि तत्त्वानि कानीत्यपेक्षायामाह-*(१)ज्ञानेत्यादि*। कर्मेन्द्रियार्थाः संप्रोक्ताः पृथिव्यादय इत्यर्थस्तेन पञ्चभूतानि दशेन्द्रियाणि दशेन्द्रियार्थाः । एवं पञ्चविंशतितत्त्वानि ॥ यदाहुः "भूतेन्द्रियेन्द्रियार्थैरुद्दिष्टस्तत्त्वपञ्चविंशतिकः" इति ॥ अथच विसर्गानन्दसंयुता इति भिन्नपदकरणेन पायूपस्थयोर्विसर्गस्यैव कार्यत्वात् आनन्दरहितत्वेन चतुर्विंशतेरेव तत्तत्त्वमुक्तं भवति । यदाहुः "न्यानन्दकैश्च तैरपि तत्त्वचतुर्विंशतिस्तथा प्रोक्ते"ति । *मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति* अनेन वचना(वाक्या)दिव्यावर्त्तनेन एतच्चतुष्टययुक्तत्वेन चतुर्विंशतितत्त्वानी-

---

(१) एतच्च स्थूणानिखननन्यायेन सिंहावलोकितकेनोक्तश्लोकव्याख्यानं बोध्यम् ॥

दशेन्द्रियाणि भूतानि मनसा सह षोडश ॥
विकाराः स्युः प्रकृतयः पञ्चभूतान्यहङ्कृतिः ॥ ३८ ॥
अव्यक्तं महदित्यष्टौ तन्मात्राश्च महानपि ॥
साहङ्कारा विकृतयः सप्त तत्त्वविदोविदुः ॥ ३९ ॥
अग्नीषोमात्मकोदेहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः ॥

त्युक्तं भवति । यदाहुः "करणोपेतैरतैस्तत्त्वान्युक्तानि रहितवचनाद्यैरि"ति (३५-३६-३७)

सांख्यमतोक्तचतुर्विंशतितत्त्वानि वदन् तेषां कियतामपि तत्प्रसिद्धाः संज्ञा अप्याह-*दशेति* । अनेन दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि पञ्चतन्मात्राः मनः अहङ्कारः प्रधानं प्रकृतिरिति चतुर्विंशतितत्त्वानि इत्युक्तं, ग्रन्थकृदेव वक्ष्यति—"पञ्चभूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा । गर्वोबुद्धिः प्रधानं च मैत्राणीति विदुर्बुधाः" इति ॥ *विकाराःस्युरि* एषां नित्यं कार्यरूपत्वेन विकारता । अष्टौ प्रकृतय इति सम्बन्धः । उत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वादेषां प्रकृतित्वम् । अत्र भूतानीति भूतशब्देन तन्मात्रा उच्यन्ते । कारणे कार्योपचारात् । भूतानां केवलकार्यत्वेन विकारेऽप्युक्तत्वात् । अग्रे तन्मात्रा इति परामर्शाच्च । यदाहुः—"अप्राकृतिकानि सप्त विकृतिसंज्ञकानि स्युरि"ति ॥ ३८ ॥

अव्यक्तं—प्रधानापरपर्यायाया प्रकृतिरित्यर्थः । अव्यक्तं महदितिव्य त्ययोगोपनार्थः । साव्यक्तं महदिति वा पाठः । यतोऽत्र संहारक्रमोविवक्षितः । यदाहुः—"चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रकृत्यन्तानि सञ्जगुरि"ति ॥ अन्यत्र सृष्टिक्रमापेक्षयोक्तम् । अव्यक्तम्महदहङ्कृतिभूतानीति । *तन्मात्राश्चेति* । साहङ्कारा इति तन्मात्रविशेषणम् । तेन व्यत्ययः । चकारेण प्रकृतय इत्यस्य समुच्चयः ॥ तेनैते सप्त प्रकृतिविकृतिवाच्या इत्यर्थः । उत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्य प्रकृतिभूतत्वात् । पूर्वपूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य विकृतिभूतत्वादेषां प्रकृतिविकृतित्वम् । तदाहुः—"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष" इति । उपसंहरति-*तत्त्वविदो विदुरिति* । अयमर्थः । ज्ञानेन्द्रियाणीत्यादि-एतदन्तं यत्तत्त्वनिरूपणं मया कृतं तत्तत्त्वविदामपि सम्मतमिति । अथच-तत्त्वविदो विदुरित्यनेन पूर्वप्रकारत्रयोक्ततत्त्वानि नास्मत्सम्मतानि अपि त्वेतानि प्रकृत्यन्तान्येव चतुर्विंशतितत्त्वानि । पुरुषान्तानि पञ्चविंशतिः । परान्तानि षड्विंशतिः । अस्मत्सम्मतानीत्युक्तं भवति ॥ इयं योजना साम्प्रदायिकी ॥ तदुक्तं *वायवीयसंहितायां*—"त्रयोविंशतितत्त्वेभ्यः परा प्रकृतिरुच्यते । प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पञ्चविंशकम् ॥ तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः । तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रकृतेः पुरुषस्य च" इति ॥ *केच(१)न *अन्यथा योजयन्ति भूतादिकाहङ्कारसृष्टिमुक्त्वा तैजसादिन्द्रियाण्यासन् इत्युद्दिष्टानि इन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गात्तेषां विषयानप्याह-*ज्ञानेत्यादिपरिकीर्तितं*मित्यन्तेन । उत्तरव्यवहारशेषतया केषांचिन्मन्त्राणां वर्णस्त्वन्यासयोगादिशेषतया च विकारादिदर्शयति—*दशेत्यादि* । तत्त्वविदः इदं विदुः । एषां तत्रान्तर्भावात्तत्त्वविद्भिरेता संज्ञाः कृता इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह-*अग्नीति* । देहः अग्नीषोमात्मकः । कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह-यद्यस्मात्कारणात् । *उभयात्मकोबिन्दुः* । शुक्रमग्निरूपं, रक्तं सोमरूपं, तदात्मकः । यदाहुः—"कलाषोडशकश्चन्द्रः स्याद्द्वादशकलोरविः । कलादशयुतो वह्निः कलाष्टत्रिंशदंशभुक् ॥ सप्तत्रिंशद्भवन्तीह गर्भाधानस्य हेतवः । अग्नीषोमात्मकं तेन गीयते सचराचरम् ॥ कलांशकेन योगेन भूयाद्गर्भस्य सम्भव" ॥ इति । एवमप्यग्नीषोमात्मकामत्यर्थः ॥ अग्नीषोमात्मकोदेह इत्युक्तन्तयोः प्रयोगादिविशेषतया देशविशेषे व्यवहाराय स्थितिमाह—

---

(१) अत्राप्युक्तवत् सिंहावलोकितक्रन्यायेोद्रष्टव्यः । स्थूणानिखतन्यायात् ॥

दक्षिणांशः स्मृतः सूर्यो वामभागो निशाकरः ॥ ४० ॥
नाडीर्दश विदुस्तासु मुख्यास्तिस्रः प्रकीर्त्तिताः ॥
इडा वामे तनोर्मध्ये सुषुम्णा पिङ्गला परं ॥ ४१ ॥
मध्या तास्वपि नाडीस्यादग्नीषोमस्वरूपिणी ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वाख्यासुपूषाऽलम्बुषा मता ॥ ४२ ॥

दक्षिणांश इति । अत्र शास्त्रे दक्षिणभागः क्वचिदग्निशब्देन क्वचित्सूर्यशब्देनापि व्यवह्रियते । "अग्नेयो दक्षिणो भाग" इत्युक्तेः । *वायवीयसंहितायामपि*—"द्विधा वै तेजसी वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिके"ति ॥ ४० ॥

पूर्वोक्तसूर्यनिशाकरयोः स्थितिमुपपादयितुं शरीरे नाडीर्मुख्या विदुरित्यन्वयः । "नाड्योऽनन्ता" इति वक्ष्यमाणत्वात् । तासु दशस्वपि तिस्रो मुख्याः प्रकीर्तिताः । तासु मुख्या इति पदस्य चावृत्त्या योजना । अत्रावृत्तिकारणं प्रकीर्तिता इत्यस्योपादानमन्यथा विदुरित्यनेनैव गतार्थत्वात् । उक्तं च "तत्राद्यास्तिस्रो मुख्यतमाः स्मृताः" इति ॥ तासामेव स्थितिमाह—*इडेति* । तनोरिति त्रिषु स्थानेषु सम्बध्यते । वामेइडा वामसुष्कोत्था धनुर्वक्रा सती वामनासापर्यन्तं गता इत्यर्थः । तयोर्मध्ये पृष्ठवंशान्तर्गता सुषुम्णा "या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगते"त्युक्तेः । *परे* दक्षिणे दक्षिणमुष्कोत्था धनुर्वक्रा दक्षिणनासापर्यन्तं गतेत्यर्थः । यदाहुः—"या वाममुष्कसम्बद्धा सा श्लिष(ष्य)न्ती सुषुम्णया । दक्षिणं वृक्कमाश्रित्य धनुर्वक्रा हृदि श्रिता ॥ वामांसजत्त्वन्तरगा दक्षिणां नासिकामियात् । तथा दक्षिणमुष्कोत्था नासाया वामरन्ध्रगा" इति ॥ *तन्त्रान्तरेऽपि* । "सुषुम्णाकालि(लिप)ता याता मुष्कं दक्षिणमाश्रिता । हृद्गता वामभागस्य जत्रुमध्यं समाश्रिता ॥ दक्षिणं नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजात्मजे । वाममुष्कसमुद्भूता तथाऽन्या सव्यनासिकामि"ति ॥ अनयोः स्वरूपमुक्तं *योगार्णवे*—"इडा च शङ्खकुन्दाभा तस्याः सव्ये व्यवस्थिता । पिङ्गला सितरक्ताभा दक्षिणं पार्श्वमाश्रिते"ति । अनेन पिङ्गलेडयोः क्रमेण सूर्याचन्द्रमसोः स्थितिरुक्ता भवति ॥ "इडायां सञ्चरेच्चन्द्रः पिङ्गलायां दिवाकरः" इत्युक्तेः ॥ ४१ ॥

मध्येति सुषुम्णाया मुख्यत्वं वदन् स्वरूप माह—*तास्वपीति* । अपिशब्दात् मुख्येत्यनुषज्यते । तासु तिसृषु । मध्या सुषुम्णा । "मुख्या सुषुम्णैव च तासु नाडी"त्युक्तेः । सा कीदृशी ? *अग्नीषोमस्वरूपिणी* । मुख्यत्वे हेतुत्वेन योज्यम् । यतः पूर्वोक्तसोमाग्निरूपयोरिडापिङ्गलयोरत्रैव लयात् । तदुक्तं—"राहोरास्यगत" इति । अनेनास्या ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्थितिरित्यप्युक्तम् ॥ यदाहुः—"तयोः पृष्ठवंशंसमाश्रित्य मध्ये सुषुम्णा स्थिता ब्रह्मरन्ध्रं तु यावदि"ति शिष्टानां सप्तानां नामान्याह *गान्धारीति* । आसां स्थितिःस्वरूपं चोक्तम्—*योगार्णवे*—इडा पृष्ठे तु गान्धारी मयूरगलसन्निभा । सव्यपादादिनेत्रान्ता गान्धारी परिकीर्तिता ॥ हस्तिजिह्वोत्पलप्रख्या नाडी तस्याः पुरस्थिता । सव्यभागस्य मूर्द्धादिपादाङ्गुष्ठान्तमाश्रिता । पूषा तु पिङ्गला पृष्ठे नीलजीमूतसन्निभा । याम्यभागस्य नेत्रान्ताद्यावत्पादतलं गता ॥ अलम्बुषा पीतवर्णा कण्ठमध्ये व्यवस्थिता । यशस्विनी शङ्खवर्णा पिङ्गला पूर्वदेशगा ॥ गान्धार्याश्च सरस्वत्या मध्यगा शङ्खिनी मता । सुवर्णवर्णा पादादिकर्णान्ता सव्यभागके ॥ पादाङ्गुष्ठादिमूर्द्धान्तं याम्यभागे कुहूर्मते"ति ॥ *अन्यैस्तु* वारणा सरस्वती विश्वोदरा यशस्विनी एता अपि मुख्यत्वेनोक्ताः । यदाहुः—"ताश्च भूरितरास्तासु मुख्याः प्रोक्ताश्चतुर्दश । सुषुम्नेडापिङ्गले च कुहूरपि सरस्वती ॥ गान्धारी हस्तिजिह्वा च वारणा च यशस्विनी । विश्वोदरा शङ्खिनी च ततः पूषा पयस्विनी ॥ *अलम्बुषेति* । *अन्यत्रापि*—"अतुर्दशात्र यद्देहे (त्रापघने) प्रधाना नाड्यः स्मृता" । इति ॥ आसां ध्यानं संस्थानं च ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तम् । मुख्या इत्यनेनैव सूचिताः ॥ ४२ ॥ ई ॥

यशस्विनी शङ्खिनी च कुहूः स्युः सप्त नाडयः (डिकाः) ॥
नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णा पञ्चपर्वसु ॥ ४३ ॥
मूलाधारोद्गतप्राणस्ताभिर्व्याप्नोति तत्तनुम् ॥
वायवोऽत्र दश प्रोक्ता वह्नयश्च दश स्मृताः ॥ ४४ ॥
प्राणाद्या मरुतः पञ्च नागः कूर्मो धनञ्जयः ॥

सामान्या आह-*नाड्य इति*। सुषुम्णा पञ्चपर्वसु अनन्ता नाड्यः समुत्पन्नाः। पञ्चपर्वाणि-स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञान्तानि। तत्राधोऽधो ग्रन्थिमारभ्योर्ध्वोर्ध्वग्रन्थिपर्यन्तं पर्वसमाप्तिः। यद्यपि "ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी" इति कोशः। "इक्षुः पर्वावधिः स्मृत" इति व्यवहारश्च। तथाप्यत्र षण्णां ग्रन्थीनां सत्त्वादेवं व्याख्यातम्। आश्वलायनश्रौतसूत्रभाष्यकारेण "पर्वण्यं जपेत्" इत्यत्र पर्वशब्दस्यैवं व्याकृतत्वात्। एतदभिप्रायेणैव वक्ष्यति "मध्यमाङ्गुलिपर्वणि" इति। सुषुम्णायामेतेषु पर्वसु इडा पिङ्गलायोगो भवतीति ज्ञेयम्। *अनन्ता इति*। गणयितुम् अशक्यत्वादानन्त्यम्। यदाहुः—"पूर्वोक्तायाः सुषुम्णाया मध्यस्थायाः सुलोचने। नाभिहृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यपर्वसमुद्भवाः॥ अधोमुख्यः शिराः काश्चित् काश्चिदूर्ध्वमुखास्तथा। परा तिर्यग्गतास्त्याश्च तत्र लक्षत्रयाधिकाः॥ नाड्योऽर्द्धलक्षसंख्याताः प्रधानाः समुदीरिताः। तासु सर्वासु बलवान् प्राणो वायुः समन्ततः।। संस्थितः सर्वदाव्याप्त" इति। *अध्यात्मविवेके* तु विशेषः "अस्थ्नां शरीरे संख्या स्यात् षष्ट्युक्तं शतत्रयम्। त्रीण्येवास्थिशतान्यत्र धन्वन्तरिरभाषत॥ द्विशते त्वस्थिसन्धीनां स्यातामत्र दशोत्तरे। पेशीस्नायुशिरासन्धिसहस्त्रद्वितयं शतम्॥ नव स्नायुशतानि स्युः पञ्च पेशीशतान्यपि। अधिका विंशतिः स्त्रीणां स्तनयोर्दिग् भगे दश।। शिराधमनिकानां तु लक्षाणि नवविंशतिः। साद्धानि स्युर्नवशती षट्पञ्चाशद्युता तथा" इति ॥ ४३ ॥

नाडीनां फलमाह—*मूलेति*। वक्ष्यमाणेभ्यो भिन्नो मुख्यो देहधारकप्राणाभिन्नो वायुः। यदाहुः—"राजसः प्राणसंज्ञः स्यान्मुख्यो देहस्य धारकः। तदंशा दश विख्याता यैर्व्याप्तं स्याच्छरीरकमि"ति। सा चासौ तनुश्च ताम्॥ पूर्वोक्तं शरीरं तदंशांश्च वदन् प्रसङ्गादग्नीनप्याह—*वायव इति*॥ ४४॥

तत्रासामान्याह—*प्राणाद्या इति*। आदिशब्देनापानव्यानोदानसमानाः। प्रसिद्धत्वेनादिनोक्तिः। तत्र विशेषो *योगार्णवे*—"इन्द्रनीलप्रतीकाशं प्राणरूपं प्रकीर्तितम्। आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे॥ प्राणालयमिति प्राहुः पादाङ्गुष्ठेऽपि केचन। अपानयत्यपानोऽयमाहारं च मलादिकम्॥ शुक्रं मूत्रं तथोत्सर्गमपानस्तेन मारुतः। इन्द्रगोपप्रतीकाशः सन्ध्याजलदसन्निभः॥ स च मेढ्रे च पायौ च ऊरुवङ्क्षणजानुषु। जङ्घोदरे कृकाट्यां च नाभिमूले च तिष्ठति।। व्यानोऽन्नशयत्यन्नं सर्वव्याधिप्रकोपनः। महारजतसुप्रख्यो हानोपादानकारकः॥ स चाक्षिकर्णयोर्मध्ये कट्यां वै गुल्फयोरपि। घ्राणे गले स्फिग्गुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम्।। स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः। उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः।। विद्युत्पावकवर्णः स्यादुत्थानासनकारकः। पादयोर्हस्तयोश्चापि स तु सन्धिषु वर्त्तते।। पीतं भक्षितमाघ्रातं रक्तपित्तकफानिलान्। समं नयति गात्राणि समानो नाम मारुतः।। गोक्षीरसदृशाकारः सर्वदेहे व्यवस्थितः। उद्गारो नाग इत्युक्तो नीलजीमूतसन्निभः॥ उन्मीलने स्थितः कूर्मो भिन्नाञ्जनसमप्रभः। कृकलस्तु क्षुते चैव जपाकुसुमसन्निभः।। विजृम्भणे देवदत्तः शुद्धस्फटिकसन्निभः। धनञ्जयस्तथा घोषे महारजतवर्णकः॥ ललाटे चोरसि स्कन्धे हृदि नाभौ त्वगस्थिषु। नागाद्या वायवः पञ्च सहैव परिष्ठिताः" इति। *आचार्यास्तु*—"[illegible] स तु [illegible]

कृकलः स्याद्देवदत्त इति नामभिरीरिताः ॥ ४५ ॥
अग्नयो दोषदूष्येषु संलीना दश देहिनः ॥
बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य, मनसः स्मृतौ ॥ ४६ ॥
शोकमोहौ, शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥
स्नाय्वस्थिमज्जानः शुक्रात् त्वङ्मांसास्राणि शोणितात् ॥ ४७ ॥
षाट्कौशिकमिदं प्रोक्तं सर्वदेहेषु देहिनाम् ॥
इत्थंभूतस्तदा गर्भे पूर्वजन्मशुभाशुभम् ॥ ४८ ॥
स्मरंस्तिष्ठति दुःखात्मा च्छन्नदेहो जरायुणा ॥
कालक्रमेण स शिशुर्मातरं क्लेशयन्नपि ॥ ४९ ॥
स पिण्डितशरीरोऽथ जायतेऽधमवाङ्मुखः ॥

किकवायुत्वान्मृतं च नच मुञ्चति" इति ॥ *अन्यैस्तु* चत्वारो वायव अधिका उक्ताः—"वैरम्भणः स्थानमुख्यः प्रद्योतः प्रकृतस्तथा। वैरम्भणादयस्तत्र सर्गवायुवशङ्गताः" इति ॥ ४५ ॥

अग्नीनां स्थितिमाह—*अग्नय* इति । तेषां नामान्यन्यत्रोक्तानि—"ते जातवेदसः सर्वे कल्माषः कुसुमस्तथा । दहनः शोषणश्चैव तपनश्च महाबलः ॥ पीठरः पतगः स्वर्णस्त्वगाधो भ्राज एव च" । *अन्यत्र तु* नामान्तराण्युक्तानि—"जम्भको दीपकश्चैव विभ्रमभ्रमशोभनाः। आवसथ्याऽऽहवनीयौ दक्षिणाग्निस्तथैवच ॥ अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते दश वह्नयः" ॥ इति । *अन्यैरन्यथोक्तानि*—"भ्राजको रञ्जकश्चैवं क्लेदकः स्नेहकस्तथा। धारको रन्धकश्चैव द्रावकाख्यश्च सप्तमः ॥ व्यापकः पावकश्चैव श्लेष्मको दशमः स्मृतः" ॥ इति । दोषाः वातपित्तकफाः दूष्याः ।सप्तधातव इति प्रागेवोक्तम् ॥ एवं प्राणमुक्त्वा तस्य विशिष्टे अवस्थे वदन् प्रसङ्गात् मनः शरीरयोरप्याह—*बुभुक्षेति* । उर्मिर्नाम आर्त्युत्पादको ऽवस्थाविशेषः ॥ ४६ ॥ $\frac{3}{2}$ ॥

षडूर्म्मिप्रसङ्गात् षाट्कौशिकं वदन् शुक्रशोणितकार्यं विविच्याचष्टे—*स्नायूविति* शुक्रात्* पितुः शुक्रात् । स्नाय्वादि । *शोणितात्* मातुः शोणितात् । त्वगादि । "मातृतस्त्रीणि पितृतस्त्रीणि" इति । *अन्यत्र तु*—"मृदवः शोणितं मेदो मांसं प्लीहा यकृद् गुदः । हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृ भवा मताः ॥ स्मश्रुलोमकचाः स्नायुशिराधमनयो नखाः । दशनाः शुक्रमित्यादि स्थिराः पितृसमुद्भवा" । इति ॥ ४७ ॥ $\frac{3}{2}$ ॥

गर्भाशये तत् स्थितिप्रकारमाह—*इत्थंभूत इति* । इत्थंभूः। उर्वन्तरितहस्तबद्धश्रोत्रः। मातृपृष्ठमाश्रितो मोक्षोपायमभिध्यायन् इत्यर्थः। यदाहुः—"पाल्य(१)न्तरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः । उद्विग्नो गर्भसंवासादास्ते गर्भे लयान्वितः ॥ स्मरन् पूर्वानुभूतांश्च नानायोनीश्च यातनाः । मोक्षोपायमभिध्यायन् वर्त्ततेऽभ्यासतत्पर" इति ॥ *अन्यत्र विशेषः*—"कृताञ्जलिर्ललाटेऽसौ मातृपृष्ठमभिश्रितः । अध्यास्ते सङ्कुचद्गात्रो गर्भे दक्षिणपार्श्वगः ॥ वामपार्श्वश्रिता नारी क्लीवं मध्याश्रितं मतम्" इति ॥ ४८ ॥ $\frac{3}{2}$ ॥

कालक्रमेणेति ॥कालक्रममाह *याज्ञवल्क्यः*—"नवमे दशमे वाऽपी"ति । *अन्यत्रापि*—"समयः प्रसवस्याथ मासेषु नवमादिषु" इति ॥ ४९ ॥

सपिण्डितशरीरः सङ्कुचद्गात्रः । अवाङ्मुखः—अधोमुखः सन् । जायते—उत्पद्यते "सूतिमारुतैर्नुन्नः" इति शेषः । यदाहुः—"प्रबलैः सूतिमारुतैः । निः सार्यते बाणइव

---

(१) पालिरङ्घ्रिः । यथाचामरः "पालिरस्र्यङ्घ्रिपङ्क्तिषु" इत्यादि ॥ मेदिन्यान्तु "पालिः कर्णलताग्रेऽस्रौ पङ्क्तावङ्कप्रभेदयोः । छत्रादिदेये स्त्री युकास्मश्रुयोषितोरि"त्युक्तम् ॥

क्षणन्तिष्ठति निश्चेष्टो भीत्या रोदितु(दन)मिच्छति ॥ ९० ॥
ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ॥
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥ ९१ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानु(थेदार्थ)गा शुभा ॥
परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता ॥ ९२ ॥

यन्त्रच्छिद्रेण सत्वर" इति। *अन्यत्रापि*—"क्रियतेऽधःशिराः सूतिमारुतैः प्रबलैस्ततः। निःसार्यते रुजद्गात्रो यन्त्रच्छिद्रेण बालकः" इति ॥ *क्षणं निश्चेष्टस्तिष्ठति*। "भूमावि"ति शेषः ॥ ९० ॥

एवं शरीरोत्पत्तिपर्यन्तामर्थसृष्टिमुक्त्वा तत्प्राप्त्येति सामान्यत उक्त्वा शब्दसृष्टिं विविच्य वक्तुं "भीत्या रोदितुमिच्छति" इत्युक्तरोदनस्याप्यव्यक्तवर्णात्मकत्वाद्वर्णोत्पत्तिप्रकारं वदन् सर्वमन्त्राणां सामान्यतः कुण्डलिनीतउत्पत्तिमाह—*तत इत्यादिना*। तदुक्तम्—"मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः। वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा बद्धस्तस्माद्भवति पवनः प्रेरितो वर्णसंघः॥ श्रोतो मार्गस्याविभक्तत्वहेतोस्तत्रार्णानां जायते न प्रकाश"इति। तत्र *ततः* शरीरोत्पत्त्यनन्तरं चैतन्यरूपा। अतएव शब्दब्रह्ममयी सा देवी कुण्डली परदेवता सर्वगात्रेण(षु) गुणिता, अतएव विश्वात्मना प्रबुद्धा—जातप्रबोधा मन्त्रमयं जगत् सूत इति दूरेण सम्बन्धः। (१)तत्र मूलाधारे कुण्डलीभूतसर्पवन्नाडी वर्त्तते। तन्मध्ये वायुवशादस्याः सञ्चरणमेव गुणनम्। तत्र *चैतन्यरूपेति*—स्वरूपाख्यानं *सा* प्रसिद्धा। *सर्वगेति* सामान्यतो व्याप्तिर्दर्शिता। *विश्वरूपिणीति* विषयव्याप्तिः *शिवसन्निधिमासाद्य* "स्थिते"ति शेषः। अनेन शैवसिद्धान्तो—शक्तिशब्दवाच्येयमित्युक्तम्। सन्निधिशब्दोऽप्यौपचारिकस्तन्मते शिवशक्त्योरभेदात्। *तदुक्तमभिनवगुप्तपादाचार्यैः*—"शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति। तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव" इति। यद्वा सम्यङ्निधिस्वरूपं शिवस्वरूपं प्राप्येत्यर्थः। वक्ष्यति च—"पिण्डं भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मे"ति। गुणानां सत्त्वरजस्तमसामुदयो यस्यां सा। नित्यानन्दा चासौ गुणोदया च सा। नित्यानन्देत्यनेन कुण्डलिनीस्वरूपमुक्तं गुणोदयेत्यनेन सांख्यमते प्रकृतिवाच्येत्युक्तम्। यदाहुः "प्रधानमिति यामाहुर्या शक्तिरितिकथ्यते" इति ॥ ९१ ॥

इदानीमाध्यात्माधिभूताधिगुणाधिविषयाधिज्यौतिषक्रमेण तस्याव्याप्तिमाह—*दिक्कालेति*। *सर्वदेहानुगेति*। देहव्याप्तिः। *परापरविभागतः*। काचन परशक्तिः काचनाऽपरा। तद्विभागेनापि इयं परशक्तिरेव। यदाहुः—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयम्मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" इति। यद्वा परः स्थूलः। अपरः महदादिः। तद्विभागेन। *परशक्तिः*स्थूलाशक्तिः। "स्थूलात्स्थूले"त्युक्तेः। अनेन महदादिव्याप्तिः। यद्वा सर्वदेहानुगेत्यनेन शब्दतोऽर्थतश्च पुंस्त्रीनपुंसकलिङ्गव्याप्तिर्दर्शिता। शब्दतो यथा शिव इत्युच्यते। कुण्डलिनीत्युच्यते। प्रधानमित्युच्यते॥ एवं भूतापि सा स्त्रीत्वेनैव निर्दिश्यते इत्याह—*परापरेति*। परा प्रकृतिः। अपरा नपुंसकप्रकृतिस्तद्विभागेन तत्त्यागेन। *इयं*—परशक्तिः स्मृता। अयमर्थः। यद्यपि लिङ्गत्रयवाच्या तथापि तूर्णमेवाचलभक्तजनसमस्ताकाङ्क्षाकल्पवल्ली परशक्तिशब्दवाच्येति। अतएव

---

(१) अतएवेदं कुलकमुच्यते। "द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः स्यात्तु विशेषकम्। कलापकश्चतुर्भिः स्यात्कुलकन्तु ततः परम्" इति। अत्र च सप्तभिः सह सम्बन्धः। इति॥

योगिनां हृदयाऽम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ॥
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥ ५३ ॥
शङ्खावर्तक्रमाद्देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥ ५४ ॥
सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्र(वर्ण)मयी शिवा ॥
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरा विभुः ॥ ५५ ॥
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ॥
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥ ५६॥
गुणिता सर्वगात्रेषु (ण)कुण्डली परदेवता ॥
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत् ॥ ५७ ॥
एकधा गुणिता शक्तिः सर्वविश्वप्रवर्त्तिनी ॥
वेदादिवीजं श्रीवीजं शक्तिवीजं मनोभवम् ॥ ५८ ॥
प्रासादं तुम्बुरुं पिण्डं (वीजं) चिन्तारत्नं गणेश्वरम् ॥

शुभा रमणीया । यदाहुः *आचार्याः* "पुन्नपुंसकयोस्तुल्याऽप्यङ्गनासु विशिष्यत" इति ॥ *नित्यक्लिन्नाम्नायेऽपि*—"सर्वत्रावस्थिता ह्येषा कामिनीषु विशेषतः । प्रकाशते ततस्तासामनिवृत्तिन्न कारयेदि"ति । *अञ्जसा* तत्त्वेन योगिनां हृद्याम्भोजे नित्यं नृत्यन्तीत्यनेनैव गुरूपदशेन ज्ञायते इत्यर्थः । "दृश्या देशिकदेशितै" रित्युक्तेः ॥ ९२ ॥ $\frac{१}{२}$ ॥

सर्वभूतानां सर्वजन्तूनाम् *आधारे* मूलाधारे चक्रे *स्फुरन्ती*त्यनेन स्थाननिर्देशः *विद्युदाकृतिरिति* अनेन ध्यानमुक्तम् । यदाहुः—"तडित्कोटिप्रख्यां स्वरुचिजितकालानलरुचिमि"ति । अथवा । अनेन अनेकशब्दोत्पत्तिहेतुत्वेनानेकविलासवतीत्युक्तम् ॥ ९३ ॥

शङ्खेति मध्ये य आवर्त्तः स यथा शङ्खमध्यमावृत्य तिष्ठति । तद्वदियमपि देवीत्यर्थः । इदमवान्तरवाक्यं भिन्नमेव । शङ्खेति कुण्डलीत्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावेन योजना । *कुण्डलीभूता* कुण्डलाकारतां प्राप्ता ये सर्पास्तेषाम् । *केचन* कुण्डलांति भिन्नं पदं वर्णयन्ति । भूतानि सर्पाश्च एते यथा कुटिलगतयस्तद्वदियमपीत्यर्थ इति । तन्न । कुण्डलीपरदेवतेत्यनेन पुनरुक्तेः॥९४॥

सर्वदेवमयीति देवव्याप्तिः । दीव्यतीति देवी तेजोरूपेत्यर्थः । अनेन तेजोव्याप्तिः *सर्वमन्त्रमयीति* मन्त्रव्याप्तिः । शिवा—शिवरूपेत्यर्थः । यद्वा *शिवा* कल्याणरूपा ॥ *साक्षात् सर्वतत्त्वमयीति* तत्त्वव्याप्तिः । सूक्ष्मतरा विभुरिति विरोधपरिहारस्तु—सूक्ष्मतरा दुर्ज्ञाना । यद्वा सूक्ष्मात् त्रसरेणोरपि सूक्ष्मतरा अणुतरा । अनेनाण्वादिव्याप्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—"बालाग्रस्य सहस्रधाविदलितस्यैकेन भागेन या सूक्ष्मत्वात् सदृशी त्रिलोकजननी"ति । *विभुः* इयत्तया ज्ञातुमशक्या ॥ ९९ ॥

त्रिधामेति सूर्यसोमाग्निरूपम् । यद्वा त्रिधामेति स्थानत्रयं पाताल-भू-स्वर्ग-रूपम् अनेन स्थानव्याप्तिर्दर्शिता ॥ *द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मेति* भूतलिपिमन्त्रमयी । *पञ्चाशद्वर्णरूपिणीति* । मातृकामयी ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

एवं सामान्यत उत्पत्तिमुक्त्वा एकद्व्यादिविशेषाकारेण शब्दसृष्टिं वदन् प्रसङ्गादन्तरन्तर्गच्छन्दसूचितामर्थसृष्टिमप्यभिधातुमुपक्रमते—*एकधेति* । सर्वं विश्वं शब्दार्थरूपं तत्प्रवर्त्तिनी तदुत्पादिका शक्तिरेकधा गुणिता वेदादिवीजमुत्पादयतीति सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् ॥ वेदादिवीजं*—प्रणवमन्त्ये वक्ष्यति, *श्रीवी*जमष्टमे, *शक्तिवीजं* नवमे । *मनोभवं* सप्तदशे ॥ ९८ ॥ $\frac{१}{२}$ ॥

*प्रासाद*मष्टादशे । *तुम्बुरु* मेकोनविंशे *पिण्ड*मुपान्त्ये । *चिन्तारत्न*मेको-

मार्त्तण्डभैरवं दौर्गं नारसिंहं वराहजम् ॥ ५९ ॥
वासुदेवं हयग्रीवं बीजं श्रीपुरुषोत्तमम् ॥
अन्यान्यपि च बीजानि तदोत्पादयति ध्रुवम् ॥ ६० ॥
यदा भवति सा सम्वित् द्विगुणीकृतविग्रहा ॥
हंसवर्णौ परात्मानौ शब्दार्थौ वासरत्नये ॥ ६१ ॥
सृजत्येषा परा देवी तदा प्रकृतिपूरुषौ ॥
यद्यदन्यज्जगत्यस्य। युग्मं तत्तदजायत ॥ ६२ ॥
त्रिगुणीकृतसर्वाङ्गी चिद्रूपा शिवगेहिनी ॥
प्रसूते त्रैपुरं मन्त्रं मन्त्रं शक्तिविनायकम् ॥ ६३ ॥
पाशाद्यं त्र्यक्षरं मन्त्रं त्रैपुटं चण्डनायकम् ॥
सौरं मृत्युञ्जयं शक्ति शाम्भवं विनतासुतम् ॥ ६४ ॥
वागीशीत्र्यक्षरं मन्त्रं नीलकण्ठं विषापहम् ॥
यन्त्रं त्रिगुणितं देव्या लोकत्रयगुणत्रयम् ॥ ६५ ॥

नविंशे, *गणेश्वरं–त्रयोदशे *मार्त्तंडभैरवं*–चतुर्दशे, *दौर्गमे*कादशे । *नारसिंहं*–षोडशे, *वाराहं*–पञ्चदशे ॥ ५९ ॥

वासुदे ं ग्लौं इदं गोपालबीजत्वेनोद्धृतन्तद्वासुदेवशब्देनोक्तम्। तत्सप्तदशे । नारदपञ्चरात्रोक्तं वियन्मात्रं वासुदेवबीजं वा ॥ *हयग्रीवं* पञ्चदशे । *श्रीपुरुषोत्तम*मिति । "श्रीयुक्पुरुषोत्तम" इत्युक्तत्वात् शक्तिशक्तिमतोरभेदात् पुरुषोत्तमशक्तिबीजं श्रीपुरुषोत्तमबीशब्देनोक्तं तत् सप्तदशे ॥ अत्र कामबीजमेव पुरुषोत्तमबीजत्वेनोक्तम् । यदाहुः—"धरया लिङ्गितो ब्रह्मा मायाबिन्दुविभूषितः । पुरुषोत्तमसंज्ञोऽत्र देवो मन्मथविग्रहः" इति *अन्यान्यपीति* ।,चन्द्रबीजबिम्बबीजादीनि ॥ ६० ॥ ३/२ ॥

हंसवर्णौ चतुर्दशे *परात्मानौ* वर्णौ इति सम्बध्यते । परमात्मवाचकावित्यर्थः । तौ सोऽहंरूपावन्त्ये ॥ ६१ ॥

प्रकृतिपूरुषाविति । यद्यपि पुरुषोनादिस्तथापि मायाशबलितत्वेनात्र प्रादुर्भावप्रचारात्॥

अन्यत् युग्ममस्याः सकाशादजायतेति सम्बन्धस्तद्यज् ज्योतिर्मन्त्रादि ॥ ६२ ॥ ३/२ ॥

त्रैपुरं मन्त्रद्वयं द्वादशे *शक्तिविनायकं* त्रयोदशे । यद्यप्यग्रे नवाक्षरयोगात् द्वादशाक्षरस्तथापि बीजत्रयात्मकत्वं त्रयाणां बीजरूपत्वेन प्राधान्यात् । "ह्रींग्रींह्रीं" इति तन्त्रान्तरोक्तोवा ॥ ६३ ॥

पाशाद्यं नवमे । *त्र्यक्षरमि*ति । त्रिकण्टकीद्वयं दशमे । विशेषणविशेष्यभावो वा । *त्रैपुटं* दशमे । *चण्डनायकं* चण्डेश्वरं विंशे ॥ *सौरं* चतुर्दशे *मृत्युञ्जय*मष्टादशे । *शक्तिसम्भव*मन्त्रद्वयं नवमे । शाक्तं शाम्भवमिति पाठे शाम्भवं तन्त्रान्तरोक्तं प्रणवमायाबीजप्रासादात्मकं *विनतासुतं* क्षिपओं इति तन्त्रान्तरोक्तम् ॥ ६४ ॥

वागीशीत्र्यक्षरं सप्तमे । वागीशमिति पाठे त्र्यक्षरमिति नवमस्थं शाक्तमेकम् *विषापहं नीलकण्ठ*मेकोनविंशे ॥ *यन्त्रं* नवमे, *गुणत्रयं धामत्रयं* चतुर्थं । यद्यप्यथर्ववेदोऽस्ति तथापि हौत्राध्वर्यवौद्गात्ररूपपदार्थत्रयेण यज्ञनिष्पादनाद् *वेदानां त्रय*मित्युक्तम् । श्रुतिरपि—"सैषा त्रयी विद्या यज्ञ" इति । *वर्णत्रयं*–प्रणवस्य । अकारोकारमकाराः *त्रिपुष्कर* तीर्थत्रयम् । [illegible] त्रित्वम् । *स्वरत्रयम्* उदात्तानुदात्तस्वरितम् । *त्रै-

धामत्रयं सा वेदानां त्रयं वर्णत्रयं शुभा ॥
त्रिपुष्करं स्वरान्देवी ब्रह्मादीनां त्रयं त्रयम् ॥ ६६ ॥
वह्नेः कालत्रयं शक्तित्रयं वृत्तित्रयं मतम् ॥
नाडीत्रयं त्रिवर्गं सा यद्यदन्यत् त्रिधा मतम् ॥ ६७ ॥
चतुःप्रकारगुणिता शाम्भवी शर्मदायिनी ॥
तदानीं पद्मिनीबन्धोः करोति चतुरक्षरम् ॥ ६८ ॥
चतुर्वर्णं महादेव्या देवीतत्त्वचतुष्टयम् ॥
चतुरः सागरानन्तः करणानां चतुष्टयम् ॥ ६९ ॥
सूक्ष्मादींश्चतुरो भावान् विष्णोर्मूर्त्तिचतुष्टयम् ॥
चतुष्टयं गणेशानामात्मादीनां चतुष्टयम् ॥ ७० ॥
तथापूजादिकं पीठं धर्मादीनां चतुष्टयम् ॥
दमकादीन् गजान् देवी यद्यदन्यच्चतुष्टयम् ॥ ७१ ॥
पञ्चधा गुणिता पत्नी शम्भोः सर्वार्थदायिनी ॥

त्र्यो* गायत्रीसरस्वतीसावित्र्यः,*ब्रह्मादीनां*–ब्रह्मविष्णुमहेशानां त्रयं नवमे, देवी(१)ति भिन्ने पदे कुण्डलीविशेषणम् । *वह्नेस्त्रयं* दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयम् । *कालत्रयम्* अतीतवर्तमानभविष्यद्रूपम् । प्रातर्मध्याह्नसायंकालरूपं वा । *शक्तित्रयं* रौद्रीज्येष्ठावामात्मकन्तदाद्ये ।प्रभावोत्साहमन्त्ररूपं वा । *वृत्तित्रयं* "याजनाध्यापनप्रतिग्रा रूपम् "त्रीणि कर्माणि जीविके" तिस्मरणात् । कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यंवा वृत्तित्रयम् । * हदिति* पाठे नाडीत्रयस्य विशेषणत्वेन महदिति योज्यम् *नाडीत्रयम्* । इडासुषुम्नापिङ्गलारूपमाद्ये । *त्रिवर्गं* धर्मार्थकामाः 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैः' इत्युक्तेः । *अन्यदिति* दोषत्रयादि ॥६५॥६६॥६७॥

*पद्मिनीबन्धो*रिति । तन्त्रान्तरोक्तः प्रणवमायाहंसवर्णात्मकः ॥ ६८ ॥

महादेव्या महालक्ष्म्याः अष्टमे । *देवीतत्त्वचतुष्टयम्* आत्मविद्याशिवसर्वतत्त्वम् *चतुरःसागरानिति* । प्रागादिदिगपेक्षया चतुष्ट्वं वस्तुतस्तस्यैकत्वात् । *अन्तःकरणानां* सूक्ष्मादीनामिति चाद्ये ॥ ६९ ॥

सूक्ष्मा–परा *आदि*शब्देन पश्यन्तीमध्यमावैखर्यः । *तदुक्तम्* "वैखरी मध्यमा चैव पश्यन्ती चापि सूक्ष्मया । व्युत्क्रमेण भवन्त्येताः कुण्डलिन्यादितः क्रमात् ॥" इति । *भावान्* अवस्थाविशेषान् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयान् । विशेषणविशेष्यभावो वा । *विष्णुमूर्त्ती*रष्टमे *गणेशाना*मिति । त्रयोदशे । *आत्मादीना*मिति* चतुर्थे ॥ ७० ॥

*पीठमि*ति । उड्याणजालन्धरपूर्णगिरिकामरूपाणि । *धर्मादीना(२)मि*ति चतुर्थे (तुर्य्ये) । अधर्मादीनामप्युपलक्षकं, धर्मार्थादीनां वा ।तवाद्ये॥ *गजानि*त्यष्टमे । *अन्यदिति । सिद्धादिमण्डलदीक्षा हेरम्बमन्त्रदेवी दूतीबीजादि । ७१ ॥

पञ्चधेति ।· *क्रमात् पञ्चकूटादिक*मेषा* *सृजतीति* [७५]सम्बन्धः । क्रमस्तु वक्ष्यमाणः शक्तिध्वन्यादिकः । एवमग्रेऽपि । पदक्रमादिति पदानि शब्दसृष्टौ संयो-

---

(१) एतेनात्र पाठभेद इति ज्ञायते–पदे इति सप्तमी सतीत्यर्थे मूले तु देवीरिति पाठः॥

(२) अत्र पक्षे–धर्म-ज्ञान-वैराग्यै-श्वर्याणि धर्म्मादीन्यभिमतानि.पक्षान्तरे धर्म्मा–अर्थ-काम—मोक्षा धर्मादयः॥

त्रिपुरा पञ्चकूटं सा तस्याः पञ्चाक्षरद्वयम् ॥ ७२ ॥
पञ्चरत्नं महादेव्याः सर्वकामफलप्रदम् ॥
पञ्चाक्षरं महेशस्य पञ्चवर्णं गरुत्मतः ॥ ७३ ॥
संमोहनान्पञ्चकामान्बाणान्पञ्च सुरद्रुमान् ॥
पञ्चप्राणादिकान् वायून् पञ्च वर्णान् महेशितुः ॥ ७४ ॥
मूर्त्तीः पञ्च, कलाः पञ्च पञ्च ब्रह्म ऋचः क्रमात् ॥
सृजत्येषा परा शक्तिर्वेदवेदार्थरूपिणी ॥ ७५ ॥
षोढा सा गुणिता देवी धत्ते मन्त्रं षडक्षरम् ॥
षट्कूटं त्रिपुरामन्त्रं गाणपत्यं षडक्षरम् ॥ ७६ ॥
षडक्षरं महेशस्य श्रीकृष्णस्य षडक्षरम् ॥
षडक्षरं हिमरुचेर्नारसिंहं षडक्षरम् ॥ ७७ ॥
ऋतून् वसन्तमुख्यांश्च(१) आमोदादीन् गणाधिपान् ॥

ज्याऽयमेवार्थस्तेषां व्याख्येयः । *पञ्चकूटमि*ति । हसकलर एते पञ्चवर्णाः एकीकृताः कूट-शब्देनोच्यन्ते । *तस्याः पञ्चाक्षरद्वयमिति* । एकः पञ्चकामैरपरो बाणबीजैरेतानि द्वादशे । तदुक्तम् *दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्* "त्रिपुरेशीमन्त्रमध्ये बाणाः प्रोक्ता महेश्वरि । तैरेव पञ्चभिर्वर्णैर्विद्या पञ्चाक्षरी भवेत् ॥ पूर्वोक्तपञ्चकामैस्तु पञ्चकामेश्वरी भवेत्" । इति ॥ ७२ ॥

पञ्चरत्नमिति । ग्लुं म्लुं स्लुं प्लुं(२) ब्लुं इति मन्त्रपञ्चकं तन्त्रान्तरोक्तम् । "सिद्धाम्बा विजया श्यामा वाराही सुन्दरीत्यपी"ति । *महेशस्येति* । अष्टादशे । *गरुत्मत* इति । चतुर्विंशे ॥ ७३ ॥

*संमोहनानि*ति । बहुवचनमाद्यर्थम् । संमोहनादीन् । *कामान्* द्वादशे *सुरद्रुमान्* मन्दार पारिजात सन्तान कल्पद्रुम हरिचन्दनान् *वायूनाद्ये* । *वर्णान्* शुक्लादीन् तृतीये *महेशितु*रित्यग्रिमेण सम्बध्यते । *मूर्त्ती*रष्टादशे *कला*—निवृत्त्याद्या आद्ये । *ब्रह्म ऋच* ईशानाद्या अष्टादशे । अन्यदित्यपि ज्ञेयम् । तच्च भूतप्रणवभेदादित्यमूर्तिपञ्चगव्यादि *धत्ते* विधत्ते करोतीत्यर्थः । *षडक्षरं* राममन्त्रं पञ्चदशे । *षट्कूटमिति* त्रिपुरार्णवोक्तम् । षट्कूटं मध्यबीजम् । तदुक्तं—"कान्तान्तवान्ताकुललान्तवामनेत्रान्वितं दण्डिकुलं सनादम् । षट्कूटमेतत् त्रिपुरार्णवोक्तमत्यन्तगुह्यं स्मर एव साक्षादि"ति । *गाणपत्यं* तन्त्रान्तरोक्तं(३) चतुर्थ्यन्तं वक्रतुण्डं वर्मान्तम् ॥ ७४-७५-७६ ॥

षडक्षरं शैवमष्टादशे षडक्षरं कृष्णमन्त्रं सप्तदशे । विशेषणविशेष्यभावो वा ।* हिम-रुचेः-(४)षडक्षरं चतुर्दशे, *नारसिंहं* षोडशे । षडक्षरं पाशुपतास्त्रं, विंशे विशेषण-विशेष्यभावो वा ॥ ७७ ॥

---

(१) रुयान् षट् आमोदादीनित्यपि पाठः ।

(२) अत्र दीर्घोकारघटिताः पञ्च वर्णाः पुस्तकान्तरे ॥

(३) अत्र गाणपत्यमित्यनेन गणपतिदेवताकम्मन्त्रन्तच्च षडक्षरम् । तच्च "वक्रतुण्डाय हुं" इति । एवमन्यदपि षडक्षरम् यथा शैवं कार्ष्णञ्चेति पृथक् प्रदर्शितम् । यद्वा विशे-षणविशेष्यभावमादायैकमेव गाणपत्यं षडक्षरं यथोक्तमिति विवेचनीयम् ॥

(४) चन्द्रस्य "हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र" इत्यमरः ॥

कोशानूर्मीन् रसान् शक्तीः शाकिन्याद्याः षडध्वनः ॥ ७८ ॥
यन्त्रं षड्गुणितं शक्तेः षडाधारानजीजनत् ॥
षड्विधं यज्जगत्यस्मिन् सर्वं तत्परमेश्वरी ॥ ७९ ॥
सप्तधा गुणिता नित्या शङ्करार्द्धशरीरिणी ॥
सप्तार्णं त्रिपुरामन्त्रं सप्तवर्णं विनायकम् ॥ ८० ॥
सप्तकं व्याहृतीनां सा सप्तवर्णं सुदर्शनम् ॥
लोकान् गिरीन् स्वरान् धातून् मुनीन् द्वीपान् ग्रहानपि ॥ ८१ ॥
समिधः सप्त संख्याताः सप्त जिह्वा हविर्भुजः ॥
अन्यत्सप्तविधं यद्यत् तदस्याः समजायत ॥ ८२ ॥
अष्टधा गुणिता शक्तिः शैवमष्टाक्षरद्वयम् ॥
विष्णोः श्रीकरनामानं मन्त्रमष्टाक्षरं परम् ॥ ८३ ॥
अष्टाक्षरं हरेः शक्तेरष्टारयुगलं परम् ॥

ऋतूनिति । त्रयोविंशे । *आमोदादीनिति* । त्रयोदशे । *कोशानूर्मी*नाद्ये । *रसान्* मधुरादीन् । *शर्करा*मोदादीनां त्रयोदशे । *शाकिन्याद्या*इति । विंशे । शक्तीः शाकिन्याद्या इति विशेषणविशेष्यभावो वा ॥ *षडध्वनः* । पञ्चमे ॥ ७८ ॥

यन्त्रं नवमे । *आधारान्* पञ्चमे । *जगति यत् सर्वं षड्विधम्* । षडङ्गसीतामन्त्र-षट्कर्मासनादि ॥ ७९ ॥ ½ ॥

सप्तार्णमिति । सप्तवर्णं पद्मावतीमन्त्रं दशमे । *त्रिपुरामन्त्रमिति* । मायाबीजाद्यो-ऽनुलोमविलोमभैरवीमन्त्रः *सप्तवर्णम्*—शङ्खमन्त्रं सप्तदशे । *विनायकं* सुब्रह्मण्यं त्रयोदशे यद्वा सप्तार्णं त्रिपुरामन्त्रं विनायकं सप्तवर्णमिति विशेषणविशेष्यभावः ॥ ८० ॥

*व्याहृतीनामि*ति । एकविंशे *सप्तवर्णमिति* । अङ्कुशमन्त्रं सप्तदशे । *सुदर्शनं* षोडशे । विशेषणविशेष्यभावो वा । *लोकान्* भूरादिकान् *गिरीन्* विन्ध्यपारियात्रसह्यर्क्ष-(कृष्ण)मलयमहेन्द्रशुक्तिमतः । *स्वरान्* षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादान् । *धातून्* त्वगादीनाद्ये । *मुनीन्*—वशिष्ठकश्यपात्रिजमदग्निगौतमविश्वामित्रभरद्वाजान् वैवस्वतमन्वन्तरे एत एव ऋषयः सप्त । *द्वीपान्* जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करान् *ग्रहानिति* केषांचिन्मते राहुकेत्वोर्ग्रहत्वाभावात् सप्तेत्युक्ताः । तान् षष्ठे । तथा च । "*वराहमिहिराचार्यैः*"—"अमृतास्वादविशेषाच्छिन्नमपि शिरः किलासुरस्येदम् । प्राणैरपरित्यक्तं ग्रहभावं नैव प्राप्नोति" इत्यादिना "एवमुपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः । राहुरकारणमस्मिन् इत्युक्तः शास्त्रसद्भावः ॥ योऽसावसुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणा पुरा दत्तः । आप्यायनमुपरागे दत्तहुतांशेन ते भवितें"ति ॥ इत्यादिना च बहुना ग्रन्थसन्दर्भेण राहुकेत्वोर्ग्रहता निरस्ता । अपिशब्दादजीजनदिति क्रियानुषज्यते ॥ ८१ ॥

समिधः इत्युत्तरपदमुत्तरक्रियायामन्वेति । *हविर्भुजः समिधः सप्त* श्रुत्युक्ताः । तथा च *श्रुतिः* "सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्त ऋषयः सप्तधाम प्रियाणी"ति । सप्तग्रहाणां वा—'अर्कः पलाशः खदिरोऽप्यपामार्गोऽथ पिप्पलः । उदुम्बरः शमीचे"ति । तदा हविर्भुज इत्यत्र न सम्बध्यते । *सप्तजिह्वा*स्त्रिविधा अपि पञ्चमे । *अन्यदि*ति । प्रकृतिविकृतित्रिपुरातत्त्वगरुडमन्त्रयन्त्रपटलमन्त्रद्वयवैवस्वतमन्त्रादि ॥ ८२ ॥

शैवं—द्वयमप्येकोनविंशे । विष्णोः—श्रीकरनामानं परमष्टाक्षरं कृष्णस्य, द्वावपि सप्तदशे ॥ ८३ ॥

भानोरष्टाद्वरं दौर्गमष्टार्णं परमात्मनः ॥ ८४ ॥
अष्टार्णं नीलकण्ठस्य वासुदेवात्मकं मनुम् ॥
यन्त्रं कामार्गलं दिव्यं देवीयन्त्रं घटार्गलम् ॥ ८५ ॥
गन्धाष्टकं शुभं देवी देवानां हृदयङ्गमम् ॥
ब्राह्म्याद्या भैरवान् सर्पान् मूर्त्तीराशा वसूनपि ॥ ८६
अष्टपीठं महादेव्या अष्टाष्टकसमन्वितम् ॥
अष्टौ ताः प्रकृतीर्विघ्नान्वक्रतुण्डादिकान्क्रमात् ॥ ८७ ॥
अणिमादिगुणान्नागान् वह्नेर्मूर्तीर्यमादिकान् ॥
अष्टात्मकं जगत्यन्यत्सर्वं वितनुते सदा ॥ ८८ ॥
गुणिता नवधा नित्या सूते मन्त्रं नवात्मकम् ॥
नवकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ॥ ८९ ॥

हरेरिति । पञ्चदशे । *शक्तेरिति* । नवमे । युगलमपि *भानोरिति* चतुर्दशे । *दौर्गं* द्वयमप्येकादशे । *परमात्मन* इति षष्ठे ॥ ८४ ॥

नीलकण्ठस्येति । नीलकण्ठशब्देन क्षेत्रपालमन्त्रो गृहीतः । स विंशे । तन्त्रान्तरोक्तो वा "वासुदेवाय स्वाहे"ति "ओं नीलकण्ठाय स्वाहे"ति । *वासुदेवात्मकं मनुं* मन्त्रम् । आगमशास्त्रे मन्त्रस्य मनुशब्दः संज्ञा । ओं नमो वासुदेवायेति तन्त्रान्तरोक्तम् । *कामार्गलं* सप्तदशे । तस्य कामार्गलत्वेन प्रसिद्धभावात्तन्त्रान्तरोक्तं कामार्गलम् "व्योम ब्रह्मेन्द्रलोकेशवह्नित्रामाक्षिबिन्दुमत् । कर्णिकायां लिखेत् साध्यं कामिनीं च दलाष्टके ॥ मूलं मासकलापत्रेष्वालिखेत् स्वरभेदितम् । दन्तपत्रेषु तद्भिन्नवर्णैः सान्तैश्च कादिभिः ॥ वेष्टयेन्समन्द्रेणैतद् बहिः शक्त्याङ्कुशेन च । यन्त्रं घटार्गलेनैतत्तुल्यं कामार्गलं विदुरि"ति ।, *दिव्यं* यमार्गलमित्यर्थः । "दिव्यं यमार्गलं यन्त्रमि"त्युक्तेः । इदं चतुर्विंशं ॥ *देवी*भुवनेशी "हृल्लेखा शक्तिदेव्याख्या" इत्युक्तेः । तस्या *यन्त्र* *घटार्गलं* नवमे ॥ ८५ ॥

गन्धाष्टकमपि त्रिविधं तुर्ये । देवो विष्णुः । देवः शिवश्च । देवौ । देवी च देवौ च देवाः तेषां, क्वचिद्दिव्यमिति पाठः । तत्र देवानामिति सामान्येन । ब्राह्म्याद्याः षष्ठे । अष्टौ *भैरवान्* नवमे । *सर्पान्* त्रयोविंशे । *अष्टमूर्त्तीं*विंशे । *आशाः* पूर्वादीः । *वसूनिति* । "धरो ध्रुवश्च सोमश्च आपश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च अष्टैते वसवः स्मृता" इति ८६

अष्टाष्टकसमन्वितमष्टपीठं चतुःषष्टिविधं, यथा। "मायामङ्गलनागवामनमहालक्ष्मीचरित्राम्रगुच्छायाच्छत्रहिरण्यहस्तिनमहेन्द्रो इडांश चम्पापुरम्।[१४]षष्ठं क्षीरकमञ्जनेश्वरपुरैलाश्चन्द्रपूःश्रीगिरिः कोलाकुल्लकपूर्णपर्वतकुरुक्षेत्रंकलिङ्गार्बुदाः[१२]काश्मी रैकाम्रकान्तामलयगिरिवरैकारकन्धूतदेवी कोट्टाम्रा तेशजालन्धरसुरभिमर्नाषाद्रिकार्शाप्रयागाः [१४] त्रिस्रोतःकामकोट्टो(ज्यो)ज्जयिनिंसमथुरं कोशलांकान्यकुब्जांड्याणौ ङ्कुराट्टहासाविरज इह ततःकुण्डिनं राजगेहम् [१२]नेपालपुण्ड्रवर्द्धनमालवपरसीरकामरूपकेदाराः [६]विन्ध्यमहामठगोश्रुतिकाम्पिल्यश्रीपीठमरुदीशा [६] [६४] इति *प्रकृतीराद्ये* । *विघ्नान्* *वक्रतुण्डांश्च* त्रयोदशे ॥ ८७ ॥

अणिमादीति । "अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च प्राकाम्यं प्राप्तिरेव चे"ति । *नागान्* गजानष्टमे ।*वह्नेरिति* । पञ्चमे । *यमादिका*-नन्त्ये । *अन्यदिति* । श्रीबाणरतिप्रियधूमावतीमन्त्रादि ॥ ८८ ॥

नवधेति । जगति यावान् नवात्मको नवाक्षरो मन्त्रस्तं सूते सशौङ्कं नवार्णोगोपालमन्त्रादिः । सेत्यन्तं पूर्वक्रियया, उत्तरपद्यमुत्तरक्रियया सम्बध्यते । *शक्तितत्त्वानामिति* । प्रकृतिर्नादो बिन्दुः, बिन्दुर्नादो बीजं, रौद्री ज्येष्ठा वामेति नव शक्तितत्त्वानि । आद्ये वक्ष्यमा-

नवकं पीठशक्तीनां शृङ्गारादीन् रसान्नव ॥
माणिक्यादीनि रत्नानि नव वर्गयुतानि सा ॥ ९० ॥
नवकं प्राणदूतीनां मण्डलं नवकं शुभम् ॥
यद्यन्नवात्मकं लोके सर्वमस्या उदञ्चति ॥ ९१ ॥
दशधा विकृता शम्भोर्भामिनी भवदुःखहा ॥
दशाक्षरं गणपतेस्त्वरितायाः दशाक्षरम् ॥ ९२ ॥
दशाक्षरं सरस्वत्या यक्षिण्याः सा दशाक्षरम् ॥
वासुदेवात्मकं मन्त्रमश्वारूढा दशाक्षरम् ॥ ९३ ॥
त्रिपुरा दशकूटं स्यात् त्रिपुराया दशाक्षरम् ॥
नाम्ना पद्मावतीमन्त्रं रमामन्त्रं दशाक्षरम् ॥ ९४ ॥

णानि दश सदाशिवव्यतिरिक्तानि नवेत्यन्ये ॥ ८९ ॥

पीठशक्तीनामिति । तत्तन्मन्त्रेष्वपि तत्र तत्र । *शृङ्गारादीन्* "शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः । बीभत्सरौद्रशान्ताश्च नव काव्ये रसाः स्मृताः" इति । *रत्नानि* *नव* *वर्गाश्च* षष्ठे ॥ ९० ॥

प्राणदूतीनामिति । त्रयोविंशे । *मण्डलं—नवनाभं तृतीये । *यद्यदिति* । नवकण्ठे नवग्रहकूर्मचक्रनवकोष्ठादि ॥ ९१ ॥ ३/२ ॥

गणपतेरिति । क्षिप्रप्रसादनस्य त्रयोदशे । *त्वरितायाः* इति *मायाहीनम्* । दशमे । तदुक्तम् । "वर्म खे (१) च तदन्त्यः शिवयुक् चरमोऽङ्गनाद्युसार्विलबम् । अन्त्यः सयोनिरस्त्रान्तकः सतारो मनुर्द्दशार्णयुत" इति । *नारायणीयेऽपि* "भुवनेशो(२) भूतदण्डौ कलान्त्यान्त्यं सयोनिकम् । तत्पञ्चमं तदन्त्यं सरुद्रं सामन्तमालयम् ॥ रामाख्या दीर्घमाद्यं च कोपतत्त्वं हरान्त्ययुक् । एतत् फडन्तं तारादि मन्त्रं विद्याद्दशाक्षरमिति" ॥ ९२ ॥

सरस्वत्या इति । सप्तमे । *यक्षिण्या इति* । तन्त्रान्तरोक्तं "श्रीं श्रीं यक्षिणि हंहं स्वाहा" । इति । *वासुदेवात्मकमिति* । गोपालं सप्तदशे । *अश्वारूढेति* । बीजत्रयं मुक्त्वा दशमे । तन्त्रान्तरे दशाक्षर्या एव उद्धृतत्वात् । तदुक्तम् । "आद्यस्त्रयोदशो दण्डी ततस्त्वैकादशः परम् । अष्टमस्य तृतीयं स्यादाद्यं तार्त्तीयसंयुतम् ॥ षष्ठाद्यं सप्तमस्यापि द्वितीयं षष्ठपञ्चमम् । आद्यैकादशसंयुक्तं पश्चात्सप्तमपञ्चमम् ॥ तत्तुर्येण युतं पश्चात् सप्तमस्य द्वितीयकम् । आद्यतार्त्तीयसंयुक्तं द्विठः प्रोक्ता दशाक्षरी"ति ॥ ९३ ॥

दशकूटमिति । मध्यबीजस्य पदकूटत्वमाद्यन्तबीजयोः क्रमेण कूटद्वयमिति मिलित्वा दशकूटं *त्रिपुराया* इति । तन्त्रान्तरोक्तम् । "ऐंस्हैंम्हींसहौंस्हौं त्रिपुरायै नमः" इति *पद्मावतीमन्त्रं* तन्त्रान्तरोक्तम् । "हंहं पद्मे पद्मावति स्वाहेति" । *रमामन्त्र*मष्टमे । राममन्त्रमिति पाठे पञ्चदशे ॥ ९४ ॥

---

(१) वर्मेति । वर्म हुं । खं स्वरूपं, च स्वरूपं, तदन्त्यः छ शिवयुगेकारयुतः छे, चरमः क्षः अङ्गना स्त्री । द्यु हकारः । सार्विलबम् । उकारानुस्वारयुतं तेन हुं अन्त्यः क्षः सयोनिरेयुतः क्षे, अस्त्रं फट् तदन्तः सतारः प्रणवयुगादौ इति त्वरिता दशाक्षरोद्धारः ।

(२) भुवनेति । भुवनशो हःभूतम उः दण्डोनुस्वारः तेन हुं, कलाः स्वरास्तदन्त्यः कः तदन्त्यः खः। सयोनिकम् एकारयुतं तेन खे, तत्पञ्चमं च, ददन्त्यं छः, सरुद्रम् एकारयुतं तेन छे, सामन्तान्तः विसर्गान्तः, आलयं क्षकारः, रामाख्या स्त्री, आद्यं हुं, तद्दीर्घं हूं, कोपतत्त्वं क्षः, हरान्त्येन एकारेण अन्ते युक् क्षे, एतत्फडन्तं प्रणवादिकं दशवर्णम् ।

दशकं शक्तितत्त्वानां तत्त्वरूपा महेश्वरी ॥
नाडीनां दशकं विष्णोरवतारान् दश क्रमात् ॥ ९५ ॥
दशकं लोकपालानां यद्यदन्यत् सृजत्यसौ ॥
एकादश क्रमात्संविद्गुणिता सा जगन्मयी ॥ ९६ ॥
रुद्रैकादशनीमाद्याशक्तेरेकादशाक्षरम् ॥
एकादशाक्षरं वाण्या रुद्रानेकादश क्रमात् ॥ ९७ ॥
समुद्गिरति सर्वात्मा गुणिता द्वादश क्रमात् ॥
नित्यामन्त्रं महेशान्याः वासुदेवात्मकं मनुम् ॥ ९८ ॥
राशीन् मासान् (भानून्)हरेर्मूर्त्तीर्यन्त्रं सा द्वादशात्मकम् ॥
अन्यदेतादृशं सर्वं यत्तदस्यामजायत ॥ ९९ ॥
चतुर्विंशति तत्त्वात्मा यदा भवति शोभना ॥
गायत्रीं सवितुः शम्भोः गायत्रीं मदनात्मिकाम् ॥ १०० ॥

शक्तितत्त्वानामिति पञ्चमे । *नाडीनामि*त्याद्ये । *अवतारानिति* । सप्तदशे ॥९५॥ *लोकपालानामिति* तुर्ये । *अन्यदिति* । अग्निमन्त्रसंस्कारजयदुर्गामन्त्रादि ॥ ९६ ॥

रुद्रैकादशनीमिति । "षडङ्गरुद्रैकावृत्ती रुद्राध्यायस्य तादृशः । एका(दश तु) रुद्रस्य रुद्रैकादशनीत्वि"ति । षडङ्गरुद्रस्तु "यज्जाग्रतः षट् सहस्रशीर्षा द्वाविंशतिस्ततः । आशुः शिशानो विभ्राडित्यनुवाकद्वयं शतम् ॥ सहस्रशीर्षेति षोडशर्भिद्वितीयं षड्भिस्तृतीयं शतमिति । शतरुद्रीयेणाद्यम् । *शतरुद्रस्तु । "षट्षष्टिर्नीलसूक्तं च पुनःषोडशऋग्जपः । एष ते द्वे नमस्ते द्वे नतर्विंद्वयमेव च ॥ मोढुष्टमचतुष्कं च एतत्तु शतरुद्रियमि"ति । *आद्यशक्तेः* । सरस्वत्याः *एकादशाक्षरं* सप्तमे । यद्वा आद्यशक्तेर्नित्यक्लिन्नायास्तन्त्रान्तरोक्तम् । "ह्रीं नित्यक्लिन्ने मदद्रवे स्वाहेति" ॥ आद्या इति पाठे देवीविशेषणम् । *वाण्या* अयमपि सप्तमे । *रुद्रानिति* । "हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा । मृगव्याधश्च शर्वश्च कपालीति शिवा मताः" इति ॥ अत्राप्यन्यदिति ज्ञेयम् । तच्च शक्तिविनायकमन्त्रादि ॥ ९७ ॥

*समुद्गिरता*ति क्रिया काकाक्षिगोलकन्यायेन पूर्वोत्तरवाक्ययोः सम्बध्यते । अन्त्ययोर्निबन्धनात् साचोत्तरवाक्ये अन्यदित्यन्तं सम्बध्यते । इत उत्तरं भिन्नमेव वाक्यम् । *नित्यामन्त्रं महेशान्या* वचप्रस्तारिण्याश्च दशमे । *वासुदेवं* पञ्चदशे ॥ ९८ ॥

*राशीन*ष्टमे । *भानून्* *हरेर्मूर्त्तीश्च* पञ्चदशे । *यन्त्रं* नवमे । *अन्यदिति* । खड्गमन्त्रादि । *एतादृशमिति* । अनेनैतदुक्तं भवति । त्रयोदशधा गुणिता वागीश्वर्यश्वारूढामन्त्रा विश्वेदेवादिकं चतुर्दशधा लक्ष्मीवासुदेवगोपालमन्त्रभुवनादिकम् । पञ्चदशधा नित्याशूलिनीमन्त्रतिथ्यादिकं, षोडशधा चक्रमन्त्रस्वरकलादिकं, सप्तदशधा लघुपञ्चमीताराद्विविधामन्त्रादिकम् । अष्टादशधा कृष्णवामन (मन्त्र) मग्निसंस्कारादिकम् । ऊनविंशतिधा कृष्णधरामन्त्रादिकम् । विंशतिधा रत्नधारोमामहेश्वरमन्त्रादिकम् । एकविंशतिधा बटुकनाममन्त्रतन्त्रादिकम् । द्वाविंशतिधा कृष्णान्नाधिपतिसुमुखीमन्त्रादिकम् । त्रयोविंशतिधा लघुश्यामापुरुषोत्तमहृदङ्गमन्त्रादिकं सूत इति ॥ ९९ ॥

एवं परार्द्धपर्यन्तं सृष्टेः सत्त्वादृद्धीनां वक्तुमशक्यत्वात् प्रधानभूता आह *चतुरिति* । चतुर्विंशतेस्तत्त्वं स्वरूपं तद्रूप आत्मा यस्याः सा । चतुर्विंशतिधा गुणितेत्यर्थः । *सवितुरित्येकविंशे* । *शम्भोरिति* । तन्त्रान्तरोक्ता । तत् "महेशाय विद्महे वाग्विशुद्धाय धीमहि । तन्नः शिवः प्रचोदयात्"। इति । *मदनात्मिकाम्* सप्तदशे ॥ १०० ॥

गायत्रीं विष्णुगायत्रीं गायत्रीं त्रिपुरात्मनः ॥
गायत्रीं दक्षिणामूर्तेः गायत्रीं शम्भुयोषितः ॥ १०१ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि तस्यामासन् परात्मनि ॥
द्वात्रिंशद्भेदगुणिता सर्वमन्त्रमयी विभुः ॥ १०२ ॥
सूते मृत्युञ्जयं मन्त्रं नारसिंहं महामनुम् ॥
लवणाद्यं मनुं मन्त्रं वरुणस्य महात्मनः ॥ १०३ ॥
हयग्रीवं मनुं दौर्गं वाराहं वह्निनायकम् ॥
गणेशितुर्महामन्त्रं मन्त्रमन्नाधिपस्य सा (च) ॥ १०४ ॥
मन्त्रं श्रीदक्षिणामूर्त्तेर्मालामन्त्रं मनोभुवः ॥
त्रैष्टुभं वनवासिन्या अघोराख्यं महामनुम् ॥ १०५ ॥

विष्णुगायत्रीमपि सप्तदशे । पुरुषोत्तमगायत्र्येव विष्णुगायत्रीशब्देनोक्ता । तन्त्रान्तरोक्ता वा । "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्" ॥ इति । *त्रिपुरात्मनः* त्रिपुरायाः । सा द्वादशे *दक्षिणामूर्तेः* । "दक्षिणामूर्त्तये विद्महे ध्यानस्थाय धीमहि । तन्नो धीरः प्रचोदयात्" ॥ इति । *शम्भुयोषित इति* "सर्वमोहिन्यै विद्महे विश्वजनन्यै धीमहि । तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात्" ॥ इति ॥ १०१ ॥

*तत्त्वानि*आद्ये । एता गायत्र्यस्तत्त्वान्यपि*तस्यामासन्* उत्पन्नानि । अत्राप्यन्य-इति ज्ञेयम् । तच्चाग्निसप्त(मि)द्व्यग्निदक्षिणामूर्त्तिचिटिमन्त्रवक्रतुण्डदुर्गात्वरिताग्निनृसिंहगरुडहयग्रीवगायत्र्यादि ॥ १०२ ॥

मृत्युञ्जयं वैदिकं त्रयोविंशे । *नारसिंहं* षोडशे *महामनुं* मन्त्रराजमिति पूर्वविशेषणम् । *लवणाद्यं* द्वाविंशे "लवणस्येति" श्रुत्युक्तम् । *महात्मनः* इति विशेषणं तेन महावारुणमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

*हयग्रीवं पञ्चदशे । *दौर्गं* श्रुत्युक्तम् । "अवेअम्बिके अम्बालिके" इत्यादिकम् । *वाराहं* पञ्चदशे । *वह्निनायकम*ग्न्युपस्थानमन्त्रं पञ्चमे । *गणेशितुः* हरिद्रागणेशस्य । "ओं हुँ गंग्लौं हरिद्रागणपतये वरवरद सर्वजनहृदयं स्तम्भय स्तम्भय स्वाहा" । आथर्वणिको वक्रतुण्डस्य वा । "रायस्पोषप्रदाता च निधिदो रत्नदो मतः । रक्षोहणो वलगहनो वक्रतुण्डाय हुं" इति । महामन्त्रमि"त्युक्तेः । अत्रैव वक्ष्यमाणो महागणपतिमन्त्रो वा । संप्रदायेन तस्य द्वात्रिंशदक्षरत्वात् ॥ *अन्नाधिपस्य* तन्त्रान्तरोक्तः ॥ "ओं ह्रीं अन्नरूप रसरूप तुष्टरूप नमोनमः । अन्नाधिपतये ममान्नं प्रयच्छ स्वाहेति" ॥ १०४ ॥

दक्षिणामूर्त्ते रेकोनविंशे ॥ *मालामन्त्रं*द्वात्रिंशदक्षरं, *मनोभुवः*-तन्त्रान्तरोक्तम् ॥ *त्रैष्टुभमिति ॥ तदन्तर्गतोक्तयोपचारात् द्वात्रिंशदक्षर उच्यते तदन्तर्द्वासप्ततिमन्त्राणामुद्भूतत्वात् ॥ तन्मध्ये द्वात्रिंशदक्षराणामपि सत्त्वात् ॥ *अघोराख्यं* तन्त्रान्तरोक्तम् ॥ ग्रन्थकारोक्तस्यैकपञ्चाशदक्षरत्वात् ॥ यदाह नकारस्त(१)तो दन्तसंभिन्नकालं भगस्यान्ततो वापि ते तस्य चान्ते ॥ ततो घोररूपाद्यकारस्य चान्ते हनद्वन्द्वतोऽथोदहद्वन्द्वतश्च ॥ पचाभ्यासमुक्त्वा तथा आमयस्यात् शिरोऽन्तं च वर्मादिकं फट्पदं चे"ति ॥ १०५ ॥

---

(१) नकारेति ॥ नमो भगवते अघोररूपाय हन२ दह२ पच२ आमय२ स्वाहा हुं फट् ॥ चतुस्त्रिंशद्वर्णोऽघोरमन्त्रः । अघोरानुष्टुप्अघोरामुनायरामुनायाः ॥ ६ । ६ । ८ १० । २ । २ । इति षडङ्गम् ॥

भद्रकालीमनुं लक्ष्म्या मालामन्त्रं यमात्मकम् ॥
मन्त्रं सा देवकीसूनोर्म्मन्त्रं श्रीपुरुषोत्तमम् ॥ १०६ ॥
श्रीगोपालमनुं भूमेर्मनुं तारामनुं क्रमात् ॥
महामन्त्रं महालक्ष्म्यामन्त्रं भूतेश्वरस्य सा ॥ १०७ ॥
क्षेत्रपालात्मकं मन्त्रं मन्त्रमापन्निवारणम् ॥
सूने मातङ्गिनीं विद्यां सिद्धविद्यां शुभोदयाम् ॥ १०८ ॥
अनेन क्रमयोगेन गुणिता शिववल्लभा ॥
षट्त्रिंशतं च तत्त्वानां(नि) शैवानां(नि) रचयत्यसौ ॥ १०९ ॥
अन्यान्मन्त्रांश्च यन्त्राणि शुभदानि प्रसूयते ॥
द्विचत्वारिंशता मूले गुणिता विश्वनायिका ॥ ११० ॥
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ॥
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मात् नादस्तस्मान्निरोधिका ॥ १११ ॥

भद्रकालीमनुं चतुर्विंशे ॥ *(महा)लक्ष्म्याः* दशमे । *मालामन्त्रं* सर्वतोभद्ररूपं *यमात्मकमिति* मन्त्रद्वयं चतुर्विंशे ॥ *देवकीसूनोरिति* "तं सुकी"त्यादिकं सप्तदशे। *श्रीपुरुषोत्तममन्त्रं* तन्त्रान्तरोक्तम् । "ओं नमो भगवते वासुदेवाय पुरुषोत्तम आयुर्मे देहि विष्णवे (प्रभविष्णवे)नमः॥ १०६ ॥

श्रीगोपालमनुं यन्त्राङ्गद्वयमपि सप्तदशे ॥ *भूमेर्मनुम्* "उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना॥ मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतमि"ति तन्त्रान्तरोक्तम् ॥ *तारामनुं* तन्त्रान्तरोक्तम्। "ओंह्रीं ह्रां हुंनमस्तारायै (महातारायै) सकलदुस्तरास्तारय २ तर २ स्वाहा" इति । *महालक्ष्याःमहामन्त्रं* श्रीसूक्तलक्षणम् । *भूतेश्वरस्य मन्त्रं* तन्त्रान्तरोक्तम् । "ओंनमो भगवते रुद्राय सर्वभूताधिपतये भूतप्रेतपिशाचिनीर्नाशय नाशय" इति ॥१०७॥

क्षेत्रपालात्मकं तन्त्रान्तरोक्तम्। "एह्येहि विदुषि (विमुखि) नर्त्तय २ विघ्नमहाभैरवक्षेत्रपाल (इमं) बलिं गृह्ण २ स्वाहेति" *आपन्निवारणं* तन्त्रान्तरोक्तम् । अत्र एकविंशत्यक्षरस्य वक्ष्यमाणत्वात् । *मातङ्गिनीं* तन्त्रान्तरोक्ताम् "ओंह्रींऐंश्रींनमो भगवति उच्छिष्टचाण्डालि श्रीमान्तङ्गेश्वरि सर्वजनवशङ्करि स्वाहेति"। *सिद्धविद्यां* तन्त्रान्तरोक्ताम्। पूर्वोक्ताया एव सिद्धेत्यादिविशेषणद्वयं वा। अन्यदित्यपि ज्ञेयम् ॥ तच्च वैष्णवतत्त्वशैवव्यापकमन्त्रादि ॥ १०८ ॥

अनेनेति। अनेन क्रमयोगेन गुणिता *षट्त्रिंशद्वारगुणिता इत्यर्थः। *शैवानामि*ति। पञ्चमे ॥ १०९ ॥

अन्यान्मन्त्रानिति तन्त्रान्तरोक्तोच्छिष्टगणपतिपुष्टिपुरुषोत्तमव्यापकमन्त्रादीन् । पूर्वो यथा—"ओंनमो भगवते एकदंष्ट्राय हस्तिमुखाय लम्बोदराय उच्छिष्टमहात्मने क्रोंह्रींह्रींहुंघेघेस्वाहेति"। तृतीयं सप्तदशे । *यन्त्राणीति*। यन्त्रपटलप्रोक्तकोष्ठात्मकयन्त्राष्टमपटलप्रोक्तमहालक्ष्मीमन्त्रादीनि। अनेन क्रमयोगेनेति सामान्योक्तेर्मन्त्रान् यन्त्राणीति च तथोक्तेरष्टत्रिंशता गुणिता अष्टत्रिंशत्कला मन्त्रास्तद्धी(श्च बी)जादिनवदुर्गापुरुषोत्तमनेत्राङ्गमन्त्रादीन् यन्त्राणि वृद्धश्यामावराहनृसिंहयन्त्रादीनि सूने इति सूचितम्। *द्विचत्वारिंशतेति* ॥ *मूले* मूलाधारे *द्विचत्वारिंशता गुणिता विश्वनायिका कुण्डलिनी*। अनेन क्रमेण अकारादिशकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकां वर्णमालां सृजतीति* सम्बन्धः। तमेव क्रममाह *शक्तिमिति* ॥ *सा* कुण्डलिनी शक्ति*म्प्रसूते* ॥ *ततः* शक्तेः*ध्वनिरासीत्* *तत*स्तस्मात्

ततोऽद्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत्परा ततः॥
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः ॥ ११२ ॥
इच्छाज्ञानक्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥ ११३ ॥
अकारादिक्षकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ॥
पञ्च शद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ॥ ११४ ॥
सूते तद्वर्णतोऽभिन्ना कला रुद्रादिकान् क्रमात् ॥

ध्वनेरित्यादि ज्ञेयम् ॥ अयंच क्रमो ग्रन्थकृता सर्वशेष उक्तोऽपि एकाद्यक्षरोत्पन्नावप्यनुसन्धेयः । तत्र सत्त्वप्रविष्टा चिच्छक्तिवाच्या परमाकाशावस्था (शब्दः)सैव सत्त्वप्रविष्टा रजोनुविद्धा सती ध्वनिशब्दवाच्या अक्षरावस्था, सैव तमोनुविद्धा नादशब्दवाच्या अव्यक्तावस्था, सैव तमःप्राचुर्यान्निरोधिकाशब्दवाच्या, सैव सत्त्वप्राचुर्यादर्द्धेन्दुशब्दवाच्या । एतदुभयसंयोगाद्बिन्दुशब्दवाच्या ॥ यदाहुः "इच्छाशक्तिबलोत्कृष्टो ज्ञानशक्तिप्रदीपकः । पुंरूपिणी च सा शक्तिः क्रियाख्यां सृजति प्रभुः" इति ॥ असावेव बिन्दुः स्थानान्तरगतः पराद्याख्यो भवति ॥ *तस्मादिति* । *परा* मूले । *पश्यन्ती* स्वाधिष्ठाने, *मध्यमा* हृदये, *वैखरी* मुखे ॥ तदुक्तं "सूक्ष्मा कुण्डलिनी मध्ये ज्योतिर्मात्रात्मरूपिणी ॥ अश्रोत्रविषया तस्मादुद्गच्छन्त्यूर्ध्वगामिनी ॥ स्वयं प्रकाशा पश्यन्ती सुषुम्णामाश्रिता भवेत् ॥ सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी ॥ ततः संजल्पमात्रा स्यादविभक्तोर्ध्वगामिनी ॥ सैवोरः कण्ठतालुस्था शिरोघ्राणरदस्थिता ॥ जिह्वामूलोष्ठनिस्यूतसर्ववर्णपरिग्रहा ॥ शब्दप्रपञ्चजननी श्रोत्रग्राह्या तु वैखरी"ति ॥ *कादिमतेऽपि* "स्वात्मेच्छा शक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः । मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः ॥ स एवोर्ध्वं तया नीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः । पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनैः शनैः॥ अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः। तथा तयोर्ध्वंनुन्नः सन् विशुद्धो कण्ठदेशतः ॥ वैखर्याख्यस्ततः शीर्षकण्ठताल्वोष्ठदन्तगः । जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासागतः क्रमात्॥ कण्ठताल्वोष्ठदन्तोष्ठात्कण्ठोष्ठद्वयतस्तथा । समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ॥ आदिक्षान्तरतेत्येषामक्षरत्वमुदीरितमि"ति ॥ तथा च श्रुतिः–"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ती"ति ॥ अथ वा–चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका मायानिष्पन्दा परा वागित्यर्थः । सस्पन्दावस्था पश्यन्त्याद्याः । तत्र सामान्यप्रस्पन्दप्रकाशरूपिणीं । बिन्दुतत्त्वात्मिकामूलाधारादिनाभ्यन्तरव्यक्तिस्थानां पश्यन्तीमाह–*पश्यन्तीति* ॥ ज्ञानात्मकत्वात्पश्यन्तीत्यर्थः । बाह्यान्तः करणात्मिकां हिरण्यगर्भरूपिणीं नादबिन्दुमयीं नाभ्यादिहृदयान्ताभिव्यक्तिस्थानां विशेषसंकल्पादिसतत्त्वां मध्यमामाह–*मध्यमेति* ॥ मध्ये मा बुद्धिर्यस्या इति विग्रहः । विराड्रूपिणीं बीजात्मिकां हृदयाद्यास्यान्ताभिव्यक्तिस्थानां ,शब्दसामान्यात्मिकां वैखरीमाह–*वाचीति* ॥ विशेषेण खरत्वात् वैखरीत्यर्थः ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

तद्वर्णत इति ॥ ते च ते वर्णाश्च ततः । अभिन्ना याः कलाः ताः सूते *रुद्रादिकान्* सूते ॥ आदिशब्देन तच्छक्तयः । विष्णवः विष्णुशक्तयः पञ्चाशदौषधयश्च पञ्चाशत्कामास्तच्छक्तयश्च पञ्चाशद्गणेशास्तच्छक्तयः पञ्चाशत्क्षेत्रपालाश्च । तत्र पञ्चाशदौषधयो यथा "चन्दनकुलचन्दनाऽगरुकर्पूराशीररोगजलघुसृणाः । कङ्कोलजातिमांसीमुरचोरग्रन्थिरोचनापत्राः॥ पिप्पलबिल्वगुहारणतृणकलवङ्काह्वकुम्भिवन्दिन्यः । सौदुम्बरिकाकेसरिकास्थिराक्षमदग्धुष्पिकामयूरशिखा ॥ प्लक्षाग्निमन्थसिंहीकुशाश्ववदर्भाश्च कृष्णदर्पुष्पी । रोहिणदुग्ध-

निरोधिका अर्द्धचन्द्रो बिन्दुरर्धेन्दुः स्यान्निशाकरः ॥ ११५ ॥
अर्कः स्यादुभयोर्योगे बिन्द्वात्मा तेजसां निधिः ॥

(कुण्ड)कन्नृहतीपाटलिचिञ्चातुलस्यपामार्गाः ॥ शतमखलताद्विरेफाः विष्णुक्रान्तामुशलयथाङ्ग-किनी । दूर्वा श्रीदेविसहे तथैव लक्ष्मी सहा भद्रे ॥ आद्योनामिति कथिता वर्णानां क्रमतश्चाद्यौ-षधयः । गुलिकाकषायभसितप्रभेदतो निखिलसिद्धिदा विन्द्य" इति ॥ आसामौषधीनां प्रयोज-नान्तरमप्युक्तं *कादिमते*—"यो यो मन्त्रस्तस्य तस्य वर्णौषधिविनिर्मिताः । तत्तद्वर्णोत्थसं-ख्याभिर्गुलिकामन्त्रसिद्धिदाः ॥ तयाभिषेकस्तद्धरणं तत् स्वाङ्गस्तद्विलेपनम् । तत्पूजा च तथा सिद्धिदायकः स्यान्न चान्यथा" इति । पञ्चाशत्कामास्तच्छक्तयश्च । यथा "कामकाम-दकान्ताश्च कान्तिमान् कामगस्तथा । कामाचारश्च कामी च कामुकः कामवर्द्धनः ॥ रामो रा-मश्च रमणो रतिनाथो रतिप्रियः । रात्रिनाथो रमाकान्तो रममाणो निशाचरः ॥ नन्दको नन्द-नश्चैव नन्दो नन्दयिता पुनः । पञ्चबाणो रतिसखः पुष्पधन्वा महाधनुः ॥ भ्रामणो भ्रमणश्चैव भ्रममाणो भ्रमोऽपरः । भ्रान्तश्च भ्रामको भृङ्गो भ्रान्ताचारो भ्रमावहः ॥ मोहनो मोहको मो-हो मोहवर्द्धन एव च । मदनोमन्मथश्चैव मातङ्गो भृङ्गनायकः ॥ गायनो गीतिजश्चैव नर्त्तकः खेलकस्तथा । उन्मत्तो मत्तकश्चैव विलासो लोभवर्द्धनः ॥ दाडिमी कुसुमाभाश्च वामाङ्कशक्ति संयुताः । सौम्या रक्ताम्बराः सर्वे पुष्पबाणेक्षुकार्मुके ॥ बिभ्राणाः सर्वभूषाढ्याः कामाः पञ्चा-शदीरिताः । रतिः प्रीतिः कामिनी च मोहिनी कमलप्रिया ॥ विलासिनी कल्पलता कामदा च शुचिस्मिता । विस्मिताक्षी विशालाक्षी लेलिहाना दिगम्बरा ॥ वामा कुब्जा धरा नित्या कल्याणी मोहिनी तथा । मदना च सुरश्रेष्ठा लालिनी मर्दिनी तथा ॥ कलहप्रिया चैकाक्षी सु-मुखी नलिनी तथा । जपिनी पालिनी चैव शिवा सुखा रमा श्रमा ॥ चारुशीला चञ्चला च दीर्घजिह्वा रतिप्रिया । लोलाक्षी भृङ्गिणी चैव पाटला मादिनी तथा ॥ माला च हंसिनी वि-श्वतोमुखी नन्दिनी तथा । रमणी च तथा कान्तिः कालकण्ठी त्रकाद्रो ॥ मेघश्यामारुणोन्म-त्ता एकपञ्चाशदीरिताः । शक्तयः कुङ्कुमनिभाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ नीलोत्पलकरा ध्येया त्रै-लोक्याकर्षणक्षमा" इति ॥ पञ्चाशद्गणेशाः तच्छक्तयश्च यथा—"विघ्नेशो विघ्नराजश्च वि-नायकशिवोत्तमौ । विघ्नकृद्विघ्नहर्त्ता च गणैकद्विरदन्तकाः ॥ गजवक्त्रनिरञ्जनौ कपर्दी दीर्घजि-ह्वकः । शङ्कुकर्णश्च वृषभध्वजश्च गणनायकः ॥ गजेन्द्रः सूर्पकर्णश्च स्यात्त्रिलोचनसंज्ञकः । ल-म्बोदरमहानन्दौ चतुर्मूर्त्तिसदाशिवौ ॥ आमोददुर्मुखौ चैव सुमुखश्च प्रमोदकः । एकरदो द्विजिह्व-श्च शूरवीरसषण्मुखाः ॥ वरदो वामदेवश्च वक्रतुण्डो द्विरण्डकः । सेनानीर्ग्रामणीर्मत्तो विमत्तो मत्तवाहनः ॥ जटी मुण्डी तथा खड्गी वरेण्यो वृषकेतनः । भक्षप्रियो गणेशश्च मेघनादकसंज्ञकः ॥ व्यापी गणेश्वरः प्रोक्ताः पञ्चाशद्गणपा इमे । तरुणारुणसङ्काशा गजवक्त्रास्त्रिलोचनाः ॥ पाशा-ङ्कुशवराभीतिहस्ताः शक्तिसमन्विताः । ह्रीः श्रीश्च पुष्टिः शान्तिश्च स्वस्तिश्चैव सरस्वती ॥ स्वा-हा मेधा कान्तिकामिन्यो मोहिन्यपि वै नटी । पार्वती ज्वालिनी नन्दा सुयशा कामरूपि-णी ॥ उमा तेजोवती सत्या विघ्नेशानी सुरूपिणी । कामदा मदजिह्वा च भूतिः स्याद्भौतिका-सिता ॥ रमा च महिषी प्रोक्ता भञ्जिनी च विकर्णपा । भ्रुकुटिः स्यात्तथा लज्जा दीर्घघोणा धनु-र्धरा ॥ यामिनी रात्रिसंज्ञा च कामान्धा च शशिप्रभा । लोलाक्षी चञ्चला दीप्तिः दुर्भगा सुभ-गा शिवा ॥ भर्गा च भगिनी चैव भोगिनी सुभगा मता । कालरात्रिः कालिका च पञ्चाशत् शक्तयः स्मृताः ॥ सर्वालङ्करणादीप्ताः प्रियाङ्कस्थाः सुशोभनाः । रक्तोत्पलकरा ध्येया रक्तमा-ल्याम्बरावृताः ॥" इति । पञ्चाशत्क्षेत्रपालाः क्षेत्रपालमन्त्रे वक्ष्यन्ते । वर्णानामग्नीषोमात्मक-त्वं सोमसूर्याग्निरूपत्वं च अग्रे उपयोगीति तद्विविच्याह *निरोधिकेति*। निरोधिकाया अग्नि-रूपत्वात् शिवस्वरूपत्वम् । *अर्द्धेन्दोः* सोमरूपत्वात् शक्तिस्वरूपत्वम् । येन कारणेन शि-वशक्तिमयाद्बिन्दोः संभवमापन्नाः, रवेः शिवशक्तिमयत्व"मर्कः स्यादुभयोर्योग" इत्यर्कः । तेन

जाता वर्णा यतो बिन्दोः शिवशक्तिमयादतः ॥ ११६ ॥
अग्नीषोमात्मकास्ते स्युः शिवशक्तिमयाद्वयेः ॥
येन संश्रवमापन्नाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥ ११७ ॥

इति शारदायां (दातिलके) सृष्टिविधानं नाम प्रथमः पटलः ॥ १ ॥ * ॥

अथ द्वितीयः पटल आरभ्यते ।

ततो व्यक्तिं प्रवक्ष्यामि वर्णानां वदने नृणाम् ॥
प्रेरिता मरुता नित्यं सुषुम्णारन्ध्रनिर्गताः ॥ १ ॥
कण्ठादिकरणैर्वर्णाः क्रमादाविर्भवन्ति ते ॥
एषु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः ॥ २ ॥
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोमसूर्याग्निदेवताः ॥
स्वराः षोडश विख्याताः स्पर्शास्ते पञ्चविंशतिः ॥ ३ ॥
तत्त्वात्मानः स्मृताः स्पर्शा मकारः पुरुषो यतः ॥

सोमसूर्याग्निरूपिणो भवन्ति । कार्यकारणयोरभेदात् ॥ ११५–११६–११७ ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

एवमर्थसृष्टिं शब्दसृष्टिं च मध्यमान्तामभिधाय उक्तानुवादपूर्वकं वैखरीसृष्टिं वक्तुं प्रतिजानीते *तत* इति । *प्रेरिता मरुतेति* मरुता प्रेरिताः पश्यन्तीस्थानं प्रापिताः । उत्पत्त्युन्मुखीकृता इति यावत् । अत एव *सुषुम्णारन्ध्रनिर्गता वर्णाः* कण्ठादिकरणैः क्रमादाविर्भवन्तीति* सम्बन्धः । सुषुम्णारन्ध्राण्यनाहतविशुद्धयोः एकदोच्चारणाभावात् *क्रमादि* त्युक्तम् । तदुक्तं भगवता *भर्तृहरिणा* "आत्माबुध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरमि"ति ॥ १ ॥

कण्ठादीति आदिशब्देन तात्वादि । तदुक्तम् "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु चे"ति । यत्सर्ववर्णानां सोमसूर्याग्निरूपत्वमुक्तम् तस्यैवाग्रे प्रयोगार्थमष्टत्रिंशत्कलादिव्यवहाराय च व्यवस्थया त्रैविध्यमाह *एष्विति* एषु वर्णेषु *स्वरा* अकारादिविसर्गान्ताः, *स्पर्शाः* ककारादिमकारान्ताः ॥ *व्यापका* यकारादिक्षकारान्ताः, *शुभोदयाः* । सर्वे* एवं *सोमसूर्याग्निदेवताः* तत्र स्वराणामुदयमनन्तरमेव वक्ष्यति । अन्येषामुदयस्तु अन्तिमपटले वक्ष्यमाणभूतोदयेनेति ज्ञेयम् । "भूतकलाभिस्तदुदय"इति आचार्योक्तेः । तदत्रैव भूतवर्णकथनेन सूचयिष्यति । विना स्वरैरिति वक्ष्यमाणप्रकारेण वा । स्वरादयः कियन्त इत्यपेक्षायामाह—*स्वरा* इति । *विख्याताः* विशेषेण ख्याताः स्वतन्त्रा इत्यर्थः ॥ यदाहुः—"तेषु स्वराः स्वतन्त्राः स्युरि"ति ॥ २–३ ॥

तत्त्वात्मान इति । प्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वमया इति (१) स्वरूपकथनम् । ननु तेषां पञ्चविंशतिसंख्यकत्वात्कथं चतुर्विंशतितत्त्वमयत्वमत आह—*मकारः पुरुषो यत* इति । यतः कारणान्मकारः पुरुषः परमात्मा च विश्वरूप इत्यर्थः । भादयः प्रकृतिबुद्ध्यहङ्कारमनांसि तन्मात्राश्रोत्रवागाकाशादय इतरवर्णाः । इदं च शक्तितत्त्वादिन्यासेषूपयोगीत्युक्तं द्विद्विवर्ण-

---

(१) तेन कादिभान्ताश्चतुर्विंशतितत्त्वस्वरूपा इत्युक्तं भवति ।

व्यापका दश ते कामधनधर्मप्रदायिनः ॥ ४ ॥
ह्रस्वः स्वरेषु पूर्वोक्तः परो दीर्घः क्रमादिमे ॥
शिवशक्तिमयास्ते स्युर्बिन्दुसर्गावसानकाः ॥ ५
बिन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः ॥
स्वराणां मध्यगं यच्च तच्चतुष्कं नपुंसकम् ॥ ६ ॥
पिङ्गलायां स्थिता ह्रस्वा इडायां सङ्गताः परे ॥
सुषुम्णा मध्यगा ज्ञेयाश्चत्वारो ये नपुंसकाः ॥ ७ ॥

क्रमोक्तद्वादशसूर्यकलासु अन्त्यत्याग इत्यपि सूचयितुम्। एवं ते चतुर्विंशतितत्त्वमयाः। "अन्त्य आत्मा रविः स्मृतः" इति *आचार्योक्तेः* । अत एव सर्वबीजेषु बिन्दुरूपमकारयोगात् पुरुषैक्यं तेषामिति मन्तव्यम्। मकारस्य बिन्दुरूपत्वात् 'बिन्दुःपुमान् रविः प्रोक्तः' इति वक्ष्यमाणत्वाच्च । स्वावयवेषु ककारादिष्वनुगतत्वात् सूर्यरूपबिन्द्वात्मना मकारेण स्पृश्यमानत्वात् स्पर्शाः, अत एव सौराः। यद्वा एवं योजना। मकारः पुरुषः। अन्ये स्पर्शास्तत्त्वात्मानः। यत इत्यग्रिमेण सम्बध्यते। यतः कारणाद्दश व्यापकाः। एषां दूष्येषु वर्त्तमानत्वाद्व्यापकत्वम्। तत्राग्नीनामपि सत्त्वादाग्नेया इत्यपि, नृसिंहाख्यकालाग्निरूपक्षकारान्तत्वेन वा आग्नेया इत्यपि द्रष्टव्यम्। ते *कामधनधर्मप्रदायिन* इति क्रमेण त्रयाणां फलम्। अत एवाग्रे "कामदायिन्यः स्वरजा" इत्यादि वक्ष्यति ॥ ४ ॥

स्वराणामेव पृथक् व्याप्तिं दर्शयन् तेषामष्टमूर्त्तितच्छक्तिवाचकत्वाय अग्रे व्यवहाराय च प्रकारद्वयमाह—*ह्रस्व* इति। एकारौकारयोः दीर्घत्वेऽप्यत्र पारिभाषिकं ह्रस्वत्वम्। *इमे* ह्रस्वदीर्घाः *क्रमात् शिवशक्तिमयाः*। ह्रस्वाः अइउऋऌएओ। एते शिवमयाः पुंरूपाश्चेत्यर्थः। दीर्घाः आईऊॠॡऐऔ। एते शक्तिमयाः स्त्रीरूपाश्चेत्यर्थः। बिन्दुसर्गावजपायां पुरुषप्रकृतिरूपौ पृथक् भूतावेताविति विवक्षन्नाह—*ते स्युर्बिन्दुसर्गावसानका* इति। ते ह्रस्वाः अन्ते बिन्दुयुक्ताः। दीर्घाः अन्ते विसर्गयुक्ताः। ह्रस्वेषु बिन्दुरष्टमो दीर्घेषु विसर्गोऽष्टम इत्यर्थः ५

अत एवाह—*बिन्दुः पुमानि*ति। *निशाकर* इत्युक्तेरितरस्वराणां तत्कलारूपतिथ्यात्मकत्वात्। शशिरूपे विसर्जनीये स्वकीयषोडशसंख्यापूर्त्तिकारणतया। स्वरन्ते कथयन्तीति स्वराः। अत एव सौम्याः। अयमेव पक्षो ग्रन्थकृदभिमतो यतो मातृकाषडङ्गकथनाद्यवसरे "अक्लीबह्रस्वदीर्घान्तर्गतैः षड्वर्गकैः क्रमा"दित्यादिव्यवहारदर्शनात्। *कश्चित्तु*—स्वरेषु पूर्वोक्त अइउऋऌएकमात्रो ह्रस्वः। परे आईऊॠॡएऐओऔबिन्दुसर्गावसानकाः। संयोगपरश्च दीर्घ इति मन्यते। स केवलं नमस्य एव। *नपुंसकमिति*। नपुंसकत्वं धर्मः स अस्यास्तीति आर्शादित्वादच् ॥ ६ ॥

स्वराणामुदयमाह—*पिङ्गलायामिति*। ह्रस्वाः अइउएओ, परे दीर्घाः आईऊऐऔबिन्दुसर्गयोः रविर्निशाकर इत्यनेनैवोदयस्योक्तत्वात्। एतत्प्रयोजनमुक्तं *गौतमेन*। "यद्ह्रस्वोदयजे कर्म्म प्रथितं मारणादिकम्। फलदं क्रूरकर्मासु ह्रस्वैर्दीर्घोदयेऽन्यथे"ति। *सुषुम्णेति*। तत्र प्रकार उत्तरभागाद्दक्षिणभागप्रवेशप्रारम्भसमये कंचित्कालमुभयत्र वहति देहवायुः स दक्षिणायनप्रारम्भसमयस्तदा ऋऌकारात्मकं ह्रस्वद्वन्द्वमुदेति। एवं दक्षिणादुत्तरभागप्रवेशप्रारम्भसमये कंचित्कालमुभयत्र वहति देहवायुः स उत्तरायणसंक्रमकालस्तदा ॠॡदीर्घद्वन्द्वमुदेति। *यत्प्रयोगसारे*—"स्वरं सप्तममारभ्य चत्वारो ये नपुंसकाः। ते सुषुम्णाश्रिते प्राणे प्रोच्यन्तेऽयनसंक्रमे" इति। अन्ये त्वन्यथा मन्यन्ते—ह्रस्वाः अइउऋऌ, परे दीर्घाः आईऊॠॡ इति। तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"दक्षिणस्थो यदा प्राणस्तदा स्याद्दक्षिणायनम्। पञ्चभूतात्मकास्तत्र ह्रस्वाः पञ्चोदयन्ति ते ॥ वामाश्रितो यदा प्राणस्तदा स्यादुत्तरायणम्। पञ्चभूतात्मकास्तत्र दीर्घा-

विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा ॥
शिवशक्तिमयान्प्राहुस्तस्माद्वर्णान्मनीषिणः ॥ ८ ॥

स्तत्रोद्यन्ति पृथक् पृथगि"ति । *अन्यत्रापि*—"प्राणे दक्षिणनाडीस्थे परा चैव तु रेचिका । इन्धिकाख्या च विद्याख्या निवृत्तिश्च तथा क्रमात् ॥ प्रतिष्ठा शान्तिसंज्ञा च दीपिका मोचिका तथा । सूक्ष्मा चेति स्वराः प्राणे प्रोद्यन्तीडाश्रये प्रिये" इति । येषां मते एकारादीनामुदयोनोक्तः स तु तेषां सन्ध्यक्षरत्वात् तदुदयेनैव ज्ञेयः । *पद्मपादाचार्यास्तु* बाह्यघटिकापञ्चकेन आध्यात्मिकमयनम् । उक्तविधिविलम्बस्याप्यनुपपत्तौ श्वासोच्छ्वासानां कालावयवसम्पादनं द्रष्टव्यम् । तत्राहोरात्रात्मकौ वा पक्षात्मकौ वेच्छावशेन ज्ञातव्याविति ॥ ७ ॥

व्यञ्जनशब्दव्युत्पत्तिं दर्शयन् तेषामपि शिवशक्तिमयत्वमाह—*विनेति* । स्वरैर्विना अन्येषां ककारादीनां व्यक्तिरञ्जसा प्राकट्येन न भवति । तस्मात् सर्वे वर्णाः शिवशक्तिमयाः । *व्यक्तिरञ्जसेति* व्युत्पत्तिर्दर्शिता । *यदाहुः*—"तैर्व्यञ्जनाद् व्यञ्जनं भवेदि"ति । एतदुक्तं भवति–स्वराणां पूर्वं शिवशक्तिमयत्वमुक्तम् । हलाञ्च विना स्वरैरुच्चारणस्याशक्यत्वात् स्वरसहितोच्चारणे शिवशक्तिमयत्वमिति । एवं स्वरोदयेनैव तत्प्रधानत्वात् व्यञ्जनानामुदयो ज्ञेयः । उक्तं च तत्र *मन्त्रमुक्तावल्याम्* । "तत्प्रधानाश्च मन्त्रा" इति । अन्ये त्वन्य(१)-था योजयन्ति—सोमसूर्याग्निरूपिण इति यदुक्तं तद्विभजते–*एष्विति* । अत्र सूर्यरूपविन्दोः सर्वत्र व्यापकत्वात् *शुभोदया* इति सौरविशेषणमुक्तम् । ननु यद्ययं विभागस्तदा पूर्वोक्तो येनेति हेतुः सर्ववर्णसामान्येनोक्तो न घटते इत्याशङ्क्याह—*सर्वे सोमसूर्याग्निदेवता* इति । ननु तथापि विरोधस्तदवस्थ इति चेत् न इदं तु तात्त्विकं, विभागस्तु प्रयोगार्थं इति ज्ञेयम् । स्वराः स्पर्शाः व्यापका इति यदुक्तम् ते के कियन्तः ? इत्यपेक्षायामाह—*स्वरा* इत्यादि ।*विख्याता* विशेषेण ख्याताः । अनेन "स्वरा विंशतिरेकश्चे"ति शिक्षादौ संख्यान्तरश्रुतिर्या सा निरस्ता । व्यापकेषु क्षवदत्रापि संयुक्तस्य ज्ञस्य ग्रहणं स्यादिति शङ्कां वारयति—*पञ्चविंशतिरिति* । *तत्त्वदेहवानिति* । पूर्वपटले प्रकृतेः पुरुषः । तं वदन् तत्त्वान्याह—*तत्त्वात्मान* इति । दशेत्यनेन मूर्द्धन्यस्य णस्य ग्रहणं सूचयति । *कामेति* । क्रमेण त्रयाणां फलम् । सर्वे सोमसूर्याग्निदेवता इति यदुक्तं तदेव विवृणोति—*ह्रस्व* इति । ह्रस्वानां पुरुषत्वादग्निसूर्यरूपत्वं स्वरत्वात्सौम्यरूपत्वं दीर्घाणां स्वरत्वेन सौम्यत्वं ह्रस्वोत्पन्नत्वाच सूर्याग्निरूपत्वं, शास्त्रान्तरानुसारेण दशानामेवैते संज्ञे स्यातामित्यत आह—*ते स्युरिति* । प्रकारान्तरेण तद्रूपत्वमाह–*स्वराणामिति* । *मध्यगमि*ति । अनेन रेफादुत्पत्तिरेषामुक्ता । यदाहु*राचार्याः* । "ऋकाराद्यास्तु चत्वारो रेफोत्थाल्लपराः स्मृता" इति । एतेन ह्रस्वषट्कं हकारोत्थं दीर्घषट्कमीकारोत्थं तत्र हकारस्य पुंरूपत्वादर्कत्वम् । ईकारस्य शक्तिरूपत्वात्सौम्यत्वम् । रेफस्याग्निरूपत्वात् अग्निरूपत्वम् । अत्र यद्यपि हकारस्य ह्रस्वषट्कहेतुत्वमिति विभागेनास्माभिरुच्यते । तथापि केवलस्योत्पत्तिहेतुत्वमशक्यमिति तदुभयानुवृत्तिरवश्यमपेक्षणीया । एवमितरयोरप्यनुसन्धेयम् । तेन प्रत्येकं सोमसूर्याग्निरूपत्वम् । तदुक्त*मीश्वरप्रत्यभिज्ञायां*—"यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते । तस्मात्सर्वपदार्थेषु सामरस्यं व्यवस्थितमि"ति । सामरस्यं त्रितयसत्त्वम् । प्रकारान्तरेण तदेवाह *पिङ्गलाया-मिति* । सुषुम्णायां नपुंसकोदये इडापिङ्गलयोरपि तत्रान्तर्भावात् तद्वर्णा अपि तत्रान्तर्भवन्ति ताभ्यां विना तदुभयाभावात् । अत एवोक्तं प्राग्*अग्नीषोमस्वरूपिणी*ति । व्यञ्जनानां प्रत्येकं सोमसूर्याग्निरूपत्वं दर्शयति—*विना स्वरै*रिति । शिवशक्तिमयाद्भवैः येन संभवमापन्ना इत्युपक्रम्य सर्वे सोमसूर्याग्निदेवता इत्यादिनोक्तमुपसंहरति–*विनेति* ।

---

(१) [illegible]ऽत्र पूर्वतोऽध्याख्यानोपक्रमः स्थूणानिखननन्यायेन प्रदर्शितः॥

कारणात्पञ्चभूतानामुद्भूता मातृका यतः ॥
ततो भूतात्मका वर्णाः पञ्चपञ्चविभागतः ॥ ९ ॥
वाय्वग्निभूजलाकाशाः पञ्चाशल्लिपयः क्रमात् ॥
पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घा बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः ॥ १० ॥
पञ्चाशत्काद्यः षड्लसहान्ताः समीरिताः ॥

तस्मादिति । पूर्वोक्तहेतुत्रयानुवादः शिवः सूर्याग्निरूपः शक्तिः सोमरूपा । अथवा य एव शिवः सैव शक्तिः शिवशक्त्योरभेदाद्भुवनेशीबीजात्मिका इत्यप्युक्तम् । यदाहु—*राचार्या—"यथा स्वरेभ्योनान्येस्युर्वर्णाः पङ्क्वर्गभेदिताः । तथा सविन्नानुस्यूतमि"ति । एवं त्रिवृत्करणप्रक्रियां भुवनेशीबीजादुत्पत्तिं च सूचयता तेजस्त्रयतः सृष्टिरुक्ता ॥ ८ ॥

अथ पञ्चीकरणप्रक्रियां प्रणवादुत्पत्तिं च सूचयन् भूतानां पृथक्प्रयोगार्थं पुनर्वर्णविभागमाह—*कारणावच्छिन्नशक्तिसमवायाद्बिन्दोः । *मातृकेति* । अकारादिक्षकारान्तवर्णसमुदायस्य संज्ञा । *यत्प्रयोगसारे*—"प्रसिद्धा वर्णमाला सा मातृकेत्युच्यते परे"ति । *पञ्चपञ्चविभागतः* । दशविभागतः । अथ च पूर्वं क्रमात् पञ्चतोऽपि पञ्चेति वीप्साऽपि ॥ ९ ॥

तदेवोद्दिष्टं कथयति—*वाय्विति* । वायूवाकाशयोराद्यन्तत्वेन निर्दिष्टत्वाद्व्युत्क्रमोक्तिः पञ्चीकरणप्रक्रियायां मुख्यत्वद्योतनाय । तत्र क्लृप्ताक्षराणां तत्रतत्रान्तर्भावाय च *पञ्चाशदिति* । विसर्गानन्तर्भावेन । तेन न गौणत्वं । *पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाः* इति । प्रसिद्धाः । सन्धिसम्भवानां पृथगुपादानान्नपारिभाषिकह्रस्वदीर्घग्रहः । *बिन्द्वन्ता इति* । सन्धिसम्भवविशेषणन्ते च एऐ ओ औ एषां यथासन्धिसम्भवत्वं तथोक्त*माचार्यैः* "अकारस्येकारयोगादेकारो वर्ण इष्यते । तस्यैवाकारयोगेन स्यादैकाराक्षरं तदा ॥ उकारयोगे तस्यैव स्यादोकाराह्वयः स्वरः । तस्यैवौकारयोगेन स्यादौकाराह्वयः स्वरः ॥ सन्ध्यक्षराः स्युश्चत्वारो मन्त्राः सर्वार्थसाधका" इति । ननु कथमत्र विसर्गो न गणितः । उच्यते । मूलाधारात्सञ्जातविवक्षोत्पन्नप्रयत्नप्राणपवनप्रेरितः स्थानान्तरमप्राप्य कण्ठादेव निःसरन् प्रकृत्यात्मकः सर्गोऽत्र भूतेषु न गणितः । अत*एवाचार्यैः* "कण्ठात्तु निःसरत्सर्ग" इत्यादिना "नश्वरः सर्ग एव स्यादि"त्यन्तेनोक्त्वा सर्गादेव ककारादीनामुत्पत्तिरुक्ता । *कादिमतेऽपि* प्राणाग्नीलाम्बुखात्मानः पङ्क्तयः पञ्चकीर्तिताः । मायाशक्त्यभिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुः । तस्मात्तस्यात्रविन्यासो नैकदेशे शिवात्मनी"ति ॥ १० ॥

कादयः—"शान्ता" इति शेषः । एतेन अ आ ए क च ट त प य षा वायवीयाः, एवम् [ईऐखछठथफरक्षा आग्नेया, एवं भ्वादीनामपि ज्ञेयम् । तदुक्त*माचार्यैः* । "उऊऔगादिङला: को नंसौचतुर्थार्णकावसौ वाराम् । इष्ट्यै (ष्टी) द्वितीयरक्षावह्नेरद्धन्द्वयोनिकादियषाः ॥ मरुतः कपोलबिन्दुकपञ्चमवर्णाः शहौ तथाव्योम्न" इति । अत्र मन्त्रशोधनप्रकरणे स्वकुलान्यकुललक्षणः शोधनप्रकारो नोक्तः स भूतवर्णकथनेन सूचितः । फलं तु—*पिङ्गलामतोक्तम्* । यथा "चत्वारिंशत्तथा पञ्च वर्णसंख्या प्रकीर्त्तिता । गणस्तु नवभिर्ज्ञेयः पार्थिवादिषु पञ्चसु" ॥ अत्र ह्रस्वैरेव दीर्घाणां ग्रहान्नवभिरित्युक्तिः । मन्त्रसाधकयोराद्यो वर्णः स्यात्पार्थिवो यदि । तत्कुलं तस्य तत्प्रोक्तमेवमन्येषु लक्षयेत् ॥ पार्थिवे वारुणं मित्रमाग्नेये मारुतं तथा । ऐन्द्रवारुणयोः शत्रुर्मारुतः परिकीर्त्तितः ॥ आग्नेये वारुणं शत्रुः वारुणे तैजसं तथा । सर्वेषामेव तत्त्वानां सामान्यं व्योमसंभवम् ॥ परस्परविरुद्धानां वर्णानां यत्र सङ्गतिः । स मन्त्रः साधकं हन्ति किं वा नास्य प्रसीदति ॥ *तन्त्रान्तरेऽपि*—"वर्णांशकं वदिष्यामि चतुर्मात्रव्यवस्थितम् । स्वकुलं मित्रमध्यस्थे अमित्रे च चतुर्थकम् ॥ वायव्याग्नेयवारुण्यपार्थिवं च प्रकीर्त्तितम् । उत्तरोत्तरसंसिद्धिसमता व्याधिमृत्यवः ॥ [illegible] समासाद्य मन्त्रिगोऽत्र नियोधनात् । मित्रे सि-

सोमसूर्याग्निभेदेन मातृकावर्णसम्भवाः ॥ ११ ॥
अष्टत्रिंशत्कलास्तत्तन्मण्डलेषु व्यवस्थिताः ॥
अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टीरतिर्धृतिः ॥ १२ ॥
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ॥
पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः ॥ १३ ॥
तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः ॥
सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥ १४ ॥
कभाद्या वसुदाः सौर्यष्ठडान्ता द्वादशेरिताः ॥
धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी ॥ १५ ॥
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहा अपि (इमाः) ॥

द्धिः समाख्याता उदासीने न किंच न ॥ मृत्युर्व्याधिरमित्रे च स्वकुले सिद्धिरुत्तमा । नामादिवर्णाः साध्यस्य साधकस्य यथाक्रमम् ॥ ऊर्ध्वाधस्थं समालेख्या अंशकं च निरूपयेत् । वायव्ये तैजसं मित्रमुदासीनं तु वारुणम् ॥ शत्रुं च पार्थिवं विद्यात् स्वकुलं वायवं पुनः । तैजसे वारुणं शत्रुरुदासीनं तु पार्थिवम् ॥ वायव्यं मित्रमाख्यातं स्वकुलं तैजसं पुनः । वारुणे पार्थिवं मित्रमुदासीनं तु वायवम् ॥ तैजसं तु रिपुं विद्यात्स्वकुलं वारुणं पुनः । पार्थिवे वारुणं मित्रम् तैजसं शत्रुरीरितम् । उदासीनं वायवं तु स्वकुलं पार्थिवं पुनः॥ एष वर्णांशको नाम सान्वयस्ते निरूपितः" इति । अष्टत्रिंशत्कलाद्यर्थं पूर्वं विभागः कृतः । ताः कला एवाह—*सोमेति* । अनेन प्रणवस्य त्रिभ्यो भेदेभ्योऽकारोकारमकारेभ्य एव अष्टत्रिंशत्कलोत्पत्तिरुक्ता । तत्र प्रथमाक्षरस्य विसर्गरूपत्वात् सोमत्वम् । उकारस्य विसर्जनीयस्य रेफादुत्पत्तेरग्न्यात्मकत्वं मकारस्य सूर्यरूपत्वं संसिद्धमेव। ननु प्रथमद्वितीययोः कथं सोमाग्निरूपत्वमिति चेदुच्यते—अन्त्यपटले अजपातः प्रणवस्योत्पत्तिं वक्ष्यति तत्र विलोमीकृता अजपा सोहं भवति । सकारहकारलोपे पूर्वरूपे कृते प्रणवसिद्धिः । तत्र प्रथमो वर्णो विसर्गात्मकः "सर्गः शक्तिर्निशाकर"इत्युक्तेस्तस्यैव विसर्गस्य सकारादेशे उत्वे च कृते उकारादेशो भवति इति अग्नित्वम्। यद्वा "तस्यां सूर्येन्दुपावकात् । प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरि"ति वक्ष्यमाणत्वात्तेषां तथात्वम् । तेनैतदुक्तं भवति । प्रणवस्य त्रिभिर्भेदैरष्टत्रिंशत्कलोत्पत्तिः, पञ्चभेदेभ्यः पञ्चाशत्कलोत्पत्तिः । *वायवीयसंहितायां* तु "लोकवृत्तिप्रवृत्त्यर्थमाकाशमरुदाश्रयात्। संचरन्ति त्रयो भूता वह्निसूर्येन्दुरूपिणः॥तेजोरूद्रात्मकं यत्तु स वह्निस्त्रिगुणः स्मृतः । भिन्नास्तमो रजः सत्त्वैस्तद्गुणा नवधाऽभवन्॥ वह्नेः कला दश प्रोक्ता बिन्दुना सह धर्मदाः । ब्रह्मात्मको रसो यस्तु स सूर्यः स चतुर्गुणः ॥ तद्गुणा गुणभेदेन पुनर्द्वादशतां गताः । तेन द्वादश विख्याताः सूर्यस्य धनदाः कलाः ॥ न हि नादकलेत्येवममूर्तत्वात् प्रदर्श्यते । या च विष्ण्वात्मिका पृथ्वी सोमोऽसौ गुणपञ्चकः ॥ तेऽपि प्रत्येकभेदेन गुणाः पञ्चदशाऽभवन् । ताः कलाः सह बीजेन षोडशेन्दोरनङ्गदाः" । इति ॥११॥

तत्तन्मण्डलेष्विति । सोममंडलसूर्यमण्डलाग्निमण्डलेषु ॥ १२ ॥

स्वरजा इति । अनेन अमृतादीनां पूजने स्वरमादौ कृत्वा पूजेत्युक्तं भवति । तत्र प्रयोगः । "अं अमृतायै नम" इत्यादि ॥ १३ ॥ १४ ॥

कभाद्या इति । ककारादनुलोमेन द्वादशठकारपर्यन्तं भकाराद्विलोमेन द्वादशडकारपर्यन्तमित्यर्थः । तत्र प्रयोगो यथा "कं भं तपिन्यै नमः"। "खं बं तापिन्यै नम" इत्यादिः॥१५॥

हव्यकव्यवहे इति । हव्यकव्ययोर्द्वन्द्वः । ततोवहाशब्देन समासः । तेन "द्वन्द्वात्परः श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते"इति न्यायात् हव्यवहा कव्यवहा इति शक्तिद्वयं,

यादीनां दशवर्णानां कला धर्मप्रदा इमाः (स्मृताः) ॥ १६ ॥
अभयेष्टकरा ध्येयाः श्वेतपीतारुणाः क्रमात् ॥
तारस्य पञ्चभेदेभ्यः पञ्चाशद्वर्णगाः कलाः ॥ १७ ॥
सृष्टिर्ऋ (ॠ) द्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मी-र्धृतिः स्थिरा ॥
स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ताः कचवर्गकलाः क्रमात् ॥ १८ ॥
अकाराद्ब्रह्मणोत्पन्नास्तप्तचामीकरप्रभाः ॥
एताः करधृताक्षस्रक्पङ्कजद्वयकुण्डिकाः ॥ १९ ॥
जरा च पालिनी शान्तिरीश्वरी रतिकामुके ॥
वरदा ह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घाःस्युष्टतवर्गगाः ॥ २० ॥

---

*यादीनामि*त्यनेन धूम्रार्चिरादीनां यादित्वमुक्तम् । प्रयोगस्तु—"यंधूम्रार्चिषे नमः" इत्यादिः ॥ १६ ॥

अभयेष्टेति । इष्टो वरः । तत्र दक्षहस्ते अभयं वामहस्ते वर इति संप्रदायविदः । उक्तं च—"ऊर्ध्वीकृतो दक्षहस्तः प्रसृतोऽभयमुद्रिका । अधोमुखो वामहस्तः प्रसृतो वरमुद्रिके"-ति।*दशपटल्यामपि भुवनेशीध्याने "दक्षेऽङ्कुशाभये प्रोक्ते वामे पाशमथेष्टदमि"ति। *तन्त्रान्तरे-सरस्वतीध्याने*—"साक्षस्रक्कलशोद्धर्वबाहुयुगलां चाधः समुद्राभयं हस्तं दक्षिणमन्यतः सवरदो यस्याः करे पुस्तकमि"ति ॥ *सौत्रामणीतन्त्रे पञ्चमीध्याने* "चक्रं खड्गं मुसलमभयं दक्षिणाभिर्भुजाभिः शङ्खं खेटं हलमपि वरं बिभ्रती वामदोर्भिरि"ति । *तन्त्रान्तरे नित्याध्याने* "कपालमभयं तथा। दधानां दक्षिणैर्हस्तैरि"ति। *अन्यत्रापि* "पाशं पताकां चर्मापि शार्ङ्गं चापं नरं करैः । दधानां वामपार्श्वस्थैः सर्वाभरणभूषितैः ॥ अङ्कुशं च ततो दण्डं खड्गं बाणं तथाऽभयम् । दधानां दक्षिणैर्हस्तैरासीनां पद्मविष्टरे" इति । *कादिमतेऽपि* । "ब्रूहि देव महेशान स्थूलसूक्ष्मस्वरूपयोः । ध्यानयोः कर्मणां सिद्धिं विविधां फलयोगतः ॥ तासां तत्तत्करेषूक्तेष्वायुधान्यप्यशेषतः ।? (इति पृष्टे शिव आह) शृणु वक्ष्ये महेशानि क्रमेण त्वं हि सांप्रतम्। वामदक्षिणयोः स्यातां द्विभुजे तु वराभये ॥ पाशाङ्कुशौ चतुर्बाहौ षड्भुजे चापसायकौ । चर्मखड्गावष्टभुजे गदाशूले दशोदित" इति । अतो यत्र यत्र शक्तिध्याने वराभये तत्र प्रायः अभयं दक्षिणे, वामे वरमितिज्ञेयम्। *यत्तूत्तरषट्के*—"वामेनाभयसंयुक्ता वरदं दक्षिणेन तु" । इति । *अन्यत्रापि* । "पुस्तकं चाभयं वामे दक्षिणे चाक्षमालिके । वरदानरतां देवीमि"ति । एतत् स्वस्वगुरुसंप्रदायानुसारेण तत्तद्देवताविशेषे बोद्धव्यमित्यलम् । *क्रमादिति* । सौम्यकालादीनां श्वेतादयः । अनेन वर्णवस्त्रमाल्यभूषाणां ग्रहणम् । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । यदर्थं पञ्चभूतेषु विभागउक्तस्ताः कला उद्दिशति । यद्वा तद्वर्णतो भिन्नाः कला इति पूर्वपटलान्तेऽनुद्दिष्टास्तानिर्दिशति—*तारस्येति* तारस्य—प्रणवस्य । *पञ्चभेदा* इति । अकारोकारमकारबिन्दुनादाः। यद्यपि शक्तिशान्ताविति प्रणवस्य षष्ठसप्तमभेदौ तथापि तयोरेषु गणना नास्ति, परत्वात् । तदुक्तं—"सप्तात्मकस्य तारस्य परौ द्वौ तु परौ यतः । ततस्तु-शक्तिशान्ताख्यौ न पठ्येते परैः सहे"ति । पञ्चाशच्छब्दो ऽत्र लाक्षणिकः *कलाःक्रमाद्* "उत्पन्ना" इति शेषः । काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र क्रमादिति सम्बध्यते ॥ १७ ॥

तमेव क्रममाह—*सृष्टिरित्यादिना* "*इति पञ्चाशदाख्याता"* इत्यन्तेन । ॥ १८ ॥

अकारात् प्रणवांशादुत्पन्ना इति ज्ञेयम्। वाच्यवाचकयोरभेदात् । तदुक्त—*माचार्यैः* "अकारप्रभवा ब्रह्मजाताः स्यु"रिति। एवमग्रेऽपि । *एता* इति । *अक्षस्रग*क्षमाला । आयुधध्यानं दक्षाधस्तनाद्वामाधस्तनपर्यन्तम् ॥ १९ ॥

उकारा विष्णुनोत्पन्नास्तमालदलसन्निभाः
अभीति शङ्ख (वर) चक्रेष्टबाहवः परिकीर्त्तिताः ॥ २१ ॥
तीक्ष्णा रौद्रा भया निद्रा तन्द्री क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ॥
उत्कारी मृत्युरेताः स्युः कथिताः पयवर्गगाः ॥ २२ ॥
रुद्रेण मार्णादुत्पन्नाः शरच्चन्द्रनिभप्रभाः ॥
उद्वहन्त्योऽभयं शूलं कपालं बाहुभिर्वरम् ॥ २३ ॥
ईश्वरेणोदिता बिन्दोः पीता श्वेताऽरुणाऽसिताः ॥
अनन्ता च पवर्णस्था जपाकुसुमसन्निभाः ॥ २४ ॥
अभयं हरिणं टङ्कं दधाना बाहुभिर्वरम् ॥
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद्विद्याशान्तिरनन्तरम् ॥ २५ ॥
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ॥
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृता चाप्यायिनी तथा ॥ २६ ॥
व्यापिनी व्योमरूपा स्युरनन्ताः स्वरसंयुताः ॥
सदाशिवेन सहिता नादादेताः सितत्विषः ॥ २७ ॥
अक्षस्रक् पुस्तकगुणकपालाढ्यकराम्बुजाः ॥
न्यासे तु योजयेदादौ षोडशस्वरजाः कलाः ॥ २८ ॥
इति पञ्चाशदाख्याताः कलाः सर्वसमृद्धिदाः ॥
श्रीकण्ठानन्तसूक्ष्माश्च त्रिमूर्त्तिरमरेश्वरः ॥ २९ ॥
अर्घीशोभारभूतिश्चातिथीशः स्थाणुको हरः ॥
झिण्टीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः ॥ ३० ॥

---

*आह्लादिनी*तिच्छेदः। दरः शङ्खः। आयुधध्यानं पूर्ववत्–स्थानत्रये॥२०॥२१॥२२॥
शरच्चन्द्रस्य निभा कान्तिः तद्वत्प्रभा यासां ताः। निभशब्दः सदृश(१)वाची वा ॥२३॥
बिन्दुकला आह—*ईश्वरेणेति*। *असितेति* पदच्छेदः ॥ २४ ॥

हरिणम्। हरिणमुद्राम्। अन्ये मृगशिशुं मन्यन्ते। *टङ्कः* परशुः। *सप्रतिष्ठेति*। प्रतिष्ठाकलासहिता ॥ २५ ॥

*परे*ति कलानाम *सूक्ष्मामृते*त्येका *ज्ञानामृते*त्येका ॥ २६ ॥

अनन्तेति। षोडशी कला ॥ २७ ॥

गुणः शूलम्। *कराम्बुज*मित्युपमासमासः। आद्ये ऊर्ध्वयोर्दक्षवामयोरन्त्ये अध इत्यायुधध्यानम्। वैपरीत्यं च केचनेच्छन्ति। शङ्खपूजायामयं क्रम उक्तः। शरीरे न्यासक्रममाह—*न्यासेत्वि*ति। तुः पूर्वस्माद्विशेषे ॥ २८ ॥

सर्वसमृद्धिदा इति न्यासफलम्। रुद्रादिकानिति—पूर्वप्रक्रान्तान् रुद्रान्विशति—*श्रीकण्ठेति* ॥ २९ ॥

---

(१) वस्तुतस्तु "स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः" इत्यमराभिधानान्निभादयः शब्दाः केवलं न प्रयुज्यन्तेकिन्तूत्तरपदभूता एव। तथाच शरच्चन्द्रेण तुल्याः शरच्चन्द्रनिभाइत्येव समासोव्याकरणानुसारी।

अक्रूरश्च महासेनः षोडशस्वरमूर्त्तयः ॥
पश्चात् क्रोधीश-चण्डीश-पञ्चान्तक-शिवोत्तमाः ॥ ३१ ॥
अप्येकरुद्रकूर्मैकनेत्राह्वचतुराननाः ॥
अजेयः शर्वसोमेशौ तथालाङ्गलिदारुकौ ॥ ३२ ॥
अर्द्धनारीश्वरश्चोमाकान्तश्चाषाढिदण्डिनौ ॥
स्युरद्रिर्मीनमेषाख्यौ लोहितश्च शिखी तथा ॥ ३३ ॥
छगलण्डद्विरण्डेशौ महाकालसवालिनौ ॥
भुजङ्गेशपिनाकीशखड्गीशाख्या वकस्तथा ॥ ३४ ॥
श्वेतभृग्वीशनकुलिशिवाः संवर्त्तकस्ततः ॥
एते रुद्राः स्मृता रक्ता धृतशूलकपालकाः ॥ ३५ ॥
पूर्णोदरीस्याद्विरजा शाल्मली तदनन्तरम् ॥
लोलाक्षी वर्त्तुलाक्षी च दीर्घघोणा समीरिताः ॥ ३६ ॥
सुदीर्घमुखिगोमुख्यौ दीर्घजिह्वा तथैव च ॥
कुण्डोदर्य्यूर्ध्वकेशी च तथा विकृतमुख्यपि ॥ ३७ ॥
ज्वालामुखी तथा ज्ञेया पश्चादुल्कामुखी तथा ॥
सुश्रीमुखी च विद्या तु ख्याताः स्युः स्वरशक्तयः ॥ ३८ ॥
महाकालीसरस्वत्यौ सर्वसिद्धिसमन्विता ॥
गौरी, त्रैलोक्यविद्या च मन्त्रशक्तिस्ततः परम् ॥ ३९ ॥
आत्मशक्तिर्भूतमाता तथा लम्बो(म्भो)दरी मता ॥
द्राविणी नागरी भूयः खेचरी चापि मञ्जरी ॥ ४० ॥
रूपिणी वारिणी पश्चात् काकोदर्यपि पूतना ॥
स्याद्भद्रकाली योगिन्यौ शङ्खिनी गर्जिनी तथा ॥ ४१ ॥
कालरात्रिश्च कुब्जिन्या कपर्दिन्यपि वज्रया ॥
जया च सुमुखेश्वर्यौ रेवती माधवी तथा ॥ ४२ ॥
वारुणी वायवी प्रोक्ता पश्चाद्रक्षोविदारिणी ॥
ततश्च सहजा लक्ष्मा व्यापिनी माययाऽन्विता ॥ ४३ ॥

स्थाणुक इति । कः स्वार्थे । स्थाणुरिति नाम ॥ ३० ॥ ३१ ॥

एकरुद्रश्च *एकनेत्राह्वयश्च* *चतुराननश्चेति* द्वन्द्वः । *आह्वा*शब्दस्य न संज्ञायामन्तर्भावः । एवमग्रेऽपि आख्यादेः । आयुधध्यानम् दक्षवामयोः । एवमुत्तरत्रापि । इदं सामान्यम् । वक्ष्यमाणं बन्धूकेत्यादि शक्तिसंभिन्नत्वे ज्ञेयम् । एवं विष्णुष्वपि । यत्तु क्वचित् "तप्तहेमावदातमि"ति तच्छक्तिशक्तिमतोरभेदे शक्तिप्राधान्यादित्यवधेयम् ॥३२॥३३॥३४॥३५॥

आदिपदवाच्या एतच्छक्ती र्दिशति—*पूर्णोदरीति* ॥ ३६ ॥

सुदीर्घमुखिगोमुख्या वित्यत्र "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमि"ति बहुलग्रहणात् पूर्वपदस्य ह्रस्वः । प्रयोगे तु दीर्घ एव ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

सर्वसिद्धिसमन्वितेति । गौरीविशेषणम् । तेन सर्वसिद्धिगौरीति शक्तिनाम । अपेक्षितार्थद्योतनिकाकारादिभिस्तथैवोक्तेः । *अन्यत्रापि*—"सर्वसिद्धिगौरीयुगि"ति ॥३९-४०-४१॥ ॥४२॥४३॥

एता रुद्राङ्कपीठस्थाः सिन्दूरारुणविग्रहाः ॥
रक्तोत्पलकपालाभ्यामलङ्कृतकराम्बुजाः ॥ ४४ ॥
केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णवः ॥
मधुसूदनसंज्ञोऽन्यः स्यात् त्रिविक्रमवामनौ ॥ ४५ ॥
श्रीधरश्च हृषीकेशः पद्मनाभस्ततः परम् ॥
दामोदरोवासुदेवः सङ्कर्षण इतीरिताः ॥ ४६ ॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च स्वराणां मूर्त्तय स्त्विमाः ॥
चक्री गदी शार्ङ्गी खड्गी शङ्खी हली पुनः ॥ ४७ ॥
मुसली शूलिसंज्ञोऽन्यः पाशी स्यादङ्कुशी पुनः ॥
मुकुन्दो नन्दजो नन्दी नरो नरकजिद्धरिः ॥ ४८ ॥
कृष्णः सत्यः सात्वतः (सात्विकः) स्यात् शौरिः शूरो जनार्दनः ॥
भूधरो विश्वमूर्त्तिश्च वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ॥ ४९ ॥
बली बलानुजो बालो वृषघ्नश्च वृषः पुनः ॥
हिंसो (हंसो) वराहो विमलो नृसिंहो मूर्तयो हलाम् ॥ ५० ॥
केशवाद्या इमे श्यामाश्चक्रशङ्खलसत्कराः ॥
कीर्तिः कान्तिस्तुष्टिपुष्टी धृतिः क्षान्तिः क्रिया दया ॥ ५१ ॥
मेधा सहर्षा श्रद्धा स्याल्लज्जा लक्ष्मीः सरस्वती ॥
प्रीती रतिरिमाः प्रोक्ताः क्रमेण स्वरशक्तयः ॥ ५२ ॥
जया दुर्गा प्रभा सत्या चण्डा वाणी विलासि(शालि)नी ॥
विजया विरजा विश्वा विनदा सुनदा स्मृतिः ॥ ५३ ॥
ऋद्धिः समृद्धिः शुद्धिः स्यात् भक्तिर्बुद्धिः(१) स्मृतिः क्षमा॥
रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुधा वसुदाऽपरा ॥ ५४ ॥
परा परायणी सूक्ष्मा सन्ध्या प्रज्ञा प्रभा निशा ॥
अमोघा विद्युता चेति कीर्त्याद्याः सर्वकामदाः ॥ ५५ ॥
एताः प्रियतमाङ्केषु निषण्णाः सस्मिताननाः ॥
विद्युद्दामसमानाङ्ग्यः पङ्कजाऽभयबाहवः ॥ ५६ ॥
मातृकावर्णभेदेभ्यः सर्वे मन्त्राः प्रजज्ञिरे ॥

रुद्रेति द्राणां श्रीकण्ठादीनाम् अङ्क—उत्सङ्गः स एव पीठं तत्स्थाः ॥ ४४ ॥
आदिशब्दसंगृहीतान् केशवाद्यांस्तच्छक्तीरप्युद्दिशति—*केशवे*त्यादि ॥४५॥४६॥४७॥ ॥४८॥४९॥

*हलामि*ति व्यञ्जनानां वैयाकरणपरिभाषया । आयुधध्यानं वामदक्षयोरेवमुत्तरत्रापि ॥५०॥५१॥५२॥५३॥

*वसुदाऽपरे*ति । अपरा वसुदेत्यन्वयः ॥५४॥

परेति कलानाम ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

वतश्चैतन्येत्यारभ्य पञ्चाशद्वर्णरूपिणीत्यन्तेन मातृकास्वरूपत्वमुक्तं कुण्डल्याः । तस्या एव

---

(१) भुक्तिर्बुद्धिर्मतिः क्षमा । इति पाठः क्वचित् ।

मन्त्रविद्याविभागेन त्रिविधा मन्त्रजातयः ॥ ५७ ॥
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृताः ॥
पुंस्त्रीनपुंसकात्मानो मन्त्राः सर्वे समीरिताः ॥ ५८ ॥
पुंमन्त्रा हुंफडन्ताः स्युर्द्विठान्ताश्च स्त्रियो मताः ॥
नपुंसका नमोन्ताः स्युरित्युक्ता मनवस्त्रिधा ॥ ५९ ॥
शस्तास्ते त्रिविधा मन्त्रा वश्यशान्त्यभिचारके ॥
अग्नीषोमात्मका मन्त्रा विज्ञेयाः क्रूरसौम्ययो ॥ ६० ॥
कर्मणोर्वह्नितारान्त्यवियत्प्रायाः समीरिताः ॥
आग्नेया मनवः सौम्या भूयिष्ठेन्द्वमृताक्षराः ॥ ६१ ॥

मन्त्रा उत्पन्ना इत्यपि। तत्प्रयोगाद्यर्थं मनूनां प्रकारत्रये वक्ष्यमाणे हेतुत्वेनोपन्यस्यति—*मातृकेति*। "यत" इति शेषः। पूर्वं शिवशक्तिमयादित्यनेन तदुत्पत्तेरुक्तेस्तदेव मन्त्रेष्वपि दर्शयति—*मन्त्रेति*। मातृकेति तत इति योज्यम्। अनेन सोमसूर्यात्मकत्वं सर्वेषामुक्तं भवति। *यत्प्रयोगसारे*—"द्विधा प्रोक्ताश्च ते मन्त्रा सौम्यसौरविभागतः। सौराः पुंदेवता मन्त्रा स्तेच मन्त्राः प्रकीर्त्तिताः। सौम्याः स्त्रीदेवतास्तद्वद्द्विविधास्तेऽपि विश्रुता" इति। अनयोरुदयेन सर्वेषामुदयोऽप्युक्तो भवति ॥ ५७ ॥ ३ ॥

प्रयोगविशेषसिध्यर्थं मन्त्राणां त्रैविध्यमाह—*पुंस्त्री*ति। अत्रापि शिवशक्तिमयत्वान्मध्यगचतुष्कस्य नपुंसकत्वात् स्वराणां त्रैविध्ये तान् विना अन्येषामपि उच्चारणाभावात् तदात्मकत्वेन हेतुत्वं योज्यम्। अत्र *सर्वे* इत्युक्तेर्न पारिभाषिकमन्त्रग्रहणम्। एवमुत्तरत्रापि। ननु निष्कलचैतन्याखण्डानन्दवाच्यस्य मन्त्रस्य कथं पुंस्त्वादिकल्पनमितिचेत्। सत्यम्। वस्तुतो नास्त्येव। उपासकानामर्थकल्पनामात्रम्। *यद्वाहुः* "चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥ रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गाद्यादिकल्पने" ति ॥ ५८ ॥

गार्ग्याभिप्रायेणैषां लक्षणमाह—*पुमिति*। *हुंफडन्ता* इति। संप्रदायाद्वयस्तसमस्ततदन्ताः। *द्विठान्ता* इति। स्वहान्ताः। ठशब्देन साम्यादर्थाद्वा बिन्दुरुच्यते। "ठः शून्ये च बृहद्ध्वनावि"ति कोशात्। शून्यं बिन्दुरूपमेव तस्य द्वित्वं तेन बिसर्गः। स च शक्तिरूप इति द्विठाशब्देनाग्निशक्तिः स्वाहोक्ता।*प्रयोगसारे* तु। "वषट्फडन्ताः पुल्लिङ्गाः वौषट्स्वाहान्तगाः स्त्रियः। नपुंसकाः हुंनमोन्ताः इति मन्त्रास्त्रिधा मताः॥ तारेणाप्यनुमीयन्ते मन्त्राः स्वाद्यन्तमध्यतः। प्रत्यासन्नात्मभावेन यथा पुंस्त्रीनपुंसकाः॥ बिन्दुसर्गेन्दुखण्डान्तास्तद्वदेव प्रकीर्तिताः"। इति ॥ ५९ ॥

त्रिविधानां क्रमेण प्रयोजनमाह—*शस्ता* इति। उक्तं तु *नारायणीये*—"शेषाः पुमांसः शक्तास्ते वश्योच्चाटवशेषु च। क्षुद्रक्रियाऽमयध्वंसे स्त्रियोऽन्यत्र नपुंसकाः"। इति। पूर्वं मातृकायाः कुण्डल्या उत्पत्तेरुक्तत्वात्तस्याः अग्नीषोमात्मकत्वान्मन्त्राणामपि तद्दर्शयति—*अग्नी*ति ॥ ६० ॥

कर्मणोरिति। पूर्वत्रान्वेति। *वह्नी* रेफः। *तारः* ओं *अन्त्यः* क्षकारः। *वियत्* हकारः। *प्रायः* शब्दो बाहुल्यवाची। "प्रायो भूम्न्य(१)न्तगमन" इत्यमरः। *आग्नेया* इति। पूर्वेण सम्बध्यते। *इन्दुः* सः। तत्त्वन्यासे इन्दुमण्डलस्य सकारादित्वेन न्यस्तत्वात्। *अमृतं* वः। अत्रैकस्य बाहुल्ये तत्त्वं तदुक्त—*मीशानशिवेन*—"ताराकाशाद्यन्तवा-

---

(१) उपलभ्यमानामरकोशेतु "प्रायोभूम्न्यन्तगमने" स्त्येवपाठः।

आग्नेयाः संप्रबुध्यन्ते प्राणे चरति दक्षिणे ॥
भागेऽन्यस्मिन् स्थिते प्राणे सौम्या बोधं प्रयान्ति च ॥ ६२ ॥
नाडीद्वयं गते प्राणे सर्वे बोधं प्रयान्ति च ॥
प्रयच्छन्ति फलं सर्वे प्रबुद्धा मन्त्रिणां सदा ॥ ६३ ॥
छिन्नादिदुष्टा ये (१)मन्त्राः पालयन्ति न साधकम् ॥
छिन्नो रुद्धः शक्तिहीनः पराङ्मुख उदीरितः ॥ ६४ ॥
बधिरो नेत्रहीनश्च कीलित स्तम्भित स्तथा ॥
दग्धस्त्रस्तश्च भीतश्च मलिनश्च तिरस्कृतः ॥ ६५ ॥
भेदितश्च सुषुप्तश्च मदोन्मत्तश्च मूर्च्छितः ॥
हृतवीर्यश्च हीनश्च प्रध्वस्तो बालकः पुनः ॥ ६६ ॥
कुमारस्तु युवा प्रौढो वृद्धो निस्त्रिंशकस्तथा ॥
निर्बीजः सिद्धिहीनश्च मन्दः कूटस्तथा पुनः ॥ ६७ ॥
निरंशः सत्त्वहीनश्च केकरो बीजहीनकः ॥

यन्त्यवर्णा आग्नेयाः स्युः सौम्यवर्णा स्ततोऽन्ये । आग्नेयोऽपि स्यात्तुसौम्यो नमोऽन्तः सौम्योऽपि स्यादग्निमन्त्रः फडन्तः । स्यादाग्नेयैः क्रूरकार्यप्रसिद्धिः सौम्यैः सौम्यं कर्म कुर्याद्यथावदि" ति । *नारायणीयेऽपि*—"तारान्त्याग्निवियत्प्रायो मन्त्र आग्नेय इष्यते ।शिष्टाः सौम्याः प्रशस्तौ तौ कर्मणोः क्रूरसौम्ययोः॥ आग्नेयमन्त्रः सौम्यः स्यात् प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः । सौम्यमन्त्रस्तथाग्नेयः फट्कारेणान्वितोऽन्तत" इति । *पिङ्गला मतेऽपि*—"रौद्रोऽपि शान्ततामेति शान्तजातिसमन्वितः । मन्त्रः शान्तोऽपि रौद्रत्वं हुंफट्पल्लवितो यदि" । इति । तत्र विशेषो *नारायणीये*—"मन्त्रावाग्नेयसौम्याख्यौ ताराद्यन्तौ द्वयोर्जपेत्" इति अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यातम् । एकंनक्षत्रमंशकचतुष्टयम्भवति । तत्राऽऽग्नेयानां नक्षत्राणां पूर्वांशद्वयमग्रमितरत्पुच्छम् । सौम्यानामुत्तरांशकद्वयमग्रमितरत्पुच्छम् । पुच्छकाले प्रयोगो न कार्य इति गार्ग्यः । आग्नेयसौम्यनक्षत्राणि अहिचक्रे वक्ष्यन्ते ।तत्र सूर्य्यनक्षत्राणि—अग्निनक्षत्राणि ॥६१॥६२॥

बोधफलमाह *प्रयच्छन्तीति ।अन्यथा दोषदर्शनात् । उक्तं *नारायणीये*—"सुप्तः प्रबुद्धमात्रो वा मन्त्रः सिद्धिं न यच्छति । स्वापकालो वामवहो जागरो दक्षिणावहः ॥ आग्नेयस्य मनोः सौम्यमन्त्रस्यैतद्विपर्ययः ।। प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयोर्वहमि" ति । *अन्यत्रापि*—"स्वापकाले तु मन्त्रस्य जपोऽनर्थफलप्रदः" इति । अन्यत्रान्यथा स्वापकाल उक्तः । यदाहुः—"प्राणायामसमायोगात् शिवशक्त्योस्तु मेलनम् । प्रबोधकालो विज्ञेयः स्वापकालस्ततः परमि" ति । *अन्यत्रतु*—बोधार्थं प्रकारान्तरमुक्तं "संपुटीकृत्य यत्नेन लान्तानाद्यान्सबिन्दुकान् । पुनश्च सविसर्गांस्तान् क्षकारं केवलं पठेत् ॥ एवं जपत्वोपदिष्टश्चेत्प्रबुद्धः शीघ्रसिद्धिद" इति । पुंस्त्रीत्यादि स्वरूपकथनेनैषां विरोधोऽपिसूचितः । यदाहुः "स्त्रीदैवत्या वैरिणः स्युः पुं दैवत्यस्य भूयसा । स्त्रीदैवत्येषु सौम्यानां क्रूराणां स्यात्परस्परम् ॥ तथैव पुंदेवतानामिग्गति । पूर्ववैपरीत्येनोत्तरस्य सङ्गतिः ॥ ६३ ॥

शक्तिशिवात्मकमातृकातोमन्त्रोत्पत्तेरुक्तत्वात् । तदुत्पत्तिनिमित्तश्वाणूरादिदोषाः । तदन्तर्गतच्छिन्नादिदोषसम्बद्धा मन्त्राः विरुद्धफला इत्याह—*छिन्नेति* । 'छिन्नादिदोषै-

---

(१) अत्र "मन्त्रास्ते पालयन्ति न साधकम्" इति पाठान्तरम् ।

धूमितालिङ्गितौ स्यातां मोहितश्च क्षुधार्तकः ॥ ६८ ॥
अतिदृप्तोऽङ्गहीनश्च (नःस्याद) अतिक्रुद्धः समीरितः ॥
अतिक्रूरश्च सव्रीडः शान्तमानस एव च ॥ ६९ ॥
स्थानभ्रष्टस्तु विकलः सोऽतिवृद्धः प्रकीर्त्तितः ॥
निःस्नेहः पीडितश्चापि वक्ष्याम्येषां च लक्षणम् ॥ ७० ॥
मनोर्यस्यादिमध्यान्तेष्वानिलं बीजमुच्यते ॥
संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः ॥ ७१ ॥
चतुर्द्धा पञ्चधा वा स्युः (ऽथ) स मन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः ॥
आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वन्द्व लाञ्छितः ॥ ७२ ॥
रुद्धमन्त्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः ॥
मायात्रितत्त्वश्रीबीजरावहीनस्तु योमनुः ॥ ७३ ॥

दुष्टाः साधकं न पालयन्तीति सर्वेषां सामान्यफलम् । वक्ष्यमाणं क्वचित्तत्तद्विशेषफलं ज्ञेयम् । आदिशब्दार्थमाह–*छिन्न*.इति ॥६४॥६५॥६६॥६७॥६८॥६९॥

तथा पुनरित्यनेन कूट एव निरंशसंज्ञक इत्याह–*सोऽतिवृद्ध* इति। निःस्नेहविशेषणम् । तेन निःस्नेहानन्तरमतिवृद्धस्ततः पीडित इति ॥ ७० ॥

मनोरिति । आनिलं यम् *आदिमध्यान्तेष्वि*ति समुच्चयः।*संयुक्तं वा*—अक्षरान्तरःयुक्तं, *वियुक्तवा*—केवलं वेत्येकैकं द्विर्द्विः संबध्यते । विशिष्टमनिलं वा विशिष्टं बीजं वा यस्य सच्छिन्नसंज्ञक इत्यन्वयः। *बीजं*–शक्तिबीजम्, *स्वराक्रान्तं*–दीर्घस्वराक्रान्तम्। आ-ईऊऐऔ एतत् स्वरसंयुक्तमिति सम्प्रदायविदः । बीजशब्देन मायाबीजं कथमिति चेत्तदुक्तं-*शैवे*—"मायाबीजस्य नामानि मालिनी शिववल्लरी । वातावर्तिः कला वाणी बीजं शक्तिश्च कुण्डली" ति ॥ तदुक्तं *पिङ्गलामते*—"आदिमध्यावसानेषु यस्य मन्त्रस्य दृश्यते । चतुर्द्धा पञ्चधा द्वैधमेकवीरं स्वरान्वितम् ॥ वायुबीजमसौ मन्त्रश्छेदितः परिकीर्त्तितः" । इति । तत्रैव—अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य व्याख्यातम् । "वायुबीजं यकारः, एकवीरो ह्रस्वस्वराक्रान्तो दीर्घस्वरयुक्तः । यथाक्रमं ह्रांह्रींह्रूं ह्रैं ह्रौं उदाहरणं च तत्रैव प्रदर्शितम्—अघोरेभ्योऽथह्रां । घोरेभ्योह्रीं । घोरघोरतरेभ्यश्च ह्रूं । सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो ह्रैं । नमस्ते अस्तुरुद्ररूपेभ्यो ह्रौं । इति । *मन्त्रमुक्तावल्यां* च–"एकवीरं वा स्वराक्रान्तं विशेषत" इति । *ग्रन्थान्तरे* तु "अर्द्धग्रहो मनुश्छिन्नः" इत्युक्तम् । अर्द्धग्रहः ऋचि श्लोके वा मध्ये विच्छिन्नः । *अन्यत्र तु*—"आदिमध्यान्तबीजानां लोपे श्छिन्नता" इति । *आदीत्येषां* समुच्चयः । *भूबीजं लः* । *द्वन्द्वे*ति प्रत्येकम् ॥ ७१–७२ ॥

भुक्ति रैहिकं फलम् । तदुक्तं *पिङ्गलामते*—"आदौ द्विधा त्रिधा मध्ये पुनश्चान्ते द्विधा भवेत् । इन्द्रबीजमसौ मन्त्रो रुद्ध इत्यभिधीयते" इति। *अन्यत्रच* "द्विधा पूर्वं त्रिधा मध्ये द्विधान्ते च पुनः प्रिये । वज्रयुक्तस्तु यो मन्त्रः स निरुद्धः प्रकीर्त्तितः"इति । *वज्रं* लकारः । उभयत्र त्रिधेति विशेषः । चकारेणोभयत्र समुच्चयोऽपि दर्शितः । एतेन केचन भूबीजशब्देन ग्लौमिति वदन्ति । तदपि परास्तम् । *ग्रन्थान्तरेत्वन्यः प्रकारः* "रुद्धो निःसन्धिकः स्मृत" इति । स्वरसन्धिर्व्यञ्जनसन्धिर्व्याकरणोक्तो यत्र नास्ति स निः सन्धिकः । *तन्त्रान्तरे* । "रुद्धाः परिवारसमन्विता" इति । *मायेति* । माया भुवनेशीबीजम् । (ह्रीं) *त्रितत्त्वम्* हुंकारः प्रणवो वा, *रावः* फंकारः । एषां न समुच्चयः । तदुक्तम् "मायाबीजं न यत्रास्ति त्रितत्त्वं रावमेव वा । श्रीगृहं वापि मन्त्रोऽसौ शक्तिहीनः प्रकीर्त्तित"इति । *पि-

शक्तिहीनः स कथितो, यस्य मध्ये न विद्यते ॥
कामबीजं मुखे माया शिरस्यङ्कुशमेव वा ॥ ७४ ॥
असौ पराङ्मुखः प्रोक्तो, हकारो बिन्दुसंयुतः ॥
आद्यन्तमध्येष्विन्दुर्वा न भवेद्बधिरः स्मृतः ॥ ७५ ॥
पञ्चवर्णोमनुर्यः स्याद्रेफार्केन्दुविवर्जितः ॥
नेत्रहीनः स विज्ञेयोदुःखशोकामयप्रदः ॥ ७६ ॥
आदिमध्यावसानेषु हंसः प्रासादवाग्भवौ ॥
हकारो बिन्दुमाञ्जीवो रावश्चापि चतुष्कलम् ॥ ७७ ॥
माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन्स कीलितः ॥
एकं मध्ये द्वयं मूर्द्धिन यस्मिन्नस्त्रपुरन्दरौ ॥ ७८ ॥

ङ्गलामतेऽपि*—"मायाबीजं त्रितत्त्वं वा श्रीगृहं यत्र नास्ति चेत् । शक्तिहीन इति ख्यातः सामर्थ्यं हन्ति मन्त्रिण" इति। अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य *त्रितत्वम्* हुं, *श्रीगृहं* श्रीमिति तत्रैव व्याख्यातम् ॥ ७३ ॥

यस्येति । *मुखे* आदौ *शिरस्य*न्ते । *अङ्कुशम्* क्रोङ्कारः । वा शब्दः समुच्चये । क्वचिदेवचेति पाठः । यदुक्तम् *पिङ्गलामते*—"कामबीजं न यन्मध्ये मायादावन्तिमोऽङ्कुशः। पराङ्मुख इति प्रोक्तः" इति । *मन्त्रमुक्तावल्यामपि* । "यस्य कामकलाबीजं मध्यस्थाने न विद्यते । आदौ मायाङ्कुशश्चान्ते विज्ञेयोऽसौ पराङ्मुख" इति ।। *हकारइति* इन्दुः सः । *बिन्दुसंयुत* इत्यत्रापि सम्बध्यते । *आद्यन्तमध्येष्विति* न समुचयः । तदुक्तम्—"शून्यं बिन्दुसमायुक्तमाद्यन्ते वापि मध्यतः। न भवेज्जीवबीजं वा यस्याऽसौ बधिरः स्मृत" इति । एतेन केचिदिन्दुशब्देन उकारंव्याचक्षते तदपि परास्तम् ॥७४॥७५॥

पञ्चेति । *अर्को*–हकारः । वैष्णवबृहत्तत्त्वन्यासे ऽर्कमण्डलतत्त्वस्य हकारादित्वेन न्यस्तत्वात् । हकारस्य पुंरूपत्वाद् वा अर्कत्वम् । *इन्दुः* सः । पञ्चेत्यादि उभयम् दोषबीजम् दुःखशोकामयप्रद इति क्रमेण फलम् । यतोऽग्निसूर्यचन्द्राणां नेत्रत्रयात्मकत्वात् ॥ एकद्विहानतः काणतापि ज्ञेया ।। तदुक्तम् *पिङ्गलामते* । "पञ्चाक्षरस्तु यो मन्त्रो वह्निचन्द्रार्कवर्जितः । नेत्रहीन इति ज्ञेयो दुःखशोकामयावह" इति ॥ अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य चन्द्रः सः अर्कोह इति तत्रैव व्याख्यातम् ॥ ७६ ॥

आदीति एषां न समुचयः । हंसआदीनाम् समुच्चयः । एवम् वा इत्युक्तत्वात् ॥ ग्रन्थान्तरेऽपि—"हंसं मायात्मकं वापि" इति ॥ हंसः स्वरूपम् ॥ प्रासादबीजम् हौं । वाग्भवं ऐं ॥ हकारो बिन्दुमान् ॥ जीवः सः । रावः फ्रें ॥ चतुष्कलं हूं । माया शक्तिबीजम् नमामि इति पदम् च यत्र नास्ति स कीलित इति ॥ अत्र हकारोबिन्दुमानित्येकं पदम् ॥ तत्र जीवः कीदृशः ? हकारश्च अकारश्च उकारश्च बिन्दुश्च तद्वान् तेन स्हौं इति सिद्धम् ॥ तत्र अकार उकार बिन्दुरित्यनेन ओंकारः। यथा "अउमाः स्युः रि"त्यत्र ॥ तथा च *पिङ्गलामते* "नवमस्वरसंयुक्तो जीवारूढः स बिन्दुकः । यस्यात्मा दृश्यते नैव किं वा रावं चतुष्कलः ॥ प्रासादो वाग्भवो हंसो माया वा यत्र दृश्यते । आदिमध्यान्तदेशेषु कीलितं तं प्रचक्षते ॥" इति ॥ अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य तत्रैव व्याख्यातम् ॥ नवमस्वर ओकारः, आत्मा हः, रावः फ्रें, चतुष्कलः हूं ॥ तन्त्रान्तरे तु—"हंसमायात्मकं वापी"ति पठित्वा ह्रीमिति व्याख्यातम् ॥ अन्ये हंसो मायेति पिङ्गलावाक्येऽप्ययमेवार्थ इत्याहुः ॥ अन्यत्र तु—"अन्तरन्येन बीजेन न्यासः कीलित उच्यते" । इति ॥ ग्रन्थान्तरे—"कीलितो बीजवर्जित" इति ॥७७॥ ई॥

एकस्मिन्निति ॥ मूर्द्धिन्नअन्ते अस्त्रं फट्कारः । पुरन्दरो लः । मध्ये एकः फट्कारः लकारो वा ॥

न विद्येते, स मन्त्रः स्यात्स्तम्भितः सिद्धिरोधकः ॥
वह्निर्वायुसमायुक्तो यस्य मन्त्रस्य मूर्द्धनि ॥ ७९ ॥
सप्तधा दृश्यते तं तु दग्धं मन्येत मन्त्रवित् ॥
अस्त्रं द्वाभ्यां त्रिभिः षड्भिरष्टाभिर्दृश्यतेऽक्षरैः ॥ ८० ॥
त्रस्तः सोऽभिहितो यस्य मुखे न प्रणवः स्थितः ॥
शिवो वा शक्तिरथवा भीताख्यः स प्रकीर्तितः ॥ ८१ ॥
आदिमध्यावसानेषु भवेन्मार्णचतुष्टयम् ॥
यस्य, मन्त्रः स मलिनो मन्त्रवित्तं विवर्जयेत् ॥ ८२ ॥
यस्य मध्ये दकारोऽथ (वा) क्रोधो वा मूर्द्धनि द्विधा ॥

अन्ते फट्कारद्वयम् लकारद्वयम् वा । केचन मध्ये फट्कारः अन्ते लद्वयमिति व्याचक्षते तदसत् ग्रन्थान्तरविरोधात् ॥ तथा च *पिङ्गलामते* ॥ "सकृन्मध्ये द्विधा प्रान्ते शक्रबीजं भवेद्यदि । स्तम्भितं तं वदन्तीत्थम्मन्त्रतन्त्रविदो बुधाः" ॥ इति ॥ ग्रन्थान्तरे च "द्विधा त्रिधाऽष्टधा षोढा मन्त्रान्ते यत्र दृश्यते ॥ महास्त्रं स्तम्भितो मन्त्रः स श्रीशेन प्रकीर्त्तित" इति ग्रन्थद्वयविरोधात् "न विद्येते स मन्त्र" इति प्रामादिकः पाठः । "विद्येते स तु मन्त्रः स्यात्" इति तु साम्प्रदायिकः पाठः । अन्यत्र तु स्तम्भिताः क्रियायां नियुक्ता अपि(न)मुञ्चन्तीति ॥ ७८ ॥

वह्निरिति ॥ वह्नी रेफः । वायुः यकारस्तेन समायुक्तः अधऊर्द्ध्वं वा । *मूर्द्धनि* आदौ ॥ तदुक्तं *पिङ्गलामते* "आदिस्थैः सप्तभिर्बीजैः मारुतैः पावकाक्षरम् । दीपितं यत्र तं मन्त्रमार्या दग्धं प्रचक्षते" इति ॥ ग्रन्थान्तरे प्रकारान्तरेणोक्तः "षट्कर्णाकर्णितो दग्ध" इति ॥ *अन्यत्र तु* "अग्निबीजाधिका दग्धा" इति ॥ ॥७९॥

अस्त्रमिति ॥ द्वाभ्याम् त्रिभिः षड्भिरष्टाभिरक्षरैर्वा यस्य अस्त्रं फट्कारो दृश्यते ॥ *पिङ्गलामते* भीतनाम्ना अयमुक्तः "आदिमध्यान्तदेशेषु यदि मन्त्रोऽस्त्रसंयुतः । भीत इत्युच्यते तान्त्रैः" इति ॥ *अन्ये तु* "त्रस्तः सोऽभिहितो मन्त्रः" इति पाठमपठन् । तन्त्रान्तरे 'त्रासिताः सिद्धिभीषिता' इति ॥ *यस्येति* ॥ मुखे आदौ । शिवः हं । शक्तिः सः । इति साम्प्रदायिकाः । केचन शिवशब्देन (बिन्दु शक्तिशब्देन) विसर्गमाहुस्तदयुक्तम् मन्त्रादौ केवलमिन्दोः केवलविसर्गस्य वा असत्त्वात् ॥ अक्षरान्तरयुक्तो ग्राह्य इति चेत्तद्वरं साम्प्रदायिकार्थानुसरणमेव ॥ ग्रन्थकृदेव वक्ष्यति "हंसौ तौ पुंप्रकृत्याख्यौ हं पुमान् प्रकृतिस्तु स" इति ॥ अयमेव दोषो नामान्तरेणोक्तः *पिङ्गलामते*—"शिवः शक्तिस्तथोकारो यस्यादौ नास्ति तं मनुम् । वदन्ति मातृकाहीनं हीनसिद्धिप्रदायकमि"ति ॥ अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य तत्रैव व्याख्यातं शिवोहं शक्तिः स इति ॥८०॥८१॥

आदीति ॥ एषां समुच्चयः मार्णचतुष्टयमित्यपि समुच्चयः । तेन स्थानत्रये मिलित्वा मार्णचतुष्टयमपेक्षितम् ॥ तदुक्तम् *पिङ्गलामते* "आदिमध्यान्तदेशेषु चतुर्द्धा यत्र दृश्यते ॥ मकारो मलिनं विद्यात् तं मन्त्रं मन्त्रवित्त्यजेत्"(१) इति ॥ *अन्यत्र तु* । "आदौ मध्येऽथ हृदये त्रिधा वै यस्य दृश्यते । मन्त्रो मकार ईशेन मलिनः स समीरित" इति । मतान्तरत्वाद् भेदः । अत्र हृदयशब्दोन्तवाची ॥ अन्यत्र(२) तु—मलैस्त्रिभिः सहजागन्तुकमायाख्यैर्मलिनः इति ॥ ८२ ॥

यस्येति ॥ क्रोधो हुं बीजम् । मध्ये दकार-क्रोधयोर्विकल्पः । मूर्द्धनि अन्ते द्विधाऽस्त्रमिति

---

(१) अत्र "मन्त्रीवत्सदे"ति पाठः क्वचित् ।

(२) अयमर्थः "मलिनः समलैस्त्रिभि." इत्युक्तवचने पाठमनुसृत्य बोध्यः ।

अस्त्रं तिष्ठति मन्त्रः स तिरस्कृत उदाहृ(इतारि)तः ॥ ८३ ॥
भ्योद्वयं हृदये शीर्षे वषट् वौषट् च मध्यतः ॥
यस्यासौ भेदितो मन्त्रस्त्याज्यः सिद्धिषु सूरिभिः ॥ ८४ ॥
त्रिवर्णो हंसहीनो यः सुषुप्तः स उदाहृतः ॥
मन्त्रो वाऽप्यथवाविद्या सप्ताधिकदशाक्षरः ॥ ८५ ॥
फट्कारपञ्चकादिर्यो मदोन्मत्त उदीरि(उदाहृ)तः ॥
तद्वदस्त्रं स्थितं मध्ये यस्य, मन्त्रः स मूर्च्छितः ॥ ८६ ॥
विरामस्थानगं यस्य हृतवीर्यः स कथ्यते ॥
आदौ मध्ये तथा मूर्द्धिन चतुरस्त्रयुतो मनुः ॥ ८७ ॥

सम्बन्धः । मध्यान्तयोः समुच्चयः । तदुक्तम् *पिङ्गलामते* "दकारः क्रोधबीजं वा यस्य मध्ये व्यवस्थितम् । "फट्द्वयं च स्थितं प्रान्ते यस्याणोः स तिरस्कृत" इति । अन्यत्रापि यस्य मध्ये दकारस्तु क्रोधबीजं हृदि स्थितम् । द्विधा चान्ते च फट्कारः स्याद्यस्य स तिरस्कृत" इति । *तन्त्रान्तरे* "पराभूतास्तिरस्कृता" इति बोध्यम् ॥ ८३ ॥

भ्योद्वयम् इति ॥ "भ्योद्वयंचमुखे शीर्षे वपडस्त्रं च मध्यत" इति (पाठः) ॥ शीर्षे अन्ते वषट् । अस्त्रं हुः मध्यतः । *यन्मन्त्रमुक्तावल्यांम्* "अस्त्रवर्णद्वयं मध्ये वषडन्ते तथैव च । यस्य मन्त्रस्य भिन्नोऽसौ विज्ञेयः सिद्धिवर्जित" इति । *पिङ्गलामतेऽपि* "अस्त्रवर्णद्वयं मध्ये वषडन्ते तथादितः । अउमाः स्युरसौ मन्त्रो भेदितः परिकीर्त्तित" इति ॥ अथ मन्त्रांशकबीजविवरणमित्युपक्रम्य तत्रैव व्याख्यातम् अस्त्रम् हुः अउमा ओंकारः । केचन "भ्यो द्वयं हृदये शीर्षे वपडावूच मध्यतः" इति पठन्ति ॥ अन्ये च वषट् वौषडि (ट्चमध्य तह) ति पठन्ति ॥ अन्यत्र "भिन्नतां नीता भेदिता" इति ॥ ८४ ॥

त्रिवर्ण इति । त्रिवर्णत्वं हंसहीनत्वमेकस्यैव । तदुक्तम् *पिङ्गलामते*—"वर्णत्रणं भवेयत्र हंसहीनं स शम्भुना । सुषुप्त इति सिद्धान्ते प्रोक्तोऽभीष्टफलापह" इति ॥ *मन्त्रमुक्तावल्यामपि*—"वर्णत्रयात्मको मन्त्रो यस्तु हंसविवर्जितः । प्रसुप्तः स तु विज्ञेयः सर्वसिद्धिफलापह" इति ॥ "अज्ञातदीपकः सुप्त" इत्येके ॥ *अन्यत्र तु* "मायया हतसामर्थ्याः सुप्ता" इति । अन्यत्र तु "सुप्तः स्यादासनं विना" । इति । *मन्त्र इति* । सप्ताधिकानि अष्टौ दश च अक्षराणि यत्र सः । एवमष्टादशाक्षरः । फट्काराणाम् पञ्चकमादौ यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । तदुक्तम् "विद्या वा यदि वा मन्त्रो यद्यष्टादशवर्णकः । पञ्चफट्कारपूर्वः स्यान्मदोमत्तः स उच्यते" इति ॥ *पिङ्गलामतेऽपि* "विद्या वा मन्त्रराजो वा यः स्यात् सप्तदशाधिकः । फट्काराः पञ्चपूर्वं चेदुन्मत्तः स प्रकीर्त्तितः"। इति। अत्रापि विशेषणद्वयविशिष्टे दोषत्वम् । *तद्वदिति* पञ्च वारम् । ग्रन्थान्तरे प्रकारान्तरम् "सम्मूर्छिताः पुनः । विचैतन्या" इति ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

विरामेति । यस्यास्त्रमिति (पूर्वतनं) सम्बध्यते ॥ यस्यान्ते अस्त्रमित्यर्थः । "विरामगास्त्रो यो मन्त्र" इत्यपि क्वचित् पाठः । तदुक्तं* पिङ्गलामते*—"अस्त्रमन्त्रो भवेद्यस्य मध्ये प्रान्ते च शम्भुना । हृतवीर्य इति ख्यातः स मन्त्रो नैव सिध्यति"(१) इति । *अन्यत्रापि* "विरामस्थानगं यस्य हृतवीर्यः स उच्यते ।" इति ॥ केचन पञ्चधा इत्यप्यनुवर्त्तयन्ति ॥ तदेतद्विरुद्धम् ॥ अन्येतु "सामर्थ्यवर्जिता हीनवीर्या" इत्याहुः । *अन्यत्र तु* "निर्वीर्यश्चाधिकाक्षर" इति । आदाविति समुच्चयं चतुर्वास्त्रमित्यपि । स्थानत्रये मिलित्वास्त्रचतुष्ट-

---

(१) सिद्धिदः । इतिक्वचित्पाठः ।

ज्ञातव्यो हीन इत्येष यः स्यादष्टादशाक्षरः ॥
एकोनविंशत्यर्णो वा यो मनुस्तारसंयुतः ॥ ८८ ॥
हृल्लेखाङ्कुशबीजाद्य स्तं प्रध्वस्तं प्रचक्षते ॥
सप्तवर्णो मनुर्बालः, कुमारोऽष्टाक्षरस्तु यः (ःस्मृतः) ॥ ८९ ॥
षोडशार्णो युवा, प्रौढश्चत्वारिंशल्लिपिर्मनुः ॥
त्रिंशदर्णश्चतुष्षष्टिवर्णो मन्त्रः शताक्षरः ॥ ९० ॥
चतुःशताक्षरश्चापि वृद्ध इत्यभिधीयते ॥
नवाक्षरो ध्रुवयुतो मनुर्निस्त्रिंश ईरितः ॥ ९१ ॥
यस्यावसाने हृदयशिरोमन्त्रौ च मध्यतः ॥
शिखा वर्म च न स्यातां वौषट् फट्कार एव वा ॥ ९२ ॥

यम् । *तन्त्रान्तरे तु* भीतनाम्ना अयमुक्तः "आदावन्ते तथा मध्ये चतुर्द्धांशेन संयुतम् अष्टादशाक्षरं मन्त्रं भीतं तं भैरवोऽब्रवीत्" इति । अष्टादशाक्षरत्वं विशेषः । अत्रापि "यः स्यादष्टादशाक्षर" इति चरणः काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते ॥ इति वा । क्वचित् "ज्ञातव्यो भीत इत्येष" इति पाठः । *ग्रन्थान्तरे तु* प्रकारान्तरम् । "अथ वर्जिताः सुसिद्ध-सिद्धसाध्याख्यैरंशैर्हीना" इति । *अन्यत्र तु* "हीनो दुष्टादवालो य" इति ॥ ८७ ॥

यः स्यादिति । तारः प्रणवः । केचन तारं क्रो मिति वदन्ति । तदयुक्तं ग्रन्थान्तरविरोधात् । *यन्मन्त्रमुक्तावल्याम्*—"एकोनविंशत्यर्णो यो यो मन्त्रः प्रणवान्वितः । महामायाङ्कुशैर्युक्तस्तंप्रध्वस्तं प्रचक्षते ।" इति ॥ *पिङ्गलामते*—"यदि सोष्टादशाक्षरः । विंशत्येकोनवर्णश्च मायौङ्काराङ्कुशान्वितः । प्रध्वस्त इत्यसौ मन्त्रः शम्भुदेवेन कीर्त्तितः" । इति ॥ केचनैतत्परिहाराय "यो मन्त्रः प्रणवान्वितः" इति पाठं पठन्ति ॥ ८८ ॥

हृल्लेखा माया । तदुक्तं *भुवनेशीपारिजाते*—"मायाबीजमिदं प्रोक्तं भुवनत्रयमक्षरम् ॥ हृल्लेखा पञ्चयोगेशी"ति *सप्तवर्ण इति* । *चत्वारिंशल्लिपिः* । चत्वारिंशदक्षरः । तदुक्तम् "सप्ताक्षरो भवेद्बालः कुमारश्चाष्टवर्णकः । चत्वारिंशाक्षरः प्रौढ स्तरुणः षोडशाक्षर" इति । अन्यत्र "बालो लघ्वक्षरात्मक" इति । *ग्रन्थान्तरे तु*—"अदृढाः बालकाः कार्य्य" इति । *अन्यत्र तु* "गुरोरप्यविधानेन प्राप्तो यौवनगर्वित" इति । *ग्रन्थान्तरे तु*—"तरुणा अति दर्पिता" इति । *अन्यत्र तु* "प्रौढाः प्रभोत्कटा" इति । *त्रिंशदिति* ॥ ८९ ॥ ९० ॥

*चतुः शताक्षर*श्चतुरधिकशताक्षरः मध्यमपदलोपी (समसः) ॥ केचि"चतुः शताक्षर" इति चत्वारि शतानि अक्षराणि (यत्र) इति व्याचक्षते । तन्न ग्रन्थान्तरविरोधात् ॥ "त्रिंशदर्ण शतार्णं वा चतुःषष्टयाक्षरं तथा । "चतुरूर्द्धं शतं वापि वृद्धइत्यभिधीयते" इति । *पिङ्गलामतेऽपि* त्रिंशचत्रशतार्द्धं वा चतुः षष्टिशतं चतुः । शतानि सन्ति वर्णानां स मन्त्रो वृद्धसंज्ञक" इति । असावेवाग्रे वक्ष्यति अतिवृद्धलक्षणे—"चतुःशतान्यथारभ्य यावद्वर्णसहस्रकमि"ति ॥ तेन च विरोधः स्यात् ॥ ग्रन्थान्तरे च "क्षुद्र कर्मैव कुर्वन्ति वृद्धास्ते" इति । *नवेति* ध्रुव ओकारः नवाक्षरत्वं ध्रुवयुक्तत्वमेकस्यैव । *निस्त्रिंशो* घातुक इत्यर्थः । *पिङ्गलामते* "नवाक्षरस्तु निस्त्रिंशो ध्रुवयुक्तोऽपमृत्युद" इति ॥ ॥ ९१ ॥

यस्येति । हृदयमन्त्रः नमः, शिरोमन्त्रः स्वाहा, शिखा वषट्, वर्म हुं । *शिवो* हं *शक्त्यर्णः*-सः इति विकल्पद्वयंमध्य एव । अत्र "मंस्यातामि"ति प्रामादिकः पाठः । । "नस्यातामि"ति सांप्रदायिकः । तदुक्तं "हृच्छिरोऽन्ते शिखा वर्म मध्ये नेत्रास्त्रकेऽथवा । शिवशक्त्यात्मकौ वर्णौ न स्तौ यस्य स मन्त्रराट् ॥ निर्बीज इति संप्रोक्तः सर्वकर्मसु गर्हित"

शिवशक्त्यर्णहीनो वा स निर्बीज इति स्मृतः ॥
एषु स्थानेषु फट्कारः षोढा यस्मिन्प्रदृश्यते ॥ ९३ ॥
स मन्त्रः सिद्धिहीनः स्यात्, मन्दः पङ्क्त्यक्षरो मनुः ॥
कूट एकाक्षरो मन्त्रः स एवोक्तो निरंशक ॥ ९४ ॥
द्विवर्णः सत्त्वहीनः स्यात्, चतुर्वर्णस्तु केकरः ॥
षडक्षरो बीजहीन, स्त्वर्द्धसप्ताक्षरो मनुः ॥ ९५ ॥
सार्द्धद्वादशवर्णो वा धूमितः स तु निन्दितः ॥
सार्द्धबीजत्रयस्तद्वदेकविंशतिवर्णकः ॥ ९६ ॥
विंशत्यर्णा स्त्रिंशदर्णो यः स्यादालिङ्गितस्तु सः ॥
द्वात्रिंशदक्षरो मन्त्रो मोहितः परिकीर्त्तितः ॥ ९७ ॥
चतुर्विंशतिवर्णो यः सप्तविंशतिवर्णकः ॥
क्षुधार्त्तः स तु विज्ञेयश्चतुर्विंशतिवर्णकः ॥ ९८ ॥
एकादशाक्षरो वाऽपि पञ्चविंशतिवर्णकः ॥
त्रयोविंशतिवर्णो वा मन्त्रो दृप्त उदाहृतः ॥ ९९ ॥
षड्विंशत्यक्षरो मन्त्रः षट्त्रिंशद्वर्णक स्तथा ॥
त्रिंशदेकोनवर्णो वाऽप्यङ्गहीनोऽभिधीयते ॥
अष्टाविंशत्यक्षरो वा एक त्रिंशदथापि वा ॥ १०० ॥
अतिक्रुद्धः स कथितो निन्दितः सर्वकर्मसु ॥

इति । तन्त्रान्तरे तु "निर्बीजस्तु समाख्यात आदावोंकारवर्जित" इति ॥९२॥

एष्विति । निर्बीजलक्षणे तन्त्रान्तरोक्तादिग्रहणसूचनार्थम् । तदाएष्विति आदिमध्यावसानेषु । एषां समुच्चयः । षोढेत्यत्रापि स्थानत्रये मिलित्वा षट् । *मन्द इति* *पङ्क्त्यक्षरो* दशाक्षरः । तदुक्तं "दशाक्षरो भवेन्मन्द" इति । *तन्त्रान्तरे* "प्रभाहीना मन्दा" इति । *कूट इति* । तदुक्तं "कूट एकाक्षरोथवा । निरंशः सभवेन्मन्त्र" इति ॥९३॥९४॥

द्विवर्ण इति । तदुक्तं "द्व्यक्षरः सत्ववर्जित" इति ॥ *अन्यत्र तु* "सत्ववर्जितास्तमसोत्कटा" इति ॥ *चतुर्वर्ण* इति चतुर्बीजः । *पिङ्गलामते* विशेषः—"ध्रुवहीनश्चतुर्बीजै षड्भिर्वा केकरो मत" इति । *षडक्षर इति* । अन्यत्र "बीजवर्जिता अकाररहिता" इति ॥ *अर्द्धेति* । अत्रार्द्धसप्ताक्षरत्वमर्द्धद्वादशवर्णत्वंच अन्तव्यञ्जनसत्वाज्ज्ञेयम् ॥ ९५ ॥ ३/२ ॥

सार्द्धबीजत्रयस्तद्वदिति ॥ बीजं वर्णः तद्वद्धूमित इत्यर्थः । तदुक्तम् "अर्द्धसप्ताक्षरो मन्त्रः सार्द्धद्वादशवर्णकः । धूमितः स समाख्यातः सार्द्धवर्णत्रयोऽथवा" इति ॥ त्रिंशदर्णस्य वृद्धत्वमालिङ्गित्वं च ॥९६॥९७॥९८॥

उद्देशावसरे अतिदृप्तस्योद्दिष्टत्वाल्लक्षणावसरे दृप्तलक्षणं कथं क्रियत इति न मन्तव्यं सत्यप्युपसर्गेऽर्थभेदात् । तदुक्तम् (१) । "धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्त्तते । तमव विशिनष्टयन्योऽनर्थकोन्यः प्रयुज्यत" इति ॥ मन्त्रमुक्तावल्यां तथोक्तेः । "चतुर्विंशाक्षरं वा थमन्त्रमेकादशाक्षरम् । शतार्द्धार्द्धत्रयोविंशमतिदृप्तं तु तं विदुरि"ति ॥९९॥

षड्विंशतीति ॥ त्रिंशतः एकऊनो येषु । पश्चाद्बहुव्रीहिः । अङ्गहीनो *मन्त्रमुक्तावल्याम्*

---

(१) उपसर्गमुपक्रम्येतिशेष ॥

त्रिंशदक्षरको मन्त्र अथत्रिंशदथापि वा ॥ १०१ ॥
अतिक्रूरः स कथितो निन्दितः सर्वकर्मसु ॥
चत्वारिंशतमारभ्य त्रिषष्ठिर्यावदापतेत् ॥ १०२ ॥
तावत्संख्या निगदिता मन्त्राः सव्रीडसंज्ञकाः ॥
पञ्चषष्ठ्यक्षरा ये स्युर्मन्त्रास्ते शान्तमानसाः ॥ १०३ ॥
एकोनशतपर्यन्तं पञ्चषष्ठ्यक्षरादितः ॥
ये मन्त्रास्ते निगदिताः स्थानभ्रष्टाह्वया बुधैः ॥ १०४ ॥
त्रयोदशाक्षरा ये स्युर्मन्त्राः पञ्चदशाक्षराः ॥
विकलास्तेऽभिधीयन्ते शतं सार्द्धं शतं तु वा (तथा) ॥ १०५ ॥
शतद्वयं द्विनवतिरेकहीनाथवापि सा ॥
शतत्रयं वा यत्संख्या निःस्नेहास्ते समीरिताः ॥ १०६ ॥
चतुःशतान्यथारभ्य यावद्वर्णसहस्रकम् ॥
अतिवृद्धः सयोगेषु परित्याज्यः सदा बुधैः ॥ १०७ ॥
सहस्रार्णाधिका मन्त्रा दण्डकाः पीडिताह्वयाः ॥
द्विसहस्राक्षरा मन्त्राः खण्डशः शतधा कृताः ॥ १०८ ॥
ज्ञातव्या स्तोत्ररूपास्ते मन्त्रा एते यथास्थिताः ॥
तथाविधाश्च बोद्धव्या मन्त्रिभिः काम्यकर्मसु ॥ १०९ ॥

"अष्टत्रिंशदक्षर" इति चतुर्थोऽप्युक्तः *चत्वारिंशतमिति* ॥ चत्वारिंशदक्षरमारभ्य एकैकाक्षरवृध्या (१) चतुर्विंशतिप्रकारः सव्रीडः । *मन्त्रमुक्तावल्याम्* "चतुःषष्ट्यक्षरं यावदिति" ॥१००॥१०१॥१०२॥१०३॥

एकोनेति । पञ्चषष्ट्यक्षर आदिर्यस्येत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । *इतः* पञ्चषष्ट्यक्षरादिति वा छेदः । तस्य पूर्वं शान्तमानसतोक्तेः । *मन्त्रमुक्तावल्यामपि* "पञ्चषष्ट्युत्तरा ये च यावदेकोनकं शतम्" इति । तेन स्थानभ्रष्टएकैकाक्षरवृध्या चतुस्त्रिंशत्प्रकारं शतमिति ॥१०४॥१०५॥

*शतद्वयं द्विनवति*रित्येकः । सार्द्धशतद्वयं द्विनवतिरेकहीना । तेनैकाधिकानवतिः शतद्वयं च । एवं पञ्चप्रकाराः । *पिङ्गलामते तु* "एकद्वित्रिशतैर्वर्णैर्युक्ता निःस्नेहवृत्तयः" इति त्रिप्रकार एव ॥ *मन्त्रमुक्तावल्यां* षष्ठोऽप्युक्तः "त्रिशतंत्वेकवर्जितमि"ति ॥ केचन शतद्वयमित्येकः प्रकारः । द्विनवतिरित्यन्यः । सएकहीना एकाधिका नवतिरित्यपरः प्रकार इत्यूचुस्तन्न पट्पष्टिप्रभृतीनामेकोनशतपर्यन्तं स्थानभ्रष्टाह्वय-(त्व) स्योक्तत्वात् । त्रिंशद्वर्णवदेकस्यैव दोषद्वयदुष्टत्वं च भविष्यतीति चेत् । तन्न शतादारभ्याधिकस्यैव शतत्रयपर्यन्तमुक्तत्वात् । *यत्संख्येति* सर्वत्र संबध्यते ॥ येषां मन्त्राणां संख्या शताधिका इति ते निःस्नेहा इति संबन्धः ॥ १०६ ॥ १/२ ॥

योगेषु प्रयोगेषु ये दण्डकास्ते स्तोत्ररूपास्ते पीडिताह्वया ज्ञातव्या इति संबन्धः । ननु मन्त्राणामेवैते दोषा उक्ता विद्यास्तु निर्दोषा इत्याशङ्क्याह *मन्त्रा एते* इति यथा मन्त्रा एते स्थिताः सदोषाः तथा मन्त्रिभिर्विद्या अपि बोद्धव्याः । तदुक्तम् "यथा मन्त्रास्तथा विद्या भेदभिन्नाः परस्परम् । ज्ञातव्या देशिकेन्द्रेण नानातन्त्रेषु भाषिता" इति । *काम्य-

---

(१) मन्त्रत्रयन्त्वत्रोक्तमिति भावः ॥

दोषानिमानविज्ञाय यो मन्त्रान् भजते जडः ॥
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥ ११० ॥
इत्यादिदोषदुष्टांस्तान्मन्त्रानात्मनि योजयेत् ॥
शोधयेदूर्ध्वपवनोबद्धया योनिमुद्रया ॥ १११ ॥
मन्त्राणां दश संस्काराः कथ्यन्ते सिद्धिदायिनः ॥
जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा ॥ ११२ ॥
तथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ॥
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः ॥ ११३ ॥
मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥

कर्मस्विति* अनेन मुक्त्यर्थं मन्त्रजपं एतद्दोषाभावाद्दशसंस्कारा अपि न कर्त्तव्याः। एतच्चोपलक्षणं तेन वक्ष्यमाणनक्षत्रशोधनादिकमपि मुक्त्यर्थं न कर्तव्यमिति ॥१०७॥१०८॥१०९॥११०॥

इत्यादीति आदिशब्दात् मीलितविपक्षस्थदारितमूकनग्नभुजङ्गकशून्यहतादि दोषा ज्ञेयाः। *तल्लक्षणानि यथा*—मीलिताः "कर्मण्यतिजडाः मन्त्रामन्त्रिणायोजिता अपीति" "विपक्षस्था रिपोः पक्षमाश्रिता" इति। "आदिमध्यावसानेषु ध्रुवो यस्य न विद्यते। स दारित इति ख्यातस्तन्त्रेस्मिन् कृत्तिवाससेति"। "न्यासं विना भवेन्मूक" इति। "पल्लवेन विना मन्त्रोनग्नः संपरिकीर्त्तित" इति॥ "ऋषिदैवतच्छन्दोभिः परित्यक्तो भुजङ्गम" इति। "यस्य जापंश्रृणोत्यन्यः स मन्त्रः शून्य उच्यते" इति। "शिरोहीनो हतः प्रोक्त" इति॥ शोधनप्रकारमाह *मन्त्रानात्मनीति*। कार्य्यं कारणादनन्यदेवेति या भावना सा आत्मनि योजना॥ क्वचित् "मन्त्रान्स्वात्मनि योजयेत्" इति पाठः। प्रकारान्तरेण शोधनमाह *शोधयेदिति*। वक्ष्यमाणलक्षणां योनिमुद्रां बध्वा मूलाधारोत्पन्नान्मन्त्रवर्णान् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतागतानिकुर्वतो ध्यात्वा वायुधारणं कृत्वा सहस्रं जप इतिशोधनप्रकारमाहुः। तदुक्तम्। "योनिं बध्वा बीजं विन्द्वादिपथेन चोन्मनीं प्राप्य। तत्र सहस्रं मन्त्रं जपेत् स मन्त्रः प्रबुद्धः स्यादि"ति। योनिमुद्रालक्षणम् यथा—"पार्ष्णिभागात्सुसंपीड्य योनिमार्गं तथा गुदम्॥ अपानमूर्ध्वमाकर्षेन्मूलबन्धोनिगद्यते॥ गुदमेढ्रान्तरं योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबन्धयेत्। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्"॥ इति। योनिस्थानमुद्रणाद्योनिमुद्रात्वमस्याः। तदाहुः"–सेयं मयोक्ता खलु योनिमुद्रा बन्धश्च देवैरपि दुर्लभोऽस्याः। अनेन बन्धेन न साध्यते यन्नास्त्येव तत्साधकपुङ्गवस्य॥ छिन्ना रुद्धाः कीलितास्तम्भिता ये सुप्ता मत्ता मूर्च्छिता हीनवीर्याः। दग्धास्त्रस्ताः शत्रुपक्षे स्थिता ये बाला वृद्धा गर्विता-यौवनेन॥ ये निर्बीजा ये च सत्त्वेन हीनाः खण्डीभूताश्चाङ्गमन्त्रैर्विहीनाः। एते मुद्राबन्धनेनैव योन्या मन्त्राः सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति" इति ॥१११॥

एवं नये ये योगिनो योनिमुद्रानभिज्ञाः पवनधारणाशक्ताश्च। तान् प्रति दशसंस्कारैः शोधनमाह *मन्त्राणामिति*। *पिङ्गलामतेऽपि*—"इत्यादिदोषसंयुक्ता विज्ञेया मन्त्रिणाणवः। तस्मात्तद्दोषनाशाय क्रमःकोऽपि निगद्यते॥ जननं जीवनं बोधस्ताडणं निर्मलीकृतिः। आप्यानाभिषेकौ च क्रियाङ्गैः सप्तभिर्ध्रुवम्॥ शोधिताः सकला मन्त्रा भवन्ति किल कामदाः"॥ इति। *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि* "अथास्मै प्रवदेन्मन्त्रं संस्कृतं सुमुहूर्त्तके॥ सप्तैते मन्त्रसंस्कारा दुर्लभा भुवि मानवैः॥ जननं जीवनं चेत्यादिना॥ अत्र तर्पणदीपनगोपनलक्षणास्त्रयः संस्काराः सामान्यतः प्रसिद्धा इति तान्विहाय सप्तेत्युक्तिरिति ज्ञेयम् ॥११२॥११३॥

मन्त्राणामिति। मातृकामध्यादित्यनेनैतदुक्तं भवति शुभे पीठादौ कुङ्कुमगोरोचना-

प्रणवान्तरितान्कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत्सुधीः ॥ ११४ ॥
एतज्जीवनमित्याहुर्मन्त्रतन्त्रविशारदाः ॥
मन्त्रवर्णान् समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा ॥ ११५ ॥
प्रत्येकं वायुना मन्त्री ताडनं तदुदाहृतम् ॥
विलिख्य यन्त्रन्तं मन्त्री प्रसूनैः करवीरजैः ॥ ११६ ॥
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद्यत्तेन बोधनम् ॥
स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ॥ ११७ ॥
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये ॥
सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत् ॥ ११८ ॥
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं त्विदम् ॥
तारं व्योमाग्निमनुयुक् दण्डी ज्योतिर्मनुर्मतः ॥ ११९ ॥

दिना मातृकाब्जं विलिख्य देयमन्त्रस्यैकैकमक्षरं मातृकाब्जत उद्धरणीयमिति । तदुक्तम्—"वर्णाब्जं संलिख्य समुद्धरेन्मन्त्रजन्मैतदि"ति । *प्रणवेति* । तत्र प्रणवान्तरितत्वमेवम् ओं रां ओं रां ओं मां ओं यं ओं नं ओं मः। सुधीरित्यनेन शतावृत्त्येत्युक्तम् ।।तदुक्तम् "प्रणवसहितांस्तु मन्त्रजवर्णान् प्रजपेच्छतावृत्त्या । एतज्जीवनमुक्तमि"ति ॥ ११४ ॥

मन्त्रतन्त्रविशारदाः इत्यनेनान्ये अस्य बीजनमिति नामाहुरित्युक्तम् । *यत्पिङ्गलामते*—"प्रणवो बीजमित्युक्तं बीजान्ते तं नियोजयेत् ॥ अक्षरान्तरितं कृत्वा मन्त्रोऽसौ बीजितो मतः" । इति ॥११५॥

मन्त्रीति ॥ मन्त्रीत्यनेन भूर्जेकुङ्कुमगोरोचनादिना मन्त्रवर्णान् विलिख्येत्युक्तम् ॥ *वायुना* यमितिबीजेन प्रत्येकं शतवारं ताडयेत् ॥ तदुक्तम् "भूर्जेमन्त्राक्षराणि संलिख्य शतमथैकैकं चन्दनाम्बुना वायुबीजेन ।।एतत्ताडनमुक्तमि"ति *विलिख्येति*। मन्त्रीत्यनेन भूर्जे कुङ्कुमरोचनादिना लेखनमित्युक्तम् ॥ *करवीरजैरिति* रक्तकरवीरजपुष्पैः ॥११६॥

यान्तेन रमितिबीजेन ॥ तदुक्तम्—"एतस्मिन् विलिखितम,न्त्रवर्णसङ्ख्याकरक्तकरवीरैः एतद्बोधनमुक्तं यद्धन्याद्वह्निबीजेने"ति ॥११७॥

स्वतन्त्रेति । स्वतन्त्रोक्तविधानेन शैवमन्त्रे शिवतन्त्रानुसारात शक्तिमन्त्रे शक्तितन्त्रानुसारात् विष्णुमन्त्रे वैष्णवतन्त्रानुसारात् । इति ज्ञेयम् । पूर्ववद्भूर्जे मन्त्रवर्णानालिख्याभिषिञ्चेदिति ॥ मन्त्रीत्यनेन "अमुष्य मन्त्रस्यामुकमक्षरमभिषिञ्चामि नमः" इति प्रयोग उक्तः । तदुक्तम्—"निजतन्त्रेरितमार्गादभिषिञ्चेत्पिप्पलप्रबालेन । भूर्जे विलिखितमन्त्रं शतमष्टौ चाभिषेकोऽयमि"ति । *पिङ्गलामते*—विशेषः "मालतीकलिकाभिस्तु न्यस्यार्णु कर्णिकोपरि । अश्वत्थपल्लवैः शुद्धैस्तन्मन्त्राक्षरसम्मितैः ॥ अभिषेकं प्रकुर्वीत स्वतन्त्रे विहितं यथे"ति ॥ मालतीकलिकाभिर्मन्त्राक्षराणि विलिख्याभिषेकं कुर्यात् ॥ *संचिन्त्येति* । *ज्योतिर्मन्त्रेण* वक्ष्यमाणेन । मन्त्रीत्यनेन मूलाधारात् कुण्डलिनीमुत्थाप्य तद्द्वारा दोषदाह इत्युक्तम् ॥ *मलत्रयं* सहजमागन्तुकं मायीयमिति ॥ *पिङ्गलामतेऽप्युक्तम्* "सहजागन्तुमायाख्यं ज्योतीरूपेण निर्दहेत् ॥ मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री ततोऽसौ निर्मलोभवेदि"ति । ज्योतिर्मन्त्रमाह *तारमिति* ॥ तारः प्रणवः, व्योम हः, अग्नी रेफः, मनु रौ, एतद्युक् दण्डी अनुस्वारयुक्त इति मन्त्रविशेषणम् ॥ ह्रस्वपाठे व्योमविशेषम् । तदुक्तं *निघण्टुमातृकायाम्*, "अमेक्रूरे शकोदण्डी बिन्दुकः कामगुह्यकः । चक्षुः प्राचीनयोनिश्च सौख्यदुःखप्रबन्धक" इति । एवमग्रेऽपि दण्डशब्दवाच्यत्वं बिन्दोर्ज्ञेयम् ॥११८॥११९॥

कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं (प्रत्येकं) प्रोक्षणं मनोः ॥
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं मतम् ॥ १२० ॥
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥
तारमायारमायोगे मनोर्दीपनमुच्यते ॥ १२१ ॥
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥
संस्कारा दश संप्रोक्ताः सर्वमन्त्रेषु गोपिताः ॥ १२२ ॥
यान् कृत्वा संप्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते ॥
स्वताराराशिकोष्ठानामनुकूलं भजेन्मनुम् ॥ १२३ ॥
प्राप लोभात्पटु स्प्राज्यं रुद्रस्यात्र (द्वि)रुरुष्करम् ॥
लोकलोपपटु प्रायः खलौघोभेषु भेदिताः ॥ १२४ ॥
वर्णाः क्रमात्स्वरान्त्यौ तु रेवत्यंशगतौ तदा ॥

कुशेति ॥ जप्तेनाष्टोत्तरशत- मिति ॥ लेखनं पूर्वंदेव तेनेत्युभयत्र सम्बध्यते ॥ तदुक्तम् पिङ्गलामते "अष्टोत्तरशता लब्धं विशुद्धं कुशवारिणा। आप्यायितो भवेन्मन्त्रः प्रत्यर्णं प्रोक्षितो यदे"ति। *विधिवदिति*। प्रत्यर्णं सप्तधा। केचन तेन मन्त्रेणेति ज्योतिर्मन्त्रेणेति तदसत् ग्रन्थान्तरविरोधात् ॥ तदुक्तम्—"आप्यायनं स्वजप्तैः प्रत्यर्णं कुशपयोभिः स्यादि"ति। तेन मूलमन्त्रेणेति। तत्र प्रकारः। देयमन्त्रमुच्चार्य्य "मुंमन्त्रं तर्पयामि नम" इति जलेन तर्पणम् कुर्यादिति। इदमेव मन्त्रतर्पणमित्यर्थः। तदुक्तम् "तर्पयामि पदं योज्यं मन्त्रान्तेत्विष्टनामसु। द्वितीयान्तेषु तु पुनरि"ति। अन्यत्रापि सर्वत्र तर्पणे अयमेव प्रकारो द्रष्टव्यः। इदमप्यष्टोत्तरं शतम्। *तारेति*॥ तारः ओं, माया शक्तिः, रमा श्रीं, "मन्त्रस्यान्ते भवेन्नाम योगः प्रोच्चाटने मतः"॥ इति योगलक्षणस्योक्तत्वात्। अत्र मन्त्र एव नामस्थानीयः तेन इमानि बीजान्यादौ कृत्वा मन्त्रं जपेत् सप्तवारमित्याचार्य्याः ॥१२०॥१२१॥१२२॥

सम्प्रदायेनेति। सम्प्रदायः प्रतिसंस्कारं मयोक्तोऽनुसन्धेयः ॥ अथनिर्गुणोपासनाङ्गभूतः सगुणोपासनायां प्रवृत्तस्य अवान्तरविचारं दर्शयति—*स्वतारेति। स्वं नाम तस्य तारा नक्षत्रम्। एवमग्रेऽपि "दुष्टर्क्षराशिभूतारिवर्णप्रचुरमन्त्रकम्। सम्यक् परीक्ष्य तं यत्नाद्वर्जयेन्मतिमान्नर" इत्युक्तेः। तत्र तारामैत्रीज्ञानायाक्षरेषु नक्षत्राणि कथयति—*प्रापेति*। अथ ग्रन्थकारस्य वाररुचः सङ्केतोऽभिप्रेतः। स यथा "कटपयवर्गभवैरिह पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः। नञिच शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथितमि"ति। अत्र कटौ नवार्णौ। यः पञ्चार्णः। योऽष्टार्णो हान्तः पिण्डं संयुताक्षरं तत्र अन्त्येनाङ्कः। प्रा २ प १ लो ३ भा ४ त्प १ टु १ प्रा २ ज्यं १ रु २ द्र २ स्या १ त्र (द्वि) २ रु २ रु २ ष्क १ रम् २। लो ३ क १ लो३ प १ प १ टु १ प्रा २ यः १ ख ३ लौ ३ घो १ एवमुक्तद्व्याद्यक्षरेषु अश्विन्यादयो ज्ञेयाः। भेषु नक्षत्रेषु क्रमात् वर्णाः भेदिताः विभागेन दर्शिताइत्यर्थः। तदेत्युत्तरत्रसंबध्यते ॥ अत्र यकारद्यकारयोर्नागराि पौ समानत्वाद् भ्रान्तिकृतोद्यकारपाठः ॥ तेनयइति एकाङ्कः संगृहीतः। स्वरान्त्यौ अंअः। *रेवत्यंशगतौ* ॥ अन्त्यौ रेवत्या अंअःळ इत्यक्षरत्रयैरेवत्यंशगताविति पदेनैवोक्तेरङ्केषु न संगृहीतम् ॥ यथा वक्ष्यमाणे राश्यक्षरकथने वालं गौरं खुरमिति। रेफेण कन्यायामक्षरद्वयमेवोक्तम्। अन्येषां कन्यायां शादय इति पदेनैवोक्तेः। तद्वदत्रापीत्यवधेयम् ॥ उत्तरभाद्रपदनक्षत्रे लकारेणाङ्कत्रयं गृहीतं तेन षसहाक्षराणि तत्र षकारस्य क्षकारांशत्वात् क्षकारोऽपि तेन गृहीतः। तेनात्राक्षरचतुष्कम्। *तदुक्तमाचार्यैः* "ततः क्षकारः संजातो नृसिंहस्तस्य देवता। स पुनः षसहैः सार्द्धं परः प्रोष्ठपदं गत" इति। *ईशानशिवे-

जन्मसंपद्विपत्क्षेम प्रत्यरिः साधको वधः ॥ १२५ ॥

नापि* 'प्रियलवकटरम्यश्रिप्रियारात्रिरन्या, खागकुलकटकश्रीपात्रवालेति संख्यानि''-ति ॥ *नारायणीये तु* राज्येत्यादिषड्विंशतिभेषु वर्णानुक्त्वा अमसावन्त्यभे उक्तौ। तत्र केचित् स्वावेिति पठित्वा व्याख्यान्ति लकारेणाङ्कत्रयं वकारेणाङ्कचतुष्टयमिति। तदसत्। संकेत-विरोधात्। संकेते हि "पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्का" इत्युक्तम्। एतदभिप्रायेणैव द्विवचनकल्पनं तद-पि भ्रमेणैव। यतः संकेताक्षरेषु साधुत्वार्थं प्रथमैकवचनमेव युक्तम् न तु संयोगं कृत्वा द्विवचनं तथा कुत्राप्यदर्शनादतएवायं पाठो ऽपेक्षितार्थद्योतनिकाकारादिभिष्टीकाकृद्भिरुपेक्षितः। अप-रेस्त्वविति पठित्वा वदन्ति .पवर्गीयवकारेणाङ्कत्रयमुत्तरेणान्तस्थीयवकारेणाङ्कचतुष्टयमिति। तदपि प्रपञ्चसारेशानादिग्रन्थविरुद्धम् यतोऽयमेव पाठो नारायणीयेऽपि। परन्तु व्याख्यातुस्तत्र भ्रमः॥ प्रथमोऽन्तस्थो वकारस्तेन चतुःसंख्या। द्वितीयः पवर्गी तेन त्रिसंख्येति सर्वं समञ्ज-सम्। *देवदेवेशीकारस्तु* प्रपञ्चसारादिविरोधपरिहारार्थं फुल्ला इति पठित्वा तत्र प्रथमल-कारेणाऽङ्कत्रयमुत्तरलकारेणाङ्कत्रयं गृहीतमिति व्याख्यत्तदपि संकेतविरुद्धम् संकेते पिण्डेना-ङ्कद्वयस्यागृहीतत्वात्॥ एतेन अआ अश्विनी॥ इ भरणी, ईउऊ कृत्तिका इत्यादि ज्ञेयम्॥ स्वनामाद्यक्षरादित इति वक्ष्यमाणमन्त्राऽपि योजनीयम्। तेना यमन्वयः तदा वर्णभेदे स्वना-माद्यक्षरादितः जन्मादीनि पुनः पुनः "प्रादक्षिण्येन मन्त्राद्यक्षरावधि गणयेदि"तिशेषः। तेन यस्मिन्नक्षत्रे साधकनामाद्यक्षरं तदारभ्यमन्त्राद्यक्षर-(नक्षत्र)ग्यावत्प्रादक्षिण्येन फलं विचारये-दित्यर्थः। तदुक्तम्—"प्रादक्षिण्येन गणयेत्साधकाख्याक्षरात्सुधीः।" इति॥ अन्यत्रापि "एकादि नवपर्यन्तं स्वाख्याद्यर्णप्रपूर्वकम्॥ यावन्मन्त्राक्षरं धिष्ण्यं फलं तावद्विचारयेत्" इति। *अन्य-त्रापि* "एकादि नवपर्यन्तं स्वाख्याद्यर्णप्रपूर्वकम्। एवं विभक्तवर्णेषु नक्षत्राणि प्रकल्प्य च॥ आरभ्य जन्म नक्षत्रं मन्त्रतारावसानिकम्" इति ॥ इदं तु राशिनामप्रसिद्धनाम्नोरैक्ये ज्ञेयम्॥ "विभज्यनवशो राम विशिखाचलमन्त्रकाः। वर्ज्याः शिष्टाः समिष्टार्थसिद्धिदाःस्यु-र्जपादिभिरि"ति॥ आद्यतृतीयपञ्चमसप्तमान् वर्जयित्वा शेषं शुभम्। तदुक्तं—"त्यक्त्वा त्रि पञ्चादिम सप्त तारा" इति॥ *अन्यत्रापि* "रसाष्टनवभद्राणि युग युग्मगतान्यपि॥ इतराणि न भद्राणि ज्ञातव्यं तन्त्रकोविदैरि"ति। के चन आद्यमपि शुभमिच्छन्ति। तदुक्तम् "विपद्वधः प्रत्यरिश्च परित्याज्या मनीषिभिरि"ति। इदं त्वाद्यजन्मविषयम्। अत्र तारा मैत्री-विचारे योनिमैत्री गणमैत्रीचावश्यं विचारणीया यतस्तयोरपि नक्षत्रात्मकत्वात्॥ स्वकुला-न्यकुलविचारोऽपि *पिङ्गलामते* "तथैकगणनक्षत्रं स्वकुलं ह्यकुलं परमि"त्युक्तः। तथा *मन्त्र-मुक्तावस्थामपि* स्वकुलान्यकुलविभागकथने—"तथैकगणनक्षत्रमपि स्वकुल"मित्युक्तम्। तत्र *योनिमैत्रीयथा*—"अश्वेभाजफणिद्वयं श्ववृ(१)षभुङ्मेषौ तवो मूषकस्त्वोतुर्गौः क्रमश-स्ततोऽपि महिषी व्याघ्रः पुनः सैरिभी॥ व्याघ्रैणौ मृगमण्ड(२)लौ कपिरथो बभ्रुद्वयं वानरः सिंहोऽश्वो मृगराट् पशुश्च करटी योनिस्तु भानामियम्"इति। अत्राऽभिजिदपि गृहीतः। इति कृत्वा अष्टाविंशतिः॥ अश्वः १ हस्ती २ मेषः ३ सर्पौ ४, ५ श्वा ६ मार्जारः ७ मेषः ८ मर्जारः

---

(१) वृषभुक् वृषदंशकोमार्जार इत्यनर्थान्तरम्। "ओतुर्विडालोमार्जारो वृषदंशक आखुभुक्" इत्यमरः। अत्रवृषभुक् मेषयोर्द्वन्द्वं कृत्वाश्वन् शब्देन मध्यमपदलोपी कर्म्मधारयः समासः। "शनिराहुकेतू" इतिवत्॥

(२) अत्रद्विवचनान्तः पाठः प्रामादिकः प्रतिभाति। तथासति मृगद्वय प्रतीतिर्नस्यादेक-वचनान्तपाठंतु मृगाभ्या सहितो मण्डल इति मध्यमपदलोपी कर्म्मधारयः समासःशरणम् भवितुमर्हति। "मण्डलो वृकदंशकः" इति श्वपर्याये रभसः॥

मित्रं परममित्रं च जन्मादीनि पुनः पुनः ॥
बालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति राशिषु ॥ १२६ ॥
क्रमेण भेदिता वर्णाः कन्यायां शादयः स्थिताः ॥
लग्नं धनं भ्रातृबन्धुपुत्रशत्रुकलत्रकाः ॥ १२७ ॥
मरणं धर्मकर्मायव्यया द्वादश राशयः ॥
चतुरस्रे लिखेद्वर्णांश्चतुष्कोष्ठसमन्विते ॥ १२८ ॥

---

९ मूषकः १०, मार्जारः ११ गौः १२ महिषी १३ व्याघ्रः १४ महिषी १५ व्याघ्रः १६ मृगौः १७, १८ श्वा १९ वानरः २० नकुलौ २१, २२ वानरः २३ सिंहः २४ अश्वः २५ सिंहः २६ गौः २७ हस्ती २८ *विरोधस्तु "गोव्याघ्रं(१) गजसिंहमश्वमहिषं श्वैणं च बभ्रूरगं वैरं वानरमेषकं च सुमहत्तद्द्विडालोन्दु(२)रुमि"ति। "जन्मनक्षत्रयोन्या वै मारणानि यथातथम् । कृतानि न चिरेणैव सिद्धिदानि महेश्वरी"ति ॥ कार्यान्तरोपयोगिताप्यस्योक्तान्यत्र ॥ *गणमैत्रीयथा* तत्र मनुष्यादिगणनक्षत्राणि एकविंशे वक्ष्यति ॥ फलं तु "यथावध्यघातकतामता । मनुष्यराक्षसानां तु विरोधो देवरक्षसाम् । प्रीतिर्द्वं वमनुष्याणां स्वेन स्वेनाऽपि सा मते"ति ॥१२३॥१२४॥१२५॥½॥

अथाक्षरेषु राशिविभागमाह—*बालमिति* । बा ४ लं ३ गौ ३ रं २ खु २ रं २ शो ५ णं ५ श ५ मी ५ शो १ भा ४ इति राशिषु वर्णा भेदिताः विभागेनोक्ताः । कन्यायां स्वरान्त्यौ वर्त्तते शादयश्च स्थिताः । अत्रादिशब्देन षसहला गृह्यन्ते ॥ क्षकारस्य मीने प्रवेशः । यदाहु *राचार्याः*"—"असः गवर्गलेभ्यश्च संजाता कन्यका मते"ति ॥ तथा—"चतुर्भिर्यादिभिः सार्द्ध स्यात्क्षकारस्तु मीनग"इति ॥ अनेन अआइईमेष उऊऋ वृषः इत्यादि ज्ञेयम् ॥१२६॥१२७॥

द्वादशराशय इति ॥ फलफलिनोरैक्योपचारात् । अत्र प्रकारः । साधकनामाद्यक्षरं यत्र राशौ तं राशिमारभ्य मन्त्राद्यक्षरं यत्र राशौ तत्पर्यन्तं गणनीयं षष्ठाष्टमद्वादश स्थानानि निन्द्यानि । तदुक्तं—"साध्याख्याक्षरराश्यन्तं गणयेत्साधकाक्षरात् । नैधनारिव्ययाधीना ये वर्णास्ते न शोभना"—इति। यत्तु—"एकपञ्चनवबान्धवाःस्मृता युग्मषष्ठदशमास्तु सेवकाः । पोषकास्त्रिमुनिरुद्रसंमिता द्वादशाष्टचतुरस्तु घातकाः" ॥ इतिवचनं तद्राशिफलप्रकरणपठितं चेत्तदास्वजन्मराशिमारभ्य मन्त्रराशिपर्यन्तं गणनीयमिति भिन्न एव प्रकारः । तदुक्तं—"राज्यर्णादिकमन्त्राणां स राशिर्जन्मराशितः । विचार्य्य मनुराश्यन्तं रिपुहीनं मनुंजपेत्" इति ॥ यदि राशिप्रकरणपठितं न भवति तदा वक्ष्यमाणाकडमचक्रफलत्वेन व्याख्येयमिति रहस्यम् ॥ सिद्धादिमन्त्रशोधनप्रकारमाह—*चतुरस्र* इति ॥ *मन्त्री* मन्त्रशास्त्रसंप्रदायाभिज्ञः । "कुर्यात् सिद्धादिभिः पुनः सिद्धादीनी"ति वक्ष्यमाणत्वात् षोडशकोष्ठोद्धारः सूचितः ।-तत्र प्रागपरोत्तरदक्षिणायताः पञ्च रेखाः कुर्यात् ॥ तदा षोडश कोष्ठानि सम्पद्यन्ते । तत्र वर्णांल्लिखेत् ॥ "एकैकान्तरितमि"ति शेषः । *लेखनप्रकारश्च* प्रथमचतुष्कप्रथमे प्रथमं प्रादक्षिण्येन, द्वितीयप्रथमे द्वितीयं प्रादक्षिण्येन, तृतीयप्रथमे तृतीयम् , चतुर्थप्रथमे चतुर्थम् ॥ एवं प्रादक्षिण्येन प्रथमद्वितीये पञ्चमं, द्वितीयद्वितीये षष्ठं, तृतीयद्वितीये सप्तमं, चतुर्थद्वितीये अष्टमम् , एवं प्रादक्षिण्येन प्रथमतृतीये नवमं द्वितीयतृतीये दशमं, तृतीयतृतीये एकादशम् , चतुर्थतृतीये द्वादशम् , एवं प्रथमचतुर्थे त्रयोदशं, द्वितीयचतुर्थे चतुर्दशं, तृतीयचतुर्थे पञ्चदशं, चतुर्थचतुर्थे षोडशं, न्यसेत् ॥ एवं स्वरलिखनं कृत्वा तेनैव क्रमेण काद्यक्षराण्यपि लिखेत् ।

---

(१) अत्र सर्वत्र "येषाञ्चविरोधः शाश्वतिकः" (पा० सू०) इत्येकवद्भावोबोध्यः ।

(२)"उन्दुरुर्मूषकोऽप्याखुरि"त्यमरः ।

अकारादिक्षकारान्तान्स्वनामाद्यक्षरादितः ॥
सिद्धादीन्कल्पयेन्मन्त्री कुर्यात्सिद्धादिभिः पुनः ॥ १२६ ॥
सिद्धादीन्', सिद्धिदः सिद्धो जपात्साध्यो हुतादिभिः ॥
सुसिद्धः प्राप्तिमात्रेण शाधकं भक्षयेदरिः ॥ १३० ॥

तदुक्तं *कादिमते*—"प्रथमप्रथमेत्वाद्यं द्वितीयप्रथमे तथा। द्वितीयमन्यतश्चान्यत्तथान्यदपि कल्पयेत्॥ तत्तत्कोष्ठेषु विलिखेत्तत्तत्पञ्चममक्षरम्" इति ॥ *तन्त्रान्तरे च* "कोष्ठचतुष्कचतुष्टय ईशाद्यंशेषु लिखतु चतुरोऽन्तः। आग्नेयेषु तथैवं नैर्ऋत्येष्वेव मानिलेषु पुनः॥ कादीन्वर्णान्कोष्ठेषु च तेष्वेवैवमेव लिखतु सुधीः। आवृत्त्यां तु चतुर्थ्यां नैर्ऋत्यैशे समापयेन्मतिमान्॥ यस्य च नामाद्यर्णं यत्र चतुष्के तदादि तस्यैव। तस्माच्चतुश्चतुष्कं विज्ञेयं क्रमश एव सिद्धादि॥ सिद्धादिषु च तुर्वप्येवं सिद्धादि तेषु विज्ञेयमि"ति॥ अस्य प्रयोजनमाह—*स्वनामेति* स्वनामाद्यक्षरकोष्ठमारभ्य "मन्त्राद्यक्षरकोष्ठं यावदि"ति शेषः ॥१२८॥१॥

सिद्धादीन् इत्यादिशब्दार्थफलकथनावसरे स्वयमेव प्रकटयिष्यति। *कल्पयेदिति* । एवं यत्र चतुष्के स्वनामाद्यक्षरं तत्सिद्धचतुष्कम्॥ ततः प्रादक्षिण्येन साध्यादिचतुष्कत्रयमिति। *मन्त्री, कुर्यात्सिद्धादिभिः पुनःसिद्धादीनि*ति। यत्र चतुष्ककोष्ठे स्वनामाद्यक्षरं तत्सिद्धसिद्धकोष्ठं, ततस्तस्मिन्नेव चतुष्के प्रादक्षिण्येन कोष्ठत्रये सिद्धसाध्यसिद्धसुसिद्धसिद्धारीनिति कल्पयेत्। अस्मिन्नेव चतुष्के यदि मन्त्राद्यक्षरमपि स्यात्तदा अनयैव गणनया सिद्धम्। यद्यस्मिन् चतुष्के स्वनामाद्यक्षरं प्रादक्षिण्येन द्वितीयचतुष्के मन्त्राद्यक्षरं, तदा पूर्वचतुष्के यस्मिन् कोष्ठे नामाद्यक्षरम् अत्र द्वितीयचतुष्केऽपि तदेव कोष्ठमारभ्यप्रादक्षिण्येन साध्यसिद्धसाध्यसाध्यसाध्यसुसिद्धसाध्यारीति कल्पयेत्। यदि पुनः स्वनामाद्यक्षरचतुष्कात्प्रादक्षिण्येन तृतीयचतुष्के मन्त्राद्यक्षरं तदा पूर्ववत्तत्कोष्ठादेव प्रादक्षिण्येन सुसिद्धसिद्ध सुसिद्धसाध्य सुसिद्धसुसिद्धसुसिद्धारीति कल्पयेत्। यदि पुनः स्वनामाद्यक्षरचतुष्कात् प्रादक्षिण्येन चतुर्थचतुष्के मन्त्राद्यक्षरं तदा पूर्ववत्तत्कोष्ठादेव प्रादक्षिण्येन अरिसिद्धाऽरिसाध्यारिसुसिद्धार्य्यर्य्यरीति कल्पयेत्। नन्वत्र द्वितीयादचतुष्के तमेव कोष्ठमारभ्य गणनमित्यत्र किं नियामकमिति चेत्—उच्यते प्रकृतक्रम एव नियामकः। स च पञ्चमाध्याये प्रथमचरणे—"प्रासानां हि पदार्थानां विकृतौ क्रमचिन्तनम्। ते च सक्रमका एव प्राप्यन्ते नोदकादिह॥ नैराकाङ्क्ष्यात्क्रमस्तेषां न भूयोऽन्यः प्रकल्प्यते" इत्यादिनोक्तम्॥ तत्र किं नाम ग्राह्यमित्यपेक्षायां *पिङ्गलामते*—"प्रसिद्धं यन्नवेन्नाम किं वास्य जन्मनाम च। यतीनां पुष्पपातेन गुरुणा यत्कृतं भवेत्॥ नाम्नस्तस्यैव वर्णानि विभक्तानि च कारयेदि"ति। *अन्यत्रापि* "लोके प्रसिद्धनामाथ मात्रा पित्रा तथा कृतमि"ति। *अन्यत्राऽपि* "सुप्तो जागर्त्ति येनासौ दूरस्थश्च प्रभाषते। वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमत्र तु" इति। *अन्यत्रापि* "मातृपितृकृतं नाम शोधनीयं प्रयत्नत" इति। अन्येत्वत्र जन्मनामैव ग्राह्यमित्यूचुः। यदूचुः (दुक्तम्)। "जन्मर्क्षाक्षरतो वीक्ष्यं तत्र मन्त्रादिमाक्षरम्। चतुर्भिःकोष्ठकैस्त्वेक इति कोष्ठचतुष्टयम्॥ पुनः कोष्ठककोष्ठेषु सव्यतो जन्मभाक्षरात् सिद्धसाध्यसुसिद्धारिः क्रमात् ज्ञेयं विचक्षणैरि"ति। जन्मनि जन्मकाले यद्दक्षमश्विन्यादि तेषामक्षराणि "चूचेचोलाऽश्विनी प्रोक्ते"त्यादीनि। तस्मात्तदारभ्य तेन जन्मनामाद्यक्षरमारभ्येत्यर्थः। एवं जन्मभाक्षरादित्यत्रापि ज्ञेयम्॥ अयं च जन्मनामः [illegible]द्धनाम्नोर्विकल्पोज्ञेयः। किं श्रास्येत्युक्तेः। *सिद्धिद* इति। जपात्सिद्धः सिद्धिदः। हुतादिभिः साध्यसिद्धिदः। प्राप्तिमात्रेण सुसिद्धः सिद्धिदः। इति सम्बन्धः। आदि शब्देन तर्पणादि। सिद्धसिद्धादिफलम् *पिङ्गलामतोक्तं यथा* "यथोक्तात् सिद्धसिद्धस्तु तत्साध्यो द्विगुणाज्जपात्। जपार्धात्सुसिद्धस्तु तदरिर्बान्धवस्पदः॥ द्विगुणजपात्साध्यसिद्धस्तत्साध्यस्तु निरर्थकः। तत्सुसिद्धः

सार्धजपात्तदरिर्गोत्रजापहः ॥ सुसिद्धसिद्धोऽर्धजपात्तत्साध्यो द्विगुणाज्जपात् । तत्सुसिद्धोग्रहादेव तदरिर्ज्ञातिजातिहा ॥ अरिसिद्धः सुतं हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाम् । ततसुसिद्धस्तु पुत्रघ्नस्तदरिः साधकापह" इति । *पिङ्गलामते* प्रत्यक्षरं सिद्धादिगणनोक्ता । "मातृपितृकृतन्नाम यच्चाथाभिजनैः कृतम् । विश्लिष्य तस्य वै वर्णान् स्वरवर्णविभेदतः ॥ तथैव मन्त्रबीजानि ततः शोधनमारभेत् । बिन्दुद्विबिन्दुकोपध्मानीयजिह्वाङ्घ्रिसंभवाद् ॥ संहतोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च । अपभ्रंशाक्षरं लक्ष्मौ त्यक्त्वा पण्ढचतुष्टयम् ॥ मन्त्राक्षरैः सहैकैकं नामवर्णान् विशोधयेत् । व्यञ्जनैर्व्यञ्जनानेव स्वरैः सार्द्धं स्वरांस्तथा ॥ आद्यमाद्येन संशोध्य द्वितीयेन द्वितीयकम् । मन्त्रे वाऽप्यथ वा नाम्नि वर्णाःस्युर्विषमा यदा ॥ तदा मन्त्रं समारभ्य समं यावत् प्रयोजयेत् । आद्यन्तयोः सिद्धवर्णौ मन्त्रे यस्मिन्वरानने ॥ अचिरेणैव कालेन स तावत्सर्वसिद्धिदः । साध्यान्तादियुतो यस्तु सोऽतिकृच्छ्रेण सिध्यति ॥ आदावन्ते सुसिद्धस्तु सर्वकामविभूतिदः । आदावन्ते रिपुर्यस्य भवेत्त्याज्यः स मन्त्रकः ॥ आदौ सिद्धोन्त्यसाध्यो यो द्विगुणेन स सिध्यति । आदौ सिद्धः सुसिद्धान्तो यथोक्तात्सिध्यते जपात् ॥ आदौ सिद्धोन्त्यशत्रुर्यः स त्याज्यो मन्त्रिसत्तमैः । साध्यादिश्चैव सिद्धान्तस्त्रिगुणात्सिध्यते जपात् ॥ आदौ साध्यः सुसिद्धान्तः प्रोक्तमार्गेण सिध्यति । आदौ साध्यस्त्वन्तशत्रुर्यत्नात्तं परिवर्जयेत् ॥ सुसिद्धादिस्तु सिद्धान्तो यथोक्तादेव सिध्यति । सुसिद्धादिस्तु साध्यान्तश्चतुर्गुणमपेक्षते ॥ सुसिद्धादिश्चान्तशत्रुर्मध्यमः परिकीर्त्तितः । आद्यारिस्त्वन्तसिद्धादिः सोऽपि त्याज्योऽत्र कर्मणि ॥ आदौ मध्ये तथा चान्ते सिद्धः शुभफलप्रदः । सर्वसाध्य उदासीनः प्रोक्तस्तन्त्रे स्वयंभुवा ॥ स्थानत्रितयसुसिद्धः सर्वानर्थांश्च साधयत्येव । स्थानत्रितयगतारिर्मन्त्रो मृत्युर्न सन्देहः ॥ सिद्धादिसाध्ययुग्मान्तो व्यर्थ इत्युच्यते बुधैः । सिद्धादिर्द्विसुसिद्धान्तः सर्वकार्यार्थसाधकः । सिद्धादिररियुग्मान्तो नाशकः सम्प्रकीर्त्तितः ॥ शत्रुर्भवति यदादौ, मध्ये सिद्धस्तदन्तके साध्यः । कष्टेन कार्यसिद्धिः, तस्य फलं स्वल्पमेव भवेत् ॥ अन्ते यदि भवति रिपुः, प्रथमे मध्ये च भवति साध्ययुगम् । कार्यं विलम्बितं स्यात्, प्रणश्यति क्षिप्रमेवान्ते ॥ आद्यन्तयोर्यदा साध्यो मध्ये सिद्धः प्रजायते । आद्यन्तयोर्यदा सिद्धो मध्ये साध्यः प्रजायते ॥ तावुभौ साध्यसिद्धौ हि जपाधिक्येन सिध्यतः । अरिसंपुटितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा भवेत् ॥ सर्वनाशकरो ज्ञेयः साधकस्य न संशयः । सिद्धान्तरितसाध्यस्तु सुसिद्धान्तरितोऽथ वा । शीघ्रं सिध्यति मन्त्रोयमीशानः स्वयमब्रवीत् ॥ सिद्धान्तरितशत्रुस्तु सुसिद्धेनापि चेद्भवेत् । नासौ रिपुर्भवेन्मन्त्रः किं तु कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ साध्यान्तरितसिद्धस्तु सुसिद्धोऽपि तथा यदि । सिध्यत्यतीव कष्टेन साधकस्य च नान्यथा ॥ रिपुणान्तरितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा यदि । ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत् ॥ रिपुणान्तरि(दूषि)तो मन्त्रो नैव देयः कदा चने"ति ॥ *नाराणीयेऽपि*—"दुष्टार्णप्रचुरो मन्त्रो यःस्या त्स च विनिन्दित" इति । अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यातम् । तत्र पूर्ववन्मातृकाक्षराणि संलिख्य तत्समीपे मन्त्रं नाम च लिखित्वा प्रथमाक्षरेण प्रथमाक्षरं शोधयित्वा पुनर्द्वितीयाक्षरेण द्वितीयाक्षरं शोधयित्वा नामपरिसमाप्तौ पुनर्नाम लिखित्वा यावत्मन्त्रपरिसमाप्तिस्तावच्छोधयित्वा यस्मिन्मन्त्रे दुष्टार्णाः साध्यार्णा वैरिणश्च इतरेभ्यो बहवो भवन्ति तदा तन्मन्त्रं वर्जयेदित्यर्थः । *अत्र केषां चिद्वर्णानां शोधनं नास्तीत्याहुः* । "नमः प्रणवसंयोगापभ्रंशाक्षराणि च । वर्जयित्वैव गणनं कर्त्तव्यञ्च सुरेश्वरि" इति तत्त्वसागरवादिनः ॥ *तत्रैव प्रकारान्तरेण सिद्धादिकल्पनमुक्तम्* —— दशारेऽथवा चक्रे कूटपण्ढविवर्जितान् । आदिहान्ताल्लिखेद्वर्णान् पूर्वतो यावदीश्वरम् ॥ अङ्कूक्कादिभान्वन्ताल्लिँखेत्पूर्वादितः क्रमात् । सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिश्चतुर्द्धाणुः स्फुटोभवेत् ॥ नवैकपञ्चके सिद्धः साध्यः षट्दशयुग्मके । त्रिसप्तैकादशे मित्रं वेदाष्टद्वादशे रिपुः ॥ अथवान्यप्रकारेण वच्मि मन्त्रांशकं मनाक् । अकारादिहकारान्तं मातृकाक्षरसञ्चयम् । एकैकार्णं क्रमान् न्यस्य चतुःकोष्ठेषु मन्त्रवित् ॥ सिद्धं साध्यं सुसिद्धं च वैरिणं

मणयेत्क्रमात् । यत्र यत्र भवन्त्यर्णाः नाममन्त्रसमुद्भवाः । सिद्धसाध्यादिभेदेन वर्णैस्तैर्मन्त्रमादिशेत् ॥ अथवा मन्त्रनामार्णकृते राशौ चतुर्हृते । सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिर्मन्त्र एकादितो भवेत् ॥" इति ॥ *महाकपिलपञ्चरात्रे तु*—"त्रिविधः कीर्त्तितो मन्त्रः सिद्धः साध्यः सुसिद्धकः । अल्पाक्षरो भवेत्सिद्धः साध्यो मालार्द्धमालकौ ॥ अत ऊर्द्ध्वं सुसिद्धः स कवित्वे त्वतिमिन्दित" इति । *अन्योऽपि विशेषः*—"सुचिराराधयेन्मन्त्रं दृष्टादृष्टफलप्रदम् । सकलं निष्कलं सूक्ष्मं तथा सकलनिष्कलम् ॥ कलाभिन्नं कलातीतं षोढा मन्त्रं शिवोऽब्रवीत् । सकलं ब्रह्मरन्ध्रस्थं तदधो विद्धि निष्कलम् ॥ मानसं सूक्ष्मनामानं हृत्स्थं सकलनिष्कलम् । बिन्दुस्थितं कलाभिन्नं कलातीतं तदूर्ध्वतः । कला कुण्डलिनी सैव नादशक्तिः शिवोदिते"ति । एषु षट्सु स्थानेषु चिन्तितो मन्त्रः स्थानस्थफलप्रदो नान्यथा । यदुक्तं *मालिनीविजये*—"स्थानस्था वरदा मन्त्रा ध्यानस्थाश्च फलप्रदाः । ध्यानस्थानविनिर्मुक्ताः सुसिद्धा अपि वैरिणः" इति । *यद्यज्ञानादरिमन्त्रग्रहणं स्यात्तदा तत्परित्यागउच्यते*—"अथारिमन्त्रसन्त्यागविधिः सम्यक् प्रकाश्यते । शुचिः समाहितो भूत्वा प्रारभेत् प्रवरे दिने ॥ अशेषदुःखनाशाय देशिकः प्रवरं विधिम् । तत्रादौ रम्यभवने कुम्भं दीक्षाविधिक्रमात् ॥ मण्डले स्थापयेद्विद्वान् पूरयेत्तं जलैः शुभैः । विलोममन्त्रपाठेन तत्रावाह्य तु देवताम् ॥ सकलीकृत्य संपूज्यावरणानि प्रपूजयेत् । एवं सावरणामिष्ट्वा मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ॥ हुत्वा विलोममन्त्रेण सर्पिषा गोरपि द्विजः । अष्टोत्तरसहस्रं वाथ वाष्टोत्तरशतं सुधीः ॥ ब्रह्मार्पणेन मनुना तथान्ते तर्पयेत्प्रभुम् । ततो यथावत् दुग्धान्नैर्देवताभ्यो बलिं हरेत् ॥ विदिक्षु दिक्षु च तथा वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैः । आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते ॥ नमस्तुभ्यं गृहाणेमं पुष्पधूपादिकम्बलिम् । आयाहि तेजसां नाथ ! हव्यवाह ! वरप्रद ! । गृहाण पुष्पधूपादिं बलिमेनं सुपूजितम् ॥ प्रेतराज ! समायाहि भिन्नाञ्जनसमप्रभ (द्युते) । बलिं दत्तं गृहीत्वेमं सुप्रीतो वरदो भव ॥ नमस्ते रक्षसां नाथ ! निर्ऋते ! त्वमिहागतः । गृहाण बलिपूजादि मया भक्त्या निवेदितम् ॥ एहि पश्चिमदिक्पाल ! जलनाथ ! नमोऽस्तु ते । भक्त्या निवेदितां पूजां गृहीत्वा प्रीतिमानह ॥ प्रभञ्जन प्राणपते ! त्वमेहि सपरिच्छद । मया प्रयुक्तं विधिवत् गृहाण बलिमादरात् । कुबेरतारकाधीशावागच्छेतां सुरोत्तमौ । पुष्पधूपादिभिः प्रीतौ भवेतां वरदौ मम ॥ ईश ? त्वमेव भगवन् सर्वविद्याश्रय प्रभो । पूजितः पुष्पधूपाद्यैः प्रीतो भव विभूतये ॥ आयाहि सर्वलोकानां नाथ ! ब्रह्मन्समर्चनम् । गृहाण सर्वान् विघ्नान्मे निवर्त्तय नमोऽस्तु ते ॥ आगच्छ वरदाव्यक्त विष्णो ! विश्वस्य नायक ! । पूजितः परया भक्त्या भव त्वं सुखदो मम ॥ ततः सपरिवारां च पूजयेन्मन्त्रदेवताम् । मन्त्रेण विपरीतेन पुष्पदीपोपचारकैः ॥ ततस्तु प्रार्थयेद्विद्वान् पूजितां मन्त्रदेवताम् । आनुकूल्यमनालोच्य मया तरलबुद्धिना ॥ यदुपात्तं पूजितं च प्रभो मन्त्रस्वरूपकम् । तेनमे मनसः क्षोभमशेषं विनिवर्त्तय ॥ पापं प्रतिहतं चास्तु भूयाच्छ्रेयः सनातनम् । तनोतु मम कल्याणं पाविनी भक्तिरेव ते॥ इति संप्रार्थ्य मन्त्रेशीं मन्त्रं यन्त्रे विलोमतः । लिखित्वा मलकर्पूरचन्दनेन समर्चयेत् ॥ कलशोपरि संस्थाप्य भक्त्या परमया युतः । तत्पत्रं मतिमान् पश्चात् बध्वा निजशिरस्यथ ॥ स्नायात् (त्वा) पूजितकुम्भस्थतोयैर्मन्त्रमयैः शुभैः । पुनश्चान्येन तोयेन कुम्भमापूर्य संयतः ॥ तन्मध्ये मन्त्रपत्रं च निःक्षिप्याथ प्रपूजयेत् । तं कुम्भं निम्नगातीरे शुद्धे वान्यजलाशये ॥ निःक्षिपेदथ विप्रांश्च यथाशक्त्या प्रभोजयेत् । इत्थं कृतविधानस्यरिपुमन्त्रोद्भवा रुजः ॥ नश्यन्त्येव न सन्देहः क्रमाच्चित्तप्रसन्नता । जायतेऽतीव संपन्नो वर्द्धते तत्कुलं क्रमात्"—इति । *अथ मन्त्रमुक्तावल्युक्त ऋणधनशोधनप्रकारो लिख्यते* । "इन्द्र १४ र्क्ष २७ नेत्र २ रवि १२ पञ्चदश १५ तु ६ वेद ४ वह्न्या ३ युधा ८ ऽष्ट ८ नवभि ९ र्गुणितांश्च साध्यान् । दिक् १० भू १ गिरि ७ श्रुति ४ गजा ८ ग्नि ३ मुनी—७ षु ५ वेद ४ षट् ६ वह्नि ३ मिश्र गुणितानथ शोधकार्णान् ॥ नासाजला दकटवाद् गज ८ भक्तशेषं ज्ञात्वोभयोरधिकशेषमृणं धनं स्यात् । मन्त्रो ऋणी शुभफलोऽप्यशुभो धनी च तुल्यो

यदा समफलः कथितो मुनीन्द्रैरि"ति। *तत्र प्रकारः*—साध्यस्य मन्त्रस्य, साधकस्य शिष्यस्य, नामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक् कृत्वा स्थापयेत्। ततो मातृकायाः= अकठत्रात्मकमेकादशैकादशाक्षरं वर्गचतुष्टयं कृत्वा मन्त्राक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक् कृतानि इन्द्रादिभिरङ्कैर्गुणयेत्। साधकनामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि दिग्भिरङ्कैर्गुणयेत्। तत्र गुणनप्रकारः। यस्मिन्स्थाने योवर्णस्तं वर्णं तेनाङ्केन गुणयेत्। तत्स्थानमिताङ्कैर्गुणयेदित्यर्थः। तद्यथा प्रथमकोष्ठस्थोवर्णः अकारः तं च चतुर्दशभिर्गुणयेत्। तत्रैकश्चतुर्दशगुणितश्चतुर्दशैव। तथा द्वितीयकोष्ठस्थो वर्णः ईकारस्तं सप्तविंशत्या गुणयेत्। तेन द्वाभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता चतुः पञ्चाशदेवं तृतीयस्थानस्थो वर्णः उकारो द्विगुणितः षट् भवति। एवं साधकनामाक्षराण्यपि दिगादिभिर्गुणयेत्। साधकनाममन्त्राक्षरेषु आई ऊऋलृएषामङ्का लब्वक्षराणामेवाङ्का ज्ञेयाः। ततः सर्वोऽप्यङ्कः एकीकृत्य अष्टभिर्भाज्यः यो राशिरधिकः स ऋणी अधमर्णः। ऊनो राशिर्धनी उत्तमर्णस्तत्र मन्त्रश्चेदधमर्णस्तदा ग्राह्यः। न चेन्नग्राह्यः। *अथ कादिमतोक्तऋणधनशोधनप्रकारो यथा*। "नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिवर्णकम्। त्रिधा कृत्वा स्वरैर्भिन्द्यात्तदन्यद्विपरीतकम्" इति॥ अस्यार्थः। साधकनाम्नोयदाद्यक्षरन्तत आरभ्य मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तं मातृकाक्रमेण गणयित्वा तमङ्कं त्रिगुणितं कृत्वास्वरैः सप्तभिर्हरेत् इति। अयं साधकराशिः। एवं मन्त्राद्यक्षमारभ्य साधकनामाद्यक्षरपर्यन्तं मातृकाक्रमेण गणयित्वा तमङ्कन्त्रिगुणितं कृत्वा सप्तभिर्भजेत्। इति मन्त्रराशिः॥ अन्यत् पूर्ववत्। *तन्त्रान्तरोक्तो वा ऋणधनशोधनप्रकारो यथा* "साध्यनाम द्विगुणितं साधकेन समन्वितम्। अष्टभिश्चहरेच्छेषं तदन्यद्विपरीतकम्" इति॥ अस्यार्थः। मन्त्राक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि द्विगुणयेत्। साधकनामाक्षराण्यपि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि तेषु संयोजयेत्। ततोऽष्टभिर्हरेत्। अयं मन्त्रराशिः। एवं साधकनामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि द्विगुणितानि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतमन्त्राक्षरैः संयोजितानि अष्टभिर्हरेत्। एवं साधकराशिः। अन्यत् पूर्ववत्। एवमुक्तेष्वन्यतमेनावश्यमृणधनशोधनं मन्त्रेषु कर्त्तव्यम्॥ तत्र कथं मन्त्राणामृणित्वम्। तदुक्तं *तन्त्रान्तरे*—"पूर्वजन्मकृताभ्यासः पापादस्याफलासिकृत्। पापे नष्टे फलावाप्तिकाले देहक्षयादृणी॥ मन्त्रः संप्राप्तिमात्रेण प्राक्तनः सिद्धये भवेत्। सिद्धमन्त्राद्गुरोर्लब्धमन्त्रो यः सिद्धिभाङ्नरः॥ लक्ष्मीमदादनादृत्य मन्त्रं भोगमवाप्तवान्। स मन्त्रोऽस्य ऋणो ज्ञेयो भजनं तस्य पूर्वगम्॥ तस्मादृणविशुद्धिस्तु कार्या सर्वैस्तु सर्वत" इति। *ग्रन्थान्तरे* मन्त्रशोधने प्रकारान्तरमुक्तम्॥ षड्दलं च क्रमाल्लिख्य प्रागादिषु दलेषु तु। अकादिवर्णानेकैकं लिखेन्निष्षण्ढकूटकान्॥ स्वनामाद्यक्षरं यत्र तदारभ्य विचारयेत्। उदिते सम्पद्गुद्दिष्टा द्वितीये सम्पदां क्षयः। तृतीये तुधनं विन्द्याच्चतुर्थं बन्धुविग्रहः॥ पञ्चमे संशयात्मा स्यात्षष्ठः सर्वविनाशकः" इति। *अत्र सर्वत्रापवादो ग्रन्थान्तरोक्तः* "पिण्डे तारे स्वप्नलब्धे पडर्णे, प्रासादार्कत्रैपुरे नारसिंहे। मालामायामातृवाराहकामाख्यैनोदोषः स्त्र्यास्त्रवेदेषु रत्ने" इति। *मालामन्त्रस्वरूपमुक्तं* *महाकपिलपञ्चरात्रे* "बहुवर्णास्तु ये मन्त्रा मालामन्त्रास्तु ते स्मृताः। दशाधिकाक्षरा माला पञ्चाधिकार्द्धमालिका॥ न मालापञ्चपर्यन्ता वृद्धस्थविरबालकाः। वार्द्धके सिद्धिदा माला अर्द्धमाला तु यौवने॥ बाल्ये पञ्चाक्षराधस्तु मन्त्रः सिद्धिप्रदायक" इति। *प्रयोगसारे तु* नवाक्षरान्ता ये मन्त्रा बीजमन्त्राः प्रकीर्त्तिताः। पुनर्विंशतिवर्णान्ता मन्त्रा मन्त्रास्तथोदिताः॥ ततोऽधिकाक्षरा मन्त्रा मालामन्त्रा इति स्मृताः। बाल्ये प्रसिद्धिदा बीजमन्त्रा मन्त्रास्तु यौवने॥ मालामन्त्राश्च वार्द्धक्ये विशेषेण प्रसिद्धिदा" इति। *नारायणीयेऽपि* "विंशत्यर्णाधिका मन्त्रा मालामन्त्रा इति स्मृताः। दशाक्षराधिका मन्त्रास्तदर्वाग्बीजसंज्ञिताः॥ वार्द्धके सिद्धिदा माला मन्त्रा मन्त्रास्तु यौवने॥ पञ्चाक्षराधिका बाल्ये सिद्धिदाः सर्वदापरे"—इति॥ *अपेक्षितार्थद्योतनिकायामुक्तम्* उक्तावस्था

सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ताः साध्यास्ते सेवकाः स्मृताः ।।
सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवोघातका मताः ॥ १३१ ॥
दीपस्थानं समाश्रित्य कृतं कर्म फलप्रदम् ॥
चतुरस्रां भुवं भित्त्वा कोष्ठानां नवकं लिखेत् ॥ १३२ ॥
पूर्वकोष्ठादि विलिखेत्सप्तवर्गाननुक्रमात् ॥
लक्ष्मीशे मध्यकोष्ठे स्वरान्युग्मक्रमाल्लिखेत् ॥ १३३ ॥

व्यतिरिक्तावस्थासु बीजमन्त्रमालामन्त्रसिध्यर्थं द्विगुणं जपेदिति । *तथा*—"हंसस्याद्याक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरस्य तु । एकद्वित्र्यादिबीजस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत्" ॥ *तथा* एकत्रिपञ्चसप्तार्णनवरुद्रषडर्णके । द्वात्रिंशदक्षरे मन्त्रे नांशकं परिगण्यते ॥ गारुडादिषु सौरेषु वैष्णवे बौद्धजैनयोः । महाकूटेषु मन्त्रेषु नैव सिद्धादिशोधनम् ॥ चत्वारिंशाक्षरस्योर्ध्वमेकैकाक्षरवृद्धितः । त्रिषष्टिबीजपर्यन्तं मन्त्रो नैकफलप्रद—" इति । *तथा च—* "आज्ञासिद्धास्तु ये मन्त्रा योगिनीनां प्रसादतः । लब्धा ये, केऽपि ते मन्त्राः सर्वकामफलप्रदा" इति । एतद्व्यतिरिक्तेष्वावश्यकं शोधनम् । *यदुक्तं* "मन्त्रो वा यदि वा विद्या स्तवो वा सूक्तमेव वा ॥ अर्थबन्धुशरीरस्य नाशको भवति क्षणात् ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दुष्टं सर्वत्र वर्जयेत ॥ न केवलं तु मन्त्राणां विशेषेण तु देहिनाम् । परस्परं समीक्ष्यः स्यात्सम्बन्धो नान्यथा भवेत्" इति । *यस्तुसिद्धादिभिर्मन्त्रो न मिलति तत्र प्रकारान्तरमुक्तं *यदाहुः* "एषु दोषेषु सर्वत्र मायां काममथापि वा । क्षिप्त्वा चादौ श्रियं दद्यात्तद्दूषणविमुक्तये" इति ॥ *तथा*—"तारसम्पुटितो चापि दुष्टमन्त्रोऽथ सिध्यति । यस्य यत्र भवेद्भक्तिः सोऽपि मन्त्रोऽस्य सिध्यति ॥ तथा *भुवनेशीपारिजाते* "मायाबीजसमायुक्तः क्षिप्रं सिद्धिप्रदो भवेत् ॥ पिण्डस्तु केवलो मन्त्रो मायाबीजोज्ज्वलीकृतः ॥ मायाबीजाद्भवेत्प्राणो बीजं चैतन्यवीर्यवदि"ति ॥ *तथा* "अनुलोमविलोमस्थक्लृप्तया वर्णमालया ॥ प्रत्येकवर्णयुङ्मन्त्राजप्ताः स्युः क्षिप्रसिद्धिदाः ॥ वैरिमन्त्रा अपि नृणामन्ये मन्त्राश्चकिंपुनरि"ति ॥ १३० ॥

अग्रे व्यवहाराय सिद्धाद्यक्षराणां संज्ञान्तराण्याह *सिद्धार्णा इति* । फलस्य पूर्वमुक्तत्वात् ॥ १३१ ॥

मन्त्रजपस्थानमाह *दीपेति* । दीपशब्दार्थोऽन्यत्रोक्तः "दीपौघं सम्प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मयामले । प्रासादग्रामगेहाद्या ज्ञेया येन शुभाशुभाः ॥ ककारादिक्षकारान्ता वर्णाः स्युर्दीपसंज्ञकाः । स्वराः षोडश पीठाख्या ज्ञातव्या मन्त्रिणां वरैरि"ति ॥ *तथा* "पीठसंज्ञा स्वराणां च दीपाः स्युर्व्यञ्जनानि हि । स्थानं दीपाक्षरं यस्मिन्कोष्ठे तिष्ठति तद्भवेत् ॥ दीपस्थानं तदेतत् स्यात् कूर्मचक्रे न संशय" इति । तस्य दीपस्य स्थानमिति । कर्म जपादिकम् । अत एव वक्ष्यति मन्त्राणां सिद्धिसाधनमिति ॥ दीपस्थानज्ञानार्थं कूर्मचक्रमाह *चतुरिति* तत्र द्वे रेखे पूर्वापरायते, द्वे दक्षिणोत्तरायते, चतुरस्रमध्ये कुर्यात् तदा नव कोष्ठानि सम्पद्यन्ते । तेषु नवकोष्ठेषु नव क्षेत्रपालाः पूज्याः । *यदुक्तम्* "क्षेत्रपाला नवैतेषु दीपेशा नवकोष्ठके ॥ अमृतो वृषभः शैलराजो वासुकिरर्थकृत ॥ शक्तिपूः पद्मयोनिश्च महाशङ्खश्च ते नव ॥ छायाछत्रगणोपेतान् मध्यात् पूर्वादितो यजेत्" इति ॥ १३२ ॥

पूर्वकोष्ठादि पूर्वदिक्कोष्ठमारभ्येत्यर्थः । *सप्तवर्गानिति* ॥ कचटतपयशान् अनुक्रमाद्विलिखेत् इति उत्तरान्तम् ॥ अत्र यथा सम्भवं मध्यत आरभ्य प्रतिकोष्ठं *यदुक्तम्* ॥ "पूर्वकोष्ठे कवर्गस्य पञ्चकं मध्यतः क्रमात् । मध्यतोऽन्यत्र चाग्नेये चवर्गं चैव मेचही"ति । *मध्यकोष्ठे स्वरान् युग्मक्रमाल्लिखेदि*ति ॥ तत्र लेखनप्रकार उक्तोऽन्यत्र "मध्यकोष्ठपुरोभागे अकारद्वयमालिखेत् । आग्नेय्यामिद्वयं विद्यात् याम्ये तूद्वयमालिखेत ॥ नैर्ऋत्ये ऋद्वयं विद्याद्वारुणे लृद्वयं तथा । वायव्यामेद्वयं विद्यात्सौम्यामोद्वयमिष्यते ॥ ईशे चान्त्ययुगं

दिक्षु पूर्वादितो यत्र क्षेत्राख्याद्यक्षरं स्थितम् ॥
मुखं तत्तस्य जानीयाद्धस्तावुभयतः स्थिते ॥ १३४ ॥
कोष्ठे कुक्षी उभे पादौ द्वे शिष्टं पुच्छमीरितम् ॥
क्रमेणानेन विभजे न्मध्यस्थमपि भागतः ॥ १३५ ॥
मुखस्थो लभते सिद्धिं करस्थः स्वल्पजीवनः ॥
उदासीनः कुक्षिसंस्थः पादस्थो दुःखमाप्नुयात् ॥ १३६ ॥
पुच्छस्थः पीड्यते मन्त्री बन्धनोच्चाटनादिभिः ॥
कूर्मचक्रमिदं प्रोक्तं मन्त्राणां सिद्धिसाधनम् ॥ १३७ ॥

विद्यादेवं न्यस्य विचारयेत् ॥" अयं लेखनक्रमः "क्रमेणानेन विभजेत्" इति वक्ष्यमाणेन सूचित एव ॥ १३३॥

क्षेत्राख्येति ॥ अत्र क्षेत्रशब्दो ग्रामादीनामुपलक्षणः । यदुक्तं "पीठं क्षेत्रं पुरं वापि नगरं ग्राममेव चे"ति ॥ तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम्—"कादिनान्तं भवेत् क्षेत्रं ग्रामः स्यात् पादिमान्तकः । यादिषान्तं पुरं सम्यक् प्रोक्तं देशिकसत्तमैः ॥ सहान्तं नगरं प्रोक्तमेतत् क्षेत्रस्य लक्षणमि"ति ॥ पीठलक्षणं प्रागुक्तं "स्वराः षोडश पीठाख्या" इति । *क्वचित्तु* "वनाद्रिपत्तनग्रामदेवगेहहृदादिष्वि"त्यप्युक्तम् । *उभयतः स्थिते कोष्ठे* इति प्रत्येकं हस्तकुक्षिपादेष्वन्वेति ॥ तेनाद्याद्यमभितोऽग्रिमाग्रिमंशिष्टं पुच्छम् ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

अस्य फलमाह *मुखस्थ* इति ॥ मन्त्रीत्याकृष्यते ॥ तस्य तन्त्रोक्तदीक्षाप्रकारेण स्वीकृतमन्त्र इत्यर्थः । अग्रेऽपि मन्त्रिणमिति पदद्वये अयमेवार्थोऽनुसन्धेयः । जीव्यते अनेनेति जीवनं भोगः, स्वल्पं जीवनं यस्य स स्वल्पजीवनः । तदुक्तम्—"मुखस्थः शुभयुग्ज्ञेयः करस्थः स्वल्पभुक्तिमान्" इत्यादिना । *तथा—* "मुखे सर्वार्थसिद्धिः स्यात्करयोरल्पसिद्धिकृत्" इत्यादिना । *तथा* "तस्मान्मुखं समाश्रित्य सर्वकर्म समारभेत् । तदलाभे करं वापि कूर्मस्यान्यं न संश्रयेत्" इति । *अत्र विशेषो ग्रन्थान्तरोक्तः*—"स्थानसाधकयोर्नाम्नोररित्वं यत्र विद्यते । तत्तक्षशास्त्रतो ज्ञात्वा तत्तत्सम्यक् परित्यजेत् ॥ रिपुत्वमद्वयस्योक्तं गकारेण परस्परम् । ऋयुग्मस्य ठकारेण ठकारस्यापि तेन च ॥ लद्वयस्य पकारेण पकारस्यापि लद्वयम् ॥ ओयुग्मस्य षकारेण षकारस्यौयुगेन च ॥ जकारस्य टकारेण झकारस्य खकारतः ॥ डकारस्य तकारेण फकारस्य धकारतः ॥ भकारस्य तु रेफेण यकारस्य सकारतः । अरित्वमेषां वर्णानामन्येषां मित्रभावना ॥ कूर्मचक्रे रिपुस्थानं साधको यत्नतस्त्यजेत्—" इति ॥ उदाहरणं च तत्रैवदर्शितम् "यथा गर्गस्य वैरं स्याद्दृहारं महत्पुरम् । गयामरेश्वरस्यैवमाकाराद्येषु योजयेत् ॥ ऋजुभट्टस्य ठकाख्यं लृतकस्यापि पञ्चकम् ॥ ओडियाणं षण्मुखस्य औद्रं षड्गुणकस्य च ॥ जयन्ती टङ्कणस्यारिः खन्धारं झम्भट्टतः ॥ डाकदेवस्य तं वालं धर्माख्यं फज्जकस्य च ॥ भट्टस्य रम्यकं वैरि यज्ञमित्रस्य वै सरः ॥ एवं क्रमेण संशोध्य वैरिस्थानं त्यजेद्बुध—" इति ॥ *तथा*—"तेषामाद्यान्वितं वर्णं पूर्वमार्गेषु योजयेत् । यदि तद्व्यञ्जनापिण्डं यदाद्यं पीठवर्जितम् ॥ नामाक्षराणि सर्वाणि पीठ्युक्तानि वर्जयेत् ॥ यदादिकानि मार्गेण तद्गृहीत्वा स्वरं त्यजेत ॥ ग्रामनामाक्षरेष्वादिमध्यान्ताणान्विहाय च ॥ द्वितीयमक्षरं यत्र कोष्ठे तिष्ठति तन्मुखमि"ति ॥ *अन्यत्रापि* "तत्तद्ग्रामद्वितीयार्णो यत्र तिष्ठति तन्मुखमि"ति ॥ इदं तु स्वरादिनामविषयम् ॥ नामादौ संयोगाक्षरे सति विशेषमाह "अक्षरत्रितयं यत्र ग्रामनामादिषु क्वचित् ॥ स्वरोमध्याक्षरास्ढो यत्र तिष्ठति तन्मुखम् ॥ भवतो यदि वर्णौ द्वौ ग्रामनामादिषु स्फुटम् ॥ आद्यस्वरो यत्र

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहापर्वतमस्तकम् ॥
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां संगमाः पावनं वनम् ॥ १३८ ॥
उद्यानानि विविक्तानि बिल्वमूलं गिरेस्तटम् ॥
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम् ॥ १३९ ॥
साधनेषु प्रशस्यन्ते स्थानान्येतानि मन्त्रिणाम् ॥
भैक्ष्यं हविष्यं शाकानि विहितानि फलं पयः ॥ १४० ॥
मूलं सक्तुर्यवोत्पन्नो भक्ष्याण्येतानि मन्त्रिणाम् ॥
पुरुषार्थसमावाप्त्यैसच्छिष्यो गुरुमाश्रयेत् ॥ १४१ ॥

तिष्ठत्यदो वदनमिष्यत" इति ॥ तथाच—"क्षेत्रसाधकमन्त्राणामेकमेवाद्यमक्षरम् । यदि स्यात् स ध्रुवं मन्त्रः सर्वसिद्धिफलप्रद" इति । फलविशेषमाहात्म्यः—"मोक्षार्थं वदने कुर्याद्दक्षिणे त्वाभिचारिकम् । श्रीकामः पश्चिमे भूत्वा उत्तरे शान्तिदो भवेत् ॥ ईशाने शत्रुनाशः स्यादाग्नेयः शत्रुदायकः ॥ नैरृते शत्रुभीतिः स्याद्वायव्ये तु पलायनम् ॥ कूर्मचक्रमविज्ञाय यः कुर्याज्जपयज्ञकम् । तज्जपस्य फलं नास्ति स चानर्थाय कल्पत" इति ॥ *कादिमते विशेषः* "सैवर्ध्यायामविस्तारं हत्वाष्टाभिस्तुशेषितः ॥ विज्ञाय वर्गंतेष्वेकमाद्यन्तानि प्रकल्पयेत् ॥ वास्तुष्वज्ञातरूपेषु प्रसिद्धं नामतोभवेत् । व्यञ्जनं देशकूर्मस्स्यात् गृहकूर्मं स्वरास्तथेति १३६-१३७॥

पुरश्चरणजपस्य स्थानानि वदन् कूर्मचक्रविषयमाह—*पुण्येति* । नदीतीरम् ॥ सामान्यनदीतीरस्य निषिद्धत्वात् ॥ *पावनं वनमिति*। विशेषणविशेष्यभावः ॥ १३८ ॥

उद्यानानि विविक्तानि–पूतानीत्यपि । "विविक्तौ पूतविजनावि"ति कोशः ॥ १३९ ॥

स्थानान्येतानीति । अनेन तन्त्रान्तरोक्तमपि सूचितम्–*यदाहुः*—प्रत्यङ्मुखशिवस्थाने वृषभादिविवर्जिते । अश्वत्थबिल्वतुलसीवने पुष्पान्तरावृते ॥ गवां गोष्ठेऽश्वत्थमूले पुण्यक्षेत्रेषु शस्यत" इति । *वायवीयसंहितायामपि* "सूर्यस्याग्रेर्गुरोरिन्दोर्दीपस्य च जलस्य च । विप्राणां च गवां चैव सन्निधौ शस्यते जपः ॥ अथवा निवसेत्तत्र यत्र चित्तं प्रसीदति" इति ॥ *तत्रैव* स्थानविशेषे फलविशेषोऽप्युक्तः–"गृहे जपः समः प्रोक्तो गोष्ठे शतगुणस्तु सः । आरामे च तथारण्ये सहस्रगुणउच्यते॥ अयुतं पर्वते पुण्ये नद्यां लक्षगुणस्तु सः । कोटिर्न्देवालये प्राहुरनन्तं (१)मम सन्निधौ" इति । एवं शक्तिविशेषमन्त्रेष्वष्टाष्टकपीठाद्यपि ज्ञेयम्–*अन्यत्र* "म्लेच्छ दुष्ट मृगव्यालशङ्कातङ्कादिवर्जिते। एकान्ते वा वने निन्दारहिते भक्तिसंयुते ॥ सुदेशे धार्मिके राष्ट्रे सुभिक्षे निरुपद्रुते । रम्ये भक्तजनस्थाने निवसेन्नपराश्रये ॥ राजानः सचिवा राजपुरुषाः प्रभवोजनाः । चरन्ति येन मार्गेण न वसेत्तत्र तत्त्ववित् ॥ जीर्णदेवालयोद्यानगृहवृक्षतलेषु च । नदीकूलाद्रिकुञ्जेषु भूच्छिद्रादिषु नोवसेत्"–इति ॥ पुरश्चरणकर्तुर्भक्ष्याण्याह—*भैक्ष्यमिति* । एतद्ब्रह्मचारियतिपरम् । *भिक्षास्वरूपमुक्तमन्यत्र* । "वैदिकाचारयुक्तानां शुचीनां श्रीमतां गृहे । सत्कुलस्थानजातानां भिक्षास्यादग्रजन्मनामि"ति । *हविष्यमिति* । व्रतहविष्यं, न श्राद्धहविष्यादि–*तच्चस्मृत्यन्तरे*–"हैमन्तिकंशितास्विन्नन्धान्यंमुद्गायवास्तिलाः। कलाय कङ्गु नीवारा वास्तुकं हिलमोचिका । षष्टिका कालशाकं च मूलकं केमुकेतरत् । कन्दंसैन्धवसामुद्रेगव्ये च दधिसर्पिषी॥ पयोऽनुद्धृतसारं च पनसाम्र हरीतकी । तिन्तिणी जीरकं चैव नागरङ्गकमेव च ॥ कदली लवली धात्री फलान्यगुडमैक्षवम् । अतैलपक्वं मुनयो हविष्यं सम्प्रचक्षते" इति ॥ *फलं पयो मूलं* विहितमित्युनुषज्यते ॥ १४० ॥ १४१ ॥

---

(१) एतञ्च, देवीवचनम् ।

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः ॥
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ १४२ ॥
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः ॥
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः ॥ १४३ ॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः ॥
इत्यादि गुणसंपन्नो गुरुरागमसंमतः ॥ १४४ ॥

सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेदित्युक्तम् । अतो गुरुलक्षणमाह—*मातृत*इत्यादिना । *मातृतः* *पितृतः शुद्धः ।*—शुद्धपितृमातृप्रसूत इत्यर्थः । सा च शुद्धिर्लोकप्रसिद्धितः शीलान्वेषणतश्च ज्ञेया । *यदुक्तं*—"यदकारि कर्म गुप्तं यौवनसमये मदान्धया मात्रा । तत्प्रकटयन्ति तनया विगतनयास्ते स्वधर्ममुत्सृज्ये"ति । *शुद्धभावः* शुद्धचित्तवृत्तिरित्यर्थः । अन्यथा खलत्वात् शुश्रूषार्हं एव न स्यात् । *जितेन्द्रियः । अजितेन्द्रियस्य देवतापराङ्मुखत्वात् ॥ *सर्वागमानां सारज्ञः* । अन्यथा शिवादितत्तत्सम्प्रदायानभिज्ञता स्यात् । *सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्* । अन्यथा आगमशास्त्रविचारानुपपत्तेः ॥ १४२ ॥

परोपकारनिरतः । अन्यथा शिष्यो परि कृपैव न स्यात् । तत् कृपां विना मन्त्रोऽपि पराङ्मुखो भवति । *जपपूजादितत्परः* । आदिशब्देन ध्यान होमौ । अन्यथा लुप्तसमयाचारस्य देवतासान्निध्याऽभावात्—तदुक्तं *पिङ्गलामते*—"नाध्यातो नार्चितो मन्त्रः सुसिद्धोऽपि प्रसीदति । नाजप्तः सिद्धिदानेच्छुर्नाहुतः फलदो भवेत् ॥ पूजां ध्यानं जपं होमं तस्मात्कर्म चतुष्टयम् । प्रत्यहं साधकः कुर्यात् स्वयं चेत्सिद्धिमिच्छति" ॥ इति ॥

*अमोघवचनो*ऽनुग्रहक्षमः । *शान्तः* अन्यथा लोकगर्हितस्यासेव्यत्वात् । *वेदवेदार्थपारगः* अनेन स्वाचारनिष्ठतोक्ता । *यदुक्तं* "वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारक"इति । *अन्यत्रापि*—"विना स्वधर्मं यत्किञ्चित् देवताराधनादिकम् । परिभ्रश्येत तद्यस्मात्क्षणात्सैकतहर्म्यवदि"ति ॥ १४३ ॥

योगमार्गानुसन्धायी । अन्यथा दीक्षादिदान एवाशक्तः स्यात् । *देवताहृदयङ्गमः* । देवतावद्धृदयङ्गमो—मनोहरः प्रसन्नाकार इत्यर्थः । यथा देवतादर्शनेन सन्तोषस्तथा तद्दर्शनेनाऽपि मनसि सन्तोषोत्पादनात् । *तदुक्तम्*—"कार्यानुगतं शीलं, शीलानुगतं नृणां भवति चित्तम् । चित्तानुगतं रूपं, रूपानुगता गुणाः प्राय" इति । यत्र च मनः सन्तोषस्तत्र फलावश्यंभावः । *तदुक्तम्* । "यस्मिन्मनश्चक्षुषोरभिरतिस्तस्मिन्नभ्युदय" इति । *तथाभियुक्तकालिदासस्मरणमपि* । "मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्" इति ॥ १४४ ॥

इत्यादीति आदिशब्दात् महाकपिलपञ्चरात्रोक्तम्—"नातिवालो न वृद्धश्च न खञ्जो न कृशस्तथा । नाधिकाङ्गो न हीनाङ्गो न खल्वाटो न दन्तुरः ॥ कृतज्ञं वाग्मिनं शूरं प्रतिष्ठागमपारगम् । वास्तुविद्याकृताभ्यासं शल्योद्धारविवेकितम् ॥ क्रियानुक्रमवेत्तारं मुद्रातन्त्रविवेकिनमि"ति । शुचिः सुवेषस्तरुणः सर्वभूतसमानधीः । धीमाननुद्धतमतिः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ॥ श्रद्धावाननसूयश्च गृहस्थोगुरुरुच्यते" । इत्यादि ग्रन्थान्तरोक्तं च द्रष्टव्यम् । "आचार्यमातुलौ ऋत्विक् पितृव्यःश्वशुरोनृपः । इति षड्गुरवोऽप्येते" इत्यन्यत्रोक्तेः । *अत्रागमसंमत* इति विशेषणं "संसारसागरे मग्नान् यस्तारयति देहिनः । तत्त्वप्लवप्रदानेन स एवेह गुरुः स्मृत" इत्युक्तेः । *प्रतिष्ठासारस्वते* तु विशेषः । "आर्यावर्त्तोद्भवोऽन्योवा कक्काराष्टकवर्जितः । शैवसिद्धान्तनिपुणः प्रतिष्ठामन्त्रपारग" इति । *वीरागमे च* "कुमारीहिमवन्मध्ये स्वतः कृष्णमृगान्विते । देशे जातस्तु यो विद्वान् आचार्यत्वमथार्हति" इति । *योगशिवपद्धतावपि* "मध्यदेशेकुरुक्षेत्रे नाभोजयिनिसम्भवः । अन्तर्वेदिप्रतिष्ठानादावन्त्याश्च गुरूत्तमाः ॥ गौडदेशोद्भ-

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः ॥
अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः ॥ १४५ ॥
हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्यक्तनास्तिकः ॥
स्वधर्म्मनिरतो भक्त्या पितृमातृहितोद्यतः ॥ १४६ ॥

वाश्चौला मागधाः केरलास्तथा । कौशलाश्च दशार्णाश्च गुरवः सप्त मध्यमाः ॥ कर्णाट कोङ्कणाः कीरकच्छतीरोद्भवास्तथा । कालिङ्गाः कामरूपाश्च काम्बोजाश्चाधमाः स्मृता" इति । *देवीमते च*–आचार्यः शैवशास्त्रज्ञः सितदेशसमुद्भवः । ब्रह्मचारी गृहस्थो वा शिवभक्तिपरायणः । यजमानानुकूलर्क्षजन्मा देशिक उच्यत" इति । *हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि*–"गृहस्थं ब्रह्मचर्य्यस्थं कक्काराष्टकवर्जितम् । गुरुं कुर्वीत सततमुपवासव्रते रतमि"ति । *तथा*–"सर्वत्र व्यतिरिक्तं तु आत्मानं वेत्ति यो द्विजः । सर्वलक्षणहीनोऽपि स गुरुर्नात्र संशयः ॥ पञ्चरात्रप्रबुद्धस्तु सिद्धान्तार्थस्य तत्त्ववित् । सर्वलक्षणहीनोऽपि स गुरुर्नात्र संशयः ॥ पञ्चरात्रप्रबुद्धस्तु सिद्धान्तार्थस्य तत्त्ववित् । सर्वलक्षणहीनोऽपि आचार्यः स निगद्यते ॥ यस्य विष्णौ पराभक्तिर्यथा विष्णौ तथा गुरौ । स एव देशिको ज्ञेयः सत्यमेतद्ब्रवीमिते ॥ शैवदीक्षायाम् *अतीतागमे*–विशेषः–"जटी मुण्डी शिखी वापि शस्तदेशसमुद्भवः । शिवशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः श्रुतवृत्तान्वितो द्विजः ॥ शिवमेवाश्रितो नित्यं वाङ्मनः कायकर्मभिः । आचार्यः स समुद्दिष्टः शिवदीक्षादिकर्मसु" इति । *शान्तिके च*–"अनूचानः प्रसन्नात्मा शिवदीक्षाभिषेचितः । शिवागमज्ञो मतिमान् शिवपूजापरायणः ॥ रुद्राक्षमालां बिभ्राणस्त्रिशूलाङ्कितविग्रहः । विशुद्धदेशकुलजः शीलाचारसमन्वितः ॥ वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो ज्ञानवान् गुरुरुच्यत" इति । *प्रतिष्ठापद्धतावपि*–"लिङ्गी विलक्षणज्ञानो निपुणः कर्मसन्ततौ । देवताव्यासितत्त्वज्ञः षड्विधाध्वविशारदः ॥ शुभाशुभनिमित्तज्ञस्त्वथवा विस्तरेण किम् । सम्यग् जातिपरिज्ञानवृत्तं त्वगद्याश्चयो गुणाः । यस्यैते स गुरुः श्रेष्ठः सर्वकामफलप्रदः" इति । यतेरपि गुरुतोक्ता *मोहशूरोत्तरे*–"चीर्णाचारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः । नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद्भौतिकोऽपिचे"ति । *बाहुलोत्तरेऽपि*–विद्ययाऽभयदातारं लौल्यचापलवर्जितम् । एवं विधं गुरुं प्राप्य को न मुच्येत बन्धनात्" इति । *पौष्कारे तु* । "सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुच्यते । ज्ञानं च तत्त्वविज्ञानं षडध्वज्ञानसंश्रयमि"ति ॥ १४४ ॥

शिष्यलक्षणमाह–*शिष्य इति* । *कुलीनः* शुद्धमातृपितृजः । अन्यथा कुण्डगोलकादेरशुचित्वात् सर्वदा स्प्रष्टव्यत्वाभावात् ॥ *शुद्धात्मा* । अक्रूरचित्तः । क्रूरस्य विद्यानुपदेशात् ॥ *यच्छ्रुतिः*—"विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा सेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्यामि"ति ॥ *पुरुषार्थपरायण* इति । अनेनान्यव्यसनहीनतोक्ता ॥ अन्यथा उपदेशानर्थक्यात् ॥ *अधीतवेद इति* । अनेनास्य शुद्धतोक्ता–*यदुक्तं* योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छतिसान्वय" इति । *कुशलः* अमुग्धः । मुग्धस्य मन्त्राराधनाक्षमत्वात् ॥ *दूरमुक्तमनोभव* इति ॥ कामिनः सपापत्वादशुद्धचित्तत्वान्मन्त्राराधनानधिकारः ॥ १४५ ॥

हितैषी प्राणिनां नित्यमिति ॥ अन्यथोपदिष्टमन्त्रादभिचारादिकर्मरतस्य तस्य पापं गुरुमपि स्पृशेत् ॥ *अस्तिकः* अस्ति परलोक इति बुद्धि र्यस्य सः ॥ अन्यथा नास्तिकतायां मन्त्रदेवतानाराधनाद्गुरौ देवताकोपो भवेत् ॥ *त्यक्तनास्तिकः* नास्तिक संसर्गत्यागी ॥ अन्यथा संसर्गजोदोषः स्यात् ॥ *स्वधर्मनिरतः* । अचारवान् ॥ अनाचारिणोऽनधिकारात् ॥ *भक्त्या पितृमातृहितोद्यतो* न तु दम्भादिना ॥ अस्मावेवास्य परमो धर्म्म उक्तो व्यासादिभिः ॥ १४६ ॥

वाङ्मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः ॥
त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः ॥ १४७ ॥
गुर्वाज्ञापालनार्थं हि प्राणव्ययरतोद्यतः ॥
विहत्य च स्वकार्याणि गुरुकार्यरतः सदा ॥ १४८ ॥
दासवन्निवसेद्यस्तु गुरौ भक्त्या सदा शिशुः ॥
कुर्वन्नाज्ञां दिवारात्रौ गुरुभक्तिपरायणः ॥ ॥ १४९ ॥
आज्ञाकारी गुरोः शिष्योमनोवाक्कायकर्मभिः ॥
यो भवेत्स तदा ग्राह्यो नेतरः शुभकाङ्क्षया ॥ १५० ॥
मन्त्रपूजारहस्यानि यो गोपयति सर्वदा ॥
त्रिकालं यो नमस्कुर्यादागमाचारतत्त्ववित् ॥ १५१ ॥
स एव शिष्यः कर्तव्यो नेतरः स्वल्पजीवनः ॥
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः ॥ १५२ ॥

वाङ्मन इत्यादिना अवञ्चकतोक्ता ॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ १५० ॥ १५१ ॥
एतादृश इत्यनेन "युवा विनियताशेषकरणः करुणालय" इत्यादिग्रन्थान्तरोक्तं द्रष्टव्यम् *यत्प्रयोगसारे*—"तत्रापि भक्तियुक्ताय पुत्राय वसुदाय चे"ति ॥ *नारायणीयेऽपि*—"कुर्वन्नाचार्यशुश्रूषां मनोवाक्कायकर्मभिः । शुद्धभावो महोत्साहो बोद्धा शिष्य इति स्मृतः ॥ सरू(१)-पदेश्यः पुत्रश्च व्यत्ययी वसुदस्तथे"ति ॥ *नापर* इत्यनेनान्यस्य निषेध उक्तः—*तथाचान्यत्र* शिष्यदोषानुक्त्वा "एवमादिगुणैर्युक्तं न शिष्यं तु परिग्रहेत् ॥ गृह्णीयात् यदि तद्दोषः प्रायो गुरुमुपस्पृशेत ॥ अमात्यदोषो राजानं पत्यौ जायाकृतो यथा ॥ तथा शिष्यकृतोदोषो गुरुमाप्नोत्यसंशयम् ॥ स्नेहाद्वा लोभतो वापि यदि गृह्णीत दीक्षया ॥ तस्मिन् गुरौ सशिष्ये तु देवताशापभापतेत् ॥ तस्माच्छिष्यं गुरुर्नित्यं परीक्ष्य तु परिग्रहेदिति" ॥ *भुवनेशीपारिजातेऽपि*—"अशिष्ये कथयेद्यस्तु स महापातकी भवेत्" ॥ इति । *ग्रन्थान्तरे तु विशेषः* "गुरूच्यमाने वचने दद्यादित्थं वचस्तदा । प्रसीद नाथ देवेति तथेति च कृतादरम् ॥ प्रणम्योपविशेत्पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया । मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात् ॥ असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि । कामं क्रोधं तथा लोभं मानं प्रहसनं स्तुतिम् ॥ चापलानि न जिह्मानि कार्याणि परिदेवनम् ॥ ऋणदानं तथाऽऽदानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् । न कुर्याद्गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचने"ति । *योगसारेऽपि* गुरुर्माता पिता स्वामी बान्धवाः सुहृदः शिवे । इत्याध्यायमनो नित्यं भजेत् सर्वात्मना गुरुम् ॥ असत्यं न गुरो ब्रूयात् गुरुनिन्दां न कारयेत । प्रारब्धां वारयेदन्यैरशक्तस्तत्पदं त्यजेत् ॥ गुरौ यथैव शुश्रूषा गुरुभार्यासु तां चरेत् । ज्येष्ठांश्च गुरुवत्पश्येदात्मवच्च कनीयसः ॥ गुरुणा यद्यदादिष्टमिष्टं वानिष्टमेव वा । तदा तदाशु सन्तिष्ठेदकौटिल्येन चेतसा ॥ मनोवाक्कर्मभिर्नित्यं पूजयेद्भावितं गुरुमि"ति । *देव्यागमेऽपिशिववाक्यम्*—"गुरोरग्रे पृथक्पूजामद्वैतन्तुपरित्यजेत् । दीक्षांव्याख्यां प्रभुत्वादि गुरोरग्रे विवर्जयेत्" *तत्रैव* "आसनं शयनं वस्त्रं भूषणं पादुका तथा । छायाङ्कुलत्रमन्यच्च यत्तत् स्पृष्टं तु पूजयेत्" इति । *अन्यत्रापि*—"यथा देवे तथा मंन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ । यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः स्मृत" इति ॥ १५२ ॥

---

(१) आत्मनः समानरूप इव । अत्रेषदसमाप्तौ देश्यप्रत्ययस्तद्धितः ।

एकाब्देन भवेद्योग्यो ब्राह्मणोऽब्दद्वयान्नृपः ॥
वैश्यो वर्षैस्त्रिभिः, शूद्रश्चतुर्भिर्वत्सरैर्गुरोः ॥
स शुश्रूषुः परिग्राह्यो दीक्षायागव्रतादिषु ॥ १५३ ॥

इति शारदातिलकेद्वितीयः पटलः ॥ २ ॥ * ॥

ततो वक्ष्यामि दीक्षाङ्गं वास्तुयागपुरःसरम् ॥

शिष्यस्य परीक्षावधिकालमाह—*एकेति*। *गुरोर्योग्यो भवेदिति* सर्वत्र सम्बध्यते ॥ *शूद्रश्चतुर्भिरि*ति। ननु शूद्रस्य दीक्षादौ कथमधिकार? इति चेत् मैवं वेदाध्ययनतदुक्तकर्मस्वेव स्मृतावनधिकारप्रतिपादनादन्यत्राधिकारात्। अत एव शूद्रप्रकरणे *स्मृतिः*। "नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्नहापयेदि"ति। मन्त्रास्त्वीश्वरप्रोक्तास्सूत्रेभगवतैव यथायथमधिकारिता दर्शिता। यथा प्रासादमन्त्रप्रकरणे *भगवानाह* "स्त्रीशूद्राणामयंमन्त्रो नमोन्तस्तु शुभावहः। एतत् ज्ञात्वा महासेन! चाण्डालानपि दीक्षयेत्"। इति। *पिङ्गलामतेऽपि* "चतुर्णां ब्राह्मणादीनां दीक्षां कुर्वीत मन्त्रवित्" इति। *अन्यत्रापि* "ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रा अर्चायांशुद्धबुद्धयः। गुरुदेवद्विजार्चासु रताः स्युरधिकारिण" इति। तेन साक्षाद्वैदिकेषु मन्त्रेषु रामषडक्षरसौराष्टाक्षरमन्त्रराजप्रभृतिषु प्रणवादिषु च तस्य नाधिकारः। तथा च *पद्मपादाचार्यैः प्रणवव्याख्याने अकारोकारमकारात्मेत्यनेन भेदत्रयेण प्रणवादिमन्त्रेषु त्रैवर्णिकाएवाधिकारिणो न स्त्रीशूद्राइत्यपि सुचितमित्युक्तम्। तथाच *नृसिंहतापिनीये* "सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति। सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधोगच्छति" इति। *महाकपिलपञ्चरात्रे* नारायणाष्टाक्षरमधिकृत्योक्तम्—"न वेदः प्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदससुत्थितः। तस्माद्वेदः परोमन्त्रो वेदाङ्गश्चागमः स्मृतः॥ वश्याकर्षादिकंकाम्यं दृष्टादृष्टफलप्रदम्। वेदेन साध्यते सर्वं महयज्ञादिभिः किल॥ न वेदेन विना यज्ञा न यज्ञा वेदवर्जिताः। तस्माद्वेदः परोमन्त्रो न मन्त्रो वेदमुज्झितः॥ न मन्त्रे चाधिकारोऽस्ति शूद्राणां नियमः परः। मन्त्राभावादमन्त्रेण भाषितं सर्वंकर्मही"ति। *नारदपञ्चरात्रे* नारायणाष्टाक्षरमधिकृत्योक्तम्—"ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते। शूद्रादीनां न तच्छ्रोत्रपदवीमपि गच्छती"ति। तथा। श्रवणे त्रपुजतुभ्यां कर्णपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति वेदविषये तस्य स्मृतिषु च दण्डोपदेशादित्यलम् ॥ *अन्यत्र*वत्सरमात्रं सामान्यत उक्तम् "गुरुता शिष्यता वाऽपि तयोर्वत्सरवासत" इति। *उक्तिसारसंग्रहेऽपि* "स गुरुः संश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेदि"ति। *केचन* इदं ब्राह्मणविषयमित्यूचुः। *दशपटल्यां* तु "अब्दम्परीक्ष्य चाब्दं वा अन्यथा न कदाचने"ति। *प्रयोगसारेतु* "वर्षेषु त्रिषु विप्रस्य षट्सु वर्षेषु भूभृतः। विशो नवसु वर्षेषु परीक्षा तत्र शस्यते ॥ समास्वपि द्वादशसु तेषां ये वृषलादय" इति ॥ १५३ ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां पदार्थादर्शाभिख्यायां द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥ * ॥

---

*श्रीगणेशाय नमः ॥ ओं ॥ एवं पूर्वोक्तरीतिप्रपञ्चितस्वरूपसमग्रपुरुषार्थप्रदमन्त्रस्य ग्रहणोपायोदीक्षा तां च वक्तुं तदङ्गभूतवास्तुयागादिकं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते *तत* इति। अङ्गापूर्वसहकृतं प्रधानापूर्वं फलं जनयतीति भट्टन्यायमाश्रित्याह *कृतेने*ति। तत्र प्रसङ्गादन्यत्किञ्चिद्दीक्षाङ्गंतन्त्रान्तरोक्तमुच्यते—"असिद्धिर्भूमिसम्पत्तिर्मरणं बन्धुनाशनम्। आयुर्वृद्धिः प्रजानाशः सम्पत्ती रत्नसञ्चयः॥ शुभप्राप्तिः स्थाननाशो मोहा(घा)र्थं च वशीकृतिः। चैत्रादीनां फ-

कृतेन येन मन्त्रज्ञो दीक्षायाः फलमश्नुते ॥ १ ॥

लं ज्ञेयं मलमासं तु वर्जयेत् ॥ *अन्यत्र तु* आषाढस्यापि सम्यक्फलतोक्ता । "वैशाखपूर्वजे मासे मन्त्रारम्भः सुदुःसहः । वैशाखे धनदायी च ज्येष्ठे मृत्युप्रदो भवेत् ॥ आषाढे पुत्रलाभाय श्रावणे शुभदो मतः । भाद्रे चैव ज्ञानहानिस्तथा सद्भिः प्रकीर्त्तिता ॥ आश्विने सर्वसिद्धिश्च कार्त्तिको ज्ञानसिद्धिदः । शुभकृन्मार्गशीर्षः स्यात्पौषो दुःखप्रदा(विधा)यकः ॥ माघे मेधाविवृद्धिश्च फाल्गुने सर्ववश्यता" इति । *सिद्धान्तशेखरे तु विशेषः*—"शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा । फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्येष्ठे दीक्षा च मध्यमा ॥ आषाढः श्रावणो माघः कनिष्ठाः सद्भिरादृताः । निन्दितश्चैत्रमासस्तु पौषो भाद्रपदस्तथा ॥ निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा" इति । तत्राषाढस्य उत्तमानन्तर्गतत्वान्निषेधः । कनिष्ठान्तर्गतत्वाच्च ग्रहणम् । एवं ज्येष्ठस्यापि निषेध उत्तमानन्तर्भावादेवेति ज्ञेयम् । तथा च *कालोत्तरे*—"शरद्वसन्तयोर्योगो दीक्षाकर्मविधौ स्मृतः । तयोरसम्भवे वर्षाविनान्यत्र प्रशस्यत" इति । *क्रियाकाण्डशेखरेऽपि*—"न विना पर्वं दीक्षा स्याद्वर्षासु मधुपौषयोरि"ति । श्रावणे निषेध उत्तममध्यमानन्तर्भावात् *कारणे*—आषाढपूर्वमासे च आषाढे मार्गशीर्षके । दीक्षां न कारयेत्" इति निषेध उत्तमानन्तर्भावादेवेति ज्ञेयम् । *अगस्तिसंहितायां* "शुक्लपक्षेऽथ कृष्णे वा दीक्षा सर्वशुभावहे"ति । *कालोत्तरे तु* "भूतिकामैः सिते सदा । मुक्तिकामैः कृष्णपक्षे" इति विशेषः । *संहितायां*—"पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा । त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ताः सर्वकामदा" इति । *अन्यत्र तु*—"कृष्णाष्टम्यां चतुर्दश्यां पञ्चपर्वदिनेऽथवे"ति । *मन्त्रसारसंग्रहे*—"द्वितीया पञ्चमी वापि षष्ठी वापि विशेषतः । द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि वे"ति । *मन्त्ररत्नावल्यां* तु—"चतुर्थीं नवमीं षष्ठीमष्टमीं च चतुर्दशीम् । पौर्णमासीं विना शेषा हिता मुक्तौ मुमुक्षुषु" इति । *तत्त्वसारसंहितायां तु*—"तां तां तिथिं समालोच्य तद्भक्तांस्तत्र दीक्षयेत् । *इन्द्रः* "कस्य का तिथिरुद्दिष्टा विशेषाद्वद नारद ! । *नारदः*" "ब्रह्मणः पौर्णमास्युक्ता द्वादशी चक्रधारिणः । चतुर्दशी शिवस्योक्ता वाचः प्रोक्ता त्रयोदशी ॥ द्वितीया तु श्रियः प्रोक्ता पार्वत्याश्च तृतीयिका । चतुर्थी गणनाथस्य भानोः प्रोक्ता तु सप्तमी ॥ निशाभागेषु पार्वत्या अष्टमी च चतुर्दशी"ति । *विष्णुदीक्षायां पञ्चरात्रे विशेषः*—"द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य सूर्यसंक्रमणे तथा"—इति । संक्रमणं विष्णुपदीव्यतिरिक्तम् । *कालोत्तरे च*—"दिनच्छिद्राणि मुक्त्वा च याश्च स्युस्त्रिदिनस्पृशः" इति । *रत्नावल्यां तु* । "आदित्यं मङ्गलं सौरिं त्यक्त्वा वारांस्तु भूतये" इति ॥ *संहितायाम्*—"रवौ गुरौ सिते सोमे कर्त्तव्यं बुधशुक्रयोरि"ति । सिते पक्ष इत्यर्थः । *अन्यत्र*—"उत्तरात्रयरोहिण्यो रेवती पुष्यवासवम् ॥ धनिष्ठा वायुमित्राश्विपित्र्यं त्वाष्ट्रं च नैऋतम् ॥ ऐशवैष्णवहस्ताश्च दीक्षायां तु शुभावहा" इति ॥ वासवं–ज्येष्ठा, वायुः–स्वाती, मित्रम्–अनुराधा, अश्वि–अश्विनी, पित्र्यं–मघा, त्वाष्ट्रं–चित्रा, नैऋतं–मूलम्, ऐशमार्द्रा, वैष्णवं–श्रवणम् ॥ *संहितायामपि*—"अश्विनी रोहिणी स्वाती विशाखाहस्तभेषु च । ज्येष्ठोत्तरात्रयेष्वेव कुर्यामन्त्राभिषेचनमि"ति ॥ *रत्नावल्याञ्च* "त्रीण्युत्तराणि रोहिण्यः पुष्यर्क्षं मृगशीर्षकम् । हस्त–स्वाति–रनूराधा–मघा–मूलं च रेवती ॥ अभिजित् श्रवणे चे"ति । *कारणे च*—"पौष्णं रोहिण्यथादित्यं श्रावणं चाश्विनी तथा । सावित्रं त्वाष्ट्रवायव्यमैन्द्रं नैऋतमेव च ॥ तिष्यं त्रिरुत्तराऽऽर्द्रा च सौम्यं शिष्यत्रिजन्मभम् । नक्षत्राणि प्रशस्तानि दीक्षाकर्मणि सुव्रते !" इति ॥ पौष्णं रेवती, आदित्यं पुनर्वसु, सावित्रं हस्तः, सौम्यं मृगः । *नीरतन्त्रेऽपि*—"रोहिणी श्रवणाऽऽर्द्रा च धनिष्ठा चोत्तरात्रयम् ॥ पुष्यः शतभिषक् चैव दीक्षा नक्षत्रमुच्यते" इति ॥ *रत्नावल्यां तु*—"प्रतिपत् पूर्वाषाढा च पञ्चमी कृत्तिका तथा ।

राक्षसं वास्तुनामानं हत्वाधिष्ठाय तत्तनुम् ।

पूर्वाभाद्रपदा षष्ठी दशमी रोहिणी तथा॥द्वादशी सार्पनक्षत्रमष्टमी च त्रयोदशी ॥ नक्षत्रलुप्ता दशैते देवानामपि नाशदा” इति ॥ अन्यद्वारादिसंयोगात्तिथिनक्षत्रदुष्टत्वं ज्योतिःशास्त्रादवसेयम् ।*तथा*—"शुभयोगेषु सर्वेषु दीक्षासर्वशुभप्रदे”ति *रत्नावल्यां* "योगाश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः सोभनः शुभः । सुकर्मा च धृति र्वृद्धिर्ध्रुवः सिद्धिश्च हर्षणः ॥ वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा ऐन्द्रश्च षोडश” इति । *तथा* "शुभानि करणान्याहुर्दीक्षायां चविशेषतः । शकुन्यादीनि विष्टिञ्च विशेषेण विवर्जयेत्” इति ।*संहितायां* "पञ्चाङ्गशुद्धिदिवसे स्वोदये तिथिवारयोः । गुरुशुक्रोदये शुद्धलग्ने द्वादशशोधिते ॥ प्रवृद्धेबलसंयुक्ते शुक्रे देवगुरौ तथा ॥ शुभे विधुसमायोगे शुभवर्गे शुभोदये ॥ इत्यादौ सर्वमन्त्राणां संग्रहः सर्वसौख्यकृत्” इति । तथा च *ज्योतिः शास्त्रे* । नीचस्थे वक्रसंस्थेऽप्यतिचरणगते बालवृद्धेऽस्तगे वा संन्यासो देवयात्रा व्रतनियमविधिः कर्णवेधश्च दीक्षा॥ मौञ्जीबन्धोऽङ्गनानां परिणयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा वर्ज्याः सद्भिः प्रयत्नात्त्रिदशपतिगुरौ सिंहराशिस्थिते च” इति । *तथा*—"चरः सर्वे विवर्ज्यः स्यात् स्थिरराशिषु सौख्यदाः ॥ त्रिषडायगताः पापाः शुभाः केन्द्रत्रिकोणगाः ॥ दीक्षायां तु शुभाः सर्वे रन्ध्रस्थाः सर्वनाशकाः” इति । आय एकादशस्थानं केन्द्रेत्यनेत प्रथमचतुर्थसप्तमदशमस्थानानि ॥ त्रिकोणेति—पञ्चमनवमस्थानानि, रन्ध्रमष्टमस्थानम् । *तथा*—शिष्यत्रिजन्मदिवसे सङ्क्रान्तिविषुवेऽयने । अन्येषु पुण्ययोगेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ शिष्यानुकूले काले वा देहशुद्धिः शुभावहे”ति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* "एतन्नक्षत्रतिथ्यादौ करणे योगवासरे ॥ मन्त्रोपदेशो गुरुणा साधनं च शुभावहमि”ति ॥ *क्रियाकाण्डशेखरेऽपि*—तिथ्यादि सर्वमुक्त्वा "इत्यादि निपुणं वीक्ष्य दीक्षां कुर्वीत देशिकः । मौमुक्षवीं प्रत्ययं न कालादिनियमः स्मृत” इति ॥ *रत्नावल्यां च* "निन्द्यानि यानि सर्वाणि प्रशस्तानि विमुक्तये”—इति ॥ एतच्च वक्ष्यमाणाग्निचक्रमवलोक्य दिनं कर्त्तव्यमिति ॥ *अपवादोऽपि*—"शशिदिनकरयोर्ग्रहणे जन्मनि शिष्यस्य मकरसंक्रान्तौ । करुणासमये च गुरोर्नक्षत्रादीष्यते न दीक्षायाम्” इति । *तथा*—"शिष्यजन्मदिवसेषु संक्रमे प्रग्रहे शशिदिनेशयो रपि ॥ पुण्ययोग्ययुजि वा शुभे नृणां मन्त्रसद्भिरभिधीयते परा” इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे आषाढ्यां दमनोत्सवे॥दीक्षा कार्या तु कालेषु पवित्रारोपकर्मणि”—इति *कालोत्तरे च*—दीक्षायामभिषेके च तथा मन्त्रपरिग्रहे ॥ व्रतग्रहणमोक्षे च द्रव्यारम्भणकर्मणि ॥ कार्त्तिक्यां चैव वैशाख्यां स्वर्भानोरपि दर्शने । चन्द्रसूर्योपरागे च षडशीति मुखेषु च ॥ ग्रहनक्षत्रयोगेषु विषुवेपूतसवेषु च ॥ अयनेषु च सर्वेषु योगः सर्वार्थसिद्धिदः” इति । *रुद्रयामलेऽपि* । "सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तन्तु-दामनपर्वणोः । मन्त्रदीक्षां प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन्न शोधयेत्”—इति ॥ अगस्तिसंहितायाम्—"सूर्यग्रहणकाले तु नान्यदन्वेषितं भवेत् ॥ सूर्यग्रहणकालेन समोऽन्यो नास्ति कश्चन ॥ तत्र यद्यत्कृतं सर्वमनन्तफलदम्भवेत् ॥ न मासतिथिवारादिशोधनं सूर्यपर्वणि ॥ ददातीष्टं गृहीतं यत्तस्मिन् काले गुरोर्नृषु । सिद्धिर्भवति मन्त्रस्य विनायासेन वेगतः ॥ कर्त्तव्यं सर्वयत्नेन मन्त्रसिद्धिमभीप्सुभि”—रिति । *तथान्यत्रापि*—"पुण्यतीर्थे कुरुक्षेत्रे देवीपीठचतुष्टये । प्रयागे श्रीगिरौ काश्यां कालाकालं न शोधयेत्”इति । *तत्त्वसागरसंहितायाम्*—"तिथिं विनापि दीक्षायां विशिष्टावसरं शृणु । दुर्लभे सद्गुरूणां तु सक्तत्सङ्गउपस्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा सदीक्षावसरो महान् ॥ ग्रामे वा यदिवाऽरण्ये क्षेत्रे वा दिवसे निशि । आगच्छति गुरुर्दैवाद्यदा दीक्षा तदा भवेदि”ति । *तथा* । "यदैवेच्छा तद् दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः । न तिथिर्नव्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया ॥ दीक्षायाः कारणं किं तु स्वेच्छावासे तु सद्गुरौ” इति ॥ १ ॥

वास्तुयागोत्पत्तिमाह *राक्षसमिति* । *हत्वेति* तदुक्तम्—"कश्यपस्य गृहिणी तु

स्थिताश्चिपञ्चाशद्देवास्तेभ्यः पूर्वं बलिं हरेत् ॥ २ ॥
बलिमण्डलमेतेषां यथावदभिधीयते ॥
पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेदुक्तमानतः ॥ ३ ॥
तन्मध्यं किञ्चिदालम्ब्य मत्स्यौ द्वौ परितो लिखेत् ॥

सिंहिका राहुनास्तुतनयावजीजनत् । पूर्वजो हरिनिकृत्तकन्धरो दैवतैरवरजो निपातित" इति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि*—"पूर्वमासीन्महानुग्रः सर्वभूतभयङ्करः । यो देवैर्निहतो भूमौ स वास्तुपुरुषः स्मृतः ॥ यावद्भूमिः स्थिरा लोके तावद्वास्त्वसुरः स्थितः। संहारे तु लयं याति देवैः सर्वग्रहादिभिः ॥ विस्तारोऽस्य समन्ताच्च शतकोटिस्तु योजनः । संस्थितोऽसौ धरां व्याप्य प्रोत्तानः कृष्णवर्णकः ॥ जानू कूर्परकौ वास्तोर्वह्निवायुप्रकोष्ठगौ । पितृपादपुटश्चाय-मीशमूर्द्धा हृदञ्जलिः ॥ ऊर्ध्वकेशः सुपीनश्च वर्त्तुलाक्षोऽसुराकृतिरि"ति । *अन्यत्राधोमुखतोक्ता*—"वास्त्वीशनामाह्यसुरोऽतिकायो देवैः पुरा दत्तवरोऽभिपूज्यः । शेते स भूम्यां प्रविसार्य पादौ हस्तौ तथाऽधोवदनः सदैव ॥ ईशानेऽस्य शिरो निवेशितमभूद्वास्तोष्पतेर्मारुते वह्नौ चापि करद्वयं पदयुगं नक्तञ्चराशास्थितम्" इति । *सोमशम्भुना तु*—उत्तानस्थोक्ता—"आकुञ्चितकरं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम् । स्मरेत्पूजासु कुड्यादिनिवेशे त्वधराननम् ॥ जानुनी कूर्परासक्ते दिशि वातहुताशयोः । पैत्र्यां पादपुटौ रौद्र्यां शिरोऽस्य हृदयेऽञ्जलि-रि"ति । *स्थिता इति* । पुनरुत्थानशङ्कया । तदुक्तं—*महाकपिलपञ्चरात्रे*—"सर्वान् देवांस्तु कार्येषु पूजयेद्वास्तुसंस्थितान् । तेनासौ वर्त्तते नो चेदुत्तिष्ठेन्माधवाज्ञया" इति । *तेभ्यः पूर्वं बलिं हरेदिति* । तदुक्तम् । "ततश्च तेषां ये पूजा विमुखास्तैः कृतानि तु । सुकृतानिसमादद्युर्दुष्कृतानि च कुर्वते ॥ ततस्तेषामर्चनं तु प्रत्यब्दं कुर्वतां सताम् । शुभान्येवाशु जायन्ते नैवाशुभकथापिच" इति । *मयेनाप्युक्तम्* "गृहादिकरणे यत्र नार्चितो वास्तुदैवतः । तत्र शून्यं भवेत् सर्वं रक्षोविघ्नादिभिर्हतम् । तस्माद्वास्त्वर्चनं कार्यं सम्यक्संपदमीप्सुभिरि"ति । *तथा च* "शुभकर्मणि दीक्षायां मण्डपकरणे गृहादिविधिषु त्रा(१) । विहितो वास्तुबलिः स्याद्रक्षोविघ्नोपशान्तिसम्पद्भ्यः" इति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* "भूमेः परिग्रहे पूर्वं शिलानां स्थापने तथा । जलाधारगृहार्थे च यजेद्वास्तुं विशेषतः ॥ अपरेष्वपिकार्येषु यागहोमादिकेषु च । वास्तुमण्डलकं कुर्यात सूत्रयित्वा समं गुरुः ॥ सुसमं सुखदं वास्तु विषमं न सुखावहम् । ब्रह्माद्यदितिपर्यन्ताः पञ्चाशत्त्रयसंयुताः ॥ सर्वेषां किल वास्तूनां नायकाः परिकीर्त्तिताः । असंगृह्य तु तान् सर्वान् प्रासादादीन्न कारयेत् ॥ अनिष्पत्तिर्विनाशः स्यादुभयोर्द्धर्मधर्मिणोरि"ति ॥ २ ॥

यथावत साकल्येन । मण्डलार्थं चतुःषष्टिकोष्ठोत्पादनमाह *पूर्वेति* *विन्यसेदिति* । असगतिदीप्त्यादानेष्वित्यसौ भौवादिकस्य प्रयोगः । *उक्तमानतः* । उक्त वास्तु शास्त्रे यन्मानं तेन मानेनेत्यर्थः । क्वचिद्धस्तमानत इति पाठः । *महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः* "गृहप्रासादकूपानां मण्डपस्य जलस्यच । वास्तुमण्डलकं कार्यमष्टहस्तं तु नाऽपरमि"ति ॥३॥

तन्मध्यमिति । तस्य मध्यं किंचिदालम्ब्य मध्यात् किञ्चिदधिकमालम्ब्येत्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां "सूत्राग्रादिति" शेषः । एवं *परितः* उभयतः उत्तरदक्षिणयोः "प्राचीसूत्रस्ये"ति शेषः । *मत्स्यौ (२) द्वौलिखेत्* चिह्नयेत् संपादयेत् । तत्र प्रकारः । प्राचीसूत्रप्रोगग्रे सूत्रादि

---

(१) त्रा मनुजन । रक्ष इत्यादि-तादर्थ्येचतुर्थी ॥
(२) "बिडमात्रं मत्स्यः रेखाद्वयसम्पातोमकर" इति शुल्वसूत्रीयसङ्केतः ॥ अत्र मूलं

तयोर्मध्ये स्थितं सूत्रं विन्यसेद्दक्षिणोत्तरम् ॥ ४ ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथाऽग्राभ्यां कोणेषु मकारल्लिखेत् ॥
मत्स्यमध्ये स्थिताग्राणि तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥ ५ ॥
चतुरस्रं भवेत्तत्र चतुष्कोष्ठसमन्वितम् ॥
तत्पुनर्विभजेन्मन्त्री चतुः, षष्टिपदं यथा ॥ ६ ॥
ईशानाद्राक्षसं यावद्यावदग्नेः प्रभञ्जनः ॥
एवं सूत्रद्वयं दद्यात्कर्णसूत्रं समाहितः ॥ ७ ॥

विधाय मध्याधिकचिह्नात् सूत्राग्रं भ्रामयेत्। एवमपराग्रादपि तत एको मत्स्यः। एवमपरत्रापीति द्वितीयो मत्स्यः। तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "सोम सूत्रप्रसिध्यर्थं सूत्राग्रभ्रमणं ततः। प्रागङ्के प्रत्यगङ्के च हस्तं दत्त्वा समाचरेत्॥ उदग्दक्षिणगो मत्स्यो रेखायां जायते क्रमात्। शफरस्य मुखे पुच्छे मध्यचिह्ने प्रसारितम्॥ समन्तात् सोमसूत्रं स्यात्" इति ॥ ४ ॥

द्वाभ्यामिति*। तत्र द्वाभ्यामग्राभ्यामेकैको मत्स्यः *तथा* पूर्ववत्। तद्यथा। प्राचीसूत्रार्द्धमितेन प्राचीसूत्राग्रस्थितेन सूत्रेण ईशे आग्नेये चार्द्धचन्द्रं कुर्यात्। तत स्तेनैव सूत्रेण उत्तरसूत्राग्रस्थितेन ईशे वायव्ये चार्द्धचन्द्रं कुर्यात्। एवमीशे मत्स्यउत्पन्नः। *तथा* पूर्ववत् तत्सूत्रेण पश्चिमार्द्धसूथितेन वायव्ये नैर्ऋते चार्द्धचन्द्रं कुर्यात्। एवं वायव्येमत्स्य उत्पन्नः। तत्सूत्रेण दक्षिणाग्रसूथितेन नैर्ऋत्ये आग्नेये च अर्द्धचन्द्रं कुर्यात्। तत उभयत्रापि मत्स्यद्वयं जायते ॥ तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "क्षेत्रार्द्धमानसूत्रेण दिक्षु चिह्नं समालिखेत्। दिक्षु चिह्नं समाश्रित्य कोणेष्वङ्कान्समालिखेत्॥ क्षेत्रार्द्धमानसूत्रेण प्रतिलोमानुलोमतः" इति ॥ एवं मत्स्यचतुष्के जाते तन्मध्यमाग्रं सूत्रचतुष्कंदद्यात् इत्याह *मत्स्येत्यादि ॥ ५ ॥

चतुरस्रमिति। वास्तुशरीरस्य चतुरस्रत्वात्। *तदुक्तम्*। "चतुरस्राकृतिः कश्चिदसुरः सर्वनाशकः" इति। *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* "देवैः स वास्तुपुरुषः स्थापित श्चतुरस्रकः" इति। *आचार्या अपि* "चतुरस्रसंश्रितिरसौ" इति। *प्रयोगसारेऽपि* "ज्ञेयः स वास्तुपुरुषः चतुरस्रसंस्थितः" इति। *चतुष्कोष्ठसमन्वितमिति* चतुरस्रमध्ये अथ वा कोणचतुष्के वहिः कोष्ठचतुष्कमपरं गुरु गणेश दुर्गा क्षेत्रेश पूजनार्थमुक्तम्। *तदिति*। यथा चतुष्षष्टिपदं भवेत्तथा तद्विभजेदित्यन्वयः ॥ ६ ॥

प्रभञ्जनो वायुस्तद्दैवत्यकोणस्तच्छब्दवाच्यस्तं यावत्। एवं *कर्णसूत्रं* कर्णसूत्रसंज्ञकं सूत्रद्वयं दद्यात्। शिल्पशास्त्रे कोणसूत्रस्य कर्ण(र्णा)सूत्रमिति संज्ञा। *समाहित* इति। काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते। तत्र समाहितः सावधानो मन्त्री सम्प्रदायेन मन्त्रशास्त्राभिज्ञः पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेदित्यादि समस्तु क्रियासु कर्तृत्वेनान्वेति अन्ते उपात्तत्वात्॥ तत्र चतुष्षष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारो यथा—चतुर्षु कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्टयमन्यद्दद्यात्तन्मध्योत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते द्वे सूत्रे दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत्। एवं षोडशकोष्ठानि सम्पद्यन्ते। ततश्चतुर्षु कोणकोष्ठेषु पुनः कर्णसूत्रचतुष्टयं दद्यात्। तदुत्पन्नमत्स्येषु पूर्वापरायते द्वे दक्षिणोत्तरायते च द्वे सूत्रे पातयेत्। एवं च कृते मध्यकोष्ठद्वये मत्स्या उत्पन्नाः। तेषु मत्स्येषु द्वे सूत्रे प्रागपरायते द्वे च दक्षिणोत्तरायते दद्यात्। एवं चतुष्षष्टिकोष्ठानि सम्पद्यन्ते। तत्र ग्रन्थान्तरोक्तकर्णसूत्रद्वयातिरिक्तकर्णसूत्राणि मार्जयेत्। *तत्रेशानशिवोक्तोविशेषः* "पूज्याश्चतुष्षष्टिपदेषु विप्रैरेकोत्तराशीतिपदे नृपाद्यैः" रिति। *हयशीर्षपञ्चरात्रेतु* "एकाशीतिपदं

"तन्मध्येकिञ्चिदालभ्य कोणेषु मकराल्लिखेत्" इत्यपि पाठः क्वचित्। क्वचित्तच परिचिह्नयेदिति। अत्र परीत्यस्य परितइत्यर्थः ॥

ब्रह्माणं पूजयेदादौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये ॥
दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेदार्यमनन्तरम् ॥ ८ ॥
विवस्वन्तन्ततो मित्रं महीधरमतः परम् ॥
कोणार्द्धकोष्ठद्वन्द्वेषु वह्न्यादिपरितः पुनः ॥ ९ ॥

वास्तु गृहकर्मणि शस्यते । चतुष्षष्टिपदं वास्तु प्रासादेषु प्रशस्यते ॥" इति । *सोमशम्भावपि* "कुर्यात कोष्ठं चतुष्षष्टि प्रासादे वास्तुमण्डलम् । गृहेऽपि वर्त्तयेद्वास्तु कित्वेकाशीतिकोष्ठकैरि"ति । *महाकपिलपञ्चरात्रे* "प्रासादार्थं चतुष्षष्टि रेकाशीतिगृहे तथा" इति । *तथाऽन्यत्रापि* "एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुं चैव गृहादिषु । चतुष्षष्टिपदो वास्तुः प्रासादे ब्रह्मणा स्मृत" इत्युक्त्वा "मण्डपान् प्रवरान्वक्ष्ये प्रासादस्याऽनुरूपत" इत्युक्तं तेनातिदेशिकं मण्डप इदं वास्तुमण्डलम् ॥ ७ ॥

ब्रह्माणमिति । समाहित आदौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये ब्रह्माणं पूजयेदिति सम्बन्धः । *कोष्ठचतुष्टये* एकाकारेणमार्जिते इत्यर्थः । तत्र पद्मं विलिखेत । तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे* "पञ्चविंशत्पदे मध्ये ब्रह्माणं त्वर्चयेत्कज" इति । *कादिमतेऽपि* "सर्वमध्ये।यजेत्सम्यग्ब्रह्माणं कमलासनम् । हेमाभं च चतुर्वक्त्रं वेदाध्ययनशालिनमि"ति । *आदाविति* । सरस्वतीसाहित्यमुक्तम् । *समाहित* इत्येनेनैतदुक्तम्पूर्वं पीठमभ्यर्च्य पश्चात्तत्र ब्रह्मपूजेति । तत्र मण्डूकादिपरतत्त्वान्तं सम्पूज्य अणिमादिसर्वसिध्यन्ता तत्र पीठशक्तीः सम्पूज्य "ओंसर्वज्ञानक्रियाव्यक्तकमलासनाय योगपीठाय नम" इति पीठमन्त्रः । "ओंनमोब्रह्मणे" इति मूलमन्त्रः । प्रजापति ऋषिः । पङ्क्तिश्छन्दो ब्रह्मा देवता । अक्षरैरङ्गानि । अक्षस्त्रक्दण्डकमण्डलुधरोब्रह्मा ध्येयः । अणिमादीनां ध्यानमुक्तम् *कुलप्रकाशतन्त्रे* "सिन्धुरस्थाणिमा पूज्या पीतवर्णा चतुर्भुजा । वरवज्रधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥ १ ॥
महिमां महिषारूढां पूजयेत् कज्जलप्रभाम् । दण्डाभयधारां वामे दक्षे शक्त्यक्षमालिनीम् ॥२॥
नक्रस्था लघिमा श्यामा पूजनीया चतुर्भुजा । नागपाशधरा दक्षे तद्वामेऽभयवारिजे ॥ ३ ॥
कनकाद्रिनिभा पूज्या कूर्मस्था गरिमा तथा । गदावरधरा दक्षे वामेऽभयनिधानभृत् ॥ ४ ॥
पूज्या प्रेतगता नीलविद्युत्पुञ्जनिभेशिता । नरखड्गधरादक्षे वामे साभयकर्तृका ॥ ५ ॥
पूज्या या वशिता धूम्रा मृगस्था सा चतुर्भुजा । सारविन्दध्वजा दक्षे वामे वरसरोजिनी ॥६॥
छागलस्थातिरक्ताङ्गी स्यात्पूजायां प्रकामता । शक्त्यक्षमालिनी दक्षे वामे सवरकुण्डिका॥७॥
पूजनीया वृषारूढा प्राप्तिस्तुहिनसन्निभा । शक्तिशूलधरादक्षे वामे साऽभयवारिजा ॥ ८ ॥
सर्वसिद्धिः पद्मरागप्रभा पूज्या चतुर्भुजा । साक्षमालारविन्दा च बीजपूरसरोजिनी" ॥९॥इति।
दिगिति । दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेत् । "प्रादक्षिण्येने"तिशेषः।*कोष्ठचतुष्टये* इदमत्राप्यन्वेति एकाकारेण मार्जिते इत्यर्थः । तेन आर्यः पूर्वदिशि । विवस्वान् दक्षिणदिशि । मित्रः पश्चिमदिशि । महीधरः उत्तरदिशि पूज्यः । तदुक्तम् *आचार्यैः* "प्राग्याम्यवारुणोदक्दिक्चकोष्ठचतुः पदेषु समभियजेदि"ति ॥ ८ ॥

कोणेति । कोणे ब्रह्मपदस्य कोणभागे अर्द्धं (अधऊर्ध्वं) कोष्ठं (कर्णसूत्रेण भेदितत्वात्) यत्र तदर्द्धकोष्ठं तस्य द्वन्द्वानि तेषु । वह्न्यादि आग्नेयादि ऊर्ध्वे (उपरि)कोष्ठे सावित्रं, अधः कोष्ठे सवितारं यजेत् *परित इति* । चतुर्दिक्षु । तदुक्तं *सोमशम्भुना* "मध्ये नवपदो ब्रह्मा शेषास्तु पदिकाः स्मृताः । षट्पदास्तु मरीच्याद्या दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात् ॥ अष्टौ कोणाधिपास्तत्र कोणार्द्धेष्वष्टसु स्थिता" इति । अत्र यद्यपि उपर्यधोवेति पदं नास्ति तथापि महाकपिलपञ्चरात्रोक्तवास्तुशरीरस्थितिनिरूपणेनोपरिक्रमो लभ्यते । तद्यथा--"मस्तके संस्थितो रुद्रः कर्णयोस्तस्य संस्थितौ । पर्जन्यश्चादिति श्चैव मुखे चापः सुसंस्थिताः ॥ आपवत्सः

सावित्रं सवितारं च शक्रमिन्द्रजयं पुनः ॥
रुद्रं रुद्रजयं विद्वानापश्चाथापवत्सकम् ॥ १० ॥
तत्कर्णसूत्रोभयतः कोष्ठद्वन्द्वेषु देशिकः ॥
शर्वं गुहं चार्य्यमणं जम्भकं पिलिपिच्छकम् ॥ ११ ॥
चरकीं च विदारीं च पूतनामर्चयेत्क्रमात् ॥
अर्चयेद्दिक्षु पूर्वादिसार्द्धाद्यन्तपदेष्विमान् ॥ १२ ॥
अष्टावष्टौविभागेन देवान्देशिकसत्तमः ॥
क्रमादीशानपर्जन्यजयन्ताः शक्रभास्करौ ॥ १३ ॥
सत्यो वृषान्तरिक्षौ च दिशि प्राच्यामवस्थिताः ॥
अग्निः पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षकः ॥ १४ ॥
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगोदक्षिणदिग्गताः ॥
निर्ऋतिर्दौवारिकश्च सुग्रीववरुणौ ततः ॥ १५ ॥
पुष्पदन्तासुरौ शेषरोगौ प्रत्यग्दिशि स्थिताः ॥
वायुर्नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च ॥ १६ ॥

स्थितः कण्ठे जयन्तश्च दितिः पुनः । स्कन्धयोः पञ्चार्गलाद्या महेन्द्राद्या भुजद्वये ।। वक्षस्था रुद्रसावित्री दासस्तु सविता तथा । हस्तौ तु द्वद्वतौ तस्य ब्रह्मा नाभौ व्यवस्थितः ॥ पृथ्वी-धरो मरीचिश्च स्तनयोः कुक्षिगौ पुनः । विवस्वान् मित्रनामा च पादयोः पितरः स्थिताः ॥ पापाद्याश्चैवपूपाद्या सप्तसप्तोरुजङ्घके । इन्द्रो मेढ्रे स्थितस्तस्य जयोवृषणसंस्थित" इति । रुद्रः ईशानः, दासो रुद्रजयः । पृथ्वीधरो महीधरः, मरीचिरार्य्यः, पितरः निर्ऋतिः, पापोरोग, इन्द्रः शक्र, इति ज्ञेयः । *यदुक्तम्* ईशश्चेशानरुद्रोऽसौ तज्जयोरुद्रदासकः । मरीचिरार्य्यकः ख्यातः पिता स्याद्राक्षसाभिधः ॥ पापोरोग" इति । *अन्यत्रापि* "धातृवह्नी समाश्रित्य कृत्वा चाधः पदत्रयम् । सावित्रमर्चयेत्तत्र पदे रामसुसंज्ञके ॥ विधिसावित्रयोर्मध्ये सवितारं पदत्रये । आश्रित्य पितृधातारौ कृत्वा चाधः पदत्रयम् ॥ यजेदिन्द्रं महाभागं पदे लोकसुसंज्ञ-के । तथात्रेन्द्रजयः पूज्यो ब्रह्मशक्रसुमध्यगः॥ आश्रित्य वायुधातारौ कृत्वा चाधः पदत्रयम् । तत्र देवं यजेद् रुद्रं पदे भुवनसंज्ञके ॥ तथेशवेधसोर्मध्ये तज्जयं च पदत्रये ।। ऐशान्यामापकं कामं(१)पदत्रयसुसंस्थितम् ।। प्रदीपवेधसोर्मध्ये यजेद्वत्सं पदत्रये" इति। *सोमशम्भावपि* "सावित्रे रक्तपुष्पाणि वह्न्यधः कोणकोष्ठके । तदधः कोष्ठके दद्यात् सावित्रे च कुशोदकम् ॥ हरिद्रौदनमिन्द्राय रक्षोधःकोणकोष्ठके । इन्द्रजयाय मिष्ठान्नमिन्द्राधस्तान्निवेदयेत् ॥ रुद्राय घृतसिद्धान्नं वायुकोणाधरे पदे । तदधो रुद्रजयाय मांसमार्द्रं निवेदयेत् ।। आपाय शिवकोणा-धस्तद्वत्साय च तत्तले" इति ॥ अग्रे तत्कर्णसूत्रोभयत इति कर्णसूत्रस्य प्रयोजनवत्त्वात् अत्र कोणार्द्धकोष्ठेत्युक्तम् ॥९॥१०॥

तदिति । दिशत्युपदिशति शिष्येभ्यो मन्त्रानिति देशिको मान्त्रिकः सर्वत्र ॥ ११ ॥

क्रमादिति । वह्नयादिपरित इति क्रमोऽनुसन्धेयः *सार्द्धाद्यन्तेति* । अर्द्धं च ते आद्यन्तेच अर्द्धाद्यन्तेअर्द्धाद्यन्ताभ्यां सह वर्त्तमानानि यानि पदानि तेषु । इदं च कर्णसूत्रेणा-र्द्धीकृतकोणकोष्ठतोलभ्यते ॥१२॥१३॥१४॥१५॥१६॥

---

(१) कामपदेन सप्तमंस्थानम् ।

अर्गलाख्यो दित्यदिता कुवेरस्य दिशि स्थिताः ॥
उक्तानामपि देवानां पदान्यापूर्य पञ्चभिः ॥ १७ ॥

बलिविधानमाह *उक्तानामिति* पञ्चभिः रजोभिः सर्वतोभद्रमण्डले वक्ष्यमाणैः । तत्र कमलानि वक्ष्यमाणप्रकारेणैव पूरयेत् ॥ तत्र मध्यपद्मं श्वेतमन्यानि रक्तानि । तदुक्तं *दिव्यसारस्वते* "मध्येपदानां नवकं मार्जयित्वा प्रपूरयेत् ॥ सितेन रजसा भूयस्तद्दिक्षु चतसृष्वपि ॥ षट्कं समार्ज्य रजसा रक्तेन परिपूरयेत् । शिष्टानि च पदान्यत्र यथास्थानं प्रकल्पयेत् ॥ विचित्राणि ततो मध्ये ब्रह्माणं संप्रपूजयेदि"ति ॥ पदसीमारेखाः श्वेताः पदानि च विचित्राणि ॥ *वास्तुदेवानांध्यानं तन्त्रान्तरोक्तं लिख्यते* "उक्तानां सर्वदेवानां स्वरूपं च निगद्यते । अक्षमालांस्रुचंदक्षे वामेदण्डकमण्डलू ॥ दधानमष्टनयनं यजेन्मध्येऽम्बुजासनम् । सर्वे चतुर्भुजा देवा वास्तुदेहे व्यवस्थिताः ॥ कृताञ्जलिपुटाः सर्वे खड्गखेटकपाणयः । ब्रह्माणं संनिरीक्षन्ते तद्वक्त्राभिमुखाश्च ते ॥ स्वस्वस्थानेस्थिताश्चैव साधारणमुदाहृतम् । मरीचिः श्वेतवर्णः स्यात् विवस्वान्रक्तवर्णकः ॥ शातकुम्भसमोमित्रः कृष्णवर्णस्तु भूधरः । सविता नीलवर्णाभः सावित्रो धूम्रविग्रहः ॥ इन्द्रश्चारुणवर्णाभः शुक्लश्चेन्द्रजयस्तथा । रुद्रः प्रवालसदृशः पीतो रुद्रजयस्तथा ॥ आपो गोक्षीरधवल आपवत्सो जपाद्युतिः । ईशानः क्षीरधवलः पर्जन्योञ्जनसन्निभः ॥ जयन्तोञ्जनसंकाशोमाहेन्द्रश्चामलद्युतिः । आदित्यो रक्तवर्णः स्यात् सत्यकश्चित्रवर्णकः ॥ भृशो बन्धूकपुष्पाभोकुन्दाभश्चान्तरिक्षकः । उद्यद्दिनकराभोऽग्निः पूषा रक्ताब्जसन्निभः ॥ वितथश्चेन्द्रचापाभो विद्युद्वर्णोगृहक्षतः । यमश्चाञ्जनसंकाशो गन्धर्वः पद्मरागवत् ॥ भृङ्गराजस्तु भृङ्गाभो मृगोजीमूतसन्निभः । निर्ऋतिः पावकाभश्च पीतो दौवारिकः स्मृतः ॥ सुग्रीवो नीलकण्ठाभश्चन्द्राभः पुष्पदन्तकः । वरुणः स्फटिकाभाङ्गो भृङ्गाभश्चासुरोमतः ॥ शेषश्चोत्पलसंकाशः पापपक्ष्मेन्द्रनीलवत् । वायुः कृष्णाभवर्णः स्यान्नागः शङ्खेन्दुसन्निभः ॥ मुख्यो मौक्तिकसंकाशो भल्लाटः श्वेतपद्मवत् । सोमः स्फटिकसंकाशोऽर्गलो रक्तोत्पलद्युतिः ॥ दितिः कुन्देन्दुधवला कपिला चादितिः स्मृता । चरकी शङ्खसदृशी विदारी पावकद्युतिः ॥ पूतना हिमसंकाशा मेघाभा पिलपिच्छिका । खड्गं च पानपात्रं च छुरिकां कर्त्तरीं तथा ॥ दधाना भीमरूपस्ता राक्षस्यः परिकीर्तिताः । सितो रक्तश्च पीतश्च कृष्णः स्कन्दादिकाग्रहाः ॥ वज्रं शक्तिं च खड्गं च पाशं च विकृताननाः । दधाना भीषणाः प्रोक्ता ग्रहाः स्कन्दादिकाश्चते" इति ॥ अष्टादशरेखा नाडीत्वेन तत्तद्देवतात्वेन च ध्येयाः । *तदुक्तं* "लक्ष्मी यशोवती कान्ता सुप्रिया सुकला शिवा । सुभगा सुमुखी नन्दा नाडयः प्राचीमुखोद्गताः ॥ धन्या प्राणा विशाला च स्थिरा भद्रा जया निशा । विरजा विभवा चैता नाड्यः सौम्यमुखाः स्मृताः" इति ॥ *पायसाद्यैरिति* ॥ बहुवचनमाद्यर्थं तेन वक्ष्यमाणानि लाजादिद्रव्याणि संगृहीतानि ॥ तत्र प्रतिदेवतं बलिद्रव्यभेदा मन्त्राश्चोक्ताः—*महाकपिलपञ्चरात्रे* "पायसौदनलाजैश्च युक्तं धूपैः प्रसूनकैः । अक्षतातिलसंयुक्तं माषभक्तादिसण्डितम् ॥ गृहाणेमं बलिं ब्रह्मन्! वास्तुदोषं प्रणाशय ॥ गन्धादि शर्करापूपं पायसोपरिसंस्थितम् । आर्यकाख्य! गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय॥ चन्दनाद्यर्चितं नाथ!कर्पूरागरुमण्डितम् । विवस्वन्वै गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय॥ सगुडं पायसं नाथ ! पुष्पादिसुसमन्वितम् । गृहाणेमं बलिं हृष्टं मित्र! शान्तिं प्रयच्छमे ॥ माषोदनं समांसं च गन्धादिक्षीरसंयुतम् । गृहाणेमं महीभृत्त्वं सर्वदोषं प्रणाशय॥ एवमन्तम्बलिं दत्त्वा अन्येषां सर्वेषां यथाप्यर्चा आग्नेयादि तथापीशादिर्बलिं दद्यात् । वचनानुरोधात् । *वचनं यथा* "ईशादि दक्षिणावर्त्तो बलिः सामान्यभाषितः । सर्वेषां खलु वास्तूनां विशेषः पद्मनिर्णय" इति ॥ *अन्यत्र पूजापि ईशाद्ये चोक्ता* "ईशकोणादिषु सुरान् पूजयेच्च विधानतः" इति । *अन्यत्रापि* "ईशानादि चतुष्कोणसंस्थितान्पूजयेद्बुधः" इति ॥ "क्षीरं रक्तसमायुक्तं

रक्षोभिस्तेष्वथैतेभ्यः पायसान्नैर्बलिं हरेत् ॥
अयं वास्तुबलिः प्रोक्तः सर्वसम्पत्समृद्धिदः ॥ १८ ॥

पुष्पादं च सुशोभितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यमाप ! शान्तिं प्रयच्छ मे॥ दधीदंगुडसंमिश्रं गन्धादि च सुमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं वत्स ! विघ्नमत्र प्रणाशय ॥ पुष्पादि कुशपानीयं कर्पूरागरुवासितम् । सावित्र ! वै गृहाणेमं शान्तिमत्र प्रयच्छमे ॥ पिष्टकं सगुडं नाथ ! रक्तगन्धादिशोभितम् । गृहाणेमं बलिं सूर्य ! विघ्नमत्र प्रणाशय ॥ शीतमन्नं तथा पुष्पं कुङ्कुमादिसमन्वितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं शक्रदेव ! नमोऽस्तुते ॥ ओदनं घृतसंयुक्तं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यमिन्द्रजय ! नमोस्तुते ॥ पक्कापक्कमिदं मांसं वस्त्रपुष्पादिसंयुतम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं रुद्रदेव ! नमाम्यहम् ॥ हनूमांसं सघृतं पक्कं गन्धपुष्पादिसंयुतम् । गृहाणेमं बलिं रुद्रजय ! स्वस्ति प्रयच्छ मे।।रक्तपुष्पं समांसं वै रक्तवस्त्रादिसंयुतम् । विदारि ! वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं विनाशय ॥ पित्तं रक्तास्थिसंयुक्तं रक्तगन्धादिमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं पापे ! (१)रक्षोविघ्नं विनाशय ॥ सघृतं मांसभक्तं च वस्त्रगन्धाद्यलङ्कृतम् । बलिं गृहाण शर्वरे रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥ मांसपुष्पादिसंयुक्तं माषभक्तोपरिस्थितम् । गृहाणेमं बलिं स्कन्द ! रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥ श्वमांसं पिष्टकैर्युक्तं पक्कमांसोदकान्वितम् । अर्यमन्वैगृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥ रक्तमांसौदनं मत्स्यं गन्धधूपसमन्वितम् । जृम्भक ! त्वं गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रशामय ॥ छागकर्णान्वितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम् । पिलिपिच्छ ! गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥ घृतेन साधितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम् । चरकिन् ! वैगृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ॥ सघृतं चाक्षतान्नं च वस्त्रगन्धाद्यलङ्कृतम् । गृहाणेमं बलिं त्वीश ! वास्तुदोषापहारकम् ॥ उत्पलैः पायसैर्युक्तं वस्त्रादिकसमन्वितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं मेघराज ! नमोऽस्तुते ॥ पञ्चहस्तं सुपीतं च स्त्रजं भक्तादिमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं जिष्णुपुत्र ! नमोऽस्तुते ॥ ओदनं घृतसंपूर्णं पञ्चरत्नादिमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं देव ! देवराज ! नमोऽस्तुते ।। रक्तपुष्पयुतंभक्तं रक्तगन्धादिभिर्युतम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं भास्कर ! त्वं नमोऽस्तुते॥ वितानं धूम्रवर्णाभं गन्धादिकसुशोभितम् । रक्तयुक्तं गृहाणेमं बलिं सत्य ! नमोऽस्तुते ॥ इदं तु मांसभक्तान्नै वस्त्रगन्धादिपूजितम् । गृहाणेमं वृष!बलिं वास्तुदोषं प्रणाशय!॥इदन्तु शावलंमासं नैवेद्यादिसुसंयुतम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं व्योम ! शान्तिं प्रयच्छमे ॥ सुवर्णपिष्टकं चाप ! वस्त्रगन्धादिभिर्युतम् । घृतान्वितं गृहामेणं सप्तजिह्व ! नमोऽस्तुते॥क्षीरं लाजससायुक्तं रक्तपुष्पादिमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं पूषदेव ! नमोऽस्तुते ॥ दधिगन्धादिभिर्युक्तं पीतपुष्पसमन्वितम् । बलिं वितथ ! गृह्णेमं विघ्नमत्र प्रशामय॥ भक्तं मधुप्लुतं चैणं रक्तवस्त्रादिमण्डितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं यमदेव ! नमोस्तुते ॥ पक्कमांसौदनं नवनीतवस्त्रादिमण्डितम् । प्रीतिकरं गृहाणेमं गृहरक्ष ! नमोस्तुते ॥ नानागन्धसमायुक्तं रक्तपुष्पादिभियुंतम् । बलिं गृहाण गन्धर्वं ! सर्वदोषं प्रशामय ॥ इमां तु शाकुनीं जिह्वां माषभक्तोपरिस्थिताम् । गृहाणेमं बलिं भृङ्गराज ! शान्तिं प्रयच्छ मे ॥ एवं घृततिलोपेतं गन्धपुष्पादिसंयुतम् । गृहाणेदं बलिं ह्यं मृगदेव ! नमोऽस्तुते ॥ शर्कराखण्डसंयुक्तं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् । प्रीतो बलिं गृहाणेमं रक्षोराज ! नमोऽस्तुते॥ चन्दनागरुकाष्ठं च गन्धपुष्पादिभिर्युतम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं दौवारिक ! नमोऽस्तुते ॥ इदं तु पायसं नाथ ! गन्धपुष्पादिमण्डितम् । सुग्रीव ! वै गृहाणेमं बलिं शान्तिं प्रयच्छमे ॥ यवाग्राणि च गोदुग्धं भक्तोपरिसुरोपितम् । गृहाणेमं बलिं ह्यं जलराज ! नमोऽस्तुते ॥ माषयुक्तं कुशस्तम्बं घृतगन्धादिसंयुतम् । पुष्पदन्त ! गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणा-

---

(१) अत्र "गृहाणेमं पूतने ! त्वंरक्षोविघ्नं विनाशय" इति क्वचिदधिकः पाठः ॥

शय ॥ मधुना साधितं पिष्टं गन्धाद्यैरुपशोभितम् । बलिं गृहाणासुरेमं सर्वदोषं प्रणाशय ॥ घृतं चान्नसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम्। गृहाणेमं बलिं शेष ! सर्वशान्तिं प्रयच्छमे ।। यवजं तण्डुलं नाथ गन्धपुष्पादिशोभितम्। गृहाणेमं बलिं रोग ! सर्वदोषं प्रणाशय ॥ सघृतं मण्डकं चेदमन्नाद्यैरुपशोभितम्। गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगवाह ! नमोऽस्तुते ॥ इदं तु कृशरं चान्नं पुष्पगन्धादिमण्डितम्। पातालेश ! गृहाणेमं विघ्नमत्र प्रशाम्यतु ।। नारिकेलोदकं भक्तं पीतवस्त्रादिसंयुतम्। गृहाणेमं बलिं मुख्य ! वास्तुदोषं प्रणाशय ॥ पायसं मधुना मिश्रं नानापूजोपशोभितम्। गृहाणेमं बलिं सोम ! सर्वदोषं प्रणाशय ॥ ओदनं घृतसंमिश्रं गन्धपुष्पसमन्वितम्। गृहाणेमं बलिं हृद्यं भल्लाट ! त्वं नमोऽस्तुते॥माषान्नं तु घृताभ्यक्तं पुष्पगन्धादिमण्डितम्। गृहाणेमं बलिं हृद्यमर्गलाख्य ! नमोऽस्तुते ॥ क्षीरखण्डसमायुक्तं नानापूजोपशोभितम्। दैत्यमात ! गृहाणेम सर्वदोषं प्रणाशय ॥ पोलिकां मधुसंमिश्रां वस्त्रगन्धादिसंयुताम्। गृहाणेमं बलिं हृद्यं देवमातर्नमोऽस्तुते ॥ स्वर्गेपातालमर्त्त्ये च ये देवा वास्तुसम्भवाः। गृह्णन्त्वमुं बलिं हृद्यं तुष्टा यान्तु स्वमन्दिरम् ॥ मातरो भूतवेताला येचान्ये बलिकाङ्क्षिणः। विष्णोः पारिषदा ये चतेऽपि गृह्णन्त्विमं बलिम् ॥ पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलिं दत्त्वा प्रकामतः। अभावादुक्तमार्गस्य कुशपुष्पादिभिर्यजेत्" इति॥*सर्वसंपदिति*। अनेन दिशां बलिरप्युक्तः। *तदुक्तं प्रयोगसारे* "वास्तुशेषक्रियाभूतः सर्वरक्षाविभूतिकृत् । भूतप्रीतिप्रदश्चास्मिन् दिशां बलिरुदीर्यते ।। दिक्पालपरिषत् सर्वभूतानुद्दिश्य नामभिः। पूजाविसर्ज्जनान्तायत् स विज्ञेयो दिशां बलिः॥ दध्यम्बुरजनीपुष्पलाजसक्तुतिलान्धसा। द्रव्येण वितरेद्दिक्षु बलिं दिक्क्रमयोगतः॥ सुराणां तेजसां चैव प्रेतानां रक्षसामपि । तथा जलानां प्राणानां नक्षत्राणां च यत् पुनः ॥ विद्यानामधिपानां च तान्यथोक्त्वा बलिं हरेत्। सवाहनपदं प्रोक्त्वा परिवाराय शक्तये ॥ तत्पार्षदेभ्यश्च ततः सर्वेभ्य इति संयुतम्। भूतेभ्यश्च क्रमाद्भूयः प्रादक्षिण्यात् क्षिपेद् बलिम् ।। द्विपत्पिशाचवेतालरक्षोरक्षामयार्त्तिहा । दिशां बलिर्विशेषेण सर्वसम्पत्समृद्धिदः॥ वास्तौ गृहे प्रदोहे, भूतद्रोहे गृहप्रवेशे च। वितते च शान्तिहोमेदिशां बलिः सिद्धये प्रयोक्तव्य" इति ॥ *तत्र यथोपदेशं प्रयोगो लिख्यते*। अथ यजमानः आचार्यं वृणुयात्। तत्र आचार्योवक्ष्यमाणलक्षणां भूमिं परिगृह्य वक्ष्यमाणमार्गेण तच्छुद्धिं विधाय पञ्चब्रह्मभिः पञ्चगव्यैर्भूमिं सिञ्चेत्। तन्मध्ये कनकशलाकया रत्नेन वा तदभावे रजतफलपुष्पपल्लवधान्यानामन्यतमेन वा। "शान्ता यशोवती कान्ता विशाला प्राणवाहिनी । सती च सुमना नन्दा सुभद्रा नवमी मता" इति ॥ नव रेखाः प्रागपरायता दक्षिणोपक्रमा उदगपवर्गा विलिख्य हिरण्या सुव्रता लक्ष्मीर्विभूतिर्विमला प्रिया । जयाकला विशोका च नवमी संस्मृता बुधै" रिति नव रेखा दक्षिणोत्तरायताः पश्चिमोपक्रमाः पूर्वापवर्गा विलिख्य ततः शुक्लदोरकादिना ताः सम्यङ् निर्माय पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चरजोभिर्मण्डितं पूर्वोक्तकोणकोष्ठचतुष्टयोपेतं विचित्रं मण्डल रचयेत्। तत्पश्चिमदिशि हस्तमात्रं त्रिमेखलं कुण्डं स्थण्डिलं वा विदध्यात्। ततो बहिः कोणकोष्ठस्थान् गुरुगणेशदुर्गाक्षेत्रपालान् चतुष्पदे नाभिगं ब्रह्माणं तत्पूर्वदिशि चतुष्पदं वामस्तनगमार्यकम् इत्यादि अर्द्धपदगाम(दाङ्गअ)दिति कर्णगामित्यन्तं पूर्वोक्ततत्तत्पदतत्तदङ्गस्थितांस्त्रिपञ्चाशद्देवान्–पदार्थानुसमयेन "ब्रह्मन् इहागच्छ इहतिष्ठे"ति सर्वानावाह्य प्रणवादि नमोन्ते न चतुर्थ्यन्तस्वस्वनाममन्त्रेण पाद्यादिभिरुपचारैः प्रपूजयेत। ततोमण्डलादीशानकोणे अव्रणमकृष्णमूलंबहिर्दध्यक्षतविभूषितं चूताऽश्वत्थन्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षपल्लवसञ्छन्नमुखं वस्त्रयुगान्वितमन्तर्निःक्षिप्तदध्यक्षतपञ्चरत्नविविधफलं निर्मलजलपूर्णं दृढं कलशमक्षतोपरि स्थापयेत्। तत "इमं मे वरुण" इति वरुणगायत्र्या वरुणं कलशे न्यसेत्। "गङ्गाद्याः सरितः सर्वाःसमुद्राश्च सरांसि च। आयान्तु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः" इत्यनेनं तीर्थान्यावाह्य अश्वस्थानगजस्थानवल्मीकनदीसङ्गम ह्रदगोकुलरथ्यातः ससमृत्तिका आनीय कलशेनिः क्षिप्य "तंवरुणाव

नम" इति मन्त्रेण तत्र कलशे पञ्चोपचारैर्वरुणं पूजयेत् । ततो "मुरा(१) मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् । सठी चम्पक मुस्तं" चेति सर्वौषधीश्च प्रक्षिपेत् । ततः कुण्डादिसमीपमेत्य संस्काराद्यग्निमुखान्तं कर्म कृत्वा ब्रह्मादित्रिपञ्चाशद्देवेभ्यः अष्टोत्तरसहस्रमष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिमष्टौ वा प्रत्येकं यवैर्वा कृष्णतिलैर्वा उदुम्बरातिरिक्तक्षीरवृक्षीयपालाशखदिरापामार्गकुशदूर्वाणामन्यतमसमिद्भिर्वा आहुतीर्जुहुयात । केचित्तु । ब्रह्मणआहुतिशतमन्येषां दशदशाहुतय इत्याहुः । ततः "ओं वास्तोष्पतये नमः" अनेन वैदिकैर्वा तल्लिङ्गैः पञ्चमन्त्रैः पञ्च बिल्वफलानि बिल्वबीजानि वा जुहुयात् । तत उत्तरतन्त्रं समाप्य वौषडन्तेनाग्निमन्त्रेण वरुणमन्त्रेण वा पूर्णाहुतिं हुत्वा तन्त्रोक्तद्रव्यैस्तत्तन् मन्त्रैश्च त्रिपञ्चाशद्देवताभ्यो बलिं दत्त्वा दिशां बलिं च विधायाचार्यः प्रत्यङ्मुखो भूत्वा प्राङ्मुखं साध्यं शान्तिकलशोदकेन "सु-(२) रास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा" इत्यादिभिर्विशिष्टसहितोक्तैर्मन्त्रैर्वैदिकैश्च मङ्गलाभिषेकं कृत्वा सर्वौषधिजलैः स्नापयेत् । तत आचार्यः पुनर्ब्रह्मादिदेवान् पञ्चोपचारैः संपूज्य । ततो "यान्तुदेवगणाः सर्वे पूजामादाय पार्थिवीम् । इष्टकामप्रसिध्यर्थं पुनरागमनायचे"ति पठेत् ॥ ततः आचार्याय दक्षिणां दद्यात् । तत आचार्यो मण्डपस्य पश्चिमभागे स्थण्डिलं कृत्वा तस्मिन् साध्यं संस्थाप्य सुदर्शनेनाघोरेण वा तं सकलीकृत्य स्वयमपि तन्मूर्त्तिर्भूत्वा रक्तोष्णीषवस्त्रोत्तरीयमाल्यचन्दनादभाऽलङ्कृत्य साध्यस्य दक्षिणेभागे उदङ्मुखः स्थित्वा सौवर्णराजतताम्रादीनामन्यतमं पात्रमादाय तत्र तान् ब्रह्मादिदेवतानिवेदितपिण्डान् यथास्थानं निधाय तत्तद्देवताश्च वास्तुपुरुषेण सार्द्धं तत्रैव संस्थाप्य प्रत्येकं पिण्डेषु घृतदीपं निधाय रक्तपुष्पैरलङ्कृत्य साध्यं संप्रोक्ष्य तत्पात्रं कराभ्यामादाय "भूतानि यानीह वसन्ति तानि बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम् । अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तुक्षमन्तु तान्यत्र नमोऽस्तुतेभ्य' इति मन्त्रेण साध्यं नीराज्य अन्यस्मिन् पात्रे आढकपरिमितं रक्तोदकं भूतक्रूरं च निष्पाद्य तत्रापि नवदीपान्निधाय तेन नीराज्य खड्गपाणिः स्वयं खड्गहस्तैरनेकैः परिवृतः दीपिकाशतैः परिवृतश्च पञ्चविधवाद्यघोषस्वस्तिसूक्तसङ्घुष्टदिग्भागश्चत्वरं महावृक्षमूलं वा तडागनदीदेवालयानामन्यतमं देशं वागत्वा तत्र स्थण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्य प्राङ्मुखस्तत्तद्देवताः संस्थाप्य पिण्डानपि तत्र तत्र निधाय चतुर्दिक्षु भूतक्रूरेण पूर्वोक्तमन्त्रेण बलिदानं कृत्वा रक्तोदकं तत्र निःक्षिप्य प्रदक्षिणं परिक्रम्य प्रक्षालितपाणिपादनयनः पुनः पुनरपश्यन्नेव तत्सर्वं, परिवारानग्रतः प्रस्थाप्य स्वयं ध्याननिष्ठः सन् साध्यं समागत्य तस्य रक्षां कुर्यादिति मुख्यः प्रकारः । *यदाहुः* "वास्तूपशमनं कुर्यात् समिद्भिर्बलिकर्मणा । होमस्त्रिमेखले कार्यः कुण्डे हस्तप्रमा-

(१) एतेषाम्मिथिलादेशप्रसिद्धनामानि "भटोर जटामसी वच-कूढ-झूल-हरदि—दारुहरदि कचूर चम्पा—मोथा" इतिज्ञेयानि ॥

(२) सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । वासुदेवोजगन्नाथस्तथा सङ्कर्षणोविभुः ॥ प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विजयायते । आखण्डलोऽग्निर्भगवान्यमोवैनिर्ऋतिस्तथा ॥ वरुणः पवनश्चैव धनाध्यक्षस्तथाशिवः । ब्रह्मणा सहितः शेषोदिक्पालाः पान्तु ते सदा ॥ कीर्त्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिःश्रद्धाक्रियामतिः बुद्धिर्लज्जावपुः शान्तिस्तुष्टिः कान्तिश्चमातरः ॥ एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु देवपत्न्यः समागताः । आदित्यश्चन्द्रमाभौमो बुधजीवसितार्कजाः ॥ ग्रहास्त्वामभिषिञ्चन्तु राहुः केतुश्चतर्पिताः । देवदानवगन्धर्वायक्षराक्षसपन्नगाः ऋषयोमुनयोगावोदेवमातर एव च । देवपत्न्योद्रुमानागादैत्याश्चाप्सरसाङ्गणाः ॥ अस्त्राणिसर्वशास्त्राणि राजानो वाहनानिच । औषधानिचरत्नानि कालस्यावयवाश्चये ॥ सरितस्सागराः शैलास्तीर्थानि जलदा नदाः । एतेत्वामभिषिञ्चन्तु सर्वकामार्थसिद्धये" ॥ इति ॥

नक्षत्रराशिवाराणामनुकूले शुभेऽहनि ॥
ततो भूमितले शुद्धे तुषाङ्गारविवर्जिते ॥ १९ ॥

णके ॥ यवैः कृष्णतिलैस्तद्वत्समिद्भिः क्षीरवृक्षजैः । पालाशैः खादिरैर्वापामार्गोदुम्बरसम्भवैः॥ कुशदूर्वामयैर्वापि मधुसर्पिस्समन्वितैः । कार्यस्तु पञ्चभिर्बिल्वैर्बिल्वबीजैस्तथापिवा ।। होमान्ते भक्ष्यभोज्यैश्च वास्तुदेशे बलिं हरेत्॥ तत्तद्विशेषनैवेद्यमिदं दद्यात् क्रमेणत्वि"त्यादिना । अन्यत्रास्य प्रत्यब्दं कालविशेषे कर्त्तव्यतोक्ता *यदाहुः* "एवं सिंहगते भानौ पूर्णायां प्रतिवत्सरम्। स्वगेहे वास्तुपूजाया मण्डलेसङ्गतक्रमम ॥ एवं विदधतो गेहे नाकल्याणं कदाचन। अकालमरणं व्याधिभूतप्रेतादिकानि च ॥ न सर्पपीडा नान्योन्यकलहान्यशुभानि च । पुत्रमैत्रधनारोग्यपशुदासीसमृद्धिभाक् ॥ अरोगी विजयी ख्यातश्चिरञ्जीवति तद्गृहे । राजवेश्मसु सर्वत्र तथा च महिषी गृहे ॥ सचिवामात्यसेनानीभवनेषु पुरे तथा ॥ विदध्यात्प्रतिवर्षं तु प्रोक्तसिध्यै तु देशिकः ॥ नचेदुक्तान्यथारूपफलैः क्लेशोऽनिशं भवेत्" इति ॥१७॥१८ ॥

मण्डपमाह *नक्षत्रेति*। ज्योतिः शास्त्रसमुक्तप्रकारेण नक्षत्रवारराशीनां मध्ये साध्यानुकूले नक्षत्रे साध्यानुकूलराशौ अनुकूलवारे शुभेऽहनि ज्योतिः शास्त्रसमुक्तशुभतिथौ *ततो मण्डपं रचयेत्* इति सम्बन्धः। तथा च *राजमार्त्तण्डे "आदित्यद्वयरोहिणीमृगशिरोहस्तोश्रविष्ठोत्तरा पुष्याविष्णुमघानुराधपवनैः शुद्धैः सुतारान्वितैः। सौम्यानां दिवसेषु पापरहिते योगे विरिक्ते तिथौ विष्टित्यक्तदिने वदन्ति मुनयो वेश्मादि कार्यं शुभम्" इति । *भूमितले शुद्धे* इति । तत्र भूमिपरीक्षोक्ता *महाकपिलपञ्चरात्रे "तत्र भूमिं परीक्षेत वास्तुज्ञानविशारदः। स्फुटिता च सशल्या च वाल्मीका रोहिणी तथा ॥ दूरतः परिवर्ज्या भूः कर्तुरायुर्धनापहा । स्फुटिता मरणं कुर्यात् ऊषरा धननाशिनी। सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुतो भयम् ॥ ईशकोणप्लवा सा (प्रवाहा) च कर्त्तुः श्रीदा सुनिश्चितम्। पूर्वप्लवा वृद्धिकरी वरदा तूत्तरप्लवा ॥ विद्वेषं मरणं व्याधिं कुर्यादग्निप्लवा मही। धर्मराजप्लवा भूमिर्नित्यं मृत्युभयप्रदा॥ गृहक्षयकारी सा च भूमिर्या नैर्ऋतप्लवा ॥ धनहानिकरा पृथ्वी कीर्त्तिता वरुणप्लवा । वातप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेगकारिणी ॥ श्वेता तु ब्राह्मणी पृथ्वी रक्ता वै क्षत्रिया स्मृता । वैश्या पीता तु विज्ञया कृष्णा शूद्रा प्रकीर्त्तिता॥ ब्राह्मणी घृतगन्धा स्यात् क्षत्रिया रसगन्धभृत्। क्षीरगन्धा भवेद्वैश्या शूद्रा विट्गन्धिनी क्षितिः॥ मधुरा ब्राह्मणी भूमिः कषाया क्षत्रिया स्मृता । वैश्यातिक्ताऽथविज्ञेया शूद्रा स्यात्कटुका मही ॥ ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला । कुशकाशाकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला ॥ सिता पीता तथा रक्ता कृष्णवर्णसमन्विता । स्थिरोदका दृढा स्निग्धा भूमिः सर्वसुखान्विता ॥ शीतस्पर्शोष्णकाले च वह्निस्पर्शा हिमागमे । वर्षासु चोभयस्पर्शा सा शुभा परिकीर्त्तिता" इति ॥ *हयशीर्षपञ्चरात्रे* । "सुरभीणां रतिर्यत्र सवत्सानां वृषैः सह । सुन्दरीणां रतिर्यत्र पुरुषैः सह सत्तम ॥ कश्मीरचन्दनामोदकर्पूरागरुगन्धिनी। कमलोत्पलगन्धा च जातीचम्पकगन्धिनी ॥ पाटला मल्लिकागन्धा नागकेसरगन्धिनी। दधिक्षीराज्यगन्धा च मदिरासवगन्धिनी ॥ सुगन्धिश्रीहिङ्गन्धा च शुभगन्धयुता च या। सर्वेषामेव वर्णानां भूमिः साधारणी माता" इति॥ *तथा* "ज्ञात्वा भूमिं परीक्षेत पूर्वोदक्प्रवणां शुभाम्! असंकटां तथा च्छन्नां तृणैस्तोयपरिप्लुताम्॥ संपूर्णमाणे खाते तु तथाधिकमृदां शुभाम् । कुसुमप्रकरस्तद्वत् यस्यामम्लानिमृच्छति ॥ न निर्वाति तथा दीपस्तोयं शीघ्रं न जीर्यति । श्वेतारुणपीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते ॥ आज्यासृग्गन्धमद्यानां तुल्यगन्धा तु या भवेत्। मधुरा च कषाया च अम्ला च कटुका च या ॥ कुशैः शरैस्तथा काशैर्दूर्वाभिर्याचसंभृता" इति। *प्रयोगसारेऽपि* "वितस्तिमात्रविस्तारं निर्माय विवरं भुवि। निःक्षिपेत्तं मृदं तस्मिन् तासु शिष्टासु शोभनम्॥ समास्तु मध्यमं विद्यात् न्यूनास्वधम उच्यते ।

परीक्ष्यैवं प्रयत्नेन त्यक्त्वा भूमिं कनीयसीम्॥अङ्गारतुषकेशास्थिहीनं कृत्वाथ भूतलम्" इत्यादिना। *तुषेति* । तुषाः धान्यत्वचः । अङ्गारो निर्वापितमुल्मुकम् । आदिशब्दादस्थिकेशपाषाणभस्मादिशल्यं तद्विवर्जिते । अन्यथा दोषदर्शनात् । यदुक्तं *वाशिष्ठ्याम्* "खन्यमाने यदा कुण्डे पाषाणः प्राप्यते भुवि । तदापमृत्यवे चास्थिकेशाङ्गारैर्धनक्षयः ॥ भस्मनाग्निभयं प्रोक्तं तुषैः प्रोक्ता दरिद्रता" ॥ इति ॥ तत्र शल्यज्ञानमादियामलोक्ताऽहिबलचक्रात् ज्ञेयम् ॥ *तद्यथा* "अहिचक्रं प्रवक्ष्यामि यथा सर्वज्ञभाषितम् ॥ द्रव्यं शल्यं तथा शून्यं येन जानाति साधकः ॥ ऊर्ध्वं रेखाष्टकं लेख्यं तिर्यक्पञ्च तथैव च ॥ अहिचक्रे भवन्त्येवमष्टाविंशतिकोष्ठकाः ॥ तत्र पौष्णाश्विनीयाम्यकृत्तिकामघभार्यभम् ॥ उत्तराफाल्गुनीलेख्यं पङ्क्तौ तत्सप्तकं ध्रुवम् ॥ अहिर्बुध्नोऽजपाद्दक्षशतभं ब्रह्म सर्पभम् । पुष्यं हस्तं समालेख्यं द्वितीयां पङ्क्तिमास्थितम् ॥ अभिजिद्विष्णु धनिष्ठाः सौम्यं रुद्रं पुनर्वसु । चित्रभं च तृतीयायां पङ्क्त्यां धिष्ण्यस्य सप्तकम् ।। विश्वर्क्षं तोयभं मूलं ज्येष्ठा मैत्रविशाखभौ । स्वातिः पङ्क्त्यां चतुर्थ्यां तु कृत्वा चक्रं विलोकयेत् ॥ रेवत्यश्विनीभरणीकृत्तिकामघापूर्वोत्तराः प्रथमपङ्क्तौ, उत्तराभाद्रपदा पूर्वाभाद्रपदा शतभिषा रोहिणी आश्लेषा पुष्यहस्तौ द्वितीयपङ्क्तौ, अभिजिच्छ्रवणा धनिष्ठामृगआर्द्रापुनर्वसुचित्रास्तृतीयपङ्क्तौ । तत उत्तराषाढा, पूर्वाषाढामूलज्येष्ठाऽनुराधाविशाखास्वात्यश्चतुर्थपङ्क्तौ । "एवं प्रजायते चक्रे प्रस्तारः पन्नगाऽऽकृतिः । द्वारशाखा मघा याम्या द्वारस्था कृत्तिका मता ॥ अश्वीशपूर्वाषाढादि त्रिकं पञ्च चतुष्टयम् । रेवती पूर्वभाद्रेन्दोर्भानि शेषाणि भास्वतः ॥ उदयादिगतानाड्योभघ्नाः षष्ट्याप्तशेषके । दिनेन्दुभुक्त्युक्तोऽसौ भवेत्तत्कालचन्द्रमा ॥ चन्द्रवत्साधयेत्सूर्यं सूक्ष्मस्थं चेष्टकालिकम् । पश्चाद्विलोकयेत्तौ च स्वर्क्षक्षेथान्यभेस्थितौ ॥ चन्द्रऋक्षे यदा केन्दू तदा स्यान्निश्चितोनिधिः । भानुऋक्षेस्थितौ तौ चेत्तदा शल्यं नचान्यथा ॥ स्वस्वभे द्वितयं ज्ञेयं नास्ति किञ्चिद्विपर्यये । भुक्तराश्यंशमानेन भूमानं कांत्रिकैः करैः" इति । "चन्द्रस्थानेनिधिर्ज्ञेयः सूर्यस्थानेतुशल्यकम्" । इदं चक्रं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा शल्योद्धारं कुर्यादिति ॥ इदं च निवर्त्तनपरिमितभूमौ एकमेव कुर्यात् । *निवर्त्तनस्वरूपंच* "दण्डस्तु दशहस्तः स्यात्त्रिंशद्दण्डैर्निवर्त्तनमि"ति । तत्तन्मध्ये वारद्वयमन्यच्चक्रं लेखनीयम् । तत ऊर्ध्वं नेति संप्रदायविदः । अथवा *महाकपिलपञ्चरात्रोक्त *प्रकारेण शल्योद्धारः कर्त्तव्यः । तद्यथा "प्रासादारम्भकाले च गृहादौ च विशेषतः । शल्योद्धारस्तु कर्त्तव्यो यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥ प्रासादारम्भकाले च यदङ्गं स्पृशते पुमान् । वास्तु देहे हर्वतत्र शल्यं विद्याद्विचक्षणः ॥ कण्डूयति शिरः पुंसि शिरः शल्यं समुद्धरेत् । शल्यं तत्रास्थि विज्ञेयं खन्यमाने करत्रये ॥ अग्निदाहश्च रोगश्च धनहानिश्च जायते । यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः । बाहूकण्डूयमाने तु निर्दिशेल्लौहश्रृङ्खलम् । हस्तद्वयेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ॥ स्वामिनो मरणंविद्याद्विदेशे गमनन्तथा । यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेद्भद्रमात्मनः ॥ ऊरुकण्डूयमानेतु कांस्यशल्यं विनिर्दिशेत् । हस्तेनैकेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ॥ असती च भवेन्नार्या यशोहानिश्च जायते ॥ यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥ हस्तौ कण्डूयमाने तु कङ्कालं च विनिर्दिशेत् । त्रिहस्तेन तु सन्तिष्ठेत् खन्यमान्ये च नान्यथा ॥ अग्निदाहश्च रोगश्च सशल्ये मरणं भवेत् । यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेद्भद्रमात्मनः ॥ पृष्ठंकण्डूयमाने तु बाहुशल्यं विनिर्दिशेत् । हस्तेनैकेन सन्तिष्ठेत्तत्र कार्या विचारणा ॥ स्वामिनाशो भवेत्तत्र भार्या वा जायतेऽसती । पादौ कण्डूयमाने तु हस्तशल्यं विनिर्दिशेत् ॥ सार्द्धहस्तेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं गदितं तव ॥ गोनाशो राजदण्डश्च सस्ये हानिश्च जायते । यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥ कुक्षिं कण्डूयमाने तु पाषाणं तत्र निर्दिशेत् । हस्तद्वितयमानेन लक्षणं गदितं तव ॥ भुजङ्गस्तस्तत्रस्यात्तस्माच्छल्यं समुद्धरेत् । जानूकण्डूयमाने तभस्म तत्रविनिर्दिशेत् । हस्तद्वयेनसन्तिष्ठेल्लक्षणंगदितंतव । अभिचारोमनस्तापःक्लेशादुःख-

पुण्याहं वाचयित्वा तु मण्डपं रचयेच्छुभम् ॥

भयानि च ॥ करोत्येवंविधं कर्म तस्मात्तं वै समुद्धरेत् ॥ गोश्रृङ्गं पीतमण्डूकः शङ्खः शुक्तिश्च कच्छपः । शम्बूकश्च प्रशस्ताः स्युर्याश्चान्या रत्नजातयः ॥ अङ्गारं वै तुषं केशमस्थि शल्यं विचारयेत् । खन्यमाने जलं यावच्छल्यदोषो विनश्यति ॥ दूरनीचस्थितं वारि खनितुं नैव शक्यते । पञ्चहस्तं प्रखातव्यंशल्यदोषोपशान्तये ॥ शल्योद्धारं ततः कृत्वा पूरयेत् सुसमं यथे"ति । *हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि* "प्रासादे दोषदं शल्यं भवेद्यावज्जलान्तकम् । तस्मात्प्रासादिकी भूमिः शोध्या यावज्जलान्तिकम् । शिलान्तं कर्क्करान्तं वा यावद्वा शुद्धतां व्रजेत्" इति ॥ १९ ॥

पुण्याहं वाचयित्वेति ॥ पुण्याहवाचनं बह्वृचानां प्रसिद्धतरम् ॥ अथवा "ऽस्ययजमानस्य पुण्याहम्भवन्तोब्रुवन्तु । "एवं स्वस्ति भवन्तो०" एवम् "ऋद्धिं भवन्तो०" इति त्रिः पुण्याहवाचनम् । तदुक्तं *बौधायनेन* "पुण्याहं स्वस्तिऋद्धिमित्योंकारपूर्वन्त्रिस्त्रिरेकैकाः माशिषं वाचयित्वे"ति । तत्र च पूर्वदिग्ज्ञाननिश्चयपूर्वकमेव मण्डपादि कुर्यादन्यथा दोषदर्शनात् । *तदुक्तम्* "यदि कुर्याद्यथादृष्टं विपन्नो नरकं व्रजेत् । भानोर्गत्या दिशो ज्ञात्वा कुर्य्यात्कर्माणि देशिकः" इति । *अन्यत्रापि* "वास्तुवैषम्यतो यत्र सम्यङ्न ज्ञायते ककुप् । तत्र शङ्कुम्प्रतिष्ठाप्य जानीयाच्छुद्धदिक् स्थितिम्" इति । *तद्विज्ञानो पायस्तत्रैवोक्तः* । "तद्गत्यादिक्परिज्ञानं शृणु वक्षेय यथाविधि । सुसमे कु(भू)तले कृत्वा वृत्तंभ्रमणयन्त्रतः । तन्मध्यबिन्दौ शङ्कुन्तुस्थापयेद्द्वादशाङ्गुलम् ॥ अग्रच्छायान्वयवशाद्वृत्तेपूर्वापरद्वये । पूर्वाऽपराह्णयोः कृत्वा चिह्नन्तमभितस्तथा ॥ सममानपरिभ्रान्त्या कृत्वा वृत्तद्वयं पुनः । तयोः संश्लेषसंजातमध्यदक्षोत्तरस्थिते ॥ संधिद्वये च प्राक् प्रत्यक् सूत्रं मध्ये तु विन्यसेत् । सूत्रं दक्षोत्तरं तेषामग्रैः प्रागादि कल्पयेत्" ॥ इति ॥ *क्रियासारेऽपि* "कृत्वा भूमिं समां तत्र वृत्तं हस्तंमितं समम् । द्वादशाङ्गुलमानोच्चं शङ्कुं खादिरनिर्मितम् ॥ अलाभे यज्ञवाक्षं वा तत्र संस्थापयेत् सुधीः । तच्छाया संस्पृशेद्यत्र तन्मध्ये मध्यमं स्मृतम् ॥ तिर्यक् प्रसारयेत सूत्रं मध्ये याम्योत्तरे स्मृते । कोणाः स्युरन्ये चत्वारश्चतुः सूत्रप्रसारणात् ॥ एवमाशापरिज्ञानं समाख्यातं यथास्फुटम् । ज्ञात्वैवं मण्डपादीनि कुर्यात्सम्यक् विचक्षण" इति । तत्र *महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः* "विषुवे तु गते सूर्ये शङ्कुमानं समाचरेत । खादिरं विन्यसेच्छङ्कुं द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ॥ निश्चलीकृत्य हन्तव्यं गृहीत्वा लोहमुद्गरम् । अष्टधा च स्वयं हन्यात् प्रशस्तं क्रमतो लघु ॥ हन्यमान्ये यदा शङ्कौ हस्तात्पततिमुद्गरः । तदा ताडयितुः शोकोजायते दुस्तरो महान् ॥ मौञ्जकौशेयकार्पासं प्राणिवालजमेव वा । चतुर्यवपरीणाहं सूत्रं शङ्कौ तु वेष्टयेत् ॥ वेष्टयमानंयदा सूत्रं शङ्कुम्मुञ्चति तत्क्षणम् । पुत्रस्य मरणंविद्याच्छिन्ने वै स्वविनाशनम् । तत्रापि नारसिंहेन होमेनाशुभनाशनमि"ति । *मयेनाप्युक्तं* "शङ्कुः सारद्रुमैः प्रोक्तस्तस्याग्रं चित्रवृत्तकम् । सम्यक् कृत्वा दिनादौ तु स्थापयेत् समभूतले ॥ शङ्कुद्विगुणमानेन तन् मध्ये वर्त्तुलं लिखेत् । पूर्वापराह्णयोश्छाया यदा तन्मण्डलान्तगा ॥ तद्बिन्दुद्वयगं सूत्रं पूर्वापरद्विगिष्यते ॥ बिन्दुद्वयान्तरभ्रान्तशफरद्वयपुच्छगम् ॥ दक्षिणोत्तरगं सूत्रमेवं सूत्रद्वयं न्यसेत् । तद्प्राण्यपरान्तानि सूत्राणि च विनिःक्षिपेत् ॥ सूत्राणि स्थपतिः प्राज्ञः प्रागुत्तरमुखानि चे"ति॥ *हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि* भूमिं तोयसमां कृत्वा दर्पणोदरसन्निभाम् । द्वादशाङ्गुलमानेन तत्र वृत्तन्तुभ्रामयेत् ॥ मध्येतु निश्चलंशङ्कुंस्थाप्यछायान्निरीक्षयेत् । वृत्तरेखा तु या बाह्यशङ्कुच्छाया प्रकल्पिता । प्रवेशनिर्गमे तस्यां शङ्कुच्छायां निरूपयेत् ॥ शङ्कुच्छायाग्रचिह्नाभ्यां प्राक्प्रतीच्यौ प्रसाधयेत ॥ प्राक्प्रतीचीगते सूर्ये उदग्याम्यं तु साधयेत् ॥ विषुवे निर्म्मले व्यो-

पञ्चभिः सप्तभिर्हस्तै र्नवभिर्वामितान्तरम् ॥ २० ॥

स्मिन् शङ्कुना साधयेद्दिशम् । शरद्वसन्तयोरेवमादित्यात्साधयेद्दिशम् ॥ प्राचीं वा पुष्यवेधे-न चित्रास्वात्यन्तरेण वे"ति । *अन्यत्राऽपि* "यथैव पूर्वापरदिग्विभागविशेषविज्ञानमि-होपदिष्टम् । समासतस्तं विषयं विविच्य कार्याणि कर्माणि यथोपदेशम्" इति । *रात्रौतु प्राचीसाधनं यथा* "कृत्तिकाश्रवणः पुष्य श्चित्रास्वात्योर्यदन्तरम् । एतत्प्राच्या दिशो रूपं युगमात्रोदिते पुरः" इति ॥ *त्रिकाण्डमण्डनेऽपि "श्रवणस्योदये प्राची कृत्तिकायास्तथोदये । चित्रास्वात्यन्तरे प्राची न प्राची चन्द्रसूर्ययोः" इति । सूक्ष्मंपूर्वदिगानयनन्तुत्रैराशिकेन कर्त्त-व्यम् । *तद्यथा* । द्वितीयदिवसेऽपि तथैव शङ्कुंसंस्थाप्य पूर्वापराह्णयोश्चिह्ने कुर्यात् । तत्र पू-र्वापरदिवसद्वयचिह्नमध्यभुवं तिलादिना विभजेत् । ततस्त्रैराशिककल्पना ॥ षष्टिघटिका भिरेतदन्तरंचेल्लभ्यते तदा पूर्वदिनपूर्वापरचिह्नयोरन्तरालघटीभिःकियदिति त्रैराशिकम् । तत्र त्रैराशिकसूत्रम् । *यथा* "आद्यन्तयोस्त्रिराशावभिन्नजाती प्रमाणमिच्छा च । फलमन्य-जातिमध्ये तदन्त्यगुणमादिना विभजेदि"ति । अनेन प्रकारेण या आगतातिलादिकप्रमाणिका अन्तरभूस्तामुदगयने उत्तरतो दक्षिणायने दक्षिणतः प्रागङ्क एव वर्द्धयेत् । तत्र रेखां कुर्यात् । एषा सूक्ष्मा प्राचीति । *मण्डपं रचये*दित्यनेनोत्तममध्यमकनीयोभेदेन त्रिविधोऽपि मण्डप उद्दिष्टो भवति ॥ तत्र मण्डपत्रैविध्यं *मन्त्रमुक्तावल्याम्* । "अथ मण्डपनिर्माणं ब्रूमहे ब्रह्मणोदितम् । श्रेष्ठमध्यमहीनैस्तु मानैस्तच्च त्रिधा मतम्" इति ॥ शुभमित्यनेन "मानाधिकोथवा न्यून" इत्यादिक्रियासारोक्तदोषपरिहारः सूचितः । त्रिविधस्यापि मण्डपस्य प्रमाणमाह *पञ्चभिरिति* । तत्र यथाश्रुतव्याख्यानं तु पञ्चहस्तविस्तारायामवान्पञ्चविंशतिक्षेत्रफलः कनीयान् मण्डपः । मध्यमस्तु सप्तहस्तविस्तारायामवान् एकोनपञ्चाशद्धस्तक्षेत्रफलः । उत्त-मस्तु नवहस्तायामविस्तार एकाशीतिकरक्षेत्रफलः । तत्रोत्तममण्डपे तावद्विचार्यते । ग्रन्थकृदे-वाग्रे नवकुण्डीपक्षमस्मिन्नेवमण्डपे वक्ष्यति तेषु च कुण्डेषु वक्ष्यमाणप्रकारेण वेद्याः पादान्तरं त्यक्त्वा तिस्रः पञ्च वा मेखलाः कार्याः । तदुक्तं *पिङ्गलामते* "मेखलैकाऽथवा तिस्रो-भूतसंख्याऽथवा प्रिये" इति । *तन्त्रान्तरेऽपि* "मेखलाः पञ्च वा तिस्रोवैका वाथ सुरे-श्वरि" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "सर्वेषामेव कुण्डानामेका वा तिस्र एव वा । पञ्च वा मेखलास्ताः स्यु"रिति । *प्रतिष्ठासारसंग्रहेऽपि* "मेखलाः पञ्च वा कार्याः" इति । तत्र पञ्च-मेखला पक्षे कुण्डानामेव न समावेशः । त्रिमेखलापक्षस्तु ग्रन्थकारोक्तः । तत्पक्षे यथाकथंचित् कुण्डानामेव समावेशः । होमकर्त्रादीनां प्रचारस्थलमेव नास्ति अतिसङ्कीर्णत्वात् । किंच वैश्व-देवार्थं वक्ष्यमाणस्थलस्य "वेद्यां शयीते"ति वक्ष्यमाणशयनस्यापि समावेशो नास्ति । मध्य-माधमयोस्तु का कथा । तत्र पञ्चकुण्डीपक्षस्यापि समावेशायोगात् । ग्रन्थकारेण तत्रापि नवकुण्डीपक्ष उपन्यस्तः स अत्यन्तासङ्गत एव स्यात् । तस्मान्न यथाश्रुतं व्याख्यानम् । *केचित्तु* वक्ष्यमाणं वेद्याख्यं मध्यमन्तरशब्दार्थमाहुः । तन्मते पञ्चदशविस्तारायामः पञ्चविंशत्यधिकद्विशतकरक्षेत्रफलः कनीयान्मण्डपः । मध्यमस्तु एकविंशतिहस्तायाम-विस्तारः एकचत्वारिंशदधिकचतुःशतकरक्षेत्रफलः । उत्तमस्तु सप्तविंशतिहस्ताया-मविस्तारः एकोनत्रिंशदधिकसप्तशतकरक्षेत्रफलः । तदपि न संमतं संतां(यतो) ग्रन्थान्तरे एता-दृशमानस्यानुक्तत्वात् । *मन्त्रमुक्तावल्यादौ* अपरमपि मानम् "चतुर्विंशतिहस्तं वा हस्त-विंशतिकं तथे"ति । *अन्यत्राऽपि* । "विंशद्धस्तप्रमाणेन मण्डपं कूटमेवच" इति । विंशति-हस्तं चतुर्विंशतिहस्तमेवचोक्तम् । तेनास्य शारदीयपद्यस्यैवमर्थो व्याख्येयः । पञ्चभिः सप्तभिरिति समुच्चितम् । तेन द्वादशहस्तायामविस्तारः स चतुश्चत्वारिंशच्छतकरक्षेत्रफलः कनीयान् मण्डपः । ततः पञ्चभिर्नवभिरित्यन्वेति । तेन चतुर्दशहस्तायामविस्तारः चतुरून-द्विशतकरक्षेत्रफलः मध्यमो मण्डपः । ततश्चपञ्चभिर्नवभिरित्यन्वेति । तेन षोडशहस्तायाम-

षोडशस्तम्भसंयुक्तं चत्वारस्तेषु मध्यगाः ॥
अष्टहस्तसमुच्छ्रायाः संस्थाप्या द्वादशाऽभितः ॥ २१ ॥
पञ्चहस्तप्रमाणास्ते निश्छिद्रा ऋजवः शुभाः ॥

विस्तारः । षट्पञ्चाशदधिकद्विशतकरक्षेत्रफल उत्तमोमण्डप इति त्रिविधोऽपि मण्डप उक्तो भवति । तदुक्तम् । *प्रतिष्ठासारसङ्ग्रहे*—"स्वल्पो द्वादशहस्तोऽयं द्विद्विवृद्ध्या ततः क्रमात्" इति । एतेन चतुर्दशहस्तस्य मध्यमतोक्ता षोडशहस्तस्योत्तमता च । *सिद्धान्तशेखरेऽपि*—"मण्डपोऽर्ककरोऽपि वा । कर्तव्या मण्डपाश्चान्ये द्विद्विहस्तप्रवृद्धित" इति । *सोमशम्भुनापि*—"मण्डपोऽर्ककरोऽथवा । द्विहस्तोत्तरयावृद्ध्या शेषाःस्युर्मण्डपाः शुभाः" इति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* । "हस्तांश्च द्वादशारभ्य क्रमाद्वृद्धौ द्वौ प्रवर्ध्यं च" इति । *अन्यत्रापि*—"गृहस्येशानभागे तु मण्डपं कारयेद्बुधः । द्वादशैरष्टषड्ढस्तैः षोडशैर्वा समन्तत" इति । *क्रियासारेऽपि*—"अथ द्वादशविस्तारः कनिष्ठो मण्डपः स्मृतः" इति । *पञ्चरात्रेऽपि*—"तथा षोडशभिर्हस्तैर्मण्डपः स्यादिहोत्तमः" इति । *मन्त्रमुक्तावल्याम्*—"उत्तमं मागमित्याहुर्हस्तषोडशकं तथा" इति । अयं मण्डपश्चतुरस्रः कर्तव्यः । यदुक्तं परिशिष्टे—*कात्यायनेन* । "प्रमाणं चतुरस्रमादेशादन्यदि"ति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि*—"चतुरस्रं चतुर्द्वारमि"ति । समचतुरस्रता तु वास्तुमण्डलप्रोक्तविधानेन विधातव्या । अत्र विशेषः *सिद्धान्तशेखरे*—"स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्रायं मण्डपस्थलमीरितम्" इति । *महाकपिलपञ्चरात्रे*—"मण्डपं प्रकृत्योक्तम्—"उच्छ्रायो हस्तमानं स्यात् सुसमं च सुशोभनम्" इति । *अन्यत्राऽपि* । "क्ष्मास्त्रं मण्डपमुत्तमम्" इति ॥ नन्वत्र मण्डपत्रये कनीयसैव फलसिद्धेर्मध्योत्तमयोरननुष्ठानमेव स्यादिति चेन्न—"फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात्" इति न्यायेन फलतारतम्यकल्पनाददोषः । तथाह्यग्निहोत्रज्योतिष्टोमयोः स्वर्गः फलत्वेन श्रूयते तत्राद्येनैव तत्सिद्धौ द्वितीये महति कोऽपि न प्रवर्त्ततेत्याशङ्क्य फले तारतम्यकल्पनमाकरे परिहृतम् । "अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वादि"त्यनेन कल्पनाया अपि श्रुत्येकदेशत्वेनोक्तेः । किञ्च वार्त्तिककृता "स्थानप्रमाणादप्येतत्सिध्यति" इत्युक्तम् । "कर्मणामल्पमहतां फलानां च स्वर्गोचरे ॥ विभागस्थानसामान्यादविशेषेऽपि चोदित" इति । एतस्य व्याख्याव्यवस्था कर्मणां स्थानसामान्यादुदिता । यथा—"मध्ये स्वसमुदायस्य फलानामपि सा तथा । परिमाणस्य सामान्यादनुक्तेऽपि विशेषत" इति । यत्तु केनचिद् "दश रवि करायामावल्पोमतावथ मध्यमौ रवि मनुकरायामावि"ति द्वादशहस्तस्योभयरूपत्वमुक्तम् । तदसत् । स्तम्भादिप्रमाणसङ्करापातात् ॥ २० ॥

मण्डपे स्तम्भनिवेशनप्रकारमाह—*चत्वार इति* । तेषु स्तम्भेषु मध्ये चत्वारो मध्यगाः वेदिकोणेषु स्थाप्याः । तदुक्तम् *सिद्धान्तशेखरे*—"मध्ये स्तम्भचतुष्कंस्यात्तन्मध्ये वेदिका मता" इति । *अन्यत्रापि*—"वेदिकोणेषु विन्यस्येत्स्तम्भान् वेदस्वरूपकान् । आग्नेयादिक्रमेणैवे"ति । तेन वेदिबहिर्द्वादशस्तम्भस्थापनमपि आग्नेयादिक्रमेणेति ज्ञेयम् । *तदुक्तम्*—"स्तम्भोच्छ्राये शिलान्यासे सूत्रयोजनकीलके । खननाऽवटसंस्कारप्रारम्भो वह्निगोचर" इति । ते च अष्टहस्तसमुच्छ्रायाः स्तम्भोच्चत्वं वदता ग्रन्थकृता षोडशहस्तस्यैवोत्तमत्वमुक्तम् । तदुक्तं *यत्पञ्चरात्रे*—"मण्डपार्द्धोच्छ्रितान्वेदसंख्यान् चूडान्वितांस्तथा" इति । *अभित इति* । मध्यस्तम्भानभित इत्यर्थः । तदुक्तम् *क्रियासारे*—"भूमिं समस्थलीं कृत्वा परिच्छिद्य च सूत्रतः । स्तम्भान् समं च संस्थाप्ये"ति ॥ *पञ्चरात्रेऽपि*—"स्तम्भद्वादशकं पुनः । बाह्येप्युक्तप्रमाणेन तत्र तत्र विभागतः" । इति ॥ २१ ॥

कीदृशाः षोडशस्तम्भा *निश्छिद्राः*-छिद्ररहिताः । एतेन दृढत्वमुक्तम् । ऋजवः अवक्राः ।

तत्पञ्चमांऽशं संन्यस्ये-(न्निखने) न्मेदिन्यां तन्मधिक्रमः ॥ २२ ॥
नारिकेलदलैर्वंशैश्छादयेत्तत्समन्ततः ॥
द्वारेषु तोरणानि स्युः क्रमात् क्षीरमहीरुहाम् ॥ २३ ॥

क्वचिदपि नस्थूला नकृशाः । अतएव *शुभा* इत्यर्थः । एवं विधत्वं च तेषां सारवृक्षोत्थ-त्वं विना नसम्भाव्यत इति सारवृत्था इदमप्यर्थादुक्तम् । *यत्पञ्चरात्रे*—"सारदारुमयान् स्तम्भान् दृढान् कुर्यादृजून्समान्" इति । *क्रियासारे* तु विशेषः । "यज्ञियवृक्षोवेणुर्वा क्रमुकस्तम्भकर्मणि । अन्येविशुद्धवृक्षा वा भवेयुर्नान्यभूरुहाः ॥ गृहशल्यः स्वयं शुष्कः कुटि-लश्च पुरातनः । असौम्यभूमिजनितः सन्त्याज्यः स्तम्भकर्मणि" । इतिमध्यमाधमयोर्द्वादश-स्तम्भप्रमाणं त्रैराशिकेनानेयम् *तत्पञ्चमांशमिति* । स्तम्भोच्छ्रायं पञ्चधा विभज्य पञ्च-मांशं भुवि निखनेत् इत्यर्थः ॥ २२ ॥

तत्समन्तत इति । तस्य मण्डपस्य समन्ततः सर्वत्र द्वारवर्ज्जं *वंशैर्नारिकेलदलैश्छा-दयेत्* । नारिकेलदलाभावे कटैर्वेष्टयेत् । *यद्वास्तुशास्त्रे*—"कटैः सञ्छिन्नैस्तु सञ्छाद्या विजया-ख्यास्तु मण्डपा" इति । *हयशीर्षपञ्चरात्रे*—"मण्डपं मण्डयेदार्द्रैशाखाभिस्तु समन्तत" इति । *यत्तुक्रियासारे*—'भित्तिं च परितः कृत्वे'ति तत्स्थिरप्रतिमादिमण्डपेष्विति ज्ञेयं "निय-मोऽयं समाख्यातः स्थिरलिङ्गक्रियासु चे"ति तत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् । तोरणस्थापनमाह *द्वारेष्विति* ननु द्वाराणामेवानुक्तत्वात् कथं द्वारेष्वित्युक्तिः । सत्यम् । द्वारेष्वित्यनेनैव द्वा-राक्षेपः । तत्प्रमाणं तत्स्थानं चोक्तं *मन्त्रमुक्तावल्याम्* । "दिक्षु द्वाराणि चत्वारि विदध्या-त्पञ्चमांशत" इति । *क्रियासारेऽपि*—"दिक्षु द्वाराणि मध्यतः । तोरणानि च तेष्वेव द्वारेषु स्थापयेद्द्विधा इति । *पञ्चरात्रे प्रमाणमुक्तम्* । "कनीयसि स्याद्द्विकरं चतुरङ्गुलवृद्धितः । मध्यमोत्तमयोर्द्वारमि"ति । *न्यस्येदिति* निखनेत् । पञ्चमांशेनैव । *यद्वास्तुशास्त्रे* । "पञ्चमांशं न्यसेद्भूमौ सर्वसाधारणोविधिरि"ति । *सिद्धान्तशेखरे*—"तोरणस्तम्भमधिकृ-त्योक्तं "पञ्चमांशेन वा खातं सर्वेषां च शिवोदितमि"ति ॥ *क्रमादिति* । पूर्वदक्षिणपश्चिमो-त्तरदिशि *क्षीरमहीरुहामिति* । वटोदुम्बराश्वत्थप्लक्षाणाम् । "न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः क्षीरमहीरुह" इति परिभाषणात् । तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे*—"न्यग्रोधतोरणं पूर्वे याम्ये चौदुम्बरं मतम् । पश्चिमेऽश्वत्थसम्भूतमुत्तरेप्लक्षतोरणम् । पूर्वे वा प्लक्षसम्भूतं न्यग्रोधश्चोत्तरे मत" इति । *क्रियासारेऽपि*—"प्लक्षोदुम्बरबोधिस्तु वटाः पूर्वादितः क्रमात् । तोरणानि च चत्वारी"ति । *सोमशम्भुरपि*—"प्लक्षोदुम्बरकाश्वत्थवटजास्तोरणाः क्रमात् । पूर्वादितो विधातव्या यद्वाद्यन्तविपर्ययः ॥ अलाभादेकमेवैषां सर्वाशासु निवेदयेदि"ति । *मन्त्रमुक्ता-वल्यामपि*—अथा-"ग्निमीळे"ति मन्त्रेण विन्यसेत्पूर्वतोरणम् । "इषेत्वोर्जे"ति मन्त्रेण दक्षिणं तोरणं न्यसेत् । "अग्नआयाहि" मन्त्रेण पश्चिमस्य निवेशनम् । "शन्नोदेवी"ति मन्त्रेण दद्यादुत्तरतोरणमि"ति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* । "देवास्तोरणरूपेण संस्थिता यज्ञमण्डपे । विघ्नविध्वंसनार्थाय रक्षार्थं त्वध्वरस्य च ॥ न्यसेन्न्यग्रोधमैन्द्र्यां तु याम्यां चौदु-म्बरं तथा । वारुण्यां पिप्पलं चैव कौबेर्यां प्लक्षकं न्यसेत् ॥ सुशोभनं तं पूर्वस्यां ऋग्वेदादि-सुमन्त्रितम् । "इषेत्वे"ति च मन्त्रेण सुभद्राख्यं तु दक्षिणे ॥ सुकर्माख्यं तु वारुण्यां सामवेदादि-केन तु । "शन्नोदेवी"ति मन्त्रेण सुहोत्रं तूत्तरेन्यसेदि"ति ॥ यत्तु केनचिदश्वत्थोदुम्बरजटिवटैरि-त्येषां पूर्वादिनिवेशनमुक्तं तदसम्बद्धलिखितं नानावचनविरोधात् । इदं च तोरणस्तम्भनि-वेशनं मण्डपाद्बहिर्हस्तमानेनेति ज्ञेयम् *तदुक्तं*—"मण्डपद्वारबाह्ये च वेदिमानेन दिक्क्र-मात् । प्लक्षमौदुम्बराश्वत्थवटोत्थं तोरणं न्यसेत्" इति *वास्तुशास्त्रे* तु । "अश्वत्थोदुम्बरप्ल-क्षवटशाखाकृतानि तु । मण्डपस्य प्रतिदिशं द्वाराण्येतानि कारयेत्" इति । द्वारेषु क्रिमसाग-

स्तम्भोच्छ्रायाः स्मृतास्तेषां सप्तहस्तैः पृथक्पृथक् ॥
दशाङ्गुलप्रमाणेन तत्परीणाह ईरितः ॥ २४ ॥
तिर्यक्फलकमानं स्यात्स्तम्भानामर्धमानतः ॥
शूलानि कल्पयेन्मध्ये तोरणे हस्तमानतः ॥ २५ ॥

स्यात् तोरणेषु द्वारनिर्देशः ॥ इदं तु पश्चिमदक्षिणोत्तरपूर्वेषु । अपसव्येन वा पश्चिमद्वारादिति ज्ञेयम् । *अत्र विशेषः सिद्धान्तशेखरे* । "एकमेवासलाभे स्यात्तदभावे शमीद्रुमः । जम्बूख-दिरसाराश्च सालो वा तोरणे स्मृताः" इति । *क्रियासारे तु* "अवक्राः सत्वचः सार्द्रा दण्डाः स्युस्तोरणे शुभाः" इति ॥ २३ ॥

स्तम्भेति ॥ *सप्तहस्तैरिति* ॥ उत्तममण्डपे यतो ग्रन्थकृत्सर्वं मानमुत्तमस्यैवाह ॥ *पृथक्पृथगिति* । मध्यमाधमयोर्भिन्नं मानमित्यर्थः । तेन मध्यमे षड्हस्ताः । अधमे पञ्चह-स्ताः । तोरणस्तम्भमधिकृत्य *वास्तुशास्त्रे*–पञ्चहस्तप्रमाणास्ते विस्तारेण द्विहस्तकाः । षडङ्गुलानि वृद्धास्तु सप्तहस्तास्तथोत्तमे" इति । अत्र विस्तारेणेति तिर्यक्फलकमानम् । मध्य-स्यषड्हस्तता अनुक्तापि न्यायाद्गम्यते । *तदुक्तं कात्यायनेन*" औचित्यादर्थात्परिमाणमि" ति । *तेषां*तोरणस्तम्भानां *परीणाहो* विशालता । स च परिध्यानयनेन ज्ञातव्यः । तत्र परिध्यानयनं भास्कराचार्येणोक्तं "द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथ शैलैः स्थूलोऽथवा स्याद्व्यवहा-रयोग्यः" इति । व्यासः १० द्वाविंशतिघ्नः २२० शैलैर्हृतः ३ । लब्धमेतावान् परिधिर्यस्य काष्ठस्य तस्य दशाङ्गुलो विष्कम्भः ॥ २४ ॥

तिर्यगिति ॥ उभयस्तम्भमध्ये देहलीरूपेण उपरि यत्तिर्यक्फलकं तस्य मानं *स्तम्भानां* पञ्चहस्तमितानां तोरणस्तम्भाना॰मर्धमानतः* । तेन सार्द्धहस्तद्वयं प्रमाणमुक्तम् । स्त-म्भानामिति बहुवचनं द्वारबहुत्वात् तोरणस्तम्भानामपि बहुत्वमिति योज्यम् । अनेन कनिष्ठमण्डपे।पञ्चहस्ततोरणस्तम्भत्वमपि सूचितम् । इदं तिर्यक्फलकमानमुत्तमस्यैव । अनयोः षट्षडङ्गुलन्यूनता ज्ञेया । वास्तुशास्त्रे तथोक्तेः । *शूलानीति* बहुवचनन्तु संख्यापरं तोर-णहत्येकवचनं जातौ तेन प्रतितोरणमेकमेकं शूलं कार्यम् । तच्चहस्तप्रमाणम् । तत्राङ्गुलत्रयं निवेशः षड्भागः परिणाहः । एतच्च मण्डपत्रये समानम् । तत्रशूलस्वरूपम् । मध्यकीलस्ती-क्ष्णाग्रः ऋजुः तमभितो द्वौ तीक्ष्णाग्रौ वक्रौ मध्यकीलदेशगतवक्रभागाविति । *तदुक्तंक्रि-यासारे* "शूलं हस्तायतं तेषामि"ति । *पिङ्गलामतेऽपि* । "शूलेन चिह्निताः कार्या द्वार-शाखाः स्वमस्तके । ऋजु वै मध्यशृङ्गं स्यात् किंचिद्वक्रं तु (च) पक्षयोः ।। उभयं तत्समा-ख्यातं त्र्यङ्गुलं रोपयेत्तदे"ति । यदा तु तोरणे इत्येकवचनं विवक्षितम् तदा शूलानीति बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति । *हस्तमानतः* इति त्रयाणां मिलित्वा मान-म् । *तदुक्तंक्रियासारे* तोरणं घटयित्वैव मूर्ध्नि शूलत्रयं न्यसेत् । शूले नवाङ्गुलं दैर्घ्यं तुरी-यांसेन विस्तृतिः ॥ शेषाणां द्व्यङ्गुला वृद्धिः वेशश्चाङ्गुलवृद्धित" इति । तेन कनिष्ठे द्व्यङ्गुलः प्रवेशः ॥ *मन्त्रमुक्तावल्यामपि*–"अग्रयोर्मध्यभागे च पट्टिकायां त्रिशूलकान्" इति । एतानि तत्काष्ठमयान्येव शैवेएवकर्त्तव्यानि इति ज्ञेयम् ॥ वैष्णवे तु विशेषो *वास्तुशास्त्रे*-मस्तके द्वादशांशेन शङ्खचक्रगदाम्बुजम् । प्रागादिक्रमयोगेन न्यसेत्तेषां स्वदारुजमि"ति । एषां स्व-दारुजत्वोक्तेः शैवे एतत् स्थानीयानां शूलानां न्यायादेव स्वदारुजत्वं प्राप्तम् । तत्र द्वादशां-शस्तोरणस्तम्भानामेव पूर्ववाक्यशेषे "सप्तहस्तास्तथोत्तमा" इति तेषामेव प्रकृतत्वात् तेन चतुर्दशद्वादशाङ्गुलानि क्रमेणोत्तमादिषु शाखादीनां मानानि । विस्तारस्तु स्वतुर्यांशेनैव । यत्तु केनचित् । फलकद्वादशांशेन चतुरङ्गुलादिमानमुक्तम् । तदसत् । तस्याऽप्रकृतत्वात् । शूलमानस्य नवाङ्गुलोक्तेश्च । एषां निवेशनमपि पूर्ववत् ज्ञेयम् । ततः प्रतितोरणमेकैकः फ-

दिक्षु ध्वजान्निबध्नीयाल्लोकपालसमप्रभान् ॥
वितानदर्भमालाद्यैरलङ्कुर्वीत मण्डपम् ॥ २६ ॥
तत्त्रिभागमिते क्षेत्रेऽरत्निमात्रसमन्विताम् ॥

लशः स्थाप्यः । प्रतिद्वारपार्श्वयोर्द्वौ द्वौ प्रतिकोणं चैकैकः । *तदुक्तम्* "गन्धपुष्पाक्षतोपेतान् कुम्भांस्तेषु विनिःक्षिपेत् । ध्रुवं धरां वाक्पतिं च विघ्नेशं तेषु पूजयेत् ॥ मण्डपस्य तु कोणस्थकलशेषु क्रमादमी । अमृतो दुर्जयश्चैव सिद्धार्थो मङ्गलस्तथा । पूज्या द्वारस्थकुम्भेषु शक्राद्यास्तन्मनूत्तमैरि"ति । *अन्यत्रापि* "मण्डपे कलशौ द्वौद्वौ द्वारे द्वारे निवेशयेत् । गालितोदकसम्पूर्णावाम्रपल्लवशोभिताविति" ति ॥ २५ ॥

दिक्षु ध्वजानिति । ध्वजस्वरूपं *प्रतिष्ठासारसंग्रहे* । "पीतरक्तादिवर्णाश्च पञ्चहस्ता ध्वजाः स्मृताः । द्विपञ्चहस्तैर्दण्डैस्ते वंशजैः संयुता मता" इति । द्विपञ्चहस्तैर्दशहस्तैः । *अन्यत्रापि*—"पञ्चहस्ताध्वजाः कार्या वैपुल्येन द्विहस्तकाः । दण्डश्च दशहस्तः स्यात् अष्टदिक्षु च तान्न्यसेत्" इति ।*क्रियासारे तुविशेषः* । "ध्वजानां लक्षणं सम्यगुच्यते तु यथातथम् । मण्डपस्य बहिर्दण्डैर्दशहस्तायतैः सह ॥ पूर्वाद्यष्टहरित्स्वष्टौ ध्वजान्संस्थापयेत् क्रमात् । तेषां हस्तद्वयं व्यासो मध्यश्च करसंमितः ॥ व्यासार्द्धं शिखरं पुच्छं हस्तत्रितयमानकम् । मत्स्याभं शिखरं पुच्छशिखरं तु त्रिकोणकम् ॥ तयोर्मध्ये चतुष्कोणं ध्वजानेवं प्रकल्पयेत् । मातङ्गवस्तमहिषसिंहमत्स्यैणवाजिनः । वृषभं च यथान्यायं ध्वजमध्ये क्रमाल्लिखेत् ॥ अथवा दिग्गजानष्टावैरावतपुरःसरान् । ध्वजेषु विलिखेदुक्तधातुभिश्च सलक्षणम् ॥ एवं ध्वजानां कथितं लक्षणं तु शुभावहमि"ति । ध्वजानामावश्यकत्वमुक्तं *हयशीर्षपञ्चरात्रे* "अतःपरं प्रवक्ष्यामि ध्वजारोपणमुत्तमम् । यत् कृत्वा पुरुषः सम्यक् समस्तफलमाप्नुयात् ॥ यातुधाना गुह्यकाश्च कूष्माण्डाः खेचरास्तथा । चिन्तयन्त्यसुरश्रेष्ठा ध्वजहीनं सुरालयम् ॥ ध्वजेन रहितं ब्रह्मन् मण्डपं तु वृथा भवेत् । पूजाहोमादिकं सर्वं जपाद्यं यत्कृतं बुधैः ॥ रक्षणेन विना यद्वत्क्षेत्रं नश्यति क्षेत्रिणः । ध्वजं विना देवगृहं तथा नश्येत सर्वथा ॥ विष्णुपारिषदाः क्रूराः कूष्माण्डाद्यास्तु ये स्मृताः । पूजादिकं तु गृह्णन्ति देवं दृष्ट्वा न रक्षितम् ॥ दृष्ट्वा ध्वजांस्तु देवस्य मण्डपे ज्वलनप्रभान् । नश्यन्ति सर्वे ते चार्करश्मिक्षिप्तं तमोयथा"इति । *लोकपालसमप्रभानिति* । लोकपालवर्णास्तुर्ये वक्ष्यन्ते । *सारसंग्रहे* पताकानिवेशनमप्युक्तम् । "प्रतिकुण्डं पताकास्तु प्रोक्ता शास्त्रार्थकोविदैः । सप्तहस्ताः पताकाः स्युः सप्तमांशेन विस्तृताः ॥ लोकपालानुवर्णेन नवमी तुहिनप्रभा"इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "पताकाध्वजसंयुक्तमि"ति । *सोमशम्भुरपि* "सप्तहस्ताः पताकाःस्युर्विंशत्यङ्गुलविस्तृताः । दशहस्ताः पताकानां दण्डाः पञ्चांशवेशिताः ॥ पताका आयुधाङ्काश्च पुष्पगन्धसमन्विता" इति । मण्डपालङ्कारमाह *वितानेति* । वितानश्चन्द्रातपः, *दर्भमाला* रज्जुग्रन्थिता दर्भाः, *आदि*शब्देन दुकूलेन स्तम्भवेष्टनं चूतपल्लवमालाबन्धनमित्यादि ज्ञातव्यम् । *तदुक्तंसिद्धान्तशेखरे* "चूतपल्लवशाखाढ्यं वितानैरुपशोभितम् । विचित्रवस्त्रसञ्छन्नं तुलास्तम्भविभूषितम् ॥ सफलैः कदलीस्तम्भैः क्रमुकैर्नारिकेलकैः । फलैर्नानाविधैर्भोज्यैर्दर्पणैश्चामरैरपि ॥ भूषितं मण्डपं कुर्यात् रत्नपुष्पसमुज्ज्वलम्" इति । *हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि* "दर्पणैश्चामरैर्घण्टैः स्तम्भान् वस्त्रैर्विभूषयेत् । कलशैर्घण्टिकाभिश्च साधारैः कर्करैस्तथे"ति । *मण्डपान्यथाभावे दोषउक्तः क्रियासारे* "अनुक्तसाधनैः क्लृप्तो यदि वा कुटिलाकृतिः । मानाधिकोऽथवा न्यूनो मण्डपः कर्तृनाशनः ॥ आख्यातः साधनैः क्लृप्तः शोभनः सममानकः । मनोज्ञो मण्डपो योऽसौ कर्मकर्तुः शुभावहः" ॥ इति ॥ २६ ॥

वेदिनिर्माणमाह—*तदिति* । तस्यमण्डपमध्य सूत्रस्य त्रिभागस्तृतीयो भागस्तन्मिते

चतुरस्त्रां ततो वेदिं मण्डलाय प्रकल्पयेत् ॥ २७ ॥
प्रागेव दीक्षादिवसात्सप्तभिर्विधिवद्दिनैः ॥
सर्वमङ्गलसंपत्त्यै विदध्यादङ्कुरार्पणम् ॥ २८ ॥

क्षेत्रे, अन्यथा क्षेत्रफलस्य तृतीयांशग्रहणे यत्किंचिदेवस्यात्। *तदुक्तं*-"ततो मण्डपसूत्रं तु त्रिगुणं परिकल्पयेत्। पूर्वादिषु क्रमात्तस्य मध्यभागेन वेदिका" इति। फलतश्च नवमभागेन वेदिका भवति। तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "नवांशं मण्डपं कृत्वा मध्यांशे वेदिका मता"इति। *अरत्निमात्रसमुन्नतां* हस्तमात्रसमुन्नतां, चतुरस्त्रां वेदिं मण्डपमध्ये *मण्डलाय* वक्ष्यमाणसर्वतोभद्रमण्डलाय *प्रकल्पयेत्*। *तदुक्तं* "ततस्तस्य मध्ये बुधस्तत्त्रिभागैकभागेन वेदिम्। अरत्निप्रमाणोन्नतां दर्पणान्तर्निभां मनोहारिणीं चापि कुर्यादि"ति। बहुभिर्ग्रन्थकर्तृभिररत्निशब्दो हस्तेऽपि प्रयुक्तः। *यथाकादिमते*। अङ्गुललक्षणमुक्त्वा "तैश्चतुर्भिर्भवेन्मुष्टिर्वितस्तिस्तैस्त्रिभिर्गुणैः। अरत्निः तद्द्वयेन स्याद्धस्तः तद्द्वयतः शिवे" इति। *कात्यायनेनापि* शुल्वे बहुषु स्थलेषु अरत्निशब्दो हस्ते प्रयुक्तः। मन्त्रमुक्तावल्यामपि। अयुतहोमार्थं द्विहस्तकुण्डकथने "दशाङ्गुलाधिकारत्निरि"त्युक्तम्। तत्रैव लक्षहोमे चतुर्हस्तोक्तौ "चतुर्विंशत्यङ्गुलाधिकाऽरत्निरि"ति। तेनात्राप्यरत्निशब्दो हस्तमात्रे व्याख्यातः। तदुक्तं *वसिष्ठसंहितायाम्* "हस्तोन्नतां च विस्तीर्णां चतुर्हस्तैः समंततः"इति। *मन्त्रमुक्तावल्यामपि* "इष्टकाभिर्मृदा वापि वेदी दर्पणसन्निभा। राजहस्तोच्छ्रया कार्या विदुषा सिद्धिमिच्छते"ति। राजहस्तो मध्यमाङ्गुल्यन्तः। *पञ्चरात्रेऽपि*। "वेदीमण्डपस्य त्रिभागतः। चतुर्थांशोच्छ्रितिस्तस्या" इति। *क्रियासारेऽपि,* "त्रिभागंमण्डपं कृत्वा मध्यभागस्तु वेदिका। हस्तमात्रं तदुत्सेधं चतुरस्रं समं यथा॥ पक्वाभिर्वाप्यपक्वाभिरिष्टकाभिर्दृढं यथा। कर्त्तव्या वेदिका श्रेष्ठा तदभावे मृदापि वा॥ अवक्रपार्श्वा सुस्निग्धा दर्पणोदरसन्निभे"ति। *सिद्धान्तशेखरे* तु विशेषः। "वेदी चतुर्विधा तत्र चतुरस्रा च पद्मिनी। श्रीधरी सर्वतोभद्रा दीक्षासु स्थापनादिषु॥ चतुरस्रा चतुष्कोणा वेदी सर्वफलप्रदा। तडागादिप्रतिष्ठायां पद्मिनी पद्मसन्निभा॥ राज्ञां स्यात् सर्वतोभद्रा चतुर्भद्राभिषेचने। विवाहे श्रीधरीवेदी विंशत्यस्त्रसमन्विता॥ दर्पणोदरसंकाशा निम्नोन्नतविवर्जिता" इति। वेदिकाऽन्यथा भावे दोष उक्तः। *क्रियासारे* "वक्रपार्श्वक्लिष्टमध्या परुषा दृगशोभना। मानहीनाधिका या सा कर्त्तुः कर्मविनाशिनी"ति। *वायवीयसंहितायां* तु मण्डपाद्युक्त्वा, "कृत्वा पूर्वोदितं सर्वं विना वा मण्डपादिकम्। मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा स्थण्डिलं च विशेषत" इति॥ २७॥

अङ्कुरार्पणकर्माह *प्रागेवेति*। दीक्षादिवसात् प्राक् *सप्तभिर्दिनैः*। एतेन दीक्षादिनमष्टमं यथा भवति तथा कर्त्तव्यमित्युक्तम्। *विधिव*दित्यनेन नवभिः पञ्चभिः सद्योवेत्युक्तम्। तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "प्रतिष्ठायां च दीक्षायां स्थापने चोत्सवे तथा। संप्रोक्षणे च शान्त्यर्थं विवाहे मौञ्जिबन्धने॥ सर्वमङ्गलकार्येषु कारयेदङ्कुरार्पणम्। प्रतिष्ठादिवसात्पूर्वं नवमे सप्तमे दिने। पञ्चमे वा तृतीये वा सद्यो वा चाङ्कुरार्पणम्" इति। *महाकपिलपञ्चरात्रे* "पुण्याहघोषणं कृत्वा ब्राह्मणैः सह देशिकः। मङ्गलाङ्कुरयज्ञं च कुर्यात्तत्रैव चाहनि॥ सप्तमान्नवमाद्वापि प्रागेव यज्ञकर्मण" इति। *अन्यत्रापि* "उत्सवेषु विविधेष्वपि दीक्षास्थापनादिषु पवित्रविधौ च। मङ्गलाङ्कुरविशेषणपूर्वं मङ्गलं भवति कर्मकृतं तत्॥ शस्तयोगदिवसात्तु पुरस्तात् सप्तमेहनि शुभे नवमे वा। पञ्चमेऽथ सुदिने सुमुहूर्त्तं, मङ्गलाङ्कुरविधिं विदधीत" इति। तत्र पूर्वेद्युरुपवासं कृत्वा स्वगृह्योक्तविधिना नान्दीश्राद्धं कृत्वा अङ्कुरार्पणमारभेत। *तदुक्तं* "गुरुविंशुद्धः प्रागेव शुद्धाहात् प्रथमेऽहनि। सङ्कल्प्योपोष्य कर्त्तव्यमङ्कुरारोपणं शुभम्॥ कुर्यान्नान्दीमुखंश्राद्धं पूर्वेद्युः स्वस्तिवाचनम्। स्वगृह्योक्तप्रकारेण तदेतद्विदधीतवै" इति। *संहिता-*

मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम् ॥
गूढां कुर्यात्ततस्तस्यां मण्डलं रचयेत्सुधीः ॥ २९ ॥
पञ्चहस्तप्रमाणानि पञ्चसूत्राणि पातयेत् ॥
पूर्वापरायतान्येषामन्तरं द्वादशाङ्गुलम् ॥ ३० ॥
दक्षिणोत्तरसूत्राणि तद्वदेकादशार्पयेत् ॥
पदानि तत्र जायन्ते चत्वारिंशत्प्रमार्ज्जयेत् ॥ ३१ ॥
पङ्क्त्यावीथीश्चतस्रोऽन्तश्चतुष्कोभयपार्श्वयोः ॥
वीथ्यौ द्वे च चतुष्कोष्ठत्रयमत्रावशिष्यते ॥ ३२ ॥
पदानि रञ्जयेत्तानि श्वेतपीतारुणासितैः ॥
रजोभिः श्यामलेनाथ वीथीरापूरयेत्सुधीः ॥ ३३ ॥
पात्राणि त्रिविधान्याहुरङ्कुरार्पणकर्मसु ॥
पालिकाः पञ्च मुख्यश्च शरावाश्च चतुष्कमात् ॥ ३४ ॥

यामपि* "सर्वत्राभ्युदयश्राद्धमङ्कुरोत्पादनं तथा । आदावेव प्रकुर्वीत कर्मणोऽभ्युदयात्मनः" ॥ इति ॥ २८ ॥

शालामिति । तत्र "विंशत्या तु करैर्मानं दशायामेनविस्तृतिः । शालायाउत्तमं मानम्" ॥ अत्रैतावत्याः प्रयोजनाभावादेतदर्धेन मध्यममानेन शाला कार्या । तेन दशहस्तदीर्घा पञ्चहस्तायामाऽत्र कर्त्तव्या । तामेवाह—*पूर्वापरायतामिति* । दीर्घचतुरस्ररूपां *गूढां* परितः कटादिपरिवृतां दक्षिणैकद्वारवर्ती निवातां च कुर्यात् । तदुक्तं *प्रयोगसारे* । "अवागुदक्स्थिरां कृत्वा निवातां तां कुटीं दृढाम्" इति । तस्यां मण्डलं वक्ष्यमाणं रचयेत् ॥ २९ ॥

मण्डलमेवाह—*पञ्चहस्तेति* । शालाविस्तारमध्यभागे प्रागपरायतमेकं सूत्रं पञ्चहस्तप्रमाणं दत्त्वा तत्सूत्रस्य दक्षिणोत्तरभागयोः द्वादशद्वादशाङ्गुलान्तरे द्वे द्वे सूत्रे दद्यात् । ततस्तत्सूत्रव्यतिभेदीनि एकादशसूत्राणि अर्पयेत् ॥ ३० ॥

तद्वदिति । द्वादशाङ्गुलान्तराणीत्यर्थः । एवं पञ्चापि हस्ताः संगृहीताः । तदुक्तं *प्रयोगसारे* "प्रसार्यास्फोटयेत् सूत्रं यथा याम्योत्तरायतम् । पञ्चहस्तप्रमाणेन द्वे द्वे पार्श्वे च पातयेत् ॥ तद्वत्पूर्वोक्तमानेन द्वादश द्वादशाङ्गुले । प्राक् प्रत्यक्चसमं पश्चात् सूत्राण्येकादश क्रमात् ॥ पातयेत्तासु रेखासु पूर्वसूत्रान्तरान्तरा" इति । *प्रमार्जयेत्*दित्युत्तरत्रान्वेति ।*पङ्क्त्या चतस्रोवीथीर्मार्जयेत्* बाह्य इत्यर्थः । *अन्तरिति* वक्ष्यमाणत्वात् । पूर्वतश्चतुष्कोष्ठामेकां वीथीमष्टकोष्ठां दक्षिणवीथीं पुनश्चतुष्कोष्ठां पश्चिमवीथीमष्टकोष्ठामुत्तरवीथीं मार्जयेत् । ततः अन्तश्चतुष्कस्य मध्यचतुष्कस्य उभयपार्श्वयोः पार्श्वद्वये *द्वे वीथ्यौ* द्विद्विकोष्ठरूपे चात्रमार्जयेत् इत्यस्यानुषङ्गः । फलितमाह*अत्रेति* । *अत्र* मण्डले । *चतुष्कोष्ठत्रयमवशिष्यते* इति । *तानि* शिष्टानि चतुष्कोष्ठत्रयस्थानि *पदानि* द्वादश प्रत्येकंचतुष्कोष्ठे श्वेतादिभिः रजोभिः *रञ्जयेत्* । तत्र श्वेतं वायुपदे । पीतमाग्नेये । अरुणं रक्षः पदे । असितमीशपदे इति *सुधीरित्यनेनोक्तम्* । *तदुक्तमाचार्यैः* "पीतारक्तसितासितप्रतिपदं वह्न्यादिशर्वान्तकमि"ति । *अथ* अनन्तरं *श्यामलेन* हरितेन *वीथीरापूरयेत्* ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

अङ्कुरार्पणपात्राण्याह—*पात्राणीति* । स्थूलानि उच्चानि शरावाण्येव *पालिका* शब्देनोच्यन्ते । पालिका एव किञ्चिन्नीचाः पञ्चमुखयुक्ताः *पञ्चमुख्य* उच्यन्ते *शरावाः* प्रसिद्धाः ॥ ३४ ॥

प्रोक्ताः स्युः सर्वतन्त्रैर्हरिब्रह्मशिवात्मकाः ॥
एषामुत्सेध (च्छ्राय) उन्नेयः षोडश द्वादशाष्टभिः ॥ ३५ ॥
अङ्गुलैः क्रमशस्तानि शुभान्यावेष्टय तन्तुना ॥
प्रक्षाल्य देशिकस्तेषु पदेष्वाहितशालिषु ॥ ३६ ॥
सगन्धदर्भकूर्चेषु पश्चिमादि निवेशयेत् ॥
करीषवालुकामृद्भिस्तानि पात्राणि पूरयेत् ॥ ३७ ॥
सुधाबीजेन बीजानि दुग्धैः प्रक्षाल्य तन्त्रवित् ॥

सर्वतन्त्रैरि त्यनेन पञ्चदेवतादीक्षादिकर्मसु पात्रभेदो नास्तीत्युक्तम्। प्रथमा हरिरूपाः द्वितीयाः ब्रह्मरूपाः। तृतीयाः शिवरूपाः। एतेन हरिब्रह्मेशा एषु पात्रेषु पूज्याः। इत्युक्तं (भवति इति तदुक्तं) *सारस्वतमते* "प्रोक्तेषु पात्रेषु ब्रह्मविष्णुशिवान् यजेदि"ति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "संपूजयेच्छरावेषु रुद्रं चन्दनपुष्पकैः। पालिकासु तथा विष्णुं ब्रह्माणं घटिकासु च" इति। *उत्सेध* औन्नत्यम् ॥ ३५ ॥

अङ्गुलैः क्रमश इति पूर्वेण सम्बध्यते। *महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः* "पालिकाचक्रविस्तारः षोडशाङ्गुल उच्यते। भवेत्कण्ठविलं वा स्यात्तदष्टाङ्गुलविस्तृतम्॥ पादपीठस्य विस्तारः षडङ्गुलमुदाहृतः। चतुरङ्गुल उत्सेधः तत्सन्धिश्चाङ्गुलं भवेत् ॥ तत्सन्धेस्तु भवेन्नाहः पादपीठार्द्धमेव च। भवेत्पञ्चमुखी चैवं घटिका सर्वकामदा। चतुरङ्गुलविस्ताराण्याहुर्वक्त्राणि पञ्च वै ॥ चत्वारि च चतुर्दिक्षु ऊर्ध्वमेकं यथाविधि। घटिकायामविस्तारो द्वादशाङ्गुल उच्यते ॥ आचार्याः कथयन्त्येके षोडशाङ्गुलमेव वा । द्वादशाङ्गुलविस्तारं शरावस्य मुखं स्मृतम् ॥ चतुरङ्गुलविस्तारमध्यस्तन्मूलमुच्यते" इति । *अन्यत्रापि* "तालमात्रमिह पञ्चमुखी स्यात् व्यासतोच्छ्रयमिता घटिका स्यात्। दिक्षु तन्मुखचतुष्टयमेकं मध्यतस्तु समवर्तितभागम् ॥ तालविस्तृतमुखं तु शरावं व्यासतोच्छ्रयगतार्द्धमिताङ्घ्रि। दण्डमस्य चतुरङ्गुलनाहं कण्ठमस्य विलवर्जमुदग्रम् ॥ सम्भवे कनकरूप्यताम्रतो वरमार्त्तिकान्यभिनवान्यथ वा स्युः" इति। *सिद्धान्तशेखरे तु* "तथा सम्भवमानं वा पालिकादि समाचरेत्" इति। *तानीति*। पात्राणि। *शुभानीति*। कृष्णवर्णव्रणादिरहितानि। *तन्तुनेति*। त्रिगुणेन तत्र पूर्वं प्रक्षालनं पश्चात्तन्तुः। *दर्भकूर्चम*ग्रे वक्ष्यमाणम्। *पश्चिमादीति*। पश्चिमचतुष्के पालिकाचतुष्टयं वेष्टनमित्यर्थक्रमः। मध्यमचतुष्के पञ्चमुखीचतुष्टयं पूर्वचतुष्केशरावचतुष्टयं निवेशयेत्। तावन्मध्ये आग्नेयादिस्थापनमिति देशिक इत्यनेन चोक्तम् ज्ञेयम्। तदुक्तं *प्रयोगसारे*। "तेषु पात्राणि च न्यसेत्। वह्न्यादीशादिपर्यन्तं चतुष्केषु पृथक् पृथक्" इति। *करीषेति*। करीषं शुष्कगोमयमेतैरुत्तरोत्तरं सर्वाण्यपि पात्राणि पूरयेत्। उक्तं च *हयशीर्षपञ्चरात्रे* "पूरयेदुत्तरोत्तरम्" इति ॥ *प्रयोगसारेऽपि* "मृद्वालुकाकरीषश्चोर्ध्वतः पात्राणि पूरयेत्" इति। *तत्र विशेषः सिद्धान्तशेखरे* "गन्धादिभिश्च कुद्दालं पूजयित्वा दिनान्तरे । गीतनृत्यसमायुक्तं गजवाजिसमन्वितम् ॥ गुर्वादयो रथारूढागजारूढास्तथाऽपरे। गत्वा तीरं तडागस्य नद्याः पुष्पवनस्य वा ॥ तत्र शुद्धं भुवो भागं दर्भैः संमृज्य चास्त्रतः। अभ्युक्ष्य चार्घ्यतोयेन तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन् ॥ हृदा भूमिं समावाह्य गन्धपुष्पैः समर्चयेत्। कुद्दालीमस्त्रमन्त्रेण खात्वा भूमिमथो मृदम् ॥ गृहीत्वा वामदेवेन पूरयेत् कांस्यपात्रके । हृदा मृदं च संमृज्य वस्त्रेणाच्छाद्य धारयेत्। पुरं वा निलयं वापि सर्वमङ्गलनिःस्वनैः ॥ गुरुः प्रदक्षिणं कृत्वा मण्डपं त्वानयेत्ततः। एतत्कर्म दिवा काले कुर्याद्रात्रौ न बुद्धिमान्" इति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

तेषु बीजावापमाह *सुधेति*। सुधाबीजेन* वमित्यनेन *दुग्धै* गोदुग्धैः। *प्रक्षाल्येति* *महाकपिलपञ्चरात्रे तु विशेषः*"द्वादशाक्षरमन्त्रेण क्षालयित्वा तु वारिणा" इति। *सारस्वत-

मूलमन्त्राभिजप्तानि पञ्चघोषपुरः सरम् ॥ ३८ ॥
आशीर्वाग्भिर्द्विजातीनां मङ्गलाचारपूर्वकम् ॥
निर्वपेत्तेषु पात्रेषु देशिको यतमानसः ॥ ३९ ॥
शालिश्यामाढकीमुद्गतिलनिष्पावसर्षपाः ॥
कुलत्थ कङ्गुमाषाश्च बीजान्यङ्कुरकर्मणि ॥ ४० ॥
हरिद्राद्भिः समभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्य देशिकः ॥
बलिंत्रिविधपात्राणां दिक्षु पूर्वादितोहरेत् ॥ ४१ ॥
प्रणवाद्यैर्नमोन्तैश्च रात्रौ रात्रीशनामभिः ॥

मतेऽपि* "बीजानि तानि प्रक्षाल्य जलक्षीरेण च क्रमात्" इति । एतत्त*न्त्रवित्* इत्यनेन सूचितम्। *मूलेति*। *मूलमन्त्रेण* दातव्यमन्त्रेण। *अभिजप्तानि* अष्टोत्तरशतमित्यादिः। तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे* "संख्यानुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादिषु" इति *पञ्चघोषास्तु* पटहं ढक्का (डंका) मृदङ्ग मुखवाद्य (१)शङ्खाः ॥ ३८ ॥

मङ्गलाचारेति। तत्तद्देशप्रसिद्धया उलुलुध्वन्यादि *देशिको यतमानस* इति । अनेन तानि बीजानिएकीकृत्य रात्रौ मूलमन्त्रेण प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पालिकादिषु निर्वपेदित्युक्तम् । तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "बीजमुख्येन मूलेन प्राङ्मुखो वा उदङ्मुखः । वापयेत् सर्वबीजानि पालिकादिष्वनुक्रमात ॥ बीजानामधिपः सोमस्तस्माद्रात्रौतु निर्वपेत्" इति । *सारस्वतमतेऽपि* "बीजेभ्यो दैवतेभ्यश्च स रात्रौ कान्तिमान्यतः। तस्माद्गुरुस्तु बीजानि निशायामेव वापयेत्" इति ॥ ३९ ॥

बीजान्याह–*शालीति* । शालयो हैमन्तिकाः, *श्यामः* श्यामाकः । कान्यकुब्जभाषायां सांवा इति प्रसिद्धः । *आढकीतूवरी, निष्पावा वल्लाः । विष्णुपुराणटीकायां श्रीधर्या तथा व्यख्यातत्वात । "निष्पावान् राजमाषांश्च सुप्ते देवे विवर्जयेत्" इति पृथगुक्तेर्नत एव ते । *सारस्वतमते* प्रत्येकं बीजेषु देवतापूजोक्ता "स्कन्दं प्रियङ्गौ, निष्पावे वायुमर्ति कुलत्थके । आढक्यां निर्ऋतिं, सोमं मुद्गे, वैवस्वतं तिले ॥ प्रजापतिं शालिबीजेत्वनन्तं सर्षपेऽर्चयेत् ॥ इन्द्रं श्यामे, च माषे च वरुणं, तु नगात्मजे!" इति ॥ *सिद्धान्तशेखरे तु* प्रत्यहं सोमपूजाप्युक्ता "सोमं संपूजयेन्नित्यमधिवासदिनावधि । अधिवासदिने प्राप्ते सोममुद्वासयेद्गुरुरि"ति ॥ ४० ॥

* हरिद्रेति । तत्र मन्त्र उक्तः *प्रयोगसारे* त्रिय(२)म्बकाय शर्वाय शङ्कराय शिवाय च । सर्वलोकप्रधानाय शाश्वताय नमोनमः ॥ विकीर्यानेन मन्त्रेण हरिद्राचूर्णमिश्रितम् । तोयं प्रवर्षयेत्तेषु सिञ्चेत्तोयैर्दिनंप्रति" इति ॥ इदं *देशिक* इत्यनेन सूचितम् । *वस्त्रै* नूतनवस्त्रैः बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति । *आच्छाद्येति* । पात्रचतुष्टयमेकैकेन रात्रौ बलिं क्षिपेत् इत्यन्वयः । प्रातः पुनः स्थलमार्जनादि कृत्वा द्वितीयरात्र्यादौ बलिदानम् ॥ ४१ ॥

प्रणवाद्यैरिति । तत्र मन्त्रः "ओं भूतेभ्योनमः" (३)एवमन्यत्रापि मन्त्रः । *महाकपि-

---

(१) "मृदङ्गः पटहो ढक्का (डंका) मुखवाद्यश्चशङ्खकम्" इतिव्याकृतमन्यत्र ।

(२) अत्र "इयादिः पुरणः" इतिपिङ्गलसूत्रेणत्र्यम्बकायेतिस्थानेऽयंपाठः "दिवंगच्छसुवः पते"–तिवत् । अतएववरेण्यमित्यस्यवरेणियमितिगायत्रीमन्त्रेचतुर्विंशाक्षरपूर्तिर्भवति

(३) "ॐ नमोभूतेभ्यः" इत्येवं क्वचित्पाठः ॥

भूतानि पितरो यक्षा नागा ब्रह्मा शिवो हरिः ॥ ४२ ॥
सप्तानामपि रात्रीणां देवताः समुदीरिताः ॥
भूतेभ्यः स्युर्लाजतिलहरिद्रादधिसक्तवः ॥ ४३ ॥
सान्नाः पितृभ्यः सतिलास्तण्डुलाः परिकीर्तिताः ॥
करम्भलाजा यक्षेभ्यो नारिकेलोदकान्वितम् ॥ ४४ ॥
सक्तुपिष्टं च नागेभ्यो ब्रह्मणे पङ्कजात्तताः ॥
सापूपमन्नं शर्वाय विष्णवे च गुडौदनम् ॥ ४५ ॥
ततो लोकेश्वरेभ्योऽपि वितरेद्विधिवद्बलिम् ॥
दीक्षायामभिषेकेषु नववेश्मप्रवेशने ॥ ४६ ॥
उत्सवेषु च संपत्यै (त्तौ) विदध्यादङ्कुरार्पणम् ॥
प्राक् प्रोक्ते मण्डपे विद्वान्वेदिकाया बहिस्त्रिधा ॥ ४७ ॥
क्षेत्रं विभज्य मध्यांशे पूर्वादि परिकल्पयेत् ॥
अष्टास्वाशासु कुण्डानि रम्याकाराण्यनुक्रमात् ॥ ४८ ॥

लपञ्चरात्रे तु विशेषः* "ततोगन्धविमिश्रेण सिञ्चेद्वै शुद्धवारिणा । त्रिरात्रं तु यथा न्याय पञ्चरात्रमथापि वा" इति । *सारस्वतमते तु* "प्ररूढान्यङ्कुराण्यन्यो न वीक्षेत कदाचन । आचार्य एव प्रविशेत्तच्छिष्यो वा तदाज्ञया" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "वस्त्रैराच्छाद्य य-त्नेन सुगुप्तानि चकारयेत्" इति ॥ ४२ ॥

सप्तसु रात्रिषु पृथक् बलिद्रव्याण्याह *भूतेभ्य इति । सान्ना* इत्यन्तं षट् प्रथमरात्रौ । अस्यैव भूतक्रूरेति नाम । *तदुक्तं* "लाजतिलरक्तरजोदधिसक्त्वन्नानि भूतक्रूराख्यमि"ति। *करम्भो* दधिसक्तवः । *अक्षता* अखण्डतण्डुलाः(४) । यदा नवसु रात्रिषु बलिदानं तदा रात्रिद्वये बलिद्रव्यं देवताचोक्ता*त्वाचार्यैः-"वैष्णवं च दौर्धात्रं कृशरं च वैष्णवेयं यदि नवरात्रक्रमेण बलिरुक्त" इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

तत इति तत्तद्दिशि पायसादिना बलिर्विधेयः तत्र नैऋत्यप्रतीच्योर्मध्ये-अनन्तस्य ॥ ईशपूर्वयोर्मध्ये ब्रह्मण इति । *विधिवदिति* अनेन पूर्वोक्तो दिशां बलिर-त्रापि कर्त्तव्य इति सूचितम् । एषां पात्राणां विनियोगमग्रे वक्ष्यति । *अङ्कुरपरीक्षोक्ता सिद्धान्तशेखरे* "यजमानाभिवृद्ध्यर्थमङ्कुराणि परीक्षयेत् । सम्यगूर्ध्वंप्ररूढानि कोमलानि सितानि च ॥ धूम्रवर्णान्यपूर्वाणि तथा तिर्यग्गतानि च । श्यामलानि च कुब्जानि वर्जयेदशु-भानि तु ॥ अवृष्टिं कुरुते कृष्णं धूम्राभं कलहं तथा । अपूर्णं जननाशं च दुर्भिक्षं श्यामलाङ्कुरम् तिर्यग्गते भवेद्व्याधिः कुब्जे शत्रुभयं तथा । अशुभे चाङ्कुरे जाते शान्तिहोमं समाचरेत् ॥ मूलमन्त्रेण जुहुयात् गुरुर्मूर्त्तिधरैः सह । अघोरास्त्रेणचास्त्रेण शतं वाथसहस्रकमि"ति। *सारस्व-तेऽपि* । "प्ररूढैरङ्कुरैः कर्त्तुर्निर्दिशेच्छुभाशुभम् ॥ श्यामैः कृष्णैरङ्कुरैरर्थहानिस्तिर्यग्रूढैर्व्याधि रान्दोलितैस्तैः । कुब्जै र्दुःखं दुष्प्ररूढैर्मृतिं च रोगम्भुग्नैः स्थानदेशेष्टहानिः" इति ॥४६॥

कुण्डस्थानमाह *प्रागिति*। वेदिकाया बहिः सर्वतः क्षेत्रं क्षेत्रमध्यसूत्रं त्रिधा *विभज्य* तत्तन्मध्यभागे प्रादक्षिण्येन पूर्वादि*अष्टास्वाशासु रम्याकाराणि कुण्डानि । अनुक्रमात् परिकल्पये* दिति सम्बन्धः । *विद्वान्* पञ्चमेखलादिकमपिजानन्नित्यर्थः । *आशासु* दिक्षु ईशानान्तासु इत्यर्थः "पूर्वाद्युक्तावधिच्छेदात् क्रमएव विवक्षितः" इति परिभाषणात् ।

(४] अन्यत्र (छन्दोगपरिशिष्टे) तु "अक्षतास्तु यवाःप्रोक्ताः" इत्युक्तम् ।

चतुरस्रं योनिमर्द्धचन्द्रं त्र्यस्रं सुवर्तुलम् ॥
षडस्रं पङ्कजाकारमष्टास्रं तानि नामतः ॥ ४९ ॥
आचार्यकुण्डं मध्ये स्याद्गौरीपतिमहेन्द्रयोः ॥
हस्तमानमितां भूमिं पूर्ववत्परिकल्पयेत् ॥ ५० ॥
समन्तात्कुण्डमेतस्याश्चतुरस्रं शुभावहम् ॥
चतुर्विंशत्यङ्गुलाढ्यं हस्तं तन्त्रविदोविदुः ॥ ५१ ॥
कर्तुर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमाङ्गुलिपर्व्वणः ॥
मध्यस्य दीर्घमानेन मानाङ्गुलमुदीरितम् ॥ ५२ ॥
यवानामष्टभिः क्लृप्तं मानाङ्गुलमुदीरितम् ॥

तेन वेद्याः पदमात्रं त्यक्त्वा वक्ष्यमाणमेखलायोग्यं च तत्र स्थानं त्यक्त्वा कुण्डानि कार्याणीत्यर्थः संपन्नो भवति । तदुक्तं *सोमशम्भुना* "वेदीपदान्तरं त्यक्त्वेति"। *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "त्यक्त्वा वेदिचतुर्भागमि"ति । *नारदीयेऽपि* "कुण्डवेद्यन्तरं चैव सपादकरसम्मितम्" इति अत्र पादशब्दः किंचिदधिकोपलक्षकस्तेन मध्यमोत्तममण्डपविषयत्वमस्य । *क्रियासारेऽपि* "वेदिकाकुण्डयोर्मध्ये हस्तद्वितयमन्तरम्" इति । इदं चतुर्विंशतिहस्तमण्डपविषयम् । *वसिष्ठसंहितायां तु* "त्रयोदशाङ्गुलं त्यक्त्वा वेदिकायाश्चतुर्दिशम् । कुण्डानि स्वागमोक्तानि विदध्यात्विधिवद् बुधः" इति । अत्र कुण्डानीति समेखलानि ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

तमेवक्रममाह *चतुरस्रमिति* । तदुक्तमाम्नायरहस्ये* "नवकुण्डविधाने तु दिक्षु कुण्डाष्टके स्थिते" इति ॥ ४९ ॥

आचार्यकुण्डमिति । गौरीपतिमहेन्द्रयोर्मध्ये* ईशपूर्वदिङ्मध्ये *आचार्यकुण्डंस्यात् । तदुक्तं *तत्रैव* "नवमं कारयेत् कुण्डं पूर्वेशानदिगन्तरम्" इति ॥ वृत्तं *चतुरस्रं* वा स्यात् तदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "पुरन्दरेशयोर्मध्ये वृत्तं वा चतुरस्रकम् । तदाचार्यविनिर्दिष्टम्" इति । *अन्यत्रापि । "मध्ये वृत्तं च गौरीपतिसुरपदिशोः पण्डिताः केचिदाहुः" इति । *क्रियासारेऽपि* "वृत्तं वा चतुरस्रं स्यान्मध्यस्थानं वृषेशयोः" इति ॥ तत्र सर्वकुण्डप्रकृतिभूतत्वादादितश्चतुरस्रकुण्डलक्षणमाह *हस्तेति* । *पूर्ववदिति* । वास्तुमण्डलचतुरस्रकरणरीत्या*समन्ता* चतुर्दिक्षु *परिकल्पयेदि*तिसंबन्धः* चतुरस्रकुण्डलक्षणे हस्त उक्तः। तल्लक्षणनिर्वाहार्थमङ्गुललक्षणमप्याह *चतुरिति* । *कर्त्तुः* संस्कार्यस्य शिष्यस्य, नत्वाचार्यस्य प्रयोजककर्त्तृत्वेन शिष्येऽपि कर्त्तृशब्दप्रयोगात् । ननु मुख्यकर्त्तृपदवाच्य आचार्यएवात्र किमिति न गृह्यत इति चेत् । उच्यते । दानवाचनान्वारम्भणवरणप्रमाणेषु "यज्ञमात्रं प्रतीयात्" इति कात्यायन वचनात् । नन्विदं श्रौतं प्रकृतन्तान्त्रिकं तत् कथमेकवाक्यत्वमिति चेत् । तन्न । "परोक्तमविरोधिचे"त्युक्तेः । यथा श्रौते सोमयागादौ "यज्ञोपवीतिना कार्यं सदा बद्धशिखेन च । शुचिना कर्म कर्त्तव्य" मित्याद्यविरुद्धं स्मार्त्तमपि गृह्यते तद्वदिहापि । अत एवोक्तं "सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मे"ति । *तन्त्रविद्*इत्यनेन तत्तत्तन्त्रोक्तनानाविधाङ्गुललक्षणाभिज्ञ इत्युक्तम् । *मध्यमाङ्गुलिपर्वण* इति । पर्वशब्दे न मध्यमपर्वोच्यते । तन्मध्यस्य दैर्घ्यमानं यत्तदङ्गुलम्।अथ वा मध्यस्य मध्यमाङ्गुलिपर्वणः दैर्घ्यमानं यत्तदङ्गुलमिति संबन्धः॥५०॥५१॥५२॥

अग्रे ग्रन्थकृद्यवद्वयक्रमेणैवेत्यादि यवव्यवहारं करिष्यति तत्सिद्ध्यर्थमङ्गुलस्याष्टमोभागो यव इत्याह *यवानामिति* । *मानाङ्गुलमिति* तस्यैवसंज्ञान्तरं नत्वङ्गुलस्येदं पृथक् लक्षणं वा शब्दादिप्रयोगाभावात् । *ग्रन्थान्तरे च*"जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमन्तत्प्रमाणानान्त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ त्रसरेणुस्तुविज्ञेयोऽष्टौ ते परमाणवः।त्रसरेणव एते स्युरष्ट-

चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं पञ्चधा विभजेत्सुधीः ॥ ५२ ॥

रेणुस्तु सस्मृतः ॥ ते रेणवस्तथा त्वष्टौ वालाग्रं तत्स्मृतं बुधैः । बालाग्राण्यष्ट लिक्षा तु यूका लिक्षाष्टकं स्मृतम् ॥ अष्टौ यूका यवं प्राहुरङ्गुलन्तु यवाष्टकम् ॥ रत्निस्त्वयङ्गुलपर्वाणि विज्ञेयस्त्वेकविंशतिः ॥ चत्वारि विंशतिश्चैव हस्तःस्यादङ्गुलानिति" ति अङ्गुलद्वयमेकतयैवोक्तम् । *त्रैलोक्यसारेऽपि* "कर्तुर्मध्याङ्गुलेर्मध्यपर्वणोरङ्गुलप्रमा । तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्ध्वाग्रा व्रीहयस्त्रय" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "मात्राङ्गुलेनैव कुण्डं कर्त्तव्यमि"त्युक्तम् । तथथा । "मात्राङ्गुलेन हस्तः स्यात्कुण्डमाने शिवेरितः । मध्यमाङ्गुलिमध्यस्थपर्वदैर्घ्येण चोत्तमम् ॥ पादोनं मध्यमं चार्द्धमधमं मात्रमङ्गुलम् । मात्राङ्गुलेन चान्येन मेखलाकण्ठनाभयः ॥ कर्त्तव्याः कुण्डयोनिश्चेति" । *मयेनाऽपि* "परमाणुक्रमादूवृद्धं मानाङ्गुलमितीरितम्" इत्यादिना "यवोऽष्टगुणितोङ्गुलम्, अङ्गुलं तु भवेन्मात्रं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः" इत्यनेन । *हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि* "यवाष्टकैरङ्गुलंस्याच्चतुर्विंशाङ्गुलः करः । चतुर्विंशाङ्गुलश्चान्यः स्वाङ्गुष्ठेन तु संमितः" इति । तन्त्राङ्गुष्ठरेखामध्यपर्वणोरपि समतैव । ननु यद्यपि वाशब्दादिप्रयोगो नास्ति तथापि मात्राङ्गुलमानाङ्गुलशब्दाभ्यामेव विकल्पो भविष्यतीति चेत् । तन्न । तथाग्रेऽपि भिन्नतया व्यवहाराभावात् । यत्र तु पञ्चरात्रे पञ्चधाङ्गुललक्षणमुक्तन्तत्र तु तेषां व्यवस्थाऽप्युक्ता । अत्र तु व्यवस्थामानोक्तत्वात्पर्यायतैव । तत्तु *यथा तुपञ्चरात्रे* "वातायनपथं प्राप्य ये यान्ति रविरश्मयः । तेषु सूक्ष्मा विसर्पन्तोरेणवस्त्रसरेणवः ॥ परमाणवस्तेऽष्टौ स्युरेणवस्तुतदष्टभिः । तेऽष्टौ बालाग्रकं तेऽष्टौ लिक्षायूका तदष्टकम् ॥ तदष्टकं यवस्तेष्टावङ्गुलंसमुदाहृतम् । सातूत्तमाङ्गुलिः सप्त यवाः सैवतु मध्यमाः ॥ षड्यवाः साधमाप्रोक्ता मानाङ्गुलमितीरितम् । विन्यस्तैस्तिर्यगष्टाभिर्यवैर्मानान्तराङ्गुलम् ॥ शिष्यदक्षिणहस्तस्य मध्यमाङ्गुलिमध्यतः । पर्वणोरन्तरादैर्घ्यं मात्राङ्गुलमुदाहृतम् ॥ विनाङ्गुष्टेन शेषाभिर्मुष्टिमङ्गुलिभिः कृतम् । चतुर्द्धा विभजेदेको भागो मुष्ट्यङ्गुलिः स्मृता ॥ यं कंचित्पुरुषायामं विभज्य दशधा पुनः । एकं द्वादशधा भागं कृत्वा तेष्वेकमङ्गुलम् ॥ देहलब्धाङ्गुलं नाम जानीयात्तस्य तत्पुनः ॥ उछ्रायः प्रतिमायाः स्यात् महामानाङ्गुलाश्रयः । महामानाङ्गुलंयत्तन्मात्राङ्गुलमितीरितम् ॥ मानान्तराङ्गुलेनैव प्रतिमाङ्गानि कल्पयेत्॥प्रासादादींश्च तेनैव कुर्यान्मानान्तरेण वा ॥ वेदिकापीठशिबिकारथादीनां विधिः पुनः। मानान्तराङ्गुलेनैव सर्वेष्वान्येन केन चित्॥ यागोपकारणान्यत्र कुर्यान्मानाङ्गुलेन वै॥होमाङ्गानि स्रुवादीनि कुण्डं मुष्ट्यङ्गुलाश्रयम् ॥ देहलब्धाङ्गुलेनाऽपि कुण्डादीनि प्रकल्पयेत्" इति । बहुषु पुस्तकेषु उभयत्र मानाङ्गुलमित्येव पाठः ।एकत्र मानाङ्गुलशब्दः पारिभाषिकः । अन्यत्र मानेन प्रमाणेनाङ्गुलमिति यौगिको व्याख्येयः । चतुरस्रकुण्डक्षेत्रफलं तल्लक्षणेनोक्तम् । तस्याङ्गुलात्मकत्वात् ॥ तद्ज्ञाने वक्तुमशक्यत्वात इत्यधुनोच्यते । तत्र *लीलावत्यां भास्कराचार्यः* "समश्रुतौ तुल्यचतुर्भुजे च तज्जायते तद्भुजकोटिघातः" इति । *त्रिशत्यां श्रीधराचार्योऽपि* "समलम्बकचतुरस्रे त्र्यस्रे क्षेत्रे च जायते करणम् । भूवदनसमासार्द्धं मध्यमलम्बेन संगुणयेत्" इत्यनेन प्रकारेण चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकान्यङ्गुलानि क्षेत्रफलम् ॥ एतदेव क्षेत्रफलमष्टस्वपि कुण्डेषु ज्ञेयम् । अतः सर्वकुण्डानामिदमेव प्रकृतिभूतं तन्त्राऽन्तरेऽप्यस्यैव प्रकृतितोक्ता । *चतुरस्रमुक्त्वा* "तस्मिन्नन्यानि कुण्डानि वदामि तन्नामत" इति । *अन्यत्रापि* । "क्षेत्रं स्याच्चतुरस्रमत्र जनयेदन्यानि कुण्डान्यपि" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "योन्यादिसर्वकुण्डानिचतुरस्राद्भवन्ति हि । लक्षणं चतुरस्रस्य पूर्वं तस्मान्मयोच्यते" इत्यादिना । "चतुरस्रमिदं प्रोक्तं सर्वकुण्डेषु कारणम्" इत्यन्तेन । *क्रियासारेऽपि* चतुष्पदं चतुष्कोणमेतत्क्षेत्राह्वयं भवेत् । चतुरस्रादिकुण्डानां सर्वेषामत्र संभव" इति ॥ "चतुरस्रप्रकृतितया योनिकुण्डमाह *चतुस्रीकृतमिति* । चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं पञ्चधा विभजेत् । तत्र सर्वस्य क्षेत्रफलस्य विभागे प्रयोजनाभावान्मध्यसूत्रस्यैव

न्यसेत्पुरस्तादेकांशं कोणार्द्धार्धप्रमाणतः ॥
भ्रामयेत्कोणमानेन तथान्यदपि मन्त्रवित् ॥ ५४ ॥
सूत्रयुग्मं ततो दद्यात्कुण्डं योनिनिभं भवेत् ॥
चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं दशधा विभजेत्पुनः ॥ ५५ ॥

विभागः कार्य इति *सुधीरि* त्यनेनोक्तं, तत्रायं पञ्चमोंऽशः ४ अङ्गुलानि सार्द्धषट्यवाः किंचिदूनाः ।।एवं भूतमंशं पुरस्ताद्दक्षिणोदग्गतसूत्रस्योत्तरभागे न्यसेद्वर्द्धयेदिति मन्त्रविदित्यनेनोक्तम् । ततः *कोणार्द्धार्द्धप्रमाणतः कोणमानेन भ्रामयेत* । अत्र कोणशब्देन कोणसूत्रं गृह्यते ॥ तस्यार्द्धं कर्णसूत्रद्वयं मध्यसंपातस्थानं तदर्द्धमपरकोष्ठयुगले द्वितीयकर्णसूत्रयोगस्थानं *तत्प्रमाणत* स्तस्मान्मानात् कोणमानेन कोणसंलग्नतया भ्रामयेत् । *प्रकारस्तु* अपरैककोष्ठकर्णसूत्रद्वयसंपातस्थाने सूत्रादि संस्थाप्य मध्यतिर्यग्गतसूत्राग्रं तत्कोणसंलग्नं दक्षिणोदग्गतसूत्रस्य दक्षिणाग्रावधिसूत्राग्रं भ्रामयेत्।*मन्त्रवि*दन्यदपि तथा भ्रामयेदित्यर्थः। तत्रापि प्रकारः द्वितीयापरकोष्ठकर्णसूत्रद्वयसंपातस्थाने सूत्रादि संस्थाप्य मध्यतिर्यग्गतसूत्रस्य द्वितीयाग्रात्तत्कोणसंलग्नं दक्षिणोदग्गतसूत्रस्य दक्षिणाग्रावधिसूत्राग्रं भ्रामयेत् । ततः सूत्रयुग्मं दद्यात् । पार्श्वद्वयस्थवृत्तार्द्धाग्राभ्यां पुरोवर्द्धितसूत्राग्रावधि सूत्रद्वयं पातयेत् । एवं *योनिनिभ*—मुत्तराभिमुखं *कुण्डं भवेत्* । तदुक्तं *कादिमते* । "तन्मध्यपञ्चमांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम् । पूर्वतः पश्चिमद्वन्द्वकोष्ठयोर्मध्यदेशतः ॥ तत्कोणमानेन तथा भ्रामयेत्पश्चिमाग्रकान् ॥ उत्तराग्रावधि तथा दक्षिणाग्रावधि प्रिये ॥ तन्मध्यतिर्यक्सूत्रांशद्वयावष्टम्भतस्तथा । विकाशितब्रह्मसूत्रावधि सूत्रद्वयं क्षिपेत् ॥ योनिकुण्डमिदं भद्रमि"ति । *कामिकेऽपि* "पञ्चमांशं पुरोन्यस्य मध्ये वेदांशमानतः। भ्रमादश्वत्थपत्राभं कुण्डमाग्नेयमीरितम्" इति।*क्रियासारेऽपि*। "क्षेत्रं पञ्चांशकं कृत्वा पूर्वस्यामेकमंशकम् । न्यस्य तस्मान्न्यसेत् सूत्रे पार्श्वयोर्मध्यमावधि॥ ततः प्रत्यक् पदद्वन्द्वं भ्रामयेत्तत्तदर्धतः। पृथक् पृथक् यथा सम्यक् तथा कोणत्रयावधि ॥ एवं कृते स्थिरं कुण्डं भवेदश्वत्थपत्रवत्" इति ॥ *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेय्यामुत्तरामुखम् । प्रजावृद्धौ प्रतापे च शस्तं तत्रापि पूर्ववत् ॥ चतुष्कोष्ठं समं कुर्यादंशं क्षेत्रस्य पञ्चमम् । सोमसूत्रस्य बाह्याग्रे योजयेत् सौम्यभागके ॥ अग्रयोर्गर्भसूत्रस्य न्यसेदंशे च सूत्रकम् । सिध्यत्यनेन यन्त्राग्रं दक्षकोष्ठद्वयस्य तु । मध्यकोष्ठस्य चान्ते च भ्रामयेत्तद्भ्रमाद्भवेत् ॥ यत्र पृष्ठं सुसंविद्धं पत्रमश्वत्थपत्रवत् । इतीदं योनिकुण्डं स्यादि"ति ॥ *अत्र क्षेत्रोपपत्तिरुच्यते—तत्रैकपार्श्वे अर्धं वृत्तम् । द्वितीयपार्श्वे अर्द्धवृत्तम् । एवमेकं वृत्तक्षेत्रं वृत्तार्द्धद्वयमध्यस्थमधोमुखं त्रिकोणमेकम् ॥ तदुपर्यूर्ध्वमुखं त्रिकोणमेकमिति त्रीणि क्षेत्राणि । तत्र त्रयाणामपि पृथक् पृथक् फलमानीयैकीकृतं योनिकुण्डक्षेत्रफलं भवति । तत्र वृत्तक्षेत्रफलं तावदुच्यते "व्यासस्य वर्गेभनवाग्नि ३९ २७ निघ्ने सूक्ष्मं फलं पञ्चसहस्रभक्ते" इति भास्कराचार्योक्तप्रकारेण वृत्तक्षेत्रफलानयने श्रीधराचार्योक्तिः त्रिशत्यां १७ १ ३४ स्थूलेत्युपेक्षिता ॥ तत्रैकाङ्गुलस्य चतुस्त्रिंशांशेनोनानि सप्तदशाङ्गुलानि व्यासः । तदुपपत्तिरेवं "तत्कृत्योर्योगपद" मित्यनेन कर्णप्रमाणमानीय तदर्द्धं व्यासो भवति । इदं त्वग्रे द्विहस्तकुण्डकरणीकथनप्रस्तावे स्फुटीकरिष्यते । तत्र व्यासस्य न्यासो यथा स वर्णितः १७७ ३४ अस्य यथोक्तकरणेन जातं क्षेत्रफलम् २२६ एकोयवश्चतस्रो यूकास्तिस्रो १७ १ ३४ लिक्षाः न्यासांशसवर्णनादिप्रकारस्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तः स तु पाटी गणिते लीलावत्यादौ द्रष्टव्यः । ततोऽधस्त्र्यस्रस्य फलं "लम्बगुणं भूम्यर्द्धं स्पष्टं त्रिभुजे फलं भवति" इति भास्कराचार्यप्रोक्तमार्गेण तत्र भूः २४ अङ्गुलानि लम्बः १२ अङ्गुलानि ततोभूम्यर्द्धम् १२ लम्ब १२

एकमेकं त्यजेदंशमधऊर्ध्वं च तन्त्रवित् ॥
ज्यासूत्रं पातयेदग्रे तन्मानाद्भ्रमयेत्ततः ॥ ५६ ॥

गुणं १४४। इदमधस्त्र्यस्रस्यफलम् ॥ तत उर्द्ध्वत्र्यस्रस्य फलं तस्य भूः२४ अङ्गुलानि ग्रन्थकृदुक्तप्रकारेण लम्बः। तत्र मध्यसूत्रार्द्धम् । १२ अङ्गुलानि। ततोवर्द्धितपञ्चमोंशः २४/५ उभयोः समच्छेदार्थन्यासः १२/१ २४/५ समच्छेदौ ६०/५ २४/५। योगः ८४/५। ततोयथोक्तकरणेन जातं क्षेत्रफलं २०३ किंचिन् (१)न्यूनं क्षेत्रफलमध्ये सयवद्वयं चतुरङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति ॥ उदाहृतकादिमतादिलक्षणेष्वपि इदमेव फलं ज्ञेयम् ॥ तत्र कश्चित कामिकवचनम् (४६९) एतावत्फलमानीय दूषितवानिति महाभ्रान्त एव। एवं सर्वेषामेकवाक्यत्वे सत्यपि च "मा नहीने दरिद्रते" त्यादिन्यूनाधिकप्रमाणं य-"यजमानविनाशकृदि"-त्यादिदोषापत्तेरितिक्षेत्रफलसाम्यमत्रावश्यमपेक्षितम्। यतो भास्कराचार्यश्रीधराचार्यप्रोक्तगणितमार्गेण क्षेत्रफलानयनद्वाराऽवश्यं कुण्डानि वक्तव्यानि । *क्रियासारे*—"प्राक्कुण्डेयत्प्रमाणं तदन्येषां क्षेत्रमानक" मिति ॥ ग्रन्थकृतापि तुल्यक्षेत्रफलानयनार्थमेव समचतुरस्रस्य प्रकृतिता निरूपिता। पञ्चदशशाखोपरि कल्पसूत्रं प्रणीतवतो भगवतः कात्यायनस्यापि परिशिष्टे शुल्वे कुण्डं वक्तुमिच्छोः श्रीधराचार्यभास्कराचार्यप्रोक्तमार्गेण क्षेत्रफलानयनद्वारैव प्रवृत्तिर्दृश्यते। अतोऽवश्यं क्षेत्रफलसाम्यं वक्तव्यम्। तदाचार्येणातिसूक्ष्मगणनायां शिष्यबुद्धिक्लेशो भविष्यतीत्युपेक्षितम्। साम्प्रदायिकास्तदर्थं यवत्रयप्रक्षेपमाहुरेकहस्ते। मया क्षेत्रफलसमतार्थं सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते। "चतुर्विंशतिधा मध्यसूत्रं भक्त्वा पुरो न्यसेत्। पञ्चांशाश्चैकैकस्य त्रीन् विंशांशान् कोणपादतः॥ वृत्तार्द्धं स्तो मध्यतिर्यक् सूत्रान्तं च ततोर्पयेत्। पुरोवर्धितसूत्रान्तं सूत्रे द्वे स्याद्गगाकृति" ॥ अनेन प्रकारेण क्षेत्रफलमव्यभिचारीति ज्ञेयम्। अत्र पञ्चाङ्गुलानि सयवानि यूकासार्द्धलिक्षाचतुष्टयसहितानि मध्यसूत्रं वर्द्धयेत्। तदालम्बः १७। ३।२० सवर्णितः ३४।३।३० उक्तक्रमेण जातं क्षेत्रफलम् ३०९। पट्यवास्तिस्रोयूकाः पञ्चलिक्षाः एवमेकीकृतं सर्वक्षेत्रफलम् (२०) ५७६ एतत् सूक्ष्ममितिज्ञेयम्। *यत्तु कादिमते*—"चतुरस्राभितो या तु त्यक्ता भूः सान्यतस्थिता। लभ्यते सर्वकुण्डेषु तेन सर्वाणि सर्वतः॥ तत्समान्येव जायन्ते षण्णवत्यङ्गुलात्मना" इति। *सिद्धान्तशेखरेऽपि*—"क्षेत्रस्य चतुरस्रस्य समं सूत्रं चतुर्गुणम्। योन्यादिसर्वकुण्डानां पर्यन्तेषु नियोजयेत्॥ चतुरस्रं समं तच्चेच्छुभं योन्यादिकुण्डकम्" इति। तदत्रास्मदुक्तप्रकारेण संवदन्ति। व्यासे भनन्दाग्नि ३९२७ हते विभक्ते खबाणसूर्यैः १२५० परिधिस्तु सूक्ष्मः" इति प्रकाराद्वृत्तपरिधिः सूक्ष्मा १६०।३० स्थूलस्तु ५४ अङ्गुलानि। कर्णसूत्रद्वयम् २१। २१ अङ्गुलानि। "तत्कृत्योर्योगपदमि"त्यनेन प्रकारेण जातम् मिलित्वा षण्णवत्यङ्गुलात्मता। परन्त्वतिस्थूलमानत्वाद्बहुषु स्थलेषु व्यभिचरतीदमित्युपेक्षितम्। यतोऽर्द्धचन्द्रे ९८ अङ्गुलानि यवत्रयाधिकानि परिधिः त्र्यस्रे ९ अङ्गुलानि ३ यवाः २ यूकाः। वृत्ते ८९ अङ्गुलानि। किञ्चिदधिकानि। षडस्रे ८८ अङ्गुलानि ४ यवाः ७ यूकाः। अष्टास्रे ८७ अङ्गुलानि ४ यवाः। एवं कुत्रापि न मिलतीति यत्किञ्चिदेतत्। कश्चिच्छारदापद्यमिदमन्यथा व्याख्यत्। पञ्चमांशेन प्राचीसूत्रं वर्द्धयेत्। ततः कोणयोः प्रतीची तिर्यक्सूत्रोत्पन्ननैर्ऋत्यवायव्ययोरर्द्धार्द्धप्रमाणेन एकत्र कोणे पञ्चमांशस्यार्द्धमपरत्र कोणेऽपि पञ्चमांशस्यार्द्धं वर्द्धयेत्। कोणमानेन वर्द्धितवायव्यकोणात्प्राचीसूत्रपश्चिमावधि भ्रमयेत्। तद्वर्द्धितनैर्ऋत्यकोणात् प्राचीसूत्रपश्चिमावधि भ्रमयेत्। वर्द्धिताभ्यां वायव्यनै-

(१) अत्र "तेनपञ्चयवाधिकं तेन"
इत्येतत्प्राक्तनः पाठः क्वचित्पुस्तकेऽस्ति ॥

अर्द्धचन्द्रनिभं कुण्डं रमणीयमिदं भवेत् ॥

स्रंतकोणाभ्यां वर्धितप्राचीसूत्राग्रावधि सूत्रद्वयं दद्यादिति । तदसाम्प्रदायिकत्वादेतदर्थप्रतिपादकशब्दाभावात् लिखितकादिमतादिविरोधात् स्वकपोलकल्पितम् । सूक्ष्मगणनायां क्षेत्रफलस्याप्याधिक्याद्यत्किञ्चिदेतत् । यदतिगणितज्ञाभिमानिन आगमज्ञाभिमानिनश्च लक्षणम्—"अष्टोनद्विशतांशसूत्रकचतुष्कोणे पुरस्ताद्ददत्वष्टत्रिंशतमेधयत्वथ लवान् श्रोण्योरिमानर्धशः । अग्रात् सूत्रयुगे त्रिकोणमिति तच्छ्रोण्योस्ततोऽर्द्धभ्रमात् वृत्तार्द्धे बहिरालिखेदिति भवेत् कुण्डोत्तमं योनिवत्" इति । चतुरस्रश्रोण्योरपि पश्चिमतिर्यक्सूत्रमुभयतस्तानष्टत्रिंशदंशान् अर्द्धार्द्धतया वर्द्धयेत् । एकोनविंशतिर्दक्षिणतः एकोनविंशतिरुत्तरत इति यत्तत् स्वकपोलकल्पितं क्रियासारकादिमतकामिकसिद्धान्तशेखरादिविरोधात् । क्षेत्रफलमध्ये च किञ्चिदधिकं क्षेत्रफलमिति ज्ञात्वा महद्भिः सन्तोष्टव्यमत्र । भ्रामयेदिति । लेखकदोषवशादपपाठः । मितत्वात् मितां ह्रस्व इति ह्रस्वत्वात् । भ्रमयेत् इत्येव पाठः । चतुरस्रप्रकृतितया अर्द्धचन्द्रकुण्डमाह—*चतुरस्रीकृतमिति* । क्षेत्र शब्देन पूर्ववन्मध्यसूत्रं गृह्यते तद्दशधा विभजेत् । तत् एकं भागमध उत्तरतः एकमूर्द्ध्वतो दक्षिणतश्च त्यक्त्वा अग्रे अग्रचिह्ने उत्तरभागे ज्यासूत्रं स्वेच्छाप्रमाणं पातयेदिति *मन्त्रविदित्यनेन सूचितम् । *ततस्तन्मानान्* मध्ये व्यासमानाद्भ्रमयेत्* । तत्र प्रकारः । ज्यासूत्रमध्यसूत्रसन्निपातं सूत्रादि संस्थाप्य ऊर्ध्वभागे यच्चिह्नं कृतं ततो ज्यासूत्रान्तं भ्रमयेत् । तदर्द्धचन्द्रनिभमुत्तराभिमुखं कुण्डं भवेत् । *तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे* । "अर्द्धचन्द्रमथोच्यते । याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा" इति ॥ अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । तत उभयतो दशांशत्यागेन सर्वस्य पञ्चमांशत्यागो भवति ॥ स च ४ अङ्गुलानि ६ यवा ३ यूकाः १ लिक्षा ३ बालाग्राणि ६ रेणवः ३ त्रसरेणवः १ परमाणुः । तदायं शिष्टो व्यासः । १९ । अङ्गुलानि १ यवाः ।४ यूका ६ लिक्षाः ३ बालाग्राणि १ रणुः ४ त्रसरेणवः ७ परमाणवः । क्षेत्रफलानयनार्थं सवर्णितः ९६९ एतद्व्यासेन फलानयने यवार्द्धाधिकमङ्गुलत्रयमधिकं क्षेत्रफलं भवति तदाचार्येणोपेक्षितमल्पत्वात् ॥ क्षेत्रफलाव्यभिचारी सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते—"चतुर्विंशतिधा भक्ते सूत्रे व्यासोऽर्द्धचन्द्रके । विंशांशत्रयमेकस्य भागा एकोनविंशतिः ॥ एतन्मानार्द्धभ्रमेण दलेन्द्वभ्रे गुणाङ्कुनात् ॥" तदा अयं व्यासः । एकोनविंशत्य (१९) ङ्गुलानि (१) एकोयवः । एका(१)यूका । चतस्रो(४) लिक्षाः । पञ्च (५)बालाग्राणि । त्रयो (३) रेणवः । एकः(१)त्रसरेणुः । चत्वारः (४) परमाणवः । तदा द्वे (२) अङ्गुले त्रयो (३) यवाः (३) तिस्रो यूकाः । एका-(१) लिक्षा । पञ्च (५) बालाग्राणि । द्वौ (२) रेणू । त्रयः (३) त्रसरेणवः । द्वौ (२) परमाणू । द्वमसंशमूर्ध्वतस्त्यजेत् ॥ एतादृशमेवांशमधस्त्यजेत् ॥ तत्र क्षेत्रफलानयनाय व्यासस्य न्यासः १९ । तेन एकोनविंशत्यङ्गुलानि । एकाङ्गुलस्य विंशतिधा भक्तस्य त्रयोभागाः सव-
३।२०
र्णितो यथा $\frac{३८३}{२०}$ तत्र वृत्तफलानयनार्थमयं द्विगुणीकृतस्तत्र छेदस्यैवार्द्धकरणेन उपरितनोद्विगुणोभवत्येव तेनायं (३८ ३।१०) सम्पूर्णवृत्तव्यासः । ततो "व्यासस्यवर्गो भनवाग्नी"त्यादिना आनीतं क्षेत्रफलं सर्ववृत्तस्य ११५२ एतदर्द्धीकृतमर्द्धचन्द्रस्य क्षेत्रफलं ५७६ सूक्ष्मं ज्ञेयम् । अथवा द्विहस्तकुण्डे एतद्व्यासवर्गं द्विगुणीकृत्य तन्मूलमानेयं तत्र एव व्यासः । एव मग्रेऽप्यूह्यम् । यत्कस्यचिदतिगणितज्ञाभिमानिनोलक्षणम् "चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् । एकोनविंशत्या विंशद्वादशांशाख्यया लवैः ॥ (१)प्राच्यन्ताद्विभजेद्वृत्तफलं प्रत्यक्प्रवृत्तिस्थिति । तदवध्येधयेत्प्राच्यां तिर्यक् सूत्रं ततोभवेत् ॥ कुण्डमर्द्धेन्दुसदृशं सम्यग्दृष्टिमनोहरम्" इति । अत्रापि सूक्ष्मगणनया अङ्गुलत्रयं न्यूनम् ॥ यतस्तेन व्यासार्द्धत्रयवर्गात्

---

(१) प्राच्यन्ताद्भ्रमयेद्वृत्तदलम् इति पाठः क्वचित् ।

चतुर्द्धा भेदिते क्षेत्रे न्यसेदुभयपार्श्वयोः ॥ ५७ ॥

क्षेत्रफलं दशगुणान्न्यूलमिति श्रीधराचार्योक्तेन प्रकारेण क्षेत्रफलमानीतं तच्च स्थूलम् । यतो-गणितग्रन्थानामियं शैली यत स्थूलं सूक्ष्ममपि फलानयनमुच्यते ॥ तत्र भगवत्ता श्रीधराचार्येण बृहत्पाट्यां प्रकारद्वयमप्युक्त्वा तत् संग्रहे त्रिशतीग्रन्थे स्थूला एव प्रकारा दर्शिताः । भास्कराचार्येण तु लीलावत्यां स्थूला इव सूक्ष्मा अपि प्रकारा उक्ताः । तां बृहत्पाटीं चावलोक्य मया सूक्ष्मं फलमिदमानीतम् । तदेव सूक्ष्ममिति मन्यते चेत्तदा मूले अत्यन्तं फलाधिक्यं स्यात् ॥ अन्यच्च ॥ अस्योत्तराभिमुखत्वात् । प्राच्यन्तात्सूत्रं वर्द्धयेत् प्रत्यक् धनुस्थितीत्यन्तमेवासंगतं स्वग्रन्थे स्वयं योनिलक्षणं वदन्नाह स्म "मघवशिखिकृतान्तदिक्पृथकुण्डेष्वियमधिमेखलमेव मध्यभागे । यमदिशि शशिदिङ्मुखा निवेश्य" इति । तेन स्वग्रन्थेषु विरोधो-नोपलक्षित इति यत्किंचिदेतत् ॥ *यत्तु शुल्बे कात्यायनवचनं* "मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् विष्कम्भं पञ्चदशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेच्छेषः करणी"ति । तदपि सम्भवाभिप्रायं न तु सम्यग्गणनाभिप्रायम् । एवमपि चेत्कस्यचिन्महापुरुषस्य मनसि सन्देह उत्पद्यते तेन प्रत्यक्षं परीक्षा कार्या । धातुकाष्ठमृन्मयं वा एकहस्तमितं समचतुरस्रं पात्रं कारयित्वा तदुक्तमानेन मदुक्तमानेन च एकं हस्तमितं वृत्तं पात्रं कारयित्वा चतुरस्रपात्रं सम्यक् जलेनापूर्य तज्जलेनैव वृत्तं पात्रं पूरयेत । यदेववृत्तं पात्रं सम्यक् पूर्णतामेति तदेव शुद्धमिति मन्तव्यम् । तस्यैव यल्लक्षणान्तरं "चतुष्कोणक्षेत्रे जिनलवकमध्यस्थितगुणे विहायाधः सार्द्धद्वयमुपरि तावच्चमतिमान् । कलांशेनांशस्योनितमुपरि तिर्यक्कुलगुणं भ्रमार्द्धं तन्मानादपि शशिदलं कुण्डमितितस्वि"ति । अत्र एकोनविंशत्यङ्गुलानि सार्द्धयवानि व्यासः । तत्र सूक्ष्मगणनायां पञ्चाङ्गुलानि न्यूनानि तत्कृतस्थूलगणनप्रकारेणाऽपि सार्द्धमङ्गुलं न्यूनं भवति । *यत्तु तेनोक्तं* "मण्डलं चतुरस्रमिति" *कात्यायन*वचनेन संवाद्यमिति । तदप्यसिद्धं संवादाभावात् । *सिद्धान्तशेखरे तु* "नवधा भाजिते क्षेत्रे चतुरस्रे समे तदा । दक्षिणेचोत्तरे चांशमेकैकं तु परित्यजेत् ॥ सप्तांशमध्यसूत्रेण भ्रमणादर्द्धचन्द्रकम्" इति । *कामिकेऽपि* "चतुरस्रे ग्रहैर्भक्ते त्यक्त्वान्त्याद्यौ तदंशकौ । मध्येसप्तांशमानेन कुण्डं खण्डेन्दुवद्भ्रमात" । इति ॥ अत्रोभयत्र अष्टादशाङ्गुलानि एकस्य द्वौ तृतीयांशौ व्यासः । अतोऽत्यन्तं न्यूनं क्षेत्रफलम् ॥ चतुरस्रप्रकृतितया त्र्यस्रिकुण्डमाह *चतुर्द्धेति* । क्षेत्रचतुरस्रमध्यसूत्रे चतुर्द्धा भेदिते उभयपार्श्वयोस्तिर्यक् प्रतीचीसूत्रपार्श्वयोरेकैकमंशं वर्द्धयेत् । तन्मानात् चतुर्थांशमानेन अप्रतोलाञ्छयेत् । ततः सूत्रत्रयं दद्यात् *तत्रप्रकारः*" तिर्यक् प्रतीची सूत्रपार्श्वयोर्यं लाञ्छने तदवधि प्रतीचीसूत्रं वर्द्धयेदित्येकम् । वर्द्धितनैर्ऋत्यकोणान्मध्यसूत्राग्रदत्तलाञ्छनं यावत् सूत्रं पातयेदिति द्वितीयम् । ततो वर्द्धितवायुकोणान् मध्यसूत्राग्रदत्तलाञ्छनं यावत् सूत्रं पातयेत् इति तृतीयम् । एवमूर्द्ध्वाग्रं पूर्वाभिमुखं त्र्यस्रिकुण्डं भवति । *तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे* "त्रिकोणकुण्डमुच्यते । "नैर्ऋत्ये दर्शितं कुण्डं विद्वेषे पूर्ववत्सूक्ष्ममसि"नि । अत्र क्षेत्रोपपत्तिः भूः ३६ लम्बः ३० ततो "लम्बगुणं भूम्यर्द्धमि"त्यादिना जातं क्षेत्रफलम् ५४० षट्त्रिंशदङ्गुलानि न्यूनानिसर्वं च त्र्यस्रं यतः षट्त्रिंशद्भूः । भुजौतु "तत्कृत्योर्योगपदं कर्ण"इति प्रकारेणानीतौ पञ्चत्रिंशदात्मकौ, त्र्यस्रिकुण्डे तु भुजत्रयं साम्यं चापेक्षितं तदर्थंकेचन अन्यथा व्याचक्षते चतुर्द्धा क्षेत्रे भेदिते एकैकमंशं पार्श्वयोर्वर्द्धयेत्तन्मानेन वर्द्धितानन्तरं यत षट्त्रिंशमानं तेन मानेनाप्रतोलाञ्छयेत् । तत्र लाञ्छनप्रकारः वर्द्धितपार्श्वयोः षट्त्रिंशदङ्गुलमितसूत्रस्यार्धं निधाय प्राचीसूत्राग्रे लाञ्छयेदिति । ततः पूर्ववत् सूत्रत्रयं दद्यात इति । एवं च सति भुजत्रयसाम्यं भवति । उभयपार्श्वे मिलित्वा यवचतुष्टयप्रक्षेपाद् हस्तक्षेत्रफलसाम्यं च भवतीति *बुध*इत्यनेन सूचितमिति ते वदन्ति ॥ *मया तु* समत्रिभुजता चान्यूनानतिरिक्तक्षेत्रफलता च यथा भवति तथा सर्वानुगतप्रकार उच्यते । "चतुर्विंशतिधा भक्ते सूत्रे चोभयपार्श्वयोः । द्वादशांशाग्रवैकस्य भागानेकोनविंशतिम् ॥ अर्द्धांशो वर्द्धयेत्पश्चि भवे-

एकैकमंशं तन्मानादग्रतो लाञ्छयेत्ततः ॥
सूत्रयुग्मं बुधः (ततः) कुर्यात्त्र्यस्रकुण्डमुदाहृतम् ॥५८॥

तत्सूत्रत्रयात्समात्" ॥ अस्यायमर्थः सम्पन्नः । षडङ्गुलानि यूकोनयवद्वयाधिकानि एकपार्श्वे वर्द्धयेत् । एवं द्वितीयपार्श्वे, तदा सप्ताङ्गुलानि (४) चत्वारो यवाः । षड् (६)यूकाधिकाः प्राक्सूत्रं वर्द्धितं भवति । ततो भूः ३६ अङ्गुलानि३यवाः६ यूका सार्द्धलिक्षाद्वयं लम्बः ३१ अङ्गुलानि ४ यवाः ६ यूकाः । तत्र "लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डमिति" प्रकारेण क्षेत्रफलानयनाय लम्बस्य न्यासो यथा ३१ १९/३२ ३१ । १९ । ३२ सवर्णितः १०११/३२ ६९३।३८।१११।३२ भूः ३६ ९/१६ ३६।९।१९ सवर्णितः ६९३/१६ ६९३।१९ मुखशून्यमत ऐक्यमिदमेव तदर्द्धं छेदस्य द्वैगुण्यात् मुखैक्यखण्डमिति । ततो "लम्बेन निघ्नंकुमुखैक्यखण्डमि"गंत कृते छेदेन भक्ते लब्धं क्षेत्रफलं यथा ६७६ अत्र भुजत्रयं सममेव । *क्रियासारेऽपि* समभुजतोक्ता । "क्षेत्रमष्टांशकं कृत्वा पार्श्वयोरंशकौ बहिः । न्यस्त्वा तनूमानसूत्रेण न्यसेत्सूत्रत्रयं समम्" इति । क्षेत्रफलमत्रापि व्यभिचरत्येव । यतो ३६ लम्बः क्षेत्रफलम् २९ अतिन्यूनत्वात् ॥ *अन्ये एवं व्याचक्षते* पार्श्वयोरंशकाविति । एकस्मिन्पार्श्वेअंशद्वयं द्वितीयपार्श्वे अंशद्वयं तेन पञ्चदशाङ्गुलानि नूतनक्षेत्रमध्ये भवन्ति द्वितीयमतव्याख्यातशारदापद्यार्थेन संवादश्च भवति *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* समभुजतोक्ता "द्वात्रिंशदङ्गुलं सूत्रं त्रिधा तत्पातयेद्ध्रुवम् । पूर्वाग्रं कुण्डकं कृत्वा त्रिकोणं तु प्रकारयेत्" इति । अत्रापिक्षेत्रफलंव्यभिचरत्येव यतः २७ अङ्गुलानि ५ यवा लम्बः क्षेत्रफलम् ४४० ॥ *अन्यत्रापि* "शर्वरी १६।८। शार्द्धभागोकृतक्षेत्रतः पार्श्वयोर्न्यस्य भागद्वयं पण्डितः । तेन मानेन सूत्रद्वयं विन्यसेत कुण्डमेतत् भवेद्रुद्रनेत्रास्रकमि"ति । इदंलक्षणद्वयं षण्णवतिपरिधिरेखाभिप्रायेण । अग्रे लिखितकादिमतेऽपि समभुजतोक्ता । मयात्रलम्बस्तु गणितापटून् प्रति उक्तः । गणितज्ञैस्तु—"स्वाबाधाभुजकृत्योरन्तरमूलं प्रजायते-लम्बः" इति लम्बमानीय क्षेत्रफलं संपाद्य सन्तोष्टव्यम् । अथवा लम्बंविनैव "सर्वदोर्युतिदलं चतुः स्थितं बाहुभिर्विरहितं च तद्धतेः । मूलमस्फुटफलं चतुर्भुजेस्पष्टमेतदुदितं त्रिबाहुके" इति प्रकारेणानीय संतोष्टव्यम् । *मूलशेषाद्यबाधानयनार्थं प्रकार उच्यते* "मूलशेषं त्ववयवसंख्यानिघ्नमथो भजेत् । द्विघ्नसंकेन मूलेन फलंत्ववयवा मताः" ॥ अथवा भास्कराचार्यप्रोक्तमार्गेण "वर्गेण महतेष्टेन वधाच्छेदांशयोर्हतात् । पदं गुणपदक्षुण्णच्छिद्भक्तं निकटं भवेत्" ॥ इत्यानेयमासन्नमूलम् । यत् कस्यचिदतिगणितज्ञाभिमानिनः । आगमज्ञाभिमानिनश्च लक्षणद्वयम् । "क्षेत्रत्र्यंशं पुरस्तुर्यमधश्चाभयपार्श्वयोः । वर्द्धयित्वा कृतैः सूत्रैः कुण्डं त्र्यस्रं त्रिभिर्भवेद"गंत । "क्षेत्रस्य मध्यमगुणे जिनभागभक्ते श्रोण्योः पृथक्शरलवान् परिवर्ध्य धीमान् । अग्रे विनाष्टमलवेन दशाथ सूत्रैस्त्र्यस्त्रिभिर्भवति कुण्डमिह प्रयुक्तैः" इति । अत्र पूर्वोक्तलक्षणं किंचिद्धस्वत्र्यस्रं द्वितीयं तु महालम्बं क्षेत्रफले च एकयवन्यूनता तेन यत्किंचिदेतत् । अत्र क्षेत्रफलसाम्यात् त्र्यस्राकारत्वाच्च त्रिकोणकुण्डतेति चेत् तदाकुण्डस्वरूपमननुगतं स्यात् । यदा ३१ अङ्गुलानि६ यवाः लम्बः भूः३६ अङ्गुलानि२ यवौ । अत्रापिक्षेत्रफलंसमानमेव । एवं सहस्रधा त्र्यस्रं कुण्डं स्यात् । अतस्त्र्यस्रकुण्ड क्षेत्रफलानयनमेव न प्रमाणं समत्रिभुजतावश्यमपेक्षितंस्यलम् । *अथ शुल्बेकात्यायनः* "प्रउगेयावानग्निः सपक्षपुच्छविशेषस्तावत् द्विगुणं चतुरस्रं कृत्वा यः पुरस्तात्करणमध्ये शङ्क्वौ च श्रोण्योः सोऽग्निरिति" । *अस्यार्थः* । संक्षेप उच्यते । यावतः क्षेत्रस्य त्र्यस्रता कर्तुमिष्टा तत् क्षेत्रं द्विगुणितं न्यसेत् । ततः प्रतीचीसूत्रकोणोभयतः सकाशात्अस्य क्षेत्रफलमङ्गुलद्वयमधिकम् । इदं तु ऋषिणा शिष्यबुद्धिवर्द्धको माभूव इत्युपेक्षितमिति तदूर्ध्वतिकारैरेव व्याख्यातम् । इयं लम्बता तु तत्रेष्टकाचितरूपादनाय न तु कुण्डाकारता संपादनार्थम् ॥ नन्विदमेव कल्पकृद्वचनं कुण्डाकारतासंपा-

अष्टादशांशे क्षेत्रे च न्यसेदेकं बहिर्बुधः ॥

दनार्थं प्रमाणमस्तु इति चेत् ? तदा शारदातिलककारादिमतपञ्चरात्रकामिकक्रियासारसिद्धान्तशेखराऽऽम्नायरहस्यमहाकपिलपञ्चरात्रादिष्वन्येष्वपि बहुषु ग्रन्थेषु मुनिप्रणीतेष्वपि विरोधोदृश्यते । अत्र किं ग्राह्यमिति संशय एव स्यात् । न च वाच्यं कल्पसूत्राणां साक्षात् उपलभ्यमानश्रुतिमूलानामनुमितश्रुतिमूलाभ्यः स्मृतिभ्योऽधिकं प्रामाण्यं नानाशाखागतलिङ्गादिकल्पितश्रुत्यर्थोपसंहारोपनिबद्धस्य कल्पस्वरूपत्वात् । प्रयोगशास्त्रमिति चेदित्यस्मिन्नधिकरणे भाष्यकृता कल्पप्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वादिति वार्त्तिककारेणान्यथाधिकरणरचनायाः कृतत्वात् । तथाहि । इहकल्पानां प्रामाण्याप्रामाण्यचिन्ता न क्रियते । किन्तर्हि कल्पसूत्राण्युदाहृत्येदं चिन्त्यते किं तेषां स्वतन्त्राणामेव वेदवत्प्रामाण्यमुत स्मृतिवत् श्रुतिपरतन्त्राणांमिति ? तत्र श्रुतिपारतन्त्र्येण स्मृतिवदेव प्रामाण्यंस्थापितम् ॥ किं च विरोधाधिकरणे "औदुम्बरींस्पृष्ट्वोद्गायेदि"ति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधात् "औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्येति" कल्पकृद्वचनं लोभमूलमिति भाष्यकारैः सिद्धान्तितम् । अतः सर्वासां स्मृतीनां विरुद्धत्वात् । "श्रुतिद्वैधं तु यत्रस्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ" । इति वचनस्यात्रानवकाशात् । अष्टदोषदुष्टत्वात् च विकल्पाभावात् संदेह एव स्थितः । तथा च तत्र विहितस्य कर्मणोऽननुष्ठानमेव स्यात् । तस्माद्यत्र समत्रिभुजता तुल्यक्षेत्रफलत्वं न भवति । तदेव त्रिकोणकुण्डमिति सिद्धान्तः सर्वेषु लक्षणवचनेषु । कानिचित् क्षेत्रफलव्यभिचारीणि कानिचित्समभुजताव्यभिचारीणीति । अतस्तानि त्र्यस्राकारतामात्रसंपादनफलानीतिज्ञेयम् । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "चतुरस्रीकृते क्षेत्रे क्षेत्रमष्टांशकं बहिः । विन्यसेद्गर्भसूत्राग्रे प्रतीचीसूत्रपार्श्वयोः ॥ सूत्राणां त्रितयं न्यस्येत्त्रिकोणं कुण्डमीरितम्"इति । अत्र च सप्तत्यधिकशताङ्गुलानि न्यूनानि विषमभुजत्वा च । "तस्यैव षष्ठमंशन्तु पार्श्वयोः प्रविकाशयेत् । प्रत्येकं पश्चिमं सूत्रं तन्मानेनाथ सूत्रयोः ॥ विन्यासाद्ब्रह्मसूत्रान्तात्तदग्रावधिलम्बनात्" इति । *कादिमतेषट्त्रिंशदङ्गुलानि समभुजतास्ति । षण्णवतिपरिधिरेखाभिप्रायं चेदं लक्षणम् । "त्रिभागवृद्धितो मत्स्यैस्त्रिभिर्नैशाचरं भवेदि"ति । *कामिकेऽपि* तत्र चतुर्वर्गचिन्तामणिकारैः स्थानत्रये भागत्रयवृद्धिरिति व्याख्यातम् । तन्मते चतुः षष्ट्यङ्गुलान्यधिकानि । अन्यैस्तु अष्टोत्रंशवृद्धिरुभयपार्श्वेऽर्द्धार्द्धनया एकांशवृद्धिरिति व्याख्यातम् तन्मते चतुः षष्ट्यङ्गुलानि न्यूनानि । उभयमतेऽपि विषमभुजतैवेत्यलम् ॥९३॥९४॥९५॥९६॥९७॥९८॥

चतुरस्रप्रकृतितया वृत्तं कुण्डमाह *अष्टादशेति* । *क्षेत्रे* पूर्वंवच्चतुरस्रमध्य मध्यसूत्रे *अष्टादशांशे* अष्टादशधा विभक्ते *एकमंशंबहिः* कस्मिन्नपि सूत्रे न्यसेत् वर्द्धयेत् । *तेन मानेन* । मध्यात्तन्मानेन वर्द्धितमानेन *भ्रमये* तदा *वृत्तं* पूर्वाभिमुखं *कुण्डं* । न विद्यते उत्तमं यस्मादित्यनुत्तमम्* । अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । तत्राष्टादशांशः १ अङ्गुलं २ यवौ ९ यूकाः । तत्र वृत्ते कृते व्यासे एतद्द्विगुणे २ अङ्गुले ५ यवाः २ यूके । एतावद्वर्द्धते तदा २६ अङ्गुलानि । एकाङ्गुलस्य द्वौ तृतीयांशौ । अयंव्यासः २६ २/३ । सवर्णितः ८०/३ अथवा ग्रन्थकृदुक्तप्रकारेणैव व्यासः । तत्र द्वौ अष्टादशांशौ तेन एको नवमांशःसवर्णितः २४।२४९।८०।३॥ अथ समच्छेदार्थं न्यासः ८०/३ समच्छेदौ २१६/९ । २४/९ । योगः २४०/९ । त्रिभिरपवर्तितः। स एवाङ्कः । ततो "व्यासस्य वर्गेभनवाग्निनिघ्ने" २४/१ । २४/९ सूक्ष्मम्फलं यच्च सहस्रभक्त"इत्यादिप्रकारेण लब्धंक्षेत्रफलं पञ्चशतीअष्टाधिकानि पञ्चाशदङ्गुलानि तेनाष्टादशाङ्गुलं क्षेत्रं न्यूनं भवति । तेन क्षेत्रफलाव्यभिचारी सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते "वृत्तकुण्डे मध्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् । एकांशपञ्चत्रिंशांशसहितं सार्द्धमंशकम् ॥ बहिर्न्यस्य भ्रमान्मध्याद्वृत्तं कुण्डमितीरितम् ।" अत्र सार्द्धांशमेकमङ्गुलं चत्वारो यवाः एकस्य पञ्चविंशोंऽशः २ यूके ४ लिक्षा अर्द्धं प्रहितः । वृत्ते

भ्रमयेत्तेनमानेन वृत्तं कुण्डमनुत्तमम् ॥ ५९ ॥
अष्टधाविभजेत्क्षेत्रं मध्यसूत्रस्यपार्श्वयोः ॥

कृते एतत् द्विगुणं ३ अङ्गुलानि १२ यवाः ६ यूकाः १ लिक्षा तेन सर्वस्य व्यासस्य न्यासः २७२/२५
अयं सवर्णितः ६७७/२५ "व्यासस्य वर्गे भनवाग्नी"त्यादिना लब्धं क्षेत्रफलं ५७६ इदं सूक्ष्मगण-
नया। क्षेत्रफलं तु *शुल्बे कात्यायनः* "चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यादंशे निपात्य पार्श्वतः
परिलिख्य यदतिरिक्तं भवति तस्य तृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत्स समाधिरि"ति । अ-
त्रांशशब्देन कोणः तत्कर्णसूत्रार्द्धम् १७ अङ्गुलानि यूकाद्वयोनानि । तच्च मध्यसूत्रार्द्धात् पञ्चा-
ङ्गुलानि यूकाद्वयन्यूनानि। अधिकं तस्य तृतीयोंऽशोऽङ्गुलमेकमेकाङ्गुलस्य द्वौ तृतीयांशौ तेन
१३ अङ्गुलानि । एकस्य द्वौ तृतीयांशौ व्यासार्द्धं अयं द्विगुणितो व्यासः २६ ३८/३६ २७।३। सव-
र्णितो यथा ८२/३ अस्य क्षेत्रफले दशाङ्गुलानि वर्द्धन्ते ॥ यत्तु गणितज्ञाभिमानिनो लक्षणं "षो-
डशधाकृतमध्यमसूत्रक्षेत्रपुरः परिवर्द्धितभागे । एककएव ततोऽन्तरचिह्नात् मण्डलकुण्डमिह
भ्रमणात्स्यादि"ति । अत्र सप्तविंशत्यङ्गुलानि व्यासः। तस्य क्षेत्रफलं ५७२ अङ्गुलानि।
अत्र चत्वार्यङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति इति न तदपि सम्यक् । *कामिके तु* "कर्णार्द्धाष्टांश-
संन्यासाद्वृत्तं कुण्डमिहोदितमि"ति । पुरस्तात् सम्यक् न्यासः संन्यासः । अत्र साष्टमां-
शचतुर्दशाङ्गुलानि व्यासोऽर्द्धमिति महान् व्यभिचारः । *ग्रन्थान्तरे तु* "चतुरस्रं पुराकृत्वा
कुण्डक्षेत्रप्रमाणतः । नवभागं पुराकृत्वा चैकंभागं बहिर्न्यसेत ॥ तस्मान्नूमध्यं गृहीत्वैवं भ्रमात्त
(तद्भ्रमा)द्वर्तुलं भवेदि"ति । अत्रैकस्य तृतीयांशसहितानि एकोनत्रिंशदङ्गुलानि व्यासः। तेन
महत्तरमन्तरम् । केचन एकं भागं बहिर्न्यसे "दर्द्धार्द्धतये"तिशेषः । तदा मूलपद्येन सहैकवा-
क्यता भवति इति वदन्ति । *सिद्धान्तशेखरे* तु "चतुरस्रे सुसंसिद्धे तद्बाह्ये भागमष्टमम् ।
क्षेत्रस्य विन्यसेद्दिक्षु मध्यात्तन्मानसूत्रतः ॥ भ्रमणभ्रामणेनैवं वृत्तं कुण्डमुदीरितम्" इति ।
अत्र त्रिंशदङ्गुलानि व्यासस्तेन महत्तममन्तरम् । अतः सिद्धान्तशेखरवचनं कैश्चिदन्यथा
व्याख्यातं । क्षेत्रस्याष्टमं भागं बाह्ये दिक्षु विन्यसे "दर्द्धार्द्धतये"ति शेषः । तेन उभयपार्श्वे-
मिलित्वा अष्टमो भागो भवति । तदा व्यासः २७ क्षेत्रफलं चतुरङ्गुलन्यूनं सूक्ष्मगणनयेति
ज्ञातव्यम् । स्थूलगणनायामङ्गीक्रियमाणायां लिखितकात्यायनवचने महदन्तरम् स्या-
दित्यलम् ॥ ६९ ॥

चतुरस्रप्रकृतितयापडस्रंकुण्डमाह *अष्टधेति* । *क्षेत्रं* चतुरस्रमध्यसूत्रमष्टधा *विभजेत्*
*मध्यसूत्रस्ये*त्यत्र मध्यसूत्रपदेन दक्षिणोदग्गतसूत्रं गृह्यते पार्श्वयोरिति वचनात् । अन्यथा
अधऊर्ध्वमित्येव ब्रूयात्तस्य *पार्श्वयोर्द*क्षिणोत्तरायोः*रेकमेकं भागं न्यसेद्द*हिर्वर्द्धयेत् । ततः
अनेन मानेन वर्द्धितमानेन वर्द्धितमानचिह्नेन *मध्यतो* मध्याच्च *पार्श्वयुगे* वर्द्धित-
दक्षिणोदग्गतसूत्रमध्यस्य दक्षिणपार्श्वे वामपार्श्वे च पूर्वापरभागयो *र्मत्स्यचतुष्कं कुर्यात्* ।
तन्त्रवित्तम इति । अनेन सम्प्रदायेनैवायमर्थो ज्ञेय इत्युक्तम् । तत्र मत्स्योत्पादनप्रकारः ।
क्षेत्रमध्यादुत्तरकृतचिह्नपरिमिततत्सूत्रस्यादिं क्षेत्रमध्ये निधाय पूर्वैशानयोरन्तराले वृत्तार्द्धं
कृत्वा तत उत्तरकृतचिह्ने तत्सूत्रादिं निधाय तदर्द्धवृत्तभेदिवृत्तार्द्धं कुर्यादेवं पूर्वैशानयोर्दिशो-
रन्तराले मत्स्यसिद्धिः । एवमेव क्षेत्रमध्याद्दक्षिणकृतचिह्नाच्चार्द्धपूर्वाग्नेयदिशोरन्तराले च
मत्स्यद्वयं कुर्यात् । एवमेव प्रकारेण पश्चिमवायव्ययोरन्तराले पश्चिमनैर्ऋत्ययोरन्तराले च म-
त्स्यद्वयं कुर्यात् । तत उत्तरचिह्नात् पूर्वैशानान्तरालमत्स्यं यावदेकं सूत्रं पश्चिमवायव्यान्तरा-
लमत्स्यं यावत् द्वितीयं सूत्रं दद्यात् । ततो दक्षिणचिह्नात् पूर्वाग्नेयान्तरालमत्स्यं यावत् एकं

भागंन्यसेदेकमेकं भागेनानेन मध्यतः ॥ ६० ॥

सूत्रं पश्चिमनैर्ऋत्यान्तरालमत्स्यं यावत् द्वितीयंसूत्रं दद्यात्। एवं सूत्रचतुष्टयदानम्। ततः पूर्वमत्स्ययोर्मिथ एकं तद्वत्पश्चिममत्स्ययोर्मिथ एकं सूत्रं दद्यात्। एवं षट्सूत्रसंपातेन पूर्वाभिमुखषडस्रं कुण्डंभवति। तदुक्तं *क्रियासारे* क्षेत्रं वस्वंशकं कृत्वा बहिः पार्श्वद्वयेंऽशकौ। न्यस्त्वा तेन प्रमाणेन मध्यात्तुल्यं यथान्यसेत ॥ कोणान्यन्यानि चत्वारि पार्श्वयोश्च द्वयं द्वयम्। षट्सूत्राणि न्यसेत्तेषु तत् स्यात् षट्कोणकुण्डकम्" इति। *सिद्धान्तशेखरेऽपि*। "चतुरस्रसमे सिद्धे क्षेत्रमष्टांशकं बहिः। अग्रयोर्गर्भसूत्रस्य योजयेत्तत् प्रदेशतः॥ गर्भमध्यप्रमाणेन सूत्रेण भ्रमयन्त्रकम्। गर्भमध्ये बहिर्भागे विन्यस्य भ्रमणाद्भवेत् ॥ उत्तरे दक्षिणे बाह्ये मत्स्ययोर्द्वितयं ततः। मीने बाह्यांशके मीनेमीनयुग्मे ततः क्रमात् ॥ सूत्रषट्कं न्यसेत्तत्तु कुण्डं षट्कोणमीरितम्" इति ॥ अत्र गर्भसूत्रस्येति दक्षिणोदग्गतसूत्रस्य उत्तरे दक्षिण इति वर्द्धितदक्षिणोदग्गतसूत्रमध्यस्य उत्तरपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे इत्यर्थः। अत्र क्षेत्रोपपत्तिः। विषमचतुरस्रद्वयं कल्पयेत्। तत एकस्य भूः ३० अङ्गुलानि मुखं १६ लम्बः १३ ततो "लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डम्" इत्यनेन प्रकारेण लब्धं क्षेत्रफलं २९२ यवचतुष्टयाधिकम्। एवं द्वितीयचतुरस्रस्यापि २९२ यवचतुष्टयाधिकम्। एकत्र मिलितम्। ५८५ एवं नवाङ्गुलान्यधिकानि भवन्ति। षट्भुजसमता भवत्येव। अत्र "स्वाबाधाभुजकृत्योरन्तरमूलं प्रजायते लम्ब" इत्यनेन लम्बसाधनं ज्ञेयम्। यद्वा क्षेत्रत्रयं कल्पयेत्। मध्ये आयतचतुरस्रम्। पार्श्वयोस्त्र्यस्रद्वयम्। तत्राद्यतः चतुरस्रस्यफलं ३९० एकस्य चतुरस्रस्यफलं ९७ यवचतुष्टयाधिकम्। एवं द्वितीयस्यापि मिलित्वा क्षेत्रफलं ५८५ एवं विषमचतुरस्रचतुष्टयं परिकल्प्य १४६ यवद्वयम्। एवमेतावदेकैकस्य फलमानीय सन्तोष्टव्यम् ॥ यद्वा त्र्यस्रषट्कं परिकल्प्य एकैकस्य ९७ यवचतुष्टयाधिकं फलमानीय संवाद्यम्। एवमन्यप्रकारेणापि फलसंवाद ऊहनीयः ॥ *अन्येत्वन्यथा वर्णयन्ति*। क्षेत्रं चतुरस्रमध्यसूत्रमष्टधा विभजेत्। मध्यसूत्रस्य प्राचीसूत्रस्य पार्श्वयोरधऊर्ध्वं च एकं भागंन्यसेत्। मध्यसूत्रस्य दक्षिणोदग्गतस्य च पार्श्वयोरधऊर्ध्वमेकं भागं न्यसेत्। ततो मध्यतोऽनेन मानेन पार्श्वयुगे मत्स्यचतुष्कं कुर्यात्। तत्र मत्स्यकरणप्रकारमाह-पूर्वापरायतसूत्रचिह्नद्वयस्य दक्षिणोत्तरतस्तेनमानेन मत्स्यद्वयं कुर्यात। तत्र चतुरस्रपूर्वपरिधिरेखया दक्षिणोत्तरया प्राचीसूत्रस्य यत्रसम्पातस्ततउपर्यधश्च त्र्यङ्गुलेन तां परिधिरेखामङ्कयित्वा पूर्वतः कृतचिह्नदक्षिणभागे अर्द्धवृत्तं कृत्वा परिधिरेखागतदक्षिणचिह्नात् तद्व्यक्तिभेदि अर्द्धवृत्तं कुर्यात्। एवं दक्षिणभागे मत्स्यसिद्धिः। एवमुत्तरभागेऽपि। एवमुक्तप्रकारेण चतुरस्रपश्चिमपरिधिरेखायामपि अङ्कद्वयं कृत्वा पश्चिमदिशि कृतचिह्नस्य दक्षिणोत्तरभागयोर्मत्स्यद्वयं कुर्यात्। ततो वर्द्धितदक्षिणचिह्नात् पूर्वादिद्दक्षिणविभागमत्स्यं यावदेकं सूत्रं पश्चिमदिग्दक्षिणभागमत्स्यं यावत् द्वितीयंसूत्रम्। एवं वर्द्धितोत्तरचिह्नात् पूर्वदिगुत्तरभागंमत्स्यं यावदेकं सूत्रं पश्चिमदिगुत्तरभागमत्स्यं यावत् द्वितीयं सूत्रम् एवं सूत्रचतुष्टयदानम्। ततः पूर्वमत्स्ययोर्मिथएकंसूत्रम्। पश्चिममत्स्ययोर्म्मिथ एकं सूत्रम्। एवं षट्सूत्रस्य सम्पातात् षडस्रं कुण्डमिति। अत्र विषमचतुरस्रद्वयं प्रकल्प्य एकस्य क्षेत्रफलं २७० एवं द्वितीयस्यापि मिलित्वा ५४०। तन्मते मध्यसूत्रस्य पार्श्वयो रित्यस्यावृत्तिर्भवति। किंच क्वचिन्मध्यसूत्रशब्देन प्राचीसूत्रं गृह्यते। क्वचिद्दक्षिणोदग्गतसूत्रं तदसम्बद्धं प्रमाणाभावात्। मध्यत इति पदं व्यर्थमेव स्यात्। मत्स्योत्पादनार्थं चतुरस्रपरिधिरेखयोर्यदङ्कनं तदपि स्वकपोलकल्पितम्। क्षेत्रफलमध्ये षट्त्रिंशदङ्गुलानि न्यूनानि विषमभुजताचेत्यज्ञानविजृम्भितम्। येतु अस्यैव व्याख्याने प्राचीसूत्रपूर्वापरभागयोः कोणपातमिच्छन्ति। ते नमस्या एव। अथ तत्र क्षेत्रफलसाम्यापादनाय बहवः प्रकाराः सम्भाव्यन्ते। *तत्र कश्चित्* "अष्टधा विभजेत् क्षेत्रं मध्यसूत्राग्रोपरि। साग्रं न्यसेदेकमेकं पार्श्वयोस्तु दिगङ्कतः॥ संवर्ध्य क्षेत्रेष्वष्टांशं तत ऊ-

कुर्यात्पार्श्वयुगे (द्वये) मत्स्यचतुष्कं तन्त्रवित्तमः ॥
सूत्रषट्कं ततो दद्यात्षडस्रं कुण्डमुत्तमम् ॥ ६१ ॥

र्ध्वाधरौ तिमी । क्षेत्राष्टमांशतः कुर्याद्दिक्सूत्रे तावदङ्कतः ॥ सम्भेद्य क्षेत्रषष्ठांशगुणेनैव मुद्रिकिमी । षट्सूत्रीं पातयेत् तेषु षडस्रं कुण्डमुत्तमम्" इति । अत्र दक्षिणोदग्गतमध्यसूत्रमष्टाङ्कुलं वर्द्धितं क्षेत्रफलमन्यूनातिरिक्तमेव । षड्भुजसाम्यं नास्ति । तथाच "अष्टोनद्विशतांशकेतरगुणे क्षेत्रस्य तिर्यक्स्थितान्तः सूत्रोभयतो भर२७वर्द्धनभवाङ्कोर्ध्वाधरे चिह्नयेत् । तत्वा २९ शेषु झषैः पुरोप्यधरतोङ्कद्वयंश २९ वृद्धौ झषद्वन्द्वाद्द्विद्विगुणैर्द्विपार्श्वगुणतस्तिम्योः षडस्रीरितम्" इति । अत्रापि क्षेत्रफलमन्यूनानतिरिक्तमेव । षड्भुजसाम्यं च नास्ति । *अन्यच्च* इदं वायव्यकुण्डं तच्च पूर्वाग्रम् । अत्र च पूर्वपश्चिमयोरेव कोणपाताद्योनिस्थापनानवकाशात् "न कुर्यात् कुण्डकोणेषु योनिं तां तन्त्रवित्तम" इति । कोणे योनिस्थापनस्य निषेधात् । कुण्डस्य पूर्वाग्रता व्याहन्यते । एतल्लक्षणद्वयकृता च स्वग्रन्थे कुण्डान्युक्त्वोक्तम् । "प्रागादिकुण्डत्रयमुत्तराग्रं याम्यस्थयोनीतरपञ्चकुण्डी । प्रागग्रिका पश्चिमयोनिरत्रे"ति योनिलक्षणं वदता चोक्तम् "मघवशिखिकृतान्तदिक्स्थकुण्डे ष्वियमधिमेखलमेव मध्यभागे । यमदिशि शशिदिङ्मुखी निवेश्या वरुणदिशीतरकुण्ड ऐन्द्रवक्त्रा" इति । तेन स्वग्रन्थेन पूर्वापरविरोधोऽपि नोपलक्षित इति यत्किंचिदेतत् । तथाच । प्राचीमध्यसूत्रमङ्गुलत्रयं वर्द्धयेत् । ततो वर्द्धितचिह्नाद् दक्षिणोत्तरतः चतुरङ्गुलमानेन चतुरस्रपूर्वपरिधिरेखाङ्काभ्यां मत्स्यद्वयं कुर्यात् । एवं पश्चिमदिश्यपि दक्षिणोदग्गतसूत्रमङ्गुलत्रयमङ्गुलस्य षष्ठांशसहितं वर्द्धयेत् । एवमपि क्षेत्रफलमन्यूनमेव । इतोपि बहवः प्रकाराः सम्भाव्यन्ते । क्षेत्रफलसाम्यापादनाय (नतु) षड्भुजसाम्यापादनाय । एवं कुण्डमननुगतता प्रसज्येत । तेन षडस्रकुण्डे षण्णामपि भुजानां सम्यक् क्षेत्रफलसाम्यमवश्यमपेक्षितम् । यतोऽत्र क्रियासारे कादिमते कामिके सिद्धान्तशेखरेऽपि षड्भुजसमताया उक्तत्वात् । *तत्र सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते* "षडस्रे मध्यसूत्रं तु चतुर्विंशतिधा भजेत् । तच्चैकैकनवांशोनं त्र्यंशैः संवर्ध्य मध्यतः ॥ भ्रमयेत् तेन सद्वृत्तं तद्व्यासार्द्धेन लाञ्छयेत् । षट्सु स्थानेषु षट्सूत्रपातनात्तत्षडस्रकम्" ॥ *अस्यार्थः* । त्र्यंशाः अङ्गुलत्रयं तत्कीदृक् ? एकैकस्य नवमोंऽशः तेनोनं तेनायं वृत्तव्यासः २९ अङ्गुलानि ६ यवाः २ यूके किंचिदूने । तस्यसवर्णनार्थं न्यासः २९। सवर्णितः २६८ व्यासस्यार्द्धं १३४ व्यासचतुर्थांशः ६७ इयमेवाबाधा । ततः "स्वाबाधाभुजकृत्योरन्तरमूलं प्रजायतेलम्बः" इत्यनेनानीय लम्बम् । कुमुदैक्यखण्डलम्बेन गुणिते च्छेदेन भक्ते लब्धम् । एकविषमचतुरस्रस्य क्षेत्रफलम् २८८ एवं द्वितीयस्यापि मिलित्वा क्षेत्रफलम् ५७६ । अथवा मध्ये आयतचतुरस्रं पार्श्वयोस्त्र्यस्रद्वयं कल्पयेत् । तत्र व्यासचतुर्थांशः शरः । अयमेवोभयत्र्यंशस्य लम्बः । ततः "व्यासाच्छरोनाच्छरसंगुणाच्च मूलं द्विनिघ्नं भवतीह जीवे"ति । आनीता ज्या २६ किंचिदूना ततोमध्यायतचतुरस्रस्य "तथायते तद्भुजकोटिघात" इत्यनेन पूर्ववच्च त्र्यस्रद्वयस्यापि फलमानीय सर्वमेकीकृतं क्षेत्रफलम् ५७६। एवं विषमचतुरस्रचतुष्टयं त्र्यस्रषट्कं वा कल्पयित्वा फलसंवाद ऊहनीयः । अत्र षण्णां भुजानामपि साम्यमस्ति । तत्तु "खखखाभ्ररसैरङ्कै ६०००० र्वृत्तव्यासे समाहते । खखखाभ्रार्कै १२०००० सम्भक्ते लभ्यन्ते क्रमशो भुजाः" इति भास्कराचार्योक्तपरिपाट्या भुजानयनेन समूह्यम् । यत्तु *कादिमते* "तन्मध्यद्वादशांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम् ।। तेन मानेन च तथा कृत्वा वृत्तमपि स्फुटम् ॥ तद्वृत्ते वृत्तमध्यस्य कुर्याद्द्वेन चाङ्कनम् । तत्र षट्सूत्रपातेन भवेत्कुण्डं षडस्रकम्" इति । अत्र क्षेत्रफलमध्ये (द्विसप्तत्यङ्गुलमध्ये) द्विसप्तत्यङ्गुलानि न्यूनानि । भुजसाम्यमस्त्येव "षड्भागवृद्धितोमत्स्यैश्चतुर्भिः स्यात् षडस्रकम्" इति॥ *कामिकेतु* महाव्यभिचारः भुजसाम्यमस्त्येव षण्णवतिपरिधिरेखा-

चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं विभज्याष्टादशांशतः ॥
एकं भागं बहिर्न्यस्य भ्रामयेत्तेन वर्तुलम् ॥ ६२ ॥

(१)विप्रायेणेदं लक्षणम् ॥ यत्तु ततल्लग्नमत्स्यचतुष्टयानुसारेण चतुरस्रसम्बन्धिपूर्वपश्चिमदक्षि-णोत्तररेखायां काञ्चनचतुष्टयं विदध्यात् इति चतुर्वर्गचिन्तामणिकारव्याख्यानम् । तत्तु क्षेत्रफला-नुसारेण कल्पितमिति उपेक्षणीयं तादृशशब्दाभावात् ॥ भुजसाम्याभावाच्च ॥ ६० ॥ ६१ ॥

चतुरस्रं प्रकृतितया पद्मकुण्डमाह *चतुरस्रीकृतमिति* ॥ इदं वृत्तकुण्डे वृत्तानि क्रियेत चेत्तदा "यावान् कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदीरितम्" इति वचनात् नज्ञायते कियत्खननं कुण्डे स्यात् इति नैतद्व्याख्यातं किं तर्हि *बहिरिति* । वीप्सा । "मध्यादि"ति शेषः । तेन वृत्ते कृते मध्याद्बहिर्बहिः कर्णिकादीनां त्रीणि वृत्तानि कुर्यादित्यर्थः । *तदुक्तं क्रियासारे* "कृत्वैवं पूर्ववद्वृत्तं तन्मध्ये वर्तुलत्रयम् । भ्राम्यैवं पङ्कजाकारं कारयेत्कर्णिकादि-भिः" इति । तदा यत्कृतं सर्वबाह्यवृत्तं तदेव दलाग्रवृत्तं स्यात् । तदा दलाग्रकरणे सत् क्षेत्रं त्यज्यते तेनात्यन्तं क्षेत्रस्य न्यूनता स्यात् । पूर्वं वृत्तकुण्डे अष्टादशाङ्गुलन्यूनता दर्शिता । अत्र ततोऽपि न्यूनता स्यात् । *तेनैवं कैश्चिद्व्याख्यायते* । इदं ग्रन्थकृता यद्वृत्तमुक्तं तत्तु क्षेत्रसंग्रहमात्रं कृतम् क्षेत्रसीमावृत्तमित्यर्थः । वक्ष्यमाणपद्मकरणे "पद्म-क्षेत्रस्य संत्यज्य द्वादशांशं बहिः सुधीः । तन्मध्ये विभजेद्वृत्तैस्त्रिभिः समविभागतः" इत्युक्तत्वात् । अत्र व्यासद्वादशांशं अङ्गुलद्वयं सपादं, तत्र यत्सीमावृत्तं तस्या एकाङ्गु-लमेको यवस्तत्रवृत्तं कुर्यात् । तदुपर्यपि तेनैव मानेन वृत्तं कुर्यात् । तेन मध्ये सीमावृत्तं जातम् । तत्रान्तर्वृत्तस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलानि यवत्रयं च व्यासः । तत्र समविभागतस्त्रीणि वृत्तानि कुर्यात्ततोवर्द्धितद्वादशांशेन दलाग्राणि कुर्यात् । तत्र बहिर्वृत्तस्याष्टाविंशत्यङ्गुलानि सप्तयवाः(२) व्यासस्तत्रोभयवृत्तक्षेत्रफलमेकीकृत्यार्द्धमस्य क्षेत्रफलम् । अत्रापि व्यभिचारः यतोऽधोवृत्तस्य क्षेत्रफलं ४६६। यवाः ९।०।०। ऊर्ध्ववृत्तस्य (सर्वोपरिवृत्तस्य) क्षेत्रफलम् ६६९ एकीकृतम् ११२६ एतदर्द्धं ५६३ तेन त्रयोदशाङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति। *वस्तुतस्तु* पद्मक्षेत्रस्यो-त्पादको यः पद्मकरणप्रकारः स सर्वतोभद्रमण्डलादावेव ज्ञेयः । नवकुण्डकरणे तत्र क्षेत्रस्याधि-क्यं स्यात् । यत्तु ग्रन्थकारेण "वृत्तानि कर्णिकादीनां बहिस्त्रीणि" इति । *क्रियासारेऽपि* "वर्तु-लत्रयमि"ति। तत्तु यत्रोर्ध्वभूवृत्ताभिप्रायेणैवेति ध्येयम्॥ यत्राग्रेवृत्तमधिकं कुर्यात् इति सूचयितुं तेनापि क्षेत्रफलमधिकं किंचित् । तेन पद्मकुण्डकरणे पञ्चवृत्तान्येवेति ज्ञेयम् । तेनाऽत्र तद्वद्दर्श-निवारकरूणमपि नास्ति । *अत्र क्षेत्रफलाव्यभिचारी सर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते* । "पद्मकुण्डे सऽव्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् । अनयेत्कर्णिकावृत्तं त्र्यंशवृत्तार्द्धमानतः ॥ षडंशवृत्तार्द्ध-मानभ्रमिवृत्तेषु केसराः । नवांशवृत्तार्द्धमाने वृत्ते स्याद्यत्र मध्यभूः ॥ द्वादशांशात्तु वृत्ता-र्द्धाद्वृत्तं यत्रोद्ध्वभूः स्मृता । दलाग्राणां तु वृत्तार्द्धं कृत्वा पञ्चदशांशकैः ॥ न्यूनैः पञ्चभिरे-कांशचतुः षष्ट्यंशकैर्भ्रमात् । रेखाग्रेभ्यो यत्र सीम्नो दलाग्राणि प्रकल्पयेत् ॥" अत्र मध्ये षड-ङ्गुलव्यासकर्णिका "यावान् कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदीरितमि"ति वक्ष्यमाणत्वात् । तेन कर्णिकाखननमपि प्राप्तम् । तत्र कर्णिका किंचिदुच्चा रक्षणीया । तदुच्चता यद्यप्यत्र नोक्ता त-थापि नाभिकथने "एकहस्तस्य नाभि" "नेत्रवेदाङ्गुलोपेतामि"ति वक्ष्यति । तेन सा चतुरङ्गुल-व्यासाद्व्यङ्गुलोत्सेधा । तत्र यदि चतुरङ्गुलव्यासायाः द्व्यङ्गुल उत्सेध स्तदा षडङ्गुलव्यासायाः कियानुत्सेध इति त्रैराशिकेनोच्चता आनेया । तत्र त्रैराशिकसूत्रम् । "प्रमाणमिच्छा च समा-नजाती आद्यन्तयोस्तत्फलमन्यजाती । मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृत्स्यादिच्छाफलं व्यस्तवि-

(१) वृत्तस्यषण्णवत्यंशादण्डवत्परिदृश्यते । इत्याद्यप्रायेणेतिपाठान्तरम् ।

(२) सप्तयूकाः । इत्यपि पाठः

वृत्तानि कर्णिकादीनां बहिर्बाणि प्रकल्पयेत् ॥
पद्मकुण्डमिति प्रोक्तं विलोचनमनोहरम् ॥ ६३ ॥
पूर्वोक्तं विभजेत्क्षेत्रं चतुर्विंशतिभागतः ॥

र्विलोमें"इति ॥ तत्र त्रैराशिकस्य न्यासः ४।२।६। ततो अन्त्येन ६ गुणितम् १२ आदिना ४ भक्ते लब्धोच्चता *तदुक्तं कामिके* "उत्सेधं तु ततः कुर्यात्कर्णिकार्द्धांशमानतः" इति । अतोऽन्यकृद्ग्रे "योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभिं च वर्जयेदि"ति वक्ष्यति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "योनौ योनिं न कुर्वीत पद्मे पद्मं न कारयेत्" इति।*क्रियासारेऽपि* योन्यासम्बुजकुण्डयोः क्रमेण योनिं नाभिं च न कुर्वीत । चतुर्मुखेऽपि तस्मात् त्र्यङ्गुलं कर्णिकोच्चता संस्थाप्यान्यत् खननीयं केसरस्थानमपि खनित्वा अधोभागे केसराणि स्थापयेत् । दलाभाकारतया दलमध्यः सर्वोऽपि खननीयः । तत्र चतुर्विंशाङ्गुलव्यासवृत्ताद्बहिर्यद्वृत्तान्तरत्वार्द्धमेव यथा गृह्यते तथा कुशलतया बाह्यहस्तेन दलाग्राणि रचयेत् । यतस्ततएव यन्त्राणां वक्रता सा च यन्त्रसीमा रेखा यन्त्रोर्ध्वभूवृत्तसम्पातात् यन्त्रमध्ये रेखां यावदुभयतो रेखाया दानात् । इदं पद्मकुण्डम् । अत्र क्षेत्रोपपत्तिः । चतुर्विंशतिव्यासवृत्ते पूर्ववत् फलम् ४५२ अङ्गुलानि ३ यवाः ४ यूकाः बहिर्वृत्तस्य एकाङ्गुलस्य दशभिश्चतुष्षष्ट्यंशैरूनत्रिंशदङ्गुलव्यासस्य क्षेत्रफलं ६८८ (६९९) अङ्गुलानि ४ यवा ४ यूकाः १४ मिलितं ११६२ एतदर्धं क्षेत्रफलम् ५७६ इदमतिसूक्ष्मफलम् । तदुक्तं *कामिके* "चतुरस्राष्टभागेन कर्णिका स्याद्विभागशः । तद्बहिस्त्वेकभागेन केसराणि प्रकल्पयेत् ॥ तदीये दलमध्यानि चतुर्थे दलकोटयः । चतुरस्राद्बहिः कुर्याद्दलाग्राण्यपि यत्नतः" ॥ इति । अत्र क्षेत्रफलं चतुरङ्गुलमधिकम् । यत्तु अतिगणितज्ञाभिमानिनो लक्षणम् । "क्षेत्रेऽन्तश्चतुरस्रके विततिवस्वंशेनवृत्तं कृतं व्यासार्द्धेन तु कर्णिका पुनरियद्वृद्ध्या क्रमात्केसराः । तद्वृद्ध्या दलमध्यभूः पुनरियद्वृद्ध्या क्रमेणोर्ध्वभूः क्षेत्रव्यासजिनांशकस्य त्रिशिखैरूनं कलांशैः पुनः। तत्संवर्ध्य दलाग्रकाणि रचयेत क्षेत्रार्द्धमुज्झन्विना स्यात् त्रिशत्नविस्तृतीयमियता हिन्तेन वृत्ते बहिः ॥ स्वव्यासार्द्धमितोच्चतामिहखनेत्त्यक्त्वाऽन्तराकर्णिकां कुर्वन् केसरचिह्नमष्टदलकं यद्वा चतुर्भिर्दलैः" इति ॥ अत्र क्षेत्रफले एकादशाङ्गुलानि न्यूनानि भवन्ति । तथा "भांशन्तु वृत्तव्यासस्य स्वाष्टांशेनाधिकं बहिः । संवर्ध्य मध्याद्विलिखेद्व्यासाधृतं द्वितीयकम् ॥ तृतीयं तावतैवान्यत् सीमावृत्तान्तरा लिखेत् । अष्टसूत्र्यां षोडशधा तत्क्षेत्रं विभजेत्ततः ॥ पत्रमध्यस्थसूत्रान्तायथा बाह्यकरस्तथा । तत्पार्श्वसूत्रान्तरस्थवृत्तं संपाततो लिखेत् ॥ वृत्तार्द्धं द्वे दलाभार्थमन्तर्वीथ्यां हि यावती । त्यक्त्वाभूः स्याद्बहिर्वीथ्यास्तावती गृह्यते यथा ॥ क्षेत्रत्र्यंशेन मध्ये स्यात् कर्णिका स्वदलोच्चता । पत्राग्राणि तदाकारात् खनेद्विलमन्तरम् ॥ एवमष्टदलाब्जाभं जायते कुण्डमुत्तमम्" इति । अत्र महान् व्यभिचारः । *कामिके च* चतुर्दलताप्युक्ता । "अवशिष्टं दलं वेददलमष्टदलं तु वा" इति । *अन्यत्रापि* "दशांशे च विन्यस्य बाणांशमेकं परिभ्राम्य तेनैव वृत्तं दलानाम् । बहिर्मध्यमे कर्णिकां चापि कुर्याद्वेदपत्रं बुधः पद्मकुण्डमि"ति । अत्राल्पमन्तरम् ।*सिद्धान्तशेखरे* "चतुरस्रेऽष्टधा भक्ते कुर्याद्वृत्तचतुष्टयम् । कर्णिकां(१)चापि केसरे वृत्ते तृतीये पत्रसञ्चयः ।। दलाग्राणि चतुर्थेन्तु वृत्तान्येवं प्रकल्पयेत् । कोष्ठे युग्मस्य मध्येऽपि भ्रमयन्त्रं निधाय वा । भ्रमणात्सन्धिमारभ्य पत्राग्रं यावतो भवेत्"। चतुर्दिक्षु चतुः पत्रं पद्माख्यं कुण्डमीरितम् । अथवाष्टदलं पद्मं कुर्याच्छास्त्रोक्तमार्गतः"इति । अत्र तु अत्यन्तं न्यूनं क्षेत्रफलम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

चतुरस्रप्रकृतितया अष्टास्रकुण्डमाह *पूर्वोक्तमिति* ॥ पूर्वोक्तं क्षेत्रं पूर्वोक्तचतुरस्रमध्यसूत्रं चतुर्विंशतिभागतो *विभजेत्* । *एकं भागं *चतुर्दिक्षु । बहिर्न्यस्य* पद्मविस्तारमङ्गुलायाम-

(१) अत्र ग्रन्थस्त्रुटितः प्रतिभाति ।

एकं भागं बहिर्न्यस्य चतुरस्रं प्रकल्पयेत् ॥ ६४ ॥

विस्तारं चतुरस्रान्तरं बहिः कुर्यादित्यर्थः । अत्र कोणशब्देन कोणसूत्रम् अन्तस्थचतुरस्रस्य यत्कोणसूत्रं यूकाचतुष्टयोनचतुस्त्रिंशदङ्गुलानि तदर्द्धं यूकाद्वयोनसप्तदशाङ्गुलानि तदर्द्धं यूकोनसार्द्धाष्टाङ्गुलानि *तत्प्रमाणतः* बाह्यस्य चतुरस्रस्य कोणाभ्यां शकाशात(१) *परिलाञ्छयेत्* ॥ बाह्यचतुरस्रपरिधिरेखास्थित्यर्थम् । *कोणाभ्यामि*तीशाग्नेयाभ्याम् ॥ एवमग्नेयनैर्ऋताभ्यामित्यादि । ततो *दिक्षु* *प्रत्यष्टसूत्रसम्पातादष्टास्रं* *कुण्डम्* । तत्र सूत्रपातप्रकारः ।। कोणपार्श्वयोर्ये लाञ्छने तयोर्मिथएकमेकं दिक्षु सूत्रचतुष्टयं बाह्यचतुरस्ररेखास्थलाञ्छनद्वयं मध्यसूत्राण्येव चतुर्दिक्सूत्राणि एवमष्टसूत्राणि। तत्राष्टसूत्राणां संभवादष्टसूत्राणि पातयेदित्युक्तिः । इदमेव *यथान्यायमि*त्यनेनोक्तम् ॥ अत्र *क्षेत्रोपपत्तिः* । तत्र त्रीणि क्षेत्राणि मध्ये आयातचतुरस्रं पार्श्वयो र्विषमचतुरस्रे । तत्रायतस्यैको भुजः $\begin{matrix}९\\१\\६४\end{matrix}$ $\begin{matrix}९\times१\\६४\end{matrix}$ सवर्णितः $\frac{५७७}{६४}$ । द्वितीयो भुजः २६ "तथा पतेत्तद्भुजकोटिघात"इति । अनेन लब्धं क्षेत्रफलं २ ३४ अङ्गुलानि३यवाः२यूके । ततो विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः २६ मुखं सवर्णितं $\frac{५७७}{६४}$ तयोर्लम्बाः $\begin{matrix}८\\६३\\१२८\end{matrix}$ $\frac{८\times६२}{१२८}$ सवर्णितः $\frac{१८७}{१२८}$ "लम्बेन निघ्नं कुमुखैक्यखण्डमि"ति लब्धं क्षेत्रफलम् । १४८ अङ्गुलानि ५ । यवाः३ यूकाः एवं द्वितीयस्यापि। सव मिलितम् ५३१ अङ्गुलानि६यवाः तेन यवद्वयाधिकचतुश्चत्वारिंशदङ्गुलानिन्यूनानि। अष्टभुजसमता च नास्ति । अन्यूनानतिरिक्तक्षेत्रफलानयनेनैव कुण्डसिद्धिरितिचेत्तदा अष्टास्राणि अनेकानि कुण्डानि स्युः ।तथाहि षड्विंशविस्तारायामे बाह्यचतुरस्रे अर्द्धयवलहितसप्ताङ्गुलैः कोणपार्श्वतोलाञ्छिते सति मध्यायतचतुरस्रस्यैकोभुजः२६ अपरोभुजः११अङ्गुलानि ७यवाः। अस्य क्षेत्रफलम्३०८अङ्गुलानि ४ यवाः। विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः२६ मुखं ११ अङ्गुलानि ७ यवाः। लम्बः अर्द्धयवसहितसप्ताङ्गुलानि। अस्यक्षेत्रफलम् १३३ अङ्गुलानि। षड्यवाः। एवमन्यस्यापि सर्वं मिलित्वा क्षेत्रफलं ५७६ तथा सप्तविंशतिविस्तारायामे बाह्य चतुरस्रे षड्यवाः । अष्टाङ्गुलैः कोणपार्श्वताऽङ्किते आयतचतुरस्रस्य भुजः २७ अपरः सार्द्धनवाङ्गुलानि। तस्यक्षेत्रफलं २५६ विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः २७ मुखं सार्द्धनवाङ्गुलानि । लम्बोऽष्टाङ्गुलानि षड्यवाः। एकस्य क्षेत्रफलम् १६० एतावदन्यस्यापि मिलित्वा क्षेत्रफलम् ५७६ एवमष्टाविंशत्यायामविस्तारे बाह्यचतुरस्रे सार्द्धयवसहितदशाङ्गुलैः कोणपार्श्वतो लाञ्छिते मध्यायतचतुरस्रस्यैकोभुजः २८ अपरः सप्ताङ्गुलानि पञ्चयवाः। तत्फलं २१३ विषमचतुरस्रद्वयस्य भूः २८ मुखं सप्ताङ्गुलानि पञ्चयवाः। लम्बा दशाङ्गुलानि सार्द्धोयवः। अस्यफलम् २८१ अङ्गुलानि ४ यवाः । एतावदन्यस्यापि। मिलित्वा क्षेत्रफलम् ५७३ एतादृशाः सहस्रशः प्रकाराः सम्भाव्यन्ते नहि तावन्त्यपि सर्वाणि अष्टास्रकुण्डानि । यतः कुण्डस्यानुगतता प्रसज्यते । तेन यत्र तुल्याष्टभुजत्वं तुल्यक्षेत्रफलत्वं च तदेवाष्टास्रं कुण्डमिति सम्प्रदायविदस्त*त्यसर्वानुगतप्रकारस्तूच्यते*। "कुण्डेऽष्टास्रेमध्यसूत्रं चतुर्विंशतिधा भजेत् । एकस्यार्द्धाष्टमांशाद्यमंशमेकं बहिर्न्यसेत् ॥ चतुर्दिक्ष्वथ तन्मानाच्चतुरस्रान्तरं न्नेत् । षट्चत्वारिंशदेकांशचतुःषष्ठ्यंशसंयुतैः ॥ सप्तांशैर्लाञ्छयेद्बाह्यचतुरस्रास्त्रिपार्श्वतः । दिक्ष्वष्टसूत्रसम्पातादष्टास्रं समबाहुकम् ॥" अत्र षड्विंशत्यङ्गुलानि यवत्रयम्। एतद्विस्तारायामं बाह्यचतुरस्रं तत्तु सप्ताङ्गुलानि पञ्चयवाः षड्यूका एतन्मानेन कोणपार्श्वयोर्लाञ्छितं तेनात्र मध्यायतचतुरस्रस्यैकोभुजः $२६\frac{३}{८}$ संवर्णितः $\frac{२११}{८}$ अपरोभुजः $\begin{matrix}११\\१\\१६\end{matrix}$ $\frac{११-१}{१६}$ सवर्णितः $\frac{१७५}{१६}$ पूर्ववल्लब्धं क्षेत्रफलं २८८ तत ऊर्ध्वाधोविषमच-

---

(१) अत्रावधौपञ्चमी।

तुरस्रद्वयस्य सवर्णिता भूः २११/८ सवर्णितं मुखं १७९/१६ लम्बः २११/८७ ४६/६४ सवर्णितः ४९४/६४ अत्रैकस्य फलम् ११४ एतावदपरस्यापि मिलित्वा क्षेत्रफलम् ९७६ एवमत्राष्टानां भुजानां साम्यमपीति । इदमेवाष्टास्रं कुण्डमितिमन्तव्यं चतुर्णां भुजानां साम्यं प्रत्यक्षतः सिद्धम् । अन्येषां तु चतुर्णां- "तत् कृत्योर्योगपदं कर्णम्" इत्यनेन प्रकारेणानेयम् । तच्छब्देन कोटिभुजौ ॥ बहिश्चतुरस्रगौ त- त्कर्णोपरिस्थितौ तावन्नेतौ ४९४/६४ ॥ *अथवागमप्रकारान्तरमुच्यते* "कुण्डेऽष्टास्रे मध्यसूत्रं चतु- र्विंशतिधा भजेत् । एकत्रिंदशमांशाढ्यं हीनं वृत्ताच वर्तुलम् ॥ तन्(४९४।६४)मध्ये दिक्षवष्ट- सूत्रदानादष्टास्रकं समम् ।" अत्रापि अष्टानामपि भुजानां समता । सा तु "द्विद्विनन्देषु वेदैश्च ४५९२२ वृत्तव्यासे समाहते । खखखाभ्रार्कसं १२०००० भक्ते लभ्यन्ते क्रमशो भुजा" इति । भास्कराचार्योक्तमार्गेणानेया । ये तु गणितज्ञस्य लक्षणे "चतुरस्रे मध्यसूत्रं षष्ठांशेन विवर्द्धयेत् स्वजिनांशाधिकेनाथ तावन्मात्रं बहिर्गतम् ॥ चतुरस्रान्तरं कृत्वा कोणार्द्धार्द्धेषु लाञ्छयेत् । स्थानाष्टके ततः सूत्राण्येकैकं स्यात्तु चिह्नतः ॥ नयेत्तार्त्तीयतार्त्तीयं चिह्नं प्रत्यष्टबुद्धिमान् । तत्सम्पातान्तरंस्पृष्ट्वा चतुरस्रे तथा उभे ॥ अष्टास्रं दर्शयेत्कुण्डं तुल्यक्षेत्रफलंसममि"ति । *तथा* "क्षेत्रव्यासजिनांशकेषु चतुरः सम्बर्ध्य साकं तथा षट्त्रिंशेन लवेन चैकलवकस्यैतच्छितस्यावहेत् । वेदास्रन्युदुदारदिग्गुणयुतं दिक्कोणमध्ये कृताष्टाङ्केष्वष्टगुणैस्तृतीयमिलितैरष्टास्रि कुण्डस्मने- दि"ति । एते अपि न साम्प्रदायिके । यतः क्षेत्रफलं यथाकथंचित् सम्बद्नन्ति ॥ एकलाञ्छनतः तृतीयलाञ्छनपर्यन्तं सूत्रपातः क्वचिदप्यनुक्त इति स्वकपोलकल्पितमेतत् ॥ किंच एवंभूते अष्टास्रकुण्डे सति योनिस्थापनस्थानमेव नास्ति सर्वत्र कोणरूपत्वात् कुण्डस्य । ग्रन्थकृदेव वक्ष्यति "नार्पयेत्कुण्डकोणेषु योनिं तां तन्त्रवित्तम" इति *कामिकेतु* "क्षेत्रात् द्वादशकं भागं चतुर्दिक्षु तदन्तरं । विन्यस्य तत्प्रमाणेन तुर्यास्रमपरं नयेत् ॥ तस्य कर्णप्रमाणेन तद्भुजास्वपि लाञ्छयेत् । तत्राष्टसूत्रसम्पातादष्टास्रं कुण्डमुच्यते" इति ॥ अत्र महान्व्यभिचारः।*अत्र चतु- र्वर्गचिन्तमणिकारः* । कर्णशब्दस्य कर्णार्द्धमर्थमुक्त्वा कोणयोरानुकूल्यप्रातिकूल्येनाष्टौ ला- ञ्छनानीति व्याख्याति स्म । तद्युक्तं तत्प्रतिपादकवचनाभावात् । अतिविषमभुजत्वात् क्षेत्र- फलव्यभिचाराच्च ।अत्र सर्वत्र क्षेत्रोत्पत्तिवासनाः ग्रन्थगौरवभयान्नप्रपञ्चिताः । तास्तु मत्कृता- यां गणितलीलावतीटीकायां पुबोधिन्यां द्रष्टव्याः । "नोपयोग इह मत्कृते श्रमे केवलागमवि- दां तु यद्यपि ॥ आगमं गणितमप्यवैति यस्तुष्यतु प्रियगुणः स कश्चन ॥ अयमुत्तमो नवकुण्डि- का गणितपक्षः । एतत्कुण्डकरणाशक्तः सर्वाणि कुण्डानि चतुरस्राणि वृत्तानि वा कुर्यात् ॥ *त- दुक्तमाम्नायरहस्ये* "कुण्डानि चतुरस्राणि वृत्तनानाकृतानि वा" इति । *सोमशम्भुनापि* । "शस्तानि तानि वृत्तानि चतुरस्राणि वासदा" इति । *अन्यत्रापि* "वेदास्राण्येव तानिस्युर्व- र्तुलान्यथवा क्वचिदि"ति । *मध्यमस्तु पञ्चकुण्डीपक्षः* । *तदुक्तमाम्नायरहस्ये* "नवपञ्चा- प्यथैकं वा कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम्" इति ॥ *सोमशम्भुनापि* "वेदीपादान्तरं त्यक्त्वा कुण्डानि नवपञ्चधा" इति । *तन्निवेशनमप्याम्नायरहस्य एवोक्तम्* "विधाने पञ्चकुण्डानामीशाने पञ्चमं भवेदि"ति ।*ज्ञानरत्नावल्यामपि* "दिक्षु वेदास्रवृत्तानि पञ्चमं त्वीशगोचरमि"ति । अत्र वृत्त- शब्देन वृत्तार्द्धचन्द्रपद्मानि गृह्यन्ते उक्तचतुरस्रवृत्तविकल्पोभिप्रायेण वा । *सोमशम्भु- रपि* "कुर्यात् कुण्डं क्रमादीशे पञ्चममि"ति । *नारदीयेऽपि* "यत्रोपदिश्यते कुण्डचतु- ष्कं तत्र कर्मणि ॥ वेदास्रमर्द्धचन्द्रं च वृत्तं पद्मनिभं तथा ॥ कुर्यात् कुण्डानि चत्वारि प्राच्या- दिषु विचक्षणः । पञ्चमं कारयेत् कुण्डमीशदिग्गोचरं द्विज" इति । *यत्तु* "पञ्चकुण्डीचेन्निवे- श्या दिक्षवन्तश्चेशपूर्वयोरि"ति कस्यचिद्वचनम् । तदसम्बद्धं लिखितग्रन्थविरोधात् । *एक- कुण्डपक्षः* *कनीयान्* । तन्निवेशनमुक्तमाचार्यैः* "अथवा दिशि कुण्डमुत्तरस्यां प्रविदध्या- च्चतुरस्रमेकमेवे"ति । *क्वचित्प्रतीच्यामपि तन्निवेशनमुक्तम्* "भुक्तौ मुक्तौ तथा पुष्टौ जीर्णो- द्धारे विशेषतः । दीक्षाहोमे तथाशान्तौ वृत्तं वरुणदिग्गतम्" इति । *सोमशम्भुरपि* "एकं

पूर्वोक्तं विभजेत्क्षेत्रं चतुर्विंशतिभागतः ॥
एकं भागं बहिर्न्यस्य चतुरस्रं प्रकल्पयेत् ॥ ६४ ॥
अन्तःस्थचतुरस्रस्य कोणार्द्धार्द्धप्रमाणतः ॥
बाह्यस्थचतुरस्रस्य कोणाभ्यां परिलाञ्छयेत् ॥ ६५ ॥
दिशं प्रति यथान्यायमष्टौ सूत्राणि पातयेत् ॥
अष्टास्रं कुण्डमेतद्धि तन्त्रविद्भिरुदाहृतम् ॥ ६६ ॥
यावान्कुण्डस्य विस्तारः (१)खननं तावदीरितम् ॥

वा शिवकाष्ठायां प्रतीच्यां कारयेद्बुधः" इति। तत्रैककुण्डपक्षे चतुरस्रं वृत्तं वा तत्कार्यम्। *तदुक्तं क्रियासारे* "चतुरस्रं भवेत्कुण्डं वृत्तं कुण्डमथापि वा। स्थिरार्चने चरार्चायां नित्ये हवनकर्मणि" इति। *पिङ्गलामतेऽपि* "कुण्डमेककरं वृत्तं मेखलाकण्ठनाभिमत्। नित्यकर्मणि दीक्षायां शान्तौ पुष्टौ शुभं समम्" इति। एवं हस्तमात्रं कुण्डमुक्तम्। यदुक्तं *सिद्धान्तशेखरे* "हस्तमात्राणि सर्वाणि दीक्षासु स्थापनादिषु। नित्यं होमे च साहस्रे कुर्यात्कुण्डानि सर्वदे"ति। *द्विहस्तादिप्रकारस्तूच्यते*। एकहस्तक्षेत्रफलं द्विगुणं द्विहस्तस्य, त्रिगुणं त्रिहस्तस्य, चतुर्गुणंचतुर्हस्तस्येति दशहस्तान्तं ज्ञेयम्। तत्तन्मूलं च तत्तदायामसूत्रं तस्यैव नामान्तराणि करणीमध्यसूत्रादीनि। तत्र भास्कराचार्यप्रोक्तसूत्रानुसारेण मूलानयनं ज्ञेयम्। तद्यथा। "त्यक्त्वान्त्याद्विषमात्कृतिं द्विगुणयेन्मूलं समे तद्धृते त्यक्त्वा लब्धकृतिं तदादिविषमाल्लब्धं द्विनिघ्नं न्यसेत्। पङ्क्त्यां पङ्क्तिहृते समेऽन्त्यविषमात्त्यक्त्वाप्तवर्गं फलं पङ्क्त्यां तद्द्विगुणं न्यसेदिति मुहुः पङ्क्तेर्दलं स्यात्पदम्" इति। अस्यार्थो ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तः। स तु मत्कृतायां लीलावतीटीकायां सुबोधिन्यां सोदाहरणो द्रष्टव्यः। अथवा एकहस्तस्य यत्कोणसूत्रं तदेव द्विहस्तकुण्डस्यायामसूत्रमेवं द्विहस्तकोणसूत्रं चतुर्हस्तकुण्डस्यायामसूत्रं त्रिहस्तकुण्डकर्णसूत्रं षड्ढस्तस्य चतुर्हस्तकर्णसूत्रमष्टहस्तस्य पञ्चहस्तकर्णसूत्रं दशहस्तस्येति ज्ञेयम्। *अथ गणितापटून् प्रति दशहस्तान्तं करणी लिख्यते* "एकहस्तदशांशेन चतुस्त्रिंशद्द्विहस्तके"। एतेन ३३ अङ्गुलानि ७ यवाः ४ यूकाः २ लिक्षे। इयती द्विहस्तकरणी। "एकाष्टविंशतिशतास्त्रिसप्त्याथसंयुताः। एकचत्वारिंशदङ्गुलयस्तुस्युस्त्रिहस्तके"।१। "एतेन ४१ अङ्गुलानि ४ यवाः ४ यूकाः ४ लिक्षाः इयती त्रिहस्तकरणी। "अष्टचत्वारिंशता स्याच्चतुर्हस्ते करण्यथ। तृतीयांशन्यूनचतुःपञ्चाशत् पञ्चहस्तके ॥" ।२। एतेन ५३ अङ्गुलानि ५ यवाः २ यूके ४ लिक्षाः। इयती पञ्चहस्तकरणी। "चतुरेकोनविंशोर्णनोनषष्टिस्तदुत्तरे" ।३। एतेन ५८ अङ्गुलानि ६ यवाः ३ यूकाः ४ लिक्षाः। इयती षड्ढस्तकरणी। "सप्तहस्तेऽर्द्धयुता त्रिषष्टिः करणी मता। ऊनाः सप्तदशांशाभ्यां वसुषट् चाष्टहस्तके"।४। एतेन ६७ अङ्गुलानि७ यवाः ७ यूकाः ४ लिक्षाः। इयती अष्टहस्तकरणी। "द्वासप्तत्यङ्गुला कार्य्या करणी नवहस्तके। ऊनविंशांशद्वयोना दशहस्तेषडद्रयः" । ६ । एतेन ७६ अङ्गुलानि ७ यवाः ७ यूका २ लिक्षे। इयती दशहस्तकरणी। "कृत्वेष्टचतुरस्रं तु स्याद्योन्याद्युक्तमार्गतः। एवं दशान्तकुण्डानां करण्युक्ता मया स्फुटा" ॥ ६ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अथकुण्डखातमाह—*यावानिति*। कुण्डस्य यावान्विस्तारो मध्यसूत्रम्। तावत्प्रमाणः खातः कार्यइत्यर्थः। *कादिमते*—हस्तमात्राणि सर्वाणि कुण्डान्युक्त्वा "प्रोक्तानां सर्वकुण्डानामरत्निः खातमानकम्" इति। अरत्निहस्तयोः पर्यायता तेनैवोक्ता यथा, तथा पूर्वमेवदर्शितम्। *अन्यत्रापि* "यावन्मानः कुण्डविस्तारउक्तस्तावत् खातस्यापि मानं प्रदिष्टमि"ति। *आचार्याश्च*—"विंशद्भिश्चतुरधिकाभिरङ्गुलीभिः सूत्रेणाप्यथ परिसूत्र्य भूमिभागम्। तावद्भिः प्रखनतु

(१) तावत्खननमीरितम्। इत्यपि पाठः।

कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानां च तादृशम् ॥ ६७ ॥

तावतीभिः" इति । *वायवीयसंहितायामपि*—'कुण्डं विस्तारवन्निम्न'मिति । *प्रयोगसारदिव्यसारस्वतयोरपि*—"चतुरस्रंचतुः कोष्ठं सूत्रैःकृत्वा यथा पुरा। हस्तमानेन तन्मध्ये तावन्निम्नायतं खनेत्"· इति । *गणेश्वरविमर्शिन्यामपि*—"चतुर्विंशाङ्गुलायामं तावत्खातसमन्वितम्" इति । *अन्ये तु* मेखलया सह खातमाहुः । तदुक्तं *मोहशूरोत्तरे*—"हस्तमात्रं खनेत्तिर्यगूर्ध्वं मेखलया सहेति" । *प्रतिष्ठासारसंग्रहेपि*—"पञ्चत्रिमेखलोच्छ्रायं ज्ञात्वा शेषमधः खनेत्" इति । *विश्वकर्माप्याह*—"व्यासाव खातः करः प्रोक्तो निम्नं तिथ्यङ्गुलेन तु । उन्नताद्यानवाङ्गुलैरि"ति स एव वक्ष्यति । *प्रथमेऽपि* "कुण्डं जिनाङ्गुलैस्तिर्य्यगूर्ध्वं मेखलयासह" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि*—"खातं कुण्डप्रमाणं स्यादूर्ध्वं मेखलया सह" इति । एतत्पक्षद्वयमध्ये प्रथमपक्ष एव युक्तियुक्तो भाति । यतः "कुण्डस्य रूपआनीयात्परमं प्रकृतेर्वपुरि"त्यादिना मेखलानामङ्गत्वाभिधानात् । तासां भूषणरूपत्वात् तया सह खातो नोपपद्यते । भूषकत्वे कदाचिदकर्त्तव्यताऽपि स्यादिति चेत् "शृङ्गाररहितं यच्च यजमानविनाशकृदि"त्युक्तेर्भूषणस्याप्यावश्यकत्वात् । अथ "मरणं छिन्नमेखलमि"ति । *तथा* "कुण्डं जर्जरमेखलमि"ति । *तथा* "मानेनाधिकमेखले । व्याधयः संप्रवर्द्धन्ते" इत्यादिना च तद्वैकल्ये दोषस्योक्तत्वाद्अङ्गत्वमिति चेत् अस्तु नामाङ्गत्वम् । तथापि तया सह खातोऽनुपपन्नः प्रधानैकार्यसंप्रत्ययस्य न्याय्यत्वात् । किंच खातेन विना कुण्डस्वरूपप्राप्त्यसम्भवादेव दृष्टद्वारा सन्निपत्योपकारकाङ्गस्य तस्याहष्टद्वाराआरादुपकारकाङ्गमेखलया सह सिद्धिरप्युक्ता । *उक्तंचयोगिनीहृदये*—"खातं कुण्डायते स्तुल्यमङ्गत्वं तस्य कीर्त्तितम् । सन्निपत्योपकारेण मेखलादेर्विशिष्यत" इति । न च व्रीहीणां प्रोक्षणादिव खाताङ्गत्वं मेखलानामिति वाच्यम् । "कुण्डानां मेखलास्तिस्र" इत्यादिना कुण्डाङ्गत्वेनैव विधानात् । किंच-प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययश्चेन्नाङ्गीक्रियते तदा द्विहस्तादिकुण्डेष्वपि क्षेत्रद्वैगुण्यं न प्राप्येत । तत्रापि एकहस्तादिखातघनहस्तफलस्य यद्द्वैगुण्यादिकं तत्तन्मूलप्रमाणात्तत्करणी स्यात् । तच्चानिष्टं तव मते च खातस्यानुगतता प्रसज्यते त्रिमेखलापक्षे अन्यः खातः पञ्च मेखलापक्षेऽन्यः द्वादशाङ्गुलमेखलापक्षेऽन्यइति *अन्यच्च* । "निम्नं तिथ्यङ्गुलेन तु । उन्नताद्यानवाङ्गुलैरिति" विश्वकर्मवचनम् । *प्रतिष्ठासारसंग्रहेऽपि*—"पञ्चत्रिमेखलोच्छ्रायं ज्ञात्वा शेषमधः खनेत्" इति। विशेषवाक्यद्वयैकवाक्यतया "ऊर्ध्वं मेखलया सहे"त्यन्यानि सामान्यवचनानि व्याख्येयान्यवश्यम् । "आग्नेयं चतुर्द्धाकरोति" इति विशेषविधिविषये "पुरोडाशं चतुर्द्धाकरोति" इति सामान्यविधिवत् । "सामान्यविधिरस्पष्टः संह्रियेत विशेषत" इति वार्त्तिककृदुक्तेस्तेनानिच्छताऽपि त्वया एकमेखलकुण्डेमेखलया विना खातोऽङ्गीकर्तव्यः। मेखलया सह विधायकाभावात । अतोमेखलया त्वनैव खात इति सिद्धान्तः । मेखलया सह खातवचनानि चतुररत्न्यरत्न्येकहस्तादिकुण्डेषु । पञ्चाशदादिहोमविधाने खाताधिक्यस्य प्रयोजनाभावात्तद्विषयाणीतिज्ञेयम् । "श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्म्यावुभौ स्मृतौ । स्मृतिद्वैधे तु विषयः कल्पनीयः पृथक् पृथक्" इत्युक्तेः । एतदभिप्रायेणैव *प्रयोगसारे उक्तम्*—"कारयेन्मेखलास्तिस्रश्चतुस्त्र्यङ्गुलाः क्रमात । अथवा मेखलामेकां कुर्यात्संक्षेपकर्मसु" इति । *यत्तु तेनैवोक्तम्* । अत्र पक्षे बहुवचनसम्मतेबहूनामनुग्रहोन्याय्य इति तदपि न सम्यक् । अस्मन्मतएव बहूक्तिसत्त्वात् स एव पक्षोग्राह्यः । उक्तंच *जैमिनिना* "विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्" इति । तत्र प्रथमपक्षे स्यादूघनहस्तफलं (१ अं) १३८२४, अपरपक्षे १४७२ ४॥ अथ मेखला आह—*कुण्डानामिति* । चतुरस्रयोन्यादीनां *यादृशं रूपं* चतुरस्रत्वादि *मेखलानां तादृशं रूपं* चतुरस्रे चतुरस्ररूपा मेखला योनौ योनिरूपा मेखला कार्येत्यर्थः । एतेन मेखलाः कुण्डाकाराः कार्याः । मेखलानां रूपे चतुरस्रत्वहानिर्नास्तीत्युक्तम् ॥ ६७ ॥

कुण्डानां मेखलास्तिस्त्रो मुष्टिमात्रे तु ताः क्रमात् ॥
उत्सेधायामतोज्ञेया द्व्येकाङ्गुलिसंमिताः ॥ ६८ ॥
अरत्निमात्रे कुण्डे स्युस्ताख्रिद्व्येकाङ्गुलात्मिकाः ॥

तिस्र इति मध्यमः पक्षः। पञ्च मेखलापक्षः उत्तमः। एकमेखलापक्षः कनीयान्। इति। यदा तु ग्रन्थकारोक्तत्रिमेखलापक्ष एव उत्तमः पक्षः। तदा द्विमेखलापक्षोमध्यमः। एकमेखलापक्षः कनीयान् इति। *यद्वायवीयसंहितायाम्* —"मेखलानां त्रयं वापि द्वयमेकमथापि वा" इति। *क्रियासारेऽपि*—"नाभियोनिसमायुक्तं कुण्डं श्रेष्ठं त्रिमेखलम्। कुण्डं द्विमेखलं मध्यं नीचं स्यादेकमेखलम्" इति। *अन्यत्राऽपि*—"तिस्रः कुण्डे मेखला मेखले द्वे यद्वा विद्वानेकिकां मेखलां च" इति। *सोमशम्भौतु*—"त्रिमेखलं द्विजे कुण्डं क्षत्रियस्य द्विमेखलम्। मेखलैका तु वैश्यस्य"ति। तत्र सर्वकुण्डप्रकृतिभूतैकहस्तकुण्डमुपक्रम्य "वेदाग्निनयनाङ्गुला" इत्युक्तत्वात् सर्वत्र करणेषु षष्ठाष्टमद्वादशांशैः क्रमात् मेखलाः स्युरिति गम्यते। "प्रकृतिवद्विकृतिः कार्येति" भाट्टन्यायात्। तदुक्तं *सोमशम्भुना* "कुण्डानां यश्चतुर्विंशो भागः सोऽङ्गुलसंज्ञकः। विभज्यानेन कर्त्तव्या मेखला कण्ठनाभय" इति। *महाकपिलपञ्चरात्रे तु* स्पष्टमेव। "कुण्डषड्भागिका त्वाद्या द्वितीयाऽष्टांशका स्मृता। तृतीया द्वादशांशा स्यात्" इति ॥ *योगिनीहृदयेऽपि*—"मेखलाः शृणु मे देवि ? हस्तादिषु विशेषतः। षड्नागार्कविभागैर्मिताः स्युर्गोपिताः शुभाः" इति। यत्तु मुष्ट्यादिकुण्डे द्विहस्तादावपि ग्रन्थकृदुक्तं तत्स्थूलमानेनेति ज्ञेयम् *मुष्टिमात्रेत्विति* ॥ उत्सेधायामत इति एकहस्तपर्यन्तं सर्वत्रान्वेति। तत्रोक्ताङ्गुलमानेन एकविंशत्यङ्गुल मुष्टिमात्रे कुण्डमुष्ट्यरत्न्योः पर्यायत्वात्। तत्र मुष्टिकुण्डे सार्द्धत्र्यङ्गुलाद्या सपञ्चयवद्व्यङ्गुला मध्या पादोनद्व्यङ्गुला तृतीया। अरत्निमात्रन्तु-कुण्डमुक्त्वाङ्गुलमानेन (सार्द्धद्वाविंशत्यङ्गुले) एकविंशत्यङ्गुलारत्निः स कनिष्ठः। स "षोडशांशविष्कर" इत्युक्तेः। तत्र पादोनचतुरङ्गुलाद्या ससार्द्धषड्यवद्व्यङ्गुला मध्या यवोनद्व्यङ्गुला तृतीया *तत्र मेखलाकरणप्रकारः*। एकहस्ते द्व्यङ्गुलोत्सेधा नवाङ्गुलविस्तृता कण्ठात्प्रभृति आद्या मेखलाकार्या। तदुपरि द्वितीया अङ्गुलोत्सेधा सप्ताङ्गुलविस्तृता। तदुपरि चतुरङ्गुलोत्सेधा चतुरङ्गुलविस्तारा। एवं फलतोवेदाग्निनयनाङ्गुलत्वं भवत्येव। उक्तं च "या या तु मेखला पूर्वा सा सा भूमिरुदाहृता" इति। तेन प्रथमा अन्तर्नवाङ्गुलोच्चा चतुरङ्गुलविस्तारा। बहिश्चतुरङ्गुलोच्चा। द्वितीयाऽन्तः पञ्चाङ्गुलोच्चा त्र्यङ्गुलविस्तारा बहिस्त्र्यङ्गुलोच्चा। तृतीया-तूभयत्र द्व्यङ्गुलोच्चा द्व्यङ्गुलविस्तारा। *तदुक्तं मोहशूरोत्तरे* "कोण ४ राम ३ यमा २ ङ्गुलै"रिति। कोणाश्चत्वारः। *अन्यत्रापि*—"चतुस्त्रिद्व्यङ्गुला यद्वा तिस्रः सर्वत्र शोभना" इति। *विश्वकर्माप्याह*—"उन्नताढ्या नवाङ्गुलैरि"ति। *क्रियासारेऽपि*—"प्रधानमेखलोत्सेधमुक्तमत्र नवाङ्गुलम्। तद्बाह्यमेखलोत्सेधं पञ्चाङ्गुलमिति स्मृतम् ॥ तद्बाह्यं मेखलोत्सेधमङ्गुलद्वितयं क्रमात्। चतुरस्त्रिद्व्यङ्गुलोव्यासो मेखला त्रितयस्य तु" इति। *लक्षणसंग्रहेऽपि*—"प्रथमा द्व्यङ्गुलायामा उन्नता सा नवाङ्गुलैः। मध्या तु त्र्यङ्गुला बाह्ये तृतीया तु यमाङ्गुलै" इति। *सिद्धान्तशेखरेऽपि*—"चतुर्विंशतिमोभागः कुण्डानामङ्गुलं स्मृतम्" इति। पुनरप्यङ्गुलपरिभाषां कृत्वा "चतुर्भिश्च त्रिभिर्द्वाभ्यामूर्द्ध्वा मध्या त्वधोगता। तिस्रः प्रोक्ता क्रमादेवं विस्तारादुच्छ्रयादपि" इति। एतेन प्रथमा चतुरङ्गुला। तदुपरि त्र्यङ्गुला। तदुपरि द्व्यङ्गुलेति। बहिश्चतुरङ्गुला तदन्तर्मध्यमा द्व्यङ्गुला कण्ठलग्नेति च व्याख्यानद्वयं निरस्तम्। *यत्तु*—कल्पचिन्तामणौ "व्यासे चतुर्विंशतिधा विभाजिते तिस्रश्चतुस्त्रीक्षणभागविस्तृताः। समन्ततः कण्ठबहिस्तु मेखला नवर्तुरामांशकतुङ्गता मता" इति ॥ अत्र द्वितीयतृतीययोः षड्भागत्रिभागोच्चता उक्ता। *तदसम्बद्धम्*—लिखितबहुग्रन्थविरोधात्। एतत्प्रतिपादकवचनाभावाच्च। "वि-

एकहस्तमिते कुण्डे वेदाग्निनयनाङ्गुलाः ॥ ६९ ॥
मेखलानां भवेदन्तः परितो नेमिरङ्गुलात् ॥
एकहस्तस्य कुण्डस्य वर्द्धयेत्तं क्रमात्सुधीः ॥ ७० ॥
दशहस्तान्तमन्येषामर्द्धाङ्गुलवशात्पृथक् ॥

स्तारतुल्योन्नतयश्च कैश्चिदुक्ता इमा" इति यत्तेनैवोक्तं तदप्यज्ञानविजृम्भितम् । लिखितलत्प्रतिपादकवचनार्थानवबोधात् *यच्च* "कोणरामयमाङ्गुलैरि"त्यादीनां वचनानां विस्तारमात्रे पर्यवसानं कृतं सोऽप्यबोध एव··*यदाचार्यैस्तु*–"सत्त्वपूर्वकगुणान्विताः क्रमाद्द्वादशाष्टचतुरङ्गुलोच्छ्रिताः। सर्वतोऽङ्गुलचतुष्कविस्तृताः मेखलाः सकलसिद्धिदा मताः" इति तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि सर्वेषां मेखलामानं "वितस्त्यष्टतदर्द्धकै" रित्युक्तम् । तत्तु "साक्षात्सकलसिद्धिदा मता" इत्युक्तत्वात्फलविशेषतो ज्ञेया। तत्रापि कण्ठाद्बहिः प्रथममेखला द्वादशाङ्गुलविस्तारा चतुरङ्गुलोच्चा । तदुपरि द्वितीयाष्टाङ्गुलविस्तृता चतुरङ्गुलोच्चा ।तदुपरि चतुरङ्गुलोच्चा चतुरङ्गुलविस्तारेति ज्ञेयम् । एवं कुण्डभागे द्वादशाङ्गुलोच्चत्वं भवति । *तदुक्तं वसिष्ठसंहितायां* "प्रथमा मेखला तत्र द्वादशाङ्गुलविस्तृता। चतुर्भिरङ्गुलैस्तस्याश्चोन्नतिश्च समन्ततः॥तस्याश्चोपरि वप्रः स्याच्चतुरङ्गुलमुन्नतः । अष्टाभिरङ्गुलैः सम्यक् विस्तीर्णस्तु समन्ततः ॥ तस्योपरि पुनः कार्यो वप्रः सोऽपि तृतीयकः । चतुरङ्गुलविस्तीर्णश्चोन्नतश्च तथाविध" इति । पञ्चमेखलापक्षे तन्मानमुक्तं *लक्षणसंग्रहे*–"मेखलाः पञ्चयवा कार्याः षट्पञ्चाब्धित्रिपक्षकैः"इति।*सिद्धान्तशेखरेऽपि* "षड्बाणाब्धिवह्निनेत्रमिताः स्युः पञ्च मेखला" इति। द्विमेखलापक्षे तल्लक्षणमुक्तं *तन्त्रान्तरे* "षष्ठांशेनाष्टमांशेन मेखलाद्वितयं मतमि"ति, एकमेखलापक्षेऽपि षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामविस्तारोन्नतिशालिना" इति योनिलक्षणं वदता ग्रन्थकृता सूचित एव। तन्मानमुक्तं* पिङ्गलामते* "एका षडङ्गुलोत्सेधविस्तारा मेखला मता" इति।*महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि*–"मेखलैकाथवा स्मृता। सा चतुर्थांशविस्तारा" इति *प्रथमेऽपि* "कण्ठाङ्गुलाद्बहिः कार्या मेखलैका षडङ्गुला"इति। *सिद्धान्तशेखरेऽपि*–"कुण्डानां मेखलाः कुर्यादेकाचेत् षड्भिरङ्गुलैः" इति। *सोमशम्भुरपि । "अङ्गुलैः षड्भिरेकाचेदि"ति *अन्यत्रापि* "षडंशविस्तृतोन्नताथवैकैव मेखले"ति । *कामिके* तु विशेषः "स्यात्तद्वेदतुर्भागतः। मेखला पृथुतोच्छ्रायः कुण्डाकारातु मेखला । सर्वेषां तु प्रकर्त्तव्या मेखलैकाऽत्र लाघवादि"ति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

कण्ठमानमाह—*मेखलानामिति* ।मेखलानामन्तः परितः सर्वतः अङ्गुलादङ्गुलमानान्नेमिरेकहस्तस्य कुण्डस्य भवेदिति सम्बन्धः । अङ्गुलादङ्गुलं व्याप्येत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । यदा क्वचिदङ्गुलेति पाठः तदा सामानाधिकरण्येन योजनीयम् । एतेन कुण्डव्यासचतुर्विंशांशे नेमिरित्युक्तं भवति । द्विहस्तादावपि तत्करण्याश्चतुर्विंशांश एव नेमिः । यदर्द्धाङ्गुलवशात् "दशहस्तान्तमन्येषां क्रमात्तां वर्द्धयेदि"त्युक्तम् तत्तु द्विहस्ताभिप्रायेण । द्विहस्ते च एकमङ्गुलं यवत्रयं द्वे यूके चतस्रो लिक्षाः पञ्च रेणवश्चत्वारस्त्रसरेणव इति । तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे* "चतुर्विंशतिभागेन कण्ठो वै परिकीर्त्तितः" इति । तेन रत्निमात्रे सप्तयवः कण्ठः । अरत्निमात्रे सार्द्धसप्तयवः । तदुक्तं *मन्त्रमुक्तावल्यां* "कण्ठोऽष्टयवैर्हस्तमानेषु कुण्डेषु। अरत्निमितेषु च सार्द्धसप्तभिर्यवैः। रत्निमितेषु च सप्तभिर्यवैरि"ति । *कामिके* त्वन्यथोक्तं "क्षेत्रार्कांशेन तस्योष्ठ" इति । *सोमशम्भुरपि* "बहिरेकाङ्गुलः कण्ठोद्व्यङ्गुलः क्वचिदागम" इति । साम्प्रदायिकास्तु प्रथमपक्षमेव मन्यन्ते बहुतन्त्रसम्मतेः । तदुक्तम् एकहस्तमुपक्रम्य—"खाताद्बाह्येऽङ्गुलः कण्ठस्तद्बाह्ये मेखलाः क्रमादि"ति । *पिङ्गलामतेऽपि* "खातादेकाङ्गुलं त्याज्यं मेखलानां स्थितिर्भवेत्"इति । अन्यत्रापि—"कण्ठोऽङ्गुलाद्बहिः कार्य" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि*—"कुण्डे हस्तमिते कण्ठं कुर्यादेकाङ्गुलं ततः" इति।*कालोत्तरे च* "खाताद्बाह्येऽङ्गुलः

कुण्डे द्विहस्ते ता ज्ञेया रसवेदगुणाङ्गुलाः ॥ ७१ ॥
चतुर्हस्तेषु कुण्डेषु वसुतर्कयुगाङ्गुलाः ॥
कुण्डे रसकरे ताः स्युर्दशाष्टर्त्वङ्गुलान्विताः ॥ ७२ ॥
वसुहस्तमिते कुण्डे भानुपङ्क्त्यष्टकाङ्गुलाः ॥ ७३ ॥
दशहस्तमिते कुण्डे मनुभानुदशाङ्गुलाः ॥
विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया मेखला सर्वतो बुधैः ॥ ७४ ॥
होतुरग्रे योनिरासामुपर्यश्वत्थपत्रवत् ॥

कण्ठः सर्वकुण्डेष्वयं विधिः । चतुर्विंशतिमं भागमङ्गुलं परिकल्पयेत्" इति । तट्टीकाकारैर्व्याख्यातम् "यवोऽष्टगुणितोऽङ्गुलमि"त्यादिना प्रसिद्धेनैव हस्ताङ्गुलव्यवहारेण होमानुसारात्कुण्डमुक्तम् । इयन्तु खातादिमानकथनार्थं परिभाषा क्रियते । चिकीर्षितकुण्डक्षेत्रं चतुर्विंशतिधा विभज्य यावांश्चतुर्विंशतिमोभागस्तावत्परिमाणमङ्गुलं परिकल्पयेदिति ॥ अत एव "सर्वकुण्डेष्वयं विधिरि"त्युक्तम् ।*अन्यत्रापि* "कण्ठोऽष्टयवमात्रः स्यात् कुण्डे तु करमात्रकः" इति । *अन्यत्रापि* "कुण्डस्यैकाकारस्य बाहू परितोनेमिर्भवेदङ्गुलेने"ति॥ द्विहस्तादिकुण्डानां विस्तारायामं सूचयन् मेखला आह—*कुण्डेइति* । अत्र सर्वत्र षष्ठाष्टमद्वादशांशैः पूर्वोक्तवन्मेखलाः कार्याः । "विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया"इति वक्ष्यमाणं पूर्ववत्सर्वत्र सम्बध्यते ॥ *रसवेदगुणाङ्गुला इति* अल्पमन्तरमाचार्य्यैरुपेक्षितं शिष्यबुद्धिपरीक्षार्थं शिष्याणामूहापोहबुद्धिर्यथास्यादिति । तत्र पञ्चाङ्गुलानि पञ्चयवाः द्वे यूके । इयं प्रथमा । चतुरङ्गुलानि द्वौ यवौ मध्या । द्वेअङ्गुले षट्यवाः पञ्चयूकाः अन्त्या। अत्र यद्यपि त्रिपञ्चसप्तनवहस्तानां मेखला नोक्तास्तथापि अग्रे "एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते । लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्द्धयेत्"इति त्रिहस्तादीनां विनियोग उक्तः । अतस्तन् मेखलामानमपि पूर्ववत् षष्ठाष्टमद्वादशांशैर्ज्ञेयम् । तत्र त्रिहस्ते षडङ्गुलानि सप्तयवास्तिस्रो यूकास्तिस्रोलिक्षा आद्या । पञ्चाङ्गुलानि एको यवः चतस्रोयूकाश्चतस्रोलिक्षा अर्द्धसहिता मध्या । त्रीण्यङ्गुलानि त्रयो यवाः पञ्च यूकाः षट् लिक्षास्त्र्यं शोना अन्त्या ॥ ७० ॥ ७१ ॥

चतुर्हस्त इति । वसवोऽष्टौ । तर्काः षट् । युगानि चत्वारि ॥ अत्र षष्ठाष्टमद्वादशांशता ग्रन्थकृतैव प्रकटीकृता । एवं पञ्चहस्तादावपि ज्ञेयम् ॥ ७२॥७३॥७४ ॥

योनिमाह—*होतुरिति* । आसांमेखलानामुपरि मध्यभागे होतुरग्रे अश्वत्थपत्रवद्योनिः कार्या । तदुक्तं *सोमशम्भुना—*"तासामुपरि योनिः स्यान्मध्येऽश्वत्थदलाकृतिः"इति । इयं च पूर्वोक्तयोनिः कुण्डाकारा कार्या । होतुरग्रइत्यन्तेन—एतदुक्तं भवति वेदी यथा पृष्ठभागे न पतति होतुश्च प्राङ्मुखता उदङ्मुखता वा भवति तथा—केषांचित्पश्चिममेखलोपरि केषांचिद्दक्षिणमेखलोपरि योनिः स्थापनीयेति । तदुक्तं स्वायम्भुवे "प्रागग्नियाम्यकुण्डानां प्रोक्ता योनिरुदङ्मुखा । पूर्वामुखाः स्मृताः शेषा यथाशोभं व्यवस्थिताः" इति । *त्रैलोक्यसारेऽपि *"दक्षिणस्था पूर्वयाम्ये जलस्था पश्चिमोत्तरं । नवमस्यापि कुण्डस्य योनिर्नूर्दक्षजलस्थिता" इति । अत्र पूर्वशब्देनाग्नेयी जलस्थेतिनैर्ऋत्यवायव्ये उत्तरेइतीशाने । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* । "इन्द्राग्नियमदिक्कुण्डयोनिः सौम्यमुखा स्मृता । योनिः पूर्वमुखान्येषु पूर्वेशान्यतरा स्मृता"इति । *क्रियासारेऽपि* "होमकृत्पुरतः स्थाप्या दक्षिणे पश्चिमेऽपि" च इति । *सोमशम्भुरपि*—"पूर्वाग्नियाम्यकुण्डानां योनिः स्यादुत्तरानना । पूर्वानना तु शेषाणामैशान्येऽन्यतरा तयोः"इति । अत्रैशान्यइति एकदेशेन नवमं कुण्डं गृहीतम् । एतेन पूर्वाग्नेयदक्षिणकुण्डानि नवमं च कुण्डमुत्तराग्रम् । अन्यानि पञ्च कुण्डानि प्रागग्राणीति ॥ तस्याः प्रमाणमाह *मुष्टीति* ॥ एकहस्तप्रकृतिकत्वात् सर्वकुण्डानां चतुः षड्द्वादशांशैः आयामविस्तारो-

मुष्टयरत्न्येकहस्तानां कुण्डानां योनिरीरिता ॥ ७५ ॥
षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामविस्तारोन्नतिशालिनी ॥
एकाङ्गुलं तु योन्यग्रं कुर्यादीषदधोमुखम् ॥ ७६ ॥
एकैकाङ्गुलतो योनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् ।
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्द्धयेत् ॥ ७७ ॥
स्थलादारभ्य नालं स्याद्योन्या मध्ये सरन्ध्रकम् ॥

न्नतियुक्ता सर्वत्र योनिः कार्या । तदुक्तं *तन्त्रान्तरे* "तुर्यषष्ठद्वादशांशैर्योनिः कुण्डायतेर्भवेत् । आयता विस्तृता तुङ्गा जिनांशेन तदग्रकम्" इति ।*क्रियासारेऽपि* "तत् षडङ्गुलमायामविस्तारं चतुरङ्गुऽलम्" इति । इदं तु एकमेखलापक्षे *अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति*। षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामेति द्वादशाङ्गुलदैर्घ्या षड्द्वयङ्गुलविस्तारेति। अष्टाङ्गुलविस्तारा द्व्यङ्गुलोच्छ्रितेति। तदुक्तम् *स्वायम्भुवे*"मेखला मध्यतो योनिः कुण्डार्द्धत्र्यंशविस्तृता"इति।*सिद्धान्तशेखरेऽपि*दीर्घार्कपर्वभिर्योनिविस्तारेणाष्टकाङ्गुला। उन्नतिर्द्व्यङ्गुलेनास्या" इति।*प्रयोगसारेऽपि* "त्रिभागां मध्यतो योनिमायामेद्द्वादशाङ्गुलाम् ॥ द्वादशांशोच्छ्रितां कुर्यात्किंचित्कुम्भनिवेशिनीम्" इति। क्वचिदेकाङ्गुलोऽप्युच्छ्राय उक्तः *पञ्चरात्रे* "कुण्डत्र्यंशेन विस्तारो योनेरुच्छ्रायतोऽङ्गुला। कुण्डार्द्धेन तु दीर्घा स्यात्"इति॥*त्रैलोक्यसारेऽपि* "दीर्घ्यात्सूर्याङ्गुला योनिस्त्र्यंशोना विस्तरेण तु। एकाङ्गुलोच्छ्रिता सा तु"इति॥*पिङ्गलामतेऽपि* "विस्तारोऽष्टाङ्गुलो योनेरुच्छ्रायोऽङ्गुलसम्मितः" इति। *अन्यत्रापि* "उत्सेधमङ्गुलमितमि"ति।तेन द्व्यङ्गुलोच्छ्रायैकाङ्गुलोच्छ्राययोर्विकल्पः। अष्टाङ्गुलो विस्तारस्त्वाद्विभागे। अग्रं संकुचितत्वात्। अश्वत्थपत्रवदित्युक्तेः, योनिमध्ये किंचिन्निम्नं कार्यम्। तदुक्तं *त्रैलोक्यसारे* "मध्ये त्वाज्यधृतिस्तथे"ति ॥ साम्प्रदायिका अपि एतादृशीमेव योनिं मन्यन्ते ॥ अन्ये तु षट्चतुर्द्व्यङ्गुलेति समुचितमायामादिषु सम्बध्यते । तेन द्वादशाङ्गुलविस्तारा द्वादशाङ्गुलदैर्घ्या द्वादशाङ्गुलोच्चा योनिः कार्येत्याहुः । तदुक्तं *पञ्चरात्रे* "अर्काङ्गुलोच्छ्रयां योनिं विदध्यात्तावदायतामि"ति । *अन्यत्रापि*"द्वादशस्वरूपत्वात् योनिः स्याद्द्वादशाङ्गुला । उत्सेधायामतस्तुल्ये"ति । एतत्पक्षद्वयमपि यथास्वगुरुसम्प्रदायमूहनीयम् । इदं तूक्तप्रमाणं त्रिमेखलापक्षे । यदा द्वादशाङ्गुलमेखलापक्षस्तन्मते योनिरुक्ता *प्रयोगसारे* "सात्विकी मेखला पूर्वा विस्तृत्या द्वादशाङ्गुला । द्वितीया राजसी प्रोक्ता मेखलाष्टाङ्गुलैस्ततः॥ तृतीया मेखला ख्याता तामसी चतुरङ्गुला । पृथक् विस्तारमेतासु चतुरङ्गुलमानतः ॥ स्थितां प्रतीच्यामायामे सम्यक् पञ्चदशाङ्गुलाम् । द्विपञ्चाङ्गुलविस्तारां षट्चतुर्द्व्यङ्गुलां क्रमात् ॥ व्यक्ताश्वत्थदलाकारां निम्नां कुण्डे निवेशिताम् । त्रयोदशाङ्गुलोत्सेधां योनिं कुण्डस्य कारयेत्" इति । प्रतीच्यामिति एककुण्डपक्षानुसारेणेति ज्ञेयम् ॥ *एकाङ्गुलमिति* एतेन चतुर्विंशांशेन सर्वत्र योन्यग्रमपि ईषदधोमुखं कुण्डप्रविष्टं कुर्यादित्युक्तम् । तदुक्तं *नारदीये* "कुण्डाष्टीबोधिपत्रवत्"इति। अष्टी योन्यग्रं, कुण्डप्रविष्टाग्रेत्यर्थः।*त्रैलोक्यसारेऽपि*"प्रविष्टाभ्यन्तरे तथा ॥ कुम्भद्वयसमायुक्ता चाश्वत्थदलवन्मते"ति । *वायवीयसंहितायामपि*"मेखलामध्यतः कुर्यात् पश्चिमे दक्षिणेऽपि वा । शोभनं मध्यतः किंचित् निम्नामुन्मूलिकां शनैः ॥ अग्रेण कुण्डाभिमुखां किंचिदुत्सृष्टमेखलाम्" इति । अत्र ग्रन्थगौरवभयाद्द्विहस्तकुण्डान्ते प्रत्येकं योनितदग्रादीनां माने नोक्तं तथापि किंचिदुच्यते "आयामश्चार्द्धविस्तृत्या सत्र्यंशोनाऽथविस्तृतिः । विस्तारतुर्योन्नतिः स्यादुन्नत्यर्द्धाच्चदग्रकम् ॥ एकैकाङ्गुलतोयोनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् । यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्द्धयेत् ॥" इति तु गणितापद्धन् प्रति स्थूलमानेनोक्तं न तु सम्यक् गणनाभिप्रायमिति ॥ ७५॥७६॥७७ ॥

नालमाह—*स्थलादिति* । स्थलादारभ्य योन्या नालं स्यात् । स्थलादारभ्येत्यनेन

नार्पयेत्कुण्डकोणेषु योनिं तां तन्त्रवित्तमः ॥ ७८ ॥
कुण्डानां कल्पयेदन्तर्नाभिमम्बुजसन्निभाम् ॥
तत्तत्कुण्डानुरूपं वा मानमस्य निगद्यते ॥ ७९ ॥
मुष्ट्यरत्न्येकहस्तानां नाभिरुत्सेधतारतः ॥
द्वित्रिवेदाङ्गुलोपेताः कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् ॥ ८० ॥
यवद्वयक्रमेणैव नाभिं पृथगुदारधीः ॥
योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभिं विवर्जयेत् ॥ ८१ ॥
नाभिक्षेत्रं त्रिधा भित्त्वा मध्ये कुर्वीत कर्णिकाम् ॥
बहिरंशद्वयेनाष्टौ पत्राणि परिकल्पयेत् ॥ ८२ ॥
मुष्टिमात्रमितं कुण्डं शतार्द्धे संप्रचक्षते ॥
शतहोमेऽरत्निमात्रं हस्तमात्रं सहस्रके ॥ ८३ ॥
द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम् ॥
दशलक्षे तु षड्हस्तं कोट्यामष्टकरं स्मृतम् ॥८४॥
एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे निधीयत ।
लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्धयेत् ॥ ८५ ॥

बाह्यमेखलालग्नं नालं कार्यमित्युक्तम् । तेन चतुरङ्गुलोत्सेधविस्तारां बाह्यमेखलासंदष्टां वेदीं कृत्वा तदुपरि नालं स्थापयेदित्यर्थः । कथं मध्ये सरन्ध्रकं यथा भवति तथा मध्ये मध्यमेखलोपरि परिधिपरिस्तरणार्थं रन्ध्रं विधाय अन्योमध्यभागः पूरणीय इत्यर्थः । तदुक्तं *पञ्चरात्रे* "स्थलादारभ्य योनिः स्याद्बाह्यमेखलया समा" इति । यस्तु "मध्ये सरन्ध्रकमि"ति नालविशेषणमित्यवदत् स भ्रान्त एव । यतः सरन्ध्रस्यैव नालशब्दवाच्यत्वात् । तस्य सरन्ध्रकथने तस्यादृष्टार्थापत्तेश्च । न च नालाद् बाह्ये परिध्यादिस्थापनमिति वाच्यम् । दृष्टेनादृष्टबाधायोगात् । परिधिपरिस्तरणस्थलाभावाच्च । *प्रयोगसारे तु* । "योन्याः पश्चिमतो नालमायामे चतुरङ्गुलम् । त्रिद्व्येकाङ्गुलविस्तारं क्रमान्न्यूनाग्रमिष्यते" इति ॥ ७८ ॥

नाभिमाह—*कुण्डानामिति* । कुण्डानामन्तर्नाभिं कल्पयेत् । कुण्डाकारं पद्माकारं वा नाभिं कृत्वा खातमध्ये स्थापयेदित्यर्थः । "आतपे क्षत्रिये नाभिः प्राण्यङ्गे तु द्वयोरिति" नाभिशब्दः पुल्लिङ्गोऽप्यस्ति ॥ ७९ ॥

उत्सेधतारतः । उच्चत्वविस्ताराभ्याम् । अत्रापि प्रागवदेकहस्तस्य सर्वकुण्डप्रकृतिभूतत्वात् । कुण्डविस्तारषष्ठांशेन विस्तृता तदर्द्धोच्चा इत्युक्तं भवति ॥ अम्बुजसादृश्यमेवाह—*नाभिरि*ति ॥ ८० ॥ ८१ ॥

*कुर्वीते*ति । "अंशेने"ति शेषः । उक्तं च *नारायणीयेऽपि* "पार्श्वे योगभुवः खाते कुण्डे सन्नाभिमेखला" इति ॥८२॥

उक्तमुष्ट्यादिकुण्डानां विनियोगमाह—*मुष्टीत्यादि कोट्यामष्टकरमित्यन्तेन* । *शतहोमे* । अरत्निमात्रमिति च्छेदः । *तदुक्तम्* "मुष्टिमानं शतार्द्धे तु शते वारत्निमात्रकम्" इति । *संहितायां तु* । "कुण्डं च कोटिहोमेऽपि तदर्द्धेऽपि कराष्टकम्" इति ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

पक्षान्तरमाह—*एकेति* । इदं तु पुष्पाज्याद्यल्पद्रव्यविषयमेककर्तृकहोमपरं वा पञ्चकरपर्यन्तम् । तदूर्ध्वं तु बृहद्द्रव्यविषयमनेककर्तृकविषयं वा ज्ञेयम् । कोट्यामष्टकरमित्यनेन विकल्पोदशहस्तमित्यस्य । *सिद्धान्तशेखरे तु* विशेषः "लक्षार्द्धे त्रिकरं कुण्डं लक्षहोमे

दशहस्तमितं कुण्डं कोटिहोमे(१)ऽपिशस्यते ॥
सर्वसिद्धिकरं कुण्डं चतुरस्रमुदाहृतम् ॥ ८६ ॥
पुत्रप्रदं योनिकुण्डमर्द्धेन्द्वाभं शुभप्रदम् ॥
शत्रुक्षयकरं त्र्यस्रं वर्तुलं शान्तिकर्मणि ॥ ८७ ॥
छेदमारणयोः कुण्डं षडस्रं पद्मसन्निभम् ॥
वृष्टिदं रोगशमनं कुण्डमष्टास्रमीरितम् ॥ ८८ ॥
विप्राणां चतुरस्रं स्याद्राज्ञां वर्तुलमिष्यते ॥
वैश्यानामर्द्धचन्द्राभं शूद्राणां त्र्यस्रमीरितम् ॥ ८९ ॥
चतुरस्रं तु सर्वेषां केचिदिच्छन्ति(२) देशिकाः ॥

चतुष्करम् । कुण्डं पञ्चकरं प्रोक्तं दशलक्षाहुतौ क्रमात् ॥ षड्ढस्तं लक्षविंशत्यां कोट्यर्द्धे सप्तहस्तकम्" इति । *अन्यत्रापि* "केचिद्धस्तं लक्षहोमे, द्विहस्तं लक्षद्वन्द्वे, वह्निहस्तं त्रिलक्षे । होमेकुण्डं वेदलक्षेऽब्धिहस्तं प्राहुर्दोष्णाम्पञ्चकम्पञ्चलक्षे ॥ रसलक्षे रसहस्तं सप्तकरं सप्तलक्षे स्यात् । वसुहस्तं वसुलक्षे नवलक्षे नवकरङ्कुण्डम् ॥ दशलक्षे दशहस्तं दशकरमेवेह कोटिहोमेऽपि । दशहस्तान्न हि कुण्डं परमस्ति महीतलेऽमुष्मिन्नि"ति ॥ अथ कुण्डानां फलविशेषानाह—*सर्वेति* ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

छेद उच्छेदः । उच्चाटनमिति यावत् । अयं च फलविशेषः पूर्वोक्ततत्तद्दिशि कुण्डकरण एव ज्ञेयः । तदुक्तं *कामिके* । "ऐन्द्र्यां स्तम्भे चतुष्कोणमग्नौ भोगे भगाकृति । चन्द्रार्द्धं मारणे याम्ये द्वेषे निर्ऋतिकोणकम् ॥ वारुण्यां शान्तिके वृत्तं षडस्रमुच्चाटनेऽनिले । उदीच्यां पौष्टिके पद्मं रौद्र्यामष्टास्रि मुक्तिदम्" इति । *पिङ्गलामतेऽपि* "कुण्डं कुशेशयाकारमुत्तरे वश्यकर्मणि । षडस्रमुच्चाटने वायावर्द्धेन्दुर्मारणे यमे ॥ वेदास्रं स्तम्भने प्राच्यामाकर्षेऽग्नौ भगाकृति । वारुण्यां शान्तिके वृत्तमीशे त्वष्टास्रि मुक्तिदम्" इति । *सिद्धान्तशेखरेऽपि* "योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेय्यामुत्तरामुखम् । प्रजावृद्धौ च तापे स्यादर्द्धचन्द्रमथोच्यते ॥ याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा । नैर्ऋते त्र्यस्रि कुण्डं स्याद्विद्वेषे पूर्ववक्त्रकम् ॥ वृत्तं कुण्डमथो वक्ष्ये वारुण्यां शान्तिके हितम् । षडस्रमुच्यते कुण्डं वायावुच्चाटने पटु ॥ पद्मकुण्डमथो वक्ष्ये सौम्ये तत्पुष्टिवर्द्धनम् । वक्ष्ये कुण्डमथाष्टास्रमीशाने सर्वकामदम्" ॥ इति । अत्र दीक्षाङ्गतया क्रियमाणयाऽष्टकुण्ड्या संयोगपृथक्त्वन्यायेन तत्तत्कुण्डोक्तफलसिद्धिरपि ज्ञेया *क्रियासारेऽपि* "पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तं कुण्डं ताल(३)प्रमाणकम् । उक्तं चरार्चने चैव न स्थिरे तु चतुर्मुख ! ॥ कुण्डमत्रोक्तमार्गेण निर्मायाथ सलक्षणम् । क्ष.त्रयोऽपि समृद्धो वा शूद्रस्ताम्रेण बन्धयेत् ॥ तदलाभे त्विष्टकाभिः सम्बध्य सुदृढं यथा । पूर्वोदितप्रकारेण मृदया(४) लेपयेत्तथा ॥ ताम्रेण लक्षणोपेतं कुर्यान्मृत्तिकयाऽपि वा । एतत् कुण्डं चरार्चायां गृह्णीयान्न स्थिरार्चने ॥" अत्र च पूर्ववाक्यैकवाक्यतया तालप्रमाणत्वं ज्ञेयम् । "अम्लेन ताम्रकं कुण्डं मृन्मयं गोमयाम्भसा । सौधं च सुधया सम्यक् शोधयेदमरर्षभ ॥ मृन्मयानां तु कुण्डानां परितः सञ्चिभिः सह । रक्तमृच्छालिपिष्टाभ्यां भूषयेद्दृक्प्रियं यथा" इति । अत्रोक्तकुण्डानां न्यूनत्वे आ-

---

(१) विधीयते—इत्यपि पाठः । (२) तान्त्रिकाः । इत्यपि पाठः ।

(३) तालपदेनाङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुलिमानं ग्राह्यम् तथाचामरः "प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते" इति ॥

(४) अत्र "आपञ्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा" इतिभागुरिमतेन टावुक्तः ॥

कुण्ड(१)रूपं तु जानीयात्परमं प्रकृतेर्वपुः ॥ ९० ॥
प्राच्यां शिरः समाख्यातं बाहू दक्षिणसौम्ययोः ॥
उदरं कुण्डमित्युक्तं योनिः(२) पश्चिमतोभवेत् ॥ ९१ ॥
नित्यं नैमित्तिकं होमं (३)स्थण्डिले वा समाचरेत् ॥
हस्तमात्रेण तत्कुर्याद्वालुकाभिः सुशोभनम् ॥ ९२ ॥
अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरस्रं समं ततः ॥

धिक्ये अन्यथा भावे दोषमाह—*विश्वकर्मा* "खाताधिके भवेद्रोगी हीने धेनुधनक्षयः। वक्रकुण्डे तु सन्तापो मरणं छिन्नमेखले ॥ मेखलारहिते शोकोऽभ्यधिकेवित्तसंक्षयः। भार्याविनाशनं कुण्डं प्रोक्तं योन्या विना कृतम् ॥ अपत्यध्वंसनं प्रोक्तं कुण्डं यत्कण्ठवर्जितम्" इति। *आगमान्तरेऽपि* "मानाधिके भवेन्मृत्युर्मानहीने दरिद्रता" इत्यादि।*क्रियासारेऽपि* "न्यूनाधिकप्रमाणं यत् कुण्डं जर्जरमेखलम्। शृङ्गाररहितं यच्च यजमानविनाशकृत्" इति। *वसिष्ठसंहितायामपि* "अनेकदोषदं कुण्डमत्र न्यूनाधिकं यदि। तस्मात्सम्यक् परीक्ष्येदं कर्त्तव्यं शुभमिच्छता" इति। *सिद्धान्तशेखरेऽपि*"मानहीने महाव्याधिरधिके शत्रुवर्द्धनम्। योनिहीने त्वपस्मारो वाग्दण्डः कण्ठवर्जिते"इति।*जयद्रथयामलेऽपि* "सूत्राधिके सुहृद्द्वेषो मानहीने दरिद्रता। वाग्रोधः कण्ठहीने स्यादसिद्धिर्न्यूनखातके॥ अधिके चाऽसुरोभोगो मानेनाधिकमेखले। व्याधयः सम्प्रवर्द्धन्ते वीतोष्ठे स्यादपस्मृतिः(४)। "उच्चाटः स्फुटिते च्छिद्रसंकुले वाच्यता(५) भवेत्" इति। अस्यापि *क्रियासारे* आवश्यकतोक्ता "दिग्देशकुण्डनिर्मुक्तो योऽनलो लौकिको हि सः। तस्मादिग्देशकुण्डानि संग्राह्याण्युक्तलक्षणैः॥ कुण्डमेवं विधं न स्यात् स्थण्डिलं वा समाश्रयेत्"इति ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

कुण्डं खातरूपं *योनिः पश्चिमत* इति नित्याभिप्रायेण एककुण्डाभिप्रायेण च ग्रन्थकृदुक्तिः ॥ ९१ ॥

कुण्डानुकल्पमाह--*नित्यमिति*। *अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तम्* अङ्गुलं पूर्वोक्तलक्षणं, यद्वा अङ्गुलानां हस्तशाखानां चतसृणां य उत्सेधस्तद्युक्तम्, यदाहुः—"स्थण्डिलं रत्निमात्रायामं चाङ्गुष्ठपर्वोन्नतमपि सुसमं निर्मितं वालुकाभिः॥ चतुः कोणमध्याङ्गुलोत्सेधमेके बुधा हस्तविस्तारयुक्तन्तदाहुरि"ति। इदमल्पहोमविषयमिति ज्ञेयम्। तदुक्तम् *वसिष्ठसंहितायाम्* "इषुमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमकर्मणि"इति। *क्रियासारे* तु स्थण्डिले देशविशेषोऽप्युक्तः "होमोऽष्टदिक्षु प्राक्प्रह्वः प्रागुदक्प्रवणोऽथवा ॥ उदक्प्रह्वः प्रदेशो वा स्थण्डिलस्य स्थलं स्मृतम्" इति। *पिङ्गलामते तु विशेषः* "होमे प्रशस्यते कुण्डं स्थण्डिलं वा (६)हसन्तिकेति॥ *वायवीयसंहितायामपि* "अथाग्निकार्यं वक्ष्यामि कुण्डे वा स्थण्डिलेऽपि वा।वेद्यां वाऽथायसे पात्रे मृन्मये वा नवेशुभ" इति।"स्थण्डिलं वालुकाभिर्वा रक्तमृद्रजसापि वा"। इति *क्रियासारे विशेषः*॥ होमे अग्निचक्रमपि विलोकनीयम्। तदुक्त*मन्यत्र*"नवकोष्ठं समालि-

---

(१) कुण्डस्वरूपं—इत्यपि पाठः। (२) योनिः पादौतुपश्चिमे। इत्यपि पाठः।
(३) काम्यं—इत्यपि पाठः।
(४) अपस्मारो–रोगविशेषः। मिर्गीशब्देनलोकेख्यातः॥
(५) लोकानिन्द्यता। 'वाच्यन्तु कुत्सितेहीनेवचनार्हेचवाच्यवत्" इतिमेदिनी॥
(६) हसन्ती एव हसन्तिका साचाङ्गारधानी। "अँगेठी–"ति प्रसिद्धा। तथा चामरः। "अङ्गारधानिकाऽङ्गारशकट्यपि हसन्त्यपि" इति॥"हसन्त्यङ्गारधान्यात्र्ये"तिमेदिन्यपि।

एवं प्रोक्तानि कुण्डानि कथ्यन्ते स्रुक्स्रुवौ ततः ॥ ९३ ॥
प्रकल्पयेत्स्रुचं यागे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ॥
श्रीपर्णीशिंशपाक्षीरशाखिष्वेकमथं गुरुः ॥ ९४ ॥
गृहीत्वा विभजेद्धस्तमात्रं षट्त्रिंशता पुनः ॥
विंशत्यंशैर्भवेद्दण्डो वेदी तैरष्टभिर्भवेत् ॥ ९५ ॥
एकांशेन मितः कण्ठः सप्तभागमितं मुखम् ॥
वेदित्र्यंशेन विस्तारः कण्ठस्य परिकीर्तितः ॥ ९६ ॥
अग्रं कण्ठसमानं स्यान्मुखे मार्गं प्रकल्पयेत् ॥
कनिष्ठाङ्गुलिमानेन सर्पिषो निर्गमाय च ॥ ९७ ॥
वेदिमध्ये विधातव्या भागेनैकेन कर्णिका ॥
विदधीत बहिस्तस्या एकांशेनाभितोऽवटम् ॥ ९८ ॥
तस्य खातं त्रिभिर्भागैर्वृत्तमर्द्धांशतो भवेत् ॥
अंशेनैकेन परितो दलानि परिकल्पयेत् ॥ ९९ ॥
मेखला मुखवेद्योःस्यात्परितोऽर्द्धांशमानतः ॥

ष्यायेशनैर्ऋतयोः क्रमात्। वारीन्द्रैन्द्रे वायुवह्न्योर्दक्षिणोत्तरयोर्न्यसेत्॥ सूर्यादीन् मध्यकोष्ठे तु केतुं न्यस्य फलं दिशेत्। आदित्ये च भवेच्छोको बुधे धनसमागमः॥ शुक्रस्थानेऽर्थलाभः स्याच्छनिर्हानिकरो भवेत्। चन्द्रे लाभं विजानीयाद्भौमे च वधबन्धनम् ॥ गुरुः स्यादर्थलाभाय राहुर्हानिकरो मतः। केतुना मृत्युमाप्नोति ह्यग्निचक्रे सदैव हि ॥ त्र्यं त्र्यं च गणयेत् सूर्यर्क्षाद्दिनभावधि। नित्ये नैमित्तिके दुर्गाहोमादौ न विचारयेत् ॥" इति। उक्तमुपसंहरन् वक्ष्यमाणमवतारयति *एवमिति*। स्थाण्डिलस्यापि कुण्डानुकल्पत्वेनोक्तत्वात् कुण्डानामेवोपसंहारः कृत इति ज्ञेयम् ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

स्रुचो लक्षणमाह *प्रकल्पयेदिति*। श्रीपर्णी (१)काश्मरी। क्षीरशाखिनोन्यग्रोधादयः॥९४॥९५॥

वेदित्र्यंशेनेति पादोनत्र्यंशैः कण्ठान्तस्थो विष्कम्भ इत्यर्थः। स च तत्परिध्यानयनेन ज्ञेयः। *अग्रमिति*। अग्रं मुखम् कंठसमानं वेदीतृतीयांशविस्तारं सर्वेषां दैर्घ्यस्योक्तत्वात्। सर्पिषोनिर्गमायेत्युक्तेः।*मार्गमिति*। कण्ठवेदोपरिधिभेदिनम् ॥ तदुक्तं *मन्त्रमुक्तावल्याम्*। "कण्ठाधः कारयेन्मार्गं विद्वानाज्यस्य निर्गमे। वेधं च मुखतः कुर्यात्तप्तलोहशलाकया" इति। *वसिष्ठसंहितायामपि* "सुषिरं कण्ठदेशे स्याद्विशेषावत्कनीयसम्"। इति ॥९६॥९७॥

वेदीति। कर्णिका तु खातमध्ये उच्चा रक्षणीया। तस्याः कर्णिकायाः बहिः। अभितः। सर्वतः। तेनांशद्वयं संगृहीतम्। अवटो गर्त्तः॥ ९८ ॥

त्रिभिर्भागैः अङ्गुलद्वयेनेत्यर्थः। बहिरित्यवटस्य परित इति। वृत्त(२)म्परितस्तेनांशद्वयं संगृहीतम् ॥ ९९ ॥

मुखवेद्योः परितः। अर्द्धांशमानतो मेखला स्यादित्यन्वयः। तेनार्द्धांशेन मुखेऽपि मेख-

---

(१) गम्भारी। तथाचामरः। "गम्भारी सर्वतोभद्रा काश्मरी मधुपर्णिका। श्रीपर्णी भद्रपर्णी च काश्मर्यश्चापीति।

(२) अत्र परितः शब्दयोगे वृत्तमिति द्वितीया षष्ठ्यर्थे बोध्या। "उपपदविभक्तीनां सम्बन्धोऽर्थः षष्ठ्यपवादत्वादुत्सर्गसमानदेशा अपवादा भवन्तीति महाभाष्यम् ॥

दण्डमूलाग्रयोः कुम्भौ गुणवेदाङ्गुलैः क्रमात् ॥ १०० ॥
गण्डीयुगं वसांशः स्यादण्डस्यानाह ईरितः ॥
षड्भिरंशैः पृष्ठभागो वेद्याः कूर्माकृतिर्भवेत् ॥ १०१ ॥
हंसस्य वा हस्तिनो वा पोत्रिणो वा मुखं लिखेत् ॥
मुखस्य पृष्ठभागेऽस्याः संप्रोक्तं लक्षणं स्रुचः ॥ १०२ ॥
स्रुचश्चतुर्विंशतिभिर्भागैरारचयेत्स्रुवम् ॥
द्वाविंशत्या दण्डमानमंशैरेतस्य कीर्तितम् ॥ १०३ ॥
चतुर्भिरंशैरानाहः कर्षाज्यग्राहि तच्छिरः ॥
अंशद्वयेन निखनेत्पङ्के मृगपदाकृति ॥ १०४ ॥
दण्डमूलाग्रयोर्गण्डी भवेत्कङ्कणभूषितः ॥
स्रुवस्य विधिराख्यातः कथ्यते(१) मण्डलान्यथ ॥१०५॥

सा कार्या सा च वृत्ताकारा भवति ॥ तत एकेन कर्णिका द्वाभ्यामवट एकेन वृत्तम् । अंशद्वयेन दलानि । एकांशेन मेखला । अर्थादर्द्धभागेन परितः समचतुरस्रसीमा घटना कार्या । तदुक्तम् *मन्त्रमुक्तावल्याम्* "अर्द्धाङ्गुला भवेच्छोभा समा वा चित्रिताऽपि वा" इति । अत्राङ्गुलशब्दोऽंशवाची । एवमत्रापि भागा उपयुक्ताः । सीम्नः कोणेषु वल्यादि चित्रं कार्यमुपदेशात् । *दण्डेति* । अत्रांशप्रकरणात अङ्गुलशब्दोंऽशवाची तेन मूले त्र्यंशेन मूलभागमुखः । अग्रे तु चतुरंशेन वेदिलग्नमुखः कार्यः । क्रमादित्यग्रेऽप्यन्वेति ॥

तत्र मूलकुम्भलग्ना द्व्यंशा अन्यत्र लग्नापि द्व्यंशा गण्डी कङ्कणाकारा कार्या ।युगशब्दस्य "युगं युग्मे कृतादिष्वि"ति कोशाद्वाच्येद्वित्वार्थे सम्भवति लक्षणाङ्गीकरणे प्रमाणाभावात् । तदुक्तं*सोमशम्भुना* "मूले चाग्रे च दण्डस्य गण्डी कङ्कणवद्भवेत्" इति । एतेनैकादशांशा जाताः मध्ये नवांशमितो धारणार्थं दण्डोऽवशिष्यते।तदुक्तम्*महाकपिलपञ्चरात्रे*"रसाङ्गुष्ठैर्भवेद्दण्ड" इति । अत्रापि द्व्यङ्गुलशब्देनाङ्गुलानि गृह्येरंस्तदा सार्द्धाद्रयोंऽशा दण्डोऽवशिष्यते । ततो धारणार्थमवकाश एव न स्यात् । *दण्डस्यानाहो वसांशः* षड्भिरंशः कार्यो*वेद्याः पृष्ठभागः कूर्माकृति*रिति पृथगेव। ये तु दण्डस्यानाहो दैर्घ्यमीरितमिति पृथग्योजयन्ति।पड्भिरंशैर्वेद्याः पृष्ठभागः कूर्माकृतिरिति च योजयन्ति।ते भ्रान्ता एव। आनाहशब्दस्य दैर्घ्यवाचित्वाभावात् । दैर्घ्यस्य च प्रागुक्तत्वात् ॥ तदुक्तं *मन्त्रमुक्तावल्याम्* । "षडङ्गुलपरीणाहो दण्डमध्य उदाहृत" इति।कूर्माकृतिरित्यत्र षड्भिरंशैरित्यस्यानर्थक्याच्च॥१००॥१०१॥
॥ ९९ ॥ १०० ॥ १०१ ॥

अस्याः स्रुचो मुखस्यपृष्ठभागे हंसादेर्मुखं लिखेदिति सम्बन्धः।पोत्रिणो वराहस्य॥१०२॥

स्रुवलक्षणमाह—स्रुच इति । चतुर्भिरंशैरानाहो विस्तारः । एतस्येति सम्बन्धः । *यत्तु मन्त्रमुक्तावल्याम्* "दण्डो वेदाङ्गुलैर्भवेत्" इति । *कर्षेति* । कर्षलक्षणन्तु "माषो दशगुञ्जः स्यात् षोडशमाषो निगद्यते कर्षः" इति । अंशद्वयेन तच्छिरः कुर्यात् । तत्कर्षाज्यग्राहि पङ्के मृगपदाकृति यथा स्यादेवं निखनेदिति सम्बन्धः । कङ्कणभूषित इत्युक्तेः गण्डीशब्दोऽत्र घटपर्यायः । तदुक्तम् *मन्त्रमुक्तावल्याम्* । मूलाग्रयोः कारयेद्द्वौ कुम्भौ चातिमनोहरौ" इति। तौ च विशेषानभिधानात् प्राग्वत् कार्यौ । कङ्कणमपि प्राग्वत् कार्यम् । *अन्यत्र विशेषः* "तदलाभे पलाशस्य पर्णाभ्यां हूयते हविः" इति।अत्र पर्णाभ्यामिति मध्यमपर्णाभ्यामिति ज्ञेयम्

---

(१) कीर्त्यते—इत्यपिपाठः ॥

चतुरस्रे चतुष्कोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते ॥
चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्टयम् ॥ १०६ ॥
मध्ये मध्ये यथा मत्स्या भवेयुः पातयेत्तथा ॥
पूर्वापरायते द्वे द्वे मन्त्री याम्योत्तरायते ॥ १०७ ॥
पातयेत्तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम् ॥
पूर्ववत्कोणकोष्ठेषु कर्णसूत्राणि पातयेत् ॥ १०८ ॥
तदुद्भूतेषु मत्स्येषु दद्यात्सूत्रचतुष्टयम् ॥
ततः कोष्ठेषु मत्स्याः स्युस्तेषु सूत्राणि पातयेत् ॥ १०९ ।
यावच्छतद्वयं मन्त्री षट्पञ्चाशत्पदान्यपि ॥
तावत्तेनैव विधिना तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥ ११० ॥
षट्त्रिंशता पदैर्मध्ये लिखेत्पद्मं सलक्षणम् ॥
बहिः पङ्क्त्या भवेत्पीठं पङ्क्तियुग्मेन वीथिकाम् ॥ १११ ॥
द्वारशोभोपशोभास्रान् शिष्टाभ्यां परिकल्पयेत् ॥
शास्त्रोक्तविधिना मन्त्री ततः पद्मं समालिखेत् ॥ ११२ ॥

"मध्यमेन पर्णेन जुहोती"ति श्रुतेः । *वायवीयसंहितायामपि* "स्रुक्स्रुवौ तैजसौ ग्राह्यौ न कांस्यायससीसकौ । यज्ञदारुमयौ वापि तान्त्रिकैः शिल्पिसंमतौ ॥ पर्णं वा ब्रह्मवृक्षादेरच्छिद्रं मध्य उच्छ्रितम्" इति । *अन्यत्र तु* "पलाशपर्णाभावे तु पर्णैर्वा पिप्पलोद्भवै"रिति।*संहितायामपि* "पलाशपत्रे निश्छिद्रे रुचिरे स्रुक्स्रुवौ मुने ! । विदध्याद्वाश्वत्थपत्रे संक्षिप्ते होमकर्मणि" इति ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

अथ वेदिकायां सर्वतोभद्रादिमण्डलरचनामाह—*चतुरस्र* इति, वास्तुमण्डलोक्तप्रकारेण कर्णसूत्रद्वयसहितं चतुष्कोष्ठयुक्तं चतुरस्रं कुर्यादित्यर्थः ॥१०६॥

श्लोकद्वयेन षोडशकोष्ठोत्पादनप्रकारमाह—*चतुर्ष्विति* । चतुर्षु कोणसूत्रचतुष्कं तथा दद्या यथामध्ये मध्ये मत्स्या भवेयुः । मन्त्री तेषु मत्स्येषु द्वे पूर्वापरायते । इदं समं सूत्रचतुष्टयं पातयेदिति सम्बन्धः । एवं षोडशकोष्ठी सम्पन्ना भवति ॥ १०७½ ॥

चतुः षष्टिकोष्ठोत्पादनप्रकारं सार्द्धपद्येनाह—*पूर्ववदिति* । तत्र प्रकारः । कोणगतचतुष्कोष्ठेषु पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्कं दत्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्केषु पूर्ववद्द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे। इदं सूत्रचतुष्टयं दद्यात् । एतत्सूत्रचतुष्कपातोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्यचतुष्के पुनर्द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात् । एवं चतुष्षष्टिकोष्ठानि सम्पद्यन्ते ॥ १०८ ॥ १०९½ ॥

*तेनैव विधिने*त्यस्यायमर्थः । कोणकोष्ठचतुष्के पूर्ववत् कर्णसूत्रचतुष्टयं दत्वा तदुत्पन्नमत्स्यचतुष्के द्वे प्रागग्रे द्वे उदगग्रे सूत्रे दद्यात । तत एतत्सूत्रचतुष्कपातोत्पन्नान्तरालकोष्ठमत्स्येषु षट् प्रागग्राणि षट् उदग्राणि सूत्राणि दद्यात् । एवं द्वे शते षट्पञ्चाशत्कोष्ठानि सम्पद्यन्ते ॥ ११० ॥

कोष्ठानां विनियोगमाह—*षट्त्रिंशतेति* । पद्मलेखनप्रकारमनन्तरमेव वक्ष्यति *बहिरिति* । त्रिषु स्थानेष्वन्वेति । बहिः अष्टाविंशतिकोष्ठात्मिकया वक्ष्यमाणरीत्या पीठं कुर्यात् । तद्बहिः पङ्क्तियुग्मेन परितः अशीतिकोष्ठात्मकेन वक्ष्यमाणरीत्या वीथिकां कुर्यात् । तद्बहिः परितः *शिष्टाभ्यां* द्वादशोत्तरशतकोष्ठाभ्यां द्वाराणि शोभा उपशोभाः, अस्रान् कोणान् वक्ष्यमाणरीत्या कुर्यात् ॥ १११॥११२ ।

पद्मक्षेत्रस्य संत्यज्य द्वादशांशं बहिः सुधीः ॥
तन्मध्यं विभजेद्वृत्तैस्त्रिभिः समविभागतः ॥ ११३ ॥
आद्यं स्यात्कर्णिकास्थानं केशराणां द्वितीयकम् ।
तृतीयं पद्मपत्राणामुक्तांशेन दलाग्रकम् ॥ ११४ ।
बाह्यवृत्तान्तरालस्य मानेन विधिना सुधीः ॥
निधाय केसराग्रेषु परितोऽर्द्धनिशाकरान् ॥ ११५ ॥
लिखित्वा सन्धिसंस्थानि तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥
दलाग्राणां च यन्मानं तन्मानं वृत्तमालिखेत् ॥ ११६ ॥
तदन्तराले तन्मध्यसूत्रस्योभयतः सुधीः ॥
आलिखेद्बाह्यहस्तेन दलाग्राणि समन्ततः ॥११७॥

पद्मकरणप्रकारमाह—*पद्मेति* । तत्र षट्त्रिंशत्पदात्मकं पद्मक्षेत्रं तत् दिक्सूत्रद्वयेन कोणसूत्रद्वयेन चाष्टधा भेदितं वर्त्तते । तान्येव सूत्राणि पत्रमध्यसूत्राणि । तत्र प्रकारः । पद्मक्षेत्रायामं द्वादशधा विभज्य एकांशं सर्वतो बहिस्त्यजेत् । ततो दशभागान् षोढा विभज्य मध्ये सूत्रादि संस्थाप्य अंशद्वयेनैकं वृत्तम् । तदुपर्यंशद्वयेनापरं तदुपर्यंशद्वयेनान्यदिति वृत्तत्रयं कुर्यात् ॥ ११३ ॥

*आद्यमि*त्याद्युक्तिस्तु वक्ष्यमाणाङ्गावरणादीनां स्थानसूचनायेत्यवधेयम् । *उक्तांशेनेति* द्वादशांशेन । तत्र वृत्तमग्रे वक्ष्यति ॥ ११४ ॥

बाह्येति । बाह्यं यत्पत्रवृत्तं तस्य यदन्तरालन्तस्य मानेन सुधीः केसराग्रेषु केसरवृत्ताग्रेषु निधाय "सूत्रादिकमि"ति शेषः । विधिना परित उभयतः "पद्ममध्यसूत्राणामि"ति शेषः । अर्द्धनिशाकरान् लिखित्वा *सन्धिसंस्थानि* अर्द्धनिशाकरसंस्थानि चत्वारि सूत्राणि तत्र पातयेदिति सम्बन्धः । मानवद्विधिनेतिपाठे बाह्यवृत्तान्तरालस्य यन्मानं तेन तुल्येन विधिना तेन मानेनेत्यर्थः । तत्रायं विधिः । पत्रवृत्तान्तरालमितसूत्रं केसरवृत्तदिक्सूत्रसम्पाते संस्थाप्य तद्दिक्सूत्रोभयतः पत्रवृत्तस्पर्शि केसरवृत्तलग्नान्तद्वयमर्द्धचन्द्रं लिखेत् । एवं चतुर्षु दिक्सूत्रेषु चतुर्षु कोणसूत्रेषु च कृतेषु अष्टार्द्धचन्द्रा जायन्ते । एतच्च केसराग्रेष्विति बहुवचनादेव लभ्यते यतोऽष्टपत्रमध्येऽष्टौ केसरावस्थानानि ततोऽष्टदलसिद्धिरिति । ततोऽर्द्धचन्द्रयोः परस्परसम्पातरूपाष्टसन्धिषु सम्मुखीनयोर्द्वयोरेकैकं सूत्रं दद्यात् । एवमष्टपत्राणामपि अष्टौ सीमारेखा उत्पद्यन्ते । सन्ध्यधोवर्त्तिसीमारेखोभयतःस्थितोऽर्द्धनिशाकरांशो मार्जनीयः । *तदुक्तम्* "दलप्रसिद्ध्यै दलमध्यसन्धौ निधाय सूत्रं तु दलान्तरालम् । दलान्तरालोभयसंभ्रमोत्थैःशशाङ्कखण्डैस्तु दलं प्रसिध्येत्" इति । *अन्यत्रापि* । "उक्तक्षेत्रस्य दिक्सूत्रे संस्थाप्यान्यद्विसृज्य तु । प्रसार्य कोणसूत्रे द्वे वृत्तदिङ्मत्स्यमानतः ॥ निधाय केसराग्रेषु दलसन्धींस्तु लाञ्छयेत् । पातयित्वा तु सूत्राणि तत्र पत्राष्टकं लिखेत् ॥" इति ॥११५॥ ॥

चतुर्थं वृत्तमाह—*दलेति* दलाग्राणां यन्मानं बहिस्त्यक्तद्वादशांशरूपं तन्मानं चतुर्थवृत्तं कुर्यात् ॥ ११६ ॥

दलाग्रकरणप्रकारमाह—*तदिति* । तदन्तराले कृतदलाग्रवृत्तान्तराद्बहिस्त्यक्ताद्वदले । तन्मध्यसूत्रस्य पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः बाह्यहस्तेन समन्ततो दिक्षु विदिक्ष्वपि । दलाग्राणि सुधीरालिखेदिति सम्बन्धः । तत्र प्रकारः । चतुर्थवृत्तान्तराले यत्र मध्यसूत्रस्योभयतः सन्धिसूत्रस्याग्रे सूत्रादि निधाय पत्रपृष्टपत्रमध्यवृत्ततः दलाग्रवृत्तपत्रमध्यसूत्रसम्पातपर्यन्तं सूत्रद्वयं दद्यात् । तत्र सूत्रप्रान्त एकः पत्रस्पर्शी द्वितीयो दलाग्रमध्यसूत्रसंपातस्पर्शी

दलमूलेषु युगशः केसराणि प्रकल्पयेत् ॥
एतत्साधारणं प्रोक्तं पङ्कजं तन्त्रवेदिभिः ॥ ११८ ॥
पदानि त्रीणि पादार्थं पीठकोणेषु मार्जयेत् ॥
अवशिष्टैः पदैर्विद्वान् गात्राणि परिकल्पयेत् ॥ ११९ ॥
पदानि वीथिसंस्थानि मार्जयेत्पङ्क्त्यभेदतः ॥
दिक्षु द्वाराणि रचयेद्द्विचतुष्कोष्ठकैस्ततः ॥ १२० ॥
पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभाः स्युर्द्वारपार्श्वयोः ।
उपशोभाः स्युरेकेन त्रिभिः कोष्ठैरनन्तरम् ॥ १२१ ॥
अवशिष्टैः पदैः षड्भिः कोणानां स्याच्चतुष्टयम् ।
रञ्जयेत्पञ्चभिर्वर्णैर्मण्डलं तन्मनोहरम् ॥ १२२ ॥
पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात्सितं तण्डुलसम्भवम् ।
कुसुम्भचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धं पुलाकजम् ॥ १२३ ॥
बिल्वादिपत्रजं श्यामंमित्युक्तं पञ्चवर्णकम् ।

सूत्रद्वयाग्रभागश्च परस्पराभिमुखो यथा स्यादित्येतदर्थं बाह्यहस्तेनेत्युक्तम् । ततः कर्णिकावृत्तं त्यक्त्वा बाह्यस्थत्रीणि वृत्तानि पद्मपत्रमध्यरेखाश्च सर्वं सम्यङ्मार्जयेत् । यथाऽष्टदलं पद्मं दृष्टिमनोहरं दृश्येत ॥११७॥

केसरप्रकारमाह—*दलेति* । कर्णिकावृत्तस्पर्शिसन्धिगतपत्रसीमासूत्रान्तराले पत्रमध्यसूत्रस्योभयतः एकैकस्मिन्पत्रे द्वौ द्वौ केसरौ कर्णिकावृत्तलग्नमूलौ केसरवृत्तलग्नाग्रौ अग्रे किंचित् स्थूलौ परस्परसंमुखौ कुर्यात् । उपसंहरति—*एतदिति* । यत्र कुत्रापि पङ्कजं कुर्यादिति वक्ष्यति तत्रायं प्रकारोज्ञेयः ॥ ११८ ॥

पीठं कुर्यादिति यदुक्तं तत्प्रकारमाह—*पदानीति* । पीठार्थं स्थापितपङ्क्तौ एकैकं कोणकोष्ठं तदुभयपार्श्ववर्त्तिकोष्ठद्वयं च । एवं च त्रीणि कोष्ठानि पादार्थं मार्जयेत् । अवशिष्टैश्चतुर्भिः पदैः पीठगात्राणि कल्पयेत् । वीथ्यर्थं स्थापितपङ्क्तिद्वयस्यैकाकारेण मार्जनं कार्यम् ॥११९॥

द्वाराण्याह *दिक्ष्विति । द्वारार्थं परितः स्थापितपङ्क्तिद्वयमध्ये चतुर्दिक्षु द्वारचतुष्टयार्थं आन्तरपङ्क्तिस्थं मध्यसूत्रोभयपार्श्ववर्त्तिकोष्ठद्वयं तथा बाह्यपङ्क्तिस्थमध्यसूत्रपार्श्ववर्त्तिकोष्ठचतुष्टयं मार्जयेत् । एवं चत्वारि द्वाराणि स्युः ॥ १२० ॥

शोभामाह—*पदैरिति* । अन्तःपङ्क्तिस्थानि द्वारपार्श्वद्वयगतानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपङ्क्तिस्थं द्वारपार्श्वद्वयगतमेकैकं कोष्ठं मार्जयेत् । एवमष्टौ *शोभाः स्युः । *उपशोभा इति* । अन्तः पङ्क्तिस्थं शोभालग्नमेकैकं कोष्ठं त्रीणि बाह्यपङ्क्तिकोष्ठानि मार्जयेत । एवमष्टावुपशोभाः स्युः ॥ १२१ ॥

अवशिष्टैरिति । उभयउपशोभालग्नान्यन्तः पङ्क्तिस्थानि त्रीणि कोष्ठानि बाह्यपङ्क्तिस्थानि च त्रीणि कोष्ठानि मार्जयेत् । एवं चत्वारः कोणाः स्युः ॥ १२२ ॥

मण्डलरञ्जनार्थं पञ्चवर्णानाह—*रञ्जयेदिति* *कुसुम्भेति* । अन्यत्रारुणान्तरमुक्तम् । "तथा दोषारजः क्षीरसंयुक्तं रक्तमुच्यत" इति । *पुलाकजं* तुच्छधान्यजम् । "पुलाकस्तुच्छधान्यं स्यात्" इति त्रिकाण्डी ॥ तत्प्रक्रिया यथा तुच्छधान्यस्याग्निदाहावसरे दुग्धादिना सिक्तस्याततो वज्रागारकितं चूर्णं कुर्यात् ॥ १२३ ॥

बिल्वादीति *आदिशब्देन तद्वदितपत्रादि । तदुक्तं *प्रयोगसारे* "श्यामं श्यामच्छ-

अङ्गुलोत्सेधविस्तारा: सीमारेखाः सिताः शुभाः ॥ १२४ ॥
कर्णिकां पीतवर्णेन केसराण्यरुणेन च ।
शुभ्रवर्णेन पत्राणि तत्सन्धिः श्यामलेन च ॥ १२५ ॥
रजसा रञ्जयेन्मन्त्री यद्वा पीतैव कर्णिका ।
केसराः पीतवर्णाक्ताः अरुणानि दलानिच ॥ १२६ ॥
सन्धयः कृष्णवर्णाः स्युः पीतेनाप्यसितेन वा ।
रञ्जयेत्पीठगर्भाणि पादाः स्युररुणप्रभाः ॥ १२७ ॥
गात्राणि तस्य शुक्लानि विथीषु च चतसृषु ।
आलिखेत्कल्पलतिका दलपुष्पफलान्विताः ॥ १२८ ॥
वर्णैर्नानाविधैश्चित्राः सर्वदृष्टिमनोहराः ।
द्वाराणि श्वेतवर्णानि शोभा रक्ताः समीरिताः ॥ १२९ ॥
उपशोभाः पीतवर्णाः कोणान्यसितभांसि च ।
तिस्रोरे(ले)खा बहिः कुर्यात्सितरक्तासितैः (१)क्रमात् ॥ १३० ॥
मण्डलं सर्वतो भद्रमेतत्साधारणं स्मृतम् ।
चतुरस्रां भुवं भित्त्वा दिग्भ्यो द्वादशधा सुधीः ॥ १३१ ॥

दोद्भूतं रजः प्रोक्तं स्वकर्मसु"इति । श्यामशब्देनात्र हरिद्वर्णोगृह्यते । *महाकपिलपञ्चरात्रे तु* । अस्यावश्यकतोक्ता । "पीतं क्षितिस्तु विज्ञेया शुक्लमापः प्रकीर्त्तिताः । तेजोवैरक्तवर्णं स्याच्छ्यामोवायुः प्रकीर्त्तितः॥ आकाशं कृष्णवर्णं तु पञ्चमं तु महामुने । सितेऽधिदेवता रुद्रो रक्ते ब्रह्माऽधिदेवता ॥ पीतेऽधिदेवता विष्णुः कृष्णेचैवाच्युतः स्मृतः । श्यामेऽधिदेवता नागः समाख्यातो मयाऽनघ ॥ शुक्लं ग्रहायदो हन्ति रक्तं क्रूरगणोद्भवम् । कृष्णं सर्वासुरोत्साहं नीलं वैनायकीं तथा ॥ पैशाचीं राक्षसीं चैव निघ्नन्ति हरितं रजः । तस्माद्धोमेऽभिषेके च यागे चैव विशेषतः ॥ वर्त्तयेन्मण्डलं तैस्तु देवसन्तुष्टिकारकम्"इति । *तन्त्रान्तरे तु* विशेषः— "शक्तस्तु वाञ्छेद्यदि सिद्धिमुग्रां तद्वर्णरत्नैरिह मण्डलानि । आभूषयेन्मौक्तिकपुष्परागमाणिक्यनीलैर्हरितैश्च रत्नैः" इति । *सीमा रेखा* इति सर्वाः ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

पूर्वं श्वेतकमलमुक्त्वा रक्तकमलमाह-*यद्वेति* । विष्णुशाक्तशैवदीक्षादौ तु व्यवस्थितविकल्पोज्ञेयः । *पीतैवेति* । द्वितीयपक्षेऽपि ॥ १२६ ॥

पक्षान्तरं समाप्य प्रकृतमाह—*पीतेनेति* । स्वेच्छया विकल्पोऽयम् । *पीठगर्भाणीति* । कमलक्षेत्रकोणात् । तत्र गर्भ एषामस्तीति गर्भं कोणस्थानम् । अर्शादित्वादच् । ततो नपुंसकता ॥ १२७ ॥

तस्येति । पीठस्य कल्पलतिकालेखनमुपदेशतो ज्ञेयम् ॥ १२८ ॥

बहिरिति सर्वबाह्यकृतसीमारेखाया बाह्येत्यर्थः । *वसिष्ठसंहितायां तु विशेषः—*"पूर्वे पीतं सितं देयं पश्चिमेऽप्युत्तरे तथा । रक्तं तु दक्षिणे कृष्णं पाटलं वह्निसंस्थितम् ॥ नैरृत्ये नीलवर्णं तु वायव्ये धूम्रवर्णकम् । ईशे गौरं विनिर्दिष्टमष्टपत्रेष्वयं क्रम" इति ॥ १२९ ॥ १३० ॥

मण्डलान्तरमाह *चतुरस्रामिति* । अत्र मत्स्योत्पादनप्रकारासम्भवात् *दिग्भ्योद्वादशधेति* उक्तिः । तत्र चतुर्दिक्षु द्वादशधा भूमिं विभज्य *तत्र सूत्राणि पातये*दिति । तत्र

---

(१) कार्यासितरक्तासिताः । इत्यपि पाठः ।

पातयेत्तत्र सूत्राणि कोष्ठानां दृश्यते शतम् ।
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं पश्चात्षट्त्रिंशताम्बुजम् ॥ १३२ ॥
कोष्ठैः प्रकल्पयेत् पीठं पङ्क्त्या नैवात्र वीथिका ।
द्वारशोभे यथा पूर्वमुपशोभा न दृश्यते ॥ १३३ ॥
अवशिष्टैः पदैः कुर्यात्षड्भिः कोणानि तन्त्रवित् ।
विदध्यात्पूर्ववच्छेषमेवं वा मण्डलं शुभम् ॥ १३४ ॥
चतुरस्रे चतुष्षष्टिप(पा)दान्यारचयेत्सुधीः ।
पदैश्चतुर्भिः पद्मं स्यान्म(१)ध्ये तत्परितः पुनः ॥ १३५ ॥
वीथीश्चतस्रः कुर्वीत मण्डलान्तावसानिकाः ।
दिग्गतेषु चतुष्केषु पङ्कजानि समालिखेत् ॥ १३६ ॥
विदिग्गतचतुष्कानि भित्त्वा षोडशधा सुधीः ।
मार्जयेत्स्वस्तिकाकारं (२)श्वेतपीतासितारुणैः ॥ १३७ ॥
रजोभिः पूरयेत्तानि स्वस्तिकानि शिवादितः ।
प्राक् प्रोक्तेनैव मार्गेण शेषमन्यत्समापयेत् ॥ १३८ ॥

प्रकारः । पूर्ववत् षोडशकोष्ठानि कृत्वा तेष्वेकं कोष्ठं समांशेन त्रेधा विभज्य तच्चिह्नद्वये प्रागग्रं सूत्रद्वयं दद्यात् । एतत्सूत्रद्वयसम्पातोत्पन्नप्रतिकोष्ठमत्स्यद्वन्द्वेषु प्रागग्रे द्वेद्वे एवं प्रागग्रां षट्सूत्रीं दद्यात् । एवमेकशतचतुश्चत्वारिंशत्कोष्ठानि जायन्ते ॥१३०॥१३१॥१३२॥

कोष्ठैरिति । पूर्वत्रान्वेति । अम्बुजमुक्तप्रकारेणैव पङ्क्त्यां पीठं पूर्ववदेव ॥१३३॥

अवशिष्टैरिति । तत्रैकं पदमन्तः पङ्क्तिस्थं पञ्चकोष्ठानि बाह्यपङ्क्तिस्थानि । एवं षड्भिरित्यर्थः* । *शेषमिति* । रञ्जनबाह्यरेखात्रयकरणादि ॥ १३४ ॥

नवनाभमण्डलमाह—*चतुरस्र इति* ॥ तत्र पूर्ववच्चतुः षष्टिकोष्ठानि कृत्वा तत्र मध्यचतुष्के पूर्ववत् *पद्मम्* । ततश्च (तत्रच) तुर्दिक्षु अष्टाष्टकोष्ठिकाश्च *तस्रोवीथीः* कुर्यात् । एवमष्टदिक्षु चतुः कोष्ठाष्टकमवशिष्यते । तद्* भित्त्वा षोडशधेति* । पूर्ववदेव । *मार्जयेत्* इति । मार्जनप्रकारस्तु षोडशकोष्ठेषु मध्यचतुष्कस्यैकैकं कोष्ठं परस्परविरुद्धैकैकदिशि संमार्ज्य तत्संलग्नबाह्यवीथ्याः कोणकोष्ठादिकोष्ठत्रयं तत् दिक्स्थमेव मार्जयेत् । एवमुपशोभावच्चत्वारि चत्वारि कोष्ठानि मार्जितानि स्वस्तिकाकाराणि सम्पद्यन्ते ॥ *केचित्वन्यथा मार्जनमाहुः। मध्यचतुष्कस्य पूर्वदिग्गतं कोष्ठद्वयं पूर्वदिशि सम्मार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथिस्थं दक्षिणदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् । एवन्दक्षिणदिग्गतं कोष्ठद्वयं दक्षिणदिशि सम्मार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथिस्थं पश्चिमदिक्पर्यन्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् । एवं पश्चिमदिग्गतं कोष्ठद्वयं पश्चिमदिशि संमार्ज्य तल्लग्नं बाह्यवीथिस्थमुत्तरान्तं कोष्ठद्वयं मार्जयेत् ॥ पक्षद्वयमपि साम्प्रदायिकमेव ॥ १३५॥१३६॥१३७ ॥

शिवादितः ईशानादि वायव्यान्तम् । *शेषमिति* । पद्मरञ्जनादि वीथिषु कल्पलतालिखनं रेखात्रयं च ॥ १३८ ॥

---

(१) तन्मध्येपरितः । इति पाठान्तरम् ।
(२) रान्श्वेतपीतारुणासितैः इत्यपि पाठः ।

नवनाभमिदं प्रोक्तं मण्डलं सर्वसिद्धिदम् ।
पञ्चाब्जं मण्डलं प्रोक्तमेतत्स्वस्तिकवर्जितम् ॥ १३९ ॥
दीक्षायां देवपूजार्थं मण्डलानां चतुष्टयम् ।
सर्वतन्त्रानुसारेण प्रोक्तं सर्वसमृद्धिदम् ॥ १४० ॥

इति श्री शारदातिलके तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥ * ॥

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि मन्त्राणां हितकाम्यया ।
विना यया न लभ्येत सर्वमन्त्रफलं यतः ॥ १ ॥

स्वस्तिकवर्जमिति । स्वस्तिकचतुष्कं मार्जयेदित्यर्थः । *चतुष्टयमिति* । एषां विषयउक्तः *प्रयोगसारे*–नवनाभमुक्त्वा—'कलशानां नवानां तु प्रोक्तमेतत्परं पदम् । तथा प्राक् प्रस्तुते स्थाने पद्मं सङ्कल्प्य पूर्ववत् ॥ वीथीस्तद्वच्च संयोज्य चतुष्टयचतुष्टये । स्वस्तिकान्यालिखेद्दिक्षु कोणकोष्ठानि मार्जयेत् ॥ पञ्चानां कलशानां च पदं स्यादेतदुत्तमम् । चतुरस्रोदितस्थाने तथा पद्मं समालिखेत् । कलशस्यैकदेवस्य प्रोक्तं साधारणं पदम्"इति ॥ १३९ ॥ १४० ॥

*इति शारदातिलकटीकायां राघवभट्टकृतायां पदार्थादर्शाभिख्यायां तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥ *

श्रीगणेशायनमः

मन्त्री यः साधयेदेकं जपहोमार्चनादिभिः । क्रियाभिर्भूरिभिस्तस्य सिध्यन्त्यन्येऽल्पसाधनात् ॥ सम्यक्सिध्यैकमन्त्रस्य नासाध्यमिह किंचन ॥ बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा हरिरेव सः" इत्यादिना *महाकपिलपञ्चरात्रनारायणीययोः* । *अन्यत्रापि* "पुस्तकाल्लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि ! जप्यते । न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे" इति । *तथान्यत्रापि* "द्विजानामनुपेतानां स्वकर्माध्ययनादिषु ॥ यथाऽधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥ तथा चाऽदीक्षितानां च मन्त्रदेवार्चनादिषु । नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्यादात्मानं शिवसंस्कृतम्" इति । *नारयणीये च* "यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं छलेनाप्यच्छलेन वा । पत्रेक्षितं वा गाथावत् तज्जपेद्यद्यनर्थकृत्" ॥ इति । *तत्रैव* "प्रविश्य विधिवद्दीक्षामभिषेकावसानिकाम् । श्रुत्वा तन्त्रं गुरोर्लब्धं साधयेदीप्सितं मनुम्" इति । *अन्यत्रापि* "गुरुमुख्याः क्रियाः सर्वाभुक्तिमुक्तिफलप्रदाः । तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैः ॥ गुर्वनुक्ताः क्रिया सर्वाः निष्फलाः स्युर्यतो ध्रुवम्" इति । *अन्यत्रापि* "जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः । नास्ति पार्थं यतस्तेषां सूतकं वा यतात्मनाम्" इत्यादिना दीक्षागृहीतमन्त्रफलस्योक्तत्वात्तां विना अविधिप्राप्तेभ्यस्तेभ्यः फलं न सिध्यतीत्यवश्यवक्तव्यदीक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—*अथेति* । अथ मण्डलकथनानन्तरं–*मन्त्राणां दीक्षां प्रवक्ष्यामि हितकाम्यया* । "पूर्वप्रकृतशिष्याणा"मिति शेषः । यद्वा "वैदिकजनानामि"ति शेषः । अयमेव सांप्रदायिकः पाठः । एतेन सर्वसामान्यरूपा मन्त्रदीक्षोच्यते इत्युक्तम् । *तदुक्तमीशानशिवेन* । सा तु मन्त्रशिवशक्तिविष्णुभेदाः चतुर्विधा । "सामान्यभूता खलु मान्त्रिकी स्यात् दीक्षा स्मृता मन्त्रगणेषु तद्वत् । वर्णेषु चापि द्विजपूर्वकेषु स्याच्छैवशाक्तेष्वपि वैष्णवेषु"इति । *प्रयोगसारेऽपि* । "मन्त्रमार्गानुसारेण साक्षात्कृत्वेष्टदेवताम् । गुरुश्चोद्बोधयेच्छिष्यं मन्त्रदीक्षेति सोच्यते" । इति । *षडन्वयमहारत्नेऽपि* "त्रिविधा सा भवेद्दीक्षा प्रथमा आणवी परा । शाक्तेयी शाम्भवी चान्या

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयः ।
तस्माद्दीक्षेति संप्रोक्ता देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः ॥ २ ॥

सद्योमुक्तिविधायिनी ॥ मन्त्रार्चनासनस्थानध्यानोपायादिभिः कृता । दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ॥ सिद्धौ स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशोः । निरुपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥ अभिसन्धिं विना चार्यशिष्ययोरुभयोरपि । देशिकानुग्रहेणैव (१)शिवताव्यक्तिकारिणी ॥ अत एव ग्रन्थकृत्—*भैरवीपटले वक्ष्यति* "दीक्षांप्राप्ये" ति । तत्र शक्तिदीक्षां प्राप्येत्यर्थः । *तथा द्वादशाक्षरे*—"दीक्षितोविजितेन्द्रिय" इति । तत्र वैष्णवमार्गेण दीक्षित इत्यर्थः । *तथा शैवपञ्चाक्षरेऽपि* "दीक्षितः शैववर्त्मने"ति ॥ तत्र शाक्तिविष्णुशिवदीक्षास्तत्तत्तन्त्रे ज्ञेयाः । *मन्त्रिणामिति* पाठे मन्त्रिणां हितकाम्यया । दीक्षां प्रवक्ष्यामि । उत्तरार्द्धे—*सर्वमन्त्रफलमिति* । मन्त्रशब्दस्योच्चारितत्वात् अत्र मन्त्राणामिति संबध्यत इति वदन्ति ॥ परन्तु मुख्यमन्त्रपदस्यैव संबन्धाभावात् यदपि मन्त्रपदं तदपि वृत्तिगर्भितमिति न समञ्जसः पाठः । *आचार्या अपि* । "अथ प्रवक्ष्ये विधिवन्मनूनां दीक्षाविधानं जगतोहितायेति । *वायवीयसंहितायां* "शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे । दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेनपरमात्मना ॥ गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् संभाषणादपि । सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोर्दीक्षा सा शाम्भवी मता ॥ शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहं प्रविश्य तु । गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ॥ मान्त्री क्रियावती दीक्षा कुम्भमण्डलपूर्विका" इति ॥ *यतो* यस्मात् कारणात् । *यया* दीक्षया—*विना* सर्वे च ते मन्त्राश्च तेषां यत्—*फलं* तन्न—*लभ्येत* नप्राप्येत । एतेनैतदुक्तं यः कश्चन मन्त्रो दीक्षयैव शिष्येण गुरुभ्यो ग्राह्यः अन्यस्य फलदायकत्वनियमाभावात् । किं च शिवादिदीक्षया तत्तन्मन्त्राणामेव फलदायकत्वम् । अनया तु सर्वमन्त्राणाम् । अथ च सर्वं च तन्मन्त्रफलमिति फलविशेषणत्वेनापि व्याख्येयम् । तेनोपदेशादिमात्रेण सकलं फलं न प्राप्यते । अनया तु सर्व्वमपीत्यर्थः । उपदेशस्यापि तन्त्रान्तरे विहितत्वादिति ॥ मन्त्रशब्दव्युत्पत्तिरुक्ता *पिङ्गलामते* "मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात् । यतः करोति संसिद्धो मन्त्र इत्युच्यते ततः" इति । *रुद्रयामले च* "मननात्त्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् । मन्त्र इत्युच्यते सम्यङ् मदधिष्ठानतः प्रिये" इति । *अन्यत्रापि* "गुप्तोपदेशतो मन्त्रो मननात्त्राणनादपि" इति ॥ १ ॥

दीक्षाशब्दव्युत्पत्तिमाह—*ज्ञानमिति* । "दद्यात्" क्षयमित्यनयोराद्यर्णमादायेयं निरुक्तिः "अप्यक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयादि"ति यास्कोक्तेः ॥ *यदुक्तं* "ददाति यस्मादिह दिव्यभावं मायामले कर्म च संक्षिणोति । फलं चतुर्वर्गभवं च यस्मात्तस्मात्तु दीक्षेत्यभिधानमस्याः" ॥ इति । *प्रयोगसारेऽपि* "दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पापसंचयः । तेन दीक्षेति सा ज्ञेया पाशच्छेदक्षयात्क्रिया" इति । *अत्र* दीक्षायामेव तन्त्रेण नित्यपूजाया अपि वक्ष्यमाणत्वाद्देशिक इत्यनेन सूचितं स्नानात्पूर्वं—*नित्यकृत्यं किंचिदुच्यते* ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय स्मृत्युक्तविधानेन शौचादिकं देहशुद्धिं च विधाय रात्रिवासः परित्यज्य वासोऽन्तरम्परिधाय मन्त्रस्नानं कृत्वा देवगृहमागत्य संमार्जनोपलेपनादिकं कृत्वा देवस्य निर्माल्यमपसार्य पूर्वदिनावशिष्टपत्रादिनाऽभ्यर्च्य नमस्कुर्यात् । अन्यथा दोषदर्शनात् । *यदाहुः* "तृषाक्रान्तः पशुर्वद्धः कन्यका च रजस्वला । देवता च सनिर्माल्या हन्ति पुण्यं पुराकृतम्" इति । *यदुक्तं मन्त्रप्रकाशे*—"स्मृत्युक्तेन विधानेन सम्यक्शौचं विधाय च । प्रक्षाल्य पादावाचम्य कृत्वा न्यासंयतात्मवान् ॥ प्रविश्य देवतास्थानं निर्माल्यमपकृष्य च । दद्यात्पुष्पाञ्ज-

(१) शिवादेशनकारिणीति पाठोऽप्यन्यत्र ।

चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादि भेदतः ।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि ॥ ३ ॥
ताः क्रमेणैव कथ्यन्ते तन्त्रेऽस्मिन्संपदावहाः ।
देशिको विधिवत्स्नात्वा कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ ४ ॥
आयादलङ्कृतो मौनी यागार्थं यागमण्डपम् ।

लि विद्वान् अर्घ्यपाद्ये तथैव च । मुखप्रक्षालनं दद्यात् दद्याद्वै दन्तधावनम् । दद्यादाचमनीयं च दद्याद्वासोऽमलं शुभम्" इति । ततो यथोक्तासने उपविश्य गुरून् मूर्द्धिन ध्यायेत् ॥ "प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् । प्रसन्नवदनं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम् ॥ अहं देवो नचान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् । सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्" इति । गुरुदेवतात्मनामैक्यं भावयित्वा प्रार्थयेत् । "त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव । प्रातः समुत्थाय तवप्रियार्थं संसारयात्रा मनुवर्त्तयिष्ये ॥ जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः । केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" इति । अत्र श्रीनाथ विष्णो इति शिवादावूहः कार्यः । चण्डीशशम्भो इत्यादि । ततो देवतागुणनामादि कीर्त्तयन् स्नानार्थं नद्यादौ गच्छेत् ॥ स्नानादिकोपदेशोऽनुक्रमकथनाय। यतश्चाशुचिवस्त्रमस्नातमनलङ्कारं पुरुषं देवता नाधितिष्ठन्ति इति । अनेन मज्जनस्नानेऽशक्तः स्नानान्तरमपि कुर्यादित्युक्तं भवति । *यदाहुः*—"भूत्या वा गोरजोभिर्भवति विपदि तत्केवलैर्वापि मन्त्रैः" इति ॥ २ ॥ ३ ॥ ४।१ ॥

अथ च—*विधिवत् स्नात्वा पूर्वाह्णिकीः क्रियाः कृत्वेति* मन्त्रस्नानं मन्त्रसन्ध्यां मन्त्रतर्पणं च कर्त्तव्यमिति सूचितम् । "अथ स्नानं प्रवक्ष्यामि सर्वपापहरं शुभम् । यत्कृत्वा साधकः सम्यक् सर्वकर्माहको भवेत् ।" इत्यादिना—*महाकपिलपञ्चरात्रे* । वसिष्ठसंहितायामपि* । "कृत्वादौ वैदिकं स्नानं ततस्तान्त्रिकमाचरेत् ।" इत्यादिना च मन्त्रस्नानादिविधिरुक्तः । तत्र मन्त्रस्नानं द्विविधम् । आन्तरं बाह्यं च । तत्र वैष्णवस्नानमान्तरमुक्तं—*वसिष्ठसंहितायाम्* । "अनन्तादित्यसंकाशं वासुदेवं चतुर्भुजम् । शङ्खचक्रगदापद्ममुकुटं वनमालिनम् ॥ तत्पादोदकजां धारां निपतन्तीं स्वमूर्द्धनि । चिन्तयेद्ब्रह्मरन्ध्रेण प्रविशन्तीं स्वकां तनुम् ॥ यावत्संक्षालयेत्सर्वमन्तर्देहगतं मलम् । तत् क्षणाद्विरजा मन्त्री जायते स्फटिकोपमः ॥ इदं स्नानं वरं मन्त्रात्सहस्रमधिकं स्मृतम्" इति । शाक्तमाभ्यन्तरं स्नानमुक्तं—*श्रीपञ्चमीमते* । "स्नानप्रकारो द्विविधो बाह्याभ्यन्तरभेदतः । आन्तरं स्नानमत्यन्तरहस्यमपि सादरात् ॥ कथयामि भवध्वस्त्यै चतुर्वर्गाप्तयेऽपि च । संवित्त्रयमनुस्मृत्य चरणत्रयमध्यतः ॥ स्रवन्तं सच्चिदानन्दप्रवाहं भावगोचरम् । विमुक्तिसाधनं पुंसां स्मरणादेव योगिनाम् ॥ तेनाप्लावितमात्मानं भावयेद्भवशान्तये ॥ एवमाभ्यन्तरं स्नानम्" इति । *शैवागमे* आभ्यन्तरं स्नानमुक्तम्—"मनसा मूलमन्त्रेण प्राणायामपुरस्सरम् । कुर्वीत मानसं स्नानं सर्वत्र विहितं च तत्" इति । *बाह्यप्रकारस्तूच्यते* स्वशाखोक्तविधिना स्नात्वा प्राणायामपुरः सरमङ्गे षडङ्गानि विन्यस्य "ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टानि ते रवे । तेन सत्येन मे देव तीर्थं देहि दिवाकर ॥ गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति । नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥ आवाहयामि त्वां देवि स्नानार्थमिह सुन्दरि । एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते ॥" इति । मन्त्रैरङ्कुशमुद्रयाऽऽदित्यमण्डलात्तीर्थमाकृष्य आवाह्य वमित्यम्भसि नियोज्य सोमसूर्याग्निमण्डलानि तत्र संचिन्त्य वमित्यमृतबीजेन द्वादशधाभिमन्त्र्य कवचेनावगुण्ठ्य अस्त्रेण संरक्ष्य मूलमन्त्रेणैकादशवारमभिमन्त्र्य "आधारः सर्वरूपस्य विष्णोरतुलतेजसः । तद्रूपाश्च ततो जाता आपस्ताः प्रणमाम्यहम्" इत्युपस्थाय निमज्जेत् ॥ "अनेनोपस्थाय तीर्थं निमज्जेच्चिन्तय-

आचम्य विधिना तत्र समान्यार्घं विधाय च ॥ ५ ॥

न्हरिमि"ति—*मन्त्रतन्त्रप्रकाश*उक्तेस्तत्र मूलमन्त्रं देवताकृतिं च संचिन्त्योन्मज्य मूलमन्त्रेण सप्तकृत्वो द्वादशकृत्वो वा शङ्खमुद्रया कलशमुद्रया वात्मानमभिषिच्य—"सिसृक्षोर्निखिलं विश्वं मुहुः शुक्रं प्रजापतेः । मातरः सर्वभूतानामापो देव्यः पुनन्तु माम् ॥ तारवारुणबीजेन पुटितं त्वेनमुच्चरेत् । अलक्ष्मीं मलरूपां याः सर्वभूतेषु संस्थिताम् । क्षालयन्ति निजस्पर्शादापो नित्यं पुनन्तु माम्" इति मन्त्राभ्यां चाभिषिच्य—"यन्मे केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्द्धनि । ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तु वो नमः ॥ सन्तोषः क्षान्तिरास्तिक्यमापस्तद्दध्नन्तु वो नमः ॥ आयुरारोग्यमैश्वर्यं विद्या भवतु वो नमः" इत्यभिषिञ्चेत् । इति बाह्यं मन्त्रस्नानम् । "अभिषिञ्चेदथात्मानं वर्णैर्मूलविद्यया" इति—*मन्त्रतन्त्रप्रकाशोक्तेः । *तदुक्तम्* "विहितावश्यकः शौचमाचामं दन्तधावनम् । मुखप्रक्षालनादीनि कृत्वा स्नानं समाचरेत् ॥ हन्मन्त्राऽङ्कुशमुद्राभ्यां तीर्थमाकृष्य मण्डलात् । आवाह्याम्भसि संयोज्य सोमसूर्याग्निमण्डलम् ॥ संचिन्त्य मन्त्री तन्मध्ये निमज्जेत् सुसमाहितः । मूलमन्त्रं समावर्त्य मनसोल्लिख्य चाकृतिम् ॥ उत्थायाचम्य तत्पश्चात् षडङ्गं न्याससंयुतः । आत्मानं मूलमन्त्रेण मुद्रया चाङ्कुशाख्यया । सप्तकृत्वोऽभिषिच्याथ मनुना मन्त्रितैर्जलैः" इति । *वसिष्ठसंहितायामपि* "विन्यस्याङ्गे षडङ्गानि प्राणायामपुरःसरम् । श्रीसूर्यमण्डलात्तीर्थमाकृष्याङ्कुशमुद्रया ॥ वह्निस्यनेन चाप्लाव्य कवचेनावगुण्ठयेत् । संरक्ष्यास्त्रेण मूलेन मन्त्रयेद्दससंख्यया ॥ निमज्ज्य तस्मिन् श्रीदेवं ध्यायेच्छक्त्या जपन्मनुम् । उन्मज्य कुम्भमुद्रां च बध्वा स्नायात् द्विषट् ततः ॥ शालिग्रामशिलातोयं तुलसीगन्धमिश्रितम् । कृत्वा शङ्खे भ्रामयन्त्रिः प्रक्षिपेन्निजमूर्द्धनि ॥ शालिग्रामशिलातोयमपीत्वा यस्तु मस्तके । प्रक्षेपणम्प्रकुरुते ब्रह्महा स निगद्यते ॥ विष्णुपादोदकात् पूर्वं विप्रपादोदकं पिबेत् । विरुद्धमाचरन् मोहात् आत्महा स निगद्यते ॥ पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे । ससागराणि तीर्थानि पादे विप्रस्य दक्षिणे ॥ ततः संक्षेपतो देवान् मनुष्यांस्तर्पयेत् पितॄन् । पीडयित्वाम्बरं चोरू प्रक्षाल्याचम्य यत्नतः ॥ धारयेद्वाससी शुद्धे परिधानोत्तरीयके । अच्छिन्ने सदशे शुक्ले आचमेत्पीठसंस्थितः ॥ ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं वा कृत्वा सन्ध्यां समाचरेत्" इति । *अङ्कुशकुम्भशङ्खमुद्रालक्षणानि—यथा* "दक्षमुष्टिगृहीतस्य वाममुष्टेस्तु मध्यमाम् । प्रसार्य तर्जन्याकुञ्चेत् सेयमङ्कुशमुद्रिका ॥ १ ॥ दक्षाङ्गुष्ठे पराङ्गुष्ठं क्षिप्त्वा हस्तद्वयेन तु । सावकाशं त्वेकमुष्टिं कुर्यात् कुम्भस्य मुद्रिकाम् ॥ २ ॥ वामाङ्गुष्ठन्तु संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना । कृत्वोत्तानं तथा मुष्टिमङ्गुष्ठं तु प्रसारयेत् ॥ ३ ॥ वामाङ्गुल्यस्तथा श्लिष्टाः संयुक्ताः सुप्रसारिताः । दक्षिणाङ्गुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रा शङ्खस्य चोदिता" ॥ ४ ॥ इति ।

तत्र *वैष्णवतिलके विशेषः* । "ललाटे तु गदा कार्या मूर्ध्नि चापशरं तथा । नन्दकं चैव हृन्मध्ये शङ्खचक्रं भुजद्वये ॥ शङ्खचक्राङ्कितो (१) विप्रः श्मशाने म्रियते यदि । प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद" इति । शैवैस्तूर्ध्वपुण्ड्रधारणानन्तरमेव भस्मना त्रिपुण्ड्रधारणमपि कार्यम् । यतो द्विजानामूर्ध्वपुण्ड्रस्यावश्यकत्वं *तदुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे* । "ऊर्ध्वपुण्ड्रमृजु सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते । स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥ अशुचिश्चाप्यनाचारो मनसा पापमाचरन् । शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नरः ॥ मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थं चतुरानन । मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रमतन्द्रितः" इति । *तत्र त्रिपुण्ड्रधारणविधानं यथा* "भस्माग्निहोत्रसम्भूतमानयेच्छोधितं बुधः । यद्वा धरामसंस्पृष्टं सव्येनानीय गोमयम् ॥

(१) एतेन गोपीचन्दनादिना मुद्राधारणन्तिलकरूपेण विधेयमुक्तम् । न तु तप्तमुद्राधारणमिति बोध्यम् ।

वामेन वामे संशोध्य अघोरेण जिनिदूहेत । तत्पुरुषेण समुद्धृत्येशानेन विशोधयेत् ॥ इत्थं तु संस्कृतं भस्म अग्निरित्यादिमन्त्रतः । विमृज्याङ्गानि संस्पृश्य पुनरादाय मन्त्रतः ॥ तस्मा-द्ब्रह्मेति यजुषः मन्त्रयेद्रुद्रसंख्यया । प्रणवाद्यैश्चतुर्थी हृदन्तैस्ताद्योसवेदकैः ॥ पञ्चवर्णाक्षराद्यैश्च बाह्वंसोदरहृत्सु च ॥ त्रिपुण्ड्रधारणं कुर्यात् मूर्द्धनि पञ्चाक्षरेण च । त्रिपुण्ड्रं धारयन् मन्त्री साक्षाच्छिव इवापरः" इति । *मन्त्रास्तु* । ॐ अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म स्थल-मिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि । तस्माद्व्रतमेतत् पाशु-पतं यद् भस्मनाङ्गानि संस्पृशेत् । तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय ॥ यजुषा पञ्चाक्षरेणेत्यर्थः ॥ प्रकारान्तरेण वा "ललाटे ब्रह्मा विज्ञेयं हृदये हव्यवाहनः । नाभौ स्कन्दो गले पूषा, रुद्रो दक्षिणबाहुके ॥ आदित्यो बाहुमध्ये च शशी च मणिबन्धके । वामदेवो वामबा-हौ बाहुमध्ये प्रभञ्जनः ॥ मणिबन्धे च वसवः पृष्ठदेशे हरः स्मृतः । शम्भुः ककुदि सम्प्रोक्तः परमात्मा शिरः स्मृतः" इति । *वायवीयसंहितायाम*मन्त्रमेव त्रिपुण्ड्रधारणमुक्तम्—"पुन-र्न्यस्तकरो मन्त्री, त्रिपुण्ड्रं भस्मना लिखेत्" इति । *भस्मग्रहणमपि तत्रैवोक्तम्* । "शि-वाग्नेर्भस्मसंग्राह्यमग्निहोत्रोद्भवं तु वा । वैवाह्याग्न्युद्भवं वापि पक्वं शुचि सुगन्धि च ॥ कपिलायाः शकृच्छस्तं गृहीतं गगने पतत् । न क्लिन्नं नातिकठिनं न दुर्गन्धि नचोषि-तम् ॥ उपर्यधः परित्यज्य गृह्णीयात् पतितं यदि । पिण्डीकृत्य शिवाग्नौ तु तत्क्षि-पेन्मूलमन्त्रतः ॥ अपक्वमतिपक्वंच सन्त्याज्यं भसितं सितम् । आदाय वाससा शोध्य भस्माधारे विनिक्षिपेत् ॥ भस्मसंग्रहणं कुर्याद्देवेऽनुद्वासितेसति । उद्वासने कृते यस्माच्चण्डभस्मप्रजायत" इति । ततः स्वशाखोक्तसन्ध्यां कृत्वा मन्त्रसन्ध्यां कु-र्यात् । *तद्यथा* प्राणायामत्रयं कृत्वा तीर्थजलं दक्षहस्ते गृहीत्वा मूलमन्त्रेण त्रिःसञ्जप्य तेन मूलेन त्रिराचम्य पुनस्तीर्थजलं दक्षहस्तेन सव्यहस्ते निधाय मूलेन त्रिधाभिमन्त्र्य तद्गलितोदकबिन्दुभिः सप्तधा मूलेनात्मानं सम्मार्ज्यावशिष्टं जलं दक्षहस्ते गृहीत्वा नासिका-समीपं नीत्वा इडया देहान्तराकृष्य क्षालितैः पापसञ्चयैः कृष्णवर्णं तदुदकं दक्षनाड्या विरे-चितम् । ध्यात्वा पुरः कल्पितवज्रशिलायामस्त्रमन्त्रेण प्रक्षिपेदिदमघमर्षणम् । पुनरञ्जलिना जलमादाय "सूर्यमण्डलस्थाय देवायार्घ्यं कल्पयामि" इति तत्तद्गायत्र्या मूलेन वा त्रिरर्घ्यं दत्त्वा सूर्यमण्डलस्थं देवन्ध्यायन् मूलमन्त्रेणोपस्थाय तत्तन् मन्त्रगायत्रीं मूलमन्त्रं वाऽष्टावि-शतिवारं जपेत् । ततो मूलमन्त्रमुच्चार्य "देवं तर्पयामि" इति अष्टाविंशतिवारं सूर्यमण्डले देवतां सञ्चिन्त्य सूर्यायार्घ्यं दत्त्वा संहारमुद्रया तीर्थं विसृज्य सूर्यादिकं नमस्कृत्य देवतास्तुतिं पठन् यागमण्डपं गच्छेदिति । तदुक्तं *मन्त्रप्रकाशे* "कृत्वा सन्ध्यां जपन् स्तोत्रं यायाद्दे-वागमन्दिरम्" इति । तथा । "उक्तेनैव विधानेन कृत्वा स्नानं तु तान्त्रिकम् । वैदिकीं तान्त्रि-कीं सन्ध्यां कृत्वा तर्पणमेव च ॥ जपन् स्तोत्राणि नामानि यायाद्देवनिकेतनम्" इति । *मा-नीति* अनेनान्यजनसम्भाषानिषेधः । *संहारमुद्रालक्षणं यथा* "अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वा-स्यं दक्षहस्तकम् । क्षिप्त्वाङ्गुलीरङ्गुलिभिः संयोज्य परिवर्त्तयेत् ॥ प्रोक्ता संहारमुद्रेयमर्पणे तु प्रशस्यते" इति । तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे* "उपविश्य शुचौ देशे प्राणायामत्रयं क्रमात् । परतत्त्वेन कृत्वा वै देहे कुर्वीत मार्जनम् ॥ नासामाश्लिष्य तोयेन ततस्तेनाऽघमर्षणम् समस्तेन संमुद्दिष्टमर्घ्यं पापहरं शुभम् ॥ उपस्थानं ततः कुर्यात्पश्चात्तत्त्वेन मन्त्रवित् । स्मृत्वा ज्योतिर्मयं विष्णुं मण्डलस्थं महात्मकम् ॥ जपन्पश्चात्प्रकुर्वीत मूलमन्त्रेण साधकः । गाय-त्र्यावाथ वष्णव्या प्रणवाद्यन्तकद्वयम् ॥ उपविश्य शुचौ देशे ततस्तर्पणमाचरेत् । विष्णवा-द्या देवतास्तत्र पितॄंश्चमनुजानथ । तर्प्पयेत्तत्प्रयत्नेन ततस्तीर्थं क्षमापयेत् ॥ मूलमन्त्रं जपन् गच्छेत यावत्प्राप्नोति वै गृहम् । प्राप्य हस्तौ च पादौ च प्रक्षाल्याचम्य यत्नतः ॥ यागमण्डपमासाद्य विशेत् कृत्वा प्रदक्षिणम्" इति । *अन्यत्रापि* "पुनरासस्य . विन्यस्य

षडङ्गमपि पूर्ववत्। वामहस्ते जलं गृह्य गलितोदकबिन्दुभिः॥ सप्तधा प्रोक्षणं कृत्वा मूर्द्ध्नि मन्त्रं समुच्चरन्। अवशिष्टोदकं दक्षहस्ते संगृह्य बुद्धिमान्। इडयाकृष्य देहान्तः क्षालितैः पापसञ्चयैः। कृष्णवर्ण तदुदकं दक्षनाड्या विरेचितम्॥ दक्षहस्तेऽथ तन्मन्त्री पापरूपं विचिन्त्य च। पुरतो वज्रपाषाणे प्रक्षिपेदस्त्रमन्त्रतः॥ दिनेशायोत्क्षिपेत्तिष्ठन् वारिणा चाञ्जलित्रयम्। अष्टोत्तरशतावृत्त्या गायत्रीं प्रजपेत्सुधीः॥ रविमण्डलगं देवं प्रणिपत्य क्षमापयेत्। संहारमुद्रया तीर्थमुद्वास्याचम्य वाग्यतः॥ एवं सन्ध्यां समाप्याथ न्यासकर्म समारभेत्॥ *शैवागमेतु* "ततः शिवात्मकैर्मन्त्रैः कृत्वा तीर्थं शिवात्मकम्। मार्जनं संहितामन्त्रैस्तत्तोयेन समाचरेत्॥ वामपाणिपतत्तोययोजनं दक्ष पाणिना। उत्तमाङ्गे क्रमान्मन्त्रैर्मार्जनं समुदाहृतम्॥ नीत्वा तदुपनासाग्रं दक्षपाणिपुटे स्थितम्। बोधरूपं सितं तोयं वामयाकृष्य कुम्भयेत्॥ तत्पापं कज्जलाभासं पिङ्गयारेच्य दक्षया। क्षिपेद्वज्रशिलायां यत्तद्भवेदघमर्षणम्॥ स्वाहान्तशिवमन्त्रेण कुशपुष्पाक्षतान्वितम्। शिवायार्घाञ्जलिं दत्त्वा गायत्रीं शक्तितो जपेत्॥ समाचम्य विधानेन त्र्यञ्जलेनार्घ्यमुद्धरेत्। रक्तपुष्पादितोयेन मूलमन्त्रेण भानवे" इति। *वायवीयसंहितायामपि* "आचरेद्ब्रह्मयज्ञान्ते कृत्वा देवादितर्पणम्। मण्डलस्थं महादेवं ध्यात्वाभ्यर्च्य यथाविधि॥ दद्यादर्घ्यं ततस्तस्मै शिवायादित्यरूपिणे" इति। *शिवसंहितायां* तु "व्योमव्यापीति यो मन्त्रः पञ्चब्रह्माणि यानि च। ये मन्त्राः शिवगायत्र्यो रुद्रं चेति यथाक्रमम्। सर्वपापापहा प्रोक्ता विद्येयं शिवसंहिता" इति॥ "आमीमूमाद्यतोव्योमव्यापिने च प्रकीर्त्तयेत्। प्रणवाद्यन्तरुद्धोऽयं व्योमव्यापी प्रकीर्त्तितः" इति। अयमर्घ्यसामान्यविधिः। *मन्त्रविशेषे* आचमनादौ मन्त्रविशेषास्तत्तत्कल्पोक्ता अनुसन्धेयाः। इयं च सन्ध्या त्रिकालं कार्या। *यदगस्तिसंहितायाम्* "रामात्मानं गुरुं ध्यात्वा रामसन्ध्यामथाचरेत्। सायंप्रातश्च मध्याह्ने" इति। *शैवागमेऽपि* "प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने सन्ध्यां कुर्याच्च मन्त्रवित्" इति॥ ४॥ ३॥

आचम्येति। *तत्र* यागमण्डपबाह्यदेशे। *महाकपिलपञ्चरात्रे* तथोक्तेः॥ *विधिनेति* स्मृत्युक्तविधिना वैष्णवादिविधिना च। *यदाहुः* "प्राग्वक्त्रोवोदङ्मुखः सूपवीती बध्वा चूडां जानुमध्यस्थबाहुः। तोयं चोक्षन्त्सूपविष्टोथमौनी स्यादप्रह्वस्त्वेकधीराचमिष्यन्॥ अदुष्टरसगन्धाद्यैरकीटाफेनबुद्बुदैः। अनुष्णैरम्बुभिः शुद्धैराचामेदपि वीक्षितैः॥ हृत्कण्ठास्यगताः पुनन्ति विबुधानापो द्विजादीन् क्रमात् त्रिः पीताः वृषलस्त्रियावपि सकृत् कुण्डानुलोमादिकान्। आचम्य त्रिरपस्त्रिवेदपुरुषाः प्रीणन्ति निर्मार्ष्टि यत् द्विःसाथर्वषडङ्गयज्ञपुरुषाः प्रीतास्युरङ्गुष्ठतः॥ प्रीणात्यर्कमनासिकानयनयोः स्पर्शात्तथाङ्गुष्ठयुक् साङ्गुष्ठा त्वथ तर्जनी समसिता घ्राणद्वये मारुतम्॥ अङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकाश्रवणयोराशाश्च नाभेर्वसून् आत्मानं तु हृदंसयोर्गिरसृषीन् मूर्द्ध्नःसमस्ताङ्गुलैरिति"। *यद्वा वैष्णवाचमनं* यथा "केशवाद्यैस्त्रिभिः पीत्वा द्वाभ्यां प्रक्षालयेत्करौ। द्वाभ्यामोष्ठौ तु संमृज्येद्द्वाभ्यां मृज्यान्मुखं तथा॥ एकेन हस्तं प्रक्षाल्य पादावपि तथैकतः। सम्प्रोक्ष्यैकेन मूर्द्धानं ततः संकर्षणादिभिः॥ आस्यनासाक्षिकर्णांश्च नाभ्यूरः कम्भुजौ स्पृशेत्। एवमाचमनं कृत्वा साक्षान्नारायणो भवेत्॥ केशवाद्याः पुरा प्रोक्ता वक्ष्ये संकर्षणादिकान्। संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः॥ पुरुषोत्तमाधोक्षजश्च नृसिंहश्च तथाच्युतः। जनार्दनोपेन्द्रहरिर्विष्णवोद्वादशैव ते" इति। *शाक्तमाचमनं पिङ्गलामते* "आचम्य चात्मतत्वाद्यैः प्रणवाद्यैः स्वधान्तिमैः। मन्त्रैस्त्रेधा ततो वक्त्रनासाक्षिश्रोत्रनाभिहृत्॥ मस्तकांसान् स्पृशेदुक्तं हृदाश्रोत्राभिवदनम्। आत्मविद्याशिवास्तत्त्वा प्रणवो वाग्भवं मतम्" इति। *शैवागमेतु* "सम्वीक्ष्य त्रिः पिबेदम्बु(१)ब्रह्मतीर्थेन शं-

(१) अङ्गुष्ठमूलेन। तथाचयाज्ञवल्क्यः—"कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च। प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात्" इति।

द्वारमस्त्राम्बुभिः प्रोक्ष्य द्वारपूजां समाचरेत् ।
ऊर्ध्वोदुम्बरके तत्र महालक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥ ६ ॥
ततो दक्षिणशाखायां विघ्नं क्षेत्रेशमन्यतः ।
तयोः पार्श्वगते गङ्गायमुने पुष्पवारिभिः ॥ ७ ॥
देहल्यामर्चयेदस्त्रं प्रतिद्वारमिति क्रमात् ।

---

(१)वरैः । स्वधान्तैरात्मतत्वाद्यैरात्मविद्याशिवात्मकम् ॥ क्रमात्तत्त्वत्रयंविद्यात् ह्रांह्रींहूं शम्बराः क्रमात्" इति *सामान्यार्घ्यं विधायचेति* बहिरेव च सामान्यार्घ्यं उक्तो *मन्त्रमुक्तावल्याम्* । "पात्रमस्त्रेण संशोध्य हृन्मन्त्रेणाभिपूरयेत् । तीर्थमावाह्य गन्धादीन् निःक्षिपेत् प्रणवेन तु ॥ धेनुमुद्रां दर्शयेच्च सामान्यार्घ्य उदाहृतः" अत्र प्रणवशब्देन यथार्थ पञ्चप्रणवानामपि ग्रहणं ज्ञेयम् । तत्रप्रकारः साधारं पात्रं द्वाराभिमुखं संस्थाप्य "ओंह्रः द्वारार्घ्यं साधयामि" इति कृत्वा श्लोकोक्तक्रमोऽनुसन्धेयः ॥ ५ ॥

द्वारमिति । अस्त्रमन्त्रमुच्चार्य सामान्यार्घ्यजलेन द्वारं प्रोक्षयेत ॥ सामान्यार्घ्यमग्रेऽवक्ष्यति । अत्रसर्वत्राग्रेऽपिअस्त्रादिप्रस्तुतदेयमन्त्राऽस्त्रान्ते "अस्त्रायफट्". इति सामान्यास्त्रं योजयेत् । एवं सर्वाङ्गमन्त्रेषु केचनाऽस्त्रादिषु फट्काराद्याः केवलजातीराहुः ॥ द्वारपूजामेवाह *ऊर्ध्वेति* । द्वारशाखोपरितनतिर्यक्काष्ठमूर्ध्वोदुम्बरकांदेहल्यामुदुम्बरशब्दोऽभिधया प्रवर्त्तते । साऽप्यूर्ध्वस्थदेहलीचेतिसाम्यात्तत्र लक्षणयोदुम्बरशब्दप्रयोगः *तत्र* मध्ये *महालक्ष्मीमिति* । द्वारश्रियं *पुष्पवारिभिः* । अर्घ्यजलपुष्पैः । प्रपूजयेत् इति सम्बन्धः । तदुक्तं "ऊर्द्ध्वं द्वारश्रियंचेष्ट्वे"ति । *अन्यत्रापि* "द्वारोपरि नमो द्वारश्रियै तद्दक्षवामयोः । विघ्नं सरस्वतीं"चेति । *ततः* ऊर्द्धस्थकोणद्वये दक्षिणादि *विघ्नं* सरस्वतीं पूजयेत् ॥ *दक्षिणशाखायामिति* । दक्षिणशाखाधः । अत्र केचन दुर्गापूजामाहुः । *अन्यतः* इति । वामशाखाधः क्षेत्रेशमिति सम्बन्धः । *तदुक्तं* "कोणेषु विघ्नं दुर्गां च वाणीं क्षेत्रेशमर्चयेत्" इति । *तयोरिति* । विघ्नक्षेत्रेशयोः *पार्श्वगते* *गङ्गायमुने* इत्यनेन पूजा सूचिता । सैव क्रमादित्यनेनाग्रे सूचिता ।*वारि* सामान्यार्घ्यजलम् । तारसबिन्दुस्वनामाद्यक्षरादिङेन्तस्वनामनमोन्विता एतेषां मन्त्राः । "द्वां द्वारश्रियै नमः" इत्यादिप्रयोगः । तदुक्तं *डामरे* "ऊँकारबिन्दुमध्यस्थं नामधेयाद्यमक्षरम् । देवतानां स्वबीजं तत् पूजायामृद्धिसिद्धिदमि"ति । ग्रन्थकृदपि वक्ष्यति "स्वनामाद्यक्षरादिकमि"ति । एतच्च यत्र बीजं नोक्तं तद्विषयं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

देहल्यामिति "ॐह्रः अस्त्राय फट् नमः" । इत्यस्त्रपूजा । पुष्पवारिभिरित्येव । *तदुक्तं* "हकारेफौच विसर्गवन्तावस्त्रायफट्कारवचस्तदन्ते । उक्त्वान्तरे सर्षपमक्षतान्वा पुष्पाणि मुञ्चेदथ चात्र विद्वान् ॥" इति । अन्येतु वास्तुपुरुषपूजामत्रेच्छन्ति । *तदुक्तं*—"पूज्यो वास्तुपुमांस्तत्र तत्र द्वाः पीठमध्यत" इति । एषां ध्यानं तत्तत्प्रकरणे ज्ञेयम् । अतएव तत्र महालक्ष्मीपदप्रयोगः । *प्रतिद्वारमिति* अनेनैतदुक्तं भवति । यदाहुः "द्वारस्य शोभनस्याथ शाखयोर्दक्षवामयोः । धात्रे विधात्रे गङ्गायै यमुनायै च पूर्वतः ॥ ॐभद्राय सुभद्राय गोदां कृष्णां च दक्षिणे । चण्डाय च प्रचण्डाय रेवां तापीं च पश्चिमे । ॐ शङ्खपद्मनिधये वाणीं वेणीं तथोत्तरे"इति । *सोमशम्भुरपि* "स्वनामभिश्चतुर्थ्यन्तैः स्रवन्तीनां द्वयं द्वयमि"ति । *अन्यत्र तु* "भद्रं सुभद्रं गङ्गां च यमुनां द्वारशाखयोः। चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तं च प्राग्द्वारे सम्प्रपूजयेत् ॥ बलप्रबलचिच्छक्तिमायाशक्तीस्तथैव च । चतुर्थ्यन्तं नमोन्तं च दक्षिणद्वारिपूजयेत् ॥ चण्डं

---

(१) जलैः । तथाचामरः । नीरक्षीराम्बुश(स)म्बरम्" इति जलपर्याये ।

अनन्तरं देशिकेन्द्रो दिव्यदृष्ट्यवलोकनात् ॥ ८ ॥
विघ्नानुत्सारयेद्दिव्यानस्त्राद्भिरान्तरिक्षगान् ।
पार्ष्णिघातैस्त्रिभिर्भौमानिति विघ्नान्निवारयेत् ॥ ९ ॥
किंचित्स्पृशन्वामशाखां देहलीं लङ्घयेद्गुरुः ।
अङ्गं संकोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा ॥ १० ॥
नैर्ऋत्यां दिशि वास्त्वीशान्(शं) ब्रह्माणं च समर्चयेत् ।
पञ्चगव्यार्घतोयाभ्यां प्रोक्षयेद्यागमण्डपम् ॥ ११ ॥
चतुष्पथान्तं तच्छुद्धिं विदध्याद्वीक्षणादिना ।

प्रचण्डं गौरीं च श्रियं च द्वारशाखयोः । चतुर्थ्यन्तं नमोन्तं च पश्चिमे सम्प्रपूजयेत ॥ जयं च विजयं चैव शङ्खपद्मनिधी तथा । चतुर्थ्यन्तं नमोऽन्तं च उत्तरे सम्प्रपूजयेत्" इति। *केचन* वक्ष्यमाणां द्वारपालपूजामपि नित्यामाहुः । एतत्सर्वं नित्यपूजायामपि समानं ज्ञेयम् । *यदाहुः*—"विधेयमेतत्सर्वत्र स्थापितेषु विशेषत" इति । *दीक्षायां विशेषस्तन्त्रान्तरोक्तः* "वैष्णवादिप्रभेदेन द्वारपालान्समर्चयेत् । प्रतिद्वारं पार्श्वयोस्तु द्वौ द्वावष्टाविति क्रमात् ॥ नन्दः सुनन्दश्चण्डाख्यः प्रचण्डो बलनामकः प्रबलो भद्रनामा च सुभद्रो वैष्णवा मताः ॥ अथ नन्दिमहाकालौ गणेशवृषभौ पुनः । ततो भृङ्गिरिटिः स्कन्दः पार्वतीशश्च सप्तमः ॥ चण्डेश्वरोऽष्टमः शैवा द्वारपालाः क्रमादमी । वक्रतुण्डैकदंष्ट्रश्च महोदरगजाननौ ॥ लम्बोदराख्यविकटौ विघ्नराजश्च सप्तमः । धूम्रराजोऽष्टमोज्ञेयो गाणपत्या इति क्रमात् ॥ ब्राह्म्याद्या मातरः प्रोक्ता शाक्तेया द्वारपालका" इति । *अन्ये तु* गोपाल रामचन्द्रद्वारपालानन्यानाहुः "चण्डप्रचण्डौ प्राक्धातृविधातारौ च दक्षिणे । जयश्च विजयः पश्चाद्बलः प्रबल उत्तरे" इति । अथचा*नन्तरमि*त्यनेन सूचितः । देशिकेन्द्रम् इत्यनेन सदाशिवमात्मानं विचिन्त्येत्युक्तम् । सदाशिवरूपस्त्वदृष्ट्यवलोकनम् ॥ ८ ॥

*अस्त्रैरि*ति । सामान्यार्घ्यजलैः । *पार्ष्णिघातैरिति* । तत्रायं मन्त्रः "अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः । ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥ अपक्रामन्तु ये भूताः पिशाचाः सर्वतोदिशम् । सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्मसमारभे" इति । *वसिष्ठसंहितायामपसर्पन्त्वित्यादिपठित्वोक्तम्* "पार्ष्णिघातत्रयं कृत्वा मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् । भूतसङ्घान्समुत्सार्य संविशेदासने बुध" इति । *सोमशम्भौ तु* "दक्षपार्ष्णि त्रिभिर्घातैर्भूमिष्ठानि"ति । *इत्येवं* प्रकारेण *विघ्नान्* त्रिविधानपीति ॥ ९ ॥

अङ्गमिति । वामाङ्गं, *सङ्कोचयन्निति* । निःसरद्विघ्नावकाशदानाय । *तदुक्तम्* "उत्सारितानां विघ्नानां दद्द्वत्मं तु वामत" इति । *अन्यत्रापि* "निर्गच्छतां विघ्नकृतामथैषां वामाङ्गसंकोचन चेष्टितेन । प्रदाय मार्गमि"ति । *तथाऽन्यत्रापि* "वामतः निःसार्य विघ्नसंघं चे"ति । अन्तः स्पृशन्नित्यादित्रयं दृष्टार्थं, देहल्यामपि देवस्य पूजितत्वात् ॥ १० ॥

वास्त्वीशान् । इति । तत्र क्षेत्रस्य क्षेत्रपालान् । ते च मया क्षेत्रपालमन्त्रे वक्ष्यन्ते । *दिव्यदृष्ट्या*दि ब्रह्मार्चनान्तं नित्यपूजायामपि समानम् ॥ *पञ्चगव्येति* । पञ्चगव्यप्रकारमेकविंशे वक्ष्यति । *अर्घ्यतोयं* सामानार्घ्यजलम्, *प्रोक्षयेदिति* । देयमन्त्रेण । *तदुक्तं* *नारायणीये* "गव्येन प्रोक्षयेद्दीक्षास्थानं मन्त्रेण शोधितमि"ति ॥ ११ ॥

चतुः पथान्तमिति । पूर्वेण सम्बध्यते । तत्र मण्डपाद्बहिरातोरणस्तम्भं हस्तमात्रा व्यवहारभूमिश्चतुष्पथशब्दवाच्या *वीक्षणादिभि*श्चतुर्भिस्त*च्छुद्धिं* मण्डपशुद्धिं कुर्यात् । अ-

वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥ १२ ॥
तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्म्मणाभ्युक्षणं मतम्।
चन्दनागरुकर्पूरैर्धूपयेदन्तरं सुधीः ॥ १३ ॥
विकिरान्विकिरेत्तत्र सप्तजप्ताञ्छराणुना ।
लाजाश्चन्दनसिद्धार्थं भस्मदूर्वांकुराक्षताः ॥ १४ ॥
विकिरा इति संदिष्टाः सर्वविघ्नौघनाशनाः ।
अस्त्रजप्तेन दर्भाणां मुष्टिना मार्जयेच्चतान् ॥ १५ ॥
ईशस्य दिशि वर्द्धन्या आसनाय प्रकल्पयेत् ।
पुण्याहं वाचयित्वा तु ब्राह्मणान्परितोष्य च ॥ १६ ॥
एकेषु मण्डलेष्वेवं दीक्षायां समालिखेत् ।
विशेन्मृद्वासने मन्त्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ॥ १७ ॥

त्रापि चतुष्पथान्तमित्यन्वेति। वीक्षणादीनेवाह—*वीक्षणमिति* । *मूलमन्त्रेणेति* देवमन्त्रेण। *शरेणेत्यस्त्रमन्त्रेण ॥ १२ ॥

तेनैवेति अस्त्रेण। *वर्म्मणेति। कवचमन्त्रेण। प्रोक्षणाभ्युक्षणस्वरूपमग्रे वक्तव्यम्। तें च सामान्यार्घ्यजलेनैव *अन्तरमिति*। मण्डपमध्यम् *सुधी*रित्यग्रिमेण सम्बध्यते । अनेन च सोमशम्भूक्तोविशेषः सूचितः ॥ १३ ॥

तत्रेति। मण्डपमध्ये *शराणुने*त्यस्त्रमन्त्रेण। अणुशब्दोमन्त्रपर्याय आगमशास्त्रे ॥ *सिद्धार्थाः*। गौरसर्षपाः *भस्म* गोमयभस्म ॥ १४ ॥

सर्वविघ्नौघनाशना इतिध्यानम् *अस्त्रजप्तेनेति*। सप्तेत्यनुषज्यते। *मार्जयेच्चेति* चकारेण विकिरानित्यनुषज्यते । *तानि*त्युत्तरेण सम्बध्यते। *सोमशम्भौ तु विशेषः "विकिरान् शुक्ललाजान् वा सप्तशस्त्राभिमन्त्रितान् । अस्त्राम्बुप्रोक्षितानेतान् कवचेनावगुण्ठितान् ॥ नानाप्रहरणाकारान् विघ्नौघविनिवारकान्। दर्भाणां तालमानेन कृतां षट्त्रिंशता दलैः। सप्तजप्तां शिवास्त्रेण मुष्टिं बोधासिमुत्तममि"ति। विकिरणमार्जने देयमन्त्रेण ॥१५॥

ईशस्येति। सनालं पात्रं वर्द्धनी। तस्याः। *आसनाय* *ईशस्यदिशि* ऐशान्यान्तान् विकिरान् *प्रकल्पयेत्* इति सम्बन्धः॥ *पुण्याहमिति*। पुण्याहवाचनं पूर्वमुक्तम् ॥१६॥

एकमिति मण्डलम्। एतावद्दीक्षायामेव। *विशेदि*त्युपविशेत्। *मृद्वासन*इत्यनुद्वेगाय। तच्चं दृष्टार्थमुद्वेगे सति तत्रैव मनो याति नतु जपपूजादौ। *मन्त्रीति*अनेनैतदुक्तम्। "अनन्तासनाय नमः"। "विमलासनाय नमः"। "पद्मासनाय नमः" इति जप्तान् कुशानासने दत्वा आसनं सम्पूज्य। आसनमन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः कूर्मोदेवता सुतलं छन्दः आसनोपवेशने विनियोगः "ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि! त्वं विष्णुना धृता ॥ त्वं च धारय मां देवि! पवित्रं कुरु चासनमि"ति आसन मन्त्रेणोपविशेत् इति। *तदुक्तम्* "तदासनस्यर्षिमुशन्ति कूर्मं छन्दस्तथा स्यात्सुतलं सुधीरः प्रोक्ता तु पृथ्वी किल देवतास्य जपादिकर्मण्युपयोग युक्तः" इति। तत्रासनानि तन्त्रोक्तानि-"कौशेयं वाऽथचैलं वा चार्मं तौलमथापि वा। वेत्रजं तालपत्रं वा काम्बलं दार्भमासनम्॥ वंशाश्मदारुधरणीतृणपल्लवनिर्मितम् । वर्ज्जयेदासनं मन्त्री दारिद्र्यव्याधिदुःखदम्॥ धर्मार्थकाममोक्षाप्तैश्चैलाजिनकुशोत्तरमिति"। *दार्वासनेऽन्यत्र विशेष उक्तः* "यतीनामासनं श्लक्ष्णं कूर्माकारं तु कारयेत्। अन्येषां तु चतुः पादं चतुरस्रं तु कारयेत् ॥ गोशकृन्मृन्मयं भिन्नं तथा पालाशपिप्पलम्। लोहविद्धं सदैवार्कं वर्जयेदासनं बुधः॥ प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं चैव तर्पणम् ॥ आसदानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम्। प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं चैव तर्पणम् ॥ आस-

बद्धपद्मासनो मौनी समाहितजितेन्द्रियः ।
स्थापयेद्दक्षिणे भागे पूजाद्रव्याणि देशिकः ॥ १८
सुवासिताम्बुसम्पूर्णं सव्ये कुम्भं सुशोभनम् ।
प्रक्षालनाय करयोः पश्चात्पात्रं निवेशयेत् ॥ १९
घृतप्रज्वालितान्दीपान्स्थापयेत्परितः शुभान् ।
दर्पणं चामरं छत्रं तालवृन्तं मनोहरम् ॥ २० ॥
मङ्गलाङ्कुरपात्राणि स्थापयेद्दिक्षु देशिकः ।
कृताञ्जलिपुटोभूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः ॥ २१ ॥
नत्वा गुरून् गणेशानं भूतशुद्धिं समाचरेत् ।
करशुद्धिं समासाद्य पश्चात्तालत्रयं ततः ॥ २२ ॥

नारूढपादस्तु जानुनोर्वाथजङ्घयोः । कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढपादः स उच्यते"। इति॥१७॥

बद्धपद्मासन इति । पद्मासनमन्त्ये वक्ष्यति-"अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्याम्"त्ययं भागो योगे एवोपयुक्तः सोऽत्र नास्ति । तन्त्रान्तरे पद्मासनलक्षणस्य तथैवोक्तत्वात् । "सव्यं पादमुपादाय दक्षिणोपरिविन्यसेत् । तथैव दक्षिणं सव्यस्योपरिष्टान्निधापयेत् ॥ विष्टभ्य कट्योः पार्ष्णी तु नासाऽग्रन्यस्तलोचनः । पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम्"ति । पद्मासन इत्युपलक्षणम् । *यदाहुः* "पद्मस्वस्तिकवीरादिष्वेकासनसमास्थितः । जपार्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत्" इति । *मौनीति*नेन रागप्राप्तसंभाषणनिषेधः । *तदुक्तम्*—"सम्यैरपि नभाषेत जपहोमार्चनादिष्वि"ति । *समाहितेति*। समाहितः सावधानश्चासौ*जितेन्द्रि*यश्चेति विशेषणसमासः ॥ *पूजाद्रव्याणि*-पुष्पादीनि । *देशिक* इत्युत्तरेण सम्बध्यते । अनेनार्घ्यपाद्याचमन मधुपर्काचमनपात्राण्यपि सव्ये स्थापयेदित्युक्तम् ॥१८॥

सुवासितेति । सुवासितं कर्पूरादिना ॥ १९ ॥

मनोहरमिति । दर्पणादीनां चतुर्णामपि विशेषणं दर्पणं स्थापयेदित्यादिरन्वयः । *विशेदित्यादि* एतदन्तं नित्यपूजायामपि समानम् ॥ २० ॥

मङ्गलेति । मङ्गलानि मङ्गलरूपाणि यानि अङ्कुरपात्राणि । उक्तरीत्या उप्तबीजानि तानि दिक्षु स्थापयेत् । *देशिक* इति । अनेनैतदुक्तं भवति उक्तक्रमेण पूर्वादिदिशि एवं त्रिरावृत्त्येति तेषामिदमेव प्रतिपत्तिकर्म । इदं दीक्षायामेव । *कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः । गुरून्गणेशानं नत्वेति* सम्बन्धः । *तत्र प्रयोगः* । "ॐ गुं गुरुभ्यो नमः" । "ॐ गं गणपतये नमः" । *तदुक्तमाचार्यैः* "गुर्वाद्यास्तारादिका येऽङ्गमन्त्रा लोकेशान्तास्तेचतुर्थीनमोन्ताः । पूजायां स्युर्वह्निकार्ये द्विठान्ता" इति ॥ अत्र वह्निकार्ये द्विठान्ताइत्युक्ते वक्ष्यमाणाग्निजिह्वादीनामपि संग्रहः । तदनन्तरं लोकेशमन्त्रैर्होमविधानात् ॥ २१ ॥

*गुरूनि*ति बहूक्तया गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिगुरवो गृह्यन्ते । *यदाहुः* "तत आदित आरभ्य नमेद्गुरुपरम्परामि"ति । ततः इमामृचं पठेत् । ॐ नमो महद्भ्यो नमो ऽर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः। यजाम देवान्यदि शक्नुवाम मा ज्यायसः शंसमावृक्षि देवा" इति। *करशुद्धिमिति* । अत्र करशुद्ध्यादिषु त्रिषु *अस्त्रमन्त्रेणे*ति सम्बध्यते ॥ तत्र करशुद्धिर्नामाङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु उभयकरान्तः उभयकरबाह्ययोः उभयकरपार्श्वद्वये अस्त्रमन्त्रस्य व्यापकत्वेन न्यासः । *तदुक्तम्* "व्यापय्याथोहस्तयोर्मन्त्रमन्तर्बाह्ये पार्श्वे" इति ॥ २२ ॥

---

(१) विस्तृतमध्यमाङ्गुष्ठमानेन। "प्रादेश ताल गोकर्णा स्तर्जन्यादियुते तते"इत्यमरः

ऊर्ध्वोर्ध्वमस्त्रमन्त्रेण दिग्बन्धमपि देशिकः ।
तेन संजनितं तेजो रक्षां कुर्यात्समन्ततः ॥ २३ ॥
सुषुम्णा वर्त्मनाऽऽत्मानं परमात्मनि योजयेत् ।
योगयुक्तेन विधिना चिन्मन्त्रेण समाहितः ॥ २४ ॥
कारणे सर्वभूतानान्तत्त्वान्यपि च चिन्तयेत् ।
बीजभावेन लीनानि व्युत्क्रमात्परमात्मनि ॥ २५ ॥
ततः संशोषयेद्देहं च वायुबीजेन वायुना ।
वह्निबीजेन तेनैव संदहेत्सकलां तनुम् ॥ २६ ॥

दिग्बन्धमिति । नाराचमुष्ट्युद्धृततर्जन्या दशदिशि अस्त्रमन्त्रन्यासः । *तदुक्तंप्रयोगसारे* "आच्छाद्य दिक्षुतर्जन्या ज्येष्ठाग्रस्खलिताग्रये"ति । *अन्यत्रापि* "अङ्गुष्ठमग्रं यदि मध्यमाग्रं स्पृशेत् स्युरन्याङ्गुलयस्त्वलग्नाः । तदा भवेद्भूतनिषूदनस्य नाराचनाम्नोऽस्त्रवरस्य मुद्रे"ति । *अन्यत्र मन्त्रविशेषः* "प्रणवहृद्दोरवसाने सचतुर्थि सुदर्शनं तथास्त्रपदम् । उक्त्वा फडन्तमनुना कलयेच्च (?) दशहरित" इति । *देशिक इति* । अनेन सुदर्शनमन्त्रेण वक्ष्यमाणाग्निप्राकारमन्त्रेणापि अग्निप्राकारं कुर्यादिति सूचितम् । *अग्निप्राकारमुद्रोक्ता प्रयोगसारे* "त्रिशूलाभौ करौ कृत्वा व्यत्यस्ताववितोनयेत् । अस्त्रमुद्रेयमाख्याता वह्निप्राकारलक्षणा ॥ परद्रोहोपशमनी नागाशनिभयापहे"ति । *तदुक्तं* "ततोऽस्त्रमन्त्रेण विशोध्य पाणित्रितालदिग्बन्धहुताशशालामि"ति । एषां फलमाह *तेनेति* ॥ २३ ॥

सुषुम्णेति । समाहितः सुषुम्णावर्त्मना* कुण्डलिन्या *आत्मानं योगयुक्तेन विधिना चिन्मन्त्रेण परमात्मनि योजये*दिति सम्बन्धः ।। तत्रात्मानं जीवात्मानं हृदयकमलस्थितमित्यर्थः । *यदाहुः* "हृदम्बुजे ब्रह्मकन्दसम्भूते ज्ञाननालके । आराग्रमात्रोजीवस्तु चिन्तनीयोमनीषिभिरि"ति । योगयुक्तेन विधिनेत्यस्यायमर्थः । गुरूपदिष्टमार्गेण हुंकारेण कुण्डलिनीमुत्थाप्य तां हृदयकमलगतां विभाव्य ततोजीवं मुखे गृहीत्वा सहस्रारगतं विभावयेत् । अतएव *समाहित* इत्युक्तिः । *चिन्मन्त्रेण* । वक्ष्यमाणात्ममन्त्रेण । *यदाहुः* "नेतव्योहंसमन्त्रेण द्वादशान्ते सितः पर" इति । *अन्यत्रापि* "जीवं स्वाब्जे स्वनाड्या स्वनिलयत उदानीय तं हंसेनेति । *अन्यत्रापि* "संयोज्यजीवमथदुर्गममध्यनाडीमार्गेण पुष्करनिविष्टशिवे सुसूक्ष्मे । हंसेने"ति । *परमात्मनि* । सहस्रारकर्णिकागत इत्यर्थः ॥२३॥

कारण इति । *सर्वभूतानां* *कारणे* परमात्मनि *बीजभावेन* व्युत्क्रमात् लीनानि तत्त्वानि* पृथिव्यादीनि *चिन्तये*दित्यन्वयः । तत्र सृष्ट्यपेक्षया व्युत्क्रमः । सर्वत्र कार्यस्य कारणे लयोदृष्टः । अतएव प्रथमपटले सृष्ट्युक्तिः । विना सृष्टिं कार्यकारणाज्ञानात् । अतएव सर्वभूतानां कारणेइति विशेषणोक्तिः । *अपि*शब्दाद्वर्णानपि । *यदुक्तं* "सङ्कल्प्यैवं ततोन्यासस्थानान्वर्णांश्च संहरेत् । प्रतिलोमेन क्षलयोर्लकारेऽस्यहकारके । हलयोश्चसकारेऽथ सलयोश्च षकारके ॥ क्रमेणैवमपर्यन्तं लयमुत्पाद्य यत्नतः । अकारं ब्रह्मरन्ध्रे च सहस्राब्जे नियोजयेत्" इति । *च* कारः पूर्वसमुच्चये ॥ २४ ॥

ततइति । *वायुबीजेन* । यकारेण । *वायुना* । तदुत्थेनेत्यर्थः । अनेन पूरकउक्तः *वह्निबीजेन* । रेफेण । *तेनैवेति* अग्निबीजोत्थाग्निना । *सकलां* स्वकल्मषरूपपापपुरुषसहितां तनुं निर्दहेत् । *पापपुरुषध्यानं यथा*—"ब्रह्महत्याशिरस्कं च स्वर्णस्तेयभुजद्वयम् । सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम् ॥ तत् संयोगिपदद्वन्द्वमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् । उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम् ॥ खड्गचर्मधरं पापमङ्गुष्ठपरिमाणकम् । अधोमुखं कृष्णवर्णं कुक्षौ विचिन्तयेत्" इति । अनेन कुम्भक उक्तः ॥ २५ ॥ २६ ॥

विश्लेषयेत्तदा दोषानमृतेनामृताम्भसा ।
आप्लाव्याप्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥ २७ ॥
आत्मलीनानि तत्त्वानि स्वस्थानं प्रापयेत्तदा ।

तदा दाहे जाते *दोषान्* दोषरूपपापपुरुषभस्म(१) *विश्लेषयेदिति* रेचक इत्यर्थः । अत्र भस्मविश्लेषोऽपि वायुबीजेनेति ज्ञेयम् । *यदाहुराचार्याः* "पूर्वविधिना मुञ्चे"दिति । *नागभट्टोऽपि* "सास्यांदिनाथमरुतापनयत्तशेषं तद्भस्मराशिमि"ति । *गणेश्वरविमर्शिन्यामपि* "तद्भस्मकूटमखिलं वायुबीजोत्थवायुना । विकीर्य"ति । *अन्यत्रापि* "तदु ब्रह्मपुरनलपूलुष्टदेहोऽनलेन तद्भस्मोत्क्षिपेदि"ति । अत्र स्थानत्रये षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्याक्रमेणेति केचित् । अन्ये द्वादशपञ्चाशत् । पञ्चविंशतिसंख्येत्यूचुः । *तदुक्तं संहितायाम्* "मरुदग्निसुधाबीजैः पञ्चाशन्मातृमात्रकैरि"ति । *आचार्याश्च* "अथवा शोषण दहन प्लावन भेदेन शोधिते देहे । पञ्चाशद्भिर्मात्राभेदैर्विधिवत् समापयेत्प्राणान् ॥ पञ्चाशदात्मकोऽपि च कलाप्रभेदेन तारउद्दिष्टः । तावन्मात्रायमनात्कलाश्च विधृता भवन्ति तत्त्वविदे"ति । *केचित्तु* स्थानत्रयेऽपि प्रत्येकं त्रिविधं प्राणायाममिच्छन्ति । *अमृतेन* अमृतबीजेन वमित्यनेन । *अमृताम्भसा* तदुत्थेनामृतेन । आपादतलमस्तकं देहमाप्लाव्याप्लावयेदिति सम्बन्धः ॥ २७ ॥

स्वस्थानमिति सृष्टिक्रमेण प्रथमपटलोक्तरीत्या । *तदेति* अनेन अकारादिक्षान्तान् वर्णानपि सृष्टिक्रमेण स्वस्थानं प्रापयेदित्युक्तम् । *तदुक्तम्* "अमुतः सकलार्णमयीं लवराजपाद्विपात्य रचयेच्च तया । सकलं वपुरमृतौघवृष्टिभि"रिति । "इत्यारचय्य वपुरर्णशतार्द्धकेने"ति *परमात्मनः* सकाशात् *हंसदेवस्य मनुना आत्मानं हृदयाम्भोजमानयेदिति* सम्बन्धः । हंसस्य जीवस्य देवः परमात्मा । उपास्यत्वात् । तेनमन्त्रेणसोऽहमित्यनेन । यद्वा परमात्मनः मनुना इति सम्बध्यते इति । पूर्वम्परमात्मनि योजयेदित्युक्तं ततं इत्यर्थाल्लभ्यते । *हंसदेवस्येति* अग्रिमेण सहसम्बध्यते । *तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्* "सोऽहं मन्त्रेण तामाद्यां नादान्ते सिद्धिसाधिताम् । ध्यात्वैकं ब्रह्मरन्ध्राच्च हृदि जीवकलां न्यसेत्" ॥ इति । *गणेश्वरविमर्शिन्यामपि* "सोऽहं धियाऽऽत्मचैतन्यं समानीय चिदम्बरात्" इति । *तत्र गुरूपदेशतः प्रकारो लिख्यते* । "श्रीदेवपूजाधिकारसिद्धये भूतशुद्ध्यादि करिष्ये"इति संकल्प्य मूलाधारादुत्थितां विद्युत्सहस्रप्रभाभासुरां बिसतन्तुरूपां सुषुम्णामार्गेण हृदयकमलमागतां कुण्डलिनीं विभाव्य हृदयकमलाज्जीवं प्रदीपकलिकाकारं गृहीत्वा द्वादशदलाम्बुजात् सहस्रदलगतां विभाव्य तत्र जीवात्मानं हंसमन्त्रेण परमात्मनि योजयेत् । ततः पादादिजानुपर्यन्तं चतुरस्रंपीतं पृथिवीमण्डलं, तत्र पादगमनक्रियागन्तव्यगन्धघ्राणपृथिवीब्रह्मनिवृत्तिसमानवायून् संस्मृत्य ॐ ह्रां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य "तान्सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा अप्सु प्रविलापयामी"त्यपां स्थाने संहरेत् । जान्वादिनाभिपर्यन्तं शुक्लमर्द्धचन्द्राकारं जलमण्डलं, तत्र हस्तादानादातव्यरसरसनाजलविष्णुप्रतिष्ठोदानान् स्मृत्वा "ॐ ह्रीं विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य "तान्सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा अग्नौ प्रविलापयामि" इत्यग्निस्थाने संहरेत् । नाभ्यादि हृदयपर्यन्तं त्रिकोणं रक्तं वह्निमण्डलं, तत्र पायुविसर्गविसर्जनीयरूपचक्षुस्तेजोरुद्रविद्याव्यानान् संस्मृत्य "ॐ ह्रूं रुद्राय तेजोऽधिपतये विद्याकलात्मने हुं फट् स्वाहा"इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य "तान्सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा वायौ प्रविलापयामी"ति वायुस्थाने संहरेत् । ततो हृदादि भ्रूम-

---

(१) वेदाः प्रमाणमितिवद्विधेय एकत्वमत्र प्रदर्शितम् ॥

आत्मानं हृदयाम्भोजमानयेत्परमात्मनः ॥ २८ ॥

र्यन्तं कृष्णं वर्त्तुलं षड्बिन्दुलाञ्छितं वायुमण्डलं, तत्रोपस्थानन्दत्वक्स्पर्शत्वक्प्रवयव-न्वी-शानशान्त्यपानान् संस्मृत्य "ॐ हैं ईशानाय वायवधिपतये शान्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य "तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा आकाशे प्रविलापयामि" इत्याकाशस्थाने संहरेत् । ततो भ्रूमध्यात् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्वच्छ वर्त्तुलमाकाशमण्डलं, तत्र वाग्वेदनवक्ष्यण-शब्द श्रोत्राकाश सदाशिवशान्त्यतीताप्राणान् संस्मृत्य "ॐ हौं सदाशिवायाकाशाधिपतये शान्त्यतीताकलात्मने हुं फट् स्वाहा" । इत्यमुं मन्त्रमुच्चार्य "तान्सर्वानहङ्कारे प्रविलाप्य त-महङ्कारं महत्तत्त्वे महत्तत्त्वं मातृकासंज्ञकशब्दब्रह्मस्वरूपायां हृल्लेखार्थभूतायां प्रकृतौ प्रवि-लापयामि" इति प्रविलाप्य "तां तथाविधां नित्यबुद्धशुद्धस्वभावे स्वप्रकाशे सत्यज्ञानान-न्तानन्दलक्षणे परमकारणे परब्रह्मणि प्रविलापयामी"ति प्रविलापयेत् । *तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्र-काशे* "गन्धादिघ्राणसंयुक्तां पृथिवीमप्सु संहरेत् । रसादिजिह्वया सार्द्धं जलमग्नौ प्रलाप-येत् ॥ रूपादिचक्षुषा सार्द्धमग्निं वायौ नयेल्लयम् । समीरमम्बरे विद्वान् स्पर्शादि त्वक्समन्वि-तम् ॥ अहङ्कारे हरेद्व्योम सशब्दन्तं महत्यपि । महच्च सर्वशक्तीनामव्यक्ते कारणे परे ॥ स-च्चिदानन्दरूपं यत् वैष्णवं परमं पदम् । पृथिव्यादिक्रमात्सर्वं तत्र लीनं विचिन्तयेत्" ॥इति। ततः शरीरस्यान्तर्यामी ऋषिः सत्यं देवता प्रकृतिपुरुषं छन्दः सशरीरपापपुरुषस्य शोधने विनि-योगः । इत्युक्त्वा दक्षकुक्षिस्थं शुक्ररूपं पापपुरुषं विचिन्त्य "यमि"ति, वायुबीजस्य किष्किन्ध-ऋषिः वायुर्देवता जगतीच्छन्दः सशरीरपापपुरुषशोषणे विनियोग इत्युक्त्वा नाभिमण्डसूले च षड्बिन्दुमण्डले यं विचिन्तयेत्। "तद्वायुबीजं धूम्रं च चञ्चलध्वजसंयुतम् । धूधूशब्दयुतं सर्वशोषण त्वीशदैवतमि"ति ध्यात्वा पूरकप्रयोगेण षोडशवारं द्वादशवारं वा वायुबीजमावर्त्य तद्बीजो-त्थवायुना सशरीरं पापपुरुषं शोषितं विभावयेत् । ततो "रमि"त्यग्निबीजस्यकश्यपऋषिरग्निर्देव-ता त्रिष्टुप् छन्दस्तद्दाहे विनियोग" इत्युक्त्वा "चिन्तयेद्धृदये रक्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम्। वि-धाकलायुतं रुद्रदैवतं चरमीरितमि"ति ध्यात्वा कुम्भकप्रयोगेण चतुःषष्टिवारं पञ्चाशद्वारं वाऽग्नि-बीजमावर्त्तयेत् । तद्बीजोत्थाग्निना तद्भस्मीभूतं विभावयेत् । ततो रेचकेण द्वात्रिंशन्मात्र-या पञ्चविंशतिमात्रया वा पूर्वोक्तरूपं वायुबीजमावर्त्य पापपुरुषभस्म रेचयेत् ॥ ततो "वमि"ति वरुणबीजस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः हंसोदेवता त्रिष्टुप्छन्दः प्लावने विनयोगः" इत्युक्त्वा "वारुणं मण्डलं मूर्द्धि्न शुभ्रंचन्द्रार्द्धसन्निभम्। सितपङ्कजयुग्माङ्कं वंम्याद्वरुणदैवतमि"ति ध्यात्वा तद्बी-जसुताऽमृतेन तच्छरीरभस्म पिण्डीभूतं विभावयेत्। ततो "लमि"ति पृथिवीबीजस्य ब्रह्मऋषिः इन्द्रोदेवता गायत्रीच्छन्दः कठिनीकरणे विनियोगः" इत्युक्त्वा "आधारमण्डले पृथ्वीमण्डलं वज्रलाञ्छितम् । चतुष्कोणं च कठिनं पीतवर्णेन्द्रदैवतम् ॥ लंबीजेन समायुक्तं ध्यायेन्मनसि पूर्ववत्" इति ध्यात्वा तद्बीजोत्थकाठिन्येन तनुं दृढां भावयेत् । ततो "हमि"त्याकाशबीजस्य ब्रह्मऋषिः आकाशो देवता पङ्क्तिश्छन्दः व्यूहने विनियोग" एत्युक्त्वा "आकाशमण्डलं वृत्त-द्वादशान्ते हमुज्ज्वलम् । शान्त्यतीता कलायुक्तं चिन्त्यमाकाशदैवतमि"ति ध्यात्वा तदुत्थेना-काशेनावकाशं भावयेत् । तदुक्तं "ग्लौमिति पृथ्वीबीजेन तं च संहनतां नयेत् । ॐ हमिति बीजेनाऽवयवाकरणं भवेदि"ति ॥ एवं स्वशरीरं विचिन्त्य परमात्मनः सकाशात् सृष्टिक्रमेण तत्त्वानि स्वस्वस्थाने नयेत्। ततः परमात्मनः सकाशात् जीवं सोऽहं मन्त्रेण हृत्पद्ममानयेदिति संक्षेपः ॥ इयं च भूतशुद्धिरावश्यिकी "पञ्चशुद्धिविहीनेन कृता पूजाभिचारवत् । विपरीतं फलं दद्यादभक्त्या चार्च्चनं तथा ॥ निरर्थकं विधिहीनानां फलं हन्ति हि कर्मणाम् । निशाचराधि-पत्यं च कुरुते शङ्कराज्ञये"ति *शैवागमे* उक्तेः । *अन्यत्रापि* "शरीराकारभूतानां भूतानां यद्विशोधनम् । अव्ययब्रह्मसम्पर्काद्भूतशुद्धिरियंमता ॥ भूतशुद्धिं विना कर्म जपहोमार्चना-दिकम् । भवेत्तन्निष्फलं सर्वं प्रकारेणाप्यनुष्ठितमि"ति । वक्ष्यमाणप्रतिष्ठामन्त्रेणैतदनन्तरं

मनुना हंसदेवस्य कुर्यान्न्यासादिकं ततः ।
ऋषिश्छन्दोदैवतानि न्यसेन्मन्त्रस्य मन्त्रवित् ॥ २९ ॥
आत्मनो मूर्ध्नि वदने हृदये च यथाक्रमात् ।
विधाय मूलमन्त्रेण प्राणायामं यथाविधि ॥ ३० ॥
विदध्यान्मातृकान्यासं मन्त्रन्यासमनन्तरम् ।

चप्राणप्रतिष्ठाऽवश्यं कर्त्तव्या सम्प्रदायाद्गुरूपदेशाच्च ॥ *अत्र विशेषो वसिष्ठसंहितायाम्* "हृदि हस्तं सन्निधाप्य प्राणस्थापनमाचरेत् ॥ ततो जन्मादिकृत्यक्रियासंस्कारसिद्धये ॥ षोडशप्रणवावृत्तीः कृत्वा शक्तिं परां स्मरेत्" इति ॥ २८ ॥

अनन्तरकर्त्तव्यमाह *हंसदेवस्येति* । *ततः मूलमन्त्रेण यथाविधि प्राणायामत्रयं कृत्वा हंसदेवन्यासादिकं कुर्यादिति* सम्बन्धः । तत्र यथाविधीत्यस्यायमर्थः । यदाऽजपान्यासस्तदा अजपया यदा प्रणवन्यासः तदा प्रणवेन । यदा बहिर्मातृकान्यासस्तदा मातृकया एव । यदाभुवनेशीन्यासस्तदा तया । यदा मूलमन्त्रन्यासस्तदा जप्यमानमन्त्रेणेति । तत्र मातृकाप्राणायामे विशेषः । *यदाहुः* "इडया पूरयेत्प्राणं स्वरैः स्पर्शैश्च कुम्भयेत् । रेचयेद्यादिकैः रूष्मैस्ततः पिङ्गलया पुनः ॥ तथैव पूरणं वायोः कुम्भनं रेचनं पुनः । इडया स्यात्ततोद्वाभ्यां पूरणादित्रयं पुनः ॥ प्राणायामत्रयं कृत्वा पश्चाद्व्यापकमाचरेत् । अकाराद्यैः क्षान्तवर्णैरापादतलमस्तकमि"ति । जप्यमानमन्त्रेतु मन्त्रमुख्येनैकेन बीजेन प्राणायामः कार्यः सर्वेण वा । तत्रैकेन चेत् कुम्भके चतुः षष्ठ्या वृत्तिः । अष्टाक्षरश्चेत् द्वात्रिंशदक्षरम् । इत्यादिज्ञेयम् । *यदाहुः* "अष्टाविंशतिवारमिष्टफलदं मन्त्रं दशार्णं जपन्नायच्छेत्पवनं सुशंसितमिति त्वष्टादशार्णेनचेत् । अभ्यस्यन्नविचारमन्यमनुभिर्वर्णानुरूपं जपन् कुर्याद्रेचकपूरकर्म निपुणः प्राणप्रयोगं नर" इति ॥ न्यासो यथाऽजपायाः । आद्यं मूले परं शिरसि । तथा दक्षवामभागयोः । तत्रायं प्रयोगः "हं पुरुषात्मने नमः" "सः प्रकृत्यात्मने नमः" "हंसः प्रकृतिपुरुषात्मने नम" इति व्यापकं, तद्रूपेणान्तर्मातृकान्यासोऽपि । *आदि* शब्दात् पूजापूर्वदिनजपनिवेदनं तद्दिनसंकल्पश्च । एतदनन्तरं हंसमन्त्रोत्पन्नत्वात् प्रणवन्यासः सोऽपि ॐ अं ब्रह्मणेनमः । ॐ आं विष्णवे नमः । इत्यादि मातृकास्थानेषु न्यसेत् । नामानि तु अन्त्यपटले प्रणवोत्पत्तौ मया वक्ष्यन्ते । तजन्य—चतुर्नवतिकलान्यासोऽपि सूचितः तन्न्यासस्थानं *यथा* "मूलाधारत्रिकोणेषु विन्यसेदग्निजाः कलाः । हृत्पङ्कजदलेष्वर्ककला द्वादशसंख्यकाः ॥ मूर्ध्नि षोडशपत्राणां मध्ये सोमभवाः कलाः । नादजास्तु स्वरस्थाने बिन्दुजाः पञ्चवक्त्रके ॥ पूर्वदक्षिणसौम्येषु पश्चिमोर्ध्वमुखेषु च । हृद्गलांसेषु नाभौ च सोदरे पृष्ठवक्षसोः ॥ उरोजयोर्न्यसेच्चापि ककामाक्षरसम्भवाः । पादे गुह्ये सोरुजानू जङ्घास्फिक्षु उकारजाः ॥ पादहस्ततलघ्राणकेषु बाह्वोश्च पादयोः । न्यसेदकारजा गुप्तकलाः पञ्च प्रविन्यसेत् । कास्यहृद्गुह्यपादेष्वि"ति ॥ उक्तवक्ष्यमाणानां सामान्यतः ऋष्यादिन्यास माह । *ऋषीति* । अत एव *मन्त्रस्येति* सामान्यग्रहणम् । अत्र देवताया अपि प्राप्तत्वादात्मन इत्युक्तिः । तेनाजपान्यासे अजपायाः प्रणवन्यासे प्रणवस्य बहिर्मातृकान्यासे मातृकायाः भुवनेशीन्यासे तस्याः मूलमन्त्रन्यासे जप्यमानस्य मन्त्रस्येति *मन्त्रवित्* ॥ २९ ॥

यथाक्रमादिति अनेन बीजशक्तीनामपि न्यासउक्तः । सदक्षिणवामकोणयोरित्येके । गुह्यपादयोरित्यन्ये । स्तनयोरित्यपरे । *ऋष्यादिन्यासस्यावश्यकतोक्ताऽन्यत्र* "ऋषिच्छन्दोदेवतानां विन्यासेन विना यदा । जप्यते साधितोप्येषः तस्य तुच्छंफलंभवेत्" इति ॥३०॥

बहि—र्मातृकान्यासमाह—*विदध्यादिति* । *मातृकान्यासं* वक्ष्यमाणं प्रपञ्चयागान्तमित्यर्थः । *मन्त्रन्यासं*—भुवनेशी—न्यासं *विदध्यादिति* संबन्धः । *यदाहुः* "प्रणवो

अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदङ्गैः सजातिभिः ॥ ३१ ॥
अस्त्रं तत्तलयोर्न्यस्य कुर्यात्तालत्रयादिकम् ।
दिशस्तेनैव बध्नीयाच्छोटिकाभिः समाहितः ॥ ३२ ॥
हृदयादिषु विन्यस्येच्चाङ्गमन्त्रांस्ततः सुधीः ।

मातृकादेवी हृल्लेखेत्यमृतत्रयम् । दीपनं सर्वमन्त्राणामित्याह भगवान् शिवः" इति। *वायवीय संहितायां* "हंसन्यासस्तु तत्राद्यः प्रणवन्यास एव च। तृतीयोमातृकान्यासो ब्रह्मन्यासस्ततः परम् ॥ पञ्चमः कथ्यते सन्निर्न्यासः पञ्चाक्षरात्मकः। एतेष्वेकमनेकं वा कुर्यात्पूजादिकर्मस्वि"ति ॥ उक्तवक्ष्यमाणानां करन्यासमाह—*अनन्तरमङ्गुष्ठादिष्विति*। अनन्तरमित्यनेन मूलमन्त्रेण करशुद्धिः कर्त्तव्येत्युक्तम्। अतएव *लक्ष्मीपटलेवक्ष्यति*—"हस्तौ संशोध्य मन्त्रेणे"ति। *तदुक्तं*"व्यापय्याथोहस्तयोर्मन्त्रमन्तर्बाह्ये पार्श्वे तारुद्धं बुधेने"ति *अङ्गै*स्तत्तत्कल्पोक्त ङ्गमन्त्रैः। तत्र हृन्मन्त्रमुच्चार्य "अङ्गुष्ठाभ्यां नम" इत्यादिप्रयोगः। *तदुक्तमाचार्यैः*—"अङ्गुलीषु क्रमादङ्गैरङ्गुष्ठादिषु विन्यसेत्" इति। यद्यप्यस्मान्न नमस्कारान्तत्वं प्रतीयते तथापि तत्पद्यव्याख्यायां श्रीपद्मपादाचार्यैर्नमस्कारान्तत्वमुक्तमिति बोध्यम्। *सजातिभिरिति*। अग्रिमेण संबध्यते ॥ ३१ ॥

तत्तलयोरिति तच्छब्देन प्रकृतत्वात् अङ्गुलय उच्यन्ते। ताभिः करोलक्ष्यते। तलशब्देनान्तर्बाह्यमपि गृह्यते। तेनास्त्रमन्त्रमुच्चार्य "करतलकरपृष्ठाभ्यां नम" इति प्रयोगः। तदुक्तम् "अङ्गुष्ठाभ्यां नमो ह्रां ह्रीं तर्जनीभ्यां नमस्ततः। मध्यमाभ्यां नमो ह्रूं ह्रैं अनामाभ्यां नमस्ततः ॥ ॐ ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां च नमो हस्तलपृष्ठयारि"ति। *कुर्यात्तालत्रयेति*। अङ्गास्त्रविनियोगः। *तत्स्वरूपमुक्तमन्यत्र* "प्रसारिततलाभ्यां तु तालत्रयमुदीरितमि"ति। तालत्रयादिकमि*त्यादि*शब्दोक्तं विशदयति *दिश इति*। *तेनैवेत्य*स्त्रमन्त्रेण। *छोटिका* नाराचमुद्रारूपा। "अङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां स्फोटोनाराचमुद्रिके"ति तल्लक्षणात्। *समाहितं*। इत्यग्रिमेण संबध्यते तत्रैवं संबन्धः—

ततः समाहितः सुधीः जातिभिः *अङ्गमन्त्रान् हृदयादिषु* च *विन्यसेत्* इति। चकारोऽङ्गुष्ठादिषु इति पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः। *तत* इति वक्ष्यमाण तत्तत्कल्पोक्त. तत्तन्मन्त्रन्यासानन्तरमित्यर्थः। *यदाहुः*—"आदावृष्यादि विन्यासः करशुद्धिस्ततः परम्। अङ्गुलिव्यापकन्यासौ हृदादिन्यास एव च ॥ तालत्रयं च दिग्बन्ध" इति। *अन्यत्रापि*—"करन्यासं पुरा कृत्वा देहन्यासमतः परम्'। अङ्गन्यासं न्यसेत्पश्चादेष साधारणो विधिरि"ति। *आचार्या अपि*—पडङ्गन्यासान्तमुक्त्वा—"जपारम्भे मनूनां हि सामान्येयं प्रकल्पना" इति। *समाहितः सुधीरि* त्यनेन षडङ्गमुद्राः सूचिताः। *तदुक्तमागमान्तरे*—"प्रसारिततलेनैव पाणिना हृदयं शिरः। प्रोक्ता शिखा तथा सम्यगधोऽङ्गुष्ठेन मुष्टिना ॥ तथाविधाभ्यां पाणिभ्यां वर्म स्कन्धादिनाभिगम्। तर्जनीमध्यमानाभाः प्रोक्ताः नेत्रत्रये क्रमात् ॥ यदा नेत्रद्वये प्रोक्तं तदा तर्जनिमध्यमे" इति। अत्र प्रसारिततलेनेत्यत्र अङ्गुष्ठवर्जमङ्गुलीचतुष्टयेनेत्यर्थः। *तदुक्तम्*—"अङ्गुष्ठवर्जमङ्गुल्यश्चतस्रो हृदि मूर्द्धनि। शिखायां मुष्टिरेव स्यादङ्गुष्ठकृतनालिका ॥ सर्वाङ्गुलय आनाभेः पाण्योः कवचबन्धनम्",इति ॥ *शक्तिषडङ्गमुद्रास्तन्त्रान्तरे*—"हृदयं मध्यमाऽनामा तर्जनाभिः स्मृतं शिरः। मध्यमातर्जनीभ्यां स्यादङ्गुष्ठेन शिखा स्मृता ॥ दशभिः कवचं प्रोक्तं तिसृभिर्नेत्रमीरितम्। प्रोक्ताङ्गुलिभ्यामस्त्रं स्यादङ्गकरसिरियं मता" इति। *शैवषडङ्गमुद्राः*। शैवागमे* "कृतमुष्टिपदौ हस्तौ कृत्वाङ्गुष्ठौ हृदि न्यसेत्। हृन्मुद्रेयं समाख्याता शिरोमुद्रा प्रकीर्त्यते ॥ ललाटाग्रे समाधाय कृतमुष्टिपुटौ करौ। कुर्यादूर्ध्वप्रसक्ताग्रे तर्जन्यौ ज्येष्ठबाह्यतः ॥ करौ शिखायां संयोज्य कृतमुष्टिपुटाकृती।

हृदयाय नमः पूर्वं शिरसे वह्निवल्लभा ॥ ३३ ॥
शिखायै वषडित्युक्तं कवचाय हुमीरितम् ।
नेत्रत्रयाय वौषट् स्यादस्त्राय फडिति क्रमात् ॥ ३४ ॥
षडङ्गमन्त्रानित्युक्तान्षडङ्गेषु नियोजयेत् ।
पञ्चाङ्गानि मनोर्यस्य तत्र नेत्रमनुं त्यजेत् ॥ ३५ ॥
अङ्गहीनस्य मन्त्रस्य स्वेनैवाङ्गानि कल्पयेत् ।
तत्तत्कल्पोक्तविधिना न्यासानन्यान्समाचरेत् ॥ ३६ ॥
कल्पयेदात्मनो देहे पीठं धर्मादिभिः क्रमात् ।

ज्येष्ठावधः प्रसक्ताग्रौ कनिष्ठावूर्ध्वंतस्तथा ॥ कुर्यात्सेयं शिखा मुद्रा सर्वोपद्रवनाशिनी । कृत्वाङ्गुष्ठौ प्रसक्ताग्रौ तर्जन्यौ च त्रिकोणवत् ॥ मूर्ध्निच्न पश्चान्मुखं कृत्वा नयेदुभयपार्श्वतः । करौ हृदन्तं मुद्रेयं कवचस्याभयप्रदा ॥ कृत्वा नेत्रोन्मुखं हस्तं सक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठिकम् । प्रसार्य मध्यमां किंचिन्नमयेदितराङ्गुलिम् ॥ नेत्रमुद्रेयमुद्दिष्टा रक्षोभूतार्तिभञ्जिनी । परस्परतलद्वन्द्वं पुनरास्फोटयेद्भृशमि"ति ॥ *जातिभि*रित्युक्तेस्ताः का इत्यपेक्षायामाह—*हृदयायेति* । *पूर्वं* प्रथमो मन्त्रः । *शिरसे* एतदनन्तरं *वह्निवल्लभा* स्वाहेत्युच्चरेत् इत्यर्थः ३२॥॥३३॥

*नेत्रत्रयाये*त्युपलक्षणम् । तेन द्विनेत्रे विष्ण्वादौ नेत्राभ्यां वौषडिति प्रयोगः ॥३४॥

षडङ्गमन्त्रान् तत्तत्कल्पोक्ता*नित्येवं* प्रकारेणोक्तान्* जातिमन्त्रांश्च मिलित्वा षडङ्गेषु हृदयादिषु उक्तमुद्राभि*र्नियोजये*न्न्यसेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अङ्गेति । अङ्गहीनत्वं नाम नारायणाष्टाक्षरादिवन्मन्त्रोद्धाराभावः *स्वेनैवेति* आवृत्त्या च्छेदेन वा । एतेनाङ्गानामावश्यकत्वम् ॥ *यदाहुः*—"पूजाजपार्चना होमाः सिद्धमन्त्रकृता अपि । अङ्गविन्यासविधुरा न दास्यन्ति फलान्यमी" इति । *गौतमेन* षडङ्गकरणप्रयोजनमप्युक्तम् "इज्यमानो हृदात्मायं हृदये स्याच्चिदात्मकः । क्रियते तत्परत्वं तु हृन्मन्त्रेण ततः परम् ॥ सर्वज्ञादिगुणोत्तुङ्गे संविद्रूपे परात्मनि । क्रियते विषयाहारः शिरोमन्त्रेण धीमता ॥ हृच्छिरोरूपचिद्धामनियता भावना दृढा । क्रियते निजदेवस्य शिखामन्त्रेण सादरम् ॥ मन्त्रात्मकस्य देहस्य मन्त्रवाच्येन तेजसा । सर्वतो वर्ममन्त्रेण क्रियते नान्यसंवृतिः ॥ यद्ददाति परं ज्ञानं संविद्रूपे परात्मनि । हृदयादिमयं तेजः स्यादेतन्नेत्रसंज्ञकम् ॥ आध्यात्मिकादिरूपं यत् साधकस्य विनाशयेत् । अविद्याजातमस्त्रं तत् परं धाम समीरितमि"ति । पूर्वं तत इति मन्त्रन्यासानन्तरमिति व्याख्यातम् । तत्र को मन्त्रन्यास इत्यपेक्षायामाह—*तत्तदिति* । *न्यासान्*—मन्त्रन्यासान् । *एषामप्यावश्यकतोक्ताऽन्यत्र*—'न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः । न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत्" इति । *कुलप्रकाशतन्त्रेऽपि*—"आगमोक्तेन मार्गेण न्यासान् नित्यं करोति यः । देवताभावमाप्नोति मन्त्रसिद्धिश्च जायते ॥ अकृत्वा न्यासजातं यो मूढात्मा प्रभजेन्मनून् । सर्वविघ्नैश्च बाध्येत व्याघ्रैर्मृगशिशुर्यथा ॥ यो न्यासकवचच्छन्नो मन्त्रं जपति तं प्रिये । विघ्ना दृष्ट्वा पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजा" इति । *वायवीयसंहितायामपि*—"नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत् । नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः शिवमाप्नुयात्" इति । *ग्रन्थकृदपि*—"मन्त्राक्षराणि विन्यसेद्देवताभावसिद्धये" इति । एतेन यत्र मन्त्रे अक्षरन्यासो वाचनिको नोक्तस्तत्रापि कर्त्तव्य इत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

आत्मयागार्थं देहे पीठकल्पनामाह—*कल्पयेदिति* । आत्मनो देहे न्यस्तैर्धर्मादिभिः पीठं कल्पयेदित्यर्थः* । अत्र *क्रमादिति *अनेनैतदुक्तं भवति "मण्डूकाय नम" इत्याधारे "का-

अंसोरुयुग्मयोर्विद्वान्प्रादक्षिण्येन देशिकः ॥ ३७ ॥
धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं न्यस्य तु क्रमात् ।
मुखपार्श्वनाभिपार्श्वेऽधर्मादींश्च प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥
धर्मादयः स्मृताः पादाः पीठगात्राणि चापरे ।
अनन्तं हृदये पद्ममस्मिन्सूर्येन्दुपावकान् ॥ ३९ ॥
एषु स्वस्वकला न्यस्येन्नामाद्यक्षरपूर्विकाः ।
सत्त्वादींस्त्रीन् गुणान् न्यस्येत्तथैवात्र गुरूत्तमः ॥ ४० ॥
आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमत्र तु ॥
ज्ञानात्मानं प्र(च)विन्यस्य न्यस्येत्पीठमनुन्ततः ॥ ४१ ॥
एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम् ।
मुद्राः प्रदर्श्य विधिवदर्घ्यस्थापनमाचरेत् ॥ ४२ ॥

लाग्निरुद्राय नमः" इति स्वाधिष्ठाने । "कूर्माय नमः" इति नाभौ । ततो हृदि आधारशक्त्या-दिन्यासं कृत्वा पश्चाद्धर्मादिन्यास इति *यदाहुः*—"न्यस्येदाधारशक्तिप्रकृतिकमठशेषक्ष्मा-क्षीरसिन्धून् श्वेतद्वीपं च रत्नोज्ज्वलमहितमहामण्डपं कल्पवृक्षम्। हृद्देशे" इति। *अंसेति* *प्रादक्षिण्येन*दक्षिणावर्तक्रमेण *विद्वान् देशिक* इत्यनेन दक्षिणांसमारभ्य दक्षोरुपर्यन्तं न्यास इत्युक्तम् । अयं पक्षः सांप्रदायिकः । *तदुक्तमीशानशिवेन*—'आधाराख्यां यजे-च्छक्तिं हृदयेंऽसे च दक्षिणे । धर्मं ज्ञानं च सव्यांऽसे ऊर्वोर्वामान्ययोरपि ॥ वैराग्यसंज्ञमैश्व-र्यमि"ति । *क्रमादितु*त्तरेण संबध्यते *मुखेति* । अत्रापि प्रादक्षिण्येनेत्यनुषङ्गः । क्रमा-दित्यनेनैतदुक्तं—मुखं ततोवामपार्श्वं ततोनाभिस्ततोदक्षिणपार्श्वम् । *तदुक्तं* 'मुखे च वामपार्श्वे च नाभौ दक्षिणपार्श्वके । अधर्मं चाप्यथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरमि"ति । *ईशान-शिवेनोप्युक्तम्*—"अधर्मं वदने ततः । अज्ञानं सव्यपार्श्वे च नाभौ पार्श्वे च दक्षिणे । अवैरा-ग्यमनैश्वर्यमि"ति । *यत्त्वाचार्यवचनम्*—"आननाभिमूलपार्श्वद्वयैरि"ति । तदपि तट्टी-काकारैराननपार्श्वनाभिमूलपार्श्वैरित्येवं व्याख्यातम् । *अधर्मादीन्*—तानेव नञ्पूर्वा-नित्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अपर इति । अधर्मादयः। *अस्मिन्निति* अनन्ते । *पद्म*मिति । वक्ष्यमाणलक्षणम्। एतेन पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रत्याधारतोक्ता । *अस्मिन्* पद्मे *सूर्येन्दुपावकानिति* योज्यम् ॥३८॥

एष्विति त्रिषु मण्डलेषु नामादौ यदक्षरं कभादि आदि यादि तत्पूर्विकाः । तत्र-क्रमः । सूर्यमण्डलं विन्यस्य तत्र तत्कलाः । ततः सोममण्डलं तत्र तत्कला, स्ततो वह्निम-ण्डलं तत्र तत्कलाश्च न्यसेदिति । *तथैवेति* । पूर्वपूर्वस्योपरि । नामाद्यक्षरपूर्वकानिति—पदमे-वात्राकृष्यते तेन नाम्नोयदाद्यक्षरं तत्पूर्वकान्न्यसेदिति। अत्र *गुरूत्तम* इत्युत्तरेण संबध्यते। ततश्च "सं सत्त्वाय नमः" इत्यादि प्रयोगः । *तदुक्तम्*—"आद्याक्षरैः सत्त्वरजस्तमांसि" इति । एतच्च दिक्प्रदर्शनमात्रं पूर्वं सर्वत्र तथोक्तेः ॥ ४० ॥

अत्र परमात्मनि । *तु* शब्दो व्यतिरेके । तेनायमर्थः । आत्मादित्रयेष्वाद्यक्षरमेव बी-जम् । ज्ञानात्मनि तु मायाबीजमिति गुरूत्तमपदेनोक्तम् । *न्यस्येत्पीठमनुं तत* इत्यनेनैत-दुक्तं भवति—"मां मायातत्त्वाय नमः" "कं कलातत्त्वायनमः" "पं परतत्त्वाय नमः"। इत्यग्नादौ अष्टदलमूलेषु मध्ये च पीठशक्तिनवकं च न्यसेदिति । तदुक्तम् "मायातत्त्वं कलातत्त्वं विद्यात-त्त्वं परं तथा । विन्यस्य पीठशक्तीश्च ततः पीठमनुं न्यसेत्" ॥ इति । *अन्यत्रापि*—"अथा-ष्टदिक्षु परितो मध्ये च शक्तीर्नव न्यस्त्वापीठमहामनुं च विधिवत्तत्कर्णिकामध्यगमि"ति ॥४१॥

मुद्रा इति । तत्तद्विशेषमुद्रा स्तत्तत्कल्पोक्ताः । तास्तत्तत्पटले मया वक्ष्यन्ते । *विधि-

शङ्खमस्त्राम्बुना प्रोक्ष्य वामतोवह्निमण्डले ।
साधारं स्थापयेद्विद्वान् बिन्दुस्नु(च्यु)तसुधामयैः ॥ ४३ ॥
तोयैः सुगन्धिपुष्पाद्यैः पूरयेत्तं यथाविधि ।
आधारं पावकं शङ्खं सूर्यं तोयं सुधामयम् ॥ ४४ ॥
स्मरेद्वह्न्यर्कचन्द्राणां कलास्तास्तेष्वनुक्रमात् ।
मूलमन्त्रं जपेत्स्पृष्ट्वा न्यसेत्तस्याङ्गमन्त्रवित् ॥ ४५ ॥

चदिति* अनेनैतदनन्तरं मानसीं पूजां कृत्वा देवमभ्यर्थयेतेत्युक्तम् । तत्राभ्यर्थनमन्त्रः "ॐ स्वागतं देवदेवेश सन्निधौभव केशव । गृहाण मानसीं पूजां यथार्थपरिभाविताम्"ति ।

अत्र केशवेत्यत्र तत्तद्देवतानाम्नामूहः कार्यः । *तदुक्तं "इति ध्यात्वात्मानं पटु-विशदधीर्नन्दतनयं पुरोबुद्ध्यैवार्घ्यप्रभृतिभिरनिन्द्योपहृतिभिर्यजेदि"ति । *अन्यत्रापि*— "ध्यात्वा देवं प्रदर्श्याथ मुद्रा अपि विधानतः । पूजां च मानसीं कुर्यात् ततोऽर्घ्यस्थापनं चरेत्" इति ॥ ४२ ॥

अर्घ्यस्थापनमाचरेदित्युक्तं तद्विधिमाह *शङ्खमिति* । *वामतो* वामभागे स्वाग्रत इति ज्ञेयम् ॥ *यदुक्तम्* "आत्मनः पुरतः शङ्खमि"ति। *वह्निमण्डले* ऊर्द्ध्वाग्रे त्रिकोणे *साधारं शङ्ख*मित्यन्वयः *विद्वानिति* अनेनात्र वह्निमण्डल इत्युपलक्षणमित्युक्तम् । तेन त्रिकोणषट्कोण वृत्त चतुरस्ररूपे शङ्खमुद्रावष्टब्धे पूजितपडङ्गे इति ज्ञेयम् । "तदुक्तम्*" अग्रे त्रिकोणमालिख्य षट्कोणं च ततो बहिः । वर्त्तुलं चतुरस्रं च मध्ये मायां विलिख्य च । शङ्खमुद्रां प्रदर्श्याथ कोणदिक्ष्वङ्गपूजनमि"ति । *अन्यत्रापि* "त्रिकोण-षट्कोण वृत्त-चतुरस्राणि कारयेत् । शङ्खमुद्रामवष्टभ्य षडङ्गानि प्रपूजयेदि"ति । *बिन्दु* भ्रूमध्यम् । केचन ब्रह्मरन्ध्रमिति वदन्ति । तत्रचन्द्रमण्डलस्य सत्त्वादिति । *बिन्दुस्नुतसुधामयैरिति* जलध्यानम् । *यत्सोमशम्भौ* "बिन्दुप्रसूतपीयूषरूपतोयाक्षतादिना । हृदा पूर्वंषडङ्गेन पूजयित्वाऽभिमन्त्रयेदि"ति ॥ ४३ ॥

*पूरयेत्तं यथाविधीति*अनेनैतदुक्तं "बिन्द्वन्तां प्रतिलोममातृकां विलोममूलमन्त्रं च जपन्नि"ति । *तदुक्तं* "पूरयेद्विमलपाथसा सुधीरक्षरैः प्रतिगतैः शिरोऽन्तकैरि"ति । *आधारमिति* । आधारं पावकमण्डलत्वेन, शङ्खं सूर्यमण्डलत्वेन, तोयमिन्दुमण्डलत्वेन, तेषु मण्डलेषु तत्तत्कला अपि स्मरेत् । केचन पूजयन्त्यपि । तत्रप्रयोगः । स्ववामाग्रतः चतुरस्र-वृत्त-षट्कोण-त्रिकोण-मण्डलं कृत्वा शङ्खमुद्रयावष्टभ्य पुष्पाक्षतैः पूजाक्रमेण षडङ्गानि संपूज्य आधारमस्त्रमन्त्रेण प्रक्षाल्य "मं अग्निमण्डलाय दशकलात्मने अमुकार्घ्यपात्रासनाय नम" इति आधारं प्रतिष्ठाप्य पूर्वाद्यग्रेर्दशकलाः पूजयेत् । ततः शङ्खमन्त्रेण शङ्खं प्रक्षाल्य "अं सूर्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने अमुकार्घ्यपात्राय नमः" इति पात्रमाधारे निधाय प्रादक्षिण्येन द्वादशस्थानेषु सूर्यस्य द्वादशकलाः संपूज्य विलोममातृकां विलोमं मूलमन्त्रं च जपन् शुद्धोदकेन शङ्खमापूर्य "उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने अमुकार्घ्यामृताय नमः" इति संपूज्य सोमस्य षोडशकलास्तत्र प्रादक्षिण्येन पूजयेदिति । ततस्तत्र गङ्गेचेति मन्त्रेण सूर्यमण्डलादङ्कुशमुद्रया तीर्थमावाह्य स्वहृत्कमलाद्देवमभ्यावाहयेत् । "देशिको देवताधियेति" वक्ष्यमाणत्वात् । *तदुक्तम्* "तत्र तीर्थमनुनाभिवाहयेत्तीर्थमुष्णरुचिमण्डलात्पुनः । स्वीयहृत्कमलतोहरिं तथे"ति । अङ्कुशमुद्रालक्षणं स्नानप्रसङ्गे उक्तम् । यद्दैयमङ्कुशमुद्रा । *यदाहुः* "ऋजुमध्या मध्यपर्वाक्रान्ता तर्जन्यधोमुखी । विज्ञेयाङ्कुशमुद्रेयं कुञ्चिता मध्यपर्वतः ॥ इति । *स्पृष्ट्वेति* । अप इति सम्बध्यते । *न्यसेदिति* । अप्स्विति सम्बन्धः *तस्येति* ।

मूलमन्त्रेणाभिसम्पूज्य हस्ताभ्यां छादयञ्जपः ।
जपेद्विद्यां यथान्यायं देशिको देवताधिया ॥ ४६ ॥
अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य च ।
धेनुमुद्रां समासाद्य रोधयेत्तत्स्वमुद्रया ॥ ४७ ॥
दक्षिणे प्रोक्षणीपात्रमाधायाद्भिः प्रपूरयेत् ।
किञ्चिदर्घाम्बु संगृह्य प्रोक्षण्यंभसि योजयेत् ॥ ४८ ॥
अर्घस्योत्तरतः कार्यं पाद्यं साचमनीयकम् ।
आत्मानं यागवस्तूनि मण्डलं प्रोक्षयेद्गुरुः ॥ ४९ ॥
प्रोक्षणीपात्रतोयेन मनुनान्यदपि क्रमात् ।

मूलमन्त्रस्य । अङ्गविदिति* अनेन वक्ष्यमाणदिक्क्रमपूजनेनैव ।न्यास इत्युक्तम् ॥ ४४ ॥ ४५॥

अभिसंपूज्येति । अप इति सम्बन्धः । *हस्ताभ्यां छादयन् । देशिक* इत्यनेन मत्स्यमुद्रयेत्युक्तम् । *तल्लक्षणंतु*"अधोमुखावुभौ हस्तौ स्वस्योपरि च संस्थितौ । पार्श्वद्वयगताङ्गुष्ठौ मत्स्यमुद्रेयमीरिते"ति ॥ अत्र मूलमन्त्रविद्याशब्दाभ्यामेवमादिविधौ पुंस्त्रीदेवताकत्वमविवक्षितमित्युक्तम् । अन्यथैकग्रहणे इतरग्रहणं न स्यात् । *यथान्यायमिति* । सप्तकृत्वोऽष्टकृत्वो वा । इयं संख्या पूर्वमपि ज्ञेया । तदुक्तम् "संस्पृशन् जपतु मन्त्रमङ्कुश" इति ॥ ४६ ॥

संरक्ष्येति तदिति सम्बन्धः । तच्च संरक्षणं छोटिकाभिरिति ज्ञेयम् । *अवगुण्ठयेति*अत्रापि तदिति सम्बध्यते । तच्चावगुण्ठनमुद्रया । *समासाद्ये*त्यमृतबीजेन । *स्वमुद्रयेति* सन्निरोधिन्या । अत्रावगुण्ठनधेनुसन्निरोधमुद्राख्ययोर्विंशे वक्ष्यन्ते । ततः शङ्खोपरि शङ्ख-मुसलचक्र-महामुद्रा-योनिमुद्राः प्रदर्शयेत् । *यदाहुः* "चिन्मयं चिन्तयेत्तीर्थमानीयाङ्कुशमुद्रया । ब्रह्माण्डोदरतीर्थेभ्यो धेनुमुद्रां प्रदर्श्य च ॥ शङ्खमुद्रां चक्रमुद्रां मुसलाख्यां च दर्शयेत् । परीकृत्य यत्नेन गुह्याख्यं चैव दर्शयेत्" इति । कृष्णमन्त्रे गालिनीप्रदर्शनं, राममन्त्रे गरुडमुद्राप्रदर्शनमित्यादि विशेषोऽनुसन्धेयः । शङ्खमुद्रालक्षणमुक्तं प्राक् । अन्यासां लक्षणानि तु "मुष्टिं कृत्वा तु हस्ताभ्यां वामस्योपरि दक्षिणम् । कुर्यान्मुसलमुद्रेयं सर्वविघ्नप्रणाशिनी"ति । "मिथः कनिष्ठिके बध्वा तर्जनीभ्यामनामिके । अनामिकोर्ध्वगाश्लिष्टदीर्घमध्यमयोरधः ॥ अङ्गुष्ठाग्रद्वयं न्यस्येद्योनिमुद्रेयमीरिते"ति ॥ "विपर्यस्ते तले कृत्वा वामदक्षिणहस्तयोः । अङ्गुष्ठौ ग्रथयेच्चैव कनिष्ठानामिकान्तरे ॥ चक्रमुद्रेयमुद्दिष्टा सर्वसिद्धिकरी शुभे"ति ॥ महामुद्रालक्षणं त्रयोविंशे वक्ष्यते "कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरम् । तर्जनीमध्यमानामाः संहताः भुग्नसज्जिताः ॥ मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शङ्खस्योपरि चालिते"ति । "हस्तावभिमुखौ कृत्वा रचयित्वा कनिष्ठिके । मिथस्तर्जनिके श्लिष्टे श्लिष्टावङ्गुष्ठकौ तथा ॥ मध्यमानामिके द्वे तु द्वौपक्षाविति कुञ्चयेत् । एषा गरुडमुद्रास्यादशेषविषनाशिनी" इति ॥ ४७ ॥

*दक्षिणइति । *पात्रं* ताम्रादिजं, *यदाहुः*"रात्नं रौक्मं. रौप्यमब्जं ताम्रं सुदारुपैत्तलम् । पाद्यं पालाशमुत्कृष्टान्यमत्राण्यच्युतार्चने ॥ सर्वोत्कृष्टौ ताम्रशङ्खावर्घाय।बुजोऽतिशस्यते" इति ॥ ४८ ॥

*अर्घ्यस्ये*त्यर्घ्यपात्रस्य शक्तौ सति एतानि भिन्नानि भिन्नानि । अशक्तौएकेनैव सर्वं, *यदाहुः* "एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यार्घ्यादीनि कल्पयेत्" इति ॥ ४९ ॥

मनुनेति मूलमन्त्रेण *प्रोक्षयेदिति* सम्बन्धः । इदंच सामान्यविधानम् । अन्यत्र तु मन्त्रविशेषे प्रोक्षणमन्त्र उक्तस्तत्र तेनैव प्रोक्षणमिति ज्ञेयम् । *गुरु*रित्यनेनेदं प्रोक्षणं त्रिरित्युक्तं भवति । *यदाहुः*"प्रोक्षयेन्निजतनुं ततोऽमुना त्रिः करेणमनुनाऽखिलं तथा । साधनं कुसुमचन्दनादिकमि"ति । अन्यान्यपि यागवस्तूनि,पूजाद्रव्याणि *क्रमात्प्रोक्षयेदि*ति सम्बन्धः ।

न्यासक्रमेण देहे स्वे धर्मादीन्पूजयेत्ततः ॥ ५० ॥
पुष्पाद्यैः पीठमन्त्रान्तं तस्मिंश्च परदेवताम् ।
पञ्चकृत्वः पुनः कुर्यात्पुष्पाञ्जलिमनन्यधीः ॥ ५१ ॥
तत्तदङ्गे हृदाद्यारेपादेः सर्वाङ्गके क्रमात् ।
विना निवेद्यं गन्धाद्यैरुपचारैः समर्चयेत् ॥ ५२ ॥
गुरूपदिष्टविधिना शेषमन्यत्समापयेत् ।
सर्वमेतत् प्रयुञ्जीत प्रोक्षणीस्थेन वारिणा ॥ ५३ ॥

आन्तरयागमाह *न्यासेति* । तदुक्तं "द्विविधं स्यात्कृष्णमनोर्बाह्यान्तरमुपासनम् । न्यासिनां चान्तरं प्रोक्तमन्येषामुभयं *तथे"ति* । *वायवीयसंहितायामपि* "आदावभ्यन्तरे यागमग्निकार्यावसानकम् । विधाय मानवः पश्चाद्वहिर्यागं समाचरेत्" इति । *तथा संहितायां शम्भुवाक्यमपि* "न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेहच मङ्गलम् । प्राप्नोति चन्द्रवदने दानहोमादिभिर्विना ॥ गृहस्थो यदि दानादि दद्याच्च जुहुयादपि । पूजयेद्विधिनानेव कः कुर्यादेतदन्वहम् ॥ न ब्रह्मचारिणो दातुमधिकारोऽस्ति भामिनि । गुरुभ्योऽपि च सर्वेभ्यः कोवा दातव्यमपेक्षितम् ॥ नारण्यवासिनां शक्तिर्नैते सन्ति कलौ युगे । परिव्राट् ज्ञानमात्रेण दानहोमादिभिर्विना ॥ सर्वदुःखपिशाचेभ्यो मुक्तो भवति नान्यथा । परिव्राडविरक्तश्च विरक्तश्च गृही तथा । कुम्भीपाके निमज्जेते द्वावुभौ कमलानने । पुण्याः स्त्रियो गृहस्थाश्च मङ्गलैर्मङ्गलार्थिनः । पूजाप्रकरणैः कुर्युर्दानानि चार्हणाम् । वानप्रस्थाश्च यतयोऽप्येवं कुर्युरन्वहम् ॥ संसारान्न निवर्त्तन्ते विव्यतिक्रमदोषतः । आरूढपतितावेते भवेयुर्दुःखभाजनमि"ति । अत्र *न्यासक्रमेणे*त्यनेनं तदुक्तं भवति । मण्डूककालाग्निरुद्रकूर्मान् आधारत्वाधिष्ठानतामिदेशे । ततः आधारशक्त्यादि । पश्चाद्धर्मादीनष्टौ यथास्थानं संपूज्य पुनर्हृदि शेषादिपरतत्वान्ता पूजा । *तदुक्तं रामपूर्वतापिनीये* "मायाविद्ये ये कलापरतत्त्वे सम्पूजयेद्विमलादीश्च शक्तीरि"ति ॥ ४९ ॥ ५० ॥

पुष्पाद्यैरिति। पुष्पस्याद्यं गन्धं बहुवचनमाद्यर्थं तेन गन्धाद्यैरित्यर्थः । एतादृशयुक्तिस्तु आदिशब्देन पुष्पमात्रग्रहणार्था । यद्वा पुष्पाणि च आद्यो गन्धश्च पुष्पाद्यः । उपचारेषु गन्धानन्तरं पुष्पस्योद्दिष्टत्वात् । *पीठमन्त्रान्तमिति* । पीठशक्तिपीठमन्त्रपर्यन्तमित्यर्थः । *तस्मिन्निति* । एवंभूते देहमये पीठे *परदेवतां* गन्धाद्यैरुपचारैस्समर्चयेदिति* अग्रिमेण संबन्धः । *आद्येन* पुष्पम् । तत्र विशेषमाह—*पञ्चेति* । अनन्यधीरित्यनेन त्रिशोवेत्युक्तम् । *तदुक्तमाचार्यैः*—कुर्यात्पुष्पाञ्जलिमपि निजदेहे पञ्चशोऽथवाऽपि त्रिशः" इति । *विनानिवेद्यमिति* । अस्यायमभिप्रायः । आसनादिदीपान्तानुपचारान् प्रदर्श्य बाह्ये नैवेद्यं न देयम् । ततो गुरूपदिष्टविधिना कुण्डलिनीमुत्थाप्य द्वादशान्तं नीत्वा तत्रत्यशिवेन समागमय्य तदुत्थामृतधारया देवं प्रीणयेदिति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

गुरूपदिष्टेति । *अन्यच्छेषं* मानसौ धूपदीपौ मन्त्रजपः जपनिवेदनं ब्रह्मार्पणं क्षमापनादि विसर्जनवर्जम् । *यदाहुः* "ध्यात्वा यजेच्चन्दनाद्यैर्मानसैर्धूपदीपकैः । भोजनावसरे किंचित्स्वल्पं कृत्वा निवेदयेत्" इति । अशक्तं प्रत्याह—*सर्वमिति* । नत्वा गुरूनित्यादि एतदन्तं नित्यपूजायामपि समानम् । विशेषस्त्वयं नित्यपूजायामेतच्छङ्खजलमेव वर्द्धन्यां क्षिपेत् इति । ततः प्राणायामत्रयं कृत्वा अष्टोत्तरसहस्रं नित्यजपं कृत्वा पुनः प्राणायामत्रयं कुर्यात् । किंच नक्षिपेत्तु वर्द्धनीजले इति पुरतो जपस्य परतोऽपि विहितमध्ये(च)तत्त्रयं बुधैरि"ति चोक्तः । तदुक्तं मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—"अष्टोत्तरसहस्रं तु कृत्वान्तर्यागमादरात् । जपेत् प्रतिदिनं यस्तु नित्यएव जपः स्मृतः ॥ अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । द्वादश्यां पूर्णि-

विसृज्य तोयं प्रोक्षण्याः पूरयेत्तां यथा पुरा।
ततस्तन्मण्डलं मन्त्री गन्धाद्यैः साधु पूजयेत् ॥ ५४ ॥
शालिभिः कर्णिकामध्यमापूर्योपरि तण्डुलैः।
अलंकृत्य पुनस्तेषु दर्भानास्तीर्य तन्त्रवित् ॥ ५५ ॥
कूर्चमक्षतसंयुक्तं न्यसेत्तेषामथोपरि।
आधारशक्तिमारभ्य पीठमन्त्रमयं यजेत् ॥ ५६ ॥
अधः कूर्मशिलारूढां शरच्चन्द्रनिभप्रभाम्।
आधारशक्तिं प्रयजेत्पङ्कजद्वयधारिणीम् ॥ ५७ ॥

मायां च तेषु नैमित्तिको जपः। नित्याञ्चिगुणितः सोऽथ पूजाचैव हरेस्तथे"ति ॥ ९३ ॥

आन्तरं यागमुक्त्वा बहिर्यागमाह—*तत* इति। ततस्तदनन्तरं मन्त्री साधु शोभनं, शोभनत्वेन सर्वतोभद्रत्वमुक्तम्। *मडलं* वेदिमध्यलिखितं सर्वतोभद्रमण्डलं *गन्धाद्यैः पूजयेदिति* सम्बन्धः। आद्यशब्देन पुष्पम्। मन्त्रीत्यनेन "श्रीसर्वतोभद्रमण्डलाय नमः" इति पूजामन्त्रः सूचित इति ज्ञेयम् ॥ ५४ ॥

शालिभिरिति। *उपरि*शाल्युपरि।*तण्डुलैरलङ्कृत्य* तण्डुलां स्तत्र निःक्षिप्येत्यर्थः। *पुनः* अनन्तरं, *तेषु* तण्डुलेषु। तत् प्रमाणमन्यत्रोक्तम्। "शालींस्तु कर्णियां च निःक्षिप्याढकसंमितान्। तण्डुलांश्च तदष्टांशान् कूर्चं चोपरि विन्यसेत्" इति। *आढकलक्षणंतु*"कुडवश्चतुः पलं स्यात् प्रस्थः कुडवैश्चतुर्भिः स्यात्। प्रस्थैश्चतुर्भिराढक" इति। *तदष्टांशानिति*। कुडवद्वयमितान्। सप्तविंशतिसाग्रदर्भपत्रमयं वेण्याकारेण ग्रथितं विष्टरापरपर्यायं कूर्चम्। *तदुक्तंडामरे*—"सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता। विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्त्तितमि"ति। अत्र आत्मसादितत्वत्रयेण देवं संपूज्य बाह्यपूजामारभेतेति सम्प्रदायविदः। *आधारशक्तिमिति*।अत्र प्रथमं गुरुर्गणपतिपूजनं कुर्यात्।तदुक्तं "वायव्यांसा(१)दीशपर्यन्तमर्च्या पीठस्योदग्गौरवीपङ्क्तिरादौ। पूज्योऽन्यत्राप्याम्बिकेयः कराब्जैः पाशं दन्तं स्रग्यभीती दधान" इति।*अन्यत्रापि* "पीठस्योत्तरभागे गुरुपङ्क्तिं पूजयेच्च मन्त्रिवरः। यावद्रीशकोणं वायोः कोणं समारभ्य ॥ अथ गुरुपरमगुरू द्वौ परमेष्ठिगुरुं तथाऽभ्यर्च्य। परमाचार्यगुरुंचादिसिद्धगुरुमथार्चयेत्स्वगुरुमि"ति। अत्र परमाचार्यगुर्वनन्तरं परापरगुरुः परमसिद्धगुरुरपिज्ञेयः ॥ तेषां ध्यानं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे उक्तम्* "श्वेताम्बरधरा गौरा गुरवः पुस्तकान्विताः। व्याख्यानमुद्रया युक्ता ध्यायन्तो वा हरिं निजम् ॥ ध्यातव्याः पूजनादौ च तद्ध्यानाज् ज्ञानवान् भवेत्" इति। *शाक्तादौतु विशेषस्तन्त्रान्तरे* "ते रक्तमाल्याम्बरगन्धभूषिताः सालङ्कृताः पङ्कजविष्टरस्थाः। सर्वे च सालम्बनयोगनिष्ठाः प्राप्ताखिलैश्वर्यगुणाष्टकार्था" इति। तत्र "श्रीगुरुभ्यो नम" इत्यादिप्रयोगः। देवं गुरून्गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताः। सिद्धं सिद्धाधिवासांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत्" इत्युक्तेः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

अर्चयेदित्युक्तं तदेवाह—*अध इति*। अनेनैतदुक्तं भवति। कर्णिकायां महाकायं रक्तमण्डूकं "मण्डूकाय नम" इति यजेत्। तदूर्ध्वं दशभुजं पञ्चवक्त्रं रक्तकृष्णदक्षिणवामपार्श्वं कालाग्निरुद्रं "कालाग्निरुद्राय नम" इति। तदुपरि महाकायं कूर्मं "कूर्माय नम" इति। *तदुक्तं शौनककल्पे*—"मण्डूकादिपृथिव्यादिकर्णिकायां यजेत् क्रमादि"ति। *नारसिंहकल्पेऽपि* "पद्मेऽष्टपत्रे मण्डूकं परतत्त्वान्तमर्चयेत्" इति। *कूर्मशिलेति* कूर्माकारा शिला कूर्मशिला तामारूढां, पूर्वं पूजितः कूर्म एव कूर्मशिलेतिज्ञेयम्। वक्ष्यमाणस्तु कूर्मस्तद्भिन्न एव।

(१) अंसाद्विभागात "अंसः स्कन्धे विभागे स्यादि"तिहै"

मूर्द्धिन तस्याः समारूढं कूर्मं नीलाभमर्चयेत् ।
ऊर्ध्वं ब्रह्मशिलासीनमनन्तं कुन्दसन्निभम् ॥ ५८ ॥
यजेच्चक्रधरं मूर्द्धिन धारयन्तं वसुन्धराम् ।
तमालश्यामलां तत्र नीलेन्दीवरधारिणीम् ॥ ५९ ॥
अभ्यर्च्चयेद्वसुमतीं स्फुरत्सागरमेखलाम् ।
तस्यां रत्नमयं द्वीपं तस्मिंश्च मणिमण्डपम् ॥ ६० ॥
यजेत्कल्पतरूंस्तस्मिन्साधकाभीष्टसिद्धिदान् ।
अधस्तात्पूजयेत्तेषां वेदिकां मण्डपोज्ज्वलाम् ॥ ६१ ॥
पश्चादभ्यर्चयेत्तस्यां पीठं धर्मादिभिः पुनः ।
रक्तश्यामहरिद्रेन्द्रनीलाभान्पादरूपिणः ॥ ६२ ॥
वृषकेसरिभूतेभरूपान् धर्मादिकान्यजेत् ।
गात्रेषु पूजयेत्तांस्तु नञ्पूर्वानुक्तलक्षणान् ॥ ६३ ॥
आग्नेयादिषु कोणेषु दिक्षु चाथाम्बुजं यजेत् ।
आनन्दकन्दं प्रथमं संविन्नालमनन्तरम् ॥ ६४ ॥

तदुक्तं *तापिनीये*—"शक्तिं साधाराख्यकां कूर्मनागावि"ति । शरच्चन्द्रस्येत्यस्यार्थः पूर्ववज्ज्ञेयः ॥ ५७ ॥

ब्रह्मशिलेति । मूलप्रतिमाधस्तनशिलायाः संज्ञा । *तदुक्तं वायवीयसंहितायां* "शोधितां चन्दनालिप्तां श्वभ्रे ब्रह्मशिलां क्षिपेत् । रत्नन्यासं ततः कृत्वा नवभिः शक्तिनामभिः ॥ हरितालादिधातूंश्च बीजं गन्धौषधीरपि । शिवशास्त्रोक्तविधिना क्षिपेद्ब्रह्मशिलोपरि" इत्यादिना "लिङ्गं ब्रह्मशिलोपरि । प्रागुदक्प्रवणं किंचिदि"त्यन्तेन । *अनन्तमिति*। "नाभ्यूदूर्ध्वं नराकृतिमधस्त्वह्याकृतिमेककुण्डलं सहस्रफणमि"ति तत्स्वरूपम् । *अन्यत्र तद्ध्यानमुक्तं* "द्वात्रिंशद्भिः खलु तत्त्वैर्धराद्यै विद्यान्तैः स्वैर्म्महितं विष्णुतेजः । आनन्त्यं तत्कथितं ह्यासनं स्यात्पीठाकारः स तु नागो ह्यनन्त इति । *अन्यत्रापि* 'तत्त्वैर्धरादिविद्यान्तैर्द्वात्रिंशत्संख्यकैरिह । पीठाकारो ह्यनन्तः स्यादनन्तासनमीरितमि"ति ॥ ५८ ॥

नीलेन्दीवरे धारयतीति समासः । वक्ष्यति "इन्दीवरे द्वे" इति ॥ ५९ ॥

स्फुरत्सागरमेखलामिति अनेन पृथिव्यनन्तरं "सागराय नम" इति समुद्रः पूज्य इत्यर्थः । तत्र सरस्वतीमन्त्रे विद्याब्धिः । लक्ष्मीविष्णुमन्त्रेषु क्षीराब्धिः । गणेशमन्त्रे इक्षुरसः समुद्रः । अन्यत्रामृतसमुद्र इत्यादि ज्ञेयम् । *तस्यां* विशिष्टायाम् ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

वृषेति । केसरीसिंहः । भूतो देवयोनिः । *तत्स्वरूपमुक्तमन्यत्र* "रक्तवस्त्रधराः कृष्णनखदंष्ट्राः सुदंष्ट्रिकाः । कर्त्रीखट्वाङ्गहस्ताश्च राक्षसा घोररूपिणः॥भूतास्तथैव दीनास्या" इति। इभोहस्ती । *नञ्पूर्वान्* अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यान् । *उक्तलक्षणानिति* । रक्तादिवर्णान् वृषादिरूपान्। *उक्तं च* "धर्मं रक्तं वृषरूपं च सिंहं ज्ञानं श्यामं दुष्टभूतं तु पीतम् । वैराग्यं स्याद्गजरूपासिताङ्गमैश्वर्यं च क्रमतः पीठपादाः ॥ पीठे शेषाःस्युरधर्मादयोये चत्वारस्तेह्युदिताकाररम्या" इति ॥ ६३ ॥

आग्नेयादिष्विति । आदिशब्देन निर्ऋतिवायव्यीशकोणाः । *दिक्षु* प्राक्दक्षिणपश्चिमोत्तरासु । चः समुच्चये । "आशाश्चतस्रो लभ्यन्ते दिक्शब्देन वृषादय" इति परिभाषणात् । *वायवीयसंहितायामपि* "अधर्मादींश्च पूर्वादीनुत्तरान्तानुक्रमात्" इति । इह देवतापुरोभागस्य पूर्वत्वमित्याचार्याः । *तथाचागमे* "देवसाधकयोरन्तः पूर्वा सा दिगिहोच्यते"

सर्वतत्त्वात्मकं पद्ममभ्यर्च्य तदनन्तरम् ।
मन्त्री प्रकृतिपत्राणि विकारमयकेसरान् ॥ ६५ ॥
पाञ्चशब्दबीजवर्णाढ्यां कर्णिकां पूजयेत्ततः ।
कलाभिः पूजयेत्सार्द्धं तस्यां सूर्येन्दुपावकान् ॥ ६६ ॥
प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरथ सत्त्वादिकान् गुणान् ।

इति । *अन्यत्रापि* । "देवाग्रे स्वस्य चाप्यग्रे प्राचीप्रोक्ता तु देशिकैः । प्राच्येव प्राचीचोद्दिष्टा मुक्त्वा तु देवतार्चनमि"ति । *तन्त्रान्तरेऽपि* "यत्रैव भानुस्तु वियत्युदेति प्राचीति तां वेदविदो वदन्ति । तथाऽपरापूजकपूज्ययोश्च सदागमज्ञाः प्रवदन्ति तां तु" इति । *अन्यत्रापि द्वारपूजावसरे* "देवस्य मुखमारभ्य दिशं प्राचीं प्रकल्पयेत् । तदादि परिवाराणामङ्गाद्यावरणस्थितिरि"ति । अत्र युक्तिरपि । देहे पीठदेवतान्यासावसरे मुखे अधर्मन्यास उक्तः । स चाग्रभागः । महागणपतिपूजावसरे *ग्रन्थकृदपि* "त्रिकोणबाह्ये पूर्वादिचतुर्दिक्षु समर्चये-दि"त्युक्त्वा "अग्रस्थबिल्ववृक्षाध" इत्युक्तवान् । तथा *रामपूजायां* द्वितीयावरणे "हनूमन्तं ससुग्रीवमि"त्युक्त्वा पुनराह "वाचयन्तं हनूमन्तमग्रतोधृतपुस्तकमि"ति । अन्यच्च उत्तराभिमुखत्वेनापि पूजा विहिता । कर्मान्तरे च प्रतीच्यभिमुखत्वेन च । तत्र च अधर्मादिपूजनमङ्गादिपूजनं च कदाचित् क्रमान्तरेण स्यात अन्यदा क्रमेणस्यादिति विरुद्धं । *तन्त्रान्तरेच* "होतुः पूर्वं पूर्वभागं प्रनिष्टं सव्यं भागं दक्षिणं त्वागमज्ञैः । दक्षं विद्यादुत्तरं भागमन्यं प्रज्ञावद्भिः पश्चिमं भागमुक्तमि"ति । *नृसिंहकल्पे च* "अथावरणपूजास्य पुरःप्राचीं प्रकल्पयेत्।तदादि परिवाराणां प्रादक्षिण्येन पूजनमि"ति।* नारायणीयेऽपि* "शक्तीरग्रादिपत्रेषु लक्ष्म्याद्या धृतचामरा" इति । अतएव पीठशक्तिपूजने अग्रदलाद्वीनि व्याख्यास्यन्ते । तेनोदङ्मुखपूजादावपि स्वाग्रभागस्य पूर्वत्वमाकल्प्य धर्मादिपूजनमङ्गादिपूजनमिति ज्ञेयम् । तेन यन्त्रादावपि दलेष्वक्षरलेखने अग्रदलात्प्रभृति लिखनीयमिति ज्ञेयम् । इयं दिक् चरार्चायाम् । *अथाम्बुजं यजेदिति* वक्ष्यमाणक्रमेण । अत्राम्बुजात्पूर्वं-"मनन्ताय नमः" इत्यनन्तं पूजयेदित्यथशब्देनोक्तं—"हृदथ शेषमब्जमि"ति शरीरे न्यासावसरे ग्रन्थकृदप्युक्तवान् । अनन्तं हृदये पद्ममस्मिन्निति ॥ ६४॥ ६५ ॥ ½ ॥

कलाभिरिति । तत्र द्वादशकलात्मकसूर्यमण्डलाय, षोडशकलात्मकचन्द्रमण्डलाय, दशकलात्मकवह्निमण्डलायेति केचन कलाभिः सार्द्धमित्यस्यार्थं व्याचक्षते । अन्येत्वन्यथा वर्णयन्ति । द्वादशकलादित्वमनुक्तमपि लभ्यते । तेन सूर्यमण्डलं संपूज्य तत्र द्वादशकलाः । ततः सोममण्डलं तत्षोडशकलास्ततः अग्निमण्डलं तद्दशकलाः पूजयेत् इति । अयं सांप्रदायिकः पक्षः । *तस्यामिति* ।कर्णिकायाम्।*प्रणवस्येति*।प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णै रकारोकारमकारैः । कलाभिः सार्द्धं सूर्येन्दुपावकान्यजेदिति सम्बन्धः । तदुक्तं "सूर्येन्दुवह्नीन् प्रणवांशयुक्तान्" इति । एतेन तत्तन्मण्डलाधिष्ठात्रीदेवताः ब्रह्मविष्ण्वीशास्तत्तन्मण्डले पूजनीया इति सूचितम् । यदाहुः—"सौरेबिम्बे चतुरास्यः किरीटी हंसे सौम्यं कलशं चाक्षमालाम् । ब्रह्मा बिभ्रत् वरदं चाभयाख्यं हस्तैर्ध्येयः सितदस्रश्चतुर्भिः ॥ सौम्ये बिम्बे गरुडे मेघनीलश्चक्रं शङ्खं सद्गदाब्जं दधानः । हारी माली कटकी सत्किरीटी विष्णुः पीतं वसनं कौस्तुभं च ॥ अग्नेर्बिम्बे वृषभे चन्द्रमौलिः श्वेतो रुद्रो दशबाहुस्त्रिनेत्रः । टङ्कैणाग्नित्रिशिखाद्य(?)त्कपालमुद्राक्षस्रग्वरदाभीतिपाणिरि"ति । अन्यत्राऽपि-"ब्रह्मविष्ण्वीश्वरास्त्वर्च्याः क्रमाद्वैमण्डलत्रय" इति ॥६६॥

अथ सत्त्वादिकानिति । शुक्लरक्तकृष्णरूपान् । तदुक्तं "सितरक्तासिताः प्रोक्ता गुणाः पीठोपरिस्थिता" इति । *विधिवदिति* अनेनैतदुक्तं भवति एतदनन्तरं माया कला विद्या परतत्त्वानि संपूजयेदिति । "आत्मादिपरतत्वान्तमिष्ट्वा शक्तीः प्रपूजयेदि"त्युक्तेः । *ईश्वर-

आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमर्चयेत् ॥ ६७ ॥
ज्ञानात्मानं च विधिवत्पीठमन्त्रावसानकम् ।
पीठशक्तीः केसरेषु मध्ये च स्वराभयाः ॥ ६८ ॥
हेमादिरचितं कुम्भमस्त्राद्भिः क्षालितान्तरम् ।
चन्दनागुरुकर्पूरधूपितं शोभनाऽऽकृतिम् ॥ ६९ ॥
आवेष्टिताऽङ्गं नीरन्ध्रं तन्तुना त्रिगुणात्मना ।
अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैः कूर्चाक्षतसमन्वितम् ॥ ७० ॥
नवरत्नोदरं मन्त्री स्थापयेत्तारमुच्चरन् ।
ऐक्यं संकल्प्य कुम्भस्य पीठस्य च विधानवित् ॥ ७१ ॥

सीमन्त्रप्रकाशेऽपि* "सत्त्वं रजः शार्वरसंज्ञकं च बिम्बानि चार्केन्दुहुताशनानाम् । सत्पूर्वभेदात्मचतुष्टयान्ते विद्यादिकं तत्त्वचतुष्टयं च"इति । *वायवीयसंहितायामपि* "त्रिमण्डलोपर्यात्माद्तित्त्वत्रितयमासनमि"ति ॥ *पीठमन्त्रावसानकमिति* । अनेनाक्षिप्तानां पीठशक्तीनां पूजास्थानमाह—*पीठेति* । *केसरेषु* पूजितपद्मकेसरेषु । तत्र अग्रदलादि अष्टसु प्रादक्षिण्येन मध्ये च पीठशक्तिपूजांकृत्वा पीठमन्त्रपूजनमित्यर्थः । "असन्देनाविशेषोक्तौ क्रमः सर्वत्र गृह्यते" इति परिभाषणात् ॥ अतएव देहे पीठदेवतान्यासावसरे पीठशक्तिन्यास उक्तो मया । पीठशक्तयः पीठमन्त्राश्च तत्तन्मन्त्रे वक्ष्यन्ते । *स्वराभया इति* ध्यानम् । आसां वर्णा अप्युक्ताः *आचार्यैः* "श्वेता कृष्णा रक्ता पीता श्यामाऽनलोपमा शुक्ला । अञ्जनजपासमानतेजोरूपाश्च शक्तयः" प्रोक्ता" इति । मण्डूकादि एतदन्तं नित्यपूजायामपि समानम् ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

एवं पूजिते पीठे कुम्भस्थापनमाह *हेमादीति* । आदिशब्देन राजत ताम्र मृन्मयाः शक्त्यनुसारेण ज्ञेयाः । *कुम्भं* कलशं, तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे* "सौवर्णं कलशं रूप्यं रौप्यं ताम्रमथापि वा । निर्दोषं मृन्मयं वापि चन्दनेन विलेपितमि"ति । *अन्यत्रापि* "सौवर्णं राजतं वापि मार्त्तिकं वा यथोदितम् । क्षालयेदस्त्रमन्त्रेण कुम्भं सम्यक्सुरेश्वरि" इति । अन्यत्र कलश-शब्दव्युत्पत्तिः प्रमाणं चोक्तम् "कलां कलां गृहीत्वा वै देवानां विश्वकर्मणा । निर्मितोऽयं सुरैर्यस्मात् कलशस्तेन उच्यते ॥ पञ्चाशदङ्गुलव्यास उत्सेधः षोडशाङ्गुलः । कलशानां प्रमाणं तु मुखमष्टाङ्गुलं भवेत्" इति । *पद्मपादाचार्यैस्तु* कलाः शेरतेऽत्र इति व्युत्पत्तिः कृता । *अस्त्राद्भिः* अस्त्रमन्त्रजप्तोदकैः ॥ ६९॥

त्रिगुणात्मना त्रिगुणेन सत्त्वादिगुणरूपेण च तन्तुना आवेष्टिताङ्गं, तेन कण्ठे सूत्रवेष्टनं कुर्वन्ति । *नीरन्ध्रमिति* कुम्भविशेषणम् । तदुक्तं *वायवीयसंहितायाम्* । "सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं मृन्मयमेव वा । गन्धपुष्पाक्षताकीर्णं कुशदूर्वाङ्कुरार्चितम् ॥ सितसूत्रावृतं कण्ठे नववस्त्रयुगावृतमि"ति । केचित्तु नीरन्ध्रं यथास्यात्तथा तन्तुना आवेष्टिताङ्गमिति योजयन्ति । तन्मते सर्वोऽपि घटः तन्तुवेष्टितो भवति तदाऽऽङ्गशब्दवैयर्थ्यं स्यात् । *अन्यत्र विशेषः* "कन्याकर्त्तितसूत्रेण त्रिगुणेन च कर्मणा । गुणत्रयात्मकेनैव वेष्टयेदभितः समम्" इति । *गन्धपुष्पाद्यैरिति* आद्यशब्देन धूपः ॥ ७० ॥

नवरत्नोदरमिति । नवरत्नानि षष्ठे वक्ष्यन्ते । एवं भूतं कुम्भं तारमुच्चरन् स्थापयेदित्यन्वयः । अत्र तारशब्देन यथास्वं तत्तन्मन्त्रेषु पञ्चप्रणवानामपि ग्रहणमिति ज्ञेयम् । मन्त्रीत्यनेन मूलमन्त्रोच्चारोऽप्युक्तः । *विधानविदिति* अनेन विनापि पञ्चाशद्दोषशिक्षाशैस्तज्जन्यसामर्थ्यापादनक्षम इत्युक्तम् ॥ ७१ ॥

क्षीरद्रुमकषायेण पलाशत्वग्भवेन वा ।
तीर्थोदकैर्वा कर्पूरगन्धपुष्पसुवासितैः ॥ ७२ ॥
आत्माऽभेदेन विधिवन्मातृकां प्रतिलोमतः ।
जपन्मूलमनुं तद्वत्पूरयेद्देवताधिया ॥ ७३ ॥
शङ्खे क्वाथाम्बुसंपूर्णे गन्धाष्टकमभीष्टदम् ।
विलोड्य पूजयेत्तस्मिन्नावाह्य सकलाः कलाः ॥ ७४ ॥
दश वह्नेः कलाः पूर्वं द्वादश द्वादशात्मनः ।
कलाः षोडश सोमस्य पश्चात्पञ्चाशतं कलाः ॥ ७५ ॥
जपित्वा प्रतिलोमेन मूलमन्त्रं च मन्त्रवित् ।
समाहितेन मनसा ध्यायन्मन्त्रस्य देवताम् ॥ ७६ ॥
प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीत तत्र तत्र विचक्षणः ।

क्षीरेति । क्षीरद्रुमकषायेण । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटत्वक्कषायेणेत्यर्थः । आयुर्वेदोक्तरीत्या चतुर्थांशावशेषः कषायो ग्राह्यः ॥ ७२ ॥

विधिवदिति । सबिन्दुकम् । *तद्वदिति* । विलोमेन आत्माभेदेन देवताधिया पूरयेदिति सम्बन्धः । आत्मदेवताजलानामैक्यं भावयन्नित्यर्थः ॥ ७३ ॥

शङ्ख इति । स्थापितशङ्खादन्यस्मिन् । तत्र शङ्खस्थापनान्तं कर्म पूर्ववत्कार्यम् । क्वाथाम्बुना कलशपूरणावशिष्टेन संपूर्णे "समूलेन हृदयेन" इति शेषः । *गन्धाष्टकं* पिष्टं गन्धाष्टकम् । *विलोड्येति* । *तदुक्तम्* । "अष्टमूर्त्याष्टकं पिष्टमष्टगन्धं विलोड्य चे"ति । *अभीष्टदमिति* । अनेन गन्धद्वारामित्यस्य जपउक्तः । *पूजयेदिति* । शिरसा धेनुमुद्रां प्रदर्श्येति ज्ञेयम् । *सकलाः* । चतुर्नवतिः ॥ ७४ ॥

द्वादशात्मन इति । सूर्यस्य । *पश्चादिति* । अनेनैतदुक्तम् । अकारजकलानन्तरं हंस इति । उकारजानन्तरं-प्रतद्विष्णुरिति । मकारजानन्तरम्-त्र्यम्बकमिति । बिन्दुजानन्तरं तत्पदादिकाम् । नादजानन्तरं विष्णुर्योनिमिति त्यृचमिति । पञ्चाशदेव पञ्चाशत्कलाः तारपञ्चभेदोत्थाः । अत्राष्टत्रिंशत्कलाः । ततः एकपञ्चाशत्कलाः पश्चात्पञ्चगुणकलाश्च शङ्खजले पूजनीयाः । ताश्चेच्छाज्ञानक्रियाचिदात्मानन्दात्मिकाः । एवं चाष्टत्रिंशत्कलाः पञ्चगुणकलाश्चेति चतुर्नवतिदेवतात्मकत्वम् । *यदाहुराचार्याः*-"प्रथमं प्रकृतेर्हंसः प्रतद्विष्णुरनन्तरः । त्रियम्बकस्तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तत्पदादिकः ॥ विष्णुर्योनिमितीत्यादि पञ्चमः कल्प्यतां मनुः । चतुर्नवतिमन्त्रात्मदेवानावाह्य पूजयेत् ॥ अत्र याः पञ्चसंप्रोक्ता ऋचस्तास्य पञ्चभिः । कलाप्रभेदैश्च मिथो युज्यन्ते ताः पृथक् पृथगि"ति । *अन्यत्रापि* "चतुर्नवतिसंख्याश्च समावाह्य कलाः क्रमात्" इति ॥ ७५ ॥

समाहितेनेति । मन्त्रस्य देवतां समाहितेन मनसा ध्यायन् प्रतिलोमेन मूलमन्त्रं जपित्वा तामेवावाह्य पूजयेदिति (१)सम्बन्धः । इदं चकारात् मन्त्रवित्पदाच्च लभ्यते । यदाहुः—"मूलमन्त्रमावाह्य मन्त्रवित । अभ्यर्च्य शङ्खशलिलं दिव्यं कुम्भे विनिःक्षिपेदि"ति । समाहिते न मनसेति प्रसंगसंगत्यात्रोक्तं, परं सर्वत्र ध्याने इदं विशेषणं ज्ञेयम् । अन्यथा ध्यानस्यैव कर्त्तुमशक्यत्वात् ॥ ७६ ॥

प्राणेति । प्रतिष्ठाशब्दव्युत्पत्तिरुक्ता *महाकपिलपञ्चरात्रे*-"प्रतिष्ठाशब्दसंसिद्धिः

---

(१) एष च सिंहावलोकितकेन सम्भवति । तत्रमूलमाह—इदमित्यादिना ।

कलात्मकं शङ्खसंस्थं क्वाथं कुम्भे विनिःक्षिपेत् ॥ ७७ ॥
गन्धाष्टकं तत्त्रिविधं शक्तिविष्णुशिवात्मकम् ।
चन्दनागुरुकर्पूरचोरकुङ्कुमरोचनाः ॥ ७८ ॥
जटामांसी कपियुता शक्तेर्गन्धाष्टकं विदुः ।
चन्दनागुरुह्रीवेरकुष्ठकुङ्कुमसेव्यकाः ॥ ७९ ॥
जटामांसीमुरमिति विष्णोर्गन्धाष्टकं विदुः ।
चन्दनागुरुकर्पूरतमालजलकुङ्कुमम् ॥ ८० ॥
कुशीत कुष्ठ संयुक्तं शैवं गन्धाष्टकं विदुः ।

प्रतिपूर्वात्तु तिष्ठतेः । बह्वर्थत्वान्निपातानां संस्कारादौ प्रतेः स्थितिः ॥ अर्थस्तदयमेतस्य गीयते शाब्दिकैर्जनैः । विशेषसन्निधिर्यांतु क्रियते व्यापकस्य हि ॥ सन्मूर्त्तौ भावनामन्त्रैः प्रतिष्ठा साभिधीयते" इति । तत्र प्रयोगः । "धूम्रार्चिराहूताभवे"त्यावाहिन्याद्यष्टमुद्राः प्रदर्श्य "यं धूम्रार्चिषेनम" इति सम्पूज्य प्राणप्रतिष्ठामन्त्रे अमुष्यपदस्थाने षष्ठ्यन्तं धूम्रार्चिः पदं प्रक्षिप्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् । एवं सर्वास्वपि कलासु । अथवा द्वादशानामप्यग्निकलानामेकदैवावाहनादि कृत्वा प्रत्येकं पूजां कृत्वा प्राणप्रतिष्ठामन्त्रे अमुष्यपदस्थाने सर्वासां षष्ठ्यन्तं नामोच्चार्य प्राणप्रतिष्ठां कुर्यात् ॥कलानांध्यानं द्वितीयपटलोक्तमनुसंधेयम् । *तत्र तत्रेति* । अस्यायमर्थः । प्रथमं दशवह्निकलानां, ततो द्वादशाकारजानां तद्दचस्ततो दशोकारजानां तद्दच, स्ततो दशमकारजानां तद्दच, स्ततः पञ्चानां बिन्दुजानां तद्दच, स्ततः षोडशनादकलानां तद्दच, स्ततः पञ्चगुप्तानाम् । *विचक्षण इति* । अनेन सर्वत्र त्रिः प्राणप्रतिष्ठामन्त्रं जपेदित्युक्तम् ॥ अन्येतु-प्रतिलोमेन सर्वत्र योजयन्ति । तत्तु आभिचारिकाभिषेकविषयं, तदा प्रथमं नादकलास्तद्दक्, ततो बिन्दुकलास्तद्दक्, ततो मकारकलास्तद्दक्, ततउकारकलास्तद्दक्, ततोऽकारकलास्तद्दक्, ततः सोमसूर्याग्नीनाम् । यदाहुः-"स्थण्डिलाधारगं शङ्खं पूरयित्वा तदम्बुना । अष्टमूर्त्यात्मकं पिष्टमष्टगन्धं विलोड्य च ॥ कला नादक्रमेणैव स्वस्वनामसमायुताः । हृल्लेखाङ्गानि विन्यस्य प्रत्येकं ताः प्रयोजयेत् ॥ अत्र नादकलान्ते च विष्णुर्योन्यादिकां कलाम् । सर्वासां व्यापिनीव्याप्तां सम्यगावाह्य पूजयेत् ॥ स्पृष्ट्वा सुस्थापनमनुं दक्षिणेनैव पाणिना । युक्तनादकलानामित्यादिना योजयेत्त्रिशः ॥ त्रिन्द्वादितारभेदानां कलाः सौम्यादिनेशितुः । अग्नेरपि समावाह्य तथैवाभियजेत्क्रमादि"ति । *विनिःक्षिपेदिति* "मूलमन्त्रेणे"ति शेषः । *तदुक्तम्*-"पुनस्तोयं कलात्मकम् । उच्चारयन्मूलमन्त्रं कलशे सन्निधापयेत्" इति । *अन्यत्रापि*-"कलशे तत्क्षिपेत् मूलमन्त्रमुच्चार्य मन्त्रविदि"ति ॥ ७७ ॥

गन्धाष्टकं विलोडयेत्युक्तम्-तदाह-*गन्धाष्टकमिति* । *शक्तिविष्णुशिवात्मकमिति* । तदात्मकतोक्त्या अत्यन्तं प्रियत्वं सूचितम् ॥ *चोरइति* "भटिजर" इति कान्यकुब्जभाषायाम् । रोचना-गोरोचना ॥ ७८ ॥

कपि"गंठिवने"ति प्रसिद्धं, ह्रीवेरो बालकम् । कुष्ठं—कूठ(ढ) इति प्रसिद्धम् । सेव्यकमुशीरम् ॥ ७९ ॥

जटामांसीमुरमिति । समाहारद्वन्द्वैकत्वेन नपुंसकत्वम् । मुरा-स्वनाम्ना प्रसिद्धा । तमालं—पत्रजं, जलं-बालकम् ॥ ८० ॥

कुसीतं रक्तचन्दनम् । एतानि समभागानि ग्राह्याणि । *गणपतिसंहितायां* गणेशगन्धाष्टकमप्युक्तम् । "स्वरूपं चन्दनं चोरं रोचनाऽगरुमेवच । मदं मृगद्वयोद्भूतं कस्तूरीचन्द्रसं-

पाशादित्र्यक्षरात्मान्ते स्यादमुष्य पदन्ततः ॥ ८१ ॥
क्रमात्प्राणा इह प्राणास्तथा जीव इह स्थितः।
अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि भूयाऽमुष्य पदं वदेत् ॥ ८२ ॥
वाङ्मनोनयनश्रोत्रघ्राणप्राणपदान्यथ।
पश्चादिहागत्य सुखं चिरन्तिष्ठन्तु ठद्वयम् ॥ ८३ ॥
अयं प्राणमनुः प्रोक्तः सर्वजीवप्रदायकः।

युतम् ॥ अष्टगन्धं विनिर्दिष्टं गणेशस्य महाविभोरि"ति ॥ प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीतेत्युक्तमतस्तन्मन्त्रमाह—*पाशादीति*। पाशादित्र्यक्षरं नवमे वक्ष्यते। आत्मा—जीवमन्त्रः। पशादित्र्यक्षरमादौ, आत्ममन्त्रोऽन्त इत्यनेन यंरंलंवंशंषंसंहौं इत्यन्तान्यष्टबीजानि त्रयोविंशे वक्ष्यमाणानि संगृहीतानि इति संप्रदायविदः। अत्र पाशाद्यात्मान्तानां प्रत्यमुष्यपदमावृत्तिरपि ज्ञेया। त्रयोविंशे तथा वक्ष्यमाणत्वात्। अमुष्यपदस्यायमर्थः। साध्यदेवतायन्त्रादेः षष्ठ्यन्तं नामपदं प्रयोक्तव्यमिति। तथा च "इमममुष्य पुत्रममुष्याः पुत्रममुष्यै विश एष वः कुरवो राजे"त्यस्याः श्रुतेः प्रयोगकथने कल्पसूत्रे कात्यायनः "असावित्यपनोद" इति। तद्भाष्यं च अपनोदः पदमनूद्य नाम प्रयोक्तव्यमित्यर्थ इति। *नारायणीयेऽपि*—"अमुकपदं यद्रूपं यत्र मन्त्रेषु दृश्यते। साध्याभिधानं तद्रूपं तत्र स्थाने नियोजयेत्" इति। तट्टीकायामपेक्षितार्थद्योतनिकायामेवमुक्तम् एतच्च पुरुषोत्तममन्त्रव्यतिरिक्तस्थानेऽवगन्तव्यम्। तत्राऽमुकशब्दे दुरितपदस्यालक्ष्मीपदस्य वा प्रयोगादिति ॥ ८१ ॥

तथेति। अमुष्यपदं वदेदित्यर्थः ॥ ८२ ॥

वाङ्मनोनयनेति। नयनपदं स्वपर्यायस्य चक्षुः पदस्योपलक्षकम्। केवलं छन्दोऽनुरोधात्तथोपदेशः। तथा च त्रयोविंशे असावेव—"सर्वेन्द्रियाण्यमुष्यान्ते वाङ्मनश्चक्षुरन्तत" इति। मन्त्रविदामप्युपदेशे चक्षुः पदमेवोपदिष्टमुपलभ्यते संप्रदायविदाम्। तथा चाचार्यवचनं*दीक्षापटले*—"तद्वद्वाङ्मनसी उदीर्य तदनु प्राणा इहायान्त्विति" अत्र तट्टीकाकाराः पद्मपादाचार्या व्याख्यातवन्तः "वाङ्मनसी ग्रहणं चक्षुः श्रोत्रघ्राणानामुपलक्षणार्थमि"ति। तथा *प्राणप्रतिष्ठापटले आचार्या*"स्तद्वद्वाङ्मनसं दृशं श्रुतिमथोघ्राणं च सप्राणकमि"ति। अन्यत्रापि टीकाकारैर्व्याख्यातम्। "दृक्पदेन चक्षुः पदं गृह्यत" इति ॥ एवंचेन्नस्यात् क्वचिन्नयनपदं क्वचिच्चक्षुः पदं क्वचिद्दृक्पदं तद्वत् क्वचित् लोचनपदमपि स्यात्। तच्चायुक्तम्। नहि पर्यायेणोच्चारितो मन्त्रः स मन्त्रो भवति। अन्यथा मन्त्रोद्धारश्लोका एव मन्त्रा भवेयुः। तस्मान्नयनपदं चक्षुः पदोपलक्षणमिति स्थितम्। *घ्राणप्राणपदानीति* अत्र मन्त्रे प्राणा इति बहुवचनान्तता ज्ञेया। वागादीनां बहूनां पदानां द्वन्द्वसमासात्। त्रयोविंशे वक्ष्यति चायं "श्रोत्रघ्राणपदे प्राणा" इति। *ठद्वयं* स्वाहा ॥ नन्वत्र मन्त्रे यदमुष्यस्थाने साध्यदेवतायन्त्रादेर्नामपदप्रयोगः तस्य कथं मन्त्रत्वमितिचेत्। मीमांसाधिकारसिद्धान्तसिद्धमिति ब्रूमः। तथाहि—द्वितीयाध्याये भावार्थचरणे "अनाम्नातेषु मन्त्रत्वमाम्नातेहि विभागः स्यात्" इत्यत्राधिकरणे ऊहप्रवरनामधेयानां मन्त्रत्वममन्त्रत्वंवेति संशय्य तेषाममन्त्रत्वं सिद्धान्तितम्। तत्प्रसंगेनेदमपि विचारितम्यँदूहप्रवरनामधेयानां प्रक्षेपे सर्वस्यैवामन्त्रत्वमुत प्रक्षिप्तस्यैवेति। तत्र प्रक्षेपे सर्वस्यैवामन्त्रत्वं सिद्धान्तितम्। तत्प्रसंगेनेदमपि चिन्तितम्। यत्र मन्त्रे "इममुष्यपुत्रममुष्याः पुत्रममुष्यैविश एष वोराजे"त्यादौ यत्सर्वनामस्थाने राजादिशब्दप्रयोगस्तस्यामन्त्रत्वमुतमन्त्रत्वमिति। तत्राम्नातस्य सर्वनाम्नो राजादिपदप्रयोगे प्रामाण्यसमर्प्पकत्वमात्रमिति ऊहादिवदमन्त्रत्वमिति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु भवेदेवं यदि आम्नातस्य सर्वनाम्नो राजादिपदप्रयोगे प्रामाण्यसमर्प्पकत्वं स्यात्। किन्तु सर्वनाम्नां त-

पश्चादश्वत्थपनसचूतकोमलपल्लवैः ॥ ८४ ॥
इन्द्रवल्लीसमाबद्धैः सुरद्रुमधिया गुरुः ।
कुम्भवक्त्रं पिधायास्मिंश्चषकं सफलाक्षतम् ॥ ८५ ॥
संस्थापयेत्फलधिया विधिवत्कल्पशाखिनम् ।
ततः कुम्भं निर्मलेन क्षौमयुग्मेन वेष्टयेत् ॥ ८६ ॥
मूलेन मूर्तिमिष्ट्वाऽस्मिञ्छायायां कल्पशाखिनाम् ।

तत्स्थाने शब्दान्तरसमर्पकत्वमेव । तथाहि—ऊहे तु "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" इति प्रकृतौ श्रुतो मन्त्रः । विकृतौ तु सूर्यदेवताके चरौ न्यायात् सूर्यायेति पदमूह्यते इति भवतु तस्यामन्त्रत्वम् । एवं प्रवरशब्देनासितदेवलशाण्डिल्यप्रवराभिधायिपदकीर्तनं नामधेयशब्देन च यजमानाभिधायिविष्णुशर्म्मादिनामकीर्तनमभिमतम्। तेषां च वेदे अनाम्नानात् "प्रवरनामधेयानि कीर्त्तयेदि"ति वाक्येन च मन्त्रप्रयोज्यविशेषरूपेणाम्नानाभावादमन्त्रत्वं, सर्वनाम्नामाम्नानं तु राजादिविशेषणाम्नानामानन्त्यादाम्नातुमशक्यत्वात् राजादिविशेषार्थप्रतिपादनार्थं, नचास्य स्वतस्तत्प्रतिपादनसामर्थ्यमस्तीति स्वयं प्रयोगानर्हं सत् विशेषशब्दानेव प्रयोगार्हानुपलक्षयति ।"यथा तस्यापत्यमि"(पा.सू.)त्यादौ।अतोविवक्षितस्वरूपराजाद्यर्थविशेषविषयशब्दान्मन्त्रवाक्यनिवेशिनो दर्शयतीत्येतदर्थमेव सर्वनामपदं दृष्टार्थेनाध्ययनविधिना व्यापितमिति निश्चीयते । तस्माद्राजादिनाम्नामप्याम्नातप्रायत्वान्मन्त्रत्वमेवेति ॥८३॥८४॥

इन्द्रवल्लीति । इन्द्रवारुणीलताविशेषः । चषकं—कलशसजातीयं शरावादि ॥ ८५ ॥

विधिवदिति अनेन मूलमन्त्रोच्चारणमुक्तम् । *क्षौममिति* अतसीसंभवम्(१) । तदभावे पट्टवस्त्रादि । अन्यत्र एकवस्त्रवेष्टनमप्युक्तम् । "अतिसूक्ष्मतरेणैव विशुद्धेन नवेन च । मायातत्त्वस्वरूपेण वेष्टयेद्वाससा घटमि"ति ॥ ८६ ॥

मन्त्रस्य देवतामिति एकमन्त्रदीक्षायाम् । पञ्चायतनदीक्षापक्षे पञ्चकलशान्संस्थाप्य तत्तत्कलशे तत्तद्देवतामावाहयेदिति मन्त्रीत्यनेनोक्तम् । तदुक्त*माचार्यैः* "प्रोक्तेनैवं कलशविधिनैकेन वानेककुम्भैरि"ति । पञ्चायतनदीक्षायां देवतास्थापनक्रम उक्तो *विज्ञानमालायाम्* "यदा तु शङ्करं मध्ये ईशान्यां श्रीपतिं यजेत् । आग्नेय्यां च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम् ॥ वायव्यां च सदा पूज्या भवानी भक्तवत्सला । यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत् ॥ आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां तपनं तथा । वायव्यामम्बिकां चैव यजेन्मन्त्री समाहितः ॥ सहस्रांशुं यदा मध्ये ऐशान्यां पार्वतीपतिम् । आग्नेय्यामेकदन्तञ्च नैर्ऋत्यामच्युतन्तथा ॥ वायव्यां पूजयेद्देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम् । भवानीं तु यदामध्ये ऐशान्यां माधवं यजेत् ॥ आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम् । प्रद्योतनं तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत् ॥ हेरम्बं तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत् । आग्नेय्यां पञ्चवक्त्रं च नैर्ऋत्यां जगदम्बिकाम् ॥ वायव्यां द्युमणिं चैव यजेन्मन्त्री ह्यतन्द्रितः । स्वस्थानवर्जिता देवाः शोकदुःखभयप्रदाः । तन्मण्डलस्थितो राजा साधकश्च विनश्यति" इति॥ अन्यत्रापि "शम्भौ मध्यगते हरीनहरभूदेव्यो, हरौ शङ्करेभास्ये नागसुता, रवौ हरगणेशाजम्बिकास्थापिताः । देव्यां विष्णुहरैकदन्तरवयो लम्बोदरेऽजेश्वरार्यैनाः शङ्करभागतोऽतिशुभदा व्यस्तास्तु ते हानिदा" इति । *पण्डिताअपि*—"शं ना र ग दे मध्यान्ना शं ग र मेशतः सू शम् । गन्तादेनाद्यं गरगं नाशंभुसू विदिक् पूज्या" इति । *अन्यत्राग्नेयादिकक्रमेण स्थापनमुक्तम्*—"सूर्यैकदन्ताच्युतशक्तिरुद्रा विघ्नेश्वरेशाद्रिसुतार्ककृष्णाः । श्रीनाथविघ्नेशभगाम्बिकेशाश्चण्डी-

---

(१) "अतसीस्यादुमा क्षुमा" इत्यमरात् ।

आवाह्य पूजयेत्तस्यां मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ॥ ८७ ॥

मध्येऽन्यपतङ्गकृष्णाः ॥ श्रीकण्ठमुख्यास्तुरगास्यकृष्णाः प्रदक्षिणं मध्यविदिक्षु पूज्याः । स्वस्थानगाः सर्वसमोरथाग्न्यै अर्थं निविष्टान्ति यत्र संस्था"इति । *अन्यत्रापि*—"मध्येऽच्युतं स्यं धर्मगणेशमगआत्मर्याणं मध्यतः शम्भ्वाग्र्यौरविविष्णवोरविमयोविघ्नाजशक्तीश्वराः । मध्ये शक्तिमयेशाविनरवयोविष्णुमध्ये हरे सूर्यं भास्वशिवाच्युता इह विहिता आग्नेयकोणादिशा" इति । अनेनैवात्र स्थापनक्रमे फलतः साम्यमेव । पूजा तु गणपतिमारभ्य, यत्र गणपतेर्मुख्यत्वं तत्र सूर्यमारभ्येति ज्ञेयम् । यदाहुः—"मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशाद्यर्चनं भवेत् । गणेश एव मुख्यश्चेत् तत्र सूर्यक्रमाद्भवेदि"ति इति । एतद्व्याख्यानमुभयथा कुर्वन्ति । पुष्पाञ्जलिमिति—मुख्येप्रथमतः पुष्पाञ्जलिमात्रं कृत्वा पश्चाद्गणेशाद्यर्चनं कृत्वा मुख्यपूजेति ॥ अपरे तु पुष्पाञ्जलिशब्देन पूजासमग्रोऽयः पुष्पाञ्जलिः स संगृहीतः । तेन मुख्यदेवतापूजानन्तरं गणेशाद्यर्चनमिति॥ एतच्च स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेण ज्ञेयम्। अयमेव देवतास्थापनक्रमोनित्यपूजायामपि मानः।तत्र नित्यपूजा शालग्रामे मणौ यन्त्रे वा पाषाणादिप्रतिमायां वा कार्या। तदुक्तं *ज्ञानमालायां*—"गिरिजा रतसौख्याय (१)जाता विघ्नपराः सुराः। तच्छ्रुत्वा चरितं देव्या शापोदत्तोऽतिदारुणः॥पार्वतीशापसंयुक्ता देवा अदमत्वमागताः।विष्णुना शङ्करेणापि तथान्यैः सुरसत्तमैः । संस्तुता वरदा जाता पाषाणत्वेऽपि भोसुराः॥स्वस्थाने पूजयिष्यन्ति पुरुषार्थचतुष्टयम्। दातुं समर्था भक्तानामादेव एव वरोऽर्पितः ॥ तस्मात् पूजाविधातव्या पाषाणप्रतिमासु चे"ति । *हयशीर्षपञ्चरात्रे* "मृन्मयी दारुघटिता लोहजा रत्नजा तथा । शैलजा गन्धजा चैव कौसुमी सप्तधा स्मृता ॥ कौसुमी गन्धजा चैव मृन्मयी प्रतिमा हिता । तत्कालपूजिताश्चैताः सर्वकामफलप्रदा" इति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* " शैलजा लोहजा वापि रत्नजा वाथदारुजा । मृन्मयी चेति पञ्चैताः प्रतिमाः परिकीर्तिताः॥ सर्वेषामेव देवानां महानीला यशः प्रदा । दारुजा कामदा प्रोक्ता सौवर्णी भुक्तिमुक्तिदा ॥ राजती स्वर्गराज्यदा ताम्री ह्यायुर्विवर्द्धिनी । कांस्या बह्वापदं हन्ति रैतकी शत्रुनाशिनी ॥ सर्वभोगप्रदा शैली स्फाटिकी दीप्तिकारिका । महाभोगप्रदा ख्याता मृन्मयी खलु शोभना ॥ मानाङ्गुलप्रमाणेन दशपञ्चाङ्गुलात्मिका । गृहे तु प्रतिमा पूज्या नाधिका हि प्रशस्यते" इति । *अन्यत्रापि* । "अङ्गुष्ठपर्व आरभ्य वितस्तिर्यावदेव तु । गृहे तु प्रतिमा पूज्या नाधिका शस्यते बुधैरि"ति । यत्तु—"सौम्या तु हस्तमात्रा वसुदा हस्तद्वयोच्छ्रिता प्रतिमा। क्षेमसुभिक्षाय भवेत्त्रिचतुर्हस्तप्रमाणोच्चे"ति । तत् स्थापितप्रतिमाविषयम्॥ मृन्मय्यां तत्रैव विशेष उक्तः।"मृन्मयीं प्रतिमां वक्ष्ये यथावत्तां निबोधमे । पक्काऽपक्वा द्विधा प्रोक्ता मृन्मयी प्रतिमा क्रमात् ॥ सर्वे लोकान शंसन्ति प्रतिमां दग्धमृन्मयीम् । अपक्का प्रतिमा शस्ता सैव कार्या विचक्षणैः ॥ सुधयानैव कर्त्तव्या नाश्मचूर्णैः कदाचन । मृदैव मृन्मयीं कुर्याद्यथावदनुपूर्वशः॥ ब्राह्मणस्य सिता मृद्वै क्षत्रियस्यारुणा स्मृता । विशां पीता भवेन्मृद्वै कृष्णा शूद्रस्य कीर्तिते"ति ॥ *अन्यत्र विशेषः* "नृपभयमत्यङ्गायां हीनाङ्गायामकल्पतां कर्त्तुः । क्षामोदर्यां क्षुद्भयमर्थविनाशः कृशाङ्गायाम् ॥ मरणं तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत्कर्त्तुः । वामे विनता पत्नीं दक्षिणविनता हिनस्त्यायुः ॥ अन्धत्वमूर्ध्वदृष्टौ करोति चिन्तामधोमुखी दृष्टिः । सर्वप्रतिमास्वेवं शुभाऽशुभं भास्करोक्तमवगच्छेत्" इति । *तथान्यत्रापि*—"नाधिकाङ्गी न हीनाङ्गी कर्त्तव्या देवता क्वचित् । अधिका शिल्पिनं हन्यात् कृशा चैवार्थनाशिनी॥ कृशोदरी तु दुर्भिक्षं निर्मांसा धननाशिनी। वक्रनासाऽतिदुःखाय संक्षिप्ताङ्गी भयङ्करी॥ चिपिटा दुःखशोकाय अनेत्रा नेत्रनाशिनी । दुःखदा हीनवक्त्रा तु पाणिपादकृशा तथा॥ हीनांसा हीनजङ्घा च भ्रमोन्मादकरी नृप!।

(१) अत्र "मशकायधूमं" इतिपत्तिभिरूत्यथमित्यर्थः कार्यः ॥

मूलमन्त्रं समुच्चार्य्य सुषुम्णावर्त्मना सुधीः ।
आनीय तेजः स्वस्थानान्नासिकारन्ध्रनिर्गतम् ॥ ८८ ॥
करस्थमातृकाम्भोजे चैतन्यं पुष्पसञ्चये ।

शुष्कवक्त्रा च राजानं कटिहीना च मारयेत् ॥ पाणिपादविहीनायां जायते मरको महान् । ज- ङ्घाहीना च या मूर्त्तिः शत्रुकल्याणकारिणी ॥ पुत्रमित्रविनाशाय हीना वक्षःस्थले तथा । सम्पूर्णावयवा या तु सायुर्लक्ष्मीप्रदा सदा ॥ एवं लक्षणमासाद्य कर्त्तव्या मूर्त्तिरुत्तमे”ति ॥ *अन्यत्र विशेषः* “खण्डिते स्फुटिते भ्रष्टे दग्धे मानविवर्जिते । यागहीनेऽथ वोच्छिष्टे पति- ते दुष्टभूमिषु ॥ अन्यमन्त्रार्चिते चैव पतितस्पर्शदूषिते। दशस्वेतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौ- कसः । इति सर्वगतो विष्णुः परिभाषां चकार हे”ति । *तथाऽन्यत्र* “खण्डितां स्फुटितां जी- र्णामवलीढां च वह्निना । प्रतिमां वर्जयेद्धन्नाङ्गां स्वालनाच्च्युताम् ॥ निःक्षिपेद्दारुजामग्नौ तथान्यामप्सु निःक्षिपेत्” इति । तथा—“एकाहपूजा विहतौ कुर्याद्द्विगुणमर्चनम् । द्विरात्रे तु महापूजा संप्रोक्षणमतः परम् ॥ मासादूर्ध्वमनेकाहं पूजा यदि विहन्यते । प्रतिष्ठैवेष्यते कै- श्चित् कैश्चित् सम्प्रोक्षणक्रमः” इति।*सम्प्रोक्षणलक्षणं यथा तत्रैव* “सम्प्रोक्षणं तु देवस्य दे- वमुद्वास्य पूर्ववत्। पञ्च पञ्च क्रमेणैव स्नापयित्वा मृदम्भसा॥गव्यं रसैश्च संस्नाप्य दर्भतोयै- र्विशोध्य च । प्रोक्षयेत्प्रोक्षणीतोयैर्मूलेनाष्टोत्तरं शतम् ॥ सपुष्पं सकुशं पाणिं न्यस्य देवस्य म- स्तके । पञ्चवारं जपेन्मूलमष्टोत्तरशतोत्तरम्॥ ततो स्रुवेण मूर्द्धादि पीठान्तं संस्पृशेदपि। तत्त्व- न्यासं लिपिन्यासं मन्त्रन्यासं च विन्यसेत् ॥ प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण प्रतिष्ठापनमाचरेत् । पूजां च महतीं कुर्यात् स्वतन्त्रोक्तां यथाविधि ॥ यागहीनादिषु प्रायः सम्प्रोक्षणविधिः स्मृत” इति । *अन्यत्रापि*—“शालग्रामे मणौ यन्त्रे मण्डले प्रतिमासु च । नित्यं पूजा हरेः कार्या नातु केवलभूतले” इति। *रामपूर्वतापनीयेऽपि* “सोभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। विना यन्त्रेण चेत् पूजा देवता न प्रसीदति” इति । *संहितायामपि*—“यन्त्रं मन्त्रमयं प्राहुर्देवता मन्त्ररूपिणी । यन्त्रेणापूजितो देवः सहसा न प्रसीदति” इति । *तथा* “सर्वे- षामपि मन्त्राणां यन्त्रे पूजा प्रशस्यते” इति । *ईशानशिवेनाप्युक्तम्*—“शक्तिं निजैक्येन तथैव चक्रे चित्रे पटे वा यजनं न भूमौ । मोहादसौ स्थण्डिलगां यजेच्चेद्भजेयैश्च त्रिवर्गादिति मन्त्रसिद्धा” इति ॥ शिवपूजा तु शिवमूर्त्तौ शिवलिङ्गे स्थिरे चलेवा कार्या । तत्र चले पाषा- णादिलिङ्गे यत्पञ्चसूत्रादिलक्षणमुक्तं तदवश्यं द्रष्टव्यं, रत्नलिङ्गादौ तु तल्लक्षणाभावेऽपि न दोषः । तदुक्तं *हयशीर्षपञ्चरात्रे*—“न कुर्याल्लक्षणोद्धारं रत्नजानां चलात्मनाम् । सु- प्रभा लक्षणन्त्वेषां स्वर्णजानामपि द्विज ! ॥ तस्माच्च लक्षणोद्धारं कुर्यात् पाषाणलिङ्गवत् । चलानां तैजसानां च क्वचिदिष्येत लक्षणम् ॥ लक्षणं कल्पनीयन्तु स्थाप्यलिङ्गे यथाविधि । चललिङ्गे कुशाग्रेण लक्षणं कल्पयेद्गुरुः । मनसा चिन्तयेद्वापि लक्षणं लिङ्गसंस्थितमि”ति ॥ *सोमशम्भुनापि*—“रत्नजे लक्षणोद्धारो न लौहे न सरिद्भवे । लिङ्गेषु च न लौहेषु न दृष्टं क्वचिदागमे ॥ स्वरूपलक्षणं तेषां प्रभा रत्नेषु निर्मले”ति । *अन्यत्र तु विशेषः* “गृहे लि- ङ्गद्वयं नार्च्यं गणेशद्वयमेव च । शक्तित्रयं तथा शङ्खं मत्स्यादिदशकाङ्कितम् ॥ द्वौ शङ्खौ ना- र्चयेच्चैव शालग्रामशिलाद्वयम् ॥ द्वे चक्रे द्वारकायास्तु तथा सूर्यद्वयं बुधः ॥ एतेषामर्च्चना- न्नित्यमुद्वेगं प्राप्नुयाद्गृही”ति ॥ ८७ ॥

आवाह्य पूजयेदित्युक्तं तत्रावाहनप्रकारमाह—*मूलेति* । *स्वस्थानात्*-हृदयकम- लात् । अन्ये-सूर्यमण्डलादित्याहुः । तदुक्तं *त्रैहायसीयमन्त्रकोशे*—“अथार्कतो वा हृदया- रविन्दादावाहयेच्चन्द्रसुतं सुरेशमि”ति ॥ *अन्यत्रापि* “आवाहयेन्महादेवीं हृदयाम्बुजगह्व- रात् । सूर्यमण्डलतो वाऽपि स्वीयाद्वा द्वादशान्ततः” इति ॥ ८८ ॥

ब्रह्मरन्ध्रेणेति । ब्रह्मरन्ध्रद्वारा करस्थमातृकाम्भोजे पुष्पसंचय इति व्यधिकरणसप्तम्यौ।

संयोज्य ब्रह्मरन्ध्रेण मूर्त्यामावाहयेत्सुधीः ॥ ८९ ॥
संस्थापनं सन्निधानं सन्निरोधमनन्तरम् ।
सकलीकरणं पश्चाद्विदध्यादवगुण्ठनम् ॥ ९० ॥

सुधीः मूलमन्त्रमुच्चार्य स्वस्थानात्तेजः सुषुम्णावर्त्मना आनीय ब्रह्मरन्ध्रद्वारा नासिकारन्ध्रनिर्गतम् तच्चैतन्यं करस्थमातृकाम्भोजे पुष्पसंचये संयोज्य मूर्त्तावावाहयेदिति सम्बन्धः । तदुक्तं—"देवं सुषुम्णामार्गेण आनीय ब्रह्मरन्ध्रकम् । वामनासापुटे ध्यात्वा निर्यान्तं स्वाञ्जलिस्थितम् ॥ पुष्पमारोप्य तत् पुष्पं प्रतिमादौ निधापयेत्" इति । तत्रावाहनमाह्वानं—तदावाहन्या । तच्च मूलमन्त्रान्ते । "अवाहितोभव नम" इति प्रकारेण आगमोक्तश्लोकान्ते वा । यद्वा मूलमन्त्रान्ते आगमश्लोकमुच्चार्येति सुधीरित्यनेनोक्तम् । अयमेव मुख्यः प्रकारः । संहितायामपि धूपमन्त्रमुक्त्वा "एवमित्थन्तु बीजान्ते धूपमन्त्र उदाहृत" इत्यादिनोक्तम् । एवमग्रेऽपि स्थापनादिषूह्यम् । श्लोकस्तु "आत्मसंस्थमजं शुद्धं त्वामहं परमेश्वर! । अरण्यामिव हव्याशं मूर्त्तावावाहयाम्यहमि"ति ॥ इदमावाहनादि शालग्रामादौ न कार्य्यम् । यदाहुः "शालग्रामे स्थावरे वाऽऽवाहनं न विसर्जनम् । शालग्रामशिलादौ यन्नित्यं सन्निहितो हरिरि"ति॥ *अन्यत्रापि* "उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने । अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ॥ शालग्रामार्चनेनैव आवाहनविसर्जने" इति ॥ अत्र पञ्चायतनपक्षे प्रत्येकं देवतानामावाहनं ततः प्रत्येकं स्थापनमिति पदार्थानुसमयो वा, उतावाहनादिनैवेद्यान्तमेकत्र समाप्य पश्चादेवमन्यत्रेति काण्डानुसमय इति संशये-अत्र काण्डानुसमय इति सिद्धान्तः । यतो "मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशाद्यर्चनं भवेत्" इत्युक्तं, तत्रार्चनशब्दः पूजावाचकः । स चावाहनादिनैवेद्यान्तः । इदं च पञ्चमाध्याये द्वितीयचरणे-"वचनात्तु परिव्यणान्तमि"त्यधिकरणे सिद्धान्तितम् । *सुधीः स्थापनं विदध्यादि*ति सम्बन्धः । *संस्थापनं*-स्थापनं तत्स्थापिन्या । श्लोकस्तु-"तवेयं महिमा मूर्त्तिस्तस्यां त्वां सर्वगं विभो! । भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहमि"ति ॥ सुधीरित्यनेनासनोपवेशने कर्त्तव्ये इत्युक्तं भवति ॥ तद्यथा मूलमन्त्रान्ते-"सर्वान्तर्यामिणे देव! सर्वबीजमयं शुभम् । स्वात्मस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम् ॥ आसनं गृहाण नमः" । ततो मूलमन्त्रान्ते-"अस्मिन्वरासने देव! सुखासीनोऽक्षरात्मक! । प्रतिष्ठितो भवेश त्वं प्रसीद परमेश्वर! उपविष्टो भव नमः" । *सन्निधानं* सन्निधापनं नैकट्यावस्थितिप्रार्थनं, तत्सन्निधापिन्या । श्लोकस्तु "अनन्या तव देवेश ! मूर्त्तिशक्तिरियं प्रभो! । सान्निध्यं कुरु तस्यां त्वं भक्तानुग्रहतत्परे"ति ॥ *सन्निरोधः* सन्निरोधनम् । अनन्यचित्तप्रार्थनम् । तत्सन्निरोधिन्या । श्लोकस्तु-"आज्ञया तव देवेश ! कृपाम्भोधे! गुणाम्बुधे । आत्मानन्दैकतृप्तं त्वां निरुणध्मि पितर्गुरो"॥ इति। *सिद्धान्तसारे*-आवाहनादीनामन्यथा लक्षणमुक्तं-"स्वत एवाभिपूर्णस्य तत्त्वस्येहार्चनादिषु। सादरं संमुखीभावस्तदावाहनमुच्यते ॥ शिवस्यावाहितस्यास्य विधात् देहे तु सन्ततम् । स्थिरीकरणमुद्दिष्टं स्थापनं भक्तितोऽर्चने ॥ पूजां प्रपूज्यमानां तु गृहीत्वानुग्रहादिकम् । कर्तुं सामर्थ्यमस्येह तत्सान्निध्यं प्रचक्षते ॥ आसमाप्तेस्तु पूजायाः सान्निध्यं हि शिवस्य यत् । स सन्निरोध उद्दिष्टो विभोरस्यापि शक्तित" इत्यादिना॥ *अनन्तरमिति* अनेन सम्मुखीकरणं प्रार्थनं च मुद्राद्वयेनोक्तम् । श्लोकौ तु—"अज्ञानाद्दुर्मनस्त्वाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च । यदाऽपूर्णं भवेत्कृत्यं तदाप्यभिमुखो भव ॥ दृशा पीयूषवर्षिण्या पूरयन्यज्ञविष्टरम् । मूर्त्तौ वा यज्ञसम्पूर्त्तैः स्थिरो भव महेश्वरे"ति ॥ *सम्मुखमुद्रालक्षणं यथा*—"मुष्टिद्वयस्थिताङ्गुष्ठौ सम्मुखौ च परस्परम् । संश्लिष्टावुच्छ्रितौ कुर्यात्सेयं सम्मुखमुद्रिके"ति । "प्रसृताङ्गुलिकौ हस्तौ मिथः श्लिष्टौ च सम्मुखौ । कुर्यात्स्वहृदये सेयं मुद्रा प्रार्थनसंज्ञिके"ति ॥ *सकलीकरणम्*-पूर्वकप-

अमृतीकरणं कृत्वा कुर्वीत परमीकृतिम् ॥
क्रमादेतानि कुर्वीत स्वमुद्राभिः समाहितः ॥ ९१ ॥
अथोपचारान्कुर्वीत मन्त्रविस्त्वागतादिकान् ।
स्वागतं कुशलप्रश्नं निगदेद्भवो गुरुः ॥ ९२ ॥
पाद्यं पादाम्बुजे दद्याद्देवस्य हृदयाणुना ।
एतच्छ्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम् ॥ ९३ ॥
सुधामन्त्रेण वदने दद्यादाचमनीयकम् ।

स्वेनावस्थितिप्रार्थनम् । तच्च देवताङ्गे षडङ्गन्यासात् । *अवगुण्ठनम्* अयोग्यदृष्टयविषयत्वापादनं, तच्चावगुण्ठिन्या । श्लोकस्तु "अभक्तवाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रदूरामितद्युते! । स्वतेजः पञ्जरेणाशु वेष्टितोभव सर्वतः" इति ॥ ८९ ॥ ९० ॥

अमृतीकरणम् आनन्दपूर्णतावस्थितित्वम् । तद्धेनुमुद्रया । *परमीकरणम्*—सर्वापराधसहिष्णुत्वं, तन्महामुद्रया । *स्वमुद्राभिरिति* । त्रयोविंशे वक्ष्यमाणाभिः । *समाहित इति* अनेन मूलमन्त्रपुटितमातृकाक्षराणि देवदेहे विन्यसेदित्युक्तम् भवति ॥ पूजायां वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ९१ ॥

अथेति । उपचारशब्दार्थो *ज्ञानमालायामुक्तः* "भक्त्या चैते कृता देवे साधकं देवसन्निधिम् । चारयन्ति यतस्तस्मादुच्यन्ते ह्युपचारकाः ॥ समीपे चारणाद्वापि फलानान्ते तथोदिता" इति ॥ ते मूले षोडश उक्ताः । *ज्ञानमालायामन्येऽपि* । तद्यथा—"अष्टत्रिंशत् षोडशाऽर्द्धदशपञ्चोपचारकाः । तान्विभज्य प्रवक्ष्यामि के के ते, तैः कृतैश्च किम् ॥ आसनं प्रथमं तेषामावाहनमुपस्थितिः । सान्निध्यमाभिमुख्यं च स्थिरीकृतिप्रसाधनम् ॥ अर्घ्यं च पाद्याचमने मधुपर्कमुपस्पृशम् । स्नानं नीराजनं वस्त्रमाचामं चोपवीतकम् ॥ पुनराचामभूषे च दर्पणालोकनं ततः । गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यञ्च ततः क्रमात् ॥ पानीयं तोयमाचामं हस्तवासस्ततः परम् । ताम्बूलमनुलेपं च पुष्पदानं पुनःपुनः ॥ गीतं वाद्यं तथा नृत्यं स्तुतिं चैव प्रदक्षिणम् ॥ पुष्पाञ्जलिनमस्कारावष्टत्रिंशत्समीरिता" । इति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*—"आसनं प्रथमं तेषु ततश्चावाहनं मतम् । उपस्थानं च सान्निध्यमि"त्यादिना 'पुष्पाञ्जलिनमस्कारौ विष्णुप्रीत्यैभवन्त्यमी । त्रिंशच्चाष्टौ समाख्याता उपचारा मनीषिभिरि"त्यन्तेन । षोडश मूले स्पष्टाः । तथा—"आसनं स्वागतं वस्त्रभूषेत्युक्ता तु द्वादश । अर्घ्यपाद्याचमान्येव मधुपर्काचमान्यपि ॥ गन्धादयोनिवेद्यान्ता उपचारा दश क्रमात् ॥ गन्धपुष्पौ धूपदीपौ नैवेद्यं पञ्च संस्मृताः । सपर्या पञ्चधा प्रोक्ता तासामेकां समाचरेत" इति । *प्रयोगसारे तु षड्उक्ता अप्युक्ताः* "अर्घ्यं गन्धं ततः पुष्पमक्षतं धूपमेव च । दीपो नैवेद्यं सम्राज्ञी सपर्यत्यपरे जगुरि"ति । *स्वागतमिति* कुशलप्रश्नमिति स्वागतस्यार्थकथनम् । श्लोकस्तु—"यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः स्वाभीष्टसिद्धये । तस्मै ते परमेशाय स्वागतं स्वागतं च मे" इति । तदनन्तरं सुस्वागतमपि मूलमन्त्रान्ते । श्लोकस्तु—"कृतार्थोस्म्यनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं मम । आगतोदेवदेवेश ! सुस्वागतमिदं पुनरि"ति ॥ ९२ ॥

पाद्यमिति । *हृदयाणुना* नमोमन्त्रेण । श्लोकस्तु "यत्क्लेशसंपर्कात्परमानन्दसंभवः । तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये" इति । अत्र नमोमन्त्रमुच्चार्य श्लोकमुच्चार्य "पाद्यं गृहाण नमः" इति शङ्खस्यजलमुत्सृजेत् । यत्र मन्त्रविशेषोनोक्तस्तत्र मूलमन्त्र एव ज्ञेयः । *एतदिति* । श्यामाकः "साँवे"ति प्रसिद्धः । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि* "दूर्वा च विष्णुपत्नी च श्यामाकं पद्ममेव च । पाद्याङ्गानि च चत्वारि कथितानि समासत" इति॥ ९३॥

सुधामन्त्रेण वमित्यनेन । श्लोकस्तु "वेदानामपि वेदाय देवानां देवतात्मने । आचम-

जातीलवङ्गकक्कोलैस्तदुक्तं तन्त्रवेदिभिः ॥ ९४ ॥
अर्घ्यं दिशेत्ततो मूर्ध्नि शिरोमन्त्रेण देशिकः।
गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपैः ॥ ९५ ॥
सदूर्वैः सर्वदेवानामेतदर्घ्यमुदीरितम्।
सुधाम्बुना ततः कुर्यान्मधुपर्कं मुखाम्बुजे ॥ ९६ ॥
आज्यं दधिमधून्मिश्रमेतदुक्तं मनीषिभिः।
तेनैव मनुना कुर्यादद्भिराचमनीयकम् ॥ ९७ ॥
गन्धाद्भिः कारयेत्स्नानं वाससी परिधापयेत्।

कल्पयामीश! शुद्धानां शुद्धिहेतव" इति। *जाती* जातीफलम्। कक्कोलं कोशफलं "कबाच" इति कान्यकुब्जभाषायाम्। *तदुक्तमगस्तिसंहितायां* "तथाचमनपात्रेऽपि दद्याज्जातीफलं मुने!। लवङ्गमपि कक्कोलं शस्तमाचमनीयकमि"ति। *महाकपिलपञ्चरात्रे* आचमनीयद्रव्याणि अन्यथोक्तानि "कर्पूरमगुरुं पुष्पं द्रव्याण्याचमनीयकमि"ति। *अन्यत्रापि विशेषः* "अर्घ्यं त्रिर्ददाति, पाद्यं त्रिर्ददाति, आचमनीयं षट् ददाति" इति। "आगताय तथार्चायां स्नातुमासनगाय च। पूजातो गन्तुकामस्य दद्यादर्घ्यं विचक्षणः॥ आगते स्नानकाले च नैवेद्योपक्रमे तथा। पाद्यस्यापि समुद्दिष्टः समयस्त्रिविधो बुधैरि"ति ॥ ९४ ॥

*शिरोमन्त्रेण *स्वाहेत्यनेन। *महाकपिलपञ्चरात्रे* कुशाग्रस्थाने फलमुक्तम् "सिद्धार्थमक्षतं चैव दूर्वा च तिलमेव च। यवं गन्धं फलं पुष्पमष्टाङ्गं त्वर्घ्यमुच्यते" इति ॥ ९५ ॥

सर्वदेवानामिति। सर्वत्र सम्बध्यते। पाद्याद्युक्तद्रव्याणि सर्वदेवतासु समानानीत्यर्थः। श्लोकस्तु—"तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम्। तापत्रयविनिर्मुक्त! तवार्घ्यं कल्पयाम्यहमि"ति। *मधुपर्कमिति*। श्लोकस्तु "सर्वकालुष्यहीनाय परिपूर्णसुखात्मक!। मधुपर्कमिदं देव! कल्पयामि प्रसीद मे" इति। यत्रार्घ्यादि प्रोक्तं तत्र द्रव्याभावे केवलतण्डुलानेव निःक्षिपेत्। तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* "द्रव्याभावे प्रदातव्याः क्षालितास्तण्डुलाः शुभा" इति। *अन्यत्रापि* "तण्डुलान्प्रक्षिपेत्तेषु द्रव्यालाभे तु तत् स्मरन्" इति ॥ ९६ ॥ ½ ॥

*तेनैव मनुना। सुधाम्बुनेत्यर्थः। श्लोकस्तु "उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वापि यस्य स्मरणमात्रतः। शुद्धिमाप्नोति तस्यैते पुनराचमनीयकमि"ति। मधुपर्कान्ते आचमनमुपलक्षणं तेन स्मृत्युक्तनिमित्तेष्वप्याचमनं दद्यात्। स्नानान्ते, वासोदानान्ते, उपवीतदानान्ते, नैवेद्यान्ते। तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे "स्नाने वस्त्रे तथा भक्ष्ये दद्यादाचमनीयकमि"ति। एवं षडप्याचमनीयानि। तदुक्तं *ज्ञानमालायाम्*। "पाद्ये च मधुपर्के च स्नाने वस्त्रोपवीतयोः। भोजने चाचमनं देयमि"ति। स्नानात्पूर्वं *महाकपिलपञ्चरात्रे* तु विशेषः "गन्धतैलमयो दद्यात् देवस्याप्रतिमं तत" इति। श्लोकस्तु 'स्नेहं गृहाण स्नेहेन लोकनाथ महाशय!। सर्वलोकेषु शुद्धात्मन्! ददामि स्नेहमुत्तमम्" इति॥ तत उद्वर्त्तनं *महाकपिलपञ्चरात्रे* "रजनी सहदेवी च शिरीषो लक्ष्मणापि च। सदा भद्राङ्कुशाग्राणि उद्वर्त्तनमिहोच्यते"। इति॥ *अन्यत्रापि* "अभ्यङ्गोद्वर्त्तने चापि महास्नाने समाचरेत्" ॥ इति ॥ ९७ ॥

गन्धाद्भिरिति। तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"शुद्धतोयात्सुगन्धतोयं श्रेष्ठं शतगुणोत्तरम्। गङ्गादितीर्थतोयानां फलं शास्त्रप्रणोदितम्॥ तत्र तत्राधिगन्तव्यमि"ति। तथा "नाहरेन्मलिनं तोयं केशकीटादिदूषितम्। मलिनेनापि भाण्डेन व्यङ्गेनाशुचिना तथे"ति। तत्रैव विशेषः "अक्षता गन्धपुष्पाणि स्नानपात्रे तथा श्रयसि"ति। श्लोकस्तु—"परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्त्तये। साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयाम्यहमीश! ते"। इति॥ पुरुषसूक्ते

दद्याद्यज्ञोपवीतं च हाराद्याभरणैः सह ॥ ९८ ॥
न्यासक्रमेण मनुना पुटितैर्मातृकाक्षरैः ।
अभ्यर्च्य देवीं गन्धाद्यैरङ्गादीन्पूजयेत्ततः ॥ ९९ ॥
गन्धश्चन्दनकर्पूरकालागुरुभिरीरितः ।
कमले करवीरे द्वे कुमुदे तुलसीद्वयम् ॥ १०० ॥
जातीद्वयं केतके द्वे कह्लारं चम्पकोत्पले ।
कुन्दमन्दारपुन्नागपाटलानागचम्पकम् ॥ १०१ ॥
आरग्वधं कर्णिकारं पारन्ती नवमल्लिका ।

शङ्खजलेन देवायाभिषेकं कुर्य्यात् । यदाहुः "शतं सहस्रमयुतं शक्त्यावाप्यभिषेचयेत् । शङ्खं संपूर्य तेनैव सपुष्पेण च देवतामि"ति ॥ *अन्यत्रापि* "स्वशक्त्या गन्धतोयेन संस्नाप्य जगदीश्वरमि"ति । अत्र विशेषः—"महाभिषेकं सर्वत्र शङ्खेनैव प्रकल्पयेत् । सर्वत्रैव प्रशस्तोऽब्जः शिवसूर्यार्चनं विने"ति॥ तत्र विशेषस्तन्त्रान्तरे "प्रतिमा पटयन्त्राणां नित्यं स्नानं न कारयेत् । कारयेत् पर्वदिवसे तथा मलनिवारणमि"ति । *वाससी इति* । द्विवचनेनोत्तरीयमपि गृहीतम् । श्लोकौ तु "माया चित्रपटच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे । निरावरणविज्ञान!वासस्ते कल्पयाम्यहम् ॥ यमाश्रित्य महामाया जगत्संमोहिनी सदा । तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकमि"ति । तत्र विशेषो *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* "पीतं कौशेयवसनं विष्णोः प्रीत्यै प्रकीर्त्तितम् । रक्तं शक्त्यर्कविघ्नेषु ईश्वरस्य सितं प्रियम् ॥ मलहीनं तथाऽच्छिद्रं क्षौमं कार्पासमेव च । तैलादिदूषिताद्रोगः सच्छिद्राद्वाच्यता भवेत् । जीर्णाद्दरिद्रता कर्त्तुः मलिनात्कान्तिहीनते"ति । *यज्ञोपवीतमिति* । श्लोकस्तु—"यस्य शक्तित्रयेणेदं संप्रोतमखिलं जगत् । यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये" इति । *हाराद्याभरणैरिति* । श्लोकस्तु "स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयाय ते । भूषणानि विचित्राणि कल्पयाम्यमरार्चिते"ति ॥ ९८ ॥

न्यासक्रमेणेति *उपचारात्पूर्वं कृतो यो देवदेहे न्यासस्तत्क्रमेण मूलमन्त्रपुटितमेकैकमक्षरं कृत्वेत्यर्थः । "वर्णैः स्वमूलपुटितैः क्रमशः शतार्द्धंन्यासक्रमादभियजेत्सकलासु मन्त्री । गन्धादिभिः प्रथमतोमनुदेवतासु त्रैलोक्यमोहन इति प्रथितः प्रयोग" इति आचार्योक्तेः । *अभ्यर्च्य देवीमिति* । अत्र देवीमित्युपलक्षणं स्वेष्टदेवतामित्यर्थः । क्वचिद्देवमिति पाठः । संपुटितलक्षणं त्रयोविंशे वक्ष्यति । ततो गन्धाद्यैरभ्यर्च्य पुनरनन्तरमङ्गादीन्यावरणान्यर्चयेत् । इति क्रमविधायकम् । गन्धाद्यैरित्यादिशब्देन पुष्पम् *अङ्गादीनिति* । तत्कल्पोक्ताङ्गावृत्त्यादि । अस्यायमाशयः । मुख्यदेवे गन्धपुष्पे दत्वा अङ्गादिलोकपालान् संपूज्य धूपादि दद्यादिति ॥ ९९ ॥

गन्धाद्यैरित्युक्तं तत्स्वरूपमेवाह—*गन्ध इत्यादिना* । श्लोकस्तु—"परमानन्दसौरभ्यपरिपूर्णदिगन्तर ! ॥ गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वरे"ति । इदं गन्धदानं कनिष्ठिकयेति ज्ञेयम् । यदाहुः—"शङ्खपात्रस्थितं गन्धं मन्त्रैर्दद्यात् कनिष्ठया" इति । ततो गन्धमुद्रां प्रदर्शयेत् । तल्लक्षणं तु "कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयुक्ता गन्धमुद्रा प्रकीर्त्तिते"ति । *कमले इति* । द्वे इति श्वेतरक्ते । श्लोकस्तु "तुरीयवनसंभूतं नानागुणमनोहरम् । अमन्दसौरभं पुष्पं गृह्यतामिदमुत्तममि"ति । ततः पुष्पमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ १०० ॥

केतके द्वे इति । श्वेतपीते । मन्दारोऽर्कः । पुन्नागोनागकेसरः ॥ १०१ ॥

आरग्वधो राजवृक्षः "धनबदर" इति कान्यकुब्जभाषायाम् । पारन्ती लताभेदः । सौगन्धिकं कह्लारभेदः। देशिकैः पूजायामुपदिष्टानि इत्यनेनान्येषु पुष्पाऽपायेषु विहितानि ग्राह्या-

सौगन्धिकं सकोरण्टं पलाशाशोकमल्लिकाः ॥ १०२ ॥
धत्तूरं सर्जकं बिल्वमर्जुनं मुनिपत्रकम् ।
अन्यान्यपि सुगन्धीनि पत्रपुष्पाणि देशिकैः ॥ १०३ ॥
उपदिष्टानि पूजायामाददीत विचक्षणः ।
मलिनं भूमिसंस्पृष्टं कृमिकेशादिदूषितम् ॥ १०४ ॥
अङ्गस्पृष्टं समाघ्रातं त्यजेत्पर्युषितं गुरुः ।
देवस्य मस्तकं कुर्यात्कुसुमोपहितं सदा ॥ १०५ ॥
पूजाकाले देवतायां नोपरि भ्रमयेत्करम् ।
अगुरूशीरगुग्गुलुशर्करामधुचन्दनैः ॥ १०६ ॥

णि तत्तद्देवतानां निषिद्धानि त्याज्यानि इत्युक्तं *ज्ञानमालायाम्* "नाक्षतैरर्चयेद्विष्णुं न तुलस्या गणाधिपम् । नदूर्वया यजेद्दुर्गां बिल्वपत्रैर्दिवाकरम् ॥ उन्मत्तमर्कपुष्पं च विष्णौ वर्ज्यं सदा बुधैः । देवीनां चार्कमन्दारावादित्ये तगरन्तथा ॥ गणेशाय च सूर्याय रक्तपुष्पमतिप्रियम् ॥ शिवे कुन्दं मदन्तीं च यूथीं बन्धूककेतके । जपां रक्तां त्रिसन्ध्ये द्वे सिन्दूरं कुटजानि च ॥ मालतीं कुङ्कुमं रक्तं इयारिं बर्बरीं त्यजेत् । उग्रगन्धमगन्धं च कृमिकेशादिदूषितम् ॥ अशुद्धपात्रपाण्यङ्गवासोभिः कुत्सितात्मभिः । आनीतं नार्पयेच्छम्भोः ग्रामादादपि दोषकृत् ॥ कलिकाभिस्तथा नेज्यं विना चम्पकपङ्कजैः । शुष्कैर्न पूजयेद् विष्णुं पत्रैः पुष्पैः फलैरपि ॥ स्नात्वाऽऽनीतैः पर्युषितैर्याचितैः कृष्णवर्णकैः । स्वयंविकासितैः पुष्पैः स्वयं च पतितैर्भुवि ॥ वर्जयेद् बृहतीद्वन्द्वं काञ्चनारं कुरण्टकम् । सर्वपुष्पैः सदा पूजा विहिताऽविहितैरपि ॥ कर्तव्या सर्वदेवानां भक्तियोगोऽत्र कारणम् । पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम् ॥ दुःखदं तत्समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम् । चित्रपूजासु सर्वासु न विद्धस्यापि दूषणम् ॥ अधोमुखार्पणं नेष्टं, पुष्पाञ्जलिविधौ न तत् ॥ लक्षपूजासु सर्वासु पुष्पमेकैकमर्चयेत । समुदायेन चेत् पूजा लक्षपुष्पार्पणं तु तत् ॥" इति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि* । "पुष्पं पञ्चविधं प्रोक्तं मुनिभिर्नारदादिभिः । परापरोत्तमं चैव मध्यमं च तथा धमम् ॥ सौवर्णं तु परं प्रोक्तमपरं चित्रवस्त्रजम् । वृक्षगुल्मलतापुष्पमुत्तमं परिकीर्त्तितम् ॥ अधमं पत्रतोयादि मध्यमं तु फलात्मकम् । उत्सृष्टं न क्रियायोग्यं सदायोग्ये परापरे ॥ पत्रेषु तुलसी श्रेष्ठा बिल्वं दमनकं शुभम् । मरुको देवकह्लारो विष्णुक्रान्ता तथैव च ॥ अपामार्गोऽथ गान्धारी पत्री सुरभिसंज्ञिका । नागवल्ली दलं दूर्वा कुशपत्रं तथा मतम् ॥ पत्रं चागस्त्यवृक्षस्य पुण्यं धात्रीदलं तथा । फलेऽप्यामलकं श्रेष्ठं बादरं तिन्तिणीभवम् ॥ दाडिमं मातुलिङ्गं च जम्बीरं पनसोद्भवम् । कदलीचूतसंभूतं श्रेष्ठं जम्बूफलं तथा । यजेदेतैः सदा विष्णुं पत्रपुष्पफलैरपि" ॥ तथा "दिवसे दिवसोत्फुल्लैः पुष्पैःपूजा तथा निशि । पुष्पालाभे प्रवालैर्वा पूजयेच्च नकोरकैरि"ति । "अन्यार्थमाहृतं दुष्टं तथैवान्योपभुक्तकमि"ति ॥ गुरुरित्यनेन केषुचित्पर्युषितेषु दोषाभाव इत्युक्तम् । *यज्ज्ञानमालायाम्* । "न पर्युषितदोषोऽस्ति जलजोत्पलचम्पके । तुलस्यगस्तिबकुले बिल्वे गङ्गाजले तथे"ति । पण्डितैर्दिनसंख्यया केषां चित् पर्युषितदोषाभाव उक्तः "बिल्वाऽपामार्गं जाती तुलसि शमि शता केतकी भृङ्ग दूर्वामन्दाम्भोजाऽद्रि दर्भा मुनि तिल तगरा ब्रह्मकह्लार मल्ली । चम्पाऽश्वारातिकुम्भीमरुवकदमना विश्वतोऽहानि च स्युः त्रिंशत् त्र्येकार्यरोसोदधिनिधिवसुभूभू यमा भूय एवमि"ति । शता शतपत्रं, भृङ्गं भृङ्गराजः । मन्दो–मन्दारः । अद्रिर्द्रोणकलशः । ब्रह्म पलाशः । अश्वारातिः–करवीरः । एषां यथायोग्यं पत्रपुष्पाणि ग्राह्याणि । अरयः षट् । यमौ द्वयम् । एवमेकावृत्त्या आहृतानां दिनसंख्या भूय एवम् । अस्यार्थः । द्वितीयावृत्त्या

धूपयेदाज्यसंमिश्रैर्नीचैर्देवस्य देशिकः ।
वर्त्या कर्पूरगर्भिण्या सर्पिषा तिलजेन वा ॥ १०७ ॥
आरोप्य दर्शयेद्दीपानुच्चैः लोचनशालिनः ।
स्वादूपदंशं विमलं पायसं सहशर्करम् ॥ १०८ ॥
कदलीफलसंयुक्तं साज्यं मन्त्री निवेदयेत् ।

दूर्वादीनामियं दिनसंख्येति । *स्मृत्यन्तरेऽपि* "पङ्कजं पञ्चरात्रं स्याद्दशरात्रं च बिल्वकम् । तुलस्यैकादशाहात्तु पुनः प्रक्षाल्य पूजयेत्" इति । तुलस्यां निर्माल्यदोषोऽपि नास्ति । यदाहुः—"सद्यः पर्युषिता वापि निर्माल्येषा नैव दुष्यति । तथान्यैर्न हरेस्तुष्टिस्तुलस्या तुष्यते यथे"ति ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

अविष्टमुक्त्वा प्रकृतमाह—*धूपयेदिति* ॥ वामहस्तेन घण्टामन्त्रेण पूजितां घण्टां वादयन् धूपं दद्यादित्यर्थः । *देशिक* इत्यनेन घण्टामन्त्रेण पूजनमुक्तम् । यदाहुः "जगद्ध्वनिमन्त्रमातः स्वाहेत्युदीर्य च । अभ्यर्च्य वादयेद्घण्टामि"ति ॥ *शैवागमे तु*—"धूपभाजनमस्त्रेण प्रोक्ष्याभ्यर्च्य हृदाऽणुना । अस्त्रेण पूजितां घण्टां वादयन् गुग्गुलं दहेत्" इति । श्लोकस्तु—"वनस्पतिरसोपेतो गन्धाढ्यः सुमनोहरः । आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्"इति । तदुक्तं—"घण्टां गन्धाक्षतकुसुमकैरर्चितां वादयन्" इति । अन्यत्रापि*—"ततः समर्पयेद्धूपं घण्टां वाद्य जयस्वनैरि"ति । तत्र प्रयोगः । धूपपात्रमस्त्रेण प्रोक्ष्य नमो मन्त्रेण पुष्पं दत्त्वा वामया तर्जन्या संस्पृशन् मूलमन्त्रं श्लोकं च पठित्वा "साङ्गाय सपरिवाराय देवाय धूपं समर्पयामि नमः" इति शङ्खजलमुत्सृज्य धूपमुद्रां प्रदर्श्य घण्टामन्त्रेणार्चितां घण्टां वामहस्तेन वादयन् देवतागुणनामयशस्तुत्यादि कीर्तयन् देवं धूपयेत् । उक्तं च—"धूपस्थानं समभ्यर्च्य तर्जन्या वामया स्पृशन् । संकल्प्यैवं ततः पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा यशः पठेत्" इति ॥ *बह्वृचपरिशिष्टेऽपि* "धूपस्य व्यजनेनैव धूपेनाङ्गविधूपने । नीराजनेषु सर्वेषु देवनामादि कीर्तयेत् ॥ तथा मङ्गलघोषं च जगद्बीजस्य च स्तुतिमि"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे तु*—"न दहेद्दूषितं धूपं काष्ठास्थिशिरोरुहैरि"ति । एवं दीपदानेऽपि । घण्टावादनादि सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् । विशेषस्त्वयम् । उत्सर्गो वामामध्यमया दीपपात्रस्पर्शः । दीपमुद्रादर्शनं च । श्लोकस्तु—"सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिमिरापहः । सबाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्"इति ॥ उक्तं च *ज्ञानमालायाम्* "सर्वनादप्रिया देवी नैकः कर्तुं च तान् क्षमः । सर्वनादमयो घण्टारवा स्मा सर्वनादकृत्" इति ॥ *नीचैरिति* । देवतानाभिदेशे ॥ १०७ ॥

उच्चैरिति । नेत्रदेश इत्याचार्याः । "दृष्ट्याद्यतिविशदधीः पादपर्यन्तमुच्चैरि"त्युक्तेः । बहुवर्त्तिदीपपक्षे विषमा एव वर्त्तिसंख्या ग्राह्या । यदाहुः—"आरार्त्तिकं तु विषमबहुवर्त्तिसमन्वितमि"ति । *प्रयोगसारे तु*—"तैलेन कपिलाज्येन सिक्थकेनापरेण च । दीपमुच्चैः प्रदर्शयेत् ॥" इति । तत्र सर्पिषा चेद्दीपस्तदा दक्षिणतः । तैलेन चेद्वामत इति संप्रदायः । एवं सितावर्त्तिश्चेद्दक्षिणतः । रक्ता चेद्वामतो निवेदनमिति ॥ १०८ ॥

मन्त्री निवेदयेदिति । अनेनैतदुक्तम् । नैवेद्यमस्त्रमन्त्रजप्तजलेन संप्रोक्षयेत् । *शैवागमे तु* "ततो मृत्युञ्जयेनैव वौषडन्तेन सप्तधा । जप्तैः सदर्भशङ्खस्थैः सिञ्चेत्तत्तोयबिन्दुभिरि"ति ॥ ततश्चक्रमुद्रया ऽभिरक्ष्य वायुबीजेन द्वादशवाराभिमन्त्रितजलेन हविः संप्रोक्ष्य तद्वायुना तद्दोषं संशोष्य दक्षिणकरतले ऽग्निबीजं विचिन्त्य तत्पृष्ठलग्नं वामकरतलं कृत्वा नैवेद्यं प्रदर्श्य तदुत्थाग्निना तद्दोषं दग्ध्वा वामकरतले ऽमृतबीजं विचिन्त्य तत्पृष्ठलग्नं दक्षिणकरतलं कृत्वा नैवेद्यं प्रदर्श्य तदुत्थामृतधारयाऽऽप्लावितं विभाव्य मूलमन्त्रितजलेन संप्रोक्ष्य

तत्रतत्र जलं दद्यादुपचारान्तरान्तरे ॥ १०९ ॥

तदखिलममृतात्मकं ध्यात्वा तत् स्पृष्ट्वा मूलमन्त्रमष्टधा जप्त्वा धेनुमुद्रां प्रदर्श्य जलगन्धपुष्पैरभ्यर्च्य देवतायै पुष्पाञ्जलिं समर्प्य तन्मुखात्तेजो निर्गतमिति ध्यात्वा वामाङ्गुष्ठेन सुरत्नं नैवेद्यपात्रं स्पृष्ट्वा दक्षिणकरेण जलं गृहीत्वा स्वाहान्तं मूलमन्त्रम्—"सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम् । निवेदयामि देवेश ! सानुगाय गृहाण तदि"ति श्लोकं च जप्त्वा "साङ्गाय सपरिवाराय देवाय नैवेद्यं समर्पयामि नमः" इति जलमुत्सृज्य नैवेद्यमुद्रां प्रदर्शयेत् । ततः सपुष्पाभ्यां हस्ताभ्यां नैवेद्यपात्रं त्रिः प्रोद्धरन् "निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे"ति जपेत् । तत्र हरेति पदस्थाने तत्तद्देवतानामोहः । यदाहुः—"अस्त्रोक्षितं तदखिलं विशुद्धिकयाऽभिरक्ष्य वायव्यतोयपरिशोषितमग्निदोष्णा । संदह्य वामकरसौधरसाभिपूर्णमन्त्रामृतीकृतमथाभिमृशन् प्रजप्यात् ॥ मनुमष्टशः सुरभिमुद्रिकया परिपूर्णमर्चयतु गन्धमुखैः हरिमर्चयेदथ कृतप्रसवाञ्जलिरास्यतोऽस्य विसरेच्च महः॥वीतिहोत्रदयितान्तमुच्चरन् मूलमन्त्रमथ निक्षिपेज्जलम् । अर्पयेत्तदमृतात्मकं हविर्दोर्युजा सकुसुमं समुच्चरन् ॥ निवेद्यार्पणमन्त्रोऽयं सर्वासु निजाख्यये"ति ॥ ततो वामकरेण ग्रासमुद्रां, दक्षिणकरेण प्राणादिमुद्राश्च दर्शयन् "प्राणाय स्वाहे"त्यादि मन्त्राञ्जपेत् । यदाहुः—"ग्रासमुद्रां वामदोष्णा विकचोत्पलसन्निभाम् । प्रदर्शयन् दक्षिणेन प्राणादीनां च दर्शयेत् ॥ स्पृशेत्कनिष्ठोपकनिष्ठिके द्वे स्वाङ्गुष्ठमूर्ध्ना प्रथमेह मुद्रा । तथापरा तर्जनिमध्यमे स्यादनामिकामध्यमिके च मध्या ॥ अनामिकातर्जनिमध्यमा स्यात्तद्वच्चतुर्थी सकनिष्ठिकास्ताः । स्यात्पञ्चमी तद्वदिहोपदिष्टाः प्राणादिमुद्रा निजमन्त्रयुक्ताः ॥ प्राणापानोदानव्यानसमानाः क्रमाच्चतुर्थ्यायुक्ताः । ताराधारा वह्नि चेद्धाः कृष्णाध्वनस्त एते मनव" इति । पुष्पादिमुद्रालक्षणानि च—"ज्येष्ठाङ्गुष्ठस्य पुष्पस्य मुक्ता धूपस्य तर्जनी। दीपस्य मध्यमानामा नैवेद्यस्य प्रकीर्तिता ॥ मुद्रया यत्कृतं कर्म तदक्षयफलप्रदमि"ति ॥ *तन्त्रेति* । उपचाराणामन्तरान्तरा पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा जलं दत्त्वा स्वहस्तं प्रक्षालयेदिति परमगुरवः ॥ इदानीं तन्त्रान्तरोक्तोविशेषो लिख्यते—"अनिर्माल्यं सनिर्माल्यमर्चनं द्विविधं मतम्। दिव्यैर्मनोभवैर्द्रव्यै गन्धपुष्पैः स्रगादिभिः॥ यदर्चनमनिर्माल्यं दिव्यभोगापवर्गदम् । ग्राम्यारण्यादिसम्भूतैर्यागद्रव्यैर्मनोरमैः॥ भक्तैर्यत् क्रियते सम्यक् सनिर्माल्यं तदर्चनम् ॥ तत्र *तत्त्वसागरसंहितायां* निर्माल्यत्वमुक्तम्—"जातमात्राणि पुष्पाणि घ्रातान्येव निसर्गतः। पञ्चभिश्च महाभूतैर्भानुना शशिना तथा ॥ प्राणिभिश्च द्विरेफाद्यैः पौष्पैरेव न संशयः । अतो निर्माल्यमित्युक्तम्"इति । निर्माल्यनिवेदनेन फलं कथमित्याशङ्क्य*तत्रैवोक्तम्* 'घ्रातपुष्पात्फलं सिध्येदल्पं नो मानसाद्यथा । तस्मादपरिहार्यत्वादन्यथा चानुपायतः ॥ अल्पबुद्धित्वतोनृणां बाह्यपुष्पैर्भवेत्क्रिये'ति । तथा—"पुनस्त्रिधामता पूजा उत्तमाधममध्यमाः । अधिकारिभिर्निमित्ताभ्यां भिद्यते शतधा पुनः ॥ यागोपकरणैः कृत्स्नैः क्रियमाणोत्तमा मता । यथालब्धैर्विनिष्पाद्या,दृष्टैः पूजा तु मध्यमा ॥ पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजाचाधमसंज्ञिता। विदिताखिलवेदार्थैर्ब्रह्मर्षिभिरकल्मषैः ॥ क्रियमाणा तु या पूजा सात्त्विकी सा विमुक्तिदा । राजर्षिभिस्तपोनिष्ठैर्भगवत्तत्त्ववेदिभिः ॥ या पूजा क्रियते सम्यक् राजसी सा सुखप्रदा । स्त्रीबालवृद्धमूर्खाद्यैर्भक्तैरक्षुद्रमानसैः ॥ या पूजा क्रियते नित्यं तामसी सा प्रकीर्त्तिता । आतुरी सौतकी चैव त्रासी दौर्बोधिकी तथा । साधनाभाविनी चेति पञ्चधा भिद्यते पुनः॥ यदि लङ्घनपर्यन्तो व्याधिरात्मनि दृश्यते । तदा पूजा न कर्तव्या स्थण्डिले प्रतिमासु च ॥ न स्नानं दन्तकाष्ठं वा कुर्याद्धोममथापि च । रविमण्डलमालोक्य प्रतिमामथ वा पुनः ॥ मूलमन्त्रं सकृज्जप्त्वा पुष्पं साक्षात्समुत्क्षिपेत् । आलोक्याचिभिरत्युग्रैः क्लान्तश्चैवोपवासकैः ॥ निजसामर्थ्यकैर्वापि स्वकर्त्तव्यं समापयेत् । स्नात्वा देवमथाग्नींश्च गुरूंश्चिप्रान् प्रपूज्य तु ॥ एतावत्कालविच्छिन्ना पूजा युष्मत्प्रसादतः । न दोषो मेऽस्त्विति प्रार्थ्य पुनः पूर्ववदाचरेत् ॥ अथ सूतकिनः पूजा

अङ्गादिलोकपालान्तं यजेदावरणान्यपि ।
केसरेष्वग्निकोणादिहृदयादीनि पूजयेत् ॥ ११० ॥
नेत्रमग्रे दिशास्वस्त्रं ध्यातव्या अङ्गदेवताः ।
तुषारस्फटिकश्यामनीलकृष्णारुणार्चिषः ॥ १११ ॥
वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवः स्त्रियः ।
पश्चादभ्यर्चनीयाः स्युः कल्पोक्ताऽऽवृत्तयः क्रमात् ॥ ११२ ॥

यदाख्यागमचोदिताम् । स्नात्वा नित्यं च निर्वर्त्य मानस्या क्रियया तु वै ॥ बाह्यपूजा क्रमेणैव स्थानयोगेन पूजयेत् । यदि कामी, न चेत्कामी नित्यं पूर्ववदाचरेत् ॥ आसिनी वक्ष्यते पूजा यथैवागमचोदिता । लब्धं वा यदि वाऽलब्धमर्घ्यपात्रादि साधनम् ॥ पूजोदकेन कर्तव्या न चेत्तोयं च विद्यते । यदि संपूजयेद्देवं भावना कुसुमादिभिः ॥ दौर्बोधिकीं प्रवक्ष्यामि पूजामागमचोदिताम् । मूर्खस्त्रीबालवृद्धाद्या दुर्बोधा इति भाविताः ॥ रत्नमण्डपपद्मसादिचतुष्कसुरगोम्बुजम् । मूलमुक्तैस्तथाङ्गानि तेषां पूजाविधीयते ॥ अन्येषामपि सर्वेषां प्रोक्ता संक्षेपकर्मणि । सर्वोपचारवस्तूनामलाभे भावनैव हि । निर्मलेनोदकेनाथ पूर्णतेत्याह नारद" इति ॥ पूजाकरणासमर्थं प्रति—"आराधनासमर्थश्चेद्द्यादर्चनसाधनम् । यो दातुं नैव शक्नोति कुर्यादर्चनदर्शनम् ॥ नैकं च यस्य विद्येत सोऽधीयात्येव नान्यथा । यस्तु भक्त्या प्रयत्नेन स्वयं" संपाद्य चाखिलम् ॥ साधनं चार्चयेद्विद्वान् स समग्रफलं लभेत् । योऽर्चयेद्गृहमिवश्रक्त्या परानीतैश्च साधनैः ॥ पूजाफलार्द्धमेवास्य न समग्रफलं लभेत्" इति ॥ १०९ ॥

अङ्गादीन्पुनरर्चयेदित्युक्तम्—तत्राद्यन्ते समान्ये इति तयोर्ध्यानस्थानप्रयोगात् वस्तुमादिशब्दार्थं च प्रकटयितुं पुनः संगृह्णाति *अङ्गादीति* पूजावसरस्य प्रागुक्तत्वात् । अतएव वक्ष्यति—"एवं सम्पूज्य विधिवन्निवेद्यान्तमि—"ति । अङ्गमङ्गावृत्तिरादौ यस्य तत् लोकपालावृत्तिरन्ते यत्र तत् अङ्गादिलोकपालान्तमिति क्रियाविशेषणम् । लोकपालशब्देनैव स्वाख्यावृत्तिग्रहणं ज्ञेयम् । एतच्च सम्भवाभिप्रायं, बहुषु स्थलेषु तथादर्शनात् । न नियमः । अपिशब्दादश्रापि अन्तराजलं दद्यात् इत्यनुषज्यते । अङ्गपूजायाः सर्वसामान्यार्चनस्थानमाह—*केसरेष्विति* । अग्निकोणादीत्यादिशब्देन नैर्ऋतवायव्येशानकोणेषु । तदुक्तम्—"वह्न्याद्यीशान्तमङ्गानि हृदादिकवचान्तकम् । अर्चयेत्पुरतो नेत्रमस्त्रं दिक्षु बहिः पुनरि"ति ॥ *अन्यत्रापि* "हुतवहनिर्ऋतिसमीरणदिक्षु हृदादि वर्मान्तम्"इति । अन्येतु "आग्नेयेशाननिर्ऋतिवायुकोणेष्वि"ति व्याचक्षते ॥ यदाहुः "इष्ट्वा हृदयमाग्नेय्यामैशान्यां तु शिरो यजेत् । नैर्ऋत्यां तु शिखा पूज्या वायव्यां कवचं यजेत् ॥ अभ्यर्च्य पुरतो नेत्रं दिक्षु शस्त्रमथार्चयेत्" इति । *अन्यत्रापि* "अग्नीशासुरवायव्यमध्यदिक्ष्वङ्गपूजनम्" इति । यथागुरूपदेशं च निर्णयः । अत्राग्नेयादीनि पुरःकल्पितपूर्वदिगपेक्षया न तु प्रसिद्धानीति ॥ ११० ॥

नेत्रमग्र इति कर्णिकायां देवस्य पुरतः । शिरः प्रभृति पूजायां मन्त्रेषु नमोन्तता ज्ञेया । होमे तु हृदयादीनां स्वाहान्तता । आद्यद्वितीययोस्तज्जातियुक्तत्वादेव न तत्प्रयोगः । अधिकरणसिद्धान्तायमर्थः । तथाहि "मन्त्रे स्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात्स्यादि"त्यत्राधिकरणे स्वाहाकारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविर्ददातीति सामान्येन विहितया स्वाहाकारास्ततया "पृथिव्यै स्वाहा" "अन्तरिक्षाय स्वाहे"त्यादिषु मन्त्रेषु न पुनस्तस्यावापः सामिधेनी सावधयवदुपसंहाराभावान्नान्यमन्त्रेषु बाधश्चेति स्थितम् ॥ १११ ॥

प्रधानतनवः स्त्रिय इति । पक्षद्वयमिति पद्मपादाचार्याः । उक्तं च—"वरदाभयधारिण्यो अधिकाङ्गस्योऽङ्गदेवताः पूज्या" इति । आवरणानीत्युक्तानां स्थानमाह—*प-

अन्ते यजेल्लोकपालान्मूलपारिषदान्वितान्।
हेतिजात्यधिपोपेतान्दिक्षु पूर्वादितः क्रमात्॥ ११३॥
इन्द्रमग्निं यमं रक्षोवरुणं पवनं विधुम्।
ईशानं पन्नगाधीशमधऊर्ध्वं पितामहम्॥ ११४॥
पीतो रक्तोऽसितो धूम्रः शुक्लो धूम्रसितावुभौ।
गौरोऽरुणः क्रमादेते वर्णतः परिकीर्तिताः॥ ११५॥

वज्रादिति। पश्चादङ्गावृत्त्यनन्तरमित्यर्थः। इदमपि प्रायिकम्। तत्पूर्वमप्यावृत्तीनां सत्त्वात्॥ ११२॥

अन्त इति। वाह्ये(१)। चतुरस्रे आवरणान्तत्वस्य पूर्वमुक्तेः। एतच्च व्याख्यानं वैहायसी मन्त्रकोशे वायवीयसंहितायां च तथा दर्शनात् सत्सम्प्रदायाच्च। पूर्वादितो दिक्षु क्रमाच्च। अन्ते इन्द्रमग्निम् इत्यादीन् लोकपालान् यजेदिति सम्बन्धः। तत्र सामान्यत "इन्द्राय नमः" इत्यादिप्रयोगे प्राप्ते विशेषमाह—*मूलेत्यादिना* अन्ते इत्यत्रापि सम्बध्यते। तेनेदं पदं सर्वान्ते देयमेवेत्यर्थः। तच्च प्रयोगलिखने स्फुटीभविष्यति। *मूलपारिषदान्वितानिति* अस्यायमर्थः। यदा शक्त्यावरणे इन्द्रादिपूजा तदा प्रत्येकं शक्तिपार्षदायेति लोकपालानां च वज्रादीनां च विशेषणं ज्ञेयम्। एवं शिवपूजायाम् प्रत्येकं शिवपार्षदायेति। एवं गणेशपूजायां प्रत्येकं गणेशपार्षदायेति। एवं सूर्यपूजायाम् प्रत्येकं सूर्यपार्षदायेति। एवं विष्णुपूजायां प्रत्येकं विष्णुपार्षदायेति चरणद्वयत्यया गोपनार्थं कृतः। *हेतीति* अत्रापि अन्त इति सम्बध्यते। इन्द्रायेत्यादेरन्त इत्यर्थः। अत्रापि प्रयोगे जात्यधिपानां पूर्वमुच्चारणं पश्चाद्धेतीनाम्। मूले तु हेतिशब्दस्याल्पाच्त्वात् पूर्वनिपातः। हेतयः। आयुधानि। जातयः सुरतेजः प्रेतरक्षोजलप्राणनक्षत्रभूतनागलोकाः। सवाहनान् सपरिवारानिति ज्ञेयम्। वाहनानितु—ऐरावत अज महिष नर मकर मृग अश्व वृषभ रथ हंसाः। तदुक्तमाचार्यैः—"जात्याधिपहेतिपरिवारान्ताः क्रमेण यष्टव्या" इति। वक्ष्यति च स्वयं नित्यामन्त्रे "लोकपालान् यजेदन्ते वाहनायुधसंयुतान्" इति।सशक्तिकानिति ज्ञेयम्। तदुक्तं *वैहायसीमन्त्रकोशे*। "लोकेश्वरान्पार्थिवमण्डले सशस्त्रान् सशक्तीन् सहवाहनांश्च। सपार्षदांश्चन्दनपुष्पधूपैर्यजेत् स मन्त्री निजवाञ्छिताये"ति। स्वबीजाढ्यानित्यपि ज्ञेयम्। बीजानितु लं रं मं क्षं वं यं शं हं नं कम्। तदुक्तम् *महाकपिलपञ्चरात्रे*—'यानुलोमतृतीयं तु द्वितीयं त्वविलोमतः। चतुर्थं फानुलोमेन रानुलोमेन चाष्टमम्॥ तृतीयं रानुलोमेन लविलोमात् तृतीयकम्। चतुर्थं सप्तमं वर्णं रानुलोमेन संस्थितम्॥ चतुर्थं थानुलोमेन तृतीयं गविलोमतः। स्वरोपान्त्यस्थनादाभ्यां भेदितं सर्वमेव तत्॥ आनुपूर्व्योद्धृतं बीजं ब्रह्मान्तं वासवादिम'मिति। एतानि दीर्घाण्यपीति केचित्। अनन्तब्रह्मणोर्मायापाशबीजे इति केचित्।तदुक्तं—"पृथ्व्यग्निपवनाद्यान्त्यवरुणानिलसेश्वरैः।अनन्तबिन्दुसंयुक्तैरर्च्याः पाशेन मायया" इति। तत्र *रक्षः* इति निर्ऋतिम्। पवनं वायुं, विधुं सोमम्। पन्नगाधीशमनन्तं, पितामहं ब्रह्माणम्। *दिक्षु पूर्वादितः क्रमादिति* अत्र प्रसिद्धा एव पूर्वादयो ग्राह्याः। तदुक्तम्—"प्रयजेत् स्वदिक्ष्वमलधीःस्वजात्यधीश्वरहेतिपत्रपरिवारसंयुतानि"ति। *नारायणीये च*॥ "इन्द्रादींश्च स्वदिक्षु" इति। "इन्द्रादिकान् लोकपालान् स्वस्वदिक्षु समर्चयेत्" इति।तत्राष्टदिक्षु अष्ट पूजयितव्याः

---

(१) "अन्तः प्रान्तेऽन्तिके नाशे स्वरूपेऽतिमनोहरे" इति विश्वप्रकाशात्प्राप्तार्थोऽत्रान्तशब्द इति।

वज्रं शक्तिं दण्डमसिं पाशमङ्कुशकं गदाम् ।
शूलं चक्रं पद्ममेषामायुधानि क्रमाद्विदुः ॥ ११६ ॥
पीतशुक्लसिताकाशविद्रुधद्रक्तसितासिताः ।
कुरुविन्दपाटलाभा वज्राद्याः परिकीर्तिताः ॥ ११७ ॥
एवं संपूज्य विधिवन्निवेद्यान्तं ततोगुरुः ।
दक्षिणे स्थण्डिलं कृत्वा तत्राधाय हुताशनम् ॥ ११८ ॥
संस्कृत्य विधिवद्विद्वान्वैश्वदेवं समाचरेत् ।
तत्र संपूज्य गन्धाद्यैर्देवतामुक्तविग्रहाम् ॥ ११९ ॥
तारव्याहृतिभिर्हुत्वा मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
सर्पिष्मता पायसेन पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ १२० ॥
हुत्वा व्याहृतिभिर्भूयो गन्धाद्यैः पुनरर्चयेत् ।
तां योजयित्वा पीठस्थमूर्तौ वह्निं विसर्जयेत् ॥ १२१ ॥
अवशिष्टेन हविषा विकिरेत्परितो बलिम् ।
देवतायाः पार्षदेभ्यो गन्धपुष्पाक्षतान्वितम् ॥ १२२ ॥

निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये अनन्तम् । इन्द्रेशानयोर्मध्ये ब्रह्माणम् । तदुक्तं *वायवीयसंहितायाम्* "विष्णुं नैर्ऋते विधिमैश्वरे । बहिः पद्मस्य वज्राद्यान्यब्जान्तान्यायुधान्यपि । प्रसिद्धरूपाण्याशासु लोकेशानां क्रमाद्यजेत्" इति । अत्र नैर्ऋते ईश्वर इति तत्सामीप्यलक्षकमिति ज्ञेयम् । अत्र क्वचिद्ब्रह्माणं पूजयित्वानन्तं पूजयेदिति क्रमः । स पौराणिक इति ज्ञेयं, न तान्त्रिकः । महाकपिलपञ्चरात्र-प्रपञ्चसारादिबहुतन्त्रविरोधात् । तथाचाचार्याः—"अनन्तब्रह्मपर्यन्तैः पञ्चमीन्द्रादिभिर्मता । चक्रपद्मान्तिकैः षष्ठी वज्राद्यैरि"ति । प्रयोगो यथा । "ॐ लं इन्द्राय सुराधिपतये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय सशक्तिकाय विष्णुपार्षदाय नमः" इति । एवं "ॐ रं अग्नये तेजोऽधिपतये" इत्यादि । एषां पूजायां लोकपालमुद्रा दर्शनीयाः । यदाहुः—"पाणिमूले सुसंलग्ने शाखाः सर्वाः प्रसारिताः । लोकेशानामियं मुद्रा तेषामर्चासु दर्शयेदि"ति ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

असिः खड्गम् ॥ ११६ ॥

आकाशो—नीलवर्णः । कुरुविन्दः—नीलपुष्पोऽतसीप्रायोवृक्षः । तत्पुष्पवर्ण इत्यर्थः । *तत्तुक्तमाचार्यैः*—"कुरुविन्दारुणवर्णा" इति । तत्र प्रयोगो यथा । "ॐ वं वज्राय वज्रलाञ्छितमौलये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय सशक्तिकाय विष्णुपार्षदाय नमः" इत्याद्यूह्यम् । तदुक्तम्—"अर्चाबहिर्निजसुलक्षितमौलियुक्ताः स्वस्वायुधाभयसमुद्यतपाणिपद्मा" इति ॥ ११७ ॥

मूलेन मूर्तिमिष्ट्वेत्यादि (८७श्लो०) *निवेद्यान्तमिति* नित्यपूजायामपि समानम् ॥ ११८ ॥

विद्वान्विधिवत् संस्कृत्येति । अनेन वीक्षणादयश्चत्वारः संस्काराः घृतसंस्कारा अग्नेराज्याहुतिक्रमेण गर्भाधानादिसंस्काराश्च कर्त्तव्या इत्युक्तम् ॥ ११९ ॥

तारव्याहृतिभिरिति । अत्राद्याश्च तस्रः सतारव्याहृतिभिः । एका समस्तेन भूयोऽनन्तरं व्याहृतिभिर्हुत्वेति सम्बन्धः । पूर्ववदिति ज्ञेयम् । पुनरनन्तरं गन्धाद्यैस्तां देवतामर्चयेत् । आदिपदेन पुष्पधूपदीपनैवेद्यानि पीठस्थमूर्तौ योजयित्वा तामित्यध्याहृत्यते ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

ततोनैवेद्यमुद्धृत्य शोधयित्वा स्थलं पुनः ।
पञ्चोपचारैः संपूज्य दर्शयेच्छत्रचामरे ॥ १२३ ॥
कर्पूरशकलोन्मिश्रं ताम्बूलं च निवेदयेत् ।
सहस्रावृत्त्या सञ्जप्य मूलमन्त्रमनन्यधीः ॥ १२४ ॥
तज्जपं सर्वसम्पत्त्यै देवतायै समर्पयेत् ।
ततः शम्भोर्दिशि गुरुर्विकिरेत्पूर्वसञ्चिते ॥ १२५ ॥
हेमवस्त्रादिसंयुक्तां कर्करीतोयपूरिताम् ।

तत इति । अनेनैतदुक्तं भवति पानार्थं जलं दद्यान्मूलमन्त्रान्ते । श्लोकस्तु–"समस्तदेवदेवेश ! सर्वतृप्तिकरं परम् । अखण्डानन्दसंपूर्णं गृहाण जलमुत्तममि"ति । ततः भोजनशेषोदकं च दत्त्वा निर्गततेजोदेवमुखे संहृत्य नैवेद्यांशं विष्वक्सेनादिभ्यो दत्त्वेति । तदुक्तम्–"मुख्यादीशानतः पात्रान्नैवेद्यांशं समुद्धरेत् । सर्वदेवस्वरूपाय पराय परमेष्ठिने ॥ श्रीरामसेनायुक्ताय विष्वक्सेनाय ते नमः ॥ गणेशे वक्रतुण्डाय, सूर्ये चण्डांशवेऽर्पयेत् । शक्तावुच्छिष्टचाण्डाल्यै, शिवे चण्डेश्वराय चे"ति । *देवतायाः पार्षदेभ्य इति* अत्रापि पारर्षदशब्देनैतेषामपि ग्रहणम् ॥१२३ ॥ १२४ ॥

सर्वसम्पत्त्यै देवतायै इति । व्यधिकरणे चतुर्थ्यौ *समर्पयेदिति* । अत्र नित्यपूजायां ताम्बूलच्छत्रादर्शचामराणि । समर्प्य "बुद्धिः सवासना कलशा दर्पणं मङ्गलानि च । मनोवृत्तिर्विचित्रा ते नृत्यरूपेण कल्पिता ॥ ध्वनयो गीतरूपेण शब्दा वाद्यप्रभेदतः । छत्राणि नवरत्नानि कल्पितानि मया प्रभो ! ॥ सुषुम्णा ध्वजरूपेण प्राणाद्याश्चामरात्मना । अहङ्कारो गजत्वेन वेगः कलुषोरथात्मना॥ इन्द्रियाण्यश्वरूपाणि शब्दादीरथवर्त्मना । मनः प्रग्रहरूपेण बुद्धिः सारथिरूपतः॥ सर्वमन्यत्तथा क्लृप्तं तवोपकरणात्मने"ति श्लोकान् पठित्वा यथाशक्ति मूलमन्त्रं जप्त्वा–"गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् । सिद्धिर्भवतु मे देवि ? त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते"त्यनेन तं जपं देवतायै निवेदयेत् । तदुक्तं *शैवागमे*—"मन्त्रीश्लोकं पठित्वा तु दक्षहस्तेन शम्भवे । मूलाणुनाऽर्घ्यतोयेन दक्षहस्ते निवेदयेत्" इति । ततः पराङ्मुखार्घ्यं दत्त्वा शङ्खं पूजयेत् । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैः शङ्खं वै देववद्बुध" इति । *अन्यत्रापि*–"त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया । शङ्खे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र ! तस्माच्छङ्खं सदार्चयेत्" इति । ततःप्रदक्षिणं कुर्यात् । तत्र *विशेषस्तन्त्रान्तरे*–"एकं चण्ड्यां रवौ सप्त त्रिस्रो दद्याद्विनायके। चतस्रः केशवे दद्याच्छिवस्यार्द्धप्रदक्षिणामि"ति॥ ततः स्तुत्वा नत्वा नित्यहोमं कुर्यात् । तत्र *तन्त्रान्तरे विशेषः*—"अन्वाधानादिकं कर्म नित्यहोमे न विद्यत" इति । ततश्चुलुकोदकेन–"इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतोजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा मां मदीयं च सकलं हरयेतत् समर्पये ॐ तत्सदि"ति ब्रह्मार्पणमन्त्रेणात्मानं समर्प्य स्वहृत्कमले संहारमुद्रया देवमुपसंहरेदिति विशेषः । संहारमुद्रालक्षणमुक्तमेव । प्रसादस्वीकारे च तत्तद्देवताप्रसादः स्वीकर्त्तव्य एव । पञ्चदेवतापूजायां तु विष्णोरेव । शालिग्रामशिलास्पर्शादन्येषां च । तथाच *बह्वृचपरिशिष्टे*—"पवित्रं विष्णुनैवेद्यं सुरसिद्धर्षिभिः स्मृतम् । अन्यदेवस्य नैवेद्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ अग्राह्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम्।शालग्रामशिलास्पर्शात् सर्वं याति पवित्रतामि"ति । *अन्योविशेषस्तन्त्रान्तरे* । "विक्षेपादथवा लक्ष्याज्जपहोमार्चनान्तरा । उत्तिष्ठति तदान्यासं षडङ्गं विन्यसेत्पुनरि"ति ॥ *शम्भोर्दिशि इति* । ऐशान्याम् ॥ १२६ ॥

कर्करीति । सनालं जलपात्रम् । तस्यां कर्कर्य्याम् । एवं गुरुरामरूपदेवतां पूजयेदित्य-

संस्थाप्य तस्यां सिंहस्थां खड्गखेटकधारिणीम् ॥ १२६ ॥
घोररूपां पश्चिमास्यां पूजयेदस्त्रदेवताम् ।
चलासनेन सम्पूज्य तामादाय गुरुः पुनः ॥ १२७ ॥
रक्षेति लोकपालानां नालमुक्तेन वारिणा ।
देवाज्ञां श्रावयन्नन्तः परिवृत्य प्रदक्षिणम् ॥ १२८ ॥
अस्त्रमन्त्रं समुच्चार्य्य यथापूर्वं समर्पयेत् ।
अभ्यर्च्य भूयो गन्धाद्यैरस्त्रं तत्र स्थिरासने ॥ १२९ ॥
ततश्च संस्कृते वह्नौ गोक्षीरेण चरुं पचेत् ।
अस्त्रेण क्षालिते पात्रे नवे ताम्रमयादिके ॥ १३० ॥
तण्डुलान् शालिसंभूतान् मूलमन्त्राभिमन्त्रितान् ।
प्रसृतीनां पञ्चदश क्षिप्त्वा चास्त्रमनुं जपेत् ॥ १३१ ॥
प्रक्षाल्य पात्रवदनं पिधाय कवचाणुना ।
प्राङ्मुखो मूलमन्त्रेण देशिकेन्द्रश्चरुम्पचेत् ॥ १३२ ॥
स्रुवेणाज्येन संस्विन्ने दद्यादाज्याभिघारणम् ।
मूलेन पश्चात्तत्पात्रं कवचेनावतारयेत् ॥ १३३ ॥
अस्त्रजप्ते कुशास्तीर्णे मण्डले विधिवद्गुरुः ।
तं विभज्य द्विधा भागमेकं देवाय कल्पयेत् ॥ १३४ ॥
अन्यमग्नौ प्रजुहुयादपरं देशिकः स्वयम् ।
शिष्येण सार्द्धं भुञ्जीत विहिताचमनस्तदा ॥ १३५ ॥

न्वयः । *चलासनेनेति* । उच्छ्रितासनेन । *तामिति* । गुरुः कर्करीमादाय नालमुक्तेन वारिणा लोकपालानां रक्षेति देवाज्ञां श्रावयन् । अन्तर्मण्डपान्तर्वेद्याः परितः प्रदक्षिणं परिवृत्य यथापूर्वंतां निवेशयेदिति सम्बन्धः । तत्र-कर्कर्याम् । अस्थिरासने—निश्चलासने उपविष्ट इत्यर्थः ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

संस्कृते वह्नाविति । आचार्येण स्वकुण्डे संस्कृते । यतोऽग्रिमपटले वक्ष्यमाणाग्निजननकर्माचार्येणास्मिन्नेव काले कृतमस्ति तस्यानुवादः संस्कृते वह्नाविति । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"कुण्डमस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य तत्राधाय हुताशनम् । सान्वाधानादिकं देवं यथावत्पूजयेत्ततः ॥ कृत्वा तण्डुलनिर्वापं तस्मिन् क्षीरे पचेच्चरुमि"ति ॥ *नारायणीयेऽपि*—"तत्र सम्भृतसम्भारः शिवमिद्धा विधानतः। मूलसूर्त्यङ्गविद्याभिस्तण्डुलक्षेपणादिकम्॥कृत्वा चरुं पचेत् क्षीरे पुनस्तद्विभजेद्द्विधा ॥ निवेद्यैकं परं हुत्वा सशिष्योऽन्यद्भुजेद्गुरि"ति ॥ १३० ॥

तण्डुलानिति । "प्रसृतीनां पञ्चदशभिः परिमितानि"ति शेषः। तण्डुलान् मूलमन्त्राभिमन्त्रितान् क्षिप्त्वा-मूलमन्त्रेण क्षिप्त्वेत्यर्थः । ततोऽस्त्रमनुं जपन् प्रक्षाल्य तत्रैव पात्रे इति शेषम् ॥ प्रसृतिलक्षणमग्रे वक्ष्यते ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

स्रुवेणेति । संस्विन्ने चरौ स्रुवेण कृत्वा मूलमन्त्रेणाज्ये तस्याभिघारणं दद्यादिति सम्बन्धः । *विधिवद्गुरुरिति* । अनेन मूलेन कुशेन समविभागः कार्य इत्युक्तम् ॥ १३३॥१३४॥

अग्नाविति । कुण्डाग्नौ । देशिकः प्रजुहुयादित्यनेनैतदुक्तम् साज्येन चरुणा वक्ष्यमाणेऽग्रिमपटले मूलेन पञ्चविंशतिवारसङ्ख्यो होमोऽनुसन्धेय इति । *भुञ्जीतेति* । तत्र विशेषः ।

आचान्तं शिष्यमानीय सकलीकृत्य देशिकः ।
तालप्रमाणं हृद्गन्धं क्षीरवृक्षादिसंभवम् ॥ १३६ ॥
दन्तकाष्ठं तदा दद्यान्निकृष्याय नियतात्मने ।
दन्तान्विशोध्य स पुनस्तत्प्रक्षाल्य विसर्जयेत् ॥ १३७ ॥
यथाविधि तमाचान्तं शिखाबन्धाभिरक्षितम् ।
विधाय सार्द्धममुना वेद्यां दर्भास्तरे गुरुः ॥ १३८ ॥

सोमशम्भौ—"चरोस्तृतीयभागं तु ग्रासत्रितयसंमितम् । अष्टग्रासप्रमाणं वा दशनस्पर्शवर्जितम् ॥ पालाशे पुटके शुक्लौ, शुक्लौ पिप्पलपत्रजे । दद्यात्संभोजयेन्मन्त्री पूतैराचामयेज्जलैरि"ति ॥ १३९ ॥

सकलीकृत्येति । मन्त्रषडङ्गमस्याङ्गे न्यस्येत्यर्थः ॥ *तालेति* । प्रसृतपाणेरङ्गुष्ठाग्रान्मध्यमाग्रं यावत्तालः । तदुक्तम्—"अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ ये हस्तस्य प्रसारिते । तदग्रयोरन्तरालं तालमाहुर्मनीषिण" इति॥*देशिकोदद्यादिति* । अनेन मन्त्र उक्तः।*पतिपिङ्गलामते*—"मायादण्डिनि ठद्वन्द्वं प्रदद्यादमुना च तदि"ति ॥ विसर्जनानन्तरं तत्परीक्षा कर्तव्येति विसर्जयेदित्यनेनोक्तम् । "प्रक्षाल्य निक्षिपेद्भूमौ वामतो वामपाणिने"ति।*प्रयोगसारे विशेषः*। स यथा—*नारायणीये*—"दन्तकाष्ठं हृदा जप्तं क्षीरवृक्षादिसम्भवम् । संमार्ज्य दन्तांस्तच्छित्वा प्रक्षाल्यैतद्भुवि क्षिपेत ॥ दिक्षु पूर्वाद्यधोर्ध्वासु तस्याप्रपतनं क्रमात् । वृद्धिस्तपो मृतिर्वित्तं क्षयं शान्तिर्गदो धनम् ॥ सुखं वृद्धिः परंदुःखं फलान्येतानि शंसती"ति । *अन्यत्रापि* "धीश्रीतापवियोगापमृत्युश्रुक्तुल्यताशमैशादौ । रदधावनाप्रपतने कुफले मूलाहुतितिलैर्दिशती"ति । तथा *अन्यत्रापि*—"अथाम्रचूतवृक्षस्य द्वादशाङ्गुलमानतः । दन्तकाष्ठं प्रदातव्यं तदन्ताग्रविवर्जितम् ॥ ऊर्ध्वास्यं क्षेपयेत्तत्र मण्डले पीठमुत्रयेत् । पश्चिमोत्तरहृद्देहे शुभः पातोऽन्यथाऽशुभः ॥ दुर्निमित्तविनाशाय जुहुयाच्छतमस्त्रत" इति । *वायवीयसंहितायां तु*—"त्यक्तं तद्दन्तपतनं दृश्यते गुरुणा यदि । प्रागुदक्पश्चिमैशाग्रं शिवमन्यच्छिन्नेतरम् ॥ अशस्ताशामुखे तस्मिन् गुरुस्तद्दोषशान्तये । शतमर्द्धं तदर्द्धं वा जुहुयान्मूलमन्त्रत" इति ॥१३६॥१३७॥

यथाविध्याचान्तं यथाविधि शिखाबन्धाभिरक्षितं विधायेति सम्बन्धः । तत्राचमने विधिः पूर्वं मयोक्त एव । शिखाबन्धेतु—यथाविधीत्यनेनैतदुक्तं भवति—मूलमन्त्रस्य स जातिशिखामन्त्रेणाघोरादिमन्त्रेण च शिखां बध्नीयात् इति । *गुरुः शयीतेति* । गुरुस्तस्यां वेद्याममुना शिष्येण सार्द्धं दर्भास्तरे तां रात्रिं शयीतेति संबन्धः । *वेद्यामि"ति*॥ सामीप्यमधिकरणार्थम् । तदुक्तं *नारायणीये* "पुनस्तं शिष्यमाचान्तं शिखाबन्धाभिरक्षितम् । कृत्वा वेद्यां सहानेन स्वपेद्दर्भास्तरे गुरुरि"ति ॥ गुरुरित्यनेन देवदक्षिणभागे पूर्वशिरसा शिष्यं स्वापयेदित्युक्तं—"स्वप्नमाणवमाश्रित्य स्वापयेत्पूर्वमस्तकमि"ति पिङ्गलामत उक्तेः ॥ *सोमशम्भौ* तु "गृहस्थान् दर्भशय्यायां पूर्वशीर्षाभिरक्षितान् । दद्या सप्तमशय्यायां यतीन् दक्षिणमस्तकान्" इति । *वायवीयसंहितायां तु*—"देवस्य दक्षिणे भागे शिष्यं तमधिवासयेत् । अहतास्तरणास्तीर्णे सदर्भशयने शुचिः ॥ मन्त्रिते च शिवं ध्यायन् प्राक्शिरस्को निशि स्वपेत् । शिखाबद्धस्य सूत्रस्य शिखायास्तच्छिखां गुरुः ॥ आबध्याहतवस्त्रेण समाच्छाद्य च वर्मणा ॥ रेखात्रयं च परितो भस्मना तिलसर्षपैः । कृत्वास्त्रजप्तैः स्तदूबाह्ये दिगीशानां बलिंहरेदि"ति ॥ स्वप्नमाणवमन्त्रो वैष्णवेषु *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"ॐ ह(१)स्वक-

---

(१) नम इति तदर्थः ।

शयीत तस्यां तां रात्रिमधिवासः समीरितः ॥ १३९ ॥

॥ इति शारदातिलके चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥ * ॥

ततोऽग्निजननं वक्ष्ये सर्वतन्त्रानुसारतः ।
आचार्यकुण्डे विधिवत्संस्कृते शास्त्रवर्त्मना ॥ १ ॥
अष्टादश स्युः संस्काराः कुण्डानां तन्त्रचोदिताः ।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ॥ २ ॥

त्रैलोक्याय विष्णवेप्रभविष्णवे । विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥ स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं कथितो नारदादिभिरि"ति। शैवशाक्तादौ तु *पिङ्गलामते*—"तारो हिलिद्वयं शूलपाणये द्विठद्वयान्तितः। स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं शम्भुना परिकीर्त्तितः" इति। *तन्त्रान्तरोक्तो विशेषः*—"नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय भवात्मने। वामाय विष्णुरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥ स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः। क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान् महेश्वरे"ति। मन्त्रेण स्वापकाले देवं संप्रार्थ्य स्वपेत्। प्रातश्च स्वप्नपरीक्षा कार्या। तदुक्तं *पिङ्गलामते—"स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत्प्रातः शिशुं गुरुः। शुभे शुभं वदेत्तस्य जुहुयादशुभे शतम् ॥ अस्त्रेणेति क्रमात् प्रोक्तो विधिः शिष्याधिवासन" इति। *अन्यत्रापि—"क्रूरेऽधमामध्यमा स्यादृदृष्टे तूत्तमाधमे"ति॥ *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि*—"गुरुपादार्चनं कृत्वा उपवासी जितेन्द्रियः। दर्भशय्यां गतो रात्रौ दृष्ट्वा स्वप्नं निवेदयेत् ॥ कन्याच्छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम्। कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फणिनं द्रुमम् ॥ पर्वतं च हयं मेध्यमाममांसं सुरासवम्। एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ चाण्डालं करभं काकं गर्त्तं शून्यममङ्गलम्। तैलाभ्यक्तं नरं नग्नं शुष्कवृक्षं सकण्टकम् ॥ प्रासादमतलं दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात्। दृष्ट्वा दुःस्वप्नकं चैव होमात्सिद्धिमवाप्नुयात" इति ॥ अत्रोपवासीति—रागतः प्राप्तभोजननिषेधः। नतु वचनविहितचरभोजननिषेधः *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*—"अथ प्रातः समुत्थाय स्वप्नं दृष्ट्वा विचारयेत्। भद्रं भद्रे विजानीयादभद्रे जुहुयाच्छतमि"त्यादि ॥ *नारायणीयेतु*—"स्वप्नात्संवीक्षिताच्छिष्यः प्रभाते श्रावयेद्गुरुम्। शुभैः सिद्धिं परैर्भुक्तिरि"ति ॥ *अधिवासः समीरित इति*। मन्त्रग्रहणपूर्वदिने। पिङ्गलामते सद्योऽधिवासोऽप्युक्तः। "सद्योऽधिवासमथवा प्रकुर्वीत यथाविधि" इति ॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*—'दिनद्वयेनैव कुर्याद्दीक्षाकर्म विचक्षणः। सद्योऽधिवासनं वा स्यादेकस्मिन् दिवसे यदि"। इति ॥ अधिवासशब्दार्थं उक्तो *महाकपिलपञ्चरात्रे—*"वसतेरधिपूर्वस्य भावे घञ्प्रत्यये कृते। अधिवास इति ह्येष प्रयोगः सिद्धिमेति च ॥ गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वकः ॥ सोऽस्यार्थो हि निपातानामनेकार्थतया मत" ॥ इति ॥ १३९ ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्संप्रदायव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां चतुर्थः पटलः ॥४॥*॥

श्रीगणेशाय नमः ॥

अथाधिवासनदिवस एवाग्निदेवतापूजानन्तरम् आचार्यकर्त्तव्यकुण्डसंस्कारादिकमाह *तत इति* ।, शास्त्रवर्त्मना विधिवत्संस्कृते आचार्यकुण्डे सर्वतन्त्रानुसारतोऽग्निजननं वक्ष्य इति संबन्धः ॥ १ ॥

तमेवविधिमाह—*अष्टादशेति* । शरेणेत्यस्त्रेण । अत्र शर्वशास्त्रादिमन्त्रा देयमन्त्रस्य ज्ञेयाः । "वीक्षणं मूलमन्त्रेणे"ति प्रथमत उक्तेः । केचन जातिमात्रमेवाहुः । तथासांप्रदायिकम् । प्रोक्षणमित्युत्तानेन हस्ताग्रेण । "उत्तानेन हस्तेन प्रोक्षयेदि"तिसूत्रणात् ॥ २ ॥

तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्मणाऽभ्युक्षणं स्मृतम् ।
अस्त्रेण खननोद्धारौ हृन्मन्त्रेण प्रपूरणम् ॥ ३ ॥
समीकरणमस्त्रेण सेचनं वर्मणा मतम् ।
कुट्टनं हेतिमन्त्रेण वर्ममन्त्रेण मार्जनम् ॥ ४ ॥
विलेपनं कलारूपकल्पनं तदनन्तरम् ।
त्रिसूत्रीकरणं पश्चाद्धृदयेनार्चनं मतम् ॥ ५ ॥
अस्त्रेण वज्रीकरणं हृन्मन्त्रेण कुशैः शुभैः ।
चतुष्पथं तनुत्रेण तनुयादक्षपाटनम् ॥ ६ ॥
यागे कुण्डानि संस्कुर्यात्संस्कारैरेभिरीरितैः ।
अथवा तानि संस्कुर्याच्चतुर्भिर्वीक्षणादिभिः ॥ ७ ॥
तिस्रस्तिस्रो लिखेल्लेखा हृदा प्रागुदगग्रगाः ।
प्रागग्राणां स्मृता देवा मुकुन्देशपुरन्दराः ॥ ८ ॥
रेखाणामुदगग्राणां ब्रह्मवैवस्वतेन्दवः ।
अथवा षट्कोणावृतं त्रिकोणं तत्र संलिखेत् ॥ ९ ॥
सर्वाण्यभ्युक्ष्य तारेण योगपीठमथार्चयेत् ।
वागीश्वरीमृतुस्नातां नीलेन्दीवरसन्निभाम् ॥ १० ॥

अभ्युक्षणमिति । मुष्टिबन्धेन सर्वत्र सेचनम् । उद्धारः खातमृदः पूरणमन्यमृदा सेचनमभ्युक्षणमेव । अभेदात्त्वर्थानुवर्त्तनात् । "कश्चित्तमनुवर्त्तत" इत्युक्तेः ॥ ३ ॥

हेतिमन्त्रेणेति । अस्त्रमन्त्रेण । *वर्ममन्त्रेणेति* । अग्रिमेषु चतुर्षु संबध्यते । तदुक्तं *सोमशम्भुना* । "संमार्जने समालेपं कलारूपप्रकल्पनम् । त्रिसूत्रीपरिधानं च वर्मणाभ्यर्चनं हृदे"ति ॥ ४ ॥

कलारूपकल्पनमिति । चन्द्रसूर्याग्निकलारूपकल्पनम् । *त्रिसूत्रीकरणमिति* । सूत्रत्रयवेष्टनम् ॥ ५ ॥

वज्रीकरणमिति । वज्रवद्दृढचिन्तनम् । *चतुष्पथमिति* । मध्यात् कुशैश्चतुर्दिक्षु मार्गचतुष्टयकरणम् । *तनुत्रेणेति* । कवचमन्त्रेण । *अक्षपाटनम्* । इन्द्रियोद्घाटनमित्येके ! अन्येतु क्षपाटना राक्षसाः । न विद्यन्ते क्षपाटना यस्मिंस्तत् । हुङ्कारेण राक्षसनिवारणं कुर्यादित्यर्थः । अन्येतु सांप्रदायिकाः । अटपटगतौ । गतिर्ज्ञानम् । आदिक्षान्तानां पाटनं व्याप्तिः ॥ ६ ॥

अशक्तान्प्रत्याह—*अथवेति* ॥ ७ ॥

तिस्र इति । तिस्रस्तिस्रो रेखा लिखेत् । गाइत्यनेनैतदुक्तं भवति प्रागग्राणामुदक् संस्थत्वमुदगग्राणां पूर्वसंस्थत्वमिति । सर्वाः प्रादेशमिता इत्यपि संप्रदायात् । तदुक्तं *सौक्ष्मणितन्त्रे* । "प्राची पूर्वमुदक्संस्थं दक्षिणारम्भमालिखेत् । उदगग्रं पुरः संस्थं पश्चिमारम्भमालिखेत् ॥ तिस्रस्तिस्रो लिखित्वैवं प्रोक्षयेद्वाग्भवेनचे"ति ॥ अथवा षट्कोणवृत्तत्रिकोणमिति पाठमपठन् । तदज्ञानविजृम्भितम् । *तथाचाचार्याः*—"अथवा षट्कोणावृतत्रिकोणके गुरुजनोपदेशेने"ति । तथा च *यामले* षट्कोणेनावृतं देवि ! त्रिकोणं चात्र संलिखेत्" इति । *अन्यत्रापि*—"कृत्वा रेखाश्च मध्यतः षट्कोणं त्रिकोणं चे"ति ॥ ९ ॥

सर्वाणीति । एतानि प्रणवेनाभ्युक्ष्य । *योगपीठं* वागीशीयोगपीठम् । मण्डूकादि परतत्त्वान्तं संपूज्य नवमोक्ताः पीठशक्तीः संपूज्य । "ह्रीं वागीश्वरीवागीश्वरयोर्योगपीठाय नमः"

वागीश्वरेण संयुक्तामुपचारैः प्रपूजयेत् ।
सूर्यकान्तादिसम्भूतं यद्वा श्रोत्रियगेहजम् ॥ ११ ॥
आनीय चाग्निं पात्रेण क्रव्यादांशं परित्यजेत् ।
संस्कुर्यात्तं यथान्यायं देशिकोवीक्षणादिभिः ॥ १२ ॥
औदर्यबैन्दवाग्निभ्यां भौमस्यैक्यं स्मरन्वसोः ॥
योजयेद्वह्निबीजेन चैतन्यं पावके तदा ॥ १३ ॥
तारेण मन्त्रितं मन्त्री धेनुमुद्रामृतीकृतम् ।
अस्त्रेण रक्षितं पश्चात्तनुत्रेणावगुण्ठितम् ॥ १४ ॥
अर्चितं त्रिः परिभ्राम्य कुण्डस्योपरि देशिकः ।
प्रदक्षिणं तदा तारमन्त्रोच्चारणपूर्वकम् ॥ १५ ॥

इति योगपीठं पूजयेत् ॥ अत्र तारशब्देन यथास्वं तत्तन्मन्त्रेषु पञ्चप्रणवानामपि ग्रहणं ज्ञेयम् ॥ १० ॥

प्रपूजयेदिति । पीठे शक्तिबीजेन वागीशीं साध्यमन्त्रेण वागीशम् । तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्याम्*—"शक्तिबीजेन वागीशीं वागीशं साध्यमन्त्रत" इति । *अन्यत्रापि*—"साध्यमन्त्रेण तं देवमि"त्यादिना ॥ *सूर्यकान्तादीति* । आदिशब्देन अरणिजन्यः । तदुक्तम्—"जातं मार्त्तण्डकान्तादृद्धुतवहमरणेः श्रोत्रियागारजंचे"ति ॥ *श्रोत्रियगेहजमिति* । श्रोत्रियत्वं वेदाध्ययनेन तत्कर्मानुष्ठातृत्वेन च । तेन साग्नित्वे तात्पर्यम् । तदुक्तं *वसिष्ठसंहितायाम्*—"प्रमथ्य विधिनैवाग्निमाहिताग्नेर्गृहादपि । आनीय चादधीताग्नि"मिति ॥ ११ ॥

पात्रेणेति । कांस्यादिपात्रेण । पात्रान्तरपिहितेनेत्याचार्याः । *अन्यत्र*—"श्रोत्रियागारजं वापि सूर्यकान्तोद्भवं तु वा । अरणीसम्भवं वापि क्षिप्तं स्वर्णादिभाजने" इति ॥ *अत्रिरपि*—"पात्रान्तरेण पिहिते ताम्रपात्रादिके शुभे । अग्निप्रणयनं कुर्याच्छरावे तादृशेऽपिचे"ति । *अन्यत्रापि*—क्षेत्राग्निःक्षिप्य पात्रे वरकनकमये ताम्रपात्रेऽथ वापि मृत्पात्रे वा पिधायानलविपुलमतिरि"ति ॥ यत्तु *स्मृतिसारे*—"शरावे भिन्नपात्रे वा कपाले वोल्मुकेऽपि वा । नाग्निप्रणयनं कुर्याद्व्याधिहानिभयावहमि"ति । तस्य मुख्यपात्रासम्भवे शरावेण ग्राह्य इति तात्पर्यम् ॥ *क्रव्यादांशं परित्यजेदिति* । अस्त्रमन्त्रेण नैर्ऋत्य इति ज्ञेयम् । *तदुक्तम्* । "अस्त्रेणाग्निं समाधायकवचेन पिधायच । क्रव्यादांशं तु चास्त्रेण नैर्ऋत्ये सन्त्यजेत्प्रिये"॥ इति ॥ अन्यत्र वह्निबीजेन क्रव्यादांशत्यागः । *तदुक्तं*—"वह्निबीजेन मन्त्री क्रव्यादांशं त्यजेच्च तदनु च मनुना शोषयेद्वायुकेने"ति। *मन्त्रमुक्तावल्यां तु विशेषः*—"यानीयास्त्रेण नैर्ऋत्ये क्रव्यादांशं परित्यजेत् । देवांशं मूलमन्त्रेण स्थापयेत्पुरतः सुधीरि"ति ॥ *यथान्यायमिति* । अनेन प्रोक्षणाभ्युक्षणे तथा कार्ये यथा चानीतोऽग्निस्तिष्ठतीत्युक्तम् । *वीक्षणादिभिरिति* । आदिशब्देनसंस्कारत्रयम् ॥ १२ ॥

औदर्येति । विन्दुः प्रसिद्धः । परमात्मरूपः तस्याग्नीषोमत्वात् तद्भवो वह्निर्बैन्दवः । अन्ये बिन्दुर्भ्रूमध्यमिति वदन्ति । *भौमस्य* पार्थिवस्य वसोरग्नेः ॥ १३ ॥

तारेणेति पूर्ववत्तारशब्दार्थः । *अमृतीकृतमिति* अमृतबीजेनेत्याचार्याः । *उक्तं च* "अमृतीकरणन्ततोविदध्याज्जलबीजेन सबिन्दुना कृशानोरि"ति ॥ *रक्षितमिति* । दिग्बन्धेन । प्रदक्षिणमिति पूर्वेण सम्बध्यते ॥ १४ ॥

तारमन्त्रोच्चारणेति । तारस्य मन्त्रोच्चारणम् । तदुक्तं—"योनावेनं विन्यसेत्स्वाभिवक्त्रं पश्चादग्निं मूलमन्त्रेण मन्त्री"ति । अत्रापि तारशब्दार्थः पूर्ववत् । "रं वह्निचैतन्याय नम"

आत्मनोऽभिमुखं वह्निं जानुस्पृष्टमहीतलः ।
शिवबीजधिया देव्या योनावेव विनिःक्षिपेत् ॥ १६ ॥
पश्चाद्देवस्य देव्याश्च दद्यादाचमनीयकम् ।
ज्वालयेन्मनुनाऽनेन तमग्निमथ देशिकः ॥ १७ ॥

इति पद्मपादाचार्याः। अन्येतु—तारशब्देन हूँकारम् । मन्त्रशब्देन वह्निचैतन्याय नम इत्याहुः । तदुक्तं—"हूँ वह्निपूर्वं चैतन्यं चतुर्थ्यन्तं नमोन्वितम्। मन्त्रमुच्चार्य पश्चात्तं वह्निमुत्थाप्य देशिकः ॥ भूमिष्ठजानुकोभूत्वा कुण्डस्योर्ध्वं प्रदक्षिणम् । भ्रामयित्वा त्रिधा तत्र वागीशीगर्भगोचरे ॥ शिवबीजमिति ध्यात्वा निःक्षिपेदाशुशुक्षणिमि"ति ॥ १९ ॥

शिवबीजधियेति । शैवे तत्तन्त्रे तथोक्तेः । स एव वक्ष्यति च—"नामापि शिवाग्निरिति कल्पयेत्" इति । *नारायणीयेऽपि* "शिवाग्निं जनयित्वे"ति । अतएव *संहितायाम्—*"लक्ष्मीरृतुमती तत्र प्रभोर्नारायणस्य च । ग्राम्यधर्मेण संजातमग्निं तत्र विचिन्तयेत्" इति । अतएव ग्रन्थकृदपि— "वह्नेः पितराविग्"ति सामान्यतो वक्ष्यति। अग्रे च—"जुहुयाद्वैष्णवे वन्हावि"गति। *जान्विति* जानुभ्यां स्पृष्टं धरातलं येनेति विग्रहः । *वायवीयसंहितायां तु*—"वह्निबीजं समुच्चार्य स्वाग्रधीताग्निमासने । योनिमार्गेण वा तद्वदात्मनः संमुखेन चे"ति ॥ १६ ॥

आचमनादिकमिति । आदिशब्देन आचमनोत्तरोपचारग्रहणम् । उपचारैः प्रपूजयेदित्युक्तेः । *ज्वालयेदिति* । अनेन—वक्ष्यमाणेन । तत्र विशेषः "जुहुषुश्च हुताग्निश्च पाणिशूर्पस्रुवादिभिः। न कुर्यादग्निधमनं न कुर्याद्व्यजनादिना ॥ मुखेनैव धमेदग्निं मुखादेषो ह्यजायत । नाग्निं मुखेनेति तु यत लौकिके योजयेत्तु तदि"ग्ति ॥ १७ ॥(१)

---

(१) वस्तुतस्तु—छन्दोगपरिशिष्टे कातीयेऽन्यथायंश्लोकः पठ्यते "जुहूषंश्च हुते चैव पाणिशूर्पस्फ्य दारुभिः । न कुर्यादग्निधमनं कुर्याच्च व्यजनादिना ॥ मुखेनैव धमेदग्निं मुखादेषोऽभ्यजायत । नाग्निं मुखेनेतिचयल्लौकिके योजयन्तितत्॥" इति । जुहूषन् होतुमिच्छन् । हुते वा पाण्यादिना वह्निधमनं न कुर्यात् किन्तु व्यजनादिनैवकुर्यादिति प्रथमवचनार्थः । कुर्याच्चेतिचकारोऽवधरणार्थः । इत्थं हि स्वमतमभिधाय मतान्तरमुपन्यस्यति—मुखेनैवेति । "मुखादग्निरजायते"—तिश्रुतेरग्नेर्मुखप्रभवत्वान्मुखेनैव धमनौचित्यात् । "नाग्निंमुखेनोपधमेदि"—तिश्रुतेरसंस्कृताग्निविषयत्वेन योजनादित्यर्थः । इदञ्च न स्वमतं "कुर्याच्चव्यजनादिने"ति सिद्धान्तिते आकाङ्क्षानिवृत्तौ मुखेनैवेतिपुनरभिधानायोगात् । मुखेनैवेत्येवकारेण कुर्याच्चव्यजनादिनेत्यस्य विरोधाच्च । योजयन्तीतिप्रथमपुरुषप्रयोगेण तस्य परमतत्वसूचनाच्च । योजयन्ति नयो भयामहइति प्रत्ययात् । एतेनैवास्मिन्मतेऽनास्थापि सूचिता । तद्बीजन्तु "नाग्निंमुखेनोपधमेदि—"ति सामान्यश्रुतेर्विशेषविषयत्वोपगमे मानाभावः। "मुखादेषोऽभ्यजायत" इति हेतुतया यदुपन्यस्तं तल्लौकिकेऽपि तुल्यम् । औचित्यमात्रस्य च श्रुतिसङ्कोचकत्वं नोचितम् । अतएव देवीपुराणे आचाराध्याये—"न सूर्यमभिलोकेत उदयास्तमयोः क्वचित् । न मुखेन धमे दग्निं न च व्यालांस्तु लङ्घयेत् ॥" इति सामान्यत एवमुखध्मानं प्रतिषिद्धम् । किञ्च मुखधमननिषेधकानामवश्यं सङ्कोचनाग्रहे संस्कृताग्निविषयत्वेनैव व्यवस्थापनं युक्तं तत्रैव वैधावैधविचारावश्यकत्वात् । अतएवासंस्कृतेऽग्नौ मुखधमनाचारस्य संस्कृते तदभावस्य च सार्वलौकिकत्वयोपपत्तिरित्यलम्पल्लवितेन ॥

चित्पिङ्गलं हनदहपचयुग्मान्युदीर्य च ।
सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा मन्त्रोऽयं प्रागुदीरितः ॥ १८ ।
अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् ।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ॥ १९ ॥
उपतिष्ठेत विधिवन्मनुनाऽनेन पावकम् ।
विन्यसेदात्मनो देहे मन्त्रैर्जिह्वा हविर्भुजः ॥ २० ॥
लिङ्गपायुशिरोवक्त्रघ्राणनेत्रेषु सर्वतः ।
वह्नीरार्घीशसंयुक्ताः सादियान्ताः सबिन्दवः ॥ २१ ॥
वर्णमन्त्राः समुद्दिष्टा जिह्वानां सप्तदेशिकैः ।
जिह्वास्तास्त्रिविधाः प्रोक्ता गुणभेदेन कर्मसु ॥ २२ ॥
हिरण्या गगना रक्ता कृष्णाऽन्या सुप्रभा मता ।
बहुरूपाऽतिरक्ता च सात्त्विक्यो यागकर्मणि ॥ २३ ॥
पद्मरागा सुवर्णाऽन्या तृतीया भद्रलोहिता ।
लोहितानन्तरं श्वेता धूमिनी च करालिका ॥ २४ ॥
राजस्योरसना वह्नेर्विहिताः काम्यकर्मसु ।
विश्वमूर्तिस्फुलिङ्गिन्यौ धूमवर्णा मनोजवा ॥ २५ ॥
लोहितान्या करालाख्या काली तामस्य ईरिताः ।
एताः सप्त नियुज्यन्ते क्रूरकर्मसु मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥
स्वस्वनामसमाभाः स्युर्जिह्वाः कल्याणरेतसः ।
अमर्त्यपितृगन्धर्वयक्षनागपिशाचकाः ॥ २७ ॥

चित्पिङ्गलमिति । शब्दकर्मणि द्वितीया । मन्त्रे तु सम्बुध्यन्तम् । हनेत्यादित्रयाणां युग्मानि ॥ "ज्वालयेन्मनुनाऽनेनेति" योमन्त्रः प्रागुदीरित उद्दिष्टः समन्त्रोऽयमीरितः । क्वचित्तु-समुदीरित इत्येव पाठः । अत्राग्निज्वालने ज्वालिनीमुद्रां प्रदर्शयेत् । *तल्लक्षणं तु* "मणिबन्धौ समौ कृत्वा करौ तु प्रसृताङ्गुली । मध्यमे मिलिते कृत्वा तन्मध्येऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत् । इयं सा परमामुद्रा ज्वालिनी होमकर्मणि ।" इति ॥ १८ ॥ १९ ॥

विधिवदिति । अनेनैतदुक्तम्-उत्थायकृताञ्जलिपुटो भूत्वा मन्त्रं जपेदिति । *अनेन* अग्निमित्यादिना ॥ २० ॥

सर्वत इति । सप्तमं स्थानं सर्वाङ्गे इत्यर्थः । "स सर्वाङ्गेषु जिह्वाश्च"त्याचार्योक्तेः । इदं च न्यासस्थानं बहुरूपायाः पूजायास्तथा वक्ष्यमाणत्वात् । उक्तं च-"सलिङ्गगुदमुर्द्धास्यनासानेत्रेषु च क्रमात् । विन्यसेदतिरक्तान्ताः सर्वाङ्गे बहुरूपिणीमि"ति । उद्देशक्रमस्तु बीजोद्धारे सौकर्यायेत्यवधेयम् । वह्नी-रेफः । इरोयः । अर्घीशः ऊः । एतद्युताः । सादियान्ताः-सकारादियकारान्ताः वैपरीत्येन । एते वर्णाः सबिन्दवो मन्त्राः भवन्ति । *जिह्वानामिति* । त्रिविधानामपि । *तत्रप्रयोगः* । "स्रूँ हिरण्यायै नमः" लिङ्गे इत्यादि ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

कल्याणरेतसः । अग्नेः । (१)अधिदेवता आह । *अमर्त्येति* । अत्र जिह्वानामधिदेव-

---

(१) "कल्याणं हेम्नि मङ्गले" इति भानुजिदीक्षिताः प्राहुः ।

राक्षसाः सप्त जिह्वानामीरिता अधिदेवताः ।
वह्नेरङ्गमनून्न्यस्येत्तनावुक्तेन वर्त्मना ॥ २८ ॥
सहस्रार्चिः सप्तपूर्ण उत्तिष्ठपुरुषः पुनः ।
धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्धर इति क्रमात् ॥ २९ ॥
षडङ्गमनवः प्रोक्ता जातिभिः सहसंयुताः ।
मूर्तीरष्टौ तनौ न्यस्येद्देशिकोजातवेदसः ॥ ३० ॥
मूर्धांसपार्श्वकट्यन्धुकटिपार्श्वांसके पुनः ।
प्रदक्षिणवशान्न्यस्येदुच्यन्ते ता यथाक्रमात् ॥ ३१ ॥
जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहनसंज्ञकः ।
अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यः पुनर्वैश्वानराह्वयः ॥ ३२ ॥
कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखो देवमुखः स्मृतः ।
ताराग्नयेपदाद्याः स्युर्नत्यन्ता वह्निमूर्त्तयः ॥ ३३ ॥
आसनं कल्पयित्वाग्नेर्मूर्तिं तस्य विचिन्तयेत्(१) ।
इष्टं शक्तिं स्वस्तिकाभीतिमुच्चैर्दीर्घैर्दोर्भिर्धारयन्तं जपाभम् ।

ताकथनं तत्तत्स्थाने न्यासार्थं च । तेन "सुरेभ्यो नमः" इत्यादि । *अन्येतु "सुराधिपतये हिरण्यायै नम" इत्यादि वदन्ति । किं च तत्तद्देवतां जिह्वामध्यस्थां बुद्ध्वा तस्यां तस्यां तत्तद्द्रव्यैस्तत्तत्कर्मणि क्रियमाणे फलसिद्धिरिति दर्शनार्थम् । तथाचाचार्याः–"जिह्वासु त्रिदशादीनां तत्तत्कार्यसमाह्वये । जुहुयाद्वाञ्छितां सिद्धिं दद्युस्तादेवता मता" इति । *गणेशरविमर्शिन्यां* द्रव्यविशेषोऽप्युक्तः–"एधांसि च हिरण्यायां गगनायां चरुं घृतम् । सिद्धार्थान्बहुरूपायां रक्तायां तु यवांस्तथा ॥ कृष्णायां तु हुनेल्लाजान् सुप्रभायां तु सक्तुभिः । तिलांश्चैवातिरक्तायां कनकायां तु सर्वदा ॥ सर्वद्रव्याणि जुहुयात् साधकः सर्वकर्मस्वि"ति ॥ *कर्माण्यपि तन्त्रान्तरे*–"फलं तु कामभेदेन क्रमादासामुदीर्यते । वश्याकर्षणयोराद्या गगनास्तम्भने मता ॥ विद्वेषमोहयोरक्ता, कृष्णा मारणकर्मणि । सुप्रभा शान्तिके पुष्टौ सुरक्तोच्चाटने मता ॥ एकैव बहुरूपा तु सर्वकामफलप्रदे"ति ॥ २७ ॥

तनौ स्वात्मनइत्यनुषज्यते । एवमग्रेऽपि । उक्तेन–प्राक्पटलोक्तेन । प्रयोगस्तु । "सहस्रार्चिषे हृदयाय नम"इत्यादि ॥ २८ ॥ २९ ॥ ½ ॥

मूर्तीरिति–अंसपार्श्वकटिषु–वामेषु ॥ ३० ॥

*अन्धु गुदम् । केचन लिङ्गमित्याहुः *पुन* पश्चात् , कटिपार्श्वांसकेषु–दक्षिणेषु ॥३१॥३२॥

ताराग्नय इति । तारः प्रणवः । अग्नये इति पदम् । एते आद्ये यासां ता इति विग्रहः । *नत्यन्ता इति* । न्यासे पूजायां च । होमेतु स्वाहान्तत्वमित्युक्तम् । प्रयोगस्तु–"ॐअग्नये जातवेदसेनमोमूर्ध्नि" इत्यादि ॥ *आसनं कल्पयित्वेति* । तनावित्यनुषज्यते । मण्डूकादिपरतत्त्वान्ते चतुर्दशपटलोक्तपीठशक्तिपूर्वकं "रं अग्न्यासनायनमः"इति । एषां देहे न्यास आसनकल्पना ॥ ३३ ॥

इष्टमिति । इष्टं–वरम् । दक्षाधः कराद्वामाधः करपर्यन्तमिष्टादीनि ध्येयानि । *स्व-

---

(१) अत्रषट्पदच्छन्दः । यथा–माघे–"द्विधाकृतात्मा किमयन्दिवाकरोविधूमरोचिः किमयं हुताशनः ?" इति श्लोकार्द्धं "गतन्तिरश्चीनमनूरुसारथेरि"त्यादिश्लोकात्प्राक्पठित्वाऽनेन सन्देहाकारोऽवगत इतिदिवाकारो वृत्तिरत्नाकरटीकायामुदाजहार ॥

हेमाकल्पं पद्मसंस्थं त्रिनेत्रं ध्यायेद्वह्निं बद्धमौलिं जटाभिः ॥३४॥

परिषिञ्चेत्ततस्तोयैर्विशुद्धैर्मेखलोपरि(१) ॥ ३५ ॥

दर्भैरगर्भैर्मध्यस्थमेखलायां परिस्तरेत् ।

निक्षिपेद्दिक्षु परिधीन् प्राचीवर्जं गुरूत्तमः ॥ ३६ ॥

प्रादक्षिण्येन सम्पूज्यास्तेषु ब्रह्मादिमूर्तयः ।

ध्यातं वह्निं यजेन्मध्ये गन्धाद्यैर्मनुनामुना ॥ ३७ ॥

वैश्वानरजातवेदपदे पश्चादिहावह ।

लोहिताक्षपदस्यान्ते सर्वकर्माणि साधय ॥ ३८ ॥

वह्निजायावधिः प्रोक्तो मन्त्रः पावकवल्लभः ।

मध्ये षट्स्वपि कोणेषु जिह्वाज्वालाश्चाथ यजेत् ॥ ३९ ॥

स्तिकेति* । स्वतिक्युक्ता अभीतिरिति मध्यमपदलोपी समासः । आकल्पो भूषा ॥३४॥

तत इति । अन्तर्यागक्रमेण स्वहृदये वह्निं संपूज्येत्यर्थः ॥ ३५ ॥

परिस्तरेदिति । प्रागुदगग्रतया । तदुक्तं—*गणेश्वरविमर्शिन्यां*—"पूर्वाग्रैरुत्तराग्रैश्च दर्भैरग्निं परिस्तरेत्" इति । *अन्यत्रापि*—"अथ दर्भैर्हरिघनदुदिशाग्रैः परिस्तीर्य कुण्डमि"ति । *गुरूत्तम* इति । अनेन एकमेखलादिकुण्डेऽपि परिस्तरणादि कार्यमित्युक्तम् । यदाहुः—"एकमेखलकुण्डे निशितमतिर्मेखलाधस्तात् परिस्तरेत द्विमेखले द्वितीयमेखलोपरि त्रिमेखले तदन्तरा मेखलोपरि न्यसेत्" इति । प्राचीवर्जं दिक्षु परिधिभिःक्षिपेत् इत्यन्वयः । परिधयस्तु *कात्यायनोक्ताः*—"परिधीनुपरिदधात्यार्द्रानेकवृक्षीयान् बाहुमात्रान् पालाशवैकङ्कतकाश्मर्यबिल्वानि"ति । स्थण्डिलेऽपि परिस्तरणपरिधिक्षेपोऽवश्यं कर्त्तव्यः । मध्यस्थमेखलायामित्युक्तत्वात् । स्थण्डिले मध्यस्थमेखलानामभावात् परिस्तरणाद्यपि न कार्यमिति न मन्तव्यं यतस्तदग्निस्थापनाङ्गं न कुण्डाङ्गम् । ग्रन्थकृतातु स्वोक्तत्रिमेखलकुण्डेषु परिस्तरणादिकर्त्तव्यमित्यपेक्षायां मध्यस्थमेखलायामित्युक्तम् । यदाहुः—"वाह्येऽथ स्थण्डिले वा त्रिपरिधिसहितं प्रागुदग्रास्तदर्भमि"ति । *अन्यत्रापि*—स्थण्डिलके सिकतानां वाह्येऽथ त्रिन्यसेत्परिधीनि"ति ॥ ३६ ॥

मध्येइति । मण्डूकादिपीठमन्त्रान्तमन्त्रैः पूजितकुण्डमध्य इत्यर्थः । तदुक्तं *सोमशम्भौ*—"कुण्डमध्ये विधानवित् । पद्मासनान्तमाधारशक्त्यादिमनुभिः क्रमात् ॥ उपर्युपरि सम्पूज्या वह्नेरासनशक्तयः । पूर्वादिदलमूलेषु मध्ये पूज्याः क्रमेणत्वि"ति ॥३७॥

अग्निमन्त्रमाह—*वैश्वानर इति* ॥ ३८ ॥

वह्निजाया—स्वाहा ॥ अग्न्यावरणपूजामाह—*मध्यइति* । अनेन षट्कोणकर्णिकमष्टदलमग्निपीठमुक्तम् । *ज्वालाश्च इति* जिह्वाध्यानम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"जिह्वाः सर्वाः परिज्ञेया ज्वालाभासाःस्वरूपत" इति । अपिर्भिन्नक्रमः । तत्र षट्सु कोणेषु मध्येऽपि जिह्वा यजेदिति सम्बन्धः । तत्र षट्सु कोणेषु ईशादिवायुकोणान्तं यथान्यासं षट्जिह्वाः सम्पूज्य यथान्यस्तां बहुरूपां मध्ये पूजयेदिति सम्प्रदायविदः । तदुक्तं *सोमशम्भौ*—"शक्रेन्द्रवह्निमांसाद वरुणानिलगोचरे । हिरण्याद्यास्थिता वह्नेरसनाः षट्क्रमात् ॥ मध्यतो बहुरूपान्त्विगति । *गणेश्वरविमर्शिन्यामपि*—"मध्ये च कोणषट्के च जिह्वाः सम्पूजयेत्ततः । हिरण्या तप्तहेमाभा शूलपाणिदिशे स्थिता ॥ बहूर्यवर्णा गगना प्राच्यां दिशि स-

---

(१) अत्रचार्द्धश्लोकात्मकमेवद्वृत्तम् । यथामार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये ॥

केसरेषूक्तमार्गेण पूजयेदङ्गदेवताः।
दलेषु पूजयेन्मूर्तीः शक्तिस्वस्तिकधारिणीः॥ ४०॥
दलाग्रे मातरः पूज्याः सासिताङ्गादिभैरवाः।
लोकपालांस्ततो दिक्षु पूजयेदुक्तलक्षणान्॥ ४१॥
पश्चादादाय पाणिभ्यां स्रुक्स्रुवौ तावधोमुखौ।

माश्रिता। तरुणादित्यसङ्काशा रक्ताजिह्वाग्निदिक् स्थिता कृष्णा॥ नीलाब्जसङ्काशा नैर्ऋत्यां दिशि संस्थिता। सुप्रभा पद्मरागाभा वारुण्यांदिशि संस्थिता॥ अतिरक्ता जपाभासा वायव्यांदिशि संस्थिता। बहुरूपा यथार्थाभा दक्षिणोत्तरसंस्थिता॥ एता ज्वाला रुचा पीता वराभययुता अपि" इति॥ *अन्यत्रापि*—"कोणषट्के च मध्येच जिह्वा अङ्गानि केसरे" इति। *वायवीयसंहितायामपि*—"हिरण्या प्रागुदक्जिह्वा कनका पूर्वसंस्थिता। रक्ताऽऽग्नेय्यां नैर्ऋते च कृष्णान्या सुप्रभा मता॥ अतिरक्ता मरुज्जिह्वा स्वनामानुगुणप्रभा। त्रिशिखा मध्यमाजिह्वा बहुरूपा समाह्वया॥ तच्छिखैका दक्षिणतो ज्वलन्तो वामतः परा। स्वबीजानन्तरं वाच्या" इति। यथाश्रुतपाठक्रमादरिणः केचन प्रथमां मध्ये ततः शिवकोणादिप्रादक्षिण्येन वायुकोणान्तं यथान्यस्ता षट् जिह्वाः पूजयेदित्याहुः। तेषामयमभिप्रायः।

तत्तत्कर्मणि तां तां मध्यस्थामिष्ट्वा ईशादि (षु) अन्या यजेदिति। तदुक्तं—"कुण्डस्य मध्ये त्वथ सा प्रशस्ता जिह्वा हिरण्या भुवि कार्मणादौ(१)॥ स्तम्भनादिषु मता कनकान्तद्वेषणादिषु मता खलु रक्ता। मारणे निगदिता भुवि कृष्णा सुप्रभा बुधवरैरिह शान्त्याम्॥ उच्चाटनेऽतिरक्तन्तदिति सम्प्रदायविदुक्तं तु दीक्षायामेव बहुरूपायाः सर्वकामफलप्रदत्वात्। उक्तं च—"तनुते मध्ये शुभानि सदे"ति॥ *तन्त्रान्तरेतु*—"अन्ये त्वागमपारगामलधियः प्राहु र्बुधाः सुप्रभां वृत्रारेः ककुभि स्थिता पितृपतेः कृष्णां हिरण्यां पुनः। वारुण्यां बहुरूपिकां पुरभिदो रक्तासुदीच्यां स्थितामाग्नेय्यामतिरूपकां च कनकां कुण्डस्य मध्ये स्थितामि"ति। एतदनन्तरमधिदैवतापूजाप्येषु स्थानेषु ज्ञेया॥ ३९॥

उक्तमार्गेणेति। पूर्वपटलोक्तेन। एतदनन्तरं मातृभैरवावृत्तिमपीच्छन्ति *पद्मपादाचार्याः*॥ *मूर्तीःपूजयेदिति* यथान्यस्ताः। तत्र पूजा प्रकारः।"सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः"। "स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा नमः" इत्यादि॥ ४०॥

दिक्ष्विति॥ मेखलाश्रितदर्भेष्विति प्रसिद्ध पूर्वादिदिक्ष्वित्यपिज्ञेयम्। यदाहुः—"मध्ये च कोणषट्केच जिह्वाभिः केसरेष्वपि। अङ्गमन्त्रैस्ततोबाह्ये त्वष्टाभिर्मूर्तिभिः क्रमात्॥ मेखलाश्रितदर्भेषु दिक्पतीन्पूर्वतःक्रमात्" इति। *उक्तलक्षणान्*। प्राक्पटलोक्तस्वरूपान्॥ ४१॥

पश्चादिति। अनेन सूचितः तन्त्रान्तरोक्तोऽवश्यकर्त्तव्योविशेषो लिख्यते—स्ववामभागे प्रागग्रान् कुशानास्तीर्य तेषामुपरि प्रणीतापात्रे आज्यस्थाल्यां स्रुक्स्रुवौ विन्यासितौ कुशमूलकौ, पञ्च पालाशसमिधः, एवमुक्तान्यन्यान्यपि पात्राणि द्वन्द्वशोऽधोमुखानि निधाय मूलेन पवित्रेण प्रोक्षितानि पात्राण्युत्तानीकृत्य प्रणीतापात्रं जलेनापूर्य तत्र तीर्थान्यावाह्य पवित्रमक्षतादि च निःक्षिप्योत्पूय, उत्तरस्यां दिशि संस्थाप्य तज्जलं किञ्चित्प्रोक्षणीपात्रे निधाय, तेन जलेन नमोमन्त्रेण मूलमन्त्रेण वा सर्वं हवनीयद्रव्यजातं प्रोक्ष्य "अत्र कर्मणि कृताकृतावेक्षकत्वेन त्वं ब्रह्मा भवे"ति ब्रह्माणमावाह्याभ्यर्च्याऽऽसने

---

(१) कार्म्मणं वशीकरणम्। "मूलकर्म्मतु कार्म्मणम् वशक्रियासंवननम्" इत्यमरः॥

त्रिः संप्रतापयेद्वह्नौ दर्भानादाय देशिकः ॥ ४२ ॥
तदग्रमध्यमूलानि शोधयेत्तैर्यथाक्रमात् ।
गृहीत्वा वामहस्तेन प्रोक्षयेद्दक्षिणेन तौ ॥ ४३ ॥
पुनः प्रताप्य तौ मन्त्री दर्भानग्नौ विनिःक्षिपेत् ।
आत्मनो दक्षिणे भागे स्थापयेत्तौ कुशास्तरे ॥ ४४ ॥
आज्यस्थालीमथादाय प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।
तस्यामाज्यं विनिःक्षिप्य संस्कृतं वीक्षणादिभिः ॥ ४५ ॥

रुपवेशयेदिति । तदुक्तं *संहितायाम्—*"पात्राण्यासाद्य विधिवत् द्वन्द्वशश्चापि मन्त्र वित् । तान्यवोक्ष्य पवित्रेण चोत्तानानि विधाय च ॥ पुनः प्रक्षालयेत्पात्रं परिपूर्य शुभाम्बुना । दत्त्वाक्षतान् पवित्रं च तदुत्पूय विधाय तत् ॥ दिश्युत्तरस्यां तत्पात्रं प्रणीतेत्युच्यते बुधैः । ततः किञ्चित्प्रणीताम्बु प्रोक्षण्यादाय तज्जलैः ॥ यज्ञसाधनसम्भारं प्रोक्षयेन्मूलमन्त्रतः । ततो ब्रह्माणमावाह्यार्चयेन्मूलमन्त्रत" इति ॥ तत्राधोमुखेन हस्तेन सेचनमवोक्षणम् । "अवाङ्मुखेन हस्तेनावोक्षये"दिति सूत्रणात् । *अन्यत्रापि* "वामेचास्तीर्य दर्भान् बलरिपुहरिदग्रास्तदूर्ध्वं निधाय पात्राणि द्वन्द्वशोऽधोवदनमथ तथोत्तानवक्त्राणि कृत्वा । हृन्मन्त्रेणाभिपूर्यास्यत्तममथजलैर्मन्त्रपूतैरथैभिरभ्युक्ष्योपेतकूर्चैः सकलमपि हृदा सव्यगं द्रव्यजातमि"ति । *अन्यत्रापि*—"स्ववामभागे प्रागग्रान्दर्भानास्तीर्य चोपरि । यथावित्तानुसारेण सौवर्णादीनि कर्माणि ॥ अधोमुखानि पात्राणि द्वन्द्वरूपाणि विन्यसेत् । उत्तानीकृत्य पात्राणि जलाद्यैः सम्प्रपूजयेत्" इति । *अन्यत्रापि*—"ततोवामभागे परिस्तीर्य दर्भान्पुलोमात्मजावल्लभाशागताग्रान् । तदूर्ध्वं न्यसेद्द्वन्द्वरूपेण पात्राण्यथाधोगतास्यानि सर्वाणि धीमान् ॥ अथोत्तानितेष्वेषु पात्रेषु पात्रं जलै रेकमापूर्य तीर्थानि तत्र । सुसंचिन्त्य तैः प्रोक्षयेत् कूर्चदर्भैर्हृदा सव्यभागे स्थितं द्रव्यजातमि"ति ॥ स्रुक्स्रुवसंस्कारमाह—*आदायेति* । आदानमूर्ध्वमुखयोरेवेति ज्ञेयम् । "तावधोमुखौ तापयेदि"त्युक्तेः । *पाणिभ्यां* दक्षिणवामाभ्याम् ४२

शोधयेदिति । प्रत्येकम् । *यथाक्रमादिति* । अस्यायमर्थः । दर्भमूलैस्तन्मूलं दर्भमध्यैस्तन्मध्यं दर्भाग्रैस्तदग्रमिति । *दक्षिणेन* । दक्षिणहस्तेन । *प्रोक्षयेदिति* । प्रोक्षण्युदकेन । *पुनरिति* । अनेनपाणिद्वयस्थावधोमुखौ त्रिश इत्युक्तम् । *दर्भानग्नौ विनिःक्षिपेत्* इति । प्रतिपत्तिकर्म *मन्त्रीति* अनेन मूलमध्याग्रेषु क्रमेण इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां न्यासो नमोमन्त्रेण स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं च विन्यसेदिति सूचितम् । शैवे तु आत्मादि तत्त्वत्रितयम् । यदाहुः—"गृहीत्वा स्रुक्स्रुवावूर्ध्ववदनाधोमुखौ क्रमात् । प्रताप्याग्नौ त्रिधा दर्भमूलमध्याग्रकैः स्पृशेत् ॥ पुनस्त्रिशः प्रताप्याधोमुखावग्नौ कुशान् क्षिपेत् । मूलमध्याग्रकेन्यस्येच्छक्तीरिच्छादिकाः क्रमात् ॥ स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं विन्यसेद्धृदयाणुने"ति । *शैवागमे तु* "गृहीत्वा स्रुक्स्रुवावूर्ध्ववदनाधोमुखौ क्रमात् । प्रताप्याग्नौ त्रिधा दर्भमूलमध्याग्रकैः स्पृशेत् ॥ कुशाग्रप्रदेशेषु आत्मविद्याशिवात्मकम् । क्रमात्तत्त्वत्रयं न्यस्य हां हीं हूं शंबरैः क्रमात् ॥ स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं विन्यस्य हृदयाणुना । त्रिसूत्रवेष्टितग्रीवौ पूजितौ कुसुमादिभिः ॥ कुशानामुपरिष्टात्तु स्थापयित्वा स्वदक्षिणे" इति । एवं स्रुक्स्रुवयोरष्टौ संस्कारा उक्ताः । *तावितिः* । स्रुक्स्रुवौ सर्वत्रपुंस्त्वेन पाठक्रम एवानुसन्धेयः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

आज्य संस्कारमाह *आज्येति* । *अस्त्रवारिणेति* । अस्त्रमन्त्रजप्तेन प्रोक्षणीजलेन । वीक्षणादिभिः संस्कृतमाज्यं तस्यामाज्यस्थाल्यां विनिःक्षिप्येत्यन्वयः । अत्राज्यं गव्यादि ज्ञेयम् । तदुक्तं *पिङ्गलामते* "उत्तमं गोघृतं प्रोक्तं मध्यमं माहिषी भवम् । अधमं छाग-

निरुह्य वायव्येऽङ्गारान् हृदा तेषु निवेशयेत् ।
इदं तापनमुद्दिष्टं देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः ॥ ४६ ॥
सन्दीप्य दर्भयुगलमाज्ये क्षिप्त्वाऽनलेऽक्षिपेत् ।
गुरुर्हृदयमन्त्रेण पवित्रीकरणं त्विदम् ॥ ४७ ॥
दीप्तेन दर्भयुग्मेन नीराज्याज्यं स वर्मणा ।
अग्नौ विसर्जयेद्दर्भमभिद्योतनमीरितम् ॥ ४८ ॥
घृते प्रज्वलितान्दर्भान् प्रदर्श्यास्त्राणुना गुरुः ।
जातवेदसि तान्न्यस्येदुद्योतनमिदं मतम् ॥ ४९ ॥
गृहीत्वा घृतमङ्गारान् प्रत्यूह्याग्नौ जलं स्पृशेत् ।
अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यान्दर्भौ प्रादेशसंमितौ ॥ ५० ॥
धृत्वोत्पुनीयादस्त्रेण घृतमुत्पवनं त्विदम् ।
तद्वद्धृदयमन्त्रेण कुशाभ्यामात्मसम्मुखम् ॥ ५१ ॥

लीजातं तस्माद्द्रव्यं प्रशस्यते" ॥ इति । अत एव ग्रन्थकृत्तत्र तत्र वक्ष्यति "गव्येन सर्पिषे"ति "महिषीघृतसंप्लुता" इति । "मेषीघृताक्ता" इति च ॥ ४६ ॥

निरुह्येति । कुण्डाग्नितः पृथक्कृत्वा । *हृदा निवेशयेत्* इति । "अज्यस्थालीमि"ति शेषः । तन्त्रवेदिभिर्देशिकैरिदं तापनमुद्दिष्टमुक्तमित्यर्थः । एतेन पूर्वं मूलमन्त्रेणाभिमन्त्रणं स्वीयब्रह्ममूर्त्तिभावनमिति संस्कारद्वयं सूचितम् । यदाहुः—"गव्यमाज्यं समादाय मूलेनैवाभिमन्त्रितम् । स्वकां ब्रह्ममयीं मूर्त्तिं संचिन्त्याग्नौ प्रतापयेत्" इति । *शैवागमेऽपि* । "गव्यमाज्यं समादाय मूलमन्त्राभिमन्त्रितम् । स्वकां ब्रह्ममयीं मूर्त्तिं संचिन्त्य चे"ति । *वायवीयसंहितायामपि* "न्यस्य मन्त्रं घृते मुद्रां दर्शयेद्धेनुसंज्ञितामि"ति । एवं संस्कारद्वयं वक्ष्यमाणाश्च षट्संस्कारा एवं घृतेऽप्यष्टसंस्काराः । यदुक्तं *पिङ्गलामते* "कुण्डे चाष्टादश ज्ञेयाः संस्काराः शिवशास्त्रतः । घृते स्रुचि स्रुवे चाष्टावि"ति । *संदीप्येति* । दर्भयुगलं संदीप्य हृदयमन्त्रेणाज्ये क्षिप्त्वा अनले क्षिपेदित्यन्वयः ॥ ४७ ॥

नीराज्य अभितः परिभ्राम्य । *स* इति । गुरुः । *वर्मणेति* । कवचमन्त्रेण । वर्मणाऽऽज्यं नीराज्येति सम्बन्धः । *दर्भमिति* । दर्भयुग्मम् । अत्र संस्कारत्रये वक्ष्यमाणसंस्कारद्वयेऽपि दर्भाणामग्नौ प्रक्षेपः प्रतिपत्तिकर्म । अतएव मन्त्राभावोऽपि तत्र । ततश्च केनापि कारणेन दर्भनाशे जाते सति अग्निप्रक्षेपरूपं कर्म दर्भाणां न प्रयोजकम् । एतच्चतुर्थाध्याये प्रतिपादितं (१)तौतातितैः । एवं स्रुक्स्रुवसंस्कारेऽपि ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

घृतं गृहीत्वेति । आज्यस्थालीमुद्वास्येत्यर्थः । आधाराधेययोरैक्योपचारात् । *प्रत्यूह्य* संयोज्येत्यर्थः । स एतदनन्तरं जलस्पर्शं कुर्यात् । *अङ्गुष्ठेति* उपकनिष्ठाऽनामा अङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यां "हस्तद्वयस्ये"ति शेषः ॥ ५० ॥

उत्पुनीयादिति । अग्निसंमुखमिति शेषः । उक्तं च *शैवागमे* "प्रादेशमात्रदर्भाभ्यामङ्गुष्ठानामिकाग्रकैः । घृताभ्यां संमुखं वह्नेरथ चरेत्प्लवमाचरेत्" ॥ इति । *तद्वदिति* । हस्तद्वयस्य अङ्गुष्ठानामिकाग्राभ्यां धृत्वेत्यर्थः । अत्रापि संस्कारद्वये कुशयोर्वह्निप्रक्षेपलक्षणं प्रतिपत्तिकर्म ज्ञेयम् ॥ ५१ ॥

---

(१) एष एव पाठोऽन्यत्रापि पुस्तके । अस्य तान्त्रिकैरित्यर्थः प्रतिभाति । तान्त्रिका मन्त्रकर्ममीमांसकाः । "तान्त्रिकोज्ञातसिद्धान्तः" इत्यभिधानम् ।

घृतेसंप्लवनं कुर्युः संस्कारा षडुदीरिताः ।
प्रादेशमात्रं सग्रन्थि दर्भयुग्मं घृतान्तरे ॥ ५२ ॥
निःक्षिप्य भागौ द्वौ कृत्वा पक्षौ शुक्लेतरौ स्मरेत् ।
वामे नाडीमिडां भागे दक्षिणे पिङ्गलां पुनः ॥ ५३ ॥
सुषुम्णां मध्यतो ध्यात्वा कुर्याद्धोमं यथाविधि ।
स्रुवेण दक्षिणाद्भागादादायाज्यं हृदा गुरुः ॥ ५४ ॥
जुहुयादग्नये स्वाहेत्यग्नेर्दक्षिणलोचने ।
वामतस्तद्वदादाय वामे वह्निविलोचने ॥ ५५ ॥
जुहुयादथ सोमाय स्वाहेति हृदयाणुना ।
मध्यादाज्यं समादाय वह्नेर्भालविलोचने ॥ ५६ ॥
जुहुयादग्नीषोमाभ्यां स्वाहेति हृदयाणुना ।
हृन्मन्त्रेण स्रुवेणाज्यं भागादादाय दक्षिणात् ॥ ५७ ॥
जुहुयादग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति तन्मुखे ।
इति(१)सम्पातयेद्भागेऽथाज्यस्यान्वाहुतिं क्रमात् ॥ ५८ ॥
इत्यग्निनेत्रवक्त्राणां कुर्यादुद्घाटनं गुरुः ।
सताराभिर्व्याहृतिभिराज्येन जुहुयात्पुनः ॥ ५९ ॥
जुहुयादग्निमन्त्रेण त्रिवारं देशिकोत्तमः ।
गर्भाधानादिकां वह्नेः क्रियां निर्वर्तयेत्क्रमात् ॥ ६० ॥
अष्टाभिराज्याहुतिभिः प्रणवेन पृथक्पृथक् ।

होमविधिमाह—*प्रादेशेति* । *घृतान्तरे* घृतमध्ये ॥ ५२ ॥
शुक्लेतरौ । वामे शुक्लपक्षः । दक्षे कृष्णपक्षः ॥ ५३ ॥
ध्यात्वेति । तिस्रोऽपि घृतएव । यथाविधीत्युक्तं विधिमाह *स्रुवेणेति* ॥ ५४ ॥
तद्वदिति । स्रुवेण हृदयाणुना वामतआदायेति सम्बन्धः ॥ ५५ ॥
हृदयाणुना मध्यादाज्यं समादायेति सम्बन्धः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥
हेतिसंपातयेद्भाग इति केचन पठन्ति । तत्र हेतिराहुतिशेषः । येतु हुतिसंपातयेदिति पठन्ति । तन्मते हुतिः समाप्तौ । स्वाहान्तहोमं विधाय स्वाहा इत्यस्यान्ते यस्माद्भागादाज्याहुतिर्गृहीता तस्मिन्नेव भागे तस्य सम्पातं कुर्यादित्यर्थः । सांप्रदायिकास्त्विममेव पाठमिच्छन्ति । *अन्वाहुतिम्* । आहुतिमाहुतिमनु प्रत्याहुति इत्यर्थः । तदुक्तं *शैवागमे* "स्रुवेणादाय होमयेत् । स्वेत्यग्नौ हेति तद्भागे शेषमाज्यं क्षिपेत्क्रमादि"ति ॥ ५८ ॥
इत्यग्नीति । तेनाहुतिचतुष्टयेन नेत्रत्रयवक्त्राणामुद्घाटनं क्रमेणेत्यर्थः । *सताराभिर्व्याहृतिभिरिति* । व्यस्तसमस्ताभिः । अतएव *नारायणीयेऽपि* "पञ्चभिर्मनुभिर्हुनेदि"ति । पुनरनन्तरमिति उत्तरेण सम्बध्यते ॥ ५९ ॥
अग्निमन्त्रेणेति । वैश्वानरेति पूर्वोक्तेन *प्रणवेनेति* । पञ्चापि प्रणवा गृहीताः । *देशिकोत्तम* इति । अनेन तत्तन्मन्त्रे यथास्वं विनियोगो विज्ञेय इत्युक्तम् । गर्भाधानादिका

---

(१) अत्र "हुतिसम्पातयेद्भागेष्वाज्यस्याथाहुतिं क्रमात्" इत्यपिपाठः ।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं पुनः ॥ ६१ ॥
अनन्तरं जातकर्म स्यान्नामकरणं तथा ।
उपनिष्क्रमणं पश्चादन्नप्राशनमीरितम् ॥ ६२ ॥
चौलोपनयने भूयोमहानाम्न्यं महाव्रतम् ।
अथौपनिषदं पश्चाद्गोदानोद्वाहकौ स्मृतिः ॥ ६३ ॥
शुभेषु स्युर्विवाहान्ताः क्रियास्ताः क्रूरकर्मसु ।
मरणान्ताः समुद्दिष्टा वह्नेरागमवेदिभिः ॥ ६४ ॥
ततश्च पितरौ तस्य संपूज्यात्मनि योजयेत् ।
समिधः पञ्च जुहुयान्मूलाग्रघृतसंप्लुताः ॥ ६५ ॥
मन्त्रैर्जिह्वाङ्गमूर्तीनां क्रमाद्वह्वेर्यथाविधि ।
प्रत्येकं जुहुयादेकामाहुतिं मन्त्रविस्तमः ॥ ६६ ॥

इत्यादिशब्दसंगृहीतमेवाह *गर्भाधानमिति* । पुनरनन्तरम् *जातकर्म* । अनन्तरं तथा नामकरणं स्यादिति सम्बन्धः । अनन्तरमित्यस्यायमर्थः । वक्ष्यमाणं पञ्चसमिद्धोमलक्षणम् नालापनयनं कर्म कृत्वा सूतकं विशोध्य तथा तत्तद्देवतानाम्नाग्नेर्नामकरणं कुर्यात्। यथाकृष्णाग्निर्नारायणाग्निर्दुर्गाग्निरिति । ततोऽग्नेः पितरावात्मनि संयोज्योपनिष्क्रमणादिसंस्कारान् कुर्यात् । आदिशब्दकथनार्थमेकप्रक्रमेणोक्तिः। तदुक्तं *वायवीयसंहितायां* "जातं ध्यात्वैवमाकारं जातकर्म समाचरेत् । नालापनयनं कृत्वा ततः संशोध्य सूतकम् ॥ शिवाग्निरिति नामास्य कृत्वाऽऽहुतिपुरः सरम् । पित्रोर्विसर्जनं कृत्वा चौलोपनयनादिकम् ॥ अथोद्वाहावसानं च कृत्वा संस्कारमस्यत्वि"ति । *सौन्नामणीतन्त्रे* । "गर्भाधानादिकाः क्रियाः । जातकर्मादिका वह्नेर्वाग्भवेन पृथक् पृथक् । आज्याहुत्यष्टकैः कृत्वा वरोऽग्निर्भवेति च । नामकृत्वा ततो वह्नेरन्नप्राशनपूर्वकम् । विवाहान्तं वाग्भवेन पूर्वोक्ताष्टाहुतीः क्रमात्"इति । अत्र गोदानानन्तरं समावर्त्तनमनुक्तमपि कर्त्तव्यमित्याचार्याः । तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्याम्* "समावर्त्तनमुद्वाहमाधानं च ततः परमि"ति । *अन्यत्रापि* "अनेनैव समावर्त्तनविवाहयोराहुतीर्जुहुयादि"ति । *अन्यत्रापि* । "कुर्वीत समावर्त्तनमुद्वाहं तेन विधिनैवे"ति । केचित्तु—"तथोपनिषदं स्नानमि"ति पठित्वा स्नानं समावर्त्तनमिति व्याख्यान्ति । तन्मते समावर्त्तनानन्तरम् । प्रयोगस्तु—"ॐ अस्याग्नेर्गर्भाधानसंस्कारं करोमि स्वाहा" इत्यादि ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

तत इति । नामकरणानन्तरं तस्य वह्नेः पितरौ पूर्वोक्तौ ।*समिधः पञ्च जुहुयादिति* नालापनोदाय जातकर्मानन्तरमित्यर्थः। तदुक्तं *शैवागमे* "वक्त्राणामस्त्रमन्त्रेण ततो नालापनुत्तये । समिधः पञ्च होतव्याः प्रान्ते मूले घृतप्लुताः" इति । *वायवीयसंहितायां तु* "ताः पालाशयः परावापि यज्ञियाः द्वादशाङ्गुलाः । अवक्रा न स्वयं शुष्काः सत्वचोनिर्व्रणाः समाः ॥ दशाङ्गुला वा विहिताः कनिष्ठाङ्गुलिसन्निभाः । प्रादेशमात्रा वाऽलाभे होतव्याः सकला अपी"ति ॥ ६५ ॥

मन्त्रैरिति । न्यासप्रस्तावोक्तैः । *क्रमादिति*।न्यासक्रमात् । *यथाविधीति* अनेन होमे स्वाहान्ततेत्युक्तं स्मारयति । प्रयोगस्तु—"सर्न्यूंहिरण्यायै स्वाहा" इत्यादि । एतदनन्तरं,"ॐ सरेभ्यः स्वाहे"त्याद्यधिदेवताहोमेऽपि "सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः स्वाहे" त्यादि । ॐ अग्नये जातवेदसे स्वाहे"त्यादि । *तन्त्रविस्तम इति* । अनेन लोकपालतदस्त्रावृत्तिग्रहणमुक्तम् । तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्याम्* "जुहुयादङ्गमन्त्रावैस्ताराद्यैश्च सकृत् स-

अवदाय स्रुवेणाज्यं चतुः स्रुचि पिधाय ताम् ।
स्रुवेण तिष्ठन्नेवाग्नौ देशिको यतमानसः ॥ ६७ ॥
जुहुयाद्वह्निमन्त्रेण वौषडन्तेन सम्पदे ।
विघ्नेश्वरस्य मन्त्रेण जुहुयादाहुतीर्दश ॥ ६८ ॥
सामान्यं सर्वतन्त्राणामेतदग्निमुखं मतम् ।
ततः पीठं समभ्यर्च्य देवताया हुताशने ॥ ६९ ॥
अर्चयेद्वह्निरूपां तां देवतामिष्टदायिनीम् ।
तन्मुखे जुहुयान्मन्त्री पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ ७० ॥
आज्येन मूलमन्त्रेण वह्न्यैकीकरणन्त्विदम् ।
वह्निदेवतयोरैक्यमात्मना सह भावयेत् ॥ ७१ ॥
मूलमन्त्रेण जुहुयादाज्येनैकादशाहुतीः ।
नाडीसन्धानमुद्दिष्टमेतदागमवेदिभिः ॥ ७२ ॥
जुहुयादङ्गमुख्यानामावृत्तीनामनुक्रमात् ।
एकैकामाहुतिं सम्यक् सर्पिषा देशिकोत्तमः ॥ ७३ ॥

क्त । तत्तत्स्थानेषु शितर्धाः स्वाहान्तैश्च यथाक्रममि”ति । *प्रयोगसारेऽपि* “सर्वे मन्त्राः प्रयोक्तव्याः स्वाहान्ता होमकर्मस्वि”ति ॥ ६६ ॥

अवदायेति । यतमानसो देशिकः स्रुवेणाज्यं चतुर्वारं स्रुचि निधाय तां स्रुचं स्रुवेण पिधाय तिष्ठन्नेव वौषडन्तेन वह्निमन्त्रेणाग्नौ जुहुयादित्यन्वयः । यतमानसोदेशिक इत्यनेन समपादत्वं शृङ्गाग्र्यप्रलोचनत्वादिकमुक्तम् ॥ ६७ ॥

वौषडन्तेनेति । स्वाहा पदस्थाने वौषट्पदप्रक्षेप इत्यर्थः । *शैवागमेतु* विशेषः “घृतेन स्रुचि पूर्णायां निधायाधोमुखं स्रुवम् । शृङ्गाग्रे पुष्पमारोप्य पश्चाद्वामेन पाणिना ॥ पुनः सव्येन तौ धृत्वा शङ्खसन्निभमुद्रया । समुद्गतोर्द्ध्वकायश्च समपादः समुत्थितः ॥ नाभौ तन्मूलमाधाय शृङ्गाग्रन्यप्रलोचनः । वामस्तनान्तरानीय तयोर्मूलमतन्द्रित” इति । *विघ्नेश्वरस्येति* । महागणपतेर्दशधाविभक्तेन पूर्वपूर्वानुविद्धेनेति ज्ञेयम् । समस्तेनाहुतिचतुष्टयं दद्यादित्यपि । तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्यां* “महागणेशमन्त्रेण पूर्वपूर्वयुतेन च । तारादिबीजपदकेषु करणेष्वद्विवर्णकैः ॥ भिन्नेषु दशधा हुत्वा समस्तेन सुरेश्वरि” इति । *तथाचाचार्याः* “ताराद्यैर्दशभिर्भेदैः पूर्वपूर्वसमन्वितैः । मनुना गाणपत्येन जुहुयाच्च दशाहुती *जुहुयाच्च चतुर्वारं समस्तेनैव तेन त्वि”ति । *अन्यत्रापि* “महागणेशमन्त्रेण पूर्वपूर्वयुतेन च । भिन्नेन दशधा हुत्वा समस्तेन सुरेश्वरि” इति ॥ ६८ ॥

देवताया इति । प्रकृतदेवताया इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

देवतामिति । सावरणाम् । *वह्न्यैकीकरणमिति* । *तदुक्तं शैवागमे* । “इतीष्टवक्त्रे वक्त्राणामन्तर्भावस्तु चैकता । अथवा कुण्डमानत्वं यदीष्टवदने स्मरेत् ॥ अन्तर्भाव्यानि वक्त्राणि तदेकीकरणं मतमि”ति ॥ ७० ॥ ७१ ॥

नाडीसंधानमिति । अग्निदेवतात्मनां त्रयाणां नाड्यैकीकरणम् ॥ ७२ ॥

अङ्गमुख्यानामावृत्तीनामिति । प्रकृतदेयमन्त्रदेवता , इत्यर्थः । अत्राप्यङ्गेत्यादिसम्भवाभिप्रायम् । *सम्यगिति* । अनेन यत्राङ्गावृत्तेराद्यत्वं नास्ति तत्र यथावृत्तिस्तदादीनामावृत्तीनामित्युक्तम् । *देशिकोत्तम इति* । अनेन मूलमन्त्रेण दशाहुतयोहोतव्या इत्युक्तम् । यदाहुः “परिवारस्यैकैकां देव्यास्तु दशाहुतीर्जुहुयात्” इति ॥ ७३ ॥

ततोऽन्येष्वपि कुण्डेषु संस्कृतेषु यथाविधि ।
आचार्योविहरेदग्निं पूर्वादिषु समाहितः ॥ ७४ ॥
ऋत्विजो गन्धपुष्पाद्यैरङ्गाद्यावरणान्विताम् ।
तन्त्रोक्तदेवतामिष्ट्वा पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ ७५ ॥
मूलेनाज्येन जुहुयुः साज्येन चरुणा तथा ।
प्रातरुत्थाय जुहुयुः पुनराज्यान्वितैस्तिलैः ॥ ७६ ॥
द्रव्यैर्वा कल्पविहितैः सहस्रं साष्टकं पृथक् ।
ततो सुधौतदन्तास्यं स्नातं शिष्यं समाहितम् ॥ ७७ ॥
पाययित्वा पञ्चगव्यं कुण्डस्यान्तिकमानयेत् ।
विलोक्य दिव्यदृष्ट्या तं तच्चैतन्यं हृदम्बुजात् ॥ ७८ ॥
गुरुरात्मनि संयोज्य कुर्यादध्वविशोधनम् ।
उक्तं कलाध्वा तत्त्वाध्वा भुवनाध्वेति च त्रयम् ॥ ७९ ॥

संस्कृतेष्विति । "ऋत्विग्भिरि"ति शेषः । तेन ऋत्विजःस्वे स्वे कुण्डेऽष्टादशसंस्कारान्यथाविधि कुर्युः । आचार्योऽग्निविहरणं कुर्यात् सर्वत्रैवेत्यर्थः । *पूर्वादिषु* ईशान्तेषु । *समाहित इति* । अनेनाविच्छेदेनाग्निविहरणमुक्तम् ॥ ७४ ॥

देवतामिष्ट्वेति । अत्र पूजानन्तरं तद्देवताङ्गावृत्त्यादीनां पूर्ववदेकैकामाहुतिं हुत्वा मूलदेवताया दशाहुतीर्जुहुयुरिति ज्ञेयम् ॥ ७५ ॥

साज्येन चरुणा तथेति । पूर्वपटले यश्चरुः कारितः तस्य भागत्रयं कृतम् एको भागो देवतायै निवेदितः । अन्यमग्नौ प्रजुहुयादित्युक्तम् । तस्यैवायं होमः । *तथेति* । मूलेन पञ्चविंशतिवारम् । द्वितीयदिनकृत्यमाह—*प्रातरिति* । *जुहुयुरिति* आचार्याः प्रत्येकमृत्विजश्च । तत्रविशेषो *वायवीयसंहितायां*—स्रुवेणाज्यं समित्पाण्या स्रुचा शेषं करेण वा । तत्र दिव्येन होतव्यं तीर्थेनापण वा तथे"ति ॥ ७६ ॥

पृथक् प्रत्येकमष्टोत्तरसहस्रम् । तत्र सुसमिद्धेऽग्नौ होतव्यम् अन्यथा दोषदर्शनात । तदुक्तं *बह्वृचपरिशिष्टे*—"अन्धोऽबुधः सधूमेच जुहुयाद्योहुताशने । यजमानो भवेदन्धः सपुत्र इति च श्रुतिः" इति ॥ *छन्दोगपरिशिष्टेऽपि*—"योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः । मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते ॥ तस्मात् समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कथंचन । आरोग्यमिच्छतायुश्च श्रियमात्यन्तिकीं तथा" ॥ इति । *महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि*—"अप्रदीप्ते न होतव्यं मध्यमे नाप्यनिन्धिते । प्रदीप्ते लेलिहानेऽग्नौ होतव्यं कर्मसिद्धय" इति । होमानन्तरं गुरुकृत्यमाह—*तत* *इति* ॥ ७७ ॥

पञ्चगव्यं पाययित्वेति । मण्डपबाह्य एव । पञ्चगव्यप्रकारं तु एकविंशे वक्ष्यति । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"पञ्चगव्यं यथाप्रोक्तं पीत्वा चान्ते यथाविधि । द्वारेण दक्षिणेनाथ यागस्थानं प्रवेशयेत्" इति । *तच्चैतन्यमिति* । तदूर्ध्वदोवहन्नाड्या अङ्कुशमुद्रया चैतन्यमाकृष्य स्ववहन्नाडीमार्गेण स्वहृदि संयोजयेदित्यर्थः । *तदुक्तं*—"हृदि स्थितं तच्चैतन्यं प्रस्फुरत्तारकाकृति । आदाय स्थापयेत् स्वीये हृदयेऽङ्कुशसमुद्रये"ति ॥ ७८ ॥

अध्वविशोधनमिति । तदुक्तं *षडन्वयमहाराज्ञे*—"शोधनं नाम तत्त्वानां कारणैकत्वचिन्तनम् । वर्णादीनां कलानां च तस्यां बिन्द्वैक्यचिन्तनमि"ति *उक्तमिति* । *इतित्रयमिति च* । परं त्रयमुक्तं "तन्त्रविद्भिरि"ति शेषः । आद्यास्त्रयोऽर्थरूपाः । परे त्रयः शब्दरूपाः । तदुक्तं *वायवीयसंहितायां*—"तेऽत्र शब्दात्मरोऽध्वानस्त्रयस्त्वार्थाः समीरिता" इति ।

वर्णाध्वा च पदाध्वा च मन्त्राध्वेत्यपरं त्रयम् ।
निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च कलाध्वेति प्रकीर्तिताः ॥ ८० ॥
तत्त्वाध्वा बहुधाभिन्नः शिवाद्यागमभेदतः ।
षड्विंशच्छिवतत्त्वानि द्वाविंशद्वैष्णवानि तु ॥ ८१ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि मैत्राणि प्रकृतेः पुनः ।
उक्तानि दश तत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मनः ॥ ८२ ॥
तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवशक्तिः सदाशिवः ।
ईश्वरोविद्यया सार्द्धं पञ्च शुद्धान्यमूनि हि ॥ ८३ ॥
माया कालश्च नियतिः कलाविद्या पुनः स्मृता ।
रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च ॥ ८४ ॥
प्रकृतिर्बुध्यहङ्कारौ मनोज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पञ्च भूतानि देशिकः ॥ ८५ ॥
एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे ।
शैवानामिति तत्त्वानां विभागोऽत्र प्रदर्शितः ॥ ८६ ॥
जीवः प्राणाधिपश्चित्तं ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यथ ।
तन्मात्राः पञ्च भूतानि हृत्पद्मं तेजसां त्रयम् ॥ ८७ ॥
वासुदेवादयश्चेति तत्त्वान्येतानि शार्ङ्गिणः ।
पञ्च भूतानि तन्मात्रा इन्द्रियाणि मनस्तथा ॥ ८८ ॥
गर्वो बुद्धिः प्रधानं च मैत्राणीति विदुर्बुधाः ।
निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च ततो बिन्दुकलाः पुनः ॥ ८९ ॥
नादः शक्तिः सदा पूर्वः शिवश्च प्रकृतेर्विदुः ।

---

*अन्यत्रापि—"मन्त्राध्वाच पदाध्वा च वर्णाध्वाचेति शब्दतः । भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चार्थतः क्रमात्" इति । अत्र तु संहारक्रमेणोक्तिः । मूलेतु सृष्टिक्रमेणेति ज्ञेयम् ॥७९॥८०॥

बहुधेति पञ्चधा । मैत्राणि सांख्यानि । तदुक्तं वायवीयसंहितायां—"पौराणानि च तत्त्वानि त्रिपुरायाश्च कानि चित् । सांख्ययोगप्रसिद्धानि तत्त्वान्यपि च कानि चित् ॥ शिवशास्त्रप्रसिद्धानि ततोऽन्यान्यपि कृत्स्नशः" इति । *त्रिपदात्मनः* त्रिपुरायाः ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

शुद्धानीति । आणव-कार्म-मायीय-मलत्रयरहितत्वात् शुद्धत्वं, तत्राणवो नाम-सदाशिवस्य स्वस्यानवमर्शः । कार्मोनाम-पुण्यपापवानहमिति प्रतीतिः । मायीयोमहदहङ्कारादावात्मबुद्धिः । उक्तं च *वायवीयसंहितायां*—"शिवः शक्तिस्ततोनादस्तस्माद्बिन्दुः सदाशिवः । तस्मान्महेश्वरोजातः शुद्धा विद्या महेश्वरात्" इति ॥ ८३ ॥

शुद्धाशुद्धानीति । कारणत्वेन मलत्रयराहित्याच्छुद्धत्वम् । कार्यरूपत्वेन तद्युक्तत्वादशुद्धम् । तदुक्तं *वायवीयसंहितायां* "सा वाचामीश्वरी शक्तिर्वागीशाख्यस्य शूलिनः । या सावर्णस्वरूपेण मातृकेति विजृम्भते ॥ अथानन्तसमायोगान्मायां कालमवासृजत् । नियतिं च कलां विद्यां कलातो राजपूरुषादि"त्यादि "षड्विंशात् संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः" इत्यन्तेन ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणीति । दशपञ्चेष्वनुभवन्ति लभ्यते । *तेजसां त्रयम्*—अग्नीन्दुसूर्याः ।

आत्मविद्या शिवः पश्चाच्छिन्नो विद्या स्वयं पुनः ॥ ९० ॥
सर्वतत्त्वं च तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिपदात्मनः ।
तत्त्वाध्वा कथितोऽप्येष तत्तदागमवेदिभिः ॥ ९१ ॥
ईरितो भुवनाध्वेति भुवनानि मनीषिभिः ।
वर्णाध्वेति वदन्त्यर्णानादिक्षान्तान्मनीषिणः ॥ ९२ ॥
वर्णसंघः पदाध्वा स्यान्मन्त्राध्वा मन्त्रराशयः ।
क्रमादेतान्पुनः षट्च शोधयेद्गुरुसत्तमः ॥ ९३ ॥
पादान्धुनाभिहृद्भालमूर्द्धस्वपि शिशोः स्मरेत् ।
ततः कूर्चेन विधिवत्तं स्पृशञ्जुहुयाद्गुरुः ॥ ९४ ॥
आचार्यकुण्डे संशुद्धैस्तिलैराज्यपरिप्लुतैः ।
शोधयाम्यमुमध्वानं स्वाहेति पृथगध्वनः ॥ ९५ ॥
ताराद्यमाहुतीरष्टौ क्रमात्तां विलयं नयेत् ।
शिवे, शिवात्तान्संलीनाञ्जनयेत्सृष्टिमार्गतः ॥ ९६ ॥

---

*वासुदेवादय*श्चत्वारोऽष्टमेवक्षन्ये । इन्द्रियाणि दश, गर्वोऽहंऽकारः । बुद्धिर्महत्तत्वं, प्रधानं प्रकृतिः । स्वयमात्मा ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

स्वकपोलकल्पितत्वशङ्कां वारयति—*तत्तदागमवेदिभिरिति* ॥ ९१ ॥

भुवनानि–आकाशवायुतैजसाप्यपार्थिवभुवनानि पञ्च । *वायवीयसंहितायां तु*—"आराधुनूमन्यन्तं च भुवनाध्वा प्रकीर्तितः" इति ॥ ९२ ॥

वर्णसंघः । सबिन्दुवर्णाः । *वायवीयसंहितायां तु*—"अनेकभेदसंभिन्नः पदाध्वा पदसंहितः । महामन्त्रोपमन्त्राणां वर्त्तते ऽवयवात्मना ॥ प्रधानावयवत्वेन सोऽध्वा पञ्चपदात्मकः" इति । *मन्त्रराशयः* । अकचटतपयाः सप्तमन्त्राः । मूर्द्धनि—ब्रह्मरन्ध्रे । तत्रायं शोधनप्रकारः । पदे कलाध्वानं स्मृत्वा पद्गुह्यहृद्वक्त्रशिरःसु स्वबीजादिकाः कला विन्यस्य पश्चात् कलाध्वविशोधनम् । एवं तत्त्वाध्वानमन्धौ स्मृत्वा विलोमेषु पूर्वस्थानेषु तान्विन्यस्य पश्चात्तत्वाध्वशोधनम् । एवं भुवनाध्वानंनाभौ स्मृत्वा अनन्तरस्थानेषु स्वबीजाद्यान् विन्यस्य पश्चात्तच्छोधनम् । एवं हृदि वर्णाध्वानं संस्मृत्य शुद्धान्वर्णान् तद्देशे विन्यस्य पश्चाद्वर्णाध्वशोधनम् । एवं भाले पदाध्वानं संस्मृत्य संविद्वर्णान् विन्यस्य तच्छोधनम् । एवं मूर्द्धनि मन्त्राध्वानं संस्मृत्य सप्तमन्त्रान् तत्तत्स्थानेषु व्याप्य पश्चात्तत्तदध्वविशोधनमिति *गुरुसत्तम* इत्यनेनोक्तम् *विधिवदिति*।अनेन शिष्य इति ज्ञेयम् । तंगुरुः स्पृशेदिति भिन्नं वाक्यम् । तदुक्तं* नारायणीये*—"ध्यानेनात्मनि तं शिष्यं संहृत्य प्रलयक्रमात् । पुनरुत्पाद्य तत्पाणौ दद्याद्दर्भांश्च मन्त्रितान्" इति । केचन तं स्पृशन्निति पठन्ति । तदा विधिवदित्यनेन वामकरस्थेनेति ज्ञेयम् । गुरुरष्टावाहुतीरधुना ताराद्यं पृथक् जुहुयादिति सम्बन्धः ॥ ९३ ॥ ॥ ९४ ॥

शोधयामीति । अमुष्येत्यर्थतः *संशुद्धैरिति* अवकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य संशोषितैरित्यर्थः । प्रयोगस्तु "ॐ अमुष्य कलाध्वानं शोधयामि स्वाहे"त्यादि ॥ ९६ ॥

*शिवे—*सहस्रारस्थिते इति पूर्वेण सम्बध्यते । *क्रमादिति* अग्रिमं पूर्वस्मिन्निति । शिवपर्यन्तम् ॥ शिवात्सृष्टिमार्गस्थाञ्जनयेदिति सम्बन्धः । *सृष्टिमार्गतः* । पूर्वस्मादग्रिमं *नियोजयेदिति* यथा आनीतं तथैवेत्यर्थः । अनेनाध्वविशोधनेन शरीरशुद्धिः कृता

विलोकयन्दिव्यदृष्ट्या तं शिशुं देशिकोत्तमः ।
आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत् ॥ ९७
स्रुचा पूर्णाहुतिं दत्त्वा मूलमन्त्रेण देशिकः ।
उद्वास्य देवतां कुम्भे साङ्गां सावरणां गुरुः ॥ ९८ ॥
पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा जिह्वादीनां विभावसोः ।
एकैकामाहुतिं दत्त्वा परिषिञ्च्याद्भिरात्मनि ॥ ९९ ॥
पावकं योजयित्वा स्वे परिधीन्सपरिस्तरान् ।
नैमित्तके दहेन्मन्त्री नित्ये तु न दहेदिमान् ॥ १०० ॥
नेत्रे शिष्यस्य बध्नीयान्नेत्रमन्त्रेण वाससा ।
करे गृहीत्वा तं शिष्यं कुण्डतो मण्डलं नयेत् ॥ १०१ ॥
तस्याञ्जलिं पुनः पुष्पैः पूरयित्वा यथाविधि ।
कलशे देवताप्रीत्यै क्षेपयेन्मूलमुच्चरन् ॥ १०२ ॥

भवति । यतः षडध्वमयमेव शरीरम् । यदाहुः—"शान्त्यतीतकलामूर्द्धा शान्तिवक्त्रशिरोरुहा । निवृत्तिजानुजङ्घाङ्घ्रिर्भुवनाध्वशिरोरुहा ॥ मन्त्राध्वमांसरुधिरा पदवर्णशिरायुता । तत्त्वाध्वमज्जामेदोऽस्थिधातुरेतोयुता शिवे" इति ॥ ९६ ॥ ॥ ९७ ॥

मूलमन्त्रेण देशिकः । इति*अनेन वौषडन्तेनेत्युक्तम् । तदुक्तं *वायवीयसंहितायां*—"ततो होमावशिष्टेन घृतेनाऽऽपूर्य वै स्रुचम् । निधाय पुष्पं तस्याग्रे स्रुवेणाधोमुखेन ताम् ॥ सदर्भेण समाच्छाद्य मूलेनाञ्जलिनोत्थितः । वौषडन्तेन जुहुयाद्धारां तु यवसंमिताम् ॥ इत्थं पूर्णाहुतिं कृत्वे"ति । *उद्वास्य* अग्नित उद्वासनं कृत्वा कुम्भेऽआनीयेत्यर्थः । देशिको गुरुरित्यनेन देवतायाः अङ्गावृत्त्यादीनामेकैकामाहुतिं हुत्वा उद्वासनमित्युक्तं भवति ॥ ९८ ॥

*व्याहृतिभि*र्व्यस्तसमस्ताभिः । साम्प्रदायिकास्तु व्याहृतिशब्देनात्र महाव्याहृतय उच्यन्त इत्याहुः । ताश्च "ॐ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा" । "ॐ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वाहा" । "ॐ भूर्भुवः स्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यः दिग्भ्यश्च महते च स्वाहा" इति । उक्तं च—"पुनः समापयेद्धोमं महाव्याहृतिपूर्वकमि"ति । *विभावसोर्जिह्वादीनामिति* । आदिशब्देनाधिदेवताङ्गमूर्त्तिलोकपालतदायुधानि । *परिषिच्येति* । पावकमिति सम्बध्यते । *अद्भिः* प्रोक्षण्युदकैरित्यर्थः । *स्वेआत्मनि पावकं योजयित्वेति* । तत्र प्रार्थनमन्त्रेण संप्रार्थ्य पश्चादुद्वासनम् । तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्यां* "भोभो वह्ने ! महाशक्ते ! सर्वकर्मप्रसाधक ! । कर्मान्तरेऽपि संप्राप्ते सान्निध्यं कुरु सादरम् ॥ इति मन्त्रेण संप्रार्थ्य वह्निमुद्वासयेदपी"ति ॥ ९९ ॥ १०० ॥

वाससेति । नवेन शुक्लेन । तदुक्तं*महाकपिलपञ्चरात्रे*—"नवेन शुक्लवस्त्रेण नेत्रे बध्ने"ति । *पिङ्गलामतेतु* विशेषः-"नेत्रवस्त्रेण तन्नेत्रे नेत्रमन्त्रेण बन्धयेत्" इति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*—"अथ नेत्रेण तन्नेत्रे बध्वा नेत्रेण देशिक" इति । *नारायणीयेतु*—"नेत्राद्यैर्नेत्रे नेत्रेण बन्धयेदि"ति ॥ *मण्डलं नयेदिति* प्रादक्षिण्येन "पश्चिमद्वारमि"ति शेषः । तदुक्तं *नारायणीये*—"न्यासं शिष्यतनौ कृत्वा तं प्रदक्षिणमानयेत् । पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत् कुसुमाञ्जलिमि"ति ॥ १०१ ॥

यथाविधि क्षेपयेदिति* । अनेन विशेषः पिङ्गलामतोक्तः संगृहीतः । "पुष्पैरञ्जलिमापूर्य योगपीठे प्रदापयेत् । पश्चिमोत्तरब्रह्मेन्द्रे पुष्पपातः शुभोऽशुभे ॥ अष्टोत्तरशतं शान्त्यै जुहुयादस्त्रमन्त्रत" इति ॥ १०२ ॥

व्यपोह्य तं नेत्रबन्धमासीनं दर्भसंस्तरे ।
आत्मयागक्रमाद्भूयः संहृत्योत्पाद्य देशिकः ॥ १०३ ॥
तत्तन्मन्त्रोदितान् न्यासान्कुर्याद्देहे शिशोस्तदा ।
पञ्चोपचारैः कुम्भस्थां पूजयित्वेष्टदेवताम् ॥ १०४ ॥
तस्यां तन्त्रोक्तमार्गेण विदध्यात्सकलीकृतिम् ।
मण्डलेऽलङ्कृते शिष्यमन्यस्मिन्नुपवेशयेत् ॥ १०५ ॥
नदत्सु पञ्चवाद्येषु साद्धं विप्राशिषा गुरुः ।
विधिवत्कुम्भमुद्धृत्य तन्मुखस्थान्सुरद्रुमान् ॥ १०६ ॥
शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृकां मनसा जपन् ।
मूलेन साधितैस्तोयैरभिषिञ्चेत्तमात्मवित् ॥ १०७ ॥
पूजितां पुनरादाय वर्द्धनीमस्त्ररूपिणीम् ।

आत्मयागक्रमात् । वक्ष्यमाणप्रपञ्चयागक्रमेणेति केचित् । साम्प्रदायिकास्तु-आत्मयागः अन्तर्यागः । *तत्क्रमात्त*न्त्रोक्तभूतशुद्धिक्रमेणेत्यर्थः । तत्र भूतसंहारस्य भूतसृष्टेश्चोक्तत्वात् । देहं संहृत्य भूयोनन्तरमुत्पाद्येत्यन्वयः । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"गुणांशेन पृथिव्यादि भूतानि विलयं नयेत् । यथावत्पिण्डसंस्थानि संहारक्रमयोगतः ॥ ततः सृष्टिक्रमेणैव पिण्डं संभावयेत्तदे"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*—"उपविश्यासने दिव्ये संहरेत्तस्य विग्रहम् । गन्धादिघ्राणसंयुक्तां पृथिवीमप्सु संहरेदि"त्यादिना "उत्पन्नं भावयेत्तत" इत्यन्तेन । *अन्यत्रापि*—"अथाभिषेकमण्डपे सुखोपविष्टमासने । गुरुर्विशोधयेदमुं पुरेव शोषणादिभिरि"ति । *नारायणीयेऽपि*—"शोषादिना सुखासीनं तत्र सम्बोधयेद्गुरुरि"ति । अत्र देवताप्रार्थनमाहुराचार्याः*—"कारुण्यनिलये ! देवि ! सर्वसम्पत्तिसंश्रये ! । शरण्यवत्सले ! मातः ! कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ॥ आणवप्रमुखैः पाशैः पाशितस्य सुरेश्वरि ! । दीनस्यास्य दयाधारे ! कुरु कारुण्यमीश्वरि ! ॥ ऐहिकामुष्मिकैर्भोगैरपि सम्बध्यतामसौ । स्वभक्तिः सकला चास्मै दीयतां निष्कलाश्रये !" इति ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

अन्यस्मिन्मण्डल इति । मण्डपाद्बहिरैशान्याम् । तदुक्तं *सोमशम्भुना* "यागालयाद्दिगीशस्य रचिते स्नानमण्डपे । कुर्यात्करद्वयायामां वेदिमष्टाङ्गुलोच्छ्रिताम् ॥ श्रीपर्ण्याद्यासने तत्र विन्यस्यानन्यमानसम् । शिष्यं निवेश्य पूर्वास्यं सकलीकृत्य पूजयेत्" इति । *प्रयोगसारे* "अथैशान्यां दिशि यथामन्त्रविन्यस्तविग्रहम् । पीठस्थं चतुरस्रायां वेद्यां न्यग्रपाणिनम् । अभिषिञ्चेत् स्वयं शिष्यमात्मतत्त्वानुवर्त्तिनमि"ति । *उपवेशयेत् इति* । भुक्तौ प्राङ्मुखं मुक्तावुदङ्मुखमिति ज्ञेयम् । तदुक्तं *सोमशम्भो** "स्नाने तूदङ्मुखं मुक्त्यै पूर्ववक्त्रं च भुक्तये । ऊर्ध्वकायं समारोप्ये"ति । *अन्यत्रापि* "मण्डलं विशदं कृत्वा मुमुक्षूनुत्तराननान् । भुक्तये पूर्ववक्त्रांश्च शिष्यांस्तत्र निवेशयेत्" इति ॥ १०५ ॥

विधिवन्मातृकां मनसा जपन् मूलेनाभिषिञ्चेदिति सम्बन्धः । तत्र विधिवदिति विलोमपठितां मूलं च तादृग्रूपामिति । *तदुक्तमाचार्यैः* "यथा पुरा पूरितमक्षरैर्घटं सुधामयैः शिष्यतनौ तथैव सः । प्रपूरयेन्मन्त्रिवरोऽभिषेचयेद्घ्वाह्वये मङ्क्षु (१) यथेष्टसम्पदामि"ति । *अन्यत्रापि* "सुमतिरभिषिञ्चन्नरोमन्त्रजापी"ति । *अन्यत्रापि* "अभिषेचयता यथास्वक्षार्थै रान्तैर्वर्णैरभिपूर्णतनुर्विलोमितमन्त्रान्तैरि"ति ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

---

(१) शीघ्रम् "द्राङ्मङ्क्षु सपदि द्रुते" इत्यमरः ।

तस्यां सुसाधितैस्तोयैः सिञ्चेद्देवार्थमञ्जसा ॥ १०८ ॥
अवशिष्टेन तोयेन शिष्यमाचामयेद्गुरुः ।
ततस्तं सकलीकुर्याद्देवतात्मानमात्मवित् ॥ १०९ ॥
उत्थाय शिष्यो विमले वाससी परिधाय च ।
आचम्य वाग्यतो भूत्वा निषीदेत्सन्निधौ गुरोः ॥ ११० ॥
देवतामात्मनः शिष्ये संक्रान्तां देशिकोत्तमः ।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैरैक्यं सम्भावयंस्तयोः ॥ १११ ॥
दद्याद्विद्यां ततस्तस्मै विनीतायाम्बुपूर्वकम् ।
गुरोर्लब्धां पुनर्विद्यामष्टकृत्वो जपेत्सुधीः ॥ ११२ ॥
गुरुविद्यादेवतानामैक्यं सम्भावयन्धिया ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ गुरुं तं देवतात्मकम् ॥ ११३ ॥

सुसाधितै रित्युनुवादमात्रमुभयत्रापि । *पूजितामित्यपि* अनुवादः । *अञ्जसा* तत्त्वेन(१) ॥ १०८ ॥

अवशिष्टेनेति । अभिषेकावशिष्टकलशस्थेन । *देवतात्मानम*भिषेकेण(२) ॥ १०९ ॥

सन्निधौ—समीपे ॥ ११० ॥

संक्रान्तामिति । अभिषेकेण । *देशिकोत्तम* इत्यनेन गन्धपुष्पाद्यैरित्याद्यशब्देन धूपदीपे एवग्राह्ये इत्युक्तम् । *तयोरिति*। शिष्यदेवतयोः ॥ १११ ॥

तत इत्यनेन शिष्यमूर्द्धनि हस्तं दत्त्वाऽष्टोत्तरशतं मन्त्रं जपेदिति सूचितम् । तदुक्तं *वसिष्ठसंहितायाम्* । "ततस्तच्छिरसि स्वस्य हस्तं दत्त्वा शतं जपेत् । अष्टोत्तरशतं मन्त्रं दद्यादुदकपूर्वकमि"ति । *अन्यत्रापि* "अथ सम्पादयेन्मन्त्रं हस्तं शिरसि धारयेत् । समो(३)स्त्वित्यक्षतान्दद्यादि"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि* "विश्वात्मा स्वयमाचार्यस्तन्मूर्ध्नि स्वकरं न्यसेदि"ति । *दद्यादिति* । दक्षिणकर्णं त्रिवारं यावत्पाठं वा । तदुक्तम् "कन्यादिषु कथमन्त्रवरं यथावत्ब्रूयात्त्रिशोगुरुरनर्घ्यमवामकर्ण"इति(४)। *अम्बुपूर्वकमिति* । ब्राह्मणविषयम् । एतदनन्तरम् "आवयोस्तुल्यफलदोभवत्वेवमुदीरयेत् । प्रसन्नवदनस्तस्मै शिष्याय मुनिपुङ्गव ! ॥ स्वतोज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद्गुरुः । आगतां भावयेच्छिष्य" इति । *वायवीयसंहितायांतु* "अथ गुर्वाज्ञया शिष्यः शिवाग्निगुरुसन्निधौ । मस्त्यैवम भिसन्धाय दीक्षावाक्यमुदीरयेत् ॥ वरं प्राणपरित्यागश्छेदनं शिरसोऽपि वा । न त्वनभ्यर्च्य भुञ्जीयां भगवन्तं त्रिलोचनमि"ति । विद्यादानानन्तरं गुरुरष्टोत्तरसहस्रं मन्त्रं जपेत् । तदुक्तम् "अष्टोत्तरसहस्रं स्वशक्तिहानानवाप्तये जप्यादि"ति । *नारायणीयमहाकपिलपञ्चरात्रयोरपि* "मन्त्रं दत्त्वा सहस्रं वै स्वसिद्ध्यै देशिको जपेत्" इति ॥ ११२ ॥

प्रणमेदिति । "त्वत्प्रसादादहं देव ! कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः । मायामृत्युमहापाशाद्विमुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मिचे"ति । मन्त्रं पठन् इति ज्ञेयम् । तत्र (५)अष्टाङ्गः पञ्चाङ्गो वा प्र·

---

(१) "तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्" इत्यमरः ।
(२) एतच्च हेतुकथनम् । एवमग्रेऽपि ।
(३) "अवयोः समोऽस्तु" इति पठन् । (४) एतत्पुंविषयम् ।
(५) तत्र पञ्चाङ्गो गृहस्थ–स्त्री–विषयः । अष्टाङ्गस्तदितरविषय इति विवेकोऽन्यत्र ।

तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्द्धनि योजयेत् ।
शरीरमर्थं प्राणं च (णांश्च)सर्वं तस्मै निवेदयेत् ॥ ११४ ॥

णामः कार्य इत्यर्थः, यदाहुः "दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा । मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥ बाहुभ्यां च सजानुभ्यां शिरसा मनसा धिया । पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् सर्वत्र प्रवराविमावि"ति ॥ ११३ ॥

अर्थं निवेदयेदित्यनेन गुरवे दक्षिणां कुम्भादिकं च दद्यादित्युक्तम् । यदाहुः—"द्रव्याद्धं गुरवे दद्याद्दक्षिणां वा तदर्द्धकमि"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि* "आचार्यादनभिप्राप्तः प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः । सततं जप्यमानोऽपि मन्त्रः सिद्धिं न गच्छति ॥ सर्वस्वं वा तदर्द्धं वा वित्तशाठ्यविवर्जितः । गुरवे दक्षिणां दत्त्वा ततो मन्त्रग्रहोऽस्त" इति । *वायवीयसंहितायां* । "मण्डपं गुरवे दद्याद्यागोपकरणैः सहे"ति । *अन्यत्रापि* "तां वित्तशाठ्यं परिहृत्य दक्षिणां दत्त्वा तनुं स्वां स समर्पयेत्सुधीरि"ति । *अन्यत्रापि* "कृतकृत्यस्तथा शिष्यः सर्वं तस्मै निवेदयेत् । यच्च यावच्च तद्भक्त्या गुरोराकृष्टचेतनः ॥ गोभूहिरण्यं विपुलं गृहक्षेत्रादिकं बहु । नचेदर्द्धं तदर्धं वा तद्दशांशमथापि वा ॥ अक्लेशादन्नवस्त्रादि दद्याद्वित्तानुसारत" इति । तथा "कुम्भादिकं च सकलं गुरवे समर्प्ये"ति । *अन्यत्रापि* "वित्तवानुरूपतोऽसौ दातव्या दक्षिणा च निजगुरवे । प्राणप्रदानकर्त्रे नच कार्यं वित्तशाठ्यमत्राभिधेये"ति । *तत्र गुरोः कृत्यं तन्त्रान्तरोक्तं लिख्यते* । "स्नानसन्ध्ये सदाचारं नित्यं काम्यं तथैव च । मन्त्रसिद्धिप्रकारांश्च शिष्यायाभिवदेद्गुरुरि"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* *अन्यत्रापि* "अभिवन्द्य ततः शृणोतु सम्यक् समवान् भक्तिभराऽवनम्रमूर्त्तिरि"ति । तत्र सदाचार उक्तः *प्रयोगसारे*— "देवस्थाने गुरुस्थाने श्मशाने वा चतुष्पथे । पादुकासनविण्मूत्रमैथुनानि परित्यजेत् ॥ देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताः । सिद्धिं सिद्धाधिवासांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥ प्रमत्तामन्त्यजां कन्यां पुष्पितां पतितस्तनीम् । विरूपां मुक्तकेशीं च कामार्त्तां च न निन्दयेत् ॥ कन्यायोनिं पशुक्रीडां दिग्वस्त्रां प्रकटस्तनीम् । नालोकयेत्परद्रव्यं परदारांश्च वर्जयेत् ॥ धान्यगोगुरुदेवाग्निविप्रकोशनरान्प्रति । नैव प्रसारयेत्पादौ नैतानपि च लङ्घयेत् ॥ आलस्यं मदसंमोहशाठ्यपैशून्यविग्रहान् । असूयामात्मशंसां च परनिन्दां च वर्जयेत् ॥ लिङ्गिनं व्रतिनं विप्रं वेदवेदाङ्गसंहिताः । पुराणागमशास्त्राणि कल्पांश्चापि न दूषयेत् ॥ युगं मुस(श)लमश्मानं दारु चुल्लीमुलूखलम् । शूर्पसंमार्जनीदण्डध्वजं वै सूर्यमायुधम् ॥ कलशं चामरं छत्रं दर्पणं सुवर्णं तथा । भोगयोग्यानि चाऽन्यानि यागद्रव्याणि यानि च ॥ महास्थानेषु वस्तूनि यानि वा देवतालये । दिव्योक्तानि पदार्थानि भूताधिष्ठानि यानि वै ॥ लङ्घयेज्जातु नैतानि नैतानि च पदा स्पृशेत् । या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ॥ परहिंसात्मिका या च न तामवतरेत् सदा । प्रतिग्रहं न गृह्णीयादात्मभोगविधित्सया ॥ देवतातिथिपूजार्थं यततोऽप्यर्जयेद्धनम् । धारयेदार्जवं सत्यं सौशील्यं समतां धृतिम् ॥ क्षान्तिं दयामनास्थां च दिव्यां शक्तिं च सर्वदा । अन्योक्तान्यं सदा चेताश्चैहिकामुष्मिकोचितान् ॥ आचारानाचरेत् शान्तिं दीक्षितः सोऽधिगच्छती"ति । तथा—"विभीतकार्ककारञ्जस्नुहीच्छायां न चाश्रयेत् । स्तम्भदीपमनुष्याणामन्येषां प्राणिनां तथा ॥ मार्जारकेशनिष्ठ्यूत स्नानवस्त्रघटोदकम् । एतत्स्पर्शं त्यजेद्दूरं खरश्वाजरजस्तथे"ति *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* । *सोमशम्भौ तु* "न निन्देत्कारणं देवं न शास्त्रं तेन निर्मितम् । न गुरुं साधकं चैव लिङ्गच्छायां न लङ्घयेत् ॥ नापाङ्क्तेयेषु निर्माल्यं न दद्याच्छिवदीक्षिते" इति । *षडन्वयमहारत्नेऽपि* "न लङ्घयेद्गुरोराज्ञामुत्तरं न वदेत्तथा । रात्रौ दिवा च तस्याज्ञां दासवत् परिपालयेत् ॥ असत्यमशुभं तद्वत् बहुवादं परित्यजेत् । अप्रियं च तथा लल्पं प्रलापं क्रोशौ विशेषतः ॥ आगच्छन्तमुखो ब्रूयाद्गुरोरग्रे कदापि न । अभि-

ततः प्रभृति कुर्वीत गुरोः प्रियमनन्यधीः ।
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दत्त्वा समग्रां प्रीतमानसः ॥ ११५ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयेत्पश्चाद्भक्ष्यभोज्यैः सदक्षिणैः ।
एषा क्रियावती दीक्षा प्रोक्ता सर्वसमृद्धिदा ॥ ११६ ॥
अथ वर्णात्मिकां वक्ष्ये दीक्षामागमचोदिताम् ।
पुम्प्रकृत्यात्मका वर्णाः शरीरमपि तादृशम् ॥ ११७ ॥
यतस्तस्मात्तनौ न्यस्येद्वर्णान् शिष्यस्य देशिकः ।
तत्तत्स्थानयुतान्वर्णान्प्रतिलोमेन संहरेत् ॥ ११८ ॥
स्वाज्ञया देवताभावाद्विधिना देशिकोत्तमः ।
तदा विलीनतत्त्वोऽयं शिष्योदिव्यतनुर्भवेत् ॥ ११९ ॥
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरूत्तमः ।
तस्मादुत्पाद्य तान्वर्णान्न्यस्येच्छिष्यतनौ पुनः ॥ १२० ॥
सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्यं च नियोजयेत् ।

मानं न कुर्वीत धनजात्याश्रमादिभिः ॥ गुरुद्रव्यं न भोक्तव्यं तेनादत्तं कदाचन । दत्तं प्रसाद-वद्भुञ्ज्यात् लोभतो न कदान ॥ अद्वैतं देवपूजां च गुरोरग्रे परित्यजेत् । पादुकायोगपट्टादिगुरु-चिह्नानि सादरम् ॥ न लङ्घयेत्स्पृशेन्नैव पादाभ्यां प्रणमेत्सदा । पर्यङ्कशयनं तद्वत्तथा पाद-प्रसारणम् ॥ अङ्गभङ्गं च लीलां च न कुर्याद्गुरुसंनिधौ । गमनागमने कुर्यात्प्रणम्य गुरुपादु-काम् ॥ विचार्य कार्यं कुर्वीत गुरुकार्यं प्रसादवान् । छायां न लङ्घयेत्तद्वन्न गच्छेत्पुरतो गुरोः ॥ पश्चात्पादेन निर्गच्छेत्प्रणम्य च गुरोर्गृहात् । गुरोरग्रे न कुर्वीत प्रभावं शिष्यसंग्रहम् ॥ अहङ्कारं न कुर्वीत नोल्बणं धारयेद्वपुः । प्रगुरोः सन्निधौ नैव स्वगुरुं प्रणमेद्बुधः ॥ नमस्काराय चोद्युक्तं गुरुर्दृष्ट्वा निवारयेत्" इति । तथा—"न नियोगं गुरोर्दद्यात्तूष्णीं सदा नैव भाषयेदि"ति ॥११४॥

गुरोः प्रियं कुर्वीतेति । अनेन गुरुसंतोषस्य मुख्यत्वमुक्तं भवति । तदुक्तं *दशपट-ल्यां*—"शिष्येणापि प्रकर्त्तव्या शुश्रूषा च गुरोः सदा । शुश्रूषया विना विद्या न भवेत्तु सा फलप्रदा ॥ गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्टः शिवे तुष्टे जगत्त्रयम् । गुरौ रुष्टे महेशानि ! नाहं त्राता त्वया सह ॥ तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरोः कोपं न कारयेत्" इति । *ऋत्विग्भ्य इति* । ब्रह्मादिभ्यः । तत्र प्रणीतामार्जनं कृत्वा ब्रह्मणे दक्षिणां दत्त्वा ब्रह्माणमुद्वास्य हुतचरुशेषं प्राशयेदिति ज्ञे-यम् । तदुक्तं *संहितायां*—"प्रणीतामार्जनं कृत्वा दद्यात्तत्र ब्रह्मदक्षिणाम् । स्वस्ववित्तानु-सारेण लोभमोहविवर्जितः ॥ ततो ब्रह्माणमुद्वास्य ब्राह्मणान् भोजयेदथ । आशीर्वचोभिर्वि-दुषामेधमानः सुखी भवेत् ॥ हुतशेषं ततः प्राश्य कुक्कुटाण्डप्रमाणकम् । मन्त्रितं मन्त्रगायत्र्ये-ति । *अन्यच्च*-त्र्यायुषं जमदग्नेति मन्त्रेण भस्म धारयेत् । पूर्णपात्रं पूर्यं तोयैः सप्तकृत्वो-ऽभिमन्त्रितैः ॥ आत्मानमभिषिञ्चेत्तैः सदूर्वैस्तुलसीदलैरि"ति ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

क्रमप्राप्तां वर्णात्मिकां दीक्षामाह—*अथेति* ॥ ११७ ॥

तच्चदिति । देशिकोत्तमः तच्चैतन्यं शिष्यचैतन्यं, परमात्मनि-संयोज्य । देवताभा-वात्—स्वस्य देवतात्वात् । अतएव आज्ञासिद्धत्वात्स्वस्य, स्वाज्ञया विधिना प्रतिलोमेन-वर्णस्थानोभयप्रातिलोम्येन । तत्तत्स्थानयुतान्वर्णान् संहरेत् । अग्रिमं स्थानं वर्णं च पूर्व-स्मिन् स्थाने वर्णे च संहरेदित्यर्थः । *गुरूत्तम* इत्युत्तरेण सम्बध्यते । *तस्मात्*—परमात्मनः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

विधिवदिति । पूर्वस्मात् स्थानात् वर्णादग्रिमस्थानं वर्णं च । *चैतन्यं चेति* चकारेण

जायते देवताभावः परानन्दमयः शिशोः ॥ १२१ ॥
एषा वर्णमयी दीक्षा प्रोक्ता संवित्प्रदायिनी ।
ततः कलावती दीक्षा यथावदभिधीयते ॥ १२२ ॥
निवृत्त्याद्याः कलाःपञ्च भूतानां शक्तयो यतः ।
तस्माद्भूतमये देहे ध्यात्वा तां वेधयेच्छिशोः ॥ १२३ ॥
निवृत्तिर्जानुपर्यन्तन्तलादारभ्य संस्थिता ।
जानुनोर्नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठा व्याप्य तिष्ठति ॥ १२४ ॥
नाभेःकण्ठावधि व्याप्ता विद्या शान्तिस्ततःपरम् ।
कण्ठाल्ललाटपर्यन्तं व्याप्ता तस्माच्छिखावधि ॥ १२५ ॥
शान्त्यतीता कला ज्ञेया कलाव्याप्तिरितीरिता ।
संहारक्रमयोगेन स्थानात्स्थानान्तरे गुरुः ॥ १२६ ॥
संयोज्य वेधयेद्विद्वानाज्ञया ताः शिवावधि ।
इयं प्रोक्ता कलादीक्षा दिव्यभावप्रदायिनी ॥ १२७ ॥
ततोवेधमयीं वक्ष्ये दीक्षां संसारमोचिनीम् ।
ध्यायेच्छिशुतनोर्मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥ १२८ ॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसंयुक्तां तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥ १२९ ॥

शिष्यतनादित्यनुषज्यते । *तदुक्तमाचार्यैः*—"अग्नीन्दुयोगविकृता लिपयो हि सृष्टास्ताभिर्विलोमपठिताभिरिदं शरीरम् । भूतात्मकं त्वगसृगादियुतं समस्तं सं व्यापयेन्निशितधीर्विधिना यथावत् ॥ अन्त्यावूष्मस्वमून्वादिषु गलिपिषु तांस्तांश्चतुर्वर्गवर्णैश्चेतान्य्यस्यस्पदस्तद्दति तदपि परेषु स्वरेषु क्रमेण । संहृत्य स्थानयुक्तं क्षपितसकलदेहोललाटस्थितान्तः प्राप्तिव्याप्तद्विसप्ताधिकभुवनतलोयातुमद्भावमेव ॥ मूलाधारात्स्फुरिततडिदाभाप्रभासूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्यासत्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता । सौषुम्णाध्वा वरणनिपुणा सा सविश्रान्तुविद्धा ध्याता सद्योमृतमथरवेः स्रावयेत्सार्द्धसोमात् ॥ शिरसि निपतिताया बिन्दुधारासुधाया भवति लिपिमयी सा नाभिरङ्गं सुखाधम् । विरचयतु समस्तं पातितान्तश्च तेजस्यनलद्रवत्तास्योद्दीपयेदात्मतेजः ॥ संहृत्य चोत्पाद्य शरीरमेवं तेजोमयं व्याप्तसमस्तलोकम् । सङ्कल्प्य शक्त्यात्मकमात्मरूपं तच्चिह्नमात्मन्यपि सन्दधीते"ति ॥ १२१ ॥

कलावतीदीक्षाक्रममाह—*तत इति* । ध्यात्वेत्यत्र यद्ध्यानमुद्दिष्टन्तन्निवृत्तिरित्यादि-ईरितेत्यन्तेनोक्तम् ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

तलात्-पादतलात् । जानुनोर्नाभेः कण्ठात्तस्माल्ललाटादारभ्येति सम्बन्धः । स्थानात्स्थानान्तरे ताः संयोज्य संहारक्रमयोगेन शिशोर्देहे वेधयेदिति सम्बन्धः । पूर्ववदेव स्वस्वकारणे । *शिवावधि*-शिवपर्यन्तं, शिवात्सृष्टिमार्गेणोत्पत्तिरनुक्तापि पूर्ववदेवानुसन्धेया ॥ १२४ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

वेधमयीं दीक्षामाह *तत इति* । तनोर्मध्ये मूलाधारे त्रिकोणमध्ये व्यधिकरणः सम्बन्धः । शिष्यतनोर्मध्ये चतुर्दले—मूलाधारत्रिकोणमध्ये । एवंभूतां शक्तिं ध्यायेदिति सम्बन्धः । कीदृशीं शक्तिं ? *वलयत्रयसंयुक्ताम्* अत्र यद्यपि शक्तेरपरिमितानि वलयानि । तथापि वेदत्रयादेः प्रधानतमस्य सृष्टेर्वलयत्रयादुत्पत्तेस्तदुक्तिः ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मां सूक्ष्मतरां शक्तिं भित्त्वा षट्चक्रमञ्जसा ॥ १३० ॥
गच्छन्तीं मध्यमार्गेण दिव्यां परशिवावधि ।
बादिसान्तदलस्थार्णान्संहरेत् कमलासने ॥ १३१ ॥
तं षट्पत्रमये पद्मे बादिलान्ताक्षरान्विते ।
स्वाधिष्ठाने समायोज्य वेधयेदाज्ञया गुरुः ॥ १३२ ॥
तान्वर्णान्संहरेद्विष्णौ तं पुनर्नाभिपङ्कजे ।
दशपत्रे डादिफान्तवर्णाढ्ये योजयेद्गुरुः ॥ १३३ ॥
तान्वर्णान्संहरेद्रुद्रे तं पुनर्हृदयाम्बुजे ।
कादिठान्तार्कपत्राढ्ये योजयित्वेश्वरे गुरुः ॥ १३४ ॥
तान्वर्णान्संहरेदस्मिंस्तं भूयः कण्ठपङ्कजे ।
स्वराढ्ये षोडशदले योजयित्वा स्वरान्पुनः ॥ १३५ ॥
सदाशिवे तान्संहृत्य तं पुनर्भ्रूसरोरुहे ।
द्विपत्रे हक्षलसिते योजयित्वा ततो गुरुः ॥ १३६ ॥
तदर्णौ संहरेद्बिन्दौ कलायां तं नियोजयेत् ।
तां नादेऽनन्तरं नादं नादान्ते योजयेद्गुरुः ॥ १३७ ॥
तमुन्मन्यां समायोज्य विष्णु(ष्णु)वक्त्रान्तरे च ताम् ।
तां पुनर्गुरुवक्त्रे तु योजयेद्देशिकोत्तमः ॥ १३८ ॥
सहैवमात्मना शक्तिं वेधयेत्परमेश्वरे ।

पुनः कीदृशीं ? *षट् चक्रं भित्त्वा मध्यमार्गेण*—सुषुम्णामार्गेण परशिवावधि गच्छन्तीम् । षट्चक्राणि तु मूलाधार–स्वाधिष्ठान–मणिपूरा–ऽऽज्ञा–ऽनाहत–विशुद्धाख्यानि ॥ १३० ॥

कमलासने—ब्रह्मणि । आधाराधिष्ठातृदेवतायाम् । एवं विष्ण्वादयः स्वाधिष्ठानाद्यधिष्ठातृदेवा ज्ञेयाः ॥ १३१ ॥

तं–ब्रह्माणम् ॥ १३२ ॥

तान्वर्णान्—डादिफान्तान् । *तं*—रुद्रम् *अर्कपत्राढ्ये*—द्वादशदले नाभिपङ्कजे-मणिपूरके । योजयेत् । ततो वेधयेदित्यनुषङ्गः ॥ १३३ ॥

तान्वर्णान्—डादिफान्तान् । *तं*—रुद्रम् । अर्कपत्राढ्ये–द्वादशपत्राढ्ये । हृदयाम्बुजे-अनाहते । योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । गुरुस्तान्वर्णान् कादिठान्तान् । ईश्वरे संहरेदित्यन्वयः ॥ १३४ ॥

भूयोऽनन्तरम् । त–मीश्वरमस्मिन् कण्ठपङ्कजे—विशुद्धौ योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः ॥ १३५ ॥

तान्—स्वरान् । सदाशिवे–संहृत्येत्यन्वयः ॥ तं–सदाशिवम् । *भ्रूसरोरुहे*–आज्ञायाम् । योजयित्वा वेधयेदित्यनुषङ्गः । अग्रे । नियोजयेदित्यादेर्वेधयेदित्यर्थः ॥ १३६ ॥

तदर्णौ—हक्षौ । *बिन्दौ*—शिवे । "बिन्दुः शिवात्मकः" इत्युक्तेः । तं—शिवम् । कलादीनि भ्रूमध्यादुपर्युपरि तानि षट्चक्राणि । अतएव सहस्रारस्य द्वादशान्तता ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

एवं—पूर्वोक्तक्रमेण । *आत्मना*—शिष्यजीवात्मना । *शक्तिं*—कुण्डलिनीम् । *परमेश्व-

गुर्वाज्ञया छिन्नपाशस्तदा शिष्यः पतेद्भुवि ॥ १३९ ॥
संजातदिव्यबोधोऽसौ सर्वं विन्दति तत्क्षणात् ।
साक्षाच्छिवोभवत्येष नात्र कार्या विचारणा ॥ ४० ॥
एषा वेधमयी दीक्षा (१)सर्वसंवित्प्रदायिनी ।
क्रमाच्चतुर्विधा दीक्षा तन्त्रेऽस्मिन्समुदीरिता ॥ १४१ ॥
अथात्र होमद्रव्याणां प्रमाणमभिधीयते ।
कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयःस्मृतम् ॥ १४२ ॥

रे*-शिवे । वेधयेदिति सम्बन्धः । शक्तिं विना वेधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अतएवादौ मूलाधारे शक्तिं ध्यायेदित्युक्तिः । ततश्च स्वाधिष्ठानादावपि शक्त्यैव वेध इति ज्ञेयम् । *छिन्नपाशः* । पाशत्रयविमुक्तइत्यर्थः । *यत्प्रयोगसारे*—"पाशस्तु-सत्सु वाऽसत्सु कर्मस्वास्था समीरिता । त्रिविधः स तु विज्ञेयः पाशो बन्धैकसाधनः ॥ प्रथमः सहजः पाशस्तथाचागन्तुकः परः । प्रासङ्गिकस्तृतीयः स्यादिति पाशत्रयं स्मृतमि"ति । यथा ग्रन्थकृत्परमगुरुसोमानन्दाचार्यकृतवेधेन ग्रन्थकृद्गुरव उत्पलाचार्याः शिवात्मानोजाताः । ग्रन्थकृद्गुरुप्रक्तिस्तु तृतीयश्लोकव्याख्याने दर्शिता । तथा चन्द्रेश्वराचार्यकृतवेधेन शिवस्वामी शिवत्वंजातः । तथा च *श्रीकण्ठाचार्या ऊचुः*—"कालज्ञानं तथाकालवञ्चनान्यतनौ तथा । प्रवेशोवेध इत्यादि प्रसन्ने लभ्यते शिवे" इति ॥ १३९ ॥ १४० ॥

उपसंहरात-*क्रमादिति* । *षडन्वयमहारत्ने*-इयमाणवी दीक्षा दशविधेत्युक्तम् । तद्यथा-"आणवी बहुधा दीक्षा शाक्तेयी शाम्भवी पुनः । एकधैवेति विद्वद्भिः पठ्यते शास्त्रकोविदैः ॥ आणवी बहुधेत्युक्ता तद्भेदश्चाधुनोच्यते । स्मार्त्ता मानसिकी यौगी चाक्षुषी स्पार्शनी तथा ॥ वाचिकी मान्त्रिकी हौत्री शास्त्री चेत्याभिषेचिकी ॥ विदेशस्थं गुरुः स्मृत्वा शिष्यं पाशत्रयं क्रमात् । विश्लेष्य लययोगाङ्गविधानेन परे शिवे ॥ सम्यग्योजनरूपैषा स्मार्त्ती दीक्षेति कथ्यते । स्वसन्निधौ समासीनमालोक्य मनसा शुचिः ॥ मलत्रयादुपायैर्या मोचिकी सा तु मानसी । योगोक्तक्रमतो यौगी शिष्यदेहे प्रविश्य तु ॥ गृहीत्वा तस्य चात्मानं स्वात्मना योजितात्मिका । योगदीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रयविनाशिनी ॥ शिवोऽहमिति निश्चित्य वीक्षणं करुणार्द्रया । दृशा, सा चाक्षुषी दीक्षा सर्वपापप्रणाशिनी ॥ स्वयं परशिवो भूत्वा निः सन्दिग्धमना गुरुः । शिवहस्तेन शिष्यस्य समन्त्रं मूर्द्धनि संस्पृशेत् ॥ स्पर्शदीक्षेति सा प्रोक्ता शिवाभिव्यक्तिकारिणी"ति । शिवहस्तलक्षणं *सोमशम्भौ*—"गन्धैर्मण्डलकं स्वीये विदध्याद्दक्षिणे करे । विधिना चार्चयेद्देवमित्थं स्याच्छिवहस्तकमि"ति । "गुरुवक्त्रं निजवक्त्रं विभाव्य गुरुरादरात् । गुरुवक्त्रप्रयोगेण दिव्यं मन्त्रादिकं शिशौ ॥ मुद्राऽन्यासादिभिः सार्द्धं दद्यात्सेयं हि वाचिकी । दीक्षा परा, तथा मन्त्रन्याससंयुक्तविग्रहः ॥ स्वयं मन्त्रतनुर्भूत्वा सक्रमं (चक्रं) मन्त्रमादरात् । दद्याच्छिष्याय सा दीक्षा मान्त्री मलविघातिनी ॥ कुण्डे वा स्थण्डिले वाऽपि निःक्षिप्याग्निं विधानतः । लययोगक्रमेणैव प्रत्यध्वानं यथाक्रमम् ॥ मन्त्रवर्णकलातत्त्वपदविश्वमेव च । शुद्ध्यर्थं होमरूपैषा हौत्री दीक्षा समीरिता ॥ योग्यशिष्याय भक्ताय शुश्रूषार्चापराय च । सार्द्धं शास्त्रपदा त्रय्या शास्त्री दीक्षेति सोच्यते ॥ शिवं च शिवपत्नीं च कुम्भे सम्पूज्य सादरम् । शिवकुम्भाभिषेकात्सा दीक्षा स्यादाभिषेचिकी"ति ॥ १४१ ॥

कर्षमात्रमिति । कर्षलक्षणं प्रागुक्तम् । तत्सस्याप्येतदेव प्रमाणमिति ज्ञेयम् । *शुक्ति-

---

(१) "प्रोक्ता संवित्प्रदर्शिनी" इति पाठ क्वचित

उक्तानि पञ्चगव्यानि तत्समानि मनीषिभिः ।
तत्समं मधुदुग्धान्नमन्नमात्रमुदाहृतम् ॥ १४३ ॥
दधि प्रसृतिमात्रं स्याल्लाजाः स्युर्मुष्टिसंमिताः ।
पृथुकास्तत्प्रमाणाः स्युः सक्तवोऽपि तथोदिताः ॥ १४४ ॥
गुडं पलार्द्धमानं स्याच्छर्करापि तथामता ।
ग्रासार्द्धं चरुमानं स्यादिक्षुः पर्वावधिर्मतः ॥ १४५ ॥
एकैकं पत्रपुष्पाणि तथाऽपूपानि कल्पयेत् ।
कदलीफलनारङ्गफलान्येकैकशोविदुः ॥ १४६ ॥
मातुलिङ्गं चतुः खण्डं पनसं दशधा कृतम् ।
अष्टधा नारिकेलानि खण्डे तानि विदुर्बुधाः ॥ १४७ ॥
त्रिधा कृतं फलं बिल्वं कपित्थं खण्डितं त्रिधा ।
उर्वारुकफलं होमे चोदितं खण्डितं त्रिधा ॥ १४८ ॥
फलान्यन्या(न्येता)नि, खण्डानि समिधः स्युर्दशाङ्गुलाः ।
दूर्वात्रयं समुद्दिष्टं गुडूची चतुरङ्गुला ॥ १४९ ॥
व्रीहयो मुष्टिमात्राः स्युर्मुद्गमाषयवा अपि ।
तण्डुलाः स्युस्तदर्द्धांशाः कोद्रवा मुष्टिसंमिताः ॥ १५० ॥

मात्रमिति* । कर्षद्वयं शुक्तिः ॥ १४२ ॥

अक्षमात्रं कर्षमात्रम् ॥ १४३ ॥

प्रसृतिमात्रं पलद्वयमात्रम् । *मुष्टिसम्मिताः* । पलसम्मिताः । *पृथुकाः* । चिपिटकाः ॥ १४४ ॥

पलार्द्धमानं कर्षद्वयम् । *ग्रासार्द्धम्* । अशीतिरक्तिकामितम् । तदुक्तम् "गुञ्जाभिर्दशभिर्माषः शाणो माषचतुष्टयम् । द्वौ शाणौ धटकः कालोवदरं द्रङ्क्षणश्चयः । तौ द्वौ पाजितलं कर्षस्सुवर्णं कवलग्रहः । पिचुर्विडालपदकंतिन्दुकोऽक्षश्च तद्द्वयम् । शुक्तिरष्टमिका ते द्वे पले बिल्वचतुर्थिका । मुष्टिमात्रं (राम्नं) प्रकुञ्चोऽथ द्वे पले प्रसृतिस्तथे"ति ॥१४५॥१४६॥

मातुलिङ्गं बीजपूरम् ॥ १४७ ॥

उर्वारुकं कर्कटी ॥ १४८ ॥

समिध इति।तत्र विशेषः "विशीर्णा द्विदला(१)ह्रस्वा वक्रा स्थूला कृशा द्विधा(२)। कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च वित्वचः परिकीर्तिताः ॥ विशीर्णाऽऽयुः क्षयं कुर्याद्द्विदला व्याधिसम्भवम् । ह्रस्वायां मृत्युमाप्नोति वक्रा विघ्नकरी तथा ॥ स्थूलाभिर्हरते लक्ष्मीं कृशायां धान्यक्षयः । द्विधायां नेत्ररोगाः स्युः कीटदष्टाऽर्थनाशिनी। द्वेषं प्रकुर्वते दीर्घा प्रागल्भ्यो निस्त्वचःस्मृताः । सक्षीरा नाधिका न्यूनाः समिधः सर्वकामदाः ॥ आर्द्रत्वचं समच्छेदां तर्जन्यङ्गुलिवर्तुलाम् । ईदृशीं होमयेत्प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम्॥ श्रौतस्मार्ते च तन्त्रोक्ते समिधः परिकीर्तिताः" इति । विशेषान्तरं *प्रयोगसारे* "श्लेष्मातक(३) पिशाचतरुं त्यक्त्वाऽन्येभ्यः समाहरेत् समिध" इति ॥ १४९ ॥

मुष्टिमात्राः । पलसंमिताः । *तदर्द्धांशाः* । कर्षद्वयमिताः ॥ १५० ॥

(१) दलद्वययुता । (२) विपाटिता ।
(३) श्लेष्मातको बहुवारकः ।

गोधूमरक्तकमला विहिता मुष्टिमानतः।
तिलाश्चुलुकमात्राः स्युः सर्षपास्तत्प्रमाणकाः ॥ १९१ ॥
शुक्तिप्रमाणं लवणं मरीचान्येकविंशतिः।
पुरुर्बदरमानः स्याद्रामठं तत्समं स्मृतम् ॥ १९२ ॥
चन्दनागुरु-कर्पूर-कस्तूरी-कुङ्कुमानि च।
तिन्तिडीबीजमानानि समुद्दिष्टानि देशिकैः ॥ १९३ ॥
वैश्वानरं स्थितं ध्यायेत्समिद्धोमेषु देशिकः।
शयानमाज्यहोमेषु निषण्णं शेषवस्तुषु ॥ १९४ ॥
सधूमोऽग्निः शिरो ज्ञेयं निर्धूमश्चक्षुरेव हि।
ज्वलत् कृष्णो भवेत्कर्णः काष्ठमग्रे मनस्तथा ॥ १९५ ॥
प्रज्वलोऽग्निस्तथा जिह्वा एतदेवाग्निलक्षणम्।
आस्यान्तर्जुहुयादग्नेर्विपश्चित्सर्वकर्मसु ॥ १९६ ॥
कर्णहोमे भवेद्व्याधिर्नेत्रेऽन्धत्वमुदीरितम्।
नासिकायां मनः पीडा मस्तके धनसंक्षयः ॥ १९७ ॥
स्वर्णसिन्दूरबालार्ककुङ्कुमक्षौद्रसन्निभः।
सुवर्णरेतसो वर्णः शोभनः परिकीर्त्तितः ॥ १९८ ॥

चुलुकमात्राः । कर्षमात्राः । पाणितलशब्देन चुलुकग्रहणात् ॥ १९१ ॥

शुक्तिः । कर्षद्वयम् । पुरुर्गुग्गुलुः । *बदरमानम्* अशीतिगुञ्जामितम् । *रामठं* । हिङ्गुः । शैवागमे तु "खण्डत्रयं तु मूलानां सूक्ष्माणि पञ्च होमयेत् । कन्दानामष्टमं भागं लता-नामङ्गुलद्वयमि"ति ॥ १९२ ॥ १९३ ॥

स्थितम् उत्थितम् ॥ १९४ ॥ १९५ ॥

आस्यान्तरिति । अस्यादीनां लक्षणमुक्तमन्यत्र "सधूमोऽग्निः शिरो ज्ञेयो निर्धूमश्चक्षुरेव च । ज्वलत्कृशो भवेत्कर्णः काष्ठलग्नश्च नासिका ॥ अग्निर्लालायते यत्र शुद्धस्फटिकसन्निभः । तन्मुखं तत्र विज्ञेयं चतुरङ्गुलमानत" इति । गुरुप्रोक्ते *वनदुर्गाकल्पे तु* "सर्वकार्यप्रसिद्ध्यर्थं जिह्वायां तत्र होमयेत् । चक्षुः कर्णादिकं ज्ञात्वा होमयेद्देशिकोत्तमः ॥ अग्निकर्णं हुतं यच्च कु-र्याच्चेद्व्याधितो भयम् । नासिकायां महद्दुःखं चक्षुषोर्नाशनं भवेत् ॥ केशे दारिद्र्यदं प्रोक्तं तस्माज्जिह्वासु होमयेत् । यत्र काष्ठं तत्र श्रोत्रे यत्र धूमस्तु नासिके ॥ यत्राल्पज्वलनं नेत्रं यत्र भस्म तु तच्छिरः । यत्र प्रज्वलितो वह्निस्तत्र जिह्वा प्रकीर्त्तिता" इति ॥ *विपश्चि-दिति* अनेनैतदुक्तं भवति शत्रुनाशकहोमे एतदङ्गेषु हवनात्तदङ्गक्षयो भवति । यदाहुः "वह्नेः शिरसि नासायां श्रोत्रे चक्षुषि वा तथा । जुहुयाच्चेत्तदा क्षिप्रं तदङ्गानि विनाश-येत्" इति ॥ १९६ ॥ १९७ ॥

क्षौद्रं-*मधु* । स्वर्णकुङ्कुमक्षौद्रसन्निभो वर्णः *शोभन इति* । आकृष्टाविति ज्ञेयम् । यदाहुः—"*श्रीमतङ्गपारमेश्वरे*—"दिव्यानामप्यदिव्यानामाकृष्टाविष्यते सदा । ध्मात-श्चामीकरप्रख्यो हरितालनिभश्च यः ॥ हरिद्रा कुनटीवर्णो रोचनाभश्च शस्यत" इति । *सिन्दू-रबालार्क इति* जयार्थं इति ज्ञेयम् । "पद्मरागद्युतिः श्रेष्ठो लाक्षारससमोऽपि वा । बालार्कव-र्णो हुतभुक् जयार्थं शस्यते बुधैरि"ति । अन्यकर्मणि तु तत्रैव—"इन्द्रगोपकसङ्काशः शोणिता-भोऽथ पावकः । शक्रचापनिभः शस्तः कुङ्कुमाम्बुनिभस्तथा ॥ रक्तानां पुष्पजातीनां तुल्यो वर्णः प्रशस्यते" इति ॥ १९८ ॥

भेरीवारिदहस्तीन्द्रध्वनिर्वह्नेः शुभावहः ।
नागचम्पकपुन्नागपाटला यूथिकानिभः ॥ १५९ ॥

पद्मेन्दीवरकल्हारसर्पिर्गुग्गुलुसन्निभः ।
पावकस्य शुभो गन्ध इत्युक्तं तन्त्रवेदिभिः ॥ १६०

प्रदक्षिणास्त्यक्तकम्पाश्छत्राभाः शिखिनः शिखाः
शुभदा यजमानस्य राज्यस्यापि विशेषतः ॥ १६१ ॥

कुन्देन्दुधवलो धूमो वह्नेः प्रोक्तः शुभावहः ।
कृष्णः कृष्णगतेर्वर्णो यजमानं विनाशयेत् ॥ १६२ ॥

श्वेतो राष्ट्रं निहन्त्याशु वायसस्वरसन्निभः ।
खरस्वरसमो वह्नेर्ध्वनिः सर्वविनाशकृत् ॥ १६३ ॥

पूतिगन्धो हुतभुजो होतुर्दुःखप्रदो भवेत् ।
छिन्नावर्ता शिखा कुर्यान्मृत्युं धनपरिक्षयम् ॥ १६४ ॥

शुकपक्षनिभो धूमः पारावतसमप्रभः ।
हानिं तुरगजातीनां गवां च कुरुतेऽचिरात् ॥ १६५ ॥

एवं विधेषु दोषेषु प्रायश्चित्ताय देशिकः ।

---

*भेरीत्या*द्युपलक्षणम् । "जीमूतवल्लकीशङ्खमृदङ्गध्वनितुल्यकः । शब्दोऽग्नेः सिद्धये होतुरतोऽन्योऽसिद्धिदः स्मृत" इति । *नागेत्या*द्युपलक्षकम् । "सुगन्धद्रव्यगन्धोऽग्निर्घृतगन्धश्च शोभन" इत्युक्तेः । पद्मगन्ध आयुषे । इन्दीवरादिगन्धः सौभाग्ये । तदुक्तम्—"नीलोत्पलसमो गन्धः सौभाग्ये शस्यतेऽञ्जसा । आयुषे पद्मगन्धः स्याद्बिल्वगन्धश्च सुव्रते" इति । विशिषोऽपि—"उग्रगन्धोऽभिचारेऽत्र प्रशस्तः सर्वदाऽनल" इति । *छत्राभ*इत्युपलक्षणम् । "छत्राकारभुजः श्रेष्ठोध्वजचामरसन्निभ" इत्युक्तेः । कृष्णो—यजमानं, श्वेतो–राष्ट्रं निहन्तीति यत्र कर्मणि रक्तपीतादिवर्णो विहितस्तत्रेति ज्ञेयम् । न तु सामान्यतः । *यदाहुः*—"ज्ञात्वा कर्मानुरूपां तां तस्य तस्यानुकूलताम् । कर्मणः सततं ग्राह्यस्त्याज्यो वा तद्विलोमत" इति । *विशेषस्तत्रैव*—"मारणोद्घाटनोत्सादकर्मण्यस्मिन् सुशोभनः । कृष्णानां पुष्पजातीनां वर्णोवह्निरिहेष्यते ॥ शङ्खस्फटिककुन्देन्दुवर्णेभ्योऽपि सितः शुभः । शान्तिके पौष्टिके वापि विहितः सर्वदानल" इति । त्याज्यं कृष्णत्वमपि *तेनैवोक्तम्*—"षट्पदाऽञ्जननिस्त्रिंशतुल्यो वर्णो न सिद्धिद" इति । *अन्योऽपि विशेषः* "मार्जाराक्षिनिभोग्राह्यः शुकपिच्छाभ एव च । मयूरकण्ठसदृशश्चित्रपारावतप्रभ" इति ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२॥६३ ॥

पूतिगन्धो—दुर्गन्धः । *मृत्यु*मित्यादियथाक्रमम् । *एवंविध*—इत्यनेनैतदुक्तं भवति—"वृषकुञ्जरयानेन तुल्योऽग्निः पुष्टिदः सदा । विमानानां वितानानां प्रासादानां चयो भवेत् ॥ आकारेणाथ हंसानां मयूराणां च शस्यते । सिंहाकृतिः सदा वह्निः सद्यः सिद्धिकरः स्मृतः ॥ शेषाणां दंष्ट्रिणां रूपं न शस्तं होमकर्मणि ॥ खरोष्ट्रमहिषादीनां रूपमत्रन सिद्धये ॥ स्निग्धः प्रदक्षिणावर्त्तः सुशब्दश्चाऽपि यो भवेत् । नेष्टः सोऽर्थप्रसिद्ध्यर्थमन्यथा विघ्नकारकः ॥ स्फुटदृष्टाशब्दोऽपसव्यगतिः सदा । उल्लिखेद्वसुधां यश्च यश्चाधः शिख एव च ॥ नेष्यतेऽसौ मुनिश्रेष्ठ ! शाक्तेऽस्मिन् परमेश्वरि" इति । *पञ्चविंशतिमिति* । दोषद्वयदर्शने वा "प्रक्षि-

मूलेनाज्येन जुहुयात्पञ्चविंशति माहुतीः ॥ १६६ ॥

इति शारदातिलके पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

अथ वर्णतनुं वक्ष्ये विश्वबोधविधायिनीम् ।
यस्यामनुपलब्धायां सर्वमेतज्जगज्जडम् ॥ १ ॥
ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्टो गायत्रं छन्द ईरितम् ।
सरस्वती समाख्याता देवता देशिकोत्तमैः ॥ २ ॥
अक्लीबह्रस्वदीर्घान्तर्गतैः गङ्वर्गकैः क्रमात् ।
षडङ्गानि विधेयानि देशिकैर्जातिसंयुतम् ॥ ३ ॥

निमित्तं नैमित्तिकमावर्त्तते" इति न्यायात् । तावत्कृत्वः पञ्चविंशतिराहुतयो होतव्या इति ॥ १६४ ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्संप्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शा-
भिख्यायां पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥ * ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ दीक्षा कथनानन्तरं मन्त्रा वक्तव्या अतस्तेषां प्रकृतिभूतां मातृकां वक्तुं प्रतिजानीते—*अथेति* । *वर्णतनुं*—मातृकां, विश्वेषां—सर्वेषां बोधानां—ज्ञानशक्तिप्रसरात्मकानां तदुत्पादकानां वैखरी मध्यमा पश्यन्ती परा रूपाणां विधायिनी उन्मीलिनी शक्तिस्तामित्यर्थः ॥ १ ॥

समुद्दिष्ट इत्यनेन विधिपदप्रयोगः *समाख्याते*त्यनेन मातृकापदप्रयोगः । पद्मपादाचार्यसंमतमेतत् । देशिकोत्तमैरित्यनेन बीजशक्ती अपि वक्तव्ये इति सूचितं, तत्र केचिद्धलो बीजानि स्वराः शक्तयः । तदुक्तं *दक्षिणामूर्तिसंहितायां*—"हलोबीजानि शक्तयः । स्वरास्तु परमेशानी"ति । एते एव बीजशक्ती प्रपञ्चयागव्यतिरिक्तभूतलिप्यन्तसर्वमातृकामन्त्राणामि ज्ञेयम् । अन्यत्रान्ये बीजशक्ती उक्ते । यदाहुः—"बीजमस्य स्मृतं घोषः शक्तिर्जीवः प्रकीर्तित" इति । अन्यत्रान्ये—यदाहुः—"अकारं बिन्दुसहितं बीजमस्य प्रकीर्तितम् । द्विबिन्दुसहितोऽकारः शक्तिरित्यभिधीयत" इति । विनियोगस्तु—मातृकामन्त्रजपकाले जपे विनियोग इति । अन्यमन्त्राऽङ्गत्वेन न्यासेऽनुष्ठीयमानामुकमन्त्राङ्गत्वेन न्यासे विनियोग इति ज्ञेयम् ॥ २ ॥

अक्लीबेति । क्लीबा नपुंसकाःऋॠऌॡ तद्बहिर्गाः अक्लीबा ये ह्रस्वदीर्घाः अइउएओअं एते ह्रस्वाः परे षड्दीर्घास्तदन्तर्गतैस्तन्मध्यस्थैः षट् च ते वर्गाश्च । बहुवचनसामर्थ्यं कादयःकचटतपयास्तैः क्रमाद्धृदयादिजातियुक्तानि "हृदयायनम" इत्यादियुक्तानि । प्रयोगस्तु="अंकंखंगंघंङंआं हृदयाय नम" इत्यादिः । *देशिकैरिति* अनेनैतदुक्तंभवति नपुंसकचतुष्टयेन करशुद्धिं विधाय अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदङ्गैरित्युक्तम् । "अंकंखंगंघंङं आं अङ्गुष्ठाभ्यांनम" इत्यादिकरतलकरपृष्ठान्तं षडङ्गानि विन्यस्य ततो दक्षवामकरतलयोस्तत्पृष्ठयोः करयोः दक्षिणकनिष्ठादिवामाङ्गुष्ठान्तमङ्गुलीषु षोडश स्वरान् विन्यस्य वामतर्जनीमारभ्य दक्षतर्जन्यन्तम् एकैकस्यां पर्वस्वग्रे च चतुरोवर्णान् इति क्रमेण कादिसान्तान्विन्यस्य अङ्गुष्ठयोर्द्वयोः सर्वाङ्गेषु क्षकारं न्यसेत् इति करस्य मातृकान्यासो ज्ञेयः । एवं सर्वत्र बोध्यम् । *यस्प-

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम् ।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च हस्ताम्बुजै
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥ ४ ॥

योगसारे* "तलपृष्ठयोस्तद्व्याप्त्या षडादौ विन्यसेत्ततः । कनिष्ठाङ्गुलिमारभ्य दक्षिणाङ्गुलीषु च ॥ वामाङ्गुष्ठान्तकं न्यस्य ततश्च व्यञ्जनान्यपि । वामतर्जनीमारभ्य चतुष्टयचतुष्टयम् ॥ यथाङ्गुलिक्रमेणैव यावद्दक्षिणतर्जनी । न्यसेदङ्गुष्ठयोः शेषे करन्यासःसमोरितः" इति ॥ ३ ॥

पञ्चाशदिति । विभक्तत्वं वक्ष्यमाणन्यासस्थानकथनेनैव स्फुटीभविष्यति । *मुद्रा*ज्ञानमुद्रा । अङ्गुष्ठतर्जनीयोगरूपा पार्श्वाभिमुखी । यदाहुः "श्लिष्टाग्रेऽङ्गुष्ठतर्जन्यौ प्रसार्यान्याः प्रयोजयेत् । पार्श्वस्याभिमुखी सेयं ज्ञानमुद्रा प्रकीर्तिते" ॥ विद्यां पुस्तकं तन्मुद्रेत्यर्थः । "वाममुष्टिः स्वाभिमुखी बद्धा पुस्तकमुद्रिके"ति । *विशदप्रभां* शुभ्रवर्णाम् । इदं वक्ष्याङ्गरागमाल्यानामुपलक्षकम् । एवमग्रेऽपि सर्वत्र वर्णदाचकेषु द्रष्टव्यम् । ऊर्ध्वादि आद्ये दक्षे परे वामे इत्यायुधध्यानम् । अत्र ध्यानानन्तरमायुधमुद्राः प्रदर्शयेत् । एवमग्रेऽपि सरस्वतो मन्त्रान्तं ज्ञेयम् । प्रत्यक्षरं ध्यानं तन्त्रान्तरोक्तं यथा "चामीकरनिभः शूलगदाराजद्भुजाष्टकः । चतुरास्योऽतिकायः स्यादकारःकूर्मवाहनः ॥ पाशाङ्कुशकरा श्वेता पद्मसंस्थेभवाहना । षष्ट्यर्द्धयोजनमिता स्यादा मौक्तिकभूषणा ॥ पीतं कराब्जकुलिशपरशुं वैरिनाशनम् द्वैयकयोजनमानं स्यादिकारं कच्छपस्थितम् ॥ दशयोजनदीर्घोधंना(१)हाऽसौ हंसवाहना । ई स्यात्पुष्टिप्रदा श्वेता मौक्तिकाढ्या स्मितानना ॥ गदाङ्कुशकरं काकवाहनं कृष्णभूषणम् । योजनद्विसहस्राणां मानमुद्द्वयमक्षरम् ॥ पाशशक्तिभुजं रक्तं वह्निबिम्बस्थितोष्ट्रगम् । उक्तप्रमाणं कालघ्नमूकृवर्णद्वयं भवेत् ॥ चतुरस्राब्जहंसस्थं पुन्नागसमप्रभम् । पाशवज्रकरं रौद्रं लयुगं स्यान्निरोधनम् ॥ गदाफलारिपद्माढ्यकरं हरविभूषणम् । चक्रवाकस्थितं श्यामसेकारं तु महद्भवेत् ॥ नवकुन्दनिभा शूलवज्रवाहा द्विपस्थिता । कोटियोजनमाना स्यादैमूर्त्तिः कविता करी ॥ चिन्मयं सर्वगं शान्तं द्विसहस्रकरोज्ज्वलम् । पीतं गोवृषसंस्थं स्यादोरूपं क्षीनरात्मकम् ॥ तप्तहेमनिभा पाशवज्रबाहुर्विभूतिदा । योजनानां सहस्रेण स्यादौ वर्णामितौजसा ॥ नवकुङ्कुमसंस्थानः पद्मस्थो रक्तभूषणः । चतुर्भुजः स्यादंवर्णःश्रीकरोरिपुनाशकः ॥ वज्रशूलकरं क्षुद्रफलदं खरवाहनम् । सहस्रयोजनमितंस्वरान्तं द्विभुजं स्मरेत् ॥ भूबिम्बगजसंस्थः स्यान्नवकुङ्कुमसन्निभः । शूलचक्रकरः कार्णः संहस्रद्वययोजनः ॥ पाशतोमरहस्तः खोमेषसंस्थो निरोधनः । योजनानां सहस्रेण मितः कृष्णविभूषणः ॥ पाशाङ्कुशकरः पद्मफणिसंस्थोऽरुणप्रभः । गकारः सर्वभूपः स्याच्छतयोजनसंस्थितः ॥ उष्ट्रोलूखलसंस्थः स्याद् गदावज्रकरोऽमितः । योजनानां सहस्रेण द्विमुखोघः सितेतरः ॥ कोटियोजनदीर्घोर्द्धनाहं कृष्णं ज्वलप्रभम् । द्विभुजं काकवाहं स्यात्ङार्णं क्षुद्रफलप्रदम् ॥ युगाग्रपद्मसंस्थःस्यात चतुर्बाहुः सितप्रभः । चः कपर्दी सुगन्धाढ्यः कोटियोजनसंस्थितः ॥ मितस्तावन्मितः पद्मे चतुर्बाहुरुक्तवर्णकः । जझौच कोटिमानौ स्तश्चतुर्बाहू सितप्रभौ ॥ योजनानां सहस्रैः स्यात्सम्मितं काकवाहनम् । विद्वेषकरणं ञार्णं कृष्णवर्णं सुजद्वयम् । क्रौञ्चस्थो द्विभुजः टःस्यान्नागनद्धो महाध्वनिः । धरापद्मगजेन्द्रस्थष्ठवर्णो द्विकरोज्ज्वलः । लक्षयोजनमानः स्याद्गरनाशकरो विभुः ॥ डवर्णो ऽष्टबाहुः स्याच्चतुर्वक्त्रः स्वलङ्कृतः । योजनानां सहस्रेण मितः कुवलये स्थितः ॥ अग्निबिम्बोऽजगो ढार्णो दशबाहुर्ज्वलत्प्रभः । सहस्रमानं व्याघ्रस्थं योजनानां द्विर्णं

---

(१) नाहः परिणाहः । विशालतेतियावत् । एवमग्रेऽपि ।

ललाटमुखवृत्ताक्षिश्रुतिघ्राणेषु गण्डयोः ।
ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गास्ये दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥ ५ ॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ जठरे हृदयेंऽसके ।
ककुद्यंसे च हृत्पूर्वं पाणिपादयुगे तथा ॥ ६ ॥
जठराननयोर्न्यस्येन्मातृकार्णान्यथाक्रमात् ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रात्मकान्विदुः ॥ ७ ॥

भवेत् ॥ षष्टिहायन(१)संस्थः स्याच्चतुर्बाहुः, स्वलङ्कृतः । सहस्रमानो गन्धाद्यैः कुङ्कुमाभश्च ताक्षरः ॥ कोटियोजनमानः स्यादष्टबाहुश्चतुर्मुखः । सितवर्णोवृषारूढस्थवर्णोऽपि भयङ्करः ॥ द्विमुखं षड्भुजं कोटिमानं दं महिषस्थितम् । सिंहवाहश्चतुर्बाहु र्धश्चतुर्लक्षसम्मितः ॥ द्विभुजं काकवाहं नं तत्सहस्रैर्मितं भवेत् । विंशद्भुजो दशास्यः पः कोटिमानोवकल्पितः ॥ दशकोटिमितः फार्णो योजनानां भुजद्वयः । कण्ठीरव(२)मिताम्भोजे निषण्णश्चञ्चलः सितः । षडास्यो द्विभुजो बः स्याद्दशकोटिमितोऽरुणः । नीलोत्पललसद्दंसवाहनः पुष्टिदायकः ॥ त्रिहस्तं त्रिमुखं व्याघ्रवाहनं भीषणाकृतिम् । दशलक्षमितं भार्णं धूम्राभं स्यान्महाबलम् ॥ चतुर्भुजो मकारः स्यात् सविषोरगसन्निभः । मण्डितोमुण्डमालाभिःशशिखण्डविराजितः ॥ व्याघ्रश्चतुर्मुखो धूम्रो यार्णः स्यान्मृगसंस्थितः ॥ त्रिकोणाम्बुजमेषस्थो रार्णोबाहुचतुष्टयः ॥ चतुरस्राब्जदन्तीन्द्रपृष्ठेनोपरिराजिता । चतुर्भुजा लकारस्यमूर्त्तिःस्यात् घुसृण(३)प्रभा ॥ अब्धिस्थपद्मनक्रस्थोद्विभुजो वःसितःस्मृतः । करद्वयाब्जगा हेमवर्णा शीर्णाकृतिस्तथा ॥ सहस्रमानः कृष्णाभो द्विभुजः कार्मणो(४)ऽथषः । कोटिमानः सितः सः स्यात् हयाङ्गो द्विभुजान्वितः ॥ हार्णःश्वेतस्त्रिवाहुः स्याद्व्यासःसीतांशुशेखरः । पाशाभयकरालार्णमूर्त्तिः श्वेता गजस्थिता ॥ भूबिम्बशैलसंस्थः क्षोदशबाहुर्मणिप्रभः । मूर्त्तिभेदा यथार्णानां मयात्र प्रतिपादिता" इति ॥४॥

अक्षरन्यासस्थानान्याह—*ललाटेति* । ललाटे—केशान्ते । "केशान्ताननवृत्त" इत्युक्तेः । मुखवृत्तेत्येकं स्थानम् । दक्षिणावर्त्तेन अक्ष्यादि गण्डान्तं दक्षादिओष्ठदन्तयोरूर्ध्वादि । आस्ये तदन्तः जिह्वायामित्यर्थः । दोः पदोर्दक्षादि, । दोः पत्सन्ध्यग्राणि च पञ्च पञ्च, शेषयोरङ्गुलिसन्धित्वात् ॥ ५ ॥

*पार्श्वयोर्दक्षादि ।*अंसक इति*। दक्षिणांसे । ककुदि ग्रीवायाम् । *अंस इति* । वामे । *हृत्पूर्वं पाणिपादयुगे इति*। स्थानचतुष्टम् ॥ ६ ॥

जठराननयोरिति । अत्रापि हृत्पूर्वमिति संबध्यते । तदुक्तं मन्त्रमुक्तावल्याम् "हृदंसककुदंसेषु हृदादिकरयोर्युगे । त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाभिर्यादिपान्तगान् ॥ हृदादिपादयुग्मे च तद्वाद्युदरके तथा । तदादि मूर्द्धनि प्राज्ञो न्यसेत् सादीन् कषांतगान्" इति । केचनोत्तरां सशब्देन कक्षाद्वयं व्याचक्षते । तन्मते अंसद्वये वर्णद्वयं ककुद्येकं कक्षाद्वये वर्णद्वयं पाण्योर्युगे एकं पादयोर्युगेचैकमिति न्यासः । अयंसाम्प्रदायिकः । तदुक्तं *दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्* । "हृदोर्मूलेषु संन्यस्य तथाऽपरगलेन्यसेत् । कक्षाद्वये हृदारभ्य पाणिपादयुगे तथा ॥ जठराननयोर्व्याप्त्या न्यसेदित्यर्णरूपिणीमि"ति । *आचार्या अपि*—"हृदोर्मूलापरगलकक्षेष्वि"ति । तत्र प्रयोगः "अंनमः" केशान्ते । "आंनमः" मुखवृत्ते इत्यादि । उक्तञ्च—"ॐ माद्यन्तो नमोन्तो वा सबिन्दुर्बिन्दुवर्ज्जितः । पञ्चाशदक्षरन्यासः क्रमेणैव विधीयते" इति । *यथा—

---

(१) "कुञ्जरः षष्टिहायनः" इत्यभिधानम् । ततः प्राक्तुकलभएवेतितदर्थः ॥
(२) कण्ठीरवःसिंहः । (३) चन्दनवर्णा ॥
(४) कर्म्मशीलस्तु कार्म्मणः ॥ इत्यभिधानम् ॥

वादिहान्तान् न्यसेदात्मपरमज्ञानपूर्वकान् ।
दीक्षितः प्रोक्तमार्गेण न्यसेल्लक्षं समाहितः ॥ ८ ॥
जपेत्तत्संख्यया विद्वानयुतं मधुराप्लुतैः ।
विदधीत तिलैर्होमं मातृकामन्वहं जपेत् ॥ ९ ॥
व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वैः स्फुरत्केसरं
पत्रान्तर्गतपञ्चवर्गयशलार्णादित्रिवर्गं क्रमात् ।
आशास्वस्त्रिषु लान्तलाङ्गलियुजा क्षोणीपुरेणावृतं
पद्मं कल्पितमत्र पूजयतु तां वर्णात्मिकां देवताम् ॥ १० ॥
आधारशक्तिमारभ्य पीठशक्त्यन्तमर्चयेत् ।
मेधा प्रज्ञा प्रभा विद्या श्रीर्धृतिस्मृतिबुद्धयः ॥ ११ ॥
विद्येश्वरीति सम्प्रोक्ता भारत्या नव शक्तयः ।
वर्णाब्जेनासनं दद्यान्मूर्तिंमूलेन कल्पयेत् ॥ १२ ॥

क्रमादिति अनेनैतदुक्तं भवति सौस्थानिकौत्थानिकस्नानभोजनानुष्ठानेषु लिपिर्विन्यस्तव्या इति । तत्र सौस्थानिके उक्तप्रकारेण एकपञ्चाशद्वर्णन्यासः ॥ औत्थानिके वर्गाणां मुखबाहुपादद्वयनाभिहृत्सु व्यापकत्वेन न्यासः । तद्देवताः ब्रह्मसरस्वतीविष्णुश्रीरुद्रोमासर्वेश्वराः । स्नाने अकथादिवर्गत्रयस्य मुखमध्यपादेषु न्यासः । एतद्देवताश्चन्द्रसूर्याग्नयः । भोजनकाले समस्तस्य समस्तकादिपादान्तो न्यासः । देशकालाद्यपेक्षया सर्वत्र प्रयोक्तव्या इति ॥७॥८॥

तत्संख्ययेति । लक्षसंख्यया । एकवारं न्यासं कृत्वा एकवारं जपेदिति ज्ञेयम् । *समाहित* इत्यनेन कृतपुरश्चरणधर्म इत्युक्तम् । तदुक्तम्—"पञ्चाशद्वर्णमूर्तिस्तामेवं ध्यात्वा स्वविग्रहे । स्थानेषु क्रमतो न्यस्य पूर्वोक्तेषु जपेल्लिपिम् ॥ पञ्चाशत्संख्या नित्यं यावल्लक्षं प्रपूर्यते" इति । *मधुराप्लुतैः* । पयोघृतमधुयुक्तैः । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"पयोमधुघृतं चेति समन्त्रिमधुरं स्मृतमि"ति ॥ ९ ॥

व्योमेति । व्योम हः । इन्दुः सः । औः स्वरूपं, रसनार्णो विसर्गः । "व्योमादिः सचतुर्दशस्वरविसर्गान्तस्फुरत्कर्णिकमि"त्युक्तेः । *अचां*–स्वराणाम् । अत्र केसरेषु स्वरलिखनं स अग्रपत्रादिकर्णिकाभिमुखत्वेन चेति ज्ञेयम् । आशासु–दिक्षु । अस्त्रिषु–कोणेषु लान्तो वः । लाङ्गली ठः । अनयोरेखासंलग्नतया लिखनं ज्ञेयम् । तदुक्तं *दक्षिणामूर्त्तिसंहितायां*—"चतुरस्रं ततः कुर्यात्सच्छिद्रं दिक्षु संलिखेत् । ठकाराणां चतुष्कं च रेखान्तं बाह्यतस्ततः ॥ वारुणं च समालिख्य देवीमावाहयेत्सुधीरि"ति ॥ अत्र पूजायन्त्रेऽपि अक्षरादिलिखनस्योक्तेः । केषाञ्चिन्मतं इदमेव धारणयन्त्रमिति सूचयति । *पद्ममिति* श्वेतं "स्मरेत्पद्मं तथासितमि"त्युक्तेः । तेन श्वेतकमलासना ध्येयेत्यर्थः ॥ १० ॥

अर्चयेदिति । चतुर्थोक्तप्रकारेण । तत्र मण्डूक कालाग्निरुद्र कूर्मशिलाः सम्पूज्य पश्चादाधारशक्त्यादिपूजने पृथिव्यनन्तरं विद्याधिं संपूज्य अन्ते माया कला विद्या परतत्त्वानि संपूज्य पीठशक्तिपूजनमिति सर्वत्र क्रमोऽनुसन्धेयः । पीठशक्तीराह—मेधेति । आसां ध्यानं यथा—"कृताञ्जलिद्वयकरास्तत्पूर्वकरद्वये । दधत्यः पुस्तकं कुम्भं श्वेताः सुन्दरमूर्तयः" इति ॥ ११ ॥

पीठमन्त्रमुद्धरति *वर्णबीजेनेति* । "ह्सौः मातृकायोगपीठाय नमः" इति मन्त्रेणासनपूजा । अयं पीठमन्त्रः सर्वमातृकामन्त्रसाधारण इति ज्ञेयम् ॥ अन्येस्त्वन्यथा व्याख्यातं—वर्णाब्जेन–वर्णाब्जकर्णिकाबीजादिनाऽऽसनमन्त्रेणेति । तत्र प्रयोगः । "ह्सौः [illegible] ला-स

आवाह्य पूजयेत्तस्यां देवीमावरणैः सह ।
अङ्गैरावरणं पूर्वं द्वितीयं युग्मशः स्वरैः ॥ १३ ॥
अष्टवर्गैस्तृतीयं स्यात्तच्छक्तिभिरनन्तरम् ।
पञ्चमं मातृभिः प्रोक्तं षष्ठं लोकेश्वरैः स्मृतम् ॥ १४ ॥
लोकपालायुधैः प्रोक्तं वज्राद्यैः सप्तमं ततः ।
विधिनानेन वर्णेशीमुपचारैः प्रपूजयेत् ॥ १५ ॥
व्यापिनी लापिनी पश्चात्पाविनी क्लेदिनी तथा ।
धारिणी मालिनी भूयो हंसिनी शङ्खिनी स्मृता ॥ १६ ॥
शुभ्राः पत्रेषु सम्पूज्या धृताक्षगुणपुस्तकाः ।
ब्राह्मी माहेश्वरी भूयः कौमारी वैष्णवी मता ।
वाराह्यनन्तरेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमी मता ॥ १७ ॥
अष्टमी स्यान्महालक्ष्मीः प्रोक्तास्यु विश्वमातरः ॥ १८ ॥
दण्डं कमण्डलुं पश्चादक्षसूत्रमथाभयम् ।
बिभ्रती कनकच्छाया ब्राह्मी कृष्णाजिनोज्ज्वला ॥ १९ ॥
शूलं परश्वधं क्षुद्रं दुन्दुभिं नृकरोटिकाम् ।
वहन्ती हिमसङ्काशा ध्येया माहेश्वरी शुभा ॥ २० ॥
अङ्कुशं दण्डखट्वाङ्गौ पाशं च दधती करैः ।
बन्धूकपुष्पसङ्काशा कौमारी कामदायिनी ॥ २१ ॥

नाय नमः ।" एवमग्रे सरस्वतीमन्त्रेऽपि । *पद्मपादाचार्यस्तु*—"ॐ ह्रीं वर्णाब्जाय सरस्वत्यासनाय नम" इति पीठमन्त्रः सूचित इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

आवाह्येति । तुर्योक्तप्रकारेण अङ्गैरावरणं कर्णिकामध्ये इति ज्ञेयम् । *युग्मशः स्वरैरिति* । तत्प्रयोगः ।"अ आ नमः"बीजैः पूजास्याद्विभक्त्या वियुक्तैरि"त्याचार्योक्तेः। एवमष्टवर्गेष्वपि । उक्तं च *संहितायां* "नियोज्य स्वरयुग्मान्ते नमस्कारं पृथक् पृथक् । तथैव कादिवर्गेषु नमस्कारं पृथक् क्षिपेत्" ॥ इति ॥ १३ ॥

तच्छक्तिभिरिति । वर्गशक्तिभिः । पत्रमध्योपरि । *अनन्तरमिति* । चतुर्थम् । *मातृभिरिति* । पत्राग्रे । लोकेश्वरैरायुधैश्चेति पश्चाद्बहिर्भूपुरे । ब्राह्म्यादीनामायुधध्यानं ब्राह्म्यां माहेश्वर्यां च दक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये तदधस्तनयोरन्त्ये कौमार्यां वामोर्ध्वादिदक्षिणोर्ध्वपर्यन्तम् । वैष्णव्यां दक्षोर्ध्वतो वामोर्ध्वं यावत् । वाराह्यां दक्षाधस्तनाद्वामाधः पर्यन्तम् । इन्द्राण्यां चामुण्डायां च दक्षवामयोरूर्ध्वादि, महालक्ष्म्यां दक्षोर्ध्वहस्तमारभ्य वामोर्ध्वपर्यन्तम् । माहेश्वर्यान्तदक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये तदधस्तनयोरन्त्ये, कौमार्यां वामोदूर्ध्वादि दक्षिणोदूर्ध्वपर्यन्तम् । आसां वाहनान्यपि ध्येयानि । तानि तत्तद्देवतानामिति ज्ञेयम् । ब्राह्म्या हंस इति । तत्र वाराह्यां महिषः । तदुक्तं—"वाराहीं च प्रवक्ष्यामि महिषोपरिसंस्थिताम्"इति । चामुण्डायां प्रेत इति ज्ञेयम् । वाराही वराहवक्त्रा । चामुण्डा निर्मांसा ध्येया । आसु च कौमारी वैष्णवी इन्द्राणी महालक्ष्म्यो द्विनेत्राः । अन्यास्त्रिनेत्राः। आसां बीजानि तन्त्रान्तरोक्तानि "अष्टौ दीर्घाः क्षादयोऽष्टौ सानन्ताश्च विलोमजाः । इन्द्र आकाशसंयुक्तो बीजान्यासां क्रमाद्विदुरि"ति ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

*साधकसत्तम इति*अनेन एवं प्रकारेण साधितां मातृकामन्यमन्त्राङ्गत्वेन विनियुञ्ज्यादि-

चक्रं घण्टां कपालं च शङ्खं च दधती करैः ।
तमालश्यामला ध्येया वैष्णवी विभ्रमोज्ज्वला ॥ २२ ॥
मुशलं करवालं च खेटकं दधती हलम् ।
करैश्चतुर्भिर्वाराही ध्येया कालघनच्छविः ॥ २३ ॥
अङ्कुशं तोमरं विद्युत्कुलिशं बिभ्रती करैः ।
इन्द्रनीलनिभेन्द्राणी ध्येया सर्वसमृद्धिदा ॥ २४ ॥
शूलं कृपाणं नृशिरः कपालं दधती करैः ।
मुण्डस्रङ्मण्डिता ध्येया चामुण्डा रक्तविग्रहा ॥ २५ ॥
अक्षस्रजं बीजपूरं कपालं पङ्कजं करैः ।
वहन्ती हेमसङ्काशा महालक्ष्मीः समीरिता ॥ २६ ॥
पूजयेन्मातृकामित्थं नित्यं साधकसत्तमः ।
न्यसेत्सर्गान्वितां सृष्ट्या ध्यात्वा देवीं यथाविधि ॥ २७ ॥
सर्गबिन्द्वन्तिकां न्यस्येत् डार्णाद्यां स्थितिवर्त्मना ।
विद्यात्पूर्वोदितान्विद्वानृष्यादीनङ्गसंयुतान् ॥ २८ ॥
ध्यायेद्वर्णेश्वरीमत्र वल्लभेन समन्विताम् ।
सिन्दूरकान्तिममिताभरणां त्रिनेत्रां विद्याक्षसूत्रमृगपोतवरं दधानाम् ।
पार्श्वस्थितां भगवतीमपि काञ्चनाङ्गीं ध्यायेत्कराब्जधृतपुस्तकवर्णमालाम् २९
अभ्यर्चनादिकं सर्वं विदध्यात्पूर्ववर्त्मना ।
बिन्दुयुक्तामिमां न्यस्येत्संहृत्या प्रतिलोमतः ॥ ३० ॥

त्युक्तं भवति ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

सृष्टिन्यासमाह—*न्यसेदिति*। यदा सृष्ट्या सृष्टिमार्गेण न्यसेत्तदा सर्गान्वितामिति यत्तदोरध्याहारेणान्वयः। एवमग्रेऽपि। *यथाविधीति*। अनेनैतदुक्तं भवति अत्र सृष्टिमातृकादेवता पूर्ववद्विसर्गान्तैर्वर्णैः षडङ्गन्यासः। ऋषिच्छन्दसी ध्यानं पूजादिकमपि पूर्ववदेव न्यासस्थानान्यपि पूर्वोक्तान्येवेति। प्रयोगस्तु। "अः नमः केशान्ते"। "आः नमः मुखवृत्ते" इत्यादि ॥ २७ ॥

स्थितिन्यासमाह—*सर्गेति* डार्णाद्यामिति*। ठपर्यन्तामित्यर्थः। *सर्गबिन्द्वन्तिकामिति*। बिन्दुसर्गान्वितत्वं प्रत्यक्षरमिति ज्ञेयम्। *विद्वानिति* अनेनैतदुक्तं भवति स्थितिमातृकादेवताषडङ्गान्यपि पूर्ववदेव सर्गबिन्द्वन्तिकवर्णैः कार्याणीति। तत्र योगः। "डं नमः दक्षिणगुल्फे" "ढं नमः दक्षिणपादाङ्गुलिमूले" इत्यादि क्षान्तं विन्यस्य,"अं नमः केशान्ते" इत्यादि "तं नमः दक्षिणजानुनि" इत्यन्तं न्यसेत्। तदुक्तं *शैवे* "डकारादि ठकारान्तां योजयेत्परदेवतामि"ति। अत्र केचित्। सृष्टौ अकारादितकारपर्यन्तंन्यासं कारयन्ति। स्थितौ डकारादिक्षकारपर्यन्तम्। तदविचारितरमणीयम्। समग्रमातृकावृत्तेर्न्यासत्वात्॥२८॥

अत्रेति। स्थितिन्यासे पार्श्वं वामम्। आयुधध्यानं ऊर्ध्वादिदक्षे। अक्षमालावरौ वामे मृगपोतविद्ये इति शिवे। उक्तंच *पद्मपादाचार्यैः* "वराक्षसूत्रमृगपुस्तकधरं देवमि"ति॥ *वर्णमालाम्* अक्षमालामियं दक्षे। विद्या वामे। *कराब्जेति*। उपमासमासः ॥ २९ ॥

संहारन्यासमाह—*बिन्दुयुक्तामिति*। *प्रतिलोमतः*। क्षकारादि अकारान्तम्। स्थानानि तु तान्येव *विद्वानिति*। अनेनैतदुक्तं भवति संहारमातृकादेवता षडङ्गान्यपि

विद्यात्पूर्वोदितांस्विद्वान्सृष्यादीनङ्कसंयुतान् ।
ध्येया वर्णमये पीठे देवी वाग्वल्लभा शिवा ॥ ३१ ॥
अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम् ।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणामरविन्दवासां वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम् ॥३२॥
न्यासार्चनादिकं सर्वं कुर्यात्पूर्वोक्तवर्त्मना ।
तारोत्थाभिः कलाभिस्तां न्यसेत्साधकसत्तमः ॥ ३३ ॥
वर्णाद्यास्तारसंयुक्ता न्यस्तव्यास्ता नमोन्विताः ।
ऋषिः प्रजापतिश्छन्दो गायत्रं समुदाहृतम् ॥ ३४ ॥
कलात्मा वर्णजननी देवता शारदा स्मृता ।
ह्रस्वदीर्घान्तरगतैः षडङ्गं प्रणवैः स्मृतम् ॥ ३५ ॥
हस्तैः पद्मं रथाङ्गं गुणमथहरिणं पुस्तकं वर्णमालां टङ्क
शुभ्रं कपालं वरममृतलसद्धेमकुम्भं वहन्तीम् ।
मुक्ता विद्युत्पयोदस्फटिकनवजपाबन्धुरैः पञ्चवक्त्रैः ।
स्त्र्यक्षैर्वक्षोजनम्रां सकलशशिनिभां शारदां तां नमामि ॥ ३६ ॥

पूर्ववदेव बिन्द्वन्तैर्वर्णैः । तदुक्तं "ततः सबिन्दुके न्यासे ऋषिश्छन्दस्तु पूर्ववत् । संहारशारदा देवी सबिन्द्वर्णैः षडङ्गकमि"ति । प्रयोगस्तु—"क्षं नमः हृदादिमुखे" "लंनमः हृदादि जठरे" इत्यादि ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अक्षेति । उदग्रस्तीक्ष्णः ऊर्ध्वाग्रो वा । टङ्कः परशुः । आयुधध्यानं दक्षे । ऊर्ध्वादि वरशुवर्णमाले । परे वामे । उक्तञ्च *पद्मपादाचार्यैः* "अक्षमालाटङ्कपुस्तकधरां ध्यायेदि" ति॥*अरविन्दवासां* श्वेताब्जस्थाम् । का नाम सृष्टिः स्थितिः संहतिर्वेति ? तदुच्यते अन्तर्गतस्य बहिरवभासः सृष्टिः । शिवेऽवभासः स्थितिः । संस्कारमात्रशेषतया अन्तरवस्थानं विनाशः । यदाहुः—"चिद्रूपस्यात्मनः सर्वजगतामीशितुः प्रभोः । ग्राह्यग्राहकवैचित्र्यप्रकाशः सृष्टिरीश्वरी ॥ अत्र स्थितिः स्याज्जगतामवभासः समीरितः । संस्कारमात्रशेषोऽयं विनाशः संहृतिः शिवे" इति । एवं ध्यानेन न्यासत्रयं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

कलान्यासमाह—*तारोत्थाभिरिति* । प्रणवपञ्चभेदसमुत्पन्नाभिः सृष्ट्यादिभिः । कलाभिः सह तां मातृकां न्यसेदित्युक्तस्थानेषु । *साधकसत्तम इति* । अनेन प्रणवत्रयादित्वमप्युक्तं भवति ॥ ३३ ॥

वर्णाद्या इति । अकारादिवर्णाद्याः । एवं भूतास्तारसंयुताः । अनेनायं क्रमः । प्रथमतः प्रणवः पश्चादकाराक्षरं पश्चात्कलानाम् अतएवाद्यसंयुक्तशब्दौ । *नमोन्विता इति*।संप्रदायादन्ते नमसा योगाच्चतुर्थ्यन्तत्वम् । न्यसेदित्यनेन नैराकाङ्क्ष्येऽपि पञ्चभेदकलानामादौ न्यासस्थापनमाह—*न्यस्तव्यास्ता इति* ॥ तत्र "न्यासे तु योजयेदादौ षोडशस्वरगाः कला" इत्युक्तत्वात् प्रथमं नादकलानां निवृत्त्यादीनां न्यासः । पश्चादकारोकारमकारबिन्दुजानां सृष्ट्यादीनाम् । प्रयोगस्तु । "ओं अं निवृत्त्यै नमः केशान्ते" इत्यादि । कलात्मा वर्णजननी शारदादेवतेति ॥ कलात्ममातृकादेवतेत्यर्थः ॥ *ह्रस्वदीर्घान्तरगतैरिति* ॥ अक्लीबह्रस्वदीर्घस्वरमध्यगैरित्यर्थः । अं ॐ आं हृदयाय नम" इत्यादि प्रयोगः ॥ ३५ ॥

हस्तैरिति। रथाङ्गं चक्रं,गुणस्त्रिशूलम् । *वर्णमालाम्* अक्षमालां, टङ्कः—परशुः । *शुभ्रमिति* । कपालविशेषणं, दरः—शङ्खः । आयुधध्यानं दक्षाधस्तनतोवामाधस्तनपर्यन्तं, पुस्तकाक्षमालयोर्विपर्ययः । यदुक्तं *पद्मपादाचार्यैः* "पद्मचक्रमृगाक्षसूत्रपुस्तकटङ्ककपा-

अर्चयेदुक्तमार्गेण शारदां सर्वकामदाम् ।
तार्त्तीयपूर्वां तां न्यस्येन्नमोऽन्तां रुद्रसंयुताम् ॥ ३७ ॥
त्वधातुप्राणशक्त्यात्मयुक्तान्यादिषु ते क्रमात् ।
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्तिर्गायत्रं छन्द ईरितम् ॥ ३८ ॥

लशङ्खकलशधरा ध्येये"ति । *मुक्तेति* । ऊर्ध्वादिमुखानां वर्णाः सकलशशिनिभांऽशुशुभ्रव-र्णा' सर्वकामदामिति विनियोगोक्तिः । अतएव *पद्मपादाचार्याः* "सर्वत्र सर्वचे"ति ॥३६॥

श्रीकण्ठमातृकामाह—*तार्तीयेति* तार्त्तीयं भैरव्याः द्वादशे वक्ष्यमाणम् ॥ केचन रेफ-वर्जितं तद्वदन्ति॥ अयमेव सांप्रदायिकः पक्षः यतो मातृकाब्जकर्णिकाबीजमेवं संगृहीतं भव-ति ॥ भैरवीत्रिशब्देदमध्ये एकस्य भेदस्य तार्त्तीयं रेफवर्जितं भवत्येव । ग्रन्थकृदतएव पडङ्गा-वसरे—"हसा पद्दीर्घयुक्तेने"ति *वक्ष्यति।*न्यसेदिति। उक्तस्थानेषु । साम्प्रदायिकास्तु प्रण वशक्तिप्रासादपञ्चाक्षरीयोगमाहुः। *रुद्रसंयुतामिति* सशक्तिकश्रीकण्ठादिसहितां, *नमोऽ-न्तामिति*अनेन चतुर्थीयोगोऽप्युक्तः । ' ह्सौः ।अं श्रीकण्ठेशपूर्णोदरीभ्यां नमः केशान्ते" इत्यादि प्रयोगः । अयं साम्प्रदायिकः पक्षः । अत्र ग्रन्थकृता छन्दोऽनुरोधादीशशब्दः क्वचि-न्नदत्तः । न्यासावसरेऽवश्यं ज्ञेय इति । केचित्तु "पूर्णोदरीसहिताय श्रीकण्ठाय नमः" इति । अन्येतु "पूर्णोदर्यै श्रीकण्ठाय नम" इत्याहुः। तदुभयमते रुद्राणां प्राधान्यमिति ते वदन्ति । "पूर्णोदरी श्रीकण्ठाभ्यां नम" इत्यपि केचिदिच्छन्ति । तत्पक्षत्रयमसाम्प्रदायिकम् । सहित-शब्दस्यानुक्तस्याधिकस्य प्रथमपक्षे प्रयोगः । द्वितीयपक्षे उभयत्र चतुर्थ्यनुपपन्ना एकत्र नमः सोयोगात् प्राप्यते, अन्यत्र प्रापकाभावात् । पक्षत्रये च "रुद्रसंयुतामि"त्युक्तत्वात् मातृकाया रुद्रैः सहाव्यवधानेन संयोगो न भवति । अतः साम्प्रदायिकः पक्ष एव ज्यायान् । *अपेक्षि-तार्थद्योतनिकाकारस्तु*—"श्रीकण्ठेशाय पूर्णोदर्यै नम "इति प्रयोगमाहस्म । तदप्ययुक्तम् । यतो ध्याने अग्नीषोमादिवत् समुच्चितयोरेव देवतात्वं प्रतीयते । अस्मिंश्च प्रयोगे देवतयोः समुच्चितत्वम् । पृथक्चतुर्थीनिर्देशेनेतरेतरनिरपेक्षयोरेव तत्प्रतीतेः । किञ्च "यदग्नये च प्रजा-पतये च सायं जुहोती"त्यत्र शब्दद्वयकृतपरस्परापेक्षयोः प्रत्येकं क्रियान्वयाभावेऽपि देवता-समुच्चयस्येष्टत्वात् । अत्र तु तदभावेन प्रत्येकं नमोऽन्वयात् सुतरान्तत्समुच्चयाप्रतीतिः ।।तेन होमादावपि "श्रीकण्ठेशपूर्णोदरीभ्यां स्वाहे"त्येवैकैवाहुतिः । एवं केशवादिकामगणेशन्यासे-ष्वपि द्रष्टव्यम् । यत्तु क्वचित्केशवाय च कीर्त्यै चेत्युद्धारस्सछन्दोऽनुरोधेनेतिज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

त्वधात्विति तेरुद्राः । यादिषु यकारादिषु दशसु व्यापकेषु । धातवः—त्वगसृङ्मांसमे-दोऽस्थिमज्जाशुक्राणि प्राणः शक्तिः आत्मा च एतद्युक्ताःक्रमाज् ज्ञेयाः । अत्र यद्यपि रुद्रपदं समासगर्भितम्—तथापि सर्वनाम्ना परामृश्यते । "सर्वनाम्नां तु वृत्तिर्वृत्तिच्छन्नस्ये"ति वा-मनसूत्रात् । प्रयोगस्तु—"ह्सौःयं त्वगात्मभ्यां वालीसुमुखीश्वरीभ्यां नमः । हृदये"इत्या-दिः ।। अत्रात्मशब्दः सम्प्रदायात्प्रयुज्यते । ग्रन्थान्तरे आत्मशब्दस्थाने क्रोधशब्दमुक्त्वा आत्मशब्दः सर्वत्र प्रयोक्तव्य इत्युक्तं, यादीन् धातुप्राणशक्तिक्रोधाद्यात्मनेयुतानिति । *अ-न्यत्रापि—*"जीवं शक्तिं क्रोधमप्यात्मनेऽन्तानि"ति । *आचार्यस्तुतावपि*—"धात-वो याद्याः सप्तसमीरणश्च सपरः क्षः क्रोध इत्यम्बिके" इति । अत्र तु क्षकारस्य नरसिंहबी-जत्वात् क्रोधशब्दोक्तिः । पद्मपादाचार्यैः :प्रथमपद्यव्याख्याने विरचितेत्यादिना मातृकास्था-नोक्तिः । आख्यायते । एभिरिति सप्तधातवः । हृच्छब्देन प्राणः शक्तिश्चाभिहिता । कशब्देन सुखाधन परमात्मोक्त" इति । यादिन्यासस्थानानीत्युक्तम् तन्मतानुसारेणेह मूलकारेण आत्मग्रहणं कृतम्। ननुत्वगादिपरमान्तस्य देवतात्मनो यादिन्यासेनैव साधकशरीरे सन्निधाने सति किमवशिष्टाक्षरन्यासेनेति ? देवतावयवविशेषरचनाकल्पनेति ब्रूमः । नव प्रथमं सामा-

अर्द्धनारीश्वरः प्रोक्तो देवता तन्त्रवेदिभिः ।
ह्रसा षड्दीर्घयुक्तेन कुर्यादङ्गानि देशिकः ॥ ३९ ॥
बन्धूककाञ्चननिभं रुचिराक्षमालां पाशाङ्कुशौ च वरदं निजबाहुदण्डैः ।
बिभ्राणमिन्दुशकलाभरणं त्रिनेत्रमर्द्धाम्बिकेयमनिशं वपुराश्रयामः ॥ ४० ॥
पूर्वोक्तेनैव मार्गेण पूजयेत्तं यथाविधि ।
स्मराद्यां मातृकां न्यस्येत्केशवादिनमोन्विताम् ॥ ४१ ॥

न्यकल्पना पुनर्विशेषकल्पनेतिनियमोऽस्ति येन लिपिन्यासस्य क्षकारादित्वं स्यात्सर्वत्र। नित्यसामान्यविशेषरूपं हि देवताशरीरं तस्य साधकशरीरे सन्निधिर्न्यासेनोत्पाद्यते । अतः प्रथममकारादिन्यासेनावयवविशेषसन्निधिस्मरणे न कश्चिद्दोषः । नच संहारक्रमेण मातृकान्यासे प्रथमं सामान्यसंहारः पश्चाद्विशेषसंहार इतिक्रमकोपः । उभयोरप्यात्मन्येव संहारात् । नच सामान्यसंहारेणैव संहृतत्वाद्विशेषाणां पृथक्संहरण मनर्थकं, विशेषसंहारक्रमचिन्तायाः कर्त्तव्यत्वात् ॥ ३८ ॥

*षडदीर्घाः० । आ ई ऊ ऐ औ अः अतद्युक्तेन ह्सा(१) हकारसकारेण । *देशिक इति* । अनेन मिलितेनेत्युक्तम् । प्रयोगस्तु । "ह्सौ हृदयाय नम" इत्यादिः । अन्येतु ह्सांसादिकानि मातृकाङ्गान्येवेच्छन्ति । साम्प्रदायिकास्तु—प्रणव माया लक्ष्मी पञ्चाक्षरीब्रह्माणी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही इन्द्राणीति बीजाद्याः रक्षयुग्मान्ता अमुकवाहने प्रमुखरक्षयुग्मान्ताः । अमुकहस्ते प्रमुख मां रक्ष युग्मान्ताः । दीर्घत्रयाऽऽक्रान्तमायापुटितमातृकाङ्गानि तार्तीयं च संजीविनि ऊर्ध्वकेशिनि जटिलकेशिनि विश्वरूपिणि ताराक्षिणि द्विःमारयशब्दानुचार्य हृदादीन्युपारयेदि"ति । प्रयोगस्तु "ॐ ह्रीं श्रीं नमः शिवाय नमः ऐं ब्रह्माणी रक्ष २ हंसवाहने रक्ष पद्महस्ते मां रक्ष २ ह्रां ह्रीं ह्रूं अं कं खं गं घं ङं आं ह्रां ह्रीं ह्सौः सञ्जीविनि हृदयाय नम" इत्यादिः बीजानि तु मां कं क्रों हुं ह्रं । आयुधानि पद्मशूलशक्तिचक्रगदावज्राणि । व्यापकमन्त्रस्तु । "ॐ ह्रीं श्रीं नमः शिवाय ह्रूं चामुण्डे रक्ष २ वेतालवाहने रक्ष २ पाशहस्ते मम सर्वाङ्गं रक्ष२ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रस्वषट्कम् आदिक्षान्तं दीर्घषट्कमुच्चार्य ह्रांह्रीं ह्रूं ह्सौः सर्वाङ्गव्यापिनि स्वाहे"ति व्यापकं कृत्वा श्रीकण्ठमातृकां न्यसेदिति । अत्रान्ये-मुखादौ अष्टव्यापकमन्त्राः संप्रदायतो ज्ञेयाः । *यत्प्रयोगसारे* "मातरोऽष्टौ समुत्पन्ना वर्गाणां नायिकास्तताः । व्यापिनी पालिनी देवी पावनी क्लेदिनी पुनः ॥ धारिणो मालिनी भूयो हंसिनी शाविणी तथा वर्गाणां नायकाश्चाष्टौ भैरवाःसमुदीरिताः ॥" इति । अष्टमोव्यस्तक्रन्यासस्तु—आदिक्षान्तमुच्चार्य "संहारभैरव शान्तिनोभ्यां नमः" सर्वाङ्गे । आयुधध्यानं दक्षे ऊर्द्ध्वादि ॥३९
अङ्कुशाक्षमाले परे वामे ॥ ४० ॥

*यथाविधीति*अनेनैतदुक्तं भवति स्मराद्यांवालाद्यां वा काममातृकां न्यसेत् । क्लीं कामशिरोभ्यां नम" इति केशान्ते । इत्यादिप्रयोगः । ध्यानं च "रक्ताङ्गरागकुसुमाऽम्बरसात्रभूषंनीलोत्पलाढ्यकरशङ्खिसुभूषिताङ्कम् । ध्यायेत्प्रसूनशरमिक्षुधनुर्द्धरं च सदाडिमोक्तुसुमभास्वमनङ्गमूर्त्तिमि"ति । एवं गणपतिबीजाद्यां षट्बीजाद्यां वा गणपतिमातृकां न्यसेत् । तत्र प्रयोगः—"गं विघ्नेश ह्रीं श्रीं भ्यां नमः । केशान्ते ।" इत्यादि । ध्यानंच—"ताम्र्योल्लसद्धवा(?)लोहितलसत्कान्ताङ्गरागाम्बरं सद्रक्तोत्पलहस्तया वनितया वामाङ्कमारूढया । दन्ताब्जैर्वरमङ्कुशं गुणमभीतिंधारयन्तं शुभं ध्यायेयं गणपं गजेन्द्रवदनं नेत्रत्रयोद्भासितमि"ति । अत्रोभयोर्व्यापकेषु त्वगादियोगोऽप्यनुसन्धेयः । केशवादिमातृकान्यासमाह—*स्मराद्यामि*

---

(१) अत्र हसेतिव्यञ्जनान्तंसमाहृतं वेदितव्यम् ।

साधातुप्राणशक्त्यात्मयुक्ता यादिषु विष्णवः ।
ऋषिः प्रजापतिः प्रोक्तो गायत्रं छन्द ईरितम् ॥ ४२ ॥
अर्द्धलक्ष्मीर्हरिः साक्षाद्देवतात्र समीरिता ।
दीर्घयुक्तादिबीजेन षडङ्गानि समाचरेत् ॥ ४३ ॥
हस्तैर्बिभ्रत्सरसिजगदाशङ्खचक्राणि विद्या-
पद्मादर्शौ कनककलशं मेघविद्युद्विलासम् ।
वामोत्तुङ्गस्तनमविरलाकल्पमाश्लेषलोभा-
देकीभूतं वपुरवतु वः पुण्डरीकाक्षलक्ष्म्योः ॥ ४४ ॥
अत्रार्चनादिकं सर्वं प्राग्वन्मन्त्री समाचरेत् ।
शक्तिपूर्वां तनौ न्यस्येन्मातृकां मन्त्रवित्तमः ॥ ४५ ॥
ऋषिः शक्तिः स्मृतं छन्दो गायत्रं देवता बुधैः ।
संप्रोक्ता विश्वजननी सर्वसौभाग्यदायिनी ॥ ४६ ॥
दीर्घार्द्धेन्दुयुजाङ्गानि कुर्यान्मायात्मना बुधः ॥ ४७ ॥
उद्यत्कोटिदिवाकरप्रतिभटोत्तुङ्गोरुपीनस्तनीं
बद्धार्द्धेन्दुकिरीटहाररसनामञ्जीरसंशोभिता ।
बिभ्राणा करपङ्कजैर्जपवटीं पाशाङ्कुशौ पुस्तकं
दिश्याद्वो जगदीश्वरी त्रिनयना पद्मे निषण्णा सुखम् ॥ ४८ ॥

ति* । कामबीजाद्यां । सांप्रदायिकास्तु । त्रिपुटा नारायणाष्टाक्षरयोगमिच्छन्ति । अन्ये प्रणवत्रययोगं, परे प्राणत्रयपुटितत्वं । केचन श्रीबीजयोगमिति यथासंप्रदायं व्यवहारः । प्रयोगस्तु । "क्लीं अं केशवकीर्त्तिभ्यां नमः केशान्ते" इत्यादि ॥ ४१ ॥

सधात्विति । "यंत्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः । हृदये" इत्यादिः ॥ ४२ ॥

दीर्घयुक्तेति । दीर्घाः षट् पूर्वोक्ताः । तद्युक्तेनादिबीजेन कामबीजेन । तेन क्लीमित्यादि हृदादिषु ज्ञेयम् । अन्येतु—क्लीमादिकानि मातृकाङ्गान्येवेच्छन्ति । सांप्रदायिकास्तु । मायानारायणाष्टाक्षराजपापरमात्ममन्त्रस्वरपुटितैः कादिवर्गैः देवी पद्मिनी विष्णुपत्नी वरदा कमलरूपा शूलिनीयुक्तैर्हृदयादीन्यङ्गानि इति मन्वते । प्रयोगस्तु—"ॐ नमो नारायणाय हंसः सोहं अं कं खं गं घं ङं आं ॐ नमो नारायणाय हंसः सोहं देव्यै हृदयाय नम" इत्यादिः ॥ ४३ ॥

हस्तैरिति । मेघेत्यादि-वपुर्विशेषणम् । आकल्पो भूषा । आयुधध्यानं-दक्षिणाधोहस्तमारभ्य वामाधस्तनं यावत् । तेन पुरुषायुधानि दक्षिणतः स्त्र्यायुधानि वामत इति सिध्यति । पद्मपादाचार्याणां संमतमेतत् । उक्तंच-"विद्यारविन्दमुकुरामृतकुम्भपद्मकौमोदकीदरसुदर्शनशोभि हस्तमि"ति । अत्र वामोर्ध्वान्तं क्रमो ज्ञेयः । अन्यत्र । यदस्मिन्न्यासे चतुर्भुजध्यानं तत्केवलविष्णोर्न लक्ष्मीसहितस्यैव ध्येयम् । अयमप्यावश्यकः । यदाहुः—"केशवादिरयं न्यासो न्यासमात्रेण देहिनाम् । अच्युतत्वं ददात्येव सत्यं सत्यं नचान्यथे"ति ॥ ४५ ॥

ऋषिः शक्तिरिति शक्तिः-वसिष्ठपुत्रः । *सर्वसौभाग्यदायिनीति* विनियोग उक्तः ॥ ४६ ॥

दीर्घेति । दीर्घाः षड्दीर्घा । अर्द्धेन्दुर्बिन्दुः । एतद्युक्तेन मायात्मना "बीजेने"ति शेषः । प्रयोगस्तु—"हृदयाय नम" इत्यादि । केचन-ह्रामादिकानि मातृकाङ्गान्येवेच्छन्ति । एवमग्रेऽपि ॥ ४७ ॥

उद्यदिति मञ्जीरैः-नूपुरैः । जपवटीमक्षमालाम् । आयुधध्यानं-दक्षे उर्ध्वादि । अङ्कु-

पुरोदितेन विधिना देवीमन्वहमर्चयेत्।
न्यसेच्छ्रीबीजसंपन्नां मातृकां विधिना तनौ ॥ ४९ ॥
ऋषिर्भृगुः स्मृतं छन्दो गायत्रं, देवता स्मृता।
समस्तसम्पदामादिर्जगतां नायिका बुधैः ॥ ५० ॥
प्राक्प्रस्तुतेन बीजेन कुर्यादङ्गानि साधकः ॥ ५१ ॥
विद्युद्दामसमप्रभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
शुण्डादण्डसमुद्धृतामृतघटैरासिच्यमानामिमाम् ॥
बिभ्राणां करपङ्कजैर्जपवटीं पद्मद्वयं पुस्तकम्
भास्वद्रत्नसमुज्ज्वलां कुचनतां ध्यायेज्जगत्स्वामिनीम् ॥ ५२ ॥
आराधयेदिमां प्रोक्तवर्त्मना कुसुमादिभिः।
न्यसेत्स्मराद्यां वपुषि मातृकां मङ्गलप्रदाम् ॥ ५३ ॥
ऋषिः संमोहनः प्रोक्तश्छन्दो गायत्रमुच्यते।
देवता मन्त्रिभिः प्रोक्ता समस्तजननी परा ॥ ५४ ॥
स्मरेण दीर्घयुक्तेन विदध्यादङ्गकल्पनम् ॥ ५५ ॥
बालार्ककोटिरुचिरां स्फटिकाक्षमालां कोदण्डमिक्षुजनितं स्मरपञ्चबाणान्।
विद्यां च हस्तकमलैर्दधतीं त्रिनेत्रां ध्यायेत्समस्तजननीं नवचन्द्रचूडाम् ॥ ५६ ॥
अर्चनादिक्रियाः सर्वाः प्रोक्ताः पूर्वविधानतः।
शक्तिश्रीकामबीजाद्यां देवीं वर्णतनुं भजेत् ॥ ५७ ॥
ऋषिः पूर्वोदितश्छन्दोगायत्रं, देवता बुधैः।
सम्मोहनी समुद्दिष्टा सर्वलोकवशङ्करी ॥ ५८ ॥

शाक्षमाले परे वामे। उक्तंच—*पद्मपादाचार्यैः—"अक्षसूत्राङ्कुशपाशपुस्तककरा ध्येये"ति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

समस्तसम्पदामादिरिति। विनियोगोक्तिः ॥ ५० ॥

प्राक्प्रस्तुतेनेति। पूर्वोक्तेन मार्गेण-षड्दीर्घयुक्तेनेत्यर्थः। बीजेन-श्रीबीजेनेत्यर्थः। तेन श्रां श्रीमित्यादि षडङ्गम्। एतदादीनि मातृकाङ्गानि वा। आयुधध्यानं—दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्यन्तम् ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

स्मराद्यामिति। अनेन काम श्रीशक्त्यादिकामपि न्यसेदित्युक्तं तस्य त एव ऋष्याद्याः द्विरुक्तैर्बीजैरङ्गानि। पञ्चबाणपद्माङ्कुशाक्षमालापुस्तकपाशपद्मधनुर्द्धरारुणा ध्येया। आयुधध्यानं दक्षाधस्तनमारभ्य वामाधस्तनपर्यन्तम्। न्यासपूजादिकं पूर्ववदेव। सौकर्याय ध्यानश्लोकोऽपि-"सा पञ्चबाणकमलाङ्कुशकाक्षमालाविद्यागुणाब्जधनुरष्टकरा त्रिनेत्रा। रक्तारुणाम्बरविलेपनभूषणाढ्या पायात्तु वर्णजननी शशिशेखरा वः" इति ॥ *मङ्गलप्रदामिति*। विनियोगोक्तिः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

दीर्घयुक्तेन षड्दीर्घयुक्तेन ॥ ५५ ॥

बालेति। विद्यां-पुस्तकम्। अक्षमालाम् पञ्चबाणान् दक्षे अधस्तनादि। वामे पुस्तकचापौ। इत्यायुधध्यानम्। तदुक्तम्—*पद्मपादाचार्यैः*—"अक्षस्रक्चापपञ्चबाणपुस्तकधरा ध्येया" इति ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

पूर्वोदित इति। संमोहनः। सर्वलोकवशङ्करीति विनियोगोक्तिः ॥ ५८ ॥

आवर्तितैस्त्रिभिर्बीजैः षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ ५९ ॥

ध्यायेयमक्षवलयेक्षुशरासपाशान् पद्मद्वयाङ्कुशशरान्नवपुस्तकञ्च ।
आबिभ्रतीं निजकरैररुणां कुचार्तां संमोहनीं त्रिनयनां तरुणेन्दुचूडाम् ॥६०॥

यजेदावरणैः सार्द्धमुपचारैः सुशोभनाम् ।
प्रपञ्चयागं वक्ष्यामि सच्चिदानन्दसिद्धिदम् ॥ ६१ ॥
वेदादिशक्तिरजपा परमात्ममहामनुः ।
वह्नेर्जाया च कथिताः पञ्चमन्त्राः शुभावहाः ॥ ६२ ॥
तारशक्त्यादिकां न्यस्येदजपाऽऽत्मद्विठान्तिकाम् ।
मातृकामुक्तमार्गेण सृष्ट्या देहे विधानवित् ॥ ६३ ॥
ऋषिर्ब्रह्मा समुदिष्टश्छन्दो गायत्रमीरितम् ।
समस्तवर्णसंव्याप्तं परं तेजोऽस्य देवता ॥ ६४ ॥
स्वाहाद्यैः पञ्चमनुभिः पञ्चाङ्गानि प्रकल्पयेत् ।
अस्त्रं दिक्षु बुधः कुर्याद्भूयो हरिहराक्षरैः ॥ ६५ ॥

तारादिपञ्चमनुभिः परिचीयमानं मानैरगम्यमनिशं जगदेकमूलम् ।

आवर्तितैरिति । द्विवारं, प्रथमाऽतिक्रमे कारणाभावात् । एवं षड्बीजानि भवन्ति । "ह्रीं हृदयाय नमः" इत्यादि प्रयोगः । *ध्यायेयमिति* । शरासं धनुः । आयुधध्यानं-दक्षे ऊर्ध्वादि अङ्कुशपद्मशराक्षमालाः । वामे पद्मधनुः पुस्तकानि । तदुक्तम् *पद्मपादाचार्यैः* "अक्षस्रक् पञ्चशरपद्माङ्कुशपाशपद्मेक्षुधनुः पुस्तकधरारुणा ध्येया" इति ॥ ५९ ॥ ६० ॥

प्रपञ्चेति । सच्चिदानन्दसिद्धिदमिति विनियोगोक्तिः ॥ ६१ ॥

वेदादिः—प्रणवः । अजपा–हंसः । परमात्ममहामनुः–सोहं, वह्नेर्जाया–स्वाहा । प्रणवो बीजं हृल्लेखा शक्तिः । *शुभा वहा* इत्यनेनास्य स्वातन्त्र्यमप्युक्तम् । यदाहुः— "स्वतन्त्रोऽपि जपात्सिद्धिं कुर्यादष्टाक्षरो मनुः । तस्माद्यथावत् प्रजपेद्धीमान्न मोक्षपरः पुमान्" इति । साम्प्रदायिका वाग्भवहृल्लेखासम्पुटमाहुः ॥ ६२ ॥

तारशक्त्यादिकामिति । *आत्मा*—परमात्ममन्त्रः । अजपायाः पूर्वमुक्तत्वात् । द्विठः स्वाहा । प्रतिवर्णमादौ तारमाये, अन्ते त्वजपादयः "ओं ह्रीं अं हंसः सोहं स्वाहा । क्षान्ते" इत्यादिप्रयोगः । संहारस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र सृष्ट्येत्युक्तिः । *विधानविदिति* । अनेनैतदुक्तम्भवति षडङ्गन्यासपूर्वकं सावरणं महागणपतिं ध्यात्वा चतुश्चत्वारिंशद्वारं गणेशबीजं, सकृद् "गणानान्त्वे"त्येवं चतुरावृत्तमहागणपतिमन्त्रं प्रजप्य यथोक्तां शुद्धमातृकां त्रिर्विन्यस्य अकचटतपयादिपूर्वान्नक्षादीनपि सप्त मुखदोः पद्युदरहृत्सु न्यस्येदिति ॥६३॥ ६४॥

स्वाहाद्यैरिति । विपरीतैः । "स्वाहा हृदयाय नमः" "सोहं शिरसे स्वाहा" इत्यादिप्रयोगः । *दिक्ष्विति* । छोटिकाभिः । भूयोऽनन्तरं षष्ठाङ्गादित्यर्थलभ्यम् । *हरिहराक्षरैरिति* । यथाश्रुतैः । तदुक्तम्—"जायाग्नेर्हृदयमथो शिरश्च सोहं हंसात्मा त्वथ च शिखा स्वयं च वर्म्म । ताराख्यं स मुदितमोक्षणं तथाऽस्त्रं प्रोक्तं स्याद्धरिहरवर्णमङ्गमेवे"ति । "हिहइति" केचित् ॥ ६५ ॥

तारादीति । तत्प्रसिद्धं परतेजः ब्रह्मानिशं सर्वदा भजत अन्येषां तेजसामेतद्व्याप्यत्वादस्य परत्वम् । *सान्द्रसुधाम्बुराशिमिति* । ध्यस्तरूपकं तेन पुंल्लिङ्गत्वदोषोऽपि न । "अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन्नि"तिवत् ॥ एतेनानन्दमयत्वं ध्वनितम् । अच्युतं-मविकारि । अविनश्वर-मविध्वंसि । समस्ताङ्गव्यापकं चित्-स्वप्रकाशज्ञानरूपं सत्-सत्तात्मकम् ।

सवित्समस्तगमनश्वरमच्युतं तत्तेजः परम्भजत सान्द्रसुधाम्बुराशिम् ॥६६॥

पञ्चभूतमया वर्णा वर्गेभ्यः प्रागुदीरिताः ।
तस्माज्ज्ञानेन्द्रियात्मानः प्रपञ्चं तन्मयं विदुः ॥ ६७ ॥
देहोऽपि तादृशस्तस्मिन्न्यसेद्वर्णान्विलोमतः ।
तत्तत्स्थानयुतान्मन्त्री जुहुयात् परतेजसि ॥ ६८ ॥
एवं वर्णमयं होमं कृत्वा दिव्यतनुर्भवेत् ।
न्यस्य मन्त्री यथान्यायं देहे विश्वस्य मातरम् ॥ ६९ ॥

"विद्धीदं सर्वं सत्तादि"ति । "विद्धीदं सर्वं प्रशस्यत" इति च श्रुतिः ॥ जगदेकमूलं-तत्परिणामरूपत्वाज्जगतः । मानैरगम्यम् "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इति श्रुतेः । अत एवाह—एतैः परिचीयमानम् । एतेषां जपेन लभ्यमित्यर्थः ॥ तत्र तारस्य पञ्चावयवस्य प्रलीनाशेषविकृतित्वात् देवीतारावयवानामपि तदवयवैरभेदानन्दप्रत्ययार्थपर्यवसायित्वात् । अजपात्ममन्त्रोरपि जीवपरमात्मतादात्म्यार्थत्वात् । पञ्चद्विठावयवानामपि सर्वत्रानुगतसंविदर्थत्वात् । *संहितायां तु* "प्रणवश्चित्कला ज्ञेया माया व्याप्तिस्वरूपिणी । हंसः पदेन देवेशि ! साक्षादात्मस्वरूपिणी ॥ तत्रत्यबिन्दुत्रितयात् सृष्टिस्थितिलयात्मिका । प्रसूता बिन्दुनाद्येन वामेयं ब्रह्मरूपिणी ॥ बिन्दुनाथ द्वितीयेन पालयन्ती जगत्त्रयम् । ज्येष्ठेयं वैष्णवी माया चाद्या सत्त्वगुणा प्रिये ॥ अन्त्येन बिन्दुना सर्वं रसन्ती तमसाऽऽवृता । रौद्री बिन्दुत्रयं देवि ! प्रसूते चाम्बिका तदा ॥ आत्मानं दर्शयेदेषा हंसाख्या संहृतिर्यदा । तदेयं दर्पणाकारा ततोज्योतिर्मयी भवेत् ॥ वर्णाभ्यां वह्निजायायाः परं ज्योतिरिति प्रिये ! ॥ एवं विचारयन्मन्त्री साक्षाद्ब्रह्म भवेत्तु स" इति । अत्र प्रपञ्चयागमूर्त्तेः पूजानोक्ता सा तन्त्रान्तरोक्ता । यथा—"मातृकामन्त्रसम्प्रोक्ते पीठे सल्लिपिपङ्कजे । प्रपञ्चयागमूर्त्तिं तु समावाह्य प्रपूजयेत् ॥ स्वरैराद्यावृतिः प्रोक्ता द्वितीया कादिमूर्त्तिभिः । तृतीया तु समुद्दिष्टा भारत्याद्यष्टशक्तिभिः ॥ चतुर्थी मातृभिः सार्द्धमसिताङ्गादिभैरवैः । वासवादिदिशां नाथैः पञ्चमीत्वायुधैः परे"ति ॥ ६६ ॥

प्रपञ्चयागं वक्ष्यामीत्युक्तं तत्र प्रपञ्च इज्यते हूयते यत्रेति प्रपञ्चयागः । तमेव होमप्रकारं वदन् न्यासान्तरमपि सूचयति—*पञ्चभूतेति* । *प्रागिति* । द्वितीये । *ज्ञानेन्द्रियात्मान* इत्युपक्षणं तेनाकाशवर्णाः ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मानः । वाय्वर्णाः तदर्थरूपाः । अग्निवर्णाः प्राणादिदशवायुरूपा इत्यप्यूह्यम् ॥ ६७ ॥

तादृशइति । पञ्चभूतमयस्तत्र वर्णान्न्यसेत् इति । तत्र प्रकारः पृथिव्या दशवर्णान् प्रपञ्चयागवदुच्चार्य तलादिजानुपर्यन्तं विन्यसेदेवमाकाशान्तम् । *विलोमत इति* । पुनराकाशादिवर्णांस्तत्र स्थानेषु भूमिपर्यन्तं विन्यसेत् । *तत्तदिति* । विपरीतन्यासे ध्यानम् । एवं ध्यानं कृत्वा विपरीतं न्यसेत् ॥ ६८ ॥

पूर्वोक्तं प्रपञ्चयागेऽप्यतिदिशति—*एवमिति* । तत्र प्रकारः "ओं ह्रीक्षंहंसः सोहं स्वाहा" इत्यन्तं विन्यसेत । तत्र क्षकारं तदधिष्ठातृदेवतां तत्तत्स्थाने च तदवच्छिन्ने चैतन्ये जुहोमि इति ध्यायन् । एवं संहारन्यासं कुर्यात् इति तात्पर्यार्थः । अयं साम्प्रयिकः पक्षः । तदुक्तम्—"आधारोत्था शक्तिबिन्दूत्थिता या वक्त्रे मूर्द्धे(?)न्दुप्रसन्त्याः प्रियायाः । क्षाद्यान्तार्णान् पातयेद्वह्निसोमप्रोतान्मन्त्री मुच्यते रोगजालै"रिति । एवमुक्तसर्वविधमातृकान्यासस्य मन्त्रान्तरादौ कर्त्तव्यतामाह—*न्यस्येति* । *मन्त्री यथान्यायमिति* अनेनैतदुक्तं भवति सर्वान्मातृकान्यासान् कर्तुमशक्तः शाक्ते कलामातृकादीन् । शैवे-श्रीकण्ठमातृकादीन् । वैष्णवे केशवमातृकादीन् । शुद्धप्रपञ्चयागमातृके सर्वत्र न्यसेदिति । तदुक्तं-"जपादौ सर्वमन्त्राणां विन्यासेन लिपेर्विना । कृतं तन्निष्फलं विद्यात्तस्मात्पूर्वं लिपिं न्यसेत" इति ।

जपेन्मन्त्रान्भजेद्देवान्यजेदग्निमनन्यधीः ।
द्रव्यैश्च जुहुयादग्नौ मन्त्रवित्तन्त्रचोदितैः ॥ ७० ॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधसमिधस्तिलाः ।
सिद्धार्थपायसाज्यानि द्रव्याण्यष्टौ विदुर्बुधाः ॥ ७१ ॥
अमीभिर्जुहुयाल्लक्षं तदर्द्धं वा समाहितः ।
सर्वान्कामानवाप्नोति परां सिद्धिं च विन्दति ॥ ७२ ॥
एभिरर्कसहस्राणि हुत्वा मन्त्री विनाशयेत् ।
रिपून्क्षुद्रग्रहान्भूतान् ज्वरांश्छापांश्च पन्नगान् ॥ ७३ ॥
मन्त्राणामयथावृत्तिप्रतिपत्तिसमुद्भवान् ।
विकारान्नाशयेदाशु होमोऽयं समुदीरितः ॥ ७४ ॥
एभिस्त्रिमधुरोपेतैर्जुहुयाल्लक्षमानतः ।
अचिरादेव स भवेत्साक्षाद्भूमिपुरन्दरः ॥ ७५ ॥

कादिमतेऽपि—"मातृकायाः षडङ्गं च मातृकान्यासमेव च । सर्वासां प्रथमं कृत्वा पश्चात्तन्त्रोदितं न्यसेत्" इति । *आचार्याश्च* "लिपिन्यासादिकान्साङ्गानि"ति । *नारायणीये च*—"अङ्गानि च न्यसेत सर्वे मन्त्राः साङ्गास्तु सिद्धिदा" इति । *अन्यत्रापि* । "रुद्रैर्युक्तां केवलां वा मनूनां कर्मारम्भे मातृकां विन्यसेद्यः । मन्त्रास्तस्य कुर्वते तस्य सिद्धिं पापैः सार्द्धं याति नाशं जरा चे"ति ॥ ६९ ॥

अनन्यधीरिति । अनेन मातृकापुटितत्वजपेन सिद्धिरुक्ता । तदुक्तम्—*कुलप्रकाशतन्त्रे*—"मन्त्री तु प्रजपेन्मन्त्रं मातृकाक्षरसम्पुटम् । क्रमोत् क्रमात् शतावृत्त्यामासात्सिद्धो भवेन्नरः ॥ मातृकाजपमात्रेण मन्त्राणां कोटिकोटयः । सुसिद्धाः स्युर्न सन्देहो यस्मात् सर्वं तदुद्भवमि"ति । *प्रयोगसारेऽपि*—"मातृकायां तु सिद्धायां सिद्धाः स्युर्मन्त्रजातयः । सर्वे मन्त्रा यतो मग्ना मातृकायामितस्ततः" इति । सर्वमातृकामन्त्राणां काम्यकर्माण्याह—*द्रव्यैरिति* द्रव्याण्याह—*अश्वत्थेति* ॥ ७० ॥ ७१ ॥

जुहुयाल्लक्षमिति । द्वादशसहस्राणि पञ्चशती एकैकेन द्रव्येण तदर्द्धंचेति षट्सहस्राणि पञ्चाशदधिका द्विशती एकैकेन द्रव्येण । *समाहित* इत्यनेन तस्याप्यर्द्धमिति सूचितम् । "मन्त्रीतदर्द्धमथवापि तदर्द्धकं च" इत्युक्तेः । तदा त्रिसहस्री सपादशतमेकैकेन द्रव्येण ॥७२॥

अर्कसहस्राणीति । तदा सार्द्धसहस्रमेकैकेन । *मन्त्रीति* अनेनैतदुक्तं विद्यादीनामल्पत्वमहत्त्वे विचार्य तद्द्विगुणं चतुर्गुणं वा होमः कार्य्य इति । उक्तं च—"द्वादशसहस्रमथवा तद्द्विगुणं वा चतुर्गुणं वाऽथ जुहुयादि"ति । तदा सहस्रत्रयं सहस्रषट्कं वैकेन । एवमुत्तरत्रापि । अत्यल्पत्वे एकादशशतावृत्त्यैत्यपि ज्ञेयम् । तदुक्तं—"एकद्विकत्रिकचतुष्कशताभिवृद्धया तां तां समीक्ष्य विकृतिं प्रजुहोतु मन्त्री"ति । *क्षुद्रं*-*नारायणीयोक्तं*—"स्तम्भद्वेषौ तथोत्साद उच्चाटोभ्रममारणे । व्याधिश्चेति स्मृतं क्षुद्रमि"ति ॥ ७३ ॥

प्रयोगान्तरमाह—*मन्त्राणामिति* । अयथावृत्तिर्वर्णानामन्यथोच्चारणम् । अप्रतिपत्तिरयं मन्त्रः फलदो नेति ज्ञानम् । तदुद्भवान् विकारान् । तत्र अयथावृत्तेर्विकारो वातकुष्ठादिः । अप्रतिपत्तेर्विकार उन्माद इति *नारसिंहे* प्रपञ्चितम् । तेन यथावृत्तिश्च प्रतिपत्तिश्च यथावृत्तिप्रतिपत्ती पश्चात्तया सम्बन्धः । *होमः समुदीरित इति* । सहस्रावृत्त्येति ज्ञेयम् । "शमयेदचिरात्सहस्रवृत्त्ये"त्युक्तेः ॥ ७४ ॥

त्रिमधुरोपेतैरेभिः अष्टभिः । पयोमधुघृतं त्रिमधुरम् । तदुक्तम्—"आज्यं क्षीरं मधु

अमोभिः साधको हुत्वा वश्यादीनपि साधयेत् ।
हुत्वा लक्षं तिलैः शुद्धैर्मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७६ ॥
पायसान्नेन जुहुयान्मन्त्री सर्वसमृद्धये ।
पद्मानां लक्षहोमेन महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥ ७७ ॥
घृतेन जुहुयाल्लक्षं प्राप्नुयात् कीर्तिमुत्तमाम् ।
जातीकुसुमहोमेन सर्वलोकं वशं नयेत् ॥ ७८ ॥
संशोधितैस्त्रिमध्वक्तैर्लवणैर्लक्षमानतः ।
जुहुयाद्गुलिकाः कृत्वा वशयेत्सर्वमञ्जसा ॥ ७९ ॥
लिखित्वा पत्रखण्डेषु मातृकार्णान्पृथक् पृथक् ।
अभ्यर्च्य जुहुयाद्वह्नौ तत्पत्रान्तरमुच्चरन् ॥ ८० ॥
अभिचारहरो होमः सर्वरक्षाप्रसिद्धिदः ।
सहस्रहोमे वितरेद्दक्षिणां निष्कमानतः ॥ ८१ ॥

तथा मधुरत्रयमुच्यत" इति । पयः स्थाने शर्करा वा ॥ ७५ ॥

*अमीभिः*अष्टभिः । *साधक* इत्यनेन लक्षार्द्धमब्दत्रयादर्वागित्युक्तम् । यदाहुः—"लक्षं तदर्द्धकं वा मधुरत्रयसंयुतैर्हुनेदेतैः । अब्दत्रयादथार्वाक् त्रिभुवनमखिलं वशीकुरुते" इति । *शुद्धैरिति* । अवकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य संशोषितैरित्यर्थः ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

जुहुयाल्लक्षमिति । सम्बध्यते । *होमेनेति* । लक्षमानत इति सम्बध्यते ॥ ७८ ॥

संशोधितैः स्त्यक्तावकरैः । लवणैर्गुलिकाः कृत्वेति सम्बन्धः । हुत्वा लक्षमित्यादिका संख्या महति कार्ये । "जुहुयाच्च कार्यगुरुतालाघवमभिवीक्ष्य योग्यपरिमाणमि"त्युक्तेः॥७९॥

लिखित्वेति । पत्रखण्डेषु तालपत्रादिखण्डेषु मातृकार्णान् पृथक्प्रत्येकं लिखित्वा पृथक्प्रत्येकमभ्यर्च्य अग्नौ मातृकापीठमिष्ट्वा तत्तन्मन्त्राक्षरमुच्चरन् जुहुयादिति सम्बन्धः । तत्र प्रत्यक्षरमृषिच्छन्दोदेवताशक्तिबीजान्युच्चार्य ध्यानं कृत्वा तेनैवाक्षरेण गन्धादि दद्यात् इत्यर्चनाक्रमः । तत्र ऋष्यादि यथा—"अर्जुन्यायनयो(१)मध्ये द्वौ भार्गवस्त्वौ प्रतिष्ठिका । अग्निवेश्यः सुप्रतिष्ठा त्रिशतोऽब्धिषु गौतमः ॥ गायत्री च भरद्वाज उष्णिगैकारके परे । लोहितायनकोऽनुष्टुप्वसिष्ठो बृहती द्वयोः ॥ माण्डव्यो दण्डकश्चापि स्वराणां मुनिछन्दसी । मौद्गायनश्च पङ्क्तिः के जस्त्रिष्टुप्(छ) द्वितये घङोः । योग्यायनश्च जगती गोपाल्यायनको मुनिः । छन्दोऽतिजगतीचेछेन्नषकः शक्वरी झजः । शक्वरीकाश्यपश्चातिशक्वरी झञयोष्टठोः ॥ शुनकोऽष्टिः सौमनस्योऽत्यष्टिडेकारणो धृतिः । ढणोर्लातव्यातिधृती सांकृत्यायनमः कृतिः ॥ त्रिषु कात्यायनस्तु स्यात्प्रकृतिर्नपफेषु वै । दाक्षायनाकृतो व्याघ्रायणोभे विकृतिर्मता ॥ शाण्डिल्यसंकृती मेऽथकाण्डल्यातिकृती यरोः । दाण्ड्यायनोत्कृतीलेऽथ ये जातायनदण्डकौ ॥ लात्यायनो दण्डकः शे षसहे, जयदण्डकौ । माण्डव्यदण्डकौ लक्षे कादीनामृषिछन्दसी ॥ एवमुक्ते देवताश्च श्रीकण्ठादय ईरिताः । बीजमस्याश्शक्तयस्तु पूर्णोदर्य्यादयोमताः" ॥ इति । ध्यानं पूर्वोक्तम् मदुक्तमनुसन्धेयम् ॥ ८० ॥

निष्केति । सुवर्णचतुष्कम् ॥ ८१ ॥

---

(१) एतदादिकः पाठः पुस्तकद्वयेऽप्यव्यक्तार्थ एवोपलब्ध इति प्रामाणिकपुस्तकमासाद्य सुधीभिः संशोधनीयः ।

अर्द्धं वा शक्तितोदद्याद्यथोक्तं फलमाप्नुयात् ।
अनया सप्त सञ्जप्तं पिबेत्प्रातर्दिने दिने ॥ ८२ ॥
सलिलं स भवेद्वाग्मी लभते कवितां पराम् ।
ब्राह्मीरस वचा कल्के पयसा विपचेद् घृतम् ॥ ८३ ॥
अयुतं मातृकाजप्तमर्चितं च विधानतः ।
पिबेत्प्रातः स मेधावी भवेद्वाक्पतिसत्तमः ॥ ८४ ॥
ब्राह्मीं सहस्रसंजप्तां वचां वा पयसा पिबेत् ।
स लभेन्महतीं मेधामचिरान्नात्र संशयः ॥ ८५ ॥

अनयेति । अयमत्र प्रयोगक्रमः । स्वयं देवता विग्रहो भूत्वा लिपिपद्मे जलमादाय बालादशाक्षरी अः(?) विपरीतदशाक्षरी वाला च । एवं क्षान्तं जप्त्वा क्षाद्यन्तमेवं सबिन्दुकं च पुनः सबिन्दुविसर्गमादिक्षान्तं च जप्त्वा भ्रूमध्ये अक्षराणां दीपशिखावद्धयालिं ध्यायन् पिबेदिति । वर्णानामास्यान्तरद्गमनम् आस्यात् श्वासाद्याकारेण निर्गमनं च ध्यायन् पुनर्हिःवारं पिबेदिति ॥ ८२ ॥

सलिलमिति। पूर्वेण सम्बध्यते । *भवेदिति*। अर्द्धमासत इति ज्ञेयम् । "अनेन मूकोऽपि कवित्वगर्वितः परां च सिद्धिं लभतेऽर्द्धमासत" इत्युक्तेः । *ब्राह्मीरसमिति* । अत्र वृत्ते जीवद्वत्सैकवर्णगोरेव ग्राह्यं दुग्धमपि तादृश्या एव । आयुर्वेदोक्तप्रकारेण च घृतपाकः । तत्र "कल्काच्चतुर्गुणःस्नेह" इति सामान्यतः स्नेहस्य चतुर्थभागः कल्क उक्तः । अत्र तथा स्वरसपाक इति कृत्वा स्नेहाष्टमांशः कल्कोग्राह्यः । तदुक्तं "स्नेहः सिध्यति शुद्धाम्बुनिःक्वाथः स्वरसैः क्रमात् । कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमसि"ति । अत्र ब्राह्मी रसः स्वरसः । तदुक्तं "संपिष्याद्वं वस्तु वस्त्रगालितं स्वरसं विदुरि"ति । *कल्क इति* । "कल्कः स्यादि पेषित" इति । तत्रायं क्रमः । प्रस्थमितं घृतं, पलद्वयमितः श्वेतवचाकल्कः घृताच्चतुर्गुणोब्राह्मीरसश्चतुर्गुणं क्षीरम् । "पञ्चप्रकृति यत्रस्युर्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ । तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणमि"त्युक्तत्वात् ॥ चतुर्गुणं जलं देयम् । "क्षीरदध्यारनालैस्तु पाको यत्रेरितः क्वचित् । चतुर्गुणं जलं तत्र वीर्याधानार्थमाचरेत" इति । पाकज्ञानं च "नाङ्गुलिग्राहिता कल्के न स्नेहोग्नेश्च शब्दता । वर्णादिसंपच्च यदा तदैनं शीघ्रमाहरेत् ॥"इति । *तथान्यत्र* "स्नेहस्य पाके कल्कस्तु वर्त्तितो वर्त्तिवद्भवेत्"इति। तथा "घृतस्य फेनोपशमस्तैलस्य च तदुद्भवः । स्नेहस्य तन्तुमत्ताप्सु मज्जनं तरणं नचे"ति। इदं घृतं पानार्थमिति । अत्र सम एव पाकः । तदुक्तं "स्नेहः पक्वो भवेत्सिद्ध्यै पाकः पाने भवेत्समः । खरोऽभ्यङ्गे मृदुर्नस्ये सामान्येयं प्रकल्पने"ति ॥ ८३ ॥

विधानत इति । ततो घृतं समुत्तार्य शीतलमयुतं जप्तं मातृकापीठं घृते विभाव्य मातृकोक्तविधानेन पूजितं पिबेदिति । *भवेदिति* संवत्सरादिति ज्ञेयम् । "कविर्भवति वत् सरत" इत्युक्तेः ॥ *तन्त्रान्तरेतु* विशेषः "पलं श्वेतवचाचूर्णं कर्षं तुरगगन्धि(१) च । कृष्णा(२) हरिद्रा सिन्धूत्थं(३) धात्री (१)द्विविश्वभेषजम् ॥ प्रतिनिष्कं तु संचूर्ण्य घृतप्रस्थे विनिःक्षिपेत् । ब्राह्मीरसे चतुःप्रस्थे पचेन्मृद्वग्निपाकवित् ॥ ब्राह्मी घृतमिदं प्रोक्तं अनयाऽयुतमन्त्रि-

---

(१) अश्वगन्धा (असगम्) ॥

(२) पिप्पली । "कृष्णोपकुल्या वैदेहीमागधी चपला कणा । उषणा पिप्पली शौण्डी कोला" इत्यमरः । केचित्तु जीरकमाहुः "कणा जीरक कुम्भीर मक्षिका पिप्पलीषु चे–"ति मेदिन्यां कणापर्याये पाठात् ॥ (३) सैन्धवं लवणम् ॥

पूर्वोक्तं पङ्कजं कृत्वा कुम्भं संस्थाप्य पूर्ववत्।
क्काथेन पूरयेन्मन्त्री यथावत् क्षीरशाखिनाम्॥ ८६॥
अष्टगन्धं विलोड्यास्मिन्नवरत्नसमन्विते।
आवाह्य पूजयेद्देवीं मातृकामुक्तमार्गतः॥ ८७॥
सहस्रसाधितैस्तोयैरभिषिञ्चेत्प्रियं नरम्।
भानुवारे शुभे लग्ने ब्राह्मणानपि भोजयेत्॥ ८८॥
गुरवे दक्षिणां दद्याद् भक्तियुक्तः स्वशक्तितः।
रक्षाकरं विशेषेण कृत्वा द्रोहोपशान्तिदम्॥ ८९॥
ऐश्वर्यजननं पुंसां सर्वसौभाग्यसिद्धिदम्।
अभिषेकमिमं प्राहुर्विश्वसंवननं (मोहनं) परम्॥ ९०॥
पूर्वोक्तं मण्डलं कृत्वा मन्त्री नवपदान्वितम्।
मध्यादि स्थापयेत्तेषु पदेषु कलशान्नव॥ ९१॥
तन्तुभिर्वेष्टितान् शुद्धान्वह्निश्चन्दनचर्चितान्।
सुधूपवासितान् मन्त्री दूर्वाक्षतसमन्वितान्॥ ९२॥
आपूर्य शुद्धतोयैस्तु (स्नान्) वेष्टयेदंशुकैस्तुतान्।
मुक्तामाणिक्यवैदूर्यगोमेदान्वज्रविद्रुमौ॥ ९३॥
पुष्परागं मरकतं गरुडोद्गारमेव च(१)।
उक्तानि नव रत्नानि तेषु कुम्भेषु निःक्षिपेत्॥ ९४॥
विष्णुकान्तामिन्द्रवल्लीं देवीं दूर्वाश्च निःक्षिपेत्।
स्थापयेत्कुम्भवक्त्रेषु कङ्कोलांश्चूतपल्लवान्॥ ९५॥

तम्। पिबेत् सूर्योपरागे तु सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात्॥ दिनादौ वा लिहेन्नित्यं पञ्चाशदभिमन्त्रितम्। वाग्विलासमसौ विन्देत् कविवृन्देषु सम्मतमि"ति॥ ८५॥

पूर्वोक्तमिति। मातृकापूजावसरोक्तम्। *पूर्ववदिति*। तुर्योक्तरीत्या। *क्काथेन* कषायेण। *यथावदिति*। चतुर्थांशावशिष्टेन। सबिन्दुकां मातृकां जपन् पूरयेदिति च। *क्षीरशाखिनामिति*। तत्त्वचामित्यर्थः॥ ८६॥

अष्टगन्धमिति। शाक्तम्। नवरत्नानि वक्ष्यन्ते॥ ८७॥

सहस्रसाधितैः। सहस्रसंख्यं संजप्तैरित्यर्थः। भानुवारे शुभेलग्ने तोयैरभिषिञ्चेदिति सम्बन्धः। मासमिति ज्ञेयम्। "पञ्चापि मासमि"त्युक्तेः। *नरमिति*। लिङ्गमविवक्षितम्। "नारी वन्ध्यापि नानाविधगुणनिलयं पुत्रवर्यं प्रसूते" इत्युक्तेः॥ ८८॥ ८९॥

संवननमिति। वश्यम्॥ ९०॥

नवपदान्वितमिति। नवनाभम्॥ ९१॥

शुद्धान् व्रणकालिमादिरहितान्। *सुधूपवासितानिति*। अन्तः। यथाक्रमात्॥ ९२॥ ९३॥

निःक्षिपेदिति। मध्यादितः सर्वत्र सर्वाणि॥ ९४॥

देवीमिति। सहदेवीं निःक्षिपेदिति सर्वत्र सर्वाः॥ ९५॥

---

(१) अत्र "नीलश्वेतियथाक्रमादि"ति पाठोऽपि क्वचित्॥

विन्यसेदक्षतोपेतांश्चषकांश्च फलान्वितान् ।
मध्येकुम्भं समाराध्य देवीं मन्त्री वृषादितः ॥ ९६ ॥
अर्चयेद्दिक्षु कुम्भेषु व्यापिन्याद्याः पुरोदिताः ।
वर्गमन्त्रयुताः प्रोक्तलक्षणाः सर्वसिद्धिदाः ॥ ९७ ॥
शर्करागृतसंयुक्तं पायसं च निवेदयेत् ।
स्पृष्ट्वा कुम्भान्कुशैर्विद्यां जपेत्साग्रंशतं शतम् ॥ ९८ ॥
अभिषिञ्चेद्विलोमेन साध्यं तं दक्षदक्षिणम् ।
सर्वपापक्षयकरं शुभदं शान्तिसिद्धिदम् ॥ ९९ ॥
कृत्याद्रोहादिशमनं सौभाग्यश्रीजयप्रदम् ।
पुत्रप्रदं च वन्ध्यानामभिषेकमिमम्विदुः ॥ १०० ॥
ज्वरार्त्तस्य पुरः स्थित्वा जपेत्साग्रं सहस्रकम् ।
ज्वरो नश्यति तस्याशु क्षुद्रभूतग्रहा अपि ॥ १०१ ॥
परतेजसि सञ्चिन्त्य शुभ्रं स्रुतसुधामयम् ।
विधुं विद्यां जपेद्योगी विषरोगविनाशकृत् ॥ १०२ ॥
वलीपलितरोगघ्नः क्षुत्पिपासाप्रणाशनः ।
पुष्टिदः सर्वसौभाग्यदायी लक्ष्मीशुभप्रदः ॥ १०३ ॥
सोमसूर्याग्निरूपाः स्युर्वर्णाः लोहत्रयं तथा ।
रौप्यमिन्दुः स्मृतो हेम सूर्यस्ताम्रं हुताशनः ॥ १०४ ॥
लोहभागाः समुद्दिष्टाः स्वराद्यक्षरसंख्यया ।
तैर्लोहैः कारयेन्मुद्रामसङ्कलितसङ्गताम् ॥ १०५ ॥

वृषा—इन्द्रः ; तदादितः पूर्वादितः । "वासवो वृत्रहा वृषे"ति कोशः ॥ ९६ ॥
दिक्षु कुम्भेषु ; इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ *वर्गेति* । वर्गाः अकाराद्या व्यस्तसमस्ता-स्त एव मन्त्रास्तद्युतास्तदाद्याः ॥ ९७ ॥
विद्यां मातृकां *साग्रम्* अष्टोत्तरम् । शतं शतमित्यनेन प्रतिकुम्भम् ॥ ९८ ॥
विलोमेनेति । ईशानादिस्थितैर्घटैरित्यर्थः । तदुक्तं *प्रयोगसारे* "पुनरन्तादिमध्या-न्तमभिषिञ्चेत्प्रियां स्त्रियमि"ति ॥ ९९ ॥ १०० ॥
क्षुद्रभूतग्रहाअपि । नश्यन्तीत्यनुषज्यते ॥ १०१ ॥
परतेजसि । सहस्रारकर्णिकास्थितपरमशिवे विधुं तत्रत्यमेव ॥ १०२ ॥ १०३ ॥
त्रिशक्तिमुद्रिकामाह—*सोमेति* । *लोहत्रयमिति* । "सर्वन्तु तैजसं लोहमि"त्युक्त-त्वात् रूप्यहेमताम्राणां लोहशब्देनाभिधानम् । *तथेति* सोमसूर्याग्निरूपमित्यर्थः । तदे-वाह *रौप्यमिन्दुरिति* ॥ १०४ ॥
स्वरादीति । रौप्यं १६ सुवर्णं २९ ताम्रं १० । केचित्तु वर्गाणां द्वादशकलात्मकत्वात् । सुवर्णभागा द्वादशेति वदन्ति । अयमेव पक्षः साम्प्रदायिकः । *शैवागमेऽपि* "ताम्रतार(१) सुवर्णानामर्कषोडशखेन्दुभिरि"ति । तत्रव्युत्क्रमेण संख्येति व्याख्यातम् । *असङ्कुलि-तेति* । असङ्कुलिता(२)ममिलिताम् । तत्र प्रकारः । तत्तद्भागमितस्य लोहत्रयस्य मुद्रिका-त्रयं कृत्वा पश्चात्संयोजयेदिति ॥ १०५ ॥

---

(१) तारं—रौप्यम् ॥ (२) अत्र पूर्वकालैकेतिसमासः । स्नातानुलिप्तवत् ॥

साष्टं सहस्रं संजप्य स्पृष्ट्वा तां जुहुयात्ततः ।
तस्यां सम्पातयेन्मन्त्री सर्पिषा पूर्वसंख्यया ॥ १०६ ॥
निःक्षिप्य कुम्भे तां मुद्रामभिषेकोक्तवर्त्मना ।
आवाह्य पूजयेद्देवीमुपचारैः समाहितः ॥ १०७ ॥
अभिषिच्य विनीताय दद्यात्तां मुद्रिकां गुरुः ।
इयं रक्षः क्षुद्ररोगविषज्वरविनाशिनी ॥ १०८ ॥
व्यालचौरमृगादिभ्यो रक्षां कुर्याद्विशेषतः ।
युद्धे विजयमाप्नोति धारयन्मनुजेश्वरः ॥ १०९ ॥
विभजेन्मातृकां मन्त्री नव वर्गान्यथाक्रमात् ।
अष्टावष्टौ स्वराः स्पर्शाः पञ्चशो व्यापका अपि ॥ ११० ॥
नव वर्गाः समुत्पन्ना नवरत्नेश्वरा ग्रहाः ।
अर्केन्दुरक्तज्ञगुरुभृगुमन्दाहिकेतवः ॥ १११ ॥
माणिक्यं मौक्तिकं चारु विद्रुमं गारुडं पुनः ।
पुष्परागं लसद्वज्रं नीलं गोमेदिकं शुभम् ॥ ११२ ॥
वैदूर्यं नव रत्नानि मुद्रान्तैः कल्पयेच्छुभाम् ।
जपहोमादिकं सर्वं कुर्यात्पूर्वोक्तवर्त्मना ॥ ११३ ॥

साष्टमिति । अष्टाधिकम् । *संजप्येति* । "मातृकामि"ति शेषः । ततो मन्त्री पूर्वसंख्यया अष्टोत्तरसहस्रमितया सर्पिषा जुहुयादिति सम्बन्धः । *तस्यां संपातयेदिति* । संपातो नाम स्रुवस्थाहुतिशेषाज्यस्य प्रत्याहुतिमुद्रिकायां पातः ॥ १०६ ॥

अभिषेकोक्तेति एककलशप्रोक्तेन । *आवाह्येति* । कुम्भे ॥ १०७ ॥

अभिषिच्येति । साध्यम् ॥ १०८ ॥

व्यालः । सर्पः । मृगोव्याघ्रः ॥ १०९ ॥

नवरत्नमुद्रिकामाह—*विभजेदिति* । मन्त्रीत्यनेन नवग्रहन्यासोऽपि सूचितः । तत्र प्रकारः । स्वरानुक्त्वा "सोममण्डलाय नमः" इति मूर्द्धादि गलपर्यन्तं कादिमान्तमुच्चार्य "सूर्यमण्डलाय नम" इति गलादि हृदयान्तम् । याद्यानुक्त्वा "वह्निमण्डलाय नम" इति हृदयादि पादान्तं व्यापकं न्यसेदिति मण्डलत्रयन्यासः । आदिठान्तमुक्त्वा "सोममण्डलाय नम" इति मूर्द्धादि हृदयान्तं, डादिक्षान्तमुक्त्वा "अग्निमण्डलाय नम" इति हृदयादि पादान्तं न्यसेदित्यग्नीषोमन्यासः । आदिक्षान्तमुक्त्वा "हंसः पुरुषात्मने नम" इति व्यापकत्वेन न्यसेत् इति हंसन्यासः । एते न्यासा *यथाक्रमादिति* पदेन सूचिताः । ततः "अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं सूर्याय भगवते नम" इत्यादि क्रमेण केत्वन्तं विन्यस्य पुनः प्रथमोक्तन्यासत्रयं वैपरीत्येन कुर्यादिति ग्रहन्यासः । तत्र शेषाष्टस्वरैः सोमः । कवर्गेणाङ्गारकः । चवर्गेण बुधः । टवर्गेण बृहस्पतिः । तवर्गेण शुक्रः । पवर्गेण शनैश्चरः । यवर्गेण राहुः । शवर्गेण केतुः ॥ अयमत्र न्यासक्रमः । स्थानानि तु मूलाधार लिङ्ग नाभि हृदय गल लम्बिका भ्रूमध्य ललाट ब्रह्मरन्ध्राणीति । व्यापका यकाराद्याः । *अपीति* अपिशब्दात्तत्रत्यश इत्यत्राप्यन्वेति ॥ ११० ॥

ग्रहक्रममाह *अर्केति* रक्तोमङ्गलः । ज्ञोबुधः । मन्दः शनैश्चरः । अहिः राहुः ॥ १११ ॥

चार्विति अनेनातिलोहितप्रवालस्य ग्रहणमुक्तम् । *लसदिति* अनेन षट्कोणवज्रस्यैव ग्रहणमुक्तम् ॥ ११२ ॥

यो मुद्रां धारयेदेनां तस्य स्युर्वशगा ग्रहाः ।
वर्द्धते तस्य सौभाग्यं लक्ष्मीरव्याहता भवेत् ॥ ११४ ॥
कृत्याद्रोहा विनश्यन्ति नश्यन्ति सकलापदः ।
रक्षोभूतपिशाचाद्या नेक्षन्ते तं भयाकुलाः ॥ ११५ ॥
उपर्युपरि वर्द्धन्ते धनरत्नादिसम्पदः ॥ ११६ ॥
तार्तीयोज्ज्वलकाणकं स्वरयुगैराविर्भवत्केसरम्
वर्गोद्भासिवसुच्छदं वसुमतीगेहेन संवेष्टितम् ।
ताराधीश्वरवारिवर्णविलसद्दिक्कोणसंशोभितम्
यन्त्रं वर्णतनोः पदं निगदितं सर्वाभयघ्नं परम् ॥ ११७ ॥
इति श्रीशारदातिलके षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥ * ॥

अथ भूतलिपिं वक्ष्ये सुगोप्यमतिदुर्लभम् ।
यां प्राप्य शम्भोर्मुनयः सर्वान्कामान्प्रपेदिरे ॥ १ ॥
पञ्च ह्रस्वाः सन्धिवर्णा व्योमेराग्निजलन्धरा ।
अन्त्यमाद्यं द्वितीयं च चतुर्थं मध्यमं क्रमात् ॥ २ ॥
पञ्च वर्गाक्षराणि स्युर्वान्तश्वेतेन्दुभिः सह ।
एषा भूतलिपिः प्रोक्ता द्विचत्वारिंशदक्षरैः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तवर्त्मनेति । पूर्वमुद्रोक्तप्रकारेण ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

धारणयन्त्रमाह *तार्तीयेति* । तार्तीयं पूर्वोक्तकर्णिकाबीजम् । *ताराधीश्वरः* (१)उकार आकारसाम्यात् । गौडलिपौ तादृक् स्वरूपस्य लिखितत्वात् । *वारिवर्णः* वकारः । ताभ्यां विलसन्तौ यौ दिक्कोणौ ताभ्यां संशोभितं, तेनात्र पूर्वयन्त्रादयमेव विशेषः । उक्तं *कादिमते* "दावाम्बुदिग्विदिक्षु चे"ति । आचार्यैः पूर्वोक्तं पूजायन्त्रमेव धारणयन्त्रमुक्तम् । इदमपि पद्यं कैश्चित्तदनुसारेण व्याख्यायते—विनालसन्तौ युक्तौ यौ दिक्कोणौ ताभ्यां संशोभितं तेन विदिक् विकोण इति जातम् । ततो विदिक्षु ठकारः । विकोणशब्देन दिश उच्यन्ते । ततोदिक्षु वकार इत्यर्थः । *तदुक्तमाचार्य्यैः* "क्ष्माबिम्बेन च सप्तमार्णयुजास्त्याशासु संवेष्टितं वर्णाब्जं शिरसि स्मृतं विषगदप्रध्वंसि मृत्युञ्जयमि"ति ॥ ११७ ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां षष्ठः पटलः ॥६॥*॥

श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ मातृकाविशेषं भूतलिपिमन्त्रमाह—*अथेति* । शम्भोः सकाशाद्यां प्राप्येत्यन्वयः । सर्वान्कामानित्यनेन विनियोग उक्तः ॥ १ ॥

मन्त्रमुद्धरति *पञ्चेति* । पञ्चह्रस्वाः । अइउऋऌप्रथमो वर्गः । सन्धिवर्णाः एऐओऔ द्वितीयः । व्योम हः ईरो यः । अग्नीरः । जलं वः । धरा लः । अयं तृतीयः । पञ्चवर्गाक्षराणां क्रममाह—*अन्त्यमिति* । अन्त्यंङं आद्यं कः । द्वितीयं खः । चतुर्थं घः । मध्यमं गः । अयंक्रमोग्रेऽपि चतुष्टुं । एवं वर्गाष्टकम् ॥ २ ॥

वान्तं शः । *श्वेतः* षः । श्रीकण्ठादिपाठात् । *इन्दुः* सः । अयं नवमः ॥ ३ ॥

(१) अ–उ–म् । इति वर्णत्रयमध्यस्थत्वात् इति वयम् ॥

आयस्वराणां वर्गाणाः पञ्चमाः शार्णसंयुताः ।
वर्गाद्या इति विज्ञेया नव वर्गाः स्मृता अमी ॥ ४ ॥
व्योमेराग्निजलक्षोणी वर्गवर्णान्पृथक् विदुः ।
द्वितीयवर्गे भून्नं स्यान्नवमेऽन जलं धरा ॥ ५ ॥
विरिञ्चिविष्णुरुद्राग्निप्रजापतिदिगीश्वराः ।
क्रियादिशक्तिसहिताः क्रमात्स्युर्वर्गदेवताः ॥ ६ ॥
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्तिर्गायत्रं छन्द ईरितम् ।
देवता कथिता सद्भिः साक्षाद्वर्णेश्वरी परा ॥ ७ ॥
हादिषड्वर्गकैः कुर्यात्षडङ्गानि सजातिभिः ।
ध्यायेल्लिपितरोर्मूले देवीं तन्मयपङ्कजे ॥ ८ ॥
वदन्ति सुधियोवृक्षं नित्यं वर्णमयं शुभम् ।
परसम्बिन्महाबीजं बिन्दुनादमहाशिफम् ॥ ९ ॥
पृथिव्यक्षरशाखाभिः सर्वाशासु विजृम्भितम् ।
सलिलाक्षरपत्रैःस्वैस्सञ्छादितजगत्त्रयम् ॥ १० ॥
वह्निवर्णाङ्कुरैर्दीप्तं रत्नैरिव सुदुद्रुमम् ।
मरुद्वर्णै लसत्पुष्पैर्द्योतयन्तं वपुः श्रियम् ॥ ११ ॥
आकाशार्णफलैर्नम्रं सर्वभूताश्रयं परम् ।
परामृताख्यमधुभिस्सिक्तं परमेश्वरीम् ॥ १२ ॥

नववर्गाद्यक्षराण्याह—*आयस्वराणां इति* । अश्च ए च अस्वराणंश्च इति द्वन्द्वः । तत्र अए अनयोः "वृद्धिरेची"ति वृद्धौ कृतायां ऐ ततोऽमित्यस्मिन्परतः "एचोऽयवायाव" इति आयि कृते आयस्वराणां इति सिध्यति । अस्वराणांहः । *वर्गाणाः* । अकचटतपयशाः ॥४॥

वर्गवर्णानां भूतात्मकतामाह—*व्योमेति* । पृथक् प्रत्येकं नववर्गाणां प्रथमादयो वर्णा व्योमादिरूपा इत्यर्थः । क्वचिन्नव वर्णान् पृथक्विदुरिति पाठः । तत्र नवेति वीप्सा ज्ञेया । पृथक् प्रत्येकं व्योमवाय्वादिरूपान्नव वर्णान् विदुरिति योजना । तत्रान्त्ययोः सप्ताष्टाक्षरात्मकत्वात् कथं नववर्णत्वमित्यत आह—प्रथमपाठे प्रत्येकं वर्गवर्णानां पञ्चभूतात्मकत्वमुक्तं तत् द्वितीयनवमयोर्नघटत इत्यत आह—*द्वितीयेति* । उभयत्रोभयसम्भवाभिप्रायमिति भावः । द्वितीयवर्गस्य चतुरक्षरात्मकत्वात् । अन्त्यं भ्वात्मकमक्षरं नास्ति नवमस्य त्रिवर्णात्मकत्वादुभयोरभावः ॥ ५ ॥

नववर्गदेवता आह—*विरिञ्चीति* । *दिगीश्वराः* । इन्द्र यम वरुण सोमाः । सव कीदृशाः ? क्रियादिशक्तिसहिताः । त्रिरावृत्तक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिभिरुपेताः । केचित्तु दिगीश्वर इत्येकः क्रियाशक्त्यादयस्तिस्र इति नव देवता इच्छन्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥

हादीति । तृतीयवर्गेण हृदयम् । एवमन्यैरष्टमान्तैरन्यानि । "हं यं रं वं लं हृदयाय नमः" इत्यादि प्रयोगः । *ध्यायेदिति* । तन्मयपङ्कजे-वर्णाब्जे ॥ लिपितरोरित्युक्तं तत्स्वरूपमाह—*नित्यमिति* । वैयाकरणभाट्टमते वर्णानान्नित्यत्वात् । परसम्बित् कुण्डलिनी । परब्रह्मेति कश्चित् । शिफा मूलं, नित्यमित्युक्तं चेत्तस्य कथं बीजादुत्पत्तिः ? अभिव्यञ्जकत्वेन बीजवदुपचर्यते ॥ ९ ॥

स्वैरिति । अनेन द्वितीयोक्तभूतवर्णनिरासः । इदं पृथिव्यादिष्वपि योज्यम् ॥ १२ ॥

वेदागमादिभिः क्लृप्तं समुन्नतिमनोहरम् ।
शिवशक्तिमयं साक्षाच्छाया श्रितजगत्त्रयम् ॥ १३ ॥
एनमाश्रित्य मुनयः सर्वान्कामानवाप्नुयुः ॥ १४ ॥
अङ्कोन्मुक्तशशाङ्ककोटिसदृशीमापीनतुङ्गस्तनीम्
चन्द्रार्द्धाङ्कितमस्तकां मधुमदादालोलनेत्रत्रयाम् ॥
बिभ्राणामनिशं वरं जपवटीं विद्यां कपालं करै-
राढ्यां यौवनगर्विताां लिपितनुं वागीश्वरीमाश्रये ॥ १५ ॥
आधारदेशेऽधिष्ठाने नाभौ हृदि गले पुनः ।
बिन्दौ नादे ततः शक्त्यां शिवे देशिकसत्तमः ॥ १६ ॥
नवाधारेषु विन्यस्य स्वरान्नव यथाविधि ।
हादिवर्णांस्तनौ न्यस्येन्मुखे ऊर्ध्वादितः सुधीः ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वमाहेन्द्रयाम्योदक्पश्चिमेषु समाहितः ।
दोः पत्सु पञ्चवर्गाणां वर्णान्देशिकसत्तमः ॥ १८ ॥
अग्रमूलोपमूलाग्रमध्यदेशक्रमेण तु ।
जठरे पार्श्वयुगले नाभौ पृष्ठे समाहितः ॥ १९ ॥
गुह्यहृद्भ्रूबिले न्यस्येत् शादिवर्णत्रयं क्रमात् ।
सृष्टौ सर्गावसाना स्यात्स्थितौ वह्निमरुत्पयः ॥ २० ॥
वियद्भूमिक्रमान्न्यस्येद्बिन्दुसर्गावसानिकाम् ।

वेदागमेति । एतद्रूपेण वृक्षस्योच्चत्वमित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

ध्यायेदित्युक्तं ध्यानमाह—*अङ्कइति* । अङ्कः कलङ्कः(१) । तेन उन्मुक्तस्त्यक्तः । आयुधध्यानं—वामाद्यधस्तनयोराद्ये, तदूर्ध्वयोरन्त्ये । अन्ये तूर्ध्वादि दक्षे आद्ये परे वामे इत्याहुः ॥ १५ ॥

आधारदेशे । गुदमेढ्रान्तराले । *अधिष्ठाने-*लिङ्गे । बिन्दौ-भ्रूमध्ये । नादे केशान्ते । शक्त्यां-तदूर्ध्वदेशे । शिवे द्वादशान्ते नवाधारेषु । *यथाविधीति* । अनेन तत्तदाधारभावनां कृत्वेत्युक्तं भवति । अतएव आधारेत्याद्युक्त्वापि पुनर्नवाधारेष्वित्युक्तिः । आधारभावना अन्त्यपटले वक्ष्यते । *देशिकसत्तम* इत्यनेन वर्णानां सबिन्दुकत्वमुक्तम् ॥ १६ ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वादि इति यदुक्तं तदेव विवृणोति *ऊर्ध्वमिति* । स्वस्यैव (ऊर्ध्वमुख)कल्पनया न्यास इति सुधीरित्यनेनोक्तम् *समाहित इति* । अनेन वर्णानां सबिन्दुत्वमुक्तम् । *दोः पदिति* । देशिकसत्तमः अग्रमूलोपमूलाग्रमध्यदेशक्रमेण दोः पत्सु जठरादिपृष्ठान्तेषु पञ्चवर्गाणां वर्णान् न्यसेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । मूलं च अग्रञ्च मूलाग्रे तयोः समीपमुपमूलाग्रम् । अग्रं च मूलं च उपमूलं च अग्रं च मध्यदेशश्चेति विग्रहः । अग्रमङ्गुल्यन्तः मूलमंसोरुमूले । उपमूलं-कूर्परजानुनी । उपाग्रं करपादाङ्गुलिप्रथमसन्धिः । मध्यदेशो मध्यसन्धिर्मणिबन्धगुल्फे । समाहित इत्युत्तरेण सम्बध्यते । *देशिकसत्तम* इत्यनेन वर्णानां सबिन्दुत्वमुक्तम् । *समाहितः* इत्यनेन वर्णानां सबिन्दुत्वमुक्तम् । *भ्रूबिले* भ्रूमध्ये । *क्रमादिति* स्वरादिषु सर्वत्र सम्बध्यते । तत्र एतन्मन्त्रोक्तक्रमादित्यर्थः । *सृष्टाविति* सविसर्गावसाना "भूतलिपिरि"ति शेषः ।

---

(१) "कलङ्काङ्कौ" इत्यमरः ॥

संहृतौ प्रतिलोमेन विन्यसेद्बिन्दुभूषिताम् ॥ २१ ॥
आगमोक्तेन मार्गेण दीक्षितः साधकोत्तमः ।
लक्षं न्यसेज्जपेत्तावदयुतं जुहुयात्तिलैः ॥ २२ ॥
पूजयेदन्वहं देवीं पीठे प्रागीरिते सुधीः ।
वर्णाब्जेनासनं दद्यान्मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ २३ ॥
देवीं सम्पूजयेत्तस्यामङ्गाद्यावरणान्यजेत् ।
आदावङ्गावृतिः पश्चादम्बिकाद्याभिरीरिता ॥ २४ ॥
द्वितीया मातृभिः प्रोक्ता तृतीया ह्यष्टशक्तिभिः ।
चतुर्थी पञ्चमी प्रोक्ता द्वात्रिंशच्छक्तिभिः पुनः ॥ २५ ॥
चतुः षष्ट्या स्मृता षष्ठी शक्तिभिर्लोकनायकैः ।
सप्तमी पुनरेतेषामस्त्रैः स्यादष्टमावृतिः ॥ २६ ॥
एवं पूज्या जगद्धात्री श्रीभूतलिपिदेवता ।
स्थानेषु तेषु विधिवदभ्यर्च्याङ्गानि पूर्ववत् ॥ २७ ॥

स्थितौ बिन्दुसर्गावसानिकां तां क्रमान्न्यसेदिति सम्बन्धः । कः क्रम इत्यपेक्षायामाह—वह्नीति* । तत्र वह्न्यादीनामेकैकं वर्णं विन्यस्य पुनस्तेनैव क्रमेण न्यसेत् । तत्रायं क्रमः उं: इं:(१)लृं: ओं: एं: औं: एं: इत्यादि ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

आगमोक्तेन । कुलप्रकाशतन्त्रप्रोक्तेन । दीक्षितः । *तावदिति* । लक्षं, तत्र एको न्यास एका आवृत्तिश्चेति क्रम इति साधकोत्तम इत्यनेनोक्तम् ॥ २२ ॥

पूजयेदिति । अत्र कश्चित् प्रागीरिते पीठ इत्युक्तेरष्टपत्र एव षोडशशक्तीनां द्विरावृत्त्या, द्वात्रिंशन्मितानां चतुरावृत्त्या, चतुः षष्टिमितानामष्टावृत्त्या, पूजनमन्यथा पीठेप्रागीरित इति व्याहन्येतेत्युवाच । तदसाम्प्रदायिकं, तेषां मते अष्टावृत्तित्वं व्याहन्येत । आवृत्तिर्नाम सर्वत आवरणत्वेन पूजनम् । तदेकधाष्टशक्तिपूजनेनैव जातं, तदतिरिक्तद्वितीयावृत्तिश्चेत् पूज्यते आवृत्त्यन्तरमेव भवति नतु तस्यास्तत्रान्तर्भावः । मन्त्रान्तरेषु नच दृष्टपूर्वम् । सांप्रदायिकपक्षे तु पीठे प्रागीरित इत्यस्यायमर्थः—प्रागुक्तपीठशक्तिपीठमन्त्रानत्रापि पूजयेदिति । इदं सर्वत्रानुसन्धेयम् । तथाच ग्रन्थकृत् महागणपतिपूजावसरे वक्ष्यति—"प्रागुक्ते पूजयेत्पीठे" इति । तत्र यदि पूर्वोक्तमेकाक्षरगणपतिनिर्दिष्टमष्टदलमात्रं पीठं गृह्यते तदा या षट्कोणादिषु पूजा वक्ष्यते साऽनुपपन्ना स्यात् । ध्याने च त्रिकोणषट्कोणमातृकाम्बुजं यत्पीठमुक्तं तदप्यसंगतं स्यात् । यत्तूच्यते प्रागुक्ते पीठ इति ध्यानोक्त इत्यर्थ इति । तदा पीठशक्तिपीठमन्त्रपूजाप्रापकवचनाभावात् पूजा न स्यादेवेत्यलम् । तेनात्राष्टदलं भूपुरं चतुर्द्वारं च कृत्वा तत्र प्रागुक्ताः पीठशक्तीः सम्पूज्य वर्णाब्जेनासनं दत्त्वा मूर्त्तिं मूलेन सङ्कल्प्य तत्र देवीमभ्यर्च्य केसरेषु यथापूर्वमङ्गानि चाभ्यर्च्य तदुपरि दिग्दलेषु चतस्रोऽम्बिकाद्याः तदग्रे ब्राह्म्याद्याः, षोडशदलादिषु करालयाद्याः पूजयेत् इति । *वर्णाब्जेनेति" । "ह्सौः वर्णाब्जाय भूतलिपियोगपीठाय नमः" इति प्रयोगः ॥ २३ ॥

तस्यां मूर्त्तौ । अङ्गादीत्यादिशब्दं विवृणोति—*आदावित्यादि* । अङ्गावृतेः पूजास्थानमाह—*स्थानेष्विति* ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

उक्तेषु चतुर्थोक्तेषु । विधिवदित्युक्तध्यानानि । अम्बिकाद्येत्यादिशब्दं विवृणोति—

(१) अत्र अं: अं: इत्यधिकोऽन्यत्र पठ्यते ।

अम्बिका शाम्भवी दुर्गा श्रीशक्तिश्चोक्तलक्षणाः ।
ब्राह्म्याद्याः पूर्ववत् प्रोक्ताः कराली विकरालयुता ॥ २८ ॥
सरस्वती श्रीदुर्गोषा लक्ष्मीश्रुत्यौ स्मृतिर्धृतिः ।
श्रद्धा मेधा मतिः कान्तिरार्या षोडशशक्तयः ॥ २९ ॥
खड्गखेटकधारिण्यः श्यामाः पूज्याः स्वलङ्कृताः ।
विद्या ह्री पुष्टयः प्रज्ञा सिनीवाली कुहूः पुनः ॥ ३० ॥
रुद्रा वीर्या प्रभा नन्दा स्याद्घोषा ऋद्धिदा शुभा ।
कालरात्रिर्महारात्रिर्भद्रकाली कपर्दिनी ॥ ३१ ॥
विकृतिर्दण्डिमुण्डिन्यौ सेन्दुखण्डा शिखण्डिनी ।
निशुम्भशुम्भमथिनी महिषासुरमर्दिनी ॥ ३१ ॥
इन्द्राणी चैव रुद्राणी शङ्करार्द्धशरीरिणी ।
नारी नारायणी चैव त्रिशूलिन्यपि पालिनी ॥ ३३ ॥
अम्बिका ह्लादिनी चैव द्वात्रिंशच्छक्तयः स्मृताः ।
चक्रहस्ताः पिशाचास्याः सम्पूज्याश्चारुभूषणाः ॥ ३४ ॥
पिङ्गलाक्षी विशालाक्षी समृद्धिर्वृद्धिरेव च ।
श्रद्धा स्वाहा स्वधाऽभिख्या माया संज्ञा वसुन्धरा ॥ ३५ ॥
त्रिलोकधात्री सावित्री गायत्री त्रिदशेश्वरी ।
सुरूपा बहुरूपा च स्कन्दमाताऽच्युतप्रिया ॥ ३६ ॥
विमला चामला पश्चादरुणी पुनरारुणी ।
प्रकृतिर्विकृतिः सृष्टिः स्थितिः संहृतिरेव च ॥ ३७ ॥

पूजयेदिति । आसां ध्यानं स्वस्वप्रकरणेऽनुसन्धेयम् । मातृकापूजास्थानमाह—*उक्तेति* । *उक्तलक्षणाः* । प्राक्पटलोक्तध्यानाः । *पूर्ववदिति* । पूर्वोक्तस्थानेषु ॥ २७ ॥

इयष्टशक्त्यादिशब्दान् विवृणोति *करालीति* ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

रुद्रावीर्येति पाठस्तेन रुद्रा सप्तमी, वीर्याऽष्टमी प्रभा नवमी । नन्दा दशमी । शुभेति विशेषणञ्च शक्तिनाम । तदुक्तं *संहितायां*—"रुद्रा वीर्या प्रभा नन्दा घोषिणी ऋद्धिदा तथे"ति ॥ ३१ ॥

दण्डिमुण्डिन्याविति । दण्डिनी मुण्डिनी इति शक्तिद्वयम् । "विकृतिर्दण्डिनीचैवे" त्युक्तेः । निशुम्भमथिनीत्येका ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

सम्पूज्या इति । षोडशपत्राग्रतत्सन्धिषु । तदुक्तं *संहितायां* । "पूर्वादिक्रमतः पूज्या दलाग्रेषु च सन्धिष्वि"ति ॥ ३४ ॥

स्वधेति स्वधा अभिख्या यस्याः । मायेति संज्ञा यस्याः सा इति विग्रहः । तथा चाचार्यो "मायाभिख्या वसुन्धरे"ति । *अन्यत्रापि* "श्रद्धा स्वाहा स्वधाऽऽख्या च मातृका च वसुन्धरे"ति ॥ ३५ ॥

स्थितिः संहृतिरेवचेति अत्र "संस्थितिः स्थितिरेवचे"ति क्वचित्पाठः । अयमेव साम्प्रदायिकः ॥ ३७ ॥

सन्ध्या माता सती हंसी मर्द्दिका कुब्जिका ऽपरा(१) ।
देवमाता भगवती देवकी कमलासना ॥ ३८ ॥
त्रिमुखी सप्तमुख्यान्या सुरासुरविमर्दिनी ।
लम्बोष्ठी चोर्ध्वकेशी च बहुशीर्षा वृकोदरी ॥ ३९ ॥
रथरेखाह्वया पश्चाच्छशिरेखा तथाऽपरा ।
गगनवेगा पवन-वेगा च तदनन्तरम् ॥ ४० ॥
ततोभुवनपालाख्या ततः स्यान्मदनातुरा ।
अनङ्गाऽनङ्गमदना तथैवानङ्गमेखला ॥ ४१ ॥
अनङ्गकुसुमा विश्वरूपाऽसुरभयङ्करी ।
अक्षोभ्यासत्यवादिन्यौ वज्ररूपा शुचिव्रता ॥ ४२ ॥
वरदाख्या च वागीशा चतुःषष्टिः समीरिताः ।
चापबाणधरा सर्वा ज्वालाजिह्वाः समीरिताः ॥ ४३ ॥
दंष्ट्रिण्यश्चोर्ध्वकेश्यस्ता युद्धोपक्रान्तमानसाः ।
सर्वाभरणसंदीप्ताः पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥ ४४ ॥
लोकेशाः पूर्ववत्पूज्या स्तद्वद्वज्रादिकान्यपि ।
इत्थं यः पूजयेन्मन्त्री श्रीभूतलिपिदेवताम् ॥ ४५ ॥
श्रीवाण्योः स भवेद्भूमिर्देवैरप्यभिवन्द्यते ।
कमलैरयुतं हुत्वा राजानं वशमानयेत् ॥ ४६ ॥
उत्पलैर्जुहुयाद्यद्वन्महालक्ष्मीः प्रजायते ॥
पलाशकुसुमैर्हुत्वा वत्सरेण कविर्भवेत् ॥ ४७ ॥
राजी-लवणहोमेन वनितां वशमानयेत् ।
मातृकोक्तानि कर्म्माणि कुर्यादत्रापि साधकः ॥ ४८ ॥
भूतलिप्या पुटीकृत्य योमन्त्रं भजते नरः ।
क्रमोत्क्रमाच्छतावृत्या तस्य सिद्धो भवेन्मनुः ॥ ४९ ॥

परेति । शक्तिनाम ॥३८ ॥

सुरेस्येका । असुरविमर्द्दिनीति अपरा । तदुक्तं "सप्तममुख्यथ सुरा तथाऽसुरविमर्दिनी"ति ॥ ३९ ॥

तथा अपरेति । शक्तिनाम । तदनन्तरं पवनवेगेति सम्बन्धः ॥ ४० ॥ ४१ ॥

असुरभयङ्करीति पदच्छेदः । अक्षोभ्याच सत्यवादनीचेति विग्रहः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

पूजनीयाः प्रयत्नत इति । चतुरस्रान्तरमादिप्रादक्षिण्येन । तदुक्तं *संहितायाम्* "एताः पार्श्वेऽस्तु पूजयेत् । प्रादक्षिण्यक्रमेणैवे"ति ॥ ४४ ॥

पूर्ववदिति । तुर्योक्तवत् । तदुक्तं *संहितायाम्* "तद्बहिर्लोकपालांश्च भूबिम्बे पूजयेत्प्रिये" इति । *तद्वदिति* । चतुर्थोक्तवत् । तद्वदित्यनुक्तम् । उत्तरप्रयोगद्वये ऽप्ययमेव संख्या मन्त्रान्तरस्यापि ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

अनयैव सिद्धिमाह *भूतेति* । क्रमोत्क्रमात् पुटीकृत्येत्यन्वयः । *सिद्धोभवेन्मनु-

---

(१) अत्र "परदेवते" ति मुद्रितपुस्तके पाठः ।

सुषुप्तभुजगाकारां कुण्डलीमध्यवर्त्मना ।
संगमय्य परंस्थानं प्राणवित्तां परामृतैः ॥ ५० ॥
प्लावयेन्मूर्द्धि मूलान्तं योगोऽयं सर्वसिद्धिदः ।
अनया न्यस्तदेहस्तु तेजसा भास्करोभवेत् ॥ ५१ ॥
यन्त्रक्रियाविशेषांस्तु ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥ ५२ ॥
विन्द्वाढ्यं गगनं तदेव शिवयुक् ज्ञानी चतुर्थ्यायुतो
नत्यन्तो मनुरेष मध्यविहितः साध्यस्य बन्धवत्तरैः ।
पत्रेष्वत्तरशो हकारपुटितांस्तद्भूतवर्णांल्लिखे-
दन्त्यं चान्त्यदले विलिख्य मतिमान् वृत्तेन संवेष्टयेत् ॥ ५३ ॥
विषयन्त्रमिदं प्रोक्तं लाक्षाचन्दननिर्मितम् ।
रोहिण्यामुदये राहोर्विषघ्नं सर्वशान्तिदम् ॥ ५४ ॥

रिति* स मन्त्रस्तस्य सिध्यतीत्यर्थः। मासमात्रेणेति ज्ञेयम्। तदुक्तं *कुलप्रकाशतन्त्रे* "मासमात्रं जपेन्मन्त्रं भूतलिप्यर्णसम्पुटम्, क्रमोक्रमात् सहस्रं तु तस्य सिद्धोभवेन्मनुरि"ति । यद्वा साध्यारिस्थानपतितः सिद्धस्थानगतमन्त्रफलं ददातीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

मध्यवर्त्मनेति । सुषुम्णामध्यमार्गेणेत्यर्थः । *मूर्ध्नि परं स्थानं सङ्गमय्येति* । षट्चक्रभेदनक्रमेण । परं स्थानं द्वादशान्तं शिवगृहम् । *प्राणवदिति* । अनेन योगी उक्तः । *मूलान्तं*—मूलाधारपर्यन्तं, परामृतैः प्लावयेदिति सम्बन्धः । अस्यान्यमन्त्राङ्गत्वमाह—*अनयेति* ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

विषयन्त्रमाह—बिन्द्विति । गगनं—हः। विन्द्वाढ्यं तदेव सबिन्दुकं गगनं शिव एकारस्तद्युक् तेन हें । अत्रैकादशरुद्रा इति शिवशब्देन एकादश संख्या लक्षिता । तया चैकादशस्वरस्तेन एकारः शिवशब्दवाच्यः । ज्ञानीशब्दश्चतुर्थ्यायुतश्चतुर्थ्यैकवचनेन युतस्तेन ज्ञानिने । नत्यन्तो नमोऽन्तः । एषमनुर्मन्त्रः । मध्यविहितः कर्णिकायां लेख्यइत्यर्थः । साध्यस्य विषादिग्रस्तदेवदत्तादेर्बन्ध्वक्षरैः "सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ता" इत्युक्तैः सिद्धकोष्ठाक्षरैः । पत्रेषु तद्भूतवर्णान्—एतत्पटलोक्तं व्योमभूतवर्णद्वयं प्रत्येकं हकारपुटितं लिखेत् । मतिमानित्यनेन सर्वाण्यक्षराणि सबिन्दुकानीत्युक्तं, देवदत्तस्य विषंहरेति क्रियामध्ये लेख्या ॥ ५३ ॥

लाक्षा—अलक्तकः । *रोहिण्यामुदये राहोरिति* । अत्र तात्कालिकनक्षत्रमुहूर्त्ते तत्तद्भूतग्रहोदये तत्तद्यन्त्रं लेखनीयं, तत्र दिवसे नवमं रोहिणीमुहूर्त्तं, रात्रावप्यष्टमं रोहणीमुहूर्त्तं, तत्र राहोरुदये वायुभूतोदये राहोरुदयोभवति । यतः प्रतिराशि पञ्चभूतोदयस्य नियतत्वात् नवग्रहोदयोऽप्यस्त्येव । यदुक्तं—"प्राणाग्नीलाम्बुखात्मानः पवनाःस्युर्यथाक्रमम् । गुरुराहू भृगुकुजौ बुधार्कौ चन्द्रसूर्यजौ ॥ क्रमाच्चतुर्षु भूतेषु व्योम सर्वात्मकं भवेत्" इति । *अन्यत्रापि*—"गुरुराहू च वायव्ये चरतोऽग्नौ भृगुः कुजः । भूम्यां बुधरवी ज्ञेयौ जले चन्द्रशनैश्चरौ ॥ आकाशं संग्रहं विद्यादेवं सर्वेषु राशिषु । षष्ट्युत्तरैश्च त्रिशतैः श्वासैरेका तु नाडिका ॥ पञ्चभिर्नाडिकाभिस्तु राशिरेकः प्रकीर्त्तितः । दिनं मेषादिमीनान्तैरेकं द्वादशराशिभिः ॥ राशिष्वेतेषु भूतेषु विज्ञातव्या ग्रहोदयाः । एकैकस्मिन् भवन्त्यत्र राशौ भूतानि पञ्च च ॥ वायुर्वह्निस्तथाभूमिरापःखमिति पञ्चमः । एकैकस्मिन् पञ्चसूक्ष्माण्युदयन्ति हि तेषु च ॥ सर्वेषामेव राशीनां वायव्याद्या तु नाडिका। द्वितीया नाडिकाऽऽग्नेयी तृतीया पार्थिवी मता ॥ चतुर्थी वारुणी ज्ञेया व्योमाख्या पञ्चमी स्मृता । पूर्वोदयास्तु सर्वत्र सौम्याः पापा स्त्वनन्तराः॥ राहुः कौ रविः सौरिरेते दक्षिणतः शुभाः । गुरुर्भृगुर्बुधश्चन्द्रः सव्ये सौम्याः शुभावहाः ॥ एवं रा-

यौ द्वौ साक्ष्यधरेन्दुखण्डशिरसौ स्यातां क्रमान् ङ्युतं
कोपेशं नमसाऽन्वितं विरचयेन्मध्ये दलेष्वष्टसु ।
वायव्यान् यपुटान्विलिख्य विधिना शिष्टार्णमन्त्ये दले
यन्त्रं वायुगृहेण वेष्टितमिदं स्यात्तालपत्रस्थितम् ॥ ५५ ॥
स्वात्यां मन्दोदये यन्त्रं वायव्ये निखनेद्रिपोः ।
द्वार्युच्चाटनकृत्तस्य मृतिर्वा भवति ध्रुवम् ॥ ५६ ॥
वह्नेर्बीजयुगं क्रमाच्छ्रवणसद्यार्द्धेन्दुयुक् स्यात्स्वरौ
रोः फट्हृन्मनुरेष मध्यविहितः पत्रेषु वह्न्युद्भवान् ।
वर्णान्वह्निनिरोधितान् प्रविलिखेत्साध्याक्षरैःपोषकै-
रन्त्यं चान्त्यदले कृशानुपुरगं भूर्जोदरे कल्पितम् ॥ ५७ ॥
शुभवारर्क्षसंयोगे लाक्षाकुङ्कुमनिर्मितम् ।
रक्षाकृत्सर्वभूतानां यन्त्रमाग्नेयमीरितम् ॥ ५८ ॥
घातजाक्षरमिश्रं तत्कृत्तिकायां कुजोदये ।

जिशिषु भूतेषु महोदय उदीरित" इति । भूतोदयमन्त्यपटले वक्ष्यति । नक्षत्रमुहूर्त्तानि उक्तानि ज्योतिःशास्त्रे—"आर्द्राश्लेषानुराधा च मघाचैव धनिष्ठिका । पूर्वाषाढोत्तराषाढे अभिजि द्रोहिणी तथा ॥ ज्येष्ठा विशाखा मूलं च नक्षत्रं शततारिका । उत्तरा पूर्वफल्गुन्यौ दिने पञ्चदशक्षणाः ॥ सन्त्रावार्द्रा तथा चाष्टौ पूर्वाभाद्रपदादयः । पुनर्वसुः क्षणः पुष्यः श्रुति स्तिस्रः करादिकाः" इति । श्रुतिःश्रवणम् । करादिका-हस्तादिकाः । तिस्रः हस्तचित्रास्वात्यः। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । *अन्येतु*-यदा रोहिणीनक्षत्रे राहुर्भवति तदा कर्त्तव्यमित्याहुः ॥ ५४ ॥

वायव्ययन्त्रमाह-*यौद्वाविति* । अक्षि इकारः । "असव्यमविशेषोक्ता" विति परिभाषणात् । शशधर एकारः । इन्दुःखण्डोबिन्दुः । अक्षिच अधरश्च अक्ष्यधरौ एताभ्यां सह वर्त्तमानौ साक्ष्यधरौ तौ च ताविन्दुखण्डशिरसौ चेति विग्रहः । क्रमादित्यस्ति तेन यिं यें इति । कोपेशं ङेयुतं-कोपेशाय नमसाऽन्वितम् । नमोयुक्तमिमं मन्त्रं मध्यकर्णिकायां रचयेल्लिखेत् । *वायव्यान्*-एतत्पटलोक्तवायुभूतवर्णान् विधिना यपुटाम्-अक्षरश इत्यर्थः । बिन्द्वन्तानित्यपि । वायुगृहेण "वृत्तं द्विवस्ततषट्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वन" इत्युक्तेः षड्बिन्दुलाञ्छितेन वृत्तेन वेष्टयेत् । अत्रापि पूर्ववत् कर्म्म लिखनीयम् ॥ ५५ ॥

स्वात्यां मन्दोदय इति । स्वातीनक्षत्रमुहूर्त्ते यदामन्दस्य शनैश्चरस्योदय इत्यर्थः । रिपोर्द्वारि वायव्यं यन्त्रं निखनेदित्यन्वयः ॥ ५६ ॥

आग्नेयमाह—*वह्नेरिति* । श्रवणः उः सद्य ओ । अर्द्धेन्दुर्बिन्दुः । क्रमादेतद्युतं वह्नेर्बीजयुगं रेफद्वयम् । तेन रुं रौं इति । अन्यत्स्वरूपम् । हृत्नमः पदम् । एषमनुर्मन्त्रोमध्यविहितः कर्णिकास्थः । वह्निनिरोधितान्-रेफपुटितान् प्रत्यक्षरमिति ज्ञेयम् । अत्र रोध एकाक्षरत्वात् संपुटे पर्यवस्यति । *साध्याक्षरैः पोषकैः* । साध्यस्य पोषकाक्षरैः "सुसिद्धाः पोषका ज्ञेया" इत्युक्तेः । सुसिद्धकोष्ठाक्षरैरित्यर्थः । *कृशानुपुरगम्* । सस्वस्तिकत्रिकोणमध्यगं घातकाक्षरमिश्रं पोषकाक्षरस्थान इत्यर्थः । "वैरिणोघातका मताः" इत्युक्तेररिकोष्ठाक्षराणि घातकाक्षराणि ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

कृत्तिकायां-कृत्तिकानक्षत्रमुहूर्त्ते । कुजोदये-मङ्गलोदये वह्निभूतोदय इत्यर्थः । तदुक्ते-

चिताङ्गारेण तद्गते लिखितं नाशयेद्रिपुम् ॥ ५९ ॥
नासार्द्धेन्दुमदम्बु तन्मनुयुतं सार्द्धेन्दुङेन्तो विधु-
र्विध्वन्तेतु भुवे नमो निगदितो मध्ये मनुर्वारुणान् ।
वर्णान्पत्रपुटेषु वाक्षरपुटान्साध्यस्य तन्मध्यतो
दलिख्याप्यपुरेण वेष्टितमिदं यन्त्रं भवेद्वारुणम् ॥ ६० ॥
भूर्जपत्रे लिखेदेतद्रक्तचन्दनवारिणा ।
तरुणर्क्षोदये काव्ये यन्त्रं वश्यादिकृद्भवेत् ॥ ६१ ॥
गण्डो बिन्दुविभूषितो वसुमती स्यात्तादृशी गण्डयो-
र्मध्यस्थौ तु जगौ लुके नतिरिमं मन्त्रं लिखेन्मध्यतः ।
लान्तार्णांपुटीकृतान्वसुमतीवर्णान् दलेष्वालिखे-
त्सेवावर्णयुतान्यथाविधि भुवोगेहेन संवेष्टयेत् ॥ ६२ ॥
ज्येष्ठायामुदिते सौम्ये मृदि गैरिकनिर्मितम् ।
पार्थिवं यन्त्रमचिरात्सर्वत्र स्तम्भकृद्भवेत् ॥ ६३ ॥
गुह्याद्गुह्यतरां नित्यां श्रीभूतलिपिदेवताम् ।
यः सेवते शुभैः पुत्रैर्धनधान्यैश्च पूर्यते ॥ ६४ ॥
अग्निर्वरुणसंरुद्धो दवाग्वादिनि ठद्वयम् ।
वागीश्वर्या दशार्णोऽयं मन्त्रो वाग्विभवप्रदः ॥ ६५ ॥

चितावह्ने । *नाशयेदिति* । गृहादिनिखातम् ॥ ५९ ॥

वारुणयन्त्रमाह—*नासेति* ॥ नासा ऋः । अर्द्धेन्दुर्बिन्दुस्तद्युक्तम् अम्बु-वः तेनवं वदम्बु-दः । मनुरौ तद्युतं, सार्द्धेन्दुसबिन्दु तेन वौं । अत्र मनुशब्देन चतुर्दशमनवइति चतुर्दशसंख्या लक्षिता तया चतुर्दशः स्वरस्तेन औकारो मनुशब्दवाच्यः । ङेऽन्तो विधुर्विधवे । विध्वन्ते–विधुशब्दान्ते–भुवे तेन–विधुभुवे नमः । अयं मनुर्मन्त्रः । मध्ये–कर्णिकायां निगदित–उक्तः । लेख्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । *वाक्षरपुटान्*–वकाराक्षरपुटितान् । प्रत्यक्षरं सबिन्दुकान् । *आप्यपुरेण* पार्श्वद्वयपङ्कजद्वयसहितार्द्धेन्दुना ॥ ६० ॥

वारुणर्क्षे–शततारका (शतभिषा) तन्मुहूर्त्ते । काव्ये–शुक्रे । उदिते–वह्निभूतोदय इत्यर्थः । वश्यादी–स्यादि शब्देन आकर्षमोहनादि ॥ ६१ ॥

पार्थिवयन्त्रमाह—*गण्ड इति* । बिन्दुविभूषितो गण्डः लं, वसुमती लकारस्तादृशी–बिन्दुमती । तेन लं, गण्डयोर्वर्णयोर्मध्यस्थौ जगौ वर्णौ । तत्र गण्डयोरित्यत्र प्रथमं गकारमात्रमुच्चरत्र परसवर्णयुग् ण्डकारः । तेन गजगण्डइति सिद्धं, लुके स्वरूपं नतिर्न्नमः । इमं मध्यतः कर्णिकायां लिखेत् । अत्रैकाक्षरस्य न्यूनत्वात् लान्तानित्युक्तं तेनाष्टमे लकारत्रयं लेख्यमित्यर्थः । लार्णपुटीकृतान् प्रत्यक्षरम् । *सेवावर्णयुतान्*—"साध्यास्ते सेवकाः स्मृता" इत्युक्तेः साध्यस्य साध्यकोष्ठाक्षरैरित्यर्थः । *यथाविधीति* सबिन्दुकानत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ज्येष्ठायाम् ज्येष्ठानक्षत्रमुहूर्त्ते । सौम्ये–बुधे । उदिते–भूमेरुदय इत्यर्थः । मृदि मृत्पात्रे । *सर्वत्र स्तम्भकृदिति* । वाय्वग्निजलशुक्रखड्गधारासेनादिस्तम्भनं ज्ञेयम् । तत्र शुक्रादौ धारणं–सेनादौ निखननमिति यथायथं ज्ञेयम् सुधीभिः ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

एवं मातृकामन्त्रानुक्त्वा तद्भेदभूतान्सरस्वतीमन्त्रान्वक्तुकामो दशार्णं वाग्वादिनीति मन्त्रमुद्धरति *अग्निरिति* । अग्निर्रकारः । वरुणेन वकारेण संरुद्धः संपुटितः । तेन वद्व इति

ऋषिः कण्वो विराट्छन्दो देवता वाक्समीरिता ।
शिरः श्रवण दृङ्नासावदनान्धुगुदेष्विमान् ॥ ६६ ॥

ऐं, वदवाग्वादिनीति स्वरूपं वदुधं स्वाहा । वाग्भिभवौ प्रकर्षेण ददातीति वाग्भवप्रद इ-त्यनेनास्य विनियोगं वदता बहवो भेदाः सूचिताः । तदुक्तं *सारस्वतमते*—"तारमायासंपु-टोऽयं महासारस्वतप्रद" इति । वाग्बीजमायाय *आचार्यस्तुतावुद्धृतः* "वाग्बीजं भुवने-श्वरीं वदवदेत्युच्चार्यं वाग्वादिनि स्वाहा वर्णविकीर्णपातकसरां ध्यायामि नित्यां गिरमि"ति । वाग्बीजमायापुटित इति केचित् । मायाद्यन्तमध्ये । तन्त्रान्तरे केवलवाग्भवाद्योऽप्युद्धृतः । अत्रैव शिवशक्तियोग इति केचित् । अपरे वैपरीत्यमपीच्छन्ति । *प्रयोगसारे* बालादिरप्यु-द्धृतः । पञ्चप्रणवपुटितः एकः । आदौ मध्ये स्वाहादौ च बालाबीजयुतोऽपरः । वाग्भवपुटितसंबो-धनः परः । बालात्र्यक्षरीपुटितसम्बोधनोऽन्यः । कामबीजपुटितसम्बोधनः पञ्चमः । स्वाहान्तो बालायुतः षष्ठः । एवमस्या अन्येऽपि भूयांसो भेदास्ते ग्रन्थगौरवभयान्नोक्ताः । स्वस्वगुरुसं-प्रदायाज्ज्ञेयाः । तदुक्त*माचार्यस्तवे*—"आद्यन्तपञ्चप्रणवप्रसिद्ध विद्येश्वरि प्रोज्ज्वलशुभ्रहस्ते । अच्छिद्रिषां कारणमन्त्रविद्यां प्रत्यग्निरे त्वं जय संहरेति ॥ वीप्सावसाने ऽसमसायकेन युक्ता-स्तथादावपि वाग्भवेन । सम्बोधनान्ते समनुद्धिचन्द्रे विद्योत्तमं देवि तवानतोऽस्मि ॥ सं-ध्येत्स्थितं वाग्भवबीजयोर्वा स्वनाम सारस्वतसंपुटं वा । ज्ञात्वापि मूकस्य हठात्कवित्वं धी-श्रीमि लक्ष्मीसि पदा तनोति ॥ कामेश्वरीसम्पुटिताय नित्यं नारीनराणामपि मोहनाय । क-स्मैचिदस्मै सततं नमोऽस्तु त्वन्नामदेवाय गिरामधीशि ॥ बालालया पल्लवितं जडानां त्व-न्नामरत्नं रसनाविराजि । उद्दामकाव्यप्रकरप्रभाभिरुद्भासतेऽस्मै नतिमातनोमि" इति । अन्ये सम्बोधनान्ते वागीश्वरीति सम्बुद्धिमधिकामाहुः । एषां ध्यानविशेषा गुरुमुखाज्ज्ञेयाः ॥ ६९ ॥

ऋषिः कण्व इति धिषणोवा ऋषिर्ज्ञेयः । तदुक्त*मीशानशिवेन*—"ऋषिस्तु धिषणोऽमत-स्त्वथ परे च कण्वं विदुरि"ति । वागिति बीजं, स्वाहेति शक्तिः । ब्रह्म बीजं माया शक्तिः । जीवो बीजं बुद्धिः शक्तिः । उदानो बीजं कुण्डलिनी शक्तिः । इदं सूक्ष्मं बीजादित्रयं सर्वमन्त्रेषु ज्ञेयम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे* "ईश्वरो जगतां बीजं शक्तिर्गुणमयीत्वजा । परमात्मा तथा बुद्धिर्वायुः कुण्डलिनीति च ॥ चतुर्विधे बीजशक्ती सामान्यं त्रितयं त्विदमि"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽ-पि*—"चतुर्विधे बीजशक्ती सर्वमन्त्रेषु चिन्तयेत् । त्रितयं तत्र सामान्यं तदिदानीं निरूप्यते ॥ ईश्वरो जगतां बीजमाद्यं ब्रह्म तदुच्यते । तस्य माया समाख्याता शक्तिर्गुणमयीतुया । स एव भगवान्देवो बुद्धिसाक्षी द्वितीयकम् ॥ बीजमत्र समाख्यातं बुद्धिः शक्तिरुदाहृता ॥ उदानश्चि-त्समायुक्तस्तृतीयं बीजमुच्यते । शक्तिः कुण्डलिनी तत्र सामान्यं त्रितयं त्विदम् ॥ ज्ञातव्यं सर्वमन्त्रेषु बीजशक्ती ततो निजे" इति । (१)अन्विष्यति लिङ्गम् ॥ ६६ ॥

(१) अत्र–मन्त्रदेवप्रकाशिकायामुक्तं बीजं शक्तिश्च मूलाधारे न्यसेत् । सकलमन्त्रेषु ब्रह्म बीजं मायाशक्तिः । उदानोबीजं सुषुम्णानाडी शक्तिः ॥ तत्र ब्रह्ममायाशब्दाभ्यां प्रणवहृल्ले-खार्थभूते परब्रह्म मूलप्रकृती उच्येते । जीवबुद्धिशब्दाभ्यां सर्वकारणभूतब्रह्ममाययोर्ज्ञान-भागावुच्येते । उदानसुषुम्णानाडीभ्यां ब्रह्ममाययोः प्रवर्त्तका भागा उच्यन्ते । एवञ्च ब्रह्ममाययोः सर्वप्रपञ्चकारणत्वं, प्रणवहृल्लेखयोः समस्तमन्त्रबीजशक्तिकारणत्वं–चोक्तम्भवतीति प्रणव-हृल्लेखावाच्यमायाशबलितब्रह्मस्वरूपात् समस्ताङ्गसहिताः सर्वदेवतामन्त्रमूर्त्तयः प्रज्वलिताग्ने-र्विस्फुलिङ्गा इव प्रादुर्भूता इतिभावयेदिति । इत्यधिकः पाठः क्वचिदुपलभ्यते ॥

न्यस्यार्णान् प्राग्वदङ्गानि मातृकोक्तानि कल्पयेत् ॥ ६७ ॥

तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ६८

दशलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयात्ततः ।
पुण्डरीकैः पयोभ्यक्तैस्तिलैर्वा मधुराप्लुतैः ॥ ६९ ॥
मातृकोदीरिते पीठे वागीशीमर्चयेत्सुधीः ।
वर्णाब्जेनासनं दद्यान्मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ७० ॥
आदावङ्गानि संपूज्य पश्चाच्छक्तीरिमा यजेत् ।
योगा सत्या च विमला ज्ञाना बुद्धिः स्मृतिः पुनः ॥ ७१ ॥
मेधा प्रज्ञा च पत्रेषु मुद्रापुस्तकधारिणीः ।
दलाग्रेषु समभ्यर्च्या ब्राह्मयाद्यास्ता यथाविधि ॥ ७२ ॥
लोकपाला बहिः पूज्यास्तेषामस्त्राणि तद्बहिः ।
एवं संपूजयेन्मन्त्री जपहोमादितत्परः ॥ ७३ ॥
ब्रह्मचर्यरतः शुद्धः शुद्धदन्तनखादिकः ।
संस्मरन्सर्ववनिताः सततं देवताधिया ॥ ७४ ॥
कवित्वं लभते धीमान् मासैर्द्वादशभिर्ध्रुवम् ।
कृत्वा तन्मन्त्रितं तोयं सहस्रं प्रत्यहं पिबेत् ॥ ७५ ॥
महाकविर्भवेन्मन्त्री वत्सरेण न संशयः ।
उरोमात्रे जले स्थित्वा ध्यायेन्मार्तण्डमण्डले ॥ ७६ ॥

प्राग्वदिति चतुर्थोक्तप्रकारेण जातियुक्तानि । "अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः" इत्यादि । सम्प्रदायविदस्त्वन्यथाङ्गानि मन्यन्ते-ॐ ह्रां वद ऋग्वेद हृत् । ॐ ह्रीं वद यजुर्वेद शिरः । ॐ ह्रूं वाक् सामवेद शिखा ॐ ह्रैं वादिनि अथर्ववेद वर्म । ॐ ह्रौं स्वाहा षडङ्गं नेत्रम् । ॐ ह्रः समस्तमन्त्रमुच्चार्य पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रेतिहास-कल्प-गाथा-नाराशंसीरित्यस्त्रम् ॥ तदुक्तं—*सारस्वतमते*—"यमनेत्रधरावह्नियुगलार्णैर्मनोः क्रमात् । ह्रामाद्यैश्चैव वेदाद्यैरङ्गानि परिकल्पयेदि"ति ॥ *पद्मपादाचार्यास्तु* सतृकाङ्गान्ते वद हृदयाय नम इत्यादि-ऊचुः ॥ ६७ ॥

तरुणेति । तरुणशकलं बालखण्डम् । करकमलेत्युपमितसमासः । दक्षे-लेखनी । वामे पुस्तकमित्यायुधध्यानं, सुधीरित्यनेनावाहनादिश्लोकेषु स्त्रीलिङ्गयोगउक्तः ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

पीठमन्त्रमुद्धरति *वर्णाब्जेनेति* ह्सौः वाग्वादिनीयोगपीठायनमः" इति प्रयोगः । *पश्चाच्छक्तीरिति* । पश्चादिति चतुर्थावरणे । तेनादावङ्गावृत्तिः । कर्णिकायां द्वितीया । स्वरछन्द्वाष्टकेन तृतीया । अष्टवर्गैश्चतुर्थी । योगादिशक्तिभिः दक्षिणादित इति यावत् । तासां ध्यानमुक्तमीशानशिवेन* "सपुस्तकजपस्रजो विमलहारमत्युज्ज्वलाः शशाङ्कसदृशप्रभाः प्रतिदलस्थिताः शक्तयः । चतुर्थवृत्तिगा यजेत्कथितदक्षिणाशादिका" इति । *आचार्यश्च* "मातृकोक्तविधिनाक्षराम्बुजे" इति । *यथाविधीति* । पूर्वपटलोक्तध्यानाः । *बहिः* चतुरस्रे ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

धीमान् तन्मन्त्रितं तोयं पीत्वा द्वादशभिर्मासैः ध्रुवं कवित्वं लभत इत्यन्वयः । धीमानित्यनेन सहस्रवाराभिमन्त्रणं हस्तेन निधानं सहस्रपानं च सूचितम् । पाने पूर्वोक्तध्यान-

स्थितां देवीं प्रतिदिनं त्रिसहस्रं जपेन्मनुम् ।
लभते मण्डलात्सिद्धिं वाचमप्रतिमां भुवि ॥ ७७ ॥
पलाशबिल्वकुसुमैर्जुहुयान्मधुरोक्षितैः ।
समिद्भिर्वा तदुत्थाभिर्यशः प्राप्नोति वाक्पतेः ॥ ७८ ॥
होमोऽयं सर्वसौभाग्यलक्ष्मीवश्यप्रदो भवेत् ।
राजवृक्षसमुद्भूतैः प्रसूनैर्मधुराप्लुतैः ॥ ७९ ॥
तत्समिद्भिश्च जुहुयात्कवित्वमतुलं लभेत् ।
एवं दशाक्षरी प्रोक्ता सिद्धये वाचमिच्छताम् ॥ ८० ॥
हृदयान्ते भगवति वदशब्दयुगं पुनः ।
वाग्देवि वह्निजायान्तं वाग्भवाद्यं समुद्धरेत् ॥ ८१ ॥
मनुं षोडशवर्णाढ्यं वागैश्वर्यफलप्रदम् ।
मनोः षड्भिः पदैः कुर्यात्षडङ्गानि सजातिभिः ॥ ८२ ॥
शुभ्रां स्वच्छविलेपमाल्यवसनां शीतांशुखण्डोज्ज्वलां
व्याख्यामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च हस्ताम्बुजैः ।
बिभ्राणां कमलासनां कुचनतां वाग्देवतां सुस्मिताम्
वन्दे वाग्विभवप्रदां त्रिनयनां सौभाग्यसम्पत्करीम् ॥ ८३ ॥
हविष्याशी जपेत्सम्यग्वसुलक्षमनन्यधीः ।

मनुसन्धेयम् ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

मण्डलादिति । एकोनपञ्चाशद्दिवसैरित्यर्थः ॥ ७८ ॥

सर्वसौभाग्यलक्ष्मीवश्यप्रद इति । अत्र सौभाग्यवश्ययोर्बालादित्वं, लक्ष्म्यै श्रीबीजादित्वमेवं पापविमुक्त्यै नृसिंहबीजादित्वमपि ज्ञेयमिति *पद्मपादाचार्याः* । *राजवृक्षः* श्योनाकः । *कल्पाद्यन्त्रमुच्यते* "वाग्बीजगर्भनरमालिख पङ्क्तियन्त्रपत्रेषु मन्त्रलिपयोर्लिपिभिः परीतम् । आदिक्षकावधिभिरिष्टफलप्रदं तद्यन्त्रं भवेत् करधृतं कविताकरं चे"ति ७९।८०

मन्त्रान्तरमुद्धरति *हृदयेति* । हृदयान्ते नमोन्ते । भगवति स्वरूपं । (अत्र(१) नमःशब्दविसर्गस्यरोत्त्वे गुणे च ओकार इति ज्ञेयम्) । *वदशब्दयुगं* वदवदवाग्देवि स्वरूपम् "इति वदे"ति शेषः । कीदृशं मनुं वह्निजाया स्वाहा अन्ते यस्य । वाग्भवं वाग्बीजम् एतदाद्यं यस्य तम् । अत्र हसयोगोऽपीति केचित् । वैपरीत्यमित्यन्ये । वागैश्वर्यफलप्रदमित्यनेन विनियोगं वदता श्रींबीजादित्वमपि सूचितम् । अत्र बीजशक्ती पूर्वोक्ते ज्ञेये । ऋष्यादिकमपि पूर्वोक्तमेव ॥ ८१ ॥

षड्भिः पदैरिति । बीजसाद्यं पदं च वदवदेति तुर्यम् । अन्येतु वदवदेति पदमादौ ॥ ८२ ॥

वाग्बीजयोगमाह—*शुभ्रमिति* । *व्याख्यामिति* । व्याख्यानमुद्रा । तल्लक्षणं यथा—"श्लिष्टाग्रेऽङ्गुष्ठतर्जन्यौ प्रसार्यान्याः प्रदर्शयेत् । प्रभोज्याभिमुखं सैषा मुद्रा व्याख्यानसंज्ञिते"ति ॥ अक्षगुण—मक्षमालां, *विद्यां* पुस्तकं, दक्षोर्ध्वतोवामाधूर्ध्वपर्यन्तमायुधध्यानम् । *कमलासनामिति* । श्वेतकमलस्थाम् ॥ ८३ ॥

---

(१) एवकुण्डलितः पाठोविवरणपदसाधनाय टिप्पण्यामुल्लिखितोऽस्मान्मूलेप्राक्षिप्तः प्रतिभाति ।

दशांशं जुहुयादन्ते तिलैराज्यपरिप्लुतैः ॥ ८४ ॥
मातृकोक्ते यजेत्पीठे देवीं प्रागीरिते क्रमात् ।
पिबेत्तन्मन्त्रितं तोयं प्रातःकाले दिने दिने ॥ ८५ ॥
विद्वान्वत्सरतो मन्त्री भवेन्नास्ति विचारणा ॥ ८६ ॥
अभिषिञ्चेज्जलैर्जप्तैरात्मानं स्नानकर्मणि ।
तर्पयेत्तां जलैः शुद्धैरतिमेधामवाप्नुयात् ॥ ८७ ॥
पुष्पगन्धादिकं सर्वं तज्जप्तं धारयेत्सुधीः ।
सभायां पूज्यते सद्भिर्वादे च विजयी भवेत् ॥ ८८ ॥
तारो मायाऽधरो बिन्दुः शक्तिस्तारः सरस्वती ।
ङेन्तोनत्यन्तिकोमन्त्रः प्रोक्त एकादशाक्षरः ॥ ८९ ॥
ब्रह्मरन्ध्रभ्रुवोर्मध्ये नवरन्ध्रेषु च क्रमात् ।
मन्त्रवर्णान्न्यसेन्मन्त्री वाग्भवेनाङ्गकल्पना ॥ ९० ॥
वाणीं पूर्णनिशाकरोज्ज्वलमुखीं कर्पूरकुन्दप्रभां
चन्द्रार्धाङ्कितमस्तकां निजकरैः संबिभ्रतीमादरात् ।
वीणामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च तुङ्गस्तनीं
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं हंसाधिरूढां भजे ॥ ९१ ॥
जपेद्द्वादशलक्षाणि तत्सहस्रं सिताम्बुजैः ।
नागचम्पकपुष्पैर्वा जुहुयात्साधकोत्तमः ॥ ९२ ॥
मातृकोक्ते यजेत्पीठे वक्ष्यमाणक्रमेण ताम् ।
वर्णाब्जेनासनं कुर्यान्मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९३ ॥
देव्या दक्षिणतः पूज्या संस्कृता वाङ्मयी तनुः ।

सम्यगिति । वक्ष्यमाणपुरश्चरणनियम उक्तः । *वसुलक्षम्* अष्टलक्षम् *अनन्यधीर्मन्त्री* ऐकाग्रमनाः । तदुक्तं—"जपेत्तु मन्त्रमनन्यः । सार्थसंस्मृति यथाविधी"ति ॥ ८४ ॥

प्रागीरिते इति । दशाक्षर्युक्तमार्गेण पिबेदिति पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ८६ ॥ ८६ ॥
अभिषिञ्चेदित्यादि अवाप्नुयादित्यन्तमेकः प्रयोगः ॥ ८७ ॥

पुष्पगन्धादिकमिति । अत्र कामादित्वं ज्ञेयम् । *तज्जप्तमिति* । सहचारम् ॥ ८८ ॥

हंसवागीश्वरीमन्त्रमुद्धरति *तार इति* । तारः प्रणवः । माया भुवनेश्वरी । अधरः ऐबि-न्दुम । तेन वाग्भवम् । सरस्वती ङेन्ता सरस्वत्यै नत्यन्तिकोनमोऽन्तः । अत्र वाग्भवे हस-योगमाहुः केचित् । परे सयोगमिच्छन्ति । वाग्भवं बीजं माया शक्तिः । अन्ये प्रणवं बीज-माहुः । ऋषिः पूर्वोक्तस्त्रिष्टुप्छन्दः । हंसवागीश्वरी देवता ॥ ८९ ॥

नवरन्ध्रेषु कर्णनेत्रनासाद्वयमुखलिङ्गगुदेष्विति मन्त्री क्रमादित्यनेनोक्तम् । *वाग्भवे-नेति* । तारमायासंपुटेनेति परमगुरवः । अन्येषु वाग्भवाद्येन षड्दीर्घयुक्तमायाबीजेनेत्याहुः ॥

वाणीमिति । क्वचिन्मुद्रामिति पाठः । यदा विद्यामिति पाठस्तदाऽक्षगुणवर्णनं पूर्ववत् । द्वितीयपाठे दक्षोर्ध्वादि अक्षस्रङ् मुद्रे । अन्यमन्ये ॥ ९१ ॥

साधकोत्तम इति । अनेन जपादप्रधानेन नियमस्थ एव होमं कुर्यादित्युक्तम् ॥ ९२ ॥

वर्णाब्जेनेति । "ह्सौं हंसवागीश्वरीयोगपीठाय नमः" इति प्रयोगः ॥ ९३ ॥

प्राकृता वामतः पूज्या वाङ्मयी सर्वसिद्धिदा ॥ ९४ ॥
इष्ट्वा पूर्ववदङ्गानि प्रज्ञाद्याः पूजयेत्ततः ।
प्रज्ञा मेधा श्रुतिः शक्तिः स्मृतिर्वागीश्वरी मतिः ॥ ९५ ॥
स्वस्तिश्चेति समाख्याता ब्राह्मयाद्यास्तदनन्तरम् ।
लोकेशानर्चयेद्भूयस्तदस्त्राणि च तद्बहिः ॥ ९६ ॥
इति सम्पूजयेद्देवीं साक्षाद्वाग्वल्लभो भवेत् ।
दशाक्षरीसमुक्तानि कर्माण्यत्रापि साधकः ॥ ९७ ॥
वाचस्पतेऽमृतेभूयः प्लुतः प्लुरितिकीर्तयेत् ।
वागाद्यो मुनिभिः प्रोक्तो रुद्रसंख्याक्षरो मनुः ॥ ९८ ॥
कुर्यादङ्गानि विधिवद्वागाद्यैः पञ्चभिः पदैः ॥ ९९ ॥

आसीना कमले करैर्जपवटीं पद्मद्वयं पुस्तकं
बिभ्राणा तरुणेन्दुबद्धमुकुटा मुक्तेन्दुकुन्दप्रभा ।
भालोन्मीलितलोचना कुचभराक्रान्ता भवद्भूतये
भूयाद्वागधिदेवता मुनिगणैरासेव्यमानाऽनिशम् ॥१००॥

रुद्रलक्षंजपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद्घृतैः ।
मातृकाकल्पिते पीठे पूजयेत्तां यथा पुरा ॥ १०१ ॥
पलाशकुसुमैर्हुत्वा परां सिद्धिमवाप्नुयात् ।
कदम्बकुसुमैस्तद्वत्फलैः श्रीवृक्षसम्भवैः ॥ १०२ ॥

पूज्या संस्कृतेति । एतयोर्ध्यानमुक्तं *सारस्वतमते* "दक्षिणे संस्कृता पूज्या योग-मुद्रा करद्वया । सततं निःसरच्छब्दवदनान्या च वामत" इति ॥ ९४ ॥

पूर्ववदिति । तुर्योक्तरीत्या केसरेषु ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

वाग्वल्लभ इत्यनेन विनियोग उक्तः ॥ ९७ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति *वाचस्पतइति*। वागाद्योवाग्भवाद्यः। एकादशाक्षर इत्युक्तेरमृते परे पूर्वेण सन्धिर्नमन्त्रे । तदुक्तं *नारायणीये* वाक्कूर्मः पार्श्वयुक् सश्च ते (१)केशान्ते स्मृते प्लुवः । प्लुरन्तादवर्णेयं विद्या मुख्या सरस्वती"ति । ऐं बीजं प्लुं शक्तिः । पूर्वोक्तमृष्यादिकं कुर्यात् । तत्र वाग्भवेन हृत् । अन्यैश्चतुर्भिः पदैश्चत्वार्यङ्गानि । *विधिवदिति* । अनेन समस्तेनास्त्र-मुक्तं भवति । ननु पञ्चभिः पदैः कुर्यादङ्गानि इत्युक्तेरत्र पञ्चाङ्गमेवास्तीति चेत् नैत-त्सारं यतः कुर्यादङ्गानीति विधिना षडङ्गमेव प्राप्तं तत्कथनाकाङ्क्षायां पञ्चभिः पदैरित्युक्तिः वागाद्यैरिति क्रमार्थं, पदैरित्येतावत्युच्यमानेऽत्र षट् तानि कथमिति सन्देह एव स्यात् । तत्र गोपनेन व्यस्तसमस्तं बोधयितुं विधिवदित्युक्तिः । पञ्चभिरित्यनेन प्रधानप्रधायो गात्व । किंच यत्र तथैवेष्टम् तत्र तथैव विधास्यति—"मन्त्रस्य प्रञ्चाङ्गमिति कल्पयेदि"त्यादिना॥९८॥९९॥

कमले इति । सिते । दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्यन्तमायुधध्यानम् ॥ १०० ॥

रुद्रलक्षम् एकादशलक्षम् । *यथापुरेति* । एकादशाक्षर्युक्तमार्गेण ॥ १०१ ॥

तद्वदिति । वाक्सिद्धिमाप्नुयादित्यर्थः । अचिराद्वाचां श्रियं वाक्सम्पदं प्राप्नोतीति सम्बन्धः ॥ १०२ ॥

(१) अकारान्ते । मातृकान्यासे तत्रैवाकारस्य न्यासात् ।

अचिराच्छ्रियमाप्नोति वाचां कुन्दसमुद्भवैः ।
नन्द्यावर्तप्रसूनैर्वा हुत्वा वाग्वल्लभो भवेत् ॥ १०३ ॥
ब्राह्मीरसे स्वकल्काढ्ये कपिलाज्यं पचेज्जपन् ।
पिबेद्दिनादौ तं नित्यं सर्वशास्त्रार्थविद्भवेत् ॥ १०४ ॥
अनया विद्यया जप्तं (१)ब्राह्मीपत्रञ्च भक्षयेत् ।
न विस्मरति मेधावी श्रुत्वा वेदागमान्पुनः ॥ १०५ ॥
बहुना किमियं विद्या जपतां कामदोमणिः ।
तोयस्थं शयनं विष्णोः सकेवलचतुर्मुखः ॥ १०६ ॥
बिन्द्वर्घीशयुतो वह्निर्बिन्दुसद्योऽम्बुमाम् भृगुः ।
उक्तानि त्रीणि बीजानि सद्भिः सारस्वतार्थिनाम् ॥ १०७ ॥
अङ्गानि कल्पयेद्बीजैर्द्विरुक्तैर्जातिसंयुतैः ॥ १०८ ॥
मुक्ताहारावदातां शिरसि शशिकलालङ्कृतां बाहुभिः स्वै-
र्व्याख्यां वर्णाक्षमालां मणिमयकलशं पुस्तकं चोद्वहन्ती ।

नन्द्यावर्त्तो—गन्धतरगः । *वेति* । कुन्दसमुद्भवैरित्यनेन सहविकल्पः ॥ १०३ ॥

ब्राह्मीरस इति । अत्रापि स्वरसपाक इति कृत्वा घृतस्याष्टमांशं स्वकल्कं घृतचतुर्गुणो ब्राह्मीरसः । अन्यत् पूर्ववत् । वचाकल्क इति क्वचित्पाठः । जपन् पचेदिति सम्बन्धः । अनया विद्यया जप्तं "सप्तवासरमि"तिशेषः । नित्यं दिनादौ । *पिबेदिति* त्रिवर्षं पञ्चवर्षं वा अनया विद्ययेत्यादिसर्वं ब्राह्मीपत्रेऽपि योजनीयम् । सर्वेत्यादि मेधावीत्यादि उभयमुभयस्य फलं, समयप्रमाणभेदेन । तदुक्तं *नारायणीये* "ब्राह्मीरसस्य कपिलाज्ययुतं प्रभाते जप्तं तया पिबति यश्चुलुकं त्रिवर्षम् । एकोदितं स खलु धारयति त्रिरुक्तं पञ्चाब्दतो मुखगतं न तु विस्मरेत्तत् ॥ तत्पत्त्रवादनमपि स्मृतमेवमि"ति ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

कामदोमणिरिति । अनेनैतत्सुचितम् । "एतज्जप्तं सुवीरजमपास्यति नेत्ररोगमि"ति "मूत्राशी तिथिलक्षं जप्त्वा योऽङ्कोलसर्पिषा(२)जुहुयात् । अष्टसहस्रं वेत्ति स, भूतं भव्यं भविष्यच्चे"त्यादिकम् । मन्त्रान्तरमुद्धरति-*तोयस्थमिति* । विष्णोः शयनमनन्त आकारः । तोयस्थं वकारस्थन्तेन वा । चतुर्मुखः ककारः स केवलः स्वररहितः तेन वाक् । अयमेव मन्त्रांश इति केचित् । तदुक्तं *नारायणीये* "खड्गीशोयः प्रांशुकः सान्तवेधाः कर्णान्तस्थोयः सदण्डीभुजङ्गः । साम्भोदन्तोबिन्दुमान्योभृगुः स्युर्वागीशार्थास्त्रीणि बीजान्यमूनी"ति । तट्टीकाकारेण वागिति मन्त्रांश उक्तः । अन्ये चतुर्मुखः कं स केवलबिन्दुमात्रं तेन वां, एवं सबिन्दुकं बीजत्रयमुपपद्यत इति ते वदन्ति । सम्प्रदायविदस्तु पूर्वोद्धृतं यद्वाक्पदन्तल्लक्षितं वाग्भवं बीजमित्याहुः । एवं बीजत्वमप्युपपन्नं सारस्वतं भवति । अन्येतु प्रकारान्तरेण वाग्भवबीजोद्धारं कुर्वन्ति । विष्णोस्तोयस्थं शयनमाकारः । कशब्देन शिरस्तेन अकारः । इति स्वरूपम् कीदृक्शयनम् ? सके केसहितम् । वलनं वलः संमेलनं तस्मिन् जाते चतुर्मुखः कः तेन शिरः । ततो बिन्दुरिति । अर्घीश ऊ वह्निरेफः । सद्यः ओकारः । अम्बु वकारः । भृगुः सः । *सारस्वतार्थिनामिति* । अनेन विनियोग उक्तः । आद्यं बीजम् । अन्त्यं शक्तिः । पूर्वोक्तमृष्यादिकम् ।

---

(१) "जप्तब्राह्मीपत्रप्रभक्षणात्" इतिपाठः क्वचित् ॥ किन्त्वेषष्टीकाकृदननुमतः ।

(२) "अङ्कोलस्तु निकोचकः" इत्यमरव्याख्याने "ढेरा" इति ख्यातस्येति महेश्वरः । "ढेला" इति गौडदेशे प्रसिद्धः ।

आपीनोत्तुङ्गवक्षोरुहभरविनमन्मध्यदेशामधीशां
वाचा, मीडे चिराय त्रिभुवननमितां पुण्डरीके निषण्णाम् ॥१०९॥
त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः।
पायसेनाज्यसिक्तेन संस्कृते हव्यवाहने ॥ ११० ॥
वागीशीं पूजयेत्पीठे विधिना मातृकोदिते।
प्राक् प्रस्तुतेन मार्गेण प्रत्यहं साधकोत्तमः ॥ १११ ॥
व्याघातकुसुमैर्हुत्वा वाक्सिद्धिमतुलां लभेत्।
जातीपुष्पैः सिताम्भोजैः सिक्तैश्चन्दनवारिणा ॥ ११२ ॥
नन्द्यावर्तैः शुभैः कुन्दैर्हुत्वा वाक्सिद्धिमाप्नुयात्।
जपन् बीजत्रयं मन्त्री सभायां जयमाप्नुयात् ॥ ११३ ॥
सितां वचां वा ब्राह्मीं वा जप्त्वा खादेद्दिनागमे।
मेधां काममवाप्नोति साधकोनात्र संशयः ॥ ११४ ॥
एवमुक्तेषु मन्त्रेषु दीक्षितोयतमानसः।
एवं यो भजते भक्त्या स भवेद् भुक्तिमुक्तिभाक् ॥ ११५ ॥
सुसितैर्गन्धकुसुमैः पूजा सारस्वते विधौ।
दूर्वाबीजाङ्कुरं पुष्पं राजवृक्षसमुद्भवम् ॥ ११६ ॥
उत्पलानि प्रशस्तानि सिन्दुवाराङ्कुराणि च।
भजेत्सरस्वतीं नित्यमेतानि परिवर्जयेत् ॥ ११७ ॥
आम्रातं गृञ्जनं विल्वं कलञ्जं लशुनं तथा।
तैलं पलाण्डुं पिण्याकं शाङ्गीष्टमपि भोजने ॥ ११८ ॥
सर्वं पर्युषितं त्याज्यं सदा सारस्वतार्थिना।

व्याख्यानमुद्रा पूर्वोक्ता दक्षोदूर्ध्वपर्यन्तम् आयुधध्यानम् ॥ १०६॥१०७॥१०८॥१०९॥११० ॥
विधिनेति। वक्ष्यमाणश्वेतगन्धपुष्पादिना। *प्राक्प्रस्तुतेनेति*। एकादशाक्षरयुक्तमार्गेण। *साधकोत्तमः*। सरस्वत्युपासकसमयस्थ इत्यर्थः ॥ १११ ॥
*व्याघातो*राजवृक्षः "आरग्वधो दीर्घफलो व्याघातश्चतुरङ्गुल" इति कोषः ॥ ११२ ॥
नन्द्यावर्त्तं गंन्धतगरैः। शुभैः सुगन्धिभिरिति कुन्दविशेषणम् ॥ ११३ ॥
*काम*मत्यर्थम् ॥ ११४ ॥
दीक्षित[इ]ति। ग्रन्थकृदुक्तप्रकारेणेत्यर्थः ॥ ११५ ॥
सारस्वतंसमयानाह—*सुसितैरिति*। बीजाङ्कुरं-यवाङ्कुरम् ॥ ११६ ॥
सिन्दुवारो-निर्गुण्डी। एतानि वक्ष्यमाणानि भोजने परिवर्जयेत् इति सम्बन्धः॥११७॥
आम्रातम्-"अवार" इति कान्यकुब्जभाषायाम्। गृञ्जनं-"गाजर" इति प्रसिद्धम्। कलञ्जः कृष्णबीजः फलविशेषः "कलिंगडा" इति गुर्जरभाषायां, "खबूंजा" इति गौडभाषायां "रीड" इति कान्यकुब्जभाषायां, तैलं-प्रत्यक्षम्। व्यञ्जनाद्यसंपृक्तम्। शाङ्गीष्टं "सिंघाड़" इति कान्यकुब्जभाषायां, साङ्गुष्ठमित्यपपाठः। साङ्गुष्ठभोजनस्य विहितत्वात्। यदाह "दानं प्रतिग्रहो होमो भोजनं बलिरेव च। साङ्गुष्ठेन सदा कार्यमसुरेभ्योऽन्यथा भवेत्" इति ॥ ११८ ॥
सर्वं पर्य्युषितं घृतपक्वमपि। *नाचरेन्निशि ताम्बूलमिति*। अस्यायमर्थः। रात्रौ मुखे

नाचरेन्निशि ताम्बूलं स्त्रियं गच्छेद्दिवा न च ॥ ११९ ॥
न सन्ध्ययोः स्वपेज्जातु नाशुचिः किञ्चिदुच्चरेत् ।
प्रदोषेषु भवेन्मौनी दिग्वस्त्रां न विलोकयेत् ॥ १२० ॥
न पुष्पितां स्त्रियं गच्छेन्न निन्देद्वामलोचनाम् ।
न मृषा वचनं ब्रूयान्नाक्रमेत्पुस्तकं सुधीः ॥ १२१ ॥
अक्षराढ्यानि पत्राणि, नोपेक्षेत न लङ्घयेत् ।
चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपद्ग्रहणेषु च ॥ १२२ ॥
संक्रमेषु च सर्वेषु विद्यां नैव पठेद्द्विजः ।
व्याख्याने सन्त्यजेन्निद्रामालस्यं जृम्भणं बुधः ॥ १२३ ॥
क्रोधं निष्ठीवनं तद्वन्नीचाङ्गस्पर्शनं तथा ।
मनुष्यसर्पमार्जारमण्डूकनकुलादयः ॥ १२४ ॥
अन्तरा यदि गच्छेयुस्तदा व्याख्यां परित्यजेत् ।
निशासु दीपध्वंसेषु पाठं सुधः परित्यजेत् ॥ १२५ ॥
ज्ञात्वा दोषानिमान्सम्यग्भक्त्यायो भारतीं यजेत् ।
वाचां सिद्धिमवाप्नोति वाचस्पतिरिवापरः ॥ १२६ ॥

इतिश्रीशारदातिलके सरस्वत्याः सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥ * ॥

अथ वक्ष्ये श्रियो मन्त्रान् श्रीसौभाग्यफलप्रदान् ।
यस्याः कटाक्षमात्रेण त्रैलोक्यमपि वर्द्धते ॥ १ ॥
वान्तं वह्निसमारूढं वामनेत्रेन्दुसंयुतम् ।
बीजमेतत् श्रियः प्रोक्तं चिन्तामणिरिवापरः ॥ २ ॥

ताम्बूलं कृत्वा च स्वपेदिति । *स्मृतिरपि* "ताम्बूलं वदनात्त्यजेत्" इति ॥ ११९ ॥
दिग्वस्त्रां नग्नां स्वीयामपि । नीचाङ्गानि—नाभ्यधोवर्त्तीनि । आदिशब्दात्पश्वादयः ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां भूतलिपिमन्त्रकथनं नाम सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥ * ॥

श्रीगणेशाय नमः । अथ प्रकारपञ्चके केन चित्प्रकारेण मन्त्राणां वक्तव्यत्वे प्राप्तेऽत्र शक्तिमन्त्राणां प्रकृतत्वात् शक्तिमन्त्रादित्वेनैव वक्तुमिच्छन् ब्रह्मशक्तिवाचकान् सरस्वतीमन्त्रानुक्त्वा विष्णुशक्तिवाचकान् लक्ष्मीमन्त्रान् वक्तुमुपक्रमते—*अथेति* । *श्रीसौभाग्येति* विनियोगोक्तिः । *त्रैलोक्यमिति* । लक्षणया त्रैलोक्यनिवासिजना उच्यन्ते । *यद्विष्णुपुराणं* "स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् । स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि ! वीक्षित" इति ॥ १ ॥

मन्त्रमुद्धरति *वान्तमिति* । वान्तं शः । वह्नी रेफः । वामनेत्रम् ईकारः । इन्दुः बिन्दुः । चिन्तामणिरित्यनेनैतदुक्तं भवति । प्रणवादित्वं वा । वागादित्वं वा कामादित्वं वा ।

ऋषिर्भृगुर्निचृच्छन्दो देवता श्रीः समीरिता ।
षड्दीर्घयुक्तबीजेन कुर्यादङ्गानि षट्क्रमात् ॥ ३ ॥
कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम् ।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बललितां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥ ४ ॥
भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं दीक्षितो विजितेन्द्रियः ।
श्रियमभ्यर्चयन्नित्थं सुगन्धिकुसुमादिभिः ॥ ५ ॥
तत्सहस्रं प्रजुहुयात्कमलैर्मधुरोक्षितैः ।
जपान्ते जुहुयान्मन्त्री तिलैर्वा मधुराप्लुतैः ॥ ६ ॥
बैल्वैः फलैर्वा जुहुयात् त्रिभिर्वा साधकोत्तमः ।
अत्र सम्यग्यजेत्पीठं नवशक्तिसमन्वितम् ॥ ७ ॥
विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिश्च सन्नतिः ।
पुष्टिरुत्कृष्टिर्ऋद्धिश्च सम्प्रोक्ता नव शक्तयः ॥ ८ ॥

सयोगे तत्तद्देवतानामुपसर्जनत्वं च । यथा प्रणवादित्वे परमात्मस्वरूपिणी श्रीर्देवता । एवं श-क्त्यादित्वे शक्तिस्वरूपिणी श्रीर्देवता इत्यादि । शकारोबीजम् । ईकारः शक्तिः ॥ २ ॥

षड्दीर्घेति क्लीबरहितैः । नेत्राभ्यांवौषद् इति पञ्चमाङ्गे प्रयोगः । तेन यत्रयत्र नेत्रमुक्तं तत्र तत्रायं प्रयोगो ज्ञेयः । तन्त्रान्तरे पञ्चाङ्गान्युक्तानि । महाश्रियै महाविद्युत्प्रभे स्वाहा हृत् । श्रियैविजये स्वाहा शिरः । गौरि महाबले बन्ध २ स्वाहा शिखा । भूतिस्वाहा वर्म । महाकाये पद्महस्ते हुंफडिति । कल्पान्तरेतु श्रियै स्वाहा हृत् । श्रीं फट् शिरः । श्रीं नमः शिखा । श्रियै प्रसीद नमोवर्म । श्रीं फट् अस्त्रमिति पञ्चाङ्गम् । उक्तंच *नारायणीये* "अस्या-ङ्गानि द्विधोक्तानि तयोरेकं समाश्रयेत्" इति । *क्रमादिति* अनेन शक्त्यादियोगेन दीर्घप्र-योगः । प्रणवादित्वे तद्योग इति सूचितम् ॥ ३ ॥

कान्त्येति । *हिमगिरीति* उच्चत्वं श्वैत्यं च । *अरविन्देति* श्वेतम् । इदं सर्वं श्रीमन्त्रे ज्ञेयम् । वामाधस्ताद्दक्षाधस्तनं यावदायुधध्यानम् । तदुक्तं *नारायणीये* "चतु-र्भुजां सुवर्णाभां सपद्मोर्ध्वभुजद्वयाम् । दक्षिणाभयहस्तां तां वामहस्तवरप्रदामि"ति । अत्र ध्यानानन्तरं लक्ष्मीमुद्रा दर्शनीया । "वज्रमुद्रां तथा बध्वा मध्यमे द्वे प्रसार्य च । कनिष्ठिके तथानीय तदग्रेऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत् ।। लक्ष्मीमुद्रा परा ह्येषा सर्वसम्पत्प्रदायिके"ति इयं सर्वल-क्ष्मीमन्त्रसाधारणमि ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

भानुलक्षं द्वादशलक्षणम् । मन्त्रीत्यनेन नारायणाष्टाक्षरस्य शेषतया दशांशजप उक्तः । अतएव ,वक्ष्यति "विष्णुभक्तो दृढव्रत" इति ॥ ५ ॥

जपान्त इति अनेन जपाव्यवधानेन तन्नियमस्थेन होमः कार्य इत्युक्तं भवति ॥ ६ ॥

त्रिभिर्वेति । समुच्चितश्चतुर्थः पक्षः । तत्राप्येकैकेन द्रव्येण सहस्रचतुष्कं होतव्यम् । अथ च त्रिभिः साधकोत्तमो जुहुयादित्यनेन कमलवासिनी महालक्ष्मी श्रीसूक्तैः सकृत्सकृ हुत्वा पश्चान्मूलेन होतव्यमित्युक्तं भवति । *साधकोत्तम इति* काकाक्षिगोलकन्यायेनो-भयत्र सम्बध्यते । साधकोत्तमोऽत्र सम्यगित्यनेनैतत्सूचितं भवति । श्रीपूजायां मण्डूकादि-परतत्त्वान्तं चतुर्थपटलोक्तरीत्याऽभ्यर्च्य श्रीबीजाद्या नव पीठशक्तयः प्रागादिदिक्षु मध्ये च पूज्या इति॥ ७ ॥ ८ ॥

अत्रावाह्य यजेद्देवीं परिवारसमन्विताम् ।
बीजाढ्यमासनन्दत्त्वा मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९ ॥
यजेत्पूर्ववदङ्गानि दिग्दलेष्वर्चयेत्ततः ।
वासुदेवं सङ्कर्षणंच प्रद्युम्नमनिरुद्धकम् ॥ १० ॥
हिमपीततमालेन्द्रनीलाभान्पीतवाससः ।
शङ्खचक्रगदापद्मधारिणस्तान् चतुर्भुजान् ॥ ११ ॥
विदिग्गतेषु पत्रेषु दमकादीन्यजेद्गजान् ।
दमकं सलिलं चव गुग्गुलं च कुरुण्टकम् ॥ १२ ॥
जपेच्छङ्खनिधिं देव्या दक्षिणे दयितान्वितम् ।
मुक्तामाणिक्यसंकाशौ किंचित्स्मितमुखाम्बुजौ ॥ १३ ॥
अन्योन्यालिङ्गनपरौ शङ्खपङ्कजधारणौ ।
विलसद्रत्नवर्षाभ्यां शङ्खाभ्यां परिलाञ्छितौ ॥ १४ ॥
तुन्दिलं कम्बुकनिधिं वसुधारां घनस्तनीम् ।
वामतः पङ्कजनिधिं प्रियया सहितं यजेत् ॥ १५ ॥
सिन्दूराभौ भुजाश्लिष्टौ रक्तपद्मोत्पलान्वितौ ।
निःसरद्रत्नधाराभ्यां पद्माभ्यां मूर्ध्निलाञ्छितौ ॥ १६ ॥
तुन्दिलं पङ्कजनिधिं तन्वीं वसुमतीमपि ।
दलाग्रेषु यजेदेता बलाकाद्याः समन्ततः ॥ १७ ॥

अत्रेति । पत्रे श्रीबीजकर्णिके । *तदुक्तं पद्मपादाचार्यैः* "रुचिराष्टपत्रमथवारिरुह-मि"ति । पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम् । श्रीबीजयोगः कर्णिकायां रुचिरत्वमिति । *संहितायामपि* "अष्टपत्रं लिखेद्यन्त्रं बहिर्भूबिम्बभूषितम् । मध्येबीजं विनिःक्षिप्ये"ति । पीठमन्त्रमुद्धरति *बीजाढ्यमिति* । श्रीं सर्वशक्तिकमलासनाय नम इति । अयं पीठमन्त्रः सर्वश्रीमन्त्रसाधारण इति ज्ञेयम् । *पद्मपादाचार्यैस्तु श्रीं श्रीदेव्यासनाय नमः । श्रीं श्रीदेवीमूर्तये नम इति पीठमूर्त्तिमन्त्रावुक्तौ । अत्र पद्मं श्वेतं ध्येयम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे* "संकल्प्याम्भोरुहं शुभ्रं कर्णिकायां यजेच्छ्रियमि"ति ॥ ९ ॥

पुरोवदिति । चतुर्थपटलोक्तरीत्या केसरेषु वासुदेवादीनामायुधध्यानं नारायणमन्त्रे मदुक्तमनुसन्धेयम् ॥ १० ॥ ११ ॥

विदिग्गतेष्विति । कल्प्यदिगपेक्षया । यत्तु *नारायणीये* "आग्नेयादिषु पत्रेषु गुग्गुलुश्च कुरण्टकः । दमकः सलिलश्चेति हस्तिनो रजतप्रभाः ॥ हेमकुम्भधरा ध्येया" इति । तत्र प्रसिद्धाऽग्नेयदिशमङ्गीकृत्येत्यवधेयम् । *देव्या दक्षिणे । वामत इति* । कर्णिकायाः । *मुक्तामाणिक्येति* । क्रमेण शङ्खनिधिवसुधारयोर्वर्णौ शङ्खपङ्कजधारिणावित्युभयत्र । एवमग्रेऽपि । आयुधध्यानमेषां दक्षादि । *कम्बुकं* शङ्खनिधिम् । *वसुधारामिति* । शङ्खनिधिशक्तिनाम । *घनस्तनीमित्यन्तं पूर्वं ध्यानम् । *पङ्कजनिधि*–पद्मनिधिम् ॥१२॥१३॥१४॥१५॥१६॥

वसुमतीमिति । पङ्कजनिधिशक्तिनाम । अपिशब्दाद्घनस्तनीमित्यपि । एतदन्तं द्वितीयावरणमूर्त्तीः "चतुष्कनिधियुगैरपरे"त्युक्तेः ॥ १७ ॥

बलाकीं (१)विमलांचैव कमलां नवमालिकाम् ।
विभीषिकां मालिकां च शाङ्करीं वसुमालिकाम् ॥ १८ ॥
पङ्कजद्वयधारिण्यो मुक्ताहारसमप्रभाः ।
लोकेशान् पूजयेदन्ते वज्राद्यस्त्राणि तद्बहिः ॥ १९ ॥
इत्थं यो भजते देवीं विधिना साधकोत्तमः ।
धनधान्यसमृद्धिः स्याच्छ्रियमाप्नोत्यनिन्दिताम ॥ २० ॥
वक्षः प्रमाणे सलिले स्थित्वा मन्त्रमिमं जपेत् ।
त्रिलक्षं संयतो मन्त्री देवीं ध्यात्वाऽर्कमण्डले ॥ २१ ॥
स भवेदल्पकालेन रमाया वसतिः स्थिरः ॥
विष्णुगेहस्थबिल्वस्य मूलमास्थाय मन्त्रवित् ॥ २२ ॥
त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रं वाञ्छितं लभते धनम् ।
अशोकवह्नौ जुहुयात्तण्डुलैराज्यलोलितैः ॥ २३ ॥
वशयत्यचिरादेव त्रैलोक्यमपिमन्त्रवित् ।
जुहुयात्तण्डुलैः शुद्धैरर्काग्नौ नियुतं वशी ॥ २४ ॥
राज्यश्रियमवाप्नोति राजपुत्रो महीयसीम् ।
जुहुयात्खादिरे वह्नौ तण्डुलै र्मधुरोक्षितैः ॥ २५ ॥

बलाकीमात । आसां ध्यानं *नारायणीये* "बलाकीं वामनां श्यामां श्वेतपङ्कजधारिणीम् । ऊर्ध्वबाहुद्वयां ध्यायेत् श्रीदूतीं द्वारि पूर्वतः ॥ ऊर्ध्वीकृतेन हस्तेन रक्तपङ्कजधारिणीम् । श्वेताङ्गीं दक्षिणद्वारि चिन्तयेद्वनमालिकाम् ॥ हरितां दोर्द्वयेनोच्चमुद्वहन्तीं सिताम्बुजम् । ध्यायेद्विभीषिकां नाम श्रीदूतीं द्वारि पश्चिमे । तथाब्जमालाधृग् ध्येया क्षौद्राभान्यत्र शाङ्करी" ति । *प्रयोगसारे* "विमला कमला चाथ मालिका नवमालिका । बाह्ये विदिक्षु संपूज्या दूतीरेता" इति । अत्र तु कमला नवमालिकयोर्व्यत्यासः कल्पान्तरत्वेन समाधेयः ॥१८॥१९

विधिना साधकोत्तम इत्यनेनावाहनादिश्लोकेषु स्त्रीलिङ्गयोग उक्तः ॥ २० ॥

संयतोमन्त्रीति । अनेन श्रीं रत्नगर्भायै नम इति मन्त्रस्य शतांशेन जपः सूचितः । ध्यात्वाऽर्कमण्डलेत्यत्राऽभयवरदाभ्यां निधिपात्ररत्नपूर्णकुम्भधराभ्यां रक्ता ध्येयेति ज्ञेयम् । *तदुक्तं* "स्तनमात्रे जले तिष्ठन् रविमण्डलपीठगाम् । नवपावकसङ्काशां श्रियं माणिक्यभूषणाम् । निधिपात्रमहारत्नपूर्णकुम्भकरद्वयाम् ॥ त्रिलक्षजापी सञ्चिन्त्य न चिरात्स्याद्धनेश्वर" इति ॥ २१ ॥ २२ ॥

अशोकवह्नाविति । अशोककाष्ठसमिद्धेऽग्नावित्यर्थः । *जुहुयादिति* । नियुतमिति सम्बध्यते ॥ २३ ॥

मन्त्रविदिति । अनेनात्र प्रयोगे कामादित्वं सूचितं, शुद्धैरित्यवकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य शोषितैरित्यर्थः । आज्यलोलितैरिति अत्रापि योज्यम् । *अर्काग्नौ* अर्ककाष्ठसमिद्धेऽग्नावित्यर्थः । *नियुतं*—लक्षम् । तथाच *श्रुतिः* । "एका च सहस्रं चार्बुदं च समुद्रं च मध्यश्चान्तं परार्द्धश्चे"ति । *त्रिकाण्डयपि*:"कोट्याशतादिसंख्यान्या वा लक्षा नियुतं च तदि"ति२४

जुहुया—लक्षमिति सम्बध्यते । *खादिर इति* । खदिरकाष्ठैधिते ॥ २५ ॥

---

(१) एताः प्रथमान्ततयाऽन्यत्र (पुस्तकान्तरे) पठिताः ।

राजावश्योभवेच्छीघ्रं महालक्ष्मीश्च वर्द्धते ।
बिल्वच्छायामधिवसन् बिल्वमिश्रहविष्यभुक् ॥ २६ ॥
सम्वत्सरद्वयं हुत्वा तत्फलैरथवाम्बुजैः ।
साधकेन्द्रो महालक्ष्मीं चक्षुषा पश्यतिध्रुवम् ॥ २७ ॥
हविषा घृतसिक्तेन पायसेन ससर्पिषा ।
हुत्वा श्रियमवाप्नोति नियुतं मन्त्रवित्तमः ॥ २८ ॥
मधुराक्तारुणाम्भोजैर्जुहुयाल्लक्षमादरात् ।
नमुञ्चति रमा तस्य वंशमाभूतसंप्लवम् ॥ २९ ॥
वाग्भवं वनिता विष्णोर्माया मकरकेतनः ।
चतुर्बीजात्मको मन्त्रश्चतुर्वर्गफलप्रदः ॥
अङ्गानि कुर्याद्दीर्घाढ्यरमाबीजेन मन्त्रवित् ॥ ३० ॥
माणिक्यप्रतिमप्रभां हिमनिभैस्तुङ्गैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्ताग्राहितरत्नकुम्भसलिलैरासिच्यमानां मुदा ।
हस्ताब्जैर्वरदानमम्बुजयुगाभीतीर्दधानां हरेः
कान्तां, कांक्षितपारिजातलतिकां वन्दे सरोजासनाम् ॥ ३१ ॥
भानुलक्षं हविष्याशी जपेदन्ते सरोरुहैः ।
जुहुयादरुणैः फुल्लैः तत्सहस्रं जितेन्द्रियः ॥ ३२ ॥
रमायाः कल्पिते पीठे तद्विधानेन पूजयेत् ।
कुर्य्यात्प्रयोगांस्तत्रस्थान्मनुना तेन साधकः ॥ ३३ ॥
निधिभिः सेव्यते नित्यं मूर्तिमद्भिरुपासितैः ।
दीर्घा यादिर्विसर्गान्तो ब्रह्मा भानुर्वसुन्धरा ॥ ३४ ॥
वान्ते सिन्धै प्रिया वह्ने मनुःप्रोक्तो दशाक्षरः ।

शीघ्रमिति । अनेनात्रापि काम्ययोगः सूचितः ॥ २६ ॥
हुत्वेति । अष्टोत्तरं सहस्रं *तत्फलै* बैल्वैः । *अम्बुजैरिति* । तदभावे ॥ २७ ॥
हविषेति । चरुणा ॥ २८ ॥
मधुरेति । तत्र ध्यानविशेषस्तन्त्रान्तरे "दधती मातुलिङ्गं च निधिपात्रं सरोरुहैः । रक्तां सुरतरोर्मूले संस्थितां शोभनां श्रियम् ॥ अलङ्कृतां महारत्नैर्ध्यात्वा रक्ताम्बरान्विताम् । जुहोति लक्षं स्वाद्वक्तैः सरोजैरिन्दिरामय" इति । *आभूतसंप्लवम्* कल्पम् ॥ २९ ॥
मन्त्रान्तरमुद्धरति *वाग्भवमिति* । विष्णोर्वनिता–श्रीबीजं, मकरकेतनः कामबीजम् चतुर्वर्गफलावह इत्यनेन विनियोगं वदतैतदुक्तं भवति धर्मार्थं वाग्भवादित्वम् । अर्थार्थं लक्ष्मीबीजादित्वं, मोक्षार्थं मायाबीजादित्वमिति । पूर्वोक्ता ऋष्याद्याः द्वितीयं बीजं तृतीयं शक्तिः *अङ्गानीति* । दीर्घाढ्यं षड्दीर्घयुक्तं यद्रमाबीजं श्रीबीजं तेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥
हस्ताब्जैरिति । उपमितसमासः । वरदानमित्येकम् । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥३१–३३॥
मन्त्रान्तरमाह—*दीर्घेति* । प्रणवोत्थकलासु दीर्घा नकारशक्तिः । यादिर्मः । स विसर्गान्तः सविसर्ग इति मकारविशेषणम् । ब्रह्मा कः । भानुर्मकारः । "अत्र आत्मा रविः स्मृत" इत्युक्तः । यथा महाकालो मकारमूर्त्तिः । महाकालशब्दवाच्यं विषं च तद्दक्षिणनासापुटगतम् । तेनादित्योमः । *तदुक्तं* "रविः पिङ्गलायां चरत्येष तस्माद्विषं दक्षिणेभागदष्टं मु-

ऋषिर्दक्षो विराट्छन्दो देवता श्रीः समीरिता ॥ ३५ ॥
देव्यै हृदयमाख्यातं पद्मिन्यै शिर ईरितम् ।
विष्णुपत्न्यै शिखाप्रोक्ता वरदायै तनुच्छदम् ॥ ३६ ॥
अस्त्रं कमलरूपायै नमोऽन्ताः प्रणवादिकाः ।
अङ्गमन्त्राः समुद्दिष्टा ध्यायेद्देवीमनन्यधीः ॥ ३७ ॥
आसीना सरसीरुहे स्मितमुखी हस्ताम्बुजैर्बिभ्रती ।
दानं पद्मयुगाभये च वपुषा सौदामिनीसन्निभा ॥
मुक्तादामविराजमानपृथुलोत्तुङ्गस्तनोद्भासिनी ।
पायाद्वः कमला कटाक्षविभवैरानन्दयन्ती हरिम् ॥ ३८ ॥
दशलक्षं जपेन्मन्त्रं मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ।
दशांशं जुहुयान्मन्त्रान् मधुराक्तैः सरोरुहैः ॥ ३९ ॥
श्रीपीठे पूजयेद्देवीमङ्गानि प्रथमं यजेत् ।
बलाकाद्यास्ततः पूज्या लोकेशास्त्रावृतीरपि ॥ ४० ॥
इति सम्पूजयेद्देवीं संपदामालयो भवेत् ।
समुद्रगायां सरिति कण्ठमात्रे जले स्थितः ॥ ४१ ॥
त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्री साक्षाद्वैश्रवणो भवेत् ।
आराध्योत्तरनक्षत्रे देवीं स्रक्चन्दनादिभिः ॥ ४२ ॥
नन्द्यावर्तभवैः पुष्पैः सहस्रं जुहुयात्ततः ।
पौर्णमास्यां फलैर्बैल्वैर्जुहुयान्मधुराप्लुतैः ॥ ४३ ॥
पञ्चम्यां विशदाम्भोजैः शुक्रवारे सुगन्धिभिः ।
अन्यैर्वाविशदैः पुष्पैः प्रतिमासं विशालधीः ।
स भवेदब्दमात्रेण सर्वदा संपदां निधिः ॥ ४४ ॥

नीन्द्रैरि"ति । तेन यत्कचिदपि विषशब्देन मकारोगृह्यते तदपि व्याख्यातं, वसुन्धरा लः । वा स्वरूपं, सिन्यै स्वरूपं, वह्नेः प्रिया-स्वाहा । अस्मिन्नपि मन्त्रे प्रणवशक्तिवाक्कामादित्व-मिति पद्मपादाचार्याः । पूर्ववत्तद्देवतानामुपसर्जनत्वं च । श्रीबीजं स्वाहा शक्तिः ॥' ३४-३५ ॥

पञ्चाङ्गमन्त्रानाह—"देव्यै इति* । ॐ देव्यै नमः हृदयाय नम इत्यादि प्रयोगः । पञ्चाङ्गत्वाच्छेत्राभावः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

आसीनेति दानं—वरम् । आयुधध्यानं तु पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

मन्त्रविदिति । अनेन नारायणाष्टाक्षरस्य शेषतया दशांशजपः । दशांशेन रत्नगर्भाजपोऽपि सूचितः । *मधुरै*—त्रिमधुरम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥

संपदामिति । अनेन विनियोगोक्तिः *समुद्रगायामिति* । "साक्षादि"ति शेषः ॥ ४१ ॥

वैश्रवणः । कुबेरः । *आराध्येत्यादि* संपदां निधिरित्येकः प्रयोगः । *उत्तरनक्षत्र इति* । उत्तरात्रयमपि ज्ञेयम् । आराध्येति सहस्रमिति च सर्वत्र संबध्यते । मधुराप्लुतैस्त्रि-मधुराक्तैरिति च । *अन्यैर्वेति* । वा शब्दार्थः समुच्चये । एकत्रोभयसन्निपाते पृथगुभयहोमो च तन्त्रं, भिन्नद्रव्यत्वात् । भिन्ननिमित्तत्वाच्च ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

वाग्भवं शम्भुवनिता रमा मकरकेतनः ।
तार्तीयं हि जगत्पार्श्वो वह्निबीजसमुज्ज्वलः ॥ ४५ ॥
अर्घीशाढ्यो भृगुस्त्यैहत् मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः
महालक्ष्म्याः समुद्दिष्ट स्ताराद्यः सर्वसिद्धिदः ॥ ४६ ॥
ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्ट श्छन्दो गायत्रमीरितम् ।
देवता जगतामादिर्महालक्ष्मीः समीरिता ॥ ४७ ॥
हस्तौ संशोध्य मन्त्रेण तारादिहृदयान्तिकम् ।
बीजानां पञ्चकं न्यस्येदङ्गुलीषु यथाक्रमम् ॥ ४८ ॥
मन्त्रशेषं न्यसेन्मन्त्री तलयोरुभयोरपि ।
मूर्धादि चरणं यावत् मन्त्रेण व्यापकं न्यसेत् ॥ ४९ ॥
मूर्धादिवक्त्रगुह्या(१)ङ्घ्रौ पञ्चबीजानि विन्यसेत् ।
शेषान्न्यसेत्सप्तवर्णान् हृदये सप्तधातुषु ॥ ५० ॥
अङ्गानि पञ्चभिर्बीजैरस्त्रं शिष्टाक्षरैर्भवेत् ।
ज्ञानैश्वर्यादिभिर्युक्तैश्चतुर्थ्यन्तैः सजातिभिः ॥ ५१ ॥
ज्ञानमैश्वर्यशक्ती च बलवीर्ये सतेजसी ।
ज्ञानैश्वर्यादयः प्रोक्ताः षट्क्रमादङ्गदेवताः ॥ ५२ ॥
एवं न्यस्तशरीरोऽसौ स्मरेदुद्यानमुत्तमम् ।
चम्पकाशोकपुन्नागपाटलैरुपशोभितम् ॥ ५३ ॥
लवङ्गमालतीबिल्वदेवदारुनमेरुभिः ।
मन्दारपारिजाताद्यैः कल्पवृक्षैः सुपुष्पितैः ॥ ५४ ॥
चन्दनैः कर्णिकारैश्च मातुलिङ्गैश्च वञ्जुलैः ।

मन्त्रान्तरमाह—*वाग्भवमिति* । शंभुवनिता–मायाबीजम् । *तार्तीयं* बालायाः भैरव्या वा । केचिद्रेफहीनं भैरव्या इति वदन्ति । अयमेव सांप्रदायिकः पक्षः । जगत्–स्वरूपम् । *पार्श्वः* पकारः । वह्निबीजसमुज्ज्वलः । रेफयुक्तः । तेनप्र ॥ ४५ ॥

अर्घीश ऊः । तेनाढ्यो भृगुः सकारस्तेनस् । त्यै स्वरूपं, हृन्तमः । ताराद्यः "त्रयोदशाक्षर" इति शेषः । *सर्वसिद्धिद* इत्यनेन विनियोग उक्तः । प्रणवो बीजं, तार्तीयं शक्तिः ॥४६॥४७॥

हस्तमार्जनमाह—*हस्तौसंशोध्येति* । हस्तयोर्मूलमन्त्रं व्यापकत्वेन विन्यसेदित्यर्थः । *मन्त्रेणेति* । मूलमन्त्रेण । *तारादिहृदयान्तिकमिति* । *मन्त्रविशेषणं यथाक्रमम् । *अङ्गुलीष्विति* । अङ्गुष्ठाद्यासु ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

मूर्धादीति । तत्रापि न्यासे तारादिहृदयान्तिकमिति सम्बध्यते ॥ ५० ॥

अङ्गानीति अत्रापि । ज्ञानैश्वर्यादिभिर्युक्तैरिति व्यधिकरणे तृतीये । चतुर्थ्यन्तैर्ज्ञानैश्वर्यादिभिर्युक्तैरिति । बीजैः शिष्टाक्षरैरित्युभयत्र विशेषणम् । *अङ्गानीति* । "ऐं ज्ञानाय हृदयाय नमः" "श्रीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा" इत्यादिः प्रयोगः । केचन संप्रदायादात्मने शब्दमप्याहुस्तन्मते—"ऐं ज्ञानात्मने हृदयाय नमः" इत्यादिः प्रयोगः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

नमेरु रुद्राक्षः । महासरसि तन्मध्ये पुलिने मनसा मण्डपं सञ्चिन्त्य तन्मध्ये पारिजातं

---

(१) प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः ।

दाडिमीलकुचाङ्कोलैः पूगैः कुरवकैरपि ॥ ५५ ॥
कदलीकुन्दमन्दारनालिकेरैरलङ्कृतैः ।
अन्यैः सुगन्धिपुष्पाढ्यैर्वृक्षसंघैश्च मण्डितम् ॥ ५६ ॥
मालती मल्लिका जाती केतकी शतपत्रकैः ।
पारन्ती तुलसी नन्द्यावर्तैर्दमनकैरपि ॥ ५७ ॥
सर्वर्तुकुसुमोपेतैर्नमद्भिरुपशोभितम् ।
मन्दमारुतसंभिन्नकुसुमामोदिदिङ्मुखम् ॥ ५८ ॥
तस्य मध्ये सदोत्फुल्लैः कुमुदोत्पलपङ्कजैः ।
सौगन्धिकैश्च कह्लारैर्नवैः कुवलयैरपि ॥ ५९ ॥
हंससारसकारण्डभ्रमरैश्चक्रनामभिः ।
अन्यैः कलकलारावैर्विहगैरुपशोभितम् ॥ ६० ॥
महासरसि तन्मध्ये पुलिनेऽतिमनोहरे ।
परितः पारिजाताढ्यं मण्डपं मणिकुट्टिमम् ॥ ६१ ॥
उद्यदादित्यसंकाशं भास्वरं शशिशीतलम् ।
चतुर्द्वारसमायुक्तं हैमप्राकारशोभितम् ॥ ६२ ॥
रत्नोपक्लृप्तसंशोभि कपाटाष्टकसंयुतम् ।
नवरत्नसमाक्लृप्तं तुङ्गगोपुरतोरणम् ॥ ६३ ॥
हेमदण्डसमालम्बि ध्वजावलिपरिष्कृतम् ।
नवरत्नसमाबद्धस्तम्भराजिविराजितम् ॥ ६४ ॥
सहस्रदीपसंयुक्तदीपदण्डविराजितम् ।
तप्तहाटकसंक्लृप्तवातायनमनोहरम् ॥ ६५ ॥
नानावर्णांशुकोद्बद्धसुवर्णशतकोटिभिः ।
किङ्किणीमालिकायुक्तं पताकाभिरलङ्कृतम् ॥ ६६ ॥
जातरूपमयैरत्नविचित्रैरतिविस्तृतैः ।
माणिक्यरत्नैर्वैदूर्य्यस्वर्णमालावलीयुतैः ॥ ६७ ॥
अन्तरान्तरसम्बद्धरत्नैर्दृष्टिमनोहरैः ।
विचित्रैश्चित्रवर्णैश्च वितानैरुपशोभितम् ॥ ६८ ॥
सर्वरत्नसमायुक्तं हेमकुट्टिममुज्ज्वलम् ।
केतकीमालतीजातीचम्पकोत्पलकेसरैः ॥ ६९ ॥
मल्लिकातुलसीजातीनन्द्यावर्तकदम्बकैः ।

भावयत् इति सम्बन्धः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७॥५८॥५९॥६०॥६१॥६२॥६३॥६४॥६५॥

नानावर्णांशुकेति । पताकाविशेषणम् । जातरूपमयैरित्यादि—वितानैरित्यस्य विशेषणम् । अथ च पृथिव्यनन्तरं क्षीरसिन्धुम् । द्वीपम् । उद्यानं महासरः नलिनं मण्डपं पारिजातं रत्नसिंहासनं पूजयेत् । शेषं समानम् ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

एतैरन्यैश्च कुसुमैरलङ्कृतमहीतलम् ॥ ७० ॥
अम्बुकाश्मीरकस्तूरीमृगनाभितमालकैः ।
चन्दनागरुकर्पूरैरामोदितदिगन्तरम् ॥ ७१ ॥
एवं सञ्चिन्त्य मनसा मण्डपं सुमनोहरम् ।
तन्मध्ये भावयेन्मन्त्री पारिजातं मनोहरम् ॥ ७२ ॥
तस्याधस्तात्स्मरेन्मन्त्री रत्नसिंहासनं शुभम् ।
तस्मिन्सञ्चिन्तयेद्देवीं महालक्ष्मीं मनोरमाम् ॥ ७३ ॥
बालार्कद्युतिमिन्दुखण्डविलसत्कोटीरहारोज्ज्वलाम् ।
रत्नाकल्पविभूषितां कुचनतां शालैः करैर्मञ्जरीम् ॥
पद्मे कौस्तुभरत्नमप्यविरतं सम्बिभ्रतीं सुस्मिताम् ।
फुल्लाम्भोजविलोचनत्रययुतां ध्यायेत्परां देवताम् ॥ ७४ ॥
सिञ्जन्मञ्जीरसंशोभिपादाम्भोजविराजिताम् ।
नवरत्नगणाकीर्णकाञ्चीदामविभूषिताम् ॥ ७५ ॥
मुक्तामाणिक्यवैदूर्यसम्बद्धोदरबन्धनाम् ।
विभ्राजमानां मध्येन वलित्रितयशोभिताम् ॥ ७६ ॥
जाह्नवीसरिदावर्तशोभिनाभिविभूषिताम् ।
पाटीरपङ्ककर्पूरकुङ्कुमालङ्कृतस्तनीम् ॥ ७७ ॥
वारिवाहविनिर्मुक्तमुक्तादामगरीयसीम् ।
वहन्तीमुत्तरासङ्गन्दुकूलपरिकल्पितम् ॥ ७८ ॥
तप्तकाञ्चनसन्नद्धवैदूर्याङ्गदभूषणाम् ।
पद्मरागस्फुरद्वर्णकङ्कणाढ्यकराम्बुजाम् ॥ ७९ ॥
माणिक्यशकलाबद्धमुद्रिकाभिरलङ्कृताम् ॥
तप्तहाटकसंक्लृप्तमालाग्रैवेयशोभिताम् ॥ ८० ॥
विचित्रविविधाकल्पकम्बुसंकाशकन्धराम् ।
उद्यद्दिनकराकारमणिताटङ्कमण्डिताम् ॥ ८१ ॥

हेमकुट्टिमर्मिति । "कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि"ति कोशः *वास*अट(१)रूपः॥६९॥ ७०॥

अम्बु सुगन्धिद्रव्यं "कुमकुमा" इति कान्यकुब्जभाषायां, कस्तूरी मृगस्यनाभिरिति विग्रहः ॥ ७१ ॥

एवं संचिन्त्य मनसा मण्डपमिति । पूर्वं मण्डपमित्युक्तं तस्यैवानुवादः । *तन्मध्ये* इत्यस्य विशेषणैर्व्यवहितत्वेन सम्बन्धस्य बुद्धिस्थत्वात् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

कोटीरो मुकुटः । आयुधध्यानं तु पूर्ववत् ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

पाटीरं चन्दनम् ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

ग्रैवेयं—कण्ठभूषा ॥ ८० ॥

कम्बुः शङ्खः । मत्तालिमालेव विलसतः येऽलङ्कारा इति विग्रहः । घृतैरेव दशांशहोमः ।

---

१ एषपाठोमूलेऽन्यत्रापि नदृष्टः ।

रत्नाङ्कितलसत्स्वर्णकर्णपूरोपशोभिताम् ।
जपाविद्रुमलावण्यललिताधरपल्लवाम् ॥ ८२ ॥
दाडिमीफलबीजाभदन्तपङ्क्तिविभूषिताम् ।
कलङ्ककार्श्यनिर्मुक्तशरच्चन्द्रनिभाननाम् ॥ ८३ ॥
पुण्डरीकदलाकारनयनत्रयसुन्दरीम् ।
भ्रूलताजितकन्दर्पकरकार्मुकविभ्रमाम् ॥ ८४ ॥
विलसत्तिलपुष्पश्रीविजयोद्यतनासिकाम् ।
ललाटकान्तिविभवविजितार्द्धसुधाकराम् ॥ ८५ ॥
सान्द्रसौरभसम्पन्नकस्तूरीतिलकाङ्किताम् ।
मत्तालिमालाविलसदलकाढ्यमुखाम्बुजाम् ॥ ८६ ॥
पारिजातप्रसूनश्रीवाहिधम्मिल्लबन्धनाम् ।
अनर्घ्यरत्नघटितमुकुटाङ्कितमस्तकाम् ॥ ८७ ॥
सर्वलावण्यवसतिं भवनं विभ्रमश्रियः ।
तेजसां जन्मभूमिं तां महालक्ष्मीं मनोहराम् ॥ ८८ ॥
एवं सञ्चिन्त्य यो देवीं हविष्याशी जितेन्द्रियः ।
भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद् घृतैः ॥ ८९ ॥
जुहुयाच्छ्रीफलैः पद्मैः प्रत्येकमयुतं ततः ।
त र्पयेत्सलिलैः शुद्धैः सुगन्धैरयुतं द्वयम् ॥ ९० ॥
श्रीबीजस्योदिते पीठे महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ।
श्रीबीजेनासनं दद्यान्मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९१ ॥
पूजयेद्दक्षिणे पार्श्वे देव्याः शङ्करनन्दनम् ।
अन्यतः पुष्पधन्वानं पुष्पाञ्जलिकरं यजेत् ॥ ९२ ॥
अङ्गानि पूर्वमुक्तेषु स्थानेषु विधिवद्यजेत् ।
उमाद्याः पत्रमध्यस्थाः शक्तीरष्टौ यजेत् क्रमात् ॥ ९३ ॥
अथोमा श्रीसरस्वत्यौ दुर्गा धरणिसंयुता ।
गायत्री देव्युषा चैवपद्महस्ताः सुभूषणाः ॥ ९४ ॥
जह्नुसूर्यसुते पूज्ये पादप्रक्षालनोद्यते ।
शङ्खपद्मनिधी पूज्यौ पार्श्वयोर्धृतचामरौ ॥ ९५ ॥

अयुतद्वयहोमस्त्वधिकः ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

पीठे अष्टदलद्वादशदलचतुरस्रचतुर्द्वाररूपे ॥ ९१ ॥

शङ्करनन्दनं गणेशं, स्कन्दमित्यपरे । *पुष्पाञ्जलिकरे* इत्युभयध्यानम् ॥ ९२ ॥

पूर्वमुक्तेषु—तुर्योक्तेषु । *विधिवदिति* । शिरआद्यङ्गेषु नमोयोग युक्तः । अथवा यथान्यासमात्मनेपदसहितानीत्युक्तम् ॥ ९४ ॥

पद्मे हस्तयोर्यस्याः सा पद्महस्ता । पश्चादष्टानां पद्महस्ताशब्दानामेकशेषे बहुवचनं ज्ञेयम् ॥ ९४ ॥

जह्नु इत्यारभ्य पश्चिम इत्यन्ते तृतीयावरणम् ॥ ९५ ॥

घृतातपत्रं वरुणं पूजयेत्पश्चिमे ततः ।
संपूज्य राशीन्परितो यजेदथ नवग्रहान् ॥ ९६ ॥
अर्चयेद्दिग्गजान् दिक्षु चतुर्दन्तविभूषितान् ।
ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः ॥ ९७ ॥
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ।
अभ्यर्चयेदथेन्द्रादीन् तदस्त्राणि बहिर्यजेत् ॥ ९८ ॥
आगमोक्तेन विधिना सुगन्धैः सुमनोहरैः ।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्देवीमन्वहमादरात् ॥ ९९ ॥
दूर्वाभिराज्यसिक्ताभिर्जुहुयादायुषे नरः ।
दशरात्रं समिद्धेऽग्नौ अष्टोत्तरसहस्रकम् ॥ १०० ॥
गुडूचीराज्यसंसिक्ता जुहुयात्सप्तवासरम् ।
अष्टोत्तरसहस्रं यः स जीवेच्छरदां शतम् ॥ १०१ ॥
हुत्वा तिलान् घृताभ्यक्तान्दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
आरभ्यार्कदिने मन्त्री दशरात्रं दिनेदिने ॥ १०२ ॥
आज्याक्तार्कसमिद्धोमादारोग्यं लभते ध्रुवम् ।
कण्ठमात्रोदके स्थित्वा ध्यात्वा देवीं दिवाकरे ॥ १०३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्दशशतमष्टोत्तरमिमं जपेत् ।
आरोग्यं लभते सद्यो वाञ्छितान्यपि मन्त्रवित् ॥ १०४ ॥
शालीभिर्जुहुतो नित्यमष्टोत्तरसहस्रकम् ।
अचिरादेव महती लक्ष्मीः संजायते ध्रुवम् ॥ १०५ ॥
प्रसूनैर्जुहुयान्मन्त्री लक्ष्मीवल्लीसमुद्भवैः ।
नन्द्यावर्तसमुत्थैर्वा सिद्धार्थैश्च घृतप्लुतैः ॥ १०६ ॥
महतीं श्रियमाप्नोति मान्यते सर्वजन्तुभिः
मरीचैर्जीरकोन्मिश्रैर्नारिकेलरजाप्लुतैः ॥ १०७ ॥
सगुडैराज्यसंपक्वैरपूपैराज्यलोलितैः ।
जुहुयात्पायसाहारो मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ॥ १०८ ॥

संपूज्येति । द्वादशदले । *राशीनिति* । तद्वर्णा *आचार्यैरुक्ताः* । "आपनीरज्युक्-न्याः पीताः स्युरुभयास्त्वमी । वणिङ्मकरमेषाह्वकुलीरारकरोच्चिषः । चरावशिष्टाश्चत्वारः स्थिराः श्वेताः पृथङ्मता" इति । तत्तन्नामानुरूपं च स्वरूपं ज्ञेयम् । इदञ्चतुर्थावरणम् । *अथ परितो यजेन्नवग्रहानिति* तद्वर्णास्तत्स्वरूपं च चन्द्रमन्त्रे वक्ष्यति ॥ ९६ ॥

दिग्गजानिति । श्वेतान् । *दिक्ष्विति* । स्वस्वदिक्षु ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

अष्टोत्तरसहस्रकमिति । द्वयमपि प्रत्यहं हुत्वेत्यष्टोत्तरसहस्रमिदमुत्तरप्रयोगेऽपि १००-१०१

*अर्कदिन*मादित्यवासरः ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

जुहुयादिति *अष्टोत्तरं सहस्रम्* । *लक्ष्मीवल्ली* तु ताम्बूलाकारपत्रा रक्तमञ्जर्यावन्तुः सवत्सपत्या । वाशब्दः समुच्चये ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अष्टोत्तरशतं नित्यं मण्डलाद्धनदो भवेत्।
हविषा गुडमिश्रेण जुहुयादर्थवान् भवेत् ॥ १०९ ॥
जपापुष्पाणि जुहुयादष्टोत्तरसहस्रकम्।
गृहीत्वा प्रजपेद्भस्म नागवल्लीसमन्वितम् ॥ ११० ॥
तिलकं तनुयात्तेन सर्ववश्यकरं भवेत्।
ब्रह्मवृक्षसमित्पुष्पैर्ब्राह्मणान्वशयेद्वशी ॥ १११ ॥
जातीपुष्पैश्च राजानं वैश्यान् रक्तोत्पलैः शुभैः।
शूद्रान्नीलोत्पलैर्हुत्वा वशयेन्मन्त्रवित्तमः ॥ ११२ ॥
पुष्पैर्मधूकजैर्हुत्वा वशमानयति स्त्रियः।
कृत्वा नवपदात्मानं मण्डलं यन्त्रभूषितम् ॥ ११३ ॥
अभिषेकं प्रकुर्वीत विधिना सर्वसिद्धये।
कलशान्स्थापयेत्तेषु पदेषु शुभलक्षणान् ॥ ११४ ॥
चन्दनालिप्तसर्वाङ्गान् दूर्वाक्षतसमन्वितान्।
दुकूलवेष्टितानेतान्पूरयेत्तीर्थवारिणा ॥ ११५ ॥
नवरत्नसमाबद्धं कर्षकाञ्चनकल्पितम्।
मध्यकुम्भे क्षिपेत्पद्मं यन्त्राढ्यं देशिकोत्तमः ॥ ११६ ॥
चन्दनोशीरकर्पूरजातीकक्कोलकुङ्कुमम्।
कुष्ठागरुतमालैलायुतं संपिष्य भागतः ॥ ११७ ॥
विलोड्य सर्वकुम्भेषु रत्नान्यपि विनिःक्षिपेत्।
लक्ष्मी दूर्वा सदाभद्रा सहदेवी मधुव्रता ॥ ११८ ॥
मुशली शक्रवल्लीच क्रान्ताऽपामार्गपत्रकान्।
प्रियङ्गुमुद्गगोधूमव्रीहींश्च सतिलान्यवान् ॥ ११९ ॥
शालितण्डुलमाषांश्च प्रक्षाल्यैतेषु निःक्षिपेत्।

---

*मण्डलादे*कोनमञ्चाशद्दिनैः। *धनदः*। कुबेरः। *प्रजपेदिति*। अष्टोत्तरशतमित्यादिः। *भस्मेति*। हुतजपाभस्म। ब्रह्मवृक्षः पलाशः। "ब्रह्म वै पलाश" इतिश्रुतेः ॥ १०९॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥

अभिषेकमाह—*कृत्वेति*। नवपदात्मानं-तृतीयोक्तनवनाभयन्त्रभूषितं वक्ष्यमाणयन्त्रं तन्मध्यपद्मकर्णिकायां लिखेदित्यर्थः ॥ ११३ ॥

विधिनेति उद्दिष्टं विधिमाह—*कलशानि*त्यादिना ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

कर्षकाञ्चननिर्मितं षष्ट्यधिकशतरक्तिकापरिमितसुवर्णनिर्मितम्। *यन्त्राढ्यं*—यन्त्रयुक्तम्। तेन यन्त्रपद्ममित्यर्थः ॥ ११६ ॥

जाती जातीफलम्। *भागत इति*। समविभागतः ॥ ११७ ॥

*रत्नानि-*मातृकापटलोक्तानि नव। *सर्वकुम्भेषु इति*। अत्रापिना पूर्वोक्तमपि सम्बध्यते। *लक्ष्मीः*पूर्वोक्तलक्षणा १ दूर्वा २ सदाभद्रा-मुस्ता ३ सहदेवी ४ मधुव्रता-भृङ्गराजः ५ मुसली-मुसलीकन्दः ६ शक्रवल्ली-इन्द्रवारुणी ७ क्रान्ता-विष्णुक्रान्ता ८ अपामार्गपत्रम् ९

धात्रीलकुचबिल्वानां कदलीनालिकेरयोः ॥ १२० ॥
फलान्यपि विनिःक्षिप्य पुष्पाण्येतानि निःक्षिपेत् ।
पद्मं सौगन्धिकं जातिं मल्लिकां वकुलं तथा ॥ १२१ ॥
चम्पकाशोकपुन्नागतुलसीकेतकोद्भवम् ।
पल्लवानि वटाश्वत्थप्लक्षोदुम्बरशाखिनाम् ॥ १२२ ॥
ब्रह्मकूर्चं विनिःक्षिप्य चम्पकैः सफलान्वितैः ।
पिधाय कुम्भवक्त्राणि क्षौमैराच्छादयेत्ततः ॥ १२३ ॥
आवाह्य मध्यकलशे महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ।
यजेदुमाद्याः शिष्टेषु कलशेष्वष्टसु क्रमात् ॥ १२४ ॥
गन्धैर्मनोहरैः पुष्पैर्धूपदीपसमन्वितैः ।
निवेद्य भक्ष्यभोज्यानि तान्स्पृष्ट्वा प्रजपेन्मनुम् ॥ १२५ ॥
त्रिसहस्रं, जपस्यान्ते साध्यमानीय संयतम् ।
संस्थाप्य स्थण्डिले पीठं तस्मिंस्तं विनिवेशयेत् ॥ १२६ ॥
रम्यैराभरणैर्वस्त्रैरलङ्कृत्य तमादरात् ।
सुमङ्गलीभिर्नारीभिः क्षिप्तपुष्पाक्षतान्वितम् ॥ १२७ ॥
अर्चितानां द्विजातीनामाशीर्वादपुरःसरम् ।
नदत्सु पञ्चवाद्येषु मुहूर्ते शोभने सुधीः ॥ १२८ ॥
मध्यस्थं कुम्भमुत्सृज्य महालक्ष्मीमनुस्मरन् ।
अभिषिञ्चेत्क्रमादन्यैः कलशैरपि देशिकः ॥ १२९ ॥
करेणास्य शिरःस्पृष्ट्वा प्रयुञ्जीताशिषं गुरुः ।
भद्रमस्तु शिवं चास्तु महालक्ष्मीः प्रसीदतु ॥ १३० ॥
रक्षन्तु त्वां सदा देवाः संपदः सन्तु सर्वदा ।
अथोत्थायाभिषिक्तः सन् वाससी परिधाय च ॥ १३१ ॥
यथाविधि समाचम्य दण्डवत्प्रणमेद्गुरुम् ।
वस्त्रैराभरणैर्धान्यैर्धनैर्गोमहिषादिभिः ॥ १३२ ॥
दासीदासैश्च विधिवत्तोषयेद्देवताधिया ।
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चाद्दीनान्धकृपणैः सह ॥ १३३ ॥

एतानि प्रक्षाल्य एतेषु नवकुम्भेषु प्रत्येकं निःक्षिपेदित्यग्रिमेणान्वयः । प्रियङ्गुः—कङ्गुः ॥ *निःक्षिपेदिति* । प्रत्येकम् । *फलान्यपीति* । पल्लवानीति च सर्वकुम्भमुखेषु ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

ब्रह्मकूर्चं—दीक्षापटलोक्तम् ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

तान्स्पृष्ट्वेति । कुशादिना युगपत् सुमङ्गलीभिश्चिरण्टी(१)भिरित्यर्थः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

---

(१) युवतीभिः । वधूट—चिरण्ट—शब्दौ यौवनवाचिनाविति वृत्तिकृतः ।

महान्तमुत्सवं कुर्याद्भवने बन्धुभिः सह ।
तदा कृतार्थमात्मानं मन्यते मनुजोत्तमः ॥ १३४ ॥
अभिषिक्तो नरपतिः परान् विजयतेऽचिरात् ।
पदेच्छुः पदमाप्नोति राजपुत्रो न संशयः ॥ १३५ ॥
अभिषिक्ता सती वन्ध्या सूते पुत्रं महामतिम् ।
महारोगेषु जातेषु कृत्याद्रोहेषु देशिकः ॥ १३६ ॥
भूतेषु दुर्निमित्तादौ विदध्यादभिषेचनम् ।
सर्वसम्पत्करं पुंसां सर्वसौभाग्यसिद्धिदम् ॥ १३७ ॥
सर्वरोगप्रशमनं सर्वापद्विनिवारणम् ।
गर्भरक्षाकरं स्त्रीणां दीर्घायुर्जनकं परम् ॥ १३८ ॥
प्रसूतानामपि स्त्रीणां सूतिकागाररक्षकम् ।
प्रनष्टपुष्पगर्भाणां पुष्पगर्भाभिरक्षणम् ॥ १३९ ॥
आसन्नशत्रुभीतीनां नाशनं च महीभृताम् ।
अभिषेकमिमं प्राहुरागमार्थविशारदाः ॥ १४० ॥
वेदादिस्थितसाध्यनाम युगशः श्रीशक्तिमारान्वितं
किञ्जल्केषु दिनेशपत्रविलसन्मन्त्राक्षरं तद्बहिः ।
पद्मं व्यञ्जनकेसरं स्वरलसत्पत्राष्टयुग्मं धरा-
बिम्बाभ्यां वषडन्तया त्वरितया यन्त्रं लिखेद्वेष्टितम् ॥ १४१ ॥
भूपुरद्वयकोणेषु हसौ लेख्यौ पुनः पुनः ।
महालक्ष्मीयन्त्रमिदं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ॥ १४२ ॥
सर्वदुःखप्रशमनं सर्वापद्विनिवारणम् ।
बहुना किमिहोक्तेन परमस्मान्न विद्यते ॥ १४३ ॥

आशिषमेवाह—*भद्रमस्त्विति* ॥ १३० ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥ ॥ १३६ ॥ १३७ ॥ १३८ ॥ १३९ ॥ १४० ॥

यन्त्रमेवाह—*वेदादीति* । पद्मं पद्मरूपं यन्त्रम् लिखेदिति—सम्बन्धः । किंविशिष्टं ? वेदादिः प्रणवः तत्रस्थम् साध्यनाम साध्यसाधककर्मनाम यत्र तत्कर्णिकायामिति ज्ञेयम् । किञ्जल्केष्विति—वक्ष्यमाणत्वात् । पुनः कीदृक् ? किञ्जल्केषु केसरस्थानेषु युगशो—द्विशः । श्रीशक्तिमारान्वितम् । आद्ये किञ्जल्के श्रीशक्तिः । परे—मारश्रियौ । तत्परे शक्तिमारौ इति क्रमेणेति सम्प्रदायविदः । तेन बीजत्रयस्याष्टावृत्तयः । पुनः कीदृक् ? दिनेशपत्रेषु द्वादशपत्रेषु विलसन्मन्त्राक्षराणि यत्र तत् । पुनः किंविशिष्टं ? तद्बहिः व्यञ्जनकेसरं व्यञ्जनानि ककारादीनि केसरेषु यत्र तत् । केसराणां द्वित्वात् व्यञ्जनद्वयमेकैकस्मिन्केसरस्थाने लेखनीयमित्यर्थः । पुनः कीदृक् ? स्वरैर्लसद्युक्तम् पत्राष्टयुग्मं—षोडशपत्रं यस्मिंस्तत् । धराबिम्बाभ्यां परस्परव्यतिभिन्नाभ्यां वेष्टितं, त्वरितया सहेति सम्बन्धः । इदं चोपरिष्टात् प्रभृति । तेन त्वरितया संवेष्ट्य पश्चाद्भूगृहाभ्यां वेष्टयेत् । अत्र परस्परव्यतिभिन्नत्वमर्थलभ्यम् । यतउपर्युपरि चतुरस्रकोणे एकेनैव चतुरस्रेण साक्षाद्यन्त्रवेष्टनम् । अन्येन तु चतुरस्रस्यैव वेष्टनं न मन्त्रस्य परम्परया यन्त्रवेष्टनत्वमिति चेन्न व्यतिभिन्नत्वेन उभयोरपि साक्षादेव यन्त्रवेष्टितत्वसम्भवात् ।

शम्भुपत्नी श्रिया रुद्धा कमौ भगवतो मही ।
ब्रह्मादित्यौ धरादीर्घा लः क्षादिर्भगवान् मरुत् ॥ १४४ ॥
प्रसीदयुगलं भूयः श्रीरुद्धा भुवनेश्वरी ।
महालक्ष्म्यै नमोऽन्तः स्यात्प्रणवादिरयं मनुः ॥ १४५ ॥
सप्तविंशत्यक्षराढ्यः प्रोक्तः सर्वसमृद्धिदः ।
कमले हृदयं प्रोक्तं शिरः स्यात्कमलालये ॥ १४६ ॥
शिखा प्रसीद तेनैव कवचं चतुरक्षरैः ।
अस्त्रमेतैः पदैः कुर्यात्त्रिबीजपुटितैः पृथक् ॥ १४७ ॥
सिन्दूरारुणकान्तिमब्जवसतिं सौन्दर्यवारांनिधिम् ।
कोटीराङ्गदहारकुण्डलकटीसूत्रादिभिर्भूषिताम् ।
हस्ताब्जैर्वसुपत्रमब्जयुगलादर्शौ वहन्तीं परा-
मावीतां परिचारिकाभिरनिशं ध्यायेत्प्रियां शार्ङ्गिणः ॥ १४८ ॥
लक्षं जपेत्फलैर्बैल्वैर्जुहुयान्मधुरोक्षितैः ।
दशांशं संस्कृते वह्नौ प्राक् प्रोक्तेनैव वर्त्मना ॥ १४९ ॥
श्रीबीजोक्ते यजेत्पीठे वक्ष्यमाणक्रमेण ताम् ।
अङ्गावृत्तेर्बहिः पूज्या मूर्त्तयः श्रीधरादयः ॥ १५० ॥
श्रीधराख्यं हृषीकेशं वैकुण्ठं विश्वरूपकम् ।
वासुदेवं सङ्कर्षणं प्रद्युम्नमनिरुद्धकम् ॥ १५१ ॥

कीदृक्षया त्वरितया ? वषडन्तया । तत्र फट्कारस्थाने वषट्कार इति साम्प्रदायिकाः । अन्ये तु वषट्कारमधिकमाहुः । दृक्षावित्यष्टधावृत्तौ ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

मन्त्रान्तरमाह–*शम्भ्विति* । शम्भुपत्नी–मायाबीजं, श्रिया रुद्धा श्रीबीजपुटिता । एकाक्षरत्वाद्रोधः सम्पुटे पर्यवस्यति । कमौ–ककारमकारौ । भग–एकारस्तद्युक्तः मही लः । तेन ले । नागरलिपौ एकारस्य भगाकारत्वात् स भगशब्दवाच्यः । ब्रह्मादित्या–ककारमकारौ । धरा–लकारः दीर्घा दीर्घयुक्ता । तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादाकारयुक्ता । तेन ला । क्षादिर्लः । मूर्द्धन्य इत्यर्थः । मेरुर्यकारः भगवानेकारयुक्तः तेन ये । इति । महालक्ष्मीति स्वरूपम् । इदं पदं केचन चतुर्थ्यन्तमिच्छन्ति । एभिस्तु यकारस्य कीलकत्वात्तथोद्धृतम् । अन्येतु द्विरुक्त्यादौ भेदमुद्धृत्याष्टाविंशतिवर्णमाहुः ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

सर्वसमृद्धिदइति । विनियोगोक्तिः । श्री–बीजं, माया शक्तिः, कमलवासिनी चास्या ऋष्यादयः ॥ १४६ ॥

तेनैवेति । प्रसीदेत्यनेन *चतुरक्षरैरेवेति* । महालक्ष्मीपदेन । *त्रिबीजपुटितैरिति* । मन्त्रादिस्थप्रणवव्यतिरिक्तत्रिबीजैः । पृथक्–प्रत्येकं, कुर्या"दङ्गानी"ति शेषः । तत्र प्रयोगो–यथा—"श्रीं ह्रीं श्रीं कमले श्रीं ह्रीं श्रीं हृदयाय नमः" इत्यादि । आयुधध्यानं–दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्यन्तम् ॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

अङ्गावृत्तेर्बहिः । केशरेषु । तेन कर्णिकायामङ्गपूजा । अत एव दलमूलेषु संपूज्येत्युक्तिः ॥ १५० ॥ १५१ ॥

पत्रमध्येष्विति । दिक्पत्रमध्येषु । *दमकादिकानिति* । विदिक्पत्रमध्ये । तदग्रेषु ये साधकोत्तमा उपासते इति सम्बन्धः *साधकोत्तमा* ॥

दलमूलेषु सम्पूज्य पत्रमध्येषु संयजेत् ।
भारतीं पार्वतीं चान्द्रीं शचीं च दमकादिकान् ॥ १५२ ॥
दलाग्रेष्वर्चयेद्वाणान् महालक्ष्म्याः क्रमादमून् ।
अनुरागं च संवादं विजयं वल्लभं मदम् ॥ १५३ ॥
हर्षं बलं च तेजश्च लोकनाथाननन्तरम् ।
तदायुधानि तद्बाह्ये पूजयेत्साधकोत्तमः ॥ १५४ ॥
अनेन विधिना देवीं महालक्ष्मीमुपासते ।
ये, तेषु निवसेल्लक्ष्मीरस्मरन्तीनिजालयम् ॥ १५५ ॥
उत्पलैर्जुहुयाल्लक्षं चन्दनाम्भसि लोलितैः ।
शत्रूणां लभते राज्यं विना युद्धेन पार्थिवः ॥ १५६ ॥
जपन् राजसभां गच्छेत्सम्भाव्येत तया नरः ।
दूर्वा देवी महालक्ष्मीर्विष्णुकान्ता मधुव्रता ॥ १५७ ॥
मुसली शक्रवल्ली च सदाभद्राञ्जलिप्रिया ।
हरिचन्दनकर्पूरचन्दनाङ्कोलरोचनाः ॥ १५८ ॥

इत्यनेनैतदुक्तं भवति—सत्यवादित्वादिलक्ष्म्युपासकसमयनिष्ठा इति ॥ १५२ ॥ १५३ ॥ ॥ १५४ ॥ १५५ ॥ १५६ ॥

तयेति। सभया। *देवी*-सहदेवी। मधुव्रता-भृङ्गराजः। सदाभद्रा-मुस्ता। *अञ्जलिप्रिया*-अञ्जलिनी। "हाथाजोडी"ति कान्यकुब्जभाषायाम्। हरिचन्दनं-शीतचन्दनम्। मालूरं बिल्वं, केसरो-नागकेसरः निशा हरिद्रा श्रीसूक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचानां प्रसिद्धतरम्। * तद्विधानं यथा* "आद्यायाः श्रीऋषिः प्रोक्तस्तत आनन्दकर्दमौ। चिक्लीतश्चेन्दिरापुत्रा मुनयः संप्रकीर्त्तिताः। चतुर्दशानां छन्दः स्यादनुष्टुप्तिसृणां पुनः। चतुर्थ्या बृहती पञ्चषष्ठयोस्त्रिष्टुबीरिता॥ सप्तमादिषु चाष्टानामनुष्टुप् परिकीर्त्तितम्। प्रस्तारपङ्क्तिरन्त्याया अग्नी देवौ प्रकीर्त्तितौ॥ आद्यन्तौ बीजशक्ती स्तोविनियोगोधनाप्तये। मूर्द्धाक्षिकर्णघ्राणेषु मुखग्रीवाकरद्वये॥ हृन्नाभिलिङ्गपायूरुजानुजङ्घापदे न्यसेत्। हिरण्मयी च चन्द्रा च रजताद्या स्रजा तथा॥ सुवर्णाद्या स्रजा चैव हिरण्यस्रजा च पञ्चमी। हिरण्यवर्णा एताभिर्नमोऽन्ताभिरथाङ्गकम्॥ रक्ताब्जसंस्थां पद्माक्षीं विचित्रानेकभूषणाम्। अरुणाब्जरजःपुञ्जवर्णां सद्रत्नशेखराम्॥ अब्जयुग्मवराभीतीर्धारयन्तीं निजैर्भुजैः। देवीं त्रैलोक्यजननीमेवं ध्यायेत्तु देशिकः॥ शुक्लप्रतिपदाद्येकादश्यन्तं प्रजपेन्मनुम्। अर्कसाहस्रमेधैस्तु बिल्वैः पद्मैर्घृतेन च॥ पायसेन त्रिमध्वक्तैर्दशांशं जुहुयात्ततः। पुरोदितेन विधिना श्रीपीठे पूजयेच्छ्रियम्॥ मूर्त्तिं मूलेन सङ्कल्प्य उपचारांस्तु षोडश। मन्त्रैस्तु पञ्चदशभिर्ऋग्भिस्तैः कुर्यात्समस्तकैः॥ तत आवरणार्चायां केसरेष्वङ्गपूजनम्। पद्मा च वर्णदम्ना च पद्मस्थार्द्रा तुरीयका॥ तर्पयन्ती च तृप्ता च ज्वलन्ती सप्तमी तथा। स्वर्णप्रकाराष्टमो स्यादेताः पत्रेषु संयजेत्। लोकेशानायुधैः सार्द्धमेवं पूजा समीरिता" इति।

अथ सर्वश्रीमन्त्रान्ते तन्त्रान्तरोक्तं श्रीयन्त्रं लिख्यते—

"अथातः सम्प्रवक्ष्यामिश्रियो यन्त्रं शृणु प्रिये। सर्वसिद्धिप्रदं यन्त्रं सर्वसंमोहनं परम्॥
तेजस्करं पुष्टिकरं श्रीकरं च यशस्करम्। अमृतत्वप्रदं नृणां सर्वाभीष्टफलप्रदम्॥
शत्रूणां नाशनं चैव मन्त्रिणां वर्द्धनं परम्। स्वसेनाहरणं चैव परसेनापसारणम्॥

मालूरकेसरौ कुष्ठं सर्वं पिष्ट्वा निशारसैः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु जपित्वा तिलकक्रियाम् ॥ १५९ ॥
कुर्वतो मन्त्रिणः सर्वे वशास्तिष्ठन्त्यहर्निशम् ।
श्रियोमन्त्रं जपेन्मन्त्री श्रीसूक्तान्यपि संजपेत् ॥ १६० ॥
भूयसीं श्रियमाकाङ्क्षन् सत्यवादी भवेत्सदा ।
प्रत्यगाशामुखोऽश्नीयात्स्मितपूर्वं प्रियं वदेत् ॥ १६१ ॥
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैरात्मानं नियतः शुचिः ।
शयीत शुद्धशय्यायां तरुण्या सह नान्यया ॥ १६२ ॥
नग्नोनावतरेदम्भस्तैलाभ्यक्तोनं भक्षयेत् ।
हरिद्रां न मुखेलिम्पेन्नस्वपेदशुचिः क्वचित् ॥ १६३ ॥

आथर्वणादिभिर्मन्त्रैः शत्रुभिः पीडिते सदा । रक्षणं परमन्त्राणां छेदनं च महेश्वरि ! ॥ धारणाद्यायुरारोग्यं ? सौभाग्यधनप्रदम् । अष्टपत्रं महापद्मं कर्णिकाकेसरैर्युतम् ॥ श्रीबीजं नामसंयुक्तं कर्णिकायां समालिखेत् । अयुतं वारुणं बिन्दुभूषितं प्राग्दले लिखेत्" ॥ अकारयुतं सबिन्दुकं हलमात्रं वकारमित्यर्थः । एवं च वं इति भवति ॥

"वैष्णवं बिन्दुमद्बीजं तस्य दक्षिणदिग्दले ।
अमिति भवति । "नान्तं यान्तसमायुक्तं सबिन्दुं वारुणे दले" ।
नान्तःपकारः । यान्तो रेफः एवं च प्रं इति भवति ।
"विष्णुं बिन्दुसमायुक्तं सौमेवैदिग्दलेलिखेत् ।
अमित्यर्थः । "जान्तं वह्निसमायुक्तं बिन्दुमद्वह्निदिग्दले" ।
जान्तो झकारः वह्नीरेफः । एवं झमिति भवति ॥
"वान्तं विष्णुसमायुक्तं बिन्दुमन्नैर्ऋते दले" ।
वान्तः शकारः । विष्णुरकारः । एवं शं इति भवति ॥

"ब्रह्मणोद्वादशं बीजं पञ्चमस्वरसंयुतम् । बिन्दुनादसमायुक्तं विलिखेत् पावने दले ॥' ब्रह्मा कस्तस्मात् द्वादशोवर्णः ठकारः । पञ्चमस्वरः उकारः । एवं ठुमिति भवति ॥ "वर्गाद्यं शान्तसंयुक्तमेकादशसमन्वितम् । बिन्दुनादसमायुक्तं न्यसेदीशानदिग्दले ।"

वर्गाद्यः ककारः । शान्तः षः । एकादशएकारः क्षेमिति भवति ।

"तद्बाह्ये परितो मन्त्री श्रीबीजं प्रथमावृतौ । द्वितीयं कामबीजेन शक्तिबीजं तृतीयके ॥ ततो भूगृहमालिख्य प्राङ्मुखः सुप्रसन्नधीः । गुरुं सम्पूज्य यत्नेन वस्त्रधान्यधनादिभिः ॥ गन्धपुष्पाक्षताद्यैश्च यन्त्रं सम्पूजयेत्प्रिये ! । सहस्रं च जपं कृत्वा सर्वसिद्धिकरं प्रिये! ॥ रौप्ये पत्रेऽथ लौहे वा भूर्जे वाऽऽलिख्य धारयेत् । बिन्दुयुक्तेन लान्तेन वेष्टयित्वा निरन्तरम् ॥ पुनरष्टदलं पद्मं श्रीं ह्रीं प्रतिदलं लिखेत् । महामायां त्रिकोणाभ्यां वेष्टयित्वा बहिस्ततः ॥ इदं धारयतो नित्यं वर्द्धते श्रीर्न संशय" इति ॥१५८॥१५९॥१६०॥

कमलोपासकस्य धर्मानाह *भूयसीमिति* । *प्रत्यगाशामुखः* पश्चिमास्यः *तरुण्येति* । नच वृद्धया । *उक्तं च* "वृद्धा तु कुरुते ज्वरमि"ति । पञ्चपञ्चाशद्वर्षोपरि स्त्रीणां वृद्धता । *नान्यया* इत्यनेन एतदुक्तं भवति । यदाहुः । "दुष्टां कुष्ठधान्ववायाकुलहकलुषितां मार्गप्रतिपुरुषचलां राजकान्तामकान्तां काङ्क्षीमेकवाराङ्गृहकुसुमयुतां न स्पृशेदिन्दिरार्थी" इति ॥ १६३ ॥

न वृथा विलिखेद्भूमिं न बिल्वं द्रोणमम्बुजम् ।
धारयेन्मूर्द्धिन नैवाद्यान्नोणं तैलं च केवलम् ॥ १६४ ॥
मलिनो न भवेज्जातु कुत्सितान्नं न भक्षयेत् ।
द्रोणपङ्कजबिल्वानि पद्भ्यां जातु न लङ्घयेत् ॥ १६५ ॥
सहदेवीमिन्द्रवल्लीं श्रीवल्लीं विष्णुवल्लभाम् ।
कन्याम्बुजे प्रवालं च धारयेन्मूर्द्धिन सर्वदा ॥ १६६ ॥
इत्याचारपरो नित्यं विष्णुभक्तो दृढव्रतः ।
श्रियमाप्नोति महतीं देवानामपि दुर्लभाम् ॥ १६७ ॥

इतिश्री शारदातिलके अष्टमः पटलः ॥ ८ ॥ * ॥

अथ वक्ष्ये जगद्धात्रीमधुना भुवनेश्वरीम् ।
ब्रह्मादयोऽपि यां ज्ञात्वा लेभिरे श्रियमूर्जिताम् ॥ १ ॥
लकुलीशोऽग्निमारूढो वामनेत्रार्द्धचन्द्रवान् ।

द्रोणं"गूमा" इति कान्यकुब्जभाषायां, श्रीदेवी-श्रीलता विष्णुवल्लभा-विष्णुक्रान्ता । कन्या—घृतकुमारी ॥ १६४ ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

इत्याचारेति । तन्त्रान्तरोक्ताचारग्रहणम् । तदुक्तं *नारायणीये* । "न जिघ्रेन्नाक्रमेच्चाब्जं तद्बीजं न च भक्षयेत् । न स्यान्मलिष्ठो न च्छिन्द्याद् बिल्वं भूमौ शयीत न ॥ लवणामलकं वर्ज्यं नागादित्यतिथौ क्रमात् । पञ्चम्यामुत्तरे च स्त्री वर्ज्या प्रत्यङ्मुखोऽशने ॥ बिल्वैर्न्नं मार्ज्जयेद्दन्तान् त्रिसन्ध्यं प्रणमेच्च तान् । प्रातर्भक्ष्यस्तिलाल्ते न धार्या लक्ष्मी च भक्षयेत् ॥ धारयेन्मूर्द्धिन तत्पुष्पमुत्तरे मधुरान्नभुक् । पायसं बिल्वबीजं च भक्षयेच्छुक्लपर्वणी"ति *प्रयोगसारेऽपि* । "धान्य गो गुरु हुताश नराणां न स्वपेदुपरि नाप्यनुवंशं, नोत्तरापरशिरा नच नग्नो नार्द्रपाणिचरणःश्रियमिच्छन् ॥ नाभ्यञ्ज्यादपि तैलमेव रजनीं नैवानुलिम्पेन्मुखे" इति ॥ १६७ ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां श्रीमन्त्रनिरूपणं नाम अष्टमः पटलः ॥ ८ ॥ * ॥

श्रीगणेशाय नमः । एवं सरस्वतीश्रीमन्त्रानुक्त्वा तदन्तर्गतत्वात्, एतदन्तरं भुवनेशीमन्त्रान् वक्तुमारभते—*अथेति* । यां ज्ञात्वेत्यनेनास्यास्त्र्यक्षरा नानापि भेदाः सूचिताः । तत्र वाक्पुटितत्वं श्रीपुटितत्वं श्रीकामपुटितत्वं कामश्रीपुटितत्वं च ग्रन्थकार एव वक्ष्यति । एवं कामपुटितत्वं श्रीवाक्पुटितत्वम् । वाक्कामपुटितत्वम् । कामवाक्पुटितत्वमिति चत्वारो भेदाः स्वयमूहनीयाः । *तदुक्तं* "कामाद्यन्ता प्रभवति यदा सर्वकामेश्वरी सा साद्यन्तश्रीः सुतधनफला वाक्प्रदा वाग्भवेन । एवं व्यस्तैर्विरचितपुटा कामधुक् सा हि शक्ति"रिति । *अन्यत्रापि*—"सम्पुटीकृत्य चा मन्त्रो कामबीजेन सुन्दरि ! । अभ्यासान्नियताहारस्त्रैलोक्यं वशमानयेत्" इति । *पद्मपादाचार्यैः* । प्रणवपुटितत्वं बीजचतुष्टयपुटितत्वमिति भेदद्वयमन्यदप्युक्तम् । *श्रियमूर्जितामिति* । विनियोगसूचनम् ॥ १ ॥

मन्त्रमुद्धरति—*लकुलीशइति* । लकुलीशोहः । अग्नी रः वामनेत्रम् ई । अर्द्धचन्द्रो बिन्दुः । एवं च मिलित्वा बीजमेकम् । *सिद्धिकाङ्क्षिभिः सेवितमिति* । अनेनास्य केवलस्या-

बीजं तस्याः समाख्यातं सेवितं सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ २ ॥
ऋषिः शक्तिर्भवेच्छन्दो गायत्री देवता मनोः ।
कथिता सुरसंघेन सेविता भुवनेश्वरी ॥ ३ ॥
षड्दीर्घयुक्तबीजेन कुर्यादङ्गानि षट् क्रमात् ।
संहारसृष्टिमार्गेण मातृकान्यस्तविग्रहः ॥ ४ ॥
मन्त्रन्यासं ततः कुर्याद्देवताभावसिद्धये ।
हृल्लेखां मूर्द्धिन वदने गगनं हृदयाम्बुजे ॥ ५ ॥
रक्तां करालिकां गुह्ये महोच्छुष्मां पदद्वये ।
ऊर्ध्वप्रागुदग्दक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु मुखेषु च ॥ ६ ॥
सद्यादिह्रस्वबीजाढ्या न्यस्तव्या भूतसप्रभाः ।
अङ्गानि विन्यसेत्पश्चाज्जातियुक्तानि षट्क्रमात् ॥ ७ ॥
ब्रह्माणं विन्यसेद्भाले गायत्र्या सह संयुतम् ।
सावित्र्या संयुतं विष्णुं कपोले दक्षिणे न्यसेत् ॥ ८ ॥

पि सकलपुरुषार्थसाधनता सूचिता । तथाच *भुवनेश्वरीपारिजाते*—"मत्समः पुरुषो नास्ति त्वत् समा नास्ति चाङ्गना । मायाबीजसमो मन्त्रो न भूतो न भविष्यति"। इति ॥ २ ॥

शाक्तरिति । वसिष्ठपुत्रः । तदुक्तं *संहितायाम्* । "ऋषिः शक्तिर्वशिष्ठस्य सुत" इति । हं बीजम् ईं शक्तिः । तदुक्तं *दशपटल्यां*—"हं बीजमीं शक्तिरस्य इष्टार्थे विनियोजनमि"ति ॥ ३ ॥

षड्दीर्घेति । अत्र तु षडङ्गमन्त्रोद्धारमात्रं कृतम् । न्यासं वक्ष्यति न्यासावसरे । *संहारसृष्टिमार्गेणेति* । अत्राल्पाच्तरत्वात् सृष्टिशब्दस्य पूर्वनिपातः कर्त्तव्यः । स च न कृतस्तेन संहारन्यासं कृत्वा सृष्टिन्यासं कुर्यात् । तदुक्तं *संहितायाम्*—"अकाराद्यर्णपर्यन्तां विपरीतक्रमेण तु । गुरूपदेशविधिना मातृकां प्रथमं न्यसेत् ॥ संहारमातृकान्यासो ब्रह्मानन्दरसोज्ज्वल" इति । *आचार्या अपि*—"संहृत्य चोत्पाद्य शरीरमेवमि"ति ॥४॥५॥

पदद्वये इति । एकदैव एकहस्तेनेति ज्ञेयम् । अन्यथा मन्त्रावृत्तिप्रसङ्गात् ॥ ६ ॥

सद्यादीति । सद्यइकारस्तदादयः पञ्चह्रस्वाः । अनेन विलोमप्रकारेण नपुंसकव्यतिरिक्ता गृह्यन्ते ओ ए उ इ अ । सद्यादयो ह्रस्वा यस्मिन् एवं भूतं यद्बीजं तदाढ्या इति सम्प्रदायविदः । तेन हों हें हुं हिं हं इति बीजानि भवन्ति । *गूढार्थदीपिकाकारस्तु*ऊ ऐ ऌ ॠ उ इमान् पञ्चह्रस्वानुक्तवान् । तन्न । सर्वत्राग्रेऽपि सम्प्रदायानुसारेण सद्यादिग्रहणे नपुंसकव्यतिरिक्तानामेव ग्रहणात् । केचन स्वरमात्रं बीजत्वेनाहुः । तदपि न । बीजशब्दोपादानवैयर्थ्यात् । उक्तंच *दशपटल्यां*—"सद्योऽष्टभुविनेत्रार्धैर्विद्यां संभेद्य मन्त्रवित ।। हृल्लेखादीन्प्रविन्यस्येदि"ति । *भूतसप्रभा इति* । पृथिव्यादिक्रमेणेत्यर्थः । तेन हृल्लेखा पीता । गगना विशदा । रक्ता-रक्ता । महोच्छुष्मा कृष्णा । करालिका स्वच्छेति ॥ *अङ्गानीति* । पूर्वोक्तैः सजातिभिरङ्गमन्त्रैरित्यर्थः । अतएव पश्चादिति । *तदुक्तमाचार्यैः* । "हृल्लेखायां गगनं रक्तं च करालिकां महोच्छुष्माम् । मूर्द्धनि वदने हृदये गुह्ये पदयोस्तदङ्गैश्चे"ति ॥ ७ ॥

योनिन्यासमाह—*ब्रह्माणमिति* तत्र ह्रां ह्रीं ह्रूं इति गायत्र्यादीनां बीजानि । हं हिं हुमिति ब्रह्मादीनाम् । अन्येषां स्वस्वबीजानि । निष्ठ्योराद्यक्षरं बीजमितिज्ञेयम् । तत्र प्रयोगः । ह्रां गायत्रीसहिताय हं ब्रह्मणे नम इत्यादि । शक्तीनामादित्वं पूजायां स्फुटीभविष्यति ॥ ८ ॥

वागीश्वर्या समायुक्तं वामगण्डे महेश्वरम् ।
श्रिया धनपतिं न्यस्येत् वामकर्णाग्रके पुनः ॥ ९ ॥
रत्या स्मरं मुखे न्यस्य पुष्ट्या गणपतिं न्यसेत् ।
सव्यकर्णोपरि निधी कर्णगण्डान्तरालयोः ॥ १० ॥
न्यस्तव्यौ, वदने मूलं भूयश्चैतांस्तनौ न्यसेत् ।
कण्ठमूले स्तनद्वन्द्वे वामांसे हृदयाम्बुजे ॥ ११ ॥
सव्यांसे पार्श्वयुगले नाभिदेशे च देशिकः ।
भालांसपार्श्वजठरपार्श्वांसापरके हृदि ॥ १२ ॥
ब्रह्माण्याद्यास्ततोन्यस्या विधिना प्रोक्तलक्षणाः ।
मूलेन व्यापकं देहे न्यस्य देवीं विचिन्तयेत् ॥ १३ ॥
उद्यदिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम् ।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजेद्भुवनेशीम् ॥१४॥
प्रजपेन्मन्त्रविन्मन्त्रं द्वात्रिंशल्लक्षमानतः ।

वामकर्णाग्रके । वामकर्णोपरि । शास्त्रे वृक्षवद्व्यवहारात् ॥ ९ ॥

सव्यकर्णोपरि । दक्षकर्णोपरि । वामस्य पूर्वमुक्तेः । *निधी* । श्रीपटलोक्तस्वरूपौ संशक्तिकौ *कर्णगण्डान्तरालयोरिति* । दक्षवामयोः ॥ १० ॥

मूलं । मूलमन्त्रम् । *वदन इति* तदेकदेशश्चिबुकं लक्षयति । *एतानिति* । ब्रह्मादीन्मूलान्तान् । अयमेव साम्प्रदायिकः पाठः । केचन एतां तनौ न्यसेदिति पठन्ति । तन्मते एतां भुवनेशीं कण्ठादिस्थानेषु नवसु न्यसेत् । *स्तनद्वन्द्वे* । दक्षवामे ॥ ११ ॥

*सव्यांऽसे*दक्षिणांसे । यद्यपि "वामं शरीरं सव्यं स्यादि"तिकोशः । तथाप्यत्र सव्यशब्देन दक्षिण एव गृह्यते । वामस्य पूर्वं पृथगुक्तेः । तथाचशैवागमे—"विन्यसेत्सव्यवामयोरि"ति बहुषु व्यवहारः । "सव्यं दक्षिणवामयोरि"ति कोशान्तरं च । *पार्श्वयुगले* । दक्षवामे । देशिक इत्यनेन सबीजत्वमुक्तम् । *भालांसेति* मातृकान्यासस्थानम् । *अंसपार्श्वे* । वामगते । पार्श्वांसौ—दक्षिणौ । अपरकं—ककुत् । यद्यप्यपरगलशब्देन ककुदुच्यते । तथाप्यत्र भीमोभीमसेन इतिवत्प्रयोगः । तदुक्तं "अलिकांसपार्श्वकुक्षिषु पार्श्वांसापरकहृत्सु चक्रमशः । ब्रह्माण्याद्या विधिवत् न्यस्तव्या मातरोऽत्र मन्त्रितमैरि"ति ॥ १२ ॥

विधिनेति । सबीजाद्याः । *प्रोक्तलक्षणाः* मातृकापटलोक्तध्यानाः । *व्यापकमिति* । कराभ्यां मस्तकाद्यापादाङ्गुष्ठम् ॥ १३ ॥

उद्यदिति । इनः सूर्यः रक्तपद्मस्थामित्यपि । आयुधध्यानम् वामाधो हस्ते वरं, दक्षिणोर्ध्वेऽङ्कुशं, वामोदूर्ध्वेपाशं, दक्षाधोऽभयमिति सम्प्रदायविदः । तदुक्तं*महासंमोहने*—"दक्षिणेचाङ्कुशं दद्याद्वामे पाशं प्रदापयेत् । वरदं वामतो दद्यादभयं दक्षिणे कर" इति ॥ १४॥

पूजयेदिति । मन्त्रार्थानुसन्धानपूर्वकं हरिहरात्मकप्रकृतिपुरुषाकारेणावस्थिताया आद्यशक्तेः प्रतिपादकोऽयं मन्त्रः । तत एव भुवनेशीति नाम । *तदुक्तं*—"हरिस्त्वाच हरस्त्वाच पुंप्रकृत्योस्तु युक्तयोः । श्लिष्टोच्चारितमेवेदं शब्दतद्रूपमीरितमि"ति । *संहितायांतु* "व्योमबीजे महेशानी कैलासादिप्रतिष्ठितम् । वह्निबीजात् सुवर्णादि निष्पन्नं बहुधा प्रिये ! ॥ तेनायं वर्त्तते लोके भूमण्डलसमास्थितः । तुर्यस्वरेण पाताले शेषरूपेण धार्यते ॥ महाभूमण्डलन्तस्मात् पातालस्यापि नायिकाम् । अतएव महेशानी भुवनाधीश्वरी प्रिये ! ॥ हकारे व्योमतुर्येण स्व-

त्रिस्वाद्वक्तैः प्रजुहुयादष्टद्रव्यैर्दशांशतः ॥ १५ ॥
दद्यादर्घ्यं दिनेशाय तत्र संचिन्त्य पार्वतीम् ।
पद्ममष्टदलं बाह्ये वृत्तं षोडशभिर्दलैः ॥ १६ ॥
विलिखेत्कर्णिकामध्ये षट्कोणमतिसुन्दरम् ।
ततः संपूजयेत्पीठं नवशक्तिसमन्वितम् ॥ १७ ॥
जयाख्या विजया पश्चादजिता चापराजिता ।
नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मङ्गला नव ॥ १८ ॥

रेणानिलसंभवः । विकारे सति रेफेण साक्षाद्वह्निस्वरूपिणी ॥ वह्नेर्वीर्यं वसु ज्ञेयं तस्माद्रेफोवसुन्ध-रा । अतएव महेशानी रलयोः समता भवेत् ॥ बिन्दुवंशसृता देवी प्लावयन्ती जगत् त्रयम् । द्रवरूपा भवेत्तस्मात् द्रवन्ती चार्द्धमात्रया ॥ अतएव महेशानी भुवनेशीति कथ्यते" इति । *मन्त्रविदिति* अनेन सकलोयोगः । मोक्षार्थे प्रणवयोगोऽपि सूचितः । यद्वा *तन्त्रान्तरोक्तं पुरश्चरणं यथा* । "एकलिङ्गे शिवागारे दक्षिणामूर्तिमाश्रितः । बद्धपद्मासनो भस्मस्नायी च कुशविष्टरः ॥ कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत्स्यात्तच्चतुर्दशी । नित्यमिष्ट्वा शिवं शक्तिं जपेन्मन्त्रं सहस्रकम् ॥ दधिक्षौद्रघृताभ्यक्तां व्याघातसमिधं हुनेत् । ततः साम्बं सहस्रं च ध्यायेत् सर्वेश्वरीमुमामि"-ति । अन्ये पयःस्थाने शर्करामाहुः । "जपाद्दशांशं जुहुयाद्दशाष्टद्रव्यैर्गुडक्षौद्रघृतावसिक्तै-रि"ति । तट्टीकाकारैर्गुडः शर्करेति व्याख्यातम् । *अष्टद्रव्यैरिति* । मातृकापटलोक्तैः ॥ १५॥

दद्यादिति । मूलेन । *तत्रेति* । सूर्यमण्डले । इयंसौरी शक्तिरिति कृत्वा अत्रार्घ्यदा-नप्राधान्यादत्रोक्तः । परन्तु सर्वमन्त्रेषु तत्तन्मन्त्रदेवतां सूर्यमण्डले संचिन्त्य सूर्यायार्घ्यः क-र्त्तव्य इति ज्ञेयम् । *यदाहुः* "एवं शक्तिं परां ध्यात्वा सम्यक् मुद्राः प्रदर्शयेत् । पाशाङ्कु-शाभयाभीष्टपुस्तकज्ञानयोनयः" इति । तत्र *पाशमुद्रालक्षणं यथा* "वाममुष्टिस्थतर्जन्या द-क्षमुष्टिस्थतर्जनीम् । संयोज्याङ्गुष्ठकाग्राभ्यां तर्जन्यग्रे स्वके क्षिपेत् ॥ एषा वै पाशमुद्रेति विद्व-द्भिः परिकीर्त्तिते"ति । शेषमुद्रालक्षणानि मया पूर्वमुक्तानि । बीजमुद्रा गुरुमुखात् ज्ञेया । अत्र स्वपूजासाधनप्रोक्षणमन्त्रोऽयं ज्ञेयः । "प्रणवो वाग्भवो माया श्रीबीजं परमामृतम् । रूपे भ-गवति प्रोक्ता चन्द्रमण्डलवासिनी ॥ चन्द्रामृतेन पूरयेद्द्वितयं द्रव्यमित्यपि । इदं पवित्रय-द्वन्द्वं श्रीमायावाक्द्विठस्ततः । तेनामृतेन सम्प्रोक्षेदात्मानं साधनानि चे"ति । पूजायन्त्रमाह *पद्ममिति* ॥ १६ ॥

षट्कोणमिति ऊर्ध्वाऽधोऽग्रत्रिकोणे परस्परभेदिते । *अतिसुन्दरमिति* । अनेन यथा समं भवति तथा कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । तत्र त्रिकोणादीनां समत्वे प्रकार उच्यते "छित्वा वृत्तप्राग्गुणाद्भिन्नं तिर्यगन्यौ तु पार्श्वयोः । त्र्यस्राःषट्त्वन्यतोऽप्येवं द्वादशाराडदीच्यपि" ॥ इति । समं प्राचीसूत्रं कृत्वा तन्मध्यमालम्ब्यत्र्येष्टिसितं वृत्तं कृत्वा तत्र प्राचीसूत्रं चतुर्द्धा वि-भजेत् । एकस्मादन्यात्तुर्यांशं संत्यज्य एकं तिर्यक्सूत्रं पातयेत् । पार्श्वयोः सूत्रद्वयदानात् त्र्य-स्रम् । एवमन्यतोऽपि कृते षडस्रम् । एवमुदक्दक्षिणतः कृते द्वादशास्रमित्यर्थः । *वृत्तप्रमाण माचार्यैरुक्तं* "षडङ्गुलप्रमाणेन वर्त्तुलङ्कुर्युर लिखेत् । षडङ्गुलावकाशेन तद्बहिश्च प्रवर्त्तयेत् ॥ वर्तुलं तावता भूयस्तद्बहिश्च तृतीयकम् । मध्यवर्त्तुलमध्येतु हृल्लेखाबीजमालिखेत् । द्वितीयवर्त्तु-लादिलष्टमीपत्रदिलष्टषडस्रकम् । पुटितं मण्डलं ब्रह्मेरष्टृतरमध्यवर्त्तुलम् ॥ इन्द्राग्निरक्षोवरुण-वाय्वीशाशास्वकं लिखेदि"ति । अत्रोपरि वृत्तद्वयमपि षट्कोणसमत्वानयनार्थमेवेति ज्ञेयम् । अन्यशक्तिमन्त्रपूजायन्त्रे तथोक्तेः । चतुर्द्वारमित्यपि । तस्य साधरणत्वादत्रानोक्तिः । *तत-इति* । नित्यजपानन्तरमित्यर्थः । अन्तर्यागानन्तरं तस्य कृतत्वात् ॥ १७ ॥ १८ ॥

बीजाद्यमासनं दत्वा मूर्तिं तेनैव (मूलेन) पूजयेत् ।
तस्यां संपूजयेद्देवीमावाह्यावरणैः सह ॥ १९ ॥
मध्यप्राग्याम्यसौम्येषु पश्चिमेषु यथाक्रमात् ।
हृल्लेखाद्याः समभ्यर्च्याः पञ्चभूतसमप्रभाः ॥ २० ॥
वरपाशाङ्कुशाभीतिधारिण्योऽमितभूषणाः ।
स्थानेषु पूर्वमुक्तेषु पूजयेदङ्गदेवताः ॥ २१ ॥
षट्कोणेषु यजेन्मन्त्री पश्चान्मिथुनदेवताः ।
इन्द्रकोणे कलदण्डकुण्डिकाक्षगुणाभयाम् ॥ २२ ॥
गायत्रीं पूजयेन्मन्त्री ब्रह्माणमपि तादृशम् ।
रक्षः कोणे शङ्खचक्रगदापङ्कजधारिणीम् ॥ २३ ॥
सावित्रीं पीतवसनां यजेद्विष्णुं च तादृशम् ।
वायुकोणे परश्वक्षमालाभयवरान्विताम् ॥ २४ ॥
यजेत्सरस्वतीमित्थं रुद्रं तादृशलक्षणम् ।
वह्निकोणे यजेद्रत्नकुम्भं मणिकरण्डकम् ॥ २५ ॥
कराभ्यां बिभ्रतं पीतं तुन्दिलं धननायकम् ।
आलिङ्ग्य सव्यहस्तेन वामेनाम्बुजधारिणीम् ॥ २६ ॥
धनदाङ्कसमारूढां महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ।
वारुणे मदनं बाणं पाशाङ्कुशशरासनम् ॥ २७ ॥
धारयन्तं जपारक्तं पूजयेद्रत्नभूषणम् ।
सव्येन पतिमाश्लिष्य वामेनोत्पलधारिणीम् ॥ २८ ॥

पीठमन्त्रमुद्धरति *बीजाद्यमिति* । तत्र प्रयोगः। मूलबीजमुच्चार्य "सर्वशक्तिकमलासनाय नम" इति । *तदुक्तम्* "सर्वशक्तिपदम्प्रोच्य ङेन्तं च कमलासनम् । नम इत्यासनं पूज्य तत्तद्बीजादिकं बिदे !" इति। अयंपीठमन्त्रः सर्वभुवनेशीमन्त्रसाधरण इति ज्ञेयम्। अस्याः पद्मं रक्तं ध्येयम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे* । "रक्ताम्भोजं समाधाय रत्नसिंहासनोपरि । तामावाह्य हृदा देवीमि"ति । *तेनैवेति* मध्यादि धृता यथाक्रमं समभ्यर्च्याइत्यन्वयः । आदिशब्दार्थमाह—*प्रागिति* । *हृल्लेखाद्या इति* । यथान्यस्ताः । आसामायुधध्यानं देवीवत् ॥ १९ ॥ २० ॥

पूर्वमुक्तेषु—चतुर्थपटलोक्तेषु आग्नेयादिषु । तानि आग्नेयादीनि कर्णिकान्तस्थानीति ज्ञेयम् । "अङ्गानि केसरेष्वि"ति यद्वक्ष्यमाणं ग्रन्थकृता, स सामन्योक्तस्यानुवादः कृतः। अयमाशयः । अङ्गानि केसरेष्विति अन्यत्र, इहतु कर्णिकायामेव पूजेति । *तदुक्तमाचार्यैः* । "हृल्लेखाद्यास्तदनु च पूर्ववदङ्गानि पूजनीयानी"ति । केचित्तु उभयत्र षडङ्गन्यासस्थलद्वयेऽप्यङ्गपूजनमित्याहुः । तच्च प्रपञ्चसारादिविरुद्धम् ॥ २१ ॥

प्रथममूर्ध्वाग्रत्रिकोणेषु प्रादक्षिण्येन पश्चादीशानान्तां पूजामभिदधदधराग्रत्रिकोणकोणेषु प्रादक्षिण्येन पूजामाह—*षट्कोणेष्विति* । अतएवेत्युक्तिः । वामोर्ध्वादि आद्ये, दक्षोर्ध्वाद्य-परे, इत्यायुधध्यानम् । गायत्र्यां दक्षवामयोराद्ये, अधस्थयोः परे, इति । सावित्र्यां—वामोर्ध्वाद् वामाधस्तनं यावत् । सरस्वत्यां-रत्नकुम्भोवामे,ऽन्योदक्षे । दक्षिणाधस्तादूर्ध्वामाः

पाणिना, रमणाङ्कस्थां रतिं सम्यक् समर्चयेत् ।
ऐशाने पूजयेत्सम्यक् विघ्नराजं प्रियान्वितम् ॥ २९ ॥
सृणिपाशधरं कान्तावराङ्गस्पृक्कराङ्गुलिम ।
माध्वीपूर्णकपालाढ्यं विघ्नराजं दिगम्बरम् ॥ ३० ॥
पुष्करे विलसद्रत्नस्फुरच्चषकधारिणम् ।
सिन्दूरसदृशाकारामुद्दाममदविभ्रमाम ॥ ३१ ॥
धृतरक्तोत्पलामन्यपाणिना तु ध्वजस्पृशम् ।
आश्लिष्टकान्तामरुणां पुष्टिमर्चेद्दिगम्बराम् ॥ ३२ ॥
कर्णिकायां, निधी पूज्यौ षट्कोणोभयपार्श्वयोः ।
अङ्गानि केसरेष्वेताः पश्चात्पत्रेषु पूजयेत् ॥ ३३ ॥
अनङ्गकुसुमा पश्चादनङ्गकुसुमातुरा ।
अलङ्गमदना पश्चादनङ्गमदनातुरा ॥ ३४ ॥
भुवनपाला गगन–वेगा चैव ततःपरम् ।
शशिरेखाथ गगन–रेखा चैवाष्टशक्तयः ॥ ३५ ॥
पाशाङ्कुशवराभीतिधारिण्योऽरुणविग्रहाः ।
ततः षोडशपत्रेषु कराली विकराल्युमा ॥ ३६ ॥
सरस्वती श्रीदुर्गोषा लक्ष्मीश्रुत्यौ स्मृतिर्धृतिः ।
श्रद्धा मेधा मतिःकान्तिरार्याः षोडश शक्तयः ॥ ३७ ॥
खड्गखेटकधारिण्यः श्यामाः पूज्याश्च मातरः ।
पद्माद्बहिस्समभ्यर्च्याः शक्तयः परिचारिकाः ॥ ३८ ॥
प्रथमाऽनङ्गरूपा स्यादनङ्गमदना ततः ।
मदनातुरा भुवन–वेगा भुवनपालिका ॥ ३९ ॥

पर्य्यन्तं वदने, वामदक्षयोरूर्ध्वयोरङ्कुशपाशौ कान्तावराङ्गस्पृगधोवामेन माध्वीत्यादिदक्षिणाधइति । विघ्नराजे–पुष्करं करिहस्ताग्रं । उद्दामेत्यादि शक्तिध्यानम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

धृतरक्तोत्पलामिति । दक्षिणे । *अन्येति* । वामेन ॥ ३२ ॥

कर्णिकायामिति । पद्मकर्णिकायाम् । यथान्यस्ताम् । *एता इति* अनन्तरं वक्ष्यमाणानङ्गकुसुमाद्याः । आसां ध्यानं देवीवज् ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ २६ ॥ ३७ ॥

खेटकं–फरीइति कान्यकुब्जभाषायाम् । श्यामाइत्यन्तं पूर्वशक्तिध्यानम् । *पूज्याश्चेति* । चकारोभिन्नक्रमः । मातर इत्येतदनन्तरं द्रष्टयाः । मातरश्च कारात् वक्ष्यमाणशक्तयश्च । तेन मातरो यथान्यस्ताः पद्माद्बहिःपूज्याः । पद्माद्बहिः परिचारिका अथ दिक्षु एता द्विभुजाः वामहस्ते रक्तोत्पलं, परहस्ते चषकादि। तदुक्तं *प्रयोगसारे* "रक्ता रक्तोज्ज्वलाकल्पा रक्तान्तायतलोचनाः । रक्तोत्पलकरा ध्येयाः सुन्दराः परिचारिका" इति । अत्र सर्वत्र तर्पणादीनामन्येषामप्यङ्गानां सत्त्वादृध्यानपूजाजपहोमानेवाह तेनैषां नित्यकर्त्तव्यत्वं सूचितम् । तदुक्तं *पिङ्गलामते* "नाध्यातो नार्चितो मन्त्रः सुशिद्धोऽपि प्रसीदति । नाजप्तः सिद्धिदानेच्छुर्नाहुतः फलदो भवेत् ॥ पूजां ध्यानं जपं होमं तस्मात्कर्मचतुष्टयम् । प्रत्यहं साधकः कुर्यात् स्वप-

स्यात्सर्वंशिशिरानङ्गवेदनाऽनङ्गमेखला ॥
व्यजकं तालवृन्तंच ताम्बूलं छत्रमुज्ज्वलम् ॥ ४०
चामरेचांऽशुकं पुष्पं बिभ्राणा करपङ्कजैः ।
सर्वाभरणसंदीप्तालीकपालान्बहिर्यजेत् ॥ ४१ ॥
वज्रादीन्यपि तद्बाह्ये देवीमित्थं प्रपूजयेत् ।
पूज्यते सकलैर्देवैः किंपुनर्मनुजोत्तमैः ॥ ४२ ॥
मन्त्री त्रिमधुरोपेतैर्हुत्वाश्वत्थसमिद्वरैः ।
ब्राह्मणान्वशयेच्छीघ्रं पार्थिवान्पद्मैहोमतः ॥ ४३ ॥
पालाशपुष्पैस्तत्पत्नीर्मन्त्रिणः कुमुदैरपि ।
पञ्चविंशतिसञ्जप्तैर्जलैः स्नानं दिनेदिने ॥ ४४ ॥
आत्मानमभिषिञ्चेद्यः सर्वसौभाग्यवान् भवेत् ।
पञ्चविंशतिसञ्जप्तं जलं प्रातः पिबेन्नरः ॥ ४५ ॥
अवाप्य महतीं प्रज्ञां कवीनामग्रणीर्भवेत् ।
कर्पूरागुरुसंयुक्तं कुङ्कुमं साधु साधितम् ॥ ४६ ॥
गृहीत्वा तिलकं कुर्याद्राजवश्यमनुत्तमम् ।

छेत्सिद्धिमिच्छति ॥ जपश्रान्तः शिवं ध्यायेत् ध्यानश्रान्तः पुनर्जपेत् । जपध्यानसमायुक्तः शीघ्रं सिध्यति मन्त्रवित्" ॥ इति । षट्कोणेषु यजेन्मन्त्रीत्यत्र एतदन्तं मन्त्रीति कर्तृपदमनुवर्तते । तेन चैतन्मन्त्रं समयाचारत्वेनैव सूचितम् । यदाहुः "योगेशीसिद्धिमन्विच्छन् सद्वृत्तानि समाचरेत् । नाद्यादनर्चयन् देवीं नैवस्यान्मलिनाकृतिः । नासत्यं प्रवदेत् किञ्चिन्नोपेयाद्विधवां क्वचित् । धारयेत्सर्वतो रम्यं रक्तालङ्कारमन्वहम् । कन्यां रक्तदिने रक्तां यजेद्देवीमनुस्मरन् । अशुद्धो विचरेन्नैव विविक्ते शयने स्वपन् ॥ न निन्दयेत् स्त्रियं जातु विशेषेण तु कन्यकामि"ति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

देवीमित्थं प्रपूजयेदिति । अनेनैतदुक्तं भवति आवरणेषु षोडशशक्त्यनन्तरं द्वात्रिंशच्छक्त्यस्तदनन्तरं चतुःषष्टिशक्तयोऽर्च्या इति । ताश्च भूतलिपिमन्त्रे उक्ता ज्ञेयाः । तत्फलमेवाह *पूज्यते सकलैर्देवैरिति* । *किंपुनर्मनुजोत्तमैरिति* । अनेनैतदुक्तम् स्वोक्तमध्ये यदनङ्गकुसुमाद्यष्टशक्त्यावरणं तदन्तस्य फलं मनुजेति । ततो यत्षोडशशक्त्यावरणं तदेतस्य फलं तदुत्तमैरिति । तदुक्तं *महासंमोहने* "चतुर्भिर्वात्रिभिर्वाऽपि द्वयेनैकेन वा पुनः । सर्वैरावरणैरेवं भोगार्थी विस्तरं यजेत्" इति । *तथा* "गर्भावरणबाह्यानां मध्ये तेषां प्रपूजनमि"ति तत्रैव । तेनास्याः सप्तावरणाद्यारभ्य एकादशावरणान्ता पूजेति सूचितम् एवं पञ्चावरणापीत्यपि ॥ ४२ ॥

*मन्त्रीति*अनेनैतदुक्तं भवति "सिद्धःप्रसिद्धस्तेजस्वी त्यागी योगी जितेन्द्रियः । सर्वज्ञः सुभगः श्रीमाञ्छिराधिः प्रियदर्शनः ॥ चौरादिव्यालवेतालगुह्यकव्यन्तरान्तरैः । न भयं जायते तस्य सिद्धमन्त्रस्य देहिनः ॥ ग्रामे वा नगरे वापि सभायां राजसन्निधौ । प्रसिद्धः पूज्यते सन्निर्लभते वाञ्छितं हितमि"ति । *शीघ्रमिति* अनेनायुतहोम इत्युक्तम् । *पत्प्रयोगसारे* "वटयायाश्वत्थराजीवतिलक्षीरैर्यथाक्रमात् । जुहुयाद्ब्राह्मणादीनां तथैवायुतसंख्यये"ति ॥ *साधुसाधितमिति* अष्टोत्तरसहस्रं जप्तम् ॥ ४३॥४४॥४५॥४६॥

पुत्तलीमिति द्वादशाङ्गुलाऽऽयामां रचयेदिति । दक्षिणपादाङ्गुष्ठादिवामपादाङ्गुष्ठान्तं,

शालिपिष्टमयीं कृत्वा पुत्तलीं मधुरान्विताम् ॥ ४७ ॥
जप्तां प्रतिष्ठितप्राणां पूजयेद्रविवासरे ।
वशं नयति राजानं नारीं वा नरमेव वा ॥ ४८ ॥
कण्ठमात्रोदके स्थित्वा वीक्ष्य तोयगतं रविम् ।
त्रिसहस्रं जपेन्मन्त्रमिष्टां कन्यां लभेन्नरः ॥ ४९ ॥
अन्नं तन्मन्त्रितं मन्त्री भुञ्जीत श्रीप्रसिद्धये ॥
लिखितां भस्मना मायां ससाध्यां फलकादिषु ॥ ५० ॥
तत्काले दर्शयेद्यन्त्रं सुखं सूयेत गर्भिणी ॥ ५१ ॥
शक्त्यन्तः स्थितसाध्यकर्मभवने वह्नेर्वृतं शक्तिभि-
र्बाह्ये कोणगतैर्युतं हरिहरैर्वर्णैः कपोलार्पितैः ।
पश्चात्तैः पुनरीयुतैर्लिपिभिरप्यावीतमिष्टार्थदं
यन्त्रं भूपुरमध्यगं त्रिगुणितं सौभाग्यसम्पत्प्रदम् ॥ ५२ ॥

स्त्रियास्तु वैपरीत्यम् । *भस्मनेति* योगभस्मना चतुस्र इति ज्ञेयम् । पुत्रसम्भावनायां पलाशभस्मनेत्यपेक्षितार्थद्योतनिकायाम् । तदुक्तं *नारायणीये* "भस्मना लिखितां हृल्लेखां शक्रेश्मनी"ति ॥४७॥४८॥४९॥५०॥५१॥

त्रिगुणितं यन्त्रमाह *शक्त्यन्तरिति* एवं भूतं त्रिगुणितं यन्त्रं सौभाग्यसम्पत्प्रदमित्यन्वयः । कीदृक् तत् ? वह्नेर्भवने–ऊर्ध्वाग्रे त्रिकोणे शक्त्यन्तः शक्तिबीजमध्यस्थिता[illegible] । साध्येति–साधकोपलक्षकम् । साध्यसाधककर्माणि यत्र तत् । तत्र प्रयोगः । "देवदत्तस्य यज्ञदत्तं वशं कुरु कुरु" इति । तदुक्तं *रामपूर्वतापिनीये* "लिखेत् साध्यं द्वितीयान्तं षष्ठ्यन्तं साधकं तथा । कुरुद्वयं च तन्मध्ये[illegible]" इति । तत्र बीजरेफभागे साध्यनाम । चतुर्थस्वरभागे साधकनाम । तयोर्मध्ये साधकांशे कर्म लिखेत् । तदुक्तं *संहितायाम्* "तच्छक्तिरेफभागे तु साध्यनामाक्षरं लिखेत् । तुरीयस्वरभागे तु साधकस्य वशं कुरु ॥ साध्यस्योपरि संस्पृष्टं विलिखेत्सर्वसिद्धय" इति । *आचार्याश्च* "मध्यवर्तुलसंस्थायाः हृल्लेखायाः कपोलयोः । अधरे साध्यनामार्णं साधकस्योत्तरेलिखेत् ॥ अन्तराग्निश्रियोः कर्म साधकांशे समालिखेत्" इति । अनेनावश्यं वृत्तान्तः शक्तिं लिखेदित्यप्युक्तम् । *अन्यत्रापि* "ठकारवेष्टितां कृत्वे"ति । *बाह्ये*–त्रिकोणाग्रभागेषु । *शक्तिभिरिति* बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति । तेन त्रिभिः शक्तिबीजैर्वृतम् । आवरणं च गण्डद्वयलिखितहरिहरवर्णबहिर्भागे । तदुक्तं "कोणाग्रेषु परं लिखेत्" इति ।*आचार्याश्च*"शक्त्याविदः साध्यासिन्द्वानिलनिर्ऋतिगबीजानुविपुरेग्नेरि"ति । तत्रावरणमित्थम् । एकैकस्य रेफाग्रेण तत्तद्बीजं प्रदक्षिणीकृताम्यस्याधोनीत्वा सद्बीकाराग्रं बध्नीयादिति । तदुक्तं *संहितायां* "स्थानत्रयेऽपि बन्धस्तु कथ्यते सिद्धिदायकः । तद्बीजत्रयरेफाग्रं प्रादक्षिण्येन वेष्टयेत् ॥ अधस्तस्त्रितयं चास्य मायाग्रेण च वेष्टयेत् । अन्योन्यकलनारम्यः शक्तिबन्ध उदाहृतः" इति । कोणगतेषु तत्त्रिकोणान्तः कोणेषु ईं लिखेत् । *तदुक्तं* त्रिकोणस्यान्तरालेषु वामनेत्रं सबिन्दुकमि"ति । कपोलार्पितैर्हरिहरैर्वर्णैरुपलक्षितम् । कपोलयोस्त्रिकोणपार्श्वयोर्हरिरित्येकत्र हर इत्यपरत्र च । केचन हिहहरित्याहुः । तन्न मानाभावात् । तथा च *संहितायां* "प्रत्येककोणपार्श्वेषु हर्यर्णौ च हराक्षरावि"ति । *पश्चात्* तदनन्तरं तैर्हरिहरैः ईयुतैः । एतेन हरि ई हरईत्यक्षरैरावृतम् । तदुक्तं *संहितायां* "पुनरेतद्द्वयोर्मध्ये तुर्यं चैव सबिन्दुकम् । इत्यर्णैर्वेष्टयेद्बाह्ये वृत्तं कुर्याद्बहिस्ततः" इति । *गौरीतन्त्रेऽपि* हरबीजं हरानादौ क्षान्तवर्णाश्च

बीजान्तः स्थितसाध्यनामशरशोमायारमामन्मथै-
र्वीतं वह्निपुरद्वये रसपुटे स्वाख्याढ्यबीजत्रयम् ।
स्वात्मानात्मकमीं शिखं हरिहरैरावद्धगण्डं बहिः-
षड्बीजैरनुबद्धसन्धिलिपिभिर्वीतं गृहाभ्यां भुवः ॥ ५३ ॥

बाधत" इति ।*आचार्याश्च*"मध्ये समायैरि"ति । *पद्मपादाचार्यास्तु* प्रत्येकमीं योगमाहुः । हरि ईं हर ईं इति । लिपिभिरकारादि-क्षकारान्तैः । अपिशब्दः सर्वसमुच्चये । आवीतं-वेष्टितं, भूपुरमध्यगं-तद्बहिर्भूपुरं लिखेदित्यर्थः । *आचार्यैस्तु* इदमेवाष्टदलयुक्तं पूजायन्त्रमप्युक्तम् ॥ ५२ ॥

षड्गुणितं यन्त्रमाह *बीजान्तरिति* इदं षड्गुणितं यन्त्रं लिखेदिति सम्बन्धः । कीदृग्यन्त्रं ? वह्निपुरद्वये-परस्परव्यतिभिन्ने त्रिकोणद्वये तच्चैवमुक्तपरिमाणं वृत्तं कृत्वा प्राक्प्रत्यक्सूत्रमास्फाल्य तदग्रयोः सूत्रमवष्टभ्य वृत्तार्द्धपरिमाणेन सूत्रेण मत्स्यद्वयं कुर्यात् । एवं कृते मत्स्यचतुष्कं निष्पद्यते । पूर्वमत्स्यद्वये पश्चिममत्स्यद्वये च दक्षिणोत्तरगं सूत्रद्वयमास्फाल्य प्राक्सूत्रस्य प्रागग्रे सूत्रादिं निधाय पश्चिममत्स्यद्वयोदरयोः तिर्यक् सूत्रद्वयमास्फालयेत् । पुनः प्राक्सूत्रस्य पश्चिमाग्रे सूत्रादिं निधाय पूर्वदिङ्मत्स्यद्वयोदरयोः तिर्यक्सूत्रद्वयमास्फालयेत् । प्राक्सूत्रं वृत्तं च मार्जयेत् । एवं कृते संपुटितं वह्निपुरद्वयं जायते । तत्रबीजं शक्तिबीजं तदन्तःस्थितं साध्यनाम यत्र तत्तथा । साध्यसाधककर्मनामलिखनं तु पूर्ववदेव । शरशः-पञ्चधा । तत्र षट्कोणाभ्यन्तर एवं पञ्चभिर्मायाबीजरेकं तदन्तराल एव पञ्चभिः श्रीबीजैर्द्वितीयं वेष्टनं तदन्तराल एवं पञ्चभिः कामबीजैस्तृतीयं वेष्टनम् । एवं पञ्चदशबीजैरेकं वेष्टनं पर्यवसन्नं भवति । तदुक्तं, *पद्मपादाचार्यैः* "तत्र मायाबीजेन पञ्चधा वृत्तेनैकावृत्तिः । पुनस्तदन्तराल एव श्रीबीजेन तथैव । तदन्तराले मारबीजेने"ति । *तदुक्तं* "पुटितं वह्निमालिख्य मध्ये शक्तिं नियोजयेत् । ठकारवेष्टनं कृत्वा बहिः शक्तिं तु पञ्चधा ॥ विलिख्य तद्बहिस्तद्वत् श्रीबीजं कामराजकमि"ति ॥ *आचार्या अपि* "हरमायाः पञ्चकृत्वः स्युर्बहिर्गर्भवर्त्तुलत् । तद्बहिः शरमायाश्च कमलायाश्च तद्बहिरि"ति ॥ अतोऽत्र वृत्तान्तरे च शक्तिबीजं विलिख्य पश्चाद्बीजत्रयवेष्टनं रसपुटेषु षट्सु कोणेषु आख्याद्यबीजत्रयम् । अत्र आख्याशब्देन साध्यसाधककर्मनामान्युच्यन्ते । *बीजत्रयं* पूर्वकृतं शक्तिश्रीमान्मथम् । *तदुक्तं* "वह्नेः कोणत्रये श्रीमत्पक्षीये त्रितयं लिखेत् । शक्तिश्रीकामबीजानां सदण्डं साधकार्णवत्" इति । *लिखेदिति* द्विरावृत्त्या । सा च सात्मानात्मकशब्दादेव लभ्यते । तत्र सात्मकं सबिन्दु । अनात्मपर्युदासेन सविसर्गं, तत्रैवं लेखनक्रमः-ईकारगते तु ऊर्ध्वभागकोणत्रये साधकनामवन्ति सबिन्दूनि त्रीणि बीजानि लिखेत् । ततःप्रादक्षिण्येन रेफगते अधोभागकोणत्रये साध्यनामकर्मवन्ति सविसर्गाणि लिखेत् । *तदुक्तं* "वह्नेः कोणेषु षट्सु च । ऊर्ध्वभागे सबिन्दूनि त्रीणि बीजानि संलिखेत् ॥ साधकाख्ययायुतान्येवमधोभागे तु तान्यपि । विलिख्यसविसर्गाणि कर्मवन्ति च संलिखेत्" इति । *ईं शिखं* कोणान्तराग्रप्रदेशे ईमिति लिखेत् । *हरिहरावद्धगण्डं* गण्डशब्देन षट्कोणकोणपार्श्वद्वयमुच्यते । तेन पूर्ववत् हरिहरानूवर्णान् लिखेत् । *बहिः*षट्कोणाग्रेषु । षड्भिर्मायाबीजैरनुबद्धसन्धिः । तत्र बद्धसन्धीत्येतावताप्यर्थप्राप्तौ यदनुबद्धसन्धीति वदति । तेनैकान्तरितसन्धिबन्धोविवक्षितो ग्रन्थकृतः । *तदाहुराचार्याः* । "एकैकान्तरितांस्तांस्तु संबध्युरितरेतरम् । शिखाभिरान्तराभिस्तु बाह्याः बाह्याभिरान्तरा" इति । *संहितायामपि* "पूर्ववच्छक्तिबन्धस्तु कार्योऽत्रैकान्तरत्ववत्" इति । अन्यत्रापि-*मन्त्रमुक्तावल्यामपि* एकैकान्तरितबद्धसन्धित्वमेवोक्तम् । युक्तिश्चात्र एकान्तरितबन्धे स्वस्वत्रिकोणगबीजबन्धो भवति । तत्प्रकारः । स्वस्वरेफेण तद्बीजं प्रदक्षिणीकृत्यान्तरेऽधो नीत्वा एकान्तरितबीजस्य

चिन्तामणिनृसिंहाभ्यां लसत्कोणमिदं लिखेत् ।
यन्त्रं षड्गुणितं दिव्यं वहतां सर्वसिद्धिदम् ॥ ९४ ॥
बीजं व्याहृतिभिर्वृतं गुहयुगद्वन्द्व वसोः कोणगं
दौर्गं बीजमनन्तरं लिपियुगैराबद्धगण्डं लिखेत् ।
गायत्र्या रविशक्तिबद्धविवरं त्रिष्टुब्वृतं तत्तो-
वीतं मातृकया धरापुरयुगे लसित्सहचिन्तामणिम् ॥ ९५ ॥
मन्त्रं दिनेशगुणितं प्रोक्तं रक्षाप्रसिद्धिदम् ।

ईकाराग्रेण वध्नीयात् । सम्प्रदायविदश्चैवं मन्यन्ते । अन्येतु—स्त्रौं बीजलिखनमाहुः । *तदु-क्तं* "षट्सु कोणान्तरालेषु ह्रह्रेखाषट्कमालिखेत्" इति । इदमुत्तरमन्त्रेऽपि । लिपिभि-रिति सामान्योक्ते क्रमेण व्युत्क्रमेण च वेष्टनम् । *यदाहुराचार्याः* "वर्णाः क्रमगताः शुभाः । तद्बहिः प्रतिलोमाश्चेति" । *संहितायामपि* "अनुलोमेन तद्वृत्तमध्ये पञ्चाशदक्षरा । तत्वृत्तबाह्यतस्तद्वत् विलोमेन च मातृके"ति। *भुवोगृहाभ्यां* परस्परभेदितदिग्विदिक्कोणाभ्यां वेष्टयेत् । *तदुक्तमाचार्यैः* "ततो विदर्भितं भूमेर्मण्डलद्वयमालिखेदि"ति ॥ ९३ ॥

चिन्तामणिनृसिंहाभ्यामिति । ईशानादिलेखनक्रमः । तेन दिक्कोणे नृसिंहबीजं, विदि-क्कोणे चिन्तामणिबीजं क्षौवम् । *तदुक्तं* "मही दिक् च नृसिंहार्णो चिन्ता रत्नाश्रिताङ्क-मिति" । *विशेषश्चायमुक्तोदक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्* "ततः कोणेषु सन्धिषु विलिख्य शूलां-नि"ति । *आचार्याश्च* "बहिः षोडशशूलाङ्कमि"ति ॥ ९४ ॥

अथद्वादशगुणितं यन्त्रमाह *बीजमिति* । वसोरग्नेः गृहयुगं षट्कोणं तद्द्वन्द्वं द्वादशको-णे । क्वचिद् गुहगुखद्वन्द्व इति पाठः । अत्र गुहः स्कन्दः तस्य मुखानि षट् तद्द्वन्द्वे द्वादशकोणे । तत्र पूर्वोक्तप्रकारेण षट्कोणे कृते तत्रोत्पन्नयोर्मत्स्ययोर्दक्षिणोदग्गतं सूत्रमास्फाल्य तदग्रयोः सूत्रमवष्टभ्य वृत्तार्द्धपरिमाणेन सूत्रेण मत्स्यचतुष्टयं दद्यात् । तत्र दक्षमत्स्यद्वये उत्तरमत्स्य-द्वये च पूर्वप्रत्यग्गतं सूत्रद्वयमास्फाल्य दक्षोत्तरसूत्रस्याग्रे सूत्रादिं निधाय उत्तरमत्स्योदरयो-स्तिर्यक् सूत्रद्वयमास्फालयेत् । पुनर्दक्षोत्तरसूत्रस्य द्वितीयाग्रे सूत्रादिं विधाय दक्षमत्स्यद्वयो-दरयोस्तिर्यक् सूत्रद्वयमास्फालयेत् । दक्षोत्तरसूत्रं मार्जयेत् । एवं द्वादशकोणे कृते बीजं शक्ति-बीजं साध्यसाधककर्मसहितं पूर्ववदालिख्य सप्तव्याहृतिभिर्विलोमाभिरावीतं कुर्यात् । यत् *संहितायां* "वेष्टयेत्प्रतिलोमतः । सप्तव्याहृतिभिर्मन्त्री"ति । *आचार्याश्च*"शक्तिं प्रवेष्टये-च्च प्रतिलोमव्याहृतिभिरन्तस्थामिति" । पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातं "सप्तव्याहृतिभिरिति" *कोणगमिति* । द्वादशसु कोणेषु दुरिति दुर्गाबीजमालिख्य अन्तरे कोणान्तराग्रभागे ई इति लिखेद् । तदुक्तं *संहितायाम्* "दुरात्मकं द्वादशारे सबिन्दुन्तुर्यमेव चे"ति । *आचा-र्याश्च* "कोणान्तर्दुर्बीजकमि"ति। *तथा*"रविकोणेषु दुरन्तां मायां विलिखेद्यथान्न बिन्दुमती मि"ति । *नारायणीयेच* "अत्रिस्तद्वीजं शिवसर्गवामि"ति। अपेक्षितार्थद्योतनिकायामृष्या-दिकमुक्तम् । काश्यप ऋषिः गायत्रीछन्दः दुर्गादेवता । अष्टपत्रे कमले दूर्वाश्यामां त्रिनेत्रां शूलबाणखड्गचक्रशङ्खखेटधनुः कपालानि दक्षिणाधः क्रमेण धारयन्तीं ध्यायेत् । दशांशं तिलैर्होमः । पूजादिकं वनदुर्गावज् ज्ञेयम् । *गायत्र्याः* । प्रसिद्धायाः । लिपियुगैरक्षरयुगैः आबद्धगण्डं—प्रत्येकं कोणपार्श्वयोर्विलोमतः गायत्र्यक्षरस्य द्वितयं लिखेदित्यर्थः । णियमिति पृथक्करणेन चतुर्विंशतिरक्षराणि । "इयादिः पूरण" इति पिङ्गलसूत्रात् । यत् *संहितायां* "द्वन्द्वशोविलिखेद्वर्णान् गायत्र्यास्तु विलोमत" इति । *आचार्या अपि* "गायत्रीं प्रति-लोमतः प्रविलिखेदग्नेः कपोलमि"ति । गायत्री द्वाविंशे वक्ष्यति । रविशक्तिभिः कोणा-ग्रबहिःस्थापितद्वादशशक्तिबीजैः । बद्धविवरम् । अत्रापि पूर्ववदेकान्तरितत्वेन बन्धनम् । यत्-

सर्वसौभाग्यजननं सर्वशत्रुनिवारणम् ॥ ५६ ॥
लिखेत्सरोजं रसपत्रयुक्तं मध्ये दलेष्वप्यरिलिख्य मायाम् ।
स्वरावृतं यन्त्रमिदं वधूनां पुत्रप्रदं भूमिगृहान्तरस्थम् ॥ ५७ ॥
षट्कोणमध्ये प्रविलिख्य शक्तिं कोणेषु तामेव विलिख्य भूयः ।
ससाध्यगर्भं वसुधापुरस्थं यन्त्रं भवेद्वश्यकरं नराणाम् ॥ ५८ ॥
वाग्भवं शम्भुवनिता रमा बीजत्रयात्मकम् ।
मन्त्रं समुद्धरेन्मन्त्री त्रिवर्गफलसाधनम् ॥ ५९ ॥
षड्दीर्घभाजा मध्येन वाग्भवाद्येन कल्पयेत् ।
षडङ्गानि मनोरस्य जातियुक्तानि मन्त्रवित् ॥ ६० ॥
कुर्यात्पूर्वोदितान्न्यासान् तथैवात्रापि साधकः ॥ ६१ ॥
सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुर-
त्तारानाथकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यां मणिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं
सौम्यां रत्नघटस्थसव्यचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम् ॥ ६२ ॥
रविलक्षं जपेन्मन्त्रं पायसैर्मधुरप्लुतैः ।
दशांशं जुहुयान्मन्त्री पीठे प्रागीरिते यजेत् ॥ ६३ ॥

संहितायां "पूर्ववच्छक्तिबन्धन्तु कुर्याद्द्वादशधा प्रिये ! एकैकान्तरितं रम्यमि"ति । *आचार्याश्च* "एकैकान्तरितास्ताः परस्परं शक्तयश्च संबन्ध्युरि"ति । *त्रिष्टुप्वृतम्* त्रिष्टुभा "जातवेदस" इति प्रतिलोमेन वेष्टितम् । *तदुक्तं* "तद्बहिः कोणपार्श्वेषु विलोमाग्नेयसन्मनुमि"ति । त्रिष्टुभं द्वाविंशे वक्ष्यति । *मातृकया* अकारादिक्षान्तया विलोमया च वीतम् । तदुक्तं *संहितायाम्* "अनुलोमां विलोमां च मातृकां वेष्टयेद्बहिरि"ति । *आचार्या अपि* "वर्णान् प्रानुगतांश्चे"ति । पूर्ववत्परस्परव्यतिभेदिधरापुटयुग्मं लिखेत् । *सर्सिहचिन्तामणिमिति* पूर्वादि । तेन दिक्कोणे नृसिंहबीजं, विदिक्कोणे शैवं चिन्तामणिबीजम् । इदं दिनेशगुणितं द्वादशगुणितम् । अस्य पूर्वयन्त्रापेक्षया फलादिद्वैगुण्यं ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

यन्त्रान्तरमाह *लिखेदिति* । रसपत्राणि-षट्पत्राणि । तदुक्तं *मायामिति* । ससाध्यां सप्तसु स्थानेषु । *स्वरावृतम्* । अकारादिविसर्गपर्यन्तैः स्वरैरावृतम् । *नारायणीये तु* अत्र चतुरस्रंनोक्तं "मध्ये षट्पत्रपद्मस्य लिखेद्देवीं दलेषु च । स्वरावृतमिदं यन्त्रं धारयेत् पुत्रकामिनी"ति ॥ ५७ ॥

यन्त्रान्तरमाह *षडिति* । *ससाध्यगर्भमिति* सप्तसु स्थानेषु ॥ ५८ ॥

मन्त्रान्तरमुद्धरति *वाग्भवमिति* । वाग्भवं-द्वादशस्वरः सबिन्दुः । शम्भुवनिता शक्तिबीजम् । *त्रिवर्गेति* विनियोगोक्तिः । आद्यं बीजं, मध्यं शक्तिः । ऋषिच्छन्दसी पूर्वोक्ते । अतएव पाशादिमन्त्रे ऋष्याद्याः पूर्वमुक्ता इति प्रत्याहारक्रमेणोक्तम् ॥५९॥

षड्दीर्घेति । ऐं ह्रां हृत् । ऐं ह्रींशिरः । इत्यादिः प्रयोगः । मन्त्रविदित्युत्तरेण सम्बध्यते । तेन साधको मन्त्रविदित्यनेन ह्रल्लेखादिबीजादौ वाग्भवादित्वमन्ते लक्ष्म्यन्तत्वं वदने मूलमित्यन्त्रेमं मन्त्रमित्युक्तम् ॥ ६० ॥ ६१ ॥

मौलि-मुकुटः । *शेखरः* शिरोभूषणं, रत्नपूर्णोघटः रत्नघटः । रक्तपद्मस्थामिस्यपि ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

देवीं प्रागुक्तमार्गेण गन्धाद्यैरतिशोभनैः ।
हुत्वा पलाशकुसुमैर्वाक्श्रियं महतीं व्रजेत् ॥ ६४ ॥
ब्राह्मीघृतं पिबेज्जप्तं कवित्वं वत्सराद्भवेत् ।
सिद्धार्थान् लवणोपेतान् हुत्वा मन्त्री वशं नयेत् ॥ ६५ ॥
नरनारीनरपतीन् नात्रकार्या विचारणा ।
चतुरङ्गुलजैः पुष्पैः चन्दनाम्भः समुक्षितैः ॥ ६६ ॥
हुत्वा वशीकरोत्याशु त्रैलोक्यमपि साधकः ।
जुहुयादरुणाम्भोजैरयुतं मधुरप्लुतैः ॥ ६७ ॥
राज्यश्रियमवाप्नोति सतिलैस्तण्डुलैस्तथा ।
प्रागुक्तान्यपि कर्माणि मन्त्रेणानेन साधयेत् ॥ ६८ ॥
वाग्बीजपुटिता माया विद्येयं त्र्यक्षरी मता ।
मध्येन दीर्घयुक्तेन वाक्पुटेन प्रकल्पयेत् ॥ ६९ ॥
अङ्गानि जातियुक्तानि क्रमेण मन्त्रवित्तमः ।
यथा पुरा समुद्दिष्टान् न्यासान्कुर्वीत मन्त्रवित् ॥ ७० ॥
श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्दानं च रक्तोत्पलं
रत्नाढ्यं चषकं वरम्भयहरं संबिभ्रतीं शाश्वतीम् ।
मुक्ताहारलसत्पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
वन्देऽहं सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्दस्थिताम् ॥ ७१ ॥
तत्त्वलक्षं जपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः ।
पलाशपुष्पैः स्वाद्वक्तैः पुष्पैर्वा राजवृक्षजैः ॥ ७२ ॥
हृल्लेखाविहिते पीठे पूजयेत्परमेश्वरीम् ।
मध्यादि पूजयेन्मन्त्री हृल्लेखाद्याः पुरोदिताः ॥ ७३ ॥

रविलक्षं द्वादशलक्षम् । प्रागीरिते भुवनेशीप्रोक्ते । *गन्धाद्यैरिति* । चतुर्थोक्तः । *अतिशोभनैरिति* । आवरणाङ्गदेवताभ्यां विविक्तीकृतैरित्यर्थः ॥ ६४ ॥

ब्राह्मीघृतमिति । अत्र घृताच्चतुर्गुणे ब्राह्मीरसे घृतं पचेत् । *उक्तंच* "अकल्कोऽपि भवेत्स्नेहो यः साध्यः केवले द्रवे" इति । अन्यन्मातृकापटलोक्तमनुसन्धेयम् । *सिद्धार्थाः* गौरसर्षपाः ॥ ६५ ॥

चतुरङ्गुलो राजवृक्षः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

मन्त्रान्तरमाह *वागिति* बीजं शक्तिः । ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत् । *मध्येनेति* मायाबीजेन दीर्घयुक्तेन-षड्दीर्घयुक्तेन । प्रयोगस्तु ऐं ह्रां ऐं हृत् । ऐं ह्रीं ऐं शिर इत्यादिः । मन्त्रविदित्यनेन हृल्लेखादिबीजादौ वाक्पुटत्वमुक्तम् । ॥ ६९ ॥ ७० ॥

श्यामाङ्गीमित्यादि दानं वरः । भयहरमभयं, परमुत्कृष्टं चषकविशेषणम् । रक्तारविन्दे स्थितीम् रक्तपद्मस्थाम् । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥ ७१ ॥

तत्त्वलक्षं चतुर्विंशतिलक्षम् । स्वाद्वक्तैं स्निग्धमधुराप्लुतैः ॥ ७२ ॥

हृल्लेखाविहिते भुवनेशीप्रोक्ते । तदुक्तं* भुवनेश्वरीपारिजाते* "मायाबीजमिदं प्रोक्तं भुवनत्रयमक्षरम् । हृल्लेखे पञ्चयोगेशी"ति । *पुरोदिता इति* । स्वस्वबीजसंयुक्ताः ॥ ७३ ॥

मिथुनानि यजेन्मन्त्री षट्कोणेषु यथा पुरा ।
अङ्गपूजा केसरेषु पूज्याः पत्रेषु मातरः ॥ ७४ ॥
भैरवाङ्कसमारूढाः स्मेरवक्त्रा मदालसाः ।
असिताङ्गोरुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः ॥ ७५ ॥
कपाली भीषणश्चैव संहारश्चाष्ट भैरवाः ।
शूलं कपालं प्रेतं च बिभ्राणाः क्षुद्रदुन्दुभिम् ॥ ७६ ॥
गजत्वगम्बरा भीमाः कुटिलालकशोभिताः ।
दीर्घाद्या मातरः प्रोक्ताह्रस्वाद्या भैरवाः स्मृताः ॥ ७७ ॥
पूज्याः षोडशपत्रेषु करालयाद्याः पुरोहिताः ।
तद्बाह्येऽनङ्गरूपाद्याः लोकेशास्त्राणि तद्बहिः ॥ ७८ ॥
एवमाराधयेद्देवीं शास्त्रोक्तेनैव वर्त्मना ।
वशं नयति राजानं वनिताश्च मदालसाः ॥ ७९ ॥
अन्नमाज्येन जुहुयाल्लभते वसु वाञ्छितम् ।
सुगन्धैः कुसुमैर्हुत्वा श्रियमाप्नोति वाञ्छिताम् ॥ ८० ॥
मन्त्रेणानेन संजप्तमश्नीयादन्नमन्वहम् ।
भवेदरोगी नियतं दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥
अनन्तो बिन्दुसंयुक्तो माया ब्रह्माग्नितारवान् ।
पाशादित्र्यक्षरो मन्त्रः सर्ववश्यफलप्रदः ॥ ८२ ॥
ऋष्याद्याः पूर्वमुक्ताः स्युर्बीजेनाङ्गक्रिया मता ॥ ८३ ॥
वराङ्कुशौ पाशमभीतिमुद्रां करैर्वहन्तीं कमलासनस्थाम् ।
बालार्ककोटिप्रतिमां त्रिनेत्रां भजेयमाद्यां भुवनेश्वरीं ताम् ॥ ८४ ॥

यथा पुरेति । स्वस्वशक्त्यादिकानि साध्यनामानि । भैरवाङ्केत्यादिना ध्यानविशेष उक्त । अन्यन्मातृकापटलोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

*क्षुद्रदुन्दुभि*र्डमरुः । भैरवायुधध्यानं तु दक्षोर्ध्वाद्वामाधःपर्यन्तम् । दीर्घाद्याः । आकाराद्याः । अष्टौ तदाद्या मातरः अष्टौ यथाक्रमम् । अन्यत्क्षामादिकं पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् । एवं ह्रस्वाद्या इत्यत्रापि । अत्र ए ओ अं इति पारिभाषिकह्रस्वानामपि ग्रहणम् । प्रयोगस्तु "क्षं असिताङ्गभैरवाङ्कस्थायै "आं क्षां ब्राह्म्यै नम" इत्यादि ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ ८१ ॥

मन्त्रान्तरमाह *अनन्त इति* अनन्त-आकारः । बिन्दुसंयुक्तस्तेन आं । ब्रह्मा ककारः । अग्नी-रेफः । तारः प्रणवः । ताभ्यां युक्तस्तेन क्रों । प्रथमबीजस्य "पाश" इति नाम । अन्तस्याऽ"ङ्कुश" इति ।*यदाहुराचार्याः* "बिन्द्वन्तिका प्रतिष्ठा सन्दिष्टा पाशबीजमिति मुनिभिः । निजभूर्दहनाप्यायनशशधरखण्डान्वितोऽङ्कुशोभवती"ति । अतएव पाशादित्र्यक्षरो मन्त्र इति ।*सर्ववश्येति* । विनियोगोक्तिः । बीजशक्ती पूर्ववत् ॥ ८२ ॥

बीजेनेति । मायाबीजेन । षड्दीर्घयुक्तेन । पाशाङ्कुशपुटितेनेति परमगुरवः । प्रयोगस्तु-"आं ह्रां क्रों हृत्" इत्यादि । पाशाङ्कुशपुटितबीजाद्यानां हृल्लेखानांन्यासोऽपि कर्त्तव्यः॥ ८३ ॥

वरेति अभीतिमुद्रामभयम् । *कमलासनस्थां*-रक्तकमलासनस्थाम् । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥ ८४ ॥

हविष्यभुग् जपेन्मन्त्रं तत्त्वलक्षं जितेन्द्रियः ।
तत्सहस्रं प्रजुहुयाज्जपान्ते मन्त्रवित्तमः ॥ ८५ ॥
दधिक्षौद्रघृताक्ताभिः समिद्भिः क्षीरभूरुहाम् ।
तत्संख्यया तिलैः शुद्धैः पयोक्तैर्जुहुयात्ततः ॥ ८६ ॥
हृल्लेखाविहिते पीठे नवशक्तिसमन्विते ।
अर्चयेत्परमेशानीं वक्ष्यमाणक्रमेण ताम् ॥ ८७ ॥
हृल्लेखाद्या यजेदादौ कर्णिकायां यथाविधि ।
अङ्गानि केसरेषु स्युः पत्रस्था मातरः क्रमात् ॥ ८८ ॥
इन्द्रादयः पुनः पूज्यास्तेषामस्त्राणि तद्बहिः ।
एवं संपूजयेद्देवीं साक्षाद्वैश्रवणो भवेत् ॥ ८९ ॥
दृश्यते सकलैर्लोकैस्तेजसा भास्करोपमः ।
अनेनाधिष्ठितं गेहं निशि दीपशिखाकुलम् ॥ ९० ॥
दृश्यते प्राणिभिः सर्वैर्मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ।
सर्षपैर्लोणसंमिश्रैराज्याक्तैर्जुहुयान्निशि ॥ ९१ ॥
राजानं वशयेत्सद्यस्तत्पत्नीमपि साधकः ।
अन्नवानन्नहोमेन श्रीमान्पद्महुताद्भवेत् ॥ ९२ ॥
राजवृक्षसमुद्भूतैः पुष्पैर्हुत्वा कविर्भवेत् ।
अरोगी तिलहोमेन घृतेनायुरवाप्नुयात् ॥ ९३ ॥
प्राक्प्रोक्तान्यपि कर्माणि साधयेत्साधकोत्तमः ॥ ९४ ॥
आलिख्याष्टदिगर्गलान्युदरगं पाशादिकं त्र्यक्षरं

तत्त्वलक्षं–चतुर्विंशतिलक्षम् । *तदुक्तमाचार्यैः* "जपेच्चतुर्विंशतिलक्षमेनं सुयन्त्रितामन्त्रवरं यथावदि"ति । *हविष्यभुक्–जितेन्द्रिय*–इति पुरश्चरणधर्माणामुपलक्षणम् । *तत्सहस्रं*–चतुर्विंशतिसहस्रं, प्रत्येकं षट्सहस्रमित्यर्थः । क्वचित् षट्सहस्रमित्येवपाठः । *तदुक्तमाचार्यैः* "पयोद्रुमाणां च समित्सहस्रंषट्कं दधिक्षौद्रघृतावसिक्तमि"ति । *जपान्ते इति* जपाव्यवधानेन । नियमस्थ एवेत्यर्थः । *मन्त्रवित्तम*–इत्यनेन होमे स्वाहान्तता सूचिता ॥ ८५ ॥

क्षौद्रं–मधु । *क्षीरभूरुहामिति* । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटानाम् *तत्संख्यया*–चतुर्विंशतिसहस्रसंख्यया ॥ ८६ ॥

हृल्लेखाविहिते । भुवनेशीप्रोक्ते । तत्पीठशक्तयोऽत्रापि पीठे पूज्या इत्यर्थः ।*नवशक्तिसमन्विते* इत्यनेन पीठमन्त्रस्यान्यत्वं तेन पीठमन्त्रं बीजत्रययोग इत्युक्तम् । अत्र षट्कोणकर्णिकमष्टदलं पद्मं षोडशदलं नास्ति । तत्र पूजाया अनुक्तत्वात् ॥ ८७ ॥

यथाविधीति बीजद्वयपुटितबीजाद्या इत्युक्तम् । *मातर इति* भैरवाङ्कस्थाः ॥ ९० ॥

दृश्यत इति कर्मप्रत्ययेन देवानुग्रह उक्तः । *साक्षाद्वैश्रवणः*·कुबेरोपमः ॥ ९१ ॥

वशयेदिति । तत्र जपप्रकार उक्तः *तन्त्रान्तरे*–"ह्रींकाराद्यन्तयोर्नाम आं क्रों च विनियोजयेत्" इति ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

घटार्गलं यन्त्रमाह *आलिख्येति* । अत्राष्टानामर्गलानां साम्यानयनाय प्रकार उच्यते

कोष्ठेष्वङ्गमनून् परेषु विलिखेदष्टार्णमन्त्रद्वयम् ।
अच्पूर्वापरषट्कयुग्लयवरान् व्योमासनानर्गले-
ष्वालिखयेन्द्रजलाधिपादिगुणशः पङ्क्तिद्वयं तत्परम् ॥ ९५ ॥

"कर्णार्धसित्या मध्याद्विसूत्राङ्कास्तद्वयेद्वये । चतुरस्रान्तरे सूत्रैः परिध्येधनमिच्छया" इति वास्तुमण्डलोक्तरीत्या एकं चतुरस्रं प्रागुत्तरसूत्रोपेतं कृत्वा तत्र कोणसूत्रार्द्धमानेन चतुर्दिक्षु मध्यात्प्रागुदक्सूत्रे अङ्कयेत् । द्वयोर्द्वयोरङ्कयोः सूत्रदानाद्दिग्गतकोणं पूर्वमध्यतिभेदि चतुरस्रान्तरं जायते । ततोऽष्टपरिधीनामिच्छया वर्द्धनं कृत्वा अर्गलाकारं कुर्यात् । सर्वत्र दिक्कर्णगुणाभाज्याः । एवमष्टौ दिगर्गलान्यालिख्य मध्ये वृत्तं कृत्वा तत्र पाशादि त्र्यक्षरमालिख्य चतुरस्रद्वयान्तः सन्धिषु वृत्तं कृत्वा तदष्टकोष्ठेषु पूजाप्रकारेण आग्नेयादिविदिक्कोष्ठेषु हृच्छिरः शिखाकवचाणूनालिख्य मध्ये अग्रभागे नेत्रं दिक्कोष्ठेष्वस्त्रमालिखेत् । *तदुक्तं* "षट्सु कोणेषु विलिखेत् षडङ्गानि यथाक्रमम् । अग्नीशासुरवायव्यकोणेषु मनुवित्तमः ॥ कवचान्तानि संलिख्य मध्ये नेत्रं लिखेद्बुधः । चतुर्दिगन्तकोणेषु चतुर्द्धास्त्रं लिखेत् प्रिये" इति । तदुपर्यष्टकोष्ठेषु पाशाद्यष्टाक्षरमग्रादि लिखित्वा पुनश्च बाह्यसन्धिषु वृत्तं कृत्वा तदुत्पन्नेष्वष्टसु कोष्ठेषु कामित्यष्टाक्षरमालिख्य वर्द्धिताष्टपरिधिसन्धिषु वृत्तं कृत्वा तदुत्पन्नेषु षोडशकोष्ठेषु अष्टयुगार्णशाक्तं षोडशाक्षरं विलिखेदित्यनेन पूर्वेणान्वय इति । *केचन अन्ये* चतुरस्रद्वयान्तर्बहिः सन्धिषु वृत्तद्वयमकारयित्वा वर्द्धिताष्टपरिधिसन्धिवृत्ताद्बहिर्वृत्तं कारयन्ति । तत्रकोष्ठेष्वष्टयुगार्णं विलिखेदित्याहुः। *अन्येतु* चतुरस्रबाह्यसन्धीनामुपरि वृत्तमेकं, वर्द्धिताष्टपरिधिसन्धिषु च द्वितीयं, वृत्तं कारयन्ति । तत्पक्षत्रयमप्यसंबद्धं, श्रौतस्य क्रमस्य बाधितत्वात् । कर्णिकावृत्तलग्नाधोमुखत्रिकोणाकाराष्टकोष्ठानां शून्यत्वाच्च । किंच पूर्वपक्षे वृत्तत्रयकल्पनमन्यपक्षयोर्वृत्तद्वयकल्पनं चाप्रामाणिकम् । यावता विना न निर्वाहस्तावदेव कल्पनामर्हति । नाधिकमत एकमेव वृत्तं कल्पनीयम् उपरितृस्तस्य तु पद्मकर्णिकात्वेन सर्वै रेवाङ्गीकरणात् । अतो वक्ष्यमाणसाम्प्रदायिकार्थानुसरणमेव श्रेयः। तत्परम् अच्पूर्वैतथालिख्य कोष्ठेष्वष्टयुगार्णमालिख्य केसरगां मायां विलिखेदिति संबन्धः । अचां स्वराणां नपुंसकव्यतिरिक्तानां, नपुंसकव्यविरिक्तत्वं पूर्वापरषट्कशब्देन प्राप्यते । पूर्वषट्कम् अ आ इ ई उ ऊ । अपरषट्कम् ए ऐ ओ औ अं अः , एतद्युक्तानूलयवरान्व्योम्न आसना स्थितिर्येषु ते व्योमासनास्तानिति बहुव्रीहिः कार्यः । "स्यादास्या त्वासना स्थितिरि"ति कोशः । अर्गलेषु इन्द्रजलाधिपादि पूर्वपश्चिमादि-गुणशः-अक्षरत्रितयक्रमेण पङ्क्तिद्वयल्लिँखेत् । इमानि सर्वाणि सबिन्दूनि । तत्र लेखनप्रकारः। पूर्वार्गलायां वर्द्धितरेखासन्धिकृतं वृत्तमारभ्योत्तरतः हं हां हिं इत्यर्गलान्तमालिख्य पुनर्दक्षिणतोर्गलाग्रमारभ्य ह्रीं ह्रुं ह्रूं इति वृत्तान्तमालिखेत् । एवं प्रादक्षिण्यं भवति । तदुक्तं *संहितायां* "शक्तेरजलवह्नयाख्यं बिन्दुव्योमान्वितं कुरु । तद्बीजस्वरसंयुक्तं ऋ ॠ लृ ॡ विवर्जितम् ॥ एकं द्वादशधा तत्र चतुर्द्धा कुरु सुन्दरि !। वृत्तादिवसुकोणान्तं लिखेद्वृत्तान्तकं प्रिये ! ॥आद्यत्रिकं पूर्वमुख्ये लिखेदुत्तरतः प्रिये !। द्वितीयं पूर्वमुख्यं तु लिखेद्दक्षितेः सुधीरि"ति । पश्चिमार्गलायां दक्षिणतो वृत्तमारभ्य ह्लें ह्लैं ह्लों इत्यर्गलान्तमालिख्य पुनरुत्तरतोर्गलाग्रमारभ्य ह्लौं ह्लं ह्लः इति वृत्तान्तमार्गलंलिखेत् । तदुक्तं "तृतीयं पश्चिमे भागे तथा दक्षिणतो लिखेत्। चतुर्थमार्गले तद्वत्पश्चिमे तूत्तरान्तत" इति । एवमाग्नेयार्गलायां पूर्वतः पूर्ववत् यं यां यिं इत्यालिख्य पश्चिमतः पूर्ववत् यीं युं यूं इति लिखेत्। *तदुक्तं* "भुवं हित्वाऽर्कबीजानां तत्र वायुं नियोजयेत्। अग्न्यार्गलायां त्रितयमाद्यं पूर्वत आलिखेत् ॥ तथा पश्चिमतोऽप्यन्यत् त्रिकं संविलिखेत्प्रिये" इति । एवं वायव्यर्गलायां पश्चिमतः पूर्ववत् यें यैं यों इत्यालिख्य पूर्वतः पूर्ववत् यौं यं यः । इति लिखेत् । *तदुक्तं* "मारुतार्गलके तद्वत् लिखेत्पश्चिमतस्त्रिकम् !

कोष्ठेष्वष्टयुगार्णमात्मसहितां युग्मस्वरान्तर्गतां
मायां केसरदिग्दलेषु विलिखेन्मूलं त्रिपङ्क्तिक्रमात् ।
त्रिःपाशाङ्कुशवेष्टितं लिपिभिरावीतं क्रमाद्व्युत्क्रमात् ।
पद्मस्थेन घटेन पङ्कजमुखेनावेष्टितं तद्बहिः ॥ ९६ ॥

पूर्वतोऽपि च देवेशी" ति । एवं याम्यार्गलायां पूर्वतः पूर्ववत् ह्वं ह्वां ह्वि इत्यालिख्य पश्चिमतः पूर्ववत् ह्वीं ह्वुं ह्वूं इति लिखेत् ।*तदुक्तं*"वायुं हित्वार्कबीजानां वरुणं तत्र निःक्षिपेत् । याम्ये त्रिकं पूर्वतस्तु द्वितीयं पश्चिमान्तकमि" ति । एवमुत्तरार्गलायां पश्चिमतः पूर्ववत् ह्वें ह्वैं ह्वों इत्यालिख्य पूर्वतः पूर्ववत् ह्वौं ह्वं ह्वः । इति लिखेत् । *तदुक्तं* "तथोत्तरार्गलायां तु त्रिकं पश्चिमतो लिखेत् । चतुर्थं पूर्वतो देवी" ति । एवं कन्यार्गलायां दक्षिणतः पूर्ववत् हं हां हीं इत्यालिख्योत्तरतः पूर्ववत् हीं हुं हूं इतिलिखेत् । *तदुक्तं* "नीरं हित्वार्कबीजानां रेफं तत्र विनिःक्षिपेत् । लिखेद्रक्षोर्गलायां तु त्रि-माद्यं त्रिकं परम् ॥ दक्षिणोत्तरतो मन्त्री" ति ! एवं शैवार्गलायामुत्तरतः पूर्ववत् हें हैं हों इत्यालिख्य दक्षिणतः पूर्ववत् । हौं हं हः इति लिखेत् । *तदुक्तं* "क्रमाच्छैवार्गले पुनः । आदावुत्तरतो देवी पश्चाद्दक्षिणमार्गत" इति । *पद्मपादाचार्यास्तु* "चतुरस्रद्वयात्मकमष्टकोणं लिखित्वा कोणाष्टगतरेखाद्वयमृजुप्रसारयेत् । यथा रेखाद्वयं मध्ये परस्परं लग्नं क्षुद्रदुन्दुभ्याकारं(१) भवति-तथा-प्रसार्य दुन्दुभिमध्योभय-भागयोः वृत्तद्वयं विधाय बहिर्वृत्तस्याष्टदुन्दुभ्यग्ररेखाद्वयादारभ्य अर्गलसमाग्राण्यष्टदलानि विरच्य वृत्तत्रयाद्बहिरम्बुजपुटितं घटं रचयेद्" इति (?)यन्त्रशरीरस्य निर्माणस्य प्रकारः । चतुरस्रमध्यकाष्टकोष्ठेष्वङ्गानि(?) तदनन्तरकोष्ठेषु पाशाद्यष्टाक्षरं तदनन्तरकोष्ठेषु क्षामित्याद्य-ष्टाक्षरम् अर्गलेषु *अच् पूर्वैति* । तदन्तरालकोष्ठद्वन्द्वेषु दुन्दुभ्याकारेषु षोडशाक्षरं लिखेत् । इतिमन्त्रलेखनस्य एवं श्रौतः क्रमोऽप्यनुगृहीतो भवति । अयं च पक्षः साम्प्रदायिकः । तदुक्तं *दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्*-"ततो भूबिम्बयुगलं संपुटीकृत्य योजयेत् । अष्टकोणं यथा देवि ? जायते सुमनोहरम् ॥ अष्टदिक्षु तदग्राभ्यां रेखे आकृष्य मान्त्रिकः । रेखाभ्यामर्गलाकारं विदध्याद्देवि ! सुन्दरम् ॥ एकेनैव तु मानेन रचयेदर्गलाष्टकम् । वृत्तं तदग्रे चन्द्रस्य बिम्बव-द्रचयेद्बुधः ॥ पुनरन्तः समाकृष्य पूर्ववद्वृत्तमुत्तमम् । विलिख्य साधकेन्द्रस्तु वसुकोष्ठयुग-क्रमात् ॥ व्यक्तं यथाभवेद्देवि ! कोणानां च वसुद्वयम् । अर्गलानि च रम्याणि यथासम्यक् भवन्ति हि" इति । ततस्तदुपरि अष्टदलपद्मपत्रेषु केसरगां मायां, चतुर्थस्वरोमायाशब्दवाच्यः। तथाच *निघण्टुकमातृकायाम्* "ईश्चिमूर्त्तिर्वामनेत्रे शेखरः कौटिलस्तथा । वाग्मीशुद्धश्च जि-ह्वाख्यो मायाविष्णुः प्रकाशित" इति । *आत्मा*-आत्ममन्त्रो हंस इति । ताभ्यां सहितां उभयपार्श्वयुतां मकाराद्याकाराद्यन्तार्गलां लिखेत् । तेनायमर्थः । प्रतिकेसरं अं हं सः ईं हंसः अमिति सप्ताक्षराणि लिखेत् । *तदुक्तं* । "हंसः पदं वामनेत्रं तद्बिन्दुपरिभूषितम् । पुनर्हंसः पदं चैतत्पञ्चार्णं मनुमालिखेत् ॥ स्वरद्वन्द्वोदरगतं सप्तार्णं चाष्टधा भवेत्" इति ॥ *आचार्याश्च*-"पद्मस्य केसरेषु च युग्मस्वरात्मान्विता मायामि" ति । *पद्मपादाचार्यास्तु* "अं हं ईं सः ओंप्रसादयः केसरेषु लेख्या" इत्याहुः । दलेषु त्रिपङ्क्ति क्रमात्-मूलं लिखेत् । तत्र पङ्क्तिद्वयं तिर्यग्विलिख्य तदुपर्येकां पङ्क्तिं लिखेदितिसम्प्रदायविदः । अन्येतु-अधोऽधः पङ्क्तित्रयलेखनं वदन्ति । *त्रिरिति* । तत्रैका पाशाङ्कुशाभ्यां, द्वितीया क्रमलिपिभिस्तृतीया व्युत्क्रमलिपिभिरित्यर्थः । *तदुक्तं* "पाशाङ्कुशाभ्यांतद्बाह्ये वृत्ताकारेण वेष्टयेत् । अनुलोमप्रकारेण मातृकावेष्टनं प्रिये ॥ तथैव प्रतिलोमेन मातृकावेष्टनं लिखेद्" इति । *आचार्याश्च* "पाशाङ्कुशबीजाभ्यां प्रवेष्टयेत् बाह्यतश्च नलिनस्य । अनुलोमविलोमगतः प्रवेष्टयेदक्ष-

---

(१) डमरुतुल्यम् ।

घटार्गलमिदं यन्त्रं मन्त्रिणां प्राभृतं मतम् ।
पाशश्रीशक्तिकन्दर्पकामशक्तीन्दिराङ्कुशाः ॥ ९७ ॥
प्रथमोऽष्टाक्षरो मन्त्रः ततः कामिनि रञ्जिनि ।
स्वाहान्तोऽष्टाक्षरः सिद्धिरपरः परिकीर्त्तितः ॥ ९८ ॥
ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि स्वर्मं फट् ।
द्विठान्तः षोडशार्णोऽयं मन्त्रः सिद्धिरुदीरितः ॥ ९९ ॥

रश्च तद्बाह्ये" इति। *पद्मस्थेन* तदूर्ध्वमुखाब्जकर्णिकास्थेन । *घटेन*-पङ्कजमुखेन अधोमुख-पङ्कजवदनेन आवेष्ठितम् आवीतं-*प्राभृतम्*(१)उपदारूपम् ।।अष्टार्णं मन्त्रमाह *पाशेति* । पाशम्-आं, कन्दर्पः-कामबीजम् । इन्दिरा-श्रीबीजम् । अङ्कुशः क्रों, अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । *अस्य ऋष्यादिकं यथा*-"ऋष्याद्या अजगायत्रशक्तयः समुदीरिताः । षड्दीर्घ-मायया‌ङ्गानि सर्वैरष्टाङ्गमिष्यते ॥ आनन्दरूपिणीं देवीं पाशाङ्कुशधनुः शरान् । बिभ्रतीं दोर्भिररुणां कुचार्त्तां हृदि भावयेत् ॥ अष्टलक्षं जपेत्साज्यैर्दशांशं जुहुयात्तिलैः । शाक्ते पीठे यजेद्देवीं हृल्लेखाद्याभिरङ्गकैः ॥ मातृभिर्लोकनाथैश्च वज्राद्यैः पञ्चमावृतिः । स्त्रीत्र-श्याकर्षणादौ तु विनियोग उदाहृत" इति । द्वितीयमष्टाक्षरमुद्धरति *ततइति* अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । *अस्यऋष्यादिकं यथा* "ऋषिः संमोहनश्छन्दो निचृत्प्रोक्तास्य देवता । सर्वसंमोहिनी चाङ्गं द्विरावृत्तपदैर्भवेत् ॥ श्यामाङ्गीं वल्लकीं दोर्भ्यां वादयन्तीं सुभूषणाम् । चन्द्रावतंसां विविधगानैर्मोहयतीं जगत् ॥ पूर्वमेवा (प्रजपेद) युतद्वन्द्वं दशांशं जुहुयात्ततः । मधूकजैस्त्रिमध्वक्तैः सर्वं मोहयते जगत् ॥ पूजामातङ्गिनीपीठे इच्छाद्यास्तु त्रिकोणके । पञ्च-कोणे पञ्चबाणाः केसरेष्वङ्गपूजनम् ॥ अनङ्गकुसुमाद्यास्तु पत्रेष्वग्रे च मातरः । लोकपालैश्च वज्राद्यैः गम्यावृत्तिरियंमते"ति ॥ *नारायणीयेतु* "लाक्षया लिखितं वामहस्तेऽष्टदलपङ्कजे । वश्यं स्यात्दर्शितं यन्त्रं, पूर्ववत् क्रिययापि च । भूर्जं लिखित्वा चाष्टारे धारयेद्वाथ वश्यकृत् । मन्त्रं विविक्तकुड्या दाविमं संलिख्य साधकः ॥ पश्यन्नेव जपेन्नीत्वा तूर्णमायाति काङ्क्षि-ते"ति ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

षोडशार्णमुद्धरति-*ह्रीमिति* । वर्म हुं । अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । *अस्यऋष्यादिकं यथा*ऋषिस्त्वजः समुद्दिष्टश्छन्दोऽनुष्टुप्चदेवता । गौरी चण्डकात्यायनी वश्यसम्पत्प्रदायिका । षड्दीर्घमायया कुर्यात्षडङ्गानि सरोरुह । हेमाभां बिभ्रतीं दोर्भिर्दर्पणाञ्जनसाधने । पाशाङ्कुशौ सर्वभूषां तां गौरीं सर्वदा भजे ॥ एकलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं हुनेद्घृतैः । धर्मा-दिकल्पिते पीठे पीठशक्तीरिमा यजेत् ॥ प्रभा ज्ञाना च वाग्वागीश्वरी स्याज् ज्वालिनी परा । वामा ज्येष्ठा च ...गुह्यशक्तिश्च ता नव ॥ हस्वत्रयंक्लीबवर्जस्वराद्यभृगुणान्विता । गौं गौरि मूर्त्तयेहुञ्च पीठमन्त्रश्च कल्पिते ॥ एवं पीठे यजेद्देवीं चन्दनाद्यैर्मनोहरैः । सुभगायै च विद्मा-न्ते ङेऽन्ते स्यात्काममालि च॥न्यैस्याद्धीमहि तन्नो च गौरोस्यात्तु प्रचोदयात्। गायत्रीत्वनया सर्वानुपचारान्प्रकल्पयेत् ॥ अङ्गानि पूर्वमभ्यर्च्य सुभगाद्यास्ततो यजेत् । भृगुः साम्बुः सवि-तुर्यैषष्ठार्केन्दुस्तदादिकाः । सुभगा ललिता चान्या कामिनी।काममालिनी । दिक्ष्वन्यत्राप्या-युधानि लोकपालैस्तदायुधैः ॥ वामाक्ष्या नाम निशया वामोरौ विलिखेन्निशि । आच्छादय-न्वामदोष्णा तन्मनाः प्रजपेन्मनुम्॥शतं सहस्रं लोलाक्षीमानयेत्काममोहिताम्।"इति । नाराय-णीयेतु*-"न वश्ये दक्षिणं विन्दुरि"ति विशेषः । "एतन्मन्त्रेण सजप्तं गन्धपुष्पं जलादि च । दत्तं संसेवितं सर्वजनता वश्यकारकम् ॥ चण्डकात्यायनी विद्या त्रिषु लोकेषु दुर्लभे"ति ॥९९॥

(१) "प्राभृतन्तुप्रदेशनम् । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा" इत्यमरः ।

लिखित्वा भूर्जपत्रादौ यन्त्रमेतद्यथाविधि ।
धारयेद्वामबाहौ वा कण्ठे वा निजमूर्द्धनि ॥ १०० ॥
वशयेत्सकलान्मर्त्यान् विशेषेण महीपतिम् ।
नीलपट्टे विलिख्यैतद्गुटिकीकृत्य तत्पुनः ॥ १०१ ॥
साध्यप्रतिकृतौ सिक्थनिर्मितायां हृदि न्यसेत् ।
पात्रे त्रिमधुरापूर्णे—निःक्षिप्यैनां विधानतः ॥ १०२ ॥
सम्पूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्बलिं निःक्षिप्य रात्रिषु ।
मूलमन्त्रं जपेन्मन्त्री नित्यमष्टसहस्रकम् ॥ १०३ ॥
सप्ताहाद्वाञ्छितां नारीमाहरेत्स्मरविह्वलाम् ।
भूर्जपत्रे विलिख्यैतत् गुटिकीकृत्य तत्पुनः ॥ १०४ ॥
लाक्षया ताम्ररजतकाञ्चनैर्वेष्टयेत्क्रमात् ।
तत्कुम्भे न्यस्य सम्पूज्य यथावद्भुवनेश्वरीम् ॥ १०५ ॥
संस्पृश्य तज्जपेन्मन्त्रं दिवाकरसहस्रकम् ।
अभिषिच्य प्रियं साध्यं बध्नीयाद्यन्त्रमाशिखम् ॥ १०६ ॥
कान्तिं पुष्टिं धरारोग्ययशांसि लभते नरः ।
भित्तौ विलिख्य तद्यन्त्रं पूजयेन्नित्यमादरात् ॥ १०७ ॥
भूतप्रेतपिशाचास्तं न वीक्षितुमपि क्षमाः ।
तद्विलिख्य शिरस्त्राणे साधितं धारयेद्भटः ॥ १०८ ॥
युद्धे रिपून् बहून्हत्वा जयमाप्नोति पार्थिवः ॥ १०९ ॥

यथाविधिलिखित्वेति । अनेन पुष्यार्कादौ कृतोपवासादिरित्युक्तम् । "पुष्यार्कस्याष्टमे भागे" इत्युक्तेः ॥ १०० ॥

नीलपट्टे विलिख्यैतदिति । अनामारक्तादिभिः । *तदुक्तं* "लिखेदनामारक्तेन लाक्षेन्द्रियमलैः सहे"ति ॥ १०१ ॥

सिक्थं मधूच्छिष्टम् । *विधानतः सम्पूज्येति* हस्तमात्रखातां, रक्तैर्गन्धादिभिरित्यर्थः । उक्तंच *नारायणीये* "काञ्जिकाऽधोनिधाप्यैनां रक्तपुष्पैः समर्चयेदि"ति । *बलिमिति* । पायसादिना । त्र्यक्षरेणैव । *निःक्षिप्येति* । दत्त्वा । मूलमन्त्रं त्र्यर्णम् आकर्षेदिति प्रकारान्तरेण वा । तदुक्तं *नारायणीये* "तापयेत्पुत्तलीं चाग्नौ यथा सा न विलीयते" इति ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

लाक्षेति । पूर्वोक्तप्रमाणैः । *यथावदिति* । त्र्यक्षर्युक्तमार्गेण ॥ १०५ ॥

तं—कुम्भम् । *मन्त्रमिति* । कर्णिकाख्यम् । *दिवाकरेति* । द्वादश । *भित्तौ विलिख्येति* । गैरिकया । तदुक्तम्—"गैरिकया लिखेद्यन्त्रं गृहभित्तौ वरानने ! । ग्रहाणां चैव सर्वेषां क्षिपतां चैव नाशनम् ॥ विलिख्य पूज्यते यत्र सर्वे मूढाः सुमोहिताः । भवन्ति वशगास्तस्य न पुनर्यान्ति विक्रियाम् ॥ शत्रवो दुर्मुखा दुष्टाः सर्वे ते तस्य किङ्कराः । न तस्य जायते दुष्टा हिंसको न च बाधकः ॥ ग्रहयक्षपिशाचाश्च भूतवेतालदंष्ट्रिणः" इति ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

वज्राङ्किते वह्निपुरद्वये तां पाशाङ्कुशाद्यन्तमुदरस्थसाध्यम् ।
मध्येऽथकोणेष्वथ बाह्यवृत्ते पुनः पुनस्तां विलिखेत्समन्तात् ॥११०॥
भूर्जे लिखितमेतत्स्यात्सर्ववश्यकरं नृणाम् ।
आरोग्यैश्वर्यजननं युद्धेषु विजयप्रदम् ॥ १११ ॥
लिखेत्सरोजे स्वरकेसराढ्ये वर्गाष्टपत्रे वसुधापुरस्थे ।
पाशाङ्कुशाभ्यां गुणशः प्रबद्धां मायां लिखेन्मध्यगतां ससाध्याम्११२
सर्वोत्तममिदं यन्त्रं धारितं कुरुते नृणाम् ।
आरोग्यैश्वर्यसौभाग्यविजयादीननारतम् ॥ ११३ ॥

इति श्रीशारदातिलके भुवनेश्वर्यामन्त्रकथनं नाम नवमः पटलः ॥९॥*॥

ततोऽभिधास्ये त्वरितां त्वरितं फलदायिनीम् ।
तारो माया वर्म बीजमृद्धिरीशस्वरान्विता ॥ १ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*"वज्रेति* वह्निपुरद्वये परस्परव्यतिभिन्ने षट्कोणे वज्राङ्किते स्वस्तिकस्थाने । वह्निपुरद्वये मध्ये इति व्यधिकरणसप्तम्यौ । तां मायाम् ॥ ११० ॥

तदिति त्र्यक्षरम् । यन्त्रान्तरमाह—*पाशाङ्कुशाभ्यां* प्रबद्धां मायां गुणशस्त्रिशो लिखेदिति सम्बन्धः । प्रबद्धां लेखकदोषवशादत्र पद्ये लिखेदितिपदस्य पुनरुक्तिः । भूर्जे सरोज इति क्वचित्पाठः । यदा लिखेदित्येव पाठः । तदा–लिखेत्सरोजं स्वरकेसराढ्यं वर्गाष्टपत्रं वसुधापुरस्थमि"ति पठनीयम् । अन्ये लिखेदित्येव पठित्वा लिखे"द्यन्त्रमि"ति शेषः । तत् कीदृगित्यपेक्षायां सरोजे मायां लिखेदिति वदन्ति ॥

इति शारदातिलकटीकायां सत्संप्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां
भुवनेश्वरीमन्त्रकथनं नाम नवमः पटलः ॥ ९ ॥ * ॥

एवं भुवनेश्वरीमन्त्रानुक्त्वात्र पाशादिमन्त्रस्य नित्यामन्त्रत्वात् प्रसङ्गादन्यान्त्वरितानित्यादिमन्त्रान् वक्तुमुपक्रमते *तत इति* । *त्वरितं फलदायिनीमिति* । त्वरिताशब्दव्युत्पत्तिर्दर्शिता । तदुक्तं—"भक्तियुतानां त्वरया सिद्धिकरीचेति मन्त्रिणां सततम् । देव्यास्त्वरिताख्या स्यात्त्वरितं क्ष्वेलप्रक्षादिहरणतये"ति । मन्त्रमुद्धरति *तार इति* । तारः प्रणवः । माया शक्तिबीजं,वर्म बीजं हुं। ऋद्धिः कलान्यासे खः। ईशस्वर एकादशस्वरः । एतेनान्वितः । तेन खे। कूर्मंश्चकारस्तदन्तः छः । भगवानेकारयुक्तस्तेन छे।क्षः छो स्वरूपम् । अत्र क्षकारः सविसर्गो ज्ञेयः"साठन्तमालयमि"त्युक्तेः। दीर्घं तनुच्छदं हूं। संवर्त्तः क्षः,भगवानेकारयुक्तः । तेन क्षे । अस्याश्च देव्याः शापोस्तीति प्रसिद्धिः । केचन क्षे इति वर्णं कीलकं मन्यन्ते तदर्थं च क्षेकारं पूर्वमुच्चार्यं हूङ्कारमुच्चारयन्ति । दक्षिणामूर्त्तिसंहितायां तु "कवचं स्त्रीमिमे बीजकीलके तु प्रकीर्त्तिते" इति । *केचन* पूर्वं हूङ्कारं पश्चात् क्षेकारमिति महती आचार्याणां विप्रतिपत्तिस्तत्र यथा वृक्षादीनां क्वचिद्ग्रन्थयो भवन्ति तथैव मन्त्राणामपि स्वभावादेव कीला स्याद् ग्रन्थयो भवन्ति । तेन कालविलम्बासिध्यादयो दोषा भवन्ति । स च अक्षरविशेषेण एव जायते । तत्र केषु चिन्मन्त्रेषु तदक्षरमुद्धृत्य शास्त्रीयेण केन चिदक्षरेण परिपूर्य जपं कुर्वन्ति । केषुचित्तदनुद्धृत्यैवाक्षरान्तरप्रक्षेपेण जपं कुर्वन्ति । केषुचित्की-

कूर्मस्तदन्त्यो भगवान् सस्त्रीदीर्घेतदुच्छ्रदम् ।
सबीजं भगवान्मायाफडन्तो द्वादशाक्षरः ॥ २ ॥
मुनिरर्जुन आख्यातो विराट्छन्दः समीरितम् ।
त्वरिता देवता प्रोक्ता पुरुषार्थफलप्रदा ॥ ३ ॥
मायाविवर्जितान्वर्णान्मूर्ध्नि भाले गले हृदि ।
नाभिगुह्योरुयुग्मेषु जानुजङ्घापदेषु च ॥ ४ ॥
विन्यस्य व्यापकं कुर्यात्समस्तेनैव साधकः ।
कूर्माद्यैः सप्तभिर्वर्णैः पूर्वपूर्वविवर्जितैः ॥ ५ ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां षडङ्गानि कल्पयेत्साधकोत्तमः ॥ ६ ॥
श्यामां बर्हिकलापशेखरयुतामाबद्धपर्णांशुकाम्
गुञ्जाहारलसत्पयोधरभरामष्टाहिपान् बिभ्रतीम् ।

लाख्यो विद्यमानोऽपि दोषावहो न । यथा वृक्षादिषु विद्यमाना अपि ग्रन्थयः केषु चिदेव दोषावहाः । केषु चित्तु गुणायैव सम्पन्ति । यथा "चन्दनस्य त्रयः श्रेष्ठा ग्रन्थिकर्पटकोटरा" इति । यदाहुः "दुष्टोऽणुः कीलको ज्ञातः सिद्धेस्तु प्रतिबन्धकः । अदुष्टः कीलको ज्ञातः स्यात् सुसिद्धिप्रदायक" इति । अत्र तु तत्कीलकदोषापहाराय मायाद्वयसहितो मन्त्र उद्धृतः । तदुक्तमाचार्यैः "तारान्तेऽप्याद्यावपि मायाबीजं प्रयोजयेत् मन्त्री । तेन हि वाञ्छितसिद्धिः भूयादचिरेण मन्त्रविदामि"ति । *नारायणीयेऽपि* । "फट्तारादन्तयोर्देव्या युक्तं तत्सर्वसिद्धिदमि"ति । प्रणवो बीजं, माया शक्तिः । हुं बीजमिति पद्मपादाचार्याः । *पुरुषार्थेति* विनियोगोक्तिः ॥२॥३॥

अक्षरन्यासमाह *मायेति* । अनेन दशवर्णानामेव न्यासः । तत ऊरुयुग्मादिस्थानद्वयेऽपि एकैकाक्षरन्यासः । *पदेष्विति*—पादयोः ॥४॥

साधक इत्यनेन व्यापकमायासहितोच्चारणमुक्तम् । षडङ्गमाह—*कूर्माद्यैरिति* । कूर्मप्रकारस्तस्याद्यः खे । बहुवचनमाद्यर्थं, तेन खे प्रभृतिभिः सप्तभिर्वर्णैः । अत्र कूर्माद्यैः सप्तभिर्वर्णैरिति प्रधानेन पूर्वक्रियान्वये प्रकाराकाङ्क्षायामरुणाधिकरणन्यायेन द्वाभ्यामित्यस्य पाक्षिकोऽन्वयः । तेन खे च इति हृत् । च छे शिरः । छेक्षः शिखेत्यादि । तदुक्तं *नारायणीये* दशाक्षरं मन्त्रमुद्धृत्य—"नवमान्ते तृतीयादिपदस्यावर्णसप्तकम् । तेनाङ्गानि द्विवर्णानि कर्तव्यान्युपदेशात" इति । *केचित्तु*—कूर्मप्रकारः स आद्यो येषां तैः सप्तभिर्वर्णैरिति व्याचक्षते । तन्मते मायाविवर्जितानिति पदमनुवर्त्य पश्चाद्विभक्तिविपरिणामेन विवर्जितैरिति कृत्वा प्रकृते योजनीयं, तेन चकारादिफडन्तैः षडङ्गम् । *तदुक्तं कादिमते* । दशाक्षरं मन्त्रमुद्धृत्य "विद्या चतुर्थवर्णादि सप्तभिस्त्र्यक्षरैरथ । कुर्यादङ्गानि युग्मार्णैः षट्क्रमेण कराङ्गयोरि"ति । *संहितायां च* "च छे युगं हृच्छिरस्तु छेक्षो युग्मं शिखा ततः । क्षः स्त्रीयुगं च कवचं स्त्री हुमात्मयुगं तथा ॥ हूं क्षे नेत्रे तु विन्यस्य क्षे फडस्त्रं प्रकीर्त्तितमि"ति । एतत्पक्षद्वयमपि गुरुसंप्रदायानुसारेण बोद्धव्यम् ॥५॥

साधकोत्तम इत्यनेन ह्रीमिति कुण्डलिनीबीजस्य षड्दीर्घयुक्तमायाबीजस्य च अङ्गमन्त्रस्य अङ्गमन्त्रेषु योगः सूचितः । अत एव नारायणीये उपदेशात इत्युक्तिः ॥ ६ ॥

ध्यानमाह—*श्यामामिति* । कलापो बर्हः । इदं वलयादीनामुपलक्षकम् । तदुक्तं *नारायणीये*—"मायूरकलापपिच्छमौलिः किसलयांशुका । सिंहासनस्था मायूरच्छत्रा बर्हध्वजा-

ताटङ्काङ्गदमेखलागुणरणन्मञ्जीरतां प्रापिता—
न्कैरातीं वरदाभयांद्यतकरां देवीं त्रिनेत्रां भजे ॥ ७ ॥
लक्षं लक्षुण्य मन्त्रज्ञो मनुमेन जितेन्द्रियः ।
दशांशं जुहुयाद्बिल्वैर्मधुराक्तैः समिद्वरैः ॥ ८ ॥
हृल्लेखाकल्पिते पीठे नवशक्तिसमन्विते ।
पूजयेत् त्वरितां देवीं वक्ष्यमाणविधानतः ॥ ९ ॥
संवर्तको बिन्दुयुतः कवचं सकलं वियत् ।
वज्रदेहं पुरद्वन्द्वमाभाष्य हिङ्गुलुद्वयम् ॥ १० ॥
गर्जयुग्मं वियत्सेन्दुवर्माऽन्त्योदीर्घबिन्दुमान् ।
पञ्चाननाय हृद्यंपीठमन्त्रः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥
दद्यादासनमेतन मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
अङ्गैः प्रणीतां गायत्रीं केसरेष्वर्चयेत् क्रमात् ॥ १२ ॥

न्विता" इति । ताटङ्कादीन् प्रापितानष्टाहिपान् बिभ्रतीम् । तत्रानन्तकुण्डलिकौ ताटङ्कतां गतौ, वासुकिशङ्खपालौ अङ्गदतां गतौ, तक्षकमहापद्मौ मेखलतां गतौ । कर्कोटकपद्मनागौ नूपुरतां गतौ ध्येयौ । तदुक्तं *नारायणीये* "विप्राहिकुण्डला राजनागकेयूरसंयुता । वैश्यनागकटीबद्धा शूद्रनागलनूपुरे"ति । येषां ध्यानमुक्तम्—"अनन्तकुलिकौ विप्रौ वह्निवर्णौ सुदारुतौ । प्रत्येकं तु सहस्रेण फणानां समलङ्कृतौ ॥ वासुकिः शङ्खपालश्च क्षत्रियौ पीतवर्णकौ । प्रत्येकं तु फणासप्तशतसंख्याविराजितौ ॥ तक्षकश्च महापद्मो वैश्यावेतावही स्मृतौ । नीलवर्णौ फणापञ्चशतयुक्तोत्तमाङ्गकौ ॥ पद्मकर्कोटकौ शुद्रौ फणात्रिशतकौ सितावि"ति । आसुरध्यानं वामदक्षिणयोरिति संप्रदायविदः । मन्त्रज्ञ इत्यनेन ॐह्रींनमोनित्येस्वाहेति मन्त्रस्य दशांशजपः । शिवपञ्चाक्षरस्य किङ्करमन्त्रस्य ॐह्रींनमोभगवतेशवराय महाकिरातरूपाय कङ्कालधराय हूं फट्स्वाहेत्यस्य च शतांशं जपः ॥७॥८॥

हृल्लेखाकल्पिते भुवनेशीप्रोक्ते । तत्पीठशक्तयोऽत्रापि पूज्या इत्यर्थः । नवशक्तिसमन्वित इत्यनेन पीठमन्त्रस्यान्यत्वं सूचयति । अत्र पीठमष्टदलमेव षोडशदलपूज्यदेवताभावम् । तदुक्तं *संहितायाम्* । "अष्टपत्रं लिखेत्पद्मं बहिर्भूबिम्बमालिखेत् । प्रत्येकं वसुपत्रेषु कवचं चाष्टधा लिखेत् ॥ मध्ये तु भुवनेशानीं वेष्टयेन्मातृकां बहिः । सर्वरक्षाकरं नाम चक्रमेतदुदाहृतम् ॥ अत्रावाह्य पुनर्देवीमुपचारैः समर्चयेत्" इति । *आचार्याश्च* । "अथहरिविष्टरसिंहासने समावाह्य सरसिजे देवीमि"ति ॥८॥

आसनमन्त्रमुद्धरति—*संवर्तक* इति । बिन्दुयुतः संवर्तकः क्षं, कवचं हुं, सकलं सबिन्दु । कलाशब्देनार्द्धेन्दुः । तेन बिन्दुवाचकत्वं, वियतहं, "वज्रदेह पुरु पुरु" स्वरूपं, हिङ्गुलद्वयं क्षि क्षिमाभाष्येति सम्बन्धः ॥१०॥

सेन्दुः सबिन्दुः । वियत् हं, वर्म हुं, अन्त्यः क्षः । दीर्घ आकारः । बिन्दुः । तद्वान् । तेन क्षां हृदयं नमः ॥ ११ ॥

आवरणपूजामाह *अङ्गैरिति* । *क्रमादित्यादि* षट्सु केसरेषु षडङ्गानि संपूज्य कौबेरेशानयोः प्रणीतां गायत्रीं च पूजयेत् इति सम्प्रदायविदः । तदुक्तमाचार्यैः । "अङ्गैः सह प्रणीतां गायत्रीं पूजयेद्दिशां क्रमात" इति । पद्मपादाचार्यैरप्येवमेव व्याख्यातम् । *अन्यत्रापि* "अङ्गाद्यानीह पूज्यानि दले पूर्वादिके क्रमात् । अङ्गप्रणीता गायत्रीमि"ति ।

दलेषु पूजयेदेताः श्रीबीजाद्याः सुभूषिताः ।
हुङ्कारीं खेचरीं चण्डीं छेदनीं क्षेपणीं स्त्रियम् ॥ १३ ॥
हुङ्कारीं क्षेमकारीं च लोकेशायुधभूषणाः ।
फट्कारीमग्रतो बाह्ये कोदण्डशरधारिणीम् ॥ १४ ॥
द्वारस्य पार्श्वयोः पूज्ये हैमवेत्रकराम्बुजे ।
जयाख्या विजयाख्या च किङ्कराय पदं ततः ॥ १५ ॥
रक्षरक्षपदस्यान्ते त्वरिताज्ञा स्थिरोभव ।
वर्मास्त्रान्तेन मनुना किङ्करं तद्बहिर्यजेत् ॥ १६ ॥
लगुडं बिभ्रतं कृष्णं कृष्णबर्बरमूर्द्धजम् ।
आरण्यैररुणैः पुष्पैरतिमुक्तैः सुगन्धिभिः ॥ १७ ॥
पूजयेद्धूपदीपाद्यैर्नृत्यगीतैर्मनोरमैः ।
एवं सिद्धमनुर्मन्त्री नारीनरनरेश्वरैः ॥ १८ ॥
मान्यते वत्सरादर्वाक् लक्ष्म्या जितधनेश्वरः ।
योनिकुण्डं प्रकल्प्यात्र कुर्याद्धोमं निजेच्छया ॥ १९ ॥

तोतलामतेऽपि "यजेत्तत्राष्टपत्रेषु पूर्वाशाद्यङ्गदेवताः । सौम्ये प्रणीतामैशे च गायत्रीम-भिपूजयेत्" इति । मन्त्रदेवप्रकाशिकारादीनामिदमेव सम्मतम् ॥ १२ ॥

दलेष्विति । एता वक्ष्यमाणा मन्त्रार्णशक्तयः सुभूषिता इत्यस्य व्याख्यानम् ॥१३॥

लोकेशेति । भूषणशब्दो वर्णवाहनोपलक्षणं, तेनेन्द्रादीनामिव तासां वर्णायुधभूषण-वाहनानीत्यर्थः । उक्तं च *तोतलामते*—"इन्द्रादिलोकपालानां वर्णवाहायुधैः समा" इति । *अग्रत इति* । देव्याः । केचनात्र लोकपालतदायुधपूजां न कारयन्ति । शक्तीनामेव तद्रूपत्वादिति । अन्ये योषिद्रूपान्पूजयन्ति । तदुक्तं *तोतलामते*—"योषिद्भूतान् दिशां-नाथांस्तद्बाह्यावरणे यजेत्" इति । अन्ये तु दलाग्रेषु भैरवाङ्कस्था मातरः पूज्या इत्याहुः । उक्तं च *तोतलामते* "तद्बाह्ये भैरवानष्टौ पीठमातृसमन्वितान्" इति ॥ १४ ॥

द्वारस्य पार्श्वयोः द्वारबाह्यपार्श्वयोः । "द्वारबाह्ये स्थिते" इत्युक्तेः । एते अपि द्विभुजे देवतासमानवर्णे च । उक्तं च "शक्ती तत्सदृशे" इति । किङ्करमन्त्रमुद्धरति—*किङ्करायेति* ॥ १५ ॥

वर्म हुं । अस्त्रं-फट् किङ्करोनाम देव्याः प्रेष्यभूतो भूतविशेषः । सोऽपि द्विभुज एव तद्बहिर्भागे ॥ १६ ॥

बर्बरमूर्द्धजम् उद्धुषितकेशं कुटिलकेशमिति यावत् । *तोतलातन्त्रे विशेषः* "प्रेता-सनगतं द्वारबाह्यदेशे विभीषणमि"ति । त्वरितामन्त्रजापी त्वरितागायत्रीं जपेत् । यदाहुः "त्वरितादेविशब्दान्ते विद्महे तूर्णमुच्चरेत् । विद्याधीमहि च प्रोक्ता तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥ गायत्री त्वरितायास्तु जपात्सान्निध्यकारिणी"ति ॥ १७ ॥ १८ ॥

निजेच्छयेति । अनेनैतदुक्तं वक्ष्यमाणप्रयोगेषु कार्यगौरवलाघवात् सहस्रं वक्ष्यमा-णायुतसंख्या त्रियुता वा होमस्य, जपस्यापि तावतीति । तदुक्तं "हुतसंख्या साहस्री त्रियुता वाथायुतान्तिकी भवति । यावत् संख्योहोमस्तावज्जप्यश्च मन्त्रिणा मन्त्र इति । अन्यत्रापि—"हुतसंख्या च साहस्री सहस्रत्रियुतावधि । लाघवं गौरवं कार्यं विचार्य निपुण-श्चरेत्" इति । एतद्धोमदशांशेन पञ्चाक्षरकिङ्कराख्यामपिहोमः सर्वप्रयोगेष्विति ज्ञेयम् ॥१९॥

मल्लिकाकुसुमैर्हुत्वा वशयेदखिलं जगत् ।
कृत्याद्रोहादिशमनं पलाशकुसुमैर्हुतम् ॥ २० ॥
इक्षुखण्डैः शुभैर्हुत्वा महतीमृद्धिमाप्नुयात् ।
दीर्घमायुरवाप्नोति दूर्वाहोमेन साधकः ॥ २१ ॥
धान्यैः प्रक्षालितैर्हुत्वा श्रियमिष्टां समाप्नुयात् ।
यवैर्धान्यसमृद्धिः स्याद्गोधूमैरिष्टसिद्धयः ॥ २२ ॥
तण्डुलैरक्षया सिद्धिः स्याद्वृद्धिर्महती तिलैः ।
मन्त्री नीलोत्पलैर्हुत्वा नृपपत्नीं वशं नयेत् ॥ २३ ॥
प्रबुद्धैः पङ्कजैर्हुत्वा वशं नयति मेदिनीम् ।
अशोकैः पुत्रमाप्नोति मधूकैरिष्टमाप्नुयात् ॥ २४ ॥
फलैर्जम्बूभवैर्हुत्वा लभते धनमीप्सितम् ।
पुष्पैः पाटलिसम्भूतैरिष्टामाप्नोति सुन्दरीम् ॥ २५ ॥
पुष्पैर्बकुलसम्भूतैः कीर्तिः स्यादनपायिनी ।
दीर्घमायुर्भवेदाम्रैश्चम्पकैः काञ्चनं लभेत् ॥ २६ ॥
कुर्वीत सर्षपैर्होमं शत्रोर्नाशकरं सुधीः ।
पत्रैर्बकुलजैर्हुत्वा शीघ्रमुत्सादयेदरीन् ॥ २७ ॥
शाल्मलीपत्रहोमेन सपत्नान्नाशयेद्ध्रुवम् ।
कोद्रवैः कण्डनैस्तद्वन्निम्बैर्विद्वेषयेन्मिथः ॥ २८ ॥
माषहोमेन मूकः स्यादुन्मत्तोत्थैर्भवेदरिः ।
(भानुसंख्यान्द्विजान्नित्यं भोजयेन्मधुरान्वितम् ॥

वशयेदिति कामादित्वम् । कृत्याद्रोहादीत्यत्र नृसिंहादित्वम् ॥२०॥

महतीमृद्धिमिति शक्त्यादित्वम् । *दीर्घमायुरवाप्नोतीति* । मृत्युञ्जयादित्वम् । *साधक* इत्यनेन त्रिः कृतपुरश्चर्य इत्युक्तम् ॥२१॥

प्रक्षालितैरिति । तिलान्तानां विशेषणम् । *श्रियमिष्टामिति* । श्रीयोगोऽपि ।२२-२३

पुत्रमाप्नोतीति । कामयोगः । *मेदिनीमिति* । मेदिनीस्था लोका लक्ष्यन्ते बहुत्वं त्वर्थवम् ॥ २४ ॥

इष्टां सुन्दरीमिति बालायोगः ॥ २५ ॥

कीर्तिः स्यादिति । अजपायोगो ज्ञेयः । *अनपायिनी* अविनश्वरा । लभेरात्मनेपदित्वात् कथं लभेदिति ? लभत इति लभः पचाद्यच् । लभ इवाचरेदिति । आचारे नाम धातोः क्विप् "सनाद्यन्ता" इति धातुत्वं ततः परस्मैपदं लिङीति समाधिः । (१)क्वचिद्भवेदित्येव पाठः ॥ *आम्रैरिति* । अत्रपुष्पैरित्यनुषज्यते ॥ २६ ॥

उत्सादयेदिति । वायुबीजादित्वम् ॥ २७ ॥

---

(१) अत्र "अनुदात्तत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं, चक्षिङोङित्करणाज्ज्ञापकात्" इतिदीक्षितचरणाः समादधतेस्म ॥ तन "स्फायन्निर्मोकसन्धी"त्यायपि भवतीति च । ततोनाकिञ्चिदेतत् ॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वरोगविवर्जितः ।
कृत्याद्रोहग्रहानोगांस्तित्वा दीर्घं स जीवति ॥)
अयुतं होमसंख्यास्याज्जपस्तावान्प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥
स्नानं तन्मन्त्रितैस्तोयैः सर्वव्याधिहरं स्मृतम् ।
तज्जप्तं चुलुकं तोयं मुखेक्षिप्तं विषापहम् ॥ ३० ॥
आर्ताय भेषजं दद्यान्मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।
स भवेद्व्याधिनिर्मुक्तो मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ॥ ३१ ॥
त्रिलोही मुद्रिकानेन मनुना साधु साधिता ।
कृत्या द्रोहादिशमनी सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ ३२ ॥
सर्वसम्पत्प्रदा नित्यं सर्ववश्यकरी मता ।
यद्यद्वाञ्छति मन्त्रज्ञस्तत्तदेतेन साधयेत् ॥ ३३ ॥
मध्ये सरोजे दशपत्रयुक्ते मायां लिखेद्वाञ्छितसाध्यगर्भाम् ।
तारादिवर्णान्दश मन्त्रपत्रसंस्थान् षट्कोणबीजं वसुधापुरस्थम् ॥ ३४ ॥
कृत्याद्रोहादिशमनं व्यालचौरभयापहम् ।
विधृतं त्वरितायन्त्रं विशेषाद्विजयप्रदम् ॥ ३५ ॥
तारे हुं विलिखेत्सरोजकुहरे साध्याभिधानान्वितं
मन्त्रार्णान्वसुसंख्यकान्वसुदलेष्वालिख्य तद्बाह्यतः ।
शक्त्या त्रिः परिवेष्टितं घटगतं पद्मस्थमब्जाननं
यन्त्रं वश्यकरं ग्रहादिभयहृल्लक्ष्मीप्रदं कीर्तिदम् ॥ ३६ ॥
कोष्ठानां शतमेकविंशतियुतं कृत्वा ध्रुवं मध्यतः
साध्याढ्यं त्वरिताशिवादि विलिखेन्मायां विना मन्त्रवित् ।

सपत्नान् शत्रून् । *कण्डनैः* स्तुषकणैस्तद्वन्नाशयेदित्यर्थः । निम्बैः निम्बफलैः ॥ २९ ॥
विषापहमिति । गरुडबीजयोगः ॥ ३० ॥
मन्त्रविदिति । अनेन नृसिंहबीजयोगः ॥ ३१ ॥
साधुसाधिता । एतान्मन्त्रान् जप्त्वा कृतसम्पाता च । अत्रापेक्षितार्थद्योतनिकाकारेण लोहानां प्रत्येकं समभागा उक्ताः ॥ ३२ ॥
यद्यद्वाञ्छतीति । मन्त्रज्ञ इत्यनेन प्रणवयोगे मुक्तिकरी । वाग्योगे सर्वज्ञानकरी । शक्तियोगे सर्वकरीति सूचितम् ॥ ३३ ॥
यन्त्रमाह *मध्ये सरोजे* इति । व्यधिकरणे सप्तम्यौ । वाञ्छितं वश्यादि साध्यश्च तद्गर्भाम् । *तारादीति* । मायाव्यतिरिक्तान् ॥ ३४ ॥
विशेषाद्विजयप्रदमिति । अनेन मायायां दुर्गाबीजे साध्यलेखनमिति सूचितम् ॥३५॥
*यन्त्रान्तरमाह—*तार इति*। *सरोजकुहरे* अष्टदलकर्णिकायाम् । *मन्त्रार्णानिति*। मायाद्वयतारवर्मरहितान् । तेषामन्यत्र विनियोगात् । *अब्जाननमिति* । घटमिलमुखमेवं तद्रूपत्वेन यन्त्रे उपचरितम् । *कीर्तिदमिति* । अजपायां साध्यनामेति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥
यन्त्रान्तरमाह । *कोष्ठानामिति* । पूर्वापरायतद्वादशरेखाभिः शतमेकविंशतियुत कोष्ठानि जायन्ते । मध्यत इति । सप्तम्यर्थे तसिः । तत्र *शिवादि*—ईशानादि । प्रदक्षि-

रेखाग्रेषु लसत्त्रिशूलमसकृत्संजप्य सम्पादितम्
यन्त्रं क्ष्वेडमहाभिचारशमनं वश्यावहं श्रीप्रदम् ॥ ३७ ॥
एकाशीतिपदेषु ठान्तविवरे साध्यं लिखेन्मध्यतः
पश्चात्पङ्क्तिषु दिग्गतासु लिपिशो जूंसः शिखान्तं लिखेत् ।
शिष्टेष्वीशनिशाचरादिविलिखेल्लक्ष्मीमनुं पङ्क्तिशः
शस्त्राविर्वषडन्तया त्वरितया वीतं चतुर्दिक्ष्वपि ॥ ३८ ॥

णक्रमेण द्वादशावृत्ति मन्त्रं लिखेत् । अत्र क्ष्वेडशमने गरुडबीजे साध्यलिखनं, महाभिचारशमने नृसिंहबीजे । वश्ये कामबीजे । श्रियै श्रीबीजे । सर्वार्थशत्याविरित्यादि ज्ञेयम् । साम्प्रदायिकास्त्वन्यथा व्याचक्षते—ध्रुवंमध्यतः शिवादि विलिखेत् । अत्र पञ्चम्यर्थे तसिः । आदिशब्देनाग्नेयनैर्ऋतवायव्यानि । तेनायमर्थः । मध्ये प्रणवं विलिख्य तत ईशगतपञ्चसु कोणकोष्ठेषु पञ्चप्रणवांल्लिखेत् । एवमाग्नेयादिपञ्चसु कोणकोष्ठेष्वपि । मायां विना साध्याढ्यं यथा स्यात्तथात्वरितामन्त्रविद्विलिखेदिति । अत्र मन्त्रविच्छब्देन लेखनक्रमः सूचितः । साध्याढ्यमित्यनेन ध्रुवे प्रतिकोष्ठं चैकैकवर्णक्रमेण साध्यलिखनं मध्यध्रुवे सर्वकर्मसाध्यलिखनमित्यर्थः । अत्राक्षरलेखनक्रमः । तत्रेशानतारपञ्चके आद्यस्य प्रणवस्य पूर्वदिग्गतपदचतुष्के हूमादि छेन्तं वर्णचतुष्कं विलिख्य तद्दक्षिणकोष्ठे क्षः आलिख्य तत्पश्चात्पदचतुष्के ह्रौं वर्णचतुष्कं मध्यप्रणवान्तं लिखेदित्येकावृत्तिः । ततोद्वितीयतारस्य पूर्वपदत्रये हुं खे चेत्येवंविलिख्य पूर्वलिखितानुवाचनेन द्वितीया । एवं तृतीयतारपूर्वपदद्वये हुं खे विलिख्य पूर्वलिखितोपजीवनेन तृतीया । एवं चतुर्थतारपूर्वपदे हुमालिख्य पूर्वलिखितोपन्यासेन चतुर्थी । पुनः पञ्चमं प्रणवमारभ्य पूर्वलिखितवाचनेनैव पञ्चम्यावृत्तिः । एतमेव प्रणवपञ्चकमारभ्य पूर्ववदावृत्तिपञ्चकम् । एवमेकस्मिन् दशावृत्तयः । एवमाग्नेयादिकोणत्रयेऽपि । तथाचाचार्यवचने "अनुविलिखेद्वे"ति छेदं कृत्वा वाशब्दः समुच्चये । दशावृत्तिं लिखेदिति व्याख्यातम् । *नारायणीये*—"भूर्जे सकारकपुटे जवशूलदीप्ते कोणेषु तारमुदरे विहितस्य नाम्नः । फट्का(?) दिशासु च यथा लिखिता तथैषा नामार्णयुक् प्रतिपुटं हरति ग्रहार्तिमि"ति । कारकेति १२१ जयेति ४८ अन्यत्स्पष्टम् । तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रान्तरं "रेखाः पूर्वापराद्वादशगिरिशमिता दक्षिणोदक्च कृत्वा साध्यं मध्यस्थकोष्ठेष्वथसुरपतिदिक्कोष्ठकेषुध्रुवः स्यात् । पश्चात्तेष्वक्षमन्यामनुमवलिपयः शेषकोष्ठेषु लेख्या बाधन्ते यन्त्रयुक्तं न नरमयसुराः किं पुनर्मानवौघाः" इति ॥ ३७ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*एकेति* । दश पूर्वापरायता दश क्षिणोत्तरायता रेखा विलिखेदेवमेकाशीतिकोष्ठानि जायन्ते । तत्र मध्यकोष्ठगतं ठं विलिख्य तन्मध्ये साध्यं लिखेत् । साध्यमित्युपलक्षणं साधकादीनामपि । *दिग्गतासु पङ्क्तिष्विति* । मध्यकोष्ठात्पूर्वापरदक्षिणोत्तरचतुःकोष्ठात्मकचतुःपङ्क्तिषु । जूं सः स्वरूपं, शिखान्तं वषडन्तन्तेन जूं सः वषट् इति । लिपिशः एकैकाक्षरक्रमेण लिखेत् । लक्ष्मीमनुं वक्ष्यमाणम् । श्रीसेत्यादिकं *शस्त्रेति* । शस्त्रं फट् तस्मिन्नाविर्भवत् वषट् तदन्ते यस्याः सा तया त्वरितया त्वरितामन्त्रेण चतुर्दिक्षु दिशिदिशि एकैकावृत्त्या वेष्टयेत् । तदुक्तं—"दिक्दिक्संख्यामन्त्रपदादिर्वषडन्तामि"ति । *अन्यत्रापि*—"वषडन्ता बहिःशीघ्रा दिक्षु ठं कलशं बहिरि"ति । अत्र केचन अन्यथा व्याचक्षते—अस्त्र आविर्भवदधिकं वषट् यत्रेति । तेन फट्कारं समुच्चार्य वषट्कारमुच्चारयेदिति । तदयुक्तं तन्त्रान्तरविरोधात् । तदुक्तं—"त्वरितावषडन्ता स्यात्फट्कारपरिवर्जिते"ति ॥ अत्र वेष्टने अग्रे च मायासहितो मन्त्रः ॥ ३८ ॥

लान्तैः प्रवीतं कमलासनेन घटेन वीतं कमलासनेन ।
संसाधितं चक्रमनुग्रहाख्यं दद्याद्यथावत्कनकादिबद्धम् ॥ ३९ ॥
कृत्यापमृत्युरोगादीन्क्ष्वेडभूतमहाग्रहान् ।
जीवेद्वर्षशतं पुत्रैः पौत्रैर्लक्ष्म्या च नन्दति ॥ ४० ॥
श्री सामाया यामा सा श्री सानो याह्ने ह्नेया नोसा ।
माया लीला लाली यामा याह्ने लाली लीला ह्नेया ॥ ४१ ॥
लिखेच्चतुः षष्टिपदेषु विद्वानीशादिकान्यादि रमामनुं तम् ।
बाह्ये यथावत्स्वरिताभिवीतं लान्तैश्च वीतं वरकाञ्चनस्थम् ॥ ४२ ॥
देशेपुरे वा नगरे गृहे वा विनिः क्षिपेच्चक्रमिदं यथावत् ।
तत्र ध्रुवं गोमहिषाभिवृद्धिः सम्यक् प्रजासस्यसमृद्धयः स्युः ॥४३॥
कवचं भगवांश्चण्डो मेरुः सर्गसमन्वितः ।
त्रिकण्टकी समाख्याता विद्या वर्णत्रयात्मिका ।
द्विरुक्तैर्मन्त्रवर्णैः स्यादङ्गक्लृप्तिरुदीरिता ॥ ४४ ॥
नीला नाभेरधस्तादरुणरुचिरधः कण्ठदेशात्सिताऽऽस्या-
द्वक्त्रैर्दंष्ट्राकरालैरुदरपरिगतैर्भीषणाङ्गी चतुर्भिः ।
दीपौ कम्बू रथाङ्गं करसरसिरुहैर्धारयन्ती जटान्तः-
स्फुर्जच्छीतांशुखण्डा भवतु भयहरी देवता वस्त्रिनेत्रा ॥ ४५ ॥
त्रिलक्षं प्रजपेदेनमाज्येनान्ते दशांशतः ।
हुत्वा पूर्वोक्तमार्गेण पूजयेत्तां त्रिकण्टकीम् ॥ ४६ ॥

*लान्तैरिति *वकारैः । प्रकर्षेण वीतमिति मालाकारेणेत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः—"मेदोमाकावेष्टितबिम्बमि"ति । *दद्यात्* धारयेत् । यथावदित्युक्तप्रमाणेन । कनकादीत्यादिशब्देन रजतताम्रे । तन्त्रान्तरेऽस्य फलमुक्तं "यमेन तु धृतं यन्त्रं ब्रह्मणा विष्णुना पुरा । बुधेन भैरवेणापि हेरम्बेन गुहेन च ॥ सर्वे ते वशमायान्ति विद्यायाश्च प्रभावतः । त्रिलोके यानि दुःखानि कृत्रिमाकृत्रिमान्यपि ॥ क्षीयन्ते तान्यसन्देहो विद्याराज्ञीप्रभावतः । कुड्ये समे खटिकया सवने लिखित्वा संपूजयेत्परमनुग्रहचक्रमेतत् ॥ सर्वो नरो भवति तत्र कुटुम्बवर्गः सर्वात्मना वशयतीह मनुष्यलोकमि"ति ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*लिखेदिति* । प्रागपरदक्षिणोत्तरायता नव रेखा विलिख्य चतुःषष्टिपदं कुर्यात् । *कन्यादि *नैऋत्यादि । *रमामनुं* श्री सेत्यादि । *यथावदिति*.वषडन्तया चतुर्दिक्ष्वपि । अत्र मध्यगतचतुष्कोष्ठेषु ठकारमालिख्य तन्मध्ये साध्यसाधककर्मनामानि लिखेत् । *यथावद्विनिःक्षिपेदिति* । हस्तमात्रप्रमाणे क्षिप्तं पूजितमित्युक्तम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

मन्त्रान्तरमाह—*कवचमिति* । कवचं हुं । चण्डः खः । भगवानेकारयुक्तः । तेन खे । मेरुः क्षः । अत्र अकारादिलान्तानां पञ्चाशदर्णानामक्षरमालात्वान्मेरुस्थानीयः क्षकारो मेरुशब्दवाच्यः । सर्गसमन्वितो-विसर्गयुक्तः । इदमेव पूर्वमन्त्रेऽप्ययं विसर्गइति द्योतयति । तदुक्तं *नारायणीये*—"यष्टोतलयांश्च दशाक्षराया बीजं द्वितीयं सतृतीयषष्ठम् । त्रिकण्टकीनाम तदाशु सिध्येदि"ति । आद्यं बीजम् । अन्त्यं शक्तिः ॥ ४४ ॥

नीलेति । आस्यात्सितेत्यन्वयः । दंष्ट्राकरालैरुदरपरिगतैश्चतुर्भिर्वक्त्रैर्भीषणाङ्गीति सम्बन्धः । *उदरपरिगतैरिति* । उदरचतुःपार्श्वे । कम्बुः शङ्खः । आयुधध्यानमूर्ध्वयो-

त्रिशूलमुद्रां पाणिभ्यां बध्वात्मानं त्रिकण्टकीम् ।
ध्यायन्स्पृष्ट्वा जपेद्ग्रस्तं सद्यस्तं मुञ्चति ग्रहः ॥ ४७ ॥
क्षे रुद्रा स्त्री त्रिवर्णेयं विद्या वश्यत्रिकण्टकी ।
मन्त्रार्णैर्वीप्सितैः कुर्यादङ्गषट्कं यथा पुरा ॥ ४८ ॥
पूर्वोक्तां देवतां ध्यायन्मन्त्रं त्रिनियुतं जपेत् ।
दशांशं सर्पिषा हुत्वा वशयेद्वनितां नरान् ॥ ४९ ॥
तारो माया वाग्भवान्ते नित्यक्लिन्ने मदद्रवे ।
वाङ्मायावह्निजायान्तो मन्त्रः पञ्चदशाक्षरः ॥ ५० ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां पुनर्द्वाभ्यां द्वाभ्यां पञ्चभिरक्षरैः ।
वाचं विना समस्तेनाथाङ्गषट्कं समाचरेत् ॥ ५१ ॥
द्वीपं त्रिकोणविपुलं सुरद्रुममनोहरम् ।
कूजत्कोकिलनादाढ्यं मन्दमारुतसेवितम् ॥ ५२ ॥
भृङ्गपुष्पलताकीर्णमुद्यच्चन्द्रादिवाकरम् ।
स्मृत्वा सुराब्धिमध्यस्थं तस्मिन्माणिक्यमण्डपे ॥ ५३ ॥
रत्नसिंहासने न्यस्ते त्रिकोणोज्ज्वलकर्णिके ।
पद्मे सञ्चिन्तयेद्देवीं साक्षात्त्रैलोक्यमोहिनीम् ॥ ५४ ॥

द्वंक्षाद्ययोराद्ये तदधस्तनयोरन्त्य इति ॥ ४९ ॥ ४६ ॥

त्रिशूलमुद्रामिति । सा तु "कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयोगात् शेषाणां तु प्रसारणात्" इति । एतन्मन्त्रस्यान्त्याक्षरद्वयं छेयुक्तमन्ते विषहा त्रिकण्टकी ज्ञेया । तदुक्तं *नारायणीये*—"तस्याः त्रिपञ्चमपुटो विषहा च षष्ठ" इति । ऋष्यादि सर्वं पूर्वेण समानं त्रितयस्य ॥ ४७ ॥

मन्त्रान्तरमाह-क्षेइति । वश्येति—त्रिनियोगोक्तिः । आद्यं बीजं मध्यं शक्तिः । वीप्सितैः-द्विरुक्तैः । त्रिनियुतं-त्रिलक्षम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

नित्यामन्त्रमाह-*तारइति* । वाक्-वाग्भवम् । अनन्तरवक्ष्यमाणनित्यामन्त्रोक्तच्छन्दध्यादि ज्ञेयम् । प्रणवोबीजं स्वाहा शक्तिः । श्रिये-श्रीबीजादित्वं रोगशमनादौ-दुर्गाबीजादित्वम् । दुःखदौर्भाग्यशमने-कामबीजादित्वं, जरापमृत्युशमने-मृत्युञ्जयादित्वम् । मदद्रवे इत्यतः पूर्वं साध्यनामप्रयोगोऽपि । एवं वक्ष्यमाणमन्त्रयोरपि ज्ञेयम् ॥ ५० ॥

वाचं विनेति इदमुभयत्र सम्बध्यते तेन त्रयोदशभिरक्षरैरुक्तरीत्या पञ्चाङ्गानि कृत्वा षष्ठं समस्तेनाखमित्यर्थः ॥ *अथ* अनन्तरम् । अनेन वाग्भवेन पुनरङ्गानि कुर्यात् इत्युक्तम् । तदुक्तं *नारायणीये*—"रात्रिक्रूरांशसंख्यैः स्ववर्णैः खेन च वाग्विना । न्यास्याङ्गषट्कं वाचैव पुनश्चाङ्गानि विन्यसेदि"ति ॥ ५१ ॥

द्वीपमिति । सुराब्धिमध्यस्थं त्रिकोणं द्वीपं स्मृत्वा । तस्मिन्द्वीपे माणिक्यमण्डपे रत्नसिंहासने पद्मे देवीं चिन्तयेदित्यन्वयः । व्यधिकरणसप्तम्यः । उभयत्र त्रिकोणमित्यधोमुखम् ॥ ५२ ॥

*सुराब्धीति*अनेनैतदुक्तं पृथिव्यनन्तरं सुराब्धिन्त्रिकोणं द्वीपं माणिक्यमण्डपं रत्नसिंहासनं पीठन्यासे न्यस्येदिति । शेषं समानम् । इदमपिसमन्त्रेऽपि ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

त्रैलोक्यमोहिनीमिति अनेन विनियोगोक्तिः ॥ ५४ ॥

नित्यां भजेद्बालशशाङ्कचूडां पाशाङ्कुशौ कल्पलतां कपालम् ।
हस्तैर्वहन्तीमरुणां त्रिनेत्रामास्फालयन्तीं करवल्लकीं ताम् ॥ ५५ ॥

त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रमाज्येन जुहुयात्ततः ।
दशांशं, पूजयेत्पीठं चतुः शक्तिसमन्वितम् ॥ ५६ ॥
आंपूर्वां द्राविणीं वामां शम्भुकोणे समर्चयेत् ।
आल्हादकारिणीं ज्येष्ठामोंकाराद्यां हुताशने ॥ ५७ ॥
पूजयेत्क्षोभिणीं रौद्रीमुकाराद्यां निशाचरे ।
वायौ यजेद्गुह्यशक्तिं वाग्भवाद्यां विचक्षणः ॥ ५८ ॥
मायाढ्यमासनं दत्त्वा मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
अत्र संपूजयेद्देवीं वक्ष्यमाणक्रमेण तु ॥ ५९ ॥
अङ्गार्चनं केसरेषु दलेष्वेताः समर्चयेत् ।
आद्या नित्या सुभद्रान्या मङ्गला नरवीरिणी ॥ ६० ॥
सुभगा दुर्भगा भूयः सप्तमी स्यान्मनोन्मनी ।
अष्टमी रुद्ररूपा च वीणावादनतत्परा ॥ ६१ ॥
रक्ता मनोरमा दूत्यः सुवेषा मदमन्थराः ।
आद्यन्तयुग्मरहिताः स्वराः क्लीबविवर्जिताः ॥ ६२ ॥
बिन्द्वन्ता मनवस्तासामनङ्गस्मरमन्मथाः ।
कामोमारश्च पञ्चेषुः पाशाङ्कुशधनुर्भृतः ॥ ६३ ॥
अपराङ्गनिषङ्गाढ्या रक्ताः पूज्याः सुभूषणाः (षिताः)
मान्मथं व्योमसर्गाढ्यं तेषां बीजमुदाहृतम् ॥ ६४ ॥
रतिः स्याद्विरतिः प्रीतिर्विप्रीतिर्मतिदुर्मती ।
धृतिश्च विधृतिस्तुष्टिर्वितुष्टिश्च दश स्मृताः ॥ ६५ ॥
रक्ता वीणाकरा द्वे द्वे कामानां पार्श्वयोः स्थिता ।
सर्वाभरणसम्पन्नाः पूज्याः स्मेरमुखाम्बुजाः ॥ ६६ ॥

करवल्लकीमास्फालयन्तीमिति अनेन पट्टकरेत्युक्तंभवति । आयुधध्यानं तु पूर्ववत् ॥ ५५ ॥

चतुःशक्तिसमन्वितमिति । पीठशक्तयश्चतस्रः । तत्र द्राविर्णामित्यादीनि तु वामाज्येष्ठा रौद्रीणां विशेषणानि । अत्र शक्तित्रयमीशादिकोणेषु विन्यस्य तुर्यां मध्येन्यसेदित्यर्थः । तदुक्तं *नारायणीये*—"कोणेष्वीशादिमध्ये च तत्र शक्तीर्न्यसेदिमाः" इति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मध्ये यजेद्गुह्यशक्तिमिति पाठः । वायाविति पाठो ज्ञानेनोपस्कृतो मन्तव्यः ॥ ५८ ॥

मायाढ्यमिति । भुवनेशीबीजमुच्चार्य सर्वशक्तीत्यादिना पीठपूजेत्युक्तम् ॥ ५९ ॥

आद्येति । नित्या आद्या–प्रथमा ॥ ६० ॥ ६१ ॥

आदीति । स्वराणामाद्यन्ते ये युग्मे क्लीबाश्च तद्रहिता अन्ये अष्टौ बिन्दुयुतास्तासां मन्त्राः । अनङ्गेत्यादीनां पञ्चानामष्टदलोपरितः पूजा । आयुधध्यानम् । दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्यन्तम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

अपराङ्गनिषङ्गाढ्याः पृष्ठस्थतूणीराः । मान्मथं–कामबीजम् । व्योमसर्गाढ्यं हकारविसर्गयुक्तम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

क्लीबौष्ठद्वयनिर्मुक्तस्वरा ध्यश्चतुराननः ।
बिन्दुमान्बीजमेतासां क्रमाल्लोकेश्वरान्बहिः ॥ ६७ ॥
एवं संपूजयेद्देवीं देवानामपि दुर्लभाम् ।
परमैश्वर्य्यमाप्नोति प्रार्थ्यते वनिताजनैः ॥ ६८ ॥
वाग्भवं मान्मथं बीजं नित्यक्लिन्ने मदो पुनः ।
द्रवे वह्निवधूर्मन्त्रो द्वादशार्णोऽयमीरितः ॥ ६९ ॥
ऋषिः संमोहनश्छन्दो निवृन्नित्या च देवता ।
वाचा कृत्वा षडङ्गानि नित्यां ध्यायेन्निजेष्टदाम् ॥ ७० ॥
अर्धेन्दुमौलिमरुणाममराभिवन्द्यामम्भोजपाशसृणिपूर्णकपालहस्ताम् ।
रक्ताङ्गरागवसनाभरणां त्रिनेत्रां ध्यायेच्छिवस्य वनितां मदविह्वलाङ्गीम् ॥७१॥
चतुर्लक्षं जपित्वान्ते मधुराक्तैर्मधूकजैः ।
कुसुमैरयुतं हुत्वा तोषयेद्गुरुमात्मनः ॥ ७२ ॥
शक्तिपीठे यजेद्देवीं वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
अङ्गान्यर्च्येद्यथापूर्वं ततः शक्तीरिमा यजेत् ॥ ७३ ॥
नित्या निरञ्जना क्लिन्ना क्लेदिनी मदनातुरा ।
मदद्रवा द्राविणी च द्रविणेत्यष्टशक्तयः ॥ ७४ ॥
नीलोत्पलकपालाढ्यकरा रक्ताम्बुजेक्षणाः ।
लोकपालान्यजेदन्ये वाहनायुधसंयुतान् ॥ ७५ ॥
सिद्धं मन्त्रं जपेन्मन्त्री सहस्रं शयनस्थितः ।
यां विचिन्त्य स्त्रियं रात्रौ सा समायाति तत्क्षणात् ॥ ७६ ॥
वाङ्मायानन्तरं नित्यक्लिन्ने भूयोमदद्रवे ।
द्विठान्तो रविसंख्यार्णो मनुर्वश्यप्रदायकः ॥ ७७ ॥

क्लीबेति । क्लीबचतुष्टयम् ओष्ठद्वयम् एवे एतन्निर्मुक्ता ये दशस्वरास्तदाढ्यस्तद्युक्तश्च तुराननो जकारस्तेन जं जां जिं जीं जुं जूं जों जौं जं जः इति मन्त्राः । *क्रमादिति* । पूर्वं-ग्रन्थेति । लोके शाखाण्यनुक्तानि अपि पूजनीयानि चतुर्थपटले सामान्यत उक्तेः ॥६७॥६८॥

मन्त्रान्तरमाह—*वागिति* । मदो मकारदकारौ । क्लीं बीजं स्वाहेति शक्तिः ॥६९॥

वाचेति । वाग्भवेन षड्दीर्घकामयुक्तेनेति परमगुरवः ॥ ७० ॥

अर्द्धेन्द्विति । सृणिरङ्कुशः *पूर्णेति* सुरापूर्णम् । आयुधध्यानं पूर्ववत् । *निजेष्टदामिति*वनियोगोक्तिः ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

शक्तिपीठ इति । शक्तिपीठोक्ता नव शक्तयोऽत्र पूज्या इत्यर्थः । *यथापूर्वमिति* । पूर्वोक्तरीत्या ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

वश्यप्रस्तारिणीमन्त्रमाह-*वागिति* । वाक् वाग्भवम् ॥ अन्ये एवं योजयन्ति । मायानन्तरं क्लिन्ने, भूयः पश्चाद्वाक् । ततोनित्येति अविभक्तिकोनिर्देशः । ततो मदद्रवे । द्विठः बिन्दुद्वयं "विसर्गः सर्गः शक्तिरि"त्युक्तेर्भुवनेशीबीजं, रविसंख्यार्णोद्वादशाक्षर इत्युक्तेर्वाग्भवाऽनन्तरमङ्कुशबीजम् । एतेनैवमुक्तं भवति प्रथमतो माया ततः क्लिन्ने ततो' वाग्भवाङ्कुशौ ततो नित्यमदद्रवे ततो मायाबीजम् (ह्रीं क्लिन्ने ऐं क्रौं नित्यमदद्रवे ह्रीं १२)

अङ्गिराः स्यादृषिस्त्रिष्टुप्छन्दोमुनिभिरीरितम् ।
वज्रप्रस्तारिणी प्रोक्ता देवताऽभीष्टदायिनी ॥ ७८ ॥
वाग्भवेनषडङ्गानि विदध्यान्मन्त्रवित्तमः ।
वज्रप्रस्तारिणीं ध्यायेत्समाहितमनास्ततः ॥ ७९ ॥
रक्ताब्धौ रक्तपोते रविदलकमलाभ्यन्तरे सन्निषण्णां
रक्ताङ्गीं रक्तमौलिस्फुरितशशिकलां स्मेरवक्त्रां त्रिनेत्राम् ।
बीजा(१)पूरेषुपाशाङ्कुशमदनधनुः सत्कपालानि हस्तै-
र्बिभ्राणामानताङ्गीं स्तनभरभरणादम्बिकामाश्रयामः ॥ ८० ॥
मन्त्री मन्त्रं जपेल्लक्षं जपान्ते जुहुयात्ततः ।
अयुतं राजवृक्षोत्थैर्घृतसिक्तैः समिद्वरैः ॥ ८१ ॥
शक्तिपीठे यजेद्देवीमरुणैः कुसुमादिभिः ।

तदुक्तमाचार्यैः—"स्मरदीर्घ(२)धरार्काग्न्यो दीर्घैत्पक्षे मदद्रलान्त्यशिवाः । अभितः शक्तिनिरुद्धोद्वादशवर्णोऽयमीरितो मन्त्र" इति । *नारायणीयेऽपि*—"क्लिन्ने वागङ्कुशौ नित्यशब्दः कालश्च(३) दद्रवे । वधेशीशक्तिरुद्धैपे"ति । अन्ये वाग्भवरहितं मायाद्यमेकादशाक्षरमाहुः । तदुक्तं नारायणीये—"नतौ साक्षि(४)त्वचौ क्लिन्ने कालोऽत्रिश्च(५) द्रवे शिर"इति । *आचार्याश्च* "नित्ययोरन्तरा त्यक्लिन्नेमदाः स्युश्च वे शिरः । मायादिक"इति । मन्त्रद्वयमपि साम्प्रदायिकमेव वक्ष्यमाणविधिस्त्रयाणां समान एव । प्रथममन्त्रे वाग्बीजं स्वाहा शक्तिः । द्वितीयमन्त्रे वाग्बीजं मायाशक्तिः । तृतीये मायाबीजं स्वाहा शक्तिः । वश्येति-अभीष्टदेति च विनियोगोक्तिः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

वाग्भवेनेति । षड्दीर्घमायायुक्तेनेति परमगुरवः । द्वितीयमन्त्रेतु—"द्वाभ्यां वाचैकेन चद्वाभ्यां द्वाभ्यां तथा पुनर्द्वाभ्याम् । मन्त्राक्षरैर्विदध्यात् अङ्गविधिं जातिसंयुतैर्मन्त्री"ति । अस्मिन् पक्षे वाग्भवेन शिर इति विशेषः । एवं षडङ्गानीति श्लोकयोजना । मन्त्रवित्तम इत्यनेन तन्त्रान्तरोक्तान्यङ्गानि सूचितानि । आह्लादिनी हृत् । क्लिन्ने शिरः । क्लेदिनि शिखा, नित्ये वर्म, मद-नेत्रं, द्रवेऽस्त्रमित्येतानि ॥ ७९ ॥

रक्ताब्धाविति अनेनैतदुक्तं भवति पृथिव्यनन्तरं रक्तसमुद्रं रक्तपोतं पीठन्यासेन्यसेदिति । शेषं समानम् । इषुर्बाणः । मदनधनुरिक्षुचापम् । आयुधध्यानं वामोर्ध्वतः अङ्कुशशरबीजपूराणि । केचन द्वितीयमन्त्रे बीजपूरस्थाने दाडिममाहुः । स्तनभरस्य भरणमाधिक्यं तस्मादानताङ्गी । आदिशब्देन रक्तगन्धः । स्वयमप्येतादृशवेष एव । तदुक्तं "शक्तेः पीठे पूज्या देवी कुसुमानुलेपनैररुणैः । स्वयमप्यलङ्कृताङ्ग" इति । तृतीयेऽङ्गानि ध्यानं च यथा "वर्णद्वन्द्वैश्चाङ्गविधिः स्मृतः । । पूर्वोक्तरूपामभयपाशाङ्कुशकपालिनीमि"ति ॥ *समिद्वरैः* श्रेष्ठसमिद्भिः ॥८०॥८१॥

आवरणपूजामाह *अङ्गानीति* । केसरेषु यान्यङ्गानि सामान्यतउक्तानि तानि स्युः ।

---

(१) छन्दोभङ्गभियाआकारः । "अपिमाषं मषङ्कुर्याच्छन्दोभङ्गंनकारयेदि"—त्यभियुक्तोक्तेः॥

(२) अत्र मध्यस्थषडर्णोद्धारोऽनेनस्पष्टं न प्रतिभाति । पुस्तकान्तरेऽपि—एवमेवपाठउपलब्ध इति संशोध्यमेतत् ।

(३) कालेमः । (४) इकारयकारसहितैः । (५) अत्रिः दः ।

अङ्गानि केसरेषु स्युरर्चनीया दलेष्विमाः ॥ ८२ ॥
हृल्लेखा क्लेदिनी क्लिन्ना क्षोभिणी मदनातुरा ।
निरञ्जना रागवती सप्तमी मदनावती ॥ ८३ ॥
मेखला द्राविणी पश्चाद्वेगवत्यपरा स्मृता ।
कपालोत्पलधारिण्यः शक्तयो रक्तविग्रहाः ॥ ८४ ॥
मातरो दिग्विदिक्ष्वर्च्याः पुनः पूज्या दिगीश्वराः ।
भजेन्मन्त्री मनुं नित्यमर्चनादिभिरादरात् ॥ ८५ ॥
दारिद्र्यरोगनिर्मुक्तः स जीवेच्छरदां शतम् ।
अस्मिन्मन्त्रे रतोमन्त्री वशयेदखिलं जगत् ॥ ८६ ॥
नित्यामन्त्रैर्बुधः कुर्यान्मुखलालनमन्वहम् ।
अञ्जनं तिलकं पुष्पं धारयेन्मन्त्रितं सुधीः ॥ ८७ ॥
ताम्बूलं मन्त्रितं भक्षेन्मन्त्री स स्याज्जगत्प्रियः ।
श्रीमायामदनैः प्रोक्तो मन्त्रो बीजत्रयात्मकः ॥ ८८ ॥
ऋषिः संमोहनश्छन्दोगायत्रन्देवता मनोः ।
त्रिपुटाख्या द्विरुक्तैस्तैर्बीजैरङ्गानि षट् क्रमात् ॥ ८९ ॥
पारिजातवने रम्ये मण्डपे मणिकुट्टिमे ।
रत्नसिंहासने सौम्ये पद्मे षट्कोणशोभिने ।

त्रिकोणोपरि कर्णिकायामिति शेषः । ध्यानस्य नारायणीये तथोक्तेः । "रक्तसिन्धुचरत्पोतमासपन्नातयोनिगे"ति । तदुक्तं "अङ्गैः शक्तिभिराभिर्मातृभिराशाधिपैः क्रमात्पूज्ये"ति । तन्त्रान्तरेऽपि त्रिकोणषट्कोणद्वादशदलं पीठमुक्त्वा "अङ्गानि पूजयेदादौ त्रिकोणस्थास्तु पूजयेत् । इच्छाज्ञानक्रियासंज्ञाः षट्कोणेष्वर्चयेत्ततः ॥ डाकिन्याद्याः द्वादशसु हृल्लेखाद्याः समर्चयेदि"ति । स्मरो द्वादशः । पुस्तकेषु बिन्दुद्वयस्य रेखा(१)त्मकता लेखकदोषवशात् । उक्तं च *नारायणीये* "मेखला द्राविणी वेगवती कामश्च ताः स्मृता" इति । *आचार्या अपि*—"सस्मरा द्वादशैते" इति । अत एव शक्तय इत्युक्तिः । अन्यथा ध्यानमात्रमेव वदेत् । तेन शक्तीनामिदं ध्यानं, स्मरस्तु प्रसिद्धध्यान इति भावः । *रक्तविग्रहाः* अरुणदेहाः । *मातरो दिग्विदिक्ष्विति* द्वादशदलाद्बहिः । स्थानमात्रनिर्देशः । तेन पुरोभागादिप्रादक्षिण्येन चतुरस्रान्तरदिक्षु तत्र पूजनम् । *दिगीश्वराइति* । तदस्त्रोपलक्षकम् । तृतीयेतु आवरणपूजा । अङ्गैः पूर्वमन्त्रोक्ताष्टशक्तिभिर्ब्राह्म्यादिभिः कपालैस्तदस्त्रैश्च । "दीक्षितः प्रजपेल्लक्षं मनुर्येन हुनेत्ततः । मधूकपुष्पैः स्वादक्तैर्युतं हविषाथवे"ति ॥ ८२–८७ ॥ ३ ॥

त्रैपुटमन्त्रमाह—*श्रीति*सम्मोहन इत्युपलक्षणं भृगुशक्तिसंमोहनाऋषय इति ज्ञेयम् । आद्यं बीजं द्वितीयं शक्तिः ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

पारिजातेति । पारिजातवने मण्डपे कल्पवृक्षस्याधस्तान्मणिकुट्टिमे रत्नसिंहासने पद्मे निषण्णां देवतां स्मरेदित्यन्वयः । व्यधिकरण्यः सप्तम्यः । पद्मे–चतुःपत्रे अमृतपत्रे च । तत्र षट्कोणकर्णिकायां चतुरस्रमन्यत्तत्कर्णिकम् । उक्तञ्च *नारायणीये* "यजेदेनां चतुष्पत्रे षट्

---

(१) एतेनमूलेऽपरास्मृताइत्यत्र नरा स्मरा इतिपाठो बोध्य इति कृच्छ्राद्बोधितम् । तथैव पाठे लेखकदोषोभवेदिति नविद्मः । पुस्तकान्तरेऽप्यपरा स्मृतेत्येवमेव पाठ उपलभ्यते ।

अधस्तात्कल्पवृक्षस्य निषण्णां देवतां स्मरेत् ॥ ९० ॥
चापं पाशाम्बुजसरसिजान्यङ्कुशं पुष्पबाणान्
बिभ्राणां तां करसरसिजैरत्नमौलिं त्रिनेत्राम् ।
हेमाब्जाभां कुचभरनतां रत्नमञ्जीरकाञ्ची-
ग्रैवेयाद्यैर्विलसिततनुं भावयेच्छक्तिमाद्याम् ॥ ९१ ॥
चामरादर्शताम्बूलकरण्डकसमुद्गकान् ।
वहन्तीभिः कुचार्ताभिर्दूतीभिः परिवारिताम् ॥ ९२ ॥
करुणामृतवर्षिण्या पश्यन्ती साधकं दृशा ।
भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं जुहुयात्तावत्सहस्रकम् ॥ ९३ ॥
बिल्वारग्वधसंभूतैर्मधुराक्तैः समिद्वरैः ।
जपापुष्पैश्च जुहुयात्तोषयेद्वसुना गुरुम् ॥ ९४ ॥
हृल्लेखाविहिते पीठे पूजयेत्तां विधानतः ।
अग्न्यादिषट्सु कोणेषु लक्ष्म्याद्याः परिपूजयेत् ॥ ९५ ॥
लक्ष्मीं हेमप्रभां तन्वीं स्वराब्जयुगाभयाम् ।
चक्रशङ्खगदाम्भोजधरं हेमनिभं हरिम् ॥ ९६ ॥
पाशाङ्कुशाभयाभीष्टधरां गौरीं जपारुणाम् ।
मृगटङ्काभयाभीष्टधरं स्वर्णनिभं हरम् ॥ ९७ ॥
नीलोत्पलकरां सौम्यां रतिं काञ्चनसन्निभाम् ।
धृतपाशाङ्कुशेष्वासपुष्पेषुमरुणं स्मरम् ॥ ९८ ॥
पूर्ववन्निधियुग्मं तद्यजेदुभयपार्श्वयोः ।

कोणस्थाम्बुजे च तामि"ति । अथचैतदुक्तं भवति । अनन्तानन्तरं सुवर्णभूमिपारिजातवनं रत्नमण्डपं मणिकुट्टिमं रत्नसिंहासनं पूजयेत । शेषं समानं "नवकनकभासुरोर्वीविरचितमणि-कुट्टिमे सकल्पतरावि" त्याचार्योक्तेः ॥ ९० ॥

*चापमिति*चापमिक्षुचापम् । आयुधध्यानं वामाधस्ताद्दक्षाधः पर्यन्तम् । *तदुक्तमा-चार्यैः*—"ध्यायेद्धृताब्जयुगपाशवराङ्कुशेक्षुचापां सपुष्पविशिखां नवहेमवर्णामि"ति ॥ ९१ ॥

*ताम्बूलकरण्डकमिति*एकं, *समुद्गकः* संपुटकः । गन्धादिस्थापनपात्रम् । *दूतीभिरिति*। घृणिनी सूर्य्या आदित्या प्रभावतीति चतस्रः सौम्यादिचतुर्दलस्थाः । एता अपि द्विभुजाः । दक्षिणहस्ते चामरादि, वामहस्तेऽभयम् । तदुक्तम् "निरायुधे करे प्रोक्तो वरः साधारणः सदा । अभयं चे"ति । *नारायणीये तु* कृताञ्जलित्वमुक्तम् । "तद्दूतीश्च कृताञ्जलीः । सौम्यादि घृणिनीं सूर्यामादित्यां च प्रभावतीमि"ति ॥ ९२ ॥

भानुलक्षं द्वादशलक्षम् ॥ ९३ ॥

आरग्वधो राजवृक्षः । *विधानत* इत्यनेन तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रे बीजलिखनं सूचितम् । तदुक्तं *संहितायां*—"षट्कोणं पूर्वमालिख्य मध्ये विद्यां लिखेत्सुधीः । वीप्सयातां तु षट्कोणे कोणेषु क्रमतो लिखेत् ॥ बाह्ये वसुदलं कुर्याद्दीर्घस्वरविभूषितम् । चतुरस्रं चतुर्द्वार-भूषितं मण्डलं लिखेत्" इति ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

टङ्कः परशुः । *इष्वासो* धनुः । आयुधध्यानं स्वस्वप्रकारेणानुसन्धेयम् ॥९७॥९८॥

पूर्ववदिति । सशक्तिकध्यानम् । *उभयपार्श्वयोः* । षट्कोणपार्श्वयोः । एतदन्तमा-

बहिरङ्गानि संपूज्य पूज्याः पत्रेषु मातरः ॥ ९९ ॥
लोकेशान्वनितारूपानर्चयेत्सौम्यविग्रहान् ।
इत्थं यः पूजयेद्देवीं नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥ १०० ॥
संप्राप्य कवितां दिव्यां प्राप्य लक्ष्मीमनन्तरम् ।
सौभाग्यमतुलं लब्ध्वा विहरेत्सुचिरं भुवि ॥ १०१ ॥
पाशाङ्कुशपुटा शक्तिर्झिण्टीशोगगनं सट्टक् ।
परमेपूर्वशब्दान्ते द्विठान्तः प्रणवादिकः ॥ १०२ ॥
अश्वारूढामनुः प्रोक्तस्त्रयोदशभिरक्षरैः ।
द्वाभ्यामेकेन चैकेन द्वाभ्यां पञ्चभिरक्षरैः ॥
द्वाभ्यामङ्गानि षट् कुर्यात्ततो देवीं विचिन्तयेत् ॥ १०३ ॥
रक्तामश्वाधिरूढां शशधरशकलां बद्धमौलिं त्रिनेत्रां
पाशेनाबध्य साध्यां स्मरशरविवशां दक्षिणेनानयन्तीम् ।
हस्तेनान्येन वेत्रं वरकनकमयं धारयन्तीं मनोज्ञां

वरणम् । *बहिरिति* । षट्कोणादष्टदलकेसरेषु ॥ ९९ ॥

सौम्यविग्रहानिति अनेन "उत्तुङ्गयौवनोन्मत्ता देव्याराधनगर्विता" इति तन्त्रान्तरोक्तमुक्तं भवति ॥ १०० ॥

कवितामिति अत्र वाग्भवादित्वम् । *प्राप्य लक्ष्मीमिति* श्रीबीजादित्वं, तदुक्तं *नारायणीये*—"श्री कामशक्तिबीजात्मा श्रीकरो वश्यकृन्मनुरि"ति । *सौभाग्यमिति* । कामादित्वं मायामध्यत्वं मायान्तत्वे तु त्रिपुरामन्त्रान्तर्भावः ॥ एवमुभयशक्त्यादित्वे यशस्करं ज्ञेयम् । यद्बीजादिको मन्त्रस्तदादिकान्यङ्गान्यपि कुर्यात् ॥ १०१ ॥

आश्वारूढामन्त्रमाह—*पाशेति* । पाश आं, अङ्कुशः क्रों, शक्तिर्मायाबीजं, तेन पाशादित्र्यक्षरः । त्रयोदशभिरक्षरैरित्युक्ते राद्यन्तयोः पाशाभ्यां पुटितत्वं न गृह्यतइति ज्ञेयम् । झिण्टीशः ए । गगनं हः । सट्टगिकारसहितं, तेन हि । सांप्रदायिका अस्य द्विरुक्ति वागादित्वं च वदन्ति । अन्येतु । अश्वितः शरतो बाणतः ऋक्यादान् त्रीन् पठित्वा अन्ते द्विठाङ्कुशमायापाशप्रणवा इति । "यदद्यकच्चवृत्रहन्नुदगा अभिसूर्य । सर्वं तदिन्द्रते वशे" इति ऋक् । अस्य ब्रह्मा ऋषिः विराट् छन्दः प्रणवो बीजं स्वाहा शक्तिः ।अन्ये पूर्वोद्धृतामेव दशाक्षरीं मन्यन्ते । "मूर्द्धालिकाक्षिनासाप्रवक्त्रकण्ठेषु च क्रमात् । हृन्नाभिध्वजमूलाग्रेष्वक्षराणि प्रविन्यसेत्" इति । त्रयोदशाक्षरेऽक्षरन्यासो यथा—"मूर्द्धालिकाज्ञाकर्णाक्षिनासाप्रास्याक्षुलेषुच । हृन्नाभिध्वजमूलाङ्घ्रिष्वक्षराणि प्रविन्यसेत्" । इति। षड्दीर्घमायया दशाक्षर्या षडङ्गं ग्रन्थोक्तषडङ्गेष्वपि षड्दीर्घमायायोगमाहुः सांप्रदायिकाः । दशाक्षर्या ध्यानम्—"अरुणामरुणाकल्पस्थामरुणाम्बरभूषणाम् । चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च प्रसन्नवदनां शिवाम् ।। खड्गंचर्म च यष्टिं च दधानां दक्षवामयोः । अधस्ताद्धेमवेत्रं स्यात्पाशस्तस्योर्द्ध्वतस्थितः ॥ कण्ठे बध्वाऽथ पाशेन साध्यं वेत्रसमाहतम् । बद्धाञ्जलिकरं व्योम्नि भ्रमन्तं पातितं पदे ॥ आकर्षयन्तीं ध्यायेत्तामि"ति ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

त्रयोदशाक्षर्याध्यानमाह—*रक्तामिति* । *अश्वेति* । रक्तोऽश्वः स्मरशरविवशां साध्यां पाशेनाबध्य कण्ठे इति ज्ञेयम् । "कण्ठे बध्वाथ पाशेन" त्युक्तेः । अन्येन—वामेन हस्तेनामय-

देवीं ध्यायेदजस्रं कुचभरनमितां दिव्यहाराभिरामाम् ॥ १०४ ॥
बाणलक्षं जपेन्मन्त्रमाज्येनान्ते जितेन्द्रियः ।
दशांशं जुहुयाद्देवीं शक्तिपीठे समर्चयेत् ॥ १०५ ॥
पाशादित्रयतन्त्रोक्तेन विधानेन समाहितः ।
आज्याढ्यान्नाहुतान्मन्त्री लभते वाञ्छितं फलम् ॥ १०६ ॥
लवणैर्मधुरासिक्तैर्होमेन वशयेन्नृपान् ।
तेनैव विधिना मन्त्री वशयेद्वनितामपि ॥ १०७ ॥
आलिख्य काष्ठानि विकारसंख्यान्यतश्चतुष्के प्रणवंससाध्यम् ।
अन्येष्वपि द्वादशमन्त्रवर्णाल्लिखेदिदं यन्त्रमशेषवश्यम् ॥ १०८ ॥
मायाहृद्भगवत्यन्ते माहेश्वरिपदं वदेत् ।
अन्नपूर्णे ठयुगलं मनुः सप्तदशाक्षरः ॥
अङ्गानि मायया कुर्यात्ततोदेवीं विचिन्तयेत् ॥ १०९ ॥
रक्तां विचित्रवसनां नवचन्द्रचूडामन्नप्रदाननिरतां स्तनभारनम्राम् ।
नृत्यन्तमिन्दुशकलाभरणं विलोक्य हृष्टां भजेद्भगवतींभवदुःखहन्त्रीम् ॥ ११० ॥
यथाविधि जपेन्मन्त्रं वसुयुग्मसहस्रकम् ।
साज्येनान्नेन जुहुयात् तद्दशांशमनन्तरम् ॥ १११ ॥
शक्तिपीठे यजेद्देवीमङ्गलोकेश्वरायुधैः ।
प्रातरेनं जपेन्मन्त्रं नित्यमष्टोत्तरंशतम् ॥ ११२ ॥

न्तीम् । पुनः किं विशिष्टां ? दक्षिणेन वेत्रं धारयन्तीम् । तदुक्तम्—"अश्वारूढा कराग्रे नवकनकमयीं वेत्रयष्टिं दधाना दक्षेऽन्येनानयन्ती"ति ॥ १०४ ॥

बाणलक्षं-पञ्चलक्षम् । दशाक्षर्यास्तु-"हविष्याशी जपेत्पूर्णलक्षं होमं दशांशतः । विदद्ध्यात्तु पलाशैर्वा जपापुष्पैश्च वा प्रिये ॥ कुसुम्भकुसुमैर्वाज्यैरन्यैर्वा रक्तपुष्पकै"रिति । पूजा तु "पद्मपत्राब्जयुगलं षट्कोणाष्टदलाब्जयुक् । चतुरस्रद्वयं द्वारद्वययुक्तमिति प्रिये ॥ चक्रं विभाव्य तां देवीमावाह्यात्र प्रपूजयेत् । अङ्गैर्वाणैश्च शब्दाद्यैराकर्षण्यन्तिकैः परम् ॥ श्रोत्रादिभिश्च बुध्यन्तैराक[illegible]न्तिमैः परम् । प्राणात्मशक्तिचैतन्यं मनोहङ्कारभावकान् । शरीरं चाष्टपत्रेष्वाकर्षणीपदपश्चिमान् । ब्राह्म्याद्या लोकपालाश्च तदस्त्राणि च तद्बहि"रिति । यन्त्रं च "त्रिकोणषट्कोणवृत्तं यन्त्रं कृत्वा सवृत्तकम् । तन्मध्ये विलिखेत्पूर्वं विद्यार्णंच ततः परम् ॥ वर्णत्रयं त्रिकोणेषु षट्कोणेषु षडक्षरान् । तद्बाह्यवृत्तवीथ्यां तु मातृकां वेष्टयेत्क्रमात् ॥ एवं मध्ये प्रविन्यास[illegible]यन्त्राणि कल्पयेत् । जपपूजनसंपातैर्वश्याकृष्टिवसुश्रियः । भूरत्नकीर्त्तिसौभाग्यनिधिकान्तीश्च साधयेत्" इति ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

यन्त्रमाह— *आलिख्येति* । विकाराः षोडश *लिखेदिति* । अप्रादिप्रादक्षिण्ये ! १०८

अन्नपूर्णामन्त्रमाह—*मायेति* । हृन्नमः । अत्र नमः शब्दसकारस्य रोहत्वे गुणे च उकार इति ज्ञेयम् ॥ *ठयुगलं*-स्वाहा । अत्र सप्तदशाक्षर इत्युक्तेरि अ इत्यत्र न यणादेशः । केचनास्य प्रणवादित्वमाहुः । ब्रह्मा ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । माया बीजं, स्वाहाशक्तिः । *माययेति* । षड्दीर्घयुक्तया ॥ १०९ ॥

अन्नप्रदाननिरतामिति । विनियोगोक्तिः । इन्दुशकलाभरणं-शिवं । *यथाविधीति* पुरश्चरणोक्तमार्गेण । *वसुयुग्मसहस्रं*—षोडशसहस्रम् ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ३ ॥

एतस्याजसमृद्धिः स्याच्छ्रिया सह महीयसी ।
माया पद्मावतिपदं ततः पावकवल्लभा ॥ ११३ ॥
सप्तार्णो मनुराख्यातः सर्ववश्यप्रदायकः ।
अङ्गानि मायया (१)कुर्याद्ध्यायेत् त्रैलोक्यमोहिनीम् ॥ ११४ ॥
पद्मासनस्थां करपङ्कजाभ्यां रक्तोत्पले सन्दधतीं त्रिनेत्राम् ।
आबिभ्रतीमाभरणानि रक्तां पद्मावतीं पद्ममुखीं भजा(नना)मि ॥ ११५ ॥
पक्षलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद्घृतैः ।
शक्तिपीठे यजेद्देवीमङ्गाद्यावरणैः(२) सह ॥ ११६ ॥
किञ्जल्केष्वङ्गपूजा स्यात्पूज्याः पत्रेषु मातरः ।
लोकपाला बहिः पूज्यास्तदस्त्राणि ततो बहिः ॥ ११७ ॥
इत्थं यो भजते मन्त्री जपहोमार्चनादिभिः ।
सुभगः सर्वनारीणां भवेत्काम इवापरः ॥ ११८ ॥
षडस्रमध्ये प्रविलिख्य शक्तिं कोणेषु शिष्टानि षडक्षराणि ।
तद्बाह्यतो मातृकयाभिवीतं पद्मावतीयन्त्रमिदं प्रशस्तम् ॥ ११९ ॥
तारं शिरसि विन्यस्य देवीं सञ्चिन्त्य भारतीम् ।
शक्तिबीजं न्यसेद्भाले संस्मृत्य भुवनेश्वरीम् ॥ १२० ॥
अमसौ नेत्रयोर्न्यस्येत् ध्यात्वा सूर्यं हुताशनम् ।
मुखवृत्तेन विन्यस्येट्टान्तं चन्द्रमनुस्मरन् ॥ १२१ ॥
जिह्वायां विन्यसेद्बीजं रमायास्तां विचिन्तयन् ।
स्वा हाणौ गण्डयोर्न्यस्येत्तद्गजेन्द्रधिया सुधीः ॥ १२२ ॥
अमठं न्यासमाख्यातं कुर्वन्प्रतिदिनं नरः ।

पद्मावतीमन्त्रमाह--*मायेति* । *सर्ववश्येति* विनियोगोक्तिः । त्रैलोक्यमोहिनीमित्यपि । ब्रह्मा ऋषिः, गायत्री च्छन्दः, मायाबीजं, स्वाहा शक्तिः । अत्रापि माययेति पूर्ववत् । *पक्षलक्षं* लक्षद्वयम् ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ ११९ ॥

अमठन्यासमाह--*तारमिति* ॥ १२० ॥

अमसौ अं विन्दुः । अः विसर्गः । मुखवृत्तेन-मुखवृत्त इत्यर्थः । क्वचिन्मुखे वृत्तेनेतिपाठः । वृत्तेन वृत्तरूपेण मुखे न्यसेदिति । टान्तं ठकारं तद्गजेन्द्रधिया-लक्ष्मीगजेन्द्रबुद्ध्या विचिन्त्येत्युक्तेः । तत् प्रकरणे तद्ध्यानमनुसन्धेयम् । तत्र तर्जन्यनामिकाकनिष्ठाः समाकुञ्च्ययुक्ताभ्यां मध्यमाङ्गुष्ठाभ्यां गजशुण्डाकाराभ्यामयं न्यासः कर्त्तव्य इत्युपदेशः सांप्रदायिकानाम् । गजेन्द्रध्यानं यथा--"तारकुन्देन्दुधवलौ गलगण्डमदोत्कटौ । लसत्पुष्करशोभाढ्यौ स्फुरद्दन्तौ गजौ भजे" ॥ इति ॥ १२१ ॥ १२२-३ ॥

कीर्तिश्री रित्यनेनास्य स्वातन्त्र्यमुक्तम् । तत्र प्रयोगः ॐ सरस्वत्यै नमः । ह्रीं उमायै नमः । अं सूर्यमण्डलाय । अः वह्निमण्डलाय । वंसोममण्डलाय । श्रीं श्रियै । स्वां द-

---

(१) कृत्वा ध्यायेदिति पुस्तकान्तरे पाठः ।

(२) वरणान्वितम् इतिपाठः क्वचित् ॥

कीर्तिश्रीकान्तिमेधानां वल्लभो भवति ध्रुवम् ॥ १२३ ॥
इति श्रीशारदातिलके दशमः पटलः ॥ १० ॥ * ॥

ततो दुर्गामनुं वक्ष्ये दृष्टादृष्टफलप्रदम् ।
मायाऽत्रिः कर्णबिन्द्वाढ्यो भूयोऽसौ सर्गवान्भवेत् ॥ १ ॥
पश्चान्तकः प्रतिष्ठावान्मारुतो भौतिकासनः ।
तारादिर्हृदयान्तोऽयं मन्त्रो वस्वक्षरात्मकः ॥ २ ॥
ऋषिश्च नारदश्छन्दो गायत्रं देवतामनोः ।
दुर्गा समीरिता सद्भिर्दुरितापन्निवारिणी ॥ ३ ॥
नमस्कारवियुक्तेन मूलमन्त्रेण साधकः ।
ह्रामाद्यैः सह कुर्वीत षडङ्गानि यथाविधि ॥ ४ ॥
सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्यैश्चतुर्भिर्भुजैः
शङ्खं चक्रधनुः शरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता ।

न्विने । ह्रां दन्तिने । अस्य ऋष्यादिकं यथा । अमठश्रीमन्त्रस्य लक्ष्मीनारायणऋषिः बृहती- च्छन्दः अमठश्रीर्देवता ह्रीं बीजं, श्रीं शक्तिः, सर्ववश्यार्थे विनियोगः । ॐ श्रीं हृत् । श्रीकरि शिरः । धनकरि शिखा । धान्यकार वर्म । ऋद्धिकार नेत्रम । पुष्टिकारि अस्त्रम् ।१२७

इतिशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थाभिख्यायां त्वरितामन्त्रकथनं नाम दशमः पटलः ॥ १० ॥ * ॥

एवं नित्यामन्त्रानुक्त्वा द्वादशगुणिते दुर्गाबीजस्योक्तत्वात् दुर्गामन्त्रान्वक्तुं प्रक्रमते— *ततइति* । मन्त्रमुद्धरति—*मायेति* । माया—शक्तिबीजम् । अत्रिर्दकारः । कर्णउकारः । बिन्दुरनुस्वार एतदाद्य इत्यनेन दुं, भूयोऽसौ—दुकारः । सर्गवान्—विसर्गयुक्तः । अनेन एता- दृशमपिबीजमिति सूचितम् । एतदर्थमेव सर्गवानित्युक्तिः । मन्त्रेतु रेफ एव । उपसर्गस्य तादृग्रूपत्वात् ॥ १ ॥

पश्चान्तको गकारः । प्रतिष्ठावानाकारयुक्तः । तेन गा इति । मारुतो यकारः । भौतिक ऐकारस्तदासनस्तेन यै । तदुक्तं—"तार माया स्वबीजानि दुर्गायै हृदगान्तिक"इति । सा- म्प्रदायिकाः मायाबीजानन्तरं कामबीजमाहुः । दुं बीजं, माया शक्तिः । दुरितेत्यादिना वि- नियोगोक्तिः ॥ २ ॥ ३ ॥

नमस्कारेति मूलमन्त्रेण नमस्कारवियुक्तेन । *ह्रामाद्यैः*।ह्रां ह्रो मित्याद्यैः सहषड- ङ्गानि कुर्वीतेति सम्बन्धः । प्रयोगस्तु—"ॐ ह्रीं दुं दुर्गायै ह्रां हृदयाय नमः" । "ॐ ह्रीं दुं दुर्गायै ह्रीं शिरसे स्वाहा" इत्यादि । तदुक्तम्—"तारो माया च दुर्गायै ह्रा साद्यन्ता- ङ्गकल्पना" इति । अत्र चकारेण दुर्गाबीजस्य समुच्चय इति तट्टीकाकारैर्व्याख्यातम् । *यथा- विधीति* । शक्तिषडङ्गमुद्रासूदनम् ॥ ४ ॥

सिंहस्थेति । आयुधध्यानं वामाद्यूर्ध्वयोराद्ये । अधस्थयोः परे । आमुक्ता धृता अङ्कादयो ययेति विग्रहः । दुर्गतिः दुष्टागतिर्दारिद्र्यं च । सर्वदुर्गामन्त्रेषु ध्यानान-

आमुक्ताङ्गदहारकङ्कणरणत्काञ्चीरणन्नूपुरा
दुर्गा दुर्गतिहारिणी भवतु वो रत्नोल्लसत्कुण्डला ॥ ५ ॥
वसुलक्षं जपेन्मन्त्रं तिलैर्मधुरलोलितैः ।
पयोऽन्धसा वा जुहुयात्तत्सहस्रं जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
पीठमित्थं यजेत्सम्यक् नवशक्तिसमन्वितम् ।
प्रभा माया जया सूक्ष्मा विशुद्धा नन्दिनी पुनः ॥ ७ ॥
सुप्रभा विजया सर्वसिद्धिदा नव शक्तयः ।
अग्निह्रस्वत्रयक्लीबरहितैः पूजयेदिमाः ॥ ८ ॥
प्रणवानन्तरं वज्रनखदंष्ट्रायुधाय च ।
महासिंहाय वर्मास्त्रं नतिः सिंहमनुर्मतः ॥ ९ ॥
दद्यादासनमेतेन मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
तस्यां संपूजयेन्मूर्तौ देवीमावाह्य मन्त्रवित् ॥ १० ॥
अङ्गावृतिं पुराभ्यर्च्य शक्तीः पत्रेषु पूजयेत् ।
जया च विजया कीर्तिः प्रीतिः पश्चात्प्रभा पुनः ॥ ११ ॥
श्रद्धा मेधा श्रुतिः प्रोक्ता स्वनामाद्यक्षरादिकाः ।
पत्राग्रेष्वर्चयेदष्टावायुधानि यथाक्रमात् ॥ १२ ॥
चक्रशङ्खगदाखड्गपाशाङ्कुशशरान्धनुः ।
लोकेश्वरांस्ततो बाह्ये तेषामस्त्राण्यनन्तरम् ॥ १३ ॥
इत्थं जपादिभिर्मन्त्री मन्त्रे सिद्धे विधानवित् ।
कुर्यात्प्रयोगानेतेन मनुना स्वमनीषितान् ॥ १४ ॥

न्तरमियं मुद्रा दर्शनीया—"मुष्टिं बध्वा कराभ्यां तु वामस्योपरि दक्षिणम् । कृत्वा शिरसि संपूज्या दुर्गा मुद्रेयमीरिता" इति । आयुधमुद्रादर्शनं च ॥ ५ ॥

वसुलक्षम् अष्टलक्षम् । पयोन्धसा*--पायसेन । *तत्सहस्रम् अष्टसहस्रम् ॥ ६ ॥

इत्थं—वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥ ७ ॥

सर्वसिद्धिदेति । शक्तिनाम । आसां ध्यानम *न्यत्रोक्तम्*—"आदिस्वरैर्बिन्दुयुतैरे कारान्तैः षडक्षरैः । एताः सार्द्धं जपापुष्परक्तवर्णाःसितानना ॥ चापबाणाञ्जलिकराः शुक्लमाल्यानुलेपनाः । आत्मत्रयान्ते संपूज्या दलमध्येष्वनुक्रमादि"ति ॥ *अग्निभिरिति* ह्रस्वत्रयम् अ इ उ क्लीबाश्चद् । तद्रहितैरेभिःस्वरैर्नवाग्निभिरित्यर्थः । प्रयोगस्तु—"आं प्रभायै नमः" इत्यादि ॥ ८ ॥

सिंहमन्त्रमाह—*प्रणवेति* । प्रणवानन्तरं—प्रणवमुच्चार्य वज्रनखदंष्ट्रायुधायेति स्वरूपम् सिंहाय इति स्वरूपं, वर्म हुं, अस्त्रं फट् । नतिर्नमः पदम् ॥ ९ ॥ १० ॥

अभ्यर्च्येति । तुर्योक्तरीत्या । *जयेति* आसां ध्यानं *मुक्तमन्यत्र*—"आजन्मरकतप्रख्याः सर्वाश्च शशिभूषणाः । दधत्यः सायकं हस्तैः शूलकार्मुकतर्जनीः ॥ जयाद्याः पूजनीयाः स्युर्जमित्याद्यर्णसंयुता" । इति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

विधानवित्प्रयोगान् कुर्वीतेति अनेनैतदुक्तं भवति । श्रीबीजादिः श्रिये । मृत्युञ्जयादिदीर्घायुषि । नृसिंहबीजादि वैरिजये । सर्वपुटितत्वे सर्वकामावाप्तिः । कामादित्वे पुत्रावाप्तिरिति । एतद्बीजयोगः शक्त्यनन्तरं ज्ञेयः ॥ १४ ॥

प्रतिष्ठाप्य विधानेन कलशान्नव शोभनान् ।
रत्नहेमादिसंयुक्तान्पदेषु नवसु स्थितान् ॥ १५ ॥
मध्यस्थे पूजयेद्देवीमितरेषु जयादिकाः ।
संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैरभिषिञ्चेन्नराधिपम् ॥ १६ ॥
राजा विजयते शत्रून्साधकोविजयश्रियम् ।
प्राप्नोति रोगी दीर्घायुः सर्वव्याधिविवर्जितः ॥ १७ ॥
वन्ध्याभिषिक्ता विधिना लभते तनयं वरम् ।
मन्त्रेणानेन संजप्तमाज्यं क्षुद्रज्वरापहम् ।
गर्भिणीनां विशेषेण जप्तं भस्मादिकं तथा ॥ १८ ॥

मध्ये तारे बीजमन्तस्थसाध्यं पत्रेष्वष्टौ मन्त्रवर्णान्विलिख्य ।
त्रिष्टुप्वीतं वेष्टितं मातृकार्णैर्यन्त्रं दौर्गं भूपुरस्थं विदध्यात् ॥ १९ ॥

क्षुद्रभूतमहारोगचौरसर्पनिवारणम् ।
विजयश्रीप्रदं पुंसां गर्भिणीनां सुखप्रदम् ॥ २० ॥
भान्तं वियत्सनयनं श्वेतो मर्दिनि ठद्वयम् ।
अष्टाक्षरीयमाख्याता विद्या महिषमर्दिनी ॥ २१ ॥
महिषहिंसिके हुं फट् हृदयं परिकीर्तितम् ।
महिषशत्रो शार्ङ्गि हुंफट् शिरोऽङ्गं समुदाहृतम् ॥ २२ ॥
महिषं भीषयद्वन्द्वं हुंफडन्तः शिखामनुः ।
महिषं हनयुग्मान्ते देवि हुंफट्तनुच्छदम् ॥ २३ ॥
महिषान्ते सूदिनि हुंफडन्तमस्त्रमीरितम् ।

प्रतिष्ठाप्यविधानेनेति मातृकापटलोक्तविधिना । हेमादीत्यादिशब्देन शाकं गन्धाष्टकम् । *पदेषु नवसु इति* । नवनाभमण्डलस्येति शेषः ॥ १५ ॥

*गन्ध पुष्पाद्यैरिति*आद्यशब्दाद्धूपदीपनैवेद्यानि । संपूज्येत्युपलक्षणं तेन संपातयुक्ताः जप्ताश्चेतिज्ञेयम् । यदाहुः–"कषायसलिलैः कुम्भानभिपूर्य यथाविधि । त्रिसहस्रं जपेन्मन्त्रं घृतसम्पातसंयुक्तम् ॥ तैश्चाभिषिक्तः शुद्धात्मा पूर्वेद्युः समुपोषितः । जयेच्छत्रून् क्षणाद्राजा प्राप्नोति विजयं श्रियम् । रोगी तु ग्रहपीडाभ्यां मुच्यते व्याधिभिस्तथे"ति ॥ १६ ॥ १७ ॥ ३ ॥

आज्यं संक्षिप्तमिति शेषः । *भस्मादिकं* घृतमितिशेषः आदिशब्दाद्गन्धपुष्पादि । *तथेति* । क्षुद्रग्रहापहमित्यर्थः ॥ १८ ॥

यन्त्रमाह—*मध्यइति* मध्येतारे इतिव्यधिकरणे सप्तम्यौमध्ये कर्णिकायां, तारे प्रणवे, बीजं दौर्गम् *अन्तःस्थितसाध्यं*—मध्यस्थितसाध्यसाधकनामकर्मसहितं विलिख्येति सम्बन्धः । त्रिष्टुप्जातवेदाः स द्वाविंशे वक्ष्यते ॥ १९ ॥ २० ॥

महिषमर्दिनीमन्त्रमाह–*भान्तमिति* । भान्तंमकरः । वियत् हकारः । सनयनसिकारसहितं तेन हि । श्वेतःपः । मर्दिनि स्वरूपं, ठद्वयं स्वाहा । उक्तं हि *नारायणीये*–"विषं (१) हि मज्जा कालोऽग्निरत्रिर्मिद्दानि ठद्वयमि"ति । मं बीजं, स्वाहा शक्तिः । अस्य शाकवत्सो

(१) विषं मः । हि स्वरूपं, मज्जा पः । कालोमः । अग्नीरफेः । अत्रिर्दः । मिद्दाइकारस्तेनर्दि नि–स्वरूपं, ठद्वयं स्वाहेति ॥

मन्त्रैरेतैर्जातियुक्तैः पञ्चाङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥
गारुडोपलसन्निभां मणिमौलिकुण्डलमण्डिताम् ।
नौमि भालविलोचनां महिषोत्तमाङ्गनिषेदुषीम् ॥ २५ ॥
चक्रशङ्खकृपाणखेटकबाणकार्मुकशूलकान् ।
तर्ज्जनीमपि बिभ्रतीं निजबाहुभिः शशिशेखराम् ॥ २६ ॥
अष्टलक्षं जपेन्मन्त्रं तत्सहस्रं तिलैः शुभैः ।
हुत्वा प्रागीरिते पीठे यजेन्महिषमर्दिनीम् ॥ २७ ॥
संपूज्याङ्गानि पत्रेषु दुर्गाख्यां वरवर्णिनीम् ।
आर्याह्वयां तृतीयां च चतुर्थीं कनकप्रभाम् ॥ २८ ॥
पञ्चमीं कृत्तिकासंज्ञां षष्ठीमप्यभयप्रदाम् ।
कन्यां सुरूपां प्रभजेन्मन्त्री दीर्घस्वरैः क्रमात् ॥ २९ ॥
यजेदग्रेष्वायुधानि चक्रशङ्खासिखेटकान् ।
बाणं बाणासनं शूलं कपालं यादिभिः क्रमात् ॥ ३० ॥
लोकपालाः पुनः पूज्यास्तदस्त्राणि ततः परम् ।
वशयेत्तिलहोमेन नरान्नरपतीनपि ॥ ३१ ॥
सिद्धार्थैर्जुहुयान्मन्त्री रोगान्मुच्येत तत्क्षणात् ।
पद्मैर्हुत्वा जयेच्छत्रून्दूर्वाभिःशान्तिमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥
पलाशकुसुमैः पुष्टिं धान्यैर्धान्यश्रियं व्रजेत् ।

नाम ऋषिः । प्रकृतिश्छन्दः । अन्ये मार्कण्डेयमृषिमाहुः । शिखावर्म्मणोर्म्मन्त्रेऽपि महिषशब्दो द्वितीयान्तो ज्ञेयः ॥ २४ ॥

अथ ध्यानमाह—*गारुडेति* । गारुडोपलः गरुडोद्गारमणिः । आयुधानि दक्षाधू-र्ध्वयोराद्ये, तदधोधस्तयोः परेपरे ॥ २५ ॥

तर्जनीमिति । तर्जनीमुद्रा-*लक्षणं यथा*—"तर्जन्ये शाकिनी तूर्ध्वा ज्ञेयाः संमिलि-तास्त्वधः । मुद्रेयं जर्ज्जनी प्रोक्ता वक्तृश्रोत्रोस्त्वभीतिदे"ति । *तदुक्तमीशानसंहितायाम्* । "ध्यायेच्छ्यामां महादुर्गासर्वाभरणभूषिताम् । जटामुकुटशोभाढ्यां स्फुरच्चन्द्रकलान्विताम् ॥ पीताम्बरधरां देवीं पीनोन्नतकुचद्वयाम् । चक्रशङ्खलसद्धस्ता तदधः खड्गखेटकौ ॥ बाण-चापौ च तदधः सशूलां तर्जनीमध" इति ॥ २६ ॥

प्रागीरिते—अव्यवहिते दौर्गे पीठे ॥ २७ ॥

सम्पूज्याङ्गानीति । केसरेष्विति शेषः । पत्रेष्वित्यग्रिमेण सम्बध्यते ॥ २८ ॥

दीर्घस्वरैरिति । क्लीबद्वयान्त्यरहितैरितिशेषः । दीर्घशब्देन पारिभाषिकग्रहणं, तेन आ ई ऊ ए ऐ ओ औ अं एभिरष्टभिरित्यर्थः । नारायणीये पूर्वपटले अनन्तश्चार्घियोन्या विरि-त्युक्तोत्तरपटले "आद्यैः स्वरैः क्रमादि"त्युक्तम् । एतदभिप्रायेणैवापेक्षितार्थद्योतनिकायां व्या-ख्यातम्—आद्यैः आ ई ऊ ए ऐ ओ औ अं इति स्वरैरिति ॥ २९ ॥

अग्रेषु । पत्राग्रेषु । *यादिभिरिति* । हान्तैरित्यर्थः ॥ ३० ॥ ३ ॥

वशयेदिति । कामबीजादित्वम् ॥ ३१ ॥

मन्त्रीति । अनेन मृत्युञ्जयादित्वं सूचितम् । *जयेदिति* । स्वबीजादि । *शान्ति-मिति* नृसिंहादित्वम् ॥ ३२ ॥

काकपक्षैः कृतो होमो द्वेषं वितनुते नृणाम् ॥ ३३ ॥
मरीचहोमान्मरणं रिपुराप्नोति सर्वथा ।
क्षुद्रादिचोरभूताद्यान्ध्यात्वा देवीं विनाशयेत् ॥ ३४ ॥
तारो दुर्गेयुगं रक्तमन्त्यं ठान्तं सलोचनम् ।
द्विठान्ता जयदुर्गेयं विद्या वेद्या दशाक्षरी ॥ ३५ ॥
तारादिदुर्गे हृदयं दुर्गे शिर उदाहृतम् ।
दुर्गायै स्याच्छिखा वर्म भूतरक्षिणि कीर्तितम् ।
तारादिदुर्गे युगलं रक्षिण्यस्त्रं समीरितम् ॥ ३६ ॥
कालाभ्राभां कटाक्षैररिकुलभयदां मौलिबद्धेन्दुरेखां
शङ्खञ्चक्रं कृपाणं त्रिशिखमपि करैरुद्वहन्तीं त्रिनेत्राम् ।
सिंहस्कन्धाधिरूढां त्रिभुवनमखिलं तेजसा पूरयन्तीं
ध्यायेद्दुर्गां जयाख्यां त्रिदशपरिवृतां सेवितां सिद्धिकामैः ॥३७॥
बाणलक्षं जपेन्मन्त्रं घृतेन जुहुयात्ततः ।
दशांशं संस्कृते वह्नौ ब्राह्मणानपि भोजयेत् ॥ ३८ ॥
अष्टाक्षरोदिते पीठे पूजयेत्पूर्ववत्सुधीः ।
मन्त्रं जपन् विशेद्युद्धे शत्रून्हन्याद्विशेषतः ॥ ३९ ॥
प्रजपेद्व्यवहारादौ तत्रापि विजयी भवेत् ।
अर्चयेदस्त्रशस्त्राणि जयार्थी विद्ययाऽनया ॥ ४० ॥

पुष्टिमिति । तार्तीयादित्वम् । *धान्यश्रियमिति* । श्रीबीजादित्वम् ॥ ३३ ॥

मरीचेति । मरीचशब्दो दीर्घमध्योऽप्यस्ति । तथाच *शब्दभेदप्रकाशे*—"मरीचं मरिचं तथे"ति । *मरणमिति* । स्वबीजादित्वम् ॥ ३४ ॥

जयदुर्गामन्त्रमाह—*तार इति* । तारः प्रणवः । दुर्गेयुगं दुर्गे दुर्गे रक्तं रेफः । अन्त्यं क्षः । ठान्तं णः । सलोचनम् इकारसहितमित्युभयविशेषणम् । तेन क्षि णि । द्विठान्ता स्वाहान्ता । तदुक्तं *नारायणीये*—"तारं दुर्गेद्वयं वह्निरन्त्यं ठान्तं सहक्शिर" इति । *अपेक्षितार्थद्योतनिकायां *व्याख्यातम्—सहगित्युभयविशेषणं तेन क्षि णीति । मार्कण्डेयो मुनिर्बृहतीच्छन्दः । प्रणवो बीजं, स्वाहा शक्तिः ॥ ३५ ॥

तारादीति । वर्मान्तम् सम्बध्यते ॥ ३६ ॥

कालेति । त्रिशिखं—त्रिशूलं । आयुधध्यानमष्टाक्षरीवत् । *सिद्धीति*—विनियोगोक्तिः ॥ ३७ ॥

बाणलक्षं पञ्चलक्षं, ब्राह्मणानपि भोजयेदित्यनेन पुरश्चरणे ये दश प्रकारास्ते सूचिताः । तदुक्तम् "जपो होमस्तर्पणं च स्वाभिषेकोऽघमर्षणम् । सूर्यार्घ्यं जलपानं स्यात्प्रणामं देवपूजनम् ॥ ब्राह्मणानाम्भोजनं च पूर्वपूर्वं दशांशत" इति इदं सर्वमन्त्रपुरश्चरणे ज्ञेयम् । केचन प्रकारपञ्चकमेवाहुः । "जपो होमस्तर्पणं च पूजा ब्राह्मणभोजनमि"ति । सर्वत्र जपादिभिरित्यादिशब्दार्थोऽयमेव ज्ञेयः ॥ ३८ ॥

अष्टाक्षरोदिते—दुर्गाष्टाक्षरोदिते । अत्रापि प्रयोगे प्रणवान्तरं स्वबीजादिप्रक्षेपइति ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

अस्त्रं—बाणादि शस्त्रं—खड्गादि ॥ ४० ॥

ज्वलज्वलपदान्ते स्याच्छूलिनीति पदं वदेत् ।
दुष्टग्रहं हुमस्त्रान्तो वह्निजायावधिर्मनुः ॥ ४१
भूतेन्द्रियाक्षरैः प्रोक्तो ग्रहक्षुद्रादिनाशकः ।
ऋषिदीर्घतमाः प्रोक्तः ककुप्छन्द उदाहृतम् ॥ ४२ ॥
शूलिनी देवता प्रोक्ता समस्तसुरवन्दिता ।
दुर्गे हृद्वरदे शीर्षं विन्ध्यवासिनि तच्छिखा ॥ ४३ ॥
वर्म्माऽसुरान्ते मर्द्दिनि युद्धपूर्वप्रिये पुनः ।
त्रासयद्वितयञ्चास्त्रं देवसिद्धसुपूजिते ॥ ४४ ॥
नन्दिनी स्याद्रक्षयुगं महायोगेश्वरि क्रमात् ।
शूलिन्याद्या हुंफडन्ताः पञ्चाङ्गमनवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

शूलिनीदुर्गामन्त्रमाह—*ज्वलेति* ॥ ४१ ॥

*भूतेन्द्रियाक्षरैः(१)—पञ्चदशाक्षरैः हुं बीजं स्वाहा शक्तिः । *ग्रहेत्यादि* ग्रहाणामष्टादशानां क्षुद्राणां स्तम्भविद्वेषोत्सादोच्चाटनभ्रममारणव्याधीनामादिशब्दाद् भूतप्रेतडाकिन्यादीनाम् । *विनाशन* इति । अनेन विनियोगं वदता प्रग्रशक्तिर्नृसिंहदुर्गाबीजपुटितत्वं वषडन्तत्वमपि सूचितम् ॥ ४२ ॥

*हृत्*हृदङ्गमन्त्रः । एवं शीर्षेऽपि । *तच्छिखेति* । तत्र मन्त्रस्य शिखामन्त्र इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

युद्धपूर्वप्रिये—युद्धप्रिये । देवेत्यादिमहायोगेश्वरि पर्यन्तम् अस्त्रमिति शेषः । "वर्म्मासुरान्ते मर्द्दिनि युद्धपूर्वप्रिये पुनः । त्रासय द्वितयं चास्त्रमि"तिपाठः(२) ॥ ४४ ॥

पञ्चाङ्गमनवः । क्रमात्प्रत्येकं शूलिन्याद्या हुंफडन्ताः स्मृता इति सम्बन्धः । प्रयोगस्तु "शूलिनि दुर्गे वरदे हुंफट्हृदयाय नम" इत्यादि । साम्प्रदायिकास्तु पूर्वपूर्वानुविद्धत्वमङ्गानां वदन्ति तेन "शूलिनि दुर्गे वरदे हुंफट्शिरसे स्वाहा" इत्यादि प्रयोगः । अन्येतु—[illegible]नाविशेषेऽन्याङ्गान्याहुः—"दुर्गे हृदयमाख्यातं वरदे तच्छिरः शिखा । विन्ध्यवासिनि [illegible] स्यादसुरान्ते तु मर्द्दिनि ॥ युद्धप्रिये युतं चास्त्रं त्रासयद्द्वितयं भवेत् । एषामादौ शूलिनीति परन्तारादिकं वदेत् ॥ अवसाने तु सर्वेषां देवसिद्धसुपूजिते । नन्दिनि रक्षयुग्मं च महायोगेश्वरीमपि ॥ वर्मास्त्रबीजे चाग्नेनि ग्रहरक्षाकराणि हि । पञ्चाशदावृतिन्यासाज्ज्वरस्तीव्रोऽपि नश्यती"ति ॥ तत्र प्रयोगः—"ॐशूलिनि दुर्गे देवसिद्धसुपूजिते नन्दिनि रक्षरक्ष महायोगेश्वरि हुंफडि"त्यादि । एतदभिप्रायेणैवाचार्यैः*—"वर्म चासुरमर्द्दिन्या युद्धपूर्वप्रिये तथा । त्रासयद्वितयं चास्त्रमि"ति पठित्वा देवेत्यादिपठित्वा "अङ्गकर्म्मैव रक्षाकृत्प्रोक्तं ग्रहनिवारणमि"ति पठितम् । अत्रापि मल्लिखितपाठे सर्वसमञ्जसम् । *क्रमादिति* ॥ अनेन साम्प्रदायिकानुसारिपूर्वपूर्वानुविद्धत्वमपि सूचितमेव ॥ ४५ ॥

---

(१) अत्र भूतानि पञ्च । इन्द्रियाणि—ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दश । तेषां सङ्कलनेन पञ्चदश संख्या भवन्ति । नत्वङ्कानां वामतो गतिरिति क्रमेण मन्त्राक्षरगणना विधेया । तथासति पञ्चोत्तरशताक्षरसंख्या भवति ।

(२) एतेन—"असुरान्ते मर्द्दिनि स्याद्युद्धपुर्वप्रियेपुनः । त्रासयद्वितयं वर्म्म" इति केषाञ्चित्पाठो निरस्तः ।

अध्यारूढां मृगेन्द्रं सजलजलधरश्यामलां हस्तपद्मैः
शूलं बाणं कृपाणमरिजलजगदाचापपाशान्वहन्तीम् ।
चन्द्रोत्तंसां त्रिनेत्रां चतसृभिरसिना खेटकान् बिभ्रतीभिः
कन्याभिः सेव्यमानां प्रतिभटभयदां शूलिनीं भावयामि ॥ ४६ ॥
मनुमेनं जपेन्मन्त्री वर्णलक्षं विचक्षणः ।
सर्पिषान्नेन होमस्तु तद्दशांशमितो भवेत् ॥ ४७ ॥
प्रागुक्ते पूजयेत्पीठे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
विधाय पूजामङ्गानां पूज्याः पत्रेषु शक्तयः ॥ ४८ ॥
दुर्गाद्या वरदा विन्ध्यवासिन्यसुरमर्द्दिनी ।
युद्धप्रिया पञ्चमी स्याद्देवसिद्धसुपूजिता ॥ ४९ ॥
सप्तमी नन्दिनी प्रोक्ता महायोगेश्वरी परा ।
दलाग्रेषु तदस्त्राणि शङ्खचक्रमसिं पुनः ॥ ५० ॥
गदेषुचापशूलानि पाशं पश्चाद्दिशाधिपान् ।
इत्थं जपादिभिः सिद्धः कुर्यात्कर्म निजेप्सितम् ॥ ५१ ॥
अष्टोत्तरसहस्रं यस्तिलैस्त्रिमधुराप्लुतैः ।
नित्यं प्रजुहुयात्तस्य शक्तिः स्यादतिमानुषी ॥ ५२ ॥
अष्टोत्तरशतं नित्यं सर्पिषा जुहुयान्नरः ।
वाञ्छितां वत्सरादर्वाक् प्राप्नुयान्महतीं श्रियम् ॥ ५३ ॥
दूर्वाहोमो भवेन्नृणां सर्ववाञ्छितसिद्धिदः ।
छुरिकाद्यानि शस्त्राणि जप्तानि मनुनाऽमुना ।

अध्यारूढामिति । मृगेन्द्रं-सिंहम् । अराणि विद्यन्ते यत्र तत् अरि चक्रं, जलजः शङ्खः । *आचार्याश्च*—"बिभ्राणा शूलबाणास्यरिसदरगदाचापपाशान्कराब्जैरि"ति ॥ ग्रन्थकृच्च पूजावसरे—"दलाग्रेषु तदस्त्राणि चक्रं शङ्खमसिं पुनरि"ति । शङ्खपूजामेव वक्ष्यति । *चतसृभिरिति* । जया विजया भद्रा शूलकात्यायन्याख्याभिरित्यर्थः । *असितेति* । सहार्थे तृतीया । तद्योगाभावेऽपि "वृद्धो यूने"ति वत् । दक्षिणहस्तादारभ्याधःपर्यन्तमायुधध्यानम् ॥ ४६ ॥

वर्णलक्षम् । मन्त्रवर्णपरिमितलक्षम् । *विचक्षण इति* । पुरश्चरणे ये नियमास्तज्ज्ञ इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

प्रागुक्ते—दुर्गाष्टाक्षरोक्ते । *विधायेति* केसरेष्विति शेषः ॥ ४८ ॥

परेति । अष्टमी । आसां ध्यानमुक्तमन्यत्र—"अम्बुदाभा धनुर्बाणकरा दुर्गादिका यजेदि"ति ॥ ५१ ॥

त्रिमधुराप्लुतैः । पयोमधुघृतप्लुतैः । पयःस्थाने शर्करेति केचित् । *शक्तिः स्यादतिमानुषीति* । वत्सरादर्वागिति ज्ञेयम् । तदुक्तं—"अप्रतिहतास्य शक्तिर्भूयात्प्रागेव वत्सरत" इति ॥ ५२ ॥

दूर्वाहोम इति । अष्टोत्तरशतमित इति ज्ञेयम् । तदुक्तं—"दूर्वया त्रिकयुजेप्सितं कमेऽत्र स्यगष्टशतसंख्यया हुतादि"ति । *छुरिकाद्यानीति* । आदिशब्देन कृपाणनखराद्यानि शस्त्राणि । *सम्पातान्यविलिप्तानि* पश्चादमुना मनुना जप्तानीति सम्बन्धः । सम्पातार्थं

संपाताज्यविलिप्तानि वितरन्ति जयश्रियम् ॥ ५४ ॥
अश्वत्थार्कसमिद्भिर्वा तिलैस्त्रिमधुरोक्षितैः ।
होमो वशयति क्षिप्रमीप्सितान्मन्त्रिणोनरान् ॥ ५५ ॥
उग्रदायुधहस्तां तां देवीं कालघनप्रभाम् ।
ध्यात्वाऽऽत्मानं जपेन्मन्त्रं स्पृष्ट्वार्तं मुञ्चति ग्रहः ॥ ५६ ॥
सर्पाखुवृश्चिकादीनां विषमाशु विनाशयेत् ।
मनुनानेन विधिवन्मन्त्रविद्देवताधिया ॥ ५७ ॥
मन्त्रेणाऽनेन सञ्जप्तान्वाणानादाय साधकः ।
विमुञ्चेत्प्रतिसेनायां सा द्रुतं विद्रुता भवेत् ॥ ५८ ॥
शूलपाशधरां देवीं ध्यात्वात्मानमनाकुलः ।

होमः पञ्चसहस्री *जप्तानीति* । दशसाहस्रम् । *तदुक्तं*—"खड्गे तीक्ष्णे समावाह्य गन्धाद्यैरभिपूज्य ताम् । आज्येन जुहुयात्पञ्चसहस्रं प्रोक्तमार्गतः ॥ ।सम्पाताज्यविलिप्तोऽसौ प्रजप्तोमनुनाऽमुना । पङ्क्तिसंख्यासहस्रेण शक्तो मन्त्रविशेषवित् ॥ तत्खड्गहस्तो योद्धा स्याद्रिपुसेनाविमर्दकः" इति । अत्र खड्ग इत्यायुधोपलक्षणम् । "छुरिकाकृपाणनखरा" इत्याचार्योक्तेः ॥ ५४ ॥

अश्वत्थेति होमसंख्या द्वादशसहस्रं ज्ञेयम् । तदुक्तं—"आर्कैर्मन्त्री त्रिमधुरयुतैरर्कसाहस्रमिध्मैराश्वत्थैर्वा त्वतिविशदचेतास्तिलैर्वा जुहोती"ति । क्षिप्रमित्यनेनैतदुक्तं । भवति रक्तवर्णां पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां देवीं ध्यात्वा पाशेन साध्यस्य बन्धोऽङ्कुशेनाकर्षणमिति । मन्त्रिण इति षष्ठी । नरानिति लिङ्गमविवक्षितम् ॥ ५५ ॥

उग्रदिति । एवं भूतदेवीरूपमात्मानं ध्यात्वा आर्तंस्पृष्ट्वा मन्त्रं जपेदिति सम्बन्धः । *मुञ्चतिग्रह इति* । आवेश्य सन्त्याजित इति शेषः । "आविश्य क्षणमिवे"त्युक्तेः । ग्रह इति वचनमविवक्षितम् । तेनाष्टादशग्रहा इत्यर्थः । आवेशनप्रकारस्तु—"सम्प्रोक्तलक्षणैः सम्यग्विज्ञायाष्टादशग्रहान् । ग्रस्तमूर्ध्नि विचिन्त्यैतान् द्विभुजान् त्रस्तलोचनान् ॥ ज्वालामयैर्मन्त्रजापी पातयेच्चुलुकोदकैः । आविष्टान् क्षणमात्रेण त्याजयेदखिलान् ग्रहानि"ति । सन्त्याजनप्रकारस्तु—"आत्मरोगिणोर्मध्ये उक्तरूपां दुर्गांध्यात्वा कनिष्ठादित्रयमङ्गुष्ठेनावष्टभ्य दृढमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं दक्षिणकर्णपार्श्वे प्रसार्यातिद्रुतं चक्रवद्भ्रामयेदित्यनया चक्रमुद्रया मोचयेदिति । तदुक्तम् । "अन्तराय पुनरात्मरोगिणोरम्बिकामपि निजायुधाकुलाम् । संविचिन्त्य जपतोऽरिमुद्रया विद्रवन्त्यवशविग्रहा ग्रहा" इति ॥ ५६ ॥

सर्पेति । आदिशब्देन मूषादीनां ग्रहणम् । मन्त्रविद्विधिवद्देवताधिया । आत्मन इति शेषः ॥ ५७ ॥

अनेन मनुना विषं विनाशयेदिति सम्बन्धः । विधिवद्देवताबुद्धिस्तु ध्यानविशेषेण । तदुक्तं—"अहिमूषिकवृश्चिकादिजं वा बहुपात्कुक्कुरलूतिकोद्भवं वा । विषमाशु विनाशयेन्नराणां प्रतिपत्त्यैव च विन्ध्यवासिनी"ति । ध्यानविशेष*स्त्वन्यत्रोक्तः* "शरच्छशाङ्कसङ्काशां स्मितवक्त्राम्बुजोज्ज्वलाम् । चक्रशङ्खसुधाकुम्भयुग्महस्ताम्बुजां शुभाम् ॥ सुधया विषमेतेन सिञ्चन्तीं सितभूषणाम् । अमृतार्द्रामिमां दुर्गां ध्यायन् हन्याद्विषं नर" इति । *सञ्जप्तान्बाणानिति* । बाणाग्रे तां देवीं ध्यात्वेति ज्ञेयम् । तदुक्तम् । "आधाय बाणे निशिते च देवीं क्षेमङ्करीं मन्त्रमिमं जपित्वे"ति ॥ ५८ ॥ ३ ॥

प्रविशेद्युद्धदेशं यो जित्वाऽऽयाति स निर्व्रणः ॥ ५९ ॥
जुहुयात्तिलसिद्धार्थैर्लक्षमेकं यथाविधि ।
नामयुक्तं जपेन्मन्त्रं यस्यासौ मृत्युमेष्यति ॥ ६० ॥
गुटिका गोमयोत्पन्ना हुत्वाऽष्टशतसंख्यया ।
सप्ताहात्कुरुते मन्त्रीविद्वेषं स्निग्धयोर्मिथः ॥ ६१ ॥
गृहीत्वा गोमयं व्योम्नि त्रिसहस्रं जपेत्ततः
गमिष्यतां द्वारदेशे निखातं स्तम्भनं भवेत् ॥ ६२ ॥
बहुनोक्तेन किंसर्वं साधयेन्मनुनाऽमुना ।
उत्तिष्ठ पदमाभाष्य पुरुषि स्यात्पदं ततः ॥ ६३ ॥
पितामहः सनेत्रेन्दुः स्वपिषि स्याद्भयं च मे ।
समुपस्थितमुच्चार्य यदि शक्यमनन्तरम् ॥ ६४ ॥
अशक्यं वा पुनस्तन्मे वदेद्भगवति ततः ।
शमयाग्निवधूःसप्तत्रिंशद्वर्णात्मकोमनुः ॥ ६५ ॥
ऋषिरारण्यकश्छन्दो प्रत्यनुष्टुबुदाहृतम् ।
देवता वनदुर्गा स्यात्सर्वदुर्गविमोचनी ॥ ६६ ॥

प्रविशेदिति । मन्त्रंजपन्निति शेषः । तदुक्तम् "आत्मानमार्यां प्रतिपद्य शूलपाशान्वितां वैरिबलं प्रविश्य । मन्त्रं जपन्नाशु परायुधानि गृह्णाति मुष्णाति च बोधमेषामि"ति । *निर्व्रणत्वं* मोहनेनायुधग्रहणादिति ज्ञेयम् । तन्त्रान्तरेषु—"श्यामवर्णा महाकाया ज्वलद्वह्निविलोचना । पाशं डमरुकं शूलं चूर्णं मोहनसंज्ञितम् ॥ हस्तैश्चतुर्भिर्बिभ्राणा नागेन्द्रैः समलंकृता । अतिदीर्घैर्महाकेशैराकीर्णैः परितश्चसूम् ॥ आच्छादयन्ती कृष्णाभैरट्टहासपरायणा । ध्याता दुर्गाऽचिरेणैव मोहयेच्छत्रुवाहिनीमि"ति ॥ ५९ ॥

यथाविधि नाममन्त्रयुक्तं जपन् जुहुयादिति सम्बन्धः । *यथाविधीति* । पल्लवप्रकारेण जपे । होमे स्वाहादावित्यर्थः । तदुक्तम्-"पल्लवे साध्यनामादौ भवेन्मन्त्रपदक्रमः । मारणे चैतदुद्दिष्टमि"ति । उक्तं च गौतमेन—"सर्वजनमन्त्रेषु तत्र नामानि योजयेत् । होमे स्वाहापदात्पूर्वम्मन्त्रान्ते जपकर्मणी"ति ॥ ६० ॥

अष्टशतेति अष्टोत्तरशतम् । विद्वेषमित्यत्र वियोगमित्यपि । "द्विष्टौ मिथो वियोगिनौ भवत" इत्युक्तेः । ध्यानविशेषोऽन्यत्र—"दधती मुशलं शूलं गरकुम्भद्वयं करैः । कृष्णा दिगम्बरा ध्येया मूर्त्तिर्विद्वेषकारणी"ति ॥ ६१ ॥

गोमयमिति । आनडुहमित्युपदेशात् । *व्योम्नि गोमयं गृहीत्वेति* । भूमिस्पृग्गोमयं नग्राह्यमित्यर्थः । तदुक्तम्-"अस्पृष्टकु गोमयमन्तरिक्षे" इति ॥ ६२ ॥

वनदुर्गामन्त्रमाह-*उत्तिष्ठेति । ततः पुरुषि पदं स्यादित्यन्वयः ॥ ६३ ॥

पितामहः ककारः । सनेत्रेन्दुः । इकारबिन्दुसहितः । तेन किमिति । भयं च मे इति चकारो न मन्त्रमध्ये । यदिशक्यमशक्यञ्चेतिं अनन्तमेवस्वरूपम् । *भगवतिमिति* । शब्दकर्मणि द्वितीया । मन्त्रेतु सम्बुद्धिः । अत्र वा तन्मे अक्षराणिकीलकानि । हुं दुर्गे इत्यकील .ानि । *तदुक्तमीशायसंहितायाम्*-"गुणबीजं समुद्धृत्य उत्तिष्ठेति पदं ततः । पुरुषीति समुद्धृत्य ब्रह्माणं सूक्ष्मसंयुतम् ॥ सबिन्दुकं समुच्चार्य स्वपिषीति पदं वदेत् । भयं मे चसमाभाष्य तथा च समुपस्थितम् ॥ यदि शक्यमिति प्रोच्यअशक्यंसमुदीर्यच । वर्मबीजं समुद्धृत्य दुर्गेभगवतीति च ॥ शमयेति समुद्धृत्य तथा स्वाहा पदं वदेत् । एवमेषा सदेहावी

पादाग्रसन्धिषु गुदलिङ्गाधारोदरेषु च।
पार्श्वद्वयस्तनकण्ठेषु पुनर्बाह्वग्रसन्धिषु ॥ ६७ ॥
मुखनासाकपोलादिकर्णभ्रूमध्यमूर्द्धसु।
मन्त्राक्षराणि विन्यस्येद्देवताभावसिद्धये ॥ ६८ ॥
षड्भिश्चतुर्भिरष्टाभिरष्टाभिः षड्भिरिन्द्रियैः।
मन्त्रार्णैरङ्गक्लृप्तिः स्याज्जातियुक्तैर्यथाक्रमम् ॥ ६९ ॥
सौवर्णाम्बुजमध्यगां त्रिनयनां सौदामिनीसन्निभां
चक्रं शङ्खवराभयानि दधतीमिन्दोः कलां बिभ्रतीम्।
ग्रैवेयाङ्गदहारकुण्डलधरामाखण्डलाद्यैस्स्तुतां
ध्यायेद्विन्ध्यनिवासिनीं शशिमुखीं पार्श्वस्थपञ्चाननाम् ॥ ७१ ॥
एवं ध्यात्वा जपेल्लक्षचतुष्कं तद्दशांशतः।
जुहुयाद्धविषा मन्त्री शालिभिः सर्पिषा तिलैः ॥ ७२ ॥
प्रागीरिते जपेत्पीठे देवीमङ्गादिभिः सह।
अङ्गपूजा यथापूर्वं दलमूलेष्विमा यजेत् ॥ ७३ ॥
आर्या दुर्गा च भद्राख्या भद्रकाली ततोऽम्बिका।
क्षेमान्या वेदगर्भाख्या क्षेमङ्कर्यष्टशक्तयः ॥ ७४ ॥
अस्त्राणि पत्रमध्येषु शङ्खचक्रासिखेटकान्।
बाणकोदण्डशूलानि कपालान्तानि पूजयेत् ॥ ७५ ॥

निष्कीला सर्वसिद्धिदा ॥ गुणान्ते भुवनेशानीं दुर्गाबीजं नियोजयेत्। वर्मणोन्तं स्वकम्बीज- मुक्त्वा चान्ते विलोमतः ॥ पूर्वोक्तबीजत्रितयं योजयेत् कौलदारणा। तदा प्रदीपिता विद्या निष्कीला सर्वसिद्धिदे”ति। उकारो बीजं। स्वाहाशक्तिः। दुरतिबीजमिति पद्मपादा- चार्याः। सर्वेत्यादिविनियोगोक्तिः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

अक्षरन्यासमाह—पादेति। पादसन्धयः प्रत्येकं चत्वारः अत्र पार्श्वस्तननासाकपोला- क्षिकर्णानां स्थानद्वयं ग्राह्यम् ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

इन्द्रियैः पञ्चभिः। *यथाक्रममिति* *अनेनैतदुक्तं—प्रत्येकं दुर्गायैरक्षरक्षेत्येतदन्तैरङ्ग- मिति। तदुक्त*मीशानसंहितायाम्*—“ऋतुवेदाहिवस्वङ्गभूतसंख्यान्तरान्तितैः। दुर्गायै रक्षरक्षेति युक्तैरङ्गान्यथाचरेदि”ति ॥ ७० ॥

आयुधध्यानं दक्षाघूर्ध्वयोराद्ये तदधस्तनयोरन्त्ये। अन्येतु दक्षोर्ध्वादिदक्षाधस्तनं यावत् ॥ ७१ ॥

तद्दशांशत इति। अयुतचतुष्टयम्। तत्र चत्वारि द्रव्याणि एकैकेनैकैकमयुतमित्यर्थः। हविषा—पायसेन। शालिभिर्हैमन्तिकैः। सर्पिषा—घृतेन तिलैश्चेति चतुर्भिः(१) ॥ ७२ ॥

यथापूर्वमिति। आग्नेयादिकोणेषु पुरतो दिक्षु चेति। एतच्च पूजनं कर्णिकान्तः केसरे- ष्वग्रे शक्तिपूजाया उपदिष्टत्वादिति ॥ ७३ ॥

अष्टशक्तय इति आसां ध्यानमन्यत्रोक्तम्—“आर्यादिशक्तयः खेटखड्गचापधनुर्द्धराः। अहिभिर्भूषिताङ्ग्यस्ताः पूजनीया भयानका” इति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

---

(१) अत्र केचिदाहुः। एभिर्द्रव्यैर्यथालाभैर्दशांशहोमः। अत्र होमद्रव्याणां विकल्पोनास्ति। यथालाभं समुच्चय एव। केचित्पायसादिभिसमविभक्तैश्चतुर्भिर्द्रव्यैरयुतायुतसंख्यया होममाहुः।

ब्राह्म्याद्याः स्युर्दलाग्रेषु लोकपालास्ततः परम् ।
सिद्धमन्त्रः प्रयोगेषु देवीमित्थं विचिन्तयेत् ॥ ७६ ॥
कालपावकसंनिभां कलिताद्र्धचन्द्रशिरोरुहाम् ।
भालनेत्रविभूषणां भयदायिसिंहनिषेदुषीम् ॥
चक्रशङ्खकृपाणखेटकचापबाणकरोटिकां,
शूलबाहिभुजां भजे विजिताखिलासुरसैनिकाम् ॥ ७७ ॥
प्रातः स्नानरतो नित्यमष्टोत्तरसहस्रकम् ।
जपेत्तस्याशु सिद्ध्यन्ति धनधान्यादिसंपदः ॥ ७८ ॥
अनेनैव विधानेन ग्रहक्षुद्ररिपूञ्जयेत् ।
नाभिमात्रोदके स्थित्वा देवीमर्कगतां स्मरन् ॥ ७९ ॥
जपेदष्टोत्तरशतं लभेत महतीं श्रियम् ।
अयुतं वटवृक्षोत्थैः सघृतैरर्चितेऽनले ॥ ८० ॥
होमं समिद्वरैः कुर्यान्नाशयत्यापदां कुलम् ।
घोराभिचारान्भूतादीन् शमयेद्विधिनाऽमुना ॥ ८१ ॥
अपामार्गसमिद्भिर्वा तिलैर्वा काननोद्भवैः ।

तत: परमिति । वज्रादिपूजोक्ता ॥ *प्रयोगेष्विति* । बहुवचनाच्छान्त्यादौ नृसिंहबीजादिपुटितत्वं, युद्धमारणयोः षोडशभुजाध्यानम् । साम्बुमेघश्यामत्वमहिषोत्तमाङ्गस्थत्वं च । रेक्षायामष्टभुजत्वं दूर्वाश्यामलत्वं महिषोत्तमाङ्गस्थत्वं वा ध्येयमित्युक्तम् । तदुक्तमाचार्यैः*—"चक्रदरखड्गखेटकशरकार्मुकशूलसंज्ञककपालैः । ऋष्टिमुशलकुन्तनन्दकवलयगदाभिण्डिपालशक्त्याख्यैः ॥ उपदिक्कृतिभुजाढ्या माहिषके सजलजलदसङ्काशा । अरिशङ्खकृपाणखेटकबाणान्सधनुः शूलकतर्जनीर्दधाना ॥ भवतां महिषोत्तमाङ्गसंस्था नवदूर्वासदृशी श्रियेऽस्तुदुर्गे"ति । अन्यत्रापि—"ज्वलदग्निनिभां सिंहस्कन्धारूढां भयावहाम् । ध्यायेत् षोडशबाहुं तां सम्यग्वैरिविमर्दने ॥ श्यामलाङ्गीमष्टबाहुं महिषासुरसंस्थिताम् । आयुः सिध्यै चिन्तयेत्तामि"ति ॥ ७६ ॥

कालपावकः । प्रलयाग्निः । करोटिका कपालम् । आयुधानि । दक्षैरूर्ध्वतः चक्रखड्गशरशूलानि । वामैरूर्ध्वतः शङ्खखेटकधनुःकपालानि ध्येयानि । इदं ध्यानं रक्षार्थमिति ज्ञेयम् ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

अनेनैवेति । तत्र विधानम् प्रातःस्नानादिकं जपस्त्वयुतम् । तदुक्तं—"सौम्ये कर्मफलावाप्त्यै सहस्रं प्रजपेन्मनुम् । उच्चाटनादिक्षुद्रेषु विशेषात्तं तथायुतमि"ति । अत्र मन्त्रे भयशब्दात्पूर्वं ग्रहपदादिदानं ज्ञेयम् । ग्रहभयं क्षुद्रभयं, रिपुभयम् । एवमग्रेऽपि चौरभयमित्यादि । क्षुद्रशब्दार्थ उक्तो*नारायणीये*—"स्तम्भोविद्वेषणोच्चाटावुत्सादोभ्रममारणे । व्याधिश्चेति स्मृतं क्षुद्रमि"ति । *नाभिमात्रोदक इति* । नद्यादौ । *देवीं स्मरेदिति* । तन्त्रान्तरोक्तं ध्यानं, यदाहुः—"शङ्खारिनिविपात्रेष्टकरां रक्तां स्वलङ्कृताम् । भानुबिम्बसरोजस्थां दुर्गामेतां स्फुरत्प्रभाम् ॥ अष्टोत्तरशतं नद्यां नाभिमात्रे जले स्थितः । संयतः प्रजपेन्मन्त्रमचिराच्छ्रीप्रसिद्धये" इति ॥ ७९ ॥

महतीं श्रियमिति । श्रीबीजादित्वमपि ज्ञेयम् । अर्चिते अनले सघृतैः साग्रभागैर्वटवृक्षोत्थैः समिद्वरैरयुतं होमं कुर्यादितिसम्बन्धः ॥ ८० ॥ ८१ ॥

सर्षपैर्वा कृतोहोमः क्षुद्रापस्मारनाशनः ॥ ८२ ॥
अभीष्टसिध्यै जुहुयादार्कैर्मन्त्री समिद्वरैः ।
सहस्रमर्कवारादिदिवसान्दश संयतः ॥ ८३ ॥
सारान् शुद्धान्समादाय शकलान्मनुनामुना ।
जुहुयादेधिते वह्नौ सप्तरात्रमतन्द्रितः ॥ ८४ ॥
साधयेदखिलं शश्वदभीष्टं मन्त्रवित्तमः ।
कुसुदैर्वशयेद्विप्रान्नृपतीन्पद्महोमतः ॥ ८५ ॥
तत्पत्नीरुत्पलैः फुल्लैर्वैश्यान्कह्लारहोमतः ।
शूद्रान् लवणहोमेन जातीपुष्पैः समान्(१)बुधः (पुनः) ॥ ८६ ॥
व्रीहिभिर्जुहुयान्नित्यं वत्सराद्व्रीहिमान्भवेत् ।
दूर्वाहोमेन दीर्घायुर्मधुना रत्नवान्भवेत् ॥ ८७ ॥
अन्नैरन्नसमृद्धिः स्यादाज्येन लभते धनम् ।
गोदुग्धेन गवां वृद्धिमाप्नुयान्नात्र संशयः ॥ ८८ ॥
ज्वरे ग्रहे गरे सर्पे तर्जन्या संस्पृशञ्जपेत् ।
स्मृत्वा शूलकरां देवीं तत्क्षणादेव तान्हरेत् ॥ ८९ ॥
गर्भितं साध्यनामार्णैः पत्रे मनुमिमं लिखेत् ।
कुलालभृत्कृतायां तत्प्रतिमायां हृदि न्यसेत् ॥ ९० ॥
कृतप्राणप्रतिष्ठान्तां पूजितां कुसुमादिभिः ।
निधायाग्रे जपेन्मन्त्रमष्टोत्तरसहस्रकम् ॥ ९१ ॥

---

*काननोत्थैस्तिलैर्जतिलैः ॥ ८२ ॥

मन्त्रीति । सूर्यचतुरक्षरादित्वं सूचितम् ॥ सहस्रमिति प्रत्यहम् ॥ ८३ ॥

सारानिति । खादिरान् ॥ *अतन्द्रित इति* । त्रिदिनमित्यप्युक्तं भवति । तदुक्तं— "शुद्धैः खदिरसारैस्त्रिदिनं वा सप्तरात्रकं वापी"ति ॥ ८४ ॥

अखिलमिति । सौम्यं क्रूरं वात्र विशेषस्तन्त्रान्तरे*—"नवकुम्भनिभां देवीं शूलं डमरुकं भुजैः । शरं चापं सौधकुम्भयुगलं दधतीं पराम् ॥ ध्यात्वा दुर्गां महाकायां भीषणास्यां सुभूषिताम् । आज्येन जुहुयान् मध्ये मध्ये पौष्टिककर्मणि ॥ यदि क्षुद्रविधौ क्ष्वेलरसपूर्णघटद्वयम् । दधतीं चिन्तयेद्देवीं षड्भुजां प्रोक्तलक्षणाम् ॥ विलोममनुना विद्वान् कलशैस्तसंयुतैः । सारैर्विशुद्धैर्जुहुयात्पश्चिमाशामुखःसुधीरि"ति । *मन्त्रवित्तम* इत्यनेनात्रापि सूर्यचतुरक्षरादित्वं सूचितम् ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

तर्जन्येति । वामया । तान्—ज्वरादीन् ॥ ८९ ॥

गर्भितमिति । तत्प्रकारस्त्रयोविंशे वक्ष्यते । *पत्रइति* । भूर्जे । *कुलालमृदिति* । कुम्भकारस्य पात्रघटनसमये करलगतमृत्तिका, तया कृतायां द्वादशाङ्गुलायां हृदि । *तदिति* । लिखितमन्त्रंयन्त्रं न्यसेत् ॥ ९० ॥

निधायाग्रे इति । पीठादेरुपरि स्वपादतलाधः ॥ ९१ ॥

---

(१) समान्—सर्वान् ।

सन्ध्यासु पक्षमात्रेण वशमायाति वाञ्छितम् ।
अभ्यर्च्य देवीमनले तीक्ष्णतैलेन मन्त्रवित् ॥ ९२ ॥
हुत्वायुतं निधायाग्रे तीक्ष्णांस्त्रिशच्छरान्पुनः ।
तेषु संपातयेद्भूयः स्पृष्ट्वा तान्नियुतं जपेत् ॥ ९३ ॥
वेधयेत्परसेनायां क्षणान्नष्टा दिशो दश ।
प्राप्नुयान्नष्टसंज्ञा सा पलायनपरायणा ॥ ९४ ॥
जपित्वा सितगुञ्जानां कुडवं कुलिकोदये ।
विकिरेच्छत्रुसेनायां गूढः सन्नापणादिषु ॥ ९५ ॥
ज्वरमारी महारोगैः पीडिता सैन्यनायकैः ।
परस्परविरोधेन नश्येद्गच्छेन्म्रियेत सा ॥ ९६ ॥
सेनासंस्तम्भने मन्त्री कारस्करसमुद्भवैः ।
पुष्पैः सहस्रं जुहुयात्तत्पत्रैस्तां निवर्तयेत् ॥ ९७ ॥
अङ्गारवारे कुलिके जप्त्वा भस्म चितोद्भवम् ।

सन्ध्यास्विति । पञ्चदशदिनसायंकालसन्ध्यास्वित्यर्थः । वशमायातिवाञ्छिता(तः) इतिक्वचित्पाठः । *अभ्यर्च्येति* । वन्यकुसुमचन्दनैः । *तीक्ष्णतैलेनेति* । कटुतैलेन । राजिकातैलेनेति केचित् । हुत्वेति सम्बन्धः । *मन्त्रविदिति* । अनेनैतदुक्तं भवति । स्वस्तिकादौ दुकूलादिवृत्तं पीठं संस्थाप्य तत्र शरान्निधाय तेषु देवीमावाह्य संपूज्य ततस्त्रिकोणकुण्डेऽग्निमाधाय तत्रापि देवीमभ्यर्च्य हुनेदिति । तदुक्तं—"पीठे स्वस्तिकमध्यस्थे मायाचक्रगतेऽपि वा । विधिवत् पूजयेत्सूक्ष्मदुकूलादिसमावृते ॥ निधाय निशितान् स्वर्णपुङ्खांस्त्रिंशच्छिलीमुखान् । कात्यायनीं समावाह्य गन्धाद्यैः प्रवरैर्यजेत् ॥ त्रिकोणकुण्डे पूर्वोक्तक्रमोत्पन्नविभावसौ । आवाह्य षोडशभुजां तामिष्ट्वा चन्दनादिभिः ॥ सिद्धार्थतैलं जुहुयात्सहस्रमथवायुतम् । नियुतं तत्र लब्धेन संपातेन विलेपयेत् ॥ उद्वास्य देवीं तत्रैव हुतसंख्यं जपेदिति । रक्तेनतन्तुना पुङ्खसविधे वेष्टयेद्दृढम् ॥ तेषु विद्धेषु दक्षेण धन्विना वैरिवाहिनी ॥ विनष्टसंज्ञा शक्रेण पालिताप्यनुधावती"ति । *नियुतं* लक्षम् ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

वेधयेदिति । 'एतादृशं क्रूरकर्मप्रतिलोममन्त्रेणेति पद्मपादाचार्याः । स्वबीजाद्येनानुलोमेन वा ॥ ९४ ॥

कुडवमिति । पलचतुष्टयम् । "कुडवं चतुः पलं स्यादि"त्युक्तेः । *कुलिकोदये विकिरेदिति* । कुलिकस्य कालविशेषस्योदये । तल्लक्षणं *ज्योतिषरत्नमालायां*–मन्त्र १४ र्के १२ दि १० ग्वस्व ८ तु ६ वेद ४ पक्षै २ रर्कान्मुहूर्त्तैः कुलिका भवन्ति । दिवा निरेकैरथ यामिनीष्वि"ति ॥ ९५ ॥

सैन्यनायकैः परस्परविरोधेन पीडितेत्येव । पूर्वहेतोर्नश्येद्भ्रश्येत् द्वितीयहेतोर्गच्छेदिति । निवृत्य गच्छेदित्यर्थः । समुच्चयेन तृतीयम् ॥ ९६ ॥

मन्त्रीति । पृथिवीबीजादित्वं सूचितम् । ध्यानविशेषश्च–"पीतां पाशगदाशूलसायो(?) मुष्टिलसद्भुजाम् । क्रूरास्यां देवतामूर्त्तिं ध्यायेत्स्तम्भनकर्मणो"ति ॥ *कारस्करेति* । कारस्कारो विषन्तिदुकः । "कुचिला" इति कान्यकुब्जभाषायाम् । *तत्पत्रैस्तांनिवर्त्तयेदिति* । कारस्कारसहस्रपत्रहोमेन सेनानिवर्त्तनं कुर्यादित्यर्थः ॥ ९७ ॥

अङ्गारेति । अङ्गारे भौमे । तत्र च दशमो मुहूर्त्तः कुलिको भवति । तस्मिन्समये रिपोर्मूर्ध्नि

विनिः क्षिपेद्द्विपोर्मूर्ध्नि विद्विष्टो देशतो व्रजेत् ॥ ९८ ॥
मरुन्निपातितैः पत्रैः कारस्करसमुद्भवैः ।
तस्य पादरजोयुक्तैर्होमादुच्चाटयेदरीन् ॥ ९९ ॥
कारस्करमयीं कृत्वा प्रतिमां च सुशोभनाम् ।
जप्तां प्रतिष्ठितप्राणां छेदयेदङ्कुशः पुनः ॥ १०० ॥
काकोलूकवसायुक्तमष्टोत्तरसहस्रकम् ।
कृष्णपक्षचतुर्दश्यां श्मशाने हव्यवाहने ॥ १०१ ॥
जुहुयान्म्रियतेऽरातिरेवमेव दिनत्रयात् ।
उन्मत्तसमिधां होमान्मृताः स्युः शत्रवः क्षणात् ॥ १०२ ॥
उलूककाकयोः पत्रैः स्ववसारक्तसंयुतैः ।
जुहुयान्निशि कान्तारे शत्रुः कालातिथिर्भवेत् ॥ १०३ ॥
शत्रोः प्रतिकृतिं मन्त्री प्रतिष्ठितसमीरणाम् ।
शोषयेन विलिप्ताङ्गीमत्युष्णां निःक्षिपेज्जले ॥ १०४ ॥

भस्म विनिःक्षिपेदिति संबन्धः । *जप्त्वेति* अष्टोत्तरशतमित्यादि । "अष्टोत्तरशतं जप्तं यच्छि-रसि प्रक्षिपेच्चिताभस्मे" त्युक्तेः । *विनिःक्षिपेदिति* । देवीं ध्यायन् । तत्र ध्यानविशेष-स्तन्त्रान्तरे*—"कृष्णां करालवदनां भुजगैरभिमण्डिताम् । मारीचूर्णादिदहनशूलराजद्भुजा-कुलाम् ॥ दिगम्बरां महादुर्गां चिन्तयेद्द्वेषणादिषु । उत्सादभ्रमणोच्चाटकृत्येच्छाधावनो-द्यतामि"ति ॥ ९८ ॥

तस्यपादरजोयुक्तैरिति । तस्य वैरिणः पादरजोवामपादरज इति परमगुरवः । *उच्चा-टयेदिति* । वायुबीजादि ज्ञेयम् ॥ ९९ ॥

प्रतिमामिति । षण्णवत्यङ्गुलाम् । यदाहुः—"मारणे दारुरूपां तां द्वादशाङ्गुलसंमि-ताम् । षण्णवत्यङ्गुलां वापि कुर्यान्मात्राङ्गुलैः क्रमात् ॥ होमार्थं कल्पितायास्तु तस्याः प्रोक्तो विधिः परः । वश्याकर्षणयोः प्रोक्तां तां कुर्याद्द्वादशाङ्गुलैरि"ति । *जप्ताम्* अष्टोत्तरशतावृत्त्या । *छेदयेदिति* अष्टोत्तरसहस्रम् । *अङ्कुश इति* । दक्षिणाङ्गुष्ठादिवामाङ्गुष्ठान्तम् ॥१००॥ ई ॥

श्मशाने हव्यवाहन इति । व्यधिकरणे सप्तम्यौ ॥ १०१ ॥

एवमेवेति । तदुक्तं—"द्रुमकुड्यनिपातेन निर्घातेनारिखड्गतः । सलिले पावके सर्प-दंशान्मत्तद्विपाद्भटात् ॥ यक्षरासगन्धर्वपिशाचब्रह्मराक्षसैः । अन्यैर्वा कारणैः क्षिप्रं नाशमेति रिपुर्ध्रुवमि"ति । *दिनत्रयादिति* । चतुर्दशीत्रयादित्यर्थः । "त्रिचतुर्दशीप्रयोगादर्वाङ्म्रियते रिपुर्नसंदेह" इत्युक्तेः ॥ मारणे ध्यानविशेषोपि *तन्त्रान्तरे—"कालमेघनिभां दुर्गां दन्दशूक-विभूषिताम् । निशितं दधतीं खड्गं निजदक्षिणपाणिना ॥ सव्येन पाणिना साध्यं केशं संगृ-ह्य कर्षतीम् । सिंहस्कन्धस्थितां ध्यायेन्मन्त्री मारणकर्मणी"ति । *अन्योऽपि विशेषः*—"शा-न्तिके पौष्टिके वापि वश्ये स्तम्भनकर्मणि । जपेत्स्वमन्त्ररक्षायै मन्त्रमष्टोत्तरं शतम् । उच्चा-टनेमादनेच द्वेषणे मोहने भ्रमे । मारणे चजपेन्मन्त्री मनुन्तद्वत्सहस्रकम्" इति ॥ मादनेचे-त्यत्र *ध्यानविशेषः*—"शतभङ्गाह्वयं चूर्णं कपालं गरपूरितम् । दधाना शाम्बरी दुर्गा ध्येया-मादनकर्मणी"ति ॥ *उन्मत्तेति* । उन्मत्तो-धत्तूरः ॥ १०२ ॥

पत्रैरिति पक्षैः । *स्ववसारक्तम्* । उलूककाकवसारक्तम् । *कान्तारइति* । वने १०३

शत्रोः प्रतिकृतिमिति । यदि शत्रोर्जन्मनक्षत्रं ज्ञायते तदा ।तन्नक्षत्रवृक्षकाष्ठमयीम् । तदज्ञाने कारकस्करमयीं द्वादशाङ्गुलाम् । नक्षत्रवृक्षा द्वाविंशे वक्ष्यन्ते *प्रतिष्ठितसमीरणा-

ज्वराक्रान्तो भवेच्छीघ्रं दुग्धसेकाच्छमं नयेत् ।
तर्जनीं त्रिशिखं दोर्भ्यां धारयन्तीं भयङ्कराम् ॥ १०५ ॥
रक्तां ध्यात्वा रवेर्बिम्बे प्रजपेदयुतं मनुम् ।
मारयेदचिरादेव रिपून्बन्धुसमन्वितान् ॥ १०६ ॥
खड्गखेटकसन्नद्धां संक्रुद्धां भानुमण्डले ।
ध्यात्वा मन्त्रं जपेन्मन्त्री नाशयेदचिरादरीन् ॥ १०७ ॥
चापबाणधरां भीमां लिहस्थां ज्वलनोपमाम् ।
सृजन्तीं बाणनिवहान्धावन्तीं तादृशं रिपुम् ॥ १०८ ॥
ध्यात्वा जपेन्मनुमिममयुतं तोयमध्यगः ।
रिपुं च परसेनां च द्रुतमुच्चाटयेद्ध्रुवम् ॥ १०९ ॥

मिति* । कृतप्राणप्रतिष्ठाम् । *शोषणेनेति* शोषणं मरिचम् । "मरिचं श्यामलं प्रोक्तं वह्निबीजं शोषणं स्मृतमि"तिरुद्रः(१) ॥ १०४ ॥

प्रतीकारमाह*-दुग्धेति* ॥ *तर्जनीमिति* । तर्जनीमुद्रां प्रागुक्ताम् । *त्रिशिखमिति* । त्रिशूलम् ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

सन्नद्धाम्-कृतसन्नाहाम् । भानुमण्डले ध्यात्वा पूर्ववदयुतं मन्त्रं जपेदितिसम्बन्धः ॥ *मन्त्रीति* । वेलाकालाभिज्ञः ॥ १०७ ॥

तादृशमिति । धावन्तम् ॥ १०८ ॥

तोयमध्यग इति । जान्वधोभागपर्यन्तम् । कारस्करमयीं कृत्वेति, उलूककाकयोः पत्रैरिति, तर्जनीं त्रिशिखं दोर्भ्यामिति, खड्गखेटकसन्नद्धामिति, द्रुतमुच्चाटयेद्ध्रुवमित्यादि क्रूरकर्मवेलाकालकलातिथिनक्षत्ररिक्तास्तस्य ग्रहर्क्षाष्टवर्गप्रातिलोम्यं पातालादियोगांश्च ज्ञात्वा तत्समये कृतं शीघ्रसिद्धिदं भवति । तत्र वेलानाम चन्द्रोदयमारभ्य पञ्चदशघटिकापर्यन्तं समुद्रस्य क्षोभो भवति । सा चन्द्रवेला । तदा क्रूरकर्माणि न कुर्यात् । तदनन्तरम् पुनः पञ्चदशघटिकापर्यन्तं वेलानास्ति । तदा क्रूरकर्म कुर्यात् । पुनस्तदनन्तरं पञ्चदशघटिकापर्यन्तं वेला । पुनस्तावत्कालं सा नास्ति । कालस्तु—"कुलिकः स्थविरो योगस्तारा वैनाशिकी कुजः । अष्टमो राशिरित्याद्यास्ताराः स्युः क्षुद्रकर्मणी"ति । कला नाम चन्द्रकला सा शुक्ले वर्द्धते कृष्णे त्रुट्यति (क्षीयते) तदष्टमीमारभ्यामावास्यापर्यन्तं कुर्यात् । तिथिरिक्ताः प्रसिद्धाः । नक्षत्ररिक्ता विषनाड्यः । *अन्यत्रतु*-"आयुर्दायं रिपोर्ज्ञात्वा लग्नोक्ताक्षांशुगुणतः । तदात्मिकग्रहाणां च स्थितिमष्टकवर्गकम् ॥ त्रयाणामानुकूल्येन कुर्यात्तदभिचारकम् । अन्यथा क्रूरकर्माणि कुर्वाणं नाशयन्ति हि ॥ तान्येव कर्माणि ततस्तत्रयप्रातिकूल्यतः । विदध्यादन्यथा शक्त्या नैष्फल्यं चात्मनाशनम् ॥ रिपोरष्टमलग्ने च कालेत्वष्टमराशिगे । स्थाने कुर्यादनिष्टानि तद्विनाशाय साधकः ॥ पातालयोगनीचाख्ये विषयोगे च मृत्युजे । नाशयोगेच दिनजेमृत्यौ क्रकचयोगके ॥ चण्डीशचण्डायुधके महा(२) खले च काणके । रक्तस्थूणे कण्टकाख्ये स्थूणे पञ्चादिसंज्ञके ॥ कुर्यात्प्रयोगान्प्रत्यर्थिभङ्गाय निधनाय च । निग्रहाय निरीक्ष्यैवं कुर्यात्सिद्धिमवाप्नुयादि"ति ॥ अष्टमोराशिश्चक्रमन्त्रे वक्ष्यते । अन्येयोगाः ज्योतिःशास्त्रतो ज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

(१) अत्र मूले ऊषणेनेतिपाठः । टीकायां कोशे चोषणमिति पुस्तकान्तरे ।
(२) "महामाक्षे (?)च कारके" इति पुस्तकान्तरे पाठः ।

आनित्यफलसिद्धोमान्मुच्यते रोगशोकतः।
पुष्पैस्तदीयैर्वर्धयेन्मधुराद्यैर्मतङ्गजान्॥ ११०॥
स्नाप्य पञ्चगव्येन लिम्पेज्जप्तेन दन्तिनः।
गव्याज्यतिलसिद्धार्थैरानित्यफलमिद्भवैः॥ १११॥
दुग्धान्नपञ्चगव्याभ्यां तण्डुलेन घृतेन च।
एतः पृथक् पृथक् द्रव्यैरष्टोत्तरसहस्रकम्॥ ११२॥
जुहुयाद्दिनशोविप्रान्भोजयेन्मधुरादिभिः।
गुरवे दक्षिणां दद्याद्वस्त्राभरणसंयुताम्॥ ११३॥
मातङ्गाश्च तुरङ्गाश्च वर्द्धन्ते विधिनाऽमुना।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्ताः क्षुद्रपीडाविवर्जिताः॥ ११४॥
कारयेद्ब्रह्मवृक्षेण शिल्पिनाऽऽयुधपञ्चकम्।
शङ्खखड्गरथाङ्गानि शार्ङ्गं कौमोदकीं क्रमात्॥ ११५॥
पञ्चगव्येषु निःक्षिप्य तानि स्पृष्ट्वा मनुं जपेत्।
सम्यक् पञ्चसहस्राणि तेषु संपातयेत्पुनः॥ ११६॥
तावदाज्येन जुहुयान्मन्त्रैः स्वैः पूजयेत्क्रमात्।

आनित्यफलमिति । कान्यकुब्जभाषायाम्-"एरछि" इति प्रसिद्धम्। गव्याज्य-मित्येकम्॥ ११०-११२॥

एतैरिति अष्टभिर्द्रव्यैः। *दिनशः* प्रत्यहम्। पृथग्जुहुयादिति क्रमेण प्रथमदिने प्रथमद्रव्येण द्वितीये-द्वितीयेनेति ज्ञेयम्॥ ११२॥

दिनश इति। विप्रान् भोजयेदित्यत्राप्यन्वेति॥ ११३॥ ११४॥

कारयेदिति। तालप्रमाणम्(१)। *ब्रह्मवृक्षेणेति*। पलाशेन। द्विजभूमिस्थेन सफलेनेति ज्ञेयम्। *शिल्पिनेति*। निपुणतरेणेतिशेषः। *तदुक्तमाचार्यैः*—"साधुशिल्पविदे"ति। *रथाङ्गं*-चक्रम्। शार्ङ्गन्धनुः। कौमोदकीं गदाम्। *क्रमादिति*। अस्यायमर्थः। महान्तं पलाशं दिक्षु।अङ्कयित्वा छित्वा, क्रकचेन पञ्चधा निर्भिद्य मध्यभागेन शङ्खं, पूर्वादिचतुर्दिग्भागैः खड्गादीनि कारयेदिति। तदुक्त*माचार्यैः*—"द्विजभूरुहं महान्तं छित्वा निर्भिद्य पञ्चधा-भूयः। आशाक्रमेण पञ्चायुधा" इति॥ ११५॥

पञ्चगव्येषु निःक्षिप्येति। पलाशस्यैव पात्रं कृत्वा तन्मध्ये पञ्चगव्यं विनिःक्षिप्य तत्र तानि निःक्षिप्येत्यर्थः। *मनुं*-मूलमन्त्रम्। *पञ्चसहस्राणीति*। समुदायेन। सम्यगिति। प्रत्येकं सहस्रजपः। तेषु-आयुधेषु। सम्यक्सम्पातयन्। *तावत*-पञ्चसहस्रेण। *जुहुयात् सम्यगिति*। प्रत्यायुधमेकैकसहस्ररीत्या। *मन्त्रैः स्वैरिति*। सप्तदशे वक्ष्यमाणैः। *पूजयेदिति*। प्राणप्रतिष्ठापूर्वं पात्रएव। *क्रमादिति*। मध्यस्थशङ्खप्रभृतीत्यर्थः। *पूर्ववदिति*। पुनस्तानि स्पृशन् तावत्संख्यम्। *ईशानसंहितायां तु*—"द्विजभूम्यां स्थितं छित्वा फलाढ्यं विप्रभूरुहम्। मूलाग्रहीनं निर्भिद्य पञ्चधा सवतः,समम्। मध्यार्द्यशैः क्रमाच्छङ्खं नन्दकं चक्रमेवच। शार्ङ्गं कौमोदकीं तालप्रमाणं परिकल्पयेत्॥ सपञ्चगव्ये तत्पात्रे निःक्षिपेत्तं

---

(१) तालोनामाङ्गुष्ठमध्यमोन्मितः। "प्रादेश-तालगोकर्णा-स्तर्जन्यादियुते तते" इत्यमरात्॥

उद्धृत्य पञ्चगव्येभ्यः पूर्ववत्प्रजपेन्मनुम् ॥ ११७ ॥
अवटान्पञ्च निखनेद्दिक्षु मध्यादिषु क्रमात् ।
अवटेष्वेषु पूर्णेषु पञ्चगव्येन साधकः ॥ ११८ ॥
आयुधानि प्रजप्तानि पञ्च घोषपुरः सरम् ।
विन्यसेत्तेषु मध्यादिपूजां कुर्याद्यथापुरा ॥ ११९ ॥
वालुकाभिः समापूर्य मृद्भिः कुर्यात्समस्थलम् ।
बलिं च विकिरेत्तत्र तेषां मन्त्रैर्यथाक्रमम् ॥ १२० ॥
दिक्पतिभ्यो बलिं दत्वा ब्राह्मणान्भोजयेत्ततः ।
दीनान्धकृपणादींश्च तोषयेद्भोजनादिभिः ॥ १२१ ॥
गुरवे दक्षिणां दद्यादात्मवित्तानुसारतः ।
यत्रैवं विहिता रक्षा देशे वा नगरे पुरे ॥ १२२ ॥
ग्रामे गेहेऽथवा तत्र वर्द्धन्ते संपदः सदा ।
अश्मपातादयो दोषा भूतप्रेतादिसंयुताः ॥ १२३ ॥
अभिचारकृताः कृत्यारिपुचौराद्युपद्रवाः ।
नेक्षन्ते तां दिशं भीतास्तर्जिता देवताज्ञया ॥ १२४ ॥
पद्मं भानुदलान्वितं प्रविलिखेत्तत्कर्णिकायां पुन-
स्तारं शक्तिगबीजसाध्यसहितं तत्केसरेषु क्रमात् ॥
मर्हिन्या मनुसंभवान् युगलशोवर्णान्पुनः पत्रगा-
न्मन्त्रार्णान्गुणशो विधाय विलिखेदन्त्यं तदन्त्ये दले ॥ १२५ ॥
मातृकावर्णसंवीतं भूपुरद्वयमध्यगम् ।
यन्त्रं विन्ध्यनिवासिन्याः प्रोक्तं सर्वसमृद्धिदम् ॥ १२६ ॥
रक्षाकरं विशेषेण क्षुद्रभूतादिनाशनम् ।
राज्यदं भ्रष्टराज्यानां वश्यदं वश्यमिच्छताम् ॥ १२७ ॥

निधाय च । स्वस्तिके सम्यगभ्यर्च्य जपेत्पञ्चसहस्रकम् ॥ घृतेन तावद्धुत्वाज्यसम्पातेन यथाविधि । आलिप्य तावज्जुयोऽपि जपेन्मन्त्रमिमं सुधीः ॥ खातावटान् हस्तमानान् मध्ये पूर्वादिदिक्षु च । तत्र पीठं समभ्यर्च्य मूलमन्त्रेण विन्यसेत् ॥ तानि शङ्खे महादुर्गामावाह्या-स्मिन्स्थितां यजेत् । तत्तदायुधमूर्तींश्च दिशासूदितलक्षणाः ॥ अस्त्रमन्त्रेण परितः प्राकारं परिकल्पयेदित्यन्ति ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

अवटानिति । हस्तमानान् । साधक इत्यनेन मूलमुच्चरन् विन्यसेदित्यप्युक्तम् । प्रज-प्तानीत्यनुवादः ॥ ११८ ॥

यथापुरेति । स्वस्वमन्त्रैः ॥ ११९ ॥

यथाक्रममिति । मध्यादि ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

यन्त्रमाह—*पद्ममिति* । भानुदलान्वितं—द्वादशदलान्वितं पद्मं लिखेत् । तत्कर्णिकायां शक्तिगं—मायाबीजगं यद्बीजं दौर्गं सविसर्गं तत्र यत्साध्यं तेन सहितं तारं लिखेत् । एतेन द्वादशदलपद्मकर्णिकायां प्रणवं विलिख्य तत्र मायाबीजं तत्र दौर्गं बीजं तत्र साध्यं लिखेदि-

सुतार्थिनीनां सुतदं रोगिणां रोगशान्तिदम् ।
बहुना किमिहोक्तेन यन्त्रं तत्कामदोमणिः ॥ १२८ ॥
इति शारदातिलके एकादशः पटलः ॥ ११ ॥*॥

अज्ञानतिमिरध्वंसि संसारार्णवतारकम् ।
आनन्दबीजमवतादतर्क्यं त्रैपुरं महः ॥ १ ॥
अथ वक्ष्ये परां विद्यां त्रिपुरामतिगोपिताम् ।
यां ज्ञात्वा सिद्धिसङ्घानामधिपो जायते नरः ॥ २ ॥
वियद्भृगुहुताशस्थो भौतिको बिन्दुशेखरः ।
वियत्तदादिकेन्द्राग्निस्थितं वामाक्षिबिन्दुमत् ॥ ३ ॥
आकाशभृगुवह्निस्थोमनुः सर्गेन्दुखण्डवान् ।
वाग्भवं प्रथमं बीजं कामबीजं द्वितीयकम् ॥ ४ ॥

त्युक्तं भवति । *मर्दिन्य। इति* । महिषमर्दिन्याः । युगलश इत्यनेन महिषमर्दिनीमन्त्रस्यावृत्तित्रयमुक्तम् । *मन्त्रार्णान्*-मूलमन्त्रार्णान् । गुणश-स्त्रिस्रः । अन्त्यमेकमक्षरमन्त्ये द्वादशे लिखेत् ॥ १२६—१२८ ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायामेकादशः पटलः ॥ ११ ॥ * ॥

---

५८ दुर्गामन्त्रानुक्त्वा मातृकापटले तार्तीयस्योद्दिष्टत्वाद्भैरवीमन्त्रं वक्तुमुपक्रमते-*अज्ञानेति* । त्रिपुराशब्दव्युत्पत्तिरुक्तान्यत्र—"त्रिमूर्त्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैवदेव्याः । लये त्रिलोक्या अपि पूरणत्वात्प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥"ति । *सिद्धेश्वरीमतेतु*-ब्रह्मविष्णुमहेशानैस्त्रिदेवैरर्चिता पुरा । त्रिपुरेति-तदा नाम कथितं दैवतैः पुरे"ति ॥ १ ॥

अतिगोपितामिति । अनेनैतदुक्तं भवति । मयापि गुप्तमेव स्वरूपमुद्धृतमिति । अन्यथा विद्यां वक्ष्ये इतिप्रतिज्ञाय विद्या वेद्येत्युपसंहारः । अथ च मन्त्र उद्धृत इदमसङ्गतं स्यात् । यतः "शक्त्याद्या तु भवेद्विद्या शिवाद्यो मन्त्र उच्यते" इत्युक्तेः । तदुक्तम्-"एषा सा शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव । कर्णात्कर्णोपदेशेन सञ्चरत्यवनीतले" इति । सिद्धीत्यादिविनियोगोक्तिः ॥ २ ॥

मन्त्रमुद्धरति-*वियदिति* । वियत् हः, भृगुः सः, हुताशो रेफः, ते तिष्ठन्त्यत्र सः "सुपिस्थः" बाहुलकादधिकरणे कः । भौतिकः ऐ, बिन्दुरनुस्वारः । इत्याद्यं कूटम् । वियत् हः, तदादि सः, क स्वरूपम् । इन्द्रो लः । अग्नीरः । एते स्थिता यत्रेत्याहिताग्न्यादिः(१) । वामाक्षिई, बिन्दुरनुस्वारः । इति द्वितीयं कूटम् ॥ ३ ॥

आकाशो हः । भृगुः सः । वह्नी रेफः । मनुरौ । सर्गो विसर्गः । इन्दुखण्डः अनुस्वारः । इति

---

(१) तेन स्थित इति क्तान्तस्यापिबहुव्रीहौपरप्रयोगः ॥ "निष्ठा" इति सूत्रेणहि निष्ठान्तस्य पूर्वप्रयोगएवयुक्तः । कृतकट इत्यादिवत् । किन्त्विह "वाहिताग्न्यादिषु" (पा० २-२३७) इति सूत्रेणाग्न्यहित इति वत्परप्रयोगोऽपि क्तान्तस्य कृत इति भावः ॥

तृतीयं कामराजाख्यं त्रिभिर्बीजैरितीरिता ।
पञ्चकूटात्मिका विद्या वेद्या त्रिपुरभैरवी ॥ ५ ॥
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्तिश्छन्दः पङ्क्तिः समीरितम् ।
देवता देशिकैरुक्ता देवी त्रिपुरभैरवी ॥ ६ ॥
नाभेराचरणं न्यस्येद्वाग्भवं मन्त्रवित्पुनः ।
हृदयान्नाभिपर्यन्तं कामबीजं प्रविन्यसेत् ॥ ७ ॥

तृतीयं कूटम् । आद्यन्तयो रेफः कीलकम् । तदुक्तमा*चार्यैर्भैरवीस्तवे*–"आद्यं तृतीयमनलोज्जितमेव बीजं कूटं द्वितीयमनलेन विराजमानमि"ति । एषां प्रत्येकं नामान्याह—*वाग्भवमिति* ॥ ४ ॥ ५ ॥

पञ्चकूटात्मिकेति । हसकलरेति पञ्चव्यञ्जनसंयोगात्पञ्चकूटात्मकत्वं रेफरहितत्वेन चतुष्कूटत्वम् । रेफोपरि नादयोगे षट्कूटत्वं ज्ञेयम् ।।अस्यास्त्रिंशत्प्रस्तारभेदा ग्रन्थगौरवभयान्नोक्ताः, ते तन्त्रान्तरादूद्रष्टव्याः । आद्यं बीजं, मध्यं शक्तिः । अन्त्यं वा शक्तिः ॥ व्यस्तबीजध्यानफलमुच्यते—*सारस्वतमतात्*—"नवकुन्दनिभां देवीं मुक्ताजालविभूषणाम् । मुद्राकपालविद्याक्षमालाराजन्महाभुजाम् ॥ वाग्भवं यो महेशानि लक्षं जपति संयतः । कविता जायते तस्य नानावृत्तार्थशोभना ॥ रक्तां सुरतरोर्मूले विलसन्मणिपीठगाम् । सृणिपाशकपालेक्षु मातुलिङ्गधनुःकराम् ॥ रक्तैरलङ्कृतां पुष्पैर्मदाघूर्णितलोचनाम् । हेलाविलाससम्पन्नां नवयौवनसुन्दरीम् ॥ देवीं ध्यात्वा जपेल्लक्षं यो बीजं मध्यमं वशी । त्रैलोक्यं क्षोभयेदाशु पुरावत्सिद्धिभागसौ ॥ अक्षमालासुधाकुम्भमुद्रापुस्तकधारिणीम् । नवकुन्देन्दुसङ्काशां राजन्मौक्तिकभूषणाम् ॥ शक्तिं संविन्मयीं ध्यात्वा बीजं सारस्वतं वशी । योजपेज्जायते तस्य कविता भुविसम्मते"ति ॥ *तन्त्रान्तरे च*–"विद्याकामो वाग्भवाख्यं,शुक्लवस्त्रानुलेपनः । मौक्तिकाभरणो भूमिगृहे जप्यात्रिलक्षकम् ॥ गद्यपद्यान्युद्गिरन्तीं ,स्वां वाणीमिति भावयन् । पालाशैरव जुहुयात्पुष्पैस्त्रिमधुराप्लुतैः ॥ स जायते कविश्रेष्ठः सुन्दरीणां च वल्लभः । त्रिलोकीवश्यकामश्चेत्कामराजं द्वितीयकम् ॥ कस्तूरीकुङ्कुमामोदमधुरोऽरुणभूषणः । रक्तक्षौमाम्बरधरो जपेल्लक्षत्रयं सुधीः ॥ नेत्राञ्चलैर्मदालोलैर्वशे विदधतीं जगत् । अम्बिकेति स्वकं रूपं ध्यायन् हृष्टेन चेतसा ॥ जुहुयान्मालतीपुष्पैः शीतकर्पूरसंप्लुतैः । जगन्ति तस्य वश्यानि भवन्ति बहुनात्र किम् ॥ वाग्विलासमधिगन्तुमना यो बीजमन्त्यमपि पुष्करलक्षम् । सञ्जपेद्विमलभूषणवस्त्रोऽसौ भवेत्कविवरोऽमितकीर्त्तिः ॥ मालतीमुकुलजैर्द्दलैश्चन्दनाम्भसि घनैर्निमज्जितैः । श्रीकरीकुसुमकैर्हुतक्रिया सैव चाशु कविताकरी मते"ति ॥ अत्र ग्रन्थकृतातिगुप्ततरत्वाद्बीजत्रयस्य दीपन्युद्धारो न कृतः । तेन च विनेयं विद्या न सिद्धिदा । अतस्तदुद्धारः *सिद्धेश्वरीतन्त्राल्लिख्यते*–"वागीश्वर्यास्तु मन्त्रे हुतवहदयितास्थानगं वाग्भवाख्यं क्लिन्ने क्लेदिन्यपि स्यादिह तदनु महाक्षोभमित्येव योज्यम् । तस्मात्कुर्वित्यसौ चेन्मनुरयमुदितोरुद्धवर्णस्त्वदन्तस्तारान्मोक्षं तदन्ते कुरुपदसहितं स्याच्च संमोहनाख्यम् ॥ बीजानां दीपनानि स्युरिह हिमनवांशैःसुदीप्तःसदैव त्रैबीजो मन्त्रराजो भवति,जपविधौ सर्वसम्पत्तिकारी । विद्यानां पारगामी युवतिजनमनःक्षोभकारी विहारी मन्त्री स्यात्सर्वसम्पन्नरपतिसदृशोमुक्तबाधश्चिरायुरि"ति । चेतिनीआह्लादन्युद्धारः प्रथमश्लोकव्याख्यानोक्तोऽनुसन्धेयः । उत्तरषट्केतु–"आदिमेन तु सा लुप्ता मध्यमेन तु कीलिता । अन्तिमेन तु सा छिन्ना तेन विद्या न सिध्यति ॥ आदिमादिमनादिं च मध्यमध्यममध्यमम् । अन्त्यमन्त्यमनन्त्यं च त्रिपुरा शीघ्रसिद्धिदा ॥ आदिमध्ये तु मध्यादावन्त्यमध्येतु संस्थितौ । पुरःक्षोभाय जप्तव्यं विधिनानेन साधकैरि"ति ।

शिरस्तोहृत्प्रदेशान्तं तार्तीयं विन्यसेत्ततः ।
आद्यं द्वितीयं करयोस्तार्तीयमुभयोर्न्यसेत् ॥ ८ ॥
मूर्ध्न्याधारे हृदि न्यस्येद्भूयोबीजत्रयं क्रमात् ।
नवयोन्यात्मकं न्यासं कुर्याद्बीजैस्त्रिभिः पुनः ॥ ९ ॥
कर्णयोश्चिबुके भूयः शङ्खयोर्वदने पुनः ।
नेत्रयोर्नसि विन्यस्येदंसयोःपिठरे पुनः ॥ १० ॥
ततः कूर्परयोः कुक्षौ जानुनोर्ध्वजमूर्द्धनि ।
पादयोर्गुह्यदेशे च पार्श्वयोर्हृदयाम्बुजे ॥ ११ ॥
स्तनयोः कण्ठदेशे च रत्यादिमथ विन्यसेत् ।
मूले रतिंहृदि प्रीतिं भ्रुवोर्मध्ये मनोभवाम् ॥ १२ ॥
बालाबीजैस्त्रिभिर्न्यस्येत्स्थानेष्वेषु विलोमतः ।
अमृतेशीं च योगेशीं विश्वयोनिं क्रमादिमाः ॥ १३ ॥
विलोमबीजैर्विन्यस्येन्मूर्तिन्यासमथाचरेत् ।
स्वस्वबीजादिकं पूर्वं मूर्ध्नीशानमनोभवम् ॥ १४ ॥
न्यसेद्वक्त्रे तत्पुरुषं मकरध्वजमात्मवित् ।
हृद्यघोरकुमारादिं कन्दर्पं तदनन्तरम् ॥ १५ ॥
गुह्यदेशे प्रविन्यस्येद्वामदेवादिमन्मथम् ।

अन्यत्रतु—"आद्यं बीजं मध्यमे मध्यमादावन्त्यं चान्त्ये योजयित्वो जपेद्यः । त्रैलोक्यान्तःपातिनोभूतसङ्घा वश्यास्तस्यैश्वर्यभाजो भवेयुः ॥ आद्यं कृत्वा चावसानेऽन्त्यबीजं मध्ये मध्यं चादिमे साधकेन्द्रः । कुर्यान्नित्यं योजयेन्मन्त्रमेनं जीवन्मुक्तः सोऽश्नुते दिव्यसिद्धि-मि"ति ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ३ ॥

करयोरिति। वामदक्षिणयोः। तदुक्तं-"हस्ततले च सव्ये-दक्षाह्वये द्वितीय" इति॥८॥९॥ नवयोन्यात्मकइति-यदुक्तं तमेवाह-*कर्णेति* । त्रित्रिस्थानैरकैका योनिः । अत्र वामाङ्गादिन्यास इतिकेचित् । अतएव पूजायां वामकोण इत्याद्युक्तिः । *शङ्खयोरिति* । ललाट-पार्श्वोच्चप्रदेशयोः । त्रिकाण्डधामपि-"शङ्खोनिधौ ललाटास्थ्नी"ति । *नसीति*-नासिकायां, पिठरे-उदरे । उच्चाकारत्वाचत्स्य ॥ १० ॥

कुक्षाविति । अनेन नैकव्याद्योन्याकारतासिद्धये ।नाभिभागोलक्ष्यः । तदुक्तं-"कौर्परयोर्नाभिमण्डले न्यसेदि"ति । क्वचिन्नाभाविति पाठः । ध्वजोलिङ्गम् ॥ ११॥ ३ ॥

रत्यादीतियदुक्तं तदेवाह-*मूलइति* विलोमतस्त्रिभिर्बालाबीजैर्विन्यसेदितिसम्बन्धः । स्थानेष्वेष्विति-उत्तरत्र सम्बध्यते । तत्र विलोमत्वं नामेदं रतेर्वाग्भवं प्रीतेरन्त्यं मनोभवायामध्यमिति । यदाहुः-"कामस्य कामबीजं रतिबीजं वाग्भवं समुद्दिष्टम् । संमोहनाख्यमन्त्यं प्रीतेर्बीजं तथाप्रोक्तमि"ति ॥ १२ ॥

एष्विति । पूर्वोक्तस्थानेषु विलोमबालाबीजैः सह अमृतेशयाद्यां न्यसेदित्यन्वयः अत्रापि विलोमत्वं पूर्ववदेव ॥ १३॥ ३ ॥

स्वस्वबीजादिकमिति । मूर्तीनां वक्ष्यमाणानि बीजानि मनोभवादीनां क्रमेण वनिता चतुर्थवाणवाग्भवकाममायाबीजानि ज्ञेयानि । उभयत्रादिसब्दस्तत्पूर्वत्वमात्रं बोधयति

सद्योजातं कामदेवं पादयोर्विन्यसेत्ततः ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वप्राग्दक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु मुखेषु तान् ।
प्रविन्यसेद्यथापूर्वं भृगुर्व्योमाग्निसंस्थितः ॥ १७ ॥
सद्यादिपञ्चह्रस्वस्थो बीजमेषां प्रकीर्तितम् ।
षड्दीर्घयुक्तेनाद्येन बीजेनाङ्गक्रिया मता ॥ १८ ॥
पञ्चबाणांस्तनौ न्यस्येन्मन्त्री त्रैलोक्यमोहनान् ।
द्रांद्याद्यां द्राविणीं मूर्ध्नि द्रींद्याद्यां क्षोभिणीं पदे ॥ १९ ॥
क्लीं वशीकरिणीं वक्त्रे गुह्ये ब्लूंबीजपूर्विकाम् ।
आकर्षिणीं हृदि पुनः सर्गान्तभृगुसंयुताम् ॥ २० ॥
संमोहनीं क्रमादेवं बाणन्यासोऽयमीरितः ।

नैकपद्यम् । तेनायं प्रयोगः । "ह्स्त्रौं ईशानाय स्त्रौं मनोभवाय नमः" इत्यादि ॥१४॥१५॥१६॥३/२॥

यथापूर्वमिति । स्वस्वबीजादिकमिति च यदुक्तं तानि बीजान्युद्धरति *भृगुरिति* । भृगुः सः, व्योम हः, अग्नी रेफः, ताभ्यां सम्यक् युक्त इति । ऊर्ध्वाधोभागे क्रमेण ॥१७॥

सद्यादिपञ्चह्रस्वा विलोमेन ओ ए उ इ अ । *षडिति* । षड्दीर्घयुक्तेन बीजेन मध्यमबीजेन । *आद्येन बीजेन* । मन्त्राद्येन । सम्प्रदायात् (१)शाक्ताद्येनेत्यपि ज्ञेयम् । तेनायं प्रयोगः । सौः ह्स्क्ल्ह्रां ह्स्त्रैं हृत् । सौः ५ ह्रीं ह्स्त्रैं शिरः । सौः ५ ह्रूं ह्स्त्रैं शिखा । सौः ५ ह्रैं ह्स्त्रैं वर्म्म । सौः ५ ह्रौं ह्स्त्रैं नेत्रम् । सौः ५ ह्रः ह्स्त्रैं अस्त्रम् ॥ १८॥३/२॥

द्रांद्याद्यामिति । अत्र सर्वत्राचार्येण मस्थाने ङः पठितः । अन्यत्र तु द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं स आदिका वाणा इति । *अन्यत्रापि*(२) । "अत्रीशोमुखवृत्तवह्निसहितस्त्वाद्यं सदण्ड-स्त्रिमूर्त्याक्रान्ताननवृत्तमेव खलु तद्बीजं द्वितीयं भवेत ॥ मुखान्तस्थितं देवराजाधिरूढं सवा-मेक्षणं वक्त्रपूर्वेण युक्तम् । भपूर्वं सवृत्रारिषष्ठस्वरार्द्धक्षपेशं कतुर्यं कपूर्वेण युक्तमि"ति । *हृदीत्युत्तरत्र सम्बध्यते । *सर्गान्तोभृगुः* सः ॥१९॥२०॥३/२॥

---

(१) तथाच—शाक्तं वालाबीजत्रये (ऐं० क्लीं सौः) तृतीयस्य संज्ञा टीकाकृदेव ७६ श्लोके वक्ष्यति । तेनसौः इति प्रथमम् ह्स्त्रैं ततः षड्दीर्घयुक्तं ह्रां ह्रीं इत्यादि ६ युक्तं मध्य-मबीजं ह्स्क्ल्ह्रां इत्यादि षट् । पुनराद्यं बीजं ह्स्त्रैं इति प्रयोगक्रमः सांप्रदायिकोऽत्र दर्शितः । अत्र पाठभ्रंशोबहुधादृष्टस्तथाप्युक्तरीत्या विवृतम् । ५ संख्ययाकूटभूतस्य षड्दीर्घयुक्तमध्य-मबीजस्य सूचनम् । अत्रषड्दीर्घयोगोमध्यमबीजे रीमित्यस्य स्थाने क्रमेण ह्रां ह्रीं इत्यादि-परिवृत्तिरिति बोध्यम् । अन्यत्र षड्दीर्घयदव्यवहारोमायाबीजे षड्दीर्घयोगादुक्त इतीह हकारः षड्दीर्घादाकारादेराधिकः सन्निवेशित इति बोध्यम् ।

(२) त्रिपुरासारसमुच्चये—अत्रीशोदः । मुखवृत्तमा । वह्नीरः । सदण्डः सानुस्वारः । इदमाद्यं द्रामिति । तदेव त्रिमूर्त्तिना ईकारेणाक्रान्तमाननवृत्त(म्मुखवृत्त)माकारोयस्येदृशं द्रीमिति द्वितीयम् । मुखान्तःकः । देवराजोलः । वामेक्षणमी । वक्त्रपूर्वमनुस्वारः । तेनक्लीमिति तृतीयम् । भपूर्वं बः, वृत्रारिर्लः । षष्ठस्वरऊ । अर्द्धक्षपेशोऽर्द्धचन्द्राबिन्दुः । तैस्सहितं तेन ब्लूं इतिचतुर्थम् । कं जलं वः । तस्मात्तुर्यः स इति । कपूर्वः अः (विसर्गः) तेनयुक्तमिति सः । इति पञ्चमम् । इति श्लोकार्थः ॥

भालभ्रूमध्यवदनलम्बिकाकण्ठहृत्सु च ॥ २१ ॥
नाभ्यधिष्ठानयोः पञ्च ताराद्याः सुभगादिकाः ।
न्यस्तव्या विधिना देव्यो मन्त्रिणा सुभगा भगा ॥ २२ ॥
भगसर्पिण्यथ परा भगमालिन्यनन्तरम् ।
अनङ्गानङ्गकुसुमा भूयश्चानङ्गमेखला ॥ २३ ॥
अनङ्गमदना सर्वा मदविभ्रममन्थराः ।
प्रधानदेवता वर्णभूषणाद्यैरलंकृताः ॥ २४ ॥
अक्षरुक्पुस्तकाभीतिवरदाढ्यकराम्बुजाः ।
वाक्कामं ब्लु पुनस्त्रीं संस्ताराः पञ्चोदितास्त्वमी ॥ २५ ॥
न्यासं कुर्याद्भूषणाख्यं ततः साधकसत्तमः ।
न्यसेच्छिरसि भालभ्रूकर्णाक्षियुगले नसि ॥ २६ ॥
गण्डयोरोष्ठयोर्दन्तपङ्क्त्योरास्ये न्यसेत्स्वरान् ।
चिबुकेऽथ गले कण्ठे पार्श्वयोस्तनयुग्मके ॥ २७ ॥
दोर्मूलयोः कूर्परयोः पाण्योस्तत्पृष्ठदेशतः ।
नाभौ गुह्ये पुनश्चोर्वोर्जानुनोर्जङ्घयोस्ततः ॥ २८
स्फिचोः पत्तलयोः पश्चाच्चरणाङ्गुष्ठयोर्द्वयोः ॥
कादिरान्तान्न्यसेद्वर्णान् स्थानेष्वेषु समाहितः ॥ २९ ॥
काञ्च्यां ग्रैवेयके पश्चात्कटके हृदि गुह्यके ।
कर्णकुण्डलयोर्मौलौ वलशान् षान्तसान् सहौ ॥ ३० ॥
अष्टाविमान्प्रविन्यस्येदेवं देशिकसत्तमः ॥
एवं न्यस्तशरीरोऽसौ ध्यायेत्त्रिपुरभैरवीम् ॥ ३१ ॥

लम्बिकेति । मुखमध्ये स्थानविशेषः(१) । क्वचित्कर्णिकेति पाठस्तदा "कर्णिकाकर्णभूषणमि"ति त्रिकाण्डी ॥२१॥१/२॥

विधिनेति । चतुर्थी नमोन्तत्वम् । *मन्त्रिणेति* । अनेन समुचितपूर्वा इत्युक्तं भवति ॥ २२॥ २३॥२४॥१/२ ॥

ता(२)रानेवाह *वागिति* । वाक्-वाग्भवं, कामः कामबीजम् । अन्यत स्वरूपम् ॥२५॥

भूषणाख्यमिति । भूषणरूपैर्वर्णैर्न्यासोभूषणन्यासः । तमेवाह *ततः साधकसत्तमोन्यसेदिति* "मातृकावर्णानि"ति शेषः । साधकसत्तम इत्यनेन वर्णानां(३) सबिन्दुत्वं तत्तत्स्थाने भूषणरूपत्वेन ध्यानं चोक्तम् । न्यासस्थानान्येवाह *शिरसीति* । कण्ठस्तन्मणि, गलस्तदधोभागः । अत्रकर्णादिषु द्वि द्वि वर्णन्यासः । भ्रूस्थाने एकं, पाण्योरेकम् । तत्पृष्ठदेशे एकमिति सम्प्रदायविदः ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

स्फिक् शब्देनोच्चत्वसाम्याद्गुल्फौ लक्ष्येते । । कटके मूर्द्धन्योळः । हृदि तालव्यः शः । कर्णकुण्डलयोर्मूर्द्धन्यदन्त्याविति विवेक इति देशिकसत्तम इत्यनेनोक्तम् ॥ २९॥३०॥३१॥

---

(१) लवलवीति प्रसिद्धः ।

(२) ताराद्या इति (२२ श्लो०) यदुक्तं तत् इत्यादेः ।

(३) गले-कण्ठे इत्येतयोर्भेदमनेन दर्शयति । एवमग्रेऽपि (१० श्लो०) बोध्यम् ॥

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिनीं
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम् ॥
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियां
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥ ३२ ॥
दीक्षां प्राप्य जपेन्मन्त्रं तत्त्वलक्षं जितेन्द्रियः ॥
पुष्पैर्भानुसहस्राणि जुहुयाद्ब्रह्मवृक्षजैः ॥ ३३ ॥
त्रिमध्वक्तैः प्रसूनैर्वा करवीरसमुद्भवैः ॥
पद्मं वसुदलोपेतं नवयोन्याढ्यकर्णिकम् ॥ ३४ ॥
इच्छादिशक्तिभिर्युक्तं भैरव्याः पीठमर्चयेत् ॥
इच्छाज्ञाना क्रिया पश्चात्कामिनी कामदायिनी ॥ ३५ ॥
रती रतिप्रिया नन्दा नवमी स्यान्मनोन्मनी ॥
वरदाभयधारिण्यः सम्प्रोक्ता नव शक्तयः ॥ ३६ ॥

उद्यदिति । सिरसां मुण्डानां माला यस्यां सा । तामिति विग्रहः । *रक्तेति* रक्तचन्दनम् । आयुधध्यानं दक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये, तदधस्थयोरन्त्ये । दक्षोर्ध्वतोदक्षाधः पर्यन्तमिति केचित । अत्र ध्यानानन्तरं वाणबीजपूर्वकं पञ्चमुद्रा गुरुवक्त्रगम्या दर्शयेत् ॥ ३२ ॥

दीक्षां प्राप्येति । शक्तिदीक्षां प्राप्येत्यर्थः । सा च शक्तितन्त्रात्सिद्धेश्वरीमतादितो ज्ञेया । तत्त्वभानुशब्दयोः "सरूपाणामि"त्येकशेषः । तत्त्वलक्षं-षट्त्रिंशल्लक्षं, होमस्तु षट्त्रिंशत्सहस्रं पलाशकुसुमैः । इयं चतुः कूटस्य संख्या ॥ *त्रिमध्वक्तैः* । पयोमधुघृतयुक्तः । केचित्पयः स्थाने शर्करामाहुः । इदमुभयत्र संबध्यते । *तत्त्वलक्षं*-चतुर्विंशतिलक्षम्, होमस्तु चतुर्विंशतिसहस्रं करवीरैः । इयं संख्या पञ्चकूटस्य । तत्त्वलक्षं द्वादशलक्षं, तन्त्रान्तरे द्वादशतत्त्वानामप्युपदिष्टत्वात् । तदुक्तं *प्रयोगसारे*-"अतो द्वादशतत्त्वानि वदन्त्येके विपश्चित" इति । तन्मते प्रसूनैर्वेति वाशब्दः समुच्चये । मिलित्वोभयद्वादशसहस्रं होमः । इयं च संख्या षट्कूटस्येति ज्ञेयम् । *तदुक्तमाचार्यैः* । "दीक्षां प्राप्य विशिष्टलक्षणयुतः सत्सम्प्रदायाद्गुरोर्लब्ध्वा मन्त्रममुं जपेत्सुनियतस्तत्त्वार्द्धलक्षावधि । स्वाद्वक्तैश्च नवैः पलाशकुसुमैः सम्यक्समिद्धेऽनले मन्त्री भानुसहस्रकं प्रतिहुनेदश्वारि(१)सूनैरपी"ति । तत्र तत्त्वानि षट्त्रिंशच्चतुर्विंशतिः । अर्द्धं द्वादश । भान्तीति भानवः । षट्त्रिंशत्तत्त्वानि चतुर्विंशतितत्त्वानि द्वादशादित्याश्चेतिपद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम् । अत्रापि भानुशब्दार्थोऽयमेव ज्ञेयः । पूजायन्त्रमाह *नवयोनीति* नवयोन्याढ्यकर्णिकं पद्ममस्याः "पूजायन्त्रमि"ति शेषः । तदुद्धार उच्यते-"द्वितीयादिद्विद्विभागे योनी सन्ध्येधनाग्निना । भित्त्वाध्यंशगुणान्वृत्तान्बहिः पद्मं सभूगृहम् ॥ अस्यार्थः । यथेच्छाप्रमाणम् वृत्तं कृत्वा तत्प्राक्सूत्रं चतुर्द्धा विभज्य तत्रैकं भागम् । ऊर्ध्वतस्त्यक्त्वा द्वितीयं भागमारभ्य तृतीयभागान्तम् अधराग्रं त्र्यस्रं कृत्वा ततो मध्यादारभ्य चतुर्थान्तं द्वितीयमधराग्रं त्र्यस्रं कृत्वा तदुभयसन्धिभेदि प्रथमभागमारभ्य ऊर्ध्वाग्रं तृतीयान्तपर्यन्तं त्र्यस्रं कुर्यादिति । तदुक्तं "वह्नेःपुरं द्वितयवासवयोर्निमध्यसम्बद्धवह्निवरुणेशसमाश्रितास्र्य"ति । *वरदाभयधारिण्य* इति । स्मरणमात्रं चतुर्थपटलपूर्वासां ध्यानस्योक्तत्वात् ॥ ३३॥३४॥३५॥३६ ॥

---

(१) करवीरपुष्पैः । सूनं प्रसूनं कुसुमं सुममित्यनर्थान्तरम् ॥

वाग्भवं लोहितोरायैश्रीकण्ठोलोहितोऽनलः ॥
दीर्घवान्यै परापश्चादपरायै ह्सौःपुनः ॥ ३७ ॥
सदाशिवमहाप्रेतंङेन्तं पद्मासनं नमः ॥
अनेन मनुना दद्यादासनं श्रीगुरुक्रमम् ॥ ३८ ॥
प्राङ्मध्ययोन्यन्तराले पूजयेत्कल्पयेत्ततः ॥
पञ्चभिः प्रणवैर्मूर्तिं तस्यामावाह्य देवताम् ॥ ३९ ॥
पूजयेदागमप्रोक्तेन विधानेन समाहितः ॥
तारवाक्शक्तिकमला ह्सखफ्रें ह्सौंस्मृतः ॥ ४० ॥
वायकोणे यजेद्देव्या रतिमिन्दुसमप्रभाम् ॥
रतिं पाशधरां सौम्यां मदविभ्रमविह्वलाम् ॥ ४१ ॥
प्रीतिं दक्षिणकोणस्थां तप्तकाञ्चनसन्निभाम् ॥
अङ्कुशं प्रणतिं दोर्भ्यां धारयन्तीं समर्चयेत् ॥ ४१ ॥
अग्रे मनोभवं रक्तं रक्तपुष्पाद्यलङ्कृताम् ॥
इक्षुकार्मुकपुष्पेषून्धारयन्तीं शुचिस्मिताम् ॥ ४२ ॥
अङ्गान्यभ्यर्चयेत्पश्चाद्यथापूर्वं विधानवित् ॥
दिक्ष्वग्रे च निजैर्मन्त्रैः पूजयेद्बाणदेवताः ॥ ४३ ॥
हस्ताब्जैर्धृतपुष्पेषुप्रणामा भूतलप्रभाः ॥

पीठमन्त्रमुद्धरति-वागिति । वाग्भवं-बालाद्यबीजम् । लोहितः पः । रायै स्वरूपम् । श्री-कण्ठः अकारः । अनलोरः । दीर्घवानाकारयुक्तः । तेन रा इति । यै परा इति स्वरूपम् । अप-रायै स्वरूपम् । (मन्त्रे) पराऽपराया इत्यत्र तु सन्धिः । ह्सौइति पिण्डम् ॥ ३७ ॥

सदाशिवमहाप्रेतान्तं स्वरूपं, प्रेतमिति द्वितीया शब्दकर्मणि । ङेन्तं चतुर्थ्यैकवचनान्तं पद्मासनं, तेन पद्मासनाय ॥ ३८ ॥

प्राङ्मध्ययोन्यन्तराले श्रीगुरुक्रमं पूजयेदिति संबन्धः । श्रीगुरुक्रमस्तुत्रिविधः । दिव्यौघः सिद्धौघोमानवौघश्चेति । तत्रपर(तत्त्वप्रकार)प्रकाशानन्द-परमेशानन्द-परमशिवा-नन्द कामेश्वर्यानन्द-मोक्षानन्द-कामानन्दाऽऽमृतानन्दा दिव्यौघः । ईशानतत्पुरुषाघोरवामस-द्यानन्दाः सिद्धौघः । मानवौघस्तु स्वस्वगुरुसम्प्रदायाज्ज्ञेयः । पीठस्योत्तरभागे गुरुपङ्क्तिं पूज-येत् । इति सामान्यविधेरपवादो प्राङ्मध्ययोन्यन्तराल इति ॥ ३९ ॥

आगमोक्तेने-त्युत्तरषट्कप्रोक्तेन । आगमशब्दव्युत्पत्तिरुक्ता *तन्त्रान्तरे*-"आगतं शिववक्त्राज्जाद् गतं तु गिरिजामुखे । मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते" इति । अत एव समाहितः सावधान इत्युक्तिः । पञ्चभिःप्रणवैरिति-यदुक्तं तानेवाह-*तारेति* । तारः प्रणवः । वाग्-वाग्भवं, शक्तिर्मायाबीजं, कमला-श्रीबीजं । अन्यत्पिण्डयद्वम् ॥ ४० ॥

रतिप्रीत्योर्ध्याने एकहस्तेऽस्त्रम् । द्वितीये नमस्कारः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

यथापूर्वमिति । आग्नेयादिषु केसरेषु मध्ययोन्यन्तरे चतुर्दिक्षु च । विधानविदित्यनेन मध्ययोनिबाह्यदेशइत्युक्तम् ॥ ४३ ॥

हस्ताब्जैरिति । सव्यहस्ते बाणः । अन्यहस्ते नमस्कारः । तदुक्तं—"द्राविण्याद्याः क्रमशः सर्वाभरणशोभिताः समदाः । सव्यकरकलितबाणाः शषकरे कृतनमस्कारा" इति ।

अष्टयोनिष्वष्टशक्तीः पूजयेत्सुभगादिकाः ॥ ४४ ॥
मातरो भैरवाङ्कस्था मदविभ्रमविह्वलाः ॥
अष्टपत्रेषु सम्पूज्या यथावत्कुसुमादिभिः ॥ ४५ ॥
लोकपालांस्ततोदिक्षु तेषामस्त्राणि तद्बहिः ॥
पूर्वजन्मकृतैः पुण्यैर्ज्ञात्वैनां परदेवताम् ॥ ४६ ॥
यो भजेदुक्तमार्गेण स भवेत्सम्पदां पदम् ॥
एवं सिद्धमनुर्मन्त्री साधयेदिष्टमात्मनः ॥ ४७ ॥
जुहुयादरुणाम्भोजैरदोषैर्मधुराप्लुतैः ॥
लक्षसंख्यं तदर्द्धं वा प्रत्यहं भोजयेद्द्विजान् ॥ ४८ ॥
वनिता युवती रम्याः प्रीणयेद्देवताधिया ॥
होमान्ते धनधान्याद्यैस्तोषयेद्गुरुमात्मनः ॥ ४९ ॥
एवं कृतेजगद्वश्यो रमाया भवनं भवेत् ॥
रक्तोत्पलैस्त्रिमध्वक्तैरुणैर्वाहयारिजैः ॥ ५० ॥
पुष्पः पयोन्नैः सघृतैर्होमो विश्वं वशं नयेत् ॥
वाक्सिद्धिं लभते मन्त्री पलाशकुसुमैर्हुतात् ॥ ५१ ॥
कर्पूरागुरुसंयुक्तं गुग्गुलुं जुहुयात्सुधीः ॥
ज्ञानं दिव्यमवाप्नोति तेनैव स भवेत्कविः ॥ ५२ ॥
क्षीराक्तैरमृताखण्डैर्होमः सर्वापमृत्युजित् ॥
दूर्वाभिरायुषे होमः क्षीराक्ताभिर्दिनत्रयम् ॥ ५३ ॥
गिरिकर्णीभवैः पुष्पैर्ब्राह्मणान्वशयेद्धुतात् ॥
कल्हारैः पार्थिवान् पुष्पस्तद्वधूः कर्णिकारजैः ॥ ५४ ॥

भूतसप्रभा इति। पृथिव्यादिवर्णतुल्यवर्णा इत्यर्थः। *सुभगादिका इति*। यथान्यस्ताः ४४
मातरइति। चण्डिकान्ताः। तदु-*क्तमाचार्यैः—"मातृगणं सचण्डिकान्तन्दलेष्व-पि यजेदसिताङ्गकाद्यैरि"ति। *यथावदिति* अनेन दीर्घाद्या मातरो ह्रस्वाद्या भैरवा इत्युक्तम् ४५
सम्पदां पदमिति अनेनास्याः सम्पत्प्रदेत्यपि नामेति सूचितं भवति।४६।४७।४८।४९।
जगदिति॥ जगन्ति वश्यानि यस्येति बहुव्रीहिः। *रमाया भवनं भवेदिति*। तत्र *ध्यानविशेषः*—"मातुलिङ्गलिपिपात्रपङ्कजः शोभमानकरपङ्कजां शिवाम्। संविचिन्त्य खलु पौष्टिकक्रियां कुर्वती भवति भूतिरञ्जसे"ति। *हयारिजैरिति*। करवीरजैः सघृतैः॥ ५०॥
पयोन्नैरिति। तृतीयः पक्षः। *वशं नयेदिति*। *ध्यानविशेषो यथा*—"पाशाङ्कुशो-द्यतकरामरुणां प्रसन्नां माणिक्यवद्धहरितैरपि भूषिताङ्गीम्। मूर्त्तिं विचिन्त्य विदधीत पुरोक्त-मार्गाद्वश्यक्रियां च नयनाञ्जनकानि मन्त्री"ति॥ ५१॥
भवेत्कविरिति। ध्यानविशेषः *संविच्छास्त्रे*—"सारस्वतमयीं मूर्त्तिमा(र्त्तिया)दि-मूर्त्तिसमन्विताम्। यः स्मरद्द्वादशान्ते स्यात्सोऽचिराद्वाक्पतिर्भवेदि"ति॥ ५२॥
अमृता—गुडूची। *अपमृत्युजिदिति* ध्यानविशेषो *गौतमेनोक्तः*—"कुर्याच्छा-न्तिककर्माणि शुक्लवर्णां विचिन्त्य ताम्। वराभयसुधाकुम्भपुस्तकायुधपाणिनोमि"ति ॥५३॥
गिरिकर्णी—अपराजिता। *पद्म* लवगम्। *नन्द्यावर्तै*र्गन्धतगरैः। *कुरमाले*:*

मल्लिकाकुसुमैर्हुत्वा राजपुत्रान्वशं नयेत् ॥
कोरण्टकुसुमैर्वैश्यान्वृषलान्पाटलोद्भवैः ॥ ५५ ॥
अनुलोमविलोमान्तः स्थितसाध्याह्वयान्वितम् ॥
मन्त्रमुच्चार्य्य जुहुयान्मन्त्री मधुरलोलितैः ॥ ५६ ॥
सर्षपैः पटुसम्मिश्रैर्वशयेत्पार्थिवान् क्षणात् ॥
अनेनैव विधानेन तत्पत्नीस्तत्सुतानपि ॥ ५७ ॥
जातीविल्वफलैः पुष्पैर्मधुरत्रयलोलितैः ॥
नरनारीनरपतीन् होमतो वशयेद् ध्रुवम् ॥ ५८ ॥
मालतीवकुलोद्भूतैः पुष्पैश्चन्दनलोलितैः ॥
जुहुयात्कवितां मन्त्री लभते वत्सरान्तरे ॥ ५९ ॥
मधुरत्रयसंयुक्तैः फलैर्विल्वसमुद्भवैः ॥
जुहुयाद्वशयेल्लोकं श्रियमाप्नोति वाञ्छिताम् ॥ ६० ॥
पाटलैः कुमुदैः कुन्दैरुत्पलैर्नागचम्पकैः ॥
नन्द्यावर्तैर्विकसितैः कृतमालैर्जुहोति यः ॥ ६१ ॥
जायते वत्सरादर्वाक् श्रिया विजितपार्थिवः ॥
साज्यमन्नं प्रजुहुयाद्भवेदन्नसमृद्धिमान् ॥ ६२ ॥
कस्तूरीकुङ्कुमोपेतं कर्पूरं जुहुयाद्वशी ॥
कन्दर्पादधिकं सद्यः सौन्दर्यमधिगच्छति ॥ ६३ ॥
लाजान्प्रजुहुयान्मन्त्री दधिक्षीरमधुप्लुतान् ॥
विजित्य रोगानखिलान्सजीवेच्छरदां शतम् ॥ ६४ ॥
पादद्वयं मलयजं पादं कुङ्कुमकेसरम् ॥
पादं गोरोचनायाश्च तानि (त्रीणि) पिष्ट्वा हिमाम्भसा ॥ ६५ ॥
विदध्यात्तिलकं भाले यान्पश्येद्यैर्विलोक्यते ॥
यान्स्पृशेत्स्पृश्यते यैर्वा वश्याः स्युस्तस्य तेऽचिरात् ॥६६॥
कर्पूरकपिचोराणि समभागानि कल्पयेत् ॥
चतुर्भागा जटामांसी तावती रोचना मता ॥ ६७ ॥
कुङ्कुमंसप्तभागंस्याद्दिग्भागं चन्दनं मतम् ॥
अगुरुर्नवभागः स्यादिति भागक्रमेण च ॥ ६८ ॥
हिमाद्भिः कन्यया पिष्टमेतत्सर्वं सुसाधितम् ।

राजवृक्षजः । पाटलैरित्यादीनां विकसितैरिति विशेषणात् पुष्पैरिति लभ्यते ॥५४ ॥ ५१–६४॥

हिमाम्भसा–नीहारोदकेन ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

कपिः रक्तचन्दनम् । चोरं–कचूरम् । सठीति यावत् ॥ ६७ ॥

दिग्भागम् । दशभागम् ॥ ६८ ॥

कन्यया पिष्टमिति । कृष्णचतुर्दशीरात्रौ श्मशाने सम्प्रदायेन पिष्टम् । *सुसाधितमि-

आदाय तिलकं भाले कुर्याद्भूमिपतीन्नरान् ॥ ६९ ॥
वनितां मदगर्वाढ्या मदोन्मत्तमतङ्गजान् ।
सिंहव्याघ्रान्महासर्पान् भूतवेतालराक्षसान् ॥
दर्शनादेव वशयेत्तिलकं धारयन्नरः ॥ ७० ॥
मध्वाढ्यं नवयोनिषु प्रविलिखेद्बीजानि वर्णांस्त्रिशो
गायत्र्याः पुनरष्टपत्रविवरेष्वालिख्य लिप्यावृतम् ॥
भूबिम्बद्वितयेन मन्मथयुजा कोणेषु संवेष्टितं
यन्त्रं त्रैपुरमीरितं त्रिभुवनप्रक्षोभकं श्रीप्रदम् ॥ ७१ ॥
अस्मिन्यन्त्रे समावाह्य सम्यक् सम्पूज्य देवताम् ॥
होमेन कृतसम्पातं लाक्षालोहत्रयावृतम् ॥ ७२ ॥
विधृतं बाहुना यन्त्रं युद्धेषु विजयावहम् ॥
वादे वाग्विजयं कुर्यात्कवित्वं पुष्कलं दिशेत् ॥
आयुरारोग्यमित्राणि पुत्रान्पौत्रान्विवर्द्धयेत् ॥ ७३ ॥
कामं षट्कोणमध्ये लिखतु पुनरिमं षट्सु कोणेषुपश्चा-
त्पत्रेषुद्व्यष्टसंख्येष्वमुमथ पुरतो व्योमबीजेन वीतम् ॥
क्षोणीबिम्बान्तरस्थं भुजदललिखितं रोचनाकुङ्कुमाभ्यां
प्रोक्तं सौभाग्यसम्पन्निरुपमकविताकीर्तिदं यन्त्रमेतत् ॥ ७४ ।
वह्नेर्गेहयुगान्तरस्थमदने मायां लिखेद्वाग्भवम् ॥
षट्कोणेष्वथ सन्धिषु प्रविलिखेद्धुङ्कारमावेष्टयेत् ॥
स्त्रींबीजेन समीरितं त्रिभुवनप्रक्षोभकं त्रैपुरं
यन्त्रं पञ्चमनोभवात्मकमिदं सौन्दर्यसम्पत्करम् ॥ ७५ ॥

ति* । एतन्मन्त्रजप्तम् ॥ ६९ ॥ ७० ॥

यन्त्रमाह—*मध्वेति* । प्रविलिखेत्प्रादक्षिण्येन । एवं त्रिरावृत्तिर्भवति । *गायत्र्याः* त्रिपुरागायत्र्याः । *लिप्या*—मातृकया । *भूबिम्बद्वितयेन* परस्परव्यतिभिन्नेन । मन्मथबीजं भैरव्या एव ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*काममिति* । कामं भैरव्या मध्यमबीजम् । इमं—कामम् । द्व्यष्टसंख्येषु—षोडशसंख्येषु । अमुं—कामम् । व्योमबीजं—हं । भुजदलं—भूर्जपत्रम् ॥ ७४ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*वह्नेरिति* । मदने—प्रसिद्धे । वाग्भवं—प्रसिद्धम् । *सन्धिष्विति* । कोणानभितो वृत्तमध्ये । स्त्रींबीजेनेत्येकत्वं विवक्षितम् । सर्वं स्त्रींबीजमध्ये लिखेदित्यर्थः । तदुक्तं—"मनोभवस्य सकलं कुक्षौ तदेतत्क्षिपेदि"ति । *पञ्चमनोभवात्मकमिति* । पञ्चभिः कामबीजैर्यन्त्रस्योद्घृतत्वात् । *पञ्चकाममन्त्रा यथा*—"कपञ्चमं शुचिनयनान्तसंयुतं सवामदृक्पवनगुणान्वितः करः । रविस्वरो हरिहयविष्णुषष्ठवद्वनन्ततस्तिरउपरान्वितो भृगुः ॥ तेषां शिरःसु विदधीत बुधोऽर्धचन्द्रानेवं मया निगदिताः खलु पञ्चकामाः" इति ॥ कं जलं वः । तत्पञ्चमो हः । शुची रेफः । नयनान्त ईं तेन मायाबीजं । वामदृगीकारः । पवनात्सकाराद्गुणस्तृतीयो लः । तदन्वितः करः ककारस्तेन कामबीजम् । रविस्वर ऐ । हरिहरो लः विष्णुरकारस्तस्मात्षष्ठ ऊकारस्तदुक्तं वनं वकारस्तेन ब्लूं । तर स्वरूपं । उः परोयस्मात्तेन ईं । तदुक्तो भृगुः सकारस्तेन स्त्रीं । सर्वे सानुस्वाराः ॥७५॥

अधरो बिन्दुमानाद्यो ब्रह्मेन्द्रस्थः शशीयुतः ।
द्वितीयं भृगुसर्गाढ्या मनुस्तार्तीयमीरितम् ॥ ७६ ॥
एषा बालेति विख्याता त्रैलोक्यवशकारिणी ।
जपपूजादिकं सर्वमस्याः पूर्ववदाचरेत् ॥ ७७ ॥
मान्मथं त्रिपुरा देवि विद्महे पदमीरयेत् ॥
उक्त्वा कामेश्वरि पदं प्रवदेद्धीमहि ततः ॥ ७८ ॥
तदन्ते प्रवदेद्भूयस्तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयात् ॥
गायत्र्येषा समाख्याता त्रैपुरी सर्वसिद्धिदा ॥ ७९ ॥
स्तुत्यानया त्वां त्रिपुरे स्तोष्येऽभीष्टफलाप्तये ॥
यया व्रजन्तितां लक्ष्मीं मनुजाः सुरपूजिताम् ॥ ८० ॥
ब्रह्मादयस्तुतिपदैरपि सूक्ष्मरूपां
जानन्ति नैव जगदादिमनादिमूर्तिम् ।

बालाबीजस्त्रिभिरित्युद्दिष्टम्-बालामन्त्रमुद्धरति-*अधर !इति* अधरोबिन्दुमान् । ब्रह्मा ककारः । इन्द्रोलः । शशी बिन्दुः । ई स्वरूपं । तेन क्लीं । भृगुः सः । सर्गो विसर्गस्तेनाढ्यो-मनुरौ । तेन सौः इति । अन्यत्र सबिन्दुरुक्तः । तदुक्तं-*सनत्कुमारे*-"अष्टमस्य तृतीयं तु चतुर्दशसमन्वितम् । दण्डकुण्डलमेतद्धि सारस्वतमुदाहृतमि"ति । अस्या विद्यायाः शाप इति तदुद्धारो यथा—"देव्या शप्ता येन विद्येयमाद्या पूर्वं तेन प्राणहीनाऽभवत्सा । शिवशक्तिबीजमतएव शम्भुना निहितं तयोरुपरि पूर्वबीजयोः ॥ अकुलं कुलोपरि च मध्यमाधरे दहनं ततः प्रभृति सोर्जिताभवदि"ति । पूर्ववदित्युक्त्वा-त्प्रथमबीजस्य वाग्भवमिति नाम । मध्यस्य कामबीजमिति । तृतीयस्य शाक्तमिति । एतत्प्रसिध्यैव पूर्वमग्रेऽपि वाग्भवकामशब्देनोभयोर्व्यवहारे इति ज्ञेयम् । अतएवांशतः अत्रोद्धारः । ध्य-स्तान्यस्तजपध्यानादिपूर्वोक्तमत्राप्यनुसन्धेयम् । अन्त्यं सबिन्दु-बीजं, मध्यं शक्तिः । तदुक्तम्—"अमुष्य मन्त्रस्य रदान्तयुक्तं बीजं सदण्डं लकुलीशपूर्वम् । शक्तिस्तु साखण्डल-कर्णपूर्वं सहार्द्धजैवातृकमाननान्तमि"ति । अन्यैस्त्वेतन्मध्यमबीजस्य नित्यामन्त्रत्वमप्यु-क्तम् । यदाहुः—"नित्या भूत्वा जपेत्कामबीजमिष्टार्थसिद्धये । पञ्चह्रस्वाद्यबीजेन विन्यसे-न्मुखपञ्चके ॥ षड्दीर्घेण षडङ्गानि कृत्वा नित्यां निजेष्टदाम् । मदिराम्भोधिमध्यस्थरक्त-पङ्कजमध्यगाम् ॥ सुरूपां कुङ्कुमप्रख्यामाकुञ्चितशिरोरुहाम् । चतुर्भुजां महादेवीं पाशाङ्कुश-धरां शिवाम् । वामेतरकरासक्तकपालापूरितासवाम् । वामहस्तसमासक्तकपालासवदायि-नीम् ॥ आत्माभेदेन तां ध्यात्वा मन्त्रं लक्षं शनैर्जपेत् । मधूकपुष्पैर्जुहुयाद्दशांशं मन्त्रसिद्धये ॥ नित्यक्लिन्नोक्तमार्गेण पूजां कुर्यादतन्द्रितः । राजानं राजपत्नीं च वशीकर्तुं य इच्छति ॥ स तयोरः समारुह्य मनसा तन्मयो जपेत् । तन्नामसहितं कृत्वा नित्यां विद्यां जपेन्नरः । तामा-कर्षयते नित्यं वशीकुर्याच्च भूपतिम् ॥ अनया मातृकां देवीं ग्रथित्वा नियुतं जपेत् । त्रैलोक्य-मखिलं तस्य वशे तिष्ठति दासवत् । न्यस्तमन्त्राङ्गुली बध्वा क्षोभिणीं(१) नामपुष्कं(युत्क)-लाम् । शय्यागतं स्मरन्नित्यमिष्टामाकर्षकृज्जपेदि"ति ॥ ७६ ॥ ७७ ॥
गायत्रीमुद्धरति-*मान्मथमिति* । मान्मथं प्रसिद्धम् । अन्यत्स्वरूपम् ॥ ७८ ॥

---

(१) क्षोभिणी मुद्रा ॥

तस्मात्त्वयं कुचवतीं नवकुङ्कुमाभां
स्थूलां स्तुमः सकलवाङ्मयमातृभूताम् ॥ ८१ ॥
सद्यः समुद्यतसहस्रदिवाकराभां
विद्याक्षसूत्रवरदाभयचिह्नहस्ताम् ।
नेत्रोत्पलैस्त्रिभिरलंकृतपद्मवक्त्रां
त्वां तारहाररुचिरां त्रिपुरे ! भजामः ॥ ८२ ॥
सिन्दूरपुञ्जरुचिरं कुचभारनम्रं
जन्मान्तरेषु कृतपुण्यफलैकगम्यम् ।
अन्योऽन्यभेदकलहाकुलमानभेदै-
र्जानन्ति किं जडधियस्तवरूपमन्त्रम ॥ ८३ ॥
स्थूलां वदन्ति मुनयः श्रुतयो गृणन्ति ।
सूक्ष्मां वदन्ति वचसामधिवासमन्ये ॥
त्वां मूलमाहुरपरे जगतां भवानि ! ।
मन्यामहे वयमपारकृपाम्बुराशिम् ॥ ८४ ॥
चन्द्रावतंसकलितां शरदिन्दुशुभ्रां
पञ्चाशदक्षरमयीं हृदि भावयन्ति ॥
त्वां पुस्तकं जपवटीममृताढ्यकुम्भं
व्याख्यां च हस्तकमलैर्दधतीं त्रिनेत्राम् ॥ ८५ ॥
शम्भुस्त्वमद्रितनयाकलितार्द्धभागो
विष्णुस्त्वमम्ब ! कमलापरिबद्धदेहः ॥
पद्मोद्भवस्त्वमसि वागधिवासभूमि-
स्तेषां क्रियाश्च जगति त्रिपुरे त्वमेव ॥ ८६ ॥
आश्रित्य वाग्भवभवांश्चतुरः परादी-
न्भावान्परेषु विहितार्थमुदीरयन्तीम् ॥
कण्ठादिभिश्च करणैः परदेवतां त्वां
संविन्मयीं हृदि कदापि न विस्मरामि ॥ ८७ ॥

त्रिपुरास्तुतिमारभते—*स्तुत्येति* । यया स्तुत्या ॥ ८० ॥ ८१ ॥

तारउज्ज्वलो यो हारस्तेन रुचिराम् । "मुक्ताशुद्धौ च तारःस्यादित्य"मरः ॥ ८२ ॥

अन्योऽन्येति । अन्योन्यं परस्परं योभेदकलहस्तेनाकुलानि यानि मानानि प्रमाणानि तद्भेदस्तद्विशेषैः ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

वाग्भवेति । वाग्भवबीजेनाकारसाम्यात्त्रिकोणमाधारमण्डलमुच्यते तत्र भवान् तदुत्पन्नान् । तत्र यद्यपि पराया एवोत्पत्तिस्तथापि अन्यासामपि तत्स्थूलरूपत्वात्तथोक्तिः ।

यद्वा वाग्भवं कुण्डलिनी तद्भवांस्तदुत्पन्नान् । "शक्तिः कुण्डलिनीति यानिगदिता आद्यसंज्ञे"त्युक्तेः । एवं भूतांश्चतुरःपरादीन् परा–पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरीरूपान्भावान् परेषु स्थानेषु आधार–नाभि–कण्ठ–मुखेषु क्रमादाश्रित्य कण्ठादिभिः करणैर्विहितार्थमीप्सितार्थम् उदीरयन्तीम् ॥ ८७ ॥

आकुञ्च्य वायुमवजित्य च वैरिषट्क-
मालोक्य निश्चलधिया निजनासिकाग्रम् ॥
ध्यायन्ति मूर्ध्नि कलितेन्दुकलावतंसं
त्वद्रूपमम्ब! कृतिनस्तरुणार्कबिम्बम् ॥ ८८ ॥
त्वं प्राप्य मन्मथरिपोर्वपुरर्द्धभागं
सृष्टिं करोषि जगतामिति वेदवादः ॥
सत्यं तदद्रितनये ! जगदेकमात-
र्नोचेदशेषजगतः स्थितिरेव न स्यात् ॥ ८९ ॥
पूजां विधाय कुसुमैः सुरपादपानां
पीठे तवाम्ब ! कनकाचलगह्वरेषु ॥
गायन्ति सिद्धवनिताः सहकिन्नरीभि-
रास्वादितासवरसारुणनेत्रपद्माः ॥ ९० ॥
विद्युद्विलासवपुषः श्रियमुद्वहन्तीं
यान्तीं स्ववासभवनाच्छिवराजधानीम् ॥
सौषुम्णमार्गकमलानि विकाशयन्तीं
देवीं भजे हृदि परामृतसिक्तगात्रीम् ॥ ९१ ॥
आनन्दजन्मभवनं भवनं श्रुतीनां
चैतन्यमात्रतनुमम्बसमाश्रयामि ॥
ब्रह्मेशविष्णुभिरभिष्टुतपादपद्मम् ।
सौभाग्यजन्मवसतिं त्रिपुरे यथावत् ॥९२॥
शब्दार्थभावभवनं सृजतीन्दुरूपा
या तद्बिभर्ति पुनरर्कतनुः स्वशक्त्या ।
वह्न्यात्मिका हरति तत्सकलं युगान्ते
तां शारदां मनसि जातु नविस्मरामि ९३
नारायणीति नरकार्णवतारिणीति
गौरीति खेदशमनीति सरस्वतीति ॥
ज्ञानप्रदेति नयनत्रयभूषितेति ।

वायुं-प्राणापानरूपम् । *वैरिषट्कम्* । कामक्रोधलोभमोहमदमत्सररूपम् ॥ ८८ ॥
मन्मथरिपोः । पुरुषस्य ब्रह्मणोवाऽर्द्धभागं सन्निधिं, तत् सत्यं, वेदवादत्वात् । विपक्षे प्रतिकूलं तर्कमाह—*नोचेदिति* । त्वदधिष्ठानाभावादितिभावः ॥ ८९ ॥ ९० ॥
स्वावासभवनात् । मूलाधारात् । *शिवराजधानीं*-सहस्रदलकमलम् । सुषुम्णायां भवं सौषुम्णं तदेवमार्गं येषां तानि । क्वचित्सौषुम्णसद्मकमलानीति पाठः । कमलान्याधारादीनि सहस्रान्तानि ॥ ९१ ॥
आनन्दजन्मभवनं आनन्दजन्मनां श्रुतीनां भवनमिति व्यस्तं रूपकद्वयम् ॥९२॥
शब्दार्थयोर्भावः सत्ता यत्र तत् । शारं कर्म्मफलं द्यति खण्डयतीति शारदा चिच्छ-

त्वामद्रिराजतनयेति बुधा वदन्ति ॥ ९४ ॥
ये स्तुवन्ति जगन्मातः श्लोकैर्द्वादशभिः क्रमात् ।
त्वामनुप्राप्य वाक्सिद्धिं प्राप्नुयुस्ते परां गतिम् ॥ ९५ ॥
वाङ्माया कमला तारो नमोन्ते भगवत्यथ ।
श्रीमातङ्गेश्वरि ! वदेत्सर्वजनमनोहरि ! ॥ ९६ ॥
सर्वादि मुखराजन्ते सर्वादिमुखरञ्जिनि ।
सर्वराजवशं पश्चात्करि ! सर्वपदं वदेत् ॥ ९७ ॥
स्त्रीपुरुषवशं ब्रह्मानेत्रमग्न्यासनं पुनः ।
सर्वदुष्टमृगवशङ्करि ! सर्वं भृगुस्तव ॥ ९८ ॥
शङ्करिस्यात्सर्वलोकामुकं शिवयुग्रविः ।
वशमानय जायाग्नेरष्टाशीत्यक्षरो मनुः ॥ ९९ ॥
न्यासान्मन्त्री तनौ कुर्याद्द्वयमाणान्यथाक्रमम् ।
शिरो ललाटभ्रूमध्ये तालुकण्ठगलोरसि ॥ १०० ॥
अनाहते भुजद्वन्द्वे जठरे नाभिमण्डले ।
स्वाधिष्ठाने गुह्यदेशे पादयोर्दक्षिणान्ययोः ॥ १०१ ॥
मूलाधारे गुदे न्यस्येत्पदान्यष्टादश क्रमात् ।
गुणैकद्विचतुः षड्भिर्वसुषट्पर्वताष्टभिः ॥ १०२ ॥
दशपङ्क्त्यष्टवेदाग्निचन्द्रयुग्मगुणाक्षिभिः ।
पदक्लृप्तिरियं प्रोक्ता मन्त्रवर्णैर्यथाक्रमम् ॥ १०३ ॥
रत्याद्या मूलहृदयभ्रूमध्येषु विचक्षणः ।
वाक्शक्तिलक्ष्मीबीजाद्या मातङ्गयन्त्याः प्रविन्यसेत् ॥ १०४ ॥

क्तिः ॥ ९६-९४ ॥

द्वादशभिरिति । सद्य इत्यादिभिः स्मरामीत्यन्तैः । आद्यपद्यद्वयस्य मुखरूपबन्धरूपत्वाच्छेषयोरपि स्वरूपफलनिर्देशात् । अथच द्वादशभिरिति पदेन कोशभेदाद्द्युमणिमालानामकः प्रबन्धउक्तः । तल्लक्षणमुक्तं *भामहेन*—"अथ द्युमणिमाला स्यात्पद्यैर्द्वादशभिः समैः ॥ प्रत्येकं नायकोत्कर्षप्रकाशनपरायणैः ॥ सुखबंधे श्लोकयुग्मं तथाशेषे द्वयं मतम् । कृता द्युमणिमालेयं कीर्तिवृद्धिसती नृणामि"ति ॥ ९५ ॥

राजमातङ्गिनीमन्त्रमुद्धरति—*वागिति*—वाग्-वाग्भवं, माया शक्तिबीजम् । कमला-श्रीबीजं, तारःप्रणवः । नमोऽन्ते नम इत्यस्यान्ते ॥ ९६॥९७ ॥

ब्रह्मा कः । नेत्रमिकारः । अग्न्यासनं रि । भृगुः सः । तव स्वरूपम् ॥ ९८ ॥

रविर्मकारः । शिवयुगेकारः युक्तः । तेन मे । दक्षिणामूर्तिऋषिर्गायत्रीच्छन्दः माया बीजं, स्वाहा शक्तिः । कंठस्तनुमणि,गलस्तदधोभागः ॥ १०० ॥

अनाहते-*हृदये । गुह्यदेशे-लिङ्गे । *दक्षिणान्ययोरिति* सार्वत्रिकोऽपि क्रमः क्वचिद्रक्ष्य इत्यत्रोक्तः । पदविभागमाह *गुणेति* । गुणास्त्रयः । पर्वताः सप्त । पङ्क्तिर्दश । वेदाश्चत्वारः । अग्नयस्त्रयः । चन्द्र एकः । अक्षि द्वयम् ॥ रत्याद्या इत्यादिशब्देन प्रीतिमनोभवे । *विचक्षण इति* । सम्पुटितबीजाद्या इत्युक्तम् । *मातङ्गयन्ता इति* प्रत्येकम् ऐं ह्रीं श्रीं

शिरोवदनदृग्गुह्यपादेषु विधिवन्न्यसेत् ।
हृल्लेखां गगनां रक्तांभूयो मन्त्री करालिकाम् ॥ १०५ ॥
महोच्छुष्मां स्वनामादिवर्णबीजपुरःसराः ।
मातङ्गयन्ताः षडङ्गानि ततः कुर्वीत साधकः ॥ १०६ ॥
वर्णैश्चतुर्भिर्विंशत्या स्यात्त्रयोदशभिः शिरः ।
शिखाष्टादशभिः प्रोक्ता वर्म तावद्भिरक्षरैः ॥ १०७ ॥
स्यात्त्रयोदशभिर्नेत्रं द्वाभ्यामस्त्रं समीरितम् ।
विभक्तैर्मूलमन्त्रार्णैर्वर्णन्यासमथाचरेत् ॥ १०८ ॥
मूर्द्धपादास्यगुह्येषु हृदम्भोजे प्रविन्यसेत् ।
द्राविणीं शोषिणीं भूयो बन्धनीं मोहनीं पुनः ॥ १०९ ॥
आकर्षणी स्वनामादिबीजाद्याः शुभलक्षणाः ।
मातङ्गयन्तां ततोऽन्यस्येन्मन्मथान्वदनांसयोः ॥ ११० ॥
पार्श्वकट्योर्नाभिदेशे कटिपार्श्वांसके पुनः ।
बीजत्रयादिकान्मन्त्री मन्मथं मकरध्वजम् ॥ १११ ॥
मदनं पुष्पधन्वानं पञ्चमं कुसुमायुधम् ।
षष्ठं कन्दर्पनामानं मनोभवरतिप्रियौ ॥ ११२ ॥
मातङ्गयन्तांस्ततोऽन्यस्येत्स्थानेष्वेतेषु मन्त्रवित् ।
प्रथमानङ्गकुसुमा भूयोऽन्यानङ्गमेखला ॥ ११३ ॥
अनङ्गमदना तद्वदनङ्गमदनातुरा ।
अनङ्गमदनवेगाभूयश्चानङ्गसम्भवा ॥ ११५ ॥
सप्तम्यनङ्गभुवनपालिनी स्यादथाष्टमी ।
अनङ्गशशिरेखाऽन्या मातङ्गयन्ताः समीरिताः ॥ ११५ ॥
विन्यस्तव्या स्ततोमूलेऽधिष्ठाने मणिपूरके ।
हृत्कण्ठास्ये भ्रुवोर्मध्ये मस्तके मन्त्रिणा ततः ॥ ११६ ॥

रत्यै मातङ्गिन्यै नम इत्यादि प्रयोगः । एवमग्रेऽपि । *विधिवदिति* । पूर्वं पञ्चमुखेष्वपि न्यसेदित्युक्तम् ॥ १०१-१०५ ॥

स्वनामेति । स्वनाम्नां ये आदिवर्णास्तान्येव बीजानि। तत्पुरःसरास्तदाद्या इति । पूर्वोक्तबीजापवादः । मातङ्गयन्ता इत्यस्य पश्चात्तनेन सम्बन्धः । *ततःसाधकः* विभक्तैर्मूलमन्त्रार्णैः षडङ्गानि कुर्वीतेति सम्बन्धः । साधक इत्यनेन ज्ञानैश्वर्यादियोगः सुचितः ॥ १०६ ॥

विभागमाह-*वर्णैरिति ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

स्वनामेति । स्वनामादौ बोजाद्याः पूर्वोक्तद्रामादिबीजादिकाः मातङ्गयन्ता न्यसेदिति सम्बन्धः । शुभलक्षणा इत्यन्वर्थाभिधानात् इत्यर्थः । ततोमातङ्गयन्तान् मन्मथान् न्यसेदिति सम्बन्धः । *वदनांसयोरिति* । वामांसादारभ्यन्यासः ॥ ११०॥ ॥

बीजत्रयादिकानिति । मन्त्राद्यबीजत्रयाद्यान् । समीरिताएता मातङ्गयन्ताः तनौ एतेषु-पूर्वोक्तस्थानेषु न्यसेदिति सम्बन्धः ॥ १११ ॥ ११२॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११९ ॥

मूले-मूलाधारे । *अधिष्ठाने*-लिङ्गमूले । *मणिपूरके*-नाभौ । *मातङ्गीपद्शेखरा*

आद्ये लक्ष्मीसरस्वत्यौ रतिः प्रीतिश्च कृत्तिका ।
शान्तिः पुष्टिः पुनस्तुष्टिर्मातङ्गीपदशेखराः ॥ ११७ ॥
मूलमन्त्रं प्रविन्यस्येन्निजमूर्द्धनि मन्त्रवित् ।
आधारदेशेऽधिष्ठाने नाभौ पश्चादनाहते ॥ ११८ ॥
कण्ठेवक्त्रे भ्रुवोर्मध्येमस्तके विन्यसेत्क्रमात् ।
ब्राह्मयाद्याः पूर्वमुद्दिष्टा मातङ्गीपदपश्चिमाः ॥ ११९ ॥
एषु स्थानेषु विन्यस्येदसिताङ्गादिभैरवान् ।
मातङ्ग्यन्तान्यसेन्मन्त्री मूलमन्त्रं स्वमूर्द्धनि ॥ १२० ॥
आधारदेशेऽधिष्ठाने नाभौ पश्चादनाहते ।
कण्ठदेशे भ्रुवोर्मध्ये बिन्दौ भूयः कलापदे ॥ १२१ ॥
निरोधिकायामर्द्धेन्दौ नादनादान्तयोः पुनः ।
उन्मन्यादिषु वक्त्रे च ध्रुवमण्डलके शिवे ॥ १२२ ॥
मातङ्ग्यन्ताः प्रविन्यस्येद्वामां ज्येष्ठामतः परम् ।
रौद्रीं प्रशान्ति(न्तां) श्रद्धाख्यां पुनर्माहेश्वरीमथ ॥ १२३ ॥
क्रियाशक्तिं सुलक्ष्मीं च सृष्टिसंज्ञां च मोहिनीम् ।
प्रथमां श्वासिनीं विद्युल्लतां चिच्छक्तिमप्यथ ॥ १२४ ॥
ततश्च सुन्दरानन्दानन्दबुद्धिमिमाः क्रमात् ।
शिरोभालहृदाधारेष्वेता बीजत्रयादिकाः ॥ १२५ ॥
मातङ्ग्यन्ताः प्रविन्यस्येद्यथावद्देशिकोत्तमः ।
मातङ्गीं महदाद्यान्तां महालक्ष्मीपदादिकाम् ॥ १२६ ॥
सिद्धलक्ष्मीपदाद्यान्तां मूलमाधारमण्डले
न्यस्येत्तेनैव कुर्वीत व्यापकं देशिकोत्तमः ।
एवंन्यस्तशरीरोऽसौ चिन्तयेदात्मदेवताम् ॥ १२७ ॥

मातङ्ग्यन्ता एता मन्त्रिणा तनौ विन्यस्तव्या इति सम्बन्धः ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

पूर्वमिति षष्ठे । *मातङ्गीति* । मातङ्गीपदं पश्चिममन्तिमं यासां ताः ॥ ११९ ॥

एषु पूर्वोक्तस्थानेषु । मातङ्ग्यन्तानसिताङ्गादिभैरवान्नवमोक्तान्विन्यसेदिति सम्बन्धः ॥ १२० ॥ई॥

भ्रुवोर्मध्य इत्यारभ्य शिवान्तमूर्ध्वादिस्थानानि ज्ञातव्यानि । मातङ्ग्यन्ता इमाःप्रविन्यसेदिति सम्बन्धः ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

क्रियाशक्तिमि त्येका । सृष्टिसंज्ञामित्येका । सुन्दरानन्दामित्येका । *एता* वक्ष्यमाणाः ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

यथावद्देशिकोत्तम इति । अनेन "बीजत्रयादिकान्मन्त्री"-त्यादौ "एता बीजत्रयादिका" इत्यन्ते मध्ये च मन्त्रविन् मन्त्रिणा मन्त्रविन् मन्त्रीति चोक्तत्वान्मध्ये या देवतास्तासामपि बीजत्रयादित्वं ज्ञेयमित्युक्तम् ॥ आदिशब्दार्थमाह-*मातङ्गीमिति*। महदाद्यान्तां महामातङ्गीम् ॥ १२६ ॥ई॥

तेनैवेति मूलेन ॥ १२७ ॥

ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं शृण्वतीं श्यामलाङ्गीम्।
न्यस्तैकाङ्घ्रिं सरोजे शशिशकलधराम्वल्लकीं वादयन्तीम्॥
कल्हारावद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्राम्।
मातङ्गीं शङ्खपत्त्रां मधुमदविवशां चित्रकोद्भासिभालाम्॥ १२८॥
अयुतं प्रजपेन्मन्त्री तद्दशांशं मधूकजैः।
पुष्पैस्त्रिमधुरोपेतैर्जुहुयान्मन्त्रसिद्धये॥ १२९॥
त्रिकोणकर्णिकं पद्ममष्टमन्त्रं प्रकल्पयेत्।
अष्टपत्रावृतं बाह्ये वृतं षोडशभिर्दलैः॥ १३०॥
चतुरस्रसमायुक्तं कान्त्या दृष्टिमनोहरम्।
एतस्मिन्पूजयेत्पीठे नव शक्तीः क्रमादिमाः॥ १३१॥
विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिश्च सन्नतिः।
व्युष्टिरुत्कृष्टिर्ऋद्धिश्च मातङ्गी पदपश्चिमाः॥ १३२॥
सर्वान्ते शक्तिकमलासनायनम इत्यथ।
वाक्शक्तिलक्ष्मीवीजाद्योमनुरासनसंज्ञकः॥ १३३॥
मूलेन मूर्त्तिं सङ्कल्प्य तस्यामावाह्य देवताम्।
अर्चयेद्विधिनानेन वक्ष्यमाणेन मन्त्रवित्॥ १३४॥
रत्याद्यास्त्रिषु कोणेषु पूजयेत्पूर्ववत्सुधीः।
हृल्लेखाद्याः पञ्च पूज्या मध्ये दिक्षु च मन्त्रिणा॥ १३५॥
पाशाङ्कुशाभयाभीष्टधारिण्यो भूतसप्रभाः।
अङ्गानि पूजयेत्पश्चाद्यथापूर्वं विधानवित्॥ १३६॥
वाणानभ्यर्चयेद्दिक्षु पञ्चमं पुरतो यजेत्।
दलमध्येषु सम्पूज्या अनङ्गकुसुमादयः॥ १३७॥
पाशाङ्कुशाभयाभीष्टधारिण्योऽरुणविग्रहाः।
पत्राग्रेषु पुनः पूज्या लक्ष्म्याद्या वल्लकीकराः॥ १३८॥
बहिरष्टदलेष्वर्च्या मन्मथाद्या मदोद्धताः।
अपाङ्गा निषङ्गाढ्याः पुष्पास्त्रेक्षुधनुर्द्धराः॥ १३९॥

ध्यायेयमिति। चूलिका-केशबन्धः। शङ्खपत्रं-शङ्खताटङ्कम्। चित्रकं-तिलकम्। तथा च *त्रिकाण्ड्याम्*—"तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकमि"ति। अत्र ध्यानानन्तरं वीणा-योनिमुद्रे दर्शयेत्॥ १२८॥

त्रिकोणकर्णिकमिति। योनिकर्णिकम्॥ १३०॥ १३१॥ १३२॥ १३३॥ १३४॥

पूर्ववदिति। यथान्यस्ता वामकोणादि। एवमग्रेऽपि यथान्यासमेव पूज्या सा१३५।३॥

यथापूर्वमिति। तुर्य्योक्तस्थानेषु। *विधानविदिति*। कर्णिकायाम्॥ १३६॥

दिक्ष्विति दिक्केसरेषु॥ १३७॥ ३॥

पुन रन्तरम् *वल्लकी*-वीणा॥ १३८॥

बहिरष्टदलेषु-दलमूलेषु। अपाङ्गे—पृष्ठभागे। निषङ्गस्तूणीरस्तेनाढ्याः।

पत्रस्था मातरः पूज्या ब्राह्मयाद्याः प्रोक्तलक्षणाः ।
तदग्रेष्वर्चयेद्विद्वानसिताङ्गादिभैरवान् ॥ १४० ॥
पुनः षोडशपत्रेषु पूज्याः षोडश शक्तयः ।
वामाद्याः कलवीणाभिर्गायन्त्यः श्यामविग्रहाः ॥ १४१ ॥
चतुरस्रं चतुर्दिक्षु चतस्रः पूजयेत्पुनः ।
मातङ्ग्याद्या मदोन्मत्ता वीणाललितपाणयः ॥ १४२ ॥
आग्नेयकोणे विघ्नेशं दुर्गान्नैशाचरे यजेत् ।
वायव्ये वटुकं पश्चादैशान्ये क्षेत्रपं यजेत् ॥ १४३ ॥
लोकपाला बहिः पूज्या वज्राद्यैरायुधैः सह ।
मन्त्रेऽस्मिन्साधिते मन्त्री साधयेदिष्टमात्मनः ॥ १४४ ॥
मल्लिकाजातिपुन्नागैर्होमाद्भोगालयो भवेत् ॥
फलैर्बिल्वसमुद्भूतैस्तत्पत्रैर्वा हुताद्भवेत् ॥ १४५ ॥
राजपुत्रस्य राज्याप्तिः पङ्कजैः श्रियमाप्नुयात् ।
उत्पलैर्वशयेद्विश्वं लक्ष्मीपुष्पैस्तथानरः ॥ १४६ ॥
बन्धूकपुष्पैर्वकुलैर्जयोत्थैः किंशुकोद्भवैः ।
वश्याय जुहुयान्मन्त्री मधुना सर्वसिद्धये ॥ १४७ ॥
लवणैर्मधुरोपेतैर्हुत्वा कर्षति सुन्दरीम् ।
वञ्जुलस्य समिद्धोमो वृष्टिं वितनुतेऽचिरात् ॥ १४८ ॥
क्षीराक्तैरमृताखण्डैर्होमो नाशयति ज्वरम् ।
दूर्वाभिरायुराप्नोति कदम्बैर्वश्यमाप्नुयात् ॥ १४९ ॥
अन्नवानन्नहोमेन तण्डुलैर्धनवान्भवेत् ।
सर्वं त्रिमधुरोपेतं होमद्रव्यमुदाहृतम् ॥ १५० ॥
नन्द्यावर्त्तभवैः पुष्पैर्होमोवाक्सिद्धिदायकः ।
निम्बप्रसूनैर्जुहुयादीप्सितां श्रियमश्नुते ॥ १५१ ॥
पलाशकुसुमैर्होमात्तेजस्वी जायते नरः ।
चन्दनागुरुकर्पूररोचनाकुङ्कुमादिभिः ॥ १५२ ॥
वश्याय जुहुयान्मन्त्री वशयेदखिलं जगत् ।

पुष्पाश्चेति-पुष्पास्त्रं-पुष्पबाणाः । प्रोक्तलक्षणाः । षष्ठपटलोक्तध्यानाः ॥१३९॥१४०॥१४१॥१४२॥

आग्नेयकोण इति । इयं पूजा सर्वशक्तिमन्त्रसाधारणीति ज्ञेयम् । अत एव सर्वशक्तिमन्त्राणामन्ते उक्ता ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

मल्लिकेति—त्रितये पुष्पैरिति ज्ञेयं, फलैरित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १४५ ॥

बन्धूकपुष्पैरिति । पुष्पपदोपादानात् बकुलादित्रयमपि पुष्पम् । कदम्बैरित्यपि पुष्पः ॥ १४६ ॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ ३ ॥

सर्वमिति । अन्यगुणानवरुद्धं पूर्वोक्तमग्रिमं च ॥ १५० ॥ १५१ ३ ॥

चन्दनेति । शक्तिगन्धाष्टकं, तेन आदिशब्देन जटामांसीकचूररक्तचन्दनानि ॥१५२ ॥

वशयेदिति । अष्टद्रव्यहोमसमुदायफलम् । *एतानीति* । कर्पूरकपिचोराणि समभा-

एतानि जप्त्वा तिलकं कुर्याल्लोकप्रियो भवेत् ॥ १५३ ॥
निर्गुण्डीमूलहोमेन निगडान्मुच्यते नरः।
निम्बतैलान्वितै(१)र्लोणैर्होमः शत्रुविनाशनः ॥ १५४ ॥
हरिद्राचूर्णसंमिश्रैर्लवणैः स्तम्भयेत्परान्
स्रग्वद्भिः फलैःपक्वैः पुष्पैःपरिमलान्वितैः।
हुत्वा सम्यगवाप्नोति साधकः सर्वमीप्सितम् ॥ १५५ ॥
देवतां जगतामाद्यां मातङ्गीमिष्टदायिनीम्।
अवाप्तुमिष्टां (२)तां वाचं भूषयेद्रत्नमालया ॥ १५६ ॥
आराध्य मातश्चरणाम्बुजं ते ब्रह्मादयो विश्रुतकीर्तिमापुः।
अन्ये परं वाग्विभवं मुनीन्द्राः परां श्रियं भक्तिभरेण चान्ये ॥१५७॥
नमामि देवीं नवचन्द्रमौलेर्मातङ्गिनीं चन्द्रकलावतंसाम्।
आम्नायवाग्भिः प्रतिपादितार्थं प्रबोधयन्तीं शुकमादरेण ॥ १५८ ॥
विनम्रदेवासुरमौलिरत्नैर्नीराजितं ते चरणारविन्दम्।
भजन्ति ये देवि ! महीपतीनां व्रजन्ति ते सम्पदमादरेण ॥१५९॥
मातङ्गिलीलागमने भवत्याः सिञ्जानमञ्जीरमिषाद्भजन्ते।
मातस्त्वदीयं चरणारविन्दमकृत्रिमाणां वचसां निगुम्फाः ॥१६०॥
पदात्पदं सिञ्जितनूपुराभ्यां कृतार्थयन्ती पदवीं पदाभ्याम्।
आस्फालयन्ती कलवल्लकीं तां मातङ्गिनी मद्धृदयं धिनोतु॥१६१॥

णानीति। पूर्वमन्त्रप्रयोगोक्तभागकलसानीत्यर्थः। *तिलकमिति*। कन्यया हिमोदकेन कृष्णचतुर्दश्यां निशि पिष्टेनैतन्मन्त्रजप्तेन कृतम् ॥ १९३ ॥ २ ॥

निम्बतैलान्वितैरिति। तत्तैलाकृष्टिप्रकारो यथा—"बीजानि जलपिष्टानि कांस्यपात्रे खरातपे। स्थापयेत्तस्य तत्तैलं निःसरत्येव नान्यथे"ति *परान्* शत्रून् ॥ १९४ ॥ १९९ ॥

मातङ्ग्याः स्तुतिमारभते—*देवतामिति* रत्नमालेति प्रबन्धनाम। तद्योगात्स्तुतिनापि। तल्लक्षणमुक्तं *भामहेन*—नेतृप्रसिद्धनामाङ्कश्लोकयुग्मं शुभावहम्। कुर्यादाद्यन्तयोस्तस्य शिखाबन्धं समाधिना ॥ सुभङ्गिः शोभना सा स्यात् रत्नमाला नवाधिका। मालायां नवरत्नादौ रचितायामिति क्रमात्॥ भवन्त्येकादश श्लोकाःपण्डितप्रमदाकरा" इति ॥ १९६ ॥ १९७ ॥

नवचन्द्रमौलेर्देवीं पट्टराज्ञीमिति सम्बन्धः ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

अकृत्रिमाणां वचसां निगुम्फा वेदाः। पदात्पदमिति। पदेपदे इत्यर्थः। *कृतार्थयन्ती*—

---

(१) लोणैरिति। लवणैरित्यर्थः "लवणं लोणमुच्यते" इति प्राकृतमञ्जर्यामुक्तः। अत्र "सनिम्बतैलैर्लवणैरि"तिलिखितपुरातनपुस्तकधृतः पाठः साधीयान्प्रतिभाति। लोणशब्दस्य प्राकृतभाषायामेव प्रयोगदर्शनात्।

(२) अत्र "अवाप्तुमिच्छता वाचम्" इत्यपपाठः। भूषयेदिति क्रियान्वयविरोधात्।

नीलांशुकाबद्धनितम्बबिम्बां तालीदलेनार्पितकर्णभूषाम् ।
माध्वीमदाघूर्णितनेत्रपद्मां घनस्तनीं शम्भुवधूं नमामि ॥ १६२ ॥
तडिल्लताकान्तमनर्घ्यभूषं चिरेण लक्ष्यं नवलोमराज्या ।
स्मरामि भक्त्या जगतामधीशं वलित्रयाङ्कं तव मध्यबिम्बम् ॥१६३॥
नीलोत्पलानां श्रियमावहन्ती कान्त्या कटाक्षैः कमलाकराणाम् ।
कदम्बमालाञ्चितकेशपाशां मातङ्गकन्यां हृदि भावयामः ॥१६४॥
ध्यायेयमारक्तकपोलकान्तं बिम्बाधरन्यस्तललामरम्यम् ।
आलोलनीलालकमायताक्षं मन्दस्मितं वै वदनं महेशि! ॥ १६५ ॥
स्तुत्यानया शङ्करधर्मपत्नीं मातङ्गिनीं वागधिदेवतां ताम् ।
स्तुवन्ति ये भक्तियुता मनुष्याः परां श्रियं नित्यमुपाश्रयन्ति ॥१६६॥
इति श्रीशारदातिलके द्वादशः पटलः ॥ १२ ॥ * ॥

अथ वक्ष्ये गणपतेर्मन्त्रान्सर्वार्थसिद्धिदान् ।
याँल्लँब्ध्वा मानवा नित्यं साधयन्ति मनोरथान ॥ १ ॥
पञ्चान्तकं शशिधरं बीजं गणपतेर्विदुः ।
गणकः स्यान्मुनिश्छन्दोनिचिद्विघ्नोऽस्य देवता ।

"स्वगमनेने"ति शेषः । *धिनोतु*-प्रीणयतु ॥ १६० ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

(कदा(१)चिल्लक्ष्यं कदाचिदलक्ष्यमिति *तडिल्लताकान्तम्* । *अनर्घ्यभूषं* निश्चितस्य वपुषा करणात् । इत्थञ्चेत् शरीरस्थितिः कथमित्याह चिरेणेति । लक्ष्यमनुमेयं, न प्रत्यक्षरूपमिति भावः) ॥ १६३ ॥

कान्त्या । देहकान्त्या । नीलोत्पलानां श्रियमाहरन्ती कटाक्षैः कमलाकराणां श्रियमाहरन्तीति सम्बन्धः । *मातङ्गकन्यामिति* । मातङ्गपुत्रीरूपामित्यर्थः ॥ १६४ ॥

बिम्बाधर एव न्यस्तं ललाम भूषाविशेषस्तेन रम्यम् ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां द्वादश. पटलः ॥ १२ ॥

"मुख्ये पुष्पाञ्जलिं कृत्वा गणेशाद्यर्चनं भवेदि"त्युक्तेः शक्तिमन्त्रानुरक्ता क्रमप्राप्तान् गणपतिमन्त्रान् वक्तुमुपक्रमते *अथेति* । *सर्वार्थसिद्धिदानिति* । विनियोगोक्तिः ॥ १ ॥

गणपतिबीजमुद्धरति *पञ्चान्तकमिति* । पञ्चान्तकोगकारः । शशीबिन्दुस्तस्य धरम्त युतम् । अथ च शशी विसर्गस्तद्युतम् "सर्गः शक्तिर्निशाकर" इत्युक्ते । गोपनायैवमुद्धारः । इदं द्वयं उत्तरगार्ग्योक्तं, पूजाप्रयोगादिकमुभयोः समानम् । के चन औकारयुतमाहुः । तदुक्तं "कतृतीयं तथैव चे"ग त । *नारायणीये तु*—"खान्तं सान्तविषं सबिन्दुसकलं बिन्दौ युतं केवलं पञ्चैतानि पृथक् फलं विदधते बीजानि विघ्नेशितुरि"ति । *आचार्यैस्तु*—प्रगवादिस्वरूपतः "चतुरीयोविलोमेन तारादिर्बिन्दुसंयुतः । वैघ्नोमन्त्रोहृदन्तोऽर्चाविधौ द्वीमे द्विता-

---

(१) अयङ्कुण्डलितः पाठोऽन्यत्र नोपलभ्यते मध्ये त्रुटितश्च प्रतिभाति । तथाचाय-मपुस्तकान्तरेऽपि मृग्यः ।

षड्दीर्घभाजा बीजेन कुर्यादङ्गक्रियां मनोः ॥ २ ॥
सिन्दूराभं त्रिनेत्रं पृथुतरजठरं हस्तपद्मैर्दधानम् ।
दन्तं पाशाङ्कुशेष्टान्युरुकरविलसद्बीजपूराभिरामम् ॥ ३ ॥
बालेन्दुद्योतिमौलिं करिपतिवदनं दानपूरार्द्रगण्डं
भोगीन्द्राबद्धभूषं भजत गणपतिं रक्तवस्त्राङ्गरागम् ॥ ४ ॥
वेदलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयात्ततः ।
मोदकैः पृथुकैर्लाजैः सक्तुभिश्चेक्षुपर्वभिः ॥ ५ ॥
नारिकेरैस्तिलैःशुद्धैः सुपक्वैः कदलीफलैः ।

न्तकः ॥ गणकः स्यादृषिश्छन्दो निचृद्विघ्नोऽस्य देवता । बीजेन दीर्घयुक्तेन दण्डिनाङ्गक्रिया-मतेर्गति ॥ मकारोबीजं, बिन्दुः शक्तिः । अन्यत्र सर्गः शक्तिः ॥ २ ॥

षडङ्गमाह—*षडिति* । *प्रयोगसारे* पञ्चाङ्गमप्युक्तम् । आदौ गणं जयायेरका स्वाहा हृदयमुच्यते । एकदंष्ट्राय संभाष्य हुंफड्विद्याच्छिरस्ततः ॥ शिखाप्यचलशब्दादिकर्णि-ने(के)त्यन्ततोनमः । कवचं गजवक्त्राय नमोनम इतीरितम् ॥ महोदराय चण्डाय हुंफडित्यस्त्र-मिष्यते । एतान्यङ्गानिविन्यस्येत्पञ्चोक्तानि मनीषिभिः । सप्रांशुना वा बीजेन षडङ्गान्यपियो-जपेत्" इति । आयुधध्यानं तु ऊर्ध्वस्थवामदक्षयोरङ्कुशपाशौ । अधःस्थयोःस्वदन्तवरदे । सर्वो ऽपिगणपतिरेकदन्तोध्येयः । सदन्तो दक्षिणपार्श्वे । द्वितीयस्य ध्यानं यथा-"ध्यायेतत्त्वैक्येन देवं बृहदुदरतनुं तं चतुर्बाहुमेकदन्तं पाशाङ्कुशाढ्यं गजमुखमरुणं दन्तभक्ष्ये दधानमि"ति । पुष्करं च दक्षहस्तस्थितभक्ष्योपरि । औकारयुक्तबीजे तु ध्यानम्-"रक्ताक्षमालापरशुं च दन्तं भक्ष्यं च दोर्भिः परितो दधानम् । हेमप्रभं च त्रिदशांगजास्यं लम्बोदरं त्वेकरदं नमामि" इति ॥ अत्रापि पुष्करं पूर्ववज्ज्ञेयम् । इदमेव मायाबीजाद्यं यदा तदा ध्यानम् । "अमृताम्भोधिमध्ये तु वारिजे कुङ्कुमप्रभे । ऋतुसंख्यदलोपेते चिन्तयेद्गणनायकम् ॥ पाशाङ्कुशधरं देवं जपाकुसु-मसन्निभम् । वामपार्श्वगतां देवीमालिङ्गन्तं सुलोचनम् ॥ सुवर्णचषकं शुभ्रं मधुनापूरितं सदा । पिबन्तीं वामहस्तेन योगिनीं मदमोहिताम् ॥ रक्तवर्णो महादेवीमालिङ्गतीं सुमध्य-माम् । बाहुनैकेन विघ्नेशं मत्तं रक्तविलोचनम् ॥ तद्रूपांश्चिन्तयेद्विद्वान् गणान् पूर्वादितः क्रमा-दि"ति । अत्र ध्यानानन्तरमियं मुद्रा प्रदर्शनीया । "मुखात्प्रलम्बितं हस्तं कृत्वा सङ्कुचिता-ङ्गुलिम् । मध्यातर्जनिर्गताग्रा ङ्गुष्ठं चाधःस्थमध्यमम् ॥ कुर्यान् मुद्रा गणेशस्य प्रोक्तेयं सर्वसि-द्धिदे"ति । यद्वा । "कुञ्चिताग्रस्य हस्तस्य मूले नासानियोगतः । गणेश्वरी भवेन्मुद्रे"ति । इत्थं सर्वगणपतिमन्त्रसाधारणीति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

वेदलक्षं—चतुर्लक्षम् । *दशांशमिति* । तत्र होमोऽष्टभिर्द्रव्यैर्वक्ष्यमाणैः । अर्द्धमर्द्धम-युतमेकैकेन द्रव्येण होतव्यं, केचित्तु अष्टद्रव्यमेलनमाहुः । तन्न आहुतिप्रमाणसन्देहापाता-त् । मूले च प्रत्येकं पृथक् क्रियान्वयाच्च । विशिष्टस्य द्रव्यान्तरत्वेनाष्टद्रव्यहोमकरणासम्भ-वाच्च । तदुक्तं *भट्टाचार्यैः*—"नैव व्रीहिभिरिष्टं स्याद्यवैर्न च यथाश्रुतम् । मिश्रैरिज्येत चेदि"ति । तथा "मिश्राणां विध्यदर्शनादिति" च । नन्वेवं त्रिमधुरमेलनमपि न कार्यमिति । चेत् । नैवं । "सर्वं त्रिमधुरोपेतं होमद्रव्यमुदाहृतमि"ति वचनात्तन्मेलनस्य पशुपुरोडाशा-वदानानामुपस्तारप्रत्युपस्ताराज्यमेलनवदविरोधात् तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्याम्*— "अष्टद्रव्यैस्त्रिमध्वक्तैर्जुहुयाच्च पृथक् पृथगि"ति । *पृथुकैः* चिपिटकैः ॥ ६ ॥

*शुद्धैरि*ति अनेनावकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्य शोषितैरित्युक्तम् । एषु मन्त्रेषु गाय-त्र्या प्रोक्षणादिकं कुर्यात् । गायत्री यथा-"एकदंष्ट्राय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्नो

अष्टद्रव्याणि विघ्नस्य कथितानि मनीषिभिः ॥ ६ ॥
तीव्रादिशक्तिभिर्युक्ते पीठे विघ्नेश्वरं यजेत् ।
तीव्राख्या ज्वालिनी नन्दा भोगदा कामरूपिणी ॥ ७ ॥
उग्रा तेजोवती सत्या नवमी विघ्ननाशिनी ।
सर्वादिशक्तिकमलासनाय हृदयावधिः ॥ ८ ॥
पीठमन्त्रोऽयमेतेन प्रदद्यादासनं विभोः ।
मूलेन मूर्त्तिं सङ्कल्प्य तस्यां विघ्नेश्वरं यजेत् ॥ ९ ॥
कर्णिकायां चतुर्दिक्षु प्रथमं पूजयेदिमान् ।
गणाधिपं गणेशानं तृतीयं गणनायकम् ॥ १० ॥
गणक्रीडं पीतगौररक्तनीलरुचः क्रमात् ।
सर्वान्नागेन्द्रभूषाढ्यान्मदयलक्षितपुष्करान् ॥ ११ ॥
यथापूर्वं ततोऽभ्यर्चेत्केसरेष्वङ्गदेवताः ।
पत्रमध्येषु विधिवद्वक्रतुण्डादिकान्यजेत् ॥ १२ ॥
वक्रतुण्डमेकदंष्ट्रमहोदरगजाननौ ।
लम्बोदराख्यं विकटं विघ्नराजमनन्तरम् ॥ १३ ॥
धूम्रवर्णं दलाग्रेषु ब्राह्म्याद्याः पूजयेत्ततः ।
लोकपालांस्तदस्त्राणि देवमित्थं समर्चयेत् ॥ १४ ॥
सिद्धमन्त्रः प्रकुर्वीत प्रयोगान्कल्पचोदितान् ।
तर्पयेत्सलिलैः शुद्धैर्दिनशो गणनायकम् ॥ १५ ॥
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं चतुः शतमतन्द्रितः ।
प्राप्नुयात् मण्डलादर्वागभीष्टमधिकं नरः ॥ १६ ॥

विघ्नः प्रचोदयाद्” इति ॥ ६ ॥

तीव्रेति । आसां ध्यानं यथा—“पाशाङ्कुशाञ्जलिकरा नवकुङ्कुमसन्निभाः ॥ तीव्राद्याः पूजनीयाः स्युः शक्तयो मणिभूषणा” इति ॥ ७ ॥ ८ ॥

विभोरिति । पीठमन्त्रादौ स्वबीजाद्यमुक्तम् ॥ ९ ॥

प्रथमं पूजयेदिति । अत्र प्रथममित्यङ्गावृत्त्यपेक्षया प्राथम्यं, यतश्चतुर्थपटले “अङ्गादिलोकपालान्तं पूजयेद्” इति सामान्यत उक्तम् । तदपवादायात्र प्रथममित्युक्तिः । तद्व्याख्यानावसरे अत एव मयोक्तं “ग्रन्थकृता इदं वचनं सम्भवाभिप्रायेणोक्तमि” ति ॥ १० ॥ ११ ॥

यथापूर्वं—चतुर्थोक्तरीत्या । *विधिवदि*ति । गणपतिबीजादि ॥ १२ ॥ १३ ॥

इत्थं समर्चयेदिति । मन्त्रत्रयस्य पूजा समानैव । *तदुक्तमीशानशिवेन*—“पञ्चान्तकं बिन्दुयुतं सनादं बीजं गणेशस्य वदन्त्यथान्ये । औकारबिन्द्वन्तमुदीरयन्ति तुल्यस्तयोः स्याद्विधिरेष उक्त” इति । मायाबीजादौ तु षड्दले आमोदादीन्पूजयेदितिविशेषः । तर्पणप्रयोगाश्च सर्वमन्त्राणां साधारणा एव । तर्पणे तु सर्वेषामयंविशेषः । “क्रीडन् हेममहोदयाद्रिशिखरे स्थित्वाऽवतीर्णः क्षुधा सोपानेषु समेत्य रुक्मकलितेष्वब्जादिभैक्ष्यं बहु । भुक्त्वा प्रीतमना यथा पुरमसौ सम्पूजितो विघ्नराट् कुर्यादित्युषसि स्मृतः स सकलान्कामांस्तथा तर्पित इति ॥ १४ ॥

नारिकेलैः कृतोहोमश्चतुर्थ्यां श्रीप्रदो भवेत् ।
शुक्लपक्षप्रतिपदमारभ्यदिनशः सुधीः ॥ १७ ॥
चतुर्थ्यन्तं नारिकेलसक्तुलाजतिलैः क्रमात् ।
चतुः शतं प्रजुहुयाद्वश्याः स्युःसर्वजन्तवः ॥ १८ ॥
सतिलैस्तण्डुलैर्होमो लक्ष्मीवश्यप्रदो भवेत् ।
लाजैस्त्रिमधुरोपेतैर्होमः कन्यां प्रयच्छति ॥ १९ ॥
अनेन विधिना कन्या वरमाप्नोति वाञ्छितम् ।
आज्याक्तहविषा होमः साधयेदीप्सितं नृणाम् ॥ २० ॥
दध्ना विलोलि(१)तैलोणैर्होमो निशि चतुर्दिनम् ।
संवादं कुरुते तद्वश्यं वितनुते सदा ॥ २१ ॥
श्वेतार्कभवमूलेन रक्तचन्दनदारुणा ।
इभभग्नेन निम्बेन दन्तिदन्तेन वा कृतम् ॥ २२ ॥
विघ्नेश्वरं समभ्यर्च्य शीतांशुग्रहणे जपेत् ।
स्पृष्ट्वा मन्त्री निराहारस्तं शिखायां समुद्वहन् ॥ २३ ॥
युद्धेषु व्यवहारादौ विजयश्रियमाप्नुयात् ।
मन्त्रेणानेन संजप्ता रोचना मदसंयुता ॥ २४ ॥
तिलकक्रियया सर्वान्वशं नयति मानवान् ।
अनुलोमविलोमस्थबीजे नाम समालिखेत् ॥ २५ ॥
नवनीते समभ्यर्च्य स्पृष्ट्वा प्राणमनुजपेत् ।

तर्पयेदिति । गं गणेशं तर्पयामीति प्रयोगः ॥ १५–१७ ॥

क्रमाच्चतुःशतमिति । प्रतितिथि द्रव्यचतुष्टयेन तावान् होमः । *वश्या इति* । तत्र विशेषः *प्रयोगसारनारायणीययोः*–"साध्यं पाशाङ्कुशाभ्यामिह विधिवदुपानीय तस्योपरिस्थो वश्याकाङ्क्षी जपेत्तं सपदि विधिरयं हन्ति रुष्टस्य रोषमि"ति ॥ १८ ॥

सतिलैरिति । अत्रापि शुक्लप्रतिपदमारभ्य चतुर्थ्यन्तं चतुःशतं होमः । *लाजैरिति* । अत्रापि शुक्लप्रतिपदमारभ्य चतुर्थ्यन्तं चतुःशतहोमः । तमेव प्रतिपदमारभ्य सप्तमीपर्यन्तमिति विशेषः । तदुक्तम् "मधुरत्रयसिक्ताभिर्लाजाभिः सप्तवासरमि"ति ॥ १९ ॥

अनेन विधिनेति । एतादृशेषु स्त्रीणामप्यधिकार इति सूचितम् ॥ २० ॥

चतुर्दिनमिति । प्रतिपदमारभ्य चतुर्थीपर्यन्तम् । *संवादः* संव्रन(द)नम् ॥२१॥२२॥

जपेदिति । ग्रहणादिमोक्षान्तम् ॥ २३ ॥

मदो–गजमदः ॥ २४ ॥

अनुलोमेनेति । बीजयोर्मध्ये साधककर्मनामानि नवनीते लिखेत् । अनुलोमविलोमेस्थनेन बीजयोः पुटितत्वमात्रमुक्तम् ॥ २५ ॥

नवनीत इति । नूतने । बीजवेष्टितमित्यपि ज्ञेयम् । तदुक्त*माचार्यैः*–नवनीतेन वै उदरस्थितसाध्याख्यं तद्बीजं तत्प्रवेष्टितमि"ति । नवनीत इत्युपलेख्यादनुलोमविलोमगम् । लक्षणमपूपादेरपि । "कार्योऽयं विधिरपूपे चे"ति नारायणीये उक्तेः । *समभ्यर्च्येति* । सं-

(१) विलोवणैरितियुक्तः पाठः पुस्तकान्तरे ॥

अष्टोत्तरशतं भूयो मूलमन्त्रं प्रजप्य तत् ॥ २६ ॥
भक्षयेन्मौनमास्थाय यामिन्यां सप्तवासरम् ।
स वश्यो जायते शीघ्रं साधकस्य न संशयः ॥ २७ ॥
श्रीशक्तिस्मरभूविघ्नबीजानि प्रथमं वदेत् ।
ङेन्तं गणपतिं पश्चाद्वरान्ते वरदं पठेत् ॥ २८ ॥
उक्त्वा सर्वजनमन्ते वशमानय ठद्वयम् ।
अष्टाविंशत्यक्षरोऽयं ताराद्योमनुरीरितः ॥ २९ ॥
गणकः स्यादृषिश्छन्दो गायत्री निचृदन्विता ।
महागणपतिः प्रोक्तो देवता देववन्दिता ॥ ३० ॥

व्यगणेशौ भूयोऽनन्तरमष्टोत्तरशतमिति मूलमन्त्रं प्रजप्येत्यत्रान्वेति । तन्नवनीतं भक्षयेदिति सम्बन्धः । *सप्तवासरमिति* । प्रतिपदादिसप्तमीपर्यन्तमित्यर्थः । *तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रत्रयमुच्यते*—"अष्टारं पद्ममालिख्य कर्णिकोपरि तस्य च । गौरीं बिन्दुसमायुक्तां नाम्ना सार्द्धं समालिखेत् ॥ प्रागादिदलमूलेषु मूर्त्तिबीजान्यथालिखेत् । कोणपत्रेषु चाग्नीशनिर्ऋत्यनिलसौम्यतः ॥ क्रमादङ्गाद्यवर्णांश्च ततः पत्राग्रकेषु च । मातृशक्त्यादिवर्णांश्च ततः पद्मस्य बाह्यतः ॥ स्वदिक्षु लोकपालानामाद्यर्णानि समालिखेत् । बहिः षोडशपत्राढ्यतत्पत्रेषु स्वरांल्लिखेत् ॥ शिष्टमातृकयाऽऽवेष्ट्य पाशेनैवाङ्कुशेन च । तस्मिन्नावाह्य देवेशं विघ्नं यन्त्रे समर्चयेत् ॥ क्षौमादिसूत्रे सम्बध्य गले यो मूर्द्धनि धारयेत् । तस्य हस्तगता लक्ष्मीर्वाणी जिह्वागता सदा ॥ मेधा मनोगता कीर्त्तिर्वर्द्धमाना सदा दिशी"ति । पद्ममिति । अष्टारमष्टदलम् ॥ *कर्णिकोपरि*—कर्णिकामध्ये । गौरी—गकारः । मूर्त्तिबीजानीति । क्षिप्रप्रसादनोत्काष्टमूर्त्याद्यक्षराणि । अङ्गेति । पञ्चाङ्गपक्षे पञ्चमं सौम्ये । मातर एव शक्तयस्तन्नामादिवर्णान् । स्वदिक्ष्विति । स्वस्वदिक्षष्टारे । शिष्टमातृकया ककारादिकया । तथा—"षट्कोणं प्रविलिख्य तस्य जठरे बिन्द्वाढ्यपञ्चान्तकम् नाम्ना भूर्ज्जतरुत्वचि प्रविलिखेद्गोरोचनादूर्वया । एकारान्वितकालवर्णमथ युक् दन्तेन गान्तं ततः शक्राणां शिरसा वहन्नपि विधिर्दीर्घश्च पश्चाद्रसः ॥ माया वायुसखस्य मन्त्रवरमालिख्याथ कोणेषु तद्बाह्ये पाशमथाङ्कुशं प्रविलिखेद्भूमण्डलं बाह्यतः । यन्त्रं गन्धमनोहरैश्चकुसुमैरभ्यर्च्य विघ्नेश्वरं यो धत्ते शिरसि क्षणेन विपुलां लक्ष्मीं लभेन्मानव" इति ॥ मेधोल्काय स्वाहेति मन्त्रः । तथा । "बीजेन रन्ध्रहनयुगमगबीजवीतं कोणेऽङ्गमालिख कलावसुकेसरेऽब्जे । गायत्रिवर्णदलकेऽप्यथकादिवीतं भूबीजयुक्क्षितिगृहेऽखिलदं हि यन्त्रमि"ति ॥ २६ ॥ २७ ॥

महागणपतिमन्त्रमुद्धरति—*श्रीति* । भूबीजमग्रे वक्ष्यमाणम् । *वरदमिति* । शब्दकर्मणि द्वितीया मन्त्रे तु सम्बुद्धिः । *सर्वजनमिति* । मन्त्रेपि द्वितीयान्तम् । अत्र केचन यकारं कीलकं मन्यमाना गणपतिपदं सम्बुध्यन्तमाहुः । अन्ये श्रीमहागणपतिपदं सम्बुध्यन्तं वरपदद्वितयमप्याहुः । इदं ग्रन्थकारस्यापि संमतमेव । यतो "द्वात्रिंशद्वर्णगुणिते"त्यत्र गणेशितुर्महामन्त्रमित्युक्तत्वात् । अन्ये "विघ्नं चतुर्थ्या युतमि"त्याचार्यपद्ये विघ्नशब्दोमहागणपतिपदोपलक्षकइत्याहुः । एवमिहापि गणपतिशब्दः । यथागुरूपदेशं च निर्णयः । *पद्मपादाचार्यैश्च*—दीक्षितो मन्त्रीत्यनेन चतुर्थीं परित्यज्य संबुद्धिस्वीकारइत्युक्तम् । मन्त्रदेवप्रकाशिकाकारादिभिरपि संबुध्यन्तस्यैवोद्धृतत्वात् । गं बीजं, स्वाहा शक्तिः । तदुक्तं—"षष्ठंबीजान्तौ शक्तिरि"ति ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

षड्बीजस्थस्वबीजेन दीर्घभाजा प्रकल्पयेत् ।
षडङ्गानि मनोरस्य यथाविधि विधानवित् ॥ ३१ ॥
नवरत्नमयं द्वीपं स्मरेदिक्षुरसाम्बुधौ ।
तद्वीचिधौतपर्यन्तं मन्दमारुतसेवितम् ॥ ३२ ॥
मन्दारपारिजातादिकल्पवृक्षलताकुलम् ।
उद्भूतरत्नच्छायाभिररुणीकृतभूलतम् ॥ ३३ ॥
उद्यद्दिनकरेन्दुभ्यामुद्भासितदिगन्तरम् ।
तस्य मध्ये पारिजातं नवरत्नमयं स्मरेत् ॥ ३४ ॥
ऋतुभिः सेवितं षड्भिरनिशं प्रीतिवर्द्धनैः ।
तस्याधस्तान्महापीठे रचिते मातृकाम्बुजे ॥
षट्कोणान्तस्त्रि(णस्थत्रि)कोणस्थं महागणपतिं स्मरेत् ॥ ३५ ॥
हस्तीन्द्राननमिन्दुचूडमरुणच्छायं त्रिनेत्रं रसा-
दाश्लिष्टं प्रियया सपद्मकरया स्वाङ्कस्थया सन्ततम् ।
बीजा(१)पूरगदाधनुस्त्रिशिखयुक्चक्राब्जपाशोत्पल-
व्रीह्यग्रंस्वविषाणरत्नकलशान् हस्तैर्वहन्तं भजे ॥ ३६ ॥
गण्डपालीगलद्दानपूरलालसमानसान् ।
द्विरेफान्कर्णतालाभ्यां वारयन्तं मुहुर्मुहुः ॥ ३७ ॥

षडङ्गमाह-*षड्बीजस्थेति* । *यथाविधीति*। तत्तज्जातियुताभिः शैवषडङ्गमुद्राभिरिति च । विधानविदित्यनेनायं प्रयोगः सूचितः"ॐगांहृत्।श्रींगीं शिरः।ह्रीं गृं शिखा। क्लीं गैं वर्म ग्लौं गौं नेत्रं, गं गः अस्त्रम्" । एष पक्षः साम्प्रदायिकः । के चित्तु । प्रणवादिबीजपञ्चकमुच्चार्य गामित्यादिप्रयोगेण षडङ्गक्लृप्तिं वदन्ति । अपरे षड्बीजानां प्राक् गामादीन्याहुः ॥३१॥

*नवरत्नमयं द्वीप*मित्यादेरयमर्थः पृथिव्यनन्तरमिक्षुसमुद्रं नवरत्नमयं द्वीपं नवरत्नमयं पारिजातमिति न्यसेत्। शेषं समानम्। नवरत्नमयद्वीपादुत्पत्तेः पारिजातस्यापि नवरत्नमयत्वम् ॥ अन्ये तु-माणिक्यमूलं वैडूर्याङ्कुरम् इन्द्रनीलशाखं प्रवालपल्लवं मरकतच्छदं गोमेदशृङ्गं मौक्तिककोरकं वज्रपुष्पं पद्मरागफलमित्याहुः । *गणेश्वरविमर्शिन्यामपि*-"मणिवज्रप्रशाखाख्यफलप्रसवपल्लवैरि"त्यादि ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

पीठे रचितइति । व्यधिकरणे सप्तम्यौ । *षट्कोणान्तस्त्रिकोणस्थमिति*। अत्राधोमुखं त्रिकोणं ग्राह्यम्। इदं च मातृकापद्मकर्णिकायामिति ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥

हस्तीति । हस्तीन्द्रो गजश्रेष्ठः । पद्मकरया वामहस्ते पद्मं दक्षेणालिङ्गनम् । धनुरिक्षुधनुः । त्रिशिखं-त्रिशूलम् । वामाधस्ताद्दक्षिणाधः पर्यन्तमायुधध्यानं, कनककलशस्तु-शुण्डाग्रे तदुक्तं-वामोर्ध्वादिक्रमेण-"चक्रप्रासरसालकार्मुकगदासद्बीजपूरद्विजव्रीह्यग्रोत्पलपाशपङ्कजकरं शुण्डाग्रजाग्रद्घटमि"ति । *महागणपतिस्तवेऽपि*-वामदक्षयोरूर्ध्वादिक्रमेण-"चक्राब्जशूलपाशानिक्षूत्पलगुडकलमञ्जरिकाः । दाडिमरत्नमणिकुम्भानाबिभ्रतमाश्रये महागणपमि"ति । *द्राविडास्त्वन्यथा व्याचक्षते*-"अधोवामदक्षयोराद्ये तदूर्ध्वयोर्मध्ये । तदूर्ध्वयोरुपान्त्ये । तदूर्ध्वयोरन्त्ये इति । उक्तं च *गणेश्वरविमर्शिन्याम्*—"दक्षाधः करमारभ्य वामाधः स्थक-

---

(१) अत्र दीर्घश्छन्दोऽनुरोधेनकृतः ।

कराग्रधृतमाणिक्यकुम्भवक्त्रविनिःसृतैः ।
रत्नवर्षैः प्रीणयन्तं साधकान्मदविह्वलम् ॥ ३८ ॥
माणिक्यमुकुटोपेतं रत्नाभरणभूषितम् ।
ध्यायन्मन्त्रं जपेन्मन्त्री चतुर्लक्षं समाहितः ॥ ३९ ॥
चतुःसहस्रसंयुक्तं चत्वारिंशत्सहस्रकम् ।
दशांशं जुहुयाद्द्रव्यैरष्टभिर्मोदकादिभिः ॥ ४० ॥
तर्पयेद्दिनशो नित्यं प्राक्प्रोक्तेनैव वर्त्मना ।
प्रागुक्ते पूजयेत्पीठे विधिना गणनायकम् ॥ ४१ ॥
त्रिकोणबाह्ये पूर्वादिचतुर्दिक्षु समर्चयेत् ।
अग्रस्थबिल्ववृक्षाधः श्रियं श्रीपतिमर्चयेत् ॥ ४२ ॥
पद्मयुग्मधरा पद्मा शङ्खचक्रधरो हरिः ।
दक्षिणे वटवृक्षाधो गौरीं गौरीपतिं यजेत् ॥ ४३ ॥
पाशाङ्कुशधरा गौरी टङ्कशूलधरो हरः ।
पश्चिमे पिप्पलस्याधो रतिं रतिपतिं यजेत् ॥ ४४ ॥
रतिरुत्पलहस्ताढ्या कोदण्डास्त्रधरः स्मरः ।
सौम्ये प्रियङ्गुवृक्षाधो महीं पोत्रिणमर्चयेत् ॥ ४५ ॥
शुक्लव्रीह्यग्रहस्ता भूर्गदाचक्रधरः पतिः ।
देवाग्रे पूजयेल्लक्ष्मीसहितं गोपनाथकम् ॥ ४६ ॥
षट्सु कोणेषु सम्पूज्या आमोदाद्याः प्रियान्विताः ।
आमोदं सिद्धिसहितमग्रकोणे समर्चयेत् ॥ ४७ ॥
समृद्धया युतमभ्यर्च्य प्रमोदं वह्निकोणतः ।
सुमुखं कान्तिसंयुक्तमीशकोणे समर्चयेत् ॥ ४८ ॥
दुर्मुखं मदनावत्या यजेद्वरुणकोणके ।

रान्तिकम् । गदाशूलाब्जकह्लारविषाणं दक्षिणैः करैः ॥ शाल्यग्रपाशचक्रेक्षुचापसद्बीजपूरकम् । वामैर्दधानं मञ्जीरविलसच्चरणाम्बुजम् ॥ लीलया रत्नकलशं पुष्कराग्रे निधाय केऽपि । अन्ये तु प्रथमध्यान एव बीजपूरव्यत्ययमिच्छन्ति । अन्ये (परे) तु तद्धस्तयोरेव व्यत्यस्तत्वमिच्छन्ति । तेन वामदक्षयोरदबीजपूरौ प्रतिभातः ॥३५॥३६॥३७॥३८॥

मन्त्रीति । दशांशं पुष्टिमन्त्रजप उक्तः । सगुरुमुखादवगन्तव्यः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

प्राक्प्रोक्तेनेति । चतुः शतं चत्वारिंशद्वारमित्यर्थः । *प्रागुक्ते पीठे इति* । पूर्वमन्त्रोक्ताः पीठशक्तयः पीठमन्त्राश्चात्रापि ज्ञेया इत्यर्थः । *पूजयेदिति* "त्रिकोण"इति शेषः । *विधिनेति* । वक्ष्यमाणेन । पूजायन्त्रं तु ध्यानावसर एवोक्तम् ॥ ४१ ॥

पञ्चमिथुनपूजामाह—*त्रिकोणेति* ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

टङ्कः—परशुः ॥ ४४ ॥

उत्पलयुक्तौ हस्तौ ताभ्यामाढ्या । अस्त्रं बाणः । पोत्रिणं वराहम् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

वह्निकोणतः । पुरः कल्पितपूर्वदिगपेक्षया योवह्निकोणस्तत्र(१)त्यर्थः एवमीशकोण

---

(१) तेनात्र सार्वविभक्तिकस्तसिर्बोध्यः ।

विघ्नं मदद्रवायुक्तं कोणे नैशाचरे यजेत् ॥ ४९ ॥
वायव्ये विघ्नहर्त्तारं द्राविण्या सहितं यजेत् ।
पाशाङ्कुशाभयाभीष्टधारिणोऽरुणविग्रहाः ॥ ५० ॥
गण्डभित्तिगलद्दानपूरधौतमुखाम्बुजाः ।
विघ्नास्तत्प्रमदाः सर्वा मदाघूर्णितलोचनाः ॥ ५१ ॥
धृतहस्तधृताम्भोजा इतरालिङ्गितप्रियाः ।
षट्कोणपार्श्वयोः पूज्यौ शङ्खपद्मनिधी क्रमात् ॥ ५२ ॥
निजप्रियाभ्यां सहितौ पूर्वोदीरितलक्षणौ ।
केसरेष्वङ्गपूजा स्याद्ब्राह्मयाद्याः पत्रमध्यगाः ॥ ५३ ॥
बहिर्लोकेश्वराः पूज्या वज्रादीनि ततःपरम् ।
इत्थं जपादिभिः सिद्धः प्रयोगान्स्वमनीषितान् ॥ ५४ ॥
साधयेदष्टभिर्द्रव्यैरन्यैर्वा कल्पचोदितैः ।
पद्महोमेन भूपालांस्तत्पत्नीरुत्पलैः शुभैः ॥ ५५ ॥
मन्त्रिणः कुमुदैः फुल्लैर्विप्रान् पिप्पलसम्भवैः ।
समिद्वरैर्नरपतीनुदुम्बरसमुद्भवैः ॥ ५६ ॥
दलैर्वैश्यान्वटोद्भूतैः शूद्रान्मन्त्री वशं नयेत् ।
मधुना स्वर्णलाभः स्याद्गोदुग्धेन लभेत गाः ॥ ५७ ॥
आज्यहोमेन महतीं श्रियमाप्नोति मानवः ।
दध्ना सर्वसमृद्धिः स्यादन्नैरन्नपतिर्भवेत् ॥ ५८ ॥
वृष्टिकामः प्रजुहुयाद्वेतसानां समिद्वरैः ।
कुसुम्भकुसुमैर्हुत्वा वासांसि लभतेऽचिरात् ॥ ५९ ॥
प्रत्येकमादौ मूलेन चतुर्वारं प्रतर्पयेत् ।
श्रीशक्तिरतिभूलक्ष्मीः स्वबीजाद्याः प्रियान्विताः ॥ ६० ॥
आमोदादीन् स्वबीजाद्यान् शक्तियुक्तांश्च तर्पयेत् ।
चतुश्चतुःपृथङ्मन्त्री शङ्खपद्मनिधी तथा ॥ ६१ ॥

इत्यत्रापि । एवं पश्चिमनैर्ऋतवायुकोणेष्वपि ज्ञेयं, तदुक्तमाचार्यैः—"अरनाभावामोदः प्रमोदसुमुखौ च तमभितोऽस्त्रियुगे । पृष्ठे च दुर्मुखाख्यस्तमभितो हि विघ्नकर्त्तारावि"ति४८–५०
विघ्नाइति । पूर्वेण सम्बध्यते ॥ ५१ ॥ ५२ ॥
*पूर्वोदीरिते*त्यष्टमपटलोक्ते । एतदन्तं द्वितीयावृत्तिः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥
*पद्महोमेन भूपालानि*त्यादेर्मन्त्रीवशं नयेदित्यादिना सम्बन्धः । मन्त्रीत्यनेन सर्वपदस्थाने साध्यनामेत्युक्तम् । *समिद्वरैरिति* । अग्रेऽपि त्रिषु सम्बध्यते । *वृष्टीति* । अत्र स्वबीजानन्तरममृतबीजं ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥
चतुरावृत्तितर्प्पणप्रकारमाह—*प्रत्येकमिति* आदौ मूलेन चतुर्वारं प्रतर्प्पयेत । प्रत्येकमित्यस्यायमर्थः—या या देवता तर्प्पणीया तत्र तत्रादौ मूलेन चतुर्वारं तर्पणं कर्त्तव्यम् । *स्वबीजाद्या इति* । स्वस्वबीजाद्याः प्रियान्विताः प्रत्येकं चतुर्वारं तर्प्पयेदिति सम्बन्धः ॥ ६० ॥
स्वबीजाद्यानिति । गणपतिबीजाद्यान् । *तथा*—चतुर्वारम् ॥ ६१ ॥

नामाद्बिजसहितौ तर्पयेत् स्वप्रियान्वितौ ।
तर्पणेनामुना स्वीयमिष्टमाप्नोति मण्डलात् ॥ ६२ ॥

स्वप्रियान्वितावविति । वसुधारा वसुमतीसहितौ । तद्यथा मूलमन्त्रेण "महागणपतिं तर्पयामी"ति चतुर्वारं सन्तर्प्य श्रीं श्रीपतिं तर्पयामीति चतुर्वारं सन्तर्पयेत् । अत्र लक्ष्मी-शब्देन पञ्चमं क्रममिथुनं संगृहीतं पूजाक्रमविवक्षया । *तदुक्तमाचार्यैस्तन्त्रे*—"पञ्चकारणभेदेन यस्मान्मिथुनपञ्चकम् । करोति पञ्चकृत्यानि तदाद्यं मिथुनं भज"इति । *अन्यत्रापि*—"प्रथमं पूजयेद्देवं ततो मिथुनपञ्चकमि"ति । अन्यत्रापि न्यासावसरे—"शिरोवक्त्रहृदम्भोजगुह्यपत्स्वपि पञ्चकम् । मिथुनानां न्यसेत् स्वीयैर्बीजैःस्वैर्नामभिः पृथगि"ति ॥ एवं त्रयोदश देवतानां तर्पणानि भवन्ति । त्रयोदशवारं मूलतर्पणानि । सर्वान्ते मूलेन चतुर्वारं तर्पणम् ॥ एवमष्टोत्तरशतं तर्पणानि भवन्ति । अयं कनिष्ठः प्रकारः । पद्मपादाचार्यः कनिष्ठप्रकारे चतुर्विंशत्यधिकैकशततर्पणान्युक्तानि । तद्यथा मूलं ४ महागणपं ४ मूलं ४ पुष्टिं ४ पञ्चमिथुनानि २० आमोदादि ६४ मूलं ४ एवमिति । मध्यमप्रकारस्तु प्रियान्विता इति व्यस्ततर्पणेन तत्र व्यस्तत्वं मूले प्रियान्विताः शक्तियुक्तानित्युक्तेर्लभ्यते । तद्यथा—मूलं चतुर्वारं संतर्प्य "श्रीं श्रीपतिसहितां श्रियं तर्पयामी"ति । चतुर्वारं, पुनः "श्रीं श्रीसहितं श्रीपतिं तर्पयामी"ति चतुर्वारं तर्पयेत् । एवं षड्विंशतिदेवतातर्पणानि च । अन्ते मूलेन चतुर्वारं तर्पणं सर्वादौ च मूलेन स्वतन्त्रतया चतुर्वारं तर्पणम् । एवं षोडशोत्तरा द्विशती तर्पणानां भवति । उत्तमप्रकारस्तु—*प्रत्येकमादौ* "वक्ष्यमाणतर्पणानामि"तिशेषः । *चतुर्वारं प्रतर्पयेत्*—दादावन्ते चेत्यर्थः । मूलेन प्रत्यर्णमित्यर्थः । मूलमन्त्रस्याक्षराणि प्रत्येकं तर्पयेत् । तद्यथा—आदौमूलम् ४ प्रथमाक्षरम् ४ पुनर्मूलम् ४ एवमष्टाविंशतिवर्णतर्पणानि । अष्टाविंशतिवारं मूलतर्पणानि च, अन्ते चतुर्वारं मूलेन । एवं द्विशती अष्टाविंशत्यधिका तर्पणानां, ततो मध्यमप्रकारवदेव द्विशती षोडशोत्तरा । एवं चतुश्चत्वारिंशदधिकं चतुःशतं तर्पणानि भवन्ति । तदुक्तं *गणेश्वरविमर्शिन्याम्* । "सर्वाभीष्टप्रदं वक्ष्ये चतुरावृत्तितर्पणम् । एकान्ते विजने रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥ कृतस्नानादिको मन्त्री पूर्ववन्न्याससंयुतः । तडागमध्ये संचिन्त्य पुष्पितं नलिनीवनम् ॥ तस्य मध्ये महापद्मं तरुणादित्यसन्निभम् । समुन्नतं सुगन्धाढ्यं रमणीयं मनोहरम् ॥ सद्योविकसितं ध्यायेन्मन्त्री पूर्वोक्तमन्त्रवित् । शुद्धं रजतसोपानपङ्क्त्या तं रविमण्डलात् ॥ विनिर्गत्यावरुह्याथ कर्णिकामध्यसंस्थितम् । इति ध्यात्वा सावरणं महागणपतिं सुधीः ॥ प्रवरैर्गन्धकुसुमैः समभ्यर्च्याथ पूर्ववत् । निधाय पुष्करमुखं साधकेन्द्रस्य मूर्द्धनि ॥ वर्षन्तं रत्नधाराभिर्ध्यात्वा देवस्य मूर्द्धनि । चन्द्रचन्दनकाश्मीरकस्तूरीलोलितैर्जलैः ॥ प्रथमं मूलमन्त्रेण चतुर्वारं प्रतर्प्य च । मिथुनानि च षड् विघ्नान् शङ्खपद्मनिधी अपि ॥ स्वस्वबीजादिकैर्मन्त्री स्वाहान्तैश्च चतुश्चतुः । मूलमन्त्रं चतुर्वारं पूर्वकं तर्पयेत्पृथक् ॥ संभूयाष्टोत्तरशतं कनिष्ठः स्यादयं क्रमः । अथवा मूलमन्त्राद्यैर्व्यस्तैरेतैश्च पूर्ववत् ॥ मन्त्रैर्वातर्पयेद्विद्वानर्चनोक्तप्रकारतः । मध्यक्रमोऽयं संभूय द्विशतं षोडशोत्तरम् ॥ अथवा मूलमन्त्रेण चतुर्वारं प्रतर्प्य च । पूर्वमन्त्राक्षरैर्मन्त्रैः स्वाहान्तैश्च चतुश्चतुः ॥ मूलमन्त्रं चतुर्वारपूर्वकं सम्प्रतर्प्य च । मिथुनादींस्ततः पश्चात्पूर्ववत्सम्प्रतर्पयेत् ॥ भवेत्संभूय सचतुश्चत्वारिंशच्चतुःशतम् । एवंज्येष्ठक्रमः प्रोक्तो बुधैरागमपारगैः ॥ एवं सन्तोष्य तत्पश्चात् पूर्ववत्सोपचारकैः । सर्वाभीष्टं च सम्प्रार्थ्य प्रणम्योद्वासयेत्सुधीः ॥ य एवं तर्पयेन्नित्यं मण्डलात् स फलं लभेत् । अनावृष्ट्यां भये घोरे राजचौराद्युपद्रवे ॥ महाज्वरे विवादे च महादारिद्र्यसंकटे । विवाहादिषु कार्येषु सर्वेषु च विशेषतः ॥ एवं वै तर्पणं कुर्यान्मानवेन्द्रः प्रसन्नधीः । महागणेश्वरः प्रीतो महासम्पत्करो भवेदि"ति । अन्ये तु लक्ष्मीशब्देन शक्तिमत्प्राधान्यमिति वदन्ति ॥ मन्त्रोद्देशक्रमोविवक्षितः । मन्मते प्रथमं विंशतिवारं ततोऽष्टा-

स्मृतिस्थं मांसमौबिन्दुयुक्तं भूबीजमीरितम् ॥ ६३ ॥
बीजं षट्कोणमध्ये स्फुरदनलपुरे तारगं दिक्षु लक्ष्मीं
मायाकन्दर्पभूमीस्तदनुरसपुटेष्वालिखेद्बीजषट्कम् ।

विंशतिमन्त्राक्षरैस्तावत्कृत्वा मूलेन एतदन्तं चतुर्वारं मूलेन ततश्चतुर्विंशतिदेवतातर्प्पणानि तावत्कृत्वो मूलतर्प्पणानि तदन्ते मूलेन चतुर्वारम् । एवं चतुःशतचतुश्चत्वारिंशत्तर्प्पणानि भवन्ति । तदुक्तं *रहस्यपटले* मूलमारायणीये-"विंशत्संख्यं तर्पयित्वा तु पूर्वं मान्त्रैर्वर्णैर्चं-दवारं द्विठान्तैः। मध्ये मध्ये तर्पयेद्विघ्नराजं लक्ष्म्यादीनां तर्प्पणं चैवमेवे"ति । *अन्यत्रापि* "प्रथमं विंशतिवारं मिथुनानां विघ्नषट्कशक्तीनाम् । प्रत्येकं निधिशक्त्योश्चतुरावृत्त्या च मूलेन ॥ मूलात्मकवर्णानामेवं सन्तर्प्पिते च निशितधिया । सचतुश्चत्वारिंशच्चतुःशतं संख्यया भवेदेवमि"ति ॥ ये तु महागणपतिशब्दं संबुध्यन्तमाहुः । त एकोनत्रिंशदक्षरतर्पणं तावत्-कृत्वा मूलेन षड्विंशतिमिथुनतर्पणं तावत्कृत्वो मूलेन चतुर्वारमितिमंख्यापूर्त्तिमाहुः । ये तु गणपतिपदं संबुध्यन्तमाहुः । ते मूलं ४ महागणः ४ मू० ४ पुष्टिं ४ ततो ऽक्षरतर्प्पणं तावन्मूलेन पूर्ववन्मिथुनादितर्पणमन्ते मूलेनेति संख्या पूर्त्तिमाहुः । त्रिंशद्वारं तु अक्षरमूलतर्पणानि अन्ते ४ मूलेनेति २४४ । ततो मिथुनाष्टकेनान्ते मूलेनेति ६८ । तत आमोदादीनामन्ते मूलेनेति १३९ एवं संख्यापूर्त्तिर्ज्ञेया ॥ ये तु श्रीमहागणपतिशब्दं संबुध्यन्तं वशंशब्दस्य च द्वित्वमाहुः । ते द्वात्रिंशदक्षरं तर्पणं तावत्कृत्वोमूलेन बीजपूराद्येकादशभिः ८८ मिथुन-चतुष्टयषड्विघ्ननिधिद्वयेन कनिष्ठोक्तप्रकारेण तावत्कृत्वो मूलेनान्ते च चतुर्वारं मूलेनेत्याहुः । बीजापूरादिमन्त्रस्तु-"बीजापूरं गदाचेक्षुकार्मुकं च त्रिशूलयुक् । चक्राब्जपाशोत्पलानि कलमाग्रं विषाणयुक् ॥ ङेन्ताश्च रत्नकलशो हृदन्ताः प्रणवादिकाः। गंबीजाद्यादिकाः पञ्च श्रीबीजाद्यादिकाः पुनः ॥ षड्बीजाद्योन्तिमश्चैते वक्ष्यमाणपदादिकाः । यथाक्रमं महाविघ्नायुधानां मनवः स्मृताः ॥ मन्त्रफलं बीजपूरादयः । पञ्च विलोमेन । गंबीजाद्यानि गंग्लौं ह्रीं श्रीबीजानि आदौ येषां तथा । पुनारत्यादयः पञ्च क्रमेण श्रीबीजाद्याः श्रीमित्यादि-पञ्चबीजादिकाः । अन्तिमोरत्नकलशः प्रणवादिषड्बीजाद्यइत्यर्थः । "शक्तिसप्राणत्रिगुणः कालचक्रलयक्षयौ च । व्याप्तिरक्तिभूस्वरूपं त्रिधात्रैलोक्यमात्मने युक्तमि"ति । *पद्म-पादाचार्यास्त्वन्यथा चतुरावृत्तितर्प्पणमाहुः । तद्यथा दशधाभिन्नेन मूलमन्त्रेण बीजपूराद्येकादशभिर्महागणपतिक्षिप्रप्रसादनतद्युक्तविघ्नाद्यष्टनामयुतेन । गणपतयइत्यस्मात्पूर्वं मूलमन्त्रेण चतुर्विंशतिदेवताश्च । एवं पञ्चपञ्चाशद्देवतातर्प्पणानि तावन्ति मूलेन अन्ते चतुर्वारं मूलेनेति चतुःशतं चतुश्चत्वारिंशत् । *प्रयोगसारेतु* "अष्टाविंशतिरक्षराणि दशभिर्युक्तं चतुर्भिः पदैः पश्चात्पञ्च मो ादिकांश्च गणपान् षड्द्वो निधी तर्प्पयेत्। प्रत्येकं मनुनामुना च चतुरावृत्त्या विभोर्मस्तके ध्यात्वा रत्नमये महागणपतिं भक्तप्रसन्नं सुधीरि"ति ॥ ६२ ॥

भूबीजमुद्धरति *स्मृतीति* मांसं लकारः । स्मृतिस्थं गकारस्थम् । औ रूपं बिन्दुश्च एतद्युक्तः ॥ ६३ ॥

यन्त्रमाह * बीजमिति* वसुदलकमले—अष्टदलकमले । षट्कोणमध्ये स्फुरदनलपुरे लसत्त्रिकोणे । तारगं-प्रणवस्थं बीजं-गणपतिबीजं गमितिलिखेदित्यन्वयः । दिक्षु-त्रिकोणाद्बहिः अग्रादिति ज्ञेयम् । रसपुटेषु-षट्सु कोणेषु । बीजषट्कं-मन्त्राद्यम् । अग्रादि तस्य षट्कोणस्य सन्धिषु अङ्गमन्त्रान् महागणपतेः षडङ्गमन्त्रान् । पत्रेषु-मन्त्रस्य । द्वाविंशतिवर्णान् शिष्टान् गुणशः-त्रिशः । अन्त्यं वर्णमष्टमे दल एकमेव लिखेत् । ततः क्रमोत्क्रमलिपिभिर्नेष्टयेत्ततः पाशाङ्कुशाभ्यां वेष्टयेत् । *पद्मपादाचार्यैस्तु* अष्टपदान्यष्टपत्रे विलिख्य तद्बहिर्वृत्तत्रये मातृकापाशाङ्कुशार्णान्विलिख्य वहिर्भूपुरद्वये पाशमायाबीजे लिखेदित्युक्तम् । लाक्षा—ऽऽकुङ्क-

तस्याधिष्ठवङ्गमन्त्रान्वसुदलकमले मूलमन्त्रस्थवर्णान्
शिष्टान्पत्रेषु विद्वान्विलिखतु गुणशश्चान्त्यमन्त्ये पलाशे ॥ ६४ ॥
आवीतं लिपिभिः क्रमोत्क्रमवशात्पाशाङ्कुशाख्यामपि
द्माःगेहद्वितयेन वेष्टितमिदं यन्त्रं गणाधीशितुः ।
लाक्षाकुङ्कुमरोचनामृगमदैर्भूर्जेवरे हेम्नि वा
संलिख्याभिवहल्लँभेत सकलैः संप्रार्थनीयां श्रियम् ॥ ६५ ॥
उक्तं महागणपतेर्विधानं सुरपूजितम् ।
सर्वसिद्धिकरं पुंसां समस्तपुरुषार्थदम् ॥ ६६ ॥
मायाविरिपदद्वन्द्वं ततो गणपतिं वदेत् ।
खड्गीशपावकौ पश्चाद्वरदान्ते वदेत्पुनः ॥ ६७ ॥
सर्वलोकं मे पदान्ते वशमानय ठद्वयम् ।
षड्विंशत्यक्षरोमन्त्रो भजतां सुरपादपः ॥ ६८ ॥
गणकः स्यादृषिश्छन्दो गायत्रं देवता मनोः ।
विरिविघ्नेश्वरः प्रोक्तो भजतां सुरपादपः ॥ ६९ ॥
अन्तः करणवेदेखुभूतपञ्चविलोचनैः ।
एवं विभक्तैर्मन्त्राणैर्मायाद्यैरङ्गकल्पना ॥
महागणपतेः प्रोक्ते स्थाने मन्त्री विचिन्तयेत् ॥ ७०॥
सिन्दूराभनिभाननं त्रिनयनं हस्तेषु पाशाङ्कुशौ
बिभ्राणं मधुमत्कपालमनिशं साद्र्धेन्दुमौलिं भजेत् ।
पुष्ट्याश्लिष्टतनुं ध्वजाग्रकरया पद्मोल्लसद्धस्तया
तद्योन्याहितपाणिमात्तवसुमत्पात्रोल्लसत्पुष्करम् ॥ ७१ ॥
चतुर्लक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं हुतक्रिया ।

करसः । कुङ्कुमं-काश्मीरजम् । रोचना-गोरोचना । मृगमदः-कस्तूरी ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

विरिगणपतिमन्त्रमाह-*मायेति* खड्गीशो वः । पावको रेफः । हृल्लेखा बीजं, स्वाहा शक्तिः । के चन वरेत्यादिपञ्चाक्षराणि लोकमिति च हित्वा एकोनविंशत्यक्षरमाहुः । अस्य निचृच्छन्दः । अन्यत्पूर्ववत् । के चन लोकपदे जनपदं पठन्ति । अन्ये विरीत्यादौ महागणपतिबीजषट्कं प्रयोजयन्ति ॥ ६७ ॥ ६९ ॥ ६९ ॥

षडङ्गमाह*अन्तरि* अन्तःकरणानि-चत्वारि । वेदाश्चत्वारः । इषवः पञ्च । भूतानि-पञ्च । लोचने-द्वे । द्वितीयस्य षट्पदैः षडङ्गम् । तृतीयस्य महागणपतिमन्त्रवत् ॥ ७० ॥

पुष्करं करिहस्ताग्रं, ध्याने तु दक्षे पाशः । वामे अङ्कुशः । अधो दक्षे मधुमत्कपालम् । अधो वामः । तस्याः प्रियाया योन्यामाहितः निहितः पाणिर्येनतम् । तद्वत्पुष्टिरपि चतुर्भुजा । तत्र दक्षवामयोः पद्मे । पद्मोल्लसद्धस्तयेत्यत्र पद्माभ्यामुल्लसन्तौ हस्तौ यस्याः सा तयेति विग्रहः । अधो दक्षिणेन प्रियस्याश्लेषः । अधो वामेन तद्ध्वजाग्रस्पृगिति सम्प्रदायविदः । कश्चित्तु पुष्टिं द्विहस्तामेवाह । एकहस्ते पद्मं द्वितीयहस्तेन ध्वजाग्रस्पृगिति। तन्मते आश्लेषो नाम निकटत्वं न तु हस्तेनालिङ्गनमिति । द्वितीयमन्त्रेऽपि इदमेव ध्यानम् । तृतीयमन्त्रे तु "बीजापूरगदे शरासनमरिं मालां च दक्षैः करैर्वामैर्बाणसपाशकोत्पलरदान्. रत्नाढ्य-

त्राकप्रोक्तैस्त्वमिन्द्रैर्ध्यैस्त्रिमध्वकैः समीरिता ॥ ७२ ॥
पूर्वोक्ते पूजयेत्पीठे तीव्रादिनवशक्तिके ।
मूलेन मूर्तिं तत्संकल्प्य तत्रावाह्यार्चयेद्विभुम् ॥ ७३ ॥
मिथुनावृत्तिराद्या स्याद्दामोदाद्यैर्दिगम्बरैः ।
द्वितीयाङ्गैस्तृतीया स्याच्चतुर्थी मातृभिः स्मृता ॥ ७४ ॥
पञ्चमी लोकपालैः स्यात्षष्ठी वज्रादिभिः स्मृता ।
इतिसिद्धमनुर्मन्त्री प्रफुल्लैः सरसीरुहैः ॥ ७५ ॥
जुहुयाद्धशगाः सर्वे तण्डुलैस्तिलमिश्रितैः ।
हुत्वा श्रियमाप्नोति मोदकैराज्यलोलितैः ॥ ७६ ॥
हुत्वा विजयमाप्नोति पार्थिवोयुद्धभूमिषु ।
मधुत्रयेण हवनं वशं नयति पार्थिवान् ॥ ७७ ॥
भक्ष्यभोज्यादिकं सर्वं हुत्वा भीष्टानि साधयेत् ।
शक्तिरुद्धं निजं बीजं महागणपतिं वदेत् ॥ ७८ ॥

कुम्भं दधत् । सिन्दूरारुणविग्रहस्त्रिनयनो योन्यस्तशुण्डोगणस्तल्लिङ्गाहितपाणिमम्बुजकरां पुष्टिं वहन् वोऽवतात्" । पूजादिकं त्रयाणामपि समानम् ॥ ७१ ॥७२ ॥

पूर्वोक्तइति महागणपतिपूजायन्त्रे । *तीव्रादिनवशक्तिक इति* अनेन पीठमन्त्रस्य मायादित्वमुक्तम् ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

मधुत्रयेण पयोमधुघृतेन ॥ ७७ ॥

भक्ष्यभोज्यादिकमिति भक्ष्यं लड्डुकादि । भोज्यमन्नादि । आदिशब्देन लेह्यचोष्यादिकं गृह्यते । तत्र लेह्यं रसादि । तल्लक्षणं *सूपशास्त्रे* "अर्द्धाढकं सुदृढ(चिर)पर्युषितस्य दध्नः खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य । सर्प्पिःपलं मधुपलं मरिचं द्वि-षं शुण्ठ्या पलार्द्धमपि चार्द्धपलं चतुर्णाम् । स्निग्धे (सूक्ष्मे) पटे ललनया मृदुपाणिघृष्टा कर्पूर(धूलि)सुरभीकृतकाण्ड (पात्र) संस्था एषा वृकोदरकृता सरसा रसाला याऽऽस्वादिता भगवता मधुसूदनेने"ति ॥ चतुर्णां–त्वगेलापत्रकेसराणाम् अर्द्धपलमिति–मिलित्वा ।

तन्त्रान्तरोक्तमस्य यन्त्रं लिख्यते "वक्ष्ये महासिद्धिकरं हि यन्त्रं भूर्जस्य पत्रे पङ्कु(१)रोचनाद्यैः । दूर्वाङ्कुरैर्भूगृहयुग्मशक्तौ संलिख्य साध्यं विरिसंपुटं च ॥ १ ॥ कोणेषु मन्त्रं श्रुतिशोऽवशिष्टं तेनापि नाम्नाऽप्यथ वेष्टयित्वा । संलिख्य यन्त्रं च गणाधिराजमावाह्य चाभ्यर्च्य च गन्धपुष्पैः ॥ २ ॥ संजप्य तद्धारणतश्चनित्यं वशं प्रयात्यस्य जगत्समस्तमि"ति ॥३॥ प्रथममन्त्रे श्रुतिश इति त्रिशः(२) अन्त्यकोणे द्वयम् । द्वितीयमन्त्रे श्रुतिः कर्णः तेन द्विश इत्यर्थः । तदुक्तं–"वकारेफावपि लोचनाढ्यौ पुनस्तथीकृत्य गणात्पतीति । सर्वं, समुच्चार्य च मे वशः स्यान्मकारमायुक्मतो नयेति॥ छन्द्यात्त्रिशः स्यादि"ति । तृतीयमन्त्रे (३)श्रुतिशश्चतुर्द्धा । अत्र मध्यगतशक्तिस्तु मन्त्रायूवाद्या । अन्त्ये दले एकमक्षरं लिखेत् । शक्तिगणपतिमन्त्रमाह–*शक्तीति* निजं बीजं गम् ॥७८॥

---

(१) गोरोचना ॥
(२) "ऋग्यजुःसामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी"–त्य(मरा)भिधानात् ॥
(३) "चत्वारोवेदाः साङ्गाः सरहस्याः" इति पातञ्जलमहाभाष्यात् ॥

ङेऽन्तमग्निवधूः प्रोक्तो मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः ।
गणकः स्यादृषिश्छन्दो गायत्री निचृदादिका ॥ ७९ ॥
उदिता देवता तन्त्रे नाम्ना शक्तिगणाधिपः ।
व्यस्तैः समस्तैर्मन्त्रस्य पदैरङ्गानि कल्पयेत् ॥ ८० ॥
मुक्तागौरं मदगजमुखं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
हस्तैः स्वीयैर्दधतमरविन्दाङ्कुशौ रत्नकुम्भम् ।
अङ्कस्थायाः सरसिजरुचेः स्वध्वजालम्बिपाणे-
र्देव्यायोनौ विनिहितकरं रत्नमौलिं भजाम्रः ॥ ८१ ॥
लक्षमेकं (संख्यं) जपेन्मन्त्रं मधूकैस्तद्दशांशतः ।
जुहुयादर्चिते वह्नौ दिनशोदेवमर्चयेत् ॥ ८२ ॥
प्राक्प्रोक्ते पूजयेत्पीठे प्रागुक्तेनैव वर्त्मना ।
हुत्वेक्षुखण्डैर्मतिमान् राज्यश्रियमवाप्नुयात् ॥ ८३ ॥
नालिकेरफलैस्तद्वद्रम्भापक्वफलैस्ततः ।
वशयत्यखिलं लोकं पृथुकैः शर्करान्वितैः ॥ ८४ ॥
वशं नयति राजानं सक्तुभिर्ब्राह्मणान् शुभैः ।
घृतहोमेन धनवान् जायते नात्र संशयः ॥ ८५ ॥
शक्रधा रुद्धं निजं बीजं वशमानयद्वयम् ।
ताराद्योमनुराख्यातो रुद्रसंख्याक्षरान्वितः ॥ ८६ ॥
ऋष्याद्याः पूर्वमुक्ताः स्युरङ्गमन्त्रपदैर्भवेत्
एकेनादौ त्रिभिर्द्वाभ्यां त्रिभिर्द्वाभ्यामनन्तरम् ।
समस्तेनास्त्रमाख्यातमङ्गक्लृप्तिरियं मता ॥ ८७ ॥
हस्तैर्बिभ्रतमिक्षुदण्डवरदौ पाशाङ्कुशौ पुष्करं
स्पृष्टस्वप्रमदावराङ्गमनयाऽऽश्लिष्टं ध्वजाग्रस्पृशा ।
श्यामाङ्गया विधृताञ्जया त्रिनयनं चन्द्रार्द्धचूडं जपा-
रक्तं हस्तिमुखं स्मरामि सततं भोगातिलोलं विभुम् ॥ ८८ ॥
लक्षत्रयं जपेन्मन्त्रमिक्षुखण्डैर्दशांशतः ।

ङेऽन्तमिति अस्य पश्चात्तनेन सम्बन्धः । गं बीजं, स्वाहा शक्तिः ॥ ७९ई ॥

व्यस्तैरिति मन्त्रस्य पञ्चभिः पदैः पञ्चाङ्गानि । सर्वेण षष्ठम् । ध्याने तु ऊर्ध्वयोर्हस्त-वामयोराद्ये अधो दक्षे रत्नकुम्भः । अधो वामो देवीयोनिस्थः । शुण्डादण्डस्तु रत्नेकुम्भोपरी-ति सम्प्रदायः ॥ ८० ॥

सरसिजेति सरसिजेन-दक्षहस्तस्थितेन रुक् शोभा यस्याः सा तथा । तद्वामो ध्वजाग्रस्पृक् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

प्रागुक्तेनेति अव्यवहितेन ॥ ८३ ॥ ८४॥ ८५ ॥

मन्त्रान्तरमाह—*शक्रधेति* रुद्रेत्येकादश । गं बीजं, स्वाहा शक्तिः ॥ ८६ ॥

पूर्वमिति अव्यवहितम् । पदान्येवाह—*एकेनेति* ध्याने तु वामाधस्ताद्वामोर्ध्वयं-

अपूपैराज्ययुक्तैर्वा जुहुयान्मन्त्रसिद्धये ॥ ८९ ॥
स्वगुरुं धनधान्याद्यैः प्रीणयेत्प्रीतमानसः ।
पूजा पूर्ववदादिष्टा ततः काम्यानि साधयेत् ॥ ९० ॥
हुत्वापूपैस्त्रिमध्वक्तैर्वशयेद्भुवि पार्थिवान् ।
चतुर्थ्यां नारिकेरेण महतीं श्रियमश्नुते ॥ ९१ ॥
लवणैर्मधुसंयुक्तैर्वशयेद्वनिताजनम् ।
संवर्तकोनेत्रयुतः पार्श्वोवह्न्यासनस्थितः ॥ ९२ ॥
प्रसादनाय ह्न्मन्त्रः स्वबीजाद्यो दशाक्षरः ।
गणको मुनिरस्य स्याद्विराट्छन्द उदाहृतम् ॥ ९३ ॥
क्षिप्रप्रसादनो विघ्नो देवतास्य समीरिता ।
दीर्घयुक्तेन बीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ ९४ ॥
पाशाङ्कुशौ कल्पलतां विषाणं दधत्स्वशुण्डाहितबीजपूरः ।
रक्तस्त्रिनेत्रस्तरुणेन्दुमौलिर्हारोज्ज्वलोहस्तिमुखोऽवताद्वः ॥ ९५ ॥
लक्षं जपेज्जपस्यान्ते जुहुयादयुतं तिलैः ।
समधु (मधुर) त्रितयैर्द्रव्यैरथवाष्टाभिरीरितैः ॥ ९६ ॥
एकाक्षरोदिते पीठे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्धूपदीपैर्गजाननम् ॥ ९७ ॥
अङ्गानि पूर्वमभ्यर्च्य विघ्नानष्टौ यजेत्ततः ।
विघ्नं विनायकं शूरं वीरं वरदसंज्ञकम् ॥ ९८ ॥
इभवक्त्रं चैकदन्तं लम्बोदरमनन्तरम् ।
पत्राग्रेष्वर्चयेत्पश्चाद्ब्राह्म्याद्यास्तदनन्तरम् ॥ ९९ ॥
लोकपालांस्तदस्त्राणि विघ्नपूजा समीरिता ।
आज्यान्नैर्जुहुयान्नित्यमन्नवान्वत्सराद्भवेत् ॥ १०० ॥
पायसान्नेन महतीं श्रियमाप्नोति मानवः ।
आज्यहोमेन वशयेत्प्राणिनः सकलान्सुधीः ॥ १०१ ॥

स्तं देवीध्यानं विरिगणपतिध्यानोक्तं ज्ञेयम् ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ई॥

पूर्ववदिति विरिगणपतिवदित्यर्थः ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ई ॥

क्षिप्रप्रसादमन्त्रमाह-*संवर्तकः-*क्षः । नेत्रमिकारस्तद्युतः । पार्श्वः पकारो वह्न्यासनो रेफासनः । *स्वबीजाद्यो*गमिति बीजाद्यः । श्रीबीजाद्य इति केचित् । गं बीजं, आयेति शक्तिः, *दीर्घयुक्तेन बीजेनेति* आदिबीजेन ॥ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

विषाणं-दन्तम् । आयुधध्यानं दक्षाणूर्ध्वयोराद्ये, तदधस्थयोरन्त्ये । वामोर्ध्वादिवामाधस्तनं यावत इत्येके ॥ ९९ ॥

समधुत्रितयैः" पयोमधुघृतसहितैरिति तिलविशेषणम् । *तदुक्तमाचार्यैः*-"अयुतिलैर्युतंत्रिमधुरसिक्तैर्जुहुयादिगति । मधुरत्रितयैरितिपाठे मधुरस्य त्रितयं येष्विति बहुव्रीहिणा नेयम् ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥९९ ॥ १०० ॥ १०१ ॥

नारिकेलफलं पक्वं लोष्टचर्मसमन्वितम् ।
जुहुयात्प्रत्यहं मन्त्री मण्डलात्सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १०२ ॥
जुहुयादष्टसिद्धैर्द्रव्यैर्मधुरत्रयसंयुतैः ।
वशयेत्पार्थिवान्सर्वान् तत्पत्नीर्विधिनामुना ॥ १०३ ॥
दिनादिषु चतुश्चत्वारिंशद्वारैः शुभोदकैः ।
तर्पयेद्विघ्नराजस्य मस्तके श्रीप्रसिद्धये ॥ १०४ ॥
पाशाङ्कुशौ कल्पलतां स्वदन्तं करैर्वहन्तं कनकाद्रिकान्तम् ।
सोपानपङ्क्त्या दिननाथबिम्बादायान्तमम्भोजगतं विचिन्त्य ॥१०५॥
प्रागुक्तमन्त्रसम्प्रोक्तान्प्रयोगान्मनुनाऽमुना ।
तैरस्मिन्नथवा प्रोक्तात् कुर्यान्मन्त्री विधानवित् ॥ १०६ ॥
पञ्चान्तको बिन्दुयुतो वामकर्णविभूषितः ।
तारादिर्हृदयान्तोऽयं हेरम्बमनुरीरितः ॥ १०७ ॥
चतुर्वर्णात्मको नॄणां चतुर्वर्गफलप्रदः ।
षड्दीर्घभाजा बीजेन षडङ्गानि समाचरेत् ॥ १०८ ॥

लोष्टशब्देन अन्तर्वर्त्तिनारिकेलोपरिभागस्तदुपरिभागस्त्वग्लक्षणश्चर्मशब्दवाच्यः । अष्टधा नारिकेलमित्यस्यापवादः ॥ १०२ ॥

विधिनाऽमुनेति अष्टद्रव्यहोमेन ॥ १०३ ॥

शुभोदकैरिति अमृतरूपैर्जलैरित्यर्थः ॥ १०४ ॥

तर्पणे तु ध्यानविशेषमाह—*पाशेति* सोपानपङ्क्त्या—राजतया । *दिननाथबिम्बात्* सूर्यमण्डलात् । आयान्तं "जले" इति शेषः । *अम्भोजगतं*—जलस्थकल्पिताम्भोजगतं गणपतिं साध्यमूर्द्ध्नि पुष्करं दत्त्वा स्थितं *विचिन्त्य* एवं ध्यानं कृत्वेत्यर्थः । विघ्नराजस्य मस्तके श्रीप्रसिद्धये शुभोदकैस्तर्पयेदिति सम्बन्धः । तदुक्तं—"बिम्बादम्बुदवत्समेत्य सवितुः सोपानकं राजतैस्तोयं तोयजविष्टरं धृतकृताद्यन्तं सपाशाङ्कुशम् । नासां साध्यनृके निधाय सुधया तद्रन्ध्रनिर्यातया सिञ्चन्तं पुनरन्वहं गणपतिं स्मृत्वाऽमृतस्तर्पयेदि"ति ।

अथयन्त्रद्वयम् "नामषट्कोणके बीजमध्ये लिखेद्वेष्टयित्वाऽमुनाथाङ्गमस्त्रिष्वतः । अष्टपत्रे स्वरान् केसरे युग्मशः क्ष्याद्विवर्णान्विहीनान् लिखाद्यादिकेन ॥ अग्रतोलिख्य गायत्रिवर्णोश्रिशो वाग्यतः कादिभिर्वेष्टयित्वा बहिः ॥ भूपुरद्वन्द्वके भूमिबीजं लिखेद्यन्त्रमेतन्मतं सिद्धिसंपत्प्रदमि"ति । अथातोमहायन्त्रराजं प्रवक्ष्ये पयोः संसिक्तदूर्वाङ्कुरेणालिखेत् ॥ पञ्चपत्रे दशारं सरोजं गणेशस्य बीजं तु तारोदरे तु ॥ ततस्तस्य मध्ये तुरक्षोंत नाम्ना दशैतेषु मनूंश्चाँश्च मन्त्रं लिखेत् । ततो बाह्यतः पाशवर्णाङ्कुशार्णै लिखित्वा बहिः शक्रबिम्बद्वयं तत् ॥ लिखित्वा तथा तं गणेशानमस्मिन्नूसमभ्यर्च्य गन्धादिभिः पुष्पजातैः । भुजे कण्ठदेशे वहेत् सर्वरक्षा ततो मङ्गलं नान्यदस्तीह किञ्चिदि"ति । उक्तं च—"क्षिप्रप्रसादनः पूर्वो महागणपतिः परम् । विघ्नोविनायको वीरः शूरो वरद एव च ॥ इभदन्तश्चैकदंष्ट्रस्तथाहस्तिमुखः स्मृतः ङेऽन्ता नमोऽन्ता मन्त्राः स्युरेतैस्तर्पणहोमतः ॥ साधयेदीप्सितं मन्त्री"ति । तत्कल्पान्मन्त्रमितिमूलं युग्मशः पञ्चरात्रे गमात्र ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

हेरम्बमनुमाह *पञ्चान्तकइति* पञ्चान्तको गः) वामकर्णं ऊकारः । गणकऋषिर्गायत्री

मुक्ताकाञ्चननीलकुन्दघुसृणच्छायैस्त्रिनेत्रान्वितै-
र्नागास्यैर्हरिवाहनं शशिधरं हेरम्बमर्कप्रभम् ।
दृप्तं दानमभीतिमोदकरदं टङ्कं शिरोऽक्षात्मिकां
मालां मुद्गरमङ्कुशं त्रिशिखकं दोर्भिर्दधानं भजे ॥ १०९ ॥
लक्षत्रयं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयात्तिलैः ।
तीव्रादिपूजिते पीठे देवं हेरम्बमर्चयेत् ॥ ११० ॥
प्रणवः कवचद्वन्द्वं महासिंहाय गं ततः ।
हेरम्बेति पदं पश्चादासनाय हृदन्वितः ॥ १११ ॥
अयमासनमन्त्रः स्यात्प्रदद्यादमुनाऽऽसनम् ।
ताराद्विघ्नबीजेन मूर्त्तिं तस्य प्रकल्पयेत् ॥ ११२ ॥
आवाह्य पूजयेत्तस्यामङ्गावरणसंयुतम् ।
बाह्ये लोकेश्वराः पूज्या वज्रादीनि ततः परम् ॥ ११३ ॥
एवमभ्यर्चयेन्नित्यं साधयेत्स्वमनीषितम् ।
मोदकैर्जुहुयात्षष्ठ्यामष्टम्यां कृशरैस्तथा ॥ ११४ ॥
चतुर्दशीदिनेऽपूपैर्जुहुयाद्वाञ्छिताप्तये ।
एभिर्द्रव्यैः प्रजुहुयान्मन्त्री पूर्वदिनेष्वपि ।
साधयेत्सकलान्कामानयत्नेनैव साधकः ॥ ११५ ॥
अम्भोजं प्रथमं लिखेद्वसुदलं मध्ये स्वबीजान्तरे ।
साध्याख्याम्बहिरङ्गमन्त्रविलसत्किञ्जल्कसंशोभितम् ।

छन्दः गकारो (१)बीजं, बिन्दुः शक्तिः ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

मुक्तेति घुसृणं-कुङ्कुमम् । ऊर्ध्वादिमुक्तादिवर्णाः । नागास्यैर्हस्तिमुखैरुपलक्षितम् । हरिः-सिंहः टङ्कं परशुम् । त्रिशिखं-त्रिशूलं, क्वचिदङ्कुशं च, त्रिशिखमिति पाठस्तत्र "हेत्राद्या, संयुता व्यस्ते"इत्यनेन चकारस्य लघुता अतीव्रप्रयत्नोच्चारणेन । तेन नच्छन्दोभगः । आयुध ध्यानं-दक्षवामयोरधस्थयोर्वराभये, तदूर्ध्वाधस्थयोरन्यान्ये एवं मान्तम् । क्वचिद्व र(१)मि-त्यत्र कुम्भमिति पाठः । तदा कुम्भः शुण्डाग्रे । मोदकमिति पाठे तु मोदकोपरि शुण्डादण्ड इति ज्ञेयम् । केचिन्मुद्गरमित्यत्र पन्नगमिति पठन्ति । तदुक्तम् । "बन्देदोर्भिर्दधानं जपवलय-भुजे साङ्कुशे मोदकाभीटङ्कानुद्यत्कपालं भुजगवररदान् स्वर्णकुम्भाढ्यतुण्डम् । सिंहस्थं पञ्च-वक्त्रं त्रिनयनमरुणं दिव्यवस्त्रोरुभूषं हेरम्बाख्यं महान्तं गणपतिमखिलस्वार्थदं प्रार्थयेऽहमि"ति ॥ १०९ ॥ ६ ॥

तीव्रादिपूजित इति । अनेन पीठमन्त्रास्यान्यत्वं सूचयति ॥ ११० ॥

तमेवाह-*प्रणव इति* । कवचद्वन्द्वं-हुंहुं । गामिति स्वरूपम् ॥ ११० ॥ १११ ॥ ६ ॥

तारादीति । नमोरहितेन मूलमन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ६ ॥

षष्ठ्यामित्युभयत्र पक्षे । एवमग्रेऽपि । कृशरैर्मिश्रैस्तिलतण्डुलैर्मोदककृशरापूपैः । *पूर्व-दिनेषु* पूर्णिमामावास्ययोः ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ६ ॥

धारणयन्त्रमाह-*अम्भोजमिति* । मध्ये अष्टदलकर्णिकायाः । स्वबीजान्तरे-एतन्मन्त्र-

---

(१) बीजमिति । एतन्मन्त्रोक्तम् ॥

पञ्चाणामुदरे विसृज्य मुनिधो मालामनुं शेषिता-
न्मडूवर्णाग्रदमे दले परिवृतं शक्त्या शकारेण च ॥ ११६ ॥
रोचनामदकाश्मीरैर्भूर्जपत्रे विलिख्य तत् ।
वेष्टितं श्वेतसूत्रेण लोहैस्त्रिभिरपि क्रमात् ॥ ११७ ॥
धारयेद्बाहुना यन्त्रं सर्वान्कामानवाप्नुयात् ।
शक्रधङ्कुशौभुवान्ते स्वारस्वबीजं हृदयं ततः ॥ ११८ ॥
सर्वविघ्नाधिपायान्ते ङेऽन्तं सर्वार्थसिद्धिदम् ।
प्रवदेत्सर्वदुःखप्रशमनाय पदं ततः ॥ ११९ ॥
पह्येहि भगवन्सर्वं खादय स्तम्भय द्वयम् ।
भुवनेशी स्वबीजाङ्गा नतिः पावकवल्लभा ॥ १२० ॥
पुनरङ्कुशमायान्तं पञ्चपञ्चाशदक्षरः ।
मालामन्त्रेण मनुना प्रयोगान् साधयेत्सुधीः ॥ १२१ ॥
तारं खड्गीश्वरः कूर्मो निःस्वरेणान्तईरित ।
भुवे नतिः सप्तवर्णः सुब्रह्मण्यात्मको मनुः ।
वह्निबीजेन षड्दीर्घयुक्तेनाङ्गक्रिया मता ॥१२२ ॥
सिन्दूरारुणकान्तिमिन्दुवदनं केयूरहारादिभि-
र्दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं स्वर्गस्य सौख्यप्रदम् ।
अम्भोजाभयशक्तिकुक्कुटधरं रक्ताङ्गरागांशुकम् ।
सुब्रह्मण्यमुपास्महे प्रणमतां भीतिप्रणाशोद्यतम् ॥ १२३ ॥

बीजसाध्ये । साध्याख्यां-साधककर्मसहितामितिज्ञेयम् । *बहिरिति* कर्णिकायाः । *अङ्ग-सन्धोति* । पूजावदग्रे नेत्रम् । *मुनिशः*-सप्तधा । *मालामनुं*-वक्ष्यमाणम् । चरमे-अष्टमे । शक्त्या शकारेण चेत्यावृत्तिद्वयम् ॥ ११६ ॥

मदो-गजमदः । *त्रिभिर्लोहैः* पञ्चपटलोक्तैः । *क्रमादिति* । ताम्ररजतसुवर्णैः ॥११७॥ ई

*मालामन्त्रमाह-*शक्रेति* । स्वबीजं-मन्त्रस्थबीजम् ॥ *भुवनेशीस्वबीजं*-भुवनेश्यास्वस्य च बीजं ह्रीं गम् । गामिति स्वरूपम् ॥ "पञ्चपञ्चाशदक्षर" इत्युक्तेः शमनाय पह्येहीति न सन्धिः । अमुना प्रयोगान् साधयेदित्यनेनास्य स्वातन्त्र्येण मन्त्रत्वमप्युक्तम् । तद्विधानं यथा अस्या अमितं छन्दः । हेरम्बगणपतिवत्सर्वं ज्ञेयम् ॥ ११८ ॥ ११९-१२१ ॥

सुब्रह्मण्यमन्त्रमाह-*तारमिति* । खड्गीशोवः । कूर्मश्चकारः । निःस्वरः स्वरहीनो व्यञ्जनमिति यावत् । णान्तस्तः । भुवे-स्वरूपम् । अत्र सन्धौ तकारे इकार इति ज्ञेयम् । तदुक्तं-*प्रयोगसारे* "वचद्भुवे नमो मन्त्रः सुब्रह्मण्याधिदैवत" इति । *नारायणीये तु* "तारं वचलाग्नि(१)जले शिवयोनियुतेनम" इति । अगि तगायत्र्यौ ऋषिछन्दसी । प्रणवो बीजं, वकारः शक्तिः । के चन प्रणवपुटितमाहुः । अन्ये तु मायाद्यमाहुः । तदुक्तं *प्रयोगसारे* "प्रशस्तः प्रणवाद्यन्तः शक्तिपूर्वं परे जगुरि"ति । *वह्निबीजेनेति* रेफेण । ध्यानं तु दक्षाधूर्ध्वयोः, तदधस्तयोरन्ये ॥ १२२ ॥

---

(१) "नाभिर्मः १ जलं वः । शिवडः । योनिरेकारः । तेन "भुवे" इति सिद्धम् ॥

लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं साज्येन हविषा ततः ।
दशांशं जुहुयादन्ते ब्राह्मणानपि भोजयेत् ॥ १२४ ॥
धर्माद्विकल्पिते पीठे वह्निमण्डलपश्चिमे ।
पूजयेद्विधिना देवमुपचारैर्यथोदितैः ॥ १२५ ॥
केसरेष्वङ्गपूजा स्यात्पत्रमध्यगतानिमान् ।
जयन्ताख्यमग्निवेश्यं कृत्तिकापुत्रसंज्ञकम् ॥ १२६ ॥
अनन्तरं भूतपतिं सेनान्यं गुहसंज्ञकम् ।
हेमशूलं विशालाक्षं शक्तिशूलकरान् यजेत् ॥ १२७॥
दिग्दलाग्रेषु पूर्वादि देवसेनापतिं पुनः ।
विद्यां मेधां ततो वज्रं कोणस्थान् शक्तिकुक्कुटौ ॥ १२८ ॥
मयूरं द्वीपमभ्यर्चेद्बाह्ये लोकेश्वरान्पुनः ।
अस्त्राणि तेषामन्ते स्युः सुब्रह्मण्यार्चनेरिता ॥ १२९ ॥
स्वादुभिर्भक्ष्यभोज्याद्यैः षष्ठ्यां संप्रीणयेद्विभुम् ।
पूजयेद्देवताबुद्ध्या कुमारब्रह्मचारिणः ॥ १३० ॥
सन्तानं विजयं वीर्यं रक्षामायुः श्रियं यशः ।
प्रदद्यात्साधकस्याशु सुब्रह्मण्यः सुरार्चितः ॥ १३१ ॥
अपतर्पणपूजादौ विघ्नेशं सर्वसिद्धिदम् ।
प्रीणयेदनया स्तुत्या प्राप्तये सर्वसम्पदाम् ॥ १३२ ॥
ॐकारमाद्यं प्रवदन्ति सन्तो वाचः श्रुतीनामपि यं गृणन्ति ।
गजाननं देवगणानताङ्घ्रिं भजेऽहमर्द्धेन्दुकृतावतंसम् ॥ १३३ ॥
पादारविन्दार्चनतत्पराणां संसारदावानलभङ्गदक्षम् ।
निरन्तरं निर्गतदानतोयैस्तं नौमि विघ्नेश्वरमम्बुदाभम् ॥ १३४ ॥
कृताङ्गरागं नवकुङ्कुमेन मत्तालिमालां मदपङ्कलग्नाम् ।
निवारयन्तं निजकर्णतालैः को विस्मरेत्पुत्रमनङ्गशत्रोः ॥ १३५ ॥
शम्भोर्जटाजूटनिवासिगङ्गाजलं समादाय कराम्बुजेन ।
लीलाभिराराच्छिवमर्चयन्तं गजाननं भक्तियुता भजन्ति ॥ १३६ ॥

सुब्रह्मण्य इति कार्त्तिकेयनाम । तदुक्तं *हयशीर्षपञ्चरात्रे*—"अभयं वामहस्ते स्यादम्भोजं दक्षिणे करे । कुक्कुटं वामहस्ते तु शक्तिं दक्षिणतोन्यसेत् ॥ चतुर्भुजः समाख्यात एकवक्त्रोऽग्निजस्त्वयमि"ति ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

वह्निमण्डलपश्चिम इति । अनेन चतुर्थपटलोक्तवह्निमण्डलान्तमेव पूजा । पीठशक्तिपीठपूजा नास्ति । अन्यथा वह्निमण्डलपश्चिम इति न वदेत् । चतुर्थपटल एवोक्तत्वात् ॥१२५॥

विधिनेत्युक्तं विधिमाह *केसरेष्विति* । तस्य नैवेद्यदानं पूर्वसेवाय ॥१२६–१३१॥१३२॥

गणेशस्तुतिमारभते—*ॐकारमिति* । अपरिभिन्नक्रमः । सन्तः यं श्रुतीनामाद्यं ॐकारं वाचोप्याद्यं गृणन्ति शब्दब्रह्मस्वरूपमिति यावत् ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

कराम्बुजेन—शुण्डाग्रेण । आरात् समीपे ॥ १३६ ॥

कुमारभुक्तौ पुनरात्महेतोः पयोधरौ पर्वतराजपुत्र्याः ।
प्रक्षालयन्तं करशीकरेण मौग्ध्येन तं नागमुखं भजामि ॥ १३७ ॥
त्वया समुद्धृत्य गजास्य हस्तं ये शीकराः पुष्कररन्ध्रमुक्ताः ।
व्योमाङ्गणे ते विचरन्ति तारा: कालात्मना मौक्तिकतुल्यभासः।१३८।
क्रीडारते वारिनिधौ गजास्ये वेलामतिक्रामति वारिपूरे ।
कल्पावसानं प्रविचिन्त्य देवा: कैलासनाथं स्तुतिभिः स्तुवन्ति।१३९।
नागानने नागकृतोत्तरीये क्रीडारते देवकुमारसंघैः ।
त्वयि क्षणं कालगतिं विहाय तौ प्रापतुः कन्दुकतामिनेन्दू ॥१४०॥
मदोल्लसत्पञ्चमुखैरजस्रमध्यापयन्तं सकलागमार्थान् ।
देवानृषीन् भक्तजनैकमित्रं हेरम्बमर्कारुणमाश्रयामि ॥ १४१ ॥
पादाम्बुजाभ्यामतिवामनाभ्यां कृतार्थयन्तं कृपया धरित्रीम् ।
अकारणं कारणमाप्तवाचां तं नागवक्त्रं न जहाति चेतः ॥ १४२ ॥
येनार्पितं सत्यवतीसुताय पुराणमालिख्य विषाणकोट्या ।
तं चन्द्रमौलेस्तनयं तपोभिराप्यमानन्दघनं भजामि ॥ १४३ ॥
पदं स्तुतीनामपदं श्रुतीनां लीलावतारं परमात्ममूर्तेः ॥
नागात्मको वा पुरुषात्मकोवेत्यभेद्यमाद्यं भज विघ्नराजम् ॥१४४॥
पाशाङ्कुशौ भग्नरदं त्वभीष्टं करैर्दधानं कररन्ध्रमुक्तैः ।
मुक्ताफलाभैः पृथुशीकरौघैः सिञ्चन्तमङ्गं शिवयोर्भजामि ॥ १४५ ॥
अनेकमेकं गजमेकदन्तं चैतन्यरूपं जगदादिबीजम् ॥
ब्रह्मेति यं ब्रह्मविदोवदन्ति तं शम्भुसूनुं शरणं भजामि ॥ १४६ ॥

मौग्ध्येनेति । देवीस्तनौ सदानुच्छिष्टाविति भावः । भो गजास्य ! कालात्मना त्वया हस्तमुद्धृत्य ये सीकाराः पुष्कररन्ध्रमुक्ताः "पुष्करं करिहस्ताग्र" मिति नामलिङ्गानुशासने । ते तारा विचरन्तीति गम्योत्प्रेक्षा । शीकरा न भवन्ति तारा इत्युत्प्रेक्षा इत्यर्थः ॥

स्तुवन्तीति ॥ सम्यक्ता कल्पावसानेऽस्यस्य स्तुत्यसङ्गतिरित्यलङ्कारः । वस्तुतस्तु-जनन्यनिवारणीयत्वेन तत्स्तुतिः ॥ १३९ ॥

नागकृतोत्तरीये—सर्पोत्तरीये त्वयि क्रीडारत ।इति सम्बन्धः । *कालगतिं*—कालपारवश्यं त्यक्त्वा ॥ १४० ॥ १४१ ॥

वामनाभ्यां मुखाद्यपेक्षया ह्रस्वता । एतेनास्य ह्रस्वावेवाङ्घ्री ध्येयाविति सूचितम् । आप्तवाचां वेदानां कारणं प्रवर्तयितारम् ॥ ४२ ॥

पुराणं (१)भारताख्यम् ॥ १४३ ॥

पदं—स्थानम् । अपदम् अगोचरम् ॥ १४४ ॥

शिवयोः(२) । पित्रोः अनेकमिच्छया, एकं तत्त्वतः ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

---

(१) अस्येतिहासत्वेऽपि "पुरानवं पुराणमि"ति यास्क(निरुक्त)वचनात् पुराणत्वोक्तिः ॥

(२) अत्र—शिवा च शिवश्चेति "पुमान् स्त्रिया" इति (पा० १।२।६७) एकशेषेण द्विवचनम् ॥

स्वाङ्कस्थितायाः निजवल्लभाया मुखाम्बुजालोकनलोलनेत्रम् ॥
स्मेराननास्यं मदवैभवेन रुद्धं भजे विश्वविमोहनं तम् ॥ १४७ ॥
ये पूर्वमाराध्य गजाननं त्वां शास्त्राणि सर्वाणि पठन्ति तेषाम् ।
त्वत्तो न चान्यत्प्रतिपाद्यमेतैस्तदस्ति चेत्सर्वमसत्यकल्पम् ॥ १४८ ॥
हिरण्यगर्भं जगदीशितारमृषिं पुराणं रविमण्डलस्थम् ।
गजाननं यं प्रविशन्ति सन्तस्तत्कालयोगैस्तमहं प्रपद्ये ॥ १४९ ॥
वेदान्तगीतं पुरुषं भजेऽहमात्मानमानन्दघनं हृदिस्थम् ।
गजाननं यन्महसा जनानां महान्धकारो विलयं प्रयाति ॥ १५० ॥
शम्भोः समालोक्य जटाकलापे शशाङ्कखण्डं निजपुष्करेण ।
स्वभग्नदन्तं प्रविचिन्त्य मौग्ध्यादाक्रष्टुकामः श्रियमातनोतु ॥ १५१ ॥
विघ्नार्गलानां विनिपातनार्थं यं नारिकेलैः कदलीफलाद्यैः ॥
प्रभाव(साद)यन्तो मदवारणास्यमप्रापुर्नरोऽभीष्टमहं भजे तम् ॥ १५२ ॥
यज्ञैरनेकैर्बहुभिस्तपोभिराराध्यमाद्यं गजराजवक्त्रं ।
स्तुत्याऽनया ये विधिना स्तुवन्ति ते सर्वलक्ष्मीनिधयो भवन्ति ॥ २१ ॥

इति श्रीशारदातिलके त्रयोदशः पटलः ॥ १३ ॥ * ॥

अथोच्यते चन्द्रमसो मनुः सर्वसमृद्धिदः ।
खड्गीशस्थो भृगुर्बिन्दुमनुस्वरसमन्वितः ॥ १ ॥
सोमाय हृदयान्तोऽयं मन्त्रः प्रोक्तः षडक्षरः ।
ऋषिरुक्तो भृगु श्छन्दः पङ्क्तिः सोमोऽस्य देवता ॥
दीर्घभाजा स्वबीजेन मनोरङ्गक्रिया मता ॥ २ ॥

ये पठन्ति तेषां–पुरुषाणां त्वत्तोन्यत्प्रतिपाद्यं ज्ञेयं नास्ति । चकारात्तेषां शास्त्राणामपि त्वत्तोऽन्यत्प्रतिपाद्यं ज्ञेयं नास्तीत्यर्थः । यतः सर्वेषु शास्त्रेष्वात्मनः प्रतिपादितत्वात् । एतैः शास्त्रैस्त्वदन्यत् प्रतिपाद्यते चेत्तत्सर्वमसत्यकल्पम् । तानि शास्त्राण्येव न भवन्तीत्यर्थः ॥ बौद्धशास्त्रादिवत् ॥ १४७ ॥ १४८ ॥

तत्कालयोगैरिति । हिरण्यगर्भाद्यवतारो गणेश एवैकोऽपि लीलया भवति । परमात्मरूपत्वादित्यर्थः ॥ १४९ ॥

तदेवरूपमाह *वेदान्तगीतमिति* ॥ १५० ॥

मौग्ध्यादिति लीलया । तस्य कदाचिदपि ज्ञानभ्रंशाभावात् ॥ १५१ ॥

विघ्नेत्यादिना भक्तवात्सल्यमुक्तम् । *नर इति* बहुवचनम् ॥ १५२ ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां
पदार्थादर्शाभिख्यायां त्रयोदशः पटलः ॥ १३ ॥ * ॥

अथ क्रमप्राप्तान्सौरमन्त्रान्वक्तुकामस्तस्य तेजस्त्रयात्मकत्वादाद्यन्तयोः सोमाग्न्योर्मन्त्रान् वर्दन्तःमन्त्रान्वक्तुमुपक्रमते—*अथेति* । सर्वसमृद्धिद इति विनियोगोक्तिः ॥ मन्त्रमुद्धरति-*खड्गीशेति* । खड्गीशो वः । तत्स्थो भृगुः सः । मनुस्वरस्त्र

कर्पूरस्फटिकावदातमनिशं पूर्णेन्दुबिम्बाननम् ।
मुक्तादामविभूषितेन वपुषा निर्मूलयन्तं तमः ॥
हस्ताभ्यां कुमुदं वरं च दधतं नीलालकोद्भासितम् ।
स्वस्याङ्कस्थमृगोदिताश्रयगुणं सोमं सुधाब्धिं भजे ॥ ३ ॥
रसलक्षं जपेन्मन्त्रं साधको विजितेन्द्रियः ।
षट्सहस्रं प्रजुहुयात्पायसेन ससर्पिषा ॥ ४ ॥
सोमान्तं पूजिते पीठे पूजयेद्रोहिणीपतिम् ।
अङ्गानि केसरेषु स्युस्तद्बहिः पत्रमध्यगाः ॥ ५ ॥
रोहिणी कृत्तिका भूयो रेवती भरणी पुनः ।
रात्रिरार्द्रा ततो ज्योत्स्ना कला द्वादशमध्यगाः ॥ ६ ॥
सितमाल्याम्बरधरा मुक्ताहारविभूषणाः ।
पयोधरभराक्रान्ता रचिताञ्जलयः शुभाः ॥ ७ ॥

तुर्यशस्वर औ । बिन्दुश्च तदुक्तः । तेनस्वौं । *प्रयोगसारेतु* "सवौबिन्द्वादिसोमाय नमो मन्त्रः प्रकीर्तितः" इति । क्वचि–"ह्रिन्दुमानौस्वर" इति पाठः । *नारायणीयेच–आचार्यैश्च* सौमित्युद्धृतम् । अन्ये तु इदं मृत्युञ्जयबीजम् । एतदाद्यो ग्रन्थकृताऽनुद्धृत इति वदन्ति । स्वौं बीजम् । आयेति शक्तिः । *पद्मपादाचार्यैः* मेति शक्तिरुद्धृता । अन्यत्र तु–"ऋषिरत्रि-विराट्छन्दो बीजमाद्यमुदाहृतम् । नमः शक्तिरि"ति । प्रणवप्रासादसंपुट इति केचन । "श्री-कामःश्रीपुटःकार्य"इत्यपरे ॥ १ ॥ २ ॥

स्वबीजेनेति । मन्त्राद्यबीजेन । स्व इति बीजेन वा ॥ ३ ॥

ध्यानमाह *कर्पूरेति* । दक्षिणवामाभ्यां कुमुदवरे । *वरमिति* क्वचिद्धनमिति पाठः । धनं निधिपात्रम् । अङ्कस्थमृगात् उदित उत्पन्नः आश्रयगुणो नीलिमा यत्र । तेनाङ्कोऽपि ध्येय इत्यर्थः । तदुक्तम् "भवतु भवदभीष्टद्योतिताङ्कः शशाङ्क" इति । अथवा स्वस्याङ्कस्थ-मृगेणोदित आश्रयगुणः सेवनीयगुणो येन कलङ्कित्वापवादे सत्यप्यत्यागात् । *सुधाब्धिम्* अमृतस्वरूपम् । *रसलक्षं*–षड्लक्षम् ॥ *साधकसत्तम(१)इति* अनेन विद्यामन्त्रस्य दशांश-जप उक्तः । प्रयोगेऽपि तज्जपः । तत्र धनलाभे–श्रीयोगः । कवित्वे–वाग्भवयोगः । सुखादौ प्रणवयोग इति *पद्मपादाचार्याः* ॥ ४ ॥

सोमान्तमिति । चतुर्थपटले "तस्मिन् सूर्येन्दुपावकानि"ति । अग्निमण्डलान्ता पूजोक्ता । अत्र तु सूर्याग्निमण्डले संपूज्य अन्ते सोममण्डलं पूजनीयम् । कश्चित्तु सोमान्त-मिति वह्निमण्डले पूजा न कर्तव्येत्याह । तन्न । असांप्रदायिकत्वात् । मन्त्रदेवप्रकाशिकादि-बहुग्रन्थविरोधाच्च । "पीठस्कृतौ तु सोमान्तमि"ति प्रपञ्चसारपद्यव्याख्याने पद्मपादाचार्यैः पीठार्चने सूर्यवह्निमण्डलार्चनं कृत्वा ततः सोममण्डलमभ्यर्च्य तत्र भगवन्तमावाहयेदित्यु-क्तम् । *पूजिते पीठ इति* । पीठनवशक्तिपूजापूर्वकं पीठमन्त्रेणेति शेषः । ताश्च पीठमन्त्रोऽ-पि तन्त्रान्तरोक्ता ज्ञेयाः । तद्यथा–"अमृता तारका ज्योत्स्ना विमला व्यापिनी तथा । चित्रा च कृत्तिका कान्तिः श्रवणा नव शक्तयः ॥ अमृतान्ते कलात्मने संवित्पीठाय तेनम" इति । *पद्मपादाचार्यैः* रन्याः पीठशक्तयः प्रोक्ताः । "राका कुमुद्वती नन्दा सुधा संजीवनी क्षमा । आप्यायनी चन्द्रिका च ह्लादिनी नव शक्तयः ॥ गुर्वादिक्रमतो मन्त्री न्यस्यन्ताः पूजये-दिमा"इति ॥ ५ ॥

---

(१) एषपाठोऽत्रस्थले पुस्तकान्तरेऽपि न दृश्यते । अर्थतस्तु प्रतीयते ॥

वज्रभासक्तमनसो मदविभ्रममन्थराः ।
समभ्यर्च्याः सरोजादयश्चन्द्रबिम्बनिभाननाः ॥ ८ ॥
आदित्यमङ्गलबुधमन्दवाक्पतिराहवः ।
शुक्रकेतुयुताः पूज्या दलाग्रेषु ग्रहा इमे ॥ ९ ॥
स्वस्ववर्णाम्बरोपेताः स्वनामाद्यर्णबीजकाः ।
रक्तारुणश्वेतनीलपीतधूम्रसितासिताः ॥ १० ॥
वामोरुन्यस्ततद्धस्ता दक्षिणेन धृताऽभयाः ।
अम्बुजाढ्यकरोभानुर्दंष्ट्राभीममुखः शनिः ॥ ११ ॥
राहुर्विकृतवक्त्रःस्यात्केतुः स्याद्विहिताञ्जलिः ।
लोकपालास्ततः पूज्या वज्राद्यस्त्रैःसह क्रमात् ॥ १२ ॥
एवं सिद्धमनुर्मन्त्री सम्पदां वसतिर्भवेत् ।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं तारहारविभूषितम् ॥ १३ ॥
तारापतिं स्मरन्मन्त्री त्रिसहस्रं मनुं जपेत् ।
राज्यैश्वर्यं दरिद्रोऽपि प्राप्नुयाद्वत्सरान्तरे ॥ १४ ॥
पूर्वोक्तसंख्यं प्रजपेत् शशिनं मूर्ध्नि चिन्तयन् ।
रोगापमृत्युदुःखानि जित्वा वर्षशतं वसेत् ॥ १५ ॥
ब्रह्मचर्यरतः शुद्धश्चतुर्लक्षमिमं जपेत् ।
निधानं भूगतं सद्यः प्राप्नुयाद्यत्नवर्जितः ॥ १६ ॥

कलेति शक्तिनाम । कलामीश इत्युक्तेः । कश्चित्करालीति शक्तिनाम "करालो च क्रमादिमा" इत्युक्तेः । *हारसमप्रभाः* श्वेता (१)इत्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

आदित्येति । मङ्गलः अङ्गारकः । मन्दः शनैश्चरः । वाक्पतिर्बृहस्पतिः । तत्र चतुर्दिक्षु आदित्यादयः । अग्निकोणादिषु भौमादयः पूज्या इति ज्ञेयम् । यदाहुः—"पूर्वदक्षिणपाश्चात्यसौम्यपत्रागके क्रमात् । रविश्चान्द्रिर्गुरुः शुक्रः संपूज्याः साधकैरमी ॥ अग्न्यादिषु कोणेषु भौममन्दाहिकेतवः"इति ॥ ९ ॥

स्वनामेति । स्वनाम्न आद्यर्णाः आद्यक्षराणि सबिन्दूनि येषां ते । एतेन ग्रहाणां मन्त्राः सूचिताः । ग्रहयज्ञाङ्गत्वेन तत्र सूर्यमन्त्रं वक्ष्यति । अन्येषां सतानामङ्गारकाय नम इत्यादयो ज्ञेयाः । अन्यत्रापि च पूजायामपि अयमेव प्रयोगोऽनुसन्धेयः ॥ १० ॥

वामोविति सूर्यकेतू हित्वा अन्येषां ध्यानम् । सूर्यस्तु पद्मकरः । "केतुस्तु विहिताञ्जलिरि"त्युक्तेः । तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे*—"आदित्यो द्विभुजः प्रोक्तो युवा लक्षणलक्षितः । हस्तयोः पङ्कजे तस्य कार्ये स्कन्धमिते शुभे" । केतोस्तु—"खड्गदीपधरं कृष्णमथ वा विहिताञ्जलिमि"ति । *प्रयोगसारेऽपि*—"पूर्वार्द्धकायः पिङ्गभ्रूरक्तनेत्रः कृताञ्जलिरि"ति ॥ ११ ॥ १२ ॥

तारउज्ज्वलो हारो मुक्ताहारः ॥ १३ ॥

तारापतिमिति । नायिकासहितम् ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तसंख्यमिति । त्रिसहस्रम् ॥ १५ ॥

---

(१) "हारो मुक्तावलिः"—अमरात् । मुक्ताः श्वेता भवन्तीति ॥

जितेन्द्रियो जपेन्मन्त्रं पौर्णमास्यां विशेषतः ।
भवेत्सौभाग्यनिलयः सम्पदामपरोनिधिः ॥ १७ ॥
घोरान् ज्वरान् शिरोरोगानभिचारानुपद्रवान् ।
विषाणामपि संघातं नाशयेन्मनुनाऽमुना ॥ १८ ॥
पूर्णमास्यां निराहारो दद्यादर्घं विधूदये ।
प्राक्प्रत्यगायतं कुर्याद्भूतले मण्डलत्रयम् ॥ १९ ॥
निषण्णः पश्चिमे मन्त्री मण्डले विहितासने ।
मध्यस्थे स्थापयेत्पश्चात् पूजाद्रव्याण्यशेषतः ॥ २० ॥
अन्यस्मिन्मण्डले सोममर्चयित्वाम्बुजान्विते ।
राजतं चषकं तत्र स्थापयेत् पुरतः सुधीः ॥ २१ ॥
गोदुग्धेन समापूर्य स्पृष्ट्वा तं प्रजपेन्मनुम् ।
अष्टोत्तरशतं पश्चाद्विद्यामन्त्रेण देशिकः ॥ २२ ॥
दद्यादर्घं शशाङ्काय सर्वकार्यार्थसिद्धये ।
अनेन विधिना कुर्यात्प्रतिमासमतन्द्रितः ॥ २३ ॥
षण्मासाभ्यन्तरे सिद्धिं साधकेन्द्रः समश्नुते ।
श्रियमत्यूर्जितान् पुत्रान् सौभाग्यं पुष्कलं यशः ॥ २४ ॥
कन्यामिष्टामवाप्नोति कन्यापि वरमाप्नुयात् ।
बहुना किमिहोक्तेन सर्वं दद्यान्निशापतिः ॥ २५ ॥
विद्ये विद्यामालिनि स्याच्चन्द्रिण्यन्ते ततो भवेत् ।
पुनश्चन्द्रमुखिस्वाहा विद्यामन्त्र उदाहृतः ॥ २६ ॥

शुद्ध इति अनेन त्रिषवणस्नायी पयोहारश्चेत्युक्तम् । *यत्प्रयोगसारे*–"कृत्वा त्रिषवणस्नानं क्षीराहारो निरन्तरः । जपेच्चत्वारि लक्षाणि निधानं लभते ध्रुवमि"ति ॥ १६ ॥ १७ ॥

मण्डलत्रयमिति गोमयादिना ॥ १९ ॥ २० ॥

अन्यस्मिन्–पौरस्त्ये । *सोममर्चयित्वेति* । पीठादिन्यासं विधायात्मयागं कृत्वा बहिः पीठे पङ्कजान्विते अर्चयित्वेत्यर्थः । उक्तंच–"आसीनः पश्चिमे मध्यसंस्थे द्रव्याणि विन्यसेत् । आत्मानं सकलीकृत्याभ्यर्च्याऽऽचान्तः सुरेश्वरम् । पूर्वस्मिन्पङ्कजोपेते मण्डले सोममर्चयेदि"ति । सुधीरित्यनेनैतदुक्तंभवति । विलोमं मन्त्रं जपन् पूरणं कर्पूरादीनां, कुमुदादीनां च पुष्पाणां तत्र निक्षेप इति । यदाहुः–"संस्थाप्य राजतं तत्र चषकं परिपूरयेत् । विलोमं प्रजपन्मन्त्रं गव्येव तपयसा सुधीः ॥ क्षिपेच्च तत्र कर्पूरशीतकाश्मीरकाक्षतान् । कुशग्रन्थियवांश्चैव पुष्पाण्येतानि चादरात् ॥ कुमुदेन्दीवरस्वर्णकेतकीनवमल्लिकाः । चम्पकानि यथालाभं शतपत्राणि च क्षिपेत् ॥ आवाहयेच्चन्द्रबिम्बान्निजाद्वा हृदयाद्विभुम् । एवं समावाह्य गन्धपुष्पाद्यैरर्चयेद्विधुमि"ति । निराहारोऽर्घंदद्यादित्युक्तत्वादर्घदानादनन्तरम् रात्रौ भोजनमनिषिद्धम् ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

कन्यापीति अनेनैवमादिषु स्त्रिया अप्यधिकार इत्युक्तं भवति ॥ २४ ॥

विद्यामन्त्र उदाहृत इति । अनेनैतदुक्तं नवाक्षराद्य एष एव कन्याप्रदानसमर्थ इति । नवाक्षराणि तु–"रस्त्रुरसं गंजौ प्रोक्त्वा कर्णिनि स्यान्नवाक्षरमि"ति । *नारायणीये* नवा

ततोघृणिर्भृगुः पश्चाद्वामकर्णविभूषितः ।
वह्न्यासनोमरुच्छेषः सनेत्रोत्रिस्त्यपश्चिमः ॥ २७ ॥
अष्टाक्षरोमनुःप्रोक्तोभास्तोरभिमतप्रदः ।
देवभागोमुनिः प्रोक्तोगायत्री छन्द ईरितम् ॥ २८ ॥
आदित्यो देवता प्रोक्तोदृष्टादृष्टफलप्रदः ।
सत्याय हृदयं प्रोक्तं ब्रह्मणे शिर ईरितम् ॥ २९ ॥
विष्णवे स्याच्छिखा वर्म रुद्राय परिकीर्तितम् ।
अग्नये नेत्रमाख्यातं शर्वायास्त्रमुदीरितम् ॥ ३० ॥
तेजोज्वालामणिहुंफट्द्विठान्ताः पृथगीरिताः ।
अङ्गमन्त्रान्पुनर्न्यस्येत्पञ्च मूर्त्तीर्यथाक्रमम् ॥ ३१॥
आदित्यं विन्यसेन्मूर्द्धनि रविं मुखगतं न्यसेत् ।
हृदये भानुनामानं भास्करं गुह्यदेशतः ॥ ३२ ॥

क्षरादिविद्यामन्त्रउद्धृतः—"द्विनामान्तरितं यन्त्रं पत्रे लिख्य तदासनः । जपेद्द्वादशसाहस्रमे-तदेकदिनेन यः ॥ ज्येष्ठामाराध्य शक्रर्क्षे कन्यातस्याशु दीयते" इति ॥ अथ तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रमुच्यते—"चन्द्रं चन्द्रकलाभिरन्विवशशाङ्कनामतारोदरे षट्पत्रे परितो विलिख्य च भृगु-ईन्तेन विन्द्वङ्कितः ॥ सोमायेति पदं नमः पदयुतं चालिख्य तद्बाह्यतः कादिक्षान्तगतं समर्च्य विधिना कण्ठे गले मस्तके ॥ जप्तं बद्धमिदं क्षणेन गरलप्रध्वंसि तत्पुष्टिदमि"ति ॥२९॥२६॥

सूर्यमन्त्रमाह-*तारइति* । घृणिरितिस्वरूपं, भृगुः सः । वामकर्णं ऊ तेन विभूषितस्तेन सू । महथकारो वह्नेरेफस्यासनः । तेन र्यः । शेषः अनन्त आ । अत्रिर्दः । सनेत्र इकारयुक्त-स्तेन दि । *त्यपश्चिम इति* मन्त्रविशेषणं त्य इत्यन्तमक्षरमित्यर्थः । पश्चिम इत्यनेन ओं मन्तोऽपि भवतीति सूचितम् ॥ २७ ॥

अभिमतप्रद इत्यनेन विनियोगोक्तिः । अयं मन्त्रः साक्षाच्छ्रुतिपठित इति शूद्रादेरत्र नाधिकारः । तदुक्तं तैत्तरीयशाखायां—नारायणीयोपनिषदि—"घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वैसावित्र स्याष्टाक्षरं पदं श्रिय भिषिक्तं य एवं वेद श्रिया है वाभिषिच्यत" इति । के चन श्रीमन्तमाहुः । अन्ये श्रीकामहृल्लेखापुटितं मह्यं लक्ष्मीं प्रय-च्छेत्यनेन पल्लवितमाहुः । रं बीजं, यं शक्तिः । के चन शक्तिबीजाद्यं श्रीमन्तमाहुस्तन्मते प्रणवो बीजं, माया शक्तिः । तदुक्तं-"श्रीबीजान्तः संप्रदाये मूलमन्त्रस्तु भानुषः । अयं श्री-कामहृल्लेखासंपुटोऽन्ते प्रयच्छ मे ॥ लक्ष्मीमित्थं पल्लवितः शङ्कराचार्यसंमतः । हृल्लेखापूर्वको-ऽन्तश्रीर्विश्वरूपमते स्थित"इति ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

द्विठः स्वाहा । ईरिता-उक्ताः ॥ सत्यायेत्यादयोऽङ्गमन्त्राः । पृथक्-प्रत्येकमेतदन्ता ज्ञेयाः । तत्र प्रयोगः—"सत्याय तेजो ज्वालामणिहुंफट् स्वाहा हृदयाय नमः" इत्यादि । अन्ये तु सत्यायेत्यादिचतुर्थी अविवक्षितेत्याहुः । तेन "सत्यतेजोज्वालामणिहुंफट्स्वाहा । हृदयाय नमः" इत्यादिप्रयोगः । एष एव साम्प्रदायिकः । अपेक्षितार्थद्योतनिकाकारादिभि-र्लिखितत्वात् । अत एव प्रपञ्चसारटीकाकारैः ब्रह्मेत्यत्राकारश्रुतिश्चतुर्थी निवारणायेतिव्या ख्यातम् । *पुनरिति* अनेनाष्टाङ्गोऽपि सूचितस्तत्रमन्त्रषडक्षराणिषड्ङ्गस्थानेषु षडङ्गवद्वि-न्यस्य उदरपृष्ठयोर्नमोऽन्तयोर्वर्णद्वयंन्यसेदित्यष्टाङ्गम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

सूर्यं चन्दणयोर्न्यसेद्धूर्स्वैः सद्यादिपञ्चभिः ।
प्रधानमूर्तिप्रतिमाःसर्वाभरणभूषिताः ॥ ३३ ॥
मूर्द्धास्यकण्ठहृदयकुक्षिनाभिध्वजाङ्घ्रिषु ।
मन्त्रवर्णान् न्यसेदष्टौ प्रत्येकं प्रणवादिकान् ॥ ३४ ॥
एवं न्यस्तशरीरोऽसौ चिन्तयेत्तेजसांनिधिम् ॥ ३५ ॥
रक्ताब्जयुग्माऽभयदानहस्तं केयूरहाराङ्गदभूषणाढ्यम् ।
मणिकुथमौलिं दिननाथमीडे बन्धूककान्तिं विलसत्त्रिनेत्रम् ॥३६॥
वसुलक्षं जपेन्मन्त्रं समिद्भिः क्षीरशाखिनाम् ।
तत्सहस्रं प्रजुहुयात् जीराक्ताभिर्जितेन्द्रियः ॥ ३७ ॥
पीठस्य क्लृप्तेः प्रथमं दिक्षु मध्ये च संयजेत् ।
प्रभूतं विमलं सारं समाराध्यमनन्तरम् ॥ ३८ ॥
परमादिसुखंपीठं स्वबिम्बान्तं प्रकल्पयेत् ।
दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला पुनः ॥ ३९ ॥

सद्यादीति । ओकारादिविपरीतनपुंसकवर्जितपारिभाषिकपञ्चह्रस्वैः सह यथाक्रमं पञ्चमूर्तीन्र्यसेदिति सम्बन्धः । "ॐ आदित्यायनमः" । "एं रवये नमः" "उंभानवे नमः" । इंभास्कराय नमः" "अंसूर्याय नम" इति प्रयोगः । *यथाक्रम*-मित्यनेन ऊर्ध्वादिमुखेष्व पि न्यसेदित्युक्तम् ॥ ३३ ॥

प्रत्येकमिति । तेन ॐॐ नमोमूर्ध्नीति प्रयोगः ॥ ३४ ॥

एवं न्यस्येति । अनेन नवग्रहन्यासोऽपि सूचितः । स उक्तो मया प्राक् ॥ ३१ ॥

दानं वरम् । आयुधध्यानं वामाद्यूर्ध्वयोरक्ताब्जे तदधस्तनयोरन्ये । अत्र ध्यानानन्तरं कमलबिम्बमुद्रे प्रदर्शनीये "कमलाकृतिमुद्रा तु सौरमुद्रेयमीरिते"त्युक्तेः । *प्रयोगसारेऽपि* "दर्शयेदग्रतस्त्वब्जबिम्बमुद्रे यथोदिते" इति । तत्राब्जमुद्रालक्षणं यथा "करौ तु संमुखीकृत्य संहतावुन्नताङ्गुली । तलान्तमिलिताङ्गुष्ठौ कुर्यादेषाऽब्जमुद्रिके"ति । *नारायणीये* बिम्ब मुद्रालक्षणं-"पद्माकारौ करौ कृत्वा अविश्लिष्ट तु मध्यमे । अङ्गुल्यौ धारयेत्तस्मिन् बिम्ब-मुद्रेति चोच्यते" इति । एते सर्वसौरमन्त्रसाधारणा इति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

वसुलक्षम् अष्टलक्षम् । अत्र विशेषः *प्रयोगसारे*-"रक्ताम्बरधरोरक्तगन्धमाल्यार्चितः सदा । घृतक्षीरसमायुक्तगुडभक्ताशनोनिशि ॥ भैक्षाहारोऽथवा वीतसंगः संतोषवान् सदा ॥ मन्त्रमावर्तयेन्नित्यमाराधनपरायण" इति । अन्यः पुरश्चरणसामान्यविधिर्वक्ष्यमाणएवानु-संधेयः । *तत्सहस्रम्* अष्टसहस्रम् ॥ ३७ ॥

पीठस्य क्लृप्तेः प्रथममिति । मण्डूकादिवेदिकान्तं संपूज्य धर्मादेः प्राक् परमसुखान्तान् पञ्च संपूज्य पश्चाद्धर्मादिपूजेति केचन । अन्येतु धर्मादिस्थाने प्रभूतादिकान् संपूज्य मध्ये फलकरूपेण परमसुखं पूजयेत् । धर्माधर्मादिपूजानास्तीत्याहुः । एतदेव साम्प्रदायिकम् । *उक्तञ्चनारायणीये*-"पीठाङ्घ्रीन् कल्पयेदेतान् हृदा मध्ये विदिक्षुचे"ति । एतत्सर्व-सूर्यमन्त्रसाधारणम् । दिक्ष्विति सामान्यत उक्तेरत्राग्नेयादिकोणा एव गृह्यन्ते । विदिङ्-मध्यम् । परमसुखासनस्याङ्घ्रिष्वदिशु मध्ये च पीठशक्तेः प्रागि"ति । *प्रयोगसारेऽपि*-"ईशा-नाम्बं च मध्येऽपि विदिक्ष्वेतान् प्रपूजयेदि"ति ॥ ३८ ॥

अमोघा विद्युता सर्वतोमुखी पीठशक्तयः ।
दीप्तदीपशिखाकारा बीजान्यासां विदुः क्रमात् ॥ ४० ॥
अक्लीबह्रस्वभित्यस्वरान् बिन्द्वग्निसंयुतान् ।
पदेरदं चतुर्थ्यन्तं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ ४१ ॥
सौराय योगपीठाय नमः पदमनन्तरम् ।
पीठमन्त्रोऽयमाख्यातो दिनेशस्य जगत्पतेः ॥ ४२ ॥
तारादि खं खखोल्काय मनुना मूर्तिकल्पना ।
साक्षिणं सर्वलोकानां तस्यामावाह्य पूजयेत् ॥ ४३ ॥

स्वबिम्बान्तमिति । सोमाग्निमण्डले संपूज्य सूर्यमण्डलं पूजनीयमित्यर्थः । दीप्तेत्यासां ध्यानम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"दीप्तदीपशिखाकारा ध्येया स्युर्नव शक्तय" इति ॥ ३९ ॥ ४० ॥

अक्लीबेति । ह्रस्वनिरूपणम् अइउ । अक्लीबह्रस्वत्रयपदाभ्यां नञा सह सम्बन्धः । अग्नीरेफः रांरींरूंइत्यादि नव बीजानि । अन्येतु । ह्रस्वत्रयं अइअं इत्याहुः। तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे*—"आद्योपान्त्यं तृतीयं च त्यक्त्वा चैव नपुंसकम् । भेदयेन्नवधायान्तं स्वरैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ बिन्दुयुक्तानि बीजानि शक्तीनामुद्धृतानि वै" ॥ इति । अन्यत्राकारेकारविसर्गान् हित्वा नव बीजानीति । तदुक्तं *प्रयोगसारनारायणीययोः*—"आद्यमन्त्यं तृतीयं च त्यक्त्वाऽपि च नपुंसकानि"ति ॥ ४१ ॥

पीठमन्त्र इति । सर्वसूर्यमन्त्रसाधारण इति ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥

तारादीति । खखोल्कायेति स्वरूपम् । तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे* । "याष्टमं बिन्दुना युक्तं कद्वितीयं तथैव च । तदेव केवलं भूय ओमिश्रं सविलोमकम् ॥ सविलोमाच्चतुर्थं तु तत्तृतीयोपरिस्थितम् । अक्षरं तद्द्वितीयेन स्वरेणैव प्रभेदितम् ॥ वानुलोमाच्चतुर्थं तु केवलं तदनन्तरम् । समासादुद्धृतो वत्स ! मूर्तिमन्त्रः षडक्षर" इति । अन्येषामपि सूर्यमन्त्राणां मूर्तिमन्त्र इति ज्ञेयम् । तत्राकाशबीजादिरुद्धृत इति विशेषः । अथा(थवा)त्रैवं व्याख्येयं ताश्च आदिशब्देन प्रथमोत्पन्नत्वात् आकाशस्तस्य बिन्दुः संप्रदायादिति । अथवा खमिति तन्त्रेण द्वयमुपपात्तमेकनाकाशबीजमन्येन स्वरूपम् । *प्रयोगसारेऽपि*—"सूर्यकान्ताक्षरे प्रोक्ता बिन्दुभूषितमस्तके" इति । *नारायणीये*—"स्वकान्तौ दण्डिनौ चण्डो मज्जादशनसंयुता । मांसं दीर्घाजवह्न्यायुरन्तेतस्यापि ह्यद्विदुः ॥ एतच्च साधयेत्कामानभिषेकजपादिने"ति । "ब्रह्मान्तो दन्तिनी मज्जा णान्तान्तो कायठद्वयमि"ति । निर्बीजोऽपि तत्रैवोद्धृतः । अनलकारतकारौ वैदिकपाठभेदेनेति उभावपि साम्प्रदायिकौ निर्बीजो मूर्तिकल्पनायां सबीजो जपादाविति ज्ञेयम् । अयं स्वतन्त्रोऽपि मन्त्रः । अस्यर्ष्यादि यथा "ऋषिः सूक्ष्मक आख्यातो जगतीच्छन्द ईरितम् । देवः सूर्यो बीजशक्ती कान्ताअज्जासहतूच्यते ॥ सूक्ष्मरूपायाग्निवधूः स्वाहान्तः सूक्ष्मतेजसे । सूक्ष्मकरायाग्निवधूः सूक्ष्मबलाय ठद्वयम् ॥ सूक्ष्मकायाय सहुंफट्जातियुक्ताः समीरिताः । पञ्चाङ्गमन्त्रामन्त्रार्णैः षडङ्गं वा प्रकल्पयेत् ॥ रक्तपद्मद्वयं हस्ते बिभ्राणं वरदाभये । बन्धूकाभं त्रिनेत्रं च रविं ध्यायेत्सुपूजितम् ॥ लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं क्षीराहारो जितेन्द्रियः । जुहुयात्तद्दशांशेन बिल्वाश्वत्थसमिद्वरैः ॥ सूर्यपीठेऽष्टाक्षरवत्पूजा । वक्ष्यमाणार्घ्यदानं च खेचरीसिद्धिश्च फलं ज्ञेयम् ॥ उक्तं च *नारायणीये* । "अनेन बहुभिः प्राप्ताः खेचरत्वादिसिद्धय" इति । *मूर्तिकल्पनेति* । मूलमन्त्रमुच्चार्य पश्चादिममुच्चाय मूर्तिकल्पनेति पद्मपादाचार्याः ॥ ४३ ॥

अङ्गानि पूजयेदादौ दिक्पत्रेष्वर्कमूर्त्तयः ।
आदित्याद्याश्चतस्रोऽर्च्याः शक्तयः कोणपत्रगाः ॥ ४४ ॥
स्वस्वनामादिवर्णाः स्युस्तासां बीजान्यनुक्रमात् ।
उषा प्रज्ञा प्रभा संध्या शक्तयः परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥
पत्राग्रसंस्था ब्राह्म्याद्याः पुरतोऽरुणमर्चयेत् ।
चन्द्रादीनर्चयेत्पश्चाद्ग्रहानष्टौ ततो बहिः ॥ ४७ ॥
इन्द्रादींश्च तदस्त्राणि यथा पूर्वं समर्चयेत् ।
एवं संपूज्य विधिवद्भास्करं भक्तवत्सलम् ॥ ४८ ॥
दद्यादर्घं प्रतिदिनं वारे वा तस्य चोदिते ।
प्रभाते मण्डलं कृत्वा पूर्ववत्पीठमर्चयेत् ॥ ४९ ॥
पात्रं ताम्रमयं प्रस्थतोयग्राहि मनोहरम् ।
निधाय तत्र मनुना पूरयेत्तच्छुभोदकैः ॥ ५० ॥

अङ्गानि पूजयेदिति । कर्णिकायाम् । तदुक्तं *नारायणी*—"वह्निरक्षो मारुतेशदिक्षु पूज्या हृदादयः । स्वमन्त्रैः कर्णिकान्तस्था दिक्ष्वस्त्रं पुरतश्च दृगि"ति । *आदाविति* । अनेन केसरेष्वष्टाङ्गपूजा सूचिता । *आदित्याद्या इति* । न्यासोक्तबीजसहिताः । अत्र केचनादित्यादिमूर्त्तयश्चतस्र इति सामानाऽधिकरण्यं कृत्वा सूर्यं न पूजयन्ति । तदसत् । उद्दिष्टपञ्चकमध्ये एकत्यागे कारणाभावात् । मुख्यतया कर्णिकायां संपूजित इति चेत् ? पञ्चसु कः पूजितः कोनेति नियामकाभावात् । पूर्वत्र परत्र च यत्र यत्र पञ्चकमुक्तं तत्रत्यागस्यादृष्टचरत्वाच्च । तेन पद्मपादाचार्योक्तरीत्या आदित्यंमध्ये संपूज्य रव्यादयोदिक् चतुष्के पूज्याः । चतस्र इति शक्तिविशेषणत्वेन योज्यं "पुरतोऽरुणमर्चयेदि"त्युक्तेः । कल्पितदिगपेक्षया तद्दीशदलमपि संमुखदलमिति । तेन महालक्ष्मीस्थानेऽरुणः पूज्यः । "मातृभिररुणान्ताभिरि"त्याचार्योक्तेः । *पद्मपादाचार्यास्तु*—"मातॄः संपूज्य पुरतोऽरुणमर्चयेदि"त्यूचुः । अतएव *नारायणीये*—"पूर्वपत्रे ऽरुणस्तथे"त्युक्तम् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ३ ॥

चन्द्रादीनिति । स्वबीजाद्यान् । चन्द्रः सोमः । तत्र पूर्वादिषु चन्द्रबुधगुरुशुक्रान् । आग्नेयादिषु भौममन्दराहुकेतूनिति ज्ञेयम् । प्रयोगस्तु पूर्वोक्तोऽनुसन्धेयः । अतएव *नारायणीये*—"पूर्वादिदिक्षु संपूज्याश्चन्द्रज्ञगुरुभार्गवाः । आग्नेयादिषु कोणेषु कुजमन्दाहिकेवत" । इति ॥ ४७ ॥ ३ ॥

विधिवदिति । अनेन सूर्यपरिषद्भ्योनम इति बहिःपारिषदान् पूजयेदित्युक्तम् । श्रीगुरुैश्चापि सूर्यपरिषद्भिरि"त्युक्तेः ॥ ४८ ॥ ३ ॥

प्रभाते अर्चयेदिति सम्बन्धः । *मण्डलमिति* । वृत्तम् । *कृत्वेति* । रक्तचन्दनेन । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"रक्तचन्दनगन्धेन कृत्वा वृत्तं सुशोभनम् । मण्डलमि"ति ॥ ४९ ॥

प्रस्थतोयग्राहीति । प्रस्थप्रमाणमुक्तं *श्रीधराचार्यैः*—"कुडवश्चतुः पलः स्यात्प्रस्थः कुडवैश्चतुर्भिः स्यादि"ति । *मनुना*—"विलोमपठितेने"ति शेषः । यदाहुः "प्रजपन्मनुं प्रतिगतक्रमः प्रतिपूरयेत्सुविमलैःसलिलैरि"ति । *शुभोदकैरिति* । आदित्यमण्डलाद्भिःसरदमृतधारारूपत्वेन ध्यातैरित्यर्थः ॥ ५० ॥

कुङ्कुमं रोचना राजी रक्तचन्दनवैणवान् ।
करवीरजपाशालिकुशश्यामाकतण्डुलान् ॥ ५१ ॥
निःक्षिपेत्सलिले तस्मिन्नैक्यं सञ्चिन्त्य भानुना ।
साङ्गमभ्यर्चयेत्तस्मिन् भास्करं प्रोक्तलक्षणम् ॥ ५२ ॥
गन्धपुष्पादिनैवेद्यैर्यथाविधि विधानवित् ।
तत्पिधाय जपेन्मन्त्रं सम्यगष्टोत्तरं शतम् ॥ ५३ ॥
पुनः संपूज्य गन्धाद्यैर्जानुभ्यामवनिं गतः ।
आमस्तकं तदुद्धृत्य व्योम्नि सावरणं रवौ ॥ ५४ ॥
दृष्टिं निधाय स्वैक्येन मूलमन्त्रं धिया जपन् ।
दद्यादर्घं दिनेशाय प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ ५५ ॥
कृत्वा पुष्पाञ्जलिं भूयो जपेदष्टोत्तरं शतम् ।
यावदर्घ्यामृतं भानुः समादत्ते निजैः करैः ॥ ५६ ॥
तेन तृप्तो दिनमणिर्दद्यादस्मै मनोरथान् ।
अर्घदानमिदं पुंसामायुरारोग्यवर्द्धनम् ॥ ५७ ॥
धनधान्यपशुक्षेत्रपुत्रमित्रकलत्रदम् ।
तेजोवीर्ययशः कान्तिविद्याविभवभाग्यदम् ॥ ५८ ॥

राजी(१)आसुरी *रक्तं*–रक्तचन्दनम् । चन्दनम्–श्वेतचन्दनम् । *वैणवं*–वेणु(२) बीजानि । *करवीरम्* । रक्तकरवीरपुष्पमिति परमगुरवः । जपा–रक्तजपा । *कुशं*–कुशाऽग्रम् । *तण्डुला* अक्षताः ॥ ५१ ॥

निःक्षिपेदिति । यथालाभं क्वचिच्चिन्ना अपि । *तदुक्तमाचार्यैः*–"गोरोचनाक्षततिलवैणवराजिरक्तशीताख्यशालिकरवीरजपाकुशाग्रान् । श्यामाकतण्डुलयुतांश्च यथा प्रलाभान् संयोज्य भक्तिभरतोऽर्घविधिर्विधेय" इति । *ऐक्यं संकल्प्येति* । "स्वात्मना" इति शेषः । "स्वैक्यं संभावयन्सुसमाहितधीः दृष्ट्वा दिनेशमि"त्युक्तेः । *तस्मिन्*–पात्रे । *साङ्गमिति* । षडङ्गाष्टाङ्गसहितम् । "अष्टाङ्गेनाभिसंपूज्ये"ति प्रयोगसारे उक्तेः । *प्रोक्तलक्षणम्* । पूर्वोक्तध्यानम् ॥ ५२ ॥

गन्धपुष्पादीति आदिशब्दाद्धूपदीपौ । यथाविधीत्यनेनैतदुक्तं भवति । विधानवित्तत्पिधायेति सम्बन्धः । विधानविदित्यनेनैतदुक्तं भवति सोमात्मना भावितामृतबीजयुतेन वामोपष्टब्धेन स्वदक्षिणहस्तेनेति । *सम्यगिति* । प्राणायामत्रयं षडङ्गन्यासं विधायेत्युक्तम् ५३

पुनः संपूज्य । जलमितिशेषः । *सावरणमिति* । व्योम्नि सूर्यमण्डलेऽपि स्थितमावरणसहितं देवं विलोक्येति ॥ ५४ ॥

अर्घं दद्यादिति । तत्र प्रकारः । मूलान्ते "भगवते रवये अर्घ्यं कल्पयामि नमः" इत्युच्चार्येति । *प्रसन्नेनान्तरात्मनेति* । भक्त्या दद्यादित्युक्तम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

---

(१) एतत्प्रतीकदर्शनेन मूले "मध्येनाङ्गानि कल्पयेदि"ति पाठः प्रतिभाति । किन्तु पुस्तकान्तरेऽपि यथालिखित एव पाठ उपलभ्यतेऽत्रकारणं पाठान्तरं वा मृग्यम् ॥

(१) "राई"–शब्देनैव प्रसिद्धिः । अत्र "क–ग–च–ज–त–द पवमाना प्रायोलोपः" बतीयप्राकृतसूत्रेणजलोपोबोध्यः । एवमन्यत्राप्यूह्यं यथायथम् ।

आकाशमग्निदीर्घेन्दुसंयुक्तं भुवनेश्वरी ।
सर्गान्वितो भृगुर्भानोस्त्र्यक्षरो मनुरीरितः ॥ ५९ ॥
आधारादिपदाग्रान्तं कण्ठाद्धृदयकावधि ।
मूर्द्धादिकण्ठपर्यन्तं क्रमाद्बीजत्रयं न्यसेत् ।
षड् दीर्घस्वरयुक्तेन मध्येनाङ्गक्रिया मता ॥ ६० ॥
रक्ताम्बुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं भानुं समस्तजगतामधिपं भजामि ।
पद्मद्वयाभयवरान् दधतं कराब्जैर्माणिक्यमौलिमरुणाङ्गरुचिं त्रिनेत्रम् ॥ ६१ ॥
भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं मन्त्राज्येन दशांशतः ।
तिलैर्वा मधुरासिक्तैर्जुहुयाद्विजितेन्द्रियः ॥ ६२ ॥
पूर्वोक्ते पूजयेत्पीठे विधानेनामुना रविम् ।
प्रथमावृत्तिरङ्गैः स्यात् परा चन्द्रादिभिर्ग्रहैः ॥ ६३ ॥

प्रयोजनतिलकमन्त्रमाह—*आकाशमिति* आकाशो हः । अग्नी रेफः । दीर्घं आ । इन्दु बिन्दुः । एतद्युतः । तेन ह्रामिति । *विसर्गान्वितो*—विसर्गयुक्तः । भृगुः सः । ऋष्यादि यथा—"मन्त्रोऽस्य भवेद् ब्रह्मा मुनिरुक्तोऽथवा भृगुः । छन्दोऽपि खलु गायत्री देवता तीक्ष्णदीधितिरि"ति । आद्यं बीजं, द्वितीया शक्तिः । प्रणवादिरिति केचित् । प्रयोगविशेषे "परमात्मादिरजयादिर्वे"ति पद्मपादाचार्याः । (१)अङ्गानीति । नेत्रान्तानीति ज्ञेयम् । अग्रे वक्ष्यमाणत्वादयनोक्तम् । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तमङ्गुलीषु यथा क्रमात् । न्यस्त्वा त्रिनेत्रमङ्गानि नेत्रं हस्ततले न्यसेदि"ति । *नारायणीयेऽपि*—"न्यस्याङ्गुलीषु पञ्चाङ्गं लोचनं तलयोर्न्यसेदि"ति । तथा "न्यस्त्वा नेत्रान्तमङ्गानि तथैवात्मनि संयत" इति प्रयोगसारे । *नारायणीये* चान्यान्यङ्गान्युक्तानि—"ऋतीयं विलोमेन बीजं हृदयमुच्यते । अर्कः शिरश्चतुर्थ्यन्तः कथ्यते भूर्भुवः स्वरे ॥ ज्वालिनीति शिखा गीता हुं वर्म समुदाहृतम् । द्वितीयस्वरसंभिन्नं शचतुर्थं सबिन्दुकम् ॥ नेत्रं स्वरान्तमाखण्डयान्तमस्त्रमितिक्रमादि"ति । *नारायणीये* तु—"प्रयोजनादिस्तिलकः साक्ष्यङ्गान्तः स्मृतो मनुरि"ति । न्यासे *क्रमसंग्रहे* विशेषः—"हस्तयोस्तलपृष्ठे च न्यस्य मन्त्राक्षरत्रयम् । पदान्तराधिवक्त्रेषु तथा सहंग्रहानपि ॥ मुखे बाह्वोश्च पदयो हृदरे वक्षसि क्रमात् । मूर्द्धादिपञ्चस्थानेषु हल्लेखाद्यश्च विन्यसेत्" इति । मूर्तिपञ्चकनवग्रहन्यास इति पद्मपादाचार्याश्च । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

भानुलक्षं—द्वादशलक्षम् । *अङ्गैरिति* । तत्राङ्गध्यानं यथा—"भास्वत्सरोजहस्तानि शान्तानि वरदान्यपि । अङ्गानि दिव्यरूपाणि ध्येयानि बलवन्ति च ॥ दंष्ट्राकरालमस्त्रं तु विद्युत्पुञ्जसमप्रभमि"ति । *प्रयोगसारे नारायणीयेऽपि*—"रक्ता हृदादयः सौम्या वरदाः पद्मधारिणः । विद्युत्पुञ्जनिभं त्वस्त्रमुग्रदंष्ट्रं भयावहमि"ति ॥ ६२ ॥

परा चन्द्रादिभिर्ग्रहैरिति । अत्र स्वस्वनामादिवर्णादित्वमनुसन्धेयम् । "स्वनामाद्यक्षरैर्बिन्दुभूषितैरन्वितं यजेदि"ति प्रयोगसारउक्तेः । तत्रायं विशेषः । प्रागादिस्थैश्चन्द्रबुधगुरुशुक्रैः । आग्नेयादिस्थितैर्भौममन्दराहुकेतुभिः । *तदुक्तमाचार्यैः*—"प्रागादि दिशासंस्थाः शशिबुधगुरुभार्गवाः क्रमेण स्युः । आग्नेयादिष्वस्रिषु धरणिजमन्दाहिकेतवः पूज्या" इति । *प्रयोगसारे*ऽपि—"सोममैन्द्रे बुधं याम्ये पश्चिमे तु बृहस्पतिम् । सौम्ये शुक्रं तथाग्नेय्यामङ्गारकमथासुरे ॥ शनैश्चरं ततो राहुं वायव्यां केतुमीश्वर" इति । तेजश्चण्डोऽङ्गगणः । *प्रयोगसारे* प्रयोगविशेष

---

(१) पंशमञ्जरीविजानीयर्थः ।

तृतीया लोकपालैः स्याच्चतुर्थी स्यात्तदायुधैः ।
इति संपूज्य निर्माल्यं तेजश्चण्डाय दीयताम् ॥ ६४ ॥
अर्घं प्रागीरितं दद्याद्भानवे संयतेन्द्रियः ।
सोऽपि रत्नं धनं धान्यं पुत्रपौत्रान्पशूंस्तथा ॥ ६५ ॥
वस्त्राणि भूषणादीनि दद्यादस्मै न संशयः ।
आकाशमग्निपवनसद्यान्तोऽर्घीशबिन्दुमत् ॥ ६६ ॥
मार्त्तण्डभैरवं नाम बीजमेतदुदाहृतम् ।
पुटितं बिम्बबीजेन सर्वकामफलप्रदम् ॥ ६७ ॥
ठान्तं दहननेत्रेन्दुसहितं तदुदीरितम् ।
पञ्चह्रस्वाद्यबीजेन पञ्चमूर्त्तिं प्रविन्यसेत् ॥ ६८ ॥
मध्यमादिकनिष्ठान्तमङ्गुलीषु क्रमादिकाः ।
सूर्याख्यो भास्करो भानुस्ततो रविर्दिवाकरौ ॥ ६९ ॥
शिरोवदनहृद्गुह्यपाददेशे तु ताः पुनः ।
दीर्घयुक्तेन बीजेन नेत्रान्ताङ्गानि विन्यसेत् ।
व्यापकं मूलबीजेन कुर्वीत तदनन्तरम् ॥ ७० ॥

उक्तः* स्वजन्मदिननक्षत्रे ग्रहणे वा स्वजन्मभे । ग्रहाणामपि वैषम्ये भये वा प्रत्युपस्थिते ॥ इष्ट्वादिवाकरं देवं ग्रहैः सार्द्धं यथोदितम् । मूलेन सवितुर्बीजैरन्येषां च पुरोदितैः ॥ प्रत्येकं जुहुयात्तेषां ग्रहाणां तद्दिशि क्रमात् । एकत्र वाथवा वह्निकार्यं कृत्वा विधानतः ॥ समित्स र्पिश्चरुघृतैः क्रमादष्टोत्तरंशतम् । प्रतिव्याहृतिसंयुक्तं प्रत्येकं स्मरणान्वितम् ॥ अर्कः पला- शापामार्गावश्वत्थोदुम्बरौ तथा । खदिरश्च शमी दूर्वा दर्भाश्च समिधः क्रमात् ॥ पूर्णाहुतिं ततो दद्यात्तेषां प्रत्येकमन्ततः । कृतेनानेन यज्ञेन ग्रहास्तुष्यन्ति भाविताः ॥ सर्वरोगाः प्रशाम्यन्ति संग्रामेषु जयं लभेत् ॥ अभिचारादयो दोषाः शान्तिं यान्ति न संशय" इति॥६३॥६४॥६५।६६॥

मार्त्तण्डभैरवबीजमाह—*आकाशमिति* । आकाशं हः । अग्नीरेफः । पवनोयः । स द्यान्तमो । अर्घीश ऊः । बिन्दुः एतद्युक्तः । अत्र स्वरद्वयमपि गुरूपदेशतो यथासंप्रदायमुच्चार- णीयम् । ब्रह्मा ऋषिर्निचृच्छन्दः हंबीजं, बिन्दुः शक्तिः । *ठान्तमिति* । ठान्तः ठः । दहनो- रेफः । नेत्रमिः । इन्दुर्बिन्दुः । एतद्युक्तेन ह्रिमिति । सर्वकामफलप्रदमित्यनेनैतत् संगृहीतम् । यदुक्तं *नारायणीये* "आरोग्यमायुःश्रीर्विद्या कान्तिः पुष्टिर्धनं यशः । सौभाग्यंशक्तिरैश्वर्यं लक्ष्मा मेधा वचोद्युतिः ॥ सिध्यन्त्येवं विधाः कामा मन्त्रस्यास्य प्रभावत"इति ॥ *पञ्चेति* । सद्यान्तपञ्चह्रस्वाद्यमित्यर्थः । "मूर्त्तिःसद्यावसानिका" इति नारायणीयोक्तेः ॥ ६६–६९ ॥

मध्यमादीति । मध्यमातर्जन्यङ्गुष्ठानामाकनिष्ठास्वित्यर्थः । "मध्यमाद्यनुजान्तस" इति नारायणीयोक्तेः ॥ ६९ ॥

बीजेनेति । मार्त्तण्डभैरवेण । पूर्वत्रापि । दीर्घयुक्तेन—षड्दीर्घयुक्तेन । *नेत्रान्ताङ्गा- नीति* । हृदयशिरः शिखाकवचानि विन्यस्यास्त्रमपि विन्यस्य पश्चान्नेत्रं विन्यसनीयमिति संप्रदायविदः । केचित्तु नेत्रान्ताङ्गानीति पञ्चाङ्गान्येव नेत्रान्तानि न्यसनीयानि "पञ्चाङ्गानि मनोर्यस्य नेत्रं तस्य न विद्यत" इति अस्यापवादमाहुस्तदसाम्प्रदायिकम् । "अङ्गानि कुर्या- द्दीर्घाक्षरमाबीजेन मन्त्रविद्दिग्गत श्रीपटले । "मध्येन दीर्घयुजेन प्राक्पुटेन प्रकल्पयेत् । अङ्गा- नि जातियुक्तानि क्रमेण मनुवित्तम" इति भुवनेशीपटले । एवमन्यत्रापि यत्र दीर्घवचनं तत्र

हेमाम्भोजप्रवालप्रतिमनिजरुचिं चारुखट्वाङ्गपद्मे ।
चक्रं शक्तिं च पाशं सृणिमतिरुचिरामक्षमालां कपालम् ॥
हस्ताम्भोजैर्दधानं त्रिनयनविलसद्वेदवक्त्राभिरामम् ।
मार्त्तण्डं वल्लभार्द्धं फणिमयमुकुटं हारदीप्तं भजामः ॥ ७१ ॥
लक्षत्रयं जपेन्मन्त्री बीजं बिम्बपुटीकृतम् ।
दशांशं कमलैः फुल्लैर्जुहुयान्मधुरोक्षितैः ॥ ७२ ॥
पीठे दीप्तादिभिर्युक्ते कर्णिकायामुषादिकाः ।
पूर्वादिदिक्षु संपूज्य मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ७३ ॥
आवाह्य पूजयेद्देवं वक्ष्यमाणविधानतः ।
सूर्याद्यांश्चतुरो दिक्षु विदिक्ष्वन्यं समर्चयेत् ॥ ७४ ॥
अङ्गपूजा यथापूर्वं नेत्रमीशानदिग्गतम् ।
ग्रहानष्टौ ततो बाह्ये लोकपालांस्ततः परम् ॥ ७५ ॥
अर्घप्रधानं प्रजपेन्मन्त्री मार्त्तण्डभैरवम् ।
इतिसिद्धमनुर्मन्त्री साधयेदिष्टमात्मनः ॥ ७६ ॥

षण्णां दीर्घाणां ग्रहणात् । अत्र संकोचे कारणाभावात् । नेत्रान्ताङ्गानीतिवचनेन सङ्कोच इति चेत् दपिन साम्प्रदायिकव्याख्यानानुसारेणाप्युपपत्तेः । किंच "नेत्रं तस्य विवर्जये- दि"ति वचनेन साक्षान्निषिद्धस्य नेत्राङ्गस्यसामान्यभूतेनान्यथाऽप्युपपद्यमानेन नैत्राङ्गानीति वचनेन बाधोऽपि न कर्त्तुंशक्यते । अनन्तराग्रे "अङ्गपूजा यथापूर्वमि"तिवदता त्रिक्ष्वङ्गपूजो- क्तैव । नेत्रमात्रे विशेष उक्तः । अग्रे पुरुषोत्तममन्त्रेऽपि नेत्रान्ताङ्गान्युक्तानि । तत्र च षडङ्ग- मन्त्रा नेत्रान्ता एवोक्ताः "षडङ्गमन्त्राः संदिष्टा नेत्रान्तास्तन्त्रवेदिभिरि" त्यन्तेन पूर्वोक्तमन्त्रे लिखितप्रयोगसारवचनाच्च । अस्मिन्मन्त्रे च नारायणीये "प्रांशवोऽङ्गानि षडि" ति तेन सांप्रदायिकव्याख्यैव गरीयसीत्यलम् । अत्र नेत्राङ्गोत्कर्षे तन्मन्त्रोत्कर्षोऽपि ज्ञेयः । न्यायसिद्धत्वात् ॥ ७० ॥

ध्यानमाह *हेमेति* । प्रवालं च तेन रक्तमित्यर्थः । तदुक्तं *नारायणीये*—"सिन्दूरारुण- मीशानं वामार्द्धदयितं रविमि"ति । सृणिरङ्कुशः । वेदवक्त्रं चतुर्वक्त्रम् । तदुक्तं *नारायणीये* "पाशाङ्कुशधरं देवं साक्षमालं कपालिनम् । खट्वाङ्गाब्जारिशक्तीश्च दधानं चतुराननमि"ति । दक्षाद्यूर्ध्वयोरायें, एवं वामान्तमायुधानि ध्येयानि । त्रिनयनेत्यनेन द्वादशनेत्रत्वमुक्तम् । "अष्टबाहुं द्विषट्काक्षमि"ति नारायणीय उक्तेः *वल्लभार्द्धमिति* वामे ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

दीप्तादिभिर्युक्ते पीठे सौर इत्यर्थः । उषादिकाः संपूज्येति पीठमन्त्रात्पूर्वगतकर्णिकाया मितिज्ञेयम् । आसां बीजेऽपि *विशेषोनारायणीये उक्तः* यदाहुः "न्यसेदुषां प्रभां संध्यां प्रज्ञां दिक्षु वज्रकर्णिके । दाग्डदीर्घस्वनामादिवर्णैरावाहयेत्ततः"इति । न्यसेदित्यनेन पीठन्यासे ऽप्ययं क्रम इत्युक्तम् ॥ ७३ ॥

पूजयेद्देवमिति । बिम्बबीजपुटीकृतेन नमोऽन्तेन बीजेन । "यजेद्यथोपचारान्ते त्रिम्बेन हृदयेन चे"त्युक्तेः ॥ *विदिक्ष्वन्यमिति* । पञ्चमं दिवाकरम् ॥ ७४ ॥

यथापूर्वमिति । चतुर्थोक्तरीत्या । *नेत्रमिति* । तेन ईशानदिशि अङ्गद्वयपूजनम् । *ग्र- हानिति* । पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेण ॥ *ततः परमिति* ॥ वज्रादिभिः ॥ ७५ ॥

अर्घप्रधानमिति पूर्वोक्तमर्घविधानमन्त्राऽपि कुर्यादित्यर्थः । साधयेदिष्टमित्युक्तम् ॥ ७६ ॥

शाल्याज्यतिलबिल्वानां लक्षहोमाद्भवेन्निधिः ।
राजवृक्षसमुद्भूतैः पुष्पैर्होमोऽरमाकरः ॥ ७७ ॥
जपाकुसुमहोमेन वशयत्यचिरान्नृपान् ।
मातुलिङ्गफलैर्हुत्वा धनमिष्टं लभेत सः ॥ ७८ ॥
इमं मन्त्रं जपन्मर्त्यः कान्तिं पुत्रान्बलं द्युतिम् ।
वित्तर्द्धिममितां लक्ष्मीं सौभाग्यमपि साधयेत् ॥ ७९ ॥
वियदर्द्धेन्दुसहितं तदादिः सर्गसंयुतः ।
अजपाख्यो मनुः प्रोक्तो द्व्यक्षरः सुरपादपः ॥ ८० ॥
ऋषिर्ब्रह्मा स्मृतो देवी गायत्रीच्छन्द ईरितम् ।
देवता जगतामादिः संप्रोक्तो गिरिजापतिः ॥ ८१ ॥
हसा षड्दीर्घयुक्तेन कुर्यादङ्गक्रियां मनोः ॥ ८२ ॥
उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्द्धाम्बिकेशम् ।
पाशाभीती वरदपरशू संदधानं कराग्रैः ॥
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलं
सौम्याग्नेयं वपुरवतु वश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम् ॥ ८३ ॥
भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं पायसेन ससर्पिषा ।
दशांशं जुहुयात्सम्यक् ततः सिद्धो भवेन्मनुः ॥ ८४ ॥
दीप्तादिपूजिते पीठे प्रागुक्ते पूजयेद्विभुम् ।
मूर्तिं मूलेन सङ्कल्प्य यजेदङ्गादिभिः सह ॥ ८५ ॥

तदेवाह—*शालीति ॥ बिल्वेति* । बिल्वफलानि । तदुक्तं—"सर्पिर्व्रीहितिलैर्बैल्वैः फलैर्लक्षं हुनेन्निधिरि"ति । *लक्षहोमादिति* । पञ्चविंशतिसहस्रमित्या प्रत्येकम् । *भवेन्निधिरिति* । "मन्त्रिण" इति शेषः । लभेन्निधिमिति वा पाठः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

अजपामन्त्रमाह—*वियदिति* । अग्नीषोमात्मकत्वादस्यात्रपटलउक्तिः । तयोराद्यन्तयोरुक्तेर्वियत्—हः । अर्द्धेन्दुर्बिन्दुः । तदादिः सः । सर्गोविसर्गः । *द्व्यक्षरः सुरपादप* इति ॥ अनेनैतदुक्तं भवति । जपकाले एवं ध्यायेदिति ॥ तदुच्यते—मन्त्रोच्चारणकाले मन्त्रं सुषुम्नारन्ध्रपूर्णं विश्वरूपं सदानन्दात्मकं सप्तविंशकं ब्रह्म ध्यात्वा तत्प्रभया विद्धसर्वाङ्गमात्मानमर्द्धनारीश्वररूपं षड्विंशकमीश्वरं चिन्तयेत् । पिङ्गलारन्ध्रस्थसादिबीजं पञ्चविंशकं पुरुषबीजरूपं प्राणात्मना ध्यात्वा द्वितीयबीजमिडारन्ध्रमध्यस्थचतुर्विंशकप्रकृतिरूपमपानात्मना चिन्तयेत् । विश्वरूपान् मन्त्रान् दीपाद्दीपान्तरप्रभेव निर्गच्छन्तौ वामदक्षिणभागौ इडापिङ्गले परिपूर्णसुषुम्णया स्त्रीपुरुषचिह्नितौ कृतौ ध्यायेत् । हं बीजं, सः शक्तिः ॥ ८० ॥ ८१ ॥

हसेति । संयुक्तेन । सांप्रदायिका अन्यथा षडङ्गमाहुः—सूर्यात्मने हृत् । सोमात्मने शिरः । निरञ्जनात्मने शिखा । निराभासात्मने कवचम् । अव्यक्तात्मने नेत्रम् । अतनुसूक्ष्मप्रचोदयात्मने अस्त्रम् । हामित्याद्यैरेभिरिति केचित् ॥ ८२ ॥

वामोर्ध्वादि दक्षिणोर्ध्वान्तमायुधध्यानम् ॥ ८३ ॥

भानुलक्षम् । द्वादशलक्षम् ॥ ८४ ॥

प्रागुक्ते पीठे मूर्तिं मूलेन संकल्प्य विभुम् अङ्गादिभिः सह पूजयेदिति अन्वयः ॥ ८५ ॥

कृतं वह्नुं नरवरौ दिग्दलेषु विदिक्ष्वथ ।
अर्चयेद्दूतजां गोजामञ्जाख्यामद्रिजां पुनः ॥ ८६ ॥
लोकेश्वरांस्तदस्त्राणि पूजयेद्देवमन्वहम् ।
अर्घ्यं च विधिवद्दद्यात्प्राक् प्रोक्तेनैव वर्त्मना ॥ ८७ ॥
मन्त्राद्यमातृकापद्ममपूर्णकुम्भं निधाय तम् ।
पिधाय वामहस्तेन न्यस्तमन्त्रेण संयतः ॥ ८८ ॥
अष्टोत्तरशतं मन्त्रं जपेत्तोयं सुधामयम् ।
स्मृत्वा तेनाभिषिञ्चेद्यं स भवेद्विगतामयः ॥ ८९ ॥
आयुरारोग्यविभवानमिताल्लभते नरः ।
अनेनैव विधानेन विषार्त्तो निर्विषो भवेत् ॥ ९० ॥
इन्दुभ्यां विगलत्सुधापरिचितं मन्त्रान्त्यबीजं ततः
प्राध्ये तत्परमामृताद्र्दशशिना संसिक्तमाद्यं स्मरन् ।

आदिशब्दार्थमाह—*कृतमित्यादि ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

मन्त्रेति अजपाद्यकर्णिके मातृकोक्तार्चापद्मे । संयत इत्यनेनैतदुक्तंभवति । वामह स्ततले चन्द्रमण्डलं ध्यात्वा तन्मध्ये मन्त्रं संचिन्त्य तेन हस्तेन तन्मुखं पिधायेति॥८८½॥

स्मृत्वेति पूर्वेण संबध्यते *यमिति*—लिङ्गमविवक्षितम् । नारी "नरो वा निधिनाभि-षिक्त" इत्युक्तेः ॥ ८९ ॥ ९० ॥

इन्दुभ्यामित्यन्त्यबीजगाभ्यां विसर्गावयवबिन्दुभ्याम् ॥ *तत इति* सबीजात् । तत्र प्रकारः । मनोरमप्रदेशे पद्मासने उपविश्य सुषुम्णाग्रस्थिताधोमुखसहस्रदलपद्मकर्णिका-मध्ये विसर्गचन्द्रमण्डलद्वयरूपेण ध्यात्वा तस्यां चन्द्रमण्डलद्वयाद्विगलित्बहलसुधाधारया संसिच्यमानमनाहतकमलकर्णिकागतं सकारं संचिन्त्य सुषुम्णारन्ध्रे सकारनिर्गतसुधारसेनाभि षिच्यमानं परिपूर्णसुधामयं मणिपूरस्थं बिन्दुं ध्यात्वा ततः स्रवदमृतधारापरिपूर्णं मूलाधार-स्थितं हकारं चिन्तयित्वा ततोऽमृतरसपरिपूर्णमन्त्राक्षरामृतसंसिक्तमात्मानं परमानन्दस-न्दोहनिमग्नमिव ध्यायेदिति *अस्य जीवमन्त्रस्य तन्त्रान्तरोक्तो विशेष उच्यते*—ईश्वर उवाच । अजपाराधनं देवि कथयामि तवानघे यस्य विज्ञानमात्रेण परंब्रह्माधिगच्छति ॥ हंसः पदं परेशानि ! प्रत्यहं जपते नरः। मोहान्धोयो न जानाति मोक्षस्तस्य न विद्यते ॥ श्री-गुरोः कृपया देवि ! ज्ञायते जप्यते ततः।तस्योच्छ्वासैस्तुनिःश्वासैस्तदा बन्धक्षयो भवेत्॥उच्छ्वा से चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम् ॥ तस्मात्प्राणस्तु हंसाख्य आत्मा कारेण संस्थितः ॥ नाभे रुच्छ्वासनिःश्वासा हृदयाग्रे व्यवस्थिताः । षष्टिश्वासैर्भवेत्प्राणः षट् प्राणा घटिकामता ॥ षष्टिर्नाड्या अहोरात्रं जपसंख्याऽजपामनोः । एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि ! ॥ प्रत्यहं जपते प्राणः स्पन्दानन्दमयीं पराम् । उत्पत्तिर्जपआरम्भो मृतिरस्य निवेदनम् ॥ वि ना जपेन देवेशि ! जपो भवति मन्त्रिणः । अजपेयं ततः प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी ॥ एवं जपं महेशानि ! प्रत्यहं विनिवेदयेत् । गणेशब्रह्मविष्णुभ्यो हराय परमेश्वरि ! ॥ जीवात्मने क्रमेणैव तथा च परमात्मने । षट्शतानि सहस्राणि षडेव च तथा पुनः ॥ षट्सहस्राणि च पुनः स-हस्रं च सहस्रकम् ॥ पुनः सहस्रं गुरवे क्रमेण तु निवेदयेत् ॥ आधारे स्वर्णवर्णाभे वादिसा-न्तानि संस्मरेत् । द्रुतसौवर्णवर्णानि दलानि परमेश्वरि ! ॥ स्वाधिष्ठाने विद्रुमाभे बादिलान्तानि च स्मरेत् । विद्युत्पुञ्जप्रभाभानि सुनीलमणिपूरके ॥ डफान्तानि महानीलप्रभाणि च विचि-न्तयेत् । पिङ्गवर्णे महावह्निकर्णिकाभानि चिन्तयेत् ॥ कादिठान्तानि पत्राणि चतुर्थेऽनाहते

मन्त्री मन्त्रमिमं जपेद्विषगदोन्मादापमृत्युज्वरान्
जित्वा वर्षशतं विशिष्टविभवोजीवेत्सुखं बन्धुभिः ॥ ९१ ॥
व्याहृतित्रयमग्निः स्याज्जातवेद इहावह ।
सर्वकर्माणि संभाव्य साधयाग्निप्रियां ततः ॥ ९२ ॥
ताराद्योयं मनुः प्रोक्तः पञ्चविंशतिवर्णवान् ।
ऋषिर्भृगुर्भवेच्छन्दो गायत्रं देवताऽनलः ॥ ९३ ॥
विभक्तैः पञ्चभिः षड्भिश्चतुर्भिः पञ्चभिस्त्रिभिः ।
द्वाभ्यामङ्गक्रिया प्रोक्ता वर्णैर्मूलमनोः क्रमात् ॥ ९४ ॥
ॐ आमक्तसुवर्णमाल्यमरुणस्रक्चन्दनालङ्कृतं
ज्वालापुञ्जजटाकलापविलसन्मौलिं सुशुक्लांशुकम् ।
शक्तिस्वस्तिकदर्भमुष्टिकजपस्रक्स्रुक्स्रुवाभीवरान्
दोर्भिर्बिभ्रतमञ्चिनत्रिनयनं रक्ताभमग्निं भजे ॥ ९५ ॥
गुरोर्लब्धमनुर्मन्त्री चतुर्दश्यामुपोषितः ।
जपेद्भानुसहस्राणि शुद्धाचारोजितेन्द्रियः ॥ ९६ ॥

प्रिये !। विशुद्धौ धूम्रवर्णे तु रक्तवर्णान्स्वरान्स्मरेत् ॥ आज्ञायां विद्युदाभायां शुभ्रौ हस्वौ विचिन्तयेत् । कर्पूरद्युतिसंकाशजलसहस्रदलनीरजे ॥ नादात्मकं ब्रह्मरन्ध्रं जानीहि परमेश्वरि ! । एतेषु सप्तचक्रेषु स्थितेभ्यः परमेश्वरि ! ॥ जपं निवेदयेदेनसद्‍घोरात्तमवं प्रिये ! । अजपा नाम गायत्री त्रिषु लोकेषु दुर्लभा ॥ अजपां जपतो नित्यं पुनर्जन्म न विद्यते। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ॥ अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते । अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यतो"ति ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥९१॥

अग्निमन्त्रमाह-*व्याहृतीति* । *अग्निरिति* । स्वरूपं विसर्गस्य सन्धौ रेफः। *अग्निप्रिया* स्वाहा प्रणवशक्तिपुटित इति केचित् । श्रीकामैः श्रीबीजादिर्जप्तव्यः । प्रणवोबीजं स्वाहा शक्तिः । व्याहृतित्रयम् । ततोऽग्निप्रिया ॥ ९२ ॥

ताराद्योयं मनुरिति अनेन सप्ताक्षरः सप्तव्यग्निमन्त्रोऽपि सूचितः । तदुक्तमाचार्यैः*-"वियतोदशमोविसर्गयुक्तो भुवसर्गो भृगुलान्तषोडशाद्यः।हुतभुग्दयिता ध्रुवादिकोऽयं मनुरुक्तः सुसमृद्धिदः कृशानोरि"ति । अस्य प्रणवो बीजं, स्वाहा शक्तिः, एतन्मन्त्रोक्तमेवर्ष्यादि । हृदकाभिर्व्याहृतिभिः षडङ्गम् । ध्यानं तु-"शक्तिस्वस्तिकपाशान्साङ्कुशवरदाभयानि दधान्नमुखः ।मुकुटादिविविधभूषोऽवताखिरं पावकः प्रसन्नमुखः ॥ जपेदिमं मनुमृतुलक्षमा-दराहशांशतः प्रतिजुहुयात्पयोऽन्धसा । ससर्पिषा सुसितततैश्च षाष्टिकैरि"ति । पूजा तु वक्ष्यमाणक्रमेणैवेति । अग्निरित्यादि स्वाहान्तोऽपि पृथक् मन्त्र इत्यपि सूचितं,तदुक्तं *प्रयोगसारे*। "मन्त्रोऽप्यग्निर्जातवेद इहावहसमन्वितः। सर्वकर्माण्यतः साधय स्वाहेति क्रमोदितः" इति । *अपेक्षितार्थद्योतनिकायामप्ये* तादृश उक्तः-"ख्रिवेदवेदेषुवह्निद्विवर्णरङ्गकल्पने"ति। ऋष्यादि ध्यानपूजादिकं समानमेव । आयुधध्यानं वामाधऊर्ध्वयोराद्ये तदधस्थयोरन्त्ये एवमान्तम् । ध्यानानन्तरं सप्तजिह्वाख्यमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ तल्लक्षणं यथा-"मणिबन्धस्थितौ कृत्वा प्रसृताङ्गुलिकौ करौ । कनिष्ठाङ्गुष्ठयुगले मिलित्वान्तः प्रसारयेत् ॥ सप्तजिह्वाख्यमुद्रेयं वैश्वानरवशङ्करी"ति ॥ इयं सर्वाग्निमन्त्रसाधारणीति ज्ञेयम् ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

गुरोर्लब्धमनुर्मन्त्रीचतुर्दश्यामुपोषितो जपेदित्यन्वयः । *चतुर्दश्यामिति* चैत्रकृष्णचतुर्दश्याम् । तदुक्तं-"वत्सरादेश्चतुर्दश्यां दिनादावेव दीक्षितः । मन्त्रं द्वादशसाहस्रं जपेत्सम्य-

अमावास्यादिने विप्रान् भोजयेन्मधुरोत्तरैः ।
भक्ष्यभोज्यैर्यथाशक्ति दद्यात्तेभ्योऽथदक्षिणाम् ॥ ९७ ॥
भुक्त्वास्वयं समानीय होमद्रव्याणि शोधयेत् ।
अपरं दिनमारभ्य होमं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ९८ ॥
क्रमाद्वटसमिद्व्रीहितिलराजीहविर्घृतैः ।
प्रत्येकमष्टोत्तरशतं जुहुयाद्दिनशः सुधीः ॥ ९९ ॥
दशाहमेवं निर्वर्त्य विधानेन विधानवित् ।
दत्वापूर्णाहुतिं सम्यगेकादश्यां द्विजोत्तमान् ॥ १०० ॥
सम्पूज्य तर्पयेद्विप्रैर्यथा विभवमादरात् ।
गुरवे दक्षिणां दद्यादरुणां गां पयस्विनीम् ॥ १०१ ॥
वासांसि धनधान्यानि दत्त्वा सम्प्रीणयेत्पुनः ।
स्वमण्डलान्तं प्रयजेत्पीठं सनवशक्तिकम् ॥ १०२ ॥
पीता श्वेताऽरुणा कृष्णा धूम्रा तीव्रा स्फुलिङ्गिनी ।
रुचिरज्वालिनी प्रोक्ता कृशानो नैव शक्तयः ॥ १०३ ॥
स्वबीजेनासनं दद्यान्मूर्त्तिंमूलेन कल्पयेत् ।
तत्र सम्पूजयेद्वह्निं विधिना प्रोक्तलक्षणम् ॥ १०४ ॥
अङ्गपूजां पुरा कृत्वा मूर्त्तीरष्टौ दलेष्विमाः ।
जातवेदा सप्तजिह्वोहव्यवाहनसंज्ञकः ॥ १०५ ॥
अश्वोदरजसंज्ञोन्यः पुनर्वैश्वानराह्वयः ।
कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखोदेवमुखः परः ॥ १०६ ॥
अर्च्यात्स्वस्तिकशक्तिभ्यां विराजितकराम्बुजाः ।

गुपोषित" इति ॥ ९६ ॥

मधुरोत्तरैः । शर्करादिमधुरद्रव्याधिकैः ॥ ९७ ॥ ½ ॥

अपरं दिनमिति । शुक्लप्रतिपदम् । तदुक्तं-"परेऽह्नि, प्रतिपद्येतैर्जुहुयादर्चितेऽनले" इति । *नारायणीये च*-"अश्वत्थादिषु दिगन्तेषु तिथिष्वष्टोत्तरंशतमि"ति ॥ ९८ ॥

क्रमाद् वटेति । षड्द्रव्याणि । *नारायणीये तु सप्त द्रव्याण्युक्तानि—"न्यग्रोधस-मिधो व्रीहितिलराजीघृतान्विताः । सपायसघृता नित्यमि"ति । तथा-"तैर्द्रव्यैः सप्तभिः पृथगि"ति ॥ ९९ ॥

एवं विधानेन दशाहं निर्वर्त्य विधानविदेकादश्यां पूर्णाहुतिं हुत्वा द्विजोत्तमान् सम्यक् संपूज्य तर्पयेदित्युपचारैरित्युक्तम् ॥ १०० ॥ १०१ ॥ ½ ॥

स्वमण्डलान्तं-वह्निमण्डलान्तम् ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

स्वबीजेनेति । रमित्यनेन । "रं वह्नियोगपीठाय नमः" इति आसनमन्त्रः । *विधि-नेति* । षोडशोपचारैः । प्रोक्तलक्षणमुक्तध्यानम् ॥ मूर्तीनां कथनमन्यमूर्त्तिनिवृत्त्यर्थम् ॥ *प्रयोगसारनारायणीययोरन्या मूर्तय उक्ता*-"अग्निर्वैश्वानरः पश्चात् परः प्रोक्तो हुताशनः । हुतवर्त्मा जातवेदास्ततश्चापि हुतावहः ॥ भूयोदेवमुखः सप्तजिह्वश्चेत्यग्निमूर्तयः" इति ॥ एता व्याहृतित्रयरहिते मन्त्रे ज्ञेयाः ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

लोकेशानर्चयेद्बाह्ये वज्राद्यायुधसंयुतान् ॥ १०७ ॥
इति सम्पूजयेन्नित्यं जपेत्साग्रं सहस्रकम् ।
जायते वत्सरादर्वाग्धनधान्यसमृद्धिमान् ॥ १०८ ॥
आज्यमन्नं प्रजुहुयाद्वत्सराल्लभते श्रियम् ।
कुसुमैर्ब्रह्मवृक्षस्य दधिक्षौद्रघृतप्लुतैः ॥ १०९ ॥
करवीरप्रसूनैर्वा मण्डलात्स्यात्समृद्धिमान् ।
षण्मासं कपिलाज्येन जुहुयाद्वत्सरान्तरे ॥ ११० ॥
तस्य संजायते लक्ष्मीः कीर्तिस्त्रैलोक्यवन्दिता ।
शालिभिर्जुहुयान्नित्यं विधिनाष्टोत्तरं शतम् ॥ १११ ॥
व्रीहिभिर्महिषान्नाद्यैर्भवनं तस्य पूर्यते ।
तिलहोमेन महतीं लक्ष्मीमाप्नोति मानवः ॥ ११२ ॥
पलाशबिल्वखदिरशमीदुग्धमहीरुहाम् ।
विकङ्कतारग्वधयोः समिद्भिः करवीरजैः ॥ ११३ ॥
प्रसूनैः कुमुदैः पद्मैः कह्लारैरुत्पलैः ।
जातीप्रसूनैर्दूर्वाभिर्नित्यमष्टोत्तरं शतम् ॥ ११४ ॥
एकेन जुहुयान्मन्त्री प्रतिपत्स्वथ वा सुधीः ।
साधयेदखिलान्कामान् षण्मासान्नात्र संशयः ॥ ११५ ॥
उत्तिष्ठ पुरुष ब्रूयाद्धरिपिङ्गलतत्परम् ।
लोहिताक्षपदं देहि मेददापयठद्वयम् ॥ ११६ ॥
चतुर्विंशत्यक्षरात्मा समृद्धिमनुरीरितः ।
ऋष्याद्यः पुरा प्रोक्ताः षड्भूतकरणैस्त्रिभिः ॥ ११७ ॥
चतुर्भिर्युगलेनार्णैर्मूलमन्त्रसमुद्भवैः ।
विदधीत षडङ्गानि जातियुक्तानि मन्त्रवित् ॥ ११८ ॥

जुहुयादिति । षण्मासम् ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ $\frac{१}{२}$ ॥

विधिनाष्टोत्तरं शतमिति विधिनेति प्रतिप्रतिपदं चेत्युक्तम् नित्यम् जुहुयात् प्रतिप्रतिपदं चेति विकल्पः । एकेन नित्यमष्टोत्तरं शतमिति ॥ दुग्धभूरुहएकस्य यस्य कस्य चिदुग-दुणात्दुणोत्पलै रक्तकमलैं "रक्तकुवलयैरित्यपि ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

यत्कोशश्च "रक्तोत्पलं कोकनदं रक्ताब्जे रक्तसन्ध्यक" इति ॥ अतः सप्तसमिधः सप्तपुष्पाणि एका दूर्वेति पञ्चदश द्रव्याणि । तत्र प्रतिपदादि पर्वपर्यन्तं प्रत्यहमेकैकेनाष्टोत्तरशतं जुहुयात् । एवं प्रतिपक्षं यावत्षण्मासपूर्त्ति । अथ वा प्रतिपत्स्विवति पक्षे एकेन एकैकेन तेन तस्मिन् दिवसे पञ्चदशभिर्द्रव्यैः प्रत्येकमष्टोत्तरशतसंख्यया जुहुयात् ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

तुरगाग्निमन्त्रमाह–*उत्तिष्ठेति* । ठद्वयं स्वाहा ॥ समृद्धिमनुरित्यनेन विनियोगोक्तिः मन्त्रस्थहलो बीजानि । स्वराः शक्तयः । प्रणवो बीजम् । स्वाहा शक्तिरिति पद्मपादाचार्याः । प्रणवाद्य इति केचित् ॥ नृसिंहबीजाद्य इत्यन्ये । लक्ष्मीबीजाद्य इत्यपरे । मृत्युञ्जयाद्य इत्यपि केचन । प्रयोगे देहिमे एतत् पूर्वं साध्ययोगोऽपि कार्यः । प्रयोगसारनारायणीययोर्लोहिताक्षमेपदद्वयातिरिक्तः प्रणवादिर्विंशत्यक्षरएवोद्धृतः । तदुक्तम्–"उत्तिष्ठपुरुषेत्यु-

स्वर्णाश्वत्थविनिर्गतं हुतवहं सिन्दूरपुञ्जप्रभं
ज्वालाभिर्निचिताङ्गरोमनिचयं कल्पया जगन्मोहनम् ।
अध्याकारमनर्घरत्नविलसत्भूषालसत्कन्धरं
रत्नैरिन्द्रियघनिर्गलैर्वसुमतीमाच्छादयन्तं स्मरेत् ॥ ११९ ॥
लक्षं मन्त्रं जपेदेनं पयोऽन्नेन ससर्पिषा ।
दशांशं जुहुयाद्वह्नौ तुरगाग्निमनुस्मरन् ॥ १२० ॥
पीठे प्रागीरितेऽभ्यर्च्यैदङ्गैस्तन्मूर्तिभिः सह ।
आशापालैस्तदीयास्त्रैरर्चयेद्धव्यवाहनम् ॥ १२१ ॥
प्रातः स्नानरतो मन्त्री सहस्रं योजपेन्मनुम् ।
जित्वा रोगान्सुखं जीवेत् श्रिया वर्षशतं नरः ॥ १२२ ॥
हन्प्रमाणे जले स्थित्वा भानुमालोक्य संयतः ।
चतुः सहस्रं प्रजपेन्नित्यं संवत्सरावधि ॥ १२३ ॥
अपमृत्युभयं रोगं कृत्यादारिद्र्यसम्भवान् ।
क्लेशान्निर्जित्य तेजस्वी जीवेद्वर्षशतं पुनः ॥ १२४ ॥
कृत्तिकायां प्रतिपदि शालिहोमो धनप्रदः ।
हुत्वा शमीसमिद्भिर्वा प्रतिपत्सु भवेद्धनम् ॥ १२५ ॥
इष्टावासिर्भवेदाज्यैः पद्मैः ग्राममवाप्नुयात् ।
तिलैर्ज्योतिष्मतीभूतैरिपुराज्यं जयेन्नृपः ॥ १२६ ॥
अश्वत्थसमिधोमेषीघृताक्ता जुहुयान्नरः ।
कन्यामिष्टामवाप्नोति सापि तं वरमाप्नुयात् ॥ १२७ ॥
शुद्धाज्येन कृतो होमो ज्वरनाशकरः स्मृतः ।
सप्ताहं जुहुयान्मन्त्री बन्धूककुसुमैः शुभैः ॥ १२८ ॥
साग्रं सहस्रमचिरान्महती श्रियमाप्नुयात् (मश्नुते) ।
मासं क्षीरेण गव्येन क्षीराहारी जितेन्द्रियः॥ १२९ ॥
सहस्रं जुहुयान्मन्त्री सम्पदामाश्रयोभवेत् ॥ १३० ॥
आज्याक्तदूर्वाहोमेन जीवेद्वर्षशतं नरः ।
अष्टोत्तरशतं नित्यं हविषा मृगमुद्रया ॥ १३१ ॥

क्त्वा हरिपिङ्गलदेह्यथ॥ दद्यापयेति ताराद्दिः स्वाहान्तो मन्त्र ईरित"इति ॥ चतुर्थीपुष्पध्धियुगैर्वर्णैश्चाङ्गं पुरोदितमि"ति ॥*भूतेति*। भूतैः पञ्चभिः। करणैश्चतुर्भिः॥११६।११७।११८।११९॥

लक्षमनुंजपेदिति तत्र प्रकारोऽपेक्षितार्थद्योतनिकायां कृत्तिकाविशाखयोर्मध्ये अष्टमी-चतुर्दशी वा यदि भवति तदाभिजित्काले पुरश्चरणमारभ्य शमीरक्तचन्दनकरवीरकाणामन्यतमेनाग्निप्रतिमामावाह्य मूलेनावाहनादि विसर्गान्तं कर्म कुर्वन् त्रिषवणस्नायी त्रिसहस्रं त्रितं चतुस्त्रिंशदधिकं नित्यं जप्त्वाभिघारितशमीसमिद्भिस्ताङ्क पायसेन वा तदर्द्धं जुहुयान् मासं गुरोश्च गामपि दद्यात्सिद्धो भवति। उभयोः संध्ययोर्मध्याह्ने वा करवीरपुष्पैरर्चयेदिति ॥१२०॥

प्रागीरित इति" अश्वत्थे । तत्र कल्पतरुस्थाने स्वर्णाश्वत्थः पूजनीयः । ध्याने तथोक्तः ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥

जुह्वतोजायते लक्ष्मीर्धनधान्यसमृद्धिदा ।
प्रतिमासं प्रतिपदि जुहुय.दयुतं घृतैः ॥ १३२ ॥
श्रीभवेन्महती तत्र षण्मासादनपायिनी ।
अरुणैरुत्पलैः फुल्लैर्मधुरत्रयसंयुतैः ॥ १३३ ॥
जुहुयाद्वत्सराद्धं यः स भवेदिन्दिरापतिः ।
अरुणाब्जैस्त्रिमध्वक्तैर्जुहुयादन्वहं सुधीः ॥ १३४ ॥
सहस्रं वत्सरार्द्धेन भवेद्भूमिपुरन्दरः ।
वत्सरं जुह्वतस्तु स्याल्लक्ष्मीरिन्द्रेण वाञ्छिता ॥ १३५ ॥
जुहुयादमृताखण्डैः पयोक्तैः सप्तवासरम् ।
त्रिसहस्रं प्रतिदिनं मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ॥ १३६ ॥
कृत्याद्रोहज्वरोन्मादरोगान् जित्वा निरन्तरम् ।
जीवेद्वर्षशतं भूत्वा तेजसा भास्करोपमः ॥ १३७ ॥
करवीरजपाबिल्वपलाशनृपभूरुहाम् ।
प्रसूनैः कुमुदैः फुल्लैः कुरण्टैर्जातिसम्भवैः ॥ १३८ ॥
पुष्पैर्हुत्वा त्रिमध्वक्तैर्मन्त्री प्रतिपदं प्रति ।
आप्नुयान्महतीं लक्ष्मीं वत्सराद्वाञ्छिताधिकाम् ॥ १३९ ॥
आदाय तण्डुलं प्रस्थं निर्मलं साधुशोधितम् ।
गोदुग्धेन हविः कृत्वा केवलं तेन कल्पयेत् ॥ १४० ॥
आज्याक्तं तत्समादाय पूजिते हव्यवाहने ।
गन्धपुष्पादिभिः सम्यग्जपित्वाष्टोत्तरं शतम् ॥ १४१ ॥
जुहुयात्प्रतिपत्स्वग्नि ध्यात्वा तुरगविग्रहम् ।
जायते वत्सरादर्वाग्लक्ष्मीस्त्रैलोक्यमोहिनी ॥ १४२ ॥
मन्त्रेणानेन सञ्जप्तां वचां खादेद्दिनागमे ।
भारती निवसेत्तस्य मुखाम्भोजेऽतिनिश्चला ॥ १४३ ॥
अष्टोत्तरशतं जप्तं जलं प्रातः पिबेन्नरः ।
जठराग्निर्ज्वलेत्तस्य घृतेनेव हुताशनः ॥ १४४ ॥
कृत्वा नवपदात्मानं मण्डलं प्रागुदीरितम् ।
कलशान्नव कल्याणान्स्थापयेत्प्रोक्तवर्त्मना ॥ १४५ ॥

मृगमुद्रयेति । मृगमुद्रालक्षणं तु—"मिलित्वाऽनामिकाङ्गुष्ठमध्यमाग्राणि योजयेत् । शिष्टाङ्गुल्युच्छ्रिते कुर्यान्मृगमुद्रेयमीरिते"ति ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ । १३५ ॥ ॥ १३६ ॥ १३७ ॥

अमृता—गुडूची *नृपभूरुह* । राजवृक्षः ॥ १३८ ॥

हुत्वेति । प्रत्येकं शतम् । "एकैकशः शतमि"त्याचार्योक्तेः ॥ १३९ ॥ १ ॥

गोदुग्धेनेति ॥ रक्तवर्णगोदुग्धेन । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—शालेयैस्तण्डुलैः प्रस्थैं शोण· गोक्षीरसोधितम् । हविः पिण्डं घृताक्तं तु जुहुयादाज्यमिश्रितमि"ति ॥ १४० ॥ १ ॥

क्षीरवृक्षत्वगुद्भूतैः क्वाथैस्तान्पूरयेत्क्रमात् ।
वस्त्रादिभिरलङ्कृत्य नवरत्नानि निःक्षिपेत् ॥ १४६ ॥
मध्ये सम्पूजयेदग्निं मूर्त्तीरष्टौ दिशं क्रमात् ।
कुम्भेषु गन्धपुष्पाद्यैर्धूपदीपैर्मनोरमैः ॥ १४७ ॥
स्पृष्ट्वा जपेत्ततः कुम्भान् मन्त्रमष्टोत्तरं शतम् ।
अभिषिञ्चेत्ततः साध्यं विनीतं दत्तदक्षिणम् ॥ १४८ ॥
ज्वरग्रहमहारोगदारिद्र्यधादीन्विजित्य सः ।
जीवेद्वर्षशतं सम्यगभिषिक्तः श्रिया सह ॥ १४९ ॥

इति श्रीशारदातिलके चतुर्दशः पटलः ॥ १४ ॥ * ॥

अथ वक्ष्ये महामन्त्रान्विष्णोः सर्वार्थसाधकान् ।
यस्य संस्मरणात् सन्तो भवाब्धेः पारमाश्रिताः ॥ १ ॥
तारं नमः पदं ब्रूयान्नरौ दीर्घसमन्वितौ ।
पावनोणाय मन्त्रो यं प्रोक्तो वस्वक्षरान्वितः ॥ २ ॥
साध्यनारायणः प्रोक्तो मुनिश्छन्द उदाहृतम् ।
मन्त्रस्य देवी गायत्री देवता विष्णुरव्ययः ॥ ३ ॥

सम्यग्जपित्वेति ॥ लक्ष्मीबीजार्णमित्युक्तम् ॥ कवलहोमानन्तरमष्टोत्तरसहस्रं शतं वा घृतेन जुहुयादिति अपेक्षितार्थद्योतानकाकार आहस्म ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥ *नवपदात्मानं*—नवनार्भम् ॥ *प्रागित* तृतीये ॥ *प्रोक्तवर्त्मना*—षष्ठपटलोक्तरीत्या ॥

इति श्री शारदातिलकटीकायां सत्संप्रदायकृतव्याख्यायां
पदार्थादर्शाभिख्यायां चतुर्दशः पटलः ॥ १४ ॥ * ॥

क्रमप्राप्तान्विष्णुमन्त्रानाह-*अथेति* । सर्वार्थेति सकामं प्रति विनियोगोक्तः । मुमुक्षुं प्रत्याह-यस्येति ॥ १ ॥

मन्त्रमुद्धरति-*तारमिति* नरौ नकाररेफौ । दीर्घ आ तेन समन्वितौ, तेन ना रा इति । अत्र नमः शब्दस्य रोत्वे गुणे च आकार इति ज्ञेयम् । पवनोयः । णार्येति स्वरूपम् । वस्वक्षरोऽष्टाक्षरः । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* "नाभसं पञ्चमे षष्ठे स्थितं वर्णद्वयं क्रमात् । द्वितीयो मिश्रसंयुक्तस्तृतीयः स्यात्तु पञ्चमः ॥ वह्निर्वायुस्ततः प्रोक्तौ सानन्तौ त्रिचतुर्थकौ ॥ चतुर्थं पञ्चमस्तद्वन्मन्त्रान्ते वातुवर्णकम् ॥" इति ॥ प्रणवो बीजं आयेति शक्तिः । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"ज्वलन्नभःश्रुतेरादिबिन्दुमान्विष्णुरव्ययः । बीजमष्टाक्षरस्य स्यात्तेनाष्टाक्षरता भवेत् ॥ अथ पञ्चदशाद्वर्णात् केवलं व्यञ्जनोक्ततात् । उत्तरोमन्त्रशेषस्तु शक्तिरित्यस्य कथ्यत" इति ॥ २ ॥

साध्यनारायणो नामान्तर्यामीति देशिकाः । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"अन्तर्यामी ऋषिश्छन्दो गायत्री"ति ॥ प्रत्यर्णमृष्यादि यथा—गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रऋषिस्तथा ॥ जमदग्निर्वसिष्ठश्च कश्यपोऽत्रिश्च कुम्भजः ॥ गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च । त्रिष्टुब्जगत्यौ च विराट् वसवोऽष्टौ च देवता"इति ॥ ३ ॥

क्रुद्धोल्काय हृदाख्यातं महोल्काय शिरः स्मृतम् ।
वीरोल्काय शिखा प्रोक्ता द्युल्काय कवचं स्मृतम् ॥ ४ ॥
सहस्रोल्कायास्त्रमुक्तमङ्गक्लृप्तिरियं मता ।
भूयोवर्णैर्मनोःषड्भिः षडङ्गानि समाचरेत् ॥ ५ ॥
अवशिष्टौ पुनर्वर्णौ विन्यसेत्कुक्षिपृष्ठयोः ।
बद्धदिक् चक्रमन्त्रेण मन्त्रवर्णांस्तनौ न्यसेत् ॥ ६ ॥
आधारे हृदये वक्त्रे दोःपन्मूलेषु नासिके ।
कण्ठे नाभौ हृदि कुचे पार्श्वपृष्ठेषु तत्परम् ॥ ७ ॥

पञ्चाङ्गमन्त्रोद्धारमाह—*क्रुद्धोल्कायेत्यादि* । चतुर्थ्यन्तोद्धारेण सर्वेषां स्वाहान्तता जातिः पूर्वमुक्ता । *उक्तंच मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"उल्कैः क्रुद्धमहावीरद्युसहस्रेति पूर्वकैः । एषां विभक्तियुक्तानां भवेदन्तेऽग्निवल्लभे"ति ॥ *अन्यत्रापि*—"क्रुद्धोल्कादिपदैर्वह्निजाया-न्तैर्जातिसंयुतैरि"ति ॥ ४ ॥

अङ्गक्लृप्तिरियं मतेति अनेन पूर्वं करन्यासः सूचितः । स यथा "कुर्यात्करयोर्विधिवत् सृष्ट्यादिन्यासमष्टमन्त्रार्णैः । दक्षिणतर्जन्याद्या सृष्टिः स्याद्वामतर्जनीं यावत् ॥ तर्जन्युभ-याद्येह स्थितिः कनिष्ठाद्वयान्तिका क्रमतः । सृष्टेर्विपरीतःस्यात्संहारोऽयं करे प्रोक्तः ॥ अ-ष्टाङ्गं विन्यस्य स्थितिक्रमादङ्गपञ्चकं न्यस्येदि"ति ॥ तत्र विशेषो *नारायणीये*—"कनिष्ठा-दितदन्तानामङ्गुलीनां त्रिपर्वसु । ज्येष्ठाग्रेण क्रमात्तारुद्धानष्टाक्षरान् न्यसेदि"ति ॥ पञ्चा-ङ्गमुक्त्वाष्टाङ्गमाह—*भूय इति* ॥ तत्र षडङ्गवदेव षडक्षराणि विन्यस्य "णां उदराय नमः" "यं पृष्ठाय नमः" इति कुक्षिपृष्ठयोर्न्यसेत्तदुक्तम् अष्टाक्षरेण व्यस्तेन कुर्याच्चाष्टाङ्गकं सुधीः । सहृच्छिरः शिखा वर्म नेत्रास्योदरपृष्ठकं" इति ॥ *ईशानशिवेन* तूक्तम्—अस्य स्याद्धृदय-न्तारः शिरोनार्णः शिखा च मो ॥ नावर्णः कवचं शस्त्रं रावर्णो नयनं परः ॥ उदरं पृष्ठमन्त्यौ च वर्णौ हि नमसायुताविऽति ॥ *अन्यत्रापि*—"हृदयशिरः पूर्वशिखा कवचास्त्राक्ष्युदरपृष्ठक-न्मिन्नैरि"ति ॥ इदमेव सांप्रदायिकम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

बद्धदिगिति ॥ छोटिकां वादयन् । *चक्रमन्त्रेणेति* । अग्रिमपटले वक्ष्यमाणेन । "ऐंह्रींचक्रेण बध्नामि" इत्यादिना । चतुर्थपटले सामान्यास्त्रमन्त्रेण दिग्बन्ध उक्तः । अत्र मन्त्रविशेषकथनाय पुनर्वचनम् ॥ मन्त्रवर्णांस्तनौन्यसेदित्यनेन सृष्टिस्थितिसंहारन्यासः सूचितः । यदाहुः—"मूर्द्धन्यक्ष्णोरास्ये हृदि नाभौ गुह्यजानुपादेषु ॥ सृष्टिरियं निर्दिष्टा नाभ्यादिहृदन्तिका स्थितिस्तद्वत् ॥ संहारःपादाद्यो मूर्द्धान्तः कथितएव सृष्ट्यादिरि"ति ॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे तु*—"नाभावारभ्यते यस्तु हृदये च समाप्यते । स्थितिन्यासः स विज्ञेयो दृष्टादृष्टफलप्रद"इति॥ इदमेवसांप्रदायिकम् । तत्रैव विशेषः"विन्यसेद्वर्णमेकैकं बिन्दुन्तंभ्रुववे-ष्टितम् । तत्राङ्गुलीभिर्न्यासःस्याच्छिरस्येकैव मध्यमा॥ तर्जनी मध्यमाभ्यां तु चक्षुषोर्न्यास इष्यते ।अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु मुखे न्यासः प्रकीर्त्तितः ॥ हृदये ज्ञानमुद्रास्यादङ्गुष्ठश्च कनि-ष्ठिका । नाभौ प्रकीर्त्तिता गुह्ये अनङ्गुष्ठाः प्रकीर्त्तिताः ॥ सर्वा जानौ च पादे च पञ्चापि परि-कीर्त्तिता" इति ॥ ६ ॥

एवं पञ्चाङ्गाष्टाङ्गाक्षरन्यासानुक्त्वा दशावृत्तिमयं विभूतिपञ्जरन्यासमाह—*आधारेति* ॥ अत्र प्रत्येकमक्षरं प्रणवपुटितं कृत्वा न्यसेत् ॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* तथोक्तेः । प्रत्यावृत्तिसंपू-र्णेन व्यापकं च ॥ तथाच *पद्मपादाचार्याः*—मन्त्री मन्त्रवर्णेति न्यासमन्त्राणां प्रणवपुटितत्वं प्रतिपर्यायं व्यापकन्यासश्चोक्तमिति पूर्वार्द्धेनैकावृत्तिः । तत्र कः समासः द्वितीयार्द्धेन द्वि-तीया । तृतीयार्द्धेन तुर्यादष्टमान्तं पञ्च । तत्र दक्षकरसन्धिचतुष्टयाङ्गुष्ठवर्जं चतुरङ्गुलिष्वेका ॥

मूर्द्धास्य नेत्रश्रवणघ्राणेषु तदनन्तरम् ।
दोःपादसन्ध्यङ्गुलिषु धातुप्राणेषु हृत्स्थले ॥ ८ ॥
मूर्द्धेक्षणास्यहृत्कुक्षिसोरुजङ्घापदद्वये ।
एकैकशोऽन्यसेद्वर्णान् गण्डांसोरुपदेषु च ॥ ९ ॥
चक्रशङ्खगदाम्भोजपदेष्ववहितो न्यसत् ।
अष्टार्णोऽष्टप्रकृत्यात्या ज्ञेयोऽसौ चतुरात्मनाम् ॥ १० ॥
संयोगात्सूरिभिः प्रोक्तो विशिष्टो द्वादशाक्षरः ।
अतस्तन्मन्त्रवर्णाद्या द्वादशस्वरसंयुताः ॥ ११ ॥
द्वादशादित्यसहिता मूर्त्तीर्द्वादश विन्यसेत् ।
केशवाद्याः क्रमाद्देहे वक्ष्यमाणविधानतः ॥ १२ ॥
ललाटे केशवं धात्रा कुक्षौ नारायणं पुनः ।
अर्यम्णा हृदि मन्त्रेण माधवं कण्ठदेशतः ॥ १३ ॥

अन्ये तु दक्षहस्तसन्धित्रयपञ्चाङ्गुलिष्वित्यूचुः । एवं वामकरे द्वितीया दक्षपादे तृतीया । वामपादे चतुर्थी । अन्ये तु करद्वयसन्धिष्वेका । पदद्वयसन्धिष्वन्या । अङ्गुष्ठद्वयवर्जकराङ्गुलीषु तृतीया एवं पादाङ्गुलिषु चतुर्थीत्याहुः । हृदय एव त्वगादिषु पञ्चमी ॥ पञ्चमार्द्धेन नवमी । श्लोकेन दशमी । तत्र गण्डांसोरुचरणेषु चतुरो वर्णान्विन्यस्य चक्रशङ्खगदापद्मस्थानेषु शिष्टांश्चतुरो वर्णांस्तदायुधमुद्रासहितान्विन्यसेदित्यवहितपदेन सूचितमिति संप्रदायविदः ॥ तन्मुद्रालक्षणं तु "वाममुष्ट्यन्तरेऽङ्गुष्ठे दक्षिणे सरलाङ्गुलीः । वामाङ्गुष्ठः स्पृशेदग्रे योजितः सरलोदरः ॥ अन्योऽन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथिताङ्गुली । अङ्गुल्यौ मध्यमे भूयः संलग्ने सुप्रसारिते ॥ गदामुद्रेयमाख्याता भुक्तिमुक्तिकरी तथा ॥ चक्रपद्ममुद्रालक्षणे प्रागुक्ते ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ ई ॥

मूर्त्तिपञ्जरं वक्तुं तदुपोद्घातत्वेन द्वादशाष्टाक्षरयोरैक्यमाह *अष्टेति* । अष्टप्रकृतयः प्रथमपटलोक्ताः । अष्टप्रकृतय इत्यनेनाष्टतत्त्वन्यासः सूचितः । स द्विविधः संहारसृष्टिरूपः । तत्र संहारे मन्त्रोऽनुलोमः । सृष्टौ मन्त्रः प्रतिलोमः।तत्त्वानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कारमहत्प्रकृतिरूपाणि ॥ स्थानानि तु पादलिङ्गहृदयमुखमूर्द्धहृदयानि सप्त । सर्वतनौ चैकं सृष्टौ तत्त्वानुलोम्यवज् ज्ञेयम् ॥ *तत्र प्रयोगः* "ॐ नमः पराय पृथिव्यात्मने नमः" पादयोः । "नं नमः पराय जलात्मने नमः" लिङ्ग इत्यादि संहारे । ततः सृष्टौ प्रयोगः—"यं नमः पराय प्रकृत्यात्मने नमः" सर्वशरीरे । "णां नमः पराय महदात्मने नमो हृदी"त्यादि । तदुक्तम्—क्षितिसलिलाऽनलपवनव्योमाहङ्कृतिमहत्प्रकृत्याख्यैः । व्युत्क्रमगदितैरेतैः क्रमगतमन्त्रार्णसंयुतैर्मन्त्री ॥ चरणान्धुहृदयवक्त्रकहृद्वद्वयव्यापकेषु विन्यस्येत् । संहारोऽयङ्गदितो विपरीता सृष्टिरस्य निर्दिष्टे"ति । *चतुरात्मनां* तुर्योक्तानाम् ॥ अनेन बिन्दुनादशक्तिशान्तरूपाणामात्मादिचतुष्टयानां शरीरे व्यापकत्वेन न्यासः सूचितः। *प्रयोगश्च*—"ॐ बिन्दुरूपात्मने नमः" "ॐ नादरूपान्तरात्मने नमः" "ॐ शक्तिरूपपरमात्मने नमः" "ॐ शान्तिरूपज्ञानात्मने नम" इति ॥ १० ॥ ई ॥

न्यासमेवाह—*अत इति* तन्मन्त्रवर्णाद्याः—द्वादशाक्षरमन्त्रवर्णाद्याः । द्वादशस्वराः नपुंसकचतुष्टयव्यतिरिक्तास्तैः संयुताः ॥ ११ ॥

द्वादशादित्यसहिताः । केशवाद्या द्वादश मूर्त्तीर्देहे वक्ष्यमाणविधानतः क्रमात् विन्यसेदिति सम्बन्धः ॥ *तत्र प्रयोगः*—"ॐ केशवधातृभ्यां नमः" ललाट इत्यादि । केचन

वरुणेन च गोविन्दं पुनर्दक्षिणपार्श्वके ।
अंशुना विष्णुमंसस्थं भगेन मधुसूदनम् ॥ १४ ॥
गले विवस्वता युक्तं त्रिविक्रममनन्तरम् ।
वामपार्श्वस्थमिन्द्रेण वामनाख्यमथांसके ॥ १५ ॥
पूष्णा श्रीधरनामानं गले पर्जन्यसंयुतम् ।
हृषीकेशाह्वयं पृष्ठे पद्मनाभं ततः परम् ॥ १६ ॥
त्वष्ट्रा दामोदरं पश्चाद्विष्णुना ककुदि न्यसेत् ।
द्वादशार्णं महामन्त्रं ततो मूर्द्धनि प्रविन्यसेत् ॥ १७ ॥
पुनः किरीटमन्त्रेण व्यापकं विन्यसेत्ततः ।
ब्रूयात्किरीटकेयूरहारं मकरकुण्डलम् ॥ १८ ॥

"धातृसहिताय केशवाय नमः" इति ॥ अन्ये तु "केशवाय धात्रे नमः" इत्याहुः । *कुक्षाविति* वैकल्यान्नाभिभागो लक्ष्यते । *अर्यम्णेति* ॥ पश्चात्तनेन संबध्यते । कण्ठदेशत इत्यस्याग्रिमेण संबन्धः ॥ १२ ॥ १३ ॥ ई ॥

अंशुना विष्णुमिति पश्चात्तनेन संबध्यते ॥ *अंसस्थमिति* ॥ दक्षिणांऽसस्थम् ॥ *गले* ग्रीवादक्षिणभागे ॥ दक्षिणपार्श्वत इत्यतो दक्षिणपदानुवृत्तेरुभयत्र ॥ अथांसक इत्यस्याग्रिमेण संबन्धः ॥ तत्रांसके वामाङ्के ॥ *गले*-ग्रीवावामभागे ॥ वामपार्श्वस्थमित्यतो वामपदानुवृत्तेरुभयत्र । तदुक्तम् "दक्षिणपार्श्वांसतद्गले ॥ तथा वामत्रये" इति ॥ अन्यत्रोभयत्र गलस्थाने कर्णमाहुः ॥ १४ ॥ १५ ॥ ई ॥

हृषीकेशाह्वयमिति । पूर्वेण संबध्यते ॥ १६ ॥

त्वष्ट्रेत्यपि । *ककुदीति*। पृष्ठगतग्रीवाभागे । तदुक्तं-"*स्वायम्भुवे नारसिंहे*-"केशवं विन्यसेत्तार्क्ष्यैर्मूर्द्धदेशेऽथ विष्णुना । नाभौ नारायणं देवं विष्णुं तेन समन्वितम् ॥ माधवं हृदि विन्यस्येन्मन्मथेन च संयुतम् । मन्मथान्तेन संयुक्तं गले गोविन्दसंज्ञकम् ॥ विष्णुं भूतस्वरेणाथ दक्षपार्श्वे विनायकम् ॥ तदंशे मातृतीयेन सूदनं मधु पूर्वकम् ॥ बिन्दुना शिवयुक्तेन दक्षकर्णे त्रिविक्रमम् ॥ वामनं श्रीधरं चैव हृषीकेशमतःपरम् ॥ वामेचैकारमोकारमौकारं बिन्दुना सह । बिन्दुना पद्मनाभं च पृष्ठदेशे तदङ्गयुक् ॥ अन्त्यं ककुदि दामेन द्वादशाङ्गमिति स्मृतम् ॥ द्वादशेमानि बीजानि नादबिन्दुयुतानि च । आदित्या द्वादश प्रोक्ता द्वादशाक्षरसंयुता" इति ॥ *अन्यत्रापि*-"केशवादियुगषट्कमूर्त्तिभिर्धातृपूर्वमिहिरान्नमोऽन्तगान् ॥ द्वादशाक्षरभवाक्षरैः स्वरैः क्लीबवर्णरहितैः पृथग्न्यसेदि"ति ॥ केशवादिमूर्त्तीनामत्रोद्देशाच्च क्लीबरहितत्वं गम्यते ॥

*महामन्त्रम्-*अष्टाक्षरम् । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*-"अष्टाक्षरेण सहितं विन्यसेद्द्वादशाक्षरमि"ति । मन्त्रविन्मूर्ध्नीत्यष्टाक्षरेण सार्द्धमित्यर्थ इति पद्मपादाचार्याः ॥१७॥ ई ॥

किरीटमन्त्रमुद्धरति-*ब्रूयादिति* । हारमित्यादौ शब्दकर्म्मणि द्वितीया । मन्त्रे तु संबुध्यन्तानि सर्वाणि ॥ *कुण्डलमिति* । कुण्डलालङ्कृतेति मन्त्रभागः । तथापि पद्मपादाचार्याः मन्त्रविन्मकरान्ते कुण्डलमिति मकरकुण्डलालङ्कृत इति पदाध्याहारः सुचित इति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*-"तारः किरीटकेयूरहारान्ते मकरं पदम् । कुण्डलालङ्कृतेत्यन्ते चक्रशङ्खगदा पद्मि"ति श्री भूमिसहितस्वात्मज्योतिद्वयमिति स्वरूपं न तुज्योतिः पदस्य द्विरुक्तिः । *तथाचाचार्याः*"श्रीभूमिसहितस्वात्मज्योतिर्द्वयपदं वदेदि"ति । आयुधध्यानं तु दक्षोर्ध्वदक्षाधोवामोर्ध्ववामाधः क्रमेण । तदुक्तं *हयशीर्षपञ्चरात्रे*-"पङ्कजं दक्षिणे यस्य पाञ्च-

शङ्खचक्रगदाऽम्भोजंहस्तं पीताम्बरं धरम् ।
श्रीवत्साङ्कितवक्षोऽन्ते स्थलशब्दमुदीरयेत् ॥ १९ ॥
श्रीभूमिसहितं स्वात्मज्योतिर्द्वयमुदा(१)हृतम् ।
पश्चाद्दीप्तिकरायेति सहस्रादित्यतेजसे ॥ २० ॥
नमोऽन्तः प्रणवाद्योऽयं किरीटमनुरीरितः ।
एवं न्यासन्तनौ कृत्वा ध्यायेन्नारायणं परम् ॥ २१ ॥
उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शङ्खं गदां पङ्कजं
चक्रं बिभ्रतमिन्दिरावसुमती संशोभि पार्श्वद्वयम् ।
केयूराङ्गदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिह्नं भजे ॥ २२ ॥
विकारलक्षं प्रजपेन्मनुमेनं समाहितः ।
तद्दशांशं सरसिजैर्जुहुयान्मधुरप्लुतैः ॥ २३ ॥
पीठे सम्पूजयेद्देवं विमलादिसमन्विते ।
विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा ततः परम् ॥ २४ ॥
प्रह्वी सत्या तथेशानाऽनुग्रहा नवमी तथा ।
नमो भगवते ब्रूयाद्विष्णवे च पदं वदेत् ॥ २५ ॥

जन्यं तथोपरि । वामाधस्तु गदायस्य चक्रं चोर्ध्व व्यवस्थितम् ॥ आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं केशवेन प्रकीर्त्त्यते” इति केशवलक्षणमुक्त्वा—“अधरोत्तरभावेन(२) कृतमेतत्तु यत्र वै । नारायणाख्या सा ज्ञेया स्थापिता भुक्तिमुक्तिदे”ति॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि*—“सव्यान्यपाणौ प्रथमे तु पद्मं बिभ्राणमब्जन्तदनन्तरं च । आद्ये गदावामकरेऽथ चक्रं विराजयन्तं भुवनानि भासे”ति ॥ ध्यानविशेषाश्च तत्रैव—“वामे विचिन्त्या कमलायताक्षी हेमाभवर्णा कमला च देवी । विभूतिकामेन सुरत्नहारा प्रेम्णा सृजन्ती नयने हरौ या ॥ तदा देवं सुवर्णाभं चिन्तयेद्रत्नभूषितम् । क्षेत्रधान्यसुवर्णानां प्राप्तये धरणीं स्मरन् ॥ देवीं दूर्वादलश्यामां दधानां शालिमञ्जरीम् । चिन्तयेद्भारतीं देवीं वीणापुस्तकधारिणीम् ॥ दक्षिणे देवदेवस्य पूर्णचन्द्रनिभाननाम् । क्षीराब्धिफेन पुञ्जाभे वसानां श्वेतवाससी ॥ भारत्या सहितं विष्णुं ध्यायेद्देवं परात्परम् । वेदवेदार्थसंवेदी जायते सर्ववित्तमः” ॥ इति । *नारायणायेतु*—“प्रणवद्वयमध्यस्थो नमोऽन्तश्च सबीजकः । निर्बीजो मोक्षकृन्मन्त्रो यथोक्तप्रणवादिक”इति । अत्र ध्यानानन्तरं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालायुधमुद्राः प्रदर्शयेत् ॥ *तल्लक्षणानि तु*—“अन्योऽन्यपृष्ठकरयोर्मध्यमानामिकाङ्गुली ॥ अङ्गुष्ठेन तु बध्नीयात्कनिष्ठा मूलसंश्रिते ॥ तर्ज्जन्यौ कारयेदेषा मुद्रा श्रीवत्ससंज्ञिता ॥ अनामापृष्ठसंलग्ना दक्षिणस्य कनिष्ठिका ॥ कनिष्ठिकान्या बध्नीयादनामां दक्षतर्ज्जनीम् ॥ गृहीत्वा दक्षिणाङ्गुष्ठमध्यमानामिकात्रयम् ॥ उच्छ्रयित्वा तत्र वामतर्ज्जनीमध्यमे न्यसेत् ॥ दक्षिणे मणिबन्धे च वामाङ्गुष्ठं तु योजयेत् ॥ मुद्रेयं कौस्तुभस्योक्ता दर्शनीया प्रयत्नतः ॥ स्पृशेत्कण्ठादि पादान्तं तर्ज्जन्याङ्गुष्ठनिष्ठया ॥ करद्वयेन मालावन्मुद्रेयं वनमालिके”ति ॥ आयुधमुद्रालक्षणं तन्त्रतन्त्रपूर्वमेवोक्तम् ॥ २२ ॥

---

(१) अत्रमुदीरयेदितिपाठोऽन्यत्रदृष्टः ।
(२) अत्र उत्तरोत्तरभावेनेतिपाठः प्रामादिकः ॥

सर्वभूतात्मने वासुदेवायेति वदेत्ततः ।
सर्वात्मसंयोगपदाद्योगपद्मपदं पुनः ॥ २६ ॥
पीठात्मने हृदन्तोऽयं मन्त्रस्तारादिरीरितः ।
दत्वानेनासनं मन्त्री मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ २७ ॥
आवाह्य पूजयेद्देवं सुगन्धिकुसुमादिभिः ।
अङ्गान्यभ्यर्च्य मन्त्रार्णान्केसरेषु समर्चयेत् ॥ २८ ॥
दलेषु वासुदेवाद्या मूर्त्तीः शक्तिसमन्विताः ।
वासुदेवं संकर्षणं प्रद्युम्नमनिरुद्धकम् ॥ २९ ॥
हिमपीततमालेन्द्रनीलाभाः पीतवाससः ।
शङ्खचक्रगदाम्भोजधरा एते चतुर्भुजाः ॥ ३० ॥
शान्तिश्रियं सरस्वत्या रतिं कोणदलेष्विमाः ।
श्वेतकाञ्चनगोदुग्धदूर्वावर्णाः सुभूषिताः ॥ ३१ ॥
हेतीनर्चेद्दलाग्रेषु शङ्खं चक्रं गदाम्बुजे ।
कौस्तुभं मुसलं खड्गं वनमालां यथाक्रमम् ॥ ३२ ॥
रक्ताच्छपीतकनकश्यामकृष्णासिपाण्डुरान् ।

विकारलक्षं(१)षोडशलक्षम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ १/२ ॥

दत्त्वानेनासनं मन्त्रीति ॥ अनेनैतदुक्तम् । आत्मपूजायामासनं दत्त्वाआसनादिगन्धान्तं कृत्वा(?) किरीटमन्त्रेण पुष्पाञ्जलिपञ्चकं दद्यादिति ॥ *तदुक्तमाचार्यैः "विधिवत्किरीटमन्त्रेण कुर्यात्पुष्पाञ्जलीनपी"ति ॥ २७ ॥

सुगन्धिकुसुमादिभिरिति । आदिशब्देन धूपदीपनैवेद्यानि । *अङ्गानीति* कर्णिकान्तश्चतुर्थपटलोक्तप्रकारेणाङ्गानि संपूज्याग्रादिकेसरेषु क्रमादष्टाङ्गभूतान् मन्त्रार्णानर्चयेत् ॥ ॐ नमः । नं नम इत्यादि प्रयोगः । "बीजैः पूजा स्याद्विभक्त्या वियुक्तै"रित्युक्तेः ॥ अत्राङ्गपूजावत् पूजा न कार्य्या । अष्टाङ्गकं सुधीरिति न्यास एवाष्टाङ्गविनियोगो नतु पूजायामिति विशेषज्ञा इत्यर्थ इति पद्मपादाचार्यैरुक्तत्वात् ॥ अत एवात्र मन्त्रार्णानित्युक्तं नाष्टाङ्गमिति ॥ मन्त्रार्णध्यानमुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे*—'ॐकारं तु सदा ध्येयं ज्योतिर्मालासमाकुलम् । नकारं मेघवर्णाभं मोकारं चिन्तयेत्ततः ॥ भिन्नाञ्जनसमाकारं तृतीयं बीजमुत्तमम् ॥ नाकारं श्यामवर्णाभं सौम्यरूपं सुशोभनम् ॥ राकारं जलवर्णाभं सम्यक् सन्दीप्ततेजसम् ॥ धूम्रवर्णं सदा ध्येयं यकारं परमुत्तमम् । अनौपम्यगुणाकारं णाकारं च विचिन्तयेत् ॥ यकारन्तु ततो ध्येयं पद्मरागसमप्रभमि"ति ॥ २७ ॥ २८ ॥

दलेष्विति ॥ दलमध्येषु । इदं सामान्यवचनम् । अग्रे "कोणदलेषु ता" इत्युक्तेर्मूर्त्तीनामग्रादिचतुर्दिग्दलमध्ये पूजेति ज्ञेयम् ॥ आसां ध्यानमत्र मूलदेवतावत् ज्ञेयम् । एवमग्रिममन्त्रेऽपि ॥ २९ ॥ ३० ॥

कोणदलेष्विति । आग्नेयादिकोणदलमध्ये । "तथा वह्न्यादयः कोणा विदिग्वाचकयोगत" इत्युक्तेः ॥ ३१ ॥

हेतीनिति । वक्ष्यमाणान्यायुधानि । हेतिशब्दः पुल्लिङ्गोऽप्यस्ति । यथाक्रममित्युत्तरत्र सम्बध्यते ॥ ३२ ॥

---

(१) "षोडशकस्तु विकार" इति साङ्ख्यमत ईश्वरकृष्णोक्तेः ॥

बहिरग्रे समभ्यर्च्चेद्गरुडं कुङ्कुमप्रभम् ॥ ३३ ॥
मुक्तामाणिक्यसंकाशौ दक्षिणोत्तरतो निधी ।
ध्वजं वरुणदिग्भागे श्यामलं पूजयेत्ततः ॥ ३४ ॥
अरुणं विघ्नमाग्नेये श्याममार्यं निशाचरे ।
श्यामां दुर्गां वायुकोणे सेनान्यं पीतमीश्वरे ॥ ३५ ॥
इन्द्रादीन्पूजयेत्पश्चाद्वज्राद्यायुधसंयुतान् ।
इति सम्पूजयेद्विष्णुं प्रोक्तैरावरणैः सह ॥ ३६ ॥
धर्मार्थकामान् लब्ध्वान्ते विष्णोः सायुज्यमाप्नुयात् ।
प्रणवो हृद्भगवते वासुदेवाय कीर्त्तितः ॥ ३७ ॥

बहिरिति ॥ अष्टदलाद्बहिः । चतुरस्रान्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

निधी—शङ्खपद्मौ *वरुणदिग्भागे*—देवतापृष्ठदेशे । *धर्मार्थकामानिति* । अर्थे श्री बीजादित्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"श्रीबीजेन युतं मन्त्रं तत्कामस्तन्मना जपेदि"ति । कामनायामपि विशेषः—"नारसिंहमिवात्मानं देवं ध्यात्वातिभैरवम् । मन्त्रेण स्पर्शयेच्छत्रुं नाविजित्य निवर्त्तते ॥ नारसिंहेन बीजेन मन्त्रं योज्य तदा जपेत् । शतमष्टोत्तरं जप्त्वा वामहस्ताभिमन्त्रिताः ॥ पुनः पुनरपः सिंचेत्सर्पदष्टोऽपि जीवति । गारुडेन तदा युक्तं पञ्चार्णेन तदा जपेत् । निर्विषीकरणं ध्यायेद्विष्णुं गरुडवाहनम् । अशोकफलके पक्षी(१)-मालिख्याशोकसंहतौ ॥ अशोकपुष्पैराराध्य भगवन्तं तदग्रतः । जुहुयात्तानि पुष्पाणि त्रिसन्ध्यं सप्तरात्रकम् ॥ प्रत्यक्षो जायते पक्षी वरमिष्टं प्रयच्छति । गाणपत्यसमायुक्तं जपेल्लक्षं पयोव्रतः महागणपतिं देवं प्रत्यक्षमिह पश्यति । भारतीबीजसंयुक्तं षाण्मासिकजपाच्च तामि"ति ॥ तथा—"योजयेत्प्रणवं पूर्वं मन्त्रे त्रैवर्णिकः पुमान् । योषितश्च तथा शूद्रा जपेयुः प्रणवं विना ॥ आदावष्टाक्षरस्य स्यात्प्रणवः सार्वकामिकः । आदावन्ते यदाप्येष ज्ञानवृद्धिस्तदा भवेत् ॥ आदितः संहितां कुर्यादन्ततस्तु न संहितामि"ति ॥

कल्पोक्तं यन्त्रमुच्यते—"अष्टपत्रं च षट्कोणं रविसंख्यदलाम्बुजम् । दन्तपत्रं च तद्बाह्ये वृत्तं भूमिपुरं शुभम् ॥ ससाध्यं कर्णिकायां तु लिखेदाद्यस्वरं सुधीः । अष्टपत्रेषु मूलार्णान्पत्राग्रे श्रीकरं लिखेत् ॥ षट्कोणे चक्रमन्त्रार्णान् सूर्यारे द्वादशार्णकम् । दन्तपत्रे मन्त्रराजं वृत्ते नृहरिबीजकम् ॥ षण्मन्त्रै रविसंयुक्तं साक्षाद्विष्णोश्च मन्दिरम् । आवाह्य मन्त्रैराराध्य सूत्रैर्बध्वा दृढं वहन् ॥ सर्वदा तस्य वर्द्धन्ते धनारोग्यार्थसम्पदः । सायुज्यं सार्ष्टिं सालोक्यं सारूप्यं वाथवाञ्छितमि"ति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३/१ ॥

द्वादशाक्षरवासुदेवमन्त्रमाह—*प्रणव इति* हृन्नमः । अत्रापि भगवते परतः पूर्ववत्सन्धिः । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"अन्त्यौ यौ(२) पञ्चमे षष्ठे वक्तव्यौ क्रमतस्तुतौ । द्वि-

(१) अत्र "छन्दसीवनिपौचे"—तिमत्वर्थे-ईप्रत्ययोबोध्यः ॥ अनुष्टुप्छन्दस्कत्वादस्य ॥ येत्वाहुः "छन्दसिविहितं कार्यंवेदएवप्रवर्त्तते" इति ते भ्रान्ताइतिमहाकवीनाम्मतम् । अतएव "सन्तस्थिवांसमगरोपकण्ठे" इत्यादयो महाकविप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । छन्दस्येव लिटः क्वसुप्रत्ययाम्नानात् । छन्दः शब्दो हि गायत्री प्रमुखं छन्द"इत्यभिधानबलेन गायत्र्यादौ प्रवर्तमानो लौकिके वैदिके च छन्दोबद्धे बलवत्प्रयोक्तव्य इति हि तेषाम्मतम् ।

(२) अन्त्यो हान्तं । अकचटतपयशा इत्यष्टवर्गाः । तत्र पञ्चमे वर्गे अन्त्योनः । षष्ठे वर्गेऽन्त्योमः । स मिश्रसंयुक्तः ओयुक्तः तेन मो । वारुणं बीजं वः । सानन्तं आयुतं—तेन वा ।

प्रधानं(१) वैष्णवे तन्त्रे मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः ।
ऋषिः प्रजापतिश्छन्दो गायत्री परिकीर्त्तिता ॥ ३८ ॥
देवताऽस्य मनोः प्रोक्ता वासुदेवो मनीषिभिः ।
तारेण हृदयं प्रोक्तं नमसा शिर ईरितम् ॥ ३९ ॥
चतुर्वर्णैः शिखाप्रोक्ता पञ्चार्णैः कवचं मतम् ।
समस्तेन भवेदस्त्रमङ्गकल्पनमीरितम् ॥ ४० ॥
मूर्द्धनि भाले दृशोरास्ये गले दोर्हृदयाम्बुजे ।
कुक्षौ नाभौ ध्वजे जानुद्वये पादद्वये तथा ॥ ४१ ॥
विष्णुं शारदचन्द्रकोटिसदृशं शङ्खं रथाङ्गं गदा-
मम्भोजं दधतं सिताब्जनिलयं कान्त्या जगन्मोहनम् ।
आबद्धाङ्गदहारकुण्डलमहामौलिं स्फुरत्कङ्कणं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं वन्दे मुनीन्द्रैः स्तुतम् ॥ ४२ ॥

तीयो मिश्रसंयुक्तस्तस्माद्भगवते पदम् ॥ सानन्तं वारुणं बीजं जीवः स्याच्छिवसंयुतः । पञ्चमस्थो भगी रामो वायान्ते द्वादशार्णकः ॥ स्त्रीशूद्रयोर्वितारोऽयं सतारोऽयं द्विजन्मनामि"ति । ॐ बीजं, नमःशक्तिः । तदुक्तं बीजं तारः, शक्तिर्नम इति ॥ अङ्गक्लृप्तिरुदीरितेत्यनेन द्वादशाङ्गमपि कर्त्तव्यमित्युक्तम् । तद्यथा—"ॐ हृदयाय नम" इत्यादि पञ्चाङ्गन्यासस्थानेषु पञ्चाङ्गवदेव विन्यस्य नेत्रयोर्नेत्राभ्यां वौषडिति विन्यस्य "तेजठराय नम" इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु न्यसेत । तदुक्तं—"हृदादिं नेत्रजठरपृष्ठबाहूरुजानुषु । सपादेषु मनोर्णैर्नमोन्तैर्द्वादशाङ्गकमि"ति । *पद्मपादाचार्यास्तु*—पुरुषसत्याच्युतवासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धनारायणब्रह्मविष्णुनरसिंहवाराहमूर्तीनां द्वादशाङ्गे योगमाहुः । अन्यत्रापि "आदौ पुरुषः सत्याच्युतौ पुनर्वासुदेवपूर्वाः स्युः । नारायणयुग्ब्रह्माविष्णुर्नृसिंहौ तथा वराहश्चे"ति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

मूर्द्धनीति । "विन्यसेन्मन्त्रवर्णानि"ति शेषः । अयं सृष्टिन्यासः । अत्र स्थितिसंहारावपि ज्ञेयौ । यदाहुः "हृदादिकान्तावधोमं स्थितिन्यासं प्रचक्षते । पादादारभ्य शीर्षान्तं न्यासंसंहारमूचिरे ॥ संहृतेर्दोषसंहारः सृष्टेश्च सुतपुष्टदः । स्थितेस्तु शान्तिविन्यासस्तस्मात्कार्यस्त्रिधा च स" इति । अन्यत्र व्यवस्थाऽप्युक्ता । यदाहुः-"स्थितिन्यासो गृहस्थानामुद्दिष्टः सर्वसिद्धिदः । प्रथमाश्रमिणां न्यास उत्पत्तिः समुदाहृतः ॥ यतीनां च वनस्थानां संहारः समुदाहृतः । विरक्तस्य गृहस्थस्य संहारोऽपि विधीयते ॥ सपत्नीकवनस्थानां स्थितिन्यासो विधीयते । विद्यार्थिनामथैतेषां सृष्ट्यन्तोऽपि विशिष्यत" इति । अत्र सामान्यतो न्यसेदित्युक्तत्वादेषु द्वादशतत्त्वान्यपि न्यसेत् । तद्यथा—"ॐ नमः पराय जीवात्मने नमः" मूर्द्धनीत्यादि । तत्त्वानि तु-"जीवप्राणधियश्चित्तं हृत्पद्मं सूर्यमण्डलम् । चन्द्रमण्डलमग्नेश्च मण्डलं स्वकलान्वितम् ॥ वासुदेवादयश्चेति तत्त्वानि द्वादशावदन्" इति *हयशीर्षपञ्चरात्रे* । आयुधध्यानं तूर्ध्वादिदक्षयोश्चक्रपद्मे । एवं वामयोर्गदाशङ्खौ । तदुक्तं *हयशीर्षपञ्चरात्रे* । "वासुदेवं तु कुर्वीत चतुर्बाहुं सुरेश्वरम् । दक्षिणोपरि चक्रं तु पद्मं चाधः प्रकल्पयेत ॥ वामोपरि गदा कार्या शङ्खं चाधः सुशोभनमि"ति । अत्र ध्यानानन्तरं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाञ्जलिमुद्राः प्रदर्शयेत् । "अञ्जल्याऽञ्जलिमुद्रा स्याद्वासुदेवाभिधा च सा" इत्युक्तेः । एता अग्रिममन्त्रेऽपि दर्शनीयाः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

जीवः सः । शिवः उः । तेन संयुतः तेन सु । पञ्चमवर्गस्तवर्गस्तस्थो रामस्तृतीयो दः स च भगी । एयुतः तेन दे । स्पष्टमन्यत् । (१) प्रधानशब्दो नित्यनपुंसक इति प्रधान इति पाठः प्रामादिकः ॥

वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं दीक्षितोविजितेन्द्रियः ।
तत्सहस्रं प्रजुहुयात्तिलैराज्यपरिप्लुतैः ॥ ४३ ॥
पीठे प्रागीरिते मूर्त्तिं मूलमन्त्रेण कल्पयेत् ।
पूजयेद्विधिनाऽनेन वासुदेवं विधानवित् ॥ ४४ ॥
प्रथमावृत्तिरङ्गैः स्यात् वासुदेवादिभिः परा ।
शन्त्यादिशक्तिसहितैः परा द्वादशमूर्त्तिभिः ॥ ४५ ॥
चतुर्थी सुरनाथाद्यैर्वज्राद्यैः पञ्चमी मता ।
एवं सम्पूजितोविष्णुः प्रदद्यादिष्टमात्मनः ॥ ४६ ॥
पायसेन घृताक्तेन मन्त्रवर्णसहस्रकम् ।
जुहुयान्मनसः शुद्ध्यै समिद्भिः क्षीरभूरुहाम् ॥ ४७ ॥
तत्संख्यया यथोक्ताभिः सर्वपापविमुक्तये ।
हृल्लेखाबीजयुगलं रमाबीजयुगं पुनः ॥ ४८ ॥
लक्ष्म्यन्ते वासुदेवाय हृदन्तः प्रणवादिकः ।
चतुर्दशाक्षरोमन्त्रः प्रोक्तोऽयं सुरपादपः ॥ ४९ ॥
हृदयं शक्तिबीजाभ्यां रमाभ्यां शिर ईरितम् ।
लक्ष्म्यै प्रोक्ता शिखा वर्म वासुदेवाय कीर्त्तितम् ॥
नमसास्त्रं समुद्दिष्टं सर्वं तारादि कल्पयेत् ॥ ५० ॥
विद्युच्चन्द्रनिभं वपुः कमलजावैकुण्ठयोरेकतां
प्राप्तं स्नेहवशेन रत्नविलसद्भूषाभिरालङ्कृतम् ।
विद्यापङ्कजदर्पणं मणिमयं कुम्भं सरोजं गदां
शङ्खं चक्रममूनि बिभ्रदमितां दिश्याच्छ्रियं वः सदा ॥ ५१ ॥
वर्णलक्षं जपेदेनं तत्सहस्रं सरोरुहैः ।
होमं कुर्याद्विकशितैर्मधुरत्रयसंयुतैः ॥ ५२ ॥
पूजा स्याद्वैष्णवीपीठे द्वादशाक्षरवर्त्मना ।
पायसेन कृतोहोमो लक्ष्मीवंश(वश्य)प्रदायकः ॥ ५३ ॥

वर्णलक्षं द्वादशलक्षम् । *दीक्षितो*-वैष्णवमार्गेणेत्यर्थः । सा च दीक्षा वैष्णवतन्त्रा-नारदपञ्चरात्रादितो ज्ञेया ॥ *तत्सहस्रं*-द्वादशसहस्रम् ॥ ४३ ॥

विधानविदिति । अनेनोपचारोक्तागमश्लोकानामत्रावश्यकत्वं सूचितम् ॥ ४४ ॥

द्वादशमूर्त्तिभिरिति । केशवाद्यैः । एषां ध्यानं मूलदेवतावत् ॥४५॥४६॥४७॥ ३ ॥

लक्ष्मीवासुदेवमन्त्रमाह—*हृल्लेखेति* ॥ हृल्लेखा-भुवनेशीबीजम् । यथा हृल्लेखा-शब्देन भुवनेशीउच्यते तथा प्रागेव दर्शितम् । रमा-श्रीबीजम् । *लक्ष्म्यन्ते* इति । लक्ष्मी-पदान्त इत्यर्थः । हृदन्तोनमोन्तः । प्रणवो बीजं, माया शक्तिः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

विद्युदिति । एकतामिति देहार्धविभागेन । विद्यादीनि प्रथमनिर्दिष्टानि पश्चाद-मूनि बिभ्रदित्यन्वयः । वामेष्वाद्यचतुष्टयमूर्ध्वादिदक्षेष्वन्त्यचतुष्टयमित्यायुधध्यानम् ॥ ५१ ॥

वर्णलक्षं-चतुर्दशलक्षम् ॥ *तत्सहस्रं*—चतुर्दशसहस्रम् ॥ *विकसितैरिति* ।

मधुराक्तैस्तिलैर्हुत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
तारो हृद्विष्णवे पश्चान् ङेन्तः सुरपतिर्भवेत् ॥ ५४ ॥
महाबलाय ठद्वन्द्वं मनुरष्टादशाक्षरः ।
ऋषिरिन्दुर्विराट्छन्दो देवता दधिवामनः ॥ ५५ ॥
हृदयेन शिरोद्वाभ्यां शिखा त्रिभिरुदीरिता ।
कवचं पञ्चभिः प्रोक्तं नेत्रं तावद्भिरक्षरैः ॥ ५६ ॥
द्वाभ्यामस्त्रमिति प्रोक्तः प्रकारोऽङ्गस्य सूरिभिः ।
मूर्द्ध्नि भाले दृशोर्युग्मे कर्णनासोष्ठतालुषु ॥ ५७ ॥
कण्ठे बाहुद्वये पृष्ठे हृदयोदरनाभिषु ।
गुह्योरुजानुयुग्मेषु जङ्घयोः पादयोर्न्यसेत् ॥
अष्टादश मनोर्वर्णान् पश्चादेनं विचिन्तयेत् ॥ ५८ ॥
मुक्तागौरं नवमणिलसद्भूषणं चन्द्रसंस्थम् ।
भृङ्गाकारैरलकनिकरैः शोभिवक्त्रारविन्दम् ॥
हस्ताब्जाभ्यां कनककलशं शुद्धतोयाभिपूर्णम् ।
दध्यन्नाढ्यं(१) कनकचषकं धारयन्तं भजामः ॥ ६० ॥
गुणलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं घृतप्लुतैः ।
पायसान्नैः प्रजुहुयाद्दध्यन्नं वा यथाविधि ॥ ६१ ॥
चन्द्रान्तं कल्पिते पीठे प्रागुक्ते तं समर्चयेत् ।

पूजायां कुड्मलानामपि ग्रहणादन्यत्र विकसितैरिति विशेषोक्तिः । स्वयं विकसितस्य तु निषिद्धत्वादेव निवृत्तिः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५॥

दधिवामनमन्त्रमाह—*तार इति* ॥ हृन्नमः पदम् । अत्रापि पूर्ववद्विसगण सह सन्धिद्वयः । *ङेऽन्तः सुरपतिः* । सुरपतये ॥ ५४ ॥

ठद्वन्द्वं—स्वाहा । प्रणवश्रीबीजसम्पुट इति केचित् । प्रणवोबीजं, स्वाहा शक्तिः ॥५५॥

तावद्भिरिति । पञ्चभिः ॥ ५६ ॥

प्रकारोऽङ्गस्य सूरिभिरिति । अनेन साम्प्रदायिका अन्यथा षडङ्गमाहुरिति सूचितं, तद्यथा प्रणवादिपञ्चभिः पदैः पञ्चाङ्गानि कृत्वा सर्वेण षष्ठमिति । मूर्ध्नीत्यादिषु सर्वत्र एकैकवर्णन्यासः । कर्णयुग्मोष्ठतालुष्विःत्यपपाठः । कर्णनासोष्ठतालुष्विति पाठः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

पश्चादिति । पृष्ठे । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे तु*—"मूर्ध्नि दृक्श्रवणद्वन्द्वे नासायां मुखमध्यतः । कण्ठहृद्बाहुयुग्मे च नाभौ पृष्ठे च गुह्यके ॥ जान्वोश्च पादयोर्वर्णानि"ति स्थानान्युक्तानि । पश्चादित्यनेन पदन्यासोपि सूचितः । यदाहुः—"भ्रूमध्यगलहृन्नाभि लिङ्गाधारेषु विन्यसेदि"ति ॥ ५९ ॥ ६० ॥

गुणलक्षं—त्रिलक्षम् । यथाविधीत्यग्रे सम्बध्यते ॥ ६१ ॥

चन्द्रान्तमिति । रविवह्निमण्डले सम्पूज्य अन्ते चन्द्रमण्डलं पूजयेदित्यर्थः ॥ अत्र चन्द्रमण्डलान्ता पूजा । तस्य तदासन्नत्वात् । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"धर्मज्ञानमये पीठे पूजयेच्चन्द्रमण्डलम्" इति । चन्द्रमण्डलमन्त्रोऽप्युद्धृतः—"विष्णवे सहसोमाय त्रैलो-

---

(१). दधिभक्तयुक्तम् "भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री" त्यमरात् ॥

मूर्त्तिं मूलेन संकल्प्य वक्ष्यमाणविधानतः ॥ ६२ ॥
षडङ्गानि समभ्यर्च्य केसरेषु यथापुरा ।
अभ्यर्च्य वासुदेवादीन् ध्वजादीनर्चयेत्ततः ॥ ६३ ॥
केशवाद्या दलाग्रेषु सुरेन्द्रादीननन्तरम् ।
वज्रादीनि गजानष्टौ सप्तावरणमीरितम् ॥ ६४ ॥
विधानमेतद्देवस्य कीर्त्तितं सुरपूजितम् ।
पायसाज्येन जुहुयात्सहस्रं श्रियमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥
धान्यहोमेन धान्याप्तिः शतपुष्पीसमुद्भवैः ।
बीजैः सहस्रसंख्यातो होमो भयविनाशनः ॥ ६६ ॥
दध्योदनेन शुद्धेन हुत्वा मुच्येव दुर्गतेः ॥ ६७ ॥
स्मृत्वा त्रैविक्रमं रूपं जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ।
मुक्तो बन्धाद्भवेत्सद्यो नात्र कार्या विचारणा ॥ ६८ ॥
पट्टे संपाद्य देवेशं भित्तौ वा पूजयेत्सुधीः ।
सुगन्धिकुसुमैर्नित्यं महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥ ६९ ॥
स साध्यतारोज्ज्वलकर्णिकाब्जमष्टाक्षरैरुज्ज्वलकेशराढ्यम् ।

वयाप्यारनाय च । स्वाहान्तस्तारहृत्पूर्वो मन्त्रेणैवार्चयेच्च तदिग्गतं । एतद्यथाविधिपदेन सूचितम् ॥ *प्रागुक्ते*—नारायणाष्टाक्षरोक्ते पीठे वक्ष्यमाणविधानतः तं समर्चयेदिति सम्बन्धः ॥ ६२ ॥

यथापुरेति ॥ चतुर्थोक्तरीत्या । वासुदेवादीन् सशक्तिकान् पूर्ववत् । ध्वजादीनित्यष्टौ प्रसिद्धदिक्क्रमेण । तदुक्तं—"ध्वजश्च वैनतेयश्च शङ्खपद्मौ दिशांगताः । विघ्नार्यकौ तथा दुर्गाविष्वक्सेनौ विदिग्गता" इति । तत्र ग्रन्थकृता नारायणाष्टाक्षरे अग्रदक्षिणोत्तरपश्चिमादिपूजाकथनार्थमेते एव वैनतेयाद्याउपदिष्टाः ॥ ६३ ॥

केशवाद्या—द्वादशदलाग्रेषु अष्टदलाद्बहिरित्यर्थः । गजानित्यष्टमोक्तान् स्वस्वदिक्षु ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

शतपुष्पी । कान्यकुब्जभाषायां "सौंफ" इति प्रसिद्धा । *दुर्गतेः* दारिद्र्यात् ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

यन्त्रमाह—*ससाध्येति* । कर्णिकायां साध्यसाधककर्मसहितं प्रणवं लिखेत् । *अष्टाक्षरैरिति* । नारायणाष्टाक्षरैः । शिष्टाणत्वनेनान्त्यपत्रे वर्णचतुष्टयं लिखेदित्युक्तम् ॥ तद्बहिर्मातृकाक्षरैर्वेष्टितं विदध्यादिति सम्बन्धः ॥ *अस्यतन्त्रान्तरोक्तं विधानमभिधीयते*—"अस्य त्रैलोक्यमुनिश्छन्दो जगत्यन्नप्रदोहरिः । देवता, प्रणवाद्यैश्च पदैः सर्वेण चाङ्गकम् ॥ कर्पूरधवलं देवं निविष्टं सरसीरुहे । सुप्रसन्नं सुनेत्रं च चारुस्मितमनोहरम् ॥ दण्डं चामृतकुण्डं च शरच्चन्द्रसमप्रभम् । दधिभक्तं सोपदंशं वसुपात्रं च बिभ्रतम् ॥ चिन्तयेज्जगदीशानं जगदार्त्तिहरं हरिम् । दीक्षां प्राप्य शुचिर्भूत्वा जपेद् द्वादशलक्षकम् ॥ तदन्ते जुहुयाद्विद्वान् पायसेन दशांशकम् ॥ पूजा तु वैष्णवे पीठे कर्त्तव्या साधकोत्तमैः ॥ लिखेत्पद्मं सप्तदशदलं प्रणवमालिखेत् । कर्णिकायां ससाध्यं तं स्वरैरावेष्टयेत्क्रमात् ॥ चतुस्त्रिंशत्केसरेषु कादिक्षान्तान्लवर्जितान् । दलेषु मन्त्रवर्णांश्च ताराभ्यां वेष्टयेद्बहिः ॥ श्रीबीजाभ्यां तद्बहिश्च यन्त्रं सर्वफलप्रदम् ॥ अस्मिन्यन्त्रे समावाह्य देवमङ्गानि पूर्ववत् ॥ इष्ट्वा शक्तीश्च पत्रेषु लोकेशाद्यानि

मन्त्राक्षरद्वन्द्वयुताष्टपत्रं शिष्टार्णयुग्मोल्लसितान्तपत्रम् ॥ ७० ॥
द्वादशाक्षरसंवीतं तद्बहिर्मातृकाक्षरैः ।
विद्ध्याद्वैष्णवं यन्त्रं सर्वसम्पत्प्रदायकम् ॥ ७१ ॥
उद्गिरत्पदमाभाष्य प्रणवोद्गीथशब्दतः ।
सर्ववागीश्वरेत्यन्ते प्रवदेदीश्वरेत्यथ ॥ ७२ ॥
सर्ववेदमयाचिन्त्यपदान्ते सर्वमुच्चरेत् ।
बोधयद्वितयान्तोऽयं मन्त्रस्तारादिरीरितः ॥ ७३ ॥
ऋषिर्ब्रह्मास्य सन्दिष्टश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
देवता स्याद्धयग्रीवो वागैश्वर्यप्रदो विभुः ।
तारेण पादैर्मन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ ७४ ॥
शरच्छशाङ्कप्रभमश्ववक्त्रं मुक्तामयैराभरणैरुपेतम् ।
रथाङ्गशङ्खाङ्कितबाहुयुग्मं जानुद्वयन्यस्तकरम्मजानः ॥ ७५ ॥

पूजयेत् । पूषा सुमनसा प्रीतिर्ज्योतिः सौम्या मरीचिका । अंशुमालिन्यङ्गिरा च शशिनी चन्द्रिका तथा ॥ अमोघा करुणा चैव छाया सम्पूर्णमण्डला । पुष्टिस्तथामृता सिद्धिः शक्तयः समुदीरिता" इति ।

अथ ब्रह्मयामलोक्तं यन्त्रमुच्यते—"वृत्ताकारमथो कृत्वा चन्द्रमण्डलमध्यतः । सम्यक् च विलिखेत्तारं साध्यनामसमन्वितम् ॥ वरुणार्णान् लिखित्वा च साग्निमाया सबिन्दुकम् । दलैश्च सप्तदशभिः कृत्वा पद्मं सकर्णिकम् ॥ नादिव्योमान्तमन्त्रं वै पद्मस्यैव दलेषु च । कृत्वा यन्त्रं महाभाग ! समालम्ब्य जपेन्मनुम् ॥ महारक्षा समाख्याता धारणाच्च श्रियावहमि"ति ।

नारदकल्पोक्तं यन्त्रान्तरम् । "दलैः षोडशभिर्युक्तं सतारं कर्णिकोज्ज्वलम् । कलारुद्धदलं बाह्ये पद्ममष्टदलं लिखेत् ॥ तेष्वष्टाक्षरमालिख्य तदग्रे वृत्तमालिखेत् । अष्टादशदलं बाह्ये तेष्वप्यष्टादशाक्षरम् ॥ आलिख्यान्ते च भूगेहमष्टशूलसमन्वितम् । कोणेष्वक्षरमालिख्य वह्न्यादिषु यथाक्रमम् ॥ शूलाक्षिरोगगुल्मादिगर्भस्फोटादिकानपि । विषादिकाञ्ज्वरः सम्यक् मन्त्री यन्त्रेण नाशयेदि"ति । *अक्षरं*—ठकारम् ॥

तन्त्रान्तरोक्तमेतदुपासककर्त्तव्यमुच्यते—"नाश्नीयात्तण्डुलो(१)शाकं तथा चौदुम्बरं फलम् । श्राद्धानां (२)नवकं चैव भक्षयेन्न कदाचन ॥ पद्मपत्रे न भुञ्जीत तथा चार्कदलेष्वपि । तुषकर्पासबीजानि न स्पृशेच्च कदाचन ॥ वल्मीकं गोमयं विप्रच्छायामपि न लङ्घयेत् । देवाग्निगुरुपूजां च कुर्याद्भक्तिसमन्वित" इति ॥ ७० ॥ ७१ ॥

हयग्रीवमन्त्रमाह—*उद्गिरदिति* । प्रणवोद्गीथेति स्वरूपम् ॥ ७२ ॥

सर्वमुच्चरेदिति । मन्त्रेऽपि द्वितीयान्तमेव ॥ इलो(३)कादौ तारः । मन्त्रस्यहलोबीजानि । स्वराः शक्तयः ॥ ७३ ॥

वागैश्वर्यप्रद—इति विनियोगोक्तिः । अत्र ध्यानानन्तरमियं मुद्रा दर्शनीया । "वामहस्ततले दक्षाङ्गुलीस्तास्त्वधोमुखीः । संशोध्य मध्यमां तस्यामुन्नम्याधो विकुञ्चयेत् ॥ हयग्रीवप्रिया मुद्रा तन्मूर्त्तेरनुकारिणी"ति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

---

(१) गान्धारी (गेन्हारी) शब्देन प्रसिद्धम् । "तण्डुलीयोऽल्पमारिषः" इत्यमरः ।
(२) अनेन नवश्राद्धान्नभक्षणन्निषिध्यते ॥ (३) श्लोकोमन्त्रः ॥

वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रङ्कुन्दपुष्पैर्मधुप्लुतैः ।
दशांशं वैष्णवे वह्नौ जुहुयान्मन्त्रसिद्धये ॥ ७६ ॥
अष्टाक्षरोदिते पीठे हयग्रीवं प्रपूजयेत् ।
बीजेन मूर्त्तिसङ्कल्प्य बीजमुद्धियते यथा ॥ ७७ ॥
वियद्भृगुस्थमर्घीशबिन्दुमद्बीजमीरितम् ।
केसरेषु चतुर्वेदांश्चतुर्दिक्षु समर्चयेत् ॥ ७८ ॥
विदिक्ष्वङ्गस्मृतिन्यायसर्वशास्त्राणि पूजयेत् ।
अर्चयेत्पत्रमध्येषु विधानेनाङ्गदेवताः ॥ ७९ ॥
बाह्ये लोकेश्वरास्तेषां वज्राद्यस्त्राणि संयजेत् ।
एवं योभजते देवं साक्षाद्वागीश्वरोभवेत् ॥ ८० ॥
बैल्वैः फलैः कृतोहोमः श्रीकरः परिगीयते ।

वर्णलक्षं-द्वात्रिंशल्लक्षम्॥ *वैष्णवेवह्नाविति* । तत्र वैष्णवपीठमभ्यर्च्येत्यर्थः॥७६–७७॥
हयग्रीवबीजमुद्धरति-*वियदिति* । वियत्-हः । भृगुस्थं—सकारस्थम् । अर्धीश ऊकारः बिन्दुश्च तद्वत् । कल्पान्तरे चतुर्दशस्वरयुक्तमुदाहृतम् । तदुक्तं *शाङ्करकल्पे*—“शून्यं शून्य-समायुक्तं जीवस्योपरि संस्थितम् । अनुग्रहयुतं कृत्वा वागीशं सर्वकामदम्”इति । केचिद्रुद्रेण भूषितं कृत्वेति पठन्ति । एतद्बीजाद्योङे ऽन्तहयग्रीवशब्दोनत्यन्तोष्टाक्षरोमन्त्रः । हं बीजं, सौःशक्तिः । देवीगायत्रीच्छन्दः । अन्यद्वक्ष्यमाणैकाक्षरविधानवत्सर्वं ज्ञेयम् । एता-वपि स्वतन्त्रौ मन्त्रौ । विद्याकामेन वाक्पुटौ जप्यौ । बालातातीयसम्पुटौ वा । वश्यका-मेन कामराजसम्पुटौ वा । हंबीजं, सं शक्तिः । तदृष्यादिकं यथा—“ब्रह्मत्रिष्टुब् हयग्रीवा ऋ-ष्याद्याः परिकीर्त्तिताः । षड्दीर्घयुक्तमूलेन षडङ्गविधिरीरितः ॥ धवलनलिननिष्ठं क्षीरगौरं कराग्रैर्जपवलयसरोजे पुस्तकाभीष्टदाने । दधतममलवस्त्राकल्पजालाभिरामं तुरगवदनविष्णुं नौमि देवारिजिष्णुम् ॥ वेदलक्षं जपित्वान्ते तद्दशांशं हुनेद्घृतैः । पुरोक्ते प्रयजेत्पीठे गायत्र्यावाह्य पूजयेत् ॥ ङेऽन्तं वागीश्वरपदं विद्महे पदमुच्चरेत् । हयग्रीवं च ङेऽन्तं स्याद्धी-महीति ततो वदेत् ॥ तन्नोहंसः पदान्ते च प्रवदेच्च प्रचोदयात् । प्रथमावृतिरङ्गैः स्याद्द्वि-तीयां चार्च्यमर्हयेः ॥ प्रज्ञाहयस्तथा मेधाहयः स्मृतिहयस्तथा । विद्याहयः श्रीहयश्च वागी-शीहय एव च ॥ विद्याधिराससुहयो हयान्तो नाम मर्द्दनः । मेधादिभिस्तृतीया स्यात्ताश्च मेधा सरस्वती ॥ प्रज्ञा तृतीया विजया पञ्चमी चापराजिता । तुष्टिः पुष्टिः सप्तमी स्याच्छ्रद्धा चैवाष्टमी मता” इति ॥ “कल्पान्तरे तु लक्ष्म्याद्यास्ताश्च लक्ष्मीः सरस्वती । रतिप्रीती कीर्त्ति-कान्ती तुष्टिः पुष्टिस्तथाष्टमी ॥ चतुर्थी कुमुदाद्यैस्ते–कुमुदः कुमुदाक्षकः । पुण्डरीकः सर्वनेत्रो वामनः शङ्कुकर्णकः ॥ सुमुखः सुप्रतिष्ठः स्याल्लोकपालैस्तु पञ्चमी । तदायुधैश्च षष्ठी स्यादेवं पूजासमी रिते”ति ॥ “बीजं रेफसमायुक्तं हुंकारद्वयमध्यगम् । यस्य नाम्ना जपेन्मन्त्रं मारयेत्तं न संश-यः ॥ हुंकारद्वयमध्यस्थं बीजराजं सुरेश्वरि ! । विद्वेषयेज्जगत्सर्वं मासं जप्त्वा न संशयः । लिखे-द्रोचनया भूर्ज मन्त्रं बाहौ विधारयेत् । महारक्षाभवेदेषा सर्वदोषविनाशिनी”ति ।

शाङ्करकल्पोक्तं यन्त्रमुच्यते “प्रणवद्वयसंयुक्तमकारद्वयमध्यगम् । वादिनाम लिखेद्बीजे भूर्जपत्रे हरिद्रया ॥ पत्राष्टके हयग्रीवाष्टाक्षरं स्वरकेसरे । कादिं क्षान्तवृतं बाह्ये तद्बहिर्भूपुरं लिखेत् ॥ वाक्स्तम्भनमिति प्रोक्तं शरावद्वयसम्पुटे । वेष्टितं पीतसूत्रेण मूकत्वं कुरुते-ऽचिराद्”िति ॥ ७८ ॥

विदिक्ष्विति । षडङ्गेभ्यो नमः । स्मृतिभ्यो नमः । इत्यादि प्रयोगः ॥ *विधानेनेति* ।

कुन्दपुष्पाणि जुहुयादिच्छन् वाक्छ्रियमव्ययाम् ॥ ८१ ॥
मनुनानेन सञ्जप्तं घृतं ब्राह्मीरसैः शृतम् ।
कवितामावहेत्पुंसामनर्गलविजृम्भणाम् ॥ ८२ ॥
प्रत्यहमनेनसञ्जप्तां भक्षयेत्प्रातरन्वहम् ।
सर्ववेदागमादीनां व्याख्याता जायतेऽचिरात् ॥ ८३ ॥
मनोरस्य समोनास्ति ज्ञानैश्वर्यप्रदोऽमरः ।
अनन्तोऽग्न्यासनः सेन्दु बीजं रामाय हृन्मनुः ॥ ८४ ॥
षडक्षरोऽयमादिष्टोभजतां कामदोमणिः ।
ब्रह्मा प्रोक्तो मुनिश्छन्दो गायत्रं देवता मनोः ॥ ८५ ॥
देशिकेन्द्रैः समाख्यातो रामोराक्षसमर्द्दनः ।

चतुर्थोक्तावग्नेयादिस्थानेषु । *पत्रमध्येष्विति* । चतुर्थोक्तकेसराङ्गपूजापवादः ॥७९॥८०॥८१॥
मनुनेति । "अकल्कोऽपि भवेत्स्नेहोयः साध्यः केवले द्रवे" इत्युक्तत्वात् ॥ घृताच्चतुर्गुणे ब्राह्मीरसे घृतं पचेत् ॥ घृतावशेषमुत्तार्यानेन संजप्तं पिबेत ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ६ ॥
राममन्त्रमाह—*अनन्त इति* । अनन्त आकारः । अग्न्यासनोरेफासनः । सेन्दुः । सबिन्दुः । बीजमित्यनेनैकाक्षरोऽप्ययं मन्त्र इति सूचितम् । तदुक्तं—"वह्निस्थं शयनं विष्णोरर्द्धचन्द्रविभूषितम् । एकाक्षरो मनुः प्रोक्तो मन्त्रराजः सुरद्रुम" इति । अस्यर्ष्यादिकं सर्वं वक्ष्यमाणमेव । एतदर्थउक्तः *स्कन्दयामले निर्वाणखण्डे*—"रेफोग्निरहमेवोक्तो विष्णुः सोसोम उच्यते । मध्यगस्त्वावयोर्ब्रह्मा रविराकार उच्यते ॥ ज्योतींषि कवलीकृत्य त्रीण्याकाशो विभुःस्वयम् । नादोभिधत्ते सन्मात्रं त्वामेव परमेश्वरमि"ति । *रामाय हृदिति* । अनेनायं पञ्चाक्षरोऽपि मन्त्र इत्युक्तम् ॥ यदाहुः—"सप्रतिष्ठौ रमौ वायुर्हृत्पञ्चार्णो मनुः स्मृतः । विश्वामित्रो मुनिः प्रोक्तः पङ्क्तिश्छन्दोऽस्य देवता ॥ रामभद्रो बीजशक्ती प्रथमार्णनति क्रमात् । भ्रूमध्ये हृदि नाभ्यन्धुपादयोर्विन्यसेन्मनुम् ॥ षडङ्गं पूर्ववद्वा पञ्चार्णैर्मनुनास्त्रकम् । ध्येयेवनं कल्पतरोर्मूले पुष्पलताकुलम् ॥ लक्ष्मणेन प्रगुणितमक्ष्णः कोणेन सायकम् । अवेक्ष्यमाणं जानक्या धृतव्यजनमीश्वरम् ॥ जटाभारलसच्छीर्षं श्यामं मुनिगणावृतम् । लक्ष्मणेन धृतच्छत्रमथवा पुष्पकोपरि ॥ दशास्यमथनं प्राग्वत्ससुग्रीवविभीषणम् । विजयार्थी विशेषेण वर्णलक्षं जपेन्मनुमि"ति । *मनुरिति* एवं मिलित्वा मन्त्रः षडक्षर इत्यर्थः ।८४।
कामदो मणि श्चिन्तामणिरित्यनेनास्य विनियोगं वदता स्वबीजं विनापि बहुप्रकारं षड्वर्णत्वं बहुप्रकारं च सप्तवर्णत्वं सूचितम् ॥ तदुक्तं *स्कन्दयामले निर्वाणखण्डे*—"विश्वरूपस्य ते नाम विश्वे शब्दाहि वाचकाः । तथापि मूलमन्त्रस्ते विश्वेषां बीजमक्षयम् ॥ मुक्तये प्रणवाद्योऽयं रमादिरपि भुक्तये । वाग्भवादिस्तु वाक्सिद्ध्यै मायादिरखिलेष्टदः ॥ अखिलोयं "महाशक्तिर्मन्त्रचिन्तामणिर्विभो!"इति । *अन्यत्र* "स्वकामशक्तिवाग्लक्ष्मीताराद्यः पञ्चवर्णकः । षडक्षरःषड्विधः स्याच्चतुर्वर्गफलप्रदः ॥ पञ्चाशन्मातृकामन्त्रवर्णप्रत्येकपूर्वकः । लक्ष्मीवाक्मन्मथादिश्च तारादिः स्यादनेकधा ॥ श्रीमायामन्मथैकैकबीजाद्यन्तगंतो मनुः । चतुर्वर्णः स एव स्यात् षड्वर्णो वाञ्छितप्रदः ॥ स्वाहान्तो हुं फडन्तोवा नत्यन्तो वा भवेद्यम् । ब्रह्मा संमोहनः शक्तिर्दक्षिणामूर्त्तिरेव च ॥ अगस्त्यः श्रीशिवः प्रोक्ता मुनयोऽत्र क्रमादिमे । छन्दो गायत्रसंज्ञं च श्रीरामश्चैव देवता ॥ अथवा कामबीजादेर्विश्वामित्रो मुनिर्मनोः । छन्दो देव्यादिगायत्री रामभद्रोऽस्य देवता ॥ बीजशक्ती यथापूर्वमि"ति ॥ ८५ ॥
राक्षसमर्द्दन इति विशेषणं विधेयं, रां बीजं, नमः शक्तिः । तदुक्तं *शौनककल्पे*

दीर्घभाजा स्वबीजेन कुर्यादङ्गानि षट्क्रमात् ॥ ८६ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे दभ्रुवोर्मध्ये हृन्नाभ्यन्धुषु पादयोः ।
षडक्षराणि विन्यस्येन्मन्त्रस्य मनुवित्तमः ॥ ८७ ॥
कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासितम् ।
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि ॥
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवम् ।
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाऽऽकल्पोज्ज्वलाङ्गम्भजे ॥ ८८ ॥
वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं सरोरुहैः ।
जुहुयादर्चिते वह्नौ ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः ॥ ८९ ॥
पूजयेद्वैष्णवे पीठे मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
श्रीसीतायै द्विठान्तेन सीतां पार्श्वगतां यजेत् ॥ ९० ॥
अग्रे पार्श्वद्वये शार्ङ्गशरानङ्गानि तद्बहिः ।

"जानीयात्प्रथमं वर्णबीजं शक्तिर्नतिं तथे"ति । केचन आयेति शक्तिमाहुः । *दीर्घभाजा* षड्दीर्घभाजा । *स्वबीजेन* मन्त्राद्यबीजेन । *क्रमादिति* । अनेन षड्वर्णैर्वा षडङ्गमित्युक्तं, यदाहुः "बीजैः षड्दीर्घयुक्तैर्वा मन्त्रार्णैर्वा षडङ्गकमि"ति ॥ ८६ ॥

अन्धु गुह्यम् । *मनुवित्तम* इत्यनेनैतदुक्तं भवति पञ्चाक्षरे पादत्यागः । सप्ताक्षरे ब्रह्मरन्ध्रभ्रूमध्यकण्ठहृन्नाभिगुह्यपादेषु न्यासः । द्व्यक्षरे ब्रह्मरन्ध्रहृदोस्त्र्यक्षरे गुह्यान्तयोः । चतुरक्षरे गुह्यपादान्तयोरिति ॥ ८७ ॥

ध्यानमाह—*कलेति* । वीरासनमन्त्ये वक्ष्यति ॥ ज्ञानमुद्रालक्षणं प्राक् । अपरं वामः । राघवं पश्यन्तीं पार्श्वगतांसीतां च भजे इति सम्बन्धः । अस्मिन्पाठे वक्ष्यमाणसीतामन्त्रस्यापि ध्यानमुक्तं भवति । क्वचित्पश्यन्तमिति पाठः । तदा सीतां पश्यन्तं राघवं भजे इति सम्बन्धः । उक्तंच—"वामाङ्कारूढसीतामुखकमलमिलल्लोचनं नीरदाभमि"ति । *आकल्पो*—भूषा । अत्र ध्यानानन्तरं नारायणाष्टाक्षरोक्तां गरुडमुद्रां च दर्शयेत् ॥ ८८ ॥

वर्णलक्षं—षड्लक्षम् । *अर्चिते वह्नाविति* । रामपीठं वह्नावावाह्येत्यर्थः । "श्रीसीतायै स्वाहा" इति । अयं स्वतन्त्रोऽपि मन्त्रः । तदुक्तं-"सीतामन्त्रोपि कथितः स्वतन्त्रोऽङ्गं परोऽपिचे"ति । *स्कन्दयामले निर्वाणखण्डेपि*—"ब्रह्मा गृणाति त्वच्छक्तिं देवीं वाचं त्वदाश्रये । विष्णुर्ध्यायति त्वामेव सुषुम्णां पारमेश्वरीम् ॥ सीतामुपास्ते व्योमान्तरीश्वरीं बिन्दुरूपिणीम् । सदाशिवो नादमयीं खातीतामुन्मनीं शिव" इति । *अस्यर्ष्यादिकमगस्त्यसंहितोक्तं यथा*—"जनकोऽस्य ऋषिश्छन्दोगायत्रं देवतामनोः । सीता भगवती प्रोक्ता श्रीबीजं शक्तिरन्तजौ ॥ दीर्घस्वरयुजाद्येन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ पूजयेद्वैष्णवे पीठे ध्यायेद्राघवसंयुताम् ॥ सुवर्णाभाम्बुजकरां रामालोकनतत्पराम् । वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रमिष्टार्थान् साधयेत्तत" इति ॥ ८९ ॥ ९० ॥

अग्रेपार्श्वद्वय इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ । तेनाग्रे पुरतः । पार्श्वद्वये वामदक्षिणपार्श्वयोः । शार्ङ्गशरानिति सम्बन्धः । अनेनैतावत्पर्यन्तं मुख्यपूजेत्युक्तम् ॥ उक्तंच "वामपार्श्वे त्रिकोणस्य शार्ङ्गं दक्षिणकेशरान् । शं शार्ङ्गाय नमोऽस्त्वेवं शं शरेभ्यो नमोस्त्विति ॥ पूजानुज्ञां ततो लब्ध्वा रश्मीनङ्गान्यथो यजेत्" इति । पूजायन्त्रन्तु *तन्त्रान्तरोक्तं यथा*—"भूगृहा-

हनूमन्तं ससुग्रीवं भरतं सविभीषणम् ॥ ९१ ॥
लक्ष्मणाङ्गदशत्रुघ्नाञ्जाम्बवन्तं दलेष्विमान् ।
वाचयन्तं हनूमन्तमग्रतो धृतपुस्तकम् ॥ ९२ ॥
यजेद्भरतशत्रुघ्नौ पार्श्वयोर्धृतचामरौ ।
धृतातपत्रं हस्ताभ्यां लक्ष्मणं पश्चिमे यजेत् ॥ ९३ ॥
धृष्टं जयन्तं विजयं सुराष्ट्रं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
अकोपं धर्मपालाख्यं सुमन्तं च दलाग्रतः ॥ ९४ ॥
सर्वाभरणसंपन्नाँल्लोकेशानर्चयेत्ततः।
तदस्त्राणि ततो बाह्ये वज्रादीनि प्रपूजयेत् ॥ ९५ ॥
एवं पूजादिभिः सिद्धे मनौ कर्माणि साधयेत् ।
जातीप्रसूनैर्जुहुयाच्चन्दनाम्भः समुक्षितैः ॥ ९६ ॥
राजवश्याय कमलैर्धनधान्यादिसम्पदे ।
नीलोत्पलानां होमेन वशयेदखिलं जगत् ॥ ९७ ॥
बिल्वप्रसूनैर्जुहुयादिन्दिराऽऽवाप्तये नरः ।
दूर्वाहोमेन दीर्घायुर्भवेन्मन्त्री निरामयः ॥ ९८ ॥

ष्टकपत्रान्तः षट्कोणमतिसुन्दरमि"ति । अत्रैव वक्ष्यमाणं धारणयन्त्रं वा । *तदुक्तमगस्ति-संहितायाम्*—"षट्कोणादि धरण्यन्तं पूर्ववद्विलिखेदथ ।' तस्य मध्ये लिखेत्तारं षट्सु कोणेष्वपि क्रमात् ॥ मूलमन्त्राक्षराण्येव सन्धिष्वङ्गं च मान्मथम् । मायां गण्डेषु किञ्जल्के स्वराणां लेखनं मतम् ॥ पत्रेषु पूर्ववन्मालामन्त्रो लेख्यः क्रमेण हि । दशाक्षरेण संवेष्ट्य कादीनि व्यञ्जनानि च ॥ दिग्विदिक्षु लिखेद्बीजे नरसिंहवराहयोः । एतद्यन्त्रान्तरं चात्र साङ्गावरणमर्चयेत् ॥ सौवर्णे राजते भूर्जे लिखित्वार्चनमारभेदि"ति ॥ *अङ्गानि तद्बहिरिति* । आग्नेयादिषट्कोणेषु । तदुक्तम्—"इष्ट्वाङ्गदेवताः षट्कोणेष्वग्निकोणादी"ति । *अन्यत्रापि*—"षट्कोणे प्रथमावृत्तिः स्यादङ्गैरग्नितः क्रमादि"ति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

पश्चिमे—देवपृष्ठभागे । अत्र हनूमन्तमित्यादि प्रथममुद्दिश्य पश्चाद्वाचयन्तमित्यादिना तत्प्राधान्येन चतुर्णां सध्यानं पूजनमाह तेनैषां चतुर्णां मन्त्रा अपि प्रधानभूता इत्यपि सूचितम् ॥ *अगस्तिसंहितायाम्*—"आञ्जनेयमनुं वक्ष्ये भुक्तिमुक्त्यैकसाधनम् । प्रकाशितं शङ्करेण लोकानां हितकाम्यया ॥ भूतप्रेतपिशाचादि डाकिनी ब्रह्मराक्षसाः । दृष्ट्वाथ प्रपलायन्ते मन्त्रानुष्ठानतत्परम् ॥ प्रधानस्याङ्गभूतोऽयं मन्त्रराजोह्यनुत्तमः । पूर्वं नमःपदं चोक्त्वा ततो भगवते पदम् ॥ आञ्जनेयपदं ङेन्तं महाबलपदं तथा ॥ वह्निजायान्त एव स्यान्मन्त्रो हनुमतः परः ॥ सर्वसिद्धिकरः प्रोक्तो मन्त्रश्चाष्टादशाक्षरः । ऋषिरीश्वरएव स्यादनुष्टुप्छन्द उच्यते ॥ हनूमान् देवता प्रोक्तो हं बीजं शक्तिरन्तजौ । हनुमत्प्रीणनं चैव फलमाद्यमुदाहृतम् ॥ नमो भगवते चाञ्जनेयायाङ्गुष्ठयोर्न्यसेत् । रुद्रमूर्त्तय इत्येवं तर्जनीभ्यामनन्तरम् ॥ वायुसुतायापि तथा मध्यमाभ्यामपि स्फुटम् ॥ अग्निगर्भाय च तथाऽनामिकाभ्यां प्रविन्यसेत् ॥ रामदूताय च पुनः कनिष्ठाभ्यां विचक्षणः । ब्रह्मास्त्रनिवारणाय चास्त्रमन्त्रः समीरितः ॥ एवं षडङ्गं च मुने ! कृत्वा ध्यायेदनन्यधीः । स्फटिकाभं स्वर्णकान्ति द्विभुजं च कृताञ्जलिम् ॥ कुण्डलद्वयसंशोभिमुखाम्भोजं मुहुर्मुहुः । अयुतं तु पुरश्चर्या रामस्याग्रे शिवस्यवा ॥ पूजा तु वैष्णवे पीठे शैवे वा विदधीत वै । आवृतीभिर्विना नित्यं नक्ताशी विजिते-

इक्षोत्पलहुतान्मन्त्री धनमाप्नोति वाञ्छितम् ।
मेधाकामेन होतव्यं पलाशकुसुमैर्नवैः ॥ ९९ ॥
तज्जप्तमम्भः प्रपिबेत्कविर्भवति वत्सरात्
तन्मन्त्रितान्नं भुञ्जीत महदारोग्यमाप्नुयात् ॥ १०० ॥
तारं मध्ये विलिखतु मनुं षट्सु कोणेषु सन्धि-
ष्वङ्गं मायां स्मरमपि लिखेत्कोणगण्डेषु पश्चात् ।
किञ्जल्केषु स्वरगणमथो यन्त्र मध्येषु मालामन्त्रो-
त्थार्णान् गुहमुखमितानष्टमे पञ्चवर्णान् ॥ १०१ ॥
दशाक्षरेण संवेष्ट्य कादिवर्णैश्च भूपुरे ।

न्द्रिय" इति ॥ रेफपूर्वं समुद्धृत्य बिन्दुं लक्ष्मणसंयुतम् ॥ ङेऽन्तोऽयं लक्ष्मणमनुर्नमसा च समन्वितः ॥ अगस्त्यऋषिरस्या गायत्रं छन्द उच्यते । लक्ष्मणोदेवता प्रोक्तो लं बीजं शक्तिरस्य हि ॥ नमस्तु, विनियोगो हि पुरुषार्थचतुष्टये । दीर्घभाजा स्वबीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ द्विभुजं स्वर्णरुचिरतनुं पद्मनिभेक्षणम् । धनुर्बाणकरं रामसेवासंलक्नमानसम् ॥ पूजापि वैष्णवे पीठे साङ्गावरणवर्जिते ॥ स्वाक्षं पुरश्चर्या ततः सिद्धस्तु साधयेत् ॥ भरतस्यैवमेवस्याच्छत्रुघ्नस्याप्ययं विधिः । अङ्गत्वेनोदिताह्येते प्राधान्येनापि सम्मताः ॥ आदौ वाप्यन्ततो वापि पूजायां राघवस्य तु । एतेषामपि कर्त्तव्या पूजा भुक्तिफलेप्सुभि । प्राधान्येन तु पृथक्त्वेनाङ्गत्वे रामपीठके । लक्ष्मणस्तु सदा पूज्यः प्राधान्येनैव नित्यशः ॥ यथा रामस्यपूजास्यात्तथा तस्यापि नित्यशः । साफल्यं रामपूजाया यदीच्छेन्नियतव्रतः । तेन यत्नेन कर्त्तव्या लक्ष्मणस्यापि विस्तरात् ॥ श्रीराममन्त्रभेदास्तु बहवः सन्ति वै मुने । तत्साधकैः सदा कार्याः सौमित्रेरपि नित्यशः ॥ अष्टोत्तरसहस्रं वा शतं वा सुसमाहितः । लक्ष्मणस्य मनुर्जप्यो मुमुक्षुभिरतन्द्रितम् ॥ अजप्त्वा लक्ष्मणमनुं राममन्त्रं जपन्ति ये । तज्जपस्य फलं नैव प्रयान्ति कुशला अपि ॥ अरिमित्रविधिः कोऽपि नैव कार्यो भवेदिह । योजयेल्लक्ष्मणमनुं नित्यमेकान्तमास्थितः । मुच्यते सर्वपापेभ्यः सकामानवद्युतेऽखिलान् ॥ प्रयोगायैव मन्त्रोऽयमुपदिष्टो हि शार्ङ्गिणा । सन्ध्यां चोपास्य विधिवन् मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् । त्रिकालं नियतो भूत्वा कृतनित्यविधिः स्वयम् ।। दीक्षायुतो यथान्यायं गुर्वनुज्ञापुरःसरम् ॥ मुच्यते सर्वपापेभ्यो याति विष्णोःपरं पदम् ॥ ऐहिकाननपेक्ष्यैवं निष्कामो योऽर्चयेद्विभुम् । दीक्षां प्राप्य विधानेन गुरोर्विगतकल्मषात् ॥ आचाराभिरताद्दान्ताद्गृहस्थाद्विजितेन्द्रियात ॥ तदनुज्ञानुसारेण पुरश्चर्या यथाविधि ॥ स सर्वान् पुण्यपापौघान् दग्ध्वा निर्मलमानसः । पुनरावृत्तिरहितं शाश्वतं पदमाप्नुयात् ॥ सकामो वाञ्छितांल्लब्ध्वा भुक्त्वा भोगान्यथेप्सितान् । जातिस्मरश्चिरं भूत्वा याति विष्णोःपरं पदम् ॥ यथा श्रीराममन्त्राणां प्रयोक्तुः पापसंभवः । तथा नो लक्ष्मणमनोः किन्तु याति पराङ्गतिम् ॥ केचिन्मुक्त्यर्थमेव स्युः केचिदैहिकसाधनाः । भुक्तिमुक्तिप्रदश्चायमेको विज्ञायते परमिग्गति ॥ ९३-१०० ॥

धारणयन्त्रमाह—*तारमिति* मध्ये कर्णिकायां साध्यसाधककर्म्मसहितं प्रणवं लिखेत् ॥ मनुं—रामषडक्षरम् ॥ सन्धिषु—षट्सन्धिषु । अङ्गं—षडङ्गमन्त्राः । कोणगण्डेषु—एकत्र मायामपरत्रकामं लिखेत् ॥ ततोऽष्टदलकेसरस्थाने षोडशस्वरांल्लिखेत् *मालामन्त्रो*—वक्ष्यमाणः । सप्तचत्वारिंशदक्षरः । गुहमुखमितान्—षट्परिमितान् ॥ १०१ ॥

दशाक्षरेण—वक्ष्यमाणेन । कादिवर्णैः संवेष्टयेति सम्बन्धः । भूपुरे दिग्विदिक्षु बीजे

दिग्विदिक्षु लिखेद्बीजे नरसिंहवराहयोः ॥ १०२ ॥
नमो भगवते भूयाच्चतुर्थ्यां रघुनन्दनम् ।
रक्षोघ्नविषदायान्ते मधुरादि समीरयेत् ॥ १०३ ॥
प्रसन्नवदनायेति पश्चादमिततेजसे ।
बलाय पश्चाद्रामाय विष्णवे तदनन्तरम् ॥
प्रणवादि नमोन्तोऽयं मालामनुरुदीरितः ॥ १०४ ॥
जानकीवल्लभायाथ भवेत्पावकवल्लभा ।
कुमादिरेषः कथितो राममन्त्रो दशाक्षरः ॥ १०५ ॥
जपादिसाधितं यन्त्रं स्वर्णपट्टादिकल्पितम् ।
बाहुना विधृतं दद्याद्विजयश्रीपराक्रमान् ॥ १०६ ॥

लिखेदिति सम्बन्धः । नरसिंहबीजमग्रिमपटले वक्ष्यमाणं, वराहबीजं वराहमन्त्रे वक्ष्यमाणम् १०२

मालामन्त्रमाह—*नम इति* । रघुनन्दनाच्चतुर्थी रघुनन्दनाय ॥ १०३ ॥

प्रसन्नवदनाय अमिततेजसे इत्यत्र न सन्धिः सप्तचत्वारिंशदक्षराणां यन्त्रे नियमितत्वात् ॥ अयं मालामन्त्रोऽपि स्वतन्त्रः । तदृष्यादिकं यथा—"मुनिः पितामहश्छन्दः सात्यनुष्टुप्च, देवता । राज्याभिषिक्तो रामोऽस्य, बीजशक्ती यथा पुरा ॥ तारवाक्कामबीजैश्च सम्पुटं प्रजपेदमुम् । शिरस्याननवृत्ते च भ्रूमध्येऽक्षिद्वयेऽपि च ॥ श्रोत्रयोर्घ्राणयोश्चैव गण्डयोरोष्ठयोरपि । दन्तयोरास्यदेशे च दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥ कण्ठे स्तने हृदि द्वन्द्वे पार्श्वयोः पृष्ठदेशतः । जठरे नाभ्यधिष्ठाने गुह्ये वर्णान्प्रविन्यसेत् ॥ सप्तर्तुसप्तदशषड्रुद्रसंख्यैः षडङ्गकम् । उन्निद्रनीलशकलामलकान्तिमब्जचापासिबाणकरमम्बुजपत्रनेत्रम् ॥ पीताम्बरं स्मितसुधामधुरं मुरारिं सञ्चिन्तयेन्मिथिलराजसुतासहायम् ॥ जपेद्द्वादशलक्षं च ध्यात्वैवं विजितेन्द्रियः । बैल्वैः फलैः प्रसूनैश्च पत्रैस्त्रिमधुसंयुतैः ॥ मधुरत्रययुक्तेन पयोन्नेन सिताम्बुजैः । होमं दशांशतः कुर्यात्तथा सर्वत्र तर्पणम् । प्राक्प्रोक्ते पूजयेत्पीठे मूर्तावावाह्य देवताम् ॥ प्रथमाङ्गावृतिः प्रोक्ता सप्तमीज्या समीरिता ॥ लक्ष्मणो भरतश्चैव शत्रुघ्नश्च हनूमता । सुग्रीवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठ उक्तो विभीषणः ॥ अङ्गदः सप्तमः प्रोक्तो नीलोऽष्टम उदाहृतः । नारदश्च वसिष्ठश्च वामदेवस्तृतीयकः ॥ जाबालो गौतमश्चापि भरद्वाजोऽथ कश्यपः । वाल्मीकिश्चाष्टमः प्रोक्तो लक्ष्मीश्चापि सरस्वती ॥ रतिप्रीती कीर्त्तिकान्ती तुष्टिपुष्टी इमाः क्रमात् । सृष्टिर्जयन्तविजौ सिद्धार्थः कार्यसाधकः ॥ अशोकश्चैव पूर्वस्यां श्रीवत्सश्च गदा तथा । पाञ्चजन्यः कौस्तुभाख्यो वनमाला च दक्षिणे ॥ उत्तरे चक्रपद्मे च शार्ङ्गबाणाश्च खड्गकम् ॥ पश्चिमे धर्मगरुडधर्मपालसुमन्त्रकानि"ति ॥ दशाक्षरोऽपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । तदृष्यादिकं यथा—"दशाक्षरोऽयंमन्त्रोऽस्य वसिष्ठः स्यादृषिर्विराट् । छन्दस्तु, देवता रामः सीतापाणिपरिग्रहो ॥ आद्यं बीजं द्विठःशक्तिः कामेनाङ्गानि पूर्ववत् । शिरोललाटभ्रूमज्य तालुकण्ठेषु हृद्यपि ॥ नाभ्यन्धुजानुपादेषु दशार्णान्विन्यसेन्मनोः । अयोध्यानगरे चित्रसर्वसौवर्णमण्डपे ॥ मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणान्विते । सिंहासने समारूढं पुष्पकोपरि राघवम् ॥ रक्षोभिर्हरिभिर्मौलैर्दिव्ययानगतैः शुभैः । संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम् ॥ सीतालङ्कृतवामाङ्कं लक्ष्मणेनोपसेवितम् । श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ध्यानान्ते च जपेन्मन्त्रं वर्णलक्षणं विचक्षणः । दशांशं जुहुयाद्बैल्वैः फलैर्मधुरसंयुतैरि"ति ।.अस्य पूजा षडक्षरवदेव ज्ञेया ॥ १०४ ॥ १०९ ॥

जपादीति आदिशब्देन पूजासम्पातौ ॥ स्वर्णपट्टादिकल्पितमित्यादिशब्देन रजतताम्रभूर्जपत्राणि । यत्तल्लेख्यविशेषे कालविशेषोपि । *अगस्तिसंहितायां*—"यावज्जीवं

गदितं राममन्त्रस्य विधानं सुरपूजितम् ।
तारं नमो भगवते वराहपदमीरयेत् ॥ १०७ ॥
रूपाय भूर्भुवः स्वः स्यात् पतये तदनन्तरम् ।
स्यात् भूपतित्वं मे पदान्ते देह्यन्ते च ददापय ॥ १०८ ॥
वह्निजायावधिर्मन्त्रः स्यात्त्रयस्त्रिंशदक्षरः ।
भार्गवो मुनिराख्यात श्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ॥ १०९ ॥
देवतादिवराहोऽस्य मन्त्रस्य कथितो बुधैः ।
एकदंष्ट्राय हृदयं व्योमोल्काय शिरःस्मृतम् ॥ ११० ॥
शिखा तेजोऽधिपतये विश्वरूपाय वर्म च ।
महावराहायास्त्रं स्यात्पञ्चाङ्गमिति कल्पयेत् ॥ १११ ॥
आपादज्जानुदेशाद्वरकनकनिभं नाभिदेशादधस्ता
न्मुक्ताभं कण्ठदेशात्तरुणरविनिभं मस्तकान्नीलभासम् ॥
ईडे हस्तैर्दधानं रथचरणदरौ खड्गखेटौ गदाख्यां
शक्तिं दानाभये च क्षितिधरणलसद्दंष्ट्रमाद्यं वराहम् ॥ ११२ ॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं मधुराक्तैः सरोरुहैः ।
जुहुयात्तद्दशांशेन पीठे विष्णोः प्रपूजयेत् ॥ ११३ ॥
मूर्त्तिं मूलेन सङ्कल्प्य वक्ष्यमाणविधानतः ।
पूर्वादिषु चतुर्दिक्षु हृदाद्यङ्गानि पूजयेत् ॥ ११४ ॥

सौवर्णे रौप्ये विंशतिवार्षिकम् । भूर्जे द्वादशवर्षाणि तदर्द्धं ताम्रपत्रके ॥ एवं लेख्यविशेषेण यन्त्रसिद्धिः प्रतिष्ठिते"ति ॥ १०६ ॥

इदं गदितम् विधानं राममन्त्रस्य राम इति द्व्यक्षरस्य मन्त्रस्य "ज्ञेयमि"ति शेषः । "वह्निर्नारायणेनाढ्यो जठरः केवलोऽपि च । द्व्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं भुक्तिमुक्तिफलप्रदः॥ एकाक्षरो-ऽमृष्यादि स्यादाद्येन षडङ्गकम् । तारमायारमानङ्गवाक्स्वबीजैस्तु षड्विधः ॥ त्र्यक्षरो मन्त्र-राजः स्यात्सर्वाभीष्टफलप्रदः । द्व्यक्षरश्चन्द्रभद्रान्तो द्विविधश्चतुरक्षरः ॥ ऋष्यादि पूर्ववज्ज्ञेय-मेतेषां तु विचक्षणैरि"ति ॥ एवं महाकपिलनारदहयशीर्षपञ्चरात्रस्कन्दयामलवैष्णवतन्त्रप्रोक्त-मन्त्रचतुष्टयमुक्त्वा राममन्त्रयन्त्रे नरसिंहवराहयोरुद्दिष्टत्वात्तत्र नरसिंहे बहुवक्तव्यत्वादादौ वाराहमन्त्रमुद्धरति-*तारमिति* । वह्निजाया स्वाहा । हुंबीजं, स्वाहा शक्तिः । तत्र मन्त्रार्थं विनियोगोक्तिः ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ॥ ११० ॥ १११ ॥

ध्यानमाह—*आपादमिति* । रथचरणश्चक्रम् । दरः—शङ्खः ।

गदाख्याम् गदां, क्षितिः पृथिवी । तस्याश्चरणेमूलं तत्र लसन्ती दंष्ट्रा यस्य तम् । दंष्ट्रा-लग्नभूमिमित्यर्थः । दक्षाधूर्ध्वयोराद्ये तदधोधस्थयोरन्य इत्यायुधध्यानम् । अत्र ध्याना-नन्तरमिदं मुद्राद्वयं दर्शनीयम् । तल्लक्षणं यथा—"वामहस्तमथोत्तानं कृत्वा देवस्य चोपरि । नामयेदिति सम्प्रोक्ता मुद्रा वाराहसंज्ञिते"ति । "दक्षहस्तं चोर्ध्वमुखं वाम-हस्तमधोमुखम् । अङ्गुष्ठाग्रं तु संयुक्ते मुद्रा वाराहसंज्ञिते"ति ॥ ११२ ॥

विष्णोः पीठे वक्ष्यमाणविधानतः प्रपूजये"द्वराहमि"ति शेषः । *पूर्वादिष्विति* । चतु-र्थ्यांआग्नेयादिस्थानापवादः ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

अस्त्रं कोणेष्वधश्चोर्ध्वं चक्राद्यस्त्राणि तद्बहिः ।
चक्रं शङ्खमसिं खेटं गदां शक्तिं वराभये ॥ ११५ ॥
संपूज्य बाह्यलोकेशान् बहिरस्त्राणि संयजेत् ।
ध्यानाद्देवो धनं दद्याज्जपाद्ध्याद्वसुन्धराम् ॥ ११६ ॥
प्रयच्छेज्जपपूजाद्यैर्धनधान्यमहाश्रियः ।
रवौ सिंहगतेऽष्टम्यां शुक्लपक्षे सितां शिलाम् ॥ ११७ ॥
पञ्चगव्येषु निःक्षिप्य स्पृष्ट्वा तमयुतं जपेत् ।
उत्तराभिमुखो भूत्वा तां शिलां निखनेद्भुवि ॥ ११८ ॥
शत्रुचौरमहाभूतैः कृतां बाधां प्रणाशयेत् ।
भानूदये भौमवारे साध्यक्षेत्रात्समाहरेत् ॥ ११९ ॥
मृत्तिकां सञ्जपन्मन्त्री तास्पुनर्विभजेत्त्रिधा ।
चुल्ल्यामेकां समालिख्य पाकपात्रे तथापराम् ॥ १२० ॥
गोदुग्धे परमालोड्य शोधितांस्तण्डुलान् क्षिपेत् ॥ १२१ ॥
संस्कृतेऽग्नौ पचेत्सम्यक् चरुं मन्त्री जपन्मनुम् ।
अवतार्य चरुं पश्चादग्नौ देवं यथाविधि ॥ १२२ ॥
धूपदीपादिकैरिष्ट्वा पुनराज्यप्लुतं चरुम् ।
जुहुयादधिते वह्नौ यावदष्टोत्तरं शतम् ॥ १२३ ॥
एवं सप्तारवारेषु जुहुयात क्षेत्रसिद्धये ।
प्रातःकाले भृगोर्वारे मृदं साध्यमहीतलात् ॥ १२४ ॥
आदाय हविरापाद्य पूर्ववज्जुहुयात् सुधीः ।
विरोधो नश्यति क्षेत्रे सहचौराद्युपक्रमैः ॥ १२५ ॥
राजवृक्षसमुत्थाभिः समिद्भिर्मनुनाऽमुना '

तद्बहिरिति । पत्रमध्येषु ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ३ ॥

सिंहेति । मेषचापयोरप्युपलक्षणम् । उक्तं च नारायणीये-"शुक्लाष्टम्यां रवौ मेषसिंहचापगते खनेदि"ति । *सितांशिलामिति* । फलाधिक्ये दशपलां त्रिंशत्पलामित्यादिलिप्सामिति पद्मपादाचार्याः ॥ ११७ ॥

निखनेदिति । भूबीजसाहित्यमुक्तमिति पद्मपादाचार्याः ॥ तदुक्त *माचार्यैः* "उदङ्मुखोमन्त्री मनुजपरतःस्थापयतु तामि"ति । मन्त्रीत्येन भूबीजसाहित्यमुक्तमिति पद्मपादाचार्याः ॥ निखननमभिजित्यनेव । "क्षेत्रमध्येऽभिजित्काले" इत्युक्तेः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

*साध्यक्षेत्रा*ज्जिघृक्षितात् । *मन्त्रपन्निति*-सर्वत्र सम्बध्यते । सम्भूबीजयोग उक्तः १२१ सम्यक् संस्कृतेऽग्नौ चरुं पचेदिति सम्बन्धः । तत्र सम्यगित्यनेन अष्टादशसंस्कारादि महागणपतिमन्त्रह्रामान्तमित्युक्तं भवति । मन्त्रीत्यनेन भूबीजयोगः होमेऽपि तद्बीजयोगो ज्ञेयः । *यथाविधीति* । अनेनाग्नौ मण्डूकादिपुष्पान्तं समभ्यर्च्येत्युक्तम् ॥ १२२ ॥

धूपदीपादीति । आदिशब्देन नैवेद्यग्रहणम् । पुन—रनन्तरम् ॥ १२३ ॥

आरोभौमः ॥ १२४ ॥

हविरापाद्येति चरुं कृत्वा पर्ववद्धविरापाद्य पूर्ववज्जुहुयादित्यनेन भौमवारप्रयोगो-

त्रिसहस्रं प्रजुहुयात्तस्य स्युः सर्वसम्पदः ॥ १२६ ॥
शालिभिर्जुहुयान्मन्त्री नित्यमष्टोत्तरं शतम् ।
समृद्धैर्धान्यसङ्घातैः शोभते तस्य मन्दिरम् ॥ १२७ ॥
तावदाज्येन जुहुयान्मण्डलात्स्वर्णमाप्नुयात् ।
लाजैः कन्यामवाप्नोति मधुरक्तैर्निजवाञ्छितम् ॥ १२८ ॥
मधुरत्रयसंयुक्तैर्जुहुयादुत्पलैर्नवैः ।
महतीं श्रियमाप्नोति मण्डलात्पूर्वसंख्यया ॥ १२९ ॥
मध्ये बीजं सतारं दहनपुरयुगे चक्रवर्णान् षडस्रि-
ष्वालिख्याङ्गानि सन्धिष्वथ करणदलैरम्बुजं केसरेषु ॥
अष्टार्णान्पत्रमध्ये लिखतु वसुमितान्मन्त्रवर्णांश्चतुर्थे ।
शिष्टं पत्रे पुरस्ताद्वसुदलकमले केसरस्थस्वराढ्ये ॥ १३० ॥
मन्त्रार्णान् वेदसंख्यान् दलमनुविलिखेदन्त्यमन्त्येऽथ बाह्ये ।
किञ्जल्कैः कादिवर्णैर्विकसितकमले षोडशारे यथावत् ॥
मन्त्रार्णान्युग्मशस्तच्चरपमदलगतं शिष्टवर्णं लिखित्वा ।
तारक्ष्माकोलबीजैस्तदनुपरिवृतं साध्यनामार्णमध्यैः ॥ १३१ ॥
दर्भितैः साध्यनामार्णैर्मन्त्रवर्णैर्वृतं बहिः ।
भूबिम्बेनास्य कोणेषु भूबीजं साध्यसंयुतम् ॥ १३२ ॥
अष्टशूलेषु वाराहं भूबीजसहितं लिखेत् ।

चक्रमेणाष्टोत्तरशतमित्यप्युक्तम् ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

नवैरिति । अनेनान्यत्र पर्युषितग्रहणमपि । अत्र तु न तथेत्युक्तम् । *पूर्वसंख्यया* त्रि-सहस्रमितया ॥ १२९ ॥

यन्त्रमाह—*मध्य इति* । दहनपुरयुगे परस्परव्यतिभिन्ने षट्कोणे मध्ये व्यधिकरणे सप्तम्यौ । तत्र सतारं सप्रणवं साध्यसाधकनामकर्मसहितं बीजं वक्ष्यमाणं वाराहं लिखेत् । अत्र तारश्चक्रमन्त्रस्य इति ज्ञेयम् । षडस्रिषु—षट्कोणेषु वक्ष्यमाणप्रणवव्यतिरिक्तचक्रमन्त्रा-र्णान् । अङ्गानि—सन्धिषु चक्रमन्त्रषडङ्गानीति सम्प्रदायविदः । "रन्ध्रेष्वङ्गमनूनपी"त्यस्य प्रपञ्चसारपद्यस्य व्याख्याने पद्मपादाचार्यैः चक्रमन्त्रषडङ्गानीति व्याख्यातम् । करणदलैश्च-तुर्दलैः । अष्टार्णान्नारायणाष्टार्णान् । एकैकस्मिन्केसरे वर्णद्वयक्रमेण ॥ १३० ॥

मन्त्रवर्णान् । वाराहमन्त्रार्णान् *वसुमितान्*—अष्टमितान् । चतुर्थे पत्रे नव वर्णान् । *यथावदिति* । अग्र(१)पत्रादिति सर्वत्र सम्बध्यते ? तारः प्रणवः । क्ष्मा भूबीजं महागणपतिपटले उद्धृतम् । कोलबीजं—वक्ष्यमाणं वाराहबीजम् । एतैः किंविशिष्टैः ? साध्य-नाम्नोऽक्षराणि मध्ये येषां तैर्वेष्टयेत् । एतेन साध्यनामाक्षरपरिपुटितत्वं बीजानामुक्तं भवति । तदु *क्रमाचार्यैः*—"तारमहीकोलार्णैः ग्वेष्टयेत्साध्यपरिपुटितैरि"ति ॥ १३१ ॥

मन्त्रवर्णैर्दर्भितैः साध्यनामार्णैर्वृतमिति सम्बन्धः । दर्भितलक्षणं त्रयोविंशे वक्ष्यति । "तद्बाह्ये मनुवर्णैर्विदर्भिताभिश्च साध्यपदलिपिभिरि" त्याचार्योक्तेः । बहिर्भूबिम्बेन वृत-मिति सम्बन्धः ॥ १३२ ॥

अष्टशूलेष्विति । वर्द्धिताष्टरेखाप्रकृतेषु । तत्र मध्यरेखायां दक्षे वाराहं, वामे भूबीजं-

---

(१) एषपाठोन सम्बध्नाति कुतस्त्योऽयमितिसन्देहाङ्क (?) उद्भङ्कितः ॥

सार्घीशबिन्दुगगनं बीजं वाराहमीरितम् ॥ १३३ ॥
रोचना गुरुकर्पूरलाक्षाकुङ्कुमचन्दनैः ।
गोमयाम्भसि सम्पिष्टैर्लिखेद्यन्त्रं शुभे दिने ॥ १३४ ॥
लेखिन्या हेममय्याच सर्वकामप्रसिद्धये ।
स्वर्णपट्टे लिखेद्यन्त्रं राज्यश्रीसमवाप्तये ॥ १३५ ॥
ग्रामसिद्ध्यै रजतजे ताम्रपट्टे धनाप्तये ।
भूर्जपत्रे निजेष्टाप्तौ क्षौमे भूसिद्धये लिखेत् ॥ १३६ ॥
जपपूजादिभिः सिद्धं यन्त्रं कुर्यान्निजेप्सितम् ।
ग्रामपत्तनराष्ट्रेषु यन्त्रमेतत्सुसाधितम् ॥ १३७ ॥
निखनेच्छुभवारादौ साङ्गन्दिक्षु समर्चयेत् ।
क्षुद्रापमृत्युचौरादिभूतव्यालमहाभयैः ॥ १३८ ॥
नशक्यते परन्द्रष्टुं तंदेशं देवता बलात् ।
धरायन्ते धरेद्वन्द्वं द्विठान्तोऽयं भुवादिकः ।
एकोनविंशत्यर्णाढ्यं धराहृदयमीरितम् ॥ १४० ॥
वराहोऽस्य मुनिः प्रोक्तश्छन्दोनिचृदुदाहृतम् ।
देवता सर्वभूतानां प्रकृतिर्वसुधा मता ॥ १४१ ॥

लिखेदिति सम्प्रदायः । वाराहबीजमुद्धरति—*सार्घीशेति* गगनं हः । अर्घीश ऊकारः । बिन्दुरेतद्धुतम् । अयमपि स्वतन्त्रोमन्त्रः । अस्यर्ष्यादिकं यथा—"हयग्रीवऋषिः प्रोक्तश्छन्दस्त्रिष्टुप् च देवता । वराहोदीर्घयुक्तेन षडङ्गानि च कल्पयेत ॥ ध्यानपूजादिकं सर्वमस्य वाराहमन्त्रवदि"ति । कल्पान्तरे तु भूरित्युद्धृतम् । तदुक्तं—"नाभिर्वामश्रवाः सर्गो तस्य बीजमिहोच्यते" इति ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

जपपूजादिभिरिति ॥ आदिशब्देन सम्पातः । तदुक्तं—"यन्त्रं सञ्जप्तमेतद्घृतहुतकृतसम्पातपातं करोता"ति ॥ *सुसाधितमिति* । जपपूजासम्पातैः ॥ १३७ ॥

शुभवारादाविति ॥ आदिशब्देनस्थिरराश्यादाविति ज्ञेयम् । *साङ्गन्दिक्षुसमचयेत्* । इत्यस्य अयमभिप्रायः । आत्मानं वाराहरूपं ध्यात्वा तत्र यन्त्रे वाराहमावाह्य सम्पूज्य पूजोक्तक्रमेण हृदयादीनि पूर्वादिचतुर्दिक्षु संपूज्य अस्त्रं दिक्षु ऊर्ध्वाधश्च पूजयेदिति । तदुक्तं—"मन्त्री समास्थाय वराहरूपं साध्यप्रदेशे निखनेच्चयन्त्रम् । स्थिराख्यराशावपिबाह्य कोलमङ्गानि दिक्षु क्षिपतां यथावदि"ति ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

परमत्यर्थम् । अस्याष्टाक्षरोऽपि मन्त्रः प्रसंगेन प्रकाश्यते "अष्टाक्षरे महामन्त्रे शाखादिः प्रथमाक्षरम् । द्वितीयं व्याहृतिस्तस्माद्वराहाय पदन्ततः" इति । अस्य ब्रह्मा ऋषिर्जगतीच्छन्दः श्रीवराहोदेवता भम्बीजम् ऊशक्तिः । ध्यानं—"कृष्णाङ्गन्त्वतिनीलवक्त्रनलिनं पद्मस्थितं स्वाङ्कगां क्षोणीशक्तिमुदारबाहुभिरथो शङ्खं गदामम्बुजम् । चक्रं बिभ्रतमुग्रकान्तिमनिशं देवं वराहं भजे भूलक्ष्मीरतिकान्तिभिः परिवृतं चर्मासिसन्दीप्तिभिरि"ति । शेषं समानम् । *अस्य यन्त्रद्वयमुच्यते*—"चतुर्दले मध्यबीजे केसरेऽष्टाक्षरं मनुम् । दलेष्वग्रसमस्ताश्च समस्ता व्याहृतीर्लिखेत् ॥ केसरेषु स्वरानष्टपत्रे नारायणं मनुम् । दन्तसंख्यदले कादीन्पत्रेष्वानुष्टुभं मनुम् ॥ क्षेतिनाम्नापरितस्ततः पाशाङ्कुशावृतम् ॥ स्मरणाद्धारणात्तस्य सर्वमिष्टफलं लभेदि"ति । तथा—"मध्ये बीजे तथाष्टारे तदीयाष्टाक्षरं लिखेत् ॥ बहिर्द्वादशारेपद्मे

हृदयं त्रिभिराख्यातं चतुर्भिः शिर ईरितम् ।
त्रिभिःशिखा समुद्दिष्टा कवचं पञ्चभिर्मतम् ॥ १४२ ॥
द्वाभ्यां नेत्रं समाख्यातं द्वाभ्यामस्त्रं पुनर्भवेत् ।
मन्त्रवर्णैः षडङ्गानि कुर्यादेवं विधानवित् ॥ १४३ ॥
श्यामां विचित्रांऽशुकरत्नभूषणां पद्मासनां तुङ्गपयोधरोन्नताम् ।
इन्दीवरे द्व नवशालिमञ्जरीं शुकं दधानां वसुधां भजामहे ॥१४४॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं धराहृदयमादरात् ।
स सर्पिषा पायसेन जुहुयात्तद्दशांशतः ॥ १४५ ॥
तां विष्णोः पूजयेत्पीठे वक्ष्यमाणविधानतः ।
अङ्गानि पूजयेदादौ भूवह्निजलमारुतान् ॥ १४६ ॥
दिक्पत्रेषु समभ्यर्च्य कोणपत्रेषु तत्कलाः ।
आशापालाः पुनः पूज्या वज्राद्यस्त्रसमन्विताः ॥ १४७ ॥
एवं सिद्धमनुर्मन्त्री साधयेत् स्वमनोरथान् ।
मधुरत्रयसंयुक्तैर्जुहुयादरुणोत्पलैः ॥ १४८ ॥
सहस्रं भूसमृद्धिः स्यात्तथा नीलोत्पलैः शुभैः ।
प्रियङ्गुपुष्पसंव्यक्तैर्धनधान्यमहीश्रियः ॥ १४९ ॥
मञ्जरीं शालिसम्भूतां मधुरत्रयलोलिताम् ।
जुहुयात्साधिते वह्नौ मण्डलात् स्याद्धरापतिः ॥ १५० ॥
शुक्रवारे दिनमुखे गृहीत्वा साध्यभूमृदम् ।
तामम्भसि विनिःक्षिप्य शोधितेऽत्र चरुं पचेत् ॥ १५१ ॥
पयाघृताभ्यां सहितं जुहुयात्तं हुताशने ।
षण्मासं शुक्रवारेषु हुत्वा प्राप्नुयान्महीम् ॥ १५२ ॥
धरामेवं जपेन्मन्त्रः पशुरत्नधनादिभिः ।
धरायाः वल्लभः स स्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥ १५३ ॥

इति श्रीशारदातिलके पञ्चदशः पटलः ॥ १५ ॥ * ॥

तु मन्त्रानुष्टुभमालिखेत् ॥ द्वन्द्वरूपेण तच्चक्रं वाराहमिति विश्रुतम् ॥ यद्यत्कामयते मन्त्री सर्वमेतेन साधयेदिर्गत । मन्त्रस्तु—"पर ातमह:रावनराहाङ्गावनेर्धव ॥ वर्द्धते योऽन्वहं देवं वन्देऽहं वालिजाधवमिर्गत ॥ धाराहमन्त्रप्रसङ्गाद्धरणामन्त्रमाह—*हृदयमिति* ॥ हृदयं नमः पदम् । अत्रापि पूर्ववद्विसर्गेण सह सन्धिर्ज्ञेयः । प्रणवो बीजं, स्वाहा शक्तिः ॥ १३९-१४२ ॥

विधानवित्—इत्यनेन शाक्तषडङ्गमुद्राभिरित्युक्तम् । दक्षाधूर्ध्वयोराद्ये । तदधस्थयोरन्ये । इत्यायुधध्यानम् ॥ १४३ ॥ १६४ ॥ १४५ ॥

विष्णोरिति । "ग्लौं वसुन्धरायोगपीठाय नमः" इति पीठमन्त्रः ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

स्वमनोरथानिति अनेन पृथ्वीप्राप्ता स्वबीजयागः । धनधान्यलाभे श्रीयोगः । कीर्त्यौ शक्तियोगोऽन्यत्र वराहबीजयोगोऽपि सूचितः ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ १५० ॥

शुक्रवार इति । तामम्भसीति वृतांशांशं दुग्धे वा तत्रैकमंशं चुल्ल्यामेकं पात्रे इति ज्ञेयम् ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां पञ्चदशः पटलः १५

अथाभिधास्ये विधिवन्नारसिंहं महामनुम् ।
उग्रं वीरं वदेत्पूर्वं महाविष्णुमनन्तरम् ॥ १ ॥
ज्वलन्तं पदमाभाष्य सर्वतोमुखमीरयेत् ।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं वदेत्ततः ॥ २ ॥
नमाम्यहमयं प्रोक्तो मन्त्रराजः सुरद्रुमः ।
ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्टश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ॥
देवता नरसिंहः स्यात्सुरासुरनमस्कृतः ॥ ३ ॥
चतुर्भिर्हृदयं वर्णैः शिरस्तावद्भिरीरितम् ।
शिखाऽष्टाभिः समुद्दिष्टा षड्भिः कवचमीरितम् ॥ ४ ॥
तावद्भिर्नयनं प्रोक्तमस्त्रं स्यात्करणाक्षरैः ॥
शिरोललाटनेत्रेषु मुखबाह्वङ्घ्रिसन्धिषु ॥ ५ ॥
साग्रेषु कुक्षौ हृदये गले पार्श्वद्वये पुनः ।
अपराङ्गे ककुदि च न्यसेद्वर्णान्यथाक्रमात् ॥ ६ ॥

नृसिंहमन्त्रराजमुद्धरति—*उग्रमिति* । मन्त्रे सर्वाणि द्वितीयान्तानि । श्लोकरूपो द्वात्रिंशदक्षरो वर्णः । वैदिकत्वादस्य प्रणवादित्वं ज्ञेयम् । तापनीये तथोक्तत्वात् । साम्प्रदायिकास्तु—सुरद्रुम इत्यनेन शक्तिबीजपुटितमेनमाहुः । अस्य हं बीजं हूँ शक्तिः । तथा च *तापनीये*—"देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिबीजं मनो ब्रूहि भगव इति । सहोवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात् । य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानमुत्तरति स मृत्युं जयति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते मीमांसन्ति ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुता वेति । यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं तरति अमृतत्वं च गच्छति । यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोति अमृतत्वं च गच्छति । यदि प्लुता भवत्यमृतत्वं च गच्छति । सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः सर्वाणि भूतानि । आकाशादेव जायन्ते आकाशादेव जातानि जीवन्ति । आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यादिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

तावद्भिरिति । चतुर्भिः ॥ ४ ॥

तावद्भिरिति । षड्भिः । *करणाक्षरैरिति* (१)चतुर्भिः । साम्प्रदायिकास्त्वन्यथा षडङ्गमाहुः—तद्यथा—"ह्रामाद्यैश्चतुर्भिः पदैर्द्वंद्वयमहितैरानन्दात्मने, प्रियात्मने, ज्योतिरात्मने, मायात्मने, ज्वालात्मने, ज्ञानात्मने, क्रमादेतदन्तैः षडङ्गानि ॥ *तापनीये तु* पञ्चाङ्गमेवोक्तम् । तस्य हि पञ्चाङ्गानि चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति ॥ ४ ॥ ५ ॥

अक्षरन्यासमाह—*शिर इति* । तत्र प्रणवयोर्मध्ये एकैकमक्षरं सबिन्दुकमुच्चार्य न्यसनीयम् । *यत्तापनीये* "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति ॥ अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिन" इति ॥ ६ ॥

अपराङ्गे—पृष्ठे । ककुदि अपरगले अथ तन्त्रान्तरोक्तो नृसिंहसान्निध्यकारकः सर्वरक्षाकरो दशविधन्यास उच्यते यदाहुः—"नृसिंहसान्निध्यकरो न्यासो दशविधोच्यते । तत्र पूर्वोऽय-

---

(१) अत्र करणान्यन्तःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहङ्काररूपाणि ज्ञेयानीति चत्वारि ।

माणिक्याद्रिसमप्रभं निजरुचा संत्रस्तरक्षोगणम् ।
जानुन्यस्तकराम्बुजं त्रिनयनं रत्नोल्लसद्भूषणम् ॥
बाहुभ्यां धृतचक्रशङ्खमनिशं दंष्ट्राग्रवक्त्रोल्लस-
ज्ज्वालाजिह्वमुदग्रकेशनिचयं वन्दे नृसिंहं विभुम् ॥ ७ ॥
वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं तत्सहस्रं घृतप्लुतैः ।
पायसान्नैः प्रजुहुयाद्विधिवत्पूजितेऽनले ॥ ८ ॥
एवं कृते भवेन्मन्त्री सिद्धमन्त्रः प्रतापवान् ।
पूजा प्रागीरिते पीठे मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९ ॥
पूजयेद्विधिवत्तस्यां दैत्यशत्रुमनन्यधीः ।
अङ्गान्यादौ समाराध्य दिग्दलेषु यजेत्पुनः ॥ १० ॥
पक्षीन्द्रं शङ्करं शेषमब्जयोनिं यथाक्रमम् ।
श्रियं ह्रियं धृतिं पुष्टिमङ्घ्रयादिषु यजेत्ततः ॥ ११ ॥
लोकपालाः समभ्यर्च्यास्तदस्त्राणि ततःपरम् ।

मन्त्राङ्गुलीन्यास उच्यते—"कराङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु पृथगाद्यन्तपर्वणोः । सर्वाङ्गुलौ न्यसेच्छिष्टं तलयोरक्षरद्वयम् ॥ ब्रह्मरन्ध्रललाटभ्रूमध्यदृक्षु दृशोऽप्यधः । कपोले कर्णमूले च चिबुकोर्ध्वाधरोष्ठकम् ॥ कण्ठयोर्दक्षदो र्मदोर्हृत्तनुषु नासिके । दक्षान्यदोस्तने कट्यां मेढ्रोर्वोर्जानुजङ्घयोः ॥ गुल्फे पादकराङ्गुल्योः सर्वसन्धिषु रोमसु । रक्तास्थिमज्जासु मनोर्वर्णान्न्यस्येद्विचक्षणः ॥ द्व्यर्णान्पदे गुल्फजानुकटिनाभिषु हृत्स्थले । बाह्वोः कण्ठेतु चिबुके ओष्ठे गण्डे प्रविन्यसेत् ॥ कर्णयोर्वदने नासापुटे नेत्रे च मूर्द्धनि । पदानि तु मुखे के तु चक्षुः श्रोत्रेषु विन्यसेत् ॥ आस्ये च हृदये नाभौ कटिजानुपदेष्वपि । नासादृक्कर्णनाभीहृत्कट्योः पत्सु प्रविन्यसेत् ॥ चतुर्वर्णान्मनोः पादान् (१)कहृन्नाभिषु सर्वतः । अर्द्धद्वयं न्यसेन्मूर्द्ध्नि आहृत्यादात्तदङ्गकम् ॥ उग्राद्युग्रादीनि नव पदानीह नमाम्यहम् । इत्यन्तान्न्यासकघ्राणदृक्कर्णेषु च पक्ष्मसु ॥ हृदि नाभौचकट्यादि पादान्तं नवसुन्यसेत् । ताराद्यान्यपि तान्येव यथापूर्वं प्रविन्यसेत ॥ नृसिंहाद्यानि तान्येव पूर्ववद्विन्यसेत्सुधीरि"ति । अत्र न्यासध्यानानन्तरमेता मुद्राः प्रदर्शयेत् । "जानुमध्यगतौ कृत्वा चिबुकोष्ठौ समावुभौ । हस्तौ च भूमिसंलग्नौ कम्पमानः पुनःपुनः ॥ मुखं विजृम्भितं कृत्वा लेलिहानां च जिह्विकाम् । एषा मुद्रानारसिंही प्रधानेति प्रकीर्त्तिता ॥ वामस्याङ्गुष्ठतो बध्वा कनिष्ठामङ्गुलीत्रयम् । त्रिशूलवत्सम्मुखोर्ध्वां कुर्यान्मुद्रां नृसिंहगाम् ॥ अङ्गुष्ठाभ्यां च करयोस्तथाऽऽक्रम्य कनिष्ठके । अधोमुखाभिः श्लिष्टाभिः शेषाभिर्नृहरेर्मता ॥ हस्तावधोमुखौ कृत्वा नाभिदेशे प्रसार्य्य च । तर्ज्जनीभ्यां नयेत्स्कन्धौ प्रोक्तैषान्त्र्याख्यमुद्रिका ॥ हस्तावूर्ध्वमुखौ कृत्वा तले संयोज्य मध्यमे । अनामायां तु वामार्थ्यां दक्षिणां तु विनिक्षिपेत ॥ तर्ज्जन्यौ पृष्ठतो लग्ने अङ्गुष्ठौ तर्ज्जनीश्रितौ । वक्त्रमुद्राभवेदेषा नृहरेः सन्निधौ मता ॥ वक्त्रमुद्रां तथा कृत्वा तर्जनीभ्यां तु मध्यमे । पीडयेद्दंष्ट्रमुद्रैषा सर्वपापप्रणाशिनी"ति । एताः सर्वनृसिंहमन्त्रसाधारण्य इति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

वर्णलक्षमिति ॥ द्वात्रिंशल्लक्षम् ॥ तत्सहस्रं—द्वात्रिंशत्सहस्रम् ॥ ८ ॥ ९ ॥
विधिवदिति । देवतापीठं तत्राभ्यर्च्येत्यर्थः । *प्रागीरिते* । नारायणाष्टाक्षरोक्ते ॥९॥
विधिवदिति । वक्ष्यमाणविधानेन । किंच विधिवदित्यनेन तापनीयोक्तयन्त्रे दशावर-

(१) "कंशिरोजलमाख्यातमि"त्यमरादिह कं शिरः ।

इत्थं जपादिभिः सिद्धे मनौ काम्यानि साधयेत् ॥ १२ ॥
उद्यत्कोटिरविप्रभं नरहरिं कोटीरहारोज्ज्वलम् ।
दंष्ट्राभीममुखं लसन्नखमुखैर्दीर्घैरनेकैर्भुजैः ॥
निर्भिन्नासुरनाथमग्निशशभृत्सूर्यात्मनेत्रत्रयम् ।
विद्युत्पुञ्जसटाकलापभयदं वह्निं वमन्तं भजे ॥ १३ ॥
सौम्ये सौम्यं स्मरेत्कार्य्ये क्रूरे क्रूरमिमं भजेत् ।
श्रीपुष्पैर्जुहुयान्मन्त्री बिल्वकाष्ठेधिते नले ॥ १४ ॥
सहस्रं श्रियमाप्नोति पत्रैर्वा बिल्वसम्भवैः ।
प्रसूनैर्वा फलैस्तद्वद्दूर्वाहोमादरोगताम् ॥ १५ ॥
मन्त्रजप्तां वचां श्वेतां भक्षयेत्प्रातरन्वहम् ।
वाक्सिद्धिं लभते मन्त्री वाचस्पतिरिवापरः ॥ १६ ॥
सलिले देवमभ्यर्च्य गन्धपुष्पादिभिः शुभैः ।
दूर्वाभिस्तत्र जुहुयान्नित्यमष्टोत्तरं शतम् ॥ १७ ॥
उपसर्गा विनश्यन्ति क्षुद्रभूतज्वरादिभिः ।
दुःस्वप्ने निशि संजाते स्नात्वा मन्त्रममुं जपेत् ॥ १८ ॥
अनिद्रो मन्त्रवित्पश्चात्सुस्वप्नस्तस्य जायते ।
व्याघ्रचौरमृगादिभ्यो महारण्ये भयाकुले ॥ १९ ॥
रक्षेन्मनुरयं जप्तो भयेष्वन्येषु मन्त्रिणम् ।
अनेन मन्त्रितं भस्म विषग्रहमहामयान् ॥ २० ॥
नाशयेदचिरादेव मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ।
घोरेऽभिचारे सोन्मादे महोत्पाते महाभये ॥ २१ ॥

णानि पूजयेदित्युक्तम् । *समाराध्येति* । तुर्योक्तरीत्या ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

सौम्य इति । एतदुपासनाविषये सौम्यं पूर्वोक्तध्यानम् ॥ क्रूरे-प्रयोगविषय इत्यर्थः । क्रूरमनन्तरोक्तम् । *तदुक्तमाचार्यैः*—"प्रतिपत्तिरस्य चोक्ता प्रसन्नता क्रूरता विशेषेण । द्विविधा प्रसन्नता स्यात्साधनपूजान्यथा प्रयोगविधिरि"ति । *श्रीति* । लक्ष्मीफला ॥ १४ ॥

तद्वदिति । श्रियमाप्नोतीत्यर्थः । *अरोगतामिति* । अत्राप्नोतीत्यनुषज्यते ॥१५॥ ॥ १६ ॥ ३ ॥

तत्रेति जले ॥ १७ ॥

उपसर्गा—उपद्रवाः । *तदुक्तमाचार्यैः*—"दूर्वात्रिकैरष्टसहस्रसंख्यैराराध्य मन्त्रीजु हुयादथाप्सु । शान्तिं प्रयान्त्येव तदोपसर्गा आपोहि शान्ता इति च श्रुतिः स्यात् ॥ उत्पाते सति महतिह्युपद्रवाणां होमोयं भवति स शान्तिदो नराणाम् । यद्वान्यद्विजमनसेप्सितं च कामं तत्प्राप्नोत्यखिलनृणां प्रियश्च भूयादि"ति । *स्नात्वेति* । दुःस्वप्नानन्तरं तदैव । जपेदित्यष्टोत्तरशतम् ॥ १८ ॥

सुस्वप्न इति । स एव दुःस्वप्न एवं सुस्वप्नफलदो भवति ॥ मृगाः-सिंहाद्याः ॥ १९ ॥

विषेत्यनेन सर्प्पादीनां विषं ग्रहा—अष्टादश । महामयानित्यनेन ज्वरादयः संगृहीताः । यदाहुः—"मूषिकलूतावृश्चिकमहुपाद्याद्युत्थितं विषं शमयेत् । अष्टोत्तरशतजापान्मनुरयमभि-

जपेन्मन्त्रं स्मरेद्देवं दुःखान्मुक्तो भवेन्नरः ।
सिंहरूपं महाभीमं नखदंष्ट्रानिभीषणम् ॥ २२ ॥
स्मृत्वाऽऽत्मानं रिपुं पश्चाद्ध्यायेन्मृगशिशुं पुरः (रा) ।
गृहीत्वा गलदेशे तं पुनर्दिक्षु क्षिपेद्द्रुतम् ॥ २३ ॥
पुत्रामत्रकलत्राद्यैरुच्चाटोजायते रिपोः ।
पूर्वमृत्युपदे साध्यनाम कृत्वा स्वयं हरिः ॥ २४ ॥
निशितैर्नखदंष्ट्राग्रैः खाद्यमानं रिपुं स्मरेत् ।
नित्यमष्टोत्तरशतं जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥ २५ ॥
जायते मण्डलादर्वाक् शत्रुर्वैवस्वतप्रियः ।
कुर्वीत यत्नं विधिवच्छत्रुसनानिवारणे ॥ २६ ॥
बिभीतकाष्ठे ज्वलिते पावके रिपुमर्द्दनम् ।
विचिन्त्य देवं नृहरिं सम्पूज्य कुसुमादिभिः ॥ २७ ॥
समूलतू (तूलमू) लैर्जुहुयाच्छुरैर्दशशतं पृथक् ।
रिपुं खादन्निव जपेद्भिन्दन्निव च तान् जपे (क्षिपे)त् ॥ २८ ॥
हुत्वा सप्तदिनं मन्त्री सेनामिष्टां महीपतेः ।
प्रस्थापयेच्छुभे लग्ने परराज्यजयेच्छया ॥ २९ ॥
तस्याःपुरस्तान्नृहरिं निघ्नन्तं रिपुमण्डलम् ।
स्मृत्वा प्रयोगं कुर्वीत यावदायाति सा पुनः ॥ ३० ॥

न्त्रितं च भस्माद्यम् ॥ सशिरोक्षिकर्णहृद्गलकुक्षिरुजाज्वरविसर्पिवमिहिक्काः ॥ मन्त्रौषधाभिचारिककृतान्विकारानथं मनुः शमयेदित्यर्थः इति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

*रिपुमि*त्यग्रिमेण सम्बध्यते । तं रिपुं क्षिपेदित्यन्वयः । पुरेति पाठे आत्मानं पुरा स्मृत्वेत्यन्वयः । पुरः इतिपाठे आत्मनः अग्रे इत्यर्थः ॥ २३ ॥

पूर्वमृत्युपद इति । मन्त्रे मृत्युमृत्युमितिपदद्वयमस्ति । तत्रपूर्वमृत्युपदन्त्यक्त्वा *ते–तत्स्थाने साध्यनामप्रयोग इत्यर्थः । स्वयं हरिरिति आत्मानं नृसिंहरूपं ध्यात्वेत्यर्थः । यत्नं कुर्वान्नत्यादि अनर्थः स्यान्महीपतेरि यन्तामेक एव प्रयोगः ॥ २५ ॥

विधिवद्यत्नमेवाह–*बिभीतेति* । *रिपुमर्दनमिति* ॥ अनेन क्रूरध्यानं कर्त्तव्यमिति सूचितम् ॥ २७ ॥

पृथगिति । प्रत्यहं रिपुं खादन्निव जपेदित्यस्यायमर्थः । होमसमये रिपुं खादन्निव नृसिंहोऽहमित्यात्मानं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रमुच्चरेत् । ततोऽरीन् भिन्दन्निव नृसिंहोऽहमिति आत्मानं ध्यात्वा तान् शरानग्नौ क्षिपेत् इति । तदुक्तं "खादन्निवोच्चरेन्मनुमरींश्च भिन्दन्निव क्षिपेत्समिध" इति ॥ २८ ॥

हुत्वा महीपतेरिष्टांसेना शुभे लग्ने प्रस्थापयेदिति सम्बन्धः ॥ २९ ॥ ३ ॥

स्मृत्वा प्रयोगमिति । यावदायाति तावज्जपं पूर्वोक्तध्यानं च कुर्यादित्यर्थः । तदुक्तम्—"यावर्जितारिरभ्येति नृपतिस्तावज्जपंत्स्मरेद्देवमि"ति । तन्त्रान्तरोक्ता ध्यानभेदा लिख्यन्ते "नरसिंहं महाभीमं कालानलसमप्रभम् । चन्द्रमौलिन्त्रिनेत्रञ्च प्रतिवक्त्रं त्रिनेत्रकम् ॥ भुजैः परिघसंकाशैर्दशभिश्चोपशोभितम् । आन्त्रमाला धरं रौद्रं कण्ठहारेण शोभितम् ॥ नागयज्ञोपवीतं च पञ्चाननसुशोभितम् । अक्षसूत्रं गदां पद्मं शङ्खगाक्षीरसन्निभम् ।

विजित्य निखिलाञ्छत्रून् सहवीरश्रिया सुखम् ।
आगत्य विजयी राजा ग्रामक्षेत्रधनादिभिः ॥ ३१ ॥
प्रीणयेन्मन्त्रिणं सम्यग्विभवैः प्रीतमानसः ।
मन्त्री यदि न सन्तुष्टो ह्यनर्थः स्यान्महीपतेः ॥ ३२ ॥
बीजं साध्यसमन्वितं प्रविलिखेन्मध्येऽष्टपत्रेष्वथो ।
मन्त्रार्णान् श्रुतिशो विभज्य विलिखेत् लिप्या बहिर्वेष्टयेत् ॥
बाह्ये कोणगबीजबद्धवसुधागेहद्वयेनावृतम् ।
यन्त्रं क्षुद्रविषग्रहामयरिपुप्रध्वंसनं श्रीप्रदम् ॥ ३३ ॥
कृत्वा नवपदात्मानं मण्डलं यन्त्रसंयुतम् ।
अस्मिन् संस्थापयेन्मन्त्री कलशान्नव शोभनान् ॥ ३४ ॥
कषायतोयसम्पूर्णान् वस्त्ररत्नादिसंयुतान् ।
मध्ये सम्पूजयेद्देवं नृसिंहं शान्तविग्रहम् ॥ ३५ ॥
तार्क्ष्यादीन्पूजयेन्मन्त्री पूर्वादिषु यथाक्रमम् ।
इति संसाधितैस्तोयैरभिषिञ्चेत्प्रियं नरम् ॥ ३६ ॥

धनुश्च मुशलं चैव बिभ्राणं चक्रमुत्तमम् । खड्गं शूलं च बाणं च नृहरिं रुद्ररूपिणम् ।। इन्द्रगोपाभनीलाभं चन्द्राभं स्वर्णसन्निभम् । पूर्वादि चोत्तरं यावदूर्ध्वास्यं सर्ववर्णकम् । एवमुग्रं हरिं ध्यायेत्सर्वव्याधिविमुक्तये । सर्वमृत्युहरं दिव्यं स्मरणात्सर्वसिद्धिदम् ।। ध्येयो यदात्मकर्म तदा षोडशहस्तवान् । नृसिंहः सर्वलोकेशः सर्वाभरणभूषितः ॥ द्वौ विदारणकर्माढ्यौ द्वौ चान्त्रोद्धरणोद्यतौ । चक्रशङ्खधरौ तु द्वौ द्वौ च बाणधनुर्धरौ ॥ खड्गखेटधरौ द्वौ च द्वौ गदापद्मधारिणौ । पाशाङ्कुशधरौ द्वौ तु द्वौ रिपोर्मुकुटार्पितौ ॥इति षोडशदोर्दण्डमण्डितं नृहरिं विभुम् । ध्यायेन्नीरदनीलाभमुग्रकर्मण्यनन्यधीः ॥ ध्येयो महत्तमे कार्ये द्वात्रिंशद्धस्तवान् । नृहरिः सर्वभूतात्मा सर्वसिद्धिकरः प्रभुः ॥ दक्षिणे चक्रपद्मे च परशुं पाशमेव च । हलं च मुशलं चैवमभयं चाङ्कुशं तथा ।। पट्टिशं भिन्दिपालं च खड्गमुद्गरतोमरान् । वामभागे करैः शङ्खं खेटं पाशं च शूलकम् ॥ अग्नि च वरदं शक्ति कुण्डिकां च ततः परम् ॥ कार्मुकं तर्जनीमुद्राङ्गदां डमरुसपंकौ । द्वाभ्यां कराभ्यां च रिपोर्जानुमस्तकपीडनम् ॥ उर्ध्वीकृताभ्यां बाहुभ्यामान्त्रमालाधरं हरिम् । अधः स्थिताभ्याम् बाहुभ्यां हिरण्यकविदारणम् ॥ क्षेमङ्करं च भक्तानां दैत्यानां च भयङ्करम् । नृसिंहं संस्मरेदित्थं महामृत्युभयापहम् ।। अथोच्यते ध्यानमन्यत्सुखरोगहरं शुभम् ॥ स्वर्णाद्याभे सुपर्णे स्थितमतिसुमुखं कोटिपूर्णेन्दुवर्णं विद्युन्मालासटाभिर्ज्वलितशिखमयद्दशं पीतवस्त्रोरुभूषम् । हस्तांघ्र्यच्चक्रशङ्खाऽभयवरमखिलक्ष्वेलरोगादि मृत्यूंश्चैध्वांनैर्ध्वंसयन्तं सुरनुतमनिशं संस्मरेच्छ्रीनृसिंहमित्यगति॥३०॥३१॥३२॥

यन्त्रमाह—*बीजमिति* ॥ बीजं वक्ष्यमाणम् नारसिंहम् ॥ *श्रुतिश*श्चत्वारि चत्वारि । लिप्या मातृकया कोणगं बीजं नृसिंहबीजं यन्त्र एवं भूतं बद्धं व्याप्तमिन्द्रं यद्वसुधागेहद्वयं तेनावृतम् ।। ३३ ।।

यन्त्रसंयुतमिति । नवनाभमध्यपद्मकर्णिकायाम् ॥ अस्मिन्-नवनाभमण्डले ॥ ३४ ॥

कषायः क्षीरिद्रुमत्वचां रस एव तोयम् ॥ *वस्त्ररत्नादी* त्यादिशब्देन हेम ॥ *शान्तविग्रहमिति* ॥ माणिक्येति प्रोक्तध्यानम् ॥ ३५ ॥

तार्क्ष्यादीनिति ॥ पूर्वोक्तपक्षीन्द्रादान् ॥ *पूर्वादिषु*—अग्नादिषु ॥ देवताधिया यथा-

अभिचारग्रहोन्मादा विनश्यन्त्यरिभिः सह ।
अभिषिक्तस्तदा विप्रान् पूजयेद्देवता धिया ॥ ३७ ॥
यथावत्पूजयेत्पश्चाद्भक्त्या गुरुमवञ्चयन् ।
राजा विजयमाप्नोति युद्धेषु विधिनाऽमुना ॥ ३८ ॥
बीजाङ्कं(नां) गणपञ्चकं(के) प्रविलिखेच्छेषस्य भोगे पुन-
र्द्वात्रिंशत्पदसंयुते परिलिखेन्मन्त्राक्षराणि क्रमात् ॥
पुच्छेनाम जपादिसाधितमिदं होमेन सम्पातितम् ।
भूतापस्मृतिदुःखरोगशमनं मन्त्रं रिपुध्वंसनम् ॥ ३९ ॥
क्षकारो वह्निमारूढो मनुस्वरसमन्वितः ।
बिन्दुनादलसन्मूर्द्धा बीजं नरहरेर्मतम् ॥ ४० ॥

यथा वद्गुरुं पूजयेदिति सम्बन्धः ॥ यथा वदित्यनेन पाद्याद्युपचारोक्तिः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
यन्त्रान्तरमाह *बीजाङ्कमिति* । पूर्वापरायताः पञ्चरेखाः कुर्यात् ॥ दक्षिणोत्तरगता नव रेखाः कुर्यात् ॥ प्राग्रेखाग्रेषु पञ्चसु फणाकारता कार्या ॥ पश्चिमाग्रेषु पञ्चसु पुच्छाकारता कार्या ॥ तत्र प्रतिफणमेकैकं बीजं लिखेत् ॥ *जपादीत्यादि* शब्देन प्राणप्रतिष्ठा पूजा ॥ *तन्त्रान्तरस्थं यन्त्रमुच्यते—"षोडशारं महाचक्रं लिखेद्भूर्जे प्रयत्नतः । दलेषु मन्त्रवर्णानि युग्मयुग्मक्रमाल्लिखेत् ॥ त्रैलोक्यमोहनं बीजं कर्णिकायां लिखेद्बुधः ॥ श्रीबीजेन तु संवेष्ट्य क्रोङ्कारेणावरुध्य च ॥ विवादे कलहे न्याये तथा राजकुले जयी । मेधाकरी वश्यकरी नरनारीवशङ्करी ॥ शिखायां धारयेद्बाहौ कण्ठे वा कटिसूत्रके । सर्वत्र सुभगो लोके सर्वत्राप्रतिमो भवेत् ॥ चिन्तामणिर्नामरक्षा स्वयं सिंहेन निर्मिता । पुनरन्यां प्रवक्ष्यामि रक्षां त्रैलोक्यमोहिनीम् ॥ यस्याः सन्धारणादेव भवेयुः सर्वसम्पदः । श्वेतभूर्जे लिखेत्पद्मं द्वात्रिंशत्सिंहसंयुतम् ॥ मध्ये सिंहेश्वरं बीजं लिखेत्पूर्ववदेव तु । श्रीबीजेन तु संवेष्ट्य वलयत्रयसंयुतम् ॥ पाशाङ्कुशैश्च संवेष्ट्य पूजयेद्यन्त्रमुत्तमम् । त्रैलोक्यमोहनं नाम सर्वकामार्थसाधनम् ॥ चक्रराजं महाराजं सर्वचक्रेश्वरेश्वरम् ॥ धारणाज्जयमाप्नोति सत्यं सत्यं न संशय" इति ॥ "कृष्णं रुद्रं महाघोरं भीमं भीषणमुज्ज्वलम् । करालं विकरालं च दैत्यान्तं मधुसूदनम् ॥ रक्ताक्षं पिङ्गलाक्षं च अञ्जनं दीप्ततेजसम् । सुघोणं सुहनुं चैव विश्वाक्षं राक्षसान्तकम् ॥ विशालं धूम्रकेशं च हयग्रीवं घनस्वनम् । मेघनादं मेघवर्णं कुम्भकर्णकृतान्तकम् ॥ तीव्रते(१)जमग्निवर्णं महोग्रं विश्वभूषणम् । विघ्नक्षमं महासेनं सिंहा द्वात्रिंशदीरिता" इति ॥ ३९ ॥
नृसिंहबीजमुद्धरति—*क्षकार इति* वह्नीरेफः । मनुस्वर औ ॥ अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । ऋष्यादिकं यथा "ऋषिरत्रिश्च गायत्रीच्छन्दः, श्रीनृहरिः प्रभुः । देवता, दीर्घयुग्बीजेनैवाङ्गं परिकल्पयेत् ॥ ध्यानं पूर्ववदेव स्यादेकलक्षं जपेन्मनुम् । तद्दशांशं हुनेत्सम्यक् घृताक्तैः पायसैः शुभैः ॥ अर्चाहोमादिकं सर्वमस्य पूर्ववदाचरेत् ॥ मन्त्रराजवदेवास्य प्रयोगानपि साधयेत् । हृल्लेखा संपुटं केचित्सङ्गिरन्ते मनुन्त्वमुमि"ति ॥ तथा—"अष्टारं विलिखेत्पद्मं श्लक्ष्णं कर्णिकया युतम् । मूलमन्त्रं लिखेत्तत्र प्रणवेन समन्वितम् ॥ एकाक्षरं नारसिंहं नाम्न्या चैव ससाधकम् । जपेदष्टसहस्रं तु सूत्रेणावेष्ट्य तद्बहिः ॥ सुवर्णेन तु संवेष्ट्य रौप्येणावेष्टयेत्ततः । ताम्रेण वेष्टयेत्पश्चाल्लाक्षया च प्रयत्नतः ॥ पुनर्मन्त्रेण संमन्त्र्य ह्यग्निमुत्तारयेत्प्रिये । कण्ठे भुजे शिखायां वा धारयेद्यन्त्रमुत्तमम् ॥ नरनारीनरेन्द्राश्च सर्वेस्युर्वशगा भुवि । दुष्टास्ते

---

(१) अत्रापि करणान्यान्तराणि मनोबुद्धिचित्ताहङ्काररूपाणि ज्ञेयानि ॥

बीजं नमोभगवते नरसिंहाय तत्परम्।
स्याज्ज्वालामालिने पश्चाद्दीप्तदंष्ट्राय तत्परम् ॥ ४१ ॥
अग्निनेत्राय सर्वादि रक्षोघ्नाय पदं वदेत् ॥
सर्वभूतविनाशान्तं नकारो दीर्घवान् मरुत् ॥ ४२ ॥
सर्वज्वरविनाशान्ते नायार्णोदहयुग्मकम्।
पचद्वयं रक्षयुग्मं हुं फट् स्वाहा भुवादिकः ॥ ४३ ॥
सप्तषष्ट्यक्षरैः प्रोक्तो ज्वालामाली महामनुः।
हृत्त्रयोदशभिः प्रोक्तं शिरोदशभिरीरितम् ॥ ४४ ॥
शिखैकादशभिः प्रोक्ता वर्माष्टादशभिर्मतम्।
वर्णैर्द्वादशभिर्नेत्रमस्त्रं स्यात्करणाक्षरैः ॥ ४५ ॥
एवमङ्गानि विन्यस्य चिन्तयेन्मन्त्रदेवताम् ॥ ४६ ॥
उज्ज्वलत्प्रलयानलाभमयुग्मनेत्रमनारतम्।
भासुरं शिखिनः शिखाभिरुदग्रदंष्ट्रिमुखाम्बुजम् ॥
रक्षसां भयदं विकीर्णसटाकलापविभीषणम्।
शङ्खचक्रकृपाणखेटकधारिणं नृहरिं भजे ॥ ४७ ॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं समाहितः।
कपिलाज्येन जुहुयात समिद्धे हव्यवाहने ॥ ४८ ॥
प्रागुक्ते पूजयेत्पीठे देवं संप्रोक्तवर्त्मना।
कुर्वीत मन्त्रराजोक्तान् प्रयोगान्मनुनाऽमुना ॥ ४९ ॥

नैव बाधन्ते पिशाचोरगराक्षसाः ॥ चक्रराजप्रसादेन सर्वत्र जयमाप्नुयात्। द्वादशारं महाचक्रं पूर्ववद्विलिखेत्सुधीः ॥ मात्रा द्वादशसम्भिन्नं दले तल्लेखयेद्बुधः। मध्ये मन्त्रं शक्तियुक्तं श्रीबीजेन तु वेष्टयेत् ॥ कालान्तकं नाम चक्रं सुरासुरवशङ्करम्। चक्रमुल्लेखयेद्भूर्जे सर्वशत्रुनिवारणम् ॥ यस्य धारणमात्रेण सर्वत्र विजयी भवेत्। स श्लाघ्योऽथ भवेल्लोके यथा देवो नृकेसरी"ति ॥ ४० ॥

ज्वालानृसिंहमन्त्रमाह—*बीजमिति*। बीजं नारसिंहम् ॥ ४१ ॥

नकारोदीर्घवान् ना ॥ मरुद्यकारः। ब्रह्मा ऋषिः। अतिछन्दः। ज्वालामाली नृसिंहो देवता, क्षौं बीजं, स्वाहा शक्तिः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

*करणा(१)क्षरै*श्चतुरक्षरैः ॥ ननु मन्त्रस्य सप्तषष्ट्यक्षरत्वमुक्तम् हृत्त्रयोदशभिरित्यादिनाङ्गोक्तौ अष्टषष्ट्यक्षराणि लभ्यन्ते इति पूर्वापरविरोध इति चेत् सत्यम् तत्राङ्गकरणे पदविभेदेनैवाङ्गकरणाद्दंष्ट्रायेत्र तत्रैव शिरोङ्गस्य समाप्तिः ॥ शिखा त्वग्निनेत्रायेत्याद्येकादशभिः। मन्त्रे तु दंष्ट्रायाग्नीति सन्धिरेवेति न दोषः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

रक्षसांभयदमिति विनियोगोक्तिर्ज्ञेया। *सटाकलापः* स्कन्धकेशसमूहः ॥ "जटासटाकेसरयोरि"ति कोशः। वामाणूर्ध्वाद्वामाधस्तनं यावदायुधध्यानम् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

---

(१) एतस्य टिप्पन गतपृष्ठे द्रष्टव्यम्। तत्स्थानेतु "वेदान्तस्तेऽदन्ता" इति न्यायोऽत्रानुसन्धेय इति द्रष्टव्यम् ॥

विशेषात् क्षुद्रभूतारिनाशनोऽयं मनुः स्मृतः ।
पाशशक्तिर्नरहरिरङ्कुशो वर्म फट् मनुः ॥ ५० ॥
षडक्षरो नरहरिः कथितः सर्वकामदः ।
ऋषिर्ब्रह्मा समुद्दिष्टः पङ्क्तिश्छन्द उदाहृतम् ॥
देवता नरसिंहोऽस्य षड्बीजैरङ्गकल्पना ॥ ५१ ॥
कोपादालोलजिह्वं विवृतनिजमुखं सोमसूर्याग्निनेत्रं
पादादानाभिरक्तप्रभमुपरि सितं भिन्नदैत्येन्द्रगात्रम् ॥
चक्रं शङ्खं सपाशाङ्कुशकुलिशगदादारुणान्युद्वहन्तम्
भीमं तीक्ष्णोग्रदंष्ट्रं मणिमयविविधाऽऽकल्पमीडे नृसिंहं ॥ ५२ ॥
ऋतुलक्षं जपेदेतं घृतेन जुहुयात्ततः ।
तत्सहस्रं समिद्धेऽग्नौ तोषयेद्द्रविणैर्गुरुम् ॥ ५३ ॥
अर्चा प्रागीरिते पीठे मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
अङ्गवृत्तेर्बहिश्चक्रं शङ्खं पाशाङ्कुशौ पुनः ॥ ५४ ॥
वज्रं कौमोदकीं खड्गखेटौ पत्रेषु पूजयेत् ।
इन्द्राद्यानेतदस्त्राणि पूजयेद्बाह्यतः सुधीः ॥ ५५ ॥
एवं कृत्वा पुरश्चर्यां मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।

लक्ष्मीनृसिंहमन्त्रमाह—*पाश इति* । पाश आं, शक्तिर्मायाबीजं, नरहरिर्नृसिंहबीजम् ॥ अङ्कुशः क्रों, वर्म हुं, फट् स्वरूपम् ॥ क्ष्रौं बीजं, माया शक्तिः । सर्वकामद इत्यनेन विनियोग उक्तः । आयुधध्यानं तु दक्षाधूर्ध्वयोराद्ये तदधोधस्थयोरन्यान्ये इति ॥ एवं क्रमेण चतुर्थीभ्यां दक्षवामाभ्यां दारणमुद्रा ॥ *तल्लक्षणं तु*—"मिथः संसृष्टसंमुखयोरङ्गुल्यो(१)ऋज्वधोऽग्रकाः । स्वस्थानसरलाङ्गुष्ठौ मुद्रेयं दारणा मते"ति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

ईडे–स्तुवे । "ईडस्तुता"विति धातुः ॥ ५२ ॥

ऋतुलक्षं–षट्लक्षम् ॥ *ततसहस्रं*–षट्सहस्रम् ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

एवं कृत्वा पुरश्चर्यामिति ॥ अत्र सर्वमन्त्राणां साधारणपुरश्चरणविधानमुच्यते* तत्र पुरश्चरणशब्दार्थो *वायवीयसंहितायां*—"साधनं मूलमन्त्रस्य पुरश्चरणमुच्यते । पुरतश्चरणीयत्वाद्विनियोगाख्यकर्मणाम् । पुरतो विनियोगस्य चरणाद्वा तथोदितमि"ति ॥ *अगस्त्यसंहितायामपि*—"अथ वक्ष्ये विधानानि पौरश्चरणिके विधौ । विना न येन सिद्धः स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि ॥ तत्पुरश्चरणं नाम मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः । यथोक्तं नियमं कृत्वा स्वकल्पोक्तजपस्य हि ॥ करणं द्विजयागाङ्गं प्रोक्तं देशिकसत्तमैरि"ति ॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"धर्मार्थकाममोक्षेषु शास्त्रमार्गेण योजनम् । सिद्धमन्त्रस्य संप्रोक्तो विनियोगो विचक्षणैः ॥ पुरणपूर्वोऽसौ विनियोगो विनिर्मितः । फलाय मन्त्रसेवाया राजसेवा यथा तथा ॥ चरणात्पूर्वमेवासौ पुरश्चरणमुच्यत" इति ॥ *तथा* सितैकविधहेमन्तशाल्यन्नं स्वीयसञ्चितम् । अशूद्रावहृतं पद्भ्यामनुत्तोल्यचयद्घृतम् ॥ दधि क्षीरं घृतं गव्यमैक्षवं गुडवर्जितम् । तिलाश्चैव सिता मुद्गाः कन्दः केमुकवर्जितः ॥ नारिकेलफलं चैव कदलं लवली तथा । आम्रमामलकं

---

(१) एवसान्धिरार्षएव । ऋकारमध्यगतरेफस्याभितोऽज्भक्तेरुक्तत्वात् । अतएवपितृणमितिनभवति किन्तुपितॄणामित्येवेतिबोध्यम् ॥

प्रयोगान् कल्पनिर्दिष्टान् कुर्यात् स्वस्यापरस्यवा ॥ ५६ ॥

चैव पनसं च हरीतकी ॥ व्रतान्तरे प्रशस्तं च हविष्यं मन्यते बुधः । अवैष्णवमसभ्यं च यत् प्रशस्तं व्रतान्तरे ॥ त्याज्यमेवात्र तत्सर्वं यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः । क्षारम् च लवणम् मांसम् गृञ्जनम् कांस्यभोजनम् ॥ माषाढकौ मसूरांश्च कोद्रवांश्चणकानपि । ताम्बूलं च द्विभुक्तं च दुःसंवासं प्रमत्तताम् । श्रुतिस्मृतिविरुद्धं च जपं रात्रौ च वर्ज्जयेदि"ति ॥ *तथा* "मनः संहरणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥ अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसंपत्तिहेतव" इति ॥ *तथा* "भूशय्या ब्रह्मचारित्वं मौनचर्य्यान(१)सूयिता । नित्यं त्रिषवणस्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम् ॥ नित्यपूजा नित्यदानं देवतास्तुतिकीर्त्तनम् । नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः ॥ जपनिष्ठा द्वादशैते धर्म्माः स्युर्मन्त्रसिद्धिदा" इति ॥ *तथा* "स्त्रीशूद्रपतितव्रात्यनास्तिकोच्छिष्टभाषणम् । असत्यभाषणं जिह्मभाषणं परिवर्जयेत् ॥ सभ्यैरपि न भाषेत जपहोमार्चनादिषु । असद्भाषणमत्यर्थं वर्ज्जयेदन्यपूजनम् ॥ वाङ्मनः कर्मभिर्नित्यं निःस्पृहोवनितादिषु । वर्ज्जयेद्गीतकांस्यादिश्रवणं नृत्यदर्शनम् ॥ ताम्बूलं गन्धलेपं च पुष्पधारणमेव च । मैथुनं तत्कथालापं तद्गोष्ठीः परिवर्ज्जयेत् ॥ कौटिल्यं क्षारमभ्यङ्गमनिवेदितभोजनम् । असङ्कल्पितकृत्यं च वर्ज्जयेन्मर्द्दनादिकम् ॥ त्यजेदुष्णोदकस्नानं सुगन्धामलकादिकम् । शिरोङ्गं पञ्चगव्येन पावयेद्वहिरन्तरम् ॥ स्नायाच्च पञ्चगव्येन केवलामलकेन वा । शक्तौ त्रिषवणस्नानमन्यथा सकृदाचरेदि"ति ॥ *तथा* "अपवित्रकरोनग्नः शिरसि प्रावृतोऽपिवा । प्रलपन्वा जपेद्यावत्तावन्निः फलमुच्यते ॥ सकृदुच्चरिते शब्दे प्रणवं समुदीरयेत् । प्रोक्ते पामरशब्देऽपि प्राणायामं सकृच्चरेत् ॥ बहुप्रलापे चावश्यं न्यस्याङ्गानि ततोजपेत् । क्षुतेऽप्येवं तथाऽस्पृश्यस्थानानां स्पर्शने तथे"ति ॥ *वायवीयसंहितायामपि* "उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्तकेशोऽङ्गनावृतः । अपवित्रकरोऽशुद्धः प्रलपन्न जपेत् क्वचित् ॥ असंवृतौ करौ कृत्वा शिरसा प्रावृतोऽपि वा । चिन्ता व्याकुलचित्तो वा क्रुद्धो वान्तःक्षुधान्वितः ॥ अनासनः शयानोवा गच्छन्नुत्थित एव वा ॥ रथ्यायामशिवस्थाने न जपेत्तिमिरान्तरे ॥ उपानद्गूढपादोवा यानशय्यागतस्तथा । प्रसार्य न जपेत्पादावुत्कटासन एव वा ॥ पतितानामन्त्यजानां दर्शने भाषिते श्रुते ॥ क्षुतेऽधोवायुगमने जृम्भणे जपमुत्सृजेत् ॥ प्राप्तावाचम्य चैतेषां प्राणायामं षडङ्गकम् । कृत्वा सम्यग्जपेच्छेषं यद्वा सूर्यादिदर्शनम् ॥ मार्ज्जारं कुक्कुटं क्रौञ्चं श्वानं गृध्रं खरं कपिम् । दृष्ट्वाचम्य चरेत्कर्म स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ एवमादींश्च नियमान् पुरश्चरणकृच्चरेदि"ति । *तथा* "क्रोधं मदं क्षुतं त्रीणि निष्ठीवनविजृम्भणे ॥ द˙र्नं स्वस्य नीचानां वर्जयेज्जपकर्मणि ॥ आचामेत्सम्भवे तेषां स्मरेन्मा(२)मम्बया सह । ज्योतींषि च प्रपश्येद्वा कुर्याद्वा प्राणसंयम(३)मि"ति ॥ *तथा* "एवमुक्तविधानेन विलम्बत्वरितं विना । उक्तसंख्यं जपं कुर्य्यात्पुरश्चरणसिद्धये ॥ देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं सम्भावयन्धिया । जपेदेकमनाः प्रातः कालान्मध्यन्दिनावधि ॥ जपोऽङ्गानां दशांशेन विधेयः सिद्धिमिच्छता । यत्संख्यया समारब्धं तत्कर्त्तव्यमहर्निशम् ॥ यदि न्यूनाधिकं कुर्य्याद्व्रतभ्रष्टोभवेन्नरः । प्रजपेदुक्तसंख्यायाश्चतुर्गुणंजपं कलावि"ति ॥ *अन्यत्रापि* "कृते जपस्तु कल्पोक्तस्त्रेतायां द्विगुणोजपः । द्वापारे त्रिगुणः प्रोक्तश्चतुर्गुणजपःकलावि"ति ॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे नारायणाष्टाक्षरे*

---

(१) मौनचर्य्या मौनाचरणम् । असूया गुणेषुदोषाविष्करणं सा यस्यास्ति सोऽसूयी तस्यभावोऽसूयिता ।

(२) माम्मम्बया गौर्या । गौरीशङ्कर । इत्येवम् ।

(३) प्राणायामम् ।

"जपेन्निरन्तरं विद्वानष्टलक्षाण्यतन्द्रितः। मन्त्रसिद्धिरियं प्रोक्ता युगेत्वाद्ये मनीषिभिः॥ द्वितीये द्विगुणा तस्मात्तृतीये त्रिगुणा तु सा। कलौ चतुर्गुणा प्रोक्ता मुनिभिर्नारदादिभिरि" ति॥ एवम् "संख्यापूर्तौ निजैर्द्रव्यैर्जपसंख्यादशांशतः। यथोक्तकुण्डे जुहुयाद्यथाविधिसमाहितः॥ अथवा प्रत्यहं जप्त्वा जुहुयात्तद्दशांशतः। ततो होमदशांशं तु जले सम्पूज्य देवताम्॥ तर्पयामीति मन्त्रान्ते प्रोक्ताद्भिर्मूर्द्धिन तर्पयेत्॥ स्वाभिषेकावमर्षौच सूर्यार्घ्यं जलपानकम्। प्रणामं मन्त्रतः कुर्यात्पूर्व्वपूर्वदशांशतः॥ तदन्ते महतीं पूजां कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम्। गुरुं सन्तोषयेद्देवं मन्त्राः सिध्यन्ति मन्त्रिणः॥ इत्थं पुरश्चरगत प्रसन्नादेवता भवेत्। दशांगोपासनं भक्त्या पुरश्चरणमुच्यते॥ जपोहोमस्तर्पणं च पूजा ब्राह्मणभोजनम्। पूर्वपूर्वदशांशेन कुर्यात्पञ्चाङ्गसंयुतम्॥ यद्यदङ्गं विहीयेत तत्संख्याद्विगुणो जपः। कर्त्तव्यः साङ्गसिध्यर्थं तदशक्तेन भक्तित" इति। *मन्त्रतन्त्रप्रकाशेपि* "असम्भवे च होमस्य होमात्स्याद्द्विगुणो जप" इति॥ *अन्यत्रापि*—"होमकर्मण्यशक्तानां विप्राणां द्विगुणोजपः। इतरेषां तु वर्णानां त्रिगुणादिः समीरित" इति॥ एकमङ्गं विहीयेत ततो नेष्टमवाप्नुयात्। अङ्गहीनं भवेद्यद्यत्तन्नेष्टार्थसाधकम्॥ सर्वथा भोजयेद्विप्रान् कृतसाङ्गत्वसिद्धये। विप्राराधनमात्रेण व्यङ्गं साङ्गं भवेत्सदा॥ न्यूनातिरिक्तकर्माणि न फलन्ति मनोरथान्। तान्येव पूर्णतां यान्ति समस्तानि कृतानि च॥ अतोयत्नेन विदुषो भोजयेत्सर्वकर्मसु। यानि यान्यपि कर्माणि हीयन्ते द्विजभोजनैः। निरर्थकानि तानि स्युर्बीजान्यूपरगाणि चे"ति॥ *कुलप्रकाशतन्त्रेऽपि*—'संसारे दुःखभूयिष्ठे यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः। पञ्चाङ्गोपासनेनैव मन्त्रजापी सुखं व्रजेत्॥ पूजा त्रैकालिकी नित्यं जपस्तर्प्पणमेवच॥ होमो ब्राह्मणभुक्तिश्च पुरश्चरणमुच्यते॥ यद्यदङ्गं विहीयेत तत्संख्या त्रिगुणं जपम्। कुर्व्वीत त्रिचतुः पञ्चसंख्यया साधकः प्रिये॥ कुर्वीतसाङ्गसिध्यर्थं तदशक्तेन भक्तितः। एकमङ्गं विहीयेत मन्त्रान्नेष्टमवाप्नुयात्॥ अन्नैश्चतुर्विधै(१)र्देवि पदार्थैः षड्रसान्वितैः। सुभोजितेषु विप्रेषु सर्वं हि सफलं भवेत्॥ सम्यक् सिद्धैकमन्त्रस्य पञ्चाङ्गोपासनेन हि॥ सर्वेमन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति तत्प्रभावात्कुलेश्वरी"ति। *अन्यत्र विशेषः*—"अशक्तानां होमे निगम रस नागेन्द्रगुणितो जपः कार्यश्चेति द्विजनृपविशामाहुरपरे॥ स होमश्चेदेषां सम इह जपो होमरहितो य उक्तो वर्णानां स खलु विहितस्तद्यलदशाम्॥ यं वर्णमाश्रितो यः शूद्रः सच तन्नतभुवां विहितम्। विदधीत जपं विधिवच्छ्रद्धावान् भक्तिभारनम्रतनुरि"ति॥ अथवान्यप्रकारेण पुरश्चरणमुच्यते॥ ग्रहणेऽर्कस्य चेन्दोर्वा शुचिः पूर्वमुपोषितः। नद्यां समुद्रगामिन्यां नाभिमात्रेऽम्भसि स्थितः॥ ग्रहणादि तु मोक्षान्तं जपेन्मन्त्रं समाहितः। अनन्तरं तद्दशांशक्रमाद्धोमादिकं चरेत्॥ तदन्ते मन्त्रसिद्ध्यर्थं गुरुं सम्पूज्य तोषयेत्। ततश्च मन्त्रसिद्धिः स्याद्देवता च प्रसीदति॥ अथवा देवता रूपं गुरुं भक्त्या प्रतोषयेत्। पुरश्चरणहीनेऽपि मन्त्रः सिद्धेन्न संशयः॥ एवं साधितमन्त्रस्तु काम्यकर्माण्यथाचरेदि"ति॥ *अन्यत्रापि*-"उपदेशस्य सामर्थ्याच्छ्रीगुरोश्च प्रसादतः। मन्त्रप्रभावाद्भक्त्या च मन्त्रसिद्धिः प्रजायते॥ सिद्धमन्त्राद् गुरोर्लब्धो मन्त्रः सिद्धिं च भावयेत्॥ पूर्वजन्मकृताभ्यासान्मन्त्रः शीघ्रेण सिद्धिद" इति॥ *अन्यत्र तु*—"त्रिकालं गन्धपुष्पाद्यैर्योऽर्च्यते देवता निशि। पुरश्चरणकृत्येन विनैवासौ प्रसीदती"-ति॥ *तथा वैशम्पायनसंसितायां*—"पुरश्चरणसम्पन्नो मन्त्रो हि फलदायकः। किं होमैः किं जपैश्चैव किंमन्त्रन्यासविस्तरैः॥ रहस्यानां च मन्त्राणां यदि न स्यात्पुर(२)स्क्रिया॥ पुरस्क्रिया तु मन्त्राणां प्रधानं बीजमुच्यते॥ व्याधिग्रस्तो यथा देहो सर्वकर्मसु न क्षमः। पुर-

(१) भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्यैः।

(२) पुरश्चरणम्। एवमग्रेऽपि॥

श्चरणहीनोऽयं तथा मन्त्रोऽपि कीर्त्तितः ॥ येषां जपे च होमे च सङ्ख्या नोक्ता मनीषिभिः । तेषामष्टसहस्राणि सङ्ख्योक्ता जपहोमयोः ॥ यस्मिंश्च निगदे नैव मन्त्रे सङ्ख्याभिधीयते तत्र सर्वत्र मन्त्राणां सङ्ख्यावृद्धिर्युगक्रमात् ॥ कल्पोक्ता च कृते सङ्ख्या त्रेतायां द्विगुणा भवेत् । द्वापरे त्रिगुणा प्रोक्ता कलौ सङ्ख्या चतुर्गुणा ॥ अनुक्ते तु हविर्द्रव्ये तिलाज्यं हविरुच्यते । शाकं मूलं फलं भैक्ष्यं हविष्यं सक्तवोऽथवा ॥ अथवा क्षीरमात्रं स्यात्पुरश्चर्त्तुश्च वृत्तये । न सेवेत स्त्रियं मांसं मधु वा मन्त्रसाधकः । एतानि सेवमानस्य न सिध्यति पुरस्क्रिया ॥ स्त्रियं शूद्रं न भाषेत पुरश्चरणकृन्नरः । जपं च प्रातरारभ्य कुर्यान्मध्यन्दिनावधि ॥ असत्यं नाभिभाषेत नेन्द्रियाणि प्रलोभयेत् । नैरन्तर्यविधिः प्रोक्तो न दिनं व्यतिलङ्घयेत् ॥ दिवसातिक्रमात्पुंसो मन्त्रसिद्धिर्भवेन्नहि ॥ शक्तिहीनश्च यो मन्त्रो न सिध्यति कदाचन ॥ यावत्सङ्ख्यं जपेदह्नि पूर्वस्मिंस्तावदेव तु । दिनान्तरेऽपि प्रजपेदन्यथा सिद्धिरोधकृत् ॥ शिवस्य सन्निधाने च सूर्याग्न्योश्च गुरोरपि ॥ दीपस्य ज्वलितस्यापि जपकर्म प्रशस्यते ॥ शयनं कुशशय्यायां विन्यसेच्छुचिवस्त्रधृक् । तद्वासः क्षालयेन्नित्यमन्यथा विघ्नभाग्भवेत् ॥ स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तमशक्त्याद्विः सकृत्तु वा । अस्नातस्य फलं नास्ति नचातर्प्पयतः पितॄन् ॥ नाप्यतर्प्पयतो देवान्नासत्यमपि जल्पतः । नैकवासा जपेन्मन्त्रं बहुवस्त्रावृतोऽपि वा ॥ विपर्यासं न कुर्याच्च कदाचिदपि मोहतः । उपर्यधोबहिर्वस्त्रैः पुरश्चरणकृद्बुधः ॥ विनियोगविधाने तु भवेदनियमः क्वचित् । पुरश्चरणकार्येषु वर्ज्जयेत्तं प्रयत्नतः ॥ कृत्वा मन्त्रजपं मन्त्री पुरस्क्रियाय संयतः । दशांशं जुहुयादग्नौ यथोक्तविधिना बुधः ॥ यद्वा जपचतुर्थांशं स्वाहान्तं मन्त्रमुच्चरन् । ततो होमदशांशं तु स्वाहान्तं तर्प्पयेज्जलैः ॥ तर्प्पणस्य दशांशेन नमोऽन्तं मन्त्रमुद्धरेत् ॥ अभिषिञ्चेत्स्वमूर्द्धानं जलैः कुम्भाख्यमुद्रया ॥ एवं विधविधानेन कृतमन्त्रपुरस्क्रियः । विनियोगसमारम्भं यथायथमथाचरेत्" इति । गोपालमन्त्रे विशेषस्तर्प्पणे *तत्रैवोक्तः*—"इह गोपालमन्त्राणां तर्पणं होमसङ्ख्यया । समं ज्ञेयं तु सर्वेषामित्यागमविदो विदुः" इति ॥ अथारब्धपुरश्चरणमध्ये सूतकादिकं चेन्निपतति तथापि संकल्पितस्य पुरश्चरणस्य समाप्तिरेव कर्त्तव्या । तथाच *विष्णुः*—"व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे । प्रारब्धे सूतकं न स्यादनारम्भे तु सूतकम्" इति । सूतकमित्यु(१)भयम् । प्रारम्भश्च *तत्रैवोक्तः* । "प्रारम्भो वरणं यज्ञे, सङ्कल्पो व्रतजापयोः । नान्दीमुखं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिये"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* पुरश्चरणे सर्वनियमानुक्त्वा—"शक्तस्यैवैतत् सर्वमेतदशक्तः शक्तितो जपेत् । नदोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा ॥ जपनिष्ठो द्विजः श्रेष्ठः सर्वयज्ञफलं भवेत् । सर्वेषामेव यज्ञानां जपयज्ञः प्रशस्यते ॥ अहिंसया हि भूतानां जायतेऽसौ महाफलः । यज्ञानां जपयज्ञोऽहमित्याह भगवान् हरिः ॥ जपेनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्रसंशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ इत्याहुर्मुनयः शान्ता जपसिद्धा अकिञ्चना" इति ॥ *पद्मनाभीयेऽपि* "यावन्तः कर्म्मयज्ञाः स्युः प्रदीप्तानि तपांसि च । सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति । प्रसन्ना विपुलान् भोगान्दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीमि"ति । *भृगुसंहितायामपि* "ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः । सर्वे तजपयज्ञस्य कलांनार्हन्ति षोडशीमि"ति । *नारायणीये तु*—"जपाशक्तस्य सर्वतः । मूलमन्त्राद्दशांशं स्यादङ्गादीनां जपादिकम् ॥ जपात् सशक्तिर्मन्त्रः स्यात्कामदा मन्त्रदेवते"ति । *जपलक्षमुक्तं वायवीयसंहितायाम्*—"जपः स्यादक्षरावृत्तिः स उच्चोपांशुमानसः । उच्चनीचस्वरितैः शब्दः स्पष्टपदाक्षरैः ॥ मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञःसवाचिकः । शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयेत् ॥ किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः । धिया यदक्षरश्रेणीं वर्ण-

---

(१) जननं-मरणञ्च ॥

रक्तोत्पलैस्त्रिमध्वक्तैः सहस्रं जुहुयान्नवैः ।
नित्यं मासाद्भवेदिष्टं वत्सराद्धनधान्यवान् ॥ ५७ ॥
रक्तैस्त्रिमधुरोपेतैः पद्मैर्भानुसहस्रकम् ।
जुहुयान्महतीं लक्ष्मीमायुर्वश्यमवाप्नुयात् ॥ ५८ ॥
लाजांस्त्रिमधुरोपेतान्प्रातः कालेषु जुह्वतः ।
कन्यासिद्धिर्भवेत्पश्चात्कन्यायाः सद्वरो भवेत् ॥ ५९ ॥
दूर्वाः पयोघृताभ्यक्ता दशोत्तरशतं सुधीः ।
अन्वहं जुहुयात्सम्यग्दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ६० ॥
तस्य रोगाः प्रणश्यन्ति कृत्याद्रोहादिभिः सह ।
सपञ्चगव्यं जुहुयादपामार्गस्य मञ्जरीः ॥ ६१ ॥
नित्यं सहस्रमानेन सप्ताहं विजितेन्द्रियः ।
होमोऽयं सर्वथा भूतकृत्यारोगान् प्रणाशयेत् ॥ ६२ ॥
सतिलैराज्यपामार्गहविराज्यैर्यथाक्रमम् ।
द्विसहस्रं प्रजुहुयात् क्षुद्ररोगग्रहान् जयेत् ॥ ६३ ॥
पयोक्तैरमृताखण्डैस्त्रिसहस्रं चतुर्दिनम् ।
अनेन विहितो होमो ग्रहज्वरविनाशनः ॥ ६४ ॥
नृसिंहशक्तिबीजे द्वे शूले तारगते लिखेत् ।

स्वरपदात्मिकाम् ॥ उच्चरेदर्थसंस्मृत्या स उक्तो मानसो जपः ॥ उच्चैर्जपो विशिष्टःस्याद्य ज्ञादेर्दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छातगुणः सहस्रो मनसः स्मृत"इति ॥ *भृगुसंहितायामपि*— "विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृत" इति । *अन्यत्र तु*—"न कम्पयेच्छिरोग्रीवां जिह्वामोष्टं न चालयेत् । मनसा चिन्तितं बीजं दन्तघातं न कारयेदि"ति । *आचार्या अपि*—"नातिद्रुतं नाति विलम्बितञ्चे"ति । *मन्त्रप्रकाशे तु विशेषः*—"अपिचान्यं प्रवक्ष्यामि मन्त्रसिद्धिकरम्परम् । मन्त्रसाधकयोरैक्यं दुर्लभं भुवि मानवैः । उक्तं साङ्कर्षणे तन्त्रे शिवेनाखिलवेदिना । आनन्दाख्ये पञ्चरात्रे शुक्राय कवये पुरा ॥ संस्कृतं पूजितं मन्त्रं दत्त्वा शिष्याय देशिकः । कुर्यादथतयोरैक्यं शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥ मन्त्रं विदर्भयित्वा तु नामवर्णैर्यथाक्रमम् । आद्यन्ते सकलं नाम ततः प्रणवमालिखेत् ॥ स्वराः पत्रेषु संलेख्या ध्यायेत्तानमृतात्मकान् । भूर्जे रोचनगन्धाद्यैः पद्ममध्ये सुशोभने ॥ मृदा पवित्रयाऽऽवेष्टय तत्पुनः सिक्थकेन च । निःक्षिपेन्मधुरे तत्तु मृन्मये लघुभाजने ॥ क्षीरपूर्णनवेकुम्भे तत् क्षिपंल्लघुभाजनम् । धारयेद्देशिकः कुम्भमग्निकुण्डसमोपतः ॥ मन्त्रसाधकयोरैक्यसिद्ध्यर्थं जुहुयात्ततः । मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञः सहस्रं शतमेव वा ॥ कुम्भे सम्पातयेच्चैव मधुराणां त्रयं शुभम् । निधाय निःक्षिपेत्कुम्भं शनैस्तं सहदम्भसि ॥ मन्त्रसाधकयोरैक्यं भवेदेवं फलप्रदम् । एतद्यो न विजानाति नासौ देशिक उच्यते ॥ रहस्यं कथितं चैतन्न वदेद्यस्य कस्य चित् । उत्तमाय तु शिष्याय प्रियपुत्राय वा वदेदि"ति ॥ ५६ ॥

रक्तोत्पलैः रक्तकुवलयैः *नवैः* रपर्युषितैः ॥ ५७ ॥

रक्तैः पद्मैः कोकनदैः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ६२ ॥ ६३ ॥

अमृता गुडूची ॥ ६४ ॥

तारगते शूले इति । प्रणवस्यादौ यच्छलाकाकारं तत्र । *जपेन्मन्त्रमिति* । यदुपर्युं

तत्र ग्रहार्त्तं संस्थाप्य जपेन्मन्त्रं षडक्षरम् ॥ ६५ ॥
आविश्य सद्यस्तं मुञ्चेद्ग्रहः क्रन्दन्भयाकुलः ॥ ६६ ॥
आलिख्याग्निपुरद्वयं तदुदरे शक्तिं ससाध्यां लिखेत्
षट्कोणेषु षडक्षराण्यथमनोः किञ्जल्कसंस्थान् स्वरान् ।
पत्रेष्वष्टसु मन्त्रराजविहितान्वर्णान् क्रमाद्वेदशः
काद्यर्णैः पुनरावृतं क्षितिपुरे कोणेषु चिन्तामणिम् ॥ ६७ ॥
नारसिंहमिदंयन्त्रं लिखितं भूर्जपत्रके ।
विधृतं शिरसा शीर्षरोगभूतज्वरान् हरेत् ॥ ६८ ॥
बहुनात्र किमुक्तेन मन्त्रैरेतैरुदीरितैः ।
समोनास्ति मनुः कश्चिच्छायानुग्रहकारकः ॥ ६९ ॥
तारो भृगुर्वियद्भूयस्तदाद्यं वह्निदीर्घयुक् ।
पावकः कवचास्त्रान्तो मनुः सप्ताक्षरः स्मृतः ॥ ७० ॥
अहिर्बुध्न्यो मुनिः प्रोक्तश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
देवता मुनिभिः प्रोक्तश्चक्ररूपोहरिः स्वयम् ॥ ७१ ॥
अचक्राय हृदाख्यातं विचक्राय शिरः स्मृतम् ।
सुचक्राय शिखा प्रोक्ता धीचक्राय तनुच्छदम् ॥ ७२ ॥
सञ्चक्राय स्मृतं नेत्रं ज्वालाचक्राय तत्परम् ।
षडङ्गमन्त्राः प्रत्येकं द्विठान्ता जातिसंयुताः ॥ ७३ ॥
ऐं ह्रीं चक्रेण बध्नामि नमश्चक्राय ठद्वयम् ।
मन्त्रेणानेन कुर्वीत दिशां प्रागादि बन्धनम् ॥ ७४ ॥

प्रवेशितं ग्रहार्त्तं स्पृशन्नित्यर्थः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

यन्त्रमाह—*आलिख्येति* अग्निपुरद्वयं-परस्परव्यतिभिन्नम् । *मनोः*—एकाक्षर-नृसिंहमन्त्रस्य । चिन्तामणिं नारसिंहमिति सामानाधिकरण्यम् । तेन नृसिंहस्यैकाक्षरं भूर्जपत्रके लिखितमिदं यन्त्रं हरेदिति सम्बन्धः ॥ तदुक्तं *नृसिंहकल्पे*—"षट्कोणबीजेन विशिष्टकर्णिकं शक्त्यर्णयुग्मूलचतुष्कलाष्टकम् । वृतं जनन्या जगतीगृहात्मके यन्त्रे सचिन्तामणिकं विचिन्तयेत् ॥ आंह्रींक्ष्रौंक्रोंचहुंफट्द्वाशक्तिमन्त्रः कलाष्टम् । अचां युग्मानि चिन्तार्णो नृसिंहैकाक्षरो मनुरि"ति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

वाराहमन्त्रे सुदर्शनमन्त्रस्योद्दिष्टत्वात्तमाह *तार इति* । तारः प्रणवः । भृगुः सः । वियद्धः । तदाद्यं सः । वह्नीरेफः । दीर्घआकार एतद्युक्तेन स्रा । पावको रेफः । कवचं च हुं । अस्त्रं फट् । सम्बीजम् । हुं शक्तिः ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

तत्परम् । अस्त्रम् । *द्विठान्ताः* स्वाहान्ताः ॥ ७३ ॥

प्रागादि(१)दिशामिति । अनेन "ऐन्द्रीं चक्रेण बध्नामी"त्यस्मिन् मन्त्रे ऐन्द्रीपदस्थाने आग्नेयीमित्यादीनामूहः कार्यं इत्युक्तं भवति । एवं दशस्वपि दिशासु । तदुक्तम् । "ऐन्द्रीं समारभ्य दिशस्त्वधस्तादन्तं समुक्त्वाक्रमशोदशानाम् । चक्रेण बध्नामि नमस्तथोक्त्वा चक्राय बीजं च दिशां प्रबन्ध" इति ॥ ७४ ॥

---

(१) एतेन क्रियाविशेषणमेतदिति सूचितम् ॥

त्रैलोक्यान्ते रक्षयुगं हुं फट् स्वाहा भुवादिकः।
अग्निप्राकारमन्त्रोऽयं रक्षार्थं पुनरात्मनः ॥ ७५ ॥
प्राकारं तेन कुर्वीत मन्त्रेण मनुवित्तमः।
सितरक्ताञ्जनप्रख्यं तारं मूर्द्धनि विन्यसेत् ॥ ७६ ॥
अन्यानग्निनिभान्वर्णान् भ्रुवोर्मध्ये मुखे हृदि।
गुह्यजानुपदद्वन्द्वसन्धिषु क्रमशो न्यसेत् ॥ ७७ ॥
कल्पान्तार्कप्रकाशं त्रिभुवनमखिलं तेजसा पूरयन्तं
रक्ताक्षं पिङ्गकेशं रिपुकुलभयदं भीमदंष्ट्राट्टहासम्।
शङ्खं चक्रं गदाब्जे पृथुतरमुशलं चापपाशाङ्कुशान्स्वै-
र्बिभ्राणं दोर्भिराद्यं मनसि मुररिपुं भावयेच्चक्रसंज्ञम् ॥ ७८ ॥
अर्कलक्षं जपेन्मन्त्रं जुहुयाच्च तत्सहस्रकम्।
तिलैः ससर्षपैः पद्मैर्बिल्वैर्दुग्धौदनैः क्रमात् ॥ ७९ ॥
विष्णोः सम्पूजयेत्पीठे मूर्तिं मूलेन कल्पयेत्।
अङ्गानि पूर्वमभ्यर्च्य चक्राद्यस्त्राणि तद्बहिः ॥ ८० ॥
चक्रं शङ्खं गदां पद्मं मुसलं सशरं धनुः।
पाशाङ्कुशौ दलाग्रेषु लक्ष्म्याद्याः पूजयेत्ततः ॥ ८१ ॥
लक्ष्मीं सरस्वतीं पश्चाद्रतिं प्रीतिं ततः परम्।
कीर्त्तिकान्ती तुष्टिपुष्टी सर्वा एताः स्मृता द्विशः ॥ ८२ ॥
पीतरक्तसितश्यामा, इन्द्राद्यस्त्राणि तद्बहिः।

त्रैलोक्यान्त इति अत्र मन्त्रे त्रैलोक्यपदं द्वितीयान्तं ज्ञेयम् ॥ रक्षेति क्रियाश्रवणात्। तदुक्तं—"त्रैलोक्यं रक्षरक्षेति हुं फट् स्वाहेति नोदितः। तारादिकोऽयं मन्त्रः स्यादग्निप्राकारसंज्ञकः" इति ॥ ७५ ॥

कुर्वीतेति मनसा अग्निप्राकारं चिन्तयन्नात्मनः प्रदक्षिणं परिभ्रमन्नुदकं क्षिपेदिति परमगुरवः ॥ उक्तं—"आत्मनः परितो वह्निप्राकारं त्राणनाय च। भूतप्रेतपिशाचेभ्यो विधाय तदनन्तरम् ॥ अद्भिः पुष्पाक्षतैश्चैव वह्निबीजास्त्रमन्त्रितैः। प्रक्षिपेत्परितो मन्त्री भयविघ्ननिवृत्तये" इति ॥ *सितेति* आकारोकारमकाराणां क्रमेण ध्यानम् ॥ ७६ ॥

पदद्वन्द्वसन्धिषु। अन्त्यवर्णन्यासः ॥ ७७ ॥

कल्पान्तेति। चापं सशरं ज्ञेयम्। तदुक्तं—"दोर्भिश्चक्रदरौ गदाब्जकुलिशांश्चाब्जं च पाशाङ्कुशाविग्"ति। अत एव पूजायां "सशरं धनुरि"ति वक्ष्यति। आयुधध्यानं दक्षाद्यूर्ध्वाभ्यामाद्यं, तदधराधराभ्यामन्यान्य इति। अत्र ध्यानानन्तरं चक्रमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ ७८ ॥

अर्कलक्षं—द्वादशलक्षम्। *क्रमात्तत्सहस्रम्*। द्वादशसहस्रं न प्रत्येकम्। *तिलैरिति*। प्रत्येकं चतुर्विंशतिशतानि ॥ ७९ ॥

विष्णोः पीठे। नारायणाष्टाक्षरोक्ते ॥

अभ्यर्च्येति। "केसरेष्वि"ति शेषः ॥ तद्बहिरिति। पत्रमध्ये ॥ ८० ॥

सशरंधनुरित्येकम्। *दलाग्रेष्विति* उत्तरेण सम्बध्यते। *लक्ष्म्याद्या इति* उत्तरपटलोक्तबीजाद्याः। *द्विश इति* आद्ये द्वे पीते। रतिप्रीती रक्ते। उपान्त्ये सिते। अन्त्ये श्यामे ॥

इति सिद्धेमनौ प्रोक्तप्रयोगान्कर्त्तुमर्हति ॥ ८३ ॥
आत्मनो वा परार्थं वा दृष्टादृष्टफलप्रदान् ।
दूर्वाहोमो विधातव्यो दीर्घमायुरभीप्सता ॥ ८४ ॥
श्रीकामो जुहुयात्पद्मैः फुल्लैराज्यपरिप्लुतैः ।
मेधाकामेन होतव्यं प्रसूनैर्ब्रह्मवृक्षजैः ॥ ८५ ॥
दिनत्रयं यो जुहोति गुलिकाः पुरुनिर्मिताः ।
अष्टोत्तरसहस्रेण स जयेन्निखिलापदः ॥ ८६ ॥
गव्येनाज्येन गोसिद्ध्यै जुहुयाद्दिवसत्रयम् ।
उदुम्बरसमिद्धामः पुत्रदायी भवेन्नृणाम् ॥ ८७ ॥
प्रलयाग्निसमं चक्रं यस्य मूर्द्धनि चिन्तयेत् ।
सप्ताहाज्ज्वरमूर्च्छार्तो मण्डलान्मृतिमेति सः ॥ ८८ ॥
अकारादिस्वरावीतं याहियाहिपदावृतम् ।
लकारं चिन्तयेच्छत्रो मूर्द्धन्युच्चाटमावहेत् ॥ ८९ ॥
अनेन विधिना शत्रुर्मण्डलान्मृत्युभाग्भवेत् ।
शरच्चन्द्रनिभं साणं सुधाधारामिवर्षिणम् ॥ ९० ॥
स्मरेन्मूर्द्धनि यस्यासौ स जीवेद्विगतामयः ।
आत्मानं चक्रनाभिस्थं ध्यात्वा मन्त्रममुं जपेत् ॥ ९१ ॥
एकोऽपि रणभूमिस्थो जयेत्प्रत्यर्थिनो बहून् ।
अपामार्गस्य समिधो जुहुयादयुतावधि ॥ ९२ ॥

प्रयोगान्कर्त्तुमर्हतीति अनेनैतदुक्तं भवति ॐसुदर्शनाय विद्महे चक्रराजाय धीमहि । तन्नश्चक्रं प्रचोदयात् ॥ अस्य प्रयोगेषु मूलमन्त्रदशांशजप इति । केचिन्महाचक्राय धीमहीतिपठन्ति । *अपेक्षितार्थद्योतनिकायां तु*—"नमश्चक्राय विद्महे सहस्रज्वालाय धीमहि । तन्नोऽनिवारितः प्रचोदयादि"ति गायत्री पठिता । पक्षत्रयमपि साम्प्रदायिकमेव । यथागुरूपदेशं च निर्णयः ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

दीर्घमायुरिति मृत्युञ्जयादित्वम् ॥ ८४ ॥

श्रीकाम इति । श्रीबीजादित्वम् । *मेधाकामेनेति* । वाग्भवादित्वं ज्ञेयम् ॥८५॥

जुहोतीति । "जुहुयाद्गुग्गुलगुलिकां सहस्रकं चाष्टकं च मन्त्रितमः । त्रिदिनं चतुर्दिनं वे"त्युक्तेः । पुरुर्गुग्गुलः । *निखिलापद इति* । नृसिंहबीजादित्वम् ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

मूर्च्छार्तो भवेदिति शेषः ॥ ८८ ॥

अकारादीति । अकारादीनां वायुबीजयोगो ज्ञेयः । तेन यंयामित्यादि । *उच्चाटमावहेदिति* । दशाहत इति ज्ञेयम् ॥ तदुक्त—*माचार्यैः*—"दशाहतोऽसौ प्रतिबाध्यते रिपुरि"ति ॥ ८९ ॥

अनेन विधिनेति । अनेन प्रयोगान्तरमपि तादृशं सूचितम् । *यदाहुराचार्याः*—"सान्तं वायसवर्णं शत्रोः शिरसि स्मरेच्च सप्ताहम् । उच्चाटयति क्षिप्रं मारयते वा धियोऽस्य नैवमित्यादि"ति *शरच्चन्द्रनिभमिति* । अनेन वंवमित्यादिवीतमिति ज्ञेयम् । *साणं*—सकाराक्षरम् ॥ ९० ॥ ३ ॥

जपेदिति । सहस्रमोस्रारनाराहुं फट् यणेति पादत्रयम् । तयॐक्षिति चतुः पादान्तगोता

रक्षो भूतपिशाचारिपीडा तस्य न जायते ।
निर्गुण्डी सर्ज्जकनकश्वेतकिंशुकसम्भवैः ॥ ९३ ॥
समिद्वरैः कृतो होमः क्षुद्ररोगग्रहापहः ।
अपामार्गस्य समिधः सर्पिर्मध्ये श्रृतश्चरुः ॥ ९४ ॥
आज्यमेतानि जुहुयादष्टोत्तरशतं पृथक् ।
साधकाय पुनर्दद्याच्चरुं सम्पातसाधितम् ॥ ९५ ॥
अभिचारकृता द्रोहास्तस्य नश्यन्ति सर्वथा ।
अपामार्गस्य समिधः पञ्चगव्यपरिप्लुताः ॥ ९६ ॥
जुहुयादयुतं मन्त्री दिशासु बलिमाहरेत् ।
दध्योदनेन मनुना क्षुद्ररोगादिशान्तये ॥ ९७ ॥
क्षीरवृक्षसमित्क्षीरहविराज्यैः पृथक्पृथक् ।
चतुःसहस्रं होतव्यं शान्तिः स्यात्सर्वतोमुखी ॥ ९८ ॥
दक्षिणोत्तरगं मन्त्री चक्रयुग्मं समालिखेत् ।
वेदादि विलिखेन्मध्ये मन्त्रवर्णान्षडस्रिषु ॥ ९९ ॥
मध्ये पीतं कोणषट्कं रक्तं श्यामलमान्तरम् ।
नेमिं श्वेतां लसद्वह्निशिखाभिरुपशोभितम् ॥ १०० ॥
पार्थिवं मण्डलं बाह्ये कुर्यादेवं यथाविधि ।

मन्त्रादित्वं ज्ञेयम् । *अपामार्गस्येति* । फट्स्थाने वषट्कारो ज्ञेयः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ३ ॥

सर्ज्जः—शालः । कनको—धत्तूरः ॥ ९३ ॥

क्षुद्राः स्तम्भाद्याः षड्रोगाः प्रसिद्धाः । ग्रहा अष्टादशमहाग्रहाः । सप्त व्यन्तराः॥ ९४॥

पृथगिति । प्रत्येकम् । *चरुं दद्यादिति* । होमचरुशेपं मन्त्रजप्तञ्च ॥ *संपातसाधि·
तमिति* । प्रतिद्रव्यसंपातसाधितम् ॥ "हुत्वा संपातितं शेषं तज्जप्तं प्राशयेच्चरोरि"ति नारा·
यणीये उक्तेः ॥ ९५ ॥

सर्वथेति । अनेन तद्भस्मानुलेपः । "क्षुद्रग्रहामयध्वंसी तद्भूत्या चानुलेपनमि"ति तन्त्रे·
वोक्तेः ॥ ९६ ॥

मनुना—वक्ष्यमाणबलिमन्त्रेण ॥ ९७ ॥

क्षीरेति । सप्तद्रव्यैः । *पृथक्पृथगिति* । प्रत्येकम् । दक्षिणोत्तरगमित्यारभ्य न सं·
शयम् इत्यन्तमेकः प्रयोगः ॥ ९८ ॥

चक्रयुग्ममिति । षडारं परिधिनेमिसहितम् । *मन्त्रवर्णानिति* । सुदर्शनमन्त्रव·
र्णान् ॥ ९९ ॥

अन्तरमिति । षडारसन्धयः । *नेमिमिति* । चक्रपरिधिरेखाम् ॥ *वह्निशि·
खामिति* । अग्निज्वाला वक्ररेखा कार्या इत्यर्थः । तदुक्तं—"विरचितशिखिरेखाकुल·
मि"ति । *पार्थिवमिति* । कृष्णवर्णम् । तदुक्तं *नारायणीये*—"बहिः कृष्णवर्णरेखा च
पार्थिवीति ॥ १०० ॥

कुर्यादेवं यथाविधीति । अनेनैतत्पञ्चम्यादि पूर्णातिथिषु कर्त्तव्यमिति सूचितम् । तदुक्तम्
"पूर्णासु माङ्गल्यविवाहयात्रा सपौष्टिकं शान्तिककर्मकार्यमि"ति । *तथा*—"हस्तादिपञ्चन·

रक्ततोयेन सम्पूर्णं कुम्भं सौम्ये प्रविन्यसेत् ॥ १०१ ॥
आवाह्य पूजयेत्तस्मिंश्चक्रात्मानं जनार्द्दनम् ।
दक्षिणे मण्डले कुर्याद्धोमकर्म विधानवित् ॥ १०२ ॥
क्रमाद् सर्पिरपामार्गैस्तण्डुलैः सर्षपैस्तिलैः ।
पायसैर्गव्यसर्पिर्भ्यां षड्विंशत्यधिकं शतम् ॥ १०३ ॥
जुहुयादेधिते वह्नौ प्रतिद्रव्यं विधानवित् ।
सम्पातयेत्कुम्भतोये पूजिते सौम्यमण्डले ॥ १०४ ॥
प्रस्थार्द्धं चरुणा पिण्डं कृत्वा तस्मिन्विनिःक्षिपेत् ।
बाह्ये बलिप्रदानार्थं तदर्द्धमवशेषयेत् ॥ १०५ ॥
स्नातं विशुद्धवस्त्राद्यैः साध्यमानीय तं पुनः ।
दक्षिणे स्थापयेन्मन्त्री कुम्भाग्निस्थामनन्तरम् ॥ १०६ ॥
नीराज्य तौ नयेद्बाह्ये ग्रामादष्टमराशिके ।

क्षत्रे रेवत्याश्विनमुत्तरम् । श्रविष्ठा रोहिणी पुण्यं शान्तिकर्मसु पूजितमि"ति । *रक्ततोयेने-ति* । लाक्षादिरसेन रक्ततोयं कृत्वेत्यर्थः । *सौम्ये*—उत्तरदिक्स्थचक्र इत्यर्थः ॥ १०१ ॥

तस्मिन्निति । *कुम्भे* दक्षिणे । *मण्डले*—दक्षिणदिक्स्थचक्रे ॥ *विधानविदि-ति* । अनेन सपादां हसन्तिकां(१) संस्थाप्य तत्राग्निं प्रतिष्ठाप्य होमकर्म्म कुर्यादिति । सूचितम् ॥ १०२ ॥

अपामार्गैः अपामार्गसमिद्भिः* । उक्तं च *नारायणीये*—"साज्यापामार्गसमिधावि" ति । गव्यं—पञ्चगव्यम् । "सकलैर्गव्यैरि"त्युक्तेः ॥ १०३ ॥

प्रतिद्रव्यमिति । अष्टोत्तरसहस्रं मिलित्वा भवति ॥ तदुक्तं *नारायणीये*—"सह-स्राष्टकसंख्यये"ति । घृतस्य वारद्वयमुक्तिः क्रमार्था । विधानवित् संपातयेदित्यनेनाष्टद्रव्यहो-मेऽपि सम्पात इति सूचितम् । प्रतिद्रव्यमिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । तदुक्तम् "हुत्वा तद्धुतशिष्टमत्र विधिवत् क्षिप्त्वा प्रतिद्रव्यकमि"ति । *नारायणीयेऽपि*—"हुतशेषं क्षिपेत्कुम्भे प्रतिद्रव्यं विधानविदि"ति । तदा विधानवित्यनेन समिदादिहोमे आहुत्यन्ते कलशे हस्तमात्रस्पर्शा एव संपाता इति सूचितम् ॥ *पूजिते सौम्यमण्डले इति* । व्यधिकरणे सप्तम्यौ ॥ १०४ ॥

तस्मिन्निति । कुम्भमुखे । *विनिःक्षिपेदिति* । वषडन्तमूलान्वितसुदर्शनगायत्र्या सा पूर्वोक्तानुसन्धेया । *तदर्द्धम्* शेषहोमार्थंकृतपायसार्द्धम् ॥ १०५ ॥

दक्षिण इति चक्रे तत्रत्यां हसन्तीमन्यत्र संस्थाप्येत्यर्थः । मन्त्रीत्यनेन विशिष्टं गीता-मन्त्रेण साध्यस्य सकलीकरणं सूचितम् ॥ १०६ ॥

नीराज्येति । नीराजनं गीतामन्त्रेण । एकदैव कुम्भाग्निभ्यां नीराजनं सत्तपुरुषान्त-रसांहाय्येनेति ज्ञेयम् । *ताविति* । कुम्भाग्नी । *अष्टमराशिके स्थापयेदिति* । तत्र रा-शिस्थानान्युक्तानि *कादिमते* "प्राच्यां मेषवृषेनद्यौ मिथुनं दक्षिणे तथा । कुलीरसिंह-मिथुनं नैर्ऋत्यांकन्यकास्थिता ॥ तुलाकोटी पश्चिमतोधनुर्वायौ तु संस्थितम् । नक्रकुम्भोदु-त्तरतो मीनमाचे तु संस्थितमि"ति । एतद्राशिस्थानं ज्ञात्वा साध्यस्य योऽष्टमराशिस्तत्र स्थापयेदित्यर्थः ॥ १०६ ॥

---

(१) अङ्गारधानी (अङ्गीठी) । "अङ्गारधानिकाङ्गारशकट्यपि हसन्त्यपि" इत्यमरः ।

स्थापयेत्तौ यथापूर्वं सपरिस्तरणौ क्रमात् ॥ १०७ ॥
हुत्वा वह्नौ यथापूर्वं शिष्टान्नेन बलिं हरेत् ।
मनुना वक्ष्यमाणेन दशदिक्षु यथाविधि ॥ १०८ ॥
सहृद्विष्णुगणेभ्योऽन्ते सर्वशान्तिकरे पुनः ।
तेभ्यो बलिं प्रगृह्णन्तु शान्तये हृदयं ततः ॥ १०९ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेत् सम्यङ्मधुरोत्तरमादरात् ।
गुरवे दक्षिणां दद्याद्वस्त्रं भूषणसंयुतम् ॥ ११० ॥
हन्यादयं विधिः पुंसां कृत्यारोगग्रहज्वरान् ।
रक्षःपिशाचमार्यादि क्लेशान् शीघ्रं न संशयः ॥ १११ ॥
विधाय पञ्जरं मन्त्री फलकैः क्षीरशाखिनाम् ।
पञ्चगव्येन सम्पूर्य तस्मिन् साध्यं निवेशयेत् ॥ ११२ ॥
धौतवस्त्रं विशुद्धाङ्गं स्पृष्ट्वा सम्यग्जपेन्मनुम् ।
पूर्वादिदिक्षु संस्थाप्य वह्निं ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ११३ ॥
कारयेत्पूर्वसन्दिष्टैर्द्रव्यैर्होमं विधानवित् ।
तोषयेद्दक्षिणाभिस्तान् यजमानः स्वशक्तितः ॥ ११४ ॥
गुरुं च धनधान्याद्यैर्नत्वा सम्प्रीणयेत्तदा ।
सर्वरोगहरः प्रोक्तः कृत्याद्रोहादिनाशनः ॥ ११५ ॥
अपमृत्युहरः पुंसां विधिरेष प्रकीर्त्तितः ।
पञ्चगव्यैः कषायैर्वा क्षीरभूरुहसम्भवैः ॥ ११६ ॥
पूरितैः कलशैर्जप्तैः कृतसम्पातसंयुतैः ।
अभिषिञ्चेद्ग्रहाविष्टमभिचारातुरन्ततः ॥ ११७ ॥

यथापूर्वमिति । तद्दक्षिणभागेऽग्निं स्थापयेत् । तदुक्तम् । "अग्न्यादिकमपि सव क्षिपेद्थवत्क्ष पश्चिमे भाग" इति ॥ १०७ ॥

*यथापूर्वमि*त्यष्टभिर्द्रव्यैः । उक्तप्रमाणेन च । *शिष्टान्नेनेति* । हुतशिष्टान्नेन । तदुक्तम् *नारायणीये* "दद्यादनेन मन्त्रेण हुतशेषान्धसा बलिमि"ति । *आचार्या अपि* "हुतशेषान्नेन बलिमि"ति । *यथाविधीति* । लोकपालबलिरपि सूचितः ॥ १०८ ॥

बलिमन्त्रमाह *सहृदिति* । हृन्नमः पदं, *हृदयं* नमः पदम् । एतदन्तोमन्त्रः । अस्यप्रणवशक्त्यादित्वं ज्ञेयम् *मारी* कृत्याविशेषः । आदिशब्देनेत्यादिकापदादि॥१०९॥११०॥१११॥

क्षीरशाखिनामिति । पलाशस्याप्युपलक्षणम्, तदुक्तम् *नारायणीये* "फलकैः कल्पिते पात्रे पलाशक्षीरशाखिनामि"ति । *आचार्याश्च* "पालशर्वास्तनजद्रुमजैर्वा पञ्जरे कृते फलकैरि"ति । अनेन क्षीरद्रुमेष्वपि विकल्पो ज्ञेयः ॥ ११२ ॥

सम्यग् जपेदिति । चतुर्दिक्षु क्रियमाणहोमसमाप्तिपर्यन्तमित्युक्तम् ॥ ११३ ॥

*पूर्वसंदिष्टै*र्घृतादिभिरष्टद्रव्यैः । *विधानविदिति* *अनेन* प्रतिद्रव्यंषड्विंशत्यधिकशतम् होम इत्युक्तम् ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

*पञ्चगव्यैः पूरितै*रिति । व्यधिकरणे तृतीये ॥ *कलशैरिति* नवभिः । संपातेन होमाक्षेपः । होमोऽपि पूर्वोक्ताष्टद्रव्यः पूर्वोक्तसंख्यः ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

स्वस्थो भवति शीघ्रेण विधानेनामुना नरः ।
भानुवारेऽभिषेकस्य विधानेन सुसाधितैः ॥ ११८ ॥
सलिलैः स्नापयेन्नारीं सुखप्रसवकाङ्क्षिणीम् ।
सप्तवाराभिषेकेण सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ॥ ११९ ॥
पञ्चगव्ये शृतं सर्पिर्मन्त्रितं मनुनाऽमुना ।
गर्भिणीनां ग्रहार्त्तानां सेवितं तच्छुभावहम् ॥ १२० ॥
उच्चस्थानगते शुक्रे मनुना साधुसाधिता ।
त्रिलोही मुद्रिका हन्यात् क्षुद्रभूतग्रहान् ज्वरान् ॥ १२१ ॥
तद्वर्णसंख्यया सूत्रे ग्रन्थीन् कृत्वा जपादिभिः ।
साधितं कल्पयेद्धस्ते कण्ठे वा दुःखशान्तये ॥ १२२ ॥
पञ्चगव्यं जपेत्स्पृष्ट्वा मन्त्रं दशशतावधि ।
न्यस्तं तत्पद्मपत्रादौ पात्रे वा ब्रह्मवृक्षजे ॥ १२३ ॥
फले बिल्वस्य वा मन्त्री गृहे स्वस्य परस्य च ।
निखनेत् सर्वरक्षास्याद्वर्द्धते सर्वसम्पदः ॥ १२४ ॥
पलाशक्षीरवृक्षाणां त्वचोमलयजं पुरुम् ।
कुङ्कुमं यामिनीकुष्ठबिल्वापामार्गसर्षपान् ॥ १२५ ॥

अमुना विधानेन नरः शीघ्रेण सुस्थो भवतीति सम्बन्धः । तद्विधानप्रकारो यथा "पूर्वोक्तं नवनाभं मण्डलं कृत्वा पूर्ववत्कलशान्नव संस्थाप्य उक्तद्रव्यैरापूर्य मध्ये मन्त्रोक्तदेवतां सम्पूज्य परितोऽष्टकलशेषु आयुधाष्टकं सम्पूज्य कार्यानुरूपं होमं कृत्वा तत्संपातयुक्तैर्घटैरभिषिञ्चेदिति । पञ्चकलशपक्षे पञ्चाब्जं मण्डलं कृत्वा दिक्षु चक्रगदामुशलपाशा अर्चनीयाः । शेषं पूर्ववत् । *अभिषेकस्य विधानेनेति* । एककलशस्थापनप्रकारेण । उक्तरूपेण चेत्यर्थः । *सुसाधितैरिति* अनेन पूर्ववद्धोमः संपातश्च ॥ ११८ ॥

सप्तेत्यादि सप्तसु वारेषु भानुवारेषु योऽभिषेकस्तेन ॥ ११९ ॥

पञ्चगव्य इति "अकल्कोऽपि भवेत्स्नेहो यः साध्यः केवलेद्रवे" इति परिभाषणात् कल्कंविनैव तद्घृतं साध्यं, तत्र "पञ्चप्रभृति यत्र स्यु र्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ । तत्र क्षीरसमान्याहुरि" त्युक्तेः घृतसमान्येव पञ्चगव्यानि दत्त्वा घृतं पचेत् । क्षीरदध्यारनालैः वचनात्प्रास्तमपि जलं न देयम् । गोमूत्रस्य सत्त्वादिति ॥ १२० ॥

शुक्र उच्चस्थानगते मीनगते ॥ *साधुसाधितेति* । षष्ठोक्तरीत्या ॥ १२१ ॥

तद्वर्णसंख्यया । मन्त्रवर्णसंख्यया ।" इदमुभयत्र संबध्यते । तेन सप्तसूत्राणि कृत्वा तत्र सप्तग्रन्थयो देयाः । अस्य प्रयोगस्य शेषो *नारायणीये* "जुहुयाद्गव्याक्तापामार्गसमिदाज्यं चरुं घृतम् । परिस्तीर्णसितातान्त्रसूत्रसन्धिस्थितान्घटान् ॥ क्षीरिवृक्षक्काथपूर्णान् होमकालेभिमन्त्रयेत् । तत्संख्यया तैः स्नपयेत्गव्यशेषपुरः सरम् ॥(?) कल्पयेद्धस्तादौ तत्सूत्रंग्रन्थितंजपादि"ति । *जपादिभिरि*त्यादिशब्देन पूजासंपातौ । *हस्ते कण्ठे वेति* । पुमान् दक्षिणे स्त्री वामइतिज्ञेयम् ॥ १२२ ॥

*पद्मपत्रादावि*त्यादिशब्देन ब्रह्मपत्रादि । *पात्र इत्यादि* । मन्त्री नरः स्वस्य परस्य वा गृहे निखनेदिति सम्बन्धः ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

पुरुम् गुग्गुलम् । *यामिनी* हरिद्रा । कुष्ठं कूटम् । *बिल्वेति* । बिल्वंपञ्चाङ्गम् ॥ १२५ ॥

तिलदूर्वायवान् देवी तुलसी युगलं कुशम् ।
लक्ष्मीं गोरोचनां पद्मं वचा गोमयसंयुताम् ॥ १२६ ॥
विष्णुक्रान्तामर्कयुतां जपेन्मन्त्रं विनिःक्षिपेत् ।
पञ्चगव्येन सम्पूर्णे पात्रे तत्संस्कृतेऽनले ॥ १२७ ॥
संस्थाप्य क्वाथयेत् सम्यग्यावद्भस्म भविष्यति ।
तदादाय जपेद्भूयः प्रयुतं देवता धिया ॥ १२८ ॥
लिम्पेत्सर्वाङ्गमेतेन किञ्चिच्छिरसि निःक्षिपेत् ।
कृत्याद्रोहग्रहोन्मादव्याधिदुःखनिवारणम् ॥ १२९
सर्वशत्रुप्रशमनं सर्वपापहरम्परम् ।
शुभदं वश्यदं पुंसां समस्तापन्निवारणम् ॥ १३० ॥
गर्भिणीबालरुग्णानां विशेषेण प्रशस्यते ।
अस्मात्परतरा रक्षा नास्ति लोके प्रकीर्त्तिता ॥ १३१ ॥
मुस्ता शुण्ठी निशावह्निरेलायष्टिर्वचा वृषम् ।
पाठा विडङ्गं मञ्जिष्ठा द्राक्षा दार्वी सरोहिणी ॥ १३२ ॥
फलत्रयं च तैः कल्कैः पञ्चगव्येषु सर्पिषाम् ।
प्रस्थं पचेद्यथान्यायं मन्त्रेणानेन साधितम् ॥ १३३ ॥
कान्तिदं स्मृतिदं स्त्रीणां भूतप्रेतभयापहम् ।
गर्भरक्षाकरं शुद्धं पञ्चगव्यघृतं विदुः ॥ १३४ ॥
टान्तान्सप्त लिखेन्मध्ये षट्सु कोणेषु तेष्वथ ।
मन्त्रवर्णांल्लिखेदेतच्चक्रमापन्निवारणम् ॥ १३५ ॥
षट्कोणमध्ये विलिखेत्ससाध्यं तारं षडस्रेष्ववशिष्टवर्णान् ।

देवी सहदेवी । *पद्ममिति*। पद्मं पद्माङ्गम् । पद्मदलादिकमित्यस्य व्याख्याने अपेक्षितार्थद्योतनिकायां बिल्वंपद्माङ्गम् पद्मं पद्माङ्गमित्युक्तम् ॥ १२६ ॥

अर्केति । अर्कत्वक् । *तदिति* पात्रम् ॥ १२७ ॥

सम्यक्क्वाथयेदिति । मन्त्रं जपन्नित्युक्तम् ॥ *प्रयुतमिति* । दशलक्षम् । क्वचिद्युतमिति पाठः ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥

मुस्तेति । मुस्ता-मोत्था । निशा-हरिद्रा । वह्निश्चित्रकः । यष्टी-यष्टीमधु । वृषम् आटरूषः । वासक इति यावत् । *दार्वी* दारुहरिद्रा । रोहिणी कटुकी ॥ १३२ ॥

फलत्रयं हरीतकी-बिभीतका-मलकानि । *यथान्यायमिति* । वैद्यकशास्त्रोक्तप्रकारेण । तत्र सर्पिःप्रमाणमुक्तमेव । "कल्कञ्च स्नेहपादिकमि"त्युक्तत्वात् । कुडवमात्रं कल्को ग्राह्यः । "पञ्चप्रसृती"ति वचनात्प्रत्येकं पञ्चगव्यानि स्नेहसमानि । आज्यावशेषमुत्तार्यं शीतलं कृत्वानेन मन्त्रेण साधितं-संजप्तम् ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

यन्त्रमाह *टान्तानिति* । मध्यादिषट्कोणेषु सप्तठकारान्विलिख्य तेषु ठकारेषु क्रमेण मन्त्राक्षराणि लिखेत् । मध्ये साध्यसाधककर्मलिखनं च ज्ञेयम् । *आपदिति* । श्वासज्वरौ । "चक्रं श्वासज्वरापहमि"ति नारायणीय उक्तेः ॥ १३५ ॥

यन्त्रान्तरमाह *षडिति* ॥ षडस्रेष्वित्यग्रादि । *विधिवदिति* *अनेनाष्टोत्तरसहस्रं

ङ्गानि तत्सन्धिषु मन्त्रमेतत्करोति रक्षां विधिवत्प्रजप्तम् ॥१३६॥
तारं लिखेट्टान्तगतं ससाध्यं कोणेषु शिष्टं मनुवर्णषट्कम् ।
अङ्गानि सन्धिष्वथ षोडशारं सषोडशार्णं वसुधापुरस्थम् ॥१३७॥
जपित्वा कृतसम्पातं गर्भिणीनां हितं परम् ।
अभिचारग्रहोन्मादान्यन्त्रमेतद्विनाशयेत् ॥ १३८ ॥
मध्ये तारं ससाध्यं मनुमथ विलिखेत् षट्सु कोणेषु सन्धि-
ष्वङ्गान्यन्ते कलानां युगयुगविलसत्केशराष्टार्णपत्रम् ॥
किञ्जल्कार्कादिवर्णैर्द्विवसुदलकसत्षोडशार्णं स्वनाम्ना
हक्षाभ्यां त्रिः परीतं लिखतु परिवृतं तत्त्रिपाशाङ्कुशाभ्याम् ॥१३९॥
तारन्नमो भगवते महासुदर्शनाय च ॥
वर्मास्त्रान्तश्चक्रमन्त्रः षोडशाक्षर ईरितः ॥ १४० ॥

जपउक्तः । *रक्षाङ्करोति* तत्र स्थापितमिति शेषः । तदुक्तं "मध्ये तारं तदनु च मनुं वर्णशः कोणषट्के बाह्ये चाङ्गं लिखतु कनके ताम्रके वाथरौप्ये । पाषाणे वा विधिवदभिजप्यापि संस्थापितं तच्चक्रं चोरग्रहरिपुभयध्वंसि रक्षाकरं चे"ति ॥ १३६ ॥

यन्त्रान्तरमाह ।*तारमिति* । टान्तगतमिति तारविशेषणम् । *षोडशारमिति* "षोडशाङ्कं समे वृत्ते पञ्चमे पञ्चमे लिखेत् । रेखा अङ्कं षोडशाद्यं षोडशारमिदं मतम् ॥" इति षोडशारलेखनप्रकारः ॥ *षोडशार्णं*वक्ष्यमाणम् । षोडशाक्षरं चक्रमन्त्रमन्येषां षोडशाक्षर-शब्देन षोडशदलं तदुपरि च वृत्तम् तदुपरि पार्थिवमण्डलम् । मन्त्रश्च "ॐ नमो भगवते वासुदेवायहुं फट्स्वाहा" इत्याहुः । तदुक्तम् *नारायणीये* "साध्यादिन्द्वोर्वह्निः कोणषट्के मन्त्राक्षराल्लिखेत् । सन्धिष्वङ्गाद्बहिर्वृत्तात्पत्रषोडशके मनुम् ॥ पुनर्वृत्तं च भूगेहे लिखेत्-तद्यथा विधी"ति । क्वचित्षोडशार्णे तत्सङ्ख्यपत्रे इति पाठः ॥ १३७ ॥

*जपित्वे*त्यतो "हुत्वेति" शेषः ॥ १३८ ॥

यन्त्रान्तरमाह *मध्य इति* । मनुं-तारव्यतिरिक्तचक्रमन्त्रम् । अन्ते-षट्कोणबाह्ये । कलानां-स्वराणाम् । अष्टार्णो-नारायणाष्टाक्षरः । द्विवसुदलं-षोडशदलं, स्वनाम्ना-साध्यनाम्ना स हक्षाभ्यां त्रिः प्रवीतं-हक्षयोर्मध्ये साध्यनामेत्यर्थः । तत्त्रिपाशाङ्कुशाभ्यामित्यावृत्ति त्रयम् । यस्तु त्रिःप्रवीतमित्यावृत्तित्रयं, कथमावृत्तित्रयमित्यपेक्षायां स्वनाम्ना हक्षाभ्यामेका, द्वितीया पाशेन, तृतीयाङ्कुशेन । द्वितीयं त्रिः पदं सत्त्वरजस्तमोरूपतया आवृत्तिध्यानमिति व्याख्यत् । स नमस्यएव । केचन तारपाशाङ्कुशाभ्यामिति पाठं पठित्वा योजयन्ति । त्रिः प्रवीतं तत्रैका हक्षाभ्यां स्वनाम्ना, अपरातारेण, तृतीया पाशाङ्कुशाभ्यामिति । अयमेव पक्षः सांप्रदायिकः। केचन द्वितीयत्रिशब्दस्यैव आकारोकारमकारात्मकत्वात्प्रणव एवार्थ इति व्याचक्षते । द्विवचनमावृत्त्यपेक्षया। तदुक्तम्—"+ + + त्रिवीतं, व्योमान्त्यार्णस्वनाम्ना वि-रचितगुणपाशाङ्कुशं चक्रयन्त्रमि"ति । एतद्व्याख्याने *पद्मपादाचार्याः* गुणः प्रणवः(?) केव-लहक्षाभ्यामावृत्तित्रयम् । अपरायामावृत्तौ तारमुक्त्वा साध्यनाम्नोऽक्षरद्वयमुच्चार्य पुनः पाशमुचार्य साध्यनाम्नोक्षरद्वयमुचार्य पुनरङ्कुशबीजमुच्चार्य्य पुनः साध्यनाम्नोक्षरद्वयमुच्चार-येत् । एवं रूपैर्वर्णैर्वेष्टयेदित्याहुः । पाशाङ्कुशवेष्टितमित्यस्य व्याख्यानेऽपेक्षितार्थद्योतिन्यां—पाशेन त्रिवारम् । अङ्कुशेनापि त्रिवारमित्युक्तम् ॥ १३९ ॥

षोडशाक्षरं मन्त्रमुद्धरति—*तारमिति* । अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । अस्यर्ष्यादि सर्वं पूर्वमन्त्रोक्तम् ॥ अथास्य तन्त्रान्तरस्थं यन्त्रमुच्यते-"षट्कोणं चक्रमालिख्य तस्यारेषु सुद-

चक्रयन्त्रमिदं प्रोक्तं सर्वभीति निवारणम् ।
क्षुद्रापमृत्युशमनं राज्ञां विजयवर्द्धनम् ॥ १४१ ॥
रेखा विलिख्याष्टशिरांसि तासामावध्य बाह्ये श्रुतिशः क्रमेण ।
स्थाने हृषीकेशमनुं विभज्य पादान्लिखेत्कोष्ठचतुष्टयस्थान् ॥१४२॥
अष्टाक्षराणैः प्रतिदर्भितांस्तान्कोष्ठद्वये चक्रमनुं यथावत् ।
मध्यस्थकोष्ठे विलिखेत्ससाध्यं स्यात्सप्तकोष्ठाह्वययन्त्रमेतत् ॥१४३॥
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥१४४॥
धारितं सप्तकोष्ठं तत्त्रायते महतो भयात् ॥

र्शनम् । अष्टारं पङ्कजं बाह्ये दलेष्वष्टाक्षरं परम् । तद्बाह्ये द्वादशारं स्याल्लिखेच्च द्वादशा-रम् । षोडशारं ततः पद्मं मूलमन्त्रं समालिखेत् ॥ कामबीजेन परितोवेष्टयेद्यन्त्रमुत्तमम् । महासुद-र्शनं बाह्ये विलिखेद्देशिकोत्तमः ॥ तारं नमोभगवते महासुदर्शनाय च । महाचक्राय च महा-ज्वालङे दीप्तरूपङे ॥ सर्वतोरक्षयुग्मं च महाबलसङे द्विठः । मध्ये साध्यं समालिख्य प्रणव-स्योदरेमुने ! ॥ सर्वसिद्धिप्रदं यन्त्रमिति देवोऽब्रवीत् स्वयमि"ति ॥ १४० ॥ १४१ ॥

सप्तकोष्ठयन्त्रमाह—*रेखा इति*॥ पूर्वापरायता रेखा लिखेत्। तासां शिरांसि बाह्ये क्र-मेण श्रुतिश आबध्येति सम्बन्धः । प्रथमादिरेखाग्रं स्वतुर्याग्रेण मेलयेत् । तेन हरीतकोवद्ध-वतीति केचित् । *पद्मपादाचार्यप्रभृतिभिः* "श्रुतिशस्त्रिश" इति व्याख्यातम् । तेषां मते प्रथमादिरेखाग्रं स्वस्वतृतीयादिरेखाग्रेण सह मेलयेदित्यर्थः ॥ अन्ये तु पूज्यपादा एवं व्याच-क्षते—"प्रथमरेखाग्रं स्वतुर्यरेखाग्रेणाबध्य पुनस्तृतीयरेखाग्रोत्पष्ठरेखाग्रमाबध्य पुनःपञ्चमरेखा-ग्रादष्टमरेखाग्रं बन्धयेत्। एवं द्वितीयपार्श्वेऽपि । तदा द्वितीयरेखा सप्तमी च केवलं मध्येऽव-शिष्यते । ततो द्वितीयरेखायाः पूर्वाग्रमारभ्योत्तरतो नीत्वा तत्पश्चिमाग्रेण बन्धयेत् । एवं सप्त-मरेखापूर्वाग्रमारभ्य दक्षिणतो नीत्वा तत्पश्चिमाग्रेण बन्धयेत् । एवं बाह्ये इत्युक्तिश्च सार्थिका भवति । एवं मध्यकोष्ठत्रयमेकरेखाबद्धं च भवतीति । एवमेतद्यन्त्रलिखनं स्वगुरुसम्प्रदायानु-सारेण बोद्धव्यमिति सङ्क्षेपः ॥ अष्टाक्षरप्रविदर्भितान् पादान् *कोष्ठचतुष्टयस्थान्* प्रथमद्वि-तीयषष्ठसप्तमस्थान् लिखेत् । विदर्भितलक्षणं-त्रयोविंशे वक्ष्यते । *कोष्ठद्वये* तृतीयपञ्चमरू-पे । *यथावदिति* । ससाध्यम् *मध्यस्थकोष्ठे* चतुर्थकोष्ठे *ससाध्यं* चक्रमनुमित्यनुष-ज्यते । *तदुक्तमाचार्यैः*—"कोष्ठत्रयलिखितंसाध्यसुदर्शनं चे"ति ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

धारितमिति धारणप्रकार उक्त *आचार्यैः*—"भूर्जेवा क्षौमपट्टे ननु मसृणतरे कर्पटे-वाप्य यन्त्रं मन्त्री सम्यग् लिखित्वा पुनरपि गुलिकीकृत्य लाक्षाभिगीतम् । कृत्वा भस्मा-द्विहोमप्रविहितघृतसम्पातपातान्तशक्तिजसं सम्यक् तद्ध्यात्प्रतिशमसुपयान्त्येव सर्वे विकारा" इति । *तत्*मन्त्रमित्यर्थः । नपुंसकलिङ्गेऽपि मन्त्रशब्दस्य बहुषुस्थलेषु प्रयोगा(१)त् । तेना-यमर्थः । गीतामन्त्रविदर्भितः साष्टाक्षरश्चक्रमन्त्रोऽपि जप्त एतत्फलद इति । *तदुक्तमाचार्यैः* "स्थाने हृषीकेशविदर्भितं च साष्टाक्षरं चाप्यभिजप्तमेतत् । रक्षां गृहादेः सततं विधत्ते यन्त्रं सुकृतं च मनुत्रयेणे"ति । स्थाने हृषीकेशेति मन्त्रस्य चतुर्भिश्चरणैःसर्वेण पञ्चाङ्गं कृत्वा "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृत्तिश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वीह्येष(सर्व)भूतान्तरात्मे"ति । ध्यात्वा कर्णिकायां देवं पत्रेष्वङ्गानि तद्बहिर्लोक-

---

(१) एवमयमर्धर्चादिषु पाठ्यः । "अर्धर्चाः पुंसि चे-"ति पाणिनिस्मरणात् ॥

दुःस्वप्नदुर्निमित्तादिशमनङ्कीर्तितं बुधैः ॥ १४५ ॥
इति शारदातिलके षोडशः पटलः ॥ १६ ॥ * ॥

अथ वक्ष्ये जगन्मूलं मन्त्रं श्रीपुरुषोत्तमम् ।
गोपितं वैष्णवे तन्त्रे भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ १ ॥
तारमाररमाबीजं नत्यन्ते पुरुषोत्तमम् ।
पुनरप्रतिरूपान्ते ततो लक्ष्मीनिवासच ॥ २ ॥
सकलान्ते जगत्पूर्वं क्षोभणेति पदं पुनः ।
सर्वस्त्रीहृदयोपेतं विदारणपदं पुनः ॥ ३ ॥
ततः परं त्रिभुवनमदोन्मादकरं ततः ।
सुरासुरान्ते मनुजसुन्दरीजनशब्द(वर्ण)तः ॥ ४ ॥
मनांसि तापयद्वन्द्वं दीपयद्वितयं पुनः ।
शोषयद्वितयं भूयो मारयद्वितयं पुनः ॥ ५ ॥
स्तम्भयद्वितयं पश्चान्मोहयद्वितयं पुनः ।
द्रावयद्वितयं पश्चादाकर्षययुगं ततः ॥ ६ ॥
समस्तपरमोपेतं सुभगेन च संयुतम् ।
सर्वसौभाग्यशब्दान्ते करेति पदसंयुतम् ॥ ७ ॥
सर्वकामप्रदपदममुकं हनयुग्मकम् ।

पालानर्चयेत् । दशलक्षजपः पुरश्चरणम् । दशांशं घृतेन होमः । सर्वपापक्षयसर्वशान्तिसर्वग्रहनिवारणसर्वरक्षोहननमिति फलम् ॥
इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्संप्रदायकृतव्याख्यायांपदार्थादर्शाभिख्यायां षोडशः पटलः॥१६॥*

वैष्णवतन्त्रगोपितत्वादन्ते स्मरणारूढत्वात्पुरुषोत्तमादिमन्त्रान्वक्तुमुपक्रमते—*अथेति* । उक्तं च *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"पुरुषोत्तमसंज्ञस्य विष्णोर्भेदचतुष्टयम् । त्रैलोक्यमोहनस्तेषां प्रथमः प्रकृतिर्मतः ॥ श्रीकरश्च हृषीकेशः कृष्णश्चात्र चतुर्थकः । श्रीधरो वा चतुर्थः स्यात्प्रद्युम्नो वेति केचन" इति ॥ मन्त्रदेवतयोरभेदेन पुरुषोत्तममित्युक्तिः । अतिरहस्यत्वाद्गोपितम् । अत एवाचार्यैर्गुप्तपटले उद्धारः कृतः । *भुक्तिमुक्ती*त्यनेन विनियोग उक्तः ॥१॥
मन्त्रमुद्धरति—*तारेति* । तारो देवी प्रणवः । (ओं)(१)ॐकारस्य सामान्येन सर्वमन्त्रादित्वेनोक्तत्वात्रापि तथा सम्प्रदायाद्वा प्रणवादित्वम् । यद्वा तारश्चतारश्चेत्येकशेषे तारौ पश्चाद्रमादिपदैः सहसमासः । तत्र प्रथमतारपदेन प्रणवः द्वितीयतारपदेन देवीप्रणवः । इदं व्याख्यानं पद्मपादाचार्याणां संमतम् । मारः कामबीजम् । रमा श्रीबीजम् । नतिर्नमः पदम् । सर्व-

(१) ओं औं क्लीं श्रीं नमः पुरुषोत्तम अप्रतिरूपतनो लक्ष्मीनिवास सकलजगत्क्षोभण सर्वस्त्रीहृदयविदारण त्रिभुवनमनोन्मादकर सुरासुरमनुजसुन्दर जनमनांसि तापय तापय दीपय दीपय शोषय शोषय मारय मारय स्तम्भय स्तम्भय मोहय मोहय द्रावय द्रावय आकर्षय आकर्षय समस्तपरमसुभग सर्वसौभाग्यकर सर्वकामप्रद अमुकं हन हन चक्रेण गदया खड्गेन सर्वबाणै भिन्द भिन्द पाशेन तावद्यावत्समीहितम्मे सिद्धम्भवतिहुँ फट्नमः ॥

चक्रेण गदया पश्चात् खड्गेन तदनन्तरम् ॥ ८ ॥
कट्टद्वयान्तेऽङ्कुशेन ताडयद्वितयं पुनः ।
सर्ववारैर्भिन्दयुगं पाशेनेति पदं ततः ॥ ९ ॥
त्वरशब्दद्वयमथोक्तिन्तिष्ठसि पदं पुनः
तावद्यावत्पदस्यान्ते समाहितमनन्तरम् ॥ १० ॥
ततो मे सिद्धिमाभाष्य भवत्वन्ते स्वर्मं फट् ।
नमोऽन्तोऽयं मनुः प्रोक्तो द्विशताक्षरसंयुतः ॥ ११ ॥
जैमिनिर्मुनिराख्यातश्छन्दश्चामितमीरितम् ।
समस्तजगतामादिर्देवता पुरुषोत्तमः ॥ १२ ॥
पुरुषोत्तमशब्दान्ते वदेत्त्रिभुवनं ततः (पुनः) ।
मदोन्मादकरान्ते हुं हृदयं सकलं ततः ॥ १३ ॥
जगत् क्षोभणशब्दान्ते लक्ष्मीदयितहुं शिरः ॥ १४ ॥
मन्मथोत्तमसंयुक्तमङ्गजे कामदायिनि ।
हुं शिखापरमोपेतसुभगाक्षरसंयुतम् ॥ १५ ॥
सर्वसौभाग्यकरहुं कवचं परिकीर्त्तितम् ।
उक्त्वा सुरासुरोपेतमनुजान्वितसुन्दरीम् ॥ १६ ॥
ततः परस्ताद्धृदयविदारणपदं वदेत् ।
सर्वप्रहरणधरसर्वकामिकतत्परम् ॥ १७ ॥
हनद्वयं च हृदयं बन्धनानि ततःपरम् ।
आकर्षयपदद्वन्द्वं महाबलहुमस्त्रकम् ॥ १८ ॥
त्रिभुवनेश्वरपदन्ततः सर्वजनन्ततः ।
मनांसि हनयुग्मान्ते दारय द्वितयं च मे ॥ १९ ॥
वशमानय हुं नेत्रं ताराद्याः फट् नमोन्तकाः ।
षडङ्गमन्त्राः सन्दिष्टा नेत्रान्तास्तन्त्रवेदिभिः ॥ २० ॥

स्तीहृदयेति स्वरूपम् । अत्र क्वापि न सन्धिः । द्वितीयान्तानि सर्वाणि अभाष्येत्यस्य कर्माणि मन्त्रे तु सम्बुद्धयः । समाहितं सिद्धमिति च मन्त्रेऽपि द्वितीयान्तम् । द्विशताक्षर इत्युक्तिस्तु अमुकेति साध्यनामपरमित्येतत्स्यस्केति केचन । अन्ये तु अमुकपदप्रक्षेपात् द्विशताक्षरसंयुत इत्युक्तेरधिकाक्षरत्वमपि नदोषायेत्यूचुः । केचनाचार्याः एवमाहुः "शक्तिश्रीमरोभिः पुटितः स्मरणच्चलोकमोहनकृदि"ति । प्रणवो बीजं हुं शक्तिः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ ॥

षडङ्गमन्त्रानुद्धरति—*पुरुषोत्तमेति । शिखामन्त्रे अङ्गजे इत्यस्य पूर्वेण सह सन्धिः । तदुक्तं—"मन्मथवर्णानुक्त्वा तदनु वदेदुत्तमाङ्गजे वर्णानि"ति । अस्त्रमन्त्रे हृदयेति द्वयमपि स्वरूपम् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

ताराद्या इति । उक्ता नेत्रान्ताः षडङ्गमन्त्राः । ताराद्याः—प्रणवाद्याः फट् नमोऽन्तकाः संदिष्टा इतिसंबन्धः ॥ *तन्त्रवेदिभिरिति* ॥ अनेनैतदुक्तं भवति । *यदाहुः*—"करयोर्व्यापकं मन्त्रं न्यस्याङ्गान्यङ्गुलीषु तलयोश्च । (न्यस्य) बाणाननङ्गसहिताम्व्यापकमन्त्रांस्त-

त्रैलोक्यमोहनार्णान्ते हृषीकेशपदं पुनः ।
पश्चादप्रतिरूपादि मन्मथानन्तरं वदेत् ॥ २१ ॥
सर्वादि स्त्रीपदं पश्चाद्धृदयाकर्षणं ततः ।
आगच्छागच्छ मन्त्रोऽयं ताराद्यो नमसान्वितः ॥ २२ ॥
अनेन मनुना कृत्वा व्यापकं न्यस्य बाहुषु ।
अष्टायुधानि मुद्राभिर्मन्त्रैः सार्द्धं विचिन्तयेत् ॥ २३ ॥
क्षीराम्भोनिधिमध्यस्थं निरन्तरसुरद्रुमम् ।
उद्यदर्केन्दुकिरणदूरीकृततमोभरम् ॥ २४ ॥
कालमेघसमालोकनृत्यद्बर्हिकदम्बकम् ।
उत्फुल्लकुसुमामोदप्रहृष्यद्भृङ्गसङ्कुलम् ॥ २५ ॥
कूजत्कोकिलसंघेन वाचालितदिगन्तरम् ।
नानाकुसुमसौगन्ध्यवाहिगन्धवहान्वितम् ॥ २६ ॥
कल्पवल्लीनिकुञ्जेषु क्रीडत्सिद्धकदम्बकम् ।
देवगन्धर्वकन्या(नारी)भिर्गायन्तीभिरलङ्कृतम् ॥ २७ ॥
अनेकदीर्घिकायुक्तमुद्यानं मद्ददद्भुतम् ।
तस्य मध्ये मणिमये मण्डपे तोरणाश्रिते ॥ २८ ॥
ऋतुभिः षड्भिरनिशं सेवितस्य महीयसः ।
सुरद्रुमस्य मूलस्थे महासिंहासने शुभे ॥ २९ ॥
रक्तारविन्दमध्यस्थगरुडोपरि संस्थितम् ।
ध्यायेद्वल्लभया सार्द्धं जगन्नाथं जगन्मयम् ॥ ३० ॥

ज्ञोन्यसेद्वपुषि ॥ मातृकया विन्यस्येत्प्रत्यणं मारबीजसंपुटया ॥ न्यस्येच्चमारमालामन्त्राणां मातृकावदानानि । चत्वारिंशद्वर्णान् पञ्चोदरसुहृदूगलास्य नासासु ॥ संव्यापयेच्च देहे त्रीनर्णानथ सकृत् समस्तेन । क्लींमातृकार्णपूर्व्वांभूर्त्तीन्र्न्यस्येच्च कामरतिपूर्वां" इति ॥ पीठमन्त्रात्पूर्वं गरुडमुद्रया ग ्डमन्त्रं हृदि न्यसेत् । यदाहुः—"ईरितरीत्या देहे पीठन्यासान्तिकं विधाय हृदि । गरुडस्य मुद्रया तन्मन्त्रं न्यस्य न्यसेत्तुपीठमनुमि"ति । व्यापकमन्त्रे अप्रतिरूपेणेत्यस्य पूर्वेण सह सन्धिर्नान्यस्येति । बाहुषु तत्तन्मुद्राभिस्तत्तन्मन्त्रैः सार्धमष्टायुधानि विन्यस्य चिन्तयेदेवमिति शेषः । अष्टायुधानि ध्यानोक्तानि । न्यासक्रमोऽपि तत्रैव वक्ष्यते । मुद्रालक्षणानि तु पूर्वोक्ता पाशमुद्रा ज्ञेया । अथ वेयं पाशमुद्रा । *यदाहुः*—"तर्जन्यङ्गुष्ठकौ कृत्वा सक्ताग्रौ कुञ्चिताः पराः । पाशमुद्रा समाख्याते"ति । "वामस्य मध्यमाग्रन्तु तर्जन्यग्रे नियोजयेत् । अनामिकां कनिष्ठां च तस्याङ्गुष्ठेन पीडयेत ॥ दर्शयेद्दक्षिणस्कन्धे धनुर्मुद्रेयमीरिते"ति । अथ वेयं धनुर्मुद्रा ज्ञेया । यदाहुः—"बाहुमूलं स्पृशेत्तेन बाह्वग्रेणैव साधकः । धनुर्मुद्रा यशः कीर्त्तिबलवीर्यविवर्द्धिनी"ति । "कनिष्ठाऽनामिके बद्ध्वा स्वाङ्गुष्ठेनैव वामतः । श्रेष्ठाङ्गुली तु प्रसृते संश्लिष्टे खड्गमुद्रिके"ति । शङ्खमुशलचक्रगदाङ्कुशमुद्रा मया पूर्वमुक्ताः । एतदनन्तरं देहे—"श्रीवत्सकौस्तुभवनमाला यथाख्यानं स्वमन्त्रमुद्राभिर्न्यसेत् । तदुक्तम्—"अथ भूषणानि विद्वान्विन्यसेद्विजत ौ यथा स्थानमि"ति । एतेषां मुद्राः प्रागुक्ताः । मन्त्रास्तु वक्ष्यन्ते ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

क्षीरेति । अनेन पृथिव्यनन्तरं क्षीरसमुद्ररत्नद्वीपाद्भुतोद्यानमणिमण्डपकल्पतरुमहासिंहासनगरुडान् पीठन्यासादौ योजयेदित्युक्तम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

देवं श्रीपुरुषोत्तमं कमलया स्वाङ्कस्थया पङ्कजं
बिभ्रत्या परिरब्धमम्बुजरुचा तस्यां निबद्धेक्षणम् ।
ध्यायेच्चेतसि शङ्खपाशमुशलांश्चापारि षड्गङ्गादां
हस्तैरङ्कुशमुद्वहन्तमरुणं स्मेरारविन्दाननम् ॥ ३१ ॥
एवं ध्यात्वा श्रियः कान्तं मनुं लक्षचतुष्टयम् ।
जपेद्वशी विधायाथ कुण्डमर्द्धेन्दुसन्निभम् ॥ ३२ ॥
जुहुयाद्वैष्णवे वह्नौ पद्मैर्जातिसमुद्भवैः ।
पुष्पैर्यवैः क्रमात्पश्चाद्ब्राह्मणानपि भोजयेत् ॥ ३३ ॥
अर्चयिष्यन् जगन्नाथं गायत्र्या परिशोधयेत् ।
आत्मानं यागवस्तूनि यागभूमिं च देशिकः ३४ ॥
त्रैलोक्यमोहनायेति विद्महे पदमीरयेत् ।
स्मराय धीमहि पश्चात्तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥
गायत्र्येषा समाख्याता वैष्णवी सर्वसिद्धिदा ।
प्राक्प्रोक्ते वैष्णवे पीठे कल्पयेदासनं ततः ॥ ३६ ॥

ध्यानमाह—*देवमिति* ॥ अम्बुजरुचेति- पीतवर्णया । तत्र कमला द्विभुजा । वामे पद्मम् दक्षेणालिङ्गनम् । "साब्जवामकरां पीतां श्लिष्यन्तीं पाणिना पतिमि"ति ॥ *अन्यत्रापि*—"वामकरस्थाम्बुजया प्रतप्तकनकाऽभयातिसुन्दर्य्येति । आयुधध्यानं तु वामेषूर्ध्वादि बाणशङ्खधनुर्गदाः । दक्षेपूर्ध्वादि मुशलखड्गचक्राणि । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* "दक्षिणाधः करे चक्रं चिन्तयेदर्कभास्वरम् ॥ खड्गं तथोपरितने मुशलं च तदुत्तरे । सव्योर्ध्वदक्षिणे हस्ते चिन्तयेद्रुचिराङ्कुशम् ॥ वामोर्ध्वं चिन्तयेत्पाशं तदधः शङ्खमेव च । सशरञ्च धनुर्वामे गदां ध्यायेदधः करे" इति । पूर्वोक्तायुधन्यासो देहेऽनेन क्रमेण ज्ञेयः । अत्र ध्यानानन्तरमेता मुद्रा दर्शनीयाः । यदाहुः—"श्रीवत्सकौस्तुभावनमालाख्या चामरव्यजने। ऊर्ध्वाङ्गुष्ठौ मुष्टी नियोजितौ मस्तके मिथः दिलष्टौ ॥ त्रैलोक्यमोहनाख्या मुद्रा तां मूर्द्धिन योजयेत्तदन्वि"ति ॥३१॥

वशीवि अनेनाचार्योक्ता पूर्वमेव सूचिता । यदाहुः—"ध्यात्वा लक्षार्द्धसंख्यं जपतु मनुमिमं प्राप्तमन्त्राभिषेको द्रव्यैरेभिश्चजुह्वद्भवति मनुवरस्याधिकारी क्रियासु ॥ शतं दधिघृतं पयः पृथगथायुतं साज्यहविषा शृतेन पयसा हुनेद्रविमितं तथा साक्षततिलैः । तथा दशदशोन्मितं त्रिमधुमिश्रैश्चात्तवफलैः पलाशसमिधा शतं समभितोषयेत् स्वङ्गुरुवरमि"ति ॥ ३२ ॥

जुहुयादिति । "दशांशमि"ति शेषः । तदुक्तं—'दशांशं वैष्णवे वह्नावि"ति । *क्रमात्पश्चादिति* ॥ अनेन तर्पणाद्युक्तम् ॥ ३३ ॥

देशिक इत्यनेन कामाद्यपेक्षयेत्युक्तम् ॥ ३४ ॥

सर्वसिद्धिदेति । स्वातन्त्र्येण जपेत् । तद्ध्यादिकं यथा—"संकर्षणो मुनिश्छन्दो गायत्रं पुरुषोत्तमः । देवता मूर्द्धिन भालाक्षिदोः पत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥ अक्षराणि प्रविन्यस्य षडङ्गानि समाचरेत् । पञ्चभिश्च त्रिभिश्चैव पञ्चभिश्च त्रिभिः पुनः ॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च कुर्यादङ्गानि वर्णकैः । द्विशताक्षरवचास्य पूजाद्यन्यत्समीरितमि"ति ॥ *प्राक् प्रोक्ते*पञ्चदशोक्ते पीठे । अनेन विमलाद्याः शक्तीःपूजयेदित्यर्थः । पूजायन्त्रं तु—"*मन्त्रतन्त्रप्रकाशोक्तं* यथा—लिखेदष्टदलं पद्मं चन्दनेन सुगन्धिना । युगद्वारं सुशोभाढ्यं कामान्तं मध्यतो लिखेदि"ति ॥३६॥

पक्षिराजाय ठद्वन्द्वमस्य मन्त्रः प्रकीर्तितः ।
सङ्कल्पिताथां मूलेन मूर्त्तौ देवमनन्यधीः ॥ ३७ ॥
आवाह्य मनुना विद्वान्व्यापकेन समर्चयेत् ।
भृगुर्लान्तयुतः सेन्दु बीजं देव्याः प्रकीर्त्तितम् ॥ ३८ ॥
कर्णिकायां यजेदादौ विधानेनाङ्गदेवताः ।
दलेषु पूजयेत्पश्चाल्लक्ष्म्याद्या धृतचामराः ॥ ३९ ॥
मुक्ताहारलसच्चारुपयोधरभरान्विताः ।
जपाकुसुमसङ्काशा मदविभ्रममन्थराः ॥ ४० ॥
ह्रस्वत्रयक्लीवसर्गरहितस्वरशोभितम् ।
देवीबीजं क्रमादासां मन्त्रमाहुर्मनीषिणः ॥ ४१ ॥
दलाग्रेषु यजेच्छङ्खं शार्ङ्गंचक्रमसिं गदाम् ।
अङ्कुशं मुसलं(१) पाशमेतान्यस्त्राणि शार्ङ्गिणः ॥ ४२ ॥
स्वमुद्राभिः स्वमनुभिः कथ्यन्ते मनवः क्रमात् ।
आद्योजलचरायान्ते ठद्वयं मनुरीरितः ॥ ४३ ॥

अस्येति ॥ आसनस्य । अवधानं विना आवाहनमेव कर्त्तुमशक्यमित्यनन्यधी-रित्युक्तिः ॥ ३७ ॥

आवाह्येति। व्यापकेन मनुना देवमावाह्य कर्णिकायां समर्च्चयेदिति सम्बन्धः।*व्यापकेन* व्यापकमन्त्रेण पूर्णं *विद्वानिति*। अनेन षोडशोपचारा व्यापकमन्त्रेणैवेत्युक्तम्। "आवाहन-विसर्गान्तेपूक्तोयं पूर्वसूरिभिरि"ति । देवीबीजमुद्धरति—*भृगुरिति*। भृगुः सः। लान्तयुतो-वयुक्। सेन्दुः—सविन्दुः। इदं देव्या बीजम्। अनेनाङ्गपूजायाः पूर्वमङ्कस्थायो देव्याः पूजां कुर्यादिति शेषः। तदुक्तं—"दक्षेतरोरौ कमलामथेष्ट्वा समर्चयेदावरणानि भूय" इति। *अन्य-त्रापि*। "वामोरौ संस्थितामिष्ट्वा श्रियमङ्गानि पूजयेदि"ति। अत्रभूषणानि पूजयित्वाङ्गानि पूजयेत्। तदुक्तं *नारायणीये*—"श्रीवत्सकौस्तुभौ विद्वांस्तनस्योपरि वक्षसि। वनमालाङ्गले चाप्यत्पीतवस्त्रादि पूजयेद्दि"ति ॥ ३९ ॥

विधानेनेति। केसरेष्वग्न्यादिचतुर्दिक्षु वर्मान्तानि संपूज्य विदिक्ष्वस्त्रं पुरतो नेत्रमित्यर्थः तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*-"पूर्वादिदिक्षु चाभ्यर्च्य हृदाद्यङ्गचतुष्टयम्। कोणेष्वस्त्रं प्रपूज्याथ पुरतो नेत्रमर्चयेदि"ति। *अन्यत्रापि*-"अङ्गानि वर्मावधिकानि दिक्षु विदिक्षु चास्त्रं पुरतश्-चनेत्रमि"ति। *लक्ष्म्याद्या इति* पूर्वमन्त्रोक्ताः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

सर्गो-विसर्गः। एभिरष्टभीरहिताः स्वराः आई ऊ एऐओऔ अं एतद्युतं देवीबीजमासां मन्त्रमाहुरिति सम्बन्धः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

स्वमुद्राभिरिति। दलाग्रेषु शार्ङ्गिण एतान्यस्त्राणि स्वमुद्राभिः सह स्वमनुभिर्यजे-दिति सम्बन्धः ॥ तत्र मुद्रालक्षणं मयोक्तं प्राक्। *आद्यः*—शङ्खमन्त्रः। *जलचरायेति*। महाजलचरायेति ज्ञेयम्। *अन्ते ठद्वयमिति*। अनेन कवचास्त्रयोः पूर्वमुच्चारणं सूचितम्। *म-नुरीरितः*—इत्यनेन "पाञ्चजन्याय नम"इत्यस्यान्ते प्रयोगः सूचितः। *आचार्यैः* प्रथमं च-क्रमन्त्रोद्धारे महासुदर्शनायेति हुं फट् स्वाहेत्यन्तः "सुदर्शनाय नम" इत्युद्धृतम्। तदनन्तरं

---

(१) अस्य तालव्यमध्यताऽपि द्विरूपकोशउक्ता॥ तेन पुस्तकान्तरे सर्वत्र "मुशल" इति पाठ भेदोदृश्यते ।

शाङ्गार्य सशरायान्ते स्वाहान्तोऽनन्तरो मनुः ।
सुदर्शनमहाचक्रराजान्ते स्याद्दहद्वयम् ॥ ४४ ॥
सर्वदुष्टभयं पश्चात्कुरु छिन्दद्वयं (युगं) पृथक् ।
विदारय पदद्वन्द्वं परमन्त्रान्ग्रसग्रस ॥ ४५ ॥
भक्षय त्रासयद्वन्द्वं प्रत्येकं वर्मठद्वयम् ।
चक्राय नम इत्येष तृतीयो मन्त्र ईरितः ॥ ४६ ॥
खड्गतीक्ष्णपदान्ते स्याच्छिन्दयुग्मं हुमादि च ।
चतुर्थोऽयं मनुः प्रोक्तः, कौमोदकि महाबले ॥ ४७ ॥
सर्वासुरान्तकि पदं प्रसीदयुगवर्मफट् ।
स्वाहान्तोऽयं मनुः प्रोक्तः सद्भिः कौमोदकी प्रियः ॥ ४८ ॥

शङ्खादिमन्त्रा उद्धृताः । *तत्र पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातं* शङ्खादिमन्त्रेष्वपि महाशब्दः । अन्ते च "पाञ्चजन्याय नम" इत्यादि प्रयोक्तव्यमिति ॥ *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—अपेक्षितार्थद्योतनिकायामपि एवमेव मन्त्रा उद्धृताः । मूलकारेणापि चक्रमन्त्रे "चक्राय नम" इति । कौमोदकी मन्त्रे च "कौमोदकी पर" इति वदता स्पष्टमेवोक्तं, तेनायं मन्त्रः "ॐ महाजलचराय हुं फट् स्वाहा पाञ्चजन्याय नमः" । *अन्ते*—महाशब्दान्ते । ठद्वयं—स्वाहा ॥(१) ॥ ४३ ॥

शाङ्गार्य सशराय । स्वहान्त इत्यनेन हुं फट्स्वाहान्त इत्युक्तम् । अन्यथा स्वाहेत्येव वदेत् । तदुक्तम्—"धनुषः शार्ङ्गायाथ सशराय हुं फट् युग्मको मन्त्र" इति । *आचार्यैरपि*—"हुं फट् स्वाहा मुशलस्ये" त्युद्धृत्य "शार्ङ्गायाथ सशराय चे" त्युक्तम् । तत्र चकारेण "हुं फट् स्वाहे"त्यस्य समुच्चय इति । एवं तदग्रिमयोरपि खड्गाङ्कुशयोस्तट्टीकाकारैर्व्याख्यातम् । *मनु*रित्यनेन "शार्ङ्गाय नम" इत्युक्तम् । अनन्तरः-शार्ङ्गमन्त्रः । मन्त्रस्तु "महाशार्ङ्गाय सशराय हुं फट् स्वाहा शार्ङ्गाय नमः" (२)*सुदर्शनेति* ॥ पृथगिति कुरु कुरु छिन्दछिन्देति ॥ *प्रत्येकमिति* । भक्षय भक्षय त्रासय त्रासयेति । अनयोर्मध्ये भूतानीत्यपि ज्ञेयम् । *तदुक्तमाचार्यैः*—"भक्षयद्वयभूतानि त्रासयद्वयवर्मफडिति । *अन्यत्रापि* "भूतानि त्रासयद्वयम् । हुं फडिति द्वयं" *ठद्वयं*-स्वाहेत्यर्थः ॥ *चक्रायेति* । सुदर्शनायेति ज्ञेयम् । तदुक्तं-"स्वाहा सुदर्शनायेत्यथ नतिरिति चक्रमन्त्रउपदिष्ट" इति । *तृतीय इति* । चक्रमन्त्रः । मन्त्रोयथा—"सुदर्शन महाचक्रराज दह दह सर्वदुष्टभयं कुरु कुरु छिन्दछिन्द विदारय विदारय परमन्त्रान् ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतानि त्रासय त्रासय हुं फट् स्वाहा सुदर्शनाय नमः"(३) ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

खड्गेति । महाखड्गेति ज्ञेयम् "छिन्दकद्वयुगं पृथगि"त्यपपाठः । बहुग्रन्थविरोधात् । अपेक्षितपदानुद्धाराच्च । *तदुक्तमाचार्यैः*—"खड्गतीक्ष्णान्ते छिन्दयुक्खड्गमन्त्रक" इति । खड्गं तीक्ष्णं छिन्दयुगं हुं फडाद्यं मन्त्र इति । अपेक्षितार्थद्योतनिकायां मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि एतादृशस्योद्धृतत्वात् । तेनायं पाठः "छिन्दयुग्मं हुमादि चे"ति । आदिशब्दात्फट् स्वाहेति च । "खड्गाय नम" इति चतुर्थः खड्गमन्त्रः । मन्त्रो यथा—"महाखड्ग तीक्ष्ण छिन्द छिन्द हुं फट् स्वाहा खड्गाय नमः (४)*कौमोदकीति* ॥ महाकौमोदकीति ॥ *कौमोदकोपरः* । "कौमोदक्यै नम" इत्यन्तः । मन्त्रस्तु "महाकौमोदकि महाबले सर्वासुरान्तकि प्रसीद प्रसीद हुं फट्स्वाहा कौमोदक्यै नमः(५)" ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

अङ्कुशान्ते कट्टयुगं षष्ठोऽयं मनुरीरितः ।
संवर्त्तकान्ते मुशलं पोथयद्वितयं पुनः ॥ ४९ ॥
हुं फट् द्विठान्तोमन्त्रोऽयं सप्तमः परिकीर्तितः ।
पाशबन्धद्वयं पश्चादाकर्षय पदद्वयम् ॥ ५० ॥
वह्निजायावधिः सद्भिरष्टमो मन्त्रईरितः ।
लोकेशान् पूजयेत्पश्चाद्वज्राद्यैरायुधैःसह ॥ ५१ ॥
इत्थमभ्यर्च्चयन्नित्यं यथावत्पुरुषोत्तमम् ।
प्राप्नोति महतीं लक्ष्मीं सौभाग्यमतुलं यशः ॥ ५२ ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यंमनोभीष्टानि विन्दति ।
हयारिकुसुमैर्देवमर्चयित्वा यथाविधि ॥ ५३ ॥
शशिप्रसूनैर्जुहुयाद्वसुसंख्यसहस्रकम् ।
मासमात्रेण वशगास्तस्यस्युः सकला नृपाः ॥ ५४ ॥
हुत्वा बिल्वफलैः पक्वैः श्रियं विन्देदनिन्दिताम् ।
प्रफुल्लैररुणाम्भोजैस्तामेव लभते पुनः ॥ ५५ ॥
हुत्वा ज्योतिष्मतीतैलं सहस्रं वसुसंख्यकम्(१) ।

अङ्कुशेति । महाङ्कुशेति । *अयमिति* हुं फट् स्वाहा समुदायः । तदुक्तम्-"अङ्कुशकट्टयुगोपरि हुमादी"ति । *मनुरि*त्यङ्कुशाय नम इति । *षष्ठ* इत्यङ्कुशस्य। मन्त्रस्तु-"महाङ्कुश कट्ट कट्ट हुं फट् स्वाहा अङ्कुशाय नमः" । (६)*मुशलेति*(१) । महामुशल मन्त्र इति मुशलाय नम इति । *सप्तम इति* । (७)मुशलस्य । मन्त्रस्तु-"संवर्त्तकमहामुशल पोथय पोथयहुं फट्स्वाहा मुशलाय नमः ॥ ४९ ॥

पाशेति । महापाश । *वह्निजायावधिरिति* । हुं फट् स्वाहान्त इत्यर्थः । तदुक्तम्-*मन्त्र इति* । "महापाश पदोपरिबन्धद्वयं तथाऽऽकर्षद्वयं हुं फट्स्वाहेति पाशमन्त्र" इति । "पाशाय नम" इति *अष्टम इति* । पाशस्य । मन्त्रस्तु-"महापाश बन्ध बन्ध आकर्षय आकर्षय हुं फट् स्वाहा पाशाय नमः"(८) । अन्यत्रैषां प्रणवकामादित्वमुक्तम् । "आयुधमन्त्राः क्रमतो वक्ष्यन्ते मारबीजाद्या" इति । एषां पूजायां विशेषः । *यदाहुराचार्याः "दरचक्रगदामुशलाः पूर्वाद्याशासु चाथकोणेषु । वह्न्या(ब्रह्मा)दि शार्ङ्गखड्गौ साङ्कुशपाशावि"ति । आयुधानां वर्णा उक्ता *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*-"चक्रं भास्करसंकाशं खड्गमाकाशसन्निभम् । मुशलं श्यामलं ज्ञेयमङ्कुशः कृष्णवर्णकः ॥ पीतं पाशं विजानीयाच्छङ्खं चन्द्रप्रभंस्मरेत् । धनुः स्याद्धेमपिङ्गाभं गदा पावकसन्निभे"ति । *पश्चादि*त्यनेन श्रीवत्सकौस्तुभवनमाला अपि स्वस्वस्थाने स्वमुद्रास्वमन्त्रैः पूजनीया इत्युक्तम् । अपेक्षितार्थद्योतनिका-मन्त्रतन्त्रप्रकाशादिषूक्तत्वात् । केचन प्रधानपूजायामेव पूजयन्ति तथोक्तं मया प्राक् । तत्र मुद्रालक्षणानि सर्वोक्तानि प्राक् । मन्त्रास्तु-"ॐ महाश्रीवत्साय हुं फट् स्वाहा श्रीवत्साय नमः । "महामृतेमृतसम्भवाय हुं फट्स्वाहा कौस्तुभाय नमः" । "ॐ महावनमालेहुं फट् स्वाहा वनमालायै नमः" । *यथावदिति* । पूर्वोक्तप्रकारेण ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

हयारिः-करवीरः ॥ *यथाविधीत्यत्रो* पीठपूजापूर्वकमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

---

(१) अत्र "अष्टोत्तरसहस्रकम्" । इति पुस्तकद्वये पाठ उपलब्धोऽपि टीकाकारानुमतत्वात्सन्दिग्धार्थत्वाच्चोपेक्षितः ।

सुभगा जायते सम्यक् सर्वेषां नात्र संशयः ॥ ५६ ॥
विधानेनामुना मन्त्री महारोगात्प्रमुच्यते ।
अश्वत्थसमिधां होमः पराहृतधनप्रदः (नावहः) ॥ ५७ ॥
आज्याक्तदूर्वाहोमेन मुच्यते महतोभयात् ॥ ५८ ॥
यस्य नामयुतं मन्त्रं जपेदयुतसंख्यया ।
स भवेद्दासवत्तस्य नात्र कार्या विचारणा ॥ ५९ ॥
बहुना किमिहोक्तेन मनुना साधकोत्तमः ।
साधयेत्सकलान्कामान् साक्षाद्विष्णुरिवापरः ॥ ६० ॥
उत्तिष्ठ पदमाभाष्य श्री क्रोधीशहुताशनौ ।
वह्निजायावधिर्मन्त्रो वस्वक्षरसमन्वितः ॥ ६१ ॥
ऋषिरस्य भवेद्वामः पङ्क्तिश्छन्द उदाहृतम् ।
श्रीकराख्यो हरिः प्रोक्तो देवतास्य मनीषिभिः ॥ ६२ ॥
हृदयं भीषय द्वन्द्वं त्रासयद्वितयं शिरः ।
शिखाप्रमर्दययुगं वर्मप्रध्वंसयद्वयम् ॥ ६३ ॥
अस्त्रं रक्षयुगं सर्वे हुमन्ताः समुदीरिताः ।
मूर्द्धनि नेत्रद्वये कण्ठे हृदयोदरयोः पुनः ॥ ६४ ॥
उरुजङ्घापदद्वन्द्वे मन्त्रवर्णान्प्रविन्यसेत् ।
मुखे न्यसेद्ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदिमं मनुम् ॥ ६५ ॥
बाहू राजन्यः कृतोऽयं न्यस्तव्यो बाहुयुग्मके ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य इममूरुद्वये न्यसेत् ॥ ६६ ॥
पादद्वये न्यसेन्मन्त्रं पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।
चक्रं शङ्खं गदां पद्मं हस्ताग्रेष्वथ विन्यसेत् ॥ ६७ ॥
इत्थं न्यासं तनौ कृत्वा देवं पूर्वोक्तमण्डपे ।

---

*सशिप्रसूनैः–कुमुदैः । वसुसंख्यसहस्रम् अष्टसहस्रम् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥
यस्य नामयुतमिति । अमुकपदस्थाने ॥ ५९ ॥ ६० ॥
*श्रीकरमन्त्रमाह–*उत्तिष्ठेति । श्री स्वरूपं, क्रोधीशः कः । हुताशनो रेफः । वस्वक्षरःअ-ष्टाक्षरः । केचन श्री बीजपूर्वकमपरे तारपूर्वकमेनमाहुः। तदुक्तं–केचिच्छ्रीबीजाद्यं केचित्ताराद्य-मेनमिच्छन्ती"ति । प्रणवमारश्रीबीजैः संपुट इति पद्मपादाचार्याः । अतएव समन्वित इत्युक्तिः ६१
वामो वामदेव इत्यर्थः। तदुक्तम्–"ऋषिरस्य वामदेव" इति। ऊंबीजं, स्वाहा शक्तिः । तदुक्तं–"विष्णुः सबिन्दुरुदितोबीजं शक्तिः शिरोऽस्य विज्ञेयमि"ति । मनीषिभिर्हुमन्ताः स-मुदीरिता इति सम्बन्धः ॥ *मनीषिभिरि* त्यनेन पञ्चाङ्गानन्तरमष्टाङ्गं कर्त्तव्यमित्युक्तम् । "अष्टाङ्गानि च कुर्वीत मन्त्रार्णैरुदितवर्त्मना क्रमतः । हृदयशिरः पूर्वशिखाकवचाक्ष्यास्त्युदर-पृष्ठसंभिन्नैरि"ति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ $\frac{१}{२}$ ॥
मूर्द्धनीति। अयं सृष्टिन्यासः। यदाहुः–"सृष्टिरियं निर्दिष्टा तुन्दा(१)दिहृदन्तिका स्थि-तिस्तद्वत्। संहारः पादाद्योमूर्द्धान्तः कथित एष सृष्ट्यादिरि"ति *विन्यसेदिति* स्वस्वमन्त्रैः स्वस्व-

---

(१) तुन्दं–कुक्षिः । "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दमि"त्यमरः ।

रक्तपद्मासनस्थस्य गरुडस्योपरि स्थितम् ॥ ६८ ॥
काञ्चनाद्रिसमप्रभं कमलाननं कमलेक्षणम् ।
चक्रशङ्खगदासरोजधं मनोहरदर्शनम् ॥ ६९ ॥
कौस्तुभाङ्कितवक्षसं मुकुटाङ्गदादिविभूषणम् ।
तार्क्ष्यवाहनमच्युतं हृदि भावयामि जगत्पतिम् ॥ ७० ॥
अष्टलक्षं जपेन्मन्त्री मन्त्रमेनं दशांशतः ।
बिल्वक्षीरद्रुमोत्थाभिः समिद्भिररुणाम्बुजैः ॥ ७१ ॥
पयोन्नैः सर्पिषा हुत्वा गुरुं सन्तोषयेद्धनैः ।
मूर्त्तौ मूलेन क्लृप्तायां पूजयेद्देवमन्वहम् ॥ ७२ ॥
अङ्गान्यादौ समाराध्य दिक्पत्रेषु समर्चयेत् ॥
श्रियं धृतिं रतिं कान्तिं लीलापङ्कजधारिणीः ॥ ७३ ॥
पीतारुणाः श्यामनीला विदिक्पत्रेषु पूजयेत् ।
वासुदेवादिका मूर्त्तीः पार्श्वयोर्निधियुग्मकम् ॥ ७४ ॥
विष्वक्सेनं यजेदीशे लोकपालाननन्तरम् ।
एवं सम्पूजयेद्देवं साधयेदिष्टमात्मनः ॥ ७५ ॥
दूर्वाचरुभ्यां साज्याभ्यां जुहुयादयुतं बुधः ।
संपातितं चरुं पश्चात्साध्यो भुञ्जीत साधितम् ॥ ७६ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेत्सम्यङ्मधुरैर्होमवासरे ।
तोषयेद्गुरुमर्थेन वस्त्रैर्धान्यैर्विभूषणैः ॥ ७७ ॥
जित्वापमृत्युरोगादीन् दीर्घमायुः स विन्दति ।
आज्यसिक्तैः सरसिजैर्जुहुयादयुतत्रयम् ॥ ७८ ॥
निवसेत्कमला तस्मिन्न त्यजेत्तत्सुतानपि ।
बिल्ववृक्षसमिद्धोमात्साक्षाद्धनपतिर्भवेत् ॥ ७९ ॥
पूगपुष्पसमायुक्तैस्तण्डुलैर्मधुरोक्षितैः ।
जुहुयादचिरादेव सम्पदां जायते निधिः ॥ ८० ॥

मुद्राभिः । न्यासस्थानमायुधध्यानेन ज्ञेयम् । आयुधध्यानं तु दक्षाधूर्ध्वयोराद्ये तदधस्थयोरन्ये । अत्र ध्यानानन्तरं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालामुद्राः प्रदर्शयेत् ॥६४॥६५॥६६॥६७॥६८॥६९॥७०॥

क्षीरद्रुमेति । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटाः । तेनाष्टभिर्द्रव्यैः प्रत्येकमयुतरीत्या दशांशसिद्धिः ॥ ७१ ॥

मूलेन क्लृप्तायामिति । पूर्वोक्ते "वैष्णवे पीठे" इति शेषः । *समाराध्येति* । "केसरेष्वि"ति शेषः ॥ अन्ये कर्णिकायां पूजयन्ति ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

पार्श्वयोरिति अष्टदलबाह्ये ॥ ७४ ॥

विष्वक्सेनं यजेदिति । अत्र विष्वक्सेनमुद्रा प्रदर्शनीया । यदाहुः—"नासिकाग्रसमीपस्थां कृत्वा वामस्य तर्जनीम् । दण्डवद्दक्षिणे कुर्याद्दक्षिणस्य प्रदेशिनीम् ॥ विष्वक्सेनस्य मुद्रेयं तत्पूजायां प्रदर्शयेदि"ति ॥ *ईश इति* । पद्मबाह्ये । अन्ये—अग्रे पूजयन्ति । एतदन्तं द्वितीयावरणम् ॥ *अनन्तरमिति* वज्रादीन् ॥ ७५ ॥ ६ ॥

आज्येन जुहुयाद्यद्वं परान् जयति पार्थिवः ।
अब्जसूत्रं भुजे बद्धं मनुनानेन साधितम् ॥ ८१ ॥
रोगापमृत्युदुःखानि नाशयेन्नात्र संशयः ।
जलाञ्जलिभिरात्मानमभिषिञ्चेद्दिनेदिने ॥ ८२ ॥
स्नानकालेषु स भवेत् सौभाग्यश्रीसमृद्धिमान् ।
ऊर्ध्वबाहुद्वयो मन्त्री पश्यन्नादित्यमण्डले ॥ ८३ ॥
सहस्रमानं प्रजपेन्नित्यं निशितधीर्मनुम् ।
सर्वे मनोरथास्तस्य सिद्ध्येयुर्नात्र संशयः ॥ ८४ ॥
कृष्णाय पदमाभाष्य गोविन्दाय ततः परम् ।
गोपीजनपदस्यान्ते वल्लभाय द्विठावधिः ॥ ८५ ॥
कामबीजादिराख्यातो मनुरष्टादशाक्षरः ।
नारदोऽस्य मुनिः प्रोक्तो गायत्रं छन्द उच्यते ॥ ८६ ॥
देवता कथितः कृष्णः सर्वकामफलप्रदः ।
चतुः करणवेदाब्धिनेत्रसंख्याक्षरैः क्रमात् ॥ ८७ ॥
पञ्चाङ्गानि मनोः कुर्यान्मन्त्रविज्जातिसंयुतैः ।
स्मरेद्वृन्दावने रम्ये मोहयन्तं मनोरमम् (१) ॥ ८८ ॥
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्याः सहस्रशः ।
आत्मनो वदनाम्भोजप्रेषिताक्षिमधुव्रताः ॥ ८९ ॥

चरुमिति । होमशेषम् । *सुसाधितमिति* । जपादिना ॥७६॥७७॥७८॥७९॥८०॥१॥
अब्जसूत्रमिति । मन्त्रवर्णसंख्यान्यब्जसूत्राण्यानीय मन्त्रेणाष्टौ ग्रन्थयो देयाः । तदुक्त-फलदम् ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

निशितधीरिति अनेन तत्र देवतां ध्यायन्नित्युक्तम्। गौतमकल्पोक्तं यन्त्रमुच्यते—"तारं ढसाध्यमष्टारे कोणे मूलाक्षराणि तु । प्रत्येकं शक्त्यस्त्रियुञ्जि कोणाग्रेषु षडङ्गकम् ॥ बहिरष्टदले पद्मे लिखेदष्टाक्षरं मनुम्। पश्चाद्वेष्टयेद्बाह्ये द्वादशाक्षरसंयुतम् ॥ पद्मं द्वादशपत्रं तु वृत्ता-त्षट्कोणकं बहिः । कोणेष्वनङ्गबीजं तु बहिरष्टदलाम्बुजम् ॥ केसरेषु कलाः पत्रे द्वन्द्वशः श्रीकरं मनुम् । तारः श्रीकरश्रीकृष्णौ ङेऽन्तौ गौपीकुचान्ततः । भूषणायेति मन्त्रोऽयं तत्पा-शाङ्कुशवेष्टितम् ॥ संवीतं च सदण्डेन व्योम्नैतद्यन्त्रमुत्तमम् ॥ भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षगन्धर्वरा-क्षसाः । लयं यान्ति तथा सर्वे केवलं यन्त्रधारणात् ॥ संसाधितं महायन्त्रमपस्मारहरं परम् । साध्यनामाङ्कितं यन्त्रं धारयित्वा वशङ्करम् ॥ यद्यत्कामयते वत्स! तत्प्राप्नोति समाहि-तः" इति ॥ ८४ ॥

गोपालमन्त्रमाह—*कृष्णायेति । *द्विठेति* । स्वाहान्तः । क्लीं बीजं, स्वाहा शक्तिः । तदुक्तम्—"वक्ष्ये मन्त्रस्यास्य बीजं सशक्ति चक्री शक्रोवामनेत्रप्रदीप्तः । सप्रद्युम्नोबीजमेत-न्निर्दिष्टं मन्त्रः प्राद्युम्नोजगन्मोहनोऽयम् ॥ हंसोमेदोवक्त्रवृत्ताभ्युपेतः पोऽग्नीनेत्राद्यन्वितोऽसौ सुमार्णा । प्रोक्ता शक्तिः सर्वगीर्वाणवृन्दैर्वन्द्यस्याग्नेर्वल्लभा कामदेयमि"ति । ॥८५॥८६॥१॥

करणेति चत्वारि(२) । गोपकन्या मोहयन्तमिति सम्बन्धः । *आत्मनो*—त्वगात्म-

(१) अत्र "मोहयन्तमनारतम्" इत्यपि पाठः क्वचिद्दृश्यते ।
(२) आन्तराणीति पूर्वोक्ताःमिथःसङ्ख्यानि ।

पीडिताः कामबाणेन चिरमाश्लेषणोत्सुकाः ।
मुक्ताहारलसत्पीनतुङ्गस्तनभरान्विताः ॥ ९० ॥
स्रस्तधम्मिल्लवसना मदस्खलितभूषणाः ।
दन्तपङ्क्तिप्रभोद्भासिस्पन्दमानाधराञ्चिताः ॥ ९१ ॥
विलोभयन्तीर्विविधैर्विभ्रमैर्भावगर्भितैः ॥ ९२ ॥
फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियम् ।
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ॥
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोपालसङ्घावृतम् ।
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥ ९३ ॥
मन्त्रमेनं यथान्यायमयुतद्वितयं जपेत् ।
जुहुयादरुणाम्भोजैस्तद्दशांशं समाहितः ॥ ९४ ॥
वैष्णवे पूजयेत्पीठे यथावद्देवकीसुतम् ।
अङ्गावरणमाराध्य पत्रेषु पूजयेत्प्रियाः ॥ ९५ ॥

नल्लासाद्भावस्वरूपस्य कृष्णस्येत्यर्थः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

स्पन्दमानाः सत्स्फुरणा येऽधरास्तैरञ्चिताः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

फुल्लेति । इन्दीवरं नीलोत्पलम् । *बर्हावतंसम्* । मयूरपिच्छकर्णाभरणम् । *कल-वेणुवादनपरम्* । अनेन द्विभुजध्यानमुक्तम् । अत्र ध्यानानन्तरं वेणुश्रीवत्सकौस्तुभवनमाला-बिल्वमुद्राः प्रदर्शयेत् । तत्र *वेणुबिल्वमुद्रालक्षणं यथा*—"ऊर्ध्वौ वामकराङ्गुष्ठोलग्नस्त-स्य कनिष्ठिका । दक्षिणाङ्गुष्ठसंसक्ता तत्कनिष्ठा प्रसारिता ॥ तर्जनीमध्यमानामाः किंचि-त्सङ्कुच्य चालिताः । वेणुमुद्रेह कथिता सुगुप्ता प्रेयसी हरेः ॥ उच्यतेऽच्युतमुद्राणां मध्ये बि-ल्वफलाकृतिः ॥ अङ्गुष्ठं वाममुद्दण्डितमितरकराङ्गुष्ठकेनाथ बध्वा तस्याग्रं पीडयित्वाङ्गुलिभि-रपिचता वामहस्ताङ्गुलीभिः ॥ बध्वा गाढं हृदि स्थापयतु विमलधीर्व्याहरन्मारबीजं बिल्वा-ख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह गदिता गोपनीया विधिज्ञैः ॥ मनोवाणीदेहैर्यदिह च पुरावापि वि-हितं त्वसत्या मत्या वा तदखिलमसौ दुष्कृतचयम् । इमां मुद्रां जानन् क्षपयति नरस्तं सुर-गणा नमन्त्यस्या धीना भवति सततं सर्वजनतेःति ॥ ९३ ॥

यथान्यायमिति ॥ अनेनैतदुक्तं भवति । यदाहुः—"अद्रेः शृङ्गे नद्यास्तटे बिल्वमूले तोये ह्रद(१)घ्ने गोकुले विष्णुगेहे । अश्वत्थाधश्चाम्बुधेश्चापि तीरे स्थानेष्वेतेष्वासीन एकैकशस्तु ॥ प्रजपेदयुतचतुष्कं दशाक्षरं मनुवरं पृथक्क्रमशः । अष्टादशाक्षरं चेदयुतद्वयमित्युदीरिता संख्या ॥ शाकं मूलं गोस्तनभवदधिनी भैक्ष्यमन्नं च शक्तुं दोग्धान्नं चाददानः क्षिति-धरशिखरादौ क्रमात्स्थानभेदे । एकं चैषामशक्तौ गदितमिहमया पूर्वसेवाविधानं निवृत्तेऽस्मि-न् पुनश्च प्रजपतु विधिवत् सिद्धये साधकेशः ॥ दशलक्षमक्षयफलप्रदं मनुं प्रतिजप्य शिक्षित-मतिर्दशाक्षरम् ॥ सुषिरयुगलवर्णं चेन्मनुं पञ्चलक्षमि"ति ॥ *तद्दशांशं*—पञ्चलक्षदशांशम् । *समाहित*—इत्यनेनैतदुक्तं भवति । यदाहुः—"अमलमतिरलाभे पायसैरम्बुजानां ससित-घृतगुडक्तै रारभेद्धोमकर्मे"ति ॥ ९४ ॥

वैष्णव इति । नारायणाष्टाक्षरोक्ते । *यथावदिति* अनेनैतदुक्तं भवति । दामादि वज्रा-न्तैः सप्तभिरावरणैरेवमर्चयेत् । ग्रन्थोक्ताङ्गादि वज्रास्त्रान्तं पञ्चावरणम् । अङ्गलोकपाल-

(१) ह्रदपरिमिते । अत्र प्रमाणेऽर्थे दघ्नच्प्रत्ययः ।

कालिन्दीनग्नजित्याख्या मित्रविन्दा ततःपरम् ।
चारुहासिन्यथपरा रोहिणी जाम्बवत्यथ ॥ ९६ ॥
रुक्मिणी सत्यभामेति कथिताश्चारुभूषणाः ।
पीताम्बरधराः सौम्याः कराम्बुजधृताम्बुजाः ॥ ९७ ॥
ऐरावतादीनभ्यर्चेद्दिग्जानष्टौ ततो बहिः ।
लोकपालान्यजेन्मन्त्री वज्राद्यस्त्राणि तद्बहिः ॥ ९८ ॥
इति सम्पूजयेद्देवं गोविन्दं जगतां पतिम् ।
कुर्वीत कल्पनिर्दिष्टान्प्रयोगान्निजवाञ्छितान् ॥ ९९ ॥
लक्ष्मीप्रसूनैर्जुहुयाच्छ्रियमिच्छन्ननिन्दिताम् ।
साज्येनान्नेन जुहुयादाज्यान्नस्य समृद्धये ॥ १०० ॥
आरण्यैः कुसुमैर्विप्रान् जातिभिः पृथिवीपतीन् ।
प्रसूनैरसितैर्वैश्यान् शूद्रान्नीलोत्पलैर्नवैः ॥ १०१ ॥
वशयेल्लवणैः सर्वान्पङ्कजैर्वनिताजनान् ।
गोशालासु कृतो होमः पायसेन ससर्पिषा ॥ १०२ ॥
गवां शान्तिं करोत्याशु गोविन्दोगोकुलप्रियः ॥
शिशुवेषधरं देवं किङ्किणीदामशोभितम् ॥ १०३ ॥
स्मृत्वा प्रतर्पयेन्मन्त्री दुग्धबुध्याम्भैर्जलैः ।
धनधान्यांशुकादीनि प्रीतस्तस्मै ददातिसः ॥ १०४ ॥
पिण्डम्मूलेन वीतं दहनपुरयुगे कोणराजद्रसार्णं ।
कुर्यात्पद्मं दशार्णस्फुरितदशदलं कामबीजेन वीतम् ॥
पद्मं किञ्जल्कसंस्थं स्वरविकृतिदलप्रोल्लसत्षोडशार्णं
किञ्जल्कं व्यञ्जनाढ्यं विकृतियुगदलेष्वर्पितानुष्टुब्वर्णम् ॥ १०५ ॥
पाशाङ्कुशाभ्यामावीतं क्षोणीपुरयुगास्त्रिषु ।
अष्टाक्षरेण लसितं यन्त्रं गोविन्ददैवतम् ॥ १०६ ॥

तदस्त्राणीत्यावरणत्रयं वा कृष्णाष्टकेनैकावरणञ्चेति । तदुक्तं–"कथितमावृतिसप्तकमच्युतार्चनविधाविति सर्वसुखावहम् । प्रयजतादथवाङ्गपुरन्दराशनिमुखैस्त्रितयावरणं त्विदम् ॥ श्रीकृष्णोवासुदेवश्च नारायणसमाह्वयः । देवकीनन्दनयदुश्रेष्ठौ वार्ष्णेय इत्यपि ॥ असुराक्रान्तशब्दान्ते भारहारीति सप्तमः । धर्मसंस्थापकश्चाष्टौ चतुर्थ्यन्ताःक्रमादिमे ॥ एभिरेवाथवा पूजा कर्त्तव्या कंसवैरिणः" इति । एते चत्वारोऽपि पक्षा मुख्या एव । कल्पभेदाद्भेदः । *आराध्येति* केसरेष्विति । ऐरावतादीनष्टमोक्तान् ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

यन्त्रमाह–*पिण्डमिति* । वक्ष्यमाणं पिण्डबीजम् । परस्परव्यतिभिन्ने दहनपुरयुगे षट्कोणे । *रसार्णं*–षडर्णं । षडर्णदशार्णषोडशार्णानुष्टुबष्टार्णान्वक्ष्यति । *विकृतिदलं*–षोड(१)शदलम् । *विकृतियुगदलं*–द्वात्रिंशद्दलम् । अत्रोभयत्रकेसरस्थानेषु एकैकार्णलेखः ॥ १०५ ॥

---

(१) "षोडशकस्तुविकार" इति साङ्ख्योक्तेः ।

धर्मार्थकामफलदं सर्वरक्षाकरं स्मृतम् ।
पञ्चान्तकोधरासंस्थोमनुर्बिन्दुविभूषितः ॥ १०७ ॥
पिण्डबीजमिदं प्रोक्तं सर्वसिद्धिकरम्परम् ॥
स्मरः कृष्णाय ठद्वन्द्वं षडर्णो मनुरीरितः ॥ १०८ ॥
गोपीजनान्ते प्रवदेद्वल्लभायाग्निसुन्दरी ।
अयं दशाक्षरोमन्त्रो दृष्टादृष्टफलप्रदः ॥ १०९ ॥
प्रणवं हृदयं कृष्णं ङेऽन्तमुक्त्वा ततःपरम् ।
तादृशं देवकीपुत्रं हुं फट् स्वाहासमन्वितः ॥ ११० ॥
षोडशाक्षरमन्त्रोऽयं गोविन्दस्य समीरितः ।
पिण्डं रतिपतेर्बीजं नमो भगवते ततः ॥ १११ ॥

---

*पाशाङ्कुशाभ्यामि*त्येकावृत्तिः ॥ १०६ ॥ ३ ॥

पिण्डबीजमाह—*पञ्चान्तकइति* । पञ्चान्तकोगः । धरा लः । इरोयः । तत्संस्थः ग्लय-मनुरौबिन्दुश्च । एतद्युक्तस्तेन ग्लयौं । सर्वसिद्धिकरम्परमित्यनेनास्य स्वातन्त्र्यं नमोन्तत्वेन त्र्यक्षरत्वम् । प्रणवमायादित्वेन वा त्र्यक्षरत्वमुक्तम् । तेनास्यर्ष्यादिकमुच्यते । "मुनिर्नारद आख्यातश्छन्दोगायत्रमीरितम् । देवताबालकृष्णोऽङ्गंषड्दीर्घाक्रान्तबीजतः ॥ अव्याद्व्याकोशनीलाम्बुजरुचिररुणाम्भोजनेत्रोऽम्बुजस्थो बालोजङ्घाकटीरस्थलकलितरणत्किङ्किणीको मुकुन्दः । दोर्भ्यां हैयङ्गवीनं दधदतिविमलं पायसं विश्ववन्द्योगोगोपीगोपवीतोरुरु(१)नखवि-लसत्कण्ठभूषश्चिरंवः ॥ जपेल्लक्षं मनुवरं पायसैरयुतं हुनेत् । पूजा तु वैष्णवे पीठे अङ्गदिक्पा-लवज्रकैरि"ति ॥ "यद्वर्षिर्नारदः प्रोक्तो जगतीच्छन्द ईरितम् । श्रीकृष्णो देवता बीजं ग्लौं य शक्तिः प्रकीर्त्तिता ॥ षडङ्गं मूलमन्त्रेण कुर्यादेवं विचिन्तयेत् । कदम्बमूले तिष्ठन्तं देवदेवं जना-र्दनम् ॥ इन्दीवरदलश्यामं पूर्णचन्द्रनिभाननम् । देवगन्धर्वयक्षौघकिन्नरोरगसेवितम् ॥ मोहनं गोपगोपीनां वल्लभं देवकीसुतम् । मयूरपिच्छसंयुक्तवनमालाविभूषितम् ॥ पूर्णचन्द्रनिभं कान्तं वृन्दावननिवासिनम् । वेणुं गायन्तममलं सर्वभूतमनोहरम् ॥ लेलिह्यमानं वत्सैश्च मृगैः सिंहै-स्तथा द्विजैः । सर्वाभरणसंयुक्तं सर्वाभरणशोभितम् ॥ कौस्तुभोद्भासितोरस्कन्दामपिच्छ-समावृतम् । अप्रमेयमचिन्त्यं च गोपालं शिशुरूपिणम् ॥ ध्यायेत्तं देवदेवेशं सर्वलोकैकनायकम् । अङ्गैश्च वासुदेवाद्यै रुक्मिण्याद्यैस्तृतीयकम् ॥ कुमुदेन्द्रायुधैश्चापि षडावरणमीरितम् । जपोऽ-युतचतुष्कः स्याद्दशांशं जुहुयात्ततः ॥ पायसेन सिताक्तेन तर्पयेत्तावदेवतु । मन्त्रसिद्धस्य लोकोऽयं सद्यो वश्योभविष्यती"ति ॥ १०७ ॥ ३ ॥

षडर्णमाह—*स्मर इति* । स्मरः कामबीजम् । *मनुः समीरितः* इत्यनेनायमपि स्वतन्त्रो मन्त्र इत्युक्तम् । अस्य मुन्यादिपूजान्तमष्टादशार्णवत् । षड्लक्षं जपः । दशांशं हो-मोऽष्टादशार्णोक्तद्रव्येणेति ज्ञेयम् । पञ्चाङ्गानि तु "ङेस्वाहान्तैश्चक्रपदैः पञ्चाङ्गान्यावि सुस्थितैः । त्रैलोक्यरक्षणयुतै रसुरान्तकसंयुतैरि"ति ॥ १०८ ॥

दशार्णमाह *गोपीति* । अग्निसुन्दरी—स्वाहा । *दृष्टादृष्टफलप्रदमि*त्यनेनास्य स्वात-न्त्र्यमुक्तम् । अस्य सर्वं षडक्षरवज्ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

षोडशार्णमाह—*प्रणवमिति* । हृदयं-नमः पदं, ङेऽन्तं कृष्णं कृष्णाय । *तादृशम्*—ङेऽन्तं, तेन देवकीपुत्रायेति ॥ ११० ॥

गोविन्दस्येति । अनेनायमपि स्वतन्त्रोमन्त्र इत्युक्तम् । अस्य सर्वं दशाक्षरवज्ज्ञेयम् ।

---

(१) रुरुः कृष्णसारमृगः । "कृष्णसाररुन्यङ्कुरङ्कुशम्बररौहिषाः' इतिमृगपर्यायेऽमरात् ॥

नन्दपुत्राय बालादिवपुषे श्यामलाय च ।
गोपीजनपदस्यान्ते वल्लभाय द्विठावधिः ॥ ११२ ॥
अनुष्टुम्मन्त्र आख्यातो गोपालस्य जगत्पतेः ॥
अनङ्गः कृष्णगोविन्दौ ङेन्तावष्टाक्षरो मनुः ॥ ११३ ॥
प्राक्प्रत्यग्दक्षिणादग्विधिवदभिलिखेत्स्पष्टरेखाचतुष्कं
कोणोद्यच्छूलयुक्तं वलययुगयुतं मध्यपूर्वं तदन्तम् ।
श्लोकस्यार्णान्परस्ताद्वसुपदविवरेष्वष्टवर्णं लिखित्वा
तद्बाह्ये द्वादशार्णैस्तदनु परिवृतं देवकीपुत्रयन्त्रम् ॥ ११४ ॥
तं सुकीदेवदेवे तं तं देवे वरतो रतम् ।
तं वा रतोरूढतं रुयातं तं रुयातं देवकीसुतम् ॥ ११५ ॥

द्वात्रिंशदर्णमाह—*पिण्डमिति* । पूर्वोक्तं पिण्डबीजम् । *रतिपतेर्बीजं*—कामबीजम् ॥ १११ ॥ ११२ ॥

*गोपालस्य जगत्पते*रित्यनेनायमपि स्वतन्त्रोमन्त्र इत्युक्तम् । अस्यर्ष्यादिकं यथा—"अनुष्य नारदऋषिश्छन्दोऽनुष्टुप्समीरितम् । देवता हरिराख्यात आचक्राद्यैरथाङ्गकम् । दक्षिणे रत्नचषकं वामे सौवर्णवेत्रकम् । करे दधानं देवीभ्यामाश्लिष्टं चिन्तयेद्धरिम् ॥ जपेल्लक्षं मनुवरं पायसैर्युतं हुनेत् । पूजा तु वैष्णवे पीठे ह्यङ्गदिक्पालवज्रकैः ॥ एवं सिद्धमनुर्मन्त्री त्रैलोक्यैश्वर्यंसारभवेद्गति॥ अष्टार्णमाह*अनङ्गेति* । अनङ्गः कामबीजम् । *ङेऽन्तौ*—कृष्णाय गोविन्दाय । अयमपि स्वतन्त्रो मन्त्रः । अस्य मुन्यादि सर्वं पूर्वोक्तषडक्षरवज्ज्ञेयम् ॥११३॥

कामलिङ्गयन्त्रमाह—*प्रागिति* । प्राक्प्रत्यग्रे खाद्वयं दक्षिणोदग्रेखाद्वयं लिखेत् । एवमुभयं मिलित्वा रेखाचतुष्कं भवति । इदमेव विधिवत्पदेनोक्तम् । *कोणोद्यच्छूलयुक्तं*—मध्यकोणे द्वयोर्बहिः कर्णसूत्रचतुष्टयं दद्यात्। तेन शूलाकारता भवत्येवं *वलययुगयुतं*—तत्रैकं वृत्तं रेखाग्रस्पर्शि द्वितीयं मध्यकोष्ठवृत्तान्तराले । *मध्यपूर्वमिति* । मध्यकोष्ठमारभ्य लेखनारम्भः। *तदन्तम्* । मध्यकोष्ठएवसमाप्तिरित्यर्थः ॥ तत्राक्षरलेखनक्रमः—प्राक् संस्थतया मध्यादिकोष्ठत्रये आद्यवर्णत्रयमालिख्य आग्नेय्यां वृत्तद्वयान्तराले कोणरेखामभितः कोष्ठद्वये देवेत्यक्षरं लिखेत । ततो दक्षिणे ऊर्ध्वादिकोष्ठद्वये देवेत्यक्षरं लिखेत् । ततो दक्षिणे ऊर्ध्वादिकोष्ठद्वये देवेत्यक्षरद्वयं लिखेत् । तकारस्तु मध्यकोष्ठस्थ एव वाचनीयः । ततो मध्य कोष्ठाद्दक्षिणस्यमेवा- रद्वयं संवाच्य नैर्ऋत्यकोणे मध्यरेखोभयतः कोष्ठद्वये वरेत्यक्षरद्वयं लिखेत् । पश्चिमे तु दक्षिणवदेव । ततो वायव्यकोणे मध्यरेखोभयतः कोष्ठद्वये रुढेत्यक्षरद्वयं लिखेत् । ततः उत्तरे दक्षिणवदेव । ईशकोणे मध्यरेखोभयतः कोष्ठद्वये देवेत्यक्षरद्वयं लिखेत् । ततः प्राच्यां लिखितान्यक्षराणि ऊर्ध्वतो वाचयेत् । एवं श्लोकमन्त्राक्षरलेखनक्रमः । *परस्तादिति* । मध्यकोष्ठाद्बहिः प्रथमवृत्तान्तः। एकैकस्मिन् कोणे कर्णसूत्रोभयतः कोष्ठद्वन्द्वमवशिष्यते । तत्र प्रादक्षिण्यक्रमेण ईशानादि पूर्वोक्तमष्टवर्णं लिखेत् *तदनु* तदनन्तरम् । *तद्बाह्ये*—द्वितीयवृत्तबाह्ये । *द्वादशार्णैः* । पञ्चदशोक्तवासुदेवमन्त्रार्णैः परिवृतम् । शूलोत्पन्नद्वादशसु कोष्ठेषु द्वादशवर्णलिखनेनार्थाद् वृत्तं भवति । एवं भूतं यन्त्रमुक्तफलदम् ॥ एष सांप्रदायिकः पक्षः ॥ केचन प्रागपरायताश्चतस्रः । उदग्दक्षिणायताश्चतस्रोरेखाः कुर्यात् । एवं नवकोष्ठानि सम्पद्यन्ते । तत्र मध्यकोष्ठे वलययुगलं कार्यमित्याहुः । ते पूर्वन्तदन्तमित्यस्य व्याख्यानं प्रष्टव्याः ॥ ११६ ॥ ११५ ॥

लिखितं भूर्जपत्रादौ यन्त्रमेतद्यथाविधि ।
विधृतं बाहुना नित्यं सर्वकामफलप्रदम् ॥ ११६ ॥
पलाशवृन्तफलके लिखितं साधुसाधितम् ।
गोस्थाने निखनेदेतद्गवां वृद्धिर्भवेत्सदा ॥ ११७ ॥
श्लोकं चतुः षष्टिपदेषु भूर्जे शिवादि दैत्यादि लिखेत्क्रमेण ।
तत्सर्वतोभद्रमिति प्रसिद्धं यन्त्रं यशःश्रीविजयप्रदायि ॥११८॥
फलके खादिरे क्लृप्तं गवां गोष्ठे निवेशितम् ।
रक्षाकृच्चौरमारिघ्नं सवत्सानां गवां हितम् ॥ ११९ ॥
स्त्रीरगोपपगोरस्त्रीरसमादत्तमद्गर ।
गोमानोगगनोमागोपस्तगदस्तगत्तप ॥ १२० ॥
ब्रह्मा भूम्या समासीनः शान्तिबिन्दुसमन्वितः ।
बीजं मनोभुवः प्रोक्तं जगत्त्रितयमोहनम् ॥ १२१ ॥
ऋषिस्सम्मोहनः प्रोक्तो गायत्रं छन्द ईरितम् ।
सर्वसंमोहनः साक्षाद्देवता मकरध्वजः ॥
बीजेन दीर्घयुक्तेन षडङ्गविधिरीरितः ॥ १२२ ॥

भूर्जपत्रादा वित्यादिशब्देन ताम्ररजतकाञ्चनग्रहणम् । तत्तद्द्रव्यविशेषेण कालविशेषोऽपि पूर्वोक्तोऽनुसन्धेयः । *यथाविधीति* । (विधृतमिति) विधिर्दर्शितः । एवं लिखनप्रस्तावे ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*श्लोकमिति* । श्लोकं वक्ष्यमाणम् । *चतुः षष्टीति* । सर्वतः समुल्लेष्विति ज्ञेयम् । *तदुक्तमपेक्षितार्थद्योतनिकायाम्—*"चतुः षष्टिपत्रोपेतं शूलमालाविभूषितम्" इति । *शिवादि*—ईशानादि । *दैत्यादि* नैर्ऋत्यादि । कोष्ठोत्पादनसाध्यादि लेखनप्रकारोद्यमे तदुक्तोऽनुसन्धेयः । एतावपि द्वौ सिद्धमन्त्रौ । आभ्यां क्रमेणार्तत्राणगोरक्षां कुर्वीत ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

एकाक्षरं काममन्त्रमाह—*ब्रह्मेति* । ब्रह्मा कः । भूमिर्लः । एतत्रासीनः । शान्तिरी । बिन्दुस्तेन क्लीं । ककारो बीजम् ईकारः शक्तिः । तदुक्तं *दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्*—"कतुर्यं बीजशक्तिके" इति । *जगत्त्रितयमोहन* मित्यनेन हकारसकारादित्वं सूचितम् । केवलहकारादित्वं महावश्यदम् । केवलसकारादित्वं दीर्घायुष्यदमिति ॥ तदुक्तं—"हंसारूढो मदनकारादित्वं त्रैलोक्यक्षोभको भवेदाशु । द्युतोरञ्जनकृत्स्याज्जीवेन युतस्तथायुषे शस्त" इति ॥ १२१ ॥

सर्वसंमोहनःकृष्ण एतयोः स्याद्देवतेत्युक्तेः । साक्षादित्यनेन केवलः कृष्णोऽपि । तत्र संमोहनकृष्णदेवतापक्षे अष्टभुजध्यानम् । यदाहुः—"विश्वप्राणस्योद्यत्प्रद्योतनसद्युतेः सुपर्णस्य । आसीनमुन्नतांसे वैद्रुमभङ्गाङ्गजोन्मथितम् ॥ चक्रदराङ्कुशपाशान्सुमनोबाणेक्षुचापमुशलगदाः दधतं स्वदोर्भिररुणायतविपुलविघूर्णिताक्षियुगनलिनम् ॥ स्वात्माभेदतयेत्थं ध्यात्वैकाक्षरमया प्रवर्णैवा । प्रजपेद्दिनकरलक्षं त्रिमधुरसिक्तैश्च किंशुकप्रसवैः ॥ जुहुयात्तरणिसहस्रं विमलैः सलिलैश्च तर्प्पयेत्तावदि"ति । एवमष्टभुजो वा ध्येयः । तदुक्तं *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे*—"नित्यमष्टभुजं ध्यायेदरुणं पुरुषोत्तमम् । रमयालिङ्गितं वामे त्रैलोक्यत्रितयमोहनम् ॥ चक्रं खड्गं च मुसलं दधे विभ्राणमङ्कुशम् । वामे पाशं तथा शङ्खं सशरं चापमेव च ॥ कौमोदकीं च बिभ्राणं सर्वभूषणभूषितम् । दशलक्षजपादेव सिद्धमन्त्रः प्रजायते" ॥ इति । अस्य मन्त्रद्वयस्य पूजाविधिं सर्वं पुरुषोत्तममन्त्रवदेव । यदाहुः—"प्राग्वत् पुरुषोत्तमविधिरेवमतोऽन्यत्ततोऽनन्त-

जपा(वा)रुणं रत्नविभूषणाढ्यं मीनध्वजं चारुकृताङ्गरागम् ।
कराम्बुजैरङ्कुशमिक्षुचापं पुष्पास्त्रपाशौ दधतं भजामि ॥ २३ ॥
लक्षत्रयं जपेन्मन्त्रं मधुरत्रयसंयुतैः ।
पुष्पैः किंशुकजैः फुल्लैर्जुहुयात्तद्दशांशतः ॥ १२४ ॥
वक्ष्यमाणे यजेत्पीठे विधिना मकरध्वजम् ।
मोहिनी क्षोभिणी त्रासीस्तम्भिन्याकर्षिणी पुनः ॥ १२५ ॥
द्राविण्युन्मादिनीक्लिन्नाङ्क्लेदिन्यः पीठशक्तयः ।
बीजाद्यमासनं दत्त्वा मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ १२६ ॥
अस्यां सम्यग्यजेद्देवं वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
इष्ट्वाङ्गावरणं पूर्वं मध्ये दिक्षु यजेच्छरान् ॥ १२७ ॥

ध्यमि"ति । केवलकृष्णदेवतापक्षे तु अष्टादशाक्षरोक्तमार्गेण ध्यानपूजादिकं सर्वमस्य विज्ञेयम् । विशेषान्तरं च—"एतदेवरमाबीजपुटितं चाखिलार्थदम् । लक्ष्मीनारायणौ हेममण्डपे चिन्तयेच्छुभौ ॥ तदेव मायापुटितं विद्यावश्यं प्रयच्छति । स्वभावाद्वश्यदं त्वेतद् धदनदं भोगदं तथा ॥ यद्यस्मात्कामयेद्विद्यां द्विजेन्द्रो मन्त्रतत्त्ववित् । भारत्या सहितं विष्णुं तत्र ध्यायेच्छशिप्रभम् । गद्यपद्यैस्तथा शास्त्रैः पूरयन्ती जगत्त्रयम् । ध्यातव्या तु तदा दक्षे विष्णोर्वाणी सुभूषणे"ति । "तारेण वेष्टितं कामं प्रजपेद्धर्ममोक्षयोः । सिद्धये श्रीहरिं ध्यायेच्छ्वेतं मुनिगणावृतमि"ति । अन्यत्र तु—"कमलासनस्थोनकुली वामनेत्रार्द्धं चन्द्रवानि"ति । अनेन कामबीजानन्तरम्भुवनेशीबीजमित्युक्तम् । ध्यानं च—"नाभिमध्यसमुद्भूतां भ्रूमध्येच विनिर्गताम् । प्रणवाम्बुजमध्यस्थां मुक्तालङ्कारभूषिताम् ॥ लेखनीं पुस्तकं हस्ते धारयन्तीं समभ्यसेदि"ति । तत्रैव विशेषः । "लिपिभिन्नो मनुर्जप्तो लोकक्षोभकरो भवेदि"ति । *अन्यत्रापि* "वरपाशाङ्कुशधरा मद्यपूर्णकपालभृत् । नित्यं भृत्वा जपेत्कामबीजमिष्टार्थसिद्धये ॥ *अन्यत्रापि*—"सकृज्जप्तेन बीजेन ब्रह्महत्यां व्यपोहति । द्विर्जप्तेन तथा ब्रह्मचतुर्भिरितरैरपि ॥ सर्वयज्ञफलं चापि त्रिर्जप्तेन तु लभ्यते । चतुर्जप्तेन तृप्यन्ते सर्वदेवगणास्तथा ॥ पञ्चजप्तेन देवेन्द्रं षड्जप्तेन तथा पितॄन् । सप्तजप्तेन योगीन्द्रान् सर्वान्प्रीणाति साधकः ॥ अष्टजप्तेन प्रीणाति स्वयमेन पितामहः । नवजप्तेन वैविष्णुर्दशजप्तेन शङ्करः ॥ कारणं यत्प्रधानाख्यं प्रकृतिःसगुणात्मकम् । प्रीणाति साधकेन्द्रस्तु नाम्नैकादशभिर्मुने । तथा द्वादशजप्तेन सवगं पुरुष द्विज ! । मोक्षं च साधकेन्द्राणां नित्यं जप्तं प्रयच्छति ॥ विधानेन गृहीतं स्यान्मोक्षदं भवतो मुने !। अन्यथा भोगदं वत्स ! स्त्रीणामाकर्षणे मुने ! ॥ यथा यथा हि जपति व्याप्तिं गत्वा तु साधकः । तथा तथा हि सिध्यन्ति सिद्धविद्याधरस्त्रिय" इति ॥ १२२ ॥

दीर्घयुक्तेन—षड्दीर्घयुक्तेन । एतदनन्तरं भालास्यकण्ठहृन्मूलाधारेषु पञ्चबाणान्विन्यसेत् । अग्रे पूजायामावृत्तित्वेनोक्तेः । *तदुक्तमाचार्यैः*—"न्यस्तशरबीजदेह" इति । आयुधध्यानं वामोर्ध्वाद्दक्षोर्ध्वं यावत् । अत्र ध्यानानन्तरमेते मुद्रे दर्शनीये—"हस्तौ तु सम्पुटौ कृत्वा प्रसृताङ्गुलिकौ तथा । तर्जन्यौ मध्यमापृष्ठे अङ्गुष्ठौ मध्यमान्वितौ ॥ काममुद्रेयमाख्याता सर्वसत्त्वप्रियङ्करी । मूर्द्धन्यङ्गुष्ठमुष्टी द्वे मुद्रा त्रैलोक्यमोहनी"ति ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

वक्ष्यमाणे पीठे । विधिना—वक्ष्यमानेन । *यजेदिति* । मण्डूकादिपरत्वान्तं सम्पूज्य वक्ष्यमाणाः पीठशक्तीः पूजयेदित्यर्थः ॥ १२५ ॥ ३ ॥

बीजाद्यमिति । "क्लीं कामयोगपीठाय नमः" इति-आसनं पूजयेदित्यर्थः ॥ १२६ ॥ ३ ॥

वक्ष्यमाणेनेत्युक्तं वर्त्माह—*इष्ट्वेति* "कर्णिकायाकायामि"ति शेषः । तदुक्तं—"इष्ट्वा-

द्राङाद्यं शोषणं पूर्वं द्रीङाद्यं मोहनं ततः ।
र 'दीपनाख्यं क्लीमाद्यं व्लूमाद्यं तापनं ततः ॥ १२८ ॥
सर्गान्तभृगुणा भूयो मादनं पञ्चमन्ततः ।
प्रणामबाणहस्ताब्जा ध्येयास्ता बाणदेवताः ॥ १२९ ॥
सम्पूज्यास्तत्र मध्येषु शक्तयोऽष्टौ यथाक्रमम् ।
अनङ्गरूपान्याऽनङ्गमदनानङ्गमन्मथा ॥ १३० ॥
अनङ्गकुसुमा पश्चादनङ्गमदनातुरा ।
अनङ्गशिशिरानङ्गमेखलानङ्गदीपिका ॥ १३१ ॥
लीलाकमलधारिण्यः स्मेरवक्त्राः सुशोभिताः ॥ १३२ ॥
बहिःषोडशपत्रेषु पूज्याः षोडश शक्तयः ।
युवतिर्विप्रलम्भान्या ज्योत्स्ना सुभ्रूर्मदद्रवा ॥ १३३ ॥
सुरता वारुणी लोला कान्तिः सौदामिनी पुनः ।
कामच्छत्रा चन्द्ररेखा शुकी स्यान्मदना पुनः ॥ १३४ ॥
ज्योतिर्मायावती ताः स्युः कह्लारविलसत्कराः ।
स्मेरवक्त्रा युवतयो मदविभ्रममन्थराः ॥ १३५ ॥
दलाग्रेषु पुनः पूज्याः स्मरस्य परिचारिकाः ।
शोकमोहौ विलासोऽन्यो विभ्रमो मदनातुरः ॥ १३६ ॥
अपत्रपोयुवा कामी धृतपुष्पोरतिप्रियः ।
ग्रीष्मस्तपान्त ऊर्ज्जोऽन्यो हेमन्तः शिशिरो मतः ॥ १३७ ॥
इक्षुकार्मुकपुष्पेषुधरा रक्ताः सुभूषिताः ।
अपराङ्गनिषङ्गाद्या वनितासक्तमानसाः ॥ १३८ ॥
रतिप्रियानष्टदिक्षु यजेदष्टौ विशिष्टधीः ।
परभृत्सारसौ पश्चाच्छुकमेघाह्वयौ पुनः ॥ १३९ ॥
अपाङ्गभ्रूविलासौ द्वौ हावभावौ प्रकीर्तितौ ।
चतुरस्रस्य कोणेषु पूज्यास्तत्परिचारकाः ॥ १४० ॥
माधवी मालती पश्चाद्धरिणाक्षी मदोत्कटा ।
सितचामरधारिण्यः सर्वाभरणभूषिताः ॥ ४१ ॥

कर्णिकायामङ्गानी"ति ॥ *मध्य इति* ॥ "पञ्चमं दिक्षु शरान्मध्ये च पञ्चमं पुनरि"त्युक्तेः १२७॥
*द्राङि*त्यादौ अनुस्वारे आचार्याणां(१) ङकार इति ज्ञेयम् ॥ १२८ ॥
सर्गान्तभृगुणेति । सः । *प्रणामेति* । एकहस्ते प्रणामः । अपरहस्ते बाणः ॥१२९॥
*यथाक्रम*मित्यनेन कामबीजादित्वम् ॥ १३० ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ ई ॥
युवत्यादीनां सर्वासां मायाबीजादित्वं ज्ञेयम् । यदाहुः—"हृल्लेखया स्वनाम्ना च शक्त्यादीनां समर्चनमि"ति ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥ १३६ ॥ १३७ ॥ १३८ ॥
विशिष्टधीरिति अनेन सर्वत्र सम्बध्यमानेनेदमेव सूचितं युवतयस्तस्य

---

(१) तथैवोच्चारणबोधनाय ।

बाह्ये लोकेश्वरान्पश्चात्तदस्त्राण्यर्चयेत् क्रमात् ॥ १४२ ॥
इत्थं यो भजते देवं सुगन्धिकुसुमादिभिः ॥
स भवेल्लब्धसौभाग्यो लक्ष्म्या जितधनेश्वरः ॥ १४३ ॥
अशोकपुष्पैर्दध्यक्तैर्जुहुयादिवसत्रयम् ।
अष्टोत्तरसहस्रं यो स भवेज्जगतां प्रियः ॥ १४४ ॥
गव्येनाज्येन जुहुयान्मन्त्रेणाष्टोत्तरं शतम् ।
साधकेन्द्रः ससंपातमर्चिते हव्यवाहने ॥ ४५ ॥
सम्पाताज्येन वनिता भोजयेदात्मनः पतिम् ।
अनया यद्यदादिष्टं तत्तत्स कुरुते सदा ॥ १४६ ॥
कन्यार्थी जुहुयाल्लाजैर्दध्यक्तैर्मण्डलान्तरे ।
कन्यामिष्टामवाप्नोति सापि सत्पतिमाप्नुयात् ॥ १४७ ॥
कामोल्लासितसाध्यमङ्गविलसत्षट्कोणमेतद्बहि-
र्गायत्रीगुणवर्णबद्धसुदलं मालामनोरक्षरैः ॥
षट्संख्यैः सहिताष्टपत्रसहितं क्षोणीपुरेणावृतम् ।
कोणन्यस्तमनोभवेन कथितं यन्त्रं जगन्मोहनम् ॥ १४८ ॥
कामदेवाय शब्दान्ते विद्महे ङेऽन्तमीरयेत् ।
पुष्पबाणं धीमहिस्यात्तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात् ॥ १४९ ॥
नमोऽन्तकामदेवाय वदेत् सर्वजनं ततः ।
प्रियाय सर्वचर्णान्ते जनसंमोहनाय च ॥ १५० ॥
ज्वलद्वयंप्रज्वलाण्विदेत् सर्वजनस्य च ।

इत्यर्थः ॥ १३९ ॥ १४० ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

अर्चिते-हव्यवाहने जुहुयादिति सम्बन्धः ॥ *ससम्पातमिति* । पाशान्तरे सम्पातं कुर्वन् *साधकेन्द्र*। इत्यनेन सम्पातस्याष्टोत्तरशतवारं जपउक्तः ॥ १४५ ॥

सम्पाताज्यस्य विनियोगमाह—*सम्पातेति। मण्डलान्तरे कन्यामाप्नोतीति सम्बन्धः। तेन एकोनपञ्चाशद्दिनं होम उक्तः ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

यन्त्रमाह—*कामेति* । षट्कोणमध्ये कामबीजान्तः साध्यसाधककर्मनामलिखनीयम् । कामषडङ्गान्याग्नेयादिषट्कोणेषु लिखेत् । तदुक्तं—"षडङ्गान्यग्निकोणादिकोणेष्वेव क्रमाल्लिखेदि"ति । तद्बहि—रष्टदलमध्ये । वक्ष्यमाणगायत्र्यर्णांस्त्रिशोलिखित्वा मालामनो-र्वक्ष्यमाणस्य षट्षडक्षराणि दलाग्रेषु लिखेत् । मूले वसुदलाष्टपत्रशब्दौ । तत्रैकस्य दलमध्य-मन्यत्र दलाग्रमिति ज्ञेयम् ॥ कोणन्यस्तमनोभवेन क्षोणीपुरेणावृतमिति सम्बन्धः । तदुक्त-*माचार्यैः*—"आलिख्यास्य कर्णिकायामनलपुरयुगे मारबीजं ससाध्यं तद्वन्द्वेन्द्रषट्के बहि-रपि गुणशोभारगायत्रिवर्णान् । मालामन्त्रं दलाग्रेष्वपि गुणगुणशः पार्थिवास्त्रिष्वनङ्ग-मि"ति ॥ १४८ ॥

कामगायत्रीमुद्धरति—*कामदेवायेति* । ङेऽन्तं-पुष्पबाणं-पुष्पबाणाय ॥ १४९ ॥

मालामन्त्रमाह—*नमोऽन्त* इति । *सर्व वर्णान्त इति* । सर्व इति पञ्चवर्णात्मक-स्तदन्ते ॥ १५० ॥ ॥

हृदयं अम शब्दान्ते वशंकुरुयुगं शिरः ॥ १९१ ॥
मालामनुरयं साष्टचत्वारिंशद्भिरक्षरैः ॥ १९२ ॥
साध्याख्यापुटितः स्वरैः परिवृतं कामं लिखेन्मध्यतः ।
पश्चात्तारविकारपक्षकपरान्नासार्घिझिण्टीशघान् ।
शुक्लादष्टदलेषु साधुविलिखेत्ताम्बूलपत्रोदरे ।
यं ' यां निशि खादयेत्कृतजपं वश्या भवेत्तस्य सा ॥ १९३ ॥
कथितं पुष्पबाणस्य साङ्गोपाङ्गसमर्चनम् ।

हृदयमिति—स्वरूपम् । *शिरः*—स्वाहा । अयं स्वतन्त्रोमन्त्रः । अस्यर्ष्यादिकं यथा—"नारदोजगतीकामो मुन्याद्याः परिकीर्त्तिताः । सप्तसप्तनवत्रुनिद् ताष्टार्णैः षडङ्गकम् ॥ यद्वाम्रतोऽङ्गवत्रैव परोक्तकरकेतनः । सकूलपजन्मान्यश्चाक्षतरुपेक्षुधनुर्द्धरौ ॥ पुष्पबाणश्च कामाद्यैर्ङेस्वाहान्तैः षडङ्गकम् । बाणानुभालास्यगलहृदाधारेषु प्रविन्यसेत् ॥ शेषमन्यत्तुपूजादिकामबीजवदीरितम् । जपादौ मारबीजाद्योजगत्त्रयवशीकरः ॥ विलिप्य गन्धपङ्केन लिखेदष्टदलाम्बुजम् । कर्णिकायां लिखेद्वह्निपुटितं मण्डलद्वयम् ॥ तस्य मध्ये लिखेत्कामं साध्याख्यया कर्मसंयुतम् । साध्याख्यापुटितैः कामैस्तंकामं वेष्टयेद्बुधः ॥ श्रियं च पत्रेषु कोणेषु ऐन्द्रनिर्ऋतिवायुषु । आलिखेच्च तथा मायां वह्निवारुणतूलिषु ॥ अक्षरैः कामगायत्र्या वेष्टयेत्केसरे सुधीः । मारमालामनोवर्णैर्दलेष्वष्टसुमन्त्रवित् ॥ लिखेद्गुहाननसंख्यैर्मातृकां तु विलेखयेत् । भूबिम्बं च लिखेद्बाह्ये श्रीमाये दिग्विदिक्ष्वपि ॥ यन्त्रमेवं समालिख्य जातरूपमये पटे । राजते ताम्रपट्टे वा भूर्जे क्षौममयेऽपि वा ॥ सूक्ष्मतन्तुमये वापि प्रतिष्ठाप्य समीरणम् । हुत्वा सहस्रमाज्येन यन्त्रं सम्पातपूर्वकम् ॥ अर्चयित्वाऽयुतं जप्त्वा धारयेत्तदनुत्तमम् । त्रैलोक्यैश्वर्यमाप्नोति देवैरपि सुपूजितम् ॥ आकर्षणं सुरस्त्रीणां नागलोकनिवासिनाम् । पिशाचयक्षरक्षांसि गन्धर्वाप्सरकिन्नराः। दुष्टसत्त्वाश्चये सत्त्वाः प्रसर्पन्त्येव दूरतः ॥ यन्त्रराजमिमं दृष्ट्वा विद्रवन्त्यतिमोहिताः । बहुना किमिहोक्तेन सर्वलोकसुखावहम् ॥ स्त्रीणामाकर्षकं सद्यो राज्ञो वश्यकरं भुवि । योगसिद्धिकरं पुंसां भवसागरतारकम् ॥ भुक्तिमुक्तिप्रदं पुंसामिति प्रोक्तं स्वयंभुवे"ति ॥ १९० ॥ १९१ ॥ १९२ ॥

यन्त्रान्तरमाह—*साध्येति* । मध्यतः—अष्टदलकर्णिकायां साध्यसाधककर्मनामपुटितैः कामबीजैः परिवृतं कामं साधसाध्यककर्मसहितं लिखेत् । अष्टसु दलेषु लिखनीयमाह—तारइति । तारेण त्रित्वसंख्या तेन इकारः । अन्ये प्रणवमाहुस्तदसत् । पद्मपादाचार्यादि बहुग्रन्थविरोधात् । विकारोऽन्त्यस्वरः । (१)पक्षो द्वितीयःस्वर इति केचन । साम्प्रदायिकास्तु पञ्चदशं स्वरमाहुः । पद्मपादाचार्यस्य सम्मतेः । कोवायुस्तेन यः । स परो यस्य तेन सकारः । तदुक्तं *गौतमेन मन्त्रव्याकरणे*—"ब्रह्मणो वाचकः कः स्यात् कशब्दो वायुवाचक" इति अन्ये (२)कपरः खइत्याहुस्तदसत् । पद्मपादाचार्यग्रन्थविरोधात् । नासाशब्देन तदुच्चारणी-

(१) "षोडशकस्तु विकार" इति सांख्योक्तेः ।

(२) गूढार्थदीपिकाकाराः—तथा च तद्व्याख्यानम्—अष्टपत्रं पद्मं ताम्बूलपत्रोदरे लिखित्वा तत्रकर्णिकायां कामबीजम् । तत्साध्यनामाक्षरपुटितङ्कामबीजैर्वेष्टयेत् । पश्चादष्टपत्रेषु प्रत्येकं वक्ष्यमाणानि तारादीनि लिखेत् । कथं ? तार ॐकारः । विकारः षोडषस्वरः । पक्षः द्वितीयः स्वरः । आ । कपरः खकारः । नासा ऋकारः । अर्घीशऊकारः । झिण्टीशः एकारः । घकारः । अष्टदलामेषुमूलं लिखेत् । एतद्यन्त्रमुक्तफलदमिति । एतन्मतेतु तारइकारः ।

सौभाग्यकान्तिविभवदारपुत्रसमृद्धिदम् ॥ १५४ ॥
आदाय वेदाः सकलाः समुद्रान्निहत्य शङ्खासुरमत्युदग्रम् ।
दत्ताः पुरा येन पितामहाय विष्णुं तमाद्यं भज मत्स्यरूपम् ॥ १५५ ॥
दिव्यामृतार्थं मथिते महाब्धौ देवासुरैर्वासुकिमन्दाराख्याम् ।
भूमेर्महावेगविघूर्णितायास्तं कूर्ममाधारगतं स्मरामि ॥ १५६ ॥
समुद्रकाञ्ची सरिदुत्तरीया वसुन्धरा मेरुकिरीटभारा ।
दंष्ट्राग्रतो येन समुद्धृता भूस्तमादिकोलं शरणं प्रपद्ये ॥ १५७ ॥
भक्तार्तिभङ्गक्षमया धिया यस्तस्मान्तरालादुदितो नृसिंहः ।
रिपुं सुराणां निशितैर्नखाग्रैर्विदारयन्तं नच विस्मरामि ॥ १५८ ॥
चतुः समुद्रावरणा धरित्री न्यासाय नालं चरणस्य यस्य ।
एकस्य नान्यस्य पदं सुराणां त्रिविक्रमं सर्वगतं स्मरामि ॥१५९॥
त्रिः सप्तवारं नृपतीन्निहत्य यस्तर्पणं रक्तमयं पितृभ्यः ।
चकार दोर्दण्डबलेन सम्यक् तमादिशूरं प्रणमामि भक्त्या ॥१६०॥
कुले रघूणां समवाप्य जन्म विधाय सेतुं जलधेर्जलान्तः ।
लङ्केश्वरं यः शमयाञ्चकार सीतापतिं तं प्रणमामिभक्त्या ॥१६१॥
हलेन सर्वानसुरान्विकृष्य चकार चूर्णं मुसलप्रहारैः ।
यः कृष्णमासाद्य बलं बलीयान् भक्त्या भजे तं बलभद्ररामम्॥१६२॥

योऽनुनासिकस्तनूमध्येऽपि प्रथमातिक्रमे कारणाभावान् ङकारः । केचन नासा सकार इत्यूचुस्तदसत् तद्ग्रन्थविरोधादेव । अर्घिरर्घीशः ऊ । झिण्टीश ए । घ इति स्वरूपम् । क्वचिज्झिण्टीरकानिति पाठः स प्रामादिकः । तदुक्तमाचार्यैः—"तार(१)स्त्विक् पक्षजाष्टादशसमङ्गतुगण्डान्तगान्त" इति ॥ *शूलाढ्येति* । दलाग्रेषु शूलानि कुर्यात ॥ १५३ ॥ १५४ ॥

एवं सप्रपञ्चम् विष्णुमन्त्रान्निरूप्य शिष्यचेतसि दृढभक्तेरुत्पादनाय दशावतारक्रमेण विष्णुं स्तौति—*आदायेत्यादिना* । येन शङ्खासुरं निहत्य समुद्रादादाय तेनेत्यर्थात्पितामहाय ब्रह्मणे सकला वेदा दत्ता इत्यन्वयः । वेदानिति पाठे ते इत्यर्थः ॥ १५५ ॥

भूमेराधारगतमिति सम्बन्धः । येनैवं भूता भूर्दंष्ट्राग्रतोदंष्ट्राग्रेण उद्धृतेति सम्बन्धः ॥ १५६ ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

अन्यस्य—द्वितीयस्य चरणस्य न्यासाय सुराणां पदं (स्थानं) नालमिति सम्बन्धः ॥ १५९ ॥ १६० ॥ १६१ ॥

चूर्ण—चूर्णीभूतान् चकारेत्यर्थः । यः कृष्णं बलं सहायमासाद्य ॥ १६२ ॥

विकारः षोडशः स्वरः अः । पक्षः पञ्चदशः स्वरः । अं । यपरोमकारः । नासा ङकारः । अर्घीशः उः । झिण्टीशः ए । घ स्वरूपम् । तथा च–इ–अः अं म ण उ ए घ इति वर्णा भवन्ति ॥

(१) तारः इ ऋत्विजःषोडशभवन्तीति तत्संख्यकः स्वरः अः । पक्षःपञ्चदशादिनात्मक इति तत्संख्यकः स्वरः अं, जकारादष्टादशोमः । तस्स मोङः । नासिकास्थानसाम्यात् । ऋतवः षडिति तत्संख्यक गण्डान्त एकारः । गान्तो घः ॥

पुरा पुराणानसुरान्विजेतुं सम्भावयन् धीवरचिह्नवेषम् ।
चकार यः शास्त्रममोघकल्पं तं मूलभूतं प्रणतोऽस्मि बुद्धम् ॥१६३॥
कल्पावसाने निखिलैः खुरैः स्वैः सङ्क्षयामास निमेषमात्रात् ।
यस्तेजसा निर्दहतातिभीमो विश्वात्मकं तं तुरगं भजामः ॥ १६४ ॥
शङ्खं सुचक्रं सुगदां सरोजं दोर्भिर्दधानं गरुडाधिरूढम् ।
श्रीवत्सचिह्नं जगदादिमूलं तमालनीलं हृदि विष्णुमीडे ॥ १६५ ॥
क्षीराम्बुधौ शेषविशेषतल्पे शयानमन्तः स्मितशोभिवक्त्रम् ।
उत्फुल्लनेत्राम्बुजमम्बुजाभमाद्यं श्रुतीनामसकृत्स्मरामि ॥ १६६ ॥
प्रीणयेदनया स्तुत्या जगन्नाथं जगन्मयम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामाप्तये पुरुषोत्तमम् ॥१६७॥

इति श्रीशारदातिलके सप्तदशः पटलः ॥ १७ ॥*॥

अथ वक्ष्ये महेशस्य मन्त्रान् सर्वसमृद्धिदान् ।
यैः पूर्वमृषयः प्राप्ताः शिवसायुज्यमञ्जसा ॥ १ ॥
हृदयं वपरं साक्षि लान्तानन्तान्वितो मरुत् ।
पञ्चाक्षरोमनुः प्रोक्तस्ताराद्योऽयं षडक्षरः ॥२ ॥
वामदेवो मुनिश्छन्दः पङ्क्तिरीशोऽस्य देवता ।
षड्भिर्वर्णैः षडङ्गानि कुर्यान्मन्त्रस्य देशिकः ॥ ३ ॥
मन्त्रवर्णादिकान्न्यस्येत्पञ्चमूर्त्तीर्यथाक्रमम् ।
तर्जनीमध्ययोरन्त्या नामिकाङ्गुष्ठकं पुनः ॥ ४ ॥
ताः स्युस्तत्पुरुषाघोरसद्यवामेशसंज्ञकाः ।

---

*धीवरचिह्नवेषं सम्भावयन् धारयन्नित्यन्वयः ॥ १६३ ॥ १६४ ॥ १६५ ॥
शेष एव विशेषः । असाधारणात् ॥
इति शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां सप्तदशः पटलः॥१७॥

क्रमप्राप्तान्शैवमन्त्रानाह--*अथेति* । सर्वसमृद्धिदान् । यैरित्यादिना च तत्तदधिकारिणं प्रतिविनियोग उक्तः ॥ १ ॥

मन्त्रमुद्धरति--*हृदयमिति* । हृदयं नमः पदम् । वपरं शः । साक्षि इकारयुक् । तेन शि । लान्तो वः । अनन्त आ । तदन्वितस्तेन वा । मरुद्यः । षडक्षर इत्यनेन वाग्भवादिरित्युक्तम् । आद्यं बीजम् । उमेति शक्तिः । केचित्प्रणवादनन्तरं प्रासादबीजप्रक्षेपात् सप्ताक्षरमिति वदन्ति । *तन्त्रान्तरे*--"आद्यन्ते सम्पुटीकृत्य हंसवागीश्वरं मनुम् । शिवमन्त्रं जपेद्धीमान् सद्यः प्रत्ययमेष्यति ॥ सम्पुटं शिवमन्त्रस्य जपेन्मासमतन्द्रितः । एकाकी यतचित्तात्माऽव्ययमर्थं स विन्दति ॥ अत्र वागीश्वरशब्देन वाग्भवं केवलं रेफरहितं चेति परमगुरवः ॥ २ ॥

षड्भिरिति षडङ्गमन्त्रोद्धारमात्रमुक्तम् । न्यासमग्रे वक्ष्यतीति न पुनरुक्तिः । *देशिको यथाक्रममिति* । प्रत्यक्षरमादौ प्रणव इत्युक्तम् । *अन्त्या*--कनिष्ठा ॥ ३ ॥ ४ ॥

ताः--मूर्त्तयः । *सद्यः*--सद्योजातः । *वामो* वामदेवः । ईशः--ईशानः । *ता* पुन-

वक्त्रहृत्पादगुह्येषु निजमूर्द्धनि ताः पुनः ॥ ५ ॥
प्राग्याम्यवारुणोदीच्यमध्यवक्त्रेषु पञ्चसु ।
मन्त्राङ्गानि न्यसेत्पश्चाज्जातियुक्तानि षट्क्रमात् ॥ ६ ॥
कुर्वीत गोलकन्यासं रक्षायै तदनन्तरम् ।
हृदि वक्त्रांसयोरूर्वोः कण्ठे नाभौ द्विपार्श्वके ॥ ७ ॥
पृष्ठे हृदि ततो मूर्द्धनि वदने नेत्रयोर्नसोः ।
दोःपत्सन्धिषु साग्रेषु विन्यसेत्तदनन्तरम् ॥ ८ ॥

मूर्द्धनीत्यन्तेषु स्थानेषु न्यसेदिति पश्चात्तनेन सम्बन्धः । चतुर्थी नमोन्ताश्च मूर्तय इति सम्प्रदायविदः ॥ मूर्द्धनीति—काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रत्र सम्बध्यते । ताःपुनर्निजमूर्द्धनि पञ्चसु वक्त्रेषु न्यसेदिति पश्चात्तनेन सम्बन्धः । *तदुक्तमाचार्यैः*—"वक्त्रहृत्पादगुह्याख्या मूर्द्धस्वपि च नामभिः । प्राग्याम्यवारुणोदीच्यवक्त्रेष्वपि च मूर्द्धनो"ति ॥ ५ ॥

मन्त्राङ्गानीति । तत्र प्रयोगः । ॐ हृत् नं शिरः इत्यादि । सम्प्रदायविदस्तु ॐ सर्वज्ञधाम्ने हृत । ॐ नं तृप्तिधाम्ने शिरः ॐ मः अनादिबोधधाम्ने शिखा । ॐ शिं अलुप्तशक्तिधाम्ने वर्म्म ॐ वां स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने नेत्रम् । ॐ यं अनन्तशक्तिधाम्ने अस्त्रम् । एवं षडङ्गमिच्छन्ति । *तदुक्तं वायवीयसंहितायां*—"तथैव तु षडङ्गानि पुनरस्योपपादयेत् । सर्वज्ञतां तथा तृप्तिं बोधमाद्यन्तवर्जितम् । अलुप्तशक्तिस्वातन्त्र्यमनन्तां शक्तिमेव चे"ति । क्वचित्तु—चर्मनेत्रयोर्व्यत्ययः । तदुक्तम् "सर्वज्ञतातृप्तिरनादिबोधःस्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः प्राहुःषडङ्गानि महेश्वरस्ये"ति । यथागुरुसम्प्रदायमृहनीयम् ॥ ६ ॥

तत्त्वावृत्तिमथ गोलकन्यासमाह—*कुर्वीतेति* । *तदनन्तरम्* तत्त्वन्यासानन्तरमित्यर्थः । *तत्त्वन्यासो यथा*—"वक्ष्यतेऽथो शैवतत्त्वन्यासः प्रासादतः परम् । पञ्चाक्षरी परायेति तत्त्वन्यासात्मने नमः ॥ आवृत्त्या शिवपञ्चाक्षर्यर्णयुक्तं पृथक्सह । द्वितीयादि हृदिवर्णमन्त्रैरावृत्तिकम् ॥ आद्यात्मनोऽन्तान् हृदये श्रोत्रादिश्च स्थले तथा । वागाद्यमथशब्दादि मूर्द्धास्योरौ गुह्ये पदे ॥ आकाशादीन्न्यसेदेषु वक्ष्यमाणं च पञ्चकम् । सदाशिवाआकाशाद्यधिपत्यन्तकाः सह ॥ शान्त्यतीताकलाद्यन्ता निवृत्त्याद्याः स्वबीजतः । न्यसेत्पदादि शीर्षान्तं मूर्द्धादि चरणान्तिके ॥ शान्त्यात्मैशानमूर्द्धानो ऽंयुताश्च सदाशिवः । सत्यात्मातत्पुरुषवक्त्रोऽसंयुत ईश्वरः ॥ माद्यात्मा घोरहृदयो ऽंयुताश्च महेशकाः । विद्यात्मायो वामदेवः गुह्यो विष्णुश्च ऽंयुतः ॥ बीजात्मा च सद्योजातपादो ब्रह्मा च ऽंयुतः । ईशानाद्यानूर्ध्ववक्त्राद्यान् सदाशिवपूर्वकान् । ऊर्ध्वादिपञ्चवक्त्रेषु ऽन्तानाक्षरपूर्वकान्"ति । *स्वबीजत(१)* इति । हूंहींहूँ हौं हौं । *ईशानाद्यान्* । ईशानतत्पुरुषाघोरवामसद्यान् । *ऊर्ध्ववक्त्राद्यान्* । ऊर्ध्वपूर्वदक्षोत्तरपश्चिमान् । प्रयोगस्तु । ॐ हौं नमः शिवाय पराय शिवात्मने नमः । ॐ हौं नमः शिवाय पराय शक्त्यात्मने नमः । ॐ हौं नमः शिवाय पराय सदाशिवात्मने नमः इत्यादि । प्रथमचरणेनैकावृत्तिः । कण्ठादि हृदन्तं द्वितीया । मूर्द्धादिनासिकान्तं तृतीया । सद्योऽर्द्धेनावृत्तिचतुष्टयम् । अत्रत्र सर्वत्रदोः पत्सन्धयश्चत्वार एव गृहीताः अनामाङ्गुलिमध्यस्थिधर्मपिण्डोर्ध्वापरसम्बन्धः । पञ्चसन्धिसाद्यमिति । एकैकस्मिन्नङ्गैकावृत्तिः । (साग्रमित्यत्राङ्गुलीनामग्रस्यसन्धिमोगात(?) अग्रत्वमपि ज्ञेयम्) अत्र सर्वत्रैव पञ्चाक्षरन्यासमाहुः । कम्मसे मूल-

---

(१) एतदादि तैपतत्त्वन्यासप्रमाणवचनानामंशतोऽन्वाहार्श्वं बोध्यम् ।

(२) एतद्कुण्डलितः पाठोऽन्यपुस्तकद्वये नास्ति सन्दिग्धश्च ।

शिरोवदनहृत्कुक्षि सोरुपादद्वये पुनः ।
हृदि वक्त्राम्बुजे दक्षस्तनगामसमवरेष्वथ ॥ ९ ॥
पक्षांसहृत्सु पादोरुजठरेषु क्रमान्न्यसेत् ।
मूलमन्त्रस्य षड्वर्णान्यथावद्देशिकोत्तमः ॥ १० ॥
मूर्ध्नि भालोदरांसेषु हृदये तान् पुनर्न्यसेत् ।
पश्चादनेन मन्त्रेण कुर्वीत व्यापकं सुधीः ॥ ११ ॥
नमोऽस्तु स्थाणुरूपा(भूता)य ज्योतिर्लिङ्गामृतात्मने ।
चतुर्मूर्तिवपुश्छायाभासिताङ्गाय शम्भवे ॥ १२ ॥
एवं न्यस्तशरीरोऽसौ चिन्तयेत्पार्वतीपतिम् ॥ १३ ॥
ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम् ।
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ॥
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम् ।
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥ १४ ॥
तत्त्वलक्षं जपेन्मन्त्रं दीक्षितः शैववर्त्मना ।
तावत्संख्यासहस्राणि जुहुयात्पायसैः शुभैः ॥ १५ ॥

मन्त्रस्य षड्वर्णानित्यनेन, अन्यत्रापि—"हृन्मुखांशोरुयुग्मेषु षड्वर्णान् क्रमशोन्यसे"दित्यनेन च, विरोधः स्यात् । तत्परिहाराय प्रत्यर्णमादौ प्रणवमाहुः । एवमपि अष्टमनवमदशमेषु पृथक्पदस्थाननिर्देशो वृथा स्यात् । अन्यत्रापि दशमावृत्तौ मुखांसहृदयेषु त्रीन्(?) पादोरुकुक्षिषु इति । अनेन विरोधात्तदसङ्गतम् । कश्चित्तु दोः सन्धिद्वयं तृतीयमप्रमेयं दोर्द्वन्द्व एका पद्द्वन्द्व एका इत्यष्टौ न्यासानेवाह । सभ्रान्त एव । यतः सर्वत्र गोलकन्यासे ग्रन्थान्तरे च दशावृत्तीनामेवोक्तत्वात् । सन्धिशब्दार्थस्य सङ्कोचकारणाभावाच्च । ततोऽर्द्धेनाष्टमी । पुनरर्द्धेन नवमी । तत्र टङ्कादिषु तत्तन्मुद्रया न्यासो विधेय इति साम्प्रदायिकाः ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

टङ्क—परशुः । *मुद्रालक्षणानि तु*—"करे करं तु करयोस्तिर्यक् संयोज्य चाङ्गुलीः । संहताः प्रसृताः कुर्यान्मुद्रेयं परशोर्मता ॥ मिलित्वानामिकाङ्गुष्ठमध्यमाग्राणि योजयेत् । शिष्टाङ्गुल्युच्छ्रिते कुर्यान्मृगमुद्रेयमीरिते"ति । "ऊर्ध्वीकृतो वामहस्तः प्रसृतोऽभयमुद्रिका । अधोमुखोदक्षहस्तः प्रसृतावरमुद्रिके"ति । अर्द्धेन दशमी । *यथावदिति* । देशिकोत्तमः तान् मूर्ध्न्यादिषु यथावत्पुनर्न्यसेदिति सम्बन्धः । यथावदित्यनेन प्रणवादिमन्त्रवर्णा इत्युक्तम् । देशिकोत्तम इत्यनेन तत्तदङ्गुल्येतिज्ञेयम् । इदं पूर्वन्यासयोरप्यूह्यम् ॥ ९ ॥

अंसेति । अंसहृद्वद् ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

ध्यायेदिति । पद्मासीनमिति—श्वेतपद्मं चिन्तनीयम् । आयुधध्यानं दक्षाधऊर्ध्वयोरायुधवस्तनयोरन्त्ये । अनेनैव क्रमेण स्वशरीरे पूर्वोक्तोन्यासः । अत्र ध्यानानन्तरं पञ्चलिङ्गमुद्रे दर्शनीये । आयुधमुद्राश्च । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"दर्शयित्वा ततः पञ्चलिङ्गमुद्रे सदयत" इति । तत्र पञ्चमुद्रालक्षणमुक्तं प्राक् । लिङ्गमुद्रालक्षणं तु—"उच्छ्रितं दक्षिणाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठेन बन्धयेत् । वामाङ्गुलीर्दक्षिणाभिरङ्गुलीभिर्विवेष्टयेत् । लिङ्गमुद्रेयमाख्याता शिवसान्निध्यकारिणी"ति । इयं सर्वशैवमन्त्रसाधारणीति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

शैववर्त्मना दीक्षितः कृतदीक्षः । सा च शैवतन्त्रात्कामिकादितो ज्ञेया । *तत्त्वलक्षं*—चतुर्विंशतिलक्षं जपेदित्यन्वयः । उक्तं च—"अष्टात्रिंशच्चतुर्दशाम्बादि"ति ॥ तावत्सङ्ख्यासहस्राणि—चतुर्विंशतिसहस्राणि । अत्र द्रव्यप्रोक्षणे मूलमन्त्रो हुं फडन्तो ज्ञेयः ।

ततः सिद्धो भवेन्मन्त्रः साधकाभीष्टसिद्धिदः ।
देवं संपूजयेत्पीठेवामादिनव शक्तिके ॥ १६ ॥
वामा ज्येष्ठा ततोरौद्री काली कलपदादिका ।
विकरिण्याह्वया प्रोक्ता बलाद्याविकरिण्यथ ॥ १७ ॥
बलप्रमथनी पश्चात्सर्वभूतदमन्यथ ।
मनोन्मनीति संप्रोक्ताः शैवपीठस्य शक्तयः ॥ १८ ॥
नमो भगवते पश्चात्सकलादिवदेत्पुनः ।
गुणात्मशक्तियुक्ताय ततोऽनन्ताय तत्परम् ॥ १९ ॥
योगपीठात्मने भूयो नमस्तारादिको मनुः ।
अमुना मनुना दद्यादासनं गिरिजापतेः ॥ २० ॥
मूर्त्तिं मूलेन संकल्प्य तत्रावाह्य यजेच्छिवम् ।
कर्णिकायां यजेन्मूर्त्ती रीशमीशानदिग्गतम् ॥ २१ ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं दिक्षु तत्पुरुषादिकाः ।
पीताञ्जनश्वेतरक्ताः प्रधानसदृशायुधाः ॥ २२ ॥
चतुर्वक्त्रसमायुक्ता यथावत्संप्रपूजयेत् ।
कोणेष्वर्च्याः निवृत्त्याद्यास्तेजोरूपाः कलाः क्रमात् ॥ २३ ॥
अङ्गानि केसरस्थानि विघ्नेशान्पत्रगान्यजेत् ।
अनन्तं सूक्ष्मनामानं शिवोत्तममनन्तरम् ॥ २४ ॥
एकनेत्रमेकरुद्रं त्रिमूर्त्तिं (नेत्रं) तदनन्तरम् ।
पश्चाच्छ्रीकण्ठनामानं शिखण्डिनमनन्तरम् ॥ २५ ॥
रक्तपीतसितारक्तकृष्णरक्ताञ्जनासितम् ।
किरीटार्पितबालेन्दून्पद्मस्थान् भूषणान्वितान् ॥ २६ ॥

तदुक्तं *नारायणीयप्रयोगसारयोः*—"वर्माद्यान्तेन मूलेन सम्प्रोक्ष्यैवं प्रकल्पितमि"ति १५।१६॥

देवमिति । वामादिनवशक्तिके पीठे देवं पूजयेदिति सम्बन्धः । तत्र मण्डूकादि परतत्त्वान्तं पीठं सम्पूज्य नवशक्तीः पूजयेदित्यर्थः ॥ १६ ॥

कलपदादिका इति । अग्रिमाया विशेषणम् । आसां ध्यानमुक्तं *प्रयोगसारनारायणीययोः*—"श्वेतरक्तसितापीताश्यामाऽरुणा सितासिता । शोणाश्चताः स्मरेच्छक्तीः पीठरूपा यथाक्रममि"ति ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

गिरिजापतेरिति अनेनैतदुक्तम् । आत्मयोगे आसनं सम्पूज्य स्वागतादि गन्धान्तं दत्त्वा "नमोस्तु स्थाणुभूताये"ति मन्त्रेण पञ्चपुष्पाञ्जलीर्दद्यादिति । तदुक्त—*माचार्यैः*—"कुर्यादनेन मन्त्रेण निजदेहे समाहितः । मन्त्री पुष्पाञ्जलिं सम्यक् त्रिशः पञ्चश एव वे"ति ॥२०॥ ॥

कर्णिकायां—दिक्षु तत्पुरुषादिका मूर्त्तीश्चतस्रो यथावत्सम्पूजयेदित्यन्वयः । यथावदित्यनेन प्रणवादिमन्त्रवर्णाद्या इत्युक्तम् । *ईशानदिग्गतं* शुद्धस्फटिकसङ्काशमीशं पञ्चमं यजेदित्यन्वयः ॥ २१ ॥ २२ ॥ ॥

कोणेषु—आग्नेयादिषु । द्वितीयोक्ता निवृत्त्याद्याश्चतस्रः । *तेजोरूपा* इति । ध्यानं प्रथमपटलोक्तापञ्चीकृतभूतबीजाद्या इति ज्ञेयम् । शान्त्यतीतामपि ईशे यजेदिति क्रमादि-

त्रिनेत्रान् शूलवज्राख्यचापहस्तान्मनोहरान् ।
उत्तरादि यजेत्पश्चादुमा चण्डेश्वरं पुनः ॥ २७ ॥
ततो नन्दिमहाकालौ गणेशवृषभौ पुनः ।
अथ भृङ्गिरिटिं स्कन्दमेतान्पद्मासनस्थितान् ॥ २८ ॥
स्वर्णतोयारुणश्याममुक्तेन्दुसितपाटलान् ।
इन्द्रादयस्ततः पूज्या वज्राद्यायुधसंयुताः ॥ २९ ॥
इत्थं संपूजयेद्देवं सहस्रं नित्यशो जपेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः प्राप्नुयाद्वाञ्छितां श्रियम् ॥ ३० ॥
द्विसहस्रं जपेद्रोगान्मुच्यते नात्र संशयः ।
त्रिसहस्रं जपेन्मन्त्रं दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ३१ ॥
सहस्रवृद्ध्या प्रजपन् सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।
आज्यान्वितैस्तिलैः शुद्धैर्जुहुयाल्लक्षमादरात् ॥ ३२ ॥
उत्पातजनितान् क्लेशान्नाशयेन्नात्र संशयः ।
शतलक्षं जपेत्साक्षाच्छिवोभवति मानवः ॥ ३३ ॥
षडक्षरः शक्तिरुद्धः कथितोऽष्टाक्षरो मनुः ।
ऋषिश्छन्दः पुराप्रोक्ते देवता स्यादुमापतिः ॥ ३४ ॥
अङ्गानि पूर्वमुक्तानि सोममीशं विचिन्तयेत् ॥ ३५ ॥
बन्धूकाभं त्रिनेत्रं शशिशकलधरं स्मेरवक्त्रं वहन्तम् ।
हस्तैः शूलं कपालं वरदमभयदं चारुहारं भजामि (नमामि) ॥

त्यनेनोक्तमित्यन्ये । विद्येशानेवाह-*अनन्तमिति । अस्त्रं-बाणः । पश्चादेतानुत्तरादि यजेदिति सम्बन्धः ॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥३१॥३२॥३ ॥

शतलक्षमिति । कोटिम् । *तन्त्रान्तरादिदं यन्त्रं लिख्यते*-"रेखाषट्कं न्यसेदूर्ध्वं तथा तिर्यक् प्रमाणकम् । अग्राग्रसंहताकारऋज्वग्रं च सरेखकम् ॥ वसुपत्रस्वराब्जं च मातृकारसमन्वितम् । चतुरस्रं द्विधा कृत्वा यन्त्रं पञ्चाक्षराख्यकम् ॥ पञ्चाक्षरीं न्यसेन्मध्ये द्वादशार्णमतःपरम् । विद्येश्वरांस्तथान्यस्य कलाशक्तीस्ततःपरम् ॥ बृहत्सौरं ततोन्यस्य चलाशक्तीस्ततःपरम् । गायत्रीमष्टमातॄश्च स्वरांश्चैव ततःपरम् ॥ मातृका लोकपालांश्च यन्त्रे पञ्चाक्षराख्यकमिग्गति । हृदयं ङेनभगवन्नादित्यश्चसङेरुह । आद्यं च किरणं सद्योतमानेङेच ठद्वयम् ॥ अयं महासौरः । कलाशक्तीरमृताद्याः । तत्पुरुषायेति गायत्री मातृका ककाराद्या सान्ता । *शैवागमोक्तं यन्त्रान्तरमुच्यते* "षट्कोणान्तस्साध्ययुक्तंप्रासादं मूलमांत्रषु । सन्धिष्वङ्गानि तद्बाह्ये पद्मं पञ्चदलं त्विह ॥ ईशानाद्याःपञ्चमूर्त्तीङेंहृदन्ता लिखेत्ततः । अष्टपत्रं मातृकाष्टवर्णयुक्तं लिखेद्बहिः ॥ सम्वेष्ट्यानुष्टुभा यन्त्रं जपहोमादि साधितम् । आरोग्यायुः सुखैश्वर्यचतुर्वर्गफलप्रदमिग्गति ॥ ३३ ॥

मन्त्रान्तरमाह—*षडिति* । रुद्धः-सम्पुटितः । प्रणवो बीजम् । माया शक्तिः । *पुराप्रोक्ते इति* । वामदेवऋषिः पङ्क्तिश्छन्दः ॥ ३४ ॥

अङ्गानीति । तत्र षड्दीर्घयुक्तशक्तिबीजाद्यैः षडर्णैः षडङ्गविधिरिति सम्प्रदायविदः । प्रयोगस्तु—ह्रां ॐ हृत् । ह्रीं नं शिरः । ह्रूं मः शिखा । ह्रैं शिं वर्म्म । ह्रौं वां नेत्रम् । ह्रः यं अस्त्रम् । *सोममि* त्युमया सहितम् । आयुधध्यानं दक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये तदधस्तनयोरन्त्ये ३५

वामोरुस्तम्भगायाः करतलविलसच्चारुरक्तोत्पलायाः ।
हस्तेनाश्लिष्टदेहं मणिमयविलसद्भूषणायाः प्रियायाः ॥ ३६ ॥
मनुलक्षं जपेन्मन्त्रं तत्सहस्रं यथाविधि ।
जुहुयान्मधुरासिक्तैरारग्वधसमिद्वरैः ॥ ३७ ॥
प्राक् प्रोक्ते पूजयेत्पीठे गन्धपुष्पैरुमापतिम् ।
अङ्गावृत्तेर्बहिः पूज्या हृल्लेखाद्या यथापुरा ॥
मध्यप्राग्दक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु विधानतः ।
हृल्लेखा गगना रक्ता चतुर्थी तु करालिका ॥ ३८ ॥
महोच्छुष्मा क्रमादेताः पञ्चभूतसमप्रभाः ।
पाशाङ्कुशवराभीतिधारिण्योऽमितभूषणाः ॥ ३९ ॥
यजेत्पूर्वादिपत्रेषु वृषभाद्याननुक्रमात् ।
हिमालयाभं वृषभं तीक्ष्णशृङ्गं त्रिलोचनम् ॥ ४० ॥
सर्वाभरणसंदीप्तं साक्षाच्छन्दस्वरूपिणम् ।
कपालशूलविलसत्करं कालघनप्रभम् ॥ ४२ ॥
क्षेत्रपालं त्रिनयनं दिगम्बरमथार्चयेत् ।
शूलटङ्काक्षवलयकमण्डलुलसत्करम् ॥ ४३ ॥
रक्ताकारं त्रिनयनं चण्डेशमथ पूजयेत् ।
चक्रशङ्खभयाभीष्टकरां मरकतप्रभाम् ॥ ४४ ॥
दुर्गां प्रपूजयेत्सौम्यां त्रिनेत्रां चारुभूषणाम् ।
कल्पशाखां रत्नघण्टां दधानं द्वादशेक्षणम् ॥ ४५ ॥
बालार्काभं शिशुं कान्तं षण्मुखं पूजयेत्ततः ।
नन्दिनं पूजयेत्सौम्यं रक्तभूषणमण्डितम् ॥ ४६ ॥
परश्वेणवराभीतिधारिणं श्यामविग्रहम् ।
पाशाङ्कुशवराभीष्टधारिणं कुङ्कुमप्रभम् ॥ ४७ ॥
विघ्ननायकमभ्यर्च्चेच्चन्द्रार्द्धकृतशेखरम् ।

करतलेति । वामे । तदुक्तं—"वामोरुपीठगतया निजवामहस्तन्यस्तारुणोत्पलयुजा परिरब्धदेहः" । इति । *हस्तेनेति* । दक्षिणेन ॥ ३६ ॥

मनुलक्षं चतुर्दशलक्षम् । *तत्सहस्रं*—चतुर्दशसहस्रम् । *यथाविधीति* तान्त्रिकाग्निमुखविधानेनेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

यथापुरेति । नवमपटलोक्तस्वस्वबीजाद्या इत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

विधानतः पूज्या इति सम्बन्धः । विधानमेवाह—*मध्येति* । मध्यं कर्णिकामध्यम् । *प्रश्चिमेषु*—दिग्भागेष्विति शेषः ॥ ३९ ॥

पञ्चभूतेति । पृथिव्यादि ॥ ४१ ॥

ध्यानपूर्वकमनुक्रममेवाह—*हिमालयेति* । प्रतिश्लोकमेकैकध्यानसमाप्तिः ॥ ४१ ॥
४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

श्यामं रक्तोत्पलकरं बामाङ्कन्यस्ततत्करम् ॥ ४८ ॥
त्रिनेत्रं रक्तवस्त्राढ्यं सेनापतिकमर्चयेत् ।
ततोऽमातरः पूज्या ब्राह्मयाद्याः प्रोक्तलक्षणाः ॥ ४९ ॥
इन्द्रादिकाँल्लोकपालान् स्वस्वदिक्षु समर्चयेत् ।
वज्रादीनि तदस्त्राणि तद्बहिः क्रमशोऽर्चयेत् ॥ ५० ॥
एवं योभजते मन्त्री देवेशं तमुमापतिम् ।
स भवेत्सर्वलोकानां प्रियः सौभाग्यसंपदाम् ॥ ५१ ॥
सान्तःसद्यान्तसंयुक्तो बिन्दुभूषितमस्तकः ।
प्रासादाख्यो मनुः प्रोक्तोभजतां सर्वसिद्धिदः ॥ ५२ ॥
षड्दीर्घयुक्तबीजेन षडङ्गविधिरीरितः ।
वामदेवो मुनिश्छन्दः पङ्क्तिर्देवः सदाशिवः ॥ ५३ ॥
ईशानादीर्न्यसेन्मूर्त्तीरङ्गुष्ठादिषु देशिकः ।
ईशोनाख्यं तत्पुरुषमघोरं तदनन्तरम् ॥ ५४ ॥
वामदेवाह्वयं सद्यमाख्यं बीजं क्रमाद्विदुः ।
ओकाराद्यैः पञ्चह्रस्वैर्विलोमात्संयुतं वियत् ॥ ५५ ॥
तत्तदङ्गुलिभिर्भूयस्तत्तद्बीजादिकान्न्यसेत् ।
शिरोवदनहृद्गुह्यपादशेपे(१) यथाक्रमम् ॥ ५६ ॥
ऊर्द्ध्वप्राग्दक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु मुखेषु ताः ।
ततः प्रविन्यसेद्विद्वानष्टत्रिंशत्कलास्तनौ ॥ ५७ ॥

एणो-मृगः । आयुधध्यानक्रमस्तु तत्तत्प्रकारेणानुसन्धेयः ॥ ४७ ॥ ४२ ॥

तत इति । पत्राग्रेषु । *प्रोक्तलक्षणाः* । यथोक्तस्वरूपाः ॥ ४९ ॥ ५७ ॥ ५१ ॥

प्रासादमन्त्रमाह—*सान्त इति* ॥ सान्तोहः । सद्यान्त औ । तेन हौं । अस्य नाम-व्युत्पत्ति *रुक्तावाद्यः*-"प्रसादनत्वान्मनसोयथावत्प्रासादसंज्ञास्यमनोः प्रदिष्टेति"ति । हस्रौं शा-सम्पुट इति केचित् । वकारोबीजम् । औमिति शक्तिः । तदुक्तं—"सान्तोनुग्रहसंयुक्तो बिन्दु-भूषितमस्तकः । प्रासादाख्यो मनुः प्रोक्तो बीजं हं शक्तिरौं स्मृते"ति । *सर्वसिद्धिद* इत्य-नेन विनियोगोक्तिः ॥ ५१ ॥

बीजेनेति । मूलमन्त्रेण वामदेव इत्यर्धं पठित्वा षड्दीर्घेत्यर्द्धं पठनीयम् । लेखकदो-षवशाद्व्यत्ययः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ½ ॥

ओकाराद्यैरिति । ए उ इ अ एतैः ॥ ५५ ॥

तत्तदिति । यस्यां यस्यां योयो न्यस्तस्तया तया । तेन समुष्ट्यङ्गुष्ठेन शिरसि । साङ्गुष्ठतर्ज्जन्या वदने । साङ्गुष्ठमध्यमया हृदि । साङ्गुष्ठानामया गुह्ये । साङ्गुष्ठकनिष्ठिकया पादयोः । एवं पञ्चस्वपि मुखेष्विति साम्प्रदायिकाः । *तयेति* । ऊर्ध्वमुखादीनां समु-च्चयः ॥ ५६ ॥ ½ ॥

ताइति । मूर्त्तीस्तत्तद्बीजादिका स्तत्तदङ्गुलीभिर्न्यसेदिति सम्बन्धः । अष्टत्रिंशत्कला-

---

(१) शेपे—लिङ्गे । "शिश्नोमेढ्रोमेहनशेपसी" इत्यमरेसान्तोऽपीहादन्त उपन्यस्तः । "येसान्तास्तेऽदन्ताः" इति दर्शनात् । अतएव "पिण्डन्याद्रुयाशिरे" इति साधु ॥

ईशानाद्या ऋचः सम्यगङ्गुलीषु यथाक्रमम् ।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं न्यसेद्देशिकसत्तमः ॥ ५८ ॥
मूर्द्धास्यहृदयाम्भोजगुह्यपादेषु ताःपुनः ।
वक्त्रेषूर्ध्वादिषु न्यस्येद्भूयोऽङ्गानि प्रकल्पयेत् ।
तारपञ्चकमुच्चार्य सर्व्वज्ञाय हृदीरितम् ।
अमृते तेजोमालिनि तृप्तायेति पदं पुनः ॥ ६० ॥
तदन्ते ब्रह्मशिरसे शिरोऽङ्गं ज्वलितं ततः ।
शिखि शिखाय परतोऽनादिबोधाय तच्छिखा ॥ ६१ ॥
वज्रिणे वज्रहस्ताय स्वतन्त्राय तनुच्छदम् ।
सौं वौं ह्रौमिति संभाष्य पुरतोऽलुप्तशक्तये ॥ ६२ ॥
नेत्रमुक्तं श्लींपशुहुं फडन्तेऽनन्तशक्तये ।
अस्त्रमुक्तं षडङ्गानि कुर्याद्देशिकसत्तमः ॥ ६३ ॥
पूर्वदक्षिणपाश्चात्यसोममध्येषु पञ्चसु ।
वक्त्रेषु पञ्च विन्यस्येदीशानस्य कलाः क्रमात् ॥ ६४ ॥

न्यासं वक्तुमारभते—*तत इति* । अयं न्यासो ग्रन्थकृता यद्यपि प्रासादमन्त्राङ्गत्वेनोक्तस्तथापीदं पञ्चब्रह्मविधानं स्वतन्त्रं सर्वशैवमन्त्रसाधारणंचेति ज्ञेयम् । आचार्यैः स्वतन्त्रतयैवोक्तम् । अङ्गानि प्रकल्पयेदिति वदता तेनापि सूचितमेव स्वातन्त्र्यम् । तानि षडङ्गानि पञ्चर्चानामेव नतुप्रासादमन्त्रस्य । तदुक्तं—"वक्ष्यामि शैवागमसारमष्टत्रिंशत्कलान्यासविधि यथावत् । स पञ्चभिर्ब्रह्मभिरीशपूर्वैः सर्व्वादिकैः साङ्गविशेषकैश्च"ति । अतस्तन्त्रान्तरोक्तमृच्यादि लिख्यते—"ईशोनुष्टुप्भुरिक्शेषास्तत्पुरुषसंज्ञे गायत्र्यापः पुनरन्यनुष्टुबापो वामर्क्षतिभगाहरइत्यनुष्टुप् अंगयुगि"ति ॥ ५७ ॥

न्यासक्रममेवाह—*ईशानाद्या इति* । ता ऋचोयथा । ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोधिपतिर्ब्रह्माशिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ॥ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि । तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥ अघोरेभ्योऽथघोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः । सर्वतः सर्वसर्वेभ्योनमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ वामदेवाय नमोज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमःकलविकरणाय नमोबलविकरणाय नमोबलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः॥ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः । भवे भवेनातिभवे भवस्वमां भवोद्भवाय नमः । *सम्यगिति* । अनेनैतदुक्तं भवति । एतास्तैत्तिरीयशाखायां नारायणीयोपनिषदि द्राविडपाठानुसाराज्ज्ञेयाः । "आन्ध्रास्त्वन्यथा पठन्तीति तत्पाठोनात्राभिप्रेत इति । देशिकसत्तम इत्यनेन अङ्गुष्ठाभ्यां नम इत्यादि योग उक्तः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

अङ्गानि प्रकल्पयेदित्युक्तं तान्येवाह *तारेति* । तारपञ्चकमिति द्वादशमूर्त्तिकल्पनायामुक्तम् ॥ ६० ॥

शिरोऽङ्गं शिर इत्यर्थः । ज्वलितमित्यग्रिमेण सम्बध्यते ॥ ६१ ॥

तनुच्छदम्—कवचम् । एवमुक्तानि षडङ्गानि देशिकसत्तमः कुर्यादिति सम्बन्धः । अत्र देशिकसत्तमइत्यनेनैतदुक्तं भवति । शिरोङ्गे तृप्तायेत्यतः पूर्वं नित्यपदप्रयोगः । अस्त्रे श्लीमित्यस्यानन्तरं शक्तिबीजप्रयोग इति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

ईशमन्त्रकलान्यासक्रममाह—*पूर्वेति* । इष्टदेति कलानाम । सदाशिवोमित्यग्रिमेण

ईशानः सर्वविद्यानां शशिनी प्रथमा कला ।
ईश्वरः सर्वभूतानामङ्गदा तदनन्तरम् ॥ ६५ ॥
ब्रह्माधिपतिशब्दान्ते ब्रह्मणोऽधिपतिः पुनः ।
ब्रह्मेष्टदा तृतीया स्याच्छिवो मे अस्तुतत्परः ॥ ६६ ॥
मरीचिः कथितस्तन्त्रे चतुर्थी च सदाशिवोम् ।
अंशुमालिन्यथपरा प्रणवाद्या नमोऽन्विताः ॥ ६७ ॥
पूर्वपश्चिमयाम्योदग्वक्त्रेषु तदन्तरम् ।
चतस्रो विन्यसेन्मन्त्री पुरुषस्य कलाः क्रमात् ॥ ६८ ॥
आद्या तत्पुरुषायेति विद्महे शान्तिरीरिता ।
महादेवाय शब्दान्ते धीमहि स्यात्ततःपरम् ॥ ६९ ॥
विद्या द्वितीया कथिता तन्नो रुद्रः पदं ततः ।
प्रतिष्ठा कथिता पश्चात्तृतीया स्यात्प्रचोदयात् ॥ ७० ॥
निवृत्तिस्तत्पराः सर्वाः प्रणवाद्या नमोऽन्विताः ।
हृद्ग्रीवांसद्वये नाभौ कुक्षौ पृष्ठेऽथ वक्षसि ॥ ७१ ॥
अघोरस्य कला न्यस्येदष्टौ मन्त्री यथाविधि ।
अघोरेभ्यस्तथा पूर्णमीरिता प्रथमा कला ॥ ७२ ॥
अथघोरेभ्य इत्यन्ते मोहा स्यात्तदनन्तरम् ।
घोरान्ते स्यात्क्षमा पश्चात्तृतीया परिकीर्तिता ॥ ७३ ॥
घोरतरेभ्यो निद्रा स्यात्सर्वतः सर्वतत्परा ।
व्याधिस्तु पञ्चमी प्रोक्ता सर्वेभ्यस्तदनन्तरम् ॥ ७४ ॥
मृत्युर्निगदिता षष्ठी नमस्ते अस्तु तत्परम् ।
क्षुधा स्यात्सप्तमी रुद्ररूपेभ्यः कथिता तृषा ॥ ७५ ॥
अष्टमी कथिता एतद् ध्रुवाद्या नमसाऽन्विताः ।
गुह्यमुष्कोरुयुग्मेषु जानुजङ्घायुगे स्फिचोः ॥ ७६ ॥
कट्यां पार्श्वद्वये वामकला न्यस्येत्त्रयोदश ।
स्याज्ज्येष्ठाय नमो रक्षा द्वितीया परिकीर्तिता ।

सम्बध्यते । परा–पञ्चमी ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

प्रणवाद्या इति प्रणवशक्तिप्रासादाद्या इत्यर्थः । पञ्चशादाचार्याः पञ्चाक्षरीयोगमप्याहुः । *नमोन्विता इति* । एवमपि चतुर्थ्यन्ता इत्यपि । "चतुर्थ्यन्ताः कलाः सर्वा" इति वक्ष्यमाणत्वात् । तेन ॐ ह्रीं हौं नमः शिवाय । ईशानः सर्वविद्यानां शशिन्यै नम इत्यादि प्रयोगः ॥ ६७ ॥

पुरुषस्य । तत्पुरुषस्य ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

प्रचोदयादि त्यग्रिमेण सम्बध्यते । *तत्परा-* चतुर्थी । सर्वा इति चतुर्थ्यन्ता इत्यपि ७०

यथाविधीति— वक्ष्यमाणेऽङ्गुलीभिर्न्यासः सूचितः । *अथघोरेभ्य* एतावान्तृतीयांशः ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ॥ ७५ ॥

एता इति । चतुर्थ्यन्ता इत्यपि । मुष्कोऽण्डकोशः ॥ ७६ ॥

स्यादुद्भवाय नमः पश्चात्तृतीया रतिरीरिता ॥ ७८ ॥
बालाय नमइत्यन्ते पालिनी परिकीर्तिता ।
कला कामा पञ्चमी स्यात्ततो विकरणाय च ॥ ७९ ॥
मनः संयमनी षष्ठी कथिता तदनन्तरम् ।
बलक्रिया समादिष्टा कला विकरणाय च ॥ ८० ॥
नमोवृद्धिरष्टमी स्याद्बलान्ते च स्थिरा कला ।
पश्चात्प्रमथनायान्ते नमोरात्रिरुदीरिता ॥ ८१ ॥
सर्वभूतदमनाय नमोऽन्तेभ्रामणी कला ।
नमोऽन्ते मोहिनी प्रोक्ता मन्त्रज्ञैर्द्वादशी कला ॥ ८२ ॥
उन्मनाय नमः पश्चाज्ज्वरा प्रोक्ता त्रयोदशी ।
प्रणवाद्याश्चतुर्थ्यन्ता नमोऽन्तास्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ८३ ॥
पाददोस्तननासासु मूर्ध्नि बाहुयुगे न्यसेत् ।
सद्योजातोद्भवाः सम्यगष्टौ मन्त्री कलाःक्रमात् ॥ ८४ ॥
सद्योजातं प्रपद्यामि सिद्धिःस्यात्प्रथमा कला ।
सद्योजाताय वै भूयो नमः स्याद्वृद्धिरीरिता ॥ ८५ ॥
भवेद्द्युतिस्तृतीया स्याद्भवे तदनन्तरम् ।
लक्ष्मीश्चतुर्थी कथिता ततो नातिभवे पदम् ॥ ८६ ॥
मेधा स्यात्पञ्चमी प्रोक्ता कला भूयो भवस्वमाम् ।
प्रज्ञा समीरिता षष्ठी भवान्ते स्यात्प्रभा कला ॥ ८७ ॥
उद्भवाय नमः पश्चात्स्वधा स्यादष्टमी कला ।
प्रणवाद्याश्चतुर्थ्यन्ताः कलाः सर्वा नमोन्विताः ॥ ८८ ॥
अष्टात्रिंशत्कलाः प्रोक्ताः पञ्चब्रह्मपदान्तिकाः ।
इति विन्यस्तदेहोऽसौ भवेद्ब्रह्माधारः स्वयम् ॥ ८९ ॥

वामकला—वामदेवकला ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ३/२ ॥
कलाकामेत्यत्र कलेति-ऋगंशः । कामेति कला । विकरणाय नम–इति ऋगंशः ॥७९॥ ३/२॥
बलेति ऋगंशः । *क्रियेति* कला । अत्रापि विकरणाय नम इति ऋगंशः ॥८०॥८४॥
भूय इति ॥ पादपूरणे ॥ ८९ ॥
*भव इति । ऋगंशः ॥ ८८ ॥

पञ्च ब्रह्मपदानि पञ्चानामृचां पदानि । अत्र पञ्चानामृचां पदानि कलासहितानि क्रमेण काङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिर्विन्यसेत् । तेन प्रथमऋक्कलाः साङ्गुष्ठमुष्टिना । द्वितीयऋक्कलास्तर्ज-न्यङ्गुष्ठाभ्याम् । तृतीयऋक्कला मध्यमाङ्गुष्ठाभ्याम् । चतुर्थऋक्कलाः अनामाङ्गुष्ठाभ्याम् । पञ्चमऋक्कलाः कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यामिति । तदुक्तम्—“इति विशदधीर्विन्यसेदङ्गुलीभिरि”ति । *अन्यत्रापि*—“कनिष्ठाद्यङ्गुलीभिस्तु न्यसेत्सद्यादिकाः क्रमात् । साङ्गुष्ठाभिस्तथेशानं समु-ष्ट्याङ्गुष्ठकेनत्वि”ति । अस्य स्वतन्त्रत्वाद्ध्यानावरणपूजादि वक्तव्यम् । तत्र ध्यानं प्रासादा-वरणपूजावसरे ग्रन्थकृदुक्तं ज्ञेयम् । आवरणपूजातु *आचार्योक्ता यथा—*“ध्यात्वैवं पञ्चभि-र्मन्त्रैरथ शिवमाराधयेद्गुभिरपि(र्या) मध्यप्राग्याम्यसौम्यापरदिशि पुनरङ्गैरितरादिभिश्च ।

ततः समाहितो भूत्वा ध्यायेद्देवं सदाशिवम् ॥ ९० ॥
मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः ।
त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम् ।
शूलं टङ्कृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान् ।
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलं चिन्तयेत् ॥ ९१ ॥
एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं पञ्चलक्षं मधुप्लुतैः ।
प्रसूनैः करवीरोत्थैर्जुहुयात्तद्दशांशकम् ॥ ९२ ॥
पूर्वोदिते यजेत्पीठे मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
आवाह्य पूजयेत्तस्यां मूर्त्याद्यावरणैः सह ॥ ९३ ॥
शक्तिं डमरुकाभीतिवरान्सन्दधतं करैः ।
ईशानं त्रीक्षणं शुभ्रमैशान्यां दिशि पूजयेत् ॥ ९४ ॥

अङ्गोमाद्यैर्दिशाधिपैः (दिगीशैः) पुनरपि कुलिशाद्यैर्यजेद्देवमुक्तम् । पाञ्चरात्रं विधानं
सकलसुखयशोभुक्तिमुक्तिप्रदञ्चे"ति ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मुक्तेति ॥ मुक्तावर्णमूर्ध्वमुखम् । पूर्वमुखं पीतवर्णं, (पयोवर्णं-) नीलवर्णं दक्षिणमुखं
मुक्तावर्णं पश्चिममुखं (जपावर्णं) विद्रुमवर्णमुत्तरमुखम् । पयोददातीति व्युत्पत्त्या नील-
मेघ एव विवक्षितः । तदुक्तं *वायवीयसंहितायाम्—"अस्य पूर्वमुखं सौम्यं बालार्कसदृश-
प्रभम् । त्रिलोचनारविन्दाढ्यं बालेन्दुकृतशेखरम् ॥ दक्षिणं नीलजीमूतसमानं चन्द्रभूषितम् ।
वक्रभ्रूकुटिलं घोरं रक्तवृत्तत्रिलोचनम् ॥ उत्तरं विद्रुमप्रख्यं नीलालकविभूषितम् । सविलासं
त्रिनयनं चन्द्राभरणशेखरम् ॥ पश्चिमं पूर्णचन्द्राभं लोचनत्रितयोज्ज्वलम् । चन्द्ररेखाधरं सौम्यं
मन्दस्मितमनोहरम् ॥ पञ्चमं स्फटिकप्रख्यं चन्द्ररेखासमुज्ज्वलम् । अतीव सौम्यमुत्फुल्ल-
लोचनत्रितयोज्ज्वलमि"ति । *इन्दुमुकुटमिति* प्रतिवक्त्रं ज्ञेयम् । टङ्कः परशुः । नागेशः
सर्पेशः । भीतिहरम् । अभयम् । आयुधध्यानं तु ऊर्ध्वादिदक्षे शूलादग्न्यन्तानि । वामे
अग्न्यन्तानि । तदुक्तं *वायवीयसंहितायां* "दक्षिणे शूलपरशुवज्रखड्गानलोज्ज्व-
लम् । सव्ये च नागेशाभीतिघण्टापाशाङ्कुशोज्ज्वलमि"ति । अन्यत्र तु ऊर्ध्वदक्षा-
मयोराद्यम् । एवमन्तमिति क्रमेणोक्तम् । "शूलाहिटङ्कघण्टासिसृणिकुलिशपाशाग्न्य-
भीतीर्दधानं दोर्भिरि"ति ॥ अन्यत्र व्यत्ययोऽप्युक्तः । यदाहुः—"भुजङ्गघण्टाभयदाङ्कु-
शांश्च पाशं भुजैर्दक्षिणतोदधानम् । तथा त्रिशूलं परशुं च खड्गं वज्रं च वाह्निं क्रमशोऽपरैश्च"
ति ॥ अन्यत्र एकवक्त्रं चतुर्भुजं च ध्यानमुक्तम् । "अथ चैकवक्त्रं—दोर्भिश्चतुर्भिर्युतमिन्दुमौ-
लिम् । धृताक्षमालात्रिशिखं क्रमात्तं, यजेत्सखट्वाङ्गकपालहस्तमि"ति । अन्यत्र तु—"देवं
नमामि शिरसा परशुत्रिशूलविद्याकपालपरिमण्डितबाहुख(द)ण्डमि"ति ॥ ९१ ॥

मूर्त्यादीति ॥ आदिशब्देनाङ्गावृत्तिरुक्ता । मूर्त्यावरणं च अङ्गावरणम् च आवरणानि—
अनन्तोमेन्द्रवज्रादीनि च तैः मूर्त्याद्यावरणैरित्येकशेषेण समासः(१) कार्यः । तेन मूर्तिपञ्चक-
निवृत्त्यादिपञ्चकेन प्रथमावरणं सम्पूज्यं, द्वितीयाऽङ्गैः, स्तृतीया विद्येश्वराभिरित्यर्थः। तदुक्तं*
प्रयोगसारे* "मूर्त्याङ्गावरणोपेतमि"ति । अन्यत्रापि-मूर्तिपूजामुक्त्वा उक्तम्—"आग्ने-
येशानैर्ऋत्यवायुपत्नेष्वथो पुरः । सम्पूज्याङ्गानि चोक्तानि दिक्ष्वस्त्रमपि पूजयेत् ॥ स्वनाम
कलितैर्मन्त्रैरनन्तं सूक्ष्ममेव चे"त्यादिना । *वायवीयसंहितायामपि* "पूजयेत्परमेश्वरम् ।

---

(१) संक्षेपः ।

अक्षस्रजं मृगपाशौ सृणिं डमरुकं ततः ।
खट्वाङ्गं निशितं शूलं कपालं बिभ्रतं करैः ॥ ९५ ॥
पश्चिमेवराभीतीर्दधानं विद्युदुज्ज्वलम् ।
चतुर्मुखं तत्पुरुषं त्रिनेत्रं पूर्वतोऽर्चयेत् ॥ ९६ ॥
अञ्जनाभं चतुर्वक्त्रं भीमदंष्ट्रं भयावहम् ।
अघोरं त्रीक्षणं याम्ये पूजयेन्मन्त्रवित्तमः ॥ ९७ ॥
कुङ्कुमाभं चतुर्वक्त्रं वामदेवं त्रिलोचनम् ।
वराभयाक्षवलयकुठारं दधतं करैः ॥ ९८ ॥
विलासिनं स्मेरवक्त्रं सौम्ये सम्यक्समर्चयेत् ।
कर्पूरेन्दुनिभं सौम्यं सद्योजातं त्रिलोचनम् ॥ ९९ ॥
हरिणाक्षगुणाभीतिवरहस्तं चतुर्मुखम् ।
बालेन्दुशेखरोल्लासि मुकुटं पश्चिमे यजेत् ॥ १०० ॥
निवृत्त्याद्यास्ततः कोणे तेजोरूपाः कलाः क्रमात् ।
केसरेषु षडङ्गानि पूर्ववत्पूजयेत्सुधीः ॥ १०१ ॥
विश्वेश्वराननन्ताद्यान्पत्रेषु परितो यजेत् ।
उमादिकास्ततोबाह्ये शक्राद्यानायुधैः सह ॥ १०२ ॥

ब्रह्ममिश्र षडङ्गैश्च—"ति । *पद्मपादाचार्यैरपि*—मूर्त्यावरणाद्बहिरङ्गावरणं द्रष्टव्यमित्युक्तम् । तेन यत्केचन मूर्त्यावरणात्पूर्वम् अङ्गावरणं वदन्ति तदयुक्तम् । *नारायणीयेऽपि*—"मूर्त्यङ्गानि यजेद्यथाविधिरि"ति ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

पूर्वत इत्यादि ॥ दिग्ग्रहणं ग्रन्थकृता प्रसिद्धदिशामेव कृतमिति ज्ञेयम् ॥ ९६ ॥

मन्त्रवित्तमः सम्यक्समर्चयेदित्यनेनेशानादीनां न्यासोक्तबीजादित्वेन पूजयेदित्युक्तं भवति ॥ ९७ ॥ १०० ॥

तेजोरूपा इति । एषां शरीराद्याकाराभावे कारण*मुक्तमाचार्यैः*—"भूतानां शक्तिरूपाद्व्याप्तत्वाज्जगति च निवृत्त्याद्याः। तेजोरूपाः करपदवर्णविहीना मनीषिभिः प्रोक्ताः" इति । *तन्त्रान्तरे* "आकाराऽप्युक्तः—"वज्राक्षमालामभयमम्बुजं बिभ्रती करैः । हेमाभा चारुसर्वाङ्गा निवृत्तिः सितभूषणा ॥ श्वेताकल्पाक्षमालाब्जपाशाभयकरासिता । सर्वाभरणसन्दीप्ता प्रतिष्ठातिमनोहरा ॥ शक्त्यक्षमालाब्जाऽभीतिहस्ता गुञ्जारुणोज्ज्वला । कपर्दन्दुस्त्रिमुखी ध्येया विद्या कलात्रिदृक्कम् ॥ चतुर्वक्त्रभुजा कृष्णा नीलवस्त्रा कपर्दिनी । ध्वजाऽक्षमालाब्जाभीतिहस्ता शान्तिकला त्रिदृक् ॥ स्फटिकाभा पञ्चवक्त्रा वेदाक्षस्रग्वराभयन् । दधती सकपर्देन्दुःशान्त्यतीताच्छभूषणा" इति । कला इत्यनेन प्रथमपटलोक्तापञ्चीकृतभूतबीजाद्या इत्युक्तम् । क्रमादित्यनेनैतदुक्तम्—आग्नेयादिषु निवृत्त्यादिचतुष्कं सम्पूज्य ईशस्थाने शान्त्यतीतां पूर्वमेव पूजयेदिति । अन्ये तु ईशानशान्त्यतीते मध्ये पूजयेदित्याहुः । प्रपञ्चसारसम्मतमेतत् । पूर्वमूर्ध्वप्रागित्युक्त्वा पश्चात् "पूर्वोक्तदिक्षु मूर्तीरि"त्युक्तेः । अन्येत्वेतयोः पूजामाहुः ॥ १०१ ॥

उमादिका इति । पूर्ववदुत्तरादि यजेत् ॥ अस्य तन्त्रान्तरस्थं यन्त्रद्वयमुच्यते—"षट्कोणमण्डलं बाह्ये रोचनाचन्दनाक्तया । दूर्वया विलिखेन् मन्त्रो प्रासादं नाम संयुतम् ॥ बहिः षट्सु च कोणेषु प्रणवाद्यं षडक्षरम् । त्रयस्त्रिंशद्दलं बाह्ये त्रिस्त्रिंशद्वर्णमालिखेत् ॥ ईशानवर्णषट्कं च

इति संपूज्य देवेशं भक्त्या परमया युतः ।
प्रीणयेन्नृत्यगीताद्यैस्तोत्रैर्मन्त्रैर्मनोहरैः ॥ १०३ ॥
तारो माया वियद् बिन्दुमनुस्वरसमन्वितम् ।
पञ्चाक्षरसमायुक्तो वसुवर्णो मनुर्मतः ॥ १०४ ॥
पञ्चाक्षरोक्तवत्कुर्यादङ्गन्यासादिकं बुधः ॥ १०५ ॥
वन्दे सिन्दूरवर्णं मणिमुकुटलसच्चारुचन्द्रावतंसम् ।
आलोचन्नेत्रमीशं स्मितमुखकमलं दिव्यभूषाङ्गरागम् ॥
वामोरुन्यस्तपाणेररुणकुवलयं सन्दधत्याः प्रियायाः ।
वृत्तोत्तुङ्गस्तनाग्रे निहितकरतलं वेदटङ्केऽष्टहस्तम् ॥ १०६ ॥
अष्टलक्षं जपेदेनं मनुं मनुविदाम्वरः ।
तत्सहस्रं प्रजुहुयात्पायसान्नैर्घृतप्लुतैः ॥ १०७ ॥
प्राक् पीठे मूलमन्त्रेण मूर्तिं संकल्प्य पूजयेत् ।
अङ्गैरावरणं पूर्वमनन्ताद्यैरनन्तरम् ॥ १०८ ॥
उमादिभिः समुद्दिष्टं तृतीयं लोकनायकैः ।
चतुर्थं पञ्चमं तेषामायुधैः परिकीर्तितम् ॥ १०९ ॥
एवं प्रतिदिनं देवं पूजयेत्साधकोत्तमः ।
पुत्रमित्रादिसहितां श्रियं प्राप्य प्रमोदते ॥ ११० ॥
तारः स्थिरा सकर्णेन्दुर्भृगुः सर्गविभूषितः ।

तत्पुरुषं तु सप्तम(क)म् । अघोरं वर्णषट्कं च वामदेवस्य सप्तम(क)म् ॥ सद्यो जातं तथा सप्त नमोऽन्तं वर्णमालिखेत् । मृत्युञ्जयेन संवेष्ट्य धारयेद्यन्त्रमुत्तममि"ति । "षट्कोणान्तः साध्य-युक्तं प्रासादं मूलमालिखेत् । सन्धिष्वङ्गानि तद्बाह्ये पद्मं पञ्चदलन्त्विह ॥ ईशानाद्याः पञ्चमूर्ती-र्हृदन्ता लिखेत्ततः । अष्टमन्त्रं मातृकाष्टवर्गयुक्तं लिखेद्बहिः ॥ संवेष्ट्यानुष्टुभा यन्त्रं जपहो-मादिसाधितम् । आरोग्यायुः सुतैश्वर्यचतुर्वर्गफलप्रदमि"ति ॥ १०३ ॥ १०२ ॥

अष्टाक्षरं प्रासादमन्त्रमाह—*तार इति* । तारः प्रणवः । माया शक्तिबीजं, वियत् हः । बिन्दुमनुस्वरौ औं तद्युक् तेन हौं । *पञ्चाक्षर* इति । शैवपञ्चाक्षरः । वसुवर्णोऽष्टाक्षरः । पूर्वो-क्ते ऋषिच्छन्दसी । उमापतिर्देवता ॥ १०४ ॥

पञ्चाक्षरोक्तवदिति । मायापड्दीर्घाद्यबीजषडक्षरैः षडङ्गमिति सम्प्रदायविदः । आ-दिशब्देन मूर्तिपञ्चकन्यासः ॥ १०५ ॥

वन्दे इति । वेदः पुस्तकं, टङ्कः परशुः ॥ *वामोरुन्यस्तपाणेरिति* दक्षिणपाणेः । *अरु-णकुवलयमिति* । वामपाणौ । *निहितकरतलमिति* । वामाधस्तनम् । तदुक्तं—"वामाङ्के-न्यस्तवामेतरकरकमलायास्तथा वामबाहुन्यस्तारक्तोत्पलायास्तनविधृतलसद्वामबाहोः प्रिया-या" इति । ऊर्ध्ववामे इष्टं वरमित्यर्थः । वेदटङ्के—दक्षस्थे ॥ १०६ ॥ १०७ । १०८ ॥

उमादिभिरित्युत्पद्येव ॥ १०९ ॥ ११० ॥

एवं पञ्चवक्त्रशिवस्य मन्त्रानभिधाय ऊर्ध्ववक्त्रप्रधानं मृत्युञ्जयमन्त्रमाह—*तार इ-ति*। तारः प्रणवः । स्थिरा जः । कर्णो वामकर्णः । ऊ । अथ वा कर्णशब्देन षट्संख्या तेन ऊ । इन्दुर्बिन्दुस्तेन जूम् । भृगुः सकारः । सर्गो विसर्गस्तद्युक्तः । "द्वन्द्वावयवसम्पाते पूर्वव्याप्त्यादौ परिग्रह" इति यद्यपि सामान्यपरिभाषा तथाप्यत्र विशेषवचनात्तद्बाधः पूर्वव्याख्याने । तदु-

अक्षरात्मा निगदितो मनुर्मृत्युञ्जयादिकः ॥ १११ ॥
ऋषिः कहोलो देव्यादिगायत्रीच्छन्द ईरितम् ।
मृत्युञ्जयो महादेवो देवतास्य समीरितः ॥ ११२ ॥
भृगुणा दीर्घयुक्तेन षडङ्गानि समाचरेत् ॥ ११३ ॥
चन्द्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयान्तः स्थितम् ।
मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुप्रभम् ।
कोटीरेन्दुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्ज्वलम् ।
कान्त्या विश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युञ्जयं भावयेत् ॥ ११४ ॥
गुणलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं विशालधीः ।
जुहुयादमृताखण्डैः शुद्धदुग्धाज्यलोलितैः ॥ ११५ ॥
शैवे संपूजयेत्पीठे मूर्तिंमूलेन कल्पयेत् ।
अङ्गावरणमाराध्य पश्चाल्लोकेश्वरान्यजेत् ॥ ११६ ॥
तदस्त्राणि ततो बाह्ये पूजयेत्साधकोत्तमः ।
जपपूजादिभिः सिद्धे मन्त्रेऽस्मिन्मनुना क्रमात् ॥ ११७ ॥
कुर्यात्प्रयोगान्कल्पोक्तानभीष्टफलसिद्धये ।
दुग्धयुक्तैः सुधाखण्डैर्मन्त्री मासं सहस्रकम् ॥ ११८ ॥
आराधितेऽग्नौ जुहुयाद्विधिवद्विजितेन्द्रियः ।
सन्तुष्टः शङ्करस्तेन सुधाप्लावितविग्रहः ॥ ११९ ॥
आयुरारोग्यसम्पत्तियशः पुत्रान्विवर्द्धयेत् ।
सुधावटौ तिलादूर्वा पयः सर्पिः पयोहविः ॥ १२० ॥
इत्युक्तैः लसभिर्द्रव्यैर्जुहुयात्सप्तवासरम् ।

क्रम् *प्रयोगसारे* "वेदादिः काष्टसः षष्ठस्वरार्द्धेन्द्वन्वितश्च सः । स्वरश्चतुर्थो बिन्द्वन्तौ जलौ बिन्द्वन्वितः शशी ॥ पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य बीजान्युक्तानि यत्नतः । तस्यादितः क्रमाद्बीजैस्त्र्यक्षरः प्रोच्यते त्रिभिः ॥ बीजेनान्त्येन तस्यैव स्यादेकाक्षर ईरितः ॥ एते मृत्युञ्जयामन्त्राः क्रमात्प्रोक्ताः फलोत्तराः ॥" इति । *नारायणीयेऽपि—* "सशिवं वामदोस्मंर्थं बिन्दुमत्सकलो भृगुरि"ति । तट्टीकायां सशिवं षष्ठस्वरयुक्तं शिवशब्देन षष्ठस्वरोऽत्र विवक्षित इत्युक्तम् । प्रणवो बीजम् । स इति शक्तिः । जूं बीजमिति पद्मपादाचार्याः ॥१११॥११२॥
भृगुणा—सकारेण । दीर्घयुक्तेन षड्दीर्घयुक्तेन । *समाचरेदिति* नाभि हृद् भ्रूमध्येऽत्र्यक्षरन्यासानन्तरमित्यर्थः ॥ ११३ ॥
पद्मद्वयान्तः स्थितमिति । एकमूर्ध्वमुखं तदुपर्युपविष्टं द्वितीयमधोमुखं शिरसि । मुद्रा-ज्ञानमुद्रा । दक्षोर्ध्वाद्दक्षाधस्तनं यावदायुधध्यानम् ॥ ११४ ॥
*गुणलक्षं—*त्रिलक्षम् । विशालधीरित्यनेन शैवं पीठमभ्यर्च्यस्युक्तम् । अमृता-गुडूची । *शुद्धैरिति* । वस्त्रादिना गालितैः ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥
सुधा-गुडूची । *मन्त्रीति* । एकाक्षरबीजादित्वमुक्तम् । मासं-जुहुयादिति सम्बन्धः । *सहस्रमिति* *प्रत्येकम्* ॥ ११८ ॥
विधिवदाराधित इत्यग्नौ शैवं पीठं संपूज्येत्यर्थः ॥ ११९ ॥

क्रमाद्वृद्ध्यांशतोनित्यमष्टोत्तरमतन्द्रितः ॥ १२१ ॥
सप्ताधिकान् द्विजान्नित्यं भोजयेन्मधुरान्वितम् ।
विकारानुगुणं मन्त्री वर्द्धयेद्धोमवासरान् ॥ १२२ ॥
होतृभ्योदक्षिणान्दद्यादरुणा गाः पयस्विनीः ।
गुरुं संप्रीणयेत्पश्चाद्धनाद्यैर्दैवताधिया ॥ १२३ ॥
अनेन विधिना साध्यः कृत्याद्रोहज्वरादिभिः ।
विमुक्तः सुचिरं जीवेच्छरदां शतमञ्जसा ॥ १२४ ॥
अभिचारे ज्वरे तीव्रे घोरोन्मादे शिरोगदे ।
असाध्यरोगक्ष्वेडादौ महादाहे महाभये ॥ १२५ ॥
होमोऽयंशान्तिदः प्रोक्तः सर्वसम्पत्प्रदायकः ।
द्रव्यैरेतैः प्रजुहुयात्त्रिजन्मसु यथाविधि ॥ १२६ ॥
भोजयेन्मधुरैस्साज्यैर्ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।
दीर्घमायुरवाप्नोति वाञ्छितां विन्दति श्रियम् ॥ १२७ ॥
एकादशाहुतीर्नित्यं दूर्वाभिर्जुहुयाद्बुधः ।
अपमृत्युजिदेष स्यादायुरारोग्यवर्द्धनः ॥ १२८ ॥
त्रिजन्मसु सुधावल्लीकाश्मरीबकुलोद्भवैः ।
समिद्वरैःकृतोहोमःसर्वमृत्युग्रहापहः ॥ १२९ ॥
सिद्धान्नैर्विहितो होमो महाज्वरविनाशनः ।
अपामार्गसमिद्धोमः सर्वामयनिषूदनः ॥ १३० ॥
प्रणवरचितनालं मन्त्रमध्यार्णपत्रं भृगुविलसितमध्यं पद्मयुग्मं तदन्तः ।
कृतवसतिमुमेशं वर्णनिर्यत्सुधार्द्रं कलयतु हृदि नित्यं सर्वदुःखप्रशान्त्यै १३१
यन्त्राढ्ये कमले सौम्ये कलशं प्रोक्तवर्त्मना ।
नवरत्नसमायुक्तं दुकूलाभ्यामलङ्कृतम् ॥ १३२ ॥
आपूर्य सलिलैः शुद्धैस्तस्मिन्देवं प्रपूजयेत् ।
उपचारैः षोडशभिर्विधानेन विधानवित् ॥ १३३ ॥

पयोहविरिति । पायसम् ॥ १२० ॥ १२१ ॥
विकारमिति । रोगानुसाराच्चतुर्दशैकविंशत्याद्विदिनवृद्धिः ॥१२२॥१२३॥१२४॥
१२५ ॥ ६ ॥
द्रव्यै रेतैरिति । पूर्वोक्तैः लसंभिः । *त्रिजन्मस्विति* । प्रथमदशमैकोनविंशतिसंख्येषु
नक्षत्रेषु । *यथाविधीति* । पूर्वोक्तप्रकारेण ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥
प्रणवेति । मन्त्रमध्यार्णोजूं सचाष्टावृत्त्या अष्टसु पत्रेषु ॥ ।*भृगुविलसितेति* । सवि-
सर्गसकारेण । पद्मयुग्मंकलयतु तदन्तः कृतवसतिमुमेशं कलयत्विति संबन्धः ॥ वर्णः कर्णि-
कास्थः सकारस्तस्मान्निस्यंती या सुधा तया आर्द्रं ॥ १३१ ॥
यन्त्राढ्य इति ॥ वक्ष्यमाणयन्त्रयुक्ते । *कमल इति* । भद्रकमण्डलस्थले । *सौम्ये*
मनोहरे । *प्रोक्तवर्त्मनेति* । षष्ठपटलोक्तरीत्या । विधानविद्विधानेनेत्यनेनैवदुक्तं तुर्योक्ता

अभिषिञ्चेत्प्रियं साध्यं विनीतं दत्तदक्षिणम् ।
आधिव्याधिमहारोगकृत्याद्रोहनिवारणम् ॥ १३४ ॥
अभिषेकोऽयमाख्यातः कीर्तिलक्ष्मीजयप्रदः ॥ १३५ ॥
मध्ये साध्याक्षराढ्यं ध्रुवमभिविलिखेन्मध्यमं दिग्दलस्थम् ।
कोणेष्वन्त्यं मनोस्तद्दितिभुवनमथोदिक्षु चन्द्रं विदिक्षु ॥
टान्तं यन्त्रं तदुक्तं सकलभयहरं क्ष्वेडभूतापमृत्यु-
व्याधिव्यामोहदुःखप्रशमनमुदितं श्रीप्रदं कीर्तिदायि ॥ १३६ ॥

इति श्रीशारदातिलकेऽष्टादशःपटलः ॥ १८ ॥ * ॥

अथ वक्ष्ये मन्त्ररत्नं समस्तपुरुषार्थदम् ।
अवाप्यैन जप्तेन दिव्यं ज्ञानं मुनीश्वराः ॥ १ ॥
दक्षिणामूर्तये पूर्वं तुभ्यं पदमनन्तरम् ।
वटमूलपदस्यान्ते पदं पश्चान्निवासिने ॥ २ ॥
ध्यानैकनिरताङ्गाय पश्चाद्ब्रूयान्नमः पदम् ।
रुद्राय शम्भवे तारशक्तिरुद्धोऽयमीरितः ॥ ३ ॥
षट्त्रिंशदक्षरोमन्त्रः सर्वकामफलप्रदः ।
मुनिः शुकः समुद्दिष्टश्छन्दोऽनुष्टुप्समीरितम् ॥ ४ ॥
दक्षिणामूर्तिनामास्य देवता शम्भुरीरितः ।
षड्भिर्वर्णैर्हृदाख्यातं द्वाभ्यां शिर उदीरितम् ॥ ५ ॥
शिखाष्टभिः समुद्दिष्टा वस्वर्णैः कवचं मतम् ।
पञ्चभिर्नेत्रमाख्यातं त्रिभिरस्त्रमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
षडेते मारशब्दाद्या ह्रांङाद्यन्ताः सजातयः ।

गमश्लोकैरुपचारेषु तत्तद्द्रव्यविशेषैस्तत्तन्मुद्राभिरिति ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

यन्त्रमाह—*मध्य इति* । मध्येकर्णिकायाम् ॥ *मध्यमं* जूं कारं । अन्त्यं सं । चन्द्रं ठकारम् । तदुक्तं—"खड्गांशलाङ्गलिभ्यां तु दिग्विदिक्ष्वङ्कितं बहिः । भूपुरं विनिवेश्यास्मिन्कलशं समलङ्कृतमि"ति ॥ १३६ ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां तत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां
पदार्थादर्शाभिख्यायामष्टादशः पटलः ॥ १८ ॥ * ॥

एवमूर्ध्ववक्त्रप्रधानमन्त्रनिरूपणानन्तरं दक्षिणवक्त्रप्रधानं सौम्यमन्त्रमाह *अथेति* समस्तपुरुषार्थदमित्यनेन विनियोग उक्तः ॥ १ ॥

मन्त्रमुद्धरति *दक्षिणेति* श्लोकरूपो मन्त्रः ॥ २ ॥

*तारशक्तिरुद्धोऽयमि*त्युभाभ्यां रुद्धः पुटितः । तेनान्ते व्युत्क्रमः । प्रणवो बीजं माया शक्तिः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ह्रांङादीति । ङकारेण मकारः । *प्रयोगस्तु* ॐ ह्रां दक्षिणामूर्तये ह्रां हृदयाय नमः । ॐ

अङ्गमन्त्राः समुद्दिष्टा यथावद्देशिकोत्तमैः ॥ ७ ॥
मूर्द्ध्नि भाले दृशोः श्रोत्रे गण्डयुग्मे सनासिके ।
आस्ये दोःसन्धिषु गले स्तनहृन्नाभिमण्डले ॥ ८ ॥
कट्यां गुह्यये पुनः पादसन्धिषु वर्णान्न्यसेत्क्रमात् ।
व्यापकं तारशक्तिभ्यां कुर्याद्देहे ततःपरम् ॥ ९ ॥
हेमाचलतटे रम्ये सिद्धकिन्नरसेविते ।
विविधद्रुमशाखाभिः सर्वतोवारितातपे ॥ १० ॥
सुपुष्पितैर्लताजालैराश्लिष्टकुसुमद्रुमैः ।
शिलाविवरनिर्गच्छन्निर्झरानिलसेविते ॥ ११ ॥
गायद्भृङ्गाङ्गनासङ्घे नृत्यद्बर्हिकदम्बके ।
कूजत्कोकिलसङ्घेन मुखरीकृतदिङ्मुखे ॥ १२ ॥
परस्परविनिर्मुक्तमात्सर्यमृगसेविते ।
आद्यैः शुकाद्यैर्मुनिभिरजस्रं समुपस्थिते ॥ १३ ॥
पुरन्दरमुखैर्देवैः सेवायातैर्विलोकितम् ।
वटवृक्षं महोच्छ्रायं पद्मरागफलोज्ज्वलम् ॥ १४ ॥
गारुत्मतमयैः पत्रैर्निबिडैरुपशोभितम् ।
नवरत्नमयाकल्पैर्लम्बमानैरलङ्कृतम् ॥ १५ ॥
जलजैःस्थलजैः पुष्पैरामोदिभिरलङ्कृतम् ।
श्रावयद्भिर्वेदशास्त्राणि शुकवृन्दैर्निषेवितम् ॥ १६ ॥
संसारतापविच्छेदकुशलच्छायमद्भुतम् ।
विचिन्त्य तस्य मूलस्थे रत्नसिंहासने शुभे ॥ १७ ॥

ह्रीं तुभ्यं ह्रींशिरसे स्वाहा । इत्यादि । *यथावद्देशिकोत्तमै*रित्यनेन शैवषडङ्गमुद्राभिः सह कर्त्तव्यतोक्ता ॥ ७ ॥

मूर्ध्नीत्यति चतुस्त्रिंशत्स्थानेषु चतुस्त्रिंशद्वर्णान्विन्यस्य शिष्टाभ्यां व्यापकं कुर्यादित्यर्थः । तदुक्तं—"एवं प्रणवहृल्लेखापूर्वाक्षरन्यासादिकं कृत्वे"ति । *आचार्या अपि* "पुनर्द्वाभ्यां मन्त्रविद्व्यापकं न्यसेदि"ति । केचित्तु—नसोस्तनयोरेकैकमक्षरं न्यसनीयमिति द्वात्रिंशदक्षरन्यासमेवाहुः । एष एव सांप्रदायिकः पक्षः । *तदुक्तमाचार्यैः* "कालिकश्रुतिहरगण्डद्वयनासाख्यके(१)पुदसि"त्यादिना पूर्वलिखिताचार्यपद्यव्याख्याने पद्मपादाचार्यैर्द्वाभ्यांमन्त्रविदित्यनेन आद्यन्तप्रणवशक्त्योरेकत्वं जानन्नित्यर्थं इति व्याख्यायां "व्यापकं तारशक्तिभ्यामि"ति वदता मूलकारेणापि सूचितमेव । तेन ओं ह्रीं दं नम इत्यादि प्रयोगः कृतः "सद्दीक्षी मन्त्रीत्यनेन न्यासमन्त्रादौ प्रणवशक्तियोग उक्त इति पद्मपादाचार्याः ॥ ८ ॥ ९ ॥

ध्यानमाह *हेमेति* हेमाचलतरे वटवृक्षं संचिन्त्येति सम्बन्धः ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥ १४ ॥ ई ॥

लम्बमानैरिति । वटप्ररोहैः "लीवणी" इति गौडभाषायाम् । अनेनैतदुक्तं भवति

---

(१) अत्र नासाविक्देदामति नासाख्यकदमिति च पाठभेदः पुस्तकान्तरेषुदृष्टः ॥

आसीनममिताकल्पं शरच्चन्द्रनिभाननम् ।
स्तूयमानं मुनिगणैर्दिव्यज्ञानाभिलाषिभिः ॥ १८ ॥
संस्मरेज्जगतामाद्यं दक्षिणामूर्तिमव्ययम् ॥ १९ ॥
कैलासाद्रिनिभं शशाङ्कशकलस्फूर्जज्जटामण्डितम् ।
नासालोकनतत्परं त्रिनयनं वीरासनाध्यासितम् ॥
मुद्राटङ्ककुरङ्गजानुविलसत्पाणिं प्रसन्नाननम् ।
कक्षाबद्धभुजङ्गमं मुनिवृतं वन्दे महेशं परम् ॥ २० ॥
अयुतद्वयसंयुक्तं गुणलक्षं जपेन्मनुम् ।
तद्दशांशन्तिलैः शुद्धैर्जुहुयात् क्षीरसंयुतैः ॥ २१ ॥
पश्चात्तरोदिते पीठे विधानेन प्रपूजयेत् ।
उपचारैः समुत्पन्नैः पाद्याद्यैः परमेश्वरम् ॥ २२ ॥
एवं कृतपुरश्चर्यः सिद्धमन्त्रोभवेत्सुधीः ।
भिक्षाहारो जपेन्मासं मनुमेनं जितेन्द्रियः ॥ २३ ॥
नित्यं सहस्रमष्टादूर्ध्वं परं विन्दति वाङ्मयम् ।
त्रिवारं जप्तमेतेन मनुना सलिलं पिबेत् ॥ २४ ॥
नित्यशो दक्षिणामूर्तिं ध्यायन्साधकसत्तमः ।
शास्त्रव्याख्यानसामर्थ्यं लभते वत्सरान्तरे ॥ २५ ॥
ब्राह्मीसैन्धवसिद्धार्थवचाकुष्ठकणोत्पलैः ।
सुगन्धिसंयुतैः कल्कैः शृतं ब्राह्मी रसे घृतम् ॥ २६ ॥
मनुनानेन सञ्जप्तमयुतं साधुसाधितम् ।

मणिमण्डपानन्तरं हेमाचलतटं वटवृक्षं तदधोरत्नसिंहासनमिति पीठन्यासेविशेषः ॥१९॥१६॥

*वीरासनम*न्त्यपटले वक्ष्यति । *मुद्रा*ज्ञानमुद्रा । शेषं समानमिति ॥ तदुक्तं—"मुद्रां भद्रार्थदात्रीमि"ति । *टङ्कः*—परशुः । दक्षयोरोचे । वामयोरन्ये आयुधे । *गुणलक्षं*-त्रिलक्षम् ॥ २० ॥ २१ ॥

समुत्पन्नैः—समुक्तैः समुत्पादितैरिति वार्थः। तेनोक्तप्रकारेणैवोपचारान् कुर्यात्जलादिने-त्युक्तं भवति ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

*सिद्धार्थो—गौरसर्षपः । कणा-पिप्पली । *उत्पलं*-मुस्ता । सुगन्धिशब्देन त्वक्पत्रैलाकेसराणि । तदुक्तं वैद्यनिघण्टौ "त्वक्पत्रलाकेसराणि चातुर्जातं सुगन्धिकमि"ति । एतेषां कल्केन ब्राह्मीरसे घृतपाकः । तत्र "स्नेहः सिध्यति शुद्धाम्बुभिः क्वाथस्वरसैः क्रमात् । कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टममि"ति । विशेषपरिभाषावचनात् पलमितेन कल्केन पट् पलंघृतं पचेत् । "पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रव्याणि स्नेहसंनिधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणमि"त्युक्त्वा चतुर्विंशतिपलानि ब्राह्मीरसः । घृतावशेषमुत्तारितमुक्तफलदम् । *शृतं* पक्वम् ॥ २६ ॥

साधु साधितमिति ॥ अयमर्थः घृते उक्तप्रकारेण देवतापीठमभ्यर्च्य तत्रसावरणं देवमिष्ट्वा बहिरग्निं प्रतिष्ठाप्य तत्रापि देवपीठमभ्यर्च्य हुत्वा तत्संपाताज्येनाप्लुतं कुर्या-

निपीतं कविताकान्तिरदायुः श्रीधृतिप्रदम् ॥ २७ ॥
प्रणवो हृदयं पश्चात्ततो भगवते पदम् ।
ङेयुतो दक्षिणामूर्तिसंज्ञं मेधामुदीरयेत् ॥ २८ ॥
प्रयच्छ ठद्वयान्तोऽयं द्वाविंशत्यक्षरो मनुः ।
मुनिश्चतुर्मुखश्छन्दो गायत्री देवता मनोः ॥ २९ ॥
दक्षिणामूर्तिराख्यातो वेदव्याख्यानतत्परः ।
तारुद्धैः स्वरैर्दीर्घैःषड्भिरङ्गानि कल्पयेत् ॥ ३० ॥
अथवा मनुसम्भूतैः पदैर्वा कल्पयेत्क्रमात् ।
पूर्वोक्तवटमूलस्थं चिन्तयेन्मन्त्रनायकम् ॥ ३१ ॥
स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्याज्ञानमुद्राः कराग्रैः ।
दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥ ३२ ॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
जुहुयात्सघृतैः पद्मैर्दशांशं संस्कृतेऽनले ॥ ३३ ॥
पूर्वोदिते यजेत्पीठे वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।
अङ्गानभ्यर्चयेद्बाह्ये पत्रेष्वष्टसु पूजयेत् ॥ ३४ ॥
सरस्वतीं वाचयन्तीं पुस्तकं सस्मिताननाम् ।
ब्रह्माणं सनकं पश्चात्सनन्दनमतःपरम् ॥ ३५ ॥
सनत्कुमारनामानं शुकं व्यासं गणेश्वरम् ।
सिद्धगन्धर्वयोगीन्द्रविद्याधरगणान्बहिः ॥ ३६ ॥

दिति ॥ *निपीतमिति* । "शुचिना प्रातरि"ति शेषः । *तन्त्रान्तरोक्तं यन्त्रमुच्यते—"अथ मेधाकरं ज्ञानवाक्सिद्धिकविताकरम् । वक्ष्येऽहं दक्षिणामूर्तियन्त्रं सर्वार्थसाधकम् ॥ दन्तपत्रदलोपेतं पङ्कजं भूर्जचर्मणि । दूर्वाग्रैः पशुपित्ताद्यं(१)लिखेच्च कर्णिकोदरे ॥ साध्याख्यां प्रविलिख्याथ पत्रेष्वानुष्टुभं लिखेत् । तद्बहिः पृथिवीगेहं तत्कोणे नकुलीश्वरम् ॥ तस्मिन्नावाह्य संपूज्य देवं संतर्प्य धारयेत् । तस्य हस्तगतं सद्यो ब्रह्मज्ञानादिकं भवेदि"ति ॥ २७ ॥

मन्त्रान्तरमाह—*प्रणव इति* । हृदयं–नमः पदम् । अत्रापि पूर्ववद्विसर्गेण सन्धिः । *ङेयुतोदक्षिणामूर्त्तिः*—दक्षिणामूर्त्तये । मह्यं मेधामित्यत्र हसमेधामित्यर्थः । प्रज्ञामेभामित्यन्ये । केचन मेधापदस्थाने प्रज्ञाशब्दमाहुः ॥ इदं सर्वस्तु वगुरुसंप्रदायानुसारेण बोद्धव्यम् । प्रणवान्तोनादोबीजं, स्वाहा शक्तिः *नारदीये तु*—"शक्तिरहस्येहवाग्भव" इत्युक्तम् ॥ २८ ॥ २९ ॥ १/२ ॥

तारुद्धैरिति ॥ प्रणवसंपुटितैः । *षड्भिर्दीर्घैः स्वरैः* । आईऊऐऔअः। एभिरित्यथ ३०॥

अथवेति । तत्र प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तैः षड्भिः पदैःषडङ्गमिति परमगुरवः । अक्षरन्यासस्तु *नारदीये*—"शिरोललाटहृदयनासागण्डरदद्वये। जिह्वान्तोग्रे(?) गले बाह्वोर्हृन्नाभ्यन्धु २)गुदोरुषु॥ जानुजङ्घापार्ष्णिपादं सर्वसन्धिषु चान्तिममि"ति ॥ *वटमूलस्थमिति*अत्र विशेषः—"व्याख्यापीठे समासीनमाक्रान्तापस्मृति पदे"ति ॥ ३१ ॥

*उरगकक्षं बिलम्बबद्धसर्पं, दक्षोर्ध्वाद्दक्षाधस्तनं यावदायुधस्थानम् । तदुक्तं-"दक्षिणे

---

(१) गोरोचनाकुङ्कुमादिभिः । (२) अन्धु लिङ्गम् ॥

बाह्ये लोकेश्वरानर्चेद्वज्राद्यायुधसंयुतान् ।
इत्थं पूजादिभिः सिद्धे मन्त्रेऽस्मिन्साधकोत्तमः ॥ ३७ ॥
वक्ताऽभिजायते,वाचां वाचस्पतिरिवापरः ।
मन्त्रेणानेन सम्प्तैर्विशुद्धैः सलिलैः सुधीः ॥ ३८ ॥
अभिषिञ्चेत्स्वशिरसि श्रियमारोग्यमाप्नुयात् ।
कण्ठमात्रे जले स्थित्वा जपेन्मन्त्रं सहस्रकम् ॥ ३९ ॥
प्रत्यहं मण्डलादर्वाक्कवीनामग्रणीर्भवेत् ।
गौर्या पार्श्वस्थया सार्द्धं श्रीकामी चिन्तयन्विभुम् ॥४०॥
अयुतं प्रजपेन्मन्त्रं भूयसीं श्रियमाप्नुयात् ।
भुञ्जानः प्रयतो म ो गोमूत्रे श्रृतमोदनम् ॥ ४१ ॥
भिक्षान्नमथवा मन्त्रमयुतं प्रत्यहं जपेत् ।
अश्रुतान्वेदशास्त्रादीन् व्याचष्टे नात्र संशयः ॥ ४२ ॥
सिद्धगन्धर्वमुनिभिर्योगीन्द्रैरपि सेविते ।
ज्ञानवागर्थिनां प्रोक्तौ कथितौ मन्त्रनायकौ ॥ ४३ ॥
लोहितोऽग्न्यासनः सद्यबिन्दुमान्प्रथमं ततः ।

चाक्षमालां च ज्ञानमुद्रां च पावनीम् । वामे पुस्तकमापूर्णपीयूषकलशं तथे"ति॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

बहिरिति । चतुरस्रान्तर्दिक्षु ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ½ ॥

गौर्येति । तद्ध्यानं यथा—"ऐश्वर्यकामो देवेशं देव्या सार्द्धं यजेत् सुधीः । उद्यार्क-समप्रख्यां बन्धूकसदृशप्रभाम् ॥ आपीनतुङ्गकठिनकुचद्वयविराजिताम् । द्विनेत्रां द्विभुजां पद्महस्तां च जनमोहिनीम् ॥ देवस्य वाम ार्श्वस्थां संचिन्त्याराधयेन्नरः । तदा मन्त्रे विशेषोऽस्ति मेधा स्थानेश्रियं न्यसेदि"ति ॥ *श्रीकामी* इत्यत्र पुटितत्वं ज्ञेयम् ॥ ४० ॥ ½ ॥

भुञ्जान इति । अत्र प्रयोगे ध्यानविशेषो यथा—"वामपाणिगतद्योतजातवेदसपुस्तकम् । व्याख्यामुद्राक्षमालाभ्यां विराजितकरद्वयामि"ति ॥ ४१ ॥

भिक्षान्नमथ वेति । भुञ्जान इति सम्बन्धः । अश्रुतानीत्यत्र बालापुटितत्वं ज्ञेयम्॥४२॥

सिद्धेति । अनेन वश्यादिप्रयोगा अपि सूचिताः। वश्यकामो महादेवं रक्तवर्णं विचिन्तयेत् वामोरुसंस्थितां देवीं चिन्तयेन्मदविह्वलाम् ॥ प्रजासृष्टिनिमित्तं च चिन्तयन्तौ स्मरेच्छिवावि"ति ॥ *कल्पोक्तं यन्त्रं लिख्यते*—"भूर्जे रोचनया दशारसहितं पद्मं लिखेत्कर्णिकामध्ये तारलिपौ ससाधकनराभिख्यं मनुं द्वन्द्वशः । पत्रेष्वन्त्यदलेत्रयञ्च(१)लिपिभिः संवेष्टयेद्वाह्यत संपूज्याथ जपेन सत्यफलितं कर्णेन सर्वज्ञताम् ॥ यात्यतेन च साधयेद्दनुदिनं स्तम्भादिकं वश्यकृद्यद्यद्वाञ्छितमन्यदत्र सुधियः कामानिहामुत्रचे"ति ॥ ४३ ॥

नीलकण्ठमन्त्रमाह—*लोहित इति* । लोहितः पः । अग्नीरेफः तदासनः। तेन प्रसद्यओ बिन्दुश्च । तेनप्रों ततस्तस्मात्प्रथमानः। वह्निबीजं रेफः। दीर्घा नकारः। शान्तरो इन्दुबिन्दुस्तद्युक्ता तेन नीं । लाङ्गली टकारः। सर्गो विसर्गः। तद्युक्तः। अरुणऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दः।

---

(१) दशदलपद्मं विरच्य कर्णिकायां साध्यनामयुक्तं प्रणवमुल्लिख्य नवदलेषु वर्णद्वयं दशमे वर्णत्रयं लिखेदित्यर्थः ।

द्वितीयं वह्निबीजं स्याद्दीर्घा शान्तीन्दुभूषिता ॥ ४४ ॥
तृतीयं लाङ्गली सर्गी मन्त्रोबीजत्रयान्वितः ।
नीलकण्ठात्मकः प्रोक्तोविषद्वयहरः परः ॥ ४५ ॥
हरद्वयं वह्निजाया हृदयं परिकीर्तितम् ।
कपर्द्दिने ठयुगलं शिरोमन्त्र उदाहृतः ॥ ४६ ॥
नीलकण्ठाय ठद्वन्द्वं शिखामन्त्र उदाहृतः ।
कालकूटपदस्यान्ते विषभक्षणङेयुतम् ॥ ४७ ॥
हुं फट् कवचमादिष्टं विद्धांद्धर्नीलकण्ठिने ।
स्वाहान्तमस्त्रमेनानि पञ्चाङ्गानि मनीर्विदु· ॥ ४८ ॥
मूर्द्धिन कण्ठे हृदम्भोजे क्रमाद्बीजत्रयं न्यसेत् ।
ततः समाहितोभूत्वा नीलकण्ठं विचिन्तयेत् ॥ ४९ ॥
बालार्कायुततेजसन्धृतजटाजूटेन्दुखण्डोज्ज्वलम् ।
नागेन्द्रैः कृतभूषणं जपवटीं शूलं कपालङ्करैः ॥
खट्वाङ्गं दधतं त्रिनेत्रविलसत्पञ्चाननं सुन्दरम् ।
व्याघ्रत्वक्परिधानमब्जनिलयं श्रीनीलकण्ठं भजे ॥ ५० ॥
लक्षत्रयं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं ससर्पिषा ।
हविषा जुहुयात्सम्यक् संस्कृते हव्यवाहने ॥ ५१ ॥
शैवे पीठे यजेदेनं मृत्युञ्जयविधानतः ।
एवं पूजादिभिः सिद्धे मनौ मन्त्रीविषद्वयम् ॥ ५२ ॥
नाशयेदचिरादेव नीलकण्ठ इवापरः ।
मनुनानेन सञ्जप्तैः कुम्भस्थैः सलिलैः शुभैः ॥ ५३ ॥
अभिषिञ्चेद्विषाक्रान्तं स विषान्मुच्यते ध्रुवम् ।
स्पृष्ट्वा जपेद्विषाक्रान्तं तत्क्षणं निर्विषो भवेत् ॥ ५४ ॥
बीजाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां पार्श्वयोर्विषमाहरेत् ।
मध्येन मध्यगं सर्वं मनुनानेन संहरेत् ॥ ५५ ॥
बहुना किमिहोक्तेन मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।
कालकूटविषं साक्षाद्भुक्तं स्यात्परमामृतम् ॥ ५६ ॥
अग्निःसंवर्त आदित्यरानिलौषष्ठबिन्दुमत् ।

आद्यं बीजम् । अन्त्यः शक्तिः ॥ ४४ ॥

विषद्वयं—स्थावरजङ्गमं तद्धरमेतदिति विनियोग उक्तः ।

ङेयुतमिति चतुर्थ्येकवचनान्तम् । आयुधध्यानं पूर्ववत् ॥ ४७-५६ ॥

दक्षिणवक्त्रप्रधानमन्त्रानन्तरमुत्तरवक्त्रप्रधानं चिन्तामणिमन्त्रमाह—*अग्नीति* । अग्नी-रेफः । संवर्त्तकः क्षः । आदित्यो मः । र स्वरूपम् । अनिलो यः । औ स्वरूपं, षष्ठ ऊ बिन्दुः । एतद्युक्तं बीजम् । अत्र स्वरद्वयोच्चारणमपि गुरूपदेशतो ज्ञेयम् । रेफो बीजम् । ऊकारः शक्तिः *सर्वसमृद्धिदमिति* । अनेन पौष्टिके सकारादिः शुभः । आकर्षणवश्ययोर्यथोद्धृतो यथा

चिन्तामणिरितिख्यातं बीजं सर्वसमृद्धिदम् ॥ ५७ ॥
काश्यपोमुनिराख्यातश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
अर्द्धनारीश्वरः प्रोक्तो देवता जगतां पतिः ॥ ५८ ॥
रेफादिव्यञ्जनैः षड्भिः कुर्यादङ्गानि षट् क्रमात् ॥ ५९ ॥
नीलप्रवालरुचिरं विलसत्त्रिनेत्रं पाशारुणोत्पलकपालत्रिशूलहस्तम् ।
अर्द्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषं बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम् ॥ ६०॥
एकलक्षं जपेद्बीजमित्थं मन्त्री विचिन्तयेत् ।
अयुतं मधुना सिक्तैर्जुहुयात्तिलतण्डुलैः ॥ ६१॥
शैवोदिते यजेत्पीठे प्रागङ्गैः षड्भिरीरितैः ॥
वृषाद्यैर्मातृभिः पश्चाल्लोकपालैस्तदायुधैः ॥ ६२ ॥
एवमभ्यर्चयेद्देवमर्द्धनारीश्वरं परम् ॥
तेजः कान्तियशोलक्ष्मीवाचां भवति वल्लभः ॥ ६३ ॥
प्रासादाद्यं जपेन्मन्त्रमयुतं रोगशान्तये ।
स्वरावृतमिदं बीजं विगलत्परमामृतम् ॥ ६४ ॥
चन्द्रबिम्बस्थितं मूर्द्धिन ध्यातं क्ष्वेडगदापहम् ।
प्रतिलोमस्वरावीतं बीजं वह्निगृहे स्थितम् ॥ ६५ ॥

(यथा)। ध्यानं च। क्षोभे हकारादीरक्तः। हंसादिरपि यथोक्तः। उच्चाटने यकारादिर्धूम्रः। स्तम्भने लकारादिः पीतः। मोक्षार्थं हादिः। रफरहितो नास्ति(?)इति सूचयता विनियोगः उक्तः। एषां संयोगऊर्ध्वाग्निस्थानेकात्पूर्वमित्युक्तेः। *जगतां पतिः* रित्यननोमेशोऽपि देवतेत्युक्तम्। *यदाहुराचार्याः* "छन्दोऽनुष्टुब् देवतोमेशः यान्तैः षड्भिर्वर्णैरङ्गं वा(?)देवतार्द्धनारीशः" इति ॥ ५७ ॥

रेफादीति। कषयोगे क्ष इति क्षकारस्य व्यञ्जनद्वयम्। एवं रेफादियान्तैः षड्भिः सबिन्दुकैः षडङ्गानीति संप्रदायविदः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

अर्द्धनारीश्वरपक्षे ध्यानमाह—*नीलेति*। महेशार्द्धं नीलं, पार्वत्यर्द्धं प्रवालरुक्। पाशोत्पले देव्यर्द्धहस्ताग्रे। अन्ये महेशार्द्धहस्ताग्रे। *प्रविभक्तभूषमिति*। महेशांशे सर्पाद्यलङ्कृतं, पार्वत्यंशे रत्नताटङ्काद्यलङ्कृतमिति। उमेशपक्षे ध्यानमा *चार्योक्तं यथा*—"अहिशशधरगङ्गाबद्धतुङ्गासमौलिस्त्रिदशगणनताङ्घ्रिस्त्रीक्षणः स्त्रीविलासः। भुजगपरशुशूलान् खड्गवह्नीकपालं शरमपि धनुरीशोबिभ्रदव्याच्चिरन्नः" । इति। इदं ध्यानं प्रयोग विषये। पुरश्चरणनित्यजपादौ तु अर्द्धनारीश्वरध्यानमेव। *यदाहुराचार्याः*—"हावभावकलितार्द्धनारिकं भीषणार्द्धमथवा महेश्वरम्। पाशसोत्पलकपालशूलिनं चिन्तयेज्जपविधौ विभूतय" इति ॥ ६० ॥ ६१ ॥

यजेत्पीठे। उमेशमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

परं मर्द्धनारीश्वरम्। एवमभ्यर्चयेदित्यन्वयः। *एवं*मुपदेशमार्गेणेत्यर्थः ॥ तत्र शैवं पीठं संपूज्यार्द्धनारीश्वरमावाह्याभ्यर्च्याङ्गैः प्रथमावरणं रावष्टवर्णैर्द्वितीयं, मातृभिस्तृतीयं, तदनु लोकपालैर्वज्राद्यैश्च। तदुक्तमाचार्यैः—"आरभ्यादिज्वलनमथदिक्संस्थैरष्टभिर्मनोवर्णैः। आराधयेच्चमातृभिरिति संप्रोक्तः प्रयोगविधिरपर" इति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

चन्द्रबिम्बस्थितम्। ठकारस्थं मूर्द्धिन ध्यातं "विषार्त्तस्ये"ति शेषः ॥ *वह्निगृह इति*। ऊर्ध्वाग्रे त्रिकोणे ॥ ६५ ॥

रेफादिव्यञ्जनोल्लासिषट्कोणाभिवृतं बहिः ।
भूतार्त्तस्य स्मृतं मूर्द्धिन भूतमाशु विनाशयेत् ॥ ६६ ॥
बीजं चन्द्रगतं वीतं स्वरैः षोडशभिः क्रमात् ।
गलत्परसुधापूर्णं नेत्रे ध्यातं रुजं हरेत् ॥ ६७ ॥
एवमेवस्मृतं बीजं कुक्षौ शूलादिरोगहृत् ।
स्फोटे विषज्वरे दाहे मोहे शीर्षगदे भ्रमे ॥ ६८ ॥
बीजमेतत्तथाध्यातं तत्तत्क्लेशान्विनाशयेत् ।
कुङ्कुमाभमिदं बीजं त्रिकोणगतमुज्ज्वलम् ॥ ६९ ॥
यस्य मूर्द्धिन स्मरेन्मन्त्री स वश्यो जायतेऽचिरात् ।
ऊर्ध्वरेफस्थसाध्याख्यं बीजं वह्निगृहे स्थितम् ॥ ७० ॥
वह्निगेहद्वयेनाग्नियुक्तकोणेन संवृतम् ।
प्रतिलोमस्वरावीतं चुल्लीस्थाने निवेशितम् ॥ ७१ ॥
वशीकरोति रमणमचिरेणैव दासवत् ।
मधुरत्रययुक्तेन शालिपिष्टेन पुत्तलीम् ॥ ७२ ॥
कृत्वा प्रतिष्ठितप्राणां विभज्य जुहुयाद्वशी ।
त्रिवासरमनेनैव साध्यस्तस्य वशो भवेत् ॥ ७३ ॥
मकारगतसाध्याख्यमनलस्थगदाह्वयम् ।
चन्द्रगश्चतुरस्रेण टान्तकोणेन वेष्टितम् ॥ ७४ ॥
बीजं ताम्बूलपत्रस्थं प्रजप्तं मनुनामुना ।
भक्षितं नाशयेत्सम्यक् शिरोरोगं न संशयः ॥ ७५ ॥
लिखित्वा बन्धुजीवेन त्रिकोणं बीजगर्भितम् ।
अत्र वह्निं समाधाय सम्यगाराध्य देवताम् ॥ ७६ ॥

रेफादीति । रकषमरयानि ॥ ६६ ॥
चन्द्रगतं—ठकारगतम् ॥ ६७ ॥
एवमेवेति । ठकारगं स्वरावृतम् ॥ गलत्परसुधारूपमिति ॥ ६८ ॥
तथेति । ठकारगं स्वरावृतं, गलत्परसुधारूपमिति ध्यानम् ॥ *विनाशयेदिति* । तत्तत्स्थाने ॥ ६९ ॥ ७० ॥
अग्निरेफः । भूर्जपत्रादौ यन्त्रं कृत्वा चुल्ल्यां निखनेदित्यर्थः ॥ ७१ ॥
पुत्तलीमिति । द्वादशाङ्गुलाम् । *प्रतिष्ठितप्राणामिति* त्रयोविंशे वक्ष्यमाणप्रकारेण ७२ ७३
मकारेति ॥ मन्त्रस्थेत्यर्थः । *अनलस्थेति* । ऊर्ध्वरेफगतगगनामयुक्तम् । "वह्नि यावकाद्यदि" त्यस्य व्याख्याने विषसंबन्धिरेफ इति पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम् ॥ *चन्द्रगं* ठकारस्थम् ॥ *टान्तकोणेन*—चतुरस्रेण वेष्टितं बीजमिति संबन्धः ॥ ७४ ॥ ७५ ॥
बन्धुजीवेनेति । । बन्धुजीवपुष्परसेन । अन्यत्र बन्धुजीवपदेन जपापुष्पं पठ्यते । यथा च—"जपात्रिकोणगे वह्नाविऽति । प्रपञ्चसारटीकाकारेण विज्ञानचन्द्रिकाकृता व्याख्यातम्—"बन्धुजीवं बन्धूकं जपा वे"ति ॥ ७६ ॥

जुहुयात्कृतसंपातं सर्पिषाष्टोत्तरं शतम् ।
संपाताज्येन संसिक्ता त्रिलोहकृतमुद्रिका ॥ ७७ ॥
विधृता भूतवेतालकृत्यारोगविनाशिनी ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वं वह्निरहितं मनुमेनं वह्निगेहयुगलोपरि लिखितम् ।
अग्निमस्त्रिषु मह्रीपुरवीतं यन्त्रमेतदुदितं ग्रहगैरि ॥ ७९ ॥
अग्निबीजलसत्कोणत्रिकोणलिखिते ध्रुवे ।
शरावे कपिलाज्याब्जसूत्रदीपं प्रविन्यसेत् ॥ ८० ॥
घटेनैनं पिधायास्य पृष्ठे यन्त्रमिदं लिखेत् ।
भूतार्तमत्र संस्थाप्य चिन्तामणिमनुं जपेत् ॥ ८१ ॥
तमाविश्य क्षणान्नश्येद्ग्रहः क्रूरोऽपिसर्वथा ॥ ८२ ॥
कृशानुभवनद्वये मनुमिमं लिखित्वा पुन-
स्तदस्त्रिषु हलोल्लिखेत्स्वरयुगं ततःसन्धिषु ।
ध्रुवेण परिवेष्टितं धरणिगेहमध्यस्थितम्
मनोरथफलप्रदं भवति यन्त्रमेतन्नृणाम् ॥ ८३ ॥
षट्कोणान्तस्त्रिकोणे लिखतु मनुमिमं साध्यनामाक्षराढ्यम्
षट्कोणेष्वङ्गमन्त्रान्वसुदलविवरेष्वष्टमन्त्राक्षराणि ॥
वीतं बाह्ये कलाभिस्तदनु परिवृतं कादिभिर्यादिभिस्त-
त्कोणीविम्बेन युक्तं नृहरिमनुयुजा यन्त्रमापद्ग्रहघ्नम् ॥८४॥

त्रिलोहकृतेति । षष्ठोक्तरीत्या ॥ पद्मपादाचार्यैर्मन्त्राक्षरसंख्यं लोहत्रयं ग्राह्यमित्युक्तम् । *अग्निं*—परम् । *अस्त्रिषु*—षट्सु कोणेषु ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

लिखित इति । रक्तरजसेति ज्ञेयम् । उक्तं च *नारायणीये*—"तारे बीजाङ्ककोणाग्निगेहस्थे रजसार्पिते" इति । अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यातं रक्तेन रजसाग्निगेहं संश्लिष्य तत्कोणेष्वग्निबीजं लिखित्वा तन्मध्ये प्रणवं लिखेदिति ॥ ८० ॥

एनं-शरावम् । *अस्य*-घटस्य । *इदं*मित्युक्तम् ॥ *लिखेदिति* । जपया । *अत्रेति* । लिखितयन्त्रघटपृष्ठे । *जपेदिति* । "ग्रस्तं संस्पृश्ये"ति शेषः ॥ ८१ ॥

नश्येदिति । मन्त्राभिषेकेण । तदुक्तं *नारायणीये*—"ततपिधाय घटेनान्यतस्त्र-यन्त्रे कृपया कृते । घटपृष्ठगते ग्रस्तं न्यस्तचिन्तामणिं जपेत् ॥ ग्रहावेशविनाशार्थं ग्रस्तं तेनाभिषेचयेदि"ति । *स्वेति*(१)चिन्तामणिमन्त्रम् । *तेनेति* । चिन्तामणिमन्त्रेणेति लघुटीकायां व्याख्यानम् ॥ *तदस्त्रिषु* । तत्कोणेषु । *हलो*—व्यञ्जनानि बीजस्थानि रक्षमरयाः । *स्वरयुगं*—बीजस्थम् औ ऊ । *ध्रुवेण*-प्रणवेनैकावृत्तिः । धरणिगेहास्त्रिषु नृसिंहबीजलिखितं ज्ञेयम् ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

अष्टमन्त्राक्षराणीति । षट्हलः । द्वौ स्वरौ एकैके वर्णरीत्या । *कलाभिः*—स्वरैः । *कादिभिर्यादिभिरिति* अनेन मातृकया आवृत्तित्रयमुक्तम् ॥ *नृहरिमन्विति* । नृसिंहबीजं भूगृहकोणेषु । तदुक्तं—"कुगेहास्त्रके नारसिंहमि"ति ॥ ८४ ॥

---

(१) एतदादि नारायणीयवचनव्याख्यानन्तदर्शाद्यन्यतः प्राक्तनम् ॥

अस्मिन्यन्त्रे प्रतिष्ठाप्य कलशं प्रोक्तवर्त्मना ।
कृताभिषेकः स्यात्कृत्याभूतद्रोहादिशान्तिदः ॥ ८५ ॥
स्वरावृतमयुङ्मनुं लिखतु टान्तमध्ये ततः ।
षडस्त्रिषु हुताशनं तदनु कादिवर्णैर्वृतम् ॥
धरापुरयुगेन तन्नृहरिबीजयुक्ताश्रिणा ।
प्रवेष्टितमुदाहृतं दुरितरोगकृत्यापहम् ॥ ८६ ॥
क्षकारोमाग्निपवनवामकर्णार्द्धचन्द्रवान् ।
उक्तं तुम्बुरुबीजं तद्येन सिध्यन्ति सधकाः ॥ ८७ ॥
षड्दीर्घभाजा बीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ।
क्षकाररहितं बीजं क्रमाज्जभसहान्वितम् ॥ ८८ ॥
चत्वारि देवीबीजानि देव्योज्ञेया इमाः क्रमात्
जयाख्या विजया पश्चादजिता चापराजिता ॥ ८९ ॥
बीजमङ्गुलिषु न्यस्य करयोर्व्यापकं ततः ॥
कनिष्ठादिषु विन्यस्येत्षडङ्गानि तलावधि ॥ ९० ॥
देवं देवीः स्वबीजाद्वि कनिष्ठादिषु विन्यसेत् ॥
पादान्मूर्द्धावधि न्यस्येन् मुष्टिनाऽवयवेषु तत् ॥ ९१ ॥
तलाभ्यां व्यापकं कुर्यान्मूर्धादि चरणावधि ॥
षडङ्गानि ततोन्यस्येद्यथास्थानं विशालधीः ॥ ९२ ॥

प्रोक्तवर्त्मनेति । षष्ठोक्तरीत्या ॥ ८९ ॥

टान्तमध्ये—ठकारमध्ये । *षडस्त्रिषु*—षट् कोणेषु । *हुताशनं*—रेफम् ॥ ८६ ॥

तुम्बुरुबीजमाह—*क्षकार इति* । क्षकारः क्षः। म स्वरूपम् । अग्नीरेफः। पवनो वायुर्यः वामकर्ण ऊकारः । अर्द्धचन्द्रो बिन्दुस्तद्युक्तः । बीजशक्ती पूर्ववत् ॥ ८७ ॥

षड्दीर्घेति । गडङ्गमन्त्रोद्धारः । न्यासं त्वग्रे वक्ष्यति । जभसह इति स्वरूपम् । एतानि क्रमेण क्षकारस्थाने योजितानि चत्वारि देवीबीजानि । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"बीजं जभसहोपेतं क्षेत्रस्थाने यथाक्रमादि"ति । *नारायणीयेऽपि*—"मूलं जमसहोपेतं देवीबीजान्यमन्दिर" इति । अपेक्षितार्थद्योतनिकायामेवं बीजान्युद्धृतानि । लस्तुलेखकदोषवशात्क्वचिद्दृश्यते ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

बीजमिति । मूलबीजम् । *करयोर्व्यापकमिति* । हस्तवलयोरत्रोपरि च "मूलबीजेने"ति शेषः । तदुक्तं-*नारायणीये*—"न्यस्याङ्गुलिषु मूलं तद्धस्तयोर्व्यापकं न्यसेदि"ति । अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेद्बीजमित्यनेनैव करन्यासस्य प्राप्तत्वात्—कनिष्ठादिष्विति विशेषविधानार्थपुनरुक्तिः ॥ ९० ॥

स्वबीजादीति । देवस्य मूलं, देवीनां तूक्तानि चत्वारि । जमसहान्वितंमूलम् । *मुष्टिना* दक्षिणेन । *अवयवेषु* । पादजानुगुह्यनाभिहृदयकण्ठमुखशिरःसु स एवमपेक्षितार्थद्योतनिकाकारोक्तन्तनूमूलम् । उक्तंच*नारायणीये*—"मुष्टिनावयवेषु च । पादादि न्यस्य मूर्धादि तलाभ्यां व्यापकं न्यसेदि"ति ॥ ९१ ॥

*विशालधीरि*त्यनेन शैवमुद्राभिः सहेत्युक्तम् ॥ ९२ ॥

---

(१) "ईश्वरः शर्वईशान" इत्यमरः ॥

देवं देवी यथापूर्वं मूर्द्धास्यहृदयाम्बुजे ॥
नाभौ गुह्ये क्रमान्न्यस्येत्पश्चाद्देवं विचिन्तयेत् ॥ ९३ ॥
रक्ताभमिन्दुसकलाभरणं त्रिनेत्रं खट्वाङ्गपाशसृणिशूलकपालहस्तम् ॥
वेदाननं चिपिटनासमनर्घ्यभूषं रक्ताङ्गरागकुसुमांशुकमीशमीडे ॥ ९४ ॥
लक्षमानं जपेन्मन्त्रं जुहुयात्सर्पिषाऽयुतम् ।
वक्ष्यमाणे यजेत्पीठे देवमावरणैः सह ॥ ९५ ॥
नपुंसकस्वरैर्विद्वान्स्वराद्यन्तद्वयेन च ।
धर्मादिकानधर्माद्यान्पादगात्राणि विन्यसेत् ॥ ९६ ॥
इकारेण न्यसेत्पश्चात्तत्त्वरूपान्गुणानथ ।
शान्त्या तत्परवर्णेन मायाविद्यामये क्रमात् ॥ ९७ ॥
अधऊर्ध्वच्छदे न्यस्येदर्घीशेन ततोऽम्बुजम् ।
सन्ध्यक्षरैर्यजेन्मन्त्री शक्तीर्वामादिकाः क्रमात् ॥ ९८ ॥
वामां ज्येष्ठां तथा रौद्रीमिच्छां ज्वालास्वरूपिणीः ।
एवं प्रकल्पिते पीठे मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ॥ ९९ ॥
आवाह्य पूजयेद्देवं तस्यामावरणैः सह ।
अङ्गावृतेर्बहिर्देवीं दिक्पत्रेषु समर्चयेत् ॥ १०० ॥
जयाद्याः स्वस्वबीजेन रक्ता रक्तानुलेपनाः ।
अरुणांशुकपुष्पाढ्यास्ताम्बूलाऽऽपूरिताननाः ॥ १०१ ॥
वल्लकीवादनपरा मदमन्मथपीडिताः ।

यथापूर्वमिति । स्वस्वबीजादि ॥ ९३ ॥

ध्यानमाह *रक्ताभमिति* । *सृणिरङ्कुशः । दक्षाधस्ताद्वामाधः पर्य्यन्तमायुधध्यानम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

स्वदेहे पीठकल्पनामाह—*नपुंसकेति* । अनुलोमविलोमगैरिति—लेखकदोषवशात्प्रामादिकः पाठः । स्वराद्यन्तद्वयेन चेति पाठः । तदुक्तं *नारायणीये*—"नासादिभिः स्वराद्यन्तैश्चतुर्भिश्च क्रमात्बुध"इति । *प्रयोगसारेऽपि*—"क्लीबैराभ्याममोभ्यां च क्रमाद्धर्म्मादिपूजनमि"त्ति । एवं षोडशापि स्वरा उपयुक्ता भवन्ति । अपेक्षितार्थद्योतनिकाकारेण एवमेव प्रयोगो लिखितः। तेन क्लीवाद्यान् धर्म्मादीन् , अमाअंअः एतदाद्यानधर्मादीन् । *विन्यसेदिति* । चतुर्थौकस्थानेषु ॥ ९६ ॥

गुणानिति । सत्त्वादीन् त्रिवर्णान्। *शान्त्या*—ईकारेण। *तत्परवर्णेन* उकारेण।९७।

अर्घीशेन—ऊकारेण । *सन्ध्यक्षरैरिति* ।एऐ ओऔ एभिः । एषां यथासन्निवेशमवस्थं तथा द्वितीयपटले प्रतिपादितम् ॥ ९८ ॥

ज्वालास्वरूपिणीरिति । पीठशक्तिध्यानम् । तदुक्तं *नारायणीये*- "ज्वलदनलशिखाभा भास्वराः शक्तयः स्युरि"ति । मूलबीजमुच्चार्य्य "तुम्बुरुयोगपीठाय नम" इति पीठमन्त्रोऽपि सूचितः ॥ *एवं प्रकल्पिते पीठे इत्य*नेन । *एवमिति* । येन प्रकारेण देहे पीठं कल्पितं तेनैव क्रमेण मण्डलेऽपि पीठे परिकल्पित इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

तस्यामिति । मूर्तौ । *ईशादिकोणेष्विति* । ईशकोणमारभ्य प्रदक्षिणमाग्नेय-

ईशादिकोणेष्वभ्यर्च्य दूतीबीजादिकाः क्रमात् ॥ १०२ ॥
दुर्भगां सुभगां भूयः करालीं मोहिनीमिमाः ।
बद्धाञ्जलिपुटाः किंचिदानम्रवदनाम्बुजाः ॥ १०३ ॥
देवीः खड्गशभूषाढ्या दूतीमन्त्रान्विदुः क्रमात् ।
चतुरः शादिकान्वर्णानर्द्धेन्दुकृतशेखरान् ॥ १०४ ॥
लोकपालान्यजेद्बाह्ये वज्राद्यायुधसंयुतान् ।
एवं यो भजते भक्त्या देवमुक्तेन वर्त्मना ॥ १०५ ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
वायुवह्निपुरान्तस्थं बीजं स्मृत्वा जपेत्सुधीः ॥ १०६ ॥
ज्वरभूतमहारोगा नश्यन्ति तेन तत्क्षणात् ।
क्रुद्धस्य हृदये ध्यात्वा जपेद्बीजमनन्यधीः ॥ १०७ ॥
स वश्यो जायते शीघ्रं मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ।
हृद्रोगे कामला रोगे विषूचिश्वासकासयोः ॥ १०८ ॥
एतज्जप्तं जलं प्रातः पिबेच्चद्रोगशान्तये ।
कृत्वा नवपदात्मानं मण्डलं तत्र शोभनान् ॥ १०९ ॥
कलशान्स्थापयेन्मन्त्री नव पूर्वोक्तलक्षणान् ।
मध्येदेवं यजेत्सम्यक् देवीः पूर्वादिकुम्भगाः ॥ ११० ॥
दृष्ट्वा कोणस्थिता दूतीरभिषिञ्चेत्पतिव्रता ।
नारी सा लभते पुत्रं वन्ध्यापि किमुतापरा ॥ १११ ॥
भूतकृत्याग्रहद्रोहशान्तिदः संपदावहः ।
अभिषेकोऽयमाख्यातो राज्ञां विजयवर्द्धनः ॥ ११२ ॥
अन्तर्बीजं स्वरगणलसत्केसरं तस्य बाह्ये ।
देवीदूतीमनुयुतदलं दिग्विदिक्षु क्रमेण ॥

पर्यन्तमित्यर्थः । तदुक्तं *नारायणीये* "तादृक्‌रूपाश्च दूत्योरचितकरपुटाः किंचिदानम्रवक्त्राः शर्वाद्यरन्यन्तसंस्था" इति ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ ½ ॥

शादिकानिति । शषसहान् । अर्द्धेन्दुर्बिन्दुः । तदुक्तं *प्रयोगसारे*—"ऊष्माणो बिन्दुशेखराः । दूतीगमिति तद्बीजमि"ति । *नारायणीयेऽपि*—"बीजानि दूतीनामूष्माणो बिन्दुशेखरा" इति ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ ½ ॥

वाय्विति । प्रथमपटलोक्तवायुमण्डलं तत्राग्निपुरं तदन्तः स्थं बीजमित्यर्थः । *स्मृत्वा* "मूर्द्धनी"ति शेषः ॥ १०७ ॥

वश्यो जायत इत्यत्र कामबीजादित्वम् ॥ १०८ ॥

रोगशान्तये इत्यत्र नृसिंहबीजादित्वम् । *नवपदात्मानं* *नवपदान्वितं नवनाभं* तृतीयोक्तम् ॥ १०९ ॥

पूर्वोक्तेति । षष्ठोक्तम् ॥ ११० ॥

कोणस्थिताः । ईशादात्यादिः *लभते पुत्रमित्यत्र* मायाबीजादित्वम् ॥ १११ ॥

विजयवर्द्धनः इत्यत्र दुर्गाबीजादित्वं ज्ञेयम् ॥ ११२ ॥

कार्यैर्वर्णैर्वृतमथ बहिर्भूमिगेहेन वीतम् ।
यन्त्रं प्रोक्तं सकलसुखदं रोगकृत्याग्रहघ्नम् ॥ ११३ ॥
प्रणवो हृदयं पश्चात् ङेऽन्तं पशुपतिं पुनः ।
तारो नमोभूतपदं ततोऽधिपतये ध्रुवम् ॥ ११४ ॥
नमो रुद्राय युगलं खड्गरावणशब्दतः ।
विरहद्वितयं पश्चात्सरनृत्ययुगं पृथक् ॥ ११५ ॥
श्मशानभस्मार्चितान्ते शरीराय ततः परम् ।
घण्टाकपालमालादि धरायेति पदं पुनः ॥ ११६ ॥
व्याघ्रचर्मपदस्यान्ते परिधानाय तत्परम् ।
शशाङ्ककृतशब्दान्ते शेखराय ततः परम् ॥ ११७ ॥
कृष्णसर्पपदं पश्चात्ततो यज्ञोपवीतिने ।
चलयुग्मं वल्गुयुगमनिवर्तकपालिने ॥ ११८ ॥
हनयुग्मं ततो भूतान् त्रासयद्वितयं पुनः ।
भूयो मण्डलमध्ये स्यात् कट्टयुग्मं ततः परम् ॥ ११९ ॥
रुद्राङ्कुशेन शमय प्रवेशययुगं ततः ।
आवेशययुगं पश्चाच्चण्डासिपदमीरयेत् ॥ १२० ॥
धराधिपतिरुद्रोऽथ ज्ञापयत्यग्निसुन्दरी ।
खड्गरावणमन्त्रोऽयं सप्तत्यूर्ध्वशताक्षरः ॥ १२१ ॥
भूताधिपतये स्वाहा पूजामन्त्रोऽयमीरितः ।
सद्यादिपञ्चह्रस्वाढ्यकान्तबीजादिकान्न्यसेत् ॥ १२२ ॥
ईशानाद्याः पञ्चमूर्तीर्देहे वक्त्रेषु च क्रमात् ।
षड्दीर्घबिन्दुयुक्तेन मान्तेनाङ्गक्रिया मता ॥ १२३ ॥
घण्टाकपालसृणिमुण्डकृपाणखेटखट्वाङ्गशूलडमरूनभयन्दधानम् ।
रक्ताङ्गमिन्दुशकलाभरणं त्रिनेत्रं पञ्चाननाब्जमरुणांशुकमीशमीडे ॥१२४॥
अयुतद्वितयं मन्त्रं जपित्वा तद्दशांशतः ।

यन्त्रमाह—*अन्तरिति* । अष्टदलं कमलं कृत्वा तत्कर्णिकायां मूलमालिख्य दिग्दलेषु देवीबीजानि विदिक्षु दूतीबीजानि । *क्रमेणेति* पूर्ववल्लिखेत् ॥ ११३ ॥

खड्गरावणमन्त्रमाह—*प्रणव इति* ॥ ११४ ॥

ङेऽन्तं पशुपतिम् । पशुपतये । *तारः* प्रणवः । ततः अधिपतये । अत्र प्राक्तनेन सह सन्धिः । *ध्रुवम्* । प्रणवम् ॥ ११५ ॥

पृथगिति । सर सर नृत्य नृत्य ॥ ११६ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

रुद्रो इति स्वरूपम् । अथानन्तरमग्निसुन्दरी—स्वाहा । अन्यत्र कुत्रापि न सन्धिः । प्रणवो बीजं, स्वाहा शक्तिः ॥ १२१ ॥

कान्तः खः ॥ १२२ ॥

ईशानाद्या इति । पूर्वपटलोक्ताः ॥ *देह इति* । शिरोवदनहृद्गुह्यपादेषु ॥ *वक्त्रेष्विति* । ऊर्ध्वादिपञ्चसु । *कान्तेनेति* खकारेण । आयुधध्याने दक्षाधऊर्ध्वयोराद्ये, तदधस्तनयो-

पायसेन घृताक्तेन जुहुयात्तस्य सिद्धये ॥ १२५ ॥
पश्चात्तदोदिते पीठे पूजयेत्खड्गरावणम् ।
बीजेन मूर्तिक्लृप्तिः स्यात्तत्कान्तं मनुबिन्दुमत् ॥ १२६ ॥
अङ्गानि दलमूलेषु दूतीः पत्रेषु संयजेत् ।
चुलुकुण्डां प्रस्खलिनीं तृतीयां कृष्णपिङ्गलाम् ॥ १२७ ॥
फल्गुनीं टिरिटिल्लीं च पञ्चमीं मन्त्रमालिकाम् ।
सप्तमीं शङ्खिनीं पश्चाच्चन्द्राङ्कितजटामिमाः ॥ १२८ ॥
पूर्वपत्रादि सव्येन खड्गरावणवल्लभाः ।
ऐन्द्रीं कौमारिकीं ब्राह्मीं वाराहीं वैष्णवीं पुनः ॥ १२९ ॥
वैनायकीं च चामुण्डां माहेशीं दिक्षु पूजयेत् ।
द्वारपालान्यजेद्दिक्षु द्वौ द्वौ प्रागादिदेशिकः ॥ १३० ॥
रौद्रपिङ्गलनामानौ द्वौ श्मशानविभीषणौ ।
दृढकर्णं भृङ्गिरीटिमुदीच्यामर्चयेत्पुनः ॥ १३१ ॥
आमर्दकमहाकालौ कोणपालान्यजेत्पुनः ।
कुम्भकर्णमशोकाख्यं भल्लाटं च सिंहाह्वकम् ॥ १३२ ॥
इन्द्रादिकाँल्लोकपालान्सायुधान्पूजयेत्ततः ।
धूपदीपादिभिर्देवं प्रीणयित्वा महेश्वरम् ॥ १३३ ॥
पञ्चकूरान्धसा बाह्ये ततो भूतबलिं हरेत् ।
एवं पूजादिभिः सिद्धे मन्त्रे मन्त्रविदाम्बरः ॥ १३४ ॥
नाशयेत्सकलान्भूतान्कृत्याग्रहमहाभयान् ।
आदेशं तस्य कुर्वन्ति भूता भीता महात्मनः ॥ १३५ ॥
बहुना किमिहोक्तेन मन्त्रेणानेन भूतले ।
सदृशोनास्ति मन्त्रोऽन्योभूतनिग्रहसाधने ॥ १३६ ॥
इतिशारदातिलके ऊनविंशः पटलः ॥ १९ ॥ * ॥ * ॥

न्ये, एवमान्तम् ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ १२५१/२ ॥
बीजेनेति । अनन्तरं वक्ष्यमाणेन । *तदिति* । बीजम् ॥ १२६ ॥
* दूतीरिति* । वक्ष्यमाणाः ॥ १२६ ॥ १२७१/२ ॥
चन्द्राङ्कितजटामिति अष्टमी ॥ १२८ ॥
*सव्येनेति*प्रादक्षिण्येन ॥ १२९ ॥ १३०१/२ ॥
*उदीच्यामित्यु*त्तरेण सम्बध्यते ॥ १३१ ॥
कोणपालानिति । आग्नेयादीत्यादिः ॥ १३२॥१३३ ॥
पञ्चकूरान्धसेति । अन्नदधिसक्तुहरिद्रालाजतिलरूपेण । *तदुक्तमाचार्यैः*—"लाजतिलन(१)क्तरजोदधिसक्तन्नानि भूतकूराख्यमि"ति ॥१३४॥१३५॥१३६॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्संप्रदायकृतव्याख्यां पदार्थादर्शाभिख्यायामू—नविंशः पटलः ॥ १९ ॥*॥

---

(१) नक्तंनिशा-हरिद्रा "निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रावरवर्णिनी"इत्यमरः। रजः सक्तुः

अथाभिधास्ये विधिवदघोरास्त्रमनुत्तमम् ।
यस्य संस्मरणादेव सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ॥ १ ॥
माया स्फुरद्वयं भूयः प्रस्फुरद्वितयं ततः ।
घोरघोरतरेत्यन्ते तनुरूपपदं पुनः ॥ २ ॥
चटयुग्मं (१)तदन्तेस्यात्प्रचटद्वितयं ततः ।
कहयुग्मं वमद्वन्द्वं ततो बन्धयुगं पुनः(२) ॥ ३ ॥
घातयद्वितयं वर्म फडन्तः समुदाहृतः ।
एकपञ्चाशदर्णोऽयमघोरास्त्रमहामनुः ॥ ४ ॥
अघोरोऽस्य (३)मुनिः प्रोक्तश्छन्दस्त्रिष्टुबुदाहृतम् ।
अघोररुद्रः संदिष्टो देवता मन्त्रवित्तमैः ॥ ५ ॥
हृदयं पञ्चभिः प्रोक्तं शिरः षड्भिरुदाहृतम् ।
शिखा दशभिराख्याता तावद्भिः कवचं मतम् ॥ ६ ॥
वसुवर्णैः स्मृतं नेत्रं मासार्णैरस्त्रमीरितम् ।
मूर्द्धनेत्रास्य कण्ठेषु हृन्नाभ्यन्धूरुषु क्रमात् ॥ ७ ॥
जानुजङ्घापदद्वन्द्वे रुद्रभिन्नाक्षरैर्न्यसेत् ।
पञ्चभिश्च पुनः षड्भिर्द्वाभ्यामष्टभिरक्षरैः ॥ ८ ॥
चतुर्वर्णैः षडर्णैश्च करणैः करणैः पुनः ।
चतुर्भिः षड्भिरक्षिभ्यां वर्णभेदोऽयमीरितः ॥ ९ ॥

मन्त्रमुद्धरति—*मायेति* माया शक्तिबीजम्। *तनुरूपेति–स्वरूपं, वर्म्म हुं ॥१॥२॥ ३ ॥
*महामनु*रित्यनेन कामनाविशेषे तत्तद्बीजान्तत्वमुक्तम् । यदाहुः–"हुमन्तः स्तम्भने मन्त्रः क्रोमाकृष्टौ समापने । वषडन्तः संवनने नमोन्तो विपनाशने ॥ ग्रहचोररिपुध्वंसे हुं क्रोमन्तोविधीयते । शक्त्यन्तश्चाखिलेष्टाप्त्यैक्षौमन्तोमारणे भवेत् ॥ फडन्तोभूतसंहारे मन्त्रोऽयं कल्पपादपः" ॥ इति । *ईश्वरकल्पे तु*—प्रस्फुरद्वयवर्जितः एकचत्वारिंशदक्षर उद्धृतः । मन्त्रस्थहलो बीजानि । स्वराः शक्तयः । हुं बीजम् । ह्रीं शक्तिरिति पद्मपादाचार्याः ॥४॥
मन्त्रवित्तमैरि त्युत्तरत्र सम्बध्यते । तेनाङ्गमन्त्रेषु एकादशभागेष्वपि प्रत्येकं प्रणवमायाबीजयोगः सूचितः पद्मपादार्यसंमतेः ॥ ६ ॥
*तावद्भि*र्दशभिः ॥ *वसुवर्णै* रष्टार्णैः। *मासार्णै*र्द्वादशभिः। क्वचिदन्त्यार्णैरिति पाठः । तदा अवशिष्टाक्षरैरित्यर्थः ॥ ७ ॥
रुद्रभिन्नेति। एकादशधाभिन्नैरक्षरैः। तमेव भेदमाह–*पञ्चभिरिति*। *करणैः–चतुर्भिः ९।
ध्यानमाह—*सजलेति*। दक्षैर्भुजैः परशुखड्गबाणशूलानि वामैरन्यैरन्यान्येवमायुधध्यानम् ॥ १० ॥

---

(१) अत्र "चेटयुग्मपदस्यान्ते" इत्यपिपाठः ।
(२) अत्र "गन्धद्वितयमेवच" इत्यपिपाठः क्वचित् ॥
(३) "अघोरऋषिराख्यातश्छन्दोक्षाष्टरमीरितम् ॥ अघोरोदेवताऽऽख्यातो वाञ्छितार्थेजपेन्मनुम्" इत्यपि पाठः ।

सजलघनसमाभं भीमदंष्ट्रं त्रिनेत्रं भुजगधरमघोरं रक्तवस्त्राङ्गरागम्।
परशुडमरुखड्गान्खेटकं बाणचापौ त्रिशिखनरकपाले बिभ्रतं भावयामि ।१०।

अभिचारे ग्रहध्वंसे (१)कृष्णवर्णो भवेद्विभुः।
वश्ये कुसुम्भसङ्काशो मुक्तौ चन्द्रसमप्रभः॥ ११॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं घृतसिक्तैस्तिलैः शुभैः।
तद्दशांशं प्रजुहुयान्मन्त्री मन्त्रस्य सिद्धये॥ १२॥
शैवे सम्पूजयेत्पीठे षट्कोणान्तः स्थपङ्कजे।
अङ्गपूजां केसरेषु कृत्वा पत्रेषु तत्परम्॥ १३॥
परशुं डमरुं खड्गं खेटं बाणं च(णांश्च) कार्मुकम्।
शूलं कपालं प्रयजेदष्टास्त्राण्यस्य देशिकः॥ १४॥
दलाग्रेषु ततः पूज्या ब्राह्मयाद्याः प्रोक्तलक्षणाः।
लोकेशान्पूजयेत्पश्चादायुधैः स्वैः समन्वितान्॥ १५॥
इति पूजादिभिः सिद्धे मन्त्रेणानेन साधकः।
दृष्टान्प्रयोगान्कुर्वीत सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः॥ १६॥
क्रमात्सर्पिरपामार्गतिलसर्षपपायसैः।
साज्यैः सहस्रं प्रत्येकं यामिन्यां जुहुयात्सुधीः॥ १७॥
होमोऽयं नाशयेत्सद्यो भूतकृत्याद्युपद्रवान्।

ग्रहध्वंसे। ग्रहवैकृते। यदाहुः-"कृष्णोऽभिचारग्रहवैकृतेचे"ति। अभिचारइत्याद्युपलक्षणम् तेन कामनाविशेषे ध्यानविशेषा अपि ज्ञेयाः। यदाहुः-"सहस्रान्त्रिरवहस्तैर्धनुः पञ्चशतैरपि। सन्धायाकृष्य च शरान्विमुञ्चन्तमनारतम्॥ धावन्तं रिपुसेनायां वमद्विद्युद्घनोपमम्। ज्वलत्पिङ्गोर्ध्वकेशं च गजचर्मावगुण्ठितम्॥ ध्यायेन्नाशाय सैन्यानामरातीनां महास्वनम्। त्रिपादहस्तनयनं नीलाञ्जनचयोपमम्॥ शूलासिसूचीहस्तं च घोरदंष्ट्राट्टहासिनम्। घोरापस्मृतिनाशाय ग्रहशान्त्यै विचिन्तयेत्॥ धावन्तं वैरिणं पश्चादत्युग्रं सधनुः शरम्। ध्यायेदुच्चाटनायारेः स तु देशान्तरं व्रजेत्॥ खड्गं खेटं तथा घण्टां वेतालं शूलमेव च। कपालं चापि बिभ्राणं पिङ्गोर्ध्वकचभीषणम्॥ भूतप्रेतादिनाशाय ध्यायेद्भीमाट्टहासिनम्। सिताब्जशीतांशुपुटमिन्दुकान्तीन्दुवर्चसम्॥ आशाम्बरं व्याघ्रनखप्रमुखैर्बालभूषणैः। अलङ्कृताङ्गं द्विभुजं त्रिवर्षार्द्धकरूपिणम्॥ कन्नाङ्गं(२) सुमुखं सौम्यं नीलकुञ्चितकुन्तलम्। स्मरन्नेवमघोरं यः स मृत्युविजयो भवेत्॥ तप्तजाम्बूनदनिभं शूलखड्गवराभयम्। रक्तारविन्दवसतिं स्मरन्नुचैः श्रियं लभेदि"ति॥ ११॥

*शुभैरि*त्यनेनात्रकरं दूरीकृत्य प्रक्षाल्यशोषितैरित्युक्तम्॥ १२॥

संपूजये द्देवमिति शेषः। *षट्कोणेति*। अष्टदलं पद्मं कृत्वा तदुपरि षट्कोणं विधाय चतुर्द्वारं कुर्यात्॥ १३॥ १४॥

प्रोक्तलक्षणाः षष्ठपटलोक्तरूपाः॥ १५॥ १६॥

अपामार्गेति। अपामार्गसमिधः। *साज्यैरिति*। षष्ठं द्रव्यमाज्यमित्यर्थः॥ १७॥

---

(१) अभिचारमहोन्मादे इत्यपि पाठः। ३ कुङ्कुमसंकाशः इत्यपि पाठः।
(२) कमनीयविग्रहम्॥

सितकिंशुकनिर्गुण्डी होमोऽपामार्गसम्भवैः ॥ १८ ॥
समिद्वरैः कृतोहोमः पूर्ववद्भूतशान्तिदः ।
अपामार्गार्कवधयोः पञ्चगव्यसमुक्षिताः ॥ १९ ॥
समिधो जुहुयात्कृष्णपक्षस्थां निशि संयुतः ।
पृथक् सहस्रहोमेन भूतानां निग्रहो भवेत् ॥ २० ॥
क्रमात्सर्पिरपामार्गपञ्चगव्यहविर्घृतैः ।
हुत्वा सहस्रं प्रत्येकं पात्रे संपा(१)तयेत्सुधीः ॥ २१ ॥
संपातसर्पिषा साध्यं भोजयेद्भूतशान्तये ॥ २२ ॥
मध्ये शक्तिं ससाध्यां स्वरगणसहितां केसरेष्वष्टवर्गा-
न्पत्रान्तर्मन्त्रवर्णान् लिखतु गुणमितानग्रदेशेषु तद्वत् ।
वर्मास्त्रोल्लासिकोणे दहनपुरयुगे कल्पिते भूपुरस्थे
यन्त्रेऽस्मिन्प्राग्विधानात्कृतकलशविधिः सर्वदुःखापहारी ॥ २३ ॥
षट्कोणे शक्तिरन्तः स्फुरयुगलवृता प्रस्फुरद्वन्द्वकोणे
शिष्टैर्मन्त्रस्य वर्णैरसकरणचतुः षट्चतुर्वेदवेदैः ।
षड्भिः क्लृप्ताष्टपत्रं दहनपुरयुगेनावृतं वर्म फयुग्भ्यां
राजत्कोणेन बीतं (बाह्ये) धरणिपुरयुगं यन्त्रमाघोरमेतत् ॥२४॥
क्षुद्रचौरग्रहव्यालभूतापस्मारनाशनम् ।

हेम-धत्तूरः ॥ १८ ॥

पूर्ववदिति । यामिन्यां प्रत्येकं सहस्रम् ॥ १९ ॥ २० ॥

पञ्चगव्यहविरिति । पञ्चगव्यसिद्धपायसमित्यर्थः। तदुक्तं *क्रियाकालगुणोत्तर तन्त्रे*—"पञ्चगव्योद्भवं शुद्धं चरु तद्वत् घृतं नवमि"ति । *हुत्वा*-निशीति ज्ञेयम् ॥ २१ ॥ २२ ॥

यन्त्रमाह—*मध्य इति । साध्येति साधकादीनामुपलक्षणम् । अथ वा साध्यतेयस्तत् साध्यं तत् सहितम् । तेनामुकस्यामुकं वशं कुरुकुरु । अयमर्थः साध्यशब्दसंगृहीतो भवति अष्टदलं कृत्वा तत्कर्णिकायां साध्यसाधककर्मसहितं शक्तिबीजं स्वरावीतमालिखेत् । तदुक्तं "हल्लेखास्थितसाध्याक्षरविलसत्कर्णिकं कलावीतमि"ति । *अष्टवर्गानिति* । कचटतपयश-लान् । *गुणमितान्* । त्रिशः । *मन्त्रवर्णान्* स्फुराद्यान् चटचटान्तान् । *अग्रदेशेषु*-पत्राग्रेषु । *तद्वदिति* । त्रिशोमन्त्रवर्णान् । प्रचटाद्यान् घातयान्तान् । तद्बाह्ये परस्पर-व्यतिभिन्नं त्रिकोणद्वयं कृत्वा तत्कोणेषुवर्मास्त्रे लिखेत् । *प्राग्विधानादिति* षष्ठोक्त-रीत्या । तदुक्तं "मन्त्राक्षरत्रयोद्यतदलमध्यदलाग्रकं च तद्बाह्ये" वह्निपुटाश्रितकवचा-स्त्रमि"ति । केचित्तु "वर्मास्त्रोल्लासिकोणे दहनपुरयुगे मध्ये शक्तिमि"ति ॥ २३ ॥

यन्त्रान्तरमाह *षडिति* । एकाक्षरक्रमेण प्रस्फुरद्वन्द्वकोणे अन्तर्मध्ये स्फुरयुगलवृता यथावत्साध्यसाधककर्मसहिता शक्तिर्लेख्या । *शिष्टैरिति* । घोराद्यैर्घातयान्तैः । *दहनपुर-युगेनावृतमिति* । बाह्ये । *सर्वसिद्धिप्रदायकमिति"* अनेनैतदुक्तं भवति । यदाहुः—"अथ शत्रुजयं वाञ्छन् घातयप्रपुटं रिपोः । नामकृत्वा चिताभूमौ नियुतं प्रजपेन्मनुम् ॥ लवणो-षणधूमाग्निसूरणोन्मत्तवारिभिः । सिक्तैः कारस्करफलैर्जुहुयादयुतं सुधीः ॥ उच्चाटे प्रस्फुरपुटं

---

(१) "पात्रंसम्पूरयेत्सुधीरि"त्यपि पाठः ।

यन्त्रमेतत्समाख्यातं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥ २५ ॥
तारोवान्तोधरासंस्थो वामनेत्रेन्दुभूषितः ।
पार्श्वोवकः कर्णयुतो वर्माखान्तः षडक्षरः ॥ २६ ॥
मनुः पाशुपतास्त्राख्यो ग्रहक्षुद्रनिवारणः ।
षड्भिर्वर्णैः षडङ्गानि हुंफडन्तैः सजातिभिः ॥ २७ ॥
मध्याह्नार्कसमप्रभं शशिधरं भीमाट्टहासोज्ज्वलम् ।
त्र्यक्षं पन्नगभूषणं शिखिशिखाश्मश्रुस्फुरन्मूर्द्धजम् ।
हस्ताब्जैस्त्रिशिखं समुद्गरमसिं शक्तिं दधानं विभुम् ।
दंष्ट्राभीमचतुर्मुखं पशुपतिं दिव्यास्त्ररूपं स्मरेत् ॥ २८ ॥
वर्णलक्षं जपेन्मत्रं जुहुयात्तद्दशांशतः ।
गव्येन सर्पिषा मन्त्री संस्कृते हव्यवाहने ॥ २९ ॥
शैवे पीठे यजेद्देवं प्राङ्गैरष्टमातृभिः ।
इन्द्रादिभिर्लोकपालैर्वज्राद्यैरायुधैस्ततः ३० ॥
अनेन मन्त्रितं तोयं ग्रस्तस्य वदने क्षिपेत् ।
सद्यस्तं मुञ्चति क्रन्दन् ग्रहो मन्त्रप्रभावतः ॥ ३१ ॥
अमुना मन्त्रितान् बाणान् विसृजेद्युधि भूपतिः ।
जयेत्क्षणेन निखिलान् शत्रून्पार्थ इवापरः ॥ ३२ ॥
वर्णान्त्यमौबिन्दुयुक्तं क्षेत्रपालाय हृन्मनुः ।

मोहने कहसंयुतम् । संस्तम्भने चटपुटं वियोगे प्रचटेन तु ॥ वमेत्युन्मादने भूयो बन्धयुग्मेन बन्धने" इति । अथ चतुस्त्रिंशदक्षराघोरस्य यन्त्रमुच्यते—"अथोसप्तपङ्क्त्यारयुक्तं सरोजं ततः कर्णिकामध्यतारस्य मध्ये । त्रयीसारसंभिन्नसाध्याह्वयं स्यान्मनुं द्वन्द्वशः पत्रमध्येषु लिख्या ॥ वृतं यन्त्रराजं समाबध्य सूत्रैः करे वा गळे मस्तके बाहुकट्याम् । वहन्यः समप्रश्रियोभाजनं स्यात्तथैवाणिमाद्यैरलंविस्तरेणे"ति । सप्तपङ्क्त्यारयुक्तं सप्तदशदलं, मन्त्रः प्रथमपटले मदुक्तोऽनुसन्धेयः ॥ द्विषड्चक्षुरब्धिः षडक्षरैर्वर्म्मास्त्रद्विठान्तैरङ्गम् । अस्यान्यत् सर्वं पूर्वयन्त्रवज्ज्ञेयम् । एकचत्वारिंशदक्षरस्य तु "वेदषड वेददिङ्नागषड्वर्णैः शक्तिपूर्वकैः । हुं फडन्तैः षडङ्गं स्यादन्यत्पूर्ववदीरितम्" इति ॥ २४ ॥ २५ ॥

पाशुपतास्त्रमाह *तार इति* । तारः प्रणवः । वान्तः शः । धरा लः । तत्संस्थः तेन श्ल । वामनेत्रमी । इन्दुर्बिन्दुः । तेनश्लीं । पार्श्वः पः । वकः शः । कर्णयुत–उकारयुतः । तेनशु ॥ ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीच्छन्दः श्लींबीजं हुं शक्तिः ॥ २६ ॥

ग्रहेत्यादि–विनियोगोक्तिः । *षड्भिर्वर्णै*र्मन्त्रस्थैः ॥ *हुंफडन्तैरिति* । प्रत्येकम् । आयुधध्यानं तु दक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये, तदधस्थयोरन्त्ये ॥ *वर्णलक्षं* षड्लक्षम् । २७।२८।२९।३०

मुञ्चतीत्यत्र नृसिंहबीजादित्वं, जपेदित्यत्र दुर्गाबीजादित्वमित्यादि ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

क्षेत्रपालमन्त्रमाह—*वर्णेति* । वर्णान्त्यंक्षः । औ स्वरूपं, हृन्नमः पदम् ॥ *वसुवर्णोयमिति* । वसुवर्णत्वमनूद्य ताराद्यत्वं विधीयत इति ज्ञेयम् । ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीच्छन्दः क्षौं बीजं आयेतिशक्तिः । क्वचिदेकाक्षरएवोद्धृतः । तदुक्तं *प्रयोगसारे* । "औबिन्दुसंयुतं बीजं वर्णान्त्यं सर्वसिद्धिदमि"ति । *अत्र विशेषः *प्रयोगसारे*–"भेदा एकोनपञ्चाशत् क्षेत्रपालस्य कीर्त्तिताः । मातृकाबीजभेदेन सम्भिन्ना नामभेदतः ॥ अजरश्चापकुम्भश्चइन्द्रमूर्तिस्ततः परः । ईडाचारश्चो-

तारान्योवसुवर्णोऽयं क्षेत्रपालस्य कीर्तितः ॥ ३३ ॥
षड् दीर्घभाजा बीजेन षडङ्गान्यस्य योजयेत् ।
ऋषिर्ब्रह्मा भवेदस्य गायत्रं छन्द ईरितम् ॥ ३४ ॥
क्षेत्रपालो देवता चलायेति शक्तिरीरितः ॥ ३५ ॥
नीलाञ्जनाद्रिनिभमूर्ध्वपिशङ्गकेशं वृत्तोग्रलोचनमुपात्तगदाकपालम् ।
आशाम्बरं भुजगभूषणमुग्रदंष्ट्रं क्षेत्रेशमद्भुततनुं प्रणमामि देवम् ॥३६॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः ।
चरुणा घृतसिक्तेन ततः क्षेत्रेशमर्चयेत् ॥ ३७ ॥
धर्मादिकल्पिते पीठे पूर्वमङ्गानि पूजयेत् ।
अनलाख्यमग्निकेशं करालं तदनन्तरम् ॥ ३८ ॥
घण्टारवमहाकोपं पिशिताशनसंज्ञकम् ।
पिङ्गलाक्षमूर्ध्वकेशं पत्रेषु परितोयजेत् ॥ ३९ ॥
प्रधानमूर्तिप्रतिमान्नानालङ्कारबन्धुरान् ।
लोकपालांस्तदस्त्राणि यथापूर्वं प्रपूजयेत् ॥ ४० ॥
तस्मै सपरिवाराय बलिमेतेन निर्हरेत् ।
पूर्वमेहि द्वयं पश्चाद्विदुषि स्यात्पुरुद्वयम् ॥ ४१ ॥
भञ्जय द्वितयं भूयोनर्तय द्वितयं पुनः ।
ततो विघ्नपदद्वन्द्वं महाभैरवतत्परम् ॥ ४२ ॥
क्षेत्रपाल बलिं गृह्णद्वयं पावकसुन्दरी ।
बलिमन्त्रोऽयमाख्यातः सर्वकामफलप्रदः ॥ ४३ ॥

वकसंज्ञ उन्मादकपिसूदनः ॥ ऋमुक्तो लक्षकेशश्च लूपकश्चैकदंष्ट्रकः । ऐरावतश्चौघबन्धुरौषधिघ्नस्तथैव च ॥ अञ्जनः स्वबाहुश्च कम्बलः खरखानलः । गोमुखश्चैव घण्टादोङगारश्चण्डचारणः॥ छटाटोपोजटाज्ञाख्यो झङ्कारोऽथ जटेश्वरः । टङ्कपाणिस्तथाचान्यष्ठाणबन्धुश्चडामरः ॥ ढङ्कारवोणकर्णश्च तडिद्दाहस्थिरस्तथा। दन्तुरोधनदश्चाथ नतिक्रान्तः पिचण्डकः। फट्कारोवीरसंघश्च भृङ्गाख्यो मेघभासुरः । युगान्तो रौरवश्चाथ लम्बोष्ठो वसवस्तथा ॥ शुक्रनन्दः षडालाख्यः सुनामाहंहुकस्तथा । एते भेदास्समाख्याता मातृकाक्षरयोनिजाः ॥ तत्र तत्र विशिष्टात्माभेदैरेतैर्व्यवस्थितः । ततो विशिष्टोयष्टव्यः क्षेत्रपालस्तु सर्वतः ॥ क्षेत्रपालमसम्पूज्ययः कर्म कुरुते क्वचित् । तस्य कर्मफलं हन्ति क्षेत्रपालो नसंशय" इति ॥ ३३ ॥

बीजेनेति । मन्त्रद्वितीयेन ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

नीलेति । नीलोऽतएवाञ्जनाद्रिनिभस्तम्। उपात्ते गृहीते "हस्ताभ्यामि"ति शेषः। गदाकपाले येन तं, दक्षे गदा वामे कपालमित्यादि आयुधध्यानम्। *आशाम्बरं-नग्नम्। "कपालिनङ्गदापाणिमि"ति नारायणीये । "करधृतोग्रगदाकपालमि"ति प्रयोगसारे॥ ३६ ॥ ३७ ॥

धर्मादिकल्पित इति । चतुर्थोक्तप्रकारेण तु पीठशक्तिपूजा ॥ ३८ ॥

महाकोपमिति । महाक्रोधमिति ज्ञेयम् । प्रयोगसारनारायणीये तथोक्तेः ॥३९॥

*प्रधानमूर्तीत्य*नलादीनां ध्यानम् ॥ ४० ॥

*सपरिवाराय*अङ्गादिसहिताय ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

सोपदंशं बृहत्पिण्डं कृत्वा रात्रिषु साधकः ।
स्मृत्वा यथोक्तं क्षेत्रेशं तस्य हस्ते बलिं हरेत् ॥ ४४ ॥
बलिनानेन सन्तुष्टः क्षेत्रपालः प्रयच्छति ।
कान्तिमेधाबलारोग्यतेजः पुष्टिर्यशः श्रियः ॥ ४५ ॥
उद्धरेद्बटुकं ङेऽन्तं आपदुद्धारणं तथा ।
कुरुद्वयं पुनर्ङेऽन्तं बटुकान्तं समुद्धरेत् ॥ ४६ ॥
एकविंशत्यक्षरात्मा शक्तिरुद्धो महामनुः ।
अभीष्टफलसंसिद्ध्यै कीर्तितः सुरपादपः ॥ ४७ ॥
बृहदारण्यक ऋषिश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
आपदुद्धारणो देवो भैरवो देवता बुधैः ॥ ४८ ॥
अङ्गुलीदेहवक्त्रेषु मूर्तीर्न्यस्येद्यथापुरा ।
सद्यादिपञ्चह्रस्वाढ्यशक्तिबीजपुटः सरम् ॥ ४९ ॥
वकारं पञ्चह्रस्वाढ्यमीशानादिषु योजयेत् ।
षड्दीर्घयुक्तया शक्त्या वकारेण च तद्वता ॥ ५० ॥

सर्वकामफलप्रदइति। सिद्धः सन् । सिद्धिश्च सहस्रवारजपादित्यपेक्षितार्थद्योतनिकाकारः ॥ ४३ ॥

उपदंशम् । व्यञ्जनम् । *रात्रिषु* । प्रहरादूर्ध्वम् । *यथोक्तं*—पूर्वोक्तं ध्यानं, नीलसारमेयारूढम् ॥ *हस्ते इति* । वामहस्तगतकपाले इत्यर्थः । तदुक्तं—*नारायणीये*—"सिद्धेनानेन मन्त्रेण तत्कपाले बलिं हरेत् । वामदोष्णाष्टदिक्स्थानामन्येषामानताद्भिरि"ति ।
प्रयोगसारेऽपि—"अथ वा प्राङ्गणे ध्यात्वा क्षेत्रेशं प्रोक्तलक्षणम् । शिखियानसमारूढं तत्कपाले बलिं हरेदि"ति । तत्र प्रयोगः । रात्रौ प्रहरादूर्ध्वं प्राङ्गणे गोचर्ममात्रं विलिप्य रक्तगन्धपुष्पाक्षतादीन् तत्र संस्थाप्य कराङ्गन्यासं कृत्वा मूलं दशधा जप्त्वा पीठं संपूज्य तत्र क्षेत्रपालमावाह्य उपचारान्(१) कृत्वा सावरणमभ्यर्च्य विजयीभूत्वा बलिमन्त्रेण वामहस्तेनः तत्कपाले त्रिर्बलिमुदकं च दत्त्वा "अनलाय स्वाहे"त्यादि मूर्तिभ्योऽङ्गेभ्यश्च सकृद्दत्वा हस्तं प्रक्षाल्य स्वयं देवः सन्नष्टोत्तरशतं मूलमावर्त्तयेदिति ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

आपदुद्धारणमन्त्रमाह—*उद्धरेदिति* ॥ *बटुकं ङेऽन्तं*-बटुकाय । *तथेति* । ङेऽन्तम् । तेन आपदुद्धारणाय ॥ ४६ ॥

शक्तिरुद्धः । शक्तिबीजपुटितः । *सुरपादपः* । साधकानां वाञ्छितप्रदत्वात्कल्पतरुरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

भैरवऋषिर्गायत्रीच्छन्दः । वं बीजं, माया शक्तिः ॥ ४८ ॥

अङ्गुलीति । अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु । *देहेति* । शिरोवदनहृद्गुह्यपादेषु ।*वक्त्रेष्विति* । ऊर्ध्वप्राग्दक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु । *यथापुरेति* । ईशानाद्यानां देहे वक्त्रेषु चन्यासे तत्तदङ्गुलीभिर्न्यास इत्युक्तम् ॥ *सद्यादय* ऊकाराद्याः । आदिशब्देन तत्पुरुषाघोरवामसद्याः । "ह्रीं वों ईशानाय नमः" अङ्गुष्ठे । इत्यादि प्रयोगः ॥ ४९ ॥

तद्वतेति । षड्दीर्घयुक्तेनेत्यर्थः । "ॐ ह्रांवां हृदयाय नमः" इत्यादि प्रयोगः । सात्त्विकध्याने शूलदण्डौ वामदक्षाभ्याम् । तदुक्तं *विश्वसारोद्धारे*—"वामहस्ते त्रिशूलं च सूक्ष्म-

---

(१) गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्यान् ।

अङ्गानि जातियुक्तानि प्रणवाद्यानि कल्पयेत् ।
तस्य ध्यानं त्रिधा प्रोक्तं सात्त्विकादिविभेदतः ॥ ५१ ॥
वन्देबालं स्फटिकसदृशं कुन्तलोल्लासिवक्त्रम् ।
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः किङ्किणीनूपुराद्यैः ।
दीप्ताकारं विशदवसनं सुप्रसन्नं त्रिनेत्रम्
हस्ताब्जाभ्यां बटुकमनिशं शूलदण्डौ दधानम् ॥ ५२ ॥
उद्यद्भास्करसन्निभं त्रिनयनं रक्ताङ्गरागस्रजम् ।
स्मेरास्यं वरदं कपालमभयं शूलं दधानं करैः ।
नीलग्रीवमुदारभूषणशतं शीतांशुचूडोज्ज्वलं
बन्धूकारुणवाससं भयहरं देवं सदा भावये ॥ ५३ ॥
ध्यायेन्नीलाद्रिकान्तं शशिशकलधरं मुण्डमालं महेशं
दिग्वस्त्रं पिङ्गकेशं डमरुमथ सृणिं खड्गपाशा(शूलाऽ)भयानि ।
नागं घण्टाकपालं करसरसिरुहैर्बिभ्रतं भीमदंष्ट्रम् ।
सर्पाकल्पं त्रिनेत्रं मणिमयविलसत्किङ्किणीनुपुराढ्यम् ॥५४॥
सात्त्विकं ध्यानमाख्यातमपमृत्युनिवारणम् ॥
आयुरारोग्यजननमपवर्गफलप्रदम् ॥ ५५ ॥
राजसन्ध्यानमाख्यातं धर्मकामार्थसिद्धिदम् ।
तामसं शत्रुशमनं कृत्याभूतग्रहा(गदा)पहम् ॥ ५६ ॥
वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं हविष्याशी जितेन्द्रियः ।
तद्दशांशं प्रजुहुयात्तिलैर्मधुरसंयुतः ॥ ५७ ॥
धर्माधर्मादिभिः क्लृप्ते पीठे पङ्कजशोभिते ।
षट्कोणान्तस्त्रिकोणस्थव्योमपङ्कजसंयुते ॥ ५८ ॥

दण्डं तु दक्षिणे" इति । राजसध्याने वामयोराद्ये दक्षयोरन्त्ये । तामसध्याने मुदक्षयूर्ध्वयोराद्ये तदधस्थयोर्द्वितीये । तदधस्थयोरुपान्त्ये । तदधस्थयोरन्त्ये। अत्रध्यानानन्तरं डमरुकमुद्रां दर्शयेत् । *तल्लक्षणं तु*—"मुष्टिं सुशिथिलां बध्वा ईषदुच्छ्रितमध्यमाम् । दक्षिणादूर्ध्वमुन्नम्य कर्णदेशे प्रचालयेत ॥ एषा मुद्रा डमरुका सर्वविघ्नविनाशिनी"ति ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

वर्णलक्षणम् । एकविंशतिलक्षम् ॥ *क्लृप्ते पीठे इति* । चतुर्थोक्तप्रकारेण । नत्वत्र पीठशक्तयः । कीदृशे पीठे ? *षट्कोणान्तस्त्रिकोणस्थव्योमपङ्कजसंयुते* ॥ ? पुनः कीदृशे *पङ्कजशोभिते* । तेन मातृकापद्मं कृत्वा तदुपरि त्रिकोणं तदुपरि षट्कोणं तदुपरि अष्टदलं पद्मं तदुपरि चतुरस्र(१) चतुर्द्वारमिति पूजायन्त्रम् । तदुक्तं *विश्वसारोद्धारे*—"चतुरस्रासने प-

(१) अत्र विशेषपाठः पुस्तकान्तरे दृश्यते-यथा—
"चतुरस्रत्रयम्चतुर्द्वारयुतं कार्यम् । तथाचोक्तंयामाले "अष्टपत्रम्महादेवि कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् । पद्मं विलिख्य तन्मध्ये कर्णिकायां सुरेश्वरि ! ॥ कृत्वाष्टकोणमत्यन्तात्रिकोणम्परिकल्पयेत् । व्योमपद्मन्तु तन्मध्यं वसुपद्मविराजितम् ॥ कर्णिकाकेसरैर्युक्तं चतुरस्रत्रयंबहिः ; चतुर्द्वारसमायुक्तं तन्मध्येबटुकं यजेत् ॥ इति ।

बटुकं पूजयेद्देवं मूर्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
सद्योजातेन मन्त्रेण देवमावाहयेत्ततः ॥ ५९ ॥
मूलादिवामदेवेन स्थापयेत्परमेश्वरम् ।
मूलमन्त्रेण कर्तव्यं सान्निध्यं तदनन्तरम् ॥ ६० ॥
अघोरेण सुधीः कुर्यात्सन्निरोधमनन्तरम् ।
पुरुषाख्येन मनुना योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ ६१ ॥
देवाय वन्दनं कुर्यादीशानेन समाहितः ।
एतत्सर्वं विधातव्यं तत्तन्मुद्राभिरादरात् ॥ ६२ ॥
ईशानादीन्यजेद्देवान्न्यासमार्गेण देशिकः ॥
सकलीकरणं कृत्वा यजेन्मूर्तीर्यथापुरा ॥ ६३ ॥
व्योमपद्मदलेष्वर्चेदसिताङ्गादिभैरवान् ।
असिताङ्गं रुरुं चण्डं क्रोधमुन्मत्तभैरवम् ॥ ६४ ॥
कपालिनं भीषणाख्यं संहारं च क्रमादमून् ।
षट्कोणेषु षडङ्गानि क्रमादभ्यर्चयेत्सुधीः ॥ ६५ ॥
पूर्वादीशानपर्यन्तं तद्बहिः पूजयेदिमान् ।
डाकिनीपुत्रकान्पूर्वं राकिनीपुत्रकांस्ततः ॥ ६६ ॥
लाकिनीपुत्रकान्पश्चात्काकिनीपुत्रकांस्ततः ।
शाकिनीपुत्रकान्भूयो हाकिनीपुत्रकान्पुनः ॥ ६७ ॥
मालिनीपुत्रकान्पश्चाद्देवीपुत्रांस्ततः परम् ।
अथोमारुद्रमातॄणां पुत्रान्दक्षिणतो यजेत् ॥ ६८ ॥
ऊर्ध्वमुख्याः सुतानूर्ध्वमधोमुख्याः सुतानधः ।
इति सम्पूजयेन्मन्त्री पुत्रवर्गांस्त्रयोदश ॥ ६९ ॥

दूममष्टपत्रं सकर्णिकम् । तस्य मध्ये च षट्कोणं मण्डलं तु विधीयते ॥ तन्मध्ये च त्रिकोणं च तन्मध्ये व्योमपङ्कजम् । मध्ये बटुकमावाह्य"ति । व्योमपङ्कजं तु मातृकापटलोक्तं वर्णाब्जम् । *मूलादिसद्योजातेनेति* । एवं पञ्चसु संबध्यते ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

तत्तन्मुद्राभिरिति । मुद्रास्त्रयोविंशे वक्ष्यन्ते । ललाटस्थोऽञ्जलिर्वन्दनमुद्रा ॥ ६२ ॥

न्यासमार्गेणेति । देवदेहे तत्तदङ्गुलीभिर्मूर्द्धादिषु पञ्चवक्त्रेष्वपि । नत्वङ्गुलीषु । तदुक्तं *नारायणीये* "यथात्मनि तथा देवे न्यासः कार्यः करं विने"ति । "ह्रों वों ईशानाय नमः" इत्यादि पूजयेत् । तत्र देवदेहे प्रथमं विन्यस्य पश्चात्पूजनमिति ज्ञेयम् ॥ ६२ ॥

सकलीकरणं कृत्वा यजेत् । "देवमि"ति शेषः । *मूर्तीर्यथापुरा* यजेदित्यनुषज्यते । यथापुरेत्यनेनावरणपूजायां पूर्वदक्षिणसौम्यपश्चिमे ईशे च मूर्तिपूजेत्युक्तम् । *विश्वसारोद्धारे* तु *विशेषः* "इन्द्राग्नियमाप्सु पञ्चब्रह्मण अर्चयेदि"ति ॥ ६३ ॥

अर्चेदिति अइउऋलृएओअएतद्बीजपूर्वानित्युक्तम् । प्रयोगस्तु "अं असिताङ्गभैरवाय" पदं सर्वेषु योज्यम् । पुनर्भैरवोद्देशो मातृनिवृत्त्यर्थः ॥ ६४ ॥

क्रमात् सुधीः इत्यनेनाग्नेयादि पूजनमित्युक्तम् ॥ ६५ ॥

तद्बहिरिति । षट्कोणबाह्ये । अष्टपत्रान्तः पूर्वादीशानपर्यन्तमिमान् वक्ष्यमाणान् पूज-

तद्बहिः पद्मपत्रेषु लोकेशवटुकान्यजेत् ।
ब्रह्माणीपुत्रकं पूर्वे माहेशीपुत्रमैश्वरे ॥ ७० ॥
वैष्णवीपुत्रकं सौम्ये कौमारीपुत्रमानिले ।
इन्द्राणीपुत्रकं भूयः पूजयेत्पश्चिमे ततः ॥ ७१ ॥
महालक्ष्मीसुतं पश्चाद्रक्षोदिशि समर्चयेत् ।
वाराहीपुत्रकं याम्ये चामुण्डासुतमानले ॥ ७२ ॥
बटुकान्दशदिक्ष्वर्चेद्धेतुकं त्रिपुरान्तकम् ।
वेतालं वह्निजिह्वाख्यं कालान्ताख्यं करालकम् ॥ ७३ ॥
एकपादं भीम(१)दंष्ट्रमचलं हाटकेश्वरम् ।
दिग्विदिक्ष्वन्तरालेषु श्रीकण्ठादीन्यजेत्पुनः ॥ ७४ ॥
क्रोधीश्वरादीन्भृग्वन्तांस्तद्वद्बाह्ये समर्चयेत् ।
ततस्तीव्रकुलीशाद्यान्दक्षिणे पूजयेत्सुधीः ॥ ६५ ॥
दिव्यन्तरिक्षभूमिष्ठान्योगीशान् शक्तिसंयुतान् ।
योगिनीभिः सहाभ्यर्चेदीशाग्निनिर्ऋतिस्थितान् ॥ ७६ ॥
इति सम्पूजयेद्देवं बटुकं प्रोक्तवर्त्मना ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां पतिर्भवति मानवः ॥ ७७ ॥
विघ्नदुर्गां समाराध्य बलिं दत्त्वा विधानतः ।
काम्यानि साधयेन्मन्त्री यथोक्तां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ७८ ॥
शाल्यन्नं पललं सर्पिर्लाजाचूर्णानि शर्करा ।
गुडमिक्षुरसापूपैर्मध्वक्तैः परिमिश्रितैः ॥ ७९ ॥
कृत्वा कवलमाराध्य देवं प्रागुक्तवर्त्मना ।
रक्तचन्दनपुष्पाद्यैर्निशि तस्मै बलिं हरेत् ॥ ८० ॥

येदिति सम्बन्धः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

दिग्विदिक्ष्विति । दिशश्चतस्रः । विदिशश्चतस्रस्तदन्तरालान्यष्टावेवं षोडश । *पुनस्तद्वदिति* । दिग्विदिक्ष्वन्तरालेषु । तत्र दिशोऽष्टौ विदिशोऽष्टौ तदन्तरालानि षोडशेति द्वात्रिंशत्स्थानानि ज्ञेयानि ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

शक्तिसंयुतानिति । सामान्येन विशेषणमात्रम् । ताः शक्तयः का इत्यपेक्षायां योगिनीभिः सहेति पदम् । तदुक्तं *विश्वसारोद्धारे* "दिव्यान्तरिक्षभूमिष्ठान्योगीशान् पूजयेत्ततः । ईशाग्नेय्यां चनैर्ऋत्यां योगिनीभिः समन्वितान्" इति ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

काम्यमात्रे परिभाषामाह—*विघ्नमिति* ॥ ७८ ॥

तदेवबलिविधानमाह—*शाल्यन्नमिति* । *पललं*—मांसम् । एकीकृतं पिण्डरूपं ग्राह्यम् । *प्रागुक्तवर्त्मना* । रक्तचन्दनपुष्पाद्यैर्निशि देवमाराध्य प्रागुक्तवर्त्मना निशि बलिं हरेदिति सम्बन्धः । आद्यशब्देन धूपदीपनैवेद्यानि । प्रागुक्तेत्यनेन क्षेत्रपालोक्तबलिमन्त्रे क्षेत्रपालशब्दे बटुकेति पदं दत्त्वा देवहस्त इत्युक्तम् ॥ ७९ ॥ ८० ॥

---

(१) भीमरूपम् । इत्यपि पाठः क्वचित् दृश्यते ॥

ततः सिध्यन्ति कार्याणि बलिनानेन मन्त्रिणः ।
जुहुयात्सर्पिषा मन्त्री यथोक्तां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८१ ॥
वश्याय जुहुयादिक्षुशकलैर्वशयेज्जनान् ।
जुहुयात्पुत्रलाभाय प्रफुल्लैः कैरवैः सुधीः ॥ ८२ ॥
धनधान्यादिसम्पत्त्यै जुहुयादिलतण्डुलैः ।
बिल्वप्रसूनैर्जुहुयान्महतीं बिन्दति श्रियम् ॥ ८३ ॥
लोणैर्मधुरसम्मिश्रैर्वशयेद्वनिताजनान् ।
वृष्टिकामेन होतव्यं वेतसानां (सस्य) समिद्वरैः ॥ ८४ ॥
अन्नेन जुहुयान्नित्यं धनधान्यादिसम्पदे ।
वश्याय जुहुयान्मन्त्री मधुना दिवसत्रयम् ॥ ८५ ॥
रो(१)गोक्तौषधहोमेन रोगा नश्यन्ति तत्क्षणात् ।
कृत्याद्रोहे ग्रहे द्रो(ग्रा)हे भूतापस्मारसम्भवे ॥ ८६ ॥
व्याघ्राजिने समासीनोजुहुयादयुतं तिलैः ।
भूताद्यः पलायन्ते नेक्षन्ते तां दिशं भयात् ॥ ८७ ॥
कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत् स्याच्चतुर्दशी ।
तिलैस्तण्डुलसम्मिश्रैर्मधुरत्रयलोलितैः ॥ ८८ ॥
त्रिसहस्रं प्रतिदिनं जुहुयात्संस्कृतेऽनले ।
बटुकेश्वरमभ्यर्च्य भक्ष्यभोज्यफलान्वितम् ॥ ८९ ॥
नित्यं निवेद्य नैवेद्यं मध्यरात्रे बलिं हरेत् ।
एवं जपित्वा प्रयतः सहस्राण्येकविंशतिम् ॥ ९० ॥
समाप्तिदिवसे रात्रावजं हत्वा बलिं हरेत् ।
ततः कारायता राजा तोषयेत्साधकं धनैः ॥ ९१ ॥
विधिनानेन सन्तुष्टो बटुकेशः प्रयच्छति ।
तेजो बलं यशः पुत्रान्कान्तिं लक्ष्मीमरोगताम् ॥ ९२ ॥
नश्यन्ति शत्रवः सर्वे वर्द्धन्ते बन्धुबान्धवाः ।
अवग्रहो न जायेत विषये तस्य भूपतेः ॥ ९३ ॥

यथोक्तामिति ! स्वमनसि स्थिताम् ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥
रोगोक्तेति । वैद्यकशास्त्रे यस्मिन् रोगे यदौषधमुक्तं तस्य होमादित्यर्थः । *कृत्येत्या-

---

(१) रोगार्त्तौ सार्षपैर्होमो विद्वेषे करबीरजैः । कुसुमैरिध्मकाष्ठैर्वा जीरकैर्म्मरिचैरपि ॥ ज्वरे दूर्वागुडूचीभिर्दध्ना क्षीरेण वा घृतैः । शूले वाते कुवेराक्षैररेणुसमिधातथा ॥ तैलाक्ताभिश्चनिर्गुडूसमिद्भिर्वाप्रयत्नतः । सौभाग्यैश्चन्दनैश्चन्द्रैरोचनैलालवङ्गकैः ॥ सुगन्धिपुष्पैः पुष्ट्यर्थे घृतैस्तेजोबलम्भवेत् । किं बहूक्तै विषे व्याधौ शान्तौ मोहे च संशये ॥ विवादोत्तम्भने धूतेभूतभीतौ च सङ्कटे । द्वयोर्युद्धे क्षते दिव्ये बन्धमोक्षे महावने । मन्त्रेण साधयेत्सर्वा-मिष्टसिद्धिर्नृणाम्भवेत् ॥" इत्येवमन्यत्र पुस्तके पठ्यते । तत्कृत्यमितिमृग्यम् ॥

जुहुयात्केवलैर्लोणैर्युतं स्तम्भनेच्छया ।
निगडादिविमोक्षाय प्रयोगोऽयमुदाहृतः ॥ ९४ ॥
वचाचूर्णपलं जप्तं गव्येनाज्येन लोलितम् ।
विभज्य भक्षयेद्वन्ध्या मण्डलात्पुत्रकाङ्क्षिणी ॥ ९५ ॥
विनीतं पुत्रमाप्नोति मेधाऽऽरोग्यबलान्वितम् ।
आदावन्ते प्रयोगस्य बटुकाय बलिं हरेत् ॥ ९६ ॥
द्विविधो बलिराख्यातो राजसः सात्त्विको बुधैः ।
राजसो मांसरक्ताढ्यः पलत्रयसमन्वितः ॥ ९७ ॥
मुद्गपायससंयुक्तो मधुरत्रयलोलितः ।
सात्त्विको मांसरहितः शेषमन्यत्पुरोक्तवत् ॥ ९८ ॥
ब्राह्मणो विनयः शुद्धः सात्त्विकं बलिमाहरेत् ।
साधयन्मनुनानेन भस्म सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ ९९ ॥
उशीरं चन्दनं कोष्ठं घनसारं सकुङ्कुमम् ।
श्वेतार्कमूलं वाराहीं लक्ष्मीं क्षीरमहीरुहाम् ॥ १०० ॥
त्वचो बिल्वतरोर्मूलं शोषयित्वा सुचूर्णयेत् ।
चूर्णं व्योम्नि गृहीतेन गोमयेन विमिश्रितम् ॥ १०१ ॥
कृत्वा पिण्डानि संशोष्य संस्कृते हव्यवाहने ।
मूलेन दग्ध्वा तद्भस्म शुद्धपात्रे विनिःक्षिपेत् ॥ १०२ ॥
केतकीमालतीपुष्पैर्वासयेत् भस्म शोधितम् ।
अयुतं प्रजपेन्मन्त्रं स्पृष्ट्वा भस्म सुपूजितम् ॥ १०३ ॥

दि* भूपतेरित्यन्तमेकः प्रयोगः । *अवग्रहो* वृष्ट्यभावः । *विषये* देशे ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ई ॥

विभज्येति । किञ्चिन्न्यूनसप्तसप्तगुञ्जामितम् ॥ मण्डलमेकोनपञ्चाशद्दिनानि । *विश्वसारोद्धारे तु विशेषः*—"वचाचूर्णपलं देवि कुडवं पलसंयुतम् । पद्मपत्रे विनिःक्षिप्य स्थापयेद्देवसन्निधौ ॥ सिद्धान् सम्पूज्य विधिवज्जपेत्स्पृष्ट्वा तदौषधम् । मन्त्रं सहस्रमावर्त्य सिद्धानभ्यर्च्य बुद्धिमान् ॥ ध्यात्वा देवीमृतुस्नातां प्राशयेत्तन्महौषधमि"ति ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ई

राजसो मांसरक्ताढ्य इति । तत्र किमानमित्यपेक्षायां *पलत्रयसमन्वित इति* । तत्र पलत्रयं भूचरखेचरजलचरजम् । तदुक्तं *विश्वसारोद्धारे* "मेषकुक्कुटयोर्मांसं शाल्यन्नं घृतसंयुतम् । लाजाचूर्णमपूपं च गुडमिक्षुरसान्वितम् ॥ मधुमत्स्यकमित्यादि बलिद्रव्यं समीरितमि"ति । "मरीचैर्जीरकश्चैव गुडखण्डैस्तथैव च । शालितण्डुलसम्भक्तगोक्षीरेण समन्वितम् । सैन्धवं दुग्धमानेन पलत्रयसमन्वितमि"ति । तथा । *अन्यत्रापि*—"पलत्रयं माषचूर्णं दधि क्षीरं घृतं तथा । गुडौदनेन संयुक्तं मिश्रीकृत्य विचक्षण" इति । केचित् फलत्रयमिति पाठमपठन् तच्चिन्त्यम् ॥ भस्मसाधनमेवाह—*उशीरमित्यादि* । *घनसारः* कर्पूरः । "वाराही शूकरी काछी मागधी गृष्टिकारिका" इति *कैयदेवनिघण्टौ* वाराही नाम्नी औषधी प्रसिद्धा । "शमी लक्ष्मी शिवा शीता माङ्गल्या केशहृत्फलमि"ति कैयदेवनिघण्टौ *लक्ष्मीशब्देन शमी उक्ता । ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥ १०० ॥ ई ॥

एतदादाय दिनशः प्रातः पुण्ड्रं करोति यः ।
तस्य रोगाः प्रणश्यन्ति कृत्याद्रोहमहाग्रहाः ॥ १०४ ॥
रिपुचौरमृगादिभ्यो भयमस्य न जायते ।
वर्द्धन्ते सम्पदः सर्वाः पूज्यते सकलैर्जनैः ॥ १०५ ॥
राजा वश्योभवेत्तस्य सामात्यः सपरिच्छदः ।
अभिषेकं प्रकुर्वीत राज्ञो विजयकाङ्क्षिणः ॥ १०६ ॥
पूर्वोक्ते मण्डपे क्लृप्ते वितानध्वजशोभिते ।
सर्वतोभद्रमालिख्य कर्णिकां तस्य पूरयेत् ॥ १०७ ॥
अष्टद्रोणप्रमाणेन शालिभिः शोभितैः शुभैः ।
तदर्द्धतण्डुलांस्तस्मिन्न्यस्य दूर्वाक्षतान्वितान् ॥ १०८ ॥
हेमादिविहितं कुम्भं नवरत्नसमन्वितम् ।
संस्थाप्य विपुलैस्तोयैरापूर्यास्मिन्विनिःक्षिपेत् ॥ १०९ ॥
क्षीरद्रुमप्रवालानि लदर्भादूर्वा सहां पुनः ।
कर्पूरं चन्दनं बिल्वमुशीरं कुङ्कुमं पुनः ॥ ११० ॥
कङ्कोलमगुरुं जातिं मल्लिकां चम्पकोत्पले ।
गोमेदं दाडिमं पश्चात्पट्टयुग्मेन वेष्टयेत् ॥ १११ ॥
तस्मिन्नावाह्य बटुकं राजसं सम्प्रपूजयेत् ।
बहिरष्टसु कुम्भेषु भैरवानष्टपूजयेत् ॥ ११२ ॥
त्रयोदशसुकुम्भेषु त्रयोदश गणान्यजेत् ।
बाह्ये दशसुकुम्भेषु लोकेशानर्चयेत्सुधीः ॥ ११३ ॥
तद्बहिर्द्व्यष्टकुम्भेषु श्रीकण्ठादीन्सुरेश्वरान् ।
पञ्चत्रिंशत् घटेष्वर्चेत्कादिवर्णेश्वरान्क्रमात् ॥ ११४ ॥
इति गन्धादिभिः सम्यक् पञ्चावरणमर्चयेत् ।
अयुतं प्रजपेत्स्पृष्ट्वा तान्घटान्देशिकोत्तमः ॥ ११५ ॥

व्योम्नि गृहीतेनेति भूतलास्पृष्टेन । पुण्ड्रम्—त्रिपुण्ड्रं तिर्यक् तिलकम् ॥ १०४ ॥
मृगो व्याघ्रः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥२॥
अभिषेकं प्रकुर्वीतेति । सप्तभिः पञ्चभिर्वा होमः । "सप्ताहं वापि पञ्चाहमि"त्युक्तेः । तत्र पूर्वमेव सप्तमं पञ्चमं वाशुभदिनमालोच्य प्रथममारम्भः कार्यः ॥ १०६ ॥
अभिषेकप्रकारमाह—*पूर्वोक्त इति* । तृतीयोक्ते इत्यर्थः ॥ १०७ ॥
अष्टद्रोणेति । अर्द्धखारी । *तदर्द्धमिति* । खारीचतुर्थांशः ॥ १०८ ॥
नवरत्नानि षष्ठोक्तानि ॥ १०९ ॥
प्रवालानि-पल्लवाः । *सहा*-सहदेवी ॥ ११० ॥३॥
पत्रजम् । "गोमेदकं पीतमणौ कङ्कोलेपत्रजेऽपिचे"ति विश्वः ॥ १११ ॥
राजसमिति । राजसध्यानोक्तमूर्त्तिम् ॥ ११२ ॥
लोकेशान्—लोकेशबटुकान् ॥ ११३ ॥
क्रमादिति अनेन परितोद्वात्रिंशत् दक्षिणे त्रीनित्युक्तम् ॥ ११४ ॥

पायसैः सर्पिषा शुद्धैस्तिलैर्दशशतं पृथक् ।
जुहुयात्तान्घटान्स्पृष्ट्वा प्रत्यहं बलिमाहरेत् ॥ ११८ ॥
राजलोकप्रकारेण रात्रौ देशिकसत्तमः ॥
सुदिने शोभने लग्ने वाचयित्वा द्विजन्मभिः ॥ ११९ ॥
स्वस्तिमङ्गलवाक्यानि विशुद्धैर्वेदपारगैः ॥
नदत्सुपञ्चवाद्येषु प्रणम्य बटुकेश्वरम् ॥ १२० ॥
जितेन्द्रियं शुद्धकायं राजानं ब्राह्मणप्रियम् ।
आस्तिकं सत्यवचनमभिषिञ्चेत्प्रसन्नधीः ॥ १२१ ॥
अभिषिक्तोनरपतिः प्रणिपत्य गुरुं परम् ।
भूयसीं दक्षिणां दद्यात्प्रसीदति यथा गुरुः ॥ १२२ ॥
राजाभिषिक्तो भवति साक्षाद्भूमिपुरन्दरः ।
परान्विजयते भूपान्स्तूयते सकलैर्जनैः(१)॥ १२३ ॥
कृत्वाभिषेकं षण्मासं प्रतिमासं महीपतिः ।
चतुरम्भोधिवलयां शास्ति सर्वां वसुन्धराम् ॥ १२४ ॥
गजाश्वशान्तिविधये तेषां शालासु साधकः ।
कुण्डं कृत्वा विधानेन होमं कुर्याद्यथाविधि ॥ १२५ ॥
पायसाज्यतिलैर्विद्वानयुतत्रितयावधि ।
ब्राह्मणान्भोजयेन्नित्यं भक्ष्यभोज्यफलादिभिः ॥ १२६ ॥
प्राक् प्रोक्तविधिना कुम्भान्स्थापयित्वात्र देशिकः ।
अभ्यर्च्य गन्धपुष्पाद्यैस्तज्जलैःप्रोक्षयेद्गजान् ॥ १२७ ॥

स्पृष्ट्वेति उभयत्र कूर्चादिना ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

पृथगिति । प्रत्येकं, तेन सहस्रत्रयं होमः । *प्रत्यहं* सप्ताहं पञ्चाहं वा ॥११८॥११९॥ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अस्यैवावृत्त्या फलविशेषमाह—*कृत्वेति* षण्मासं-प्रतिमासमिति षडावृत्तयः ॥१२४॥

गजेति । प्राक् प्रोक्तविधिना कुम्भान् स्थापयित्वा गन्धपुष्पाद्यैरभ्यर्च्य विधानेन कुण्डं कृत्वा यथाविधिहोमं कुर्यादिति सम्बन्धः । तत्र *विधानेनेति* । त्रिकोणम् । *यथाविधीति* । बटुकमत्रावभ्यर्च्य बटुकं च तत्र पूजयित्वेत्यर्थः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

प्राक् प्रोक्तविधिना । चतुर्थोक्तविधिना । *कुम्भानिति* । पञ्च । *अत्र* । पञ्चसु कुम्भेषु । *अभ्यर्च्येति* । "मध्ये बटुकम् ईशानं चतुर्ष्वन्यानिति" इति शेषः । उक्तञ्च "पञ्चात्मानं पदं कृत्वा स्वालिप्ते शुद्धभूतले । कोष्ठेषु स्थापयेन्मध्ये कलशांश्च शोभनान् ॥ धूपादिवासितान् भूयो जलैरापूरयेत् पृथक् । माणिक्यं मौक्तिकं वज्रं नीलं मरकतं तथा ॥ प्रोक्तानि पञ्चरत्नानि निःक्षिप्यैतेषु पञ्चसु । तत्र देवं च मूर्तीश्च समभ्यर्च्य यथाविधी" इति । अन्यत्र तु "सुवर्णं रजतं मुक्ता राजावर्त्तं प्रवालकम् । रत्नपञ्चकमाख्यातमि" इति । गजानश्वान् शालां च गजाश्वशालां प्रोक्षयेदिति सम्बन्धः ॥ १२७ ॥

---

(१) एतदनन्तरम् "भक्ष्यैर्भोज्यैर्धनैर्धान्यैः पूजयेत्तंयशस्विनम्" इति अर्द्धश्लोकं क्वचित्पठ्यते ॥

अश्वशालामनेनैव, वर्द्धन्ते ते दिने दिने ।
युद्धेषु महती शक्तिर्जायते पूर्वतोऽधिका ॥ १२८ ॥
सर्वेरोगाः प्रणश्यन्ति कृत्याद्रोहाः परैः कृताः ।
अस्मात्परतरा रक्षा नास्ति तेषां महीतले ॥ १२९॥
अभिषिच्य महीपालं परेषां विजयोद्यतम् ।
उक्तेन विधिना मन्त्री यामिन्यां बलिमाहरेत् ॥ १३० ॥
अन्यूनाङ्गमजं हत्वा राजसं प्रागुदाहृतम् ।
बलिप्रदानसमये रिपूणां सर्वसैन्यकम् ॥ १३१ ॥
निवेदयेद्बलित्वेन बटुकाय विशिष्टधीः ।
विद(१)र्भयेच्छत्रुनाम्ना बलिमन्त्रं तथा सुधीः ॥ १३२ ॥
शत्रुपक्षस्य रुधिरं पिशितं च दिने दिने ।
भक्षय स्वगणैः सार्द्धं सारमेय(२)समन्वितः ॥ १३३ ॥
बलिमन्त्रोऽयमाख्यातः शर्वेषां विजयप्रदः ॥
अनेन बलिना हृष्टो बटुकः परसैन्यकम् ॥ १३३ ॥
सर्वं गणेभ्यो विभजेदामिषं क्रुद्धमानसः ।
एवं कृते परबलं क्षीयते नात्र संशयः ॥ १३४ ॥
विजयश्रियमेतेन राजा प्राप्नोत्ययत्नतः ॥ १३५ ॥
श्रीमायास्मरकूटमत्रविलिखेन्मध्ये दलेष्वष्टसु
द्विः-प्रोक्तं बटुकाय शब्दमपरान्मन्त्रस्य वर्णान्बहिः ॥
अष्टद्वन्द्वदलेषु तद्बहिरधस्तत्संख्यपत्रेष्वथ ।
द्वात्रिंशद्दलकादिसान्तसहितं यन्त्रं लिखेद्भूपुरे ॥ १३६ ॥
आपदुद्धारणं यन्त्रमपमृत्युभयापहम् ।
सर्वसम्पत्प्रदं नित्यं सर्वसौभाग्यदायकम् ॥ १३७ ॥
रक्षाकरं ग्रहार्तानां राज्ञां विजयवर्द्धनम् ।
आपदुद्धारणादस्मादापदुद्धारणक्षमः ॥ १३८ ॥

ते गजा अश्वाः *शक्तिर्जायत इति* । तेषामित्यनुषज्यते । एवं रोगाः प्रणश्यन्तीत्यत्रापि ॥ १२८॥१२९ ॥
अभिषिच्येति (३)आहरेदित्यन्तं पूर्वोक्ताभिषेकबल्योरनुवादः ॥ १३० ॥
तत्रैव विशेषमाह—*अन्यूनेत्यादिना* ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥
यन्त्रमाह—*श्रीमायेति* । श्री श्रीबीजं, माया शक्तिबीजम् । स्मरः कामः क्लीं । कूटं क्षौं । *मध्ये*-कर्णिकायाम् । तदुक्तं *विश्वसारोद्धारे*-"तत्रादौ कर्णिकामध्ये लक्ष्मीबीजं न्यसेद्बुधः । मायाबीजन्ततोन्यस्य कामबीजन्ततः परम् ॥ कूटाक्षरन्ततः पश्चादग्निमायासम-

---

(१) मन्त्रवर्णद्वयस्यान्तराले साध्यनामवर्णानामेकैकाक्षरदानं विदर्भणम् ।
(२) "सारमेयः कुक्कुरः" । इत्यमरः ।
(३) अत्रेतिशब्दआद्यर्थः । "ज्वलितिकसन्तेभ्योण" इति पाणिनीयेयथा ।

तन्त्रेषु नास्ति मन्त्रोऽन्य इत्याहुर्मन्त्रवेदिनः ॥
अर्घीशोत्रहिशिखरोलान्तस्थो दान्त ईरितः ॥ १३९ ॥
फडन्तश्चण्डमन्त्रोऽयं त्रिवर्णात्मा समीरितः ।
अस्य त्रिको मुनिः प्रोक्तश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ॥ १४० ॥
चण्डेशो देवता प्रोक्ता कुर्यादङ्गविधिं पुनः ।
हृदयं दीप्तफट् प्रोक्तं ज्वलफट् शिर ईरितम् ॥ १४१ ॥
शिखा ज्वालामालिनी फट् ज्ञेया, फट् कवचं मतम् ।
हनफट् नेत्रमाख्यातं सर्वज्वालिनि फट् परम् ॥ १४२ ॥
विन्यस्यैवं षडङ्गानि ततोदेवं विचिन्तयेत् ॥ १४३ ॥

चण्डेश्वरं रक्ततनुं त्रिनेत्रं रक्तांशुकाढ्यं हृदि भावयामि ।
टङ्कं त्रिशूलं स्फटिकाक्षमालां कमण्डलुं बिभ्रतमिन्दुचण्डम् ॥ १४४ ॥

वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं होमं कुर्याद्दशांशतः ।
मधुरत्रयसंयुक्तैर्विशुद्धैस्तिलतण्डुलैः ॥ १४५ ॥
पञ्चाक्षरोदिते पीठे चण्डेशं साधु पूजयेत् ।
मूर्तौ बीजेन क्लृप्तायां तत्कूर्मो बिन्दुसंयुतः ॥ १४६ ॥
चण्डेश्वराय हृद्बीजपूर्वः पूजामनुर्मतः ।
अङ्गैर्मातृभि(१)राशेशैर्वज्राद्यैरायुधैर्यजेत् ॥ १४७ ॥
चतुरावरणं प्रोक्तं चण्डेशस्य समर्चनम् ॥
इति सिद्धे मनौ मन्त्री धनवाञ्जायतेऽचिरात् ॥ १४८ ॥
तर्पयेन्मनुनानेन नित्यमष्टोत्तरं शतम् ।
श्रियमाप्नोति महतीं पुत्रमित्रसमन्वितः ॥ १४९ ॥

न्वितम् । चतुर्बीजसमायुक्तं कर्णिकाबीजमुद्धरेत् ॥" इति । एतेन केषां चन स्मररूपमेव कूटं लिखेदिति व्याख्यानं निरस्तम् । अष्टदलेषु बटुकाय इत्येकाक्षरक्रमेण लिखनीयम् । *मन्त्रस्य वर्णानिति* । आपदित्यादि मायान्तान् प्रथमषोडशदले । *तद्बहिः* । प्रथमषोडशदलाद्बहिः । *तत्संख्यपत्रेषु* षोडशेषु । तदुपरि द्वितीयषोडशदले षोडशस्वरान् लिखेत् ॥ ॥ १३६ ॥ १३७ ॥ १३८ ॥३॥

चण्डमन्त्रमाह —*अर्घीश इति*॥ अर्घीशऊ । दान्तोधः । लान्तस्थोव्व । बह्निशिखरः र्व्वं । ऊकारो बीजं फट्शक्तिः । त्रिक इति ऋषिनाम । *टङ्क*परशुम् । तदुक्तं *नारायणीये* "शूली परशुकमण्डलुवक्षमालात्रिलोचनः" इति । वामोर्ध्वपूर्वाऽधः पर्यन्तमायुधध्यानम् । तदिति बीजम् । कूर्मश्चकारः ॥१३९ ॥ १४० ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

पूजामन्त्रमाह-*चण्डेति* । चण्डेश्वरायेतिस्वरूपम् । *हृत्*-नमः । *बीज पूर्वइति*...... ......इत्यर्थः । आचार्यश्चण्डगायत्रीं जपेदित्युक्तम् ॥ यदाहुः-"चण्डचण्डायेति चोक्त्वा प्राग्-वदेद्विद्महेपदम् । चण्डेश्वरायच प्रोक्त्वा धीमहीतिपदंवदेत् ॥ ततश्चण्डइतिप्रोक्त्वाब्रूयाद्भूयः प्रचोदयात् ॥ एषा तु चण्डगायत्री जपात् साम्निध्यकारिणी"ति ॥ १४७ ॥ १४८ ॥ ३ ॥
श्रियमाप्नोतीति ॥ श्रीबीजादित्वम् ॥ १४९ ॥

---

(१) इन्द्राद्यैरित्यपि पाठः ।

प्रियङ्गुकुसुमैः फुल्लैस्तत्काष्ठज्वलितेऽनले ॥
जुहुयादयुतं मन्त्री पुरक्षोभः प्रजायते ॥ १५० ॥
साध्यवृक्षत्वचो लोणं पिष्ट्वा पिष्टसमन्वितम् ।
पुत्तलीं रुचिरां कृत्वा प्रतिष्ठाप्य समीरणम् ॥ १५१ ॥
छित्त्वा छित्त्वा प्रजुहुयादष्टोत्तरशतं निशि ॥
सप्ताहमेवं कुर्वीत साध्यो दासो भवेत्स्वयम् ॥ १५२ ॥
शैवमन्त्रेषु निष्णातश्चण्डेश्वरमनुं भजेत् ।
सर्वान्कामानवाप्नोति परत्रेह च नन्दति ॥ १५३ ॥
धरापोऽग्निमरुद्व्योममखेशेन्द्वर्कमूर्तये ।
सर्वभूतान्तरस्थाय शङ्कराय नमोनमः ॥ १५४ ॥
श्रुत्यन्तकृतवासाय श्रुतये श्रुतिजन्मने ।
अतीन्द्रियाय महसे शाश्वताय नमोनमः ॥ १५५ ॥
स्थूलसूक्ष्मविभागाभ्यामनिर्देश्याय शम्भवे ।
भवाय भवसम्भूतदुःखहन्त्रे नमोऽस्तुते ॥ १५६ ॥
तर्कमार्गातिदूराय तपसां फलदायिने ।
चतुर्वर्गवदान्याय सर्वज्ञाय नमोनमः ॥ १५७ ॥

मन्त्रीत्यनेन दुर्गाबीजादित्वं सूचितम् ॥ १४९ ॥ १५० ॥

साध्यवृक्ष इति । साध्यस्ययन्नक्षत्रं तद्वृक्षत्वचः । तां द्वाविंशे वक्ष्यति । पिष्टम् तण्डुल-पिष्टम् । तदुक्तं—साध्यर्क्षाङ्घ्रिपचर्म्मणा सुमसृणं पिष्टैश्चलोणैः समं कृत्वा पुत्तलिकामि"ति ॥ *पुत्तलीं*- षण्णवत्यङ्गुलां,*समीरणं* प्राणम् *प्रतिष्ठाप्येति*। त्रयोविंशे वक्ष्यमाणप्रकारेण।१५१

छित्त्वाछित्त्वेति द्वाविंशे वक्ष्यमाणरीत्या । *साध्य इति* । लिङ्गमविवक्षितम् । पुरुषं स्त्रियमपि वशयेत्। तदुक्तं—"सप्ताहं पुरुषोऽङ्गनायदचिरं वश्यस्त्ववश्यं भवेत् तस्मिन् जन्मनि नास्ति चेद्यदितदादेहान्तरेऽसंशयम्" इति । अथ च साध्यमिति सामान्यत उक्तेर्द्विजादिः । तत्र विशेषो *नारयणीये* "प्रज्वाल्याग्निमपामार्गैरेवं वश्यो भवेद्द्विजः। दीप्ते वह्नौ चिता-काष्ठैः प्रतिकृत्या तथा हुनेत् ॥ राजा वशीभवेदेवं वश्यं स्याद्वैश्यशूद्रयोरि"ति । *दासो भवेत्* अन्नकामादित्वं ज्ञेयम् ॥ १५२ ॥

शैवमन्त्रेष्विति ॥ अनेनैतदुक्तं भवति यावान् चण्डस्यनूजपस्तावान् शैवषडक्षरमन्त्र-जपः । यदाहुः "अक्षरस्यजपोयावत्तावजप्यः षडक्षरः । ऐहिकामुष्मिकीं सिद्धिं तथाहि लभते नर" इति । *सर्वान् कामानिति* । "सतिलैस्तण्डुलैर्हेमकाष्ठाग्नौ जुहुयादरेः । उन्मादाय पयोहोमात्तच्छान्तिः खदिरानले" इति । "यद्यवर्णैः प्रसूनैस्तु मन्त्री सप्तदिनं हुनेत् । लभे-त्तद्रूपबाह्योयस्तृणहा कामदो मनुरि"त्यादि ज्ञेयम् ॥ १५३ ॥

धरेत्यादि । शैवमन्त्रान्ते शिवस्तुतिः । धरेति श्लोकेनाष्टमूर्त्तित्वमुक्तम् । *मखेशो* यजमानः ॥ १५४ ॥

श्रुत्यन्तेति । उपनिषत्प्रतिपाद्यत्वात्तत्र कृतावासायेत्युपचारतः प्रयोगः । *श्रुतयेते* श्रुतिरूपाय । *श्रुतिजन्मने* श्रुतीनां जन्म यस्मात् । तेनानादिवेदप्रवक्त्रे । *अतीन्द्रियाये-ति* । "यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासहे"ति श्रुतेः ॥ १५५ ॥

भवाय भवनाम्ने । भवो जनुस्तद्दुःखहन्त्रे ॥ १५६ ॥

*तर्कौ*दुस्तर्कः । *चतुर्वर्गवदान्याय* चतुर्वर्गप्रदात्रे ॥ १५७ ॥

आदिमध्यान्तशून्याय निरस्ताशेषभीतये ।
योगिध्येयाय महते निर्गुणाय नमोनमः ॥ १५८ ॥
विश्वात्मनेऽविचिन्त्याय विलसच्चन्द्रमौलये ।
कन्दर्पदर्पकालाय कालहन्त्रे नमोनमः ॥ १५९ ॥
विषाशनाय विहरद्वृषस्कन्धमुपेयुषे ।
सरिद्दामसमावद्धकपर्दाय नमोनमः ॥ १६० ॥
शुद्धाय शुद्धभावाय शुद्धानामन्तरात्मने ।
पुरान्तकाय पूर्णाय पुण्यनाम्ने नमोनमः ॥ १६१ ॥
भक्तानां निजभक्तानां भुक्तिमुक्तिप्रदायिने ।
विवाससे विवासाय विश्वेशाय नमोनमः ॥ १६२ ॥
त्रिमूर्तिमूलभूताय त्रिनेत्राय नमोनमः ।
त्रिधाम्नां धामरूपाय जन्मघ्नाय नमोनमः ॥ १६३ ॥
देवासुरशिरोरत्नकिरणारुणिताङ्घ्रये ।
कान्ताय निजकान्तायै दत्तार्धाय नमोनमः ॥ १६४ ॥
स्तोत्रेणानेन पूजायां प्रीणयेज्जगतः पतिम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं भक्त्या सर्वज्ञं परमेश्वरम् ॥ १६५ ॥
इति शारदातिलके विंशः पटलः ॥ २० ॥ * ॥

अथोवक्ष्यामि गायत्रीम् तत्त्वरूपान्त्रयीमयीम्—
यया प्रकाश्यते ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ १ ॥

आदिः सर्गः *मध्यः* पालनं अन्तः संहारः । तत्र *शून्याय* फलानुपभोगात् ।१५८।
अविचिन्त्याय चिन्तितुमयोग्याय । *कालाय* अन्तकाय ॥ १५९ ॥
सरिदिति । सरिद्गङ्गा सैव दाम तेन प्रबद्धः कपर्दोजटाजूटो येन तस्मै । "कपर्दोऽस्य जटाजूट" इति कोषः ॥ १६० ॥ १६१ ॥ १६२ ॥
त्रिमूर्त्तीति' । त्रिमूर्त्तः ब्रह्मविष्णुरुद्रमूर्त्त—(मूलभूताय) *त्रिधाम्नामिति* । सूर्याग्निचन्द्रमसाम् ॥ १६३ ॥ १६४ ॥ १६५ ॥ १६६ ॥
इति शारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां विंशतः पटलः२

एवं तान्त्रिकान्पञ्चदेवतामन्त्रानुक्त्वा कतिचिद्गायत्र्यादिवैदिकान्मन्त्रान्वक्तुमुपक्रमते । *अथोह्रति* । तत्त्वरूपां—चतुर्विंशतिवर्णानां चतुर्विंशतितत्त्वात्मकत्वा त्तद्रूपता । तान्यक्षरन्यासे वक्ष्यन्ते । अनेन गायत्र्यक्षरैः सार्द्धं तत्त्वन्यासोऽपि सूचितः । त्रयीमयीमित्यनेन एतया सम्यग्यथाविधिपठितया त्रयापाठफलप्राप्तिरुक्ता । यथा गायत्र्या सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म प्रकाश्यते । ततः प्रणवस्य तत्प्रतिपादकत्वमन्त्ये । वक्ष्यति । व्याहृत्यादीनां तत्पतिपादकत्वमाहुर्वृद्धाः "भूः पदार्थव्याहृतयो भूशब्दस्यः सवि वर्त्तते । तत्पद सदितिप्रोक्तं तन्मात्र·

प्रणवाद्या व्याहृतयः सप्त स्युस्तत्पदादिकाः ।
चतुर्विंशत्यक्षरात्मा गायत्री शिरसान्विता ॥ २ ॥
सर्ववेदोद्धृतः सारो मन्त्रोऽयं समुदाहृतः
ब्रह्मा देव्यादिगायत्री परमात्मा समीरिताः ॥ ३ ॥
ऋष्याद्याः प्रणवस्यैते मुनिभिः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
जमदग्निभरद्वाजभृगुगौतमकश्यपान् ।
विश्वामित्रवसिष्ठाख्यौ व्याहृतीनामृषीन्विदुः ॥ ५ ॥
गायत्र्युष्णिगथानुष्टुब्बृहती पङ्क्तयः पुनः ।
त्रिष्टुब् जगत्यश्छन्दांसि कथितानि मनीषिभिः ॥ ६ ॥
सप्तार्चिरनिलः सूर्यो वाक्पतिर्वरुणोवृषः ।
विश्वेदेवाः क्रमादासां देवताः परिकीर्तिताः ॥ ७ ॥
गायत्र्या मुनिराख्यतो विश्वामित्रो महाद्युतिः ।
गायत्रीच्छन्द इत्युक्तं देवता सविता स्मृता ॥ ८ ॥
शिरसोऽस्य मुनिर्ब्रह्मा छन्दो देव्यादिका स्मृता ।
गायत्री परमात्मास्य देवता कथिता बुधैः ॥ ९ ॥

त्वाच्च भूरतः ॥ भूतत्वात्करणत्वाच्च भुवः शब्दस्य संगतिः । सर्वस्वीकरणात्स्वात्मतया च स्वरितीरितम् ॥ महत्वाच्च महस्त्वाच्चमहः शब्दस्य संगतिः । तदेव सर्वजनता तस्मात्तुव्या-हृतिर्जनः । तपोज्ञानतया चैव तथा तापतया स्मृतम् ॥ सत्यंपरत्वादात्मत्वादनन्तज्ञानतः स्मृतम् ॥ प्रणवस्य व्याहृतीनां गायत्र्यैकमथोच्यते । अकारो भूरुकारस्तु भुवोमार्णः स्वरि-तीरितः ॥ बिन्दुर्महस्तथा नादो जनः शक्तिस्तपः स्मृतम् । शान्तिः सत्यमिति प्रोक्तं यत्त-त्परतरं पदम् ॥ तद्द्वितीयैकवचनमनेनाखिलवस्तुनः । सृष्ट्यादिकारणं तेजः परं ब्रह्माभिधीयते॥ स-यत्तत्सवितुरित्युक्तं षष्ठ्येकवचनात्मकम् । धातोरिह विनिष्पन्नं प्राणिप्रसववाचकात् ॥ सर्वे-षां प्राणिजातीनामिति प्रसवितुः सदा । वरेण्यं वरणीयत्वात्प्रार्थ्यत्वात् सेवनीयतः ॥ पूर्व-स्याष्टाक्षरस्यैवं व्याहृतिर्भूरितीरिता । पापस्य भर्जनाद्भर्गो भक्तस्निग्धतयाथवा ॥ देवस्य दीप्यमानस्य वृष्ट्यादिगुणतस्तथा । ध्यै चिन्तायामतो धातोर्निष्पन्नं धीमहीत्यतः ॥ हीन-तारहितं तेजो यः स्यात् स तु हिरण्मयः । सुसूक्ष्मः सोऽहमित्येवं चिन्तयामः सदैव तु ॥ द्वितीयाष्टाक्षरस्यैवं व्याहृतिर्भुव ईरिता । धियो बुद्धीर्मनोरस्य छान्दसत्वाच्च ईरितः ॥ न इति कृतश्च लिङ्गव्यत्यासः सूत्रात् सुप्तिङुपग्रहात् । यस्तत्तेजो निरुपमं सर्वदेवमयात्मकम् ॥ न इति प्रोक्त आदेशः षष्ठ्या बह्विति चास्मदः । तस्मादस्माकमित्यर्थः प्रार्थनायां प्रचोदयात् । तृतीयाष्टाक्षरस्यापि व्याहृतिः स्वरितीरिता । आपोज्योतीरस इति सोमाग्न्योस्तेज उच्यते । तदात्मकं जगत् सर्वं रसस्तेजो ह्ययं स्मृतम् । अमृतं तदनादित्वाद्बृहत्वाद्ब्रह्म गद्यते ॥ यद्वानन्दात्मकं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणम् । तद्भूर्भुवः स्वरित्युक्तंसोऽहमित्थमुदाहृतम् ॥ एतत्तु वेदसारस्य शिरस्त्वाच्छिर ईरितमि"ति ॥ १ ॥

प्रणवाद्या इति प्रतिव्याहृति सम्बध्यते । तत्पदादिकेत्यस्याग्रिमेण सम्बन्धः । *शिर-सेति* । ओमापोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोमिति । मुनिभिः परिकीर्त्तिता ऋष्याद्या प्रणवस्य समीरिता इति संबन्धः । अस्याः कल्पोक्तं बीजादिप्रोक्तं "ऐइत्येतत्तु बीजं स्यात्द्य-वर्णः शक्तिरुच्यते । णीत्येतत्कीलकं प्रोक्तं गायत्र्यास्त्रिपदात्मन" इति कल्पान्तरे "यंतु बीजं स्यादीशक्तिर्णँच कीलकमि"ति । मन्त्रज्ञोन्यसेदित्यनेन प्रणवं विन्यस्य सप्तव्याहृतीर्विन्य-

व्याहृतीः सप्तभूराद्या हृन्मुखांसोरुयुग्मके ।
जठरे न्यस्य मन्त्रज्ञो गायत्र्यर्णांस्तनौ न्यसेत् ॥ १० ॥
पत्सन्धिषु ध्वजे नाभौ हृत्कण्ठभुजसन्धिषु ।
आस्यनासाकपोलाक्षिकर्णभ्रूमस्तके पुनः ॥ ११ ॥
पाश्चात्योत्तरयाम्यप्रागूर्ध्ववक्त्रेषु साधकः ।

स्तव्या इत्युक्तं भवति । यदाहुः "अं नमो ब्रह्मणे नाभौ हृदये उं च विष्णवे । मं शिवाय नमो मूर्ध्नि तत्तद्रूपं स्मरन्न्यसेदि"ति ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

पत्सन्धिष्विति पादद्वयसन्धिचतुष्के अक्षरचतुष्कम् । तदुक्तं—"पद्द्वयसन्धिचतुष्क" इति । अयं न्यासः अङ्गुलिमारभ्य कर्त्तव्यः । अत्र यद्यपि सन्धिशब्दग्रहणमस्ति तथापि तद्वष्टम्भ एव न्यासो विधेय इति ज्ञेयम् । एवं भुजद्वयसन्धिचतुष्के अक्षरचतुष्कम् । न्यासादिष्वेकैकमक्षरम् । णियेत्यस्य पृथग्भावेन चतुर्विंशत्यक्षरात्मकत्वम् । साधक इत्यनेन प्रत्यक्षरमादौ प्रणवः अन्ते चनमः शब्द इत्युक्तम् ॥ कल्पान्तरे तु—"वर्णन्यासमथो वक्ष्येऽथार्षं च्छन्दश्चदैवतम् । तत्त्वशक्ती वर्णमुद्रे स्मृत्वा वर्णान् क्रमान्न्यसेत् ॥ १ ॥ मित्रोक्ताप्रयाचलाह्लादिपीतो वाक्चाङ्गुलीकरौ । सम्मुखं मोहपापघ्नं चरणाङ्गुष्ठयोस्तु तत् ॥ २ ॥ मधुच्छन्दोतिवाग्व्मबुप्रभाश्यामाब्जकोशवत् । सम्मुखौ सम्पुटं चोपपापघ्न गुल्फयोस्समम् ॥३॥ गर्गमध्यार्कतेजोजाकपिलो विततं करौ । प्रसारितोत्तानशाखौ पापघ्नं जङ्घयोस्तुविम् ॥ ४ ॥ उपमन्युः प्रतिष्ठा च विद्युद्वायुश्च विश्वभृत् । विस्तीर्णं संहतात्तानतर्जनीमुक्तहस्तकम् ॥५॥ इन्द्रनीलनिभं रोगग्रहघ्नं जानुनोस्तुतुम् । काश्यपः सुप्रतिष्ठा च यमः खं च विलासिनी ॥ ६ ॥ वह्न्याभं सम्मुखासक्तपाण्योर्युक्तकनिष्ठयोः । अन्यत्र विरलाङ्गुल्यारङ्गुष्ठद्वययोगतः ॥ ७ ॥ द्विमुखं भ्रूणहत्याघ्नमूर्वोर्व विन्यसेत् सुधीः । भृगुर्दं वीजलङ्घ्न्धः प्रभाछः पूर्वरूपयोः ॥८॥ त्रिमुखंतर्जनीयोगा ;गुह्येऽगम्याघहृत्तरम् । अत्युष्णिरवाप्रसोलोलाविद्युत्तद्वञ्चतुर्मुखम् ॥ ९ ॥ मध्यायोगादभक्ष्याघहरम्त्रृषणयोस्तुणिम् । विष्णवनुष्टुब्विरूपाक्षनामाच्छः पञ्चवक्त्रकम् ॥१० अनामायोगतो हत्याहरं कट्यां तु यं तथा । हारीतो बृहतीन्द्रस्त्वक् कान्तिर्नीलस्तथातयोः ॥ निर्मुक्ताग्राङ्गुलिकयोः कनिष्ठा मोक्षणे सति । षण्मुखं नरहत्याघ्नं नाभौभं याज्ञवल्क्यकः ॥ पङ्क्तिर्विद्याधरः शब्दो दुर्गारक्तमधोमुखम् । वक्राग्रावाक्कृतकरं जठरे गांगवां हितम् ॥ १३ ॥ कविस्त्रिष्टुप् रविर्वागौ रक्तरुग्व्यापकाञ्जलिः । उत्तानौ पूर्ववद्धस्तौ स्वयघ्नुस्तनयोश्चदे॥१४॥ अङ्गिरा जगतीशर्वौ हस्तौ विद्याच्छलस्त्वधः । मुक्ताग्राङ्गुष्ठकौ मुष्टी शकटं हृदि वङ्गुरोः ॥ १५ ॥ स्वयंमो जगती त्वष्टोपस्थेशाः काञ्चनच्छवि । यमपाशं बद्धरुङ्गुष्ठयोरुत्ताना वामतर्जनी ॥१६॥ वक्राग्रान्युब्जया युक्तान्यया कण्ठे मनोवहत् । आपस्तम्बः शक्करी च पार्युराप्यायिनी वसुः ॥१७॥ शुभ्रो मिथः सन्धि लीनाङ्गुलिकौसम्मुखौ करौ । दीर्घाङ्गुष्ठौ प्रथितकं धी मुखे पितृपापनुत् ॥ १८ ॥ संवर्तोति महत्पादौ विमला पद्मरागभः । सन्धितोऽर्ध्वाङ्गुलिर्वामस्ताद्दशोऽधोमुखः परः ॥ १९ ॥ सुसम्मुखोन्मुखं तालु मध्ये मं पूर्वपाहम् । कात्यायनसुतस्सोमः श्रोत्रं मातृं ।वपापहम् ॥२०॥ उत्तानोन्नतकोटी द्वौ लम्बहि नासिकागतम् । असितोऽत्यङ्गिरा त्वग्घिरण्या पाण्डुपरिग्रहान् ॥२१॥ अन्योऽन्यसंहतोत्ताना मुष्टिकं नेत्रयोस्तु धिम् । व्यासोऽधृति सुराश्चक्षुः सूक्ष्मा रक्तश्रीं सम्मुखौ ॥२२॥ युक्तानामाकनिष्ठौ संयुक्तवक्राग्रेषकौ । मत्स्यः प्राणिवधाघघ्नं भ्रूमध्येयोन्यसेद्द्विजः ॥२३॥ पराशरोऽधृतिर्दक्षो जिह्वा योनिश्च रुक्मरुक् । कूर्मः पृष्ठे समाक्रान्तो दक्षिणेन त्वधोमुखः ॥ २४ ॥ यो ललाटे खिलाघघं शङ्कुः कृतिः प्रजापतिः । प्राणं जपा वलाकाभः कक्षाभ्यां साश्रयौ करौ ॥ २५ ॥ वामोर्ध्वमध्यो वाराहः पूर्वास्ये नं सुखार्थदम् । शङ्खप्रकृतिर्देवा हृत् पद्मा नीलः श्रुतिश्रितौ ॥ २६ ॥ प्रसारिता-

पदानि दश विन्यस्येदेषु स्थानेषु मन्त्रवित् ॥ १२ ॥
शिरोभ्रूमध्यदृग्वक्त्रे कण्ठहृन्नाभिगुह्यके ॥
जानुनोः पादयोर्युग्मे तच्छिरः शिरसि न्यसेत् ॥ १३ ॥
हृदयं ब्रह्मणे प्रोक्तं विष्णवे शिर ईरितम् ॥
शिखा रुद्राय कवचमीश्वराय समीरितम् ॥ १४ ॥
नेत्रं सदाशिवायोक्तमस्त्रं सर्वात्मने स्मृतम् ॥
षडङ्गान्येवमुक्तानि यथास्थानं प्रविन्यसेत् ॥ १५ ॥
मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम् ॥
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शूलं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥ १६ ॥

कुलो सिंहोदक्षास्ये प्रं शिवप्रदम् । दक्षाकृती शिवाहंसा परित्पूर्वोदितौ करौ ॥ २७ ॥ कुञ्चिताग्रौ महाक्रान्तमुत्तरेचो हरिप्रदम् ॥ गौतमाकृतिकाख्याछामुद्गरः किञ्चिदूर्ध्वयोः ॥ २२ ॥ करयोर्वामहस्तस्य तर्जनीदक्षमुष्टिना । गृहीता ब्रह्मसौख्यस्य प्रदं दं पश्चिमानने ॥२९॥ शातातपःकृतिर्विष्णुर्गणासद्वेशरूपधृक् । दक्षिणाधोसु व्रोमूर्द्धिन पल्लवः कैपवर्गि यादि"ति॥३०॥११॥ इ॥

पदन्यासमाह *पदानीति* । एषु वक्ष्यमाणेषु पदानि तु—"एकत्र्यष्टिद्व्यष्टिवह्निद्वये कैकाद्यक्षरैः क्रमात्" कल्पान्तरे शिरः पदन्यासोऽप्युक्तः। ओमापस्तनयोर्ज्योतिर्नसि नेत्रे रसोमुखे ' अमृतं शिरसि ब्रह्म शिखायां भूर्भुवः स्वरोमि"ति ॥ १२ ॥ १३ ॥

षडङ्गमाह *ब्रह्मण इति* ॥ १४ ॥

अस्त्रं सर्वात्मने स्मृतमित्यात्मनेपदोद्धारो ग्रन्थकृतः सर्वत्राभिप्रेतः । ब्रह्मात्मने हृदयाय नम इत्यादि प्रयोगः । सांप्रदायिकास्तु—ॐ भूर्भुवः स्वस्तत्सवितुर्ब्रह्मात्मने हृत् । वरेण्यं विष्ण्वात्मने शिरः । भर्गो देवस्य रुद्रात्मने शिखा । धीमहि ईश्वरात्मने कवचम् । धियोयोनः सदाशिवात्मने नेत्रं, प्रचोदयात् सर्वात्मने अस्त्रमिति षडङ्गक्लृप्तिं वदन्ति । कल्पान्तरे तु—ब्रह्मा विष्णुः क्रमाद्रुद्र ईश्वरश्च सदाशिवः । सर्वात्मतेजसोऽन्तस्य व्याहृत्यादिषडङ्गके" इति । आदिशब्देन व्याहृतित्रयं च । ॐ भूर्ब्रह्मतेजस इत्यादि प्रयोगः ॥ १५ ॥

ध्यानमाह—*मुक्तेति* । कशा-अश्वादेस्ताडनी रज्जुः । शुभ्रमिति कपालविशेषणम् गुणः पाशः । आयुधध्यानं तु—दक्षाद्यूर्ध्वयोरन्त्ये । तदधस्तनयोश्चक्रशङ्खौ । तदधस्थयोः पाशकपाले तदस्थयोः कशाङ्कुशौ तदधस्तनयोरभयवरौ । अत्र ध्यानानन्तरं वरादिमुद्राः प्रदर्शयेत् । यदाहुः—"वराभयाब्जपक्षीन्द्रशक्तिमुद्राः प्रदर्शयेदि"ति । त्रिसन्ध्यं ध्यानं यथा—"हंसारूढां शिताब्जेत्त्वरुणमणिलसद्भूषणां साष्टनेत्रां वेदाख्यामक्षमालां स्रुवमथकमलं दण्डमप्यादधानाम् । ध्यायेद्दोभिश्चतुर्भिस्त्रिभुवनजननीं पूर्वसन्ध्यादिवन्द्यां गायत्रीमृक्सवित्रीमभिनववयसं मण्डले चण्डरश्मेः ॥ विश्वमातः ! सुराभ्यर्च्ये ! पुण्ये ! गायत्रि ! वैधसि ! आवाहयाम्युपास्त्यर्थमेह्योनोऽद्नि ! पुनीहि माम् ॥ वृषेन्द्रवाहना देवी ज्वलत्त्रिशिखधारिणी । श्वेताम्बरधरा श्वेतनागाभरणभूषणा ॥ श्वेतस्रगक्षमालालङ्कृता रक्ता च शङ्करा । जटाधारा धराधात्री धरेन्द्राङ्कभवाऽभवा ॥ मातर्भवानि! विश्वेशि ! आहूतेहि पुनीहि माम् । सन्ध्या सायन्तनी कृष्णा विष्णुदेवा सरस्वती । खगगा कृष्णवक्त्रा तु शङ्खचक्रधरा परा । कृष्णस्रग्भूषणैर्युक्ता सवज्ञानमयी वरा । वीणाक्षमालिका चारुहस्ता स्मितवरानना । मातर्वाग्देवते ! स्तुत्ये ! आहूतेहि पुनीहि मामि"ति ॥ १६ ॥

प्राणायामान्पुराकृत्वा गायत्रीं सन्ध्ययोर्जपेत् ॥
सप्तव्याहृतिसंयुक्तां गायत्रीं शिरसान्विताम् ॥ १७ ॥
त्रिरुच्चरन्धिया प्राणान्धारयेद्यतमानसः ॥
प्राणायामोऽयमाख्यातः समस्तदुरितापहः ॥ १८ ॥
व्याहृतित्रयसंयुक्तां गायत्रीं दीक्षितो जपेत् ॥
तत्त्वलक्षं विधानेन भिक्षाशी विजितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
क्षीरौदनतिलान्दूर्वाक्षीरद्रुमसमिद्वरान् ॥
पृथक् सहस्रत्रितयं जुहुयान्मन्त्रसिद्धये ॥ २० ॥
विधाय मण्डलं विद्वान् त्रिकोणोज्ज्वलकर्णिकाम् ॥
सौरं पीठं यजेत्तत्र दीप्तादिनवशक्तिभिः ॥ २१ ॥
मूलमन्त्रेण क्लृप्तायां मूर्तौ देवीं प्रपूजयेत् ॥
कोणेषु त्रिषु सम्पूज्या ब्रह्माद्याः शक्तयोबहिः ॥ २२ ॥

प्राणायामानिति। बहुवचनं कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वे पर्यवस्यति। तत्स्वरूपमेवाह—*सप्तेति* ॥ १७ ॥

धिया त्रिरुच्चरन्निति सम्बन्धः। *व्याहृतीति*। व्याहृतित्रयमाद्यम्। मोक्षार्थी तु—परोरजसे सावदोमिति चतुर्थपादसहितां जपेदिति ज्ञेयम् ॥ अस्य(१) विमलऋषिर्गायत्रीछन्दः परमात्मा देवतेति ॥१८॥ ॥

तत्त्वलक्षमिति। चतुर्विंशतिलक्षम्। *विधानेनेति*। पुरश्चरणोक्तेन ॥ १९ ॥

क्षीरोदनेति। "क्षीरमोदनस्तिलादूर्वा इति द्रव्यचतुष्टयम्। *क्षीरद्रुमा* अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटाः ॥ २० ॥

मण्डलमिति। सर्वतोभद्रम्। *त्रिकोणोज्ज्वलकर्णिकम्*। तत्कर्णिकायां त्रिगुणितं यन्त्रं लिखेदित्यर्थः। त्रिकोणशब्दस्य त्रिगुणितोपलक्षकत्वात्। तदुक्त—*माचार्यैः*—"अथ त्रिगुणिते विचित्रे मण्डलोत्तम" इति। *तत्र*—पूर्वोक्ते। *दीप्तादीति*। चतुर्दशपटलोक्ताः ॥२१॥ ॥

कोणेष्विति। अग्निवरुणेशानेषु। *ब्रह्माद्या*—ब्रह्मविष्ण्वीशाः। *शक्तयो*—गायत्री सावित्री सरस्वत्याख्याः। *कोणेषु—*त्रिष्वित्यत्रैव। ऐन्द्रनैर्ऋत्यवायव्यभागेष्वित्यर्थः। एभिः प्रथमावरणम्। अत्र यद्यपि ब्रह्माद्या इत्युक्तं तथापि शक्तिपूजापूर्वं ज्ञेया। "त्रिशक्तिमूर्तीः प्रथमं समर्च्यं"त्याचार्योक्तेः। अन्यत्रापि—"गायत्री शतमखजे निशाचरोत्थे सावित्री पवनगते सरस्वती च। ब्रह्माणं हुतभुजि वारुणे च विष्णुं षष्ठेऽस्त्रे समभियजेत्तथेशमैशे" इति। अन्यत्रापि—"रक्ता रक्ताकल्पा चतुर्मुखी कुण्डिकाक्षमालेऽब्जे। दधती प्राक्कोणस्था गायत्री तादृशोऽग्निगो ब्रह्मा ॥ अरिदरगदाब्जहस्ता किरीटकेयूरसम्भिन्ना। निशि चरकोणसमुत्था सावित्री वरुणगस्तथा विष्णुः ॥ टङ्काक्षाभयवरदान् दधतीच त्रीक्षणेन्दुकलितजटाः। वाणी वायव्यस्था विशदाकल्पा तथेश्वरस्त्वेशे" इति। कल्पान्तरे तु—"षट्कोणाश्रिषु सावित्र्यै प्राग् गायत्र्यै च नैर्ऋते। वायुकोणे सरस्वत्यै आग्नेये ब्रह्मणे नमः ॥ पश्चिमे विष्णवेऽथेशे रुद्राय प्रथमावृतिः ॥ तत आदित्याद्याश्चतुर्दशपटलोक्ताः। उपादयश्च तत्पटलोक्तप्रकारेणैव। एतेन द्वितीयावरणम्। *तत* इति तृतीया। *यथा विधीति*। चतुर्थपटलोक्तरीत्या ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

(१) परोरजसइत्यस्य ॥

आदित्याद्यास्ततः पूज्या उषादिसहिताः क्रमात् ।
ततः षडङ्गान्यभ्यर्चेत्केसरेषु यथाविधि ॥ २३ ॥
प्रह्लादिनीं प्रभां पश्चान्नित्यां विश्वम्भरां पुनः ।
विलासिनीप्रभावत्यौ जयां शान्तिं यजेत्पुनः ॥ २४ ॥
कान्तिं दुर्गासरस्वत्यौ विश्वरूपां ततःपरम् ।
विशालासंज्ञितामीशां व्यापिनीं विमलां यजेत् ॥ २५ ॥
ततोऽपहारिणीं सूक्ष्मां विश्वयोनिं जयावहाम् ।
पद्मालयां परां शोभां पद्मरूपां ततोऽर्चयेत् ॥ २६ ॥
ब्राह्मयाद्याः सारुणा बाह्ये पूजयेत्प्रोक्तलक्षणाः ।
ततोऽर्चयेद्ग्रहान्बाह्ये शक्रादीनायुधैःसह ॥ २७ ॥
इत्थमावरणैर्देवीं दशभिः परिपूजयेत् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां भोक्ता स्याद्द्विजसत्तमः ॥ २८ ॥
तत्त्वसंख्यासहस्राणि मन्त्रविज्जुहुयात्तिलैः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दीर्घमायुः स विन्दति ॥ २९ ॥
आयुषे साज्यहविषा केवलेनाथसर्पिषा ।
दूर्वात्रिकैस्तिलैर्मन्त्री जुहुयात्त्रिसहस्रकम् ॥ ३० ॥
अरुणाब्जैस्त्रिमध्वक्तैर्जुहुयादयुतं ततः ।
महालक्ष्मीर्भवेत्तस्य षण्मासान्नात्र संशयः ॥ ३१ ॥
ब्रह्मश्रिये प्रजुहुयात्प्रसूनैर्ब्रह्मवृक्षजैः ।
बहुना किमिहोक्तेन यथावत्साधु साधिता ॥ ३२ ॥
द्विजन्मनामियं विद्या सिद्धा कामदुघा मता ॥ ३३ ॥
ओं जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतोनिदहाति वेदः ॥

प्रह्लादिनीमिति । आसां ध्यानमुक्तमन्यत्र—"कुन्देन्दुधवलाकारा मणिमुक्ताद्यलङ्कृताः । गुणाङ्कुशद्वयाम्भोजकराः प्रह्लादिनीमुखा" इति । आभिरष्टाभिरावरणत्रयम् । अतएव दशभिरावरणैरिति वक्ष्यति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

ब्राह्म्याद्याःसारुणा इति । अरुणान्ता महालक्ष्मीस्थाने अरुणः पूज्य इत्यर्थः । *पद्मपादाचार्यास्तु* अरुणपूजामधिकामाहुः । *प्रोक्तलक्षणा इति* । षष्ठपटलोक्तध्यानाः । आभिः सप्तमम् ॥ *ग्रहानिति* । सूर्यमन्त्रोक्तान् । एभिरष्टमम् । कल्पान्तरेषु—"अष्टमं ग्रहैरादित्यपरिषदान्तैस्तैरिति । इन्द्राद्यैर्नवमम् । तदायुधैर्दशमम् ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

आयुष इति । साज्यहविषेत्येकम् । *केवलेनेति* । पायसेन केवलेनेति । सर्पिषेति च सम्बन्धः । *त्रिसहस्रमिति* । पञ्चानामपि संख्या । तदुक्तम्—"आयुः कामो जुहुयात् पायसहविराज्यकेवलाज्यैश्च । दूर्वाभिः सतिलाभिः सर्वैस्त्रिसहस्रसंख्यकं मन्त्री"ति । तन्त्रान्तरस्थं धारणयन्त्रमुच्यते—"शक्तेर्बाह्यकृशानुकोणविलसद्भूरादिसत्कर्णिकं वस्वब्जं स्वरयुग्मकेसरदलैर्वर्गैस्त्रिवर्णैर्मनोः । गायत्र्याः कथितं महः प्रभृतिभिर्यन्त्रं तु दिक्ष्वङ्कितं चूडामन्त्रतुरीयवेष्टितमिदं क्ष्माकोणताराङ्कितमि"ति । *रामवल्लभे तु*—द्वादशगुणितं यन्त्रं गायत्रीयन्त्रत्वेनोक्तम् ॥३०॥३१॥३२॥३३॥

सनः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुन्दुरितात्यग्निः ॥ ३४ ॥
आग्नेयमभिधास्यामि मन्त्रं सर्वार्थसाधकम् ॥
मारीचः काश्यपः प्रोक्तो मुनिरस्य महामनोः ॥ ३४ ॥
त्रिष्टुप् छन्दो देवताऽत्र जातवेदोऽग्निरीरितः ॥
नवभिः सप्तभिः षड्भिः सप्तभिः पुनरष्टभिः ॥ ३५ ॥
सप्तभिर्मूलमन्त्रार्णैः षडङ्गविधिरीरितः ॥
अङ्गुष्ठगुल्फजङ्घासु जानुनोरुरुयुग्मके ॥ ३६ ॥
कट्यन्धुनाभिषु हृदि स्तनयोः पार्श्वयोर्द्वयोः ॥
पृष्ठतः स्कन्धयोर्मध्ये बाहुमूलोपबाहुषु ॥ ३७ ॥
प्रकूर्परप्रकोष्ठेषु मणिबन्धतलेषु च ॥
मुखनासाक्षिकर्णेषु मस्तमस्तिष्कमूर्द्धसु ॥ ३८ ॥
क्रमेणविन्यसेद्वर्णान्मन्त्री मन्त्रसमुद्भवान् ॥
शिखाललाटनयनकर्णोष्ठरसनास्वथ ॥ ३९ ॥
सकण्ठबाहुहृत्कुक्षिकटिगुह्योरुजानुषु ।
जङ्घयोः पदयोर्न्यस्येत्पदान्यस्य मनोः सुधीः ॥ ४० ॥
विद्युद्दामसमप्रभां मृगपतिस्कन्धस्थितां भीषणां
कन्याभिः करवालखेटविलसद्धस्ताभिरासेविताम् ।

त्रिष्टुब्मन्त्रमाह—*आग्नेयमिति*। सचर्ग्वेदे प्रसिद्धः। यथा—"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः। सनः पर्षदति—दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरिताऽत्यग्निः।" हृल्लेखामनुसम्पुटोजप्तव्यः। मारीचः। काश्यप इति विशेषणं विधेयम्। हलंशोबीजं स्वरांशः शक्तिः ॥३४॥३५॥३६॥

अङ्गुष्ठेति। पादाङ्गुष्ठद्वयम्। *स्कन्धयोरिति*—भिन्नम्। *मध्य इति*। कन्धरायाम्। *उपबाहुष्विति*। उपबाहुः बाहुमूलकूर्परमध्यभागः। *मस्तं*—ललाटकेशसन्धिः। *मस्तिष्कतदूर्ध्वदेशः। मूर्द्धा—ब्रह्मरन्ध्रम् ॥३६॥३७॥३८॥

वर्णानिति। चतुश्चत्वारिंशत् परिषदित्यस्य पृथक् पाठात्। अत्राङ्गुष्ठादिस्थानद्वये वर्णद्वयन्यासमाह—*शिखेति*। शिखा-मूर्द्धा। गुह्यं-लिङ्गम्। तत्र पदन्यासे नयनयोः पदद्वयं कर्णद्वये पदद्वयम्। अन्यत्रैकैकं पदम्। *तदु क्रमीशानशिवेन*—"स्मृतमिह तु पदानां कं ललाटाक्षिकर्णत्वधररसनकण्ठं ब हुहन्नाभिदेशाः। कटिरपिमदनोरूजानुजङ्घाङ्घ्र्योमीश्रवणनयनयोर्द्वे स्थानमेकैकमन्यद्रिगति ॥ ३९ ॥

*पदानि *अष्टादश तानि यथा—"शराब्धिद्वोष्वेकत्रह्निद्वयेकैकद्विद्वि पावकैः। व्यग्निद्वयग्निद्विद्विवर्णैरष्टादश पदानि हि ॥ ३९ ॥ ४० ॥

विद्युदिति। दरः—शङ्खः। गुणस्त्रिशूलम् ॥ "अस्त्रासाख्यस्त्रिशूलानी"त्याचार्योक्तेः। आयुधध्यानं तु—दक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये। तदधस्थयोरग्रिमे। तदधस्थयोश्चापत्रिशिखौ। तदधस्थयोः शूलतर्जन्यौ। तदुक्तं—'हेमाचलतटे रम्ये कल्पवृक्षोपशोभिते। दिव्योद्यानं चिन्तयेच्च विशालं हेमभूतलम् ॥ कृशानुरूपवप्रेण करालेन समावृतम्। तन्मध्ये चिन्तयेद्दिव्यं विचित्रमणिमण्डपम् ॥ तस्मिन् सिंहासनेऽम्भोजकर्णिकायां विचिन्तयेत्। दंष्ट्राकरालाट्टहासं कृष्णवर्णं भयानकम् ॥ अतितीव्रमुखं सिंहं जमदग्निशिखोज्ज्वलम्। तस्योपरिष्टात्तां देवीं

हस्तैश्चक्रगदासिखेटविशिखांश्चापं गुणं तर्जनीं
बिभ्राणामनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां स्मरेत् ॥ ४१ ॥
मन्त्रवर्णसहस्राणि जपेन्मन्त्रं विशालधीः ।
तदन्ते तिलसिद्धार्थचित्रमूलैः समिद्वरैः ॥ ४२ ॥
क्षीरद्रुमाणामाज्येन हविषान्नैर्घृतान्वितैः ।
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं चतुःशतसमन्वितम् ॥ ४३ ॥
चतुःसहस्रं जुहुयादर्चिते हव्यवाहने ।
मण्डले सर्वतोभद्रे पट्कोणाङ्कितकर्णिके ॥ ४४ ॥
विधिना वक्ष्यमाणेन पीठं देव्याः प्रपूजयेत् ।
जयाख्यां विजयां भद्रां भद्रकालीमनन्तरम् ॥ ४५ ॥
सुमुखीं दुर्मुखीं संज्ञां पश्चाद्व्याघ्रमुखीं पुनः ।
अथ सिंहमुखीं दुर्गां, नव शक्तीः प्रपूजयेत् ॥ ४६ ॥
आसनं सिंहमन्त्रेण दद्यादुक्तेन देशिकः ।
मूर्तिं सङ्कल्प्य मूलेन तस्यामावाह्य पूजयेत् ॥ ४७ ॥
षडङ्गानि यथापूर्वं केसरेष्वर्चयेत्सुधीः ।
(१)ग्न्यादिपादाष्टकोत्पन्ना मूर्तयोऽर्च्या बहिः पुनः ॥ ४८ ॥

कोटिबालार्कसन्निभाम् ॥ चक्रासिबाणशूलाख्यान् दधतीन्दक्षिणैर्भुजैः । शङ्खचक्रधनुर्बाण-तर्ज्जनीर्वामबाहुभिः ॥ चन्द्रखण्डसमायुक्तामतिभीमत्रिलोचनाम् । ऊर्ध्वज्वलत्केशपाशा-मशेषाहरणोन्मुखीन् । अङ्गाद्यावृतिसंयुक्तामस्त्रशस्त्रपरीवृताम् । इन्द्रादिलोकपालैश्च सेवितां विन्ध्यवासिनीमि"ति ॥ ४१ ॥

*विशालधी*रित्यनेन दीक्षाप्रकारेणायं मन्त्रो ग्राह्य इत्युक्तम् । तदुक्त*माचार्यैः*—"दीक्षाप्रवक्ष्यंते पूर्वं यथावद्देशिकोत्तमैः। ततोऽस्त्रक्लृप्तिः सम्प्रोक्तास्यात्प्रयोगविधिस्ततः"इति । *अन्यत्रापि*—"अस्त्राणि दीक्षितस्यैव कथयेत् सतु साधयेदि"ति । *चित्रमूलै*—श्चित्रकमूलैः ॥ ४२ ॥

*हविषा—*पायसेन । *घृतान्वितै—*र्घृतसिक्तैः । "सर्पिः सिक्तैः क्रमात् होमात् साधयेत् समुदायतः" इति आचार्योक्तेन नवद्रव्याणि तेनैकैकद्रव्येण चतुः शती चतुर्नवतिः आहुतयः॥४३॥

मण्डल इति। तृतीयोक्ते । *पट्कोणाङ्कितेति*। तत्पद्मकर्णिकायां षड्गुणितं यन्त्रं लिखेदित्यर्थः । षट्कोणशब्देन षड्गुणितस्योपलक्षितत्वात् । तदुक्त*माचार्यैः*—"दीक्षकाख्याक्षराण्यादौ शक्त्यावेष्ट्य ततो बहिः । यन्त्रं षड्गुणितं कृत्वा दुर्वर्णललितात्मकम् ॥ बहिरष्टदलं पद्ममि"त्यादिना ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

शक्तीः प्रपूजयेदिति। आसां ध्यानमुक्तमन्यत्र—"ज्वलज्ज्वलनसङ्काशाः सर्पाङ्कुरशोभिताः । शूलं कुठारडमरुद्द्रनान् करपङ्कजैः ॥ दधत्यश्चिन्तनीयाः स्युर्जयाद्या नव शक्तयः" इति ॥ ४६ ॥

उक्तेनेति। एकादशे । अग्न्यादीत्यनेन मूर्तीनां तदादित्वमुक्तं पूजायां न्यासे च । तच्चाग्न्यादि पादाष्टकमग्रे वक्ष्यति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

---

(१) अत्राकारलोपश्छन्दोऽनुरोधात् । बहुलं छन्दसीति पाणिनिस्मृतेश्छन्दोविषयिण्या इहाऽपि कविप्रयोगे "तंतस्थिवांसं नगरोपकण्ठे" इत्यादिषु महाकविभिरनुमतत्वात् ।

जातवेदाः सप्त जिह्वो हव्यवाहनसंज्ञकः ।
अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यः पुनर्वैश्वानराह्वयः ॥ ४९ ॥
कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखो देवमुखः स्मृतः ।
ततो भूसलिलाग्नीरानात्मनेऽन्तान्नमोऽन्वितान् ॥ ५० ॥
चतुर्दिक्षु समभ्यर्च्य कोणेषु तत्कलाः पुनः ।
पूर्वादिदिक्षु सम्पूज्या जार्णाद्या वर्णशक्तयः ॥ ५१ ॥
जाग्रता तपनी वेदगर्भा दहनरूपिणी ।
सेन्दुखण्डा शुम्भहन्त्री नभश्चारिण्यनन्तरम् ॥ ५२ ॥
वागीश्वरी मदवहा सोमरूपा मनोजवा ।
मरुद्वेगा रात्रिसंख्या तीव्रकोपा यशोवती ॥ ५३ ॥
तोयात्मिका पुनर्निस्था दयावत्यपि हारिणी ।
तिरस्क्रिया वेदमाता तत्परा मदनप्रिया ॥ ५४ ॥
समाराध्या नन्दिनी च परा रिपुविमर्दिनी ।
षष्ठी च दण्डिनी तिग्मा दुर्गा गायत्र्यनन्तरम् ॥ ५५ ॥
निरवद्या विशालाक्षी श्वासोद्वाहा वनादिनी ।
वेदना वह्निगर्भाख्या सिंहवाहाह्वया तथा ॥ ५६ ॥
धुर्या दुर्विषहा पश्चाद्गिरंसा तापहारिणी ।
त्यक्तदोषा निस्सपत्ना चत्वारिंशच्चतुर्युता ॥ ५७ ॥
लोकपालांस्ततोऽभ्यर्च्य वज्राद्यायुधसंयुतान् ।
इत्थं जपादिभिः सिद्धे मन्त्रेऽस्मिन्साधकोत्तमः ॥ ५८ ॥
आग्नेयास्त्राधिकारी स्यात्तद्विधानमुदीर्यते ।
आग्नेयास्त्रमिति प्रोक्त विलोमग्रथितो मनुः ॥ ५९ ॥

मूर्त्याऽर्च्या इति—उक्तं ताः का इत्यपेक्षायामाह—*जातवेदा इति* । मूर्त्तीना पुनरुक्तिरन्यमूर्तिनिवृत्त्यर्था । आसां *ध्यानमुक्तमन्यत्र*—"तडित्कोटिसमप्रख्याः सर्वभूषणभूषिताः । शूलं शरं कार्मुकं च कपालं स्वैर्महाभुजैः ॥ दधत्योरक्तवसनाः क्रूरेक्षणभयानकाः । ज्वलज्ज्वलनवक्त्राः स्युर्जातवेदादिमूर्तय" इति ॥ ४९ ॥

आत्मनेऽन्तानिति तत्त्वात्मनेनम इत्यादि । एषां ध्यानं स्वस्वस्थले प्रोक्तमनुसन्धेयम् । जलस्य वक्ष्यमाणं वरुणध्यानं ज्ञेयम् । एतत्कला निवृत्ति-प्रतिष्ठा-विद्या-शान्तिरूपाः । आसां ध्यानं प्रासादमन्त्रोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ५० ॥

पूर्वादिदिक्ष्वति । एकैकस्यां दिशि एकादशैकादश शक्तीः पूजयेत् । तदुक्तं—"मन्त्रविधानविच्च दिशि दिश्येकादशैकादश"ति । *जार्णाद्या इति* । जाप्रभृतिमन्त्राक्षराद्याः ॥५१॥५२॥५३॥ ॥

तत्परेति । दमनप्रियाविशेषणम् ॥ ५४ ॥

परेति । कलानाम । षष्ठीत्यपि नाम ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

बाहुलकत्वमत्र "व्यत्ययो बहुलम्" (३।१।८५) इतिपाणिनिसूत्रेण वर्णस्यलोपरूपोव्यत्यय उक्त इति ॥ तथाचोक्तं वृत्तिकृता—"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाङ्कालाहलस्वरकर्तृयङाञ्च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ १ ॥ इति ॥

पूर्वोक्ता एवमुत्पाद्या मन्त्रस्यास्य प्रकीर्तिताः ।
प्रतिलोमक्रमादस्य षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ ६० ॥
वर्णन्यासपदन्यासौ विदध्यात्प्रतिलोमतः ।
ध्यानभेदान्विजानीयाद्‌ गुर्वादेशान्नचान्यथा॥ ६१ ॥
पूर्ववज्जपक्लृप्तिः स्याज्जुहुयात्पूर्वसंख्यया ।
पञ्चगव्यसुपक्वेन चरुणा तस्य सिद्धये ॥ ६२ ॥
अर्चनं पूर्ववत्कुर्याच्छक्तिस्तु प्रतिलोमतः ।
सर्वत्र देशिकः कुर्याद्गायत्र्या द्विगुणं जपम् ॥ ६३ ॥
क्रूरकर्माणि कुर्वीत प्रतिलोमविधानतः ।
शान्तिकं पौष्टिकं कर्म कर्तव्यमनुलोमतः ॥ ६४ ॥
प्रयोगकाले प्रजपेदष्टौ पादान्विलोमतः ।
शोधितो जायते पश्चान्मन्त्रोऽयं विधिनामुना ॥ ६५ ॥
आद्यः पश्चात्तरः पादो ज्ञेयो ज्ञानेन्द्रियात्मकः ।

प्रतिलोमेति । संख्यायाः प्रातिलोम्यम् वर्णप्रातिलोम्यम् । वर्णप्रातिलोम्यस्योक्तत्वात् ॥ *प्रकल्पयेदिति* । पूर्वोक्तसंख्याक्षरैः संप्रदायात्तारमायादुराद्यैः जातवेदसे मां रक्षरक्षाग्नयेऽग्नायफडन्तैः । तदुक्तं—"शैलाहिलाकाङ्गसंख्यैर्धातुनन्दप्रसंख्यकैः । विलोमभूतैस्ताराादि बीजत्रयशिरोगतः ॥ आद्यं पदं मां रक्षरक्षाग्नयेऽग्नायफट्युतैः । जातियुक्तैः षडङ्गानि दहनास्त्रस्य कल्पयेदि"ति ॥ *ध्यानभेदानिति* । तत्राग्नेयास्त्रदेवताध्यानं यथा । "मध्ये तालवनस्याग्निवप्राढ्ये वह्निभूतले । महतस्तालवृक्षस्य मूलाभ्यासविराजिते ॥ सिंहस्कन्धाग्निकोणे वा चलच्चरणसंस्थिताम् । तडित्कोटिसमप्रख्यां कल्पान्तदहनोज्ज्वलाम् ॥ अकृत्रिमोग्रदंष्ट्रास्यां घण्टामालास्फुरत्कटिम् ॥ गलभोगोन्द्रडमरुविद्युद्वह्निज्वलत्प्रभाम् ॥ दधानां करदण्डैः स्वैर्भूषामदवलाकुलैः । भूषितां भूषणैरुग्रैः फणीन्द्रपरिकल्पितैः ॥ रन्याविवर्णमयीं देवीं सञ्चिद्‌रूपां विचिन्तयेदि"ति ॥ ६० ॥ ६१ ॥

पूर्ववदिति । पूर्वोक्तसंख्यया । विशेषस्त*न्त्रान्तरे*—"मौनीव्रतपरोमन्त्री शुद्धाचारो जितेन्द्रियः । पूर्वोक्तासनमध्यस्थः प्राङ्मुखः स्वस्तिकासन ।। आग्नेयास्त्रं जपेद्विद्वान् सिद्ध्यर्थं पूर्वसंख्यये"ति । *तस्य सिद्धय इति* । उभयासिद्धत्वे प्रयोगानर्हत्वात् । तदुक्तं "यो हि सम्यगसाध्यैतत् क्रियाः कर्तुमभीप्सति । क्रियास्त्रदेवतास्तं वै नाशयन्त्येव दारुणाः॥ तस्मात् सर्वप्रयत्नेन षष्ठकालादिभिर्व्रतैः । देहं विशोध्य शस्त्राणि साधयित्वा चरेत् क्रियाः" इति । *अन्यत्रापि*—"प्रतिलोमानुलोमान्तां विद्यां संसाध्य देशिकः । प्रयोगमारभेदेषामस्त्राणामुक्तमार्गतः" इति ॥ ६२ ॥

अर्चनमिति । तत्र विशेषस्तन्त्रान्तरे—"पीठे पूर्वोदिते देवीमावाह्योक्तेन वर्त्मना । प्रवरैर्गन्धकुसुमैः साङ्गां मूलेन पूजयेत ॥ अङ्गान्यग्न्यादिकोणेषु वह्निमूर्तीर्दिशास्वपि । दुर्गा नारायणी चैव दुर्मना शमनप्रिया ॥ पदशक्तीरिमाश्चाष्टौ तृतीयावरणेऽर्चयेत् ॥ मन्त्राग्नेशकोस्तद्बाह्ये लोकपालांश्च पूजयेदि"ति ॥ *सर्वत्रेति* । प्रयोगेषु । *गायत्र्या द्विगुणं जपं—*प्रयोगोक्तजपाद्‌द्विगुणं जपं कुर्यादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

प्रतिलोमविधानतः । आग्नेयास्त्रेण *अनुलोमतइति* । "जातवेद से" इत्यनेन ॥६४॥

प्रजपेदिति । पृथक् पृथक् । *शोधित इति* । तदुक्तं—"मनोः स्थिरादिदोषाणां सर्वषामुपशान्तये । अभिचारकृतानां च मनुपादाष्टकं जपेदि"ति ॥ ६५ ॥

घुमाद्यः पञ्चवर्णोऽन्यः स्मृतः कर्मेन्द्रियात्मकः ॥ ६६ ॥
श्वाद्यस्तृतीयः पञ्चार्णः पञ्चभूतमयः स्मृतः ।
त्थाद्यः सप्ताक्षरः पादश्चतुर्थो धातुरूपकः ॥ ६७ ॥
दपूर्वः पञ्चमः पाद ऊर्मिरूपः षडक्षरः ।
तो वर्णादिः षडर्णोऽन्य षाट्कौशिकमयो मतः ॥ ६८ ॥
सो पूर्वः पञ्चवर्णोऽन्यः शब्दादिमय ईरितः ।
सो वर्णाद्योऽष्टमो ज्ञेयः वश्चार्णो वचनादिकः ॥ ६९ ॥
एवं तत्त्वसमायोगात्पादक्लृप्तिरुदीरिता ।
तत्तत्पदाक्षरोत्पन्नास्तावत्यो वह्निदेवताः ॥ ७० ॥
प्रधानमूर्तिप्रतिमाः स्वस्ववर्णोदितप्रभाः ।
प्रज्वलत्केशवदना भीमदंष्ट्रा भयानकाः ॥ ७१ ॥
देवता इन्द्रियोत्पन्ना ऊर्ध्वंद्वय ईरिता ।
देवताभूतपादोत्थास्तिर्यग्वक्त्राः प्रकीर्तिताः ७२ ॥
धातुरूपाक्षरोद्भूता उभयाननशोभिताः ।
ऊर्मिजा ऊर्ध्ववदना कोशोत्थास्तिर्यगाननाः ॥ ७३ ॥
एताः सर्वाः स्मृताः क्लीबा इन्द्रियार्थोद्भवास्त्रियः ।
अधस्तिर्यङ्मुखोपेता ईरिया वर्णदेवताः ॥ ७४ ॥
आभिमुख्यः स्मृताः सौम्ये पराङ्मुख्योऽन्यकर्मणि ।
आभ्योऽसंख्याः समुत्पन्ना देवता ज्वलिताननाः ॥ ७५ ॥
याभिर्मन्त्री दहेच्छत्रो राज्यं सगिरिकाननम् ।
अस्त्रं मनुष्यनक्षत्रेष्वारभेत विचक्षणः ॥ ७६ ॥
आसुरेषु प्रयुञ्जीत देवताख्यासु संहरेत् ।
पूर्वोत्तरात्रयं पश्चाद्भरण्यार्द्राथरोहिणी ॥ ७७ ॥
इमानि मानुषाण्याहुर्नक्षत्राणि मनीषिणः ।
ज्येष्ठा शतभिषङ्मूलं धनिष्ठाश्लेषकृत्तिकाः ॥ ७८ ॥
चित्रा मघा विशाखाः स्युस्तारा राक्षसदेवताः ।
अश्विनी रेवती पुष्यः स्वाती हस्तपुनर्वसू ॥ ७९ ॥

ज्ञानेन्द्रियात्मक इति । घ्राणरसनचक्षुः श्रोत्रत्वग्रूपाणि ज्ञानेन्द्रियाणि । तदात्मकत्वं वर्णक्रमेण । एवमग्रेऽपि । *कर्मेति* वाक्पाणिपादपायूपस्थानि ॥ ६६ ॥

पञ्चभूतेति । पृथिव्यप्तेजोवायुवाकाशानि । *धात्विति* । त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि । *ऊर्मीति* । बुभुक्षापिपासाशोकमोहजरामृत्युरूपाः । *षाट्कौशिकेति* । आत्वस्थिमज्जात्वङ्मांसान्त्राणि ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

शब्दादीति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । *वचनेति* । वचनादानगतिविसर्गानन्दाः ॥ ६९ ॥

एवं तत्त्वसमायोगादिति । अनेन एतदक्षरैस्तत्त्वन्यासः सूचितः ॥ ७० ॥ ७१ ॥

इन्द्रियोत्पन्ना इति । आद्यपदद्वयोत्थाः ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

इन्द्रियार्थोद्भवाः स्त्रियः । अधस्तिर्यङ्मुखोपेता इति सम्बन्धः ॥ इन्द्रियार्थोद्भवा इति अन्त्यपादद्वयोत्थाः । सर्वासामुपसंहारः—ईरिता वर्णदेवता इति ॥७४॥७५॥७६॥७७॥७८॥७९॥

अनुराधा मृगशिरः श्रवणं देवतारकाः ।
उपक्रमेत नन्दासु रिक्तास्वस्त्रं विसर्जयेत् ॥ ८० ॥
भद्रास्वाहरणं कुर्याज्जयास्वत्यन्तमुत्तमम् ।
उपक्रमो भौमवारे शनिवारे विसर्जनम् ॥ ८१ ॥
प्रतिसंहरणं वारे गुरोः शुक्रस्य वा भवेत् ।
स्थिरेषु राशिष्वारम्भश्चरेषु स्याद्विसर्जनम् ॥ ८२ ॥
अस्त्रसंहरणं कुर्यादुभयेषु विचक्षणः ।
कृष्णपक्षेऽनलेनास्त्रं विसृजेच्छशिना पुनः ॥ ८३ ॥
शुक्लपक्षे क्रमादस्त्रं पुनरात्मनि संहरेत् ।
भानुना मोक्षसंहारौ कुर्यात्पक्षद्वये सुधीः ॥ ८४ ॥
पश्चिमाभिमुखोभूत्वा कर्म सर्वत्र साधयेत् ।
नक्षत्रवृक्षसकलान्साध्याख्याकर्मसंयुतान् ॥ ८५ ॥
तत्तन्मन्त्राक्षरोपेतान्मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ।
जुहुयादेधिते वह्नौ मारयेद्रिपुमात्मनः ॥ ८६ ॥
कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत्कृष्णचतुर्दशि ।
धत्तूरविषवृक्षाक्षभूरुहोत्थान्समिद्वरान् ॥ ८७ ॥
राजीतैलेन संलिप्तान्पृथक्सप्तसहस्रकम् ।
जुहुयात्संयतो मन्त्री रिपुर्यमपुरं व्रजेत् ॥ ८८ ॥

नन्दास्विति। प्रतिपत् षष्ठ्येकादशीषु । *रिक्तास्विति* । चतुर्थी नवमी चतुर्दशीषु ।८०।
भद्रास्विति। द्वितीया सप्तमी द्वादशीषु । *जयास्विति*। तृतीयाष्टमीत्रयोदशीषु। *अत्यन्तमुत्तमम्*-आहरणमित्यनुषज्यते । "सम्रहं कुर्याज्जायासु तु विशेषत" इत्युक्तेः ॥ ८१ ॥
स्थिरेष्विति । वृषसिंहवृश्चिककुम्भेषु *चरेष्विति* । मेषकर्कटतुलामकरेषु ॥ ८२ ॥
उभयेष्विति । द्विस्वभावेषु-मिथुनकन्याधनुर्मीनेषु । "अनलेन तु दक्षिणनासापुटसंचरन्मरुता" । सांप्रदायिकास्त्वेवं मन्यन्ते-अत्रानलशब्देनाग्निमण्डलं यमिति बीजं वह्न्यिकादिनक्षत्रमप्युच्यते। तद्वच्छशिशब्देन चन्द्रमण्डलं चन्द्रबीजं सौम्यास्तिथयश्चोच्यन्ते। तेनायमर्थः । अग्निमण्डलं स्वबीजसंयुक्तं ध्यात्वा नक्षत्रप्रधानमेव विसर्जनकर्म कुर्यात् ॥ ८३ ॥
भानुनेति । आत्मनोभास्कररूपध्यानेन । एवमात्मनोभास्कररूपत्वं विचिन्त्य पूर्वोक्तप्रकारेण पक्षद्वये मोक्षसंहारौ सुधीः कुर्यादित्यनुवादः । आत्मनोभास्कररूपत्वध्यानमात्रं विशेषः । *तदुक्तमाचार्यैः—"नक्षत्रात्मा हुताशः स्यात्तिथ्यात्मेन्दुरुदाहृतः । ताभ्यां करोति दिनकृद्विसर्गादानकर्मणी" इति ॥ ८४ ॥
* सर्वत्रेति* आरम्भे प्रयोगे उपसंहारे च । सामग्री संपादनपूर्वकं कर्मसंकल्प आरम्भः। हुतक्रिया अस्त्रविमोचनम्। इष्टफलानन्तरमुद्वासनं संहृतिः। अन्यत्र कालनियमं विना प्रारम्भो युक्तः। "परचक्रभयादौ च तीव्ररूपे महाभये । नकालनियमो गम्यः प्रयोगाणां कदाचनेत्यि।
नक्षत्रवृक्षा द्वाविंशे वक्ष्यमाणाः । *सकलानिति* । प्रादेशमितान् । *साध्याख्याकर्मसंयुतान्* । *तत्तन्मन्त्राक्षरोपेतानि*त्यनेन क्रमेण "अन्ते नाम्नो भवेन्मन्त्रः पल्लवो मारणे मतः" इति पल्लव उक्तः ॥ ८५ ॥ ८६ ॥
विषवृक्ष । कारस्करः । (कुचिला) *अक्षो* बिभीतकः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

सप्तरात्रं प्रजुहुयात् सिद्धार्थस्नेहलोलितैः ।
आर्द्रवस्त्रोविष्टिकाले मरीचैर्म्मनुनामुना ॥ ८९ ॥
निगृह्यते ज्वरेणारिः प्रलयाग्निसमेन सः ।
तालपत्रे समालिख्य शत्रुनामयथाविधि ॥ ९० ॥
आग्नेयास्त्रेण संवेष्ट्य कुण्डमध्ये निखन्यते ।
जुहुयान्मरिचैः क्रुद्धोज्वराक्रान्तः स जायते ॥ ९१ ॥
तदादाय क्षिपेत्तोये शीतले स वशो भवेत् ।
पिष्ट्वापामार्गबीजानि मरीचं मधुसंयुतम् ॥ ९२ ॥
अत्युष्णलवणे(१) तोये निःक्षिप्य क्वाथयेत्ततः ।
अर्कवृक्षप्रतिकृते हृदये वदने नसि ॥ ९३ ॥
किञ्चित्किञ्चित्क्षिपेत्तोये दर्व्या कारस्करोत्थया ।
आग्नेयमुच्चरन्मन्त्री सोऽचिराज्ज्वरितो भवेत् ॥ ९४ ॥
क्वथितेऽम्भसि तां क्षिप्त्वा हन्याच्छत्रूनयत्नतः ।
तीक्ष्णस्नेहेन संलिप्तां शत्रोः प्रतिकृतिं निशि ॥ ९५ ॥
तापयेदेधिते वह्नौ प्रतिलोममनुं जपन् ।
ज्वरेण बाध्यते सद्यो होमादस्य मृतिर्भवेत् ॥ ९६ ॥
सामुद्रे सलिले हिङ्गुविषजीरकलोलिते ।
क्वथिते पुत्तलिं साध्यनक्षत्रतरुनिर्मिताम् ॥ ९७ ॥
अधोवक्त्रां विनिःक्षिप्य यष्ट्या विषतरूत्थया ।
तच्छिरस्ताडनं कुर्वञ्जपेदस्त्रं विलोमतः ॥ ९८ ॥
सप्ताहान्मरणं याति शत्रुर्ज्वरविमोहितः ।
आदित्यरथनागेन्द्रग्रस्ताङ्घ्रितच्छिपाहतम् ॥ ९९ ॥
नग्नं तैलेन लिप्ताङ्गं दग्धं भानुमरीचिभिः ।
अधोमुखं निजरिपुन्ध्यात्वा क्वथितवारिणा ॥ १०० ॥

सिद्धार्थस्नेहः सर्षपतैलम् । *विष्टिकाल इति* ॥ विष्टौ करणे । "विषारिघातादि च तत्र सिध्येदि"त्युक्तेः ॥ ८९ ॥
यथाविधीति । कर्मसहितम् ॥ ९० ॥
संवेष्ट्येति । परितो लेखनेन । अत्र लेखनं धत्तूररसेनेति परमगुरवः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥
कारस्करेति । कुचिला ॥ ९४ ॥
तीक्ष्णस्नेहेन । सर्षपतैलेन ॥ ९५ ॥
*प्रतिलोममि*त्याग्नेयमस्त्रम् । *होमादि*त्यर्थात् प्रतिकृते । *अस्येति* रिपोः ॥ ९६ ॥
सामुद्रे सलिले । लवणोदके ॥ ९७ ॥
विलोमत इति । जातवेदोभिप्रायेण । तेनाग्नेयान्तमित्यर्थः ॥ ९८ ॥
नागेन्द्रः सर्पः ॥ ९९ ॥ १०० ॥

(१) अत्र संसृष्टार्थे विहितस्याणो "लवणाल्लुक्" इति लुक् । तेन लवणसंसृष्ट इति तदर्थः ।

तर्पयेद्भानुमालोक्य शत्रुर्मृत्युप्रियो भवेत् ।
बिभ्रतीं मुसलं शूलं ध्यायन्कालघनप्रभाम् ॥ १०१ ॥
कार्पासबीजैर्निम्बस्य पत्रैर्मषीघृतप्लुतैः ।
हुत्वा विद्वेषयेच्छत्रूनस्त्रेणानेन देशिकः ॥ १०२ ॥
बिभ्राणां तर्जनीं शूलं ध्यात्वा दुर्गां भयङ्करीम् ।
महिषीघृतसंसिक्तैः पल्लवैर्विषवृक्षजैः ॥ १०३ ॥
हुत्वा रिपोः क्षणात्सेनामुच्चाटयति मन्त्रवित् ।
ध्यात्वा देवीं पुरा प्रोक्तां चतुर्भिर्मरिचान्वितैः ॥ १०४ ॥
अजारुधिरसंसिक्तैर्जुहुयाद्दिवसत्रयम् ।
रिपोरुच्चाटनं कुर्यात्सेनायां नात्र संशयः ॥ १०५ ॥
अग्निशूलकरां दुर्गां ज्वलन्तीं प्रलयाग्निवत् ।
ध्यात्वा सर्षपतैलाक्तैर्बीजैर्धत्तूरसम्भवैः ॥ १०६ ॥
हुत्वा विमोहयेच्छत्रून्मरिचैर्वा ससर्षपैः ।
कालाञ्जननिभां दुर्गां शूलखड्गधरां स्मरन् ॥ १०७ ॥
नव्रणवृक्षसम्भूतैर्व्रणकृत्स्नेहसंयुतैः ।
समिद्वरैः प्रजुहुयाद्धन्यान्मासेन वैरिणम् ॥ १०८ ॥
सिंहाधिरूढां धावन्तीं धावमानं रिपुं प्रति ।
शरान्कार्मुकनिर्मुक्तान्वह्निज्वालामुखाकुलान् ॥ १०९ ॥
मुञ्चन्तीं संस्मरन्दुर्गान्तर्पयेद्दुष्णवारिणा ।
भानुबिम्बं समालोक्य रिपोरुच्चाटनं भवेत् ॥ ११० ॥
अतिदुर्गामयोमुष्टिगदाहस्तां विचिन्तयेत् ।
विद्युद्दामसमानाभां महिषीघृतसंप्लुतैः ॥ १११ ॥
पुलाकैर्जुहुयान्निम्बविभीतकसमिद्वरैः ।
कोद्रवैरथ शत्रोश्च सेनायास्तम्भनं भवेत् ॥ ११२ ॥
आत्तपाशाङ्कुशां रक्ताङ्गातिदुर्गामनु स्मरेत् ।
लोणैः समधुरैः साध्यवृक्षकाष्ठेधितेऽनले ॥ ११३ ॥
जुहुयान्निशि सप्ताहान्मन्त्रविद्वशयेन्नृपान् ।
पाशाङ्कुशधरां रक्तां त्रिश्वदुर्गां विचिन्तयेत् ॥ ११४ ॥

तर्पयेदिति । दुर्गाम् ॥ १०१ ॥ १०२ ॥
तर्जनीमिति । तर्जनीमुद्रां, तल्लक्षणमुक्तं दुर्गापटले ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥
*सर्षपतैलाक्तै*रित्युत्तरत्राप्यन्वेति ॥ १०६ ॥ १०७ ॥
*व्रणकृ*भल्लातः ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥
अतिदुर्गाद्यः पञ्च जातवेदो मन्त्रभेदा एव वक्ष्यमाणाः ॥ १११ ॥
*पुलाकै*स्तुच्छधान्यैः ॥ ११२ ॥
अतीति । "अतिदुर्गाग्नि विश्वा" इत्यारभ्य "परिषदन्ता" सर्वा ऋक् । एवमग्रेऽपि । गूढार्थदीपिकाकारस्तु । *अतिषदिति* । त्रिचर्णं मन्त्रं वदन् बभ्रामेव ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

फलिनी(१)कुसुमैः फुल्लैश्चन्दनाम्भःसमुक्षितैः ।
जुहुयान्निशि यो मन्त्री तस्य विश्वं वशं भवेत् ॥ ११५ ॥
शरच्चन्द्रनिभां देवीं विगलत्परमामृताम् ।
पाशाङ्कुशधरां ध्यायन् सिन्धुदुर्गां समिद्वरैः ॥ ११६ ॥
वैतसैर्मधुरासिक्तैर्जुहुयाद्वृष्टिसिद्धये ।
कपालं त्रिशिखं पाशमङ्कुशं बिभ्रती करैः ॥ ११७ ॥
जपाकुसुमसंकाशामग्निदुर्गां विचिन्तयन् ।
हुत्वा लवणपुत्तल्या मधुरत्रययुक्तया ॥ ११८ ॥
आकर्षेद्वाञ्छितान्साध्यान्मन्त्रविन्नात्रसंशयः ।
अतिदुर्गयमुत्पाद्या पदन्ता त्रिष्टुबीरिता ॥ ११९ ॥
दुर्वर्णान्ताथ गाणाद्या गाणिदुर्गा समीरिता ।
विश्वाद्या राधन्तरान्ता सा विश्वदुर्गा समीरिता ॥ १२० ॥
सिन्ध्वाद्या सा वकारान्ता सिन्धुदुर्गा निगद्यते ।
त्यन्तामग्न्यादिकामेनामग्निदुर्गां विदुर्बुधाः ॥ १२१ ॥
अङ्गणे स्थण्डिलं कृत्वा सुगन्धिकुसुमादिभिः ।
देवीमभ्यर्चयन्नित्यं प्रागुक्तेनैव वर्त्मना ॥ १२२ ॥
आहरेद्रात्रिषु बलिं चरुणा सर्वसिद्धिदम् ।
कृत्या रोगभयद्रोहभूतादीन्नात्रसंशयः ॥ १२३ ॥
यथावदग्निमाराध्य गन्धैः पुष्पैर्मनोरमैः ।
स्थित्वा तस्याग्रतोमन्त्री जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ॥ १२४ ॥
जपोऽयं सर्वसिद्ध्यै स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।
लवणैर्मधुरासिक्तैर्जुहुयात्पश्चिमामुखः ॥ १२५ ॥
मन्त्रार्णसङ्ख्यया मन्त्री रिपुमात्मवशं नयेत् ।
शालीन्प्रक्षाल्य संशोष्य शुद्धान्कुर्वीत तण्डुलान् ॥ १२६ ॥
जपित्वा पञ्चगव्येषु संस्कृते हव्यवाहने ।
च ं पचेज्जपन्मन्त्रमवतार्य पुनः सुधीः ॥ १२७ ॥
अर्चयित्वा विशदधीर्देवीमग्नौ यथापुरा ।
जुहुयाच्चरुणाऽनेन साज्येनाष्टसहस्रकम् ॥ १२८ ॥
पात्रे सम्पातनं कुर्वन्साध्यं तत्प्राशयेत्सुधीः ।
शेषं तं निखनेद्द्वारि सम्पातं प्राङ्गणान्तरे ॥ १२९ ॥
कृत्यारोगा विनश्यन्ति सह भूतग्रहामयैः ।
परैरुत्पादिता कृत्या पुनस्तानेव भक्षयेत् ॥ १३० ॥

॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३
*तस्ये*स्थाने: ॥ १२४ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ ॥ १२९ ॥ १३० ॥

(१) "प्रियङ्गुः फलिनीफली" इत्यमरः ॥

व्रीहिभिर्हविषा क्षीरैः पयोवृक्षसमिद्वरैः ।
आज्यैर्मधुत्रयोपेतैरेतद्दशशतं पृथक् ॥ १३१ ॥
जुहुयात्सम्पदां भूमिः साधको भवति ध्रुवम् ।
भास्करे मेषराशिस्थे मन्त्रज्ञोऽनुगुणे दिने ॥ १३२ ॥
नद्यां सागरगामिन्यां सततं पुष्कलाम्भसि ।
उद्धृत्यादाय सिकताः संशोध्य परिशोभयेत् ॥ १३३ ॥
न्यस्य ताः पञ्चगव्येषु संस्कृते हव्यवाहने ।
भर्जयेन्मनुना सिद्ध्यै दर्व्या ब्रह्मरुहोत्थया ॥ १३४ ॥
सिंहमेषधनुस्थेऽर्के कृष्णपक्षेऽष्टमी तिथौ ।
विशाखाकृत्तिकामूलहस्तोत्तरमघास्वथ ॥ १३५ ॥
रोहिण्यां श्रवणे वारौ मन्दवाक्पतिदेवतौ ।
विहायान्येषु कुर्वीत सिकतास्थापनं सुधीः ॥ १३६ ॥
गृहग्रामादिराष्ट्राणां रक्षार्थं सिकताः शुभाः ।
प्रस्थाढकघटोन्माना मध्यादिष्ववटेष्विमाः ॥ १३७ ॥
नवसु प्राक्षिपेज्जप्तास्तेषु संपूजयेत्क्रमात् ।
मध्यादिदेवीशस्त्राणि कपालान्तानि देशिकः ॥ १३८ ॥
चक्रं शङ्खमसिं खेटं बाणचापत्रिशूलकम् ।
कपालं स्वस्वमन्त्रेण संपूज्यान्ते बलिं हरेत् ॥ १३९ ॥
नक्षत्रग्रहराशीनां लोकेशानां बलिं हरेत् ।
विहिता यत्र रक्षेयं वर्द्धन्ते तत्र सम्पदः ॥ १४० ॥
क्षुद्रग्रहमहारोगचौरभूतसरीसृपाः
अमुना विलयं यान्ति विधिना नात्र संशयः ॥ १४१ ॥
सिकतानां विशुद्धानां विकारकुड ँ सुधीः ।

॥ १३१ ॥१३२॥
सागरगामिन्यामिति । साक्षात् ॥ १३३ ॥
पञ्चगव्येष्विति । आलोडनपर्याप्तेषु ॥ १३४ ॥ १३५ ॥ १३६ ॥
*गृहग्रामादी*त्यादिशब्देन नगरम् ॥ *प्रस्थेति* । गृहे प्रस्थमिताः । ग्रामे नगरे आढकमिताः । राष्ट्रे घटोनुमिताः । द्रोणचतुष्कं घटः । दशाङ्गुलं केचिदाहुः ॥१३७॥ १३८ ॥
स्वस्वमन्त्रेणेति । सप्तदशोक्तेन ॥ *अन्ते बलिमिति* । देव्याः चक्राद्यस्त्राणां च ॥ नक्षत्राद्यधिपतीनामप्युपलक्षकम् । एषां बलिमन्त्राः "अश्विनी देवताभ्योदिवानक्तं चारिभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः"। एवं "भरणीकृत्तिकापाददेवताभ्यः" "कृत्तिकापादत्रयदेवताभ्यः" इत्याद्यूह्यम् । ततस्तदधिपतिभ्यः" "अश्विन्यधिपत्यश्विदेवताभ्यः । एवं यमादिषूह्यम् । ततो राशिबलिः । "अश्विनीभरणीकृत्तिकापाददेवताभ्यः" । एवं वृषादिषूह्यम् । ततोग्रहबलिः । "अश्विनीभरणीकृत्तिकापादमेषराश्यधिपत्यङ्गारकदेवताभ्यः" । ।एवमन्येषामप्यूह्यम् । लोकेशबलिर्वास्तौ मदुक्तोनुसन्धेयः । *बलिंहरेदिति* । परितः ॥ १३९ ॥ १४० ॥ १४१ ॥

पञ्चगव्ययुते पात्रे ब्रह्मवृक्षेण निर्मिते ॥ २४२ ॥
निःक्षिप्य विधिना यत्र स्थापयेत्तत्र संपदः ।
दिने दिने प्रवर्द्धन्ते कालविघ्नादिभिः सह ॥ १४३ ॥
महोत्पाता विनश्यन्ति कृत्याद्रोहमहाग्रहाः ।
चारुगव्याश्मना कुर्यात्स्थापनं विधिनाऽमुना ॥ १४४ ॥
गोमूत्रं प्रस्थमानं स्याद्गोमयाम्भस्तदर्द्धकम् ।
आज्यात्सप्तगुणं क्षीरं गोमूत्रात्त्रिगुणं दधि ॥ १४५ ॥
गोमूत्रेण समं सर्पिः सर्वं वा सममुच्यते ।
गावः स्थुः कपिलाःश्वेतहिमधूमारुणप्रभाः ॥ १४६ ॥
अभावे गदिताः सर्वाः सर्वं वा कपिलोद्भवम् ।
एकोनपञ्चाशत्कोष्ठे फलके ब्रह्मशाखिनः ॥ १४७ ॥
विहाय कोणकोष्ठानि शक्त्याद्यं जातवेदसम् ।
लिखित्वा मध्यकोष्ठादि पूजयेत्तत्र देवताम् ॥ १४८ ॥
कृत्वा होमं ससंपातं निखनेत्तद्यथापुरा ।
दद्याद्बलि यथापूर्वमस्य पूर्वोदितं फलम् ॥ १४९ ॥
मध्ये मायामष्टकोणेषु पादानष्टौ कृत्वा मातृकार्णैः प्रवीतम् ।
भूबिम्बस्थं सर्वभूतामयघ्नं रक्षायुः श्रीकीर्तिदं यन्त्रमेतत् ॥२५०॥

विशुद्धानामिति । नद्यामित्याद्युक्तप्रकारेण *विकारकुडवं* षोडशकुडवम् ॥ १४२ ॥

विधिनेति । पूर्वोक्तस्थापनप्रकारेण । गव्ये तु विशेषो *नारायणीये* । "गव्येषु शालीन् यवमुद्गमाषगोधूमबिल्वास्थितिलाब्जबीजम् । पद्मच्छदस्थं विनिधाय ताम्रे क्षुद्रादिखन्यादभुवि नागयोगे" । नागयोगमाहान्यः—"सार्प्पे मुहूर्त्ते सार्प्पर्क्षकरणे सर्पसंज्ञिते । संयोगो नागयोगोयमथवा करणर्क्षयोरि"ति । "पृकक् शिरः पञ्च सरोजपत्रं निश्छिद्रमेकीकृतबद्धनालम् । गव्ये प्रपूर्णं निखनेदधूनां स्मृत्या तदा क्षुद्रविनाशिगेह" इति । तत्स्थापननक्षत्रादिकमपि तत्रैव । "पूशापुष्यपुनर्वसू वसुहरी चित्रा शशी रोहिणी तारास्तास्तिथयोऽशुभत्फणियमा दिक्पञ्चदश्यो हरिः । वारास्त्विन्दुसुतेन्दुशुक्रगुरवो युग्मं कुलीरोधनुः कुम्भान्त्यावपि राशयो निगदिता गव्यप्रयोगाय ते" इति ॥ १४३ ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

सर्वेवेति । वाशब्देनान्यत्प्रकारद्वयमुपक्षिप्तम् । योजने तत्तन्मन्त्रेण योजनमित्यपि ज्ञेयम् । *तदुक्तं*—"मूत्रं प्रस्थं गोमयं स्यात्पलार्द्धं क्षीरं प्रस्थं दध्यपि क्षीरतोऽर्द्धम् । आज्यं दध्नोऽप्यर्द्धमेवं प्रमाणं स्वीयैर्मन्त्रैर्योजयेत्पञ्चगव्यम्॥ मूत्रं द्विभागं शकृदेकभागं पयोऽष्टभागं दधि तत्समानम् । क्षीरार्द्धकं वा चतुरंशमाज्यमि"ति । *मन्त्रास्त्वाचार्यैरुक्तास्तद्यथा* "तारभवाभिरथर्गिभः क्रमेण संयोजयेच्च गव्यानि । आत्माष्टाक्षरमन्त्रैरथवा योज्यानि पञ्चभिः पञ्चे"ति ॥ १४६ ॥

"एकोनपञ्चाशदिति । पूर्वापरायता दक्षिणोत्तरायताश्चतस्रो रेखाः कुर्यात् । तदा नवकोष्ठं भवति ॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

मध्य इति । मध्यकोष्ठे ॥ १५० ॥

आग्नेयास्त्रस्य जानाति विसर्गादानकर्मणी ।
यः पुमान्गुरुणा शिष्टस्तस्याधीनं जगत्त्रयम् ॥ १५१ ॥
इति शारदातिलके एकविंशः पटलः ॥ २१ ॥ * ॥

अथोदिनास्त्रं कृत्यास्त्रं वक्ष्ये शत्रुविमर्दनम् ॥
अतिदुर्गामनुं प्राहुर्दिनास्त्रं मन्त्रवित्तमाः ॥ १ ॥
प्रतिलोममिमं मन्त्रं कृत्यास्त्रं परिचक्षते ।
दिनास्त्रस्य षडङ्गादीननुलोमोदितान्विदुः ॥ २ ॥
कृत्यास्त्रस्य षडङ्गादीन्प्रतिलोमोदितान्विदुः ।
भानुबिम्बगतं शत्रुमधोवक्त्रं विषाहतम् ॥ ३ ॥
मूलादुत्थितया ग्रस्तं कुण्डल्या भावयेत्सुधीः ।
मूलाधारे क्षिपेत्सद्यःप्रस्फुरत्कालपावके ॥ ४ ॥
दिनत्रयात् ज्वराक्रान्तो रिपुः प्राणान्विमुञ्चति ।
दिनास्त्रेण प्रविद्धाङ्गं स्वाधिष्ठानगतं रिपुम् ॥ ५ ॥
पञ्चवायुसमिद्धेन वह्निना दग्धविग्रहम् ।

विसर्गादानकर्मणीइति । विसर्गः संहारः । आदानं प्रयोगानन्तरं पुनर्मन्त्रस्वीकारः। यदाहुः—"विधिवन्मारणं कृत्वा सिद्धमन्त्रेण मन्त्रवित् । कर्मान्ते देवतापूजां सविशेषां प्रकल्पयेत् ॥ शक्त्या संतर्प्य विप्रांश्च मन्त्रमूर्तिं विसृज्य च । समुद्रगायां नद्यां तु कण्ठमात्रे जलेस्थितः । अहोरात्रं जपेन् मन्त्रमष्टाधिकसहस्रकम् । शुद्धं मनुं तं स्वीकुर्यादि"ति ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायामेकविंशः पटलः ॥ २१ ॥*॥

अथो इति अतिदुर्गामनुः पूर्वोक्तः। *इम*मतिदुर्गामनुम् । *षडङ्गादीनि*त्यादिशब्देनाक्षरपदन्यासावुभयत्र । *अनुलोमोदितान्* जातवेदसे इत्यत्रोक्तान् । "जातवेदसे ह्राद्यन्तैरि"ति सम्प्रदायात् । तदुक्तं—"मनोराद्यपदेनैव षट्पदानि च पूर्ववत । ह्राद्यन्तेन तानि स्युरति"-पञ्चदुर्गामनोरपी"ति । *आचार्या अपि—*"अनुलोमजपेऽङ्गानामपि, पाठोऽनुलोमक"इति—पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातमपि शब्दात्—पदाक्षरयोरपीति । *प्रतिलोमोदितानिति* आग्नेयास्त्रोक्तान् । *तदुक्तं*—"शैलाद्विलोकाङ्गमुनिरससंख्याक्षरैः क्रमात् । मनोरन्तविलोमस्य षडङ्गान्यपि कल्पयेदि"ति । *आचार्याश्च*—"प्रतिलोमानि तानि स्युः प्रतिलोमविधौ तथे"ति ॥ अत्रापि तथेति पूर्ववत्पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम् । *अनयोर्ध्यानं यथा*—"ध्यानमप्यपूर्वोक्तसिंहस्कन्धोपरिस्थिताम् । कालमेघनिभामुग्रां सर्पभूषणभूषिताम् ॥ शूलं खड्गं कुठारं च खर्परखेटकतर्जनीः । दधानां दक्षिणान्यैः स्वैः करदण्डैरितस्ततः ॥ अतिदुर्गामनोमूर्त्तिं धावमानां विचिन्तयेदि"ति । "वरदारिदराभीति पाणिपद्मैर्विराजिताम् । तामन्तप्रतिलोमाख्यां सिंहस्थां चिन्तयेत्समामि"ति । पुरश्चरणं तु जातवेदोमन्त्रपुरश्चरणेनैव ज्ञेयम् ॥१॥२॥

विषाहतमिति । भानुरथगतसर्पविषैराहतमित्यर्थः ॥ ३ ॥
मूलाधारे—गुदमेढ्रान्तरालदेशे । *प्रस्फुरत्कालपावक इति* । ध्यानम् ॥ ४ ॥

ध्यायन्मनुं जपेत्सद्यः स भवेद्यमवल्लभः ॥ ६ ॥
मणिपूरगतं शत्रुमग्निना दीप्तविग्रहम् ।
ध्यायन्दिनास्त्रं प्रजपेत्स मृत्युवशतां व्रजेत् ॥ ७ ॥
अनाहताहितः शत्रुर्निर्दग्धो मन्त्रवह्निना ।
पाशेन बध्वा शीघ्रेण नीयते यमकिङ्करैः ॥ ८ ॥
वायुस्थानगतं शत्रुं दहेद्वातानलेन धिया ।
विशुद्धिस्थानगोवैरी दिनबाणेन पीडितः ॥ ९ ॥
अधोमुखः स्मृतस्तूर्णं निरायुः (परासुः) स्याद्दिनत्रयात् ।
आज्ञायां निहितं शत्रुं दहेत् ज्ञानाग्निना धिया ॥ १० ॥
पुत्रमित्रकलत्राद्यैर्हित्वा मृत्युमुपाश्रयेत् ।
नाभिमात्रोदके स्थित्वा ध्यायन्बिम्बे दिनेशितुः ॥ ११ ॥
वैरिणं दग्धसर्वाङ्गं मन्त्रमष्टोत्तरं शतम् ।
जपेत्सप्तदिनादर्वाग्यमलोकं स गच्छति ॥ १२ ॥
आरवारं समारभ्य सप्ताहं प्रजपेन्मनुम् ।
सूर्योदयं समारभ्य यावदस्तमयो भवेत् ॥ १३ ॥
सन्निपातज्वराविष्टो यमग्रस्तो भवेदरिः ।
स्थित्वा दुर्गालये मन्त्री त्रिरात्रं वर्जिताशनः ॥ १४ ॥
दिनबाणेन विद्धाङ्गं वैरिणं प्रविचिन्तयेत् ।
जपेन्मनुमिमं शत्रुर्ज्वरितो मरणं व्रजेत् १५ ॥
स्पृष्ट्वा दुर्गां जपेन्मन्त्रमनश्नंस्त्रिदिनं स्मरन् ।
शूलप्रोतं निजरिपुं दिनास्त्रेण प्रदीपितम् ॥ १६ ॥
ज्वरेण महता विष्टो जायतेऽसौ यमातिथिः ।
रविमण्डलगं शत्रुं दष्टं तद्रथपन्नगैः ॥ १७ ॥
विषाग्निदग्धसर्वाङ्गं ध्यायन्नुष्णेन वारिणा ।
तर्पयेद्दिनबाणेन स्यादसौ यमवल्लभः ॥ १८ ॥
रविबिम्बादागतया ज्वालया ग्रस्तविग्रहम् ।
रिपुं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं स क्रीडति यमान्तिके ॥ १९ ॥

स्वाधिष्ठानं—लिङ्गोपरिदेशः ॥ ५ ॥ ६ ॥
मणिपूरकं—नाभिस्थानम् ॥ ७ ॥
अनाहतं—हृदयम् ॥ ८ ॥
*विशुद्धिः कण्ठः । *दिनबाणेन*—दिनास्त्रेण ॥ ९ ॥
आज्ञा—भ्रूमध्यम् ॥ १० ॥ ११ ॥
मन्त्रमिति । जपेदित्यनेन सम्बध्यते ॥ १२ ॥
आरा—भौमः । *प्रजपेदिति* । पूर्ववदरिं ध्यायन् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ १७ ॥
विषाग्नीति । विषसम्भूतमेव ॥ १८ ॥ १९ ॥

ग्रहयुक्तार्कबिम्बस्थं विद्धं मन्त्रमयैः शरैः ।
प्रतिपद्य (वध्य) निजं शत्रुं जपेदयुतमन्त्रवित् ॥ २० ॥
रिपुं नयति शीघ्रेण यमदूतोयमालयम् ।
प्रलयानलसङ्काशां कालरात्रिमिवापराम् ॥ २१ ॥
शूलपाशधरां घोरां सिंहस्कन्धनिषेदुषीम् ।
सवितुर्मण्डलान्तःस्थां रक्तनेत्रत्रयोद्गतैः ॥ २२ ॥
विस्फुलिङ्गैर्निर्दहन्तीं रिपुमाकुलविग्रहम् ।
स्पष्टदंष्ट्राधरान्नृत्यद्भ्रुकुटीभीषणाननाम् ॥ २३ ॥
तर्जयन्तीं निजं शत्रुं तर्जन्या भीमरूपया ।
दंष्ट्रामयूखजालेन द्योतयन्तीं दिगन्तरम् ॥ २४ ॥
शूलेन वैरिणो वक्षो दारयन्तीं भयङ्करीम् ।
जपेद्दिनत्रयं मन्त्री मारयेद्रिपुमात्मनः ॥ २५ ॥
अस्त्रमन्त्रकृतन्यासः प्रलयाग्निसमप्रभाम् ।
रक्तवस्त्रधरां क्रुद्धां रक्तनेत्रत्रयान्विताम् ॥ २६ ॥
सिंहाधिरूढां धावन्तीं धावमानं रिपुं प्रति ।
खड्गेन तच्छिरश्छित्त्वा क्षणाद्व्योमस्थलीं गताम् ॥ २७ ॥
ध्यात्वा दुर्गां जपेन्मन्त्रं त्रिदिनं वर्जिताशनः ।
अनेनैव विधानेन रिपुर्मृत्युप्रियो भवेत् ॥ २८ ॥
कर्माण्येतानि कुर्वीत दिवसे न तु रात्रिषु ।
पश्चिमामुखलिङ्गस्य सजीवं महिषं पुरः ॥ २९ ॥
निखाय तस्य शिरसि कुण्डं कृत्वा त्रिकोणकम् ।
तस्मिन्समेधिते वह्नौ यथावद्देशिकोत्तमः ॥ ३० ॥
सत्रिकोणान्समन्त्रार्णान्साध्यनामसमन्वितान् ।
अजारक्तेन संसिक्तान् कारस्करसमन्वितान् ॥ ३१ ॥
सहस्रं जुहुयाद्देवीं ध्यात्वा सवितृमण्डले ।
प्रलयाग्निसमां घोरां द्वात्रिंशद्भुजशोभिताम् ॥ ३२ ॥
उद्यदायुधसन्दीप्तां नृत्यन्तीं सिंहमस्तके ।
महादंष्ट्रां महाभीमां ज्वलत्केशीं नदन्मुखीम् ॥ ३३ ॥
रक्तान्त्रमांसवदनां घूर्णितोग्रत्रिलोचनाम् ।

ग्रहयुक्तो राहुग्रस्तः । *प्रतिपद्य* ध्यात्वेत्यर्थः ॥ २० ॥
प्रलयानलेत्यादि भयङ्करीमित्यन्तस्य "ध्यात्वेति" शेषः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥
पश्चिमामुखेति । शिवालयद्वारस्य पश्चिममुखता । केचित्तु स्थावरलिङ्गस्य पश्चिमामुखतामाहुः । एष एव साम्प्रदायिकः पक्षः ॥ २९ ॥ ३० ॥

अनेन विधिना शत्रुर्महाज्वरनिपीडितः ॥ ३४ ॥
विमुञ्चति निजं देहं पुत्रमित्रादिभिः सह ।
ऊर्ध्वमुष्णाम्भसो मन्त्री लम्बयित्वा भुजङ्गमम् ॥ ३५ ॥
भानुबिम्बगतां दुर्गां सहस्रादित्यसन्निभाम् ।
सहस्रपाणिचरणां सहस्राक्षिशिरोमुखीम् ॥ ३६ ॥
सहस्रनागबद्धाङ्गीं त्रासयन्तीं जगत्त्रयम् ।
ध्यायन्ननेन सर्पास्ये तर्पयेदुष्णवारिणा ॥ ३७ ॥
संयतः कालपाशेन वैरी मुञ्चेत्स्वजीवितम् ।
मध्याह्नार्कायुतप्रख्यां नदन्तीं नरसिंहवत् ॥ ३८ ॥
घोरसिंहसमासीनां महाभीषणदर्शनाम् ।
शूलप्रोताहितां ध्यायञ्जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ॥ ३९ ॥
तर्पयेदुष्णतोयेन सर्पवक्त्रे दिनत्रयम् ।
यमस्य भवनं गच्छेदरातिर्नात्र संशयः ॥ ४० ॥
आत्तवृत्तप्रतिकृतिं प्रतिष्ठितसमीरणाम् ।
उष्णोदके विनिःक्षिप्य विषाढ्यं विधिना ततः ॥ ४१ ॥
अर्केन्द्वानलसंकाशां खड्गखेटकधारिणीम् ।
नयनत्रयनिर्गच्छद्वह्निस्फुलिङ्गशताकुलाम् ॥ ४२ ॥
सिंहस्थां सर्पभूषाढ्यां त्रैलोक्यभयदायिनीम् ।
खड्गकृत्ताहितां ध्यायन्प्रजपेदयुतं मनुम् ॥ ४३ ॥
विधानेनामुना शत्रुर्ग्रस्तो भवति मृत्युना ।
प्रकल्प्य दुर्गायतने त्रिकोणं कुण्डमुत्तमम् ॥ ४४ ॥
तत्र संज्वलिते वह्नौ महिषीशकृताकृताम् ।
पुत्तलीमजरक्ताक्तां प्रतिष्ठितसमीरणाम् ॥ ४५ ॥
छित्त्वा छित्त्वा प्रजुहुयादजरक्तान्वितां निशि ।
ध्यात्वा दुर्गां प्रनृत्यन्तीं महिषोरःस्थलान्तरे ॥ ४६ ॥
शूलेन महिषस्याङ्गं भिन्दन्तीं घोरदर्शनाम् ।
अट्टहासैरजस्रोत्थैर्भीषितासुरसेविताम् ॥ ४७ ॥

सत्रिकोणानिति । लिखितत्रिकोणान् । *समन्त्रार्णानिति* । पल्लवरीत्या ॥३१॥३२॥ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

भुजङ्गममिति । जीवन्तं कृष्णम् । अधोमुखम् ॥ ३५ ३६ ॥

अनेना ख्रेण ॥ *तर्पयेदिति* । कारस्करद्रव्यां ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अनन्यधी रित्यनेन तथैव तर्पणमित्युक्तम् । विधिनामनुं प्रजपेदित्यन्वयः । विधिः पल्लवेन नामयोगः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ई ॥

खड्गेति खड्गेन कृत्तः छिन्नः अहितः शत्रुर्यंयेति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

प्रलयानलसंकाशां भ्रमन्नेत्रत्रयान्विताम् ।
लम्बद्गाधरसम्भिन्नां दंष्ट्राभीममुखाम्बुजाम् ॥ ४८ ॥
खड्गखेटकयुक्ताभिः कन्यकाभिः समावृताम् ।
अनेन विधिना शत्रुः प्रयाति यमसन्निधिम् ॥ ४९ ॥
दिनास्त्रमेवं कथितं शत्रुनिग्रहकारकम् ।
कृत्यास्त्रदर्शितान्कुर्यात्प्रयोगान्मन्त्रवित्तमः ॥ ५० ॥
आधाराद्‌दुद्गतां देवीं कुण्डलीं सर्परूपिणीम् ।
तां ब्रह्मरन्ध्रमार्गेण यातां व्योमस्थलीं ततः ॥ ५१ ॥
मुखेन शत्रुमादाय निवृत्तां स्वगृहं प्रति ।
ज्वलत्कालानलोद्दीप्तां विचिन्त्य प्रजपेन्मनुम् ॥ ५२ ॥
सप्तभिर्वासरैः शत्रुर्मृत्युं प्राप्नोति मोहितः ।
अङ्गारवारे चित्यग्नौ सर्षपस्नेहलोडितम् ॥ ५३ ॥
सिद्धार्थकुण्डवं जप्तं जुहुयात्पत्तमात्रतः ।
कृत्यास्त्रज्वालया दग्धोरिपुर्यमपुरं व्रजेत् ॥ ५४ ॥
चतुर्दश्यामर्द्धरात्रे चितास्थीन्यष्ट साधकः ।
व्रणतैलविलिप्तानि चिताग्नौ जुहुयात्ततः ॥ ५५ ॥
अनेन विधिना शत्रुर्मृत्युमेष्यति कातरः ।
तुषास्थिनिर्मितां शत्रार्व्रणतैलपरिप्लुताम् ॥ ५६ ॥
प्रतिमां स्थापितप्राणां जुहुयान्निशि साधकः ।
छित्त्वा छित्त्वाऽजरक्तेन सप्ताहान्म्रियते रिपुः ॥ ५७ ॥
श्मशानवालुकाः स्पृष्ट्वा सान्नता नियुतं जपेत् ।
विकिरेत्तास्तडागादौ कृत्यास्त्रकथितं जलम् ॥ ५८ ॥
तद्वीयं पीतमचिरान्निहन्ति सकलाञ्जनान् ।
कृष्णाङ्गारचतुर्दश्यां प्रजप्तैः प्रेतभस्मभिः ॥ ५९ ॥
महिष्याज्येन लुलितास्तन्मन्त्राक्षरसंख्यया ।
निर्माय गुटिका एताः सम्यग्जप्तसमीरणाः ॥ ६० ॥
चितिकाष्ठेधिते वह्नौ जुहुयाद्दृढमानसः ।
चतुर्दशीत्रयादर्वाक् शत्रुर्मृत्युवशोभवेत् ॥ ६१ ॥
श्मशानभस्मसिद्धार्थान्पञ्चगव्ये विनिःक्षिपेत् ।
माहिषे संस्मरेद्देवीं ज्वालाग्निसदृशप्रभाम् ॥ ६२ ॥

॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ई ॥
चित्यग्नाविति । कुण्डस्थापिते । यथोक्तसंस्कारसंस्कृते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ई ॥
व्रणतैलं भल्लाततैलम् ॥ ५५ ॥ ई ॥
तुषा धान्यस्य । *अस्थीनि* मनुष्यास्थीनि । एतदुभयमेकीकृत्य प्रतिमां कुर्यात् ॥ ५५ ॥
॥ ५६ ॥ ५७ ॥
कृत्यास्त्रकथितमिति । तडागादौ सिकता प्रक्षेपेण ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

भर्जयेत्प्रजपन्मन्त्रं विषकाष्ठैर्धितानले ।
दुर्गागारे प्रजुहुयादनेनायुतमस्त्रवित् ॥ ६३ ॥
पुनरादाय तद्भस्म सेनायां वैरिणः क्षिपेत् ।
सा सेना बहुधा भिन्ना ज्वररोगविमोहिता ॥ ६४ ॥
आयुधानि परित्यज्य युद्धकाले पलायते ।
गेहग्रामादिषु क्षिप्तं कुर्यादुच्चाटनं क्षणात् ॥ ६५ ॥
सप्तवारेषु कुलिके दुर्गावेश्मसु शर्कराः ।
सप्त माहेन्द्रदिग्वर्जं गृहीत्वा प्रजपेन्मनुम् ॥ ६६ ॥
महिषीपञ्चगव्येषु भर्जयेत्ता यथापुरा ।
भूयो जपित्वा विकिरेद्गेहग्रामपुरेष्विमाः ॥ ६७ ॥
स देशो नश्यति क्षिप्रं दग्धो मन्त्रभवाग्निना ।
ब्रह्मदण्डीं मर्कटिकां करक्रोशनिकात्रयम् ॥ ६८ ॥
भौमवारस्य कुलिके गृहीत्वा प्रजपेन्मनुम् ।
चतुर्दश्यां रिपोर्गेहे निखनेत्प्रजपन्मनुम् ॥ ६९ ॥
सार्द्धं पुत्रकलत्राद्यैरुत्सादो जायते रिपोः ।
एकैकं वा खनेन्मन्त्री मण्डलात्तत्फलं भवेत् ॥ ७० ॥
षड्बिन्दुषट्कं पुत्तल्यां निखनेदोदनान्वितम् ।
स्पृष्ट्वा तां प्रजपेदस्त्रं कृष्णाष्टम्यां निशार्द्धतः ॥ ७१ ॥
शत्रुनामसमायुक्तं श्मशाने निखनेदिमाम् ।
प्रणश्येत्स रिपुः शीघ्रं सकुटुम्बः सबान्धवः ॥ ७२ ॥
कपालसकलान्मन्त्री कृत्वास्त्राक्षरसंख्यकान् ।
संस्पृश्य प्रजपेदस्त्रं प्राणस्थापनपूर्वकम् ॥ ७३ ॥

॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

सप्तवारेष्विति । सप्तवाराणामपि कुलिका मया एकादशे उक्ताः । तत्र प्राचीवर्ज्जं दुर्गालयाग्नेयादि सप्तस्थानशर्करासु । माहिषे पञ्चगव्यप्रयोग उपचारात् । एकैकां शर्करां क्रमात्प्रत्यहं रव्यादेः कुलिके गृहीत्वा सप्तमेऽहनि सर्वा एकीकृत्य स्पृष्ट्वा प्रजपेत् *यथापुरेति* । विषकाष्ठाग्नौ विषकाष्ठदर्व्या भर्जयेत् ॥ *मर्कटी*—कपिकच्छूः । *करक्रोशनिका*—वज्रदण्डः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

उत्साद—पुनरप्यागमनं यथा न भवति तथा उच्चाटनम् ॥ ७० ॥

षड्बिन्दुषट्कमिति । षड्बिन्दुः कीटविशेषः । स च प्रथमजलपाते उत्पद्यते । तस्य पञ्चकुष्ठ इति नामान्तरम् । तस्य पञ्च बिन्दवः श्वेता भवन्ति । एकोबिन्दुर्भिन्नवर्णः । *तदुक्तं नीतिनिर्णीतादौपनिषदे* "पञ्चकुष्ठस्य कीटस्य पञ्च स्युः श्वेतबिन्दवः । भिन्नवर्णस्तथा चैकः सुस्निग्धश्चैव वर्णतः ॥ भवेत्सजलदारम्भे षड्बिन्दुरिति कीर्त्तितः" इति । *पुत्तल्यामिति* । तज्जन्मर्क्षवृक्षोद्भवायाम् । शत्रुर्नामसमायुक्तम् अस्त्र मस्त्रमन्त्रं प्रजपेदित्यन्वयः ॥ तत्र योगः पल्लवरीत्या । क्वचित् समायुक्ताम् इति पाठः । तदा पुत्तलीविशेषणम् ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

कपालशकलान् भजरक्षाकान् श्मशाने जुहुयादिति सम्बन्धः ॥ *संस्पृश्येति* । तानेव ७३

कृष्णाङ्गारचतुर्द्दश्यां श्मशाने विषवृक्षजे।
जुहुयादजरक्ताक्तान् कृत्यास्त्रज्वालया हतः ॥ ७
रिपुर्यमपुरं गच्छेन्महाज्वरविमोहितः।
अजारक्तेन सम्पूर्णे कलशे तनः क्षिपेदहिम् ॥
कपालेन पिधायैनं छादयेद्रक्तवाससा।
पूजयेद्रक्तपुष्पाद्यैः स्पृष्ट्वा तमयुतं जपेत् ॥
भौमवारे निशामध्ये कारस्करसमेधिते।
श्मशानवह्नौ जुहुयाद्गच्छेद्यमपुरं रिपुः ॥ ७
साध्यनक्षत्रवृक्षेण कृत्वा कुम्भं प्रपूजयेत्।
माहिषैः पञ्चगव्यैस्तं विडालं तत्र निक्षिपेत् ॥ ७८
जपपूजादिकं सर्वं यथापूर्वं समाचरेत्।
कारस्करभवे वह्नौ कृत्यास्त्रेण समेधिते ॥ ७९ ॥
अयुतं व्रणतैलेन हुत्वाऽन्ते तं घटं पुनः।
आमस्तकं समुद्धृत्य जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ॥ ८० ॥
जुहुयाद्विधिनानेन त्रिदिनैर्म्रियते रिपुः।
सुन्दरं महिषीवत्समेकरात्रमुपोषितम् ॥ ८१ ॥
पाययेन्माहिषंसर्पिः प्रस्थं मन्त्रेण मन्त्रितम्।
कुशैराबद्धसर्वाङ्गं स्थापितप्राणमञ्जसा ॥ ८२ ॥
कारस्करैधिते वह्नौ व्रणतैलेन मन्त्रवित्।
होमं कृत्वायुतं वत्सं जुहुयाद्यतमानसः ॥ ८३ ॥
एकेन दिवसेनारिर्गच्छेद्यमपुरं सुधीः।
त्रिकोणकुण्डनिहिते वह्नौ मन्त्रेण दीपिते ॥ ८४ ॥
अर्चिते गन्धपुष्पाद्यैरयुतं जुहुयात्क्रमात्।
राजीभल्लातकतिलतैलैः सप्तदिनं ततः ॥ ८५ ॥
प्रसूतिसमये प्राप्तां महिषीं स्थापितानिलाम्।
पूजितां गन्धपुष्पाद्यैः स्पृशन् कूर्चेन तां जपेत् ॥ ८६

विषवृक्षज इति। "विषकाष्ठैधिते अग्नावि"ति शेषः ॥ ७४ ॥
अहिमिति। जीवन्तं कृष्णम् ॥ ७५ ॥
एतं घटम् ॥ तं—घटं शत्रुरूपम् ॥ ७६ ॥ ७७ ॥
बिडालं-कृष्णम् ॥ ७८ ॥
जपपूजादीति। आदिशब्देन कपालेन पिधानं रक्तवस्त्राच्छादनं च। *कारस्करभवे* कारस्करकाष्ठैधिते। वह्नौ—श्मशानाग्नौ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥
व्रणतैलेन—भल्लाततैलेन। *अनन्यधीरिति* ॥ अनेन पूर्वघटहोमेऽपि अयं होम इत्युक्तम् ॥ ८३ ॥ ८४ ॥
क्रमादिति। प्रत्येकमयुतहोमः। तैलशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ॥ ८५ ॥
स्थापितानिलां-प्रतिष्ठितप्राणाम् ॥ ८६ ॥

मस्तकाद्योनिपर्यन्तं धिया वत्समनुस्मरन् ।
आकृष्य हस्ते पतितं जुहुयादेधितेऽनले ॥ ८७ ॥
एवं कृते समुत्पन्ना कृत्या दीप्ता हुताशनात् ।
भक्षयेदचिराच्छत्रुमीश्वरेणापि रक्षितम् ॥ ८८ ॥
पुनरग्नौ विशत्येषा कर्तारमपि काङ्क्षिणी ।
एवं विधानि कर्माणि यः कुर्यान्मन्त्रवित्तमः ॥ ८९ ॥
स जपेदात्मरक्षार्थं मन्त्रान्मृत्युञ्जयादिकान् ।
अथोलवणमन्त्रस्य विधानमभिधीयते ॥ ९० ॥
ऋगाद्याः कथिताः पूर्वं लवणाम्भसि पूर्विका ।
लवणाम्भसि तीक्ष्णोऽसि उग्रोऽसि हृदयं तव ॥ ९१ ॥
लोणस्य पृथिवी माता लोणस्य वरुणः पिता ।
लवणे हूयमाने तु कुतो निद्रा कुतो रतिः ॥ ९२ ॥
लोणं पचति पाचयति लोणं छिन्दति भिन्दति ।
अमुकस्य दह गात्राणि दह मांसं दह त्वचम्(१) ॥ ९३
दह त्वगस्थिमज्जानि अस्थिभ्योमज्जिकां दह ।
यदि वसति योजनशते नदीनां वाशतान्तरे ॥ ९४ ॥
तं दग्ध्वा नय मे शीघ्रमग्रे लोणस्य तेजसा ।
नगरे लोहप्राकारे कृष्णसर्पकृतार्गले ॥ ९५ ॥
अ(त)त्रैव वशमायातु लोणमन्त्रपुरस्कृतः ।

हस्तेपतितमिति । भुवमस्पृष्टम् । *जुहुयादिति* । शत्रुबुद्ध्या ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ कर्तारमपि काङ्क्षिणीत्युक्तेस्तद्रक्षामाह-*स जपेदिति* ॥ *अथो इति* । लवणादिद्वितीये(९७श्लो०)त्यत्र आकारे परे "एचोऽयवायाव"इति अयि कृते यकारलोपे च छान्दसत्वात् सन्धिःकृतः । प्रातिपदिकमात्रस्य लवणशब्दस्य वा ग्रहणम् । तेन लवणे इत्याद्या द्वितीया । *तदुक्तमाचार्यैः*—"द्वितीया लवणे इति" इति । *अन्या* तृतीया । एवमृक्पञ्चकं चिदिमन्त्रसहितमेका विद्या । प्रणवपाशाद्रित्र्यक्षरादित्वम् । वाय्विन्द्रामृतबीजादित्वं च सम्प्रदायाज् ज्ञेयम् । *पद्मपादाचार्योक्तो मन्त्रोद्धारो यथा*—"पृथिवीमु(२)दर्कं चोक्त्वा णाम्भसीति ततः परम् । तीक्ष्णोऽस्युग्रोऽसि हृदयं तवेति लवणस्य गोः ॥ पृथिवीति च माता लवणस्य वरुणः पिता । प्रथमेयं, द्वितीयाया लवणे इत्युपक्रमः ॥ हूयमानेत्विति कुतो निद्रेति च कुतो रतिः । लवणं पचतीत्युक्त्वा तथा पाचयतीति च ॥ लवणं छिन्दतीत्युक्त्वा भिन्दतीति च भाष्यताम् । अमुकस्य दह गात्राणि दह मांसं दह त्वचम् ॥ दहेति(३) च तृतीयाया भवेदच उपक्रमः । त्व(४)गस्थिमज्जानीत्यस्थिभ्यो शब्दं मज्जिकां

---

(१) अत्र सर्वत्र "लवणं लोणमुच्यते" इति विश्वप्रकाशकोशाल्लोणेतिपाठे छन्दोभङ्गाभावेऽपि मन्त्रवर्णानुरोधाल्लवणेति पाठः पुस्तकान्तरे दृष्टः ॥

(२) लं-वं च उक्त्वा णाम्भसीत्युक्तेर्लवणाम्भसीतिस्वरूपमुद्धृतम्भवति ॥

(३) अत्रेतिशब्दश्चार्थः "ज्वलितिकसन्तेभ्य" इति पाणिनीये यथा ॥

(४) क्वचित्पुस्तके "त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिभ्यो शब्दम्" इति पाठः ॥

या(ते)रात्रिः शल्यविद्धस्य शूलआरोपितस्य च ॥ ९६ ॥
या ते रात्रिर्महारात्रिः सा ते रात्रिर्महानिशा(१) ।
लवणादिद्वितीयाऽन्या दहाद्या परिकीर्तिता ।
तं दग्ध्वाद्या चतुर्थी स्याद्येति पूर्वाथ पञ्चमी ॥ ९७ ॥
अङ्गिरा मुनिराख्यातश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
अग्नीरात्रीपुनर्दुर्गा भद्रकाली च देवताः ॥ ९८ ॥
चिटिमन्त्राक्षरैः कुर्यात्षडङ्गानि समाहितः ।
पञ्चभिर्हृदयं प्रोक्तं त्रिभिर्वर्णैः शिरः स्मृतम् ॥ ९९ ॥
पञ्चवर्णैः शिखा प्रोक्ता कवचं करणाक्षरैः ।
पञ्चभिर्नेत्रमुदितं युगलेनास्त्रमीरितम् ॥ १०० ॥

दह ॥ ततो यदीति सम्भाष्य वसतीति पदं वदेत् । योजनेति शते वर्णान्नदीनां वा शतान्तरे ॥ तन्दग्ध्वेति चतुर्थ्यादौ नय मे शीघ्रमित्यतः । अग्रे इत्येतदन्ते स्याल्लवणस्येति तेजसा ॥ नगरे लोहवर्णाः स्युः प्राकारे कृष्णवर्णकाः । सर्पेत्यन्ते कृतागैति ले अत्रैव दशाक्षराः ॥ मायात्विति स्याल्लवणमन्त्रवर्णाः पुरस्कृताः । या (ते) रात्रिः शल्यविद्धस्य शूलाग्रारोपितस्य च ॥ याते रात्रिरिति प्रोक्त्वा महारात्रिरितीरयेत् । साते रात्रिर्महेत्युक्त्वा निशेत्येवं तु पञ्चमी"ति । *टीकान्तरेऽपि*—"माता स्याल्लवणस्येति वरुणः स्यात्पिता तथा । द्वितीया लवणे प्रोक्तवे"ति । *तथा*—"प्रवदेदमुकस्यान्ते दह गात्राणि पञ्चकम् । दह मांसं दहेत्युक्त्वा त्वचमुक्त्वा समापयेत् ॥ तृतीयाथ दह प्रोक्त्वा त्वगिति प्रवदेदतः(२) । स्थिमज्जानीत्यतोऽस्थिभ्यो मज्जिकां स्याद्दहेतिचे"ति । *तथा*—"या ते रात्रिः स्वशूलान्ते भिन्नस्येत्यक्षरत्रयम् । शूलाग्रारोपितस्येति चान्ते याते इतीरयेत् ॥ रात्रिः स्याच्च महारात्रिर्घोरात्रिरसुकं विना । इत्येवं पञ्चमी ऋक् स्यात् मन्त्रोऽयं प्रणवादिक" इति । *तथाचाचार्यैः छन्दः कथनावसरे उक्तम्*—"अङ्गिरा स्यादृषिश्छन्दोऽनुष्टुप्त्रिष्टुबि"ति । मन्त्रमुक्तावलीमन्त्रदेवप्रकाशिकाकारादीनामिदमेव सम्मतम् । पद्मपादाचार्यैः—बीजशक्तो उक्ते—"ह्रीं बीजं शक्तिरीरिता । क्रोमित्येव च बीजं स्यादि"ति । तैरेव एतत्समफलं मन्त्रान्तरमुक्तम् "चिटीति शब्दं संवीक्ष्य चितकोलिपदमीरयेत् । महाचित्कोलिशब्दान्ते ह्रींसवौषट् द्विठान्तकः ॥ मतान्तरमिति ज्ञेयं मन्त्रतुल्यफलं शिवे" इति" ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

षडङ्गमाह—*चिटीति* । समाहित इत्यनेन पञ्चाङ्गं वा कुर्यादित्युक्तम् । *यदाहुराचार्याः*—"ऋग्भिराभिस्तु पञ्चाङ्गमपञ्चभिर्वा समीरितम् । विद्याक्षरैः षडङ्गं वा प्रणवाद्यैर्नियतम्" इति ॥ ९९ ॥ १०० ॥

---

(१) अत्र "इति लवणमन्त्रोद्धारः" इत्यधिकः पाठः क्वचित्पुस्तके ।
इदं षट्पदमपिच्छन्दोमल्लिनाथादिभिरभ्युपेतः । यथाच शिशुपालवधे ।
"द्विधा कृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमयं हुताशनः ।
गतन्तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ॥
पतत्यधोधाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥" इति ।
तदेतद्दिवाकरेण नृतरत्नाकरटीकायामुपन्यस्तम् ॥
(२) अतः अक्षरतः । परमिति शेषः ॥

तारः चिटिद्वयं पश्चाच्चण्डालि तदनन्तरम् ।
महदाद्यान्तां ब्रूयादमुकं मे ततः परम् ॥ १०१ ॥
वशमानय ठद्वन्द्वं चिटिमन्त्र उदाहृतः ।
चतुर्विंशत्यक्षरात्मा सर्वकामफलप्रदः ॥ १०२ ॥
नवकुङ्कुमसंनिभं त्रिनेत्रं रुचिराकल्पशतं भजामि वह्निम् ।
स्रुवशक्तिवराभयानि दोर्भिर्दधतं रक्तसरोरुहे निषण्णम् ॥१०३॥
कालाम्बुवाहद्युतिमिन्दुवक्त्रां हारावलीशोभिपयोधराढ्याम् ।
कपालपाशाङ्कुशशूलहस्तां नीलाम्बरां यामवतीं नमामि ॥ १०४ ॥
कालाम्बुदाभामरिशङ्खशूलखड्गाढ्यहस्तां तरुणेन्दुचूडाम् ।
भीमां त्रिनेत्रां जितशत्रुवर्गां दुर्गां स्मरेद् दुर्गतिभङ्गदक्षाम् ॥१०५॥
टङ्कं कपालं डमरुं त्रिशूलं सम्बिभ्रती चन्द्रकलावतंसा ।
पिङ्गोर्ध्वकेशी सितभीमदंष्ट्रा भूयाद्विभूत्यै मम भद्रकाली ॥१०६
ऋक्पञ्चकं जपेत्सम्यगयुतं तद्दशांशतः ।
हविषा घृतसिक्तेन जुहुयादर्चितेऽनले ॥ १०७ ॥
एवं कृतपुरश्चर्यः प्रयोगे कुशलो भवेत् ।
अग्नियामवती ध्येया वश्याकर्षणकर्मणोः ॥ १०८ ॥
स्मरेद्दुर्गां भद्रकालीं मन्त्री मारणकर्मणि ।
जानुप्रमाणे सलिले स्थित्वा निशि जपेन्मनुम् ॥ १०९ ॥
अनेन वाञ्छितः साध्यः किंकरो जायते क्षणात् ।
नाभिमात्रोदके स्थित्वा जपेन्मन्त्रमिमं सुधीः ॥ ११० ॥
अष्टोत्तरसहस्रं यस्तस्य साध्यो वशो भवेत् ।
ऋक्पञ्चकं जपेत्सम्यक्कण्ठमात्राम्भसि स्थितः ॥ १११ ॥

चिटिमन्त्रमुद्धरति—*तार इति* ॥ *महदाद्यान्तामिति* । महाचाण्डालि । अत्र "आन्महत"इत्यनेनात्वं, क्वचित्तु महापदाद्यामिति पाठः । तदुक्तं—"चण्डालीति महेत्युक्त्वा चाण्डालीत्यभिमन्त्रयेदि"ति । दक्षाद्यूर्ध्वयोराद्ये, तदधस्तनयोरन्त्ये इत्यायुधध्यानमग्निध्याने । तदुत्तरन्तु वामाधस्ताद्दक्षाधस्तनं यावद् दुर्गाध्याने दक्षोर्ध्वाद्दक्षाधस्तनं यावदायुधध्यानम् ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

टङ्कः परशुः । अन्त्ये दक्षाधस्ताद्दक्षोर्ध्वं यावत् ॥ १०६ ॥

सम्यगयुतमिति । चिटिमन्त्रसहितमृक्पञ्चकमयुतं जपेदित्यर्थः । तदुक्त *माचार्यैः*—"अयुतं नियतो मन्त्री मन्त्रमृक्पञ्चकान्वितम् । प्रजपेत्त्रिसहस्रं वा सम्यगेनं समाहित" इति । *तन्त्रान्तरे तु विशेषः*—"गङ्गादिमुख्यसरितां तीरदेशे समाश्रिते । स्वयमेव समुद्भूते दुर्गानिलयने वशी ॥ त्रिसहस्रं जपेदेतदथवाऽयुतसंख्यया । पूर्वोक्तं चिटिमन्त्रं तु जपेत्तस्य चतुर्गुणमि"ति ॥ १०७ ॥

एवं कृतपुरश्चर्य इति । अनेन नित्यपूजापि सूचिता । तया विना तस्यासम्पादनात् । *प्रोक्ता रामकण्ठेन*—"भीषणी बहुरूपा च तीक्ष्णदंष्ट्रा मदोत्कटा । मारणी मोहिनी कान्ता कमण्डलुधरा अपि ॥ अभिचारकरी चेति लोणमन्त्रस्य शक्तयः । पाशाङ्कुशसंपुटाशक्तिः सर्व-

सप्तभिर्दिवसैर्भूपान्वशयेद्विधिनामुना ।
विलिख्य तालपत्रे तं साध्यनाम्ना विदर्भितम् ॥ ११२ ॥
निःक्षिप्य क्षीरसम्मिश्रे जले तत्क्वाथयेन्निशि ।
वश्योभवति साध्योऽस्य नात्र कार्या विचारणा ॥ ११३ ॥
ताम्रपत्रे लिखित्वैवं भद्रकालीगृहे खनेत् ।
वश्याय सर्वजन्तूनां प्रयोगोऽयमुदाहृतः ॥ ११४ ॥
ताम्रपत्रे लिख्य मन्त्रं साध्यनामविदर्भितम् ।
तापयेत्खादिरे वह्नौ मासं वश्योभवेन्नरः ॥ ११५ ॥
त्रिकोणं कुण्डमापाद्य सम्यक् शास्त्रोपलक्षणम् ।
तस्मिन्होमं प्रकुर्वीत संस्कृते हव्यवाहने ॥ ११६ ॥
प्रक्षाल्य गव्यदुग्धेन संशोष्य लवणं सुधीः ।
सुचूर्णितं प्रजुहुयात्सप्ताहाद्वशयेज्जनान् ॥ ११७ ॥
दधिमध्वाज्यसंसक्तैः सैन्धवैर्जुहुयात्तथा ।
वशयेदखिलान्देवानचिरात्किमु पार्थिवान् ॥ ११८ ॥
विशुद्धं लवणं प्रस्थं विभक्तं पञ्चधा पृथक् ।
एकैकया प्रजुहुयादृचा पञ्चाहमादरात् ॥ ११९ ॥
यस्य नाम्ना स वश्यः स्यादनेन विधिनाऽचिरात् ।
शुद्धं लवणमादाय जुहुयान्मधुरान्वितम् ॥ १२० ॥
ऊनपञ्चाशदाहुत्या वशं नयति वाञ्छितम् ।
नित्यं शुद्धेन लोणेन हुत्वा शत्रून्वशं नयेत् ॥ १२१ ॥
मधुरत्रयसंयुक्तैर्लवणैः साधु चूर्णितैः ।
जुहुयाद्वशयेन्नारीर्नरान्नरपतीनपि ॥ १२२ ॥
मन्त्रं कृष्णतृतीयादि प्रजपेद्यावदष्टमि ।
पुत्तलीः पञ्च कुर्वीत साङ्गोपाङ्गाः समाः शुभाः ॥ १२३ ॥

शक्तिपदं क्रमौ ॥ लासनाय नमोऽन्तः स्यात्पीठमन्त्राग्रुवादिकः । मूर्त्तावावाह्य गन्धाद्यैर्देवता सम्प्रपूजयेत् ॥ अङ्गैरावरणं पूर्वं द्वितीयं बहिमूर्त्तिभिः । तद्बहिश्शूलहस्तादिशक्तिभिस्ततः समीरिता ॥ उत्कटाद्यैश्चतुर्थीतु पञ्चमो धृतिर्दिशा । लोकेशैर्लीगमन्त्रस्य विधानमिति कीर्त्तितम् ॥ शूलहस्ता विकेशी च दारुणा लवणप्रिया । वरा कराली चात्युग्रा तामस्यश्चाष्ट शक्तयः ॥ उत्कटो विकटाक्षश्च शूलहस्तो महाबलः । अग्नेर्जिह्वः खड्गधरः कपाली तारणप्रिय" इति ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

एवंमिति । साध्यनाम्ना विदर्भितमित्यर्थः ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ *विशुद्धमिति* । प्रक्षालितं पूर्ववत् । *लवणेति* । सैन्धवम् । एवमग्रेऽपि ॥ ११९ ॥ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

प्रयोगान्तरमाह—*मन्त्रमित्यादिना* । *यावदष्टमीति* । कृष्णा । *कुर्वीतेति* । षट्स्याम् । *साङ्गोपाङ्गा इति* ॥ अङ्गानि तु—"शिरश्चक्षुर्हस्तौ पार्श्वकटी पत्कन्धौ कन्धरा भुजौ । पृष्ठं तथोदरं तूरू जङ्घे इत्यङ्गसंग्रहः ॥ उपाङ्गानि—भ्रूपुटौ ललाटगण्डौ च नासिका । अष्टौ तु

एका साध्यद्रुमेण स्यादन्या पिष्टमयी मता ।
चक्रिहस्तमृदाऽन्या स्यादन्या सिक्थमयी स्मृता ॥ १२४ ॥
लवणं पोतसम्भूत चूर्णितं परिशोधितम् ।
कुडवं प्रोक्षयेत्क्षीरं दध्याज्यमधुभिः क्रमात् ॥ १२५ ॥
गुडाज्यमधुभिः सम्यङ्मिश्रितेनामुना ततः ।
कुर्वीत पुत्तलीं सौम्यां सर्वावयवशोभिनाम् ॥ १२६ ॥
प्राणमन्त्रकृतं यन्त्रमासां हृदि विनिः क्षिपेत् ।
आसु प्राणान्प्रतिष्ठाप्य पूजयेत्कुसुमादिभिः ॥ १२७ ॥
पश्चात्कृष्णाष्टमीरात्रौ याममात्रे गते सति ।
विधाय मातृकान्यासं मन्त्रन्यासमनन्तरम् ॥ १२८ ॥
चिटिमन्त्रसमुद्भूतान् चतुर्विंशतिसंख्यकान् ।
ताराद्यान्विन्यसेद्वर्णान्स्थानेष्वेषु समाहितः ॥ १२९ ॥
मूर्द्धनि भाले दृशोः श्रुत्योर्नासास्यचिबुकेष्वथ ।
कण्ठहृत्स्तनयुग्मेषु कुक्षौ नाभौ कटिद्वये ॥ १३० ॥
मेढ्रे पाणौ प्रविन्यस्य शिष्टवर्णचतुष्टयम् ।
ऊरुद्वये जानुयुगे जङ्घायुग्मे पदद्वये ॥ १३१ ॥
एवं विन्यस्तसर्वाङ्गोरक्तमाल्यानुलेपनः ।
एकवस्त्रधरः शुद्धः पुत्तलीं दारुणा कृताम् ॥ १३२ ॥
अधोमुखीं खनेत्कुण्डे पितृजामासनादधः ।
मृन्मयीं प्रतिमां पाददेशे न्यस्येत्तथात्मनः ॥ १३३ ॥

दशनाजिह्वा चिबुकास्यांसनाभि च ॥ जघनं योनिगुह्ये च जानुनी मणिबन्धके । पार्ष्णी गुल्फौ तथाङ्गुल्यः करयोः पादयोस्तले" इति ॥ १२३ ॥

साध्यद्रुमेणेति । साध्यनक्षत्रवृक्षेण । साध्यनक्षत्रवृक्षानस्मिन्नेव वक्ष्यति । *पिष्टमयीति* । तण्डुलपिष्टमयी । *चक्री*—कुलालः । *सिक्थं*—मधूच्छिष्टम् । *पोतसंभूतमिति* । सामुद्रम् ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

अमुना—लवणेन ॥ *सौम्यां*—सुन्दरीम् । पञ्चाऽपि द्वादशाङ्गुलाः ॥ १२६ ॥

यन्त्रमिति । अग्रिमपटले वक्ष्यमाणम् । *प्राणानिति* । अग्रिमपटले वक्ष्यमाणेन प्रकारेण । *आचार्यास्तु*—"तस्यां तु स्थापयेत्प्राणान् गुर्वादेशविधानतः" इति । अत्र साम्प्रदायिका विशेषमाहुः—"पुत्तलिकाया हृदयं स्पृशन् प्राणा इह प्राणा जीव इह स्थित इति । इन्द्रियाणि स्पृशन् सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रघ्राणेति । सर्वाङ्गं स्पृशन् प्राणा इहायान्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु इति शिरः स्पृशन् स्वाहेति जपेत् ॥ १२७ ॥

मन्त्रन्यासमिति । पञ्चभिः पञ्चाङ्गमित्यर्थः ॥ १२८ ॥

अथवा तमाह—*चिटीति* ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥

दारुणेति । साध्यनक्षत्रवृक्षकाष्ठेन कृतां कुण्डे खनेन्निखनेदित्यर्थः । तत्र द्व्यङ्गुलाधो निखननं ज्ञेयम् । *अधोमुखीमिति* । मारणकर्मविषयम् । वशीकरणकर्मणि उत्तानेति ज्ञेयम् । वृद्धाः—"कुण्डान्तर्द्व्यङ्गुलाधो निखनेत् तदुत्थां मूर्तिमुत्तानरूपामि"ति । *आचार्याश्च* । "उत्ताना दारवी कुण्डे खनन्मन्त्रात्मसंमन्त्रितामि"ति । *तथा न्यसेदिति* । अधोमुखीं न्य-

मधूच्छिष्टमयीं व्योम्नि कुण्डस्योद्र्ध्वं प्रलम्बयेत् ।
लवणेन कृतां पश्चात्पुत्तलीं संस्पृशञ्जपन् ॥ १३४ ॥
ऋकूपञ्चकं यथान्यायमष्टोत्तरसहस्रकम् ।
संहृत्य चिटि मन्त्राणान्पुनस्तस्यास्तनौ न्यसेत् ॥ १३५ ॥
अङ्गुष्ठसन्धिप्रपदजानुजङ्घोरुपायुषु ।
लिङ्गदेशे पुनर्नाभौ जठरे हृदयाम्बुजे ॥ १३६ ॥
स्तनद्वये कन्धरायां चिबुके वदमेपुनः ।
घ्राणयोः कर्णयोरक्ष्णोर्ललाटे मूर्ध्नि विन्यसेत् ॥ १३७ ॥
अग्निमादाय संदीप्य साध्यनक्षत्रदारुभिः ।
तस्मिन्नभ्यर्च्य मन्त्रोक्तां देवतां रूप्यपात्रके ॥ १३८ ॥
कुशीतराजिपुष्याद्भिर्दत्वार्घं प्रणमेत्सुधीः ।
मन्त्रैरेतैः प्रयोगादावन्ते संयतमानसः ॥ १३९ ॥
त्वमनेनाप्यमित्रघ्न ! निशायां हव्यवाहने !
हविषा मन्त्रजप्तेन तृप्तो भव तया सह ॥ १४० ॥
जातवेदो महादेव ! तप्तजाम्बूनदप्रभ ! ।
स्वाहापते ! विषं भक्ष लवणं दह शत्रुहन् ! ॥ १४१ ॥
ओं ईशे ! शर्वरि ! सर्वाणि ग्रस्तंमुक्त त्वया जगत् ।"
महादेवि ! नमस्तुभ्यं वरदे ! कामदा भव ॥ १४२ ॥

सेदित्यर्थः। विषयव्यवस्था तु पूर्वोक्तैव ज्ञेया । एतयोरपि व्यङ्गुलाधोनिखननमेव ॥१३२॥१३३॥

प्रलम्बयेदिति । अधोमुखीमित्येव । यदाहुः—"धूमेन स्पृश्यमानामुपरि मदनजां लम्बयेदूर्ध्वंपादामि"ति । *आचार्याश्च*—"लम्बयेदम्बरे सिक्थमयीमूर्ध्वामधोमुखीमि"ति ॥१३४॥

यथान्यायमिति । षडङ्गन्यासं स्वतनौ पुत्तल्यां च कृत्वा चिटिमन्त्रसहितं ऋकूपञ्चकं जपेदित्यर्थः । *तदुक्तम्* । "अङ्गानि विन्यसेत् स्वाङ्गे तथा प्रतिकृतावपी"ति ॥ *संहृत्येति*। विपरीतान् स्वाङ्गे प्रतिकृतावपि । तदुक्तं—"न्यस्याङ्गान्मनुमप्यथप्रतिकृतौ । संहारयुक्त्या न्यसेदि"ति। *पुनर*नन्तरम् । अनेनैतदुक्तं-स्वदेहे न्यासं विधायात्मयागान्तं कृत्वा पश्चात् पुत्तल्यां न्यास इति। अतएव पश्चादासने देवता पूजा ॥ *तस्याः*पुत्तलिकायाः ॥ १३५ ॥

अङ्गुष्ठेति । ऊर्वन्तेषु षट्सु एकैकाक्षरन्यासः । अन्यत्र स्थानद्वये सर्वत्राक्षरद्वयम् । *यदुक्तमाचार्यैः*—"अधोगुह्याद्भेदः स्यादूर्ध्वं भेदोद्विके सती"ति ॥ १३६ ॥ १३७½ ॥

तस्मिन्निति । तन्त्रान्तरोक्त आसन इत्यर्थः । अत्रौ देवतापूजा चतुर्थपटल एवोक्ता । तस्योक्तावत्र प्रयोजनाभावादग्रेऽर्घदानमपि वक्ष्यति । यदाहुः—"कुण्डस्य पूर्वदिग्भागे चतुरस्रं समुन्नतम् । हस्तमात्रायतं लाक्षारक्तपादादिकं नवम् ॥ त्रिनाङ्गं हविराकारं कुण्डोत्सेधसमुन्नतम् । चतुरङ्गुलमानं वा अष्टाङ्गुलमथापि वा ॥ द्वादशाङ्गुलकं वापि कुण्डादुन्नतमासनम् । तस्मिन् सुविमलं वस्त्रमास्तीर्यार्दौ सुशोभनन् । सूक्ष्मं चतुर्गुणीकृत्य सप्तहस्तायतं नवम् । तस्योपरि परिस्तीर्य रक्तवस्त्रद्वयं पुनः ॥ त्रिशालमतिसूक्ष्मं च पूर्ववद्गुणितं नवमि"ति । तन्त्रान्तरोक्तप्रकारेणासनं परिकल्प्य तत्र पूर्वोक्तं पीठं परिपूज्य देवतामावाह्य पूर्ववत् सावरणं सम्पूज्य रक्तचन्दनादिना वक्ष्यमाणद्रव्ययुक्तेन शुद्धजलेन रूप्यं चषकमापूर्य तेनार्घं दद्यात् । ततो वक्ष्यमाणमन्त्रैर्देवतामुपतिष्ठेत ॥ १३८ ॥

नमोऽस्तु ते ! महादेवि ! महादेवस्य सुव्रते ! ।
प्रियास्मे पुरुषं कृत्वा वशमानय देवि ! मे ॥ १४३ ॥
ओं दुर्गे ! सर्गादिरहिते ! दुर्गसंरोधनाकुले ! ।
चक्रशङ्खधरे ! देवि ! दुष्टशत्रुभयङ्करि ॥ १४४ ॥
नमस्ते दह शत्रुं मे वशमानय चण्डिके ! ।
शाकम्भरि ! महादेवि ! शरणं मे भवानघे ! ॥ १४५ ॥
ओं भद्रकालि ! भवाभीष्टे भद्रसिद्धिप्रदायिनी ।
सपत्नान्मे हन दह शोषय तापय तापय ॥ १४६ ॥
शूलासिशक्तिवज्राद्यैरुत्कृत्योत्कृत्य मारय ।
महादेवि ! महाकालि ! रक्तास्मानत्ततात्मिके ! ॥ १४७ ॥
साध्यं संस्मृत निर्भेद्य पुत्तलीं सप्तधा ततः ।
मन्त्रकूपञ्चकं समुच्चार्य जुहुयादेधितेऽनले ॥ १४८ ॥
प्रथमो दक्षिणः पादस्तत्करस्तदनन्तरम् ।
शिरस्तृतीयमाख्यातं वामहस्तं ततः परम् ॥ १४९ ॥
मध्यादूर्ध्वं पञ्चमः स्यादधोंऽशः षष्ठ ईरितः ।
सप्तमो वामपादः स्यादेवं भागक्रमः स्मृतः ॥ १५० ॥
सप्त सप्त विभागो वा प्रोक्तेष्वेषु यथाविधि ।
हुत्वैवमर्चयित्वाग्निं प्रणमेद्दण्डवत्ततः ॥ १५१ ॥
यजमानो धनैर्धान्यैः प्रीणयेद्गुरुमात्मनः ।
अनेन विधिना मन्त्री वशयेदसुरान्सुरान् ॥ १५२ ॥
किंपुनर्मनुजान्भूपानमात्यान्नृपयोषितः ।
मारणे पूर्वसंप्रोक्तं पुत्तलीनां चतुष्टयम् ॥ १५३ ॥

कुचीतं—रक्तचन्दनम् । *राजिः* राजिका । *प्रयोगादावितिः* । एतन्मन्त्रप्रयोगादावन्ते च । अत्र वशीकृतौ यद्यपि एते एव देवते तथापि नतिप्रकरणप्रसङ्गादितरयोरपि मन्त्रायुक्तौ तत्प्रयोजनमग्रे मारणकर्मणि भविष्यति ॥ १३९ ॥ १४० ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ ॥ १४४ ॥ १४५ ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

पुत्तलीमिति । लवणमयीम् ॥ १४८ ॥

निर्भिद्येत्युक्तं तमेव भेदमाह *प्रथम इति* । आचार्यैः प्रकारान्तरमप्युक्तं—"दक्षिणं चरणं पूर्वं दक्षार्द्धं तु द्वितीयकम् । दक्षहस्तं तृतीयं स्याद्गलादूर्ध्वं चतुर्थकम् ॥ पञ्चमं वामहस्तः स्यात् षष्ठं वामार्द्धमेव च । सप्तमं वामपादः स्यादन्यापि स्याद्धुतक्रियेऽग्ति ॥ १४९ ॥ १५० ॥

प्रोक्तेष्विति । सप्तावदानेषु प्रत्येकं सप्त सप्त विभागाः तेनैकोनपञ्चाशदाहुतयः । उक्तपुत्तलीषु सर्वत्रावदानक्रमोऽयमेव ज्ञेयः । अन्यत्र विशेषः—"सप्तसप्तविभागो वा क्रमादङ्गेषु सप्तसु । एकादशांशभिन्नैर्वा तदङ्गैः सप्तभिर्हुनेदि"ति । अन्यत्रापि—"सप्तानामङ्गानामेकैकं सप्तगान्वा । रुद्रांशान्वा कृत्वा होतव्यं मन्त्रिवर्यणे"ति । स्त्रीवशीकरणे वामपादादि ज्ञेयं "योषितो वामपूर्वामि"त्युक्तेः । एवं स्त्रीमारणे दक्षपादाद्यवदानक्रमो ज्ञेयः । *प्रणमेदिति* । पूर्वोक्तमन्त्रैः ॥ १५१ ॥ १५२ ॥ १५३ ॥

निवेशयेद्यथापूर्वं साधकेन्द्रोविधानवित् ।
अपरां वक्ष्यमाणेन विधानेन प्रकल्पयेत् ॥ १५४ ॥
वराहपारावतविट्-तिलत्र्यूषणरामठैः ।
व्रणकृन्निम्बसिद्धार्थसाध्यवामाङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १५५ ॥
महिषीमूत्रसंपिष्टैः पूर्वोक्तलवणान्वितैः ।
विधाय पुत्तलीं सम्यक् प्राणस्थापनमाचरेत् ॥ १५६ ॥
जपपूजादिकं सर्वं कुर्यात्प्रागुक्तवर्त्मना ।
ततः पूर्वोदिते कुण्डे रात्रौ प्रज्वलितेऽनले ॥ १५७ ॥
दुर्गां वा भद्रकालीं वा समासाद्य यथाविधि ।
धारयन्निशितं शस्त्रं सव्यहस्तेन साधकः ॥ १५८ ॥
वामपादं समारभ्य दक्षिणाङ्घ्र्यवसानकम् ।
छित्त्वा छित्त्वा प्रजुहुयान्निराहारोजितेन्द्रियः ॥ १५९ ॥
कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत्कृष्णचतुर्दशीम् ।
अनेनैव विधानेन होमं कुर्याद्विचक्षणः ॥ १६० ॥

साधकेन्द्रोविधानविदिति अनेन पुत्तलीनां द्व्यङ्गुलाधः खननमुक्तम् ॥ १५४ ॥

त्र्यूषणं—शुण्ठी—पिप्पली—मरीचानि । *रामठ*—हिङ्गु । *व्रणकृत्*भल्लातः । *निम्बं*—निम्बबीजम् । अत्र तिलभल्लातनिम्बबीजसिद्धार्थानां तैलं ग्राह्यम् । *तदुक्तमाचार्यैः*—"सनिम्बतिलसिद्धार्थव्रणकृत्तैलसंयुतैरि"ति ॥ १५५ ॥

पूर्वोक्तलवणं—सामुद्रम् । *सम्यक्-पुत्तलीं विधायेति* अनेन तन्त्रान्तरोक्तो विशेषः सूचितः—"आयामः पादयोस्तस्या आढ्याश्चतुरङ्गुलः । पादानद्व्यङ्गुला कुक्षिस्ता देवाङ्गुलोदरम् ॥ अङ्गुलद्वयमावक्त्रात्कण्ठदेशस्य मानकम् । शिरसावक्त्रमानं स्यात्साधंद्वर्यामहाङ्गुलैः ॥ द्वादशाङ्गुलयः सर्वाः साध्यपुत्तलिकाः स्मृता" इति । *तन्त्रान्तरे तु विशेषः*—"पञ्चांशेन मुखं कृत्वा तदर्द्धेन गलं पुनः । शिष्टेन सर्वाण्यङ्गानि पुत्तलानां प्रकल्पयेत ॥ मारणे दारुरूपान्तां द्वादशाङ्गुलसम्मिताम् । षण्णवत्यङ्गुलां वापि कुर्यान्मात्राङ्गुलैः क्रमात् ॥ होमार्थं कल्पितायास्तु तस्याः प्रोक्तोविधिस्त्वयम् । वश्याकर्पणयोः प्रोक्ता तां कुर्याद् द्वादशाङ्गुलैरि"ति ॥ १५· ॥ १५६ ॥ १५७ ॥

यथावधीति । पूर्वोक्तप्रकारेण ॥ १५८ ॥ १५९ ॥

कुर्याद्धोममिति । प्रत्यहम् ॥ *त्रिसप्ताहेति* एभिरेव सप्तभिः । तेन मासत्रयेण प्रयोगसिद्धिः । मारणकर्मणि दक्षिणाविशेष उक्तस्तन्त्रान्तरे—"सस्वर्णां च समुक्ताङ्गां शोणां (१)दद्यात्सतर्णकाम् । दक्षिणां सप्तकपं तु दद्यान्मारणकर्मणी"ति । *अन्योऽपि विशेषः*—"श्मशाने निर्जने देशे विदध्यादाभिचारिकम् । यत्राभिचारहोमन्तुकरोति भुवि साधकः ॥ तत्राभितोभटैरक्षां कारयेदात्मसिद्धये ॥ नचेदन्यः क्षितिपतिश्चारैर्ज्ञात्वा निहन्त्यमुम् । स्वरा·

---

(१) सस्वर्णां स्वर्णशृङ्गाम् । समुक्तां-मुक्तालाङ्गूलमूषताम् . एतेन रौप्यखुरां ताम्रपृष्ठीमित्याद्यनुक्तमपि बोधितम्भवति । शोणां-रक्तवर्णां, सतर्णकाम्-सवत्साम् ॥ कर्षोऽशीतिगुञ्जातुल्यः सुवर्णः । षोडशमाषक इति यावत् ॥ "गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकाः । ते षोडशाक्षः च.पोंऽस्त्री"त्यमरः ॥ "शोणः कोकनदच्छविरि"ति "वत्सश्चतर्णकः"इति च ॥

त्रिसप्ताहप्रयोगेण मारयेद्रिपुमात्मनः ।
कारस्करोऽथधात्री स्यादुदुम्बरतरुः पुनः १६१ ॥
जम्बूखदिरकृष्णाख्यौ वंशपिप्पलसंज्ञकौ ।
नागरोहिणनामानौ पलाशप्लक्षसंज्ञकौ ॥ १६२ ॥
अम्बष्ठबिल्वार्जुनाख्या विकङ्कतमहीरुहाः ।
बकुलः सरलः सर्जो वञ्जुलः पनसार्ककौ ॥ १६३ ॥
शमीकदम्बनिम्बाम्रमधूका ऋक्षशाखिनः ।
आत्मरक्षादिकं सर्वं कुर्यान्मन्त्री यथापुरा ॥ १६४ ॥
अमुना मनुना सम्यगभीष्टफलसाधने ।
सदृशो नास्ति मन्त्रोऽन्यः सत्यमेतन्न चान्यथा ॥ १६५ ॥

इति शारदातिलके द्वाविंशः पटलः ॥ २२ ॥ * ॥

अथ त्रैयम्बकं मन्त्रमभिधास्याम्यनुष्टुभम् ।
यं भजन्तं नरं कालः स्वयं वाञ्छितुमक्षमः ॥ १ ॥
वशिष्ठोऽस्य मुनिः प्रोक्तश्छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
देवतास्य समुद्दिष्टस्त्र्यम्बकः पार्वतीपतिः ॥ २ ॥
विभक्तैर्मन्त्रवर्णैः स्यात्षडङ्गानां प्रकल्पना ।
हृदयं त्रिभिराख्यातं चतुर्भिः शिर ईरितम् ॥ ३ ॥

ऋक्षसन्धौ कुर्वीत न कुर्वीत स्वमण्डले। यदि कुर्यात्प्रमादेन मान्त्रिकोऽज्ञानमोहितः। तद्राष्ट्रं पीडयन्त्येव शनकैर्वैरिभूभृतः" । इति । *अन्योऽपिविशेषस्तन्त्रान्तरे*—"तस्यां रात्र्यामुपोष्याथ परेऽहनि तु साधकः। प्राणायामादिभरपि गायत्रीजपहोमकैः ॥ विमुक्तपातको भूत्वा स पुनर्विहरद्वशां"ति ॥ १६० ॥ ½ ॥

नक्षत्रवृक्षानाह—*कारस्कर* इति । कारस्करः कुचिला । धात्री—आमलकी । मृगशिरसस्तु श्वेतसार एव खदिरः। आर्द्रायास्तु कृष्णसारः खदिरः। नागो—नागकेसरः। रोहिणो—वटः। प्लक्षः—पर्कटी । *अम्बष्ठः*—आम्रातः। अर्जुनः—ककुभः ॥ विकङ्कतः—स्रुवावृक्षः(१) । सर्जः शालः । वञ्जुलाऽशोकः ॥ एषां सामान्यतः फलमुक्तम्—"आयुः कामः स्वर्क्षवृक्षं छेदयेन्न कदाचने"ति ॥ १६१ ॥ १६२ ॥ १६३ ॥ ½ ॥

यथापुरेति । आग्नेयास्त्रप्रोक्तमार्गेण । एतच्चात्मरक्षणं मारणकर्मण्येवेति ज्ञेयम् ॥ इति श्रीसारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां द्वाविंशः पटलः २२

अथेति । मन्त्रो यथा—"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतादि"ति । मृत्युञ्जयव्याहृतिभिः सम्पुटमिच्छन्ति। श्रीं बीजं, माया शक्तिः । तदुक्तम्—"श्रीदेव्यौ प्रणवौ बीजशक्तीयोगः शिवार्चने" इति ॥ १ ॥ २ ॥

विभागमेवाह—*हृदयमिति* । येषां मते प्रणवादि सम्पुटः तन्मते तदादिभिरेभिर्वर्णैः षडङ्गम् । तदुक्तम्—"प्रासादमृत्युञ्जयभूर्भुवः स्वस्तदङ्गमन्त्रैः क्रमशः समेतमि"ति । साम्प्र-

(१) "गम्भारा"-ति नाम्ना प्रसिद्धः ॥

शिखाष्टभिः समुद्दिष्टा नवभिः कवचं मतम् ।
पञ्चभिर्नेत्रमाख्यातमस्त्रं त्रिभिरुदाहृतम् ॥ ४ ॥
पूर्वपश्चिमयाम्येन्द्रवक्त्रेषु तदनन्तरम् ।
उरोगलास्येषु पुनर्नाभिहृत्पृष्ठकुक्षिषु ॥ ५ ॥
लिङ्गपायुहस्तमूलान्तर्जानुयुग्मेषु तत्परम् ।
तद्वृत्तयुग्मे स्तनयोः पार्श्वयोः पादयोः पुनः ॥ ६ ॥
पाण्योर्नासि [illegible]योः शीर्षे मन्त्रवर्णान्न्यसेत्क्रमात् ।
पदान्येकादश न्यस्येच्छिरोभ्रूयुगलादिषु ॥ ७ ॥
वक्त्रे गण्डयुगे भूयो हृदये जठरे पुनः ।
गुह्योरुयानुपादेषु न्यासमेवं समाचरेत् ॥ ८ ॥
हस्ताभ्यां कलशद्वयामृतरसैराप्लावयन्तं शिरो
द्वाभ्यां तौ दधतं मृगाक्षवलये द्वाभ्यां वहन्तं परम् ।
अङ्कन्यस्तकरद्वयामृतघटं कैलासकान्तं शिवं
स्वच्छाम्भोजगतं नवेन्दुमुकुटं देवं त्रिनेत्रं भजे ॥ ९ ॥
जपेन्मन्त्रमिमं लक्षमेकं ध्यायञ्जितेन्द्रियः ।
जुहुयाद्दशभिद्रव्यैरयुतं घृतसंप्लुतैः ॥ १० ॥
बिल्वं पलाशं खदिरं वटं च तिलसर्षपौ ।
दौग्धं दुग्धं दधि पुनर्दूर्वान्तानि विदुर्बुधाः ॥ ११ ॥
पश्चात्तरादिने पीठे पूजयेद्वृषभध्वजम् ।
मूर्तिं मूलेन सङ्कल्प्य वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ॥ १२ ॥
पूर्वमङ्गानि सम्पूज्य पश्चान्मूर्तीः प्रपूजयेत् ।
अर्केन्दुवसुधातोयवह्नीरवियदात्मनः ॥ १३ ॥

दायिकास्तु—प्रणवप्रासादमृत्युञ्जयव्याहृतिमन्त्राक्षरनमोभगवते रुद्रायेत्युक्त्वा-शूलपाणये स्वाहा हृत् । अमृतमूर्त्तये मां जीवय शिरः । चन्द्रशिरसे जटिले स्वाहा शिखा त्रिपुरान्तकाय हां हीं कवचम् । त्रिलोचनाय ऋग्यजुः साममन्त्राय नेत्रम् । अग्नित्रयाय ज्वल ज्वल मां रक्ष अघोरास्त्राय अस्त्रम् इति षडङ्गमाहुः ॥ ४ ॥

वर्णन्यासमेवाह—*पूर्वेति* । उरः शब्देन हृदूर्ध्वभागविस्तीर्णं इह गृह्यते । ऊरुमूलयोर्द्वौ तद्वृत्तयुग्मे जानूपरिस्थवृत्तयोः सर्वस्थानद्वयन्यासः । साम्प्रदायिकाः प्रणवादिपुटितवर्ण-न्यासमाहुः । *तन्त्रान्तरे स्थानान्तराण्युक्तानि* । "चरणाग्रसन्धिगुह्याधारोदरहृद्दयकन्ध रासु पुनः । बाह्वोः सन्ध्यग्रास्योष्ठघ्राणदृक्श्रुतिभ्रुशीर्षेषु" इति पदानीति । "वक्ष्यमाणेषु वेदद्वित्रिद्वित्र्येकत्रिवर्णकैः" इति ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

ताविति ॥ घटौ । अत्र ध्यानानन्तरमेता मुद्राः प्रदर्शयेत् । यदाहुः—"लिङ्गपञ्चास्य-मुष्टयम्बुजशक्तिमुद्राः प्रदर्शयेदि"ति ॥ ९ ॥ १० ॥

बिल्वं—फलम् । ततत्रयाणां समिधः । *दौग्धमिति* । पायसम् ॥ ११ ॥

वक्ष्यमाणेन वर्त्मना पीठे वृषभध्वजं पूजयेदित्यन्वयः ॥ १२ ॥

सम्पूज्येति । कर्णिकायाम् । *मूर्तीः* पश्चात् द्वितीयावरणे पूजयेदित्यन्वयः । ता

द्वितीयावरणे पूज्या मूर्तयोऽष्टौ क्रमादथ ।
रामा राका प्रभा ज्योत्स्ना पूर्णोषा पूरणी सुधा ॥ १४ ॥
अष्टाविमाः क्रमात्पूज्यास्तृतीयावरणे ततः ।
विश्वा विद्या सिता प्रह्वा सारा सन्ध्या शिवा निशा ॥ १५ ॥
चतुर्थावरणे पूज्याः शक्तयोऽष्टौ क्रमादिमाः ।
आर्या प्रज्ञा प्रभा मेधा शान्तिः कान्तिर्धृतिर्मतिः ॥ १६ ॥
पञ्चमावरणे पूज्याः क्रमादेतास्ततः परम् ।
धरा मायाविनी पद्मा शान्ताऽमोघा जयाऽमला ॥ १७ ॥
षष्ठावरणगाः पूज्या लोकपालास्ततः परम् ।
तदस्त्राणि यजेत्पश्चात्सप्तमाऽऽवरणे ततः ॥ १८ ॥
एवं कृते प्रयोगार्हो जायतेऽयं महामनुः ।
अयुतं जुहुयाद्बिल्वसमिद्भिः शरदे सुधीः ॥ १९ ॥
जुहुयाद् ब्रह्मवृक्षस्य समिद्भिर्ब्रह्मतेजसे ।
खादिरैरयुतं हुत्वा कान्तिं पुष्टिमवाप्नुयात् ॥ २० ॥
वटवृक्षस्य समिधो जुहुयादयुनावधि ।
धनधान्यसमृद्धः स्यादचिरेणैव साधकः ॥ २१ ॥
तिलैस्तत्संख्यया हुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
सिद्धार्थैरयुतं हुत्वा शत्रून्विजयते नृपः ॥ २२ ॥
अनेनैव विधानेन नश्येन्मृत्युरकालजः ।
पायसेन कृता होमा रक्षाश्रीकीर्तिकान्तिदः ॥ २३ ॥
पशुदुग्धेन शुद्धान्नं हुत्वा कृत्यां विनाशयेत् ।
अयमेव मतो होमः शान्तिश्रीसंपदावहः ॥ २४ ॥
दधिहोमेन संवादं कुर्यान्निर्द्वेषणोमिथः ।
प्रत्यहं जुहुयान्मन्त्री दूर्वामष्टोत्तरं शतम् ॥ २५ ॥
आमयान्निखिलाञ्जित्वा दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
जुहुयाज्जन्मदिवसे पायसान्नैर्घृतान्वितैः ॥ २६ ॥
इच्छन्ननिन्दितां लक्ष्मीमारोग्यमतुलं यशः ।
गव्यदुग्धघृताक्ताभिर्दूर्वाभिर्जुहुयाद्वशी ॥ २७ ॥

एवाह—*अव ति* । ईरो—वायुः । आत्मा यजमानः । तथाच श्रुतिः—"आत्मा वं यज्ञस्य यजमानोऽङ्गानि ऋत्विज" इति । अष्टमूर्त्यादि पञ्चावरणानि पत्रेपु दलमूल उत्तरोत्तरत्र पूजनीयानि ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

ततः परमिति । वज्रादिपूजेत्युक्तम् । यदाहुः—"आनुष्टुभमित्यष्टावरणं प्रोक्तं विचानवरमेवमि"ति । *कल्पान्तरे तु* "सप्तमी लोकपालः स्यादष्टम्यस्त्रादिभिर्ग्रहैरि" त्युक्तेरेवं सूचयितुं लोकपालान्ता पूजा ग्रन्थकारेणोक्ता ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥
खादिरैरिति । "समिद्भिरि"ति शेषः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

स विंशतिशतं सम्यक् स्वजन्मदिवसे सुधीः ।
आम्रैः सकलैर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं सुखी ॥ २८ ॥
काश्मरी समिधस्तिस्रः पयोऽन्नं त्रिशतं पृथक् ।
जुहुयाद्ब्राह्मणानन्ते भोजयेन्मधुरान्वितम् ॥ २९ ॥
प्रीणयेद्धनधान्याद्यैरात्मनोगुरुमादरात् ।
अनामयमवाप्नोति दीर्घमायुः श्रिया सह ॥ ३० ॥
सघृतेन पयोऽन्नेन हुत्वा पर्वणि पर्वणि ।
राज्यश्रियमवाप्नोति षण्मासान्नात्र संशयः ॥ ३१ ॥
लाजैर्विशुद्धैर्जुहुयात्कन्याप्त्यै सा वराप्तये ।
क्षीरद्रुमसमिद्धोमाद् ब्राह्मणादीन्वशं नयेत् ॥ ३२ ॥
स्नात्वा सहस्रं प्रजपेदादित्याभिमुखोमनुम् ।
आधिव्याधिविनिर्मुक्तो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ३३ ॥
अनेन मनुना सर्वं साधयेदिष्टमात्मनः ।
गायत्री त्रिष्टुबनुष्टुब्वर्णैः प्रोक्तः शताक्षरः ३४ ॥
पूर्वोक्ता एव मुन्याद्याः परं तेजोऽस्य देवता ।
हृत्त्रयोदशभिः प्रोक्तं रुद्रार्णैः शिरः ईरितम् ॥ ३५ ॥
द्वाविंशत्या शिखा प्रोक्ता तावद्भिः कवचं मतम् ।
स्यात्पञ्चदशभिर्नेत्रमस्त्रं सप्तदशाक्षरैः ।
वर्णन्यासादिकं सर्वं कुर्यात्पूर्वोक्तवर्त्मना(१) ॥ ३६ ॥
सत्वं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तस्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः ॥

पशुदुग्धेन-गोदुग्धेन ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ ९६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

पृथगिति । प्रत्येकम् ॥ २९ ॥

अनामय मारोग्यम् । "अनामयं स्यादारोग्यमि"त्यमरः ॥ *सा* कन्या । *वराप्तये* मधुरजुहुयादित्यन्वयः । *क्षीरद्रुमाः* । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटाः । ब्राह्मणादिषु यथासंख्यं, मधुरत्रययुक्तत्वमपि ज्ञेयम् । "स्वाद्वक्तस्तनजन्तुहोमविधिने"त्याचार्योक्तेः ॥ तन्त्रान्तरात्मन्त्रमुच्यते—"बिम्बद्वन्द्वे कृशानोर्विलिखतु मनुमैशं समायं तदस्त्रिव्यन्यादिव्यञ्जनाख्यान् स्मृतिहरणमथोसन्धिषट्के सतारम् । अष्टारं तारयुग्व्याहृतिकुपरिवृतं नारसिंहास्त्रिचातुद्वात्रिंशत्पत्रगत्र्यम्बकमनुवजगज्जन्मभूम्याभिवीतमि"ति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

शताक्षरमन्त्रमाह—*गायत्रीति* । शताक्षर इति गायत्र्याश्चतुर्विंशतिवर्णत्वम् । त्रिष्टुभश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्णत्वं चाभिप्रेत्योक्तम् । कश्चित्तु वैदिकत्वादस्य मन्त्रस्याद्यन्तयोः प्रणवदानात् शताक्षरतामाहस्म । तदसम्बद्धम् । यतः पङ्क्तौ "द्वाविंशत्या शिखा प्रोक्ता तावद्भिः कवचं मतमि"त्यङ्गद्वयमुक्तम् । तदसङ्गतं स्यात् ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्ता इति । मन्त्रत्रयस्यापि तदुक्तं "ऋष्याद्याः पूर्वोक्तास्त्रिविधाः स्युरि"ति । *रुद्रार्णै*रित्येकादशाक्षरः ॥ ३५ ॥

तावद्भिरिति । द्वाविंशत्यक्षरैः ॥ ३६ ॥

---

(१) इदम्पूर्वोक्तरीत्या षट्पदच्छन्दोबोध्यम् ।

अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः ॥ ३७ ॥
लक्षमानं जपेदेनमयुतं पायसान्धसा ।

ध्यानमाह—*सत्यमिति* ॥ अरूपस्य ब्रह्मणोभावनरूपं ध्यानमेतत् "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्मे"ति श्रुतेः । *मानविवर्जितम्* । प्रमाणागोचरीकृतम् । "यतोवाचोनिवर्त्तन्ते" इति श्रुतेः । *श्रुतिगिरामाद्यं—*वेदप्रवक्तृ"शास्त्रयोनित्वादि"ति बादरायणसूत्रणात् । *जगत्कारणं—"जन्माद्यस्ययत" इति सूत्रणात् । व्याप्तस्थावरजङ्गमं—"सहस्रशीर्षे"त्यादि श्रुतेः । मुनिवरैर्नारदादिभिः । *अर्काग्नीन्दुमयमिति* । गायत्र्यादिदेवताक्रमेण । यद्वा । अर्को(१) विष्णुः । अग्नी(२) रुद्रः । इन्दुर्ब्रह्मा ।(३) तन्मयम् । तत उत्पन्नत्वात् । यद्वा ॐकाररूपत्वं वक्ष्यति । एतेनाकारोकारमकारात्मकत्वेनाग्नीन्द्वर्करूपत्वम् । *शताक्षरवपुरिति* । शताक्षरैः परं महः प्रतिपाद्यते । प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदाच्छास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणाभेदाद्वा शब्दरूपत्वाद्वा तथोक्तिः । यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुरूपमत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्भावेन योजना । ॐकाररूपत्वमस्य ग्रन्थकृदेवान्त्ये पटले वक्ष्यति । नित्यानन्दचित्स्वन्ततस्वरूपमेव । तदालयत्वं च भगवत उपचाराद् *गुणपरं* गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परन्तद्रहितम् । तद्वेदशिरसि(४) प्रसिद्धम् । *महः* नित्यं प्रकाशकत्वान्मह इव । एते च सर्वं शब्दास्तस्य वस्तुतो लक्षका एव, न वाचका एतेषां शब्दानामेकार्थनामपर्यायत्वेपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम् । *यद्वा(५)*—महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते ॥ सत्यं नित्यत्वात्तस्याः । "नित्या शक्तिः परा देवी"त्युक्तेः । मानमियत्ता तद्वर्जिता । "सूक्ष्मतरा विभुरित्यु"क्तेः । "व्याप्तस्थावरजङ्गमा सर्वगा विश्वरूपिणी । दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने"त्युक्तेः । निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता "योगिध्येया च सर्वदे"त्युक्तेः । "योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसे"त्यपि । अर्काग्नीन्दुरूपा "त्रिधामजननी देवी"त्युक्तेः । "सोमसूर्याग्निरूपाचे"त्यपि *शताक्षरवपुः* । "विश्वात्मना प्रबुद्धासा सूते मन्त्रमयं जगदि"त्युक्तेः । *तारात्मकं* "मन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमृज्वाकारान्तडित्प्रभाम् । ॐकाररूपिणींज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयामि"त्युक्तेः । *नित्यानन्दगुणालयम्* "नित्यानन्दगुणोदये"त्युक्तेः । *गुणपरा* गुणरूपा परा च । "शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभे"त्युक्तेः । "परापरविभागेन परशक्तिरियं मते"त्युक्तेश्च ३७

---

(१) "आदित्यः सविता सूर्यः" इति तत्सहस्रनामसु पाठात् ॥

(२) हिरण्यरेता इति तयोः समानत्वात् ॥

(३) अत्रेर्ब्रह्मणोंऽशेनेन्दोश्चन्द्रमस उत्पत्तिस्मरणात् । एवं हि स्मर्यते पुराणज्ञैः । पुरा ब्रह्माविष्णूरुद्रश्चेतित्रयोदेवाअनसूयाम्मोहयितुं गतास्तदनुध्यानात्ते पश्चाद्दशिशुभावमापन्ना वरदाः सन्तस्तयोः शिशुत्वेन वृताश्चन्द्रमो—दत्त—दुर्वासोरूपेण तदात्मजाअभवन्निति । तथा चाहुः परमगुरवः—(महामहो॰ राजारामशास्त्रिणः)

"पातिव्रत्यमयेन यात्ममहसा ब्रह्माच्युतेशान् क्षणात् ।
चक्रे प्राकृतबालकानिव ददौ भूतकन्यकायै मुदा ॥
रक्षोऽन्धकरणाद्गरागमपि या सद्धर्मसम्पादिनी ।
सा नोत्रेर्गृहिणी तनोतु कुशलं नाम्नानसूया सती—"ति ॥

(४) वेदान्ते ॥

(५) महः शब्दोऽजहल्लिङ्गतयाऽत्र कुण्डल्यात्मकतयास्त्रीरूपेण व्याख्यायते ॥

जुहुयात् घृतसिक्तेन मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
सौरे पीठे यजेत्सम्यक् वक्ष्यमाणविधानतः ।
आद्यामावृतिमभ्यर्चेत्षडङ्गैर्देशिकोत्तमः ॥ ३९ ॥
गायत्रीशक्तिभिस्तिस्रः पूजयेदावृतीः क्रमात् ।
आवृतिः पञ्चमी प्रोक्ता त्रिष्टुबुद्भूतशक्तिभिः ॥ ४० ॥
अनुष्टुप् शक्तिभिः प्रोक्तमावृतीनां चतुष्टयम् ।
इन्द्राद्यैर्दशमी प्रोक्ता वज्राद्यैस्तत्परा मता ॥ ४१ ॥
एवं सिद्धे मनौ मन्त्री भवेद्भास्करसन्निभः ।
सुधालतोद्भवैः खण्डैर्जुहुयात्क्षीरसंयुतैः ॥ ४२ ॥
दीर्घमायुरवाप्नोति निराधिर्व्याधिवर्जितः ।
दूर्वाभिर्घृतसिक्ताभिस्तदेव फलमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥
मधुरत्रयसंसिक्तैर्जुहुयादरुणाम्बुजैः ।
महालक्ष्मीमवाप्नोति षड्भिर्मासैर्विधानवित् ॥ ४४ ॥
रक्तोत्पलैस्त्रिमध्वक्तैर्जुहुयात्सर्वसम्पदे ।
श्रीप्रसूनैः प्रजुहुयाद्रमाया वसतिर्भवेत् ॥ ४५ ॥
सहस्रं जुहुयान्नित्यं मासमेकं तिलैः शुभैः ।
भानुसंख्यान्द्विजान्नित्यं भोजयेन्मधुरान्वितैः ॥ ४६ ॥
सर्वपापैर्विनिर्मुक्तः सर्वरोगविवर्जितः ।
कृत्याद्रोहग्रहद्रोहाञ्जित्वा दीर्घं स जीवति ॥ ४७ ॥
प्रातः स्नानरतो मन्त्री जपेन्नित्यं शतं शतम् ।
भानुमालाकयन्सम्यक् स जीवेच्छरदां शतम् ॥ ४८ ॥
तारव्याहृतिसंरुद्धं जपेन्मन्त्रं शताक्षरम् ।
नित्यमष्टोत्तरशतं निःश्रेयसफलाप्तये ॥ ४९ ॥
गायत्र्याद्यं जपेन्मन्त्रं सर्वपापविमुक्तये ।

पायसान्धसा पायसान्नेन ॥ ३८ । ३९ ॥

अभ्यर्चेदिति । कर्णिकायाम् । *देशिकोत्तमः क्रमादि*त्यनेन दशमूलमध्याग्रेष्विन्त्युक्तम् । *तिस्र इति* । अष्टाष्टदेवतात्मिकाः । *त्रिष्टुबिति* । जागताद्याभिर्दिशि दिशि एकादशैकादशभिः ॥ ४० ॥

चतुष्टयमिति । अष्टाष्टशक्तिरूपत्वेन । अष्टदिक्षु पुनरिति ज्ञेयम् ॥ ४१ ॥

सुधालता गुडूची ॥ ४२ ॥ ४९ ॥

भानुसंख्यानिति । द्वादश ॥ ४६ ॥ ४८ ॥

संरुद्धमिति । सम्पुटितम् । तदुक्तं—प्रणवव्याहृत्याद्या व्याहृतिस्तारान्तिका च मन्त्रिवरेरि"ति । केचित्तु संरुद्धशब्देन सरोधनमाहुः । तच्च "नाम्न आद्यन्तमध्येषु मन्त्रः स्याद्रोधनं स्मृतमि"ति प्रकारेण प्रतिमन्त्रादौ तारव्याहृतीरिच्छन्ति । तदसाम्प्रदायिकम् लिखितवचनविरोधात् ॥ ४९ ॥

सर्वशत्रुविनाशाय त्रिष्टुबाद्यमिमं जपेत् ॥ ५० ॥
ऋचो विधानं वारुण्या यथावदभिधीयते ।
ऋग्वेदे सा समुद्दिष्टा ध्रुवा स्वाद्या मनीषिभिः ॥ ५१ ॥
वसिष्ठो मुनिराख्यातश्छन्दस्त्रिष्टुबुदाहृतम् ।
वरुणो देवता प्रोक्तस्तद्वर्णैरङ्गकल्पना ॥ ५२ ॥
अष्टभिर्हृदयं प्रोक्तं सप्तभिः शिर ईरितम् ।
शिखा षड्वर्णराख्याता वस्वर्णैः कवचं मतम् ॥ ५४ ॥
सप्तभिर्नेत्रमाख्यातमस्त्रं षड्भिरुदाहृतम् ।
साग्रेषु सन्धिषु पदोर्गुदाब्धाधारनाभिषु ॥ ५५ ॥
कुक्षौ पृष्ठे हृदि कुचे गले बाह्वग्रसन्धिषु ।
वक्त्रे कपोलनासाक्षिकर्णभ्रूमध्यमस्तके ॥
शिरः सर्वाङ्गयोर्न्यस्येन्मन्त्रवर्णान्यथाविधि ॥ ५६ ॥
चन्द्रप्रभं पङ्कजसन्निषण्णं पाशाङ्कुशाभीतिवरं दधानम् ।
मुक्ताविभूषाञ्चितसर्वगात्रं ध्यायेत्प्रसन्नं वरुणं विभूत्यै ॥५७॥
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं पायसेन दशांशतः ।
सर्पिः सिक्तेन जुहुयान्मन्त्री मन्त्रस्य सिद्धये ॥ ५८ ॥
धर्मादिकल्पिते पीठे वरुणं सम्यगर्चयेत् ।
कृत्वाङ्गपूजनं शेषं वासुकिन्तक्षकं पुनः ॥ ५९ ॥
कर्कोटकं ततः पद्मं महापद्ममनन्तरम् ।
शङ्खपालाख्यकुलिकौ सम्यक् पत्रेषु पूजयेत् ॥ ६० ॥
इन्द्राद्यानायुधान्येषामर्चयेत्तदनन्तरम् ।
ऋणमुक्त्यै जपेन्मन्त्रं प्रत्यहं साष्टकं शतम् ॥ ६१ ॥
चतुर्दिनं दशशतमृणमुक्त्यै महाश्रिये ।

गायत्र्याद्यमिति । यथोक्तम् ॥ *त्रिष्टुबाद्यं*—त्रिष्टुबनुष्टुप् गायत्र्यः । *अनुष्टुबाद्य-र्मिति* अनुष्टुप् गायत्री त्रिष्टुप् । *ध्रुवास्वाद्येति* । मन्त्रो यथा—"ध्रुवा सुत्वा सुक्षितिषु क्षियन्तोद्यास्मत्पाशं वरुणो मुमोचत् । अवोचन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं यात स्वस्तिभिः सदान" इति ॥ ५० ॥ ५१ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ई ॥

वर्णन्यासमेवाह—*साग्रेष्विति* । पदोः साग्रेषु सन्धिषु दशवर्णाः ॥ ५५ ॥
गलान्तेषु नववर्णाः । *बाह्वग्रसन्धिषु* दश । शिष्टेषु त्रयोदश । *मस्तकं*—केशलला-टसन्धिः । शिरो-ब्रह्मरन्ध्रम् । आयुधध्यानम्—दक्षाधूर्ध्वयोराद्ये, तदधस्तनयोरन्त्ये ॥५६॥ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

धर्मादीति । पीठशक्तिपूजारहिते । *सम्यगि*त्यनेन पीठशक्तयस्तन्त्रान्तरोक्ताः पूजनीया इत्युक्तम् । यथा "सुधा कुमुदिनी पूर्णा वारुणी विश्वतोमुखी । तरङ्गिणी च सुरसा सुशीताप्यायनीतथे"ति । *कृत्वाङ्गपूजनमिति* । केसरेष्वित्यर्थः ॥ ५९ ॥

सम्यक् पत्रेषु पूजयेदिति । सम्यगित्यनेन शेषादीनां ध्यानं कर्त्तव्यमित्युक्तम् । तत्त्व-रितापटले मदुक्तमनुसन्धेयम् ॥ ६० ॥

ऋणमुक्त्य इति । अत्र पाशमित्यस्य पूर्वमृणशब्दमधिकमुच्चाय जपेदित्यर्थः ॥६१॥ ई॥

समिद्भिर्वेतसोत्थाभिः क्षीराक्ताभिर्दिनत्रयम् ॥ ६२ ॥
जुहुयाद्वृष्टिसंसिध्यै मन्त्रविद्विजितेन्द्रियः ।
अनेन विधिना मन्त्री सूर्ये शतभिषं गते ॥ ६३ ॥
चतुः शतं घृतयुतं पायसं जुहुयाद्वशी ।
ऋणनाशाय सम्पत्यै वश्यारोग्याभिवृद्धये ॥ ६५ ॥
भृगुवारे कृतोहोमः पायसेन ससर्पिषा ।
महतीं सम्पदं कुर्यान्नाशयेत्सकलापदः ॥ ६६ ॥
शालिभिर्घृतसंसिक्तैः सरिदन्तरितः सुधीः ।
त्र्यहं चतुःशतं हुत्वा स्तम्भयेत्परसैन्यकम् ॥ ६७ ॥
सायं प्रत्यङ्मुखोवह्निमाराध्य प्रजपेन्मनुम् ।
चतुः शतं, विमुच्येत मन्त्री सर्वैहपद्रवैः ॥ ६८ ॥
मन्त्री प्रत्यङ्मुखो भूत्वा तर्पयेद्विमलैर्जलैः ।
सर्वोपद्रवनाशाय समस्ताभ्युदयाप्तये ॥ ६९ ॥
बहुना किमिहोक्तेन मन्त्रेणानेन साधकः ।
साधयेत्सकलान्कामाञ्जपहोमादितत्परः ॥ ७० ॥
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य विधानमभिधीयते ।
येन प्राणीरिता मन्त्राः प्राणवन्तो भवन्तिते ॥ ७१ ॥
पाशाङ्कुशपुटा शक्तिर्वालीविन्दुविभूषितः ।
याद्याः सप्त सकारान्ताः व्योम सद्येन्दुसंयुतम् ॥ ७२ ॥
तदन्ते हंसमन्त्रः स्यादन्तेऽमुष्यपदं वदेत् ।
प्राणाइति वदेत्पश्चादिह प्राणास्ततः परम् ॥ ७३ ॥

सितेक्षु शकलैः । पवण्डा इति प्रसिद्धैः ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६९ ॥ ६६ ॥

सरिदन्तरित इति द्वीपस्थः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ [illegible] ॥

येनेति। मन्त्राणानां यद्यपि प्राणप्रतिष्ठा नास्ति तेषां स्वत एव समर्थत्वात्तथापि यन्त्रादौ लिखितानां प्रतिष्ठा क्रियत इति तद्द्वारा प्राणवन्त इत्युक्तिः । प्राणप्रतिष्ठया पूर्वोक्तसमस्त-मन्त्रावाहतयन्त्रप्रयोगपुत्तल्यादि सर्वं प्रतिष्ठितप्राणं क्रियत इति । अवश्यं ज्ञेयोऽयं सर्व-सारभूतोमन्त्र इति तत्स्तुतिः । तदुक्तम्—"यस्मादृतेऽमी कथिताः प्रयोगा व्यर्था भवेयुर्गत-जीवकल्पा" इति ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मन्त्रोद्धारमाह—*पाशेति* । प्रथमे पाशबीजं ततोऽङ्कुशबीजम् । बालो यः । बिन्दुभू-षितः यं । *याद्या इति* । उद्धृतयकारानुवादेन अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा वा सप्त, न तु तद्यमिति बीजं भिन्नं, पूर्वं पृथगुद्धारस्तु सप्तानामपि सबिन्दुताख्यापनाय । अग्रे न्यासा-वसरे ग्रन्थकृताऽस्य बीजस्य न्यासो नोक्तस्तेन नास्य पृथगुद्धारः । तदुक्तम्—"पाशाङ्कुशान्त-रितशक्तिमनोः परस्तादुच्चार्य यादिवसुवर्णगुणं सहंसमि"ति । अन्यत्रापि "अङ्कुशवाग्भवला-वनिवरुणबीजानी"ति । योम हः । सद्य ओ । इन्दुर्बिन्दुस्तेन हों । प्रपञ्चसारपक्षेऽपि गुण-तेन होमित्येव पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातम् ॥ ७२ ॥

अमुष्य जीव इहस्थितस्ततोऽमुष्यपदं वदेत् ।
सर्वेन्द्रियाण्यमुष्यान्ते वाङ्मनश्चक्षुरन्ततः ॥ ७४ ॥
श्रोत्रघ्राणपदेप्राणा इहागत्य सुखं चिरम् ।
तिष्ठन्त्वग्निवधूरन्ते प्राणमन्त्रोऽयमीरितः ॥ ७५ ॥
प्रत्यमुष्यपदं पूर्वं पाशादीनि प्रयोजयेत् ।
प्रयोगेषु समाख्यातः प्राणमन्त्रोमनीषिभिः ॥ ७६ ॥
ब्रह्मविष्णुशिवाः प्रोक्ता मुनयस्तन्त्रवेदिभिः ।
उक्तमृग्यजुषां साम्नां छन्दश्छन्दोविशारदैः ॥ ७७ ॥
चैतन्यरूपा प्राणात्मा देवता शक्तिरीरिता ।
कवर्गेण वियत्पूर्वैर्भूतैर्हृदयमीरितम् ॥ ७८ ॥
शिरश्चवर्गशब्दाद्यैरीरितं तदनन्तरम् ।
ज्ञानेन्द्रियैष्टवर्गाद्यैस्तच्छिखा परिकीर्तिता ॥ ७९ ॥
कर्मेन्द्रियैस्तवर्गाद्यैः कवचं परिकीर्तितम् ।
वचनाद्यैः पवर्गाद्यैर्विलोचनमुदीरितम् ॥ ८० ॥
बुध्याद्यैर्याद्संयुक्तैरस्त्रमस्य समीरितम् ।
आत्मनेऽन्ता समाख्याता अङ्गमन्त्राः सजातिभिः ॥ ८१ ॥
नाभेश्चरणपर्यन्तं पाशबीजं प्रविन्यसेत् ।
हृदयान्नाभिपर्यन्तं शक्तिबीजं ततः परम् ॥ ८२ ॥

समन्ते हंसमन्त्र इत्यपपाठः । तदन्ते संहमन्त्र इत्येव पाठः ॥ ७३ ॥

इहचेति । चकारो न मन्त्रमध्ये । क्वचिदिहत इति पाठः । तदा इह शब्दादित्यर्थः । स्थितोमुष्येति । छन्दोनुरोधात् सन्धिः । मन्त्रे तु न सन्धिः । सर्वेन्द्रियाणि अमुष्येत्यत्रापि तथैव । षडधिकषष्ट्यक्षरो मन्त्रः । अमुष्यपदार्थश्चतुर्थ उक्तः । अत्र मन्त्रे इहागत्येत्यत्र इहै-वागत्येति एव शब्दोज्ञेयः । तथा चाचार्याः—"सैवेहागमयोन्त्ययुक् सुखं चिरं तिष्ठन्तु ठद्वन्द्व-युगि"ति । पद्मपादाचार्यैरप्येवमेव पठितम् । आं बीजं क्रों शक्तिः ॥ ७५ ॥

प्रयोगकाले विशेषमाह—*प्रतीति* । *पद्मपादाचार्यास्तु* । एवं सति प्रयोग मन्त्रो भवतीति यादीनां त्रिरावृत्तिरभिहिता । प्राण जीव सर्वेन्द्रियाकर्षणार्थं केचिद्यादीनां चतुरावृत्ति वर्णयन्ति । प्राणजीवेन्द्रियसामान्यतद्विशेषाणामाकर्षणार्थं केचित्पञ्चावृत्तीः प्राणसामान्य-न्द्रियजीवसामान्येन्द्रियसामान्येन्द्रियविशेषणप्राणविशेषाणामाकर्षणार्थं, केचिन्नवावृत्तिम-न्त्रोक्तानां सर्वेषां प्रत्येकमाकर्षणार्थमित्याहुः ॥ *मनीषिभिरिति* । अनेन हंसमन्त्रादौ ॐ क्षं सं हं सः ह्रीं ओं स्वाहान्ते च ॐ क्षं सं इं ह्रीं इत्युच्चारणीयमिति सूचितम् । *पद्मपादाचार्यैः* "मन्त्रोऽयमित्यनुदितोग्रहसंख्ययैवे"त्यस्य व्याख्याने—ग्रहाः सप्त तत्संख्याक्षरैर्युक्तमिति व्याख्यातम् । तेनात्मनि यन्त्रेषु पुत्तल्यादावपि प्राणप्रतिष्ठासमये प्रत्यमुष्यपदं पाशादीनि प्रयोज्याऽमुष्यपदस्थाने षष्ठ्यन्तसाध्यनाम प्रयुज्य मन्त्रमुच्चरेदिति ज्ञेयम् ॥ ७६ ॥ ७७½ ॥

षडङ्गमाह—*कवर्गेणेति* । अत्र वियत्पूर्वभूतैरित्युक्तेः प्रथमपटलोक्तसृष्टिक्रमो विवक्षितः । तेनाक्षराणां तथाव्यत्यास इति ज्ञेयम् । तदुक्तं—"प्रत्येकं कादिवर्गैः प्रतिगतलिपिभिः बिन्दुयुक्तैरि"ति । अग्रे "आत्मनेऽन्ताः सजातय" इत्युक्तत्वात् । प्रयोगो यथा । ङं कं खं घं गं

मूर्द्धादि हृदयं यावदङ्कुशं विन्यसेत्ततः ।
हृदये धातुषु न्यस्येद्यादीन्सप्त यथाक्रमम् ॥ ८३ ॥
प्राणे जीवे ततोन्यस्येद्धंसवर्णद्वयं पृथक् ।
कुर्याद्व्यापकमेतेन समस्तेन विधानवित् ।
ततो विचिन्तयेद्देवीं जीवभूतां जगन्मयीम् ॥ ८४ ॥
रक्ताब्धिपोतारुणमध्यसंस्थां पाशाङ्कुशाविक्षुशरासबाणान् ।
शूलं कपालं दधतीं कराग्रैरक्तां त्रिनेत्रां प्रणमामि देवीम् ॥ ८५ ॥
एवं ध्यात्वा जगद्धात्रीं लक्षमेणं जपेन्मनुम् ।
जुहुयात्तद्दशांशेन चरुभिर्घृतसंयुतैः ॥ ८६ ॥
षट्कोणाढ्ये शक्तिपीठे विधिनानेन पूजयेत् ।
अर्चयेत्षट्सु कोणेषु ब्रह्माणं विष्णुमीश्वरम् ॥ ८७ ॥
वाणीं लक्ष्मीमिमां पश्चात्षडङ्गानि प्रपूजयेत् ।
दलेषु मातरः पूज्यास्तद्बाह्यं लोकपालकान् ॥ ८८ ॥
एवं संपूजयेद्देवीं सुगन्धिकुसुमादिभिः ।
इति संसाधितो मन्त्रः षट्कर्मफलदो भवेत् ॥ ८९ ॥
स्थापयेन्मनुनानेन प्राणान्सर्वत्र देशिकः ।
बीजान्तेऽमुष्यशब्दान्नामादौ दूतीः प्रयोजयेत् ॥ ९० ॥

आकाशवायुवह्निसलिलभूम्यात्मने हृत् । ङं चं छं झं जं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने शिरः । ञं टं ठं ढं डं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणात्मनेशिखा । नं तं थं धं दं वाक् पाणिपादपायूपस्थात्मने वर्म । मं पं फं भं बं वचनादानाहरणविसर्गानन्दात्मने नेत्रम् । शं यं रं वं लं हं षं क्षं सं लं बुद्धिमनोऽहङ्कारचित्तज्ञानात्मने अस्त्रम् । पद्मपादाचार्यैर्वर्णानां स्वरपुटितत्वं विपरीतमप्युक्तम् । *यथाक्रममिति* । ह्रोमित्यस्य ओजसि न्यास इत्युक्तम् ॥ ७८—८३ ॥

प्राण इति । हृदय इत्यनुषज्यते । तेन प्राणजीवयोरपि हृदय एव न्यासः । *पृथगिति* प्रत्येकम् । *एतेन समस्तेनेति* । मूलेनेत्यर्थः । *विधानविदि*त्यनेन मूर्द्धादिपादान्तमित्युक्तम् । तदुक्तं—"न्यसेन्मूलं व्यापकं मस्तकादी"ति । ॥ ८४ ॥

रक्ताब्धीति रक्तेति पोतविशेषणम् । आयुधध्याने तु वामाधःक्रमयोराद्ये । तदधस्तनयोर्मध्ये । तदधस्तनयोः कपाल शूले इति ॥ ८५ ॥

तद्दशांशेनेति । अस्यायमर्थः । ॐ आं स्वाहा ॐ ह्रीं स्वाहा ॐ क्रों स्वाहा ॐ यं सुताय स्वाहा । एवं राद्यक्षरयुताभिर्नैवस्वनाद्याभिः सकृत्सकृद्धुत्वा ॐ क्षं सं हं सः ह्रीं ॐ इत्यक्षरैरपि तथा हुत्वा मूलेनोक्तसंख्यं जुहुयादिति । अयमर्थः पद्मपादाचार्याणां सम्मतः ॥८६॥

शक्तिपीठ इति । अनेन नवमोक्ताः पीठशक्तयोऽत्र पूज्या इत्युक्तम् । *पूजयेदिति* । जगद्धात्रीमिति—पश्चात्तनेन सम्बध्यते । *अनेन* वक्ष्यमाणेन ॥ तमेव विधिमाह—*अर्चयेदिति* । तत्र प्रकारः प्राङ्निरृतिवायुकोणस्थाः ब्रह्म विष्ण्वीशाः । आग्नेय वारुणेशेषु वाण्याद्या इति परमगुरवः । प्रागुक्तं ब्राह्म्यादीनां शक्तीनां च बीजमनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

प्रपूजयेदिति केसरेषु ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

सर्वत्रेति आत्मयन्त्रपुत्तल्यादौ । दूतीयन्त्रानुद्धरति *बीजेति* । बीजान्ते पाशादिहंसमन्त्रान्ते । केचन बीजान्त इति बीजत्रयान्त इत्याहुः । तदसम्बद्धमाचार्यवचनविरो-

मृता वैवस्वता भूयोजीवहा प्राणहाततः ।
आकृष्याग्रथिनी पश्चात्प्रमदा विस्फुलिङ्गिनी ॥ ९१ ॥
दीप्तप्रतिहरीत्येताः प्राणदूत्यो नव स्मृताः ।
पाशेन बद्धचेष्टस्य शक्त्या स्वीकृतचेतसः ॥ ९२ ॥
अङ्कुशेनाहृतस्याभिः साध्यस्यासुन्समाहरेत् ।
द्वादशाङ्गुलमानेन कृत्वा साध्यस्य पुत्तलीम् ॥ ९३ ॥
तस्यां प्राणात्मकं यन्त्रं सकीटं हृदये न्यसेत् ।
निशीथसमये साध्ये सुप्ते तस्य हृदम्बुजे ॥ ९४ ॥
दलेषु वायुवह्नीन्द्रवरुणानामतः परम् ।
ईशराक्षसशीतांशुयमानां कर्णिकान्तरे ॥ ९५ ॥
यादीन्हंससमायुक्तान्भृङ्गाकाराननुस्मरन् ।
शिरोबिन्दुसमुद्भूततन्तुसंबद्धविग्रहान् ॥ ९६ ॥
एवमात्महृदम्भोजे भृङ्गीरूपान् धिया स्मरेत् ।
आत्महृत्पद्मगां भृङ्गीं प्रस्थाप्य श्वासवर्त्मना ॥ ९७ ॥
एकैकं साध्यहृत्पद्माद्भृङ्गमेकैकमानयेत् ।

धात् । अमुष्य शब्दानामादाविति चासम्बद्धं स्यात् *अमुष्य शब्दनामादाविति* । साध्यनाम्न आदौ । तदुक्तं—"अथयादीन् दूतीश्चोक्त्वा साध्यनामाथ मन्त्री"ति । आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं ह्रों ॐ क्षं हं सः ह्रीं ॐ अमृते अमुष्य मृतात्मकान् प्राणानिहार प्राणा इह प्राणा इति वा, इहैवेत्याद्योमन्तमुक्त्वा पुनरामादि ओमन्तमुक्त्वा यंमृते अमुष्य मृतात्मकं जीवमिहाहर जीव इह स्थित इति वा, इहैवेत्याद्योमन्तमुक्त्वा पुनरामादि ओमन्तमुक्त्वा यंमृते अमुष्य मृतात्मकानि सर्वेन्द्रियाणि इहवा, पुनरिहेत्यादि ओमन्तमुक्त्वा पुनरामादि ओमन्तमुक्त्वा यं मृते अमुष्य मृतात्मकान् वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रघ्राणप्राणा इह वा इहैवेत्यादि ओमन्तं वदेत्। एवं वैवस्वतादि मन्त्रा ऊहनीयाः ॥ ९० ॥ ९१½ ॥

युगपद्वा प्राणप्रतिष्ठाप्रकारमाह—*पाशेनेत्यादिना सर्वेषु कर्मस्विव* त्यन्तेन ॥९२॥ *आभि*र्दूतीभिः ॥ ९३ ॥

प्राणात्मकं यन्त्रं वक्ष्यमाणम् । सकीटं तत्र प्राणप्रतिष्ठारम्भात्प्रागेव साध्यप्रविकृते· हृदये यन्त्रं सजीवं कीटं च निःक्षिप्यातोद्धप्रयोगमारभेतेत्यर्थः ॥ ९३½ ॥

प्राणप्रतिष्ठायां कर्त्तव्यमाह—*निशाथेति* । पद्मपादाचार्यास्तु*—"कालदण्डेन सन्ताद्य बोधनमाहुः । अन्यथा प्राणप्रतिष्ठाऽयोगादिति । "वद्ध्वा तं च निपीडमेवसहसा कालस्य यष्ट्याशिरस्य ताड्य क्षुभिता खिलेन्द्रियगणं साध्यं स्मरेत् साधक" इत्युक्तेः । *तस्येति* स्वहृदये साध्यहृदये पुत्तलीहृदये च ॥ ९४ ॥

मृतादिदूतीनां स्थानमाह—*दलेष्विति* ॥ ९५ ॥

भृङ्गाकाराननुस्मरेदिति । याद्यक्षररूपमृतादीम् साध्यहृत्पद्मपत्रेषु कर्णिकायां भृङ्गरूपान्, स्वहृदयपद्मे भृङ्गीरूपान् ध्यायेदित्यर्थः । *शिर इति* । यकारादि बीजानां शिरसि ये बिन्दवः तत्समुद्भूता ये तन्तवः तैः सम्बद्धविग्रहानिति । *तदुक्तमाचार्यैः—"स्वीयबिन्दुप्रबद्धानि"ति ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ½ ॥

पुत्तल्यां स्थापयेन्मन्त्री स्वचित्ते वा विधानवित् ॥ ९८ ॥
शत्रुच्छेदं प्रकुर्वीत वाह्निबीजेन संयतः ।
आकृष्टान्साध्यहृद्भृङ्गान्भुवा संस्तम्भयेत्ततः ॥ ९९ ॥
एवमेकादशावृत्तीः कुर्यात्सर्वेषु कर्मसु ।
वश्याकर्षणयोर्यादीनरुणान्संस्मरेत्सुधीः ॥ १०० ॥
मोहविद्वेषयोर्धूम्रान्कृष्णान्मारणकर्मणि ।
पीतान्संस्तम्भने ध्यायेत्प्राणाकर्षणकर्मणि ॥ १०१ ॥
आकृष्टान्साध्यहृत्प्राणान्स्थापयेदात्मनो हृदि ।
क्रूरकर्मसु पुत्तल्यां तेषां स्थापनमीरितम् ॥ १०२ ॥
प्राणान्साध्यस्य मण्डूकानात्मनस्तु भुजङ्गमान् ।
संस्मरेत्तत्र निपुणः सदा क्रूरेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥
वाय्वग्निशक्रवरुणेश्वरराक्षसेन्दु-
प्रेतेशपत्रलिखितैरथ यादिवर्णैः ।
बिन्द्वन्तिकैः ह्रगतहंसलसत्साध्यं
प्राणात्मयन्त्रमथवर्णावृतं धरास्थम् ॥ १०४ ॥

पुत्तल्यामिति । क्रूरकर्मणि । *स्वचित्ते इति* । वश्यादौ । *विधानविदिति *अनेन* स्ववहन्नाड्या प्रवेशनिर्गमनकुशल इत्युक्तम् । *वह्निबीजेन* । रमित्यनेन । *संयतः* अस्मिन्नस्मिन् दले मृतादिस्थानमिति सावधान इत्यर्थः । *भुवा* ग्लौमिति बीजेन । तत्र प्रकारः साध्यस्य शक्तिपाशशक्तितेजाङ्कुशमहाभ्रमरकालदण्डरूपेण पञ्चधा निःसार्य पाशबीजमुच्चरन् साध्यं पाशेन गले बध्वा शक्तिबीजतेजसा तं स्ववशे कृत्वाङ्कुशेनाकृष्याग्रतः संस्थाप्य यावष्टकमुच्चरन् साध्यस्य त्वगादीन् व्याप्यापक्रम्य महाभृङ्गेण साध्यं कवलीकृत्य कालदण्डताडनेन सुप्तं तं सम्बोध्य क्षमिति सपरिवारमुन्मूलीकृत्य समिति स्वप्राणशक्तिरूपमहाभ्रमरेण मेलयित्वा हंस इति स्वैक्यं सम्भाव्य ह्रीमोमिति वश्यादौ जीवनाय प्लावनं कृत्वा यंमृते इत्यादिना स्वमृतां सम्बोध्य अमुष्यमृतात्मकाः इह प्राणा इत्यादिना स्वमृताप्राणानितरप्राणैः संयोज्य रमिति साध्यमृतातन्तुच्छेदं विधाय सक्रोटहृदयायां पुत्तल्यामात्मनि वा साध्यमृताप्राणान् संस्थाप्य ग्लौमिति संस्तस्य तस्य मृताजीवादिकमप्येवमानयेत् । युगपदेव दा मृताप्राणादीन् स्थापयेत् । ततः स्वहृदि चेत् । आं ह्रीमित्यादि मयि प्राणा इह प्राणा मयि ... त्र इह स्थित इत्यादि रूपं, पुत्तल्यां चेत् पुत्तल्यां प्राणा इह प्राणा पुत्तल्यां जीव इह ... ... त इति जपेत् ॥ ... त्यमृता प्रतिष्ठाक्रमः । एवं वैवस्वतादि प्राणा अपि स्थापनीयाः । ततो यादीन् होमान्तानुक्त साध्यस्य धातून् जीवञ्च सपरिकरं पुनः स्वमण्डले संकोचितं कवलीकृत्य यादीन् दूतीश्च स्वस्य सम्बुध्यन्तान् साध्यस्य चामुष्य प्राणानिहाहर अमुष्य प्राणा इह प्राणा ... ति ... क्त्वा पुनरपि अमुष्य धातूनिहाहरेत्यादि वदेत् । एवं जीवेऽपि अयमेव प्रकारः पुत्तल्यामपि । तदुक्तं—"आकृष्टानां साध्यदेशादसू ... पुत्तल्यादावदयं स्यात्प्रकार" इति ९८ ॥ ९९

एवमिति । पूर्वोक्तं कर्म एकादशावृत्ति कुर्यात् । अयं च पूर्वविधिः इत ऊर्ध्वं यदृच्छया कुर्यात् । तदुक्तं "प्राणप्रतिष्ठाकर्मेदं विधायैकादशावरमि"ति । ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

यन्त्रमाह—*वाय्विति* । *यादिवर्णैरिति* ... मन्तैः । *धरास्थमिति* । बाह्ये भूपुरावृतमित्यर्थः । पद्मपादाचार्यास्त्वन्यथा यन्त्रमाहुस्तद्यथा—"अष्टदलमध्यगतशक्तौ सा-

इत्थं प्रयोगकुशलो मनुनानेन मन्त्रवित् ।
वशयेत्सकलान्देवान्किंपुनः पार्थिवाञ्जनान् ॥ १०५ ॥
आवाहन्यादिका मुद्राः प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवताः ॥ १०६ ॥
सम्यक्संपूरितः पुष्पैः कराभ्यां कल्पितोऽञ्जलिः ।
आवाहनी समाख्याता मुद्रा देशिकसत्तमैः ॥ १०७ ॥
अधोमुखी कृता सैव प्रोक्ता स्थापनकर्मणि ।
आश्लिष्टमुष्टियुगला प्रोन्नताङ्गुष्ठयुग्मका ॥ १०८ ॥
सन्निधाने समुद्दिष्टा मुद्रेयं तन्त्रवेदिभिः ।
अङ्गुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीहिता ॥ १०९ ॥
उत्तानौ द्वौ कृतौ मुष्टी संमुखीकरणी स्मृता ।
देवताङ्गे षडङ्गानां न्यासः स्यात्सकलीकृतिः ॥ ११० ॥
सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुखतर्जनी ।
अवगुण्ठनमुद्रेयमभितोभ्रामिता सती ॥ १११ ॥
अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टकनिष्ठाऽनामिका पुनः ।
तथा च तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा समीरिता ॥ ११२ ॥

ध्यादिकमालिख्य पाशाङ्कुशाभ्यां तां संवेष्टय याद्यष्टकमष्टदलेषु लिखित्वा अवशिष्टेन बहिः संवेष्ट्य भूपुरद्वये पाशाङ्कुशौ लिखेदिति यन्त्रविधिरि"ति ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

मुद्रा आह—*आवाहनीति* । "रादाने" मुदं राति ददातीति मुद्रेति निर्वचनम् । इदमेव "मोदन्ते सर्वदेवता" इत्यनेन सूचितम् । अतएव तद्दर्शनेन देवता हर्षोत्पत्तिः । स्वाङ्गुल्योहि पञ्चभूतात्मिकाङ्गुष्ठाद्याः आकाशवाय्वग्निशलिलभूरूपास्तासां मिथः संयोगरूपसंकेतात्कोपि देवता प्रगुणीभावपूर्वको मोदः साम्निध्यकरो भवति । तदुक्तं—"पृथिव्यादीनि भूतानि कनिष्ठाद्याः क्रमान्मताः । तेषामन्योऽन्य सम्भेदप्रकारैस्तत्प्रपञ्चता ॥ अर्चने जपकाले तु ध्याने काम्ये च कर्मणि । तत्तन्मुद्राः प्रयोक्तव्या देवता संनिधापिका ॥" इति । *अन्यत्रापि* "मुदं रातीति मुद्रा स्याद्येनैका मुष्टिरेव तु । स्वल्पभेदात्कापहर्षं प्राणिनां जनयत्यतः ॥ तेनैव सर्वदेवानां मुद्रा हर्षप्रदा मता । पूजाकाले दर्शनीया मुद्रास्ताः सर्वदा शिवे !" इति । तथा "खादिमार्गक्रमाद्भूतान्यङ्गुष्ठाद्यङ्गुलिक्रमात् । कापि मुत्तनूमिथोयोगात्साम्निध्यप्रह्वता करी" ति । आहूतोभवेदिति प्रार्थनपूर्वकमावाहनी कार्या । *तन्त्रान्तरे तु* विशेषः—"हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वाऽनामिकामूलपर्वणोः । अङ्गुष्ठौ निःक्षिपेत् सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृते"ति । एष एव सांप्रदायिकः पक्षः ॥ १०६ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥

अभितो भ्रामितेति । वामावर्त्तक्रमेण ॥ सांप्रदायिका हस्तद्वयेनेमां मुद्रामाहुः । तदुक्तं—"वर्मणासमवगुण्ठ्य दोर्युजे"ति ॥ १११ ॥

धेनुमुद्रामाह—*अन्योऽन्येति* । कनिष्ठाऽनामिका अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टा तर्जनीमध्या तथैवान्योऽन्याभिमुखाश्लिष्टेत्यर्थः । हस्तद्वयाङ्गुल्यः अन्योन्यान्तरालप्रदेशेन पूर्वमध्यतः कृतदक्षकनिष्ठाव्यतिषक्ताः कार्याः । तत्र दक्षकनिष्ठा दक्षानामापृष्ठमुल्लङ्घ्य तद्वामभागमागता वामानामिकया योज्या । वामा कनिष्ठिका तु यथास्थितैव दक्षाऽनामया । एवं वामतर्जनी वाममध्यमाङ्गुष्ठमुल्लङ्घ्य तद्दक्षभागागतदक्षमध्यमया योज्या । दक्षतर्जनी यथास्थितैव वा-

अमृतीकरणं कुर्यात्तया देशिकसत्तमः ।
अन्योन्यग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारितकराङ्गुली ॥ ११३ ॥
महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधैः ।
प्रयोजयेदिमा मुद्रा देवतायागकर्मणि ॥ ११४ ॥
आदिक्षान्तार्णयोगित्वादक्षमालेति कीर्तिता ।
तद्वर्णसंख्यैर्मणिभिर्जपमालां प्रकल्पयेत ॥ ११५ ॥

समध्यमया योज्या ॥ तदुक्तं—"वामाङ्गुलीर्दक्षिणानामङ्गुलीनां च सन्धिषु । प्रवेश्य मध्यमाभ्यां तु तर्जन्यौ द्वौ प्रयोजयेत् ॥ कनिष्ठे द्वेऽनामिकाभ्यां युञ्ज्यात् सा धेनुमुद्रिके"ति । मोक्षार्थिना तु मनसैव दर्शयितव्याः । तदाह–"मानसरूपसङ्कल्पां मुद्रां मोक्षार्थिनां विदुः । इतरेषां तु सर्वेषां हस्ताभ्यां शस्यते बुधैरि"ति ॥ ११२ ॥ ई ॥

महामुद्रामाह–*अन्योन्येति* । पाण्योरङ्गुष्ठौ परस्परग्रथनेन ग्रन्थिरूपौ शेषाः सरलाः । एता मुद्रास्तत्तन्मन्त्रे च मदुक्तविशेषमुद्राश्च । अथ चैताः सर्वा रहस्येव कुर्यात् न कस्य चिद्दर्शयेत् । तदुक्तं *महासंहितायाम्* "न जातु दर्शयेन्मुद्रा महाजनसमागमे । गुह्यमेतन्मुनिश्रेष्ठ ! तस्माद्रहसि योजयेत् ॥ नादीक्षितस्य मुद्राणां लक्षणानि प्रकाशयेत् । क्षुभ्यन्ति देवतास्तस्य मन्त्रं च विफलं भवेदि"ति । *अन्यत्रापि* "अक्षमालां च मुद्रां च गुरोरपि न दर्शयेदि"ति ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

अक्षमालामाह—*आदीति* । अकारादि क्षकारान्तानां वर्णानां माला अक्षमालेत्यर्थः । अत्रैकोऽधिकः (१)क्षः स एव मेरुः । एतेन पञ्चाशद्गुलिकाभिरक्षमाला कार्येत्यपि सूचितम् । तदुक्तं—"ब्रह्मनाडीगतानादिक्षान्तवर्णान्विभाव्य च । अर्णं बिन्दुयुतं कृत्वा श्रेष्ठं मन्त्रं जपेत्पुनः ॥ अकारादिषु संयोज्य तथा कादिषु च क्रमात् । क्षार्णं मेरुमथो तत्र कल्पयेज्जगदीश्वरि ॥ तदा लिपिर्भवेदक्षमालाऽद्धशतसंख्यया । अनया सर्वमन्त्राणां जपः सर्वार्थसाधकः" इति । (२)अत्राक्षमाला पदप्रयोगो गौण इति ज्ञेयम् । अनेनैतादृश्यक्षमाला पुरश्चरणविषयेत्यप्युक्तम् ॥ किंचानेनाष्टोत्तरशतसंख्याकमणिभिर्नित्यजपेऽपि माला कार्या इत्यप्युक्तं भवति । आकारादिलकारान्तं संजप्य विलोमे । ळकारादि अकारान्तं च संजप्य (३)अष्टवर्गं रष्टवारं जप्त्वा क्षकारं मेरुं कुर्यादिति । यदाहुः—"अकारादि ळकारान्तं पञ्चाशन्मणिसूत्रकम् । क्षकारं मेरुसंस्थाने ळकारादिविलोमतः ॥ वर्गाष्टक(४)विभेदेन शतमष्टोत्तरं भवेत् । एकैकान्तरितं मन्त्रं जपादेवं फलप्रदमि"ति । *तन्त्रान्तरे तु विशेषः*—"पञ्च(५)विंशतिभिर्मोक्षस्त्रिशद्भिर्धनसिद्धयः । सर्वार्थाः सप्तविंशत्या पञ्चदश्याऽभिचारिकम् ॥ पञ्चाशद्भिः काम्यकर्मसिद्धिः स्याच्चतुरुत्तरैः । अष्टोत्तरशतैः सर्वसिद्धिरक्षैः कृतस्रजे"ति । तेन सप्तविंशत्या चतुः पञ्चाशता अष्टोत्तरशतेन च सर्वेषां सर्वकार्यसिद्ध्यर्थं नित्यजपार्थं च मालां कुर्यादित्युक्तम् ।

---

(१) तदेतत् "अकारादिलकारान्तामि"ति वक्ष्यमाणवचनेन लान्तताऽकारादीनामभिहिता ॥ (२) मणिमयमालायाम् ॥

(३ ४) अ-क-च-ट-त-प-य-शैस्तन्त्रान्तरोक्तैः । एतदनुध्यानं गुलिकाभिर्जपे ग्रन्थारम्भाच्चतुर्थमणौ चिह्नप्रदानेन तेषु चतुर्ष्वनुलोमविलोमेन कुर्वन्ति । अन्येतु प्रथममणावेकन्ततः सप्तमे २ एकैकं वर्गमनुध्यायाष्टोत्तरशतजपं साधयन्ति ।

(५) अत्रैकोमेरुः पृथक्स्थाप्यस्ततश्चतुरावृत्त्या शतसंख्यापूर्तिः सम्भवति । एवमग्रेऽपि यथायथमूह्यम् ॥ अत्र "विंशत्याद्याः सदैकत्रेसर्वाः संख्येयसंख्ययरि"ति नियमोऽपि बहुवचननिर्देशआवृत्त्यभिप्रायकः ।

रुद्राक्षमालिका सूते जपेन स्वमनोरथान् ।
पद्माक्षैर्विहिता माला शत्रूणां नाशिनी मता ॥ ११६ ॥
कुशग्रन्थिमयी माला सर्वपापविनाशिनी ।
पुत्रजीवफलैः क्लृप्ता कुरुते पुत्रसंपदम् ॥ ११७ ॥
निर्मिता रौप्यमणिभिर्जपमालेप्सितप्रदा ।
हिरण्मयी विरचिता माला कामान्प्रयच्छति ॥ ११८ ॥

यदाहुः—"अष्टोत्तरशतैर्माला पञ्चाशच्चतुरन्वितैः । सप्तविंशतिभिश्चाक्षैः सर्वसाधारणो जपः" इति ॥ ११९ ॥

मणिविशेषे फलविशेषमाह—*रुद्राक्षेति* । सर्वैरेतैरित्येकस्य पञ्चपञ्चमणयः ॥ *पिङ्गलामते तु विशेषः*—"स्फटिकप्रवालमुक्ताचामी करपुत्रजीवकृतमणिभिः । अष्टोत्तरशतसंख्यैः कुर्याज्जपमालिकां मन्त्री ॥ मोक्षाभिचारशान्तिकवश्याकर्षेषु योजयेत् क्रमशः । अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलिकामणयोऽङ्गुष्ठेन चाल्यन्त"इति । *अक्षमालाकरणप्रकारस्तु तन्त्रान्तरोक्तो यथा—(९)समासेनाक्षसूत्रस्य विधानमभिधीयते । यथालाभं यथा बुद्धि अक्षाण्या(१) नीययत्नतः ॥ अन्योऽन्यसमरूपाणि नातिस्थूलकृशानि च ॥ जन्तुभिर्नैर्विशीर्णानि न जीर्णानि नवानि च । गव्यैस्तु पञ्चभिस्तानि सम्प्रक्षाल्य पृथक्पृथक् ॥ ततो द्विजेन्द्रपुण्यस्त्रीनिर्मितं ग्रन्थिवर्जितम् । त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य सूत्रं प्रक्षाल्य पूर्ववत् ॥ अश्वत्थपत्रनवकैः पद्माकारेण कल्पयेत् । सूत्रं मणींश्च गन्धाद्भिः क्षालितांस्तत्र निःक्षिपेत् । तारं शक्तिं मातृकां च सूत्रे चैव मणिष्वथ । विन्यस्य पूजयेदाज्यैर्जुहुयाच्चैव शक्तितः ॥ मणिमेकैकमादाय सूत्रे तत्र तु योजयेत् । एवं कृताक्षमालायां जपेन्मातृकया ततः ॥ गुरुं सम्पूज्य तद्धस्ताद्गृहीयात्सर्वसिद्धये" इति । *अन्यत्रापि*—"समानवर्णवनितानिर्मितं सूत्रमानयेत् । सूत्रं मणींश्च त्रिदिनं पञ्चगव्ये विनिःक्षिपेत् ॥ सम्यक् चतुर्थदिवसे अस्त्रेण क्षालयेत्ततः । हृदन्तां ग्रन्थयेन्मन्त्री गोपुच्छाकारसन्निभाम् ॥ मणिमध्ये नागपाशं ब्रह्मग्रन्थिमथार्पयेत् । हुं मन्त्रेण ततोमेरुं प्रणवेन च बन्धयेत् ॥ पूर्वोक्तं मण्डलं कृत्वा संपूज्यात्रेष्टदेवताम् । मन्त्रं त्वष्टसहस्रं तु रञ्जयेन्नियतः सुधीः ॥ तद्दशांशं हुनेद्द्रव्यैः तन्मन्त्रोक्तैर्यथापुरे"ति । *शैवागमेतु*—"गोपुच्छसदृशी कार्या एकाक्षा वा समेरुका । प्रोतव्या सितवर्णाद्यैस्तत्तत्कर्मप्रसिद्धये ॥ जपमालां विधायैवं ततः संस्कारमारभेत् । क्षालयेत्पञ्चगव्यैस्तां सद्योजातेन सजलैः ॥ चन्दनागुरुगन्धाद्यैर्वामदेवेन घर्षयेत् । धूपयेत्ताघोरेण लिपेत्तत्पुरुषेण तु ॥ मन्त्रयेत्पञ्चमेनैव प्रत्येकं तु शतं शतम् । मेरुं च पञ्चमेनैव तथा मन्त्रेण मन्त्रयेत्" इति ॥ अक्षमालायां जपप्रकारोऽपि *तत्रैवोक्तः*—"मध्यमायां न्यसेन्मालां ज्येष्ठेनावर्त्तयेत्क्रमात् । भुक्तिमुक्तिप्रदः सोयं मातृकागणनक्रमः ॥ अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु कुर्यादुत्तमकर्मणि । अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां तु जपेदाकृष्टिकर्मणि ॥ तर्जन्यङ्गुष्ठयोगाद्धि विद्वेषोच्चाटने जपः । कनिष्ठाङ्गुष्ठकाभ्यां तु जपेन्मारणकर्मणि ॥ जपान्यकाले तां मालां पूजयित्वा च गोपयेत् । जीर्णे सूत्रे पुनः सूत्रं ग्रन्थयित्वा शतं जपेत् ॥ जपेन्निषिद्धसंस्पर्शे क्षालयित्वा यथोचितम् । कासे क्षुते च जृम्भायामेकमावर्त्तकं त्यजेत् । प्रमादात्तर्जनीस्पर्शी भवेद्दावर्त्तकं त्यजेत् । यदा संत्रुट्यते माला ग्रन्थयित्वाथ पूर्ववत् । प्रतिष्ठितायां तस्यां तु मन्त्रं जप्यादनन्यधीः ॥ एवं प्रतिष्ठितायां तु अन्ययैव जपेन्मनुम्"ति । *अन्यत्रापि*—'येन प्रतिष्ठिता माला तत्रैवतु मनुं जपेत् । अन्यमन्त्रजवाविद्धा न कार्या कर्हिचिद्बुधैः ॥ तर्जन्या न स्पृशेत्सूत्रं कम्पयेन्नो विधूनयेत् । नस्पृशेद्वामहस्तेन करभ्रष्टां न कारयेत् ॥ अक्षाणां चालनेऽङ्गु-

---

(१) अक्षाणि मणीन् गुलिका इतियावत् ॥

प्रवालैर्विहिता माला प्रयच्छेत्पुष्कलं धनम् ।
सौभाग्यं स्फाटिकी माला मौक्तिकैर्विहिता श्रियम् ॥ ११९ ॥
निर्मिता शङ्खमणिभिः कुरुते कीर्तिमव्ययाम् ।
सर्वैरेतैर्विरचिता माला स्यान्मुक्तये नृणाम् ॥ १२० ॥
अथाभिधास्ये तन्त्रेऽस्मिन्सम्यक् षट्कर्मलक्षणम् ।
सर्वतन्त्रानुसारेण प्रयोगफलसिद्धिदम् ॥ १२१ ॥
शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः ।
मारणान्तानि शंसन्ति षट् कर्माणि मनीषिणः ॥ १२२ ॥
रोगकृत्याग्रहादीनां निरासः शान्तिरीरिता ।
वश्यं जनानां सर्वेषां विधेयत्वमुदीरितम् ॥ १२३ ॥
प्रवृत्तिरोधः सर्वेषां स्तम्भनं समुदाहृतम् ।
स्निग्धानां द्वेषजननं मिथो विद्वेषणं मतम् ॥ १२४ ॥
उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्तितम् ।
प्राणिनां प्राणहरणं मारणं समुदाहृतम् ॥ १२५ ॥
स्वदेवतादिक्कालादीञ्ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ।
रतिर्वाणी रमा ज्येष्ठा दुर्गा काली यथा क्रमात् ॥ १२६ ॥

ष्ठेनान्यमक्षं न संस्पृशेत् । जपकाले सदा विद्वान् मेरुं नैव विलङ्घयेत् ॥ परिवर्तनकाले च शङ्कट्टं नैव कारयेत् । एवं सर्वं परिज्ञाय मालायां जपमारभेदि"ति । *आचार्या अपि*—"तन्त्रमानसस्तर्ज्जनिवर्जिताभिः अक्षस्रजा साङ्गुलिभिर्जपते"ति *अन्यत्रापि* "अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घने । असंख्यातेन (तंच) यज्जप्तं तज्जप्तं निष्फलं भवेदि"ति । *अन्यत्र विशेषः*—"अक्षमालां गुरोर्लब्ध्वा तदभावे स्वनिर्मिताम् । गोपयेत्सर्वकर्मान्तं यदीच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥ स्वमन्त्रमक्षसूत्रं च गुरोरपि न दर्शयेत् । जपकाले च गोप्तव्यमक्षसूत्रं च षण्मुख! ॥ परहस्तगतं सूत्रं सर्वथा निष्फलं भवेत् । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैरि"ति । *मन्त्रतन्त्रप्रकाशे* अङ्गुलिभिरङ्गुलिपर्वभिरपि जप उक्तः । तद्यथा—"अङ्गुलीजपसंख्यासं फलमेकगुणं स्मृतम् । रेखास्वष्टगुणं विद्यादक्षैश्च शतसंगुणम् ॥ तत्राङ्गुलिजपं कुर्वन् साङ्गुष्ठाङ्गुलिभिर्जपेत् । अङ्गुष्ठेन विना कर्मकृतं तदफलं भवेत् ॥ अङ्गुलीपर्वभिर्मन्त्रजपं नित्यम्प्रकल्पयेत् । मध्यमानामिकामध्यपर्वद्वितयकल्पितम् ॥ मेरुं प्रदक्षिणो कुर्वन्ननामामूलपर्वणि । आरभ्य मध्यमामूलपर्वान्तं गणयेत् क्रमात् ॥ मध्यापर्वयुगेन प्रकल्प्य मेरुं त्वनामिकामध्यात् । तर्ज्जनिकामूलान्तं गणयेदेतत्प्रकारतो वाथ ॥ अङ्गुलीर्नवियुञ्जीत किञ्चिदाकुञ्चिते तले । अङ्गुलीनां वियोगे तु छिद्रेषु स्रवते जपः ॥ गणनाविधिमुल्लङ्घ्य यो जपेत्तं जपं यतः । गृह्णन्ति राक्षसा नूनं गणयेत् सर्वथा बुध" इति ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

पट्कर्माण्याह—*अथेति* ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

विधेयत्वं वचनकारित्वम् ॥ ११३ ॥

सर्वेषां स्तम्भनमिति । जनजलशुक्रखड्गधारासैन्यप्रतिवादिव्रवनमरुदादीनाम् ॥१२४॥

*स्वदेशादेरि*त्यादि शब्देन गृहग्रामनगरादयो गृह्यन्ते ॥ १२५ ॥

स्वदेवतेति । अत्रादिशब्देनासनमुद्राभूतोदयमण्डलाक्षरग्रन्थनादिप्रकारवर्णलेखन द्रव्यलेखनी कुण्डस्रुक् स्रुवसमित् जपमालिकादीनि ॥ १२६ ॥

षट्कर्मदेवताः प्रोक्ताः कर्मादौ ताः प्रपूजयेत् ।
ईशचन्द्रेन्द्रनिर्ऋतिवाय्वग्नीनां दिशोमताः ॥ १२७ ॥
सूर्योदयं समारभ्य घटिका दशकं क्रमात् ।
ऋतवःस्युर्वसन्ताद्या अहोरात्रं दिने दिने ॥ १२८ ॥
वसन्तग्रीष्मवर्षाख्यशरद्धेमन्तशैशिराः ।
हेमन्तः शान्तिके प्रोक्तो वसन्तोवश्यकर्मणि ॥ १२९ ॥
शिशिरस्तम्भने ज्ञेयोविद्वेषे ग्रीष्मईरितः ।
प्रावृडुच्चाटने ज्ञेया शरन्मारणकर्मणि ॥ १३० ॥
पद्माख्यं स्वस्तिकंभूयो विकटं कुक्कुटं पुनः ।
वज्रभद्रकमित्याहुरासनानि मनीषिणः ॥ १३१ ॥

प्रपूजयेदिति । तत्र पुष्पविशेषः *पिङ्गलामते*—"स्त(स्क)म्भाऽऽकृष्टिवशोच्चाटशान्तिमारे यथाक्रमम् । पीतनीलारुणं धूम्रं श्वेतं कृष्णप्रसूनकमि"ति ॥ दिश आह—*ईशेति* । *अन्यत्र विशेषः* "पूर्वामुखे भवेद्वश्यं दक्षिणे त्वाभिचारिकम् । पश्चिमे बन्धनं विद्यादुत्तरे शान्तिकं स्मृतम् ॥ आकर्षणमथाग्नेये नैर्ऋते मारणं तथा । उच्चाटनं च वायव्ये ऐशाने मोक्षदायकमि"ति ॥ १२७ ॥

सूर्येति । दिने दिने प्रतिदिनम् । अहोरात्रमध्येसूर्योदयमारभ्य घटिकाद्दशकं क्रमात् । वसन्ताद्याऋतवः स्युरित्यन्वयः । अत्र मुख्यऋतुर्मासद्वयात्मक एव शीघ्रकार्यापेक्षस्त्वयमिति ज्ञेयम् । तदभिप्रायेणान्यत्राप्युक्तम्—"शुक्लपक्षे द्वितीया च तृतीया पञ्चमी तथा । बुधदेवगुरूपेता शान्तिके चाथ सप्तमी ॥ षष्ठी त्रयोदशी चैव चतुर्थी नवमी तथा । सोमदेवगुरूपेता पौष्टिके शंसिता बुधैः ॥ अष्टमी नवमी चैव दशम्येकादशी तथा । शुक्रभानुसुतापेता शस्ता विद्वेषकर्मणि ॥ अथो चतुर्दशी कृष्णा शनिवारे तथाऽष्टमी । उच्चाटनेऽथ शस्तोत्र जपः शङ्करभाषितः ॥ अमावास्याष्टमी कृष्णा तादृगेव चतुर्दशी । भानुना तत्सुतोपेता भूसूतेनापि संयुता ॥ मारणे स्तम्भने चोवमोहे द्रोहे प्रशस्यते"इति ॥ तथा *वसिष्ठसंहितायामपि*—"प्रसिद्धा ऋतवो ग्राह्याः षट्कर्मादिकसाधने । यस्मिन् कस्मिन्नृतौ कार्यं मन्त्राणां चाथ साधनम् ॥ पूर्वाह्णे वश्यपुष्ट्यर्थमि"त्यादिना । *पिङ्गलामते*—"पुष्ट्याकृष्टिक्षुभोच्चाटशान्तिस्तम्भनबोधनम् । गुरौ कुजे रवौ शुक्रे सोमे चन्द्रे बुधे क्रमात्" इति ॥ अन्योऽपि विशेषः *पिङ्गलामते*—"हेमन्तो धवलोवृद्धो वसन्तो लोहितो युवा । आरक्तधवलोबालः शिशिरः संप्रकीर्त्तितः ॥ ग्रीष्मोधूम्रशरीरस्तु श्यामाङ्गोजलदागमः । शरत्कालः कृष्णवर्णः शान्त्यादावृतवस्त्विमे"इति । *विशेषान्तरं महाकपिलपञ्चरात्रे*—"शान्तिके मानसोजाप उपांशुः पौष्टिके स्मृतः । सशब्दस्त्वभिचारे स्यात् प्रागुदग्दक्षिणा मुखः" इति । यत्तु दीक्षादि प्रयोगे अर्द्धरात्रग्रहणं मारणे कृतं स सतद्गतोविशेषविधिरिति ज्ञेयम् । अत्र तु ऋतुशब्दोपादानान्न तथा ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥

पद्मेति । तत्राद्ययोरन्त्ययोश्च लक्षणमन्ये वक्ष्यति । विकटकुक्कुटासनयोर्लक्षणे यथा—"जानुजङ्घान्तराले तु भुजयुग्मं प्रकाशयेत् । विकटासनमेतत्स्यादुपविश्योत्कटासने ॥ कृत्वोत्कटासनं पूर्वं समपादद्वयं ततः । अन्तर्जानुकरद्वन्द्वं कुक्कुटासनमीरितमि"ति । *अन्यत्रासनविशेषा उक्ताः*—"स्तम्भने गजचर्म स्यान्मारणे माहिषं तथा । मेषीचर्म तयोश्चाटे खड्गजं वश्यकर्मणि ॥ विद्वेषे जम्बुकस्योक्तं गोचर्म शान्तिके तथा । व्याघ्रचर्मासनं प्रोक्तं सर्वसिद्धिप्रवर्त्तकमि"ति ॥ १३१ ॥

षण्मुद्राः क्रमतो ज्ञेयाः पद्मपाशगदाह्वयाः ।
मुसलाशनिखड्गाख्याः शान्तिकादिषु कर्मसु ॥ १३२ ॥
जलं शान्तिविधौ शस्तं वश्ये वह्निरुदाहृतः ।
स्तम्भने पृथिवी शस्ता विद्वेषे व्योम कीर्तितम् ॥ १३३ ॥
उच्चाटने स्मृतो वायुर्भूयोऽग्निर्मारणे मतः ।
तत्तद्भूतोदये सम्यक् तत्तन्मण्डलसंयुतम् ॥ १३४ ॥
तत्तत्कर्म विधातव्यं मन्त्रिणा निशितात्मना ॥
शीतांशुसलिलक्षोणीव्योमवायुहविर्भुजाम् ॥ १३५ ॥

षण्मुद्रा इति । कनिष्ठाङ्गुष्ठयुक्मुद्रा त्रिकोणा त्वशनेर्मते"ति अशनिमुद्रालक्षणम् । अन्यासां मुद्राणां लक्षणं पुरुषोत्तममन्त्रन्यासावसरे मयोक्तम् ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ ¶ ॥

तत्तद्भूतोदय इति । भूतोदयमन्त्यपटले वक्ष्यति । *विशेषस्त्वीशानशिवेनोक्तः*—"उभयधरणिरिष्टं साधयेद्दीर्घकाले उभयमरुति किञ्चित्कालपाकेन सिध्येत् । उभयगगनवह्न्योर्नैव सिद्धिर्महानिस्तत्र उभयजलस्थः क्षिप्रमेवेष्टदः स्यात् ॥ शशिजलधरणिस्थे शान्तिकं पौष्टिकं वा शशिमरुदनलाभ्यां वश्यमाकर्षणं च । दिनकरभुवि कुर्यात् स्तम्भनं त्वर्कतोये वशमिनमरुदाविभ्रामणोच्चाटने च ॥ दिनकरवियतिस्यान्मोहनं त्वर्कवह्न्यो र्दुष्टतरमरिवर्गान् साधयेन्मारयेच्चे"ति । *तत्तन्मण्डलेति* । तत्र मण्डलं प्रथमपटलोक्तैः संयुतम् । *मन्त्रिणा निशितात्मनेति* अनेनोर्ध्वाधोभेदेनाहोरात्रं ज्ञात्वा तत्रकर्म कुर्यादित्युक्तम् । तदुक्तं *गौतमेन*"देहवायोर्विभोरूर्ध्वं वृत्तिः प्राणो भवेद्दिवा । अधोवृत्तिमयोऽपानो रात्रिर्वा देहसंस्थिता ॥ परचक्रभयाद्यौ तत्कालोक्तं कर्म मन्त्रवित् । तत्र कुर्याद्विभागेन सम्यगुच्चाटनादिकमि"ति १३४

शीतांश्विति षोडश स्वरा सठौ शीतांशुवर्णाः । एतद्गणव्यतिरिक्ता द्वितीयपटलोक्ता भूवर्णा ज्ञेयाः । तदुक्तम्—"रक्षास्तम्भनकर्माणि वर्णैः कुर्यात धरामयैः । शान्तिकं पौष्टिकं कर्म कर्षणं सलिलाक्षात्मकैः ॥ दाहमोहाङ्गभङ्गानि चाकृष्टिदहनात्मकैः । सेनाभङ्गभ्रमोच्चाटद्वेषकर्माणि वायुजैः ॥ कालभस्मादिचूर्णानि विविधान्यपि मारणम् । क्षुद्राणां स्थापने वर्णैर्नभसैः पङ्क्तिसं(१)ख्यकैरि"ति । *आचार्या अपि*—"वर्गदशकैः स्युस्तम्भनाद्याः क्रिया" इति । केचित्तु स व ल ह य रेफानाहुः । तदुक्तं *महाकपिलपञ्चरात्रे*—"लं पीता पृथिवी ज्ञेया वं शुक्लं कीर्तितं अपः । रं रक्तोऽग्निमहत्कृष्णो यं हं शुक्लतरं वियदि"ति । *ग्रन्थान्तरे तु विशेषः*—"हेमरूप्यसिक्तासूक्ष्मपात्रं शान्त्यादिषु स्मृतम् । बिल्वाश्मशिग्रुघटितं मारणोच्चाटनादिष्वि"ति । *अन्यत्रापि*—"सौवर्णान्यपि राजतान्यपि तथा पात्राणि शैलत्वक्षद्रुमशोग्रुभूरुहकृत्स्वानि च । मृत्पात्राण्यपि शान्तिकादिषु परं शस्तानि कर्मस्विह ॥ तान्येतानि विद्वेषणोच्चाटोत्सादनमारणादिषु भृशं शस्तानि पात्राण्यपी"ति । *कुलप्रकाशतन्त्रे तु*—"तिस्रो मुद्राःस्मृता होमे मृगी हंसी च शूकरी । शूकरी करसङ्कोचा हंसी मुक्तकनिष्ठिका ॥ मृगी कनिष्ठातर्जन्यौ मुक्त्वा मुद्रात्रयं मतम् ॥ यज्ञे शान्तिककार्येषु मृगी हंसी प्रकीर्तिता । आभिचारिककार्येषु सूकरी तु प्रकीर्तिते"ति । *पिङ्गलामते तु मुद्रान्तराण्युक्तानि* ॥ "ततो द्रव्यस्य होमे तु तर्जन्याङ्गुष्ठयोगतः । ज्वरनाशारिसन्तापावुच्चाटोमोहनं क्रमादि"ति ॥ *अन्यत्र जातिविशेषोऽप्युक्तः* । यदाहुः—"नमः स्वाहा स्वधा वौषट् हुंफडन्ताश्च जातयः । शान्तौ वश्ये तथा स्तम्भे विद्वेषोच्चाटमारणे" इति । *अन्यत्रापि*—"अ-

(१) पङ्क्तिशब्दः पाणिनिना दशार्थे निपातितः 'पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्" इतिसूत्रे

वर्णाः स्युर्यन्त्रबीजानि षट्कर्मसु यथाक्रमम् ।
ग्रथनं च विदर्भश्च सम्पुटो रोधनं तथा ॥ १३६ ॥

र्च्चनक्रोधशान्त्यादौ नमः शब्दं प्रयोजयेत् । अग्निकार्यं च वश्यादौ स्वाहाशब्दं प्रयोजयेत् ॥ मारणादिषु फट्कारं विद्वेषादौ च हुं पदम् । वौषडाप्यायनादौ स्याद्‌द्वेषोत्सादे वषट् स्मृतमि"ति । *तथान्यत्र तु*—"वश्याकर्षणसन्तापहोमे स्वाहां प्रयोजयेत् । क्रोधोपशमने शान्तौ पूजने च नमोवदेत् ॥ वौषट् संमाहनोद्दीपपुष्टिमृत्युञ्जयेषु च । हुंकारं प्रीतिनाशे च छेदने मारणे तथा ॥ उच्चाटने च विद्वेषे तथाधीविकृतौ तु फट् । विघ्नग्रहविनाशे च हुंफट्कारं प्रयोजयेत् । मन्त्रोद्दीपनकार्ये च लाभालाभे वषट्स्मृतम्" इति ॥ *पिङ्गलामते तु* । "लज्जने स्तम्भने लस्थैर्विद्वेषे हुं समन्वितैः । उच्चाटे वायुबीजस्थैः सविसर्गैश्च सिद्धये ॥ मारणे फट्कृतैर्होम्लौरूर्ध्वाधोरेफसंयुतैः । छेदने छिप्पदोपेतैः पुष्टावाध्यापने गठैः ॥ अमृताक्षररोगमृत्युन्निवृत्तौ देशिकोत्तमैः । स्वनामसिद्धजात्या वा कृतोपपदलक्षणैः ॥ एवं यत् क्रियते कर्म तदिष्टफलसाधकमि"ति । द्रव्यविशेषो *मोहशूरोत्तरे*—"दूर्वाभव्याश्चसमिधोगोघृतेन समन्विताः । होतव्याः शान्तिके देवि ! शान्तिर्येन भवेत् स्फुटम् ॥ समिधोराजवृक्षोत्थाः होतव्यास्तम्भकर्मणि । मेषी घृतेन संयुक्ताः स्तम्भसिद्धिर्भवेद्‌ध्रुवम् ॥ खादिरा मारणे प्रोक्ताः कटुतैलेन संयुताः । होतव्याः साधकेन्द्रेण मारणं येन सिध्यति ॥ उचाटने भूतजाताः कटुतैलेन संयुताः । उच्चाटयेन्मही सर्वा सशैलवनकाननाम् ॥ वश्ये चैव सदा होमः कुसुमैर्दाडिमोद्भवैः । अजा घृतेन देवेशि ! वशयेत् सचराचरम् ॥ विद्वेषे चैव होतव्या उन्मत्त(१)समिधोमताः । अतसीतैलसंयुक्ता विद्वेषणकरं परमि"ति । *वायवीयसंहितायां स्रुक्स्रुवयोरपि विशेष उक्तः*—"आयसौ स्रुक्स्रुवौ कार्यौ मारणादिषु कर्मसु । तदन्यत्र तु सौवर्णौ शान्तिकाद्येषु कृत्स्नश"इति । *अन्यत्र तत्तत्कर्मणि जिह्वा अप्युक्ताः*—"जिह्वा तु हिरण्याख्यां शान्तिकर्मणि तथा च गगनाख्याम् । रक्तां कारुणकर्मणि कृष्णां क्षुद्रक्रियासु बुधाः ॥ या सुप्रभेति गदिता तामाहुर्मोक्षकारिणीं जिह्वाम् । अतिरिक्तामाकृष्टौ बहुरूपामखिलसिद्धिदां जिह्वामि"ति । *तथान्यत्र*—"स्तम्भनादिषु मता कनकाख्या द्वेषणादिषु मता खलु रक्ता । मारणे निगदिता खलु कृष्णा सुप्रभा बुधवरैरिह शान्त्याम् ॥ उच्चाटनेऽतिरक्ता या बहुरूपोत्तरे सिद्धिम् । ऋद्धिं दक्षिणतः सा तनुते मध्ये शुभानि सदे"ति ॥ *अन्यत्राग्निविशेषोऽप्युक्तः* लौकिकेऽग्नौ शान्तिकं स्यात् पौष्टिकं च शुभे तथा । वटजे स्तम्भनं मोहः श्मशानस्थेऽपि मारणम् ॥ विभातकाग्नौ विद्वेषः षट्कर्मण्यग्नयो मता"इति । *अन्यत्र तु* "बिल्वार्कविप्रतृपदुग्धतरुप्रदीप्ते सौम्यं चिकीर्षुं, रथ कर्म हुनेद्‌हुताशे । रौद्रं विषद्रुमकलिद्रुमशेलुनिम्बधत्तूरकाष्ठचयसन्निचितेऽथ मन्त्री"ति । *सोमशम्भौ तु*—अग्निमुखनामपि नियम उक्तः*—"कुण्डं भानुमुखं ध्यात्वा हृदावृतिभिरोप्सितम् । पश्चिमे शिष्यसंस्कारनित्यहोमौ समाचरेत ॥ वश्याकर्षणसौभाग्यपुष्टाभार्याधिरोपणे । शान्तिके पाशशुद्धौ च वामे होमः प्रशस्यते ॥ गुटिकाञ्जननिस्त्रिंशपादलेपजिगीषया । शिष्यसर्ज्जननार्थं च प्राचीनवदने यजेत ॥ मारणोच्चाटनद्वेषस्तम्भनार्थं च दक्षिणे । प्रायश्चित्तं तु तत्रैव पश्चिमे तु विमुक्तय" इति । आकर्षणान्ते युक्तकाले विधेयम् । तदुक्तम् ।—"आकर्षणं वसन्ते स्यादि"ति । *कामिके तु होमादिसंख्या विशेषः*—"शान्तिके पौष्टिके वापि वशीकरणकर्मणि । हुतसंख्यादशांशं स्यादुत्तमं द्विजभोजनम् ॥ तत्त्वसंख्यं मतं मध्यं शतांशमधमम्मतम् । उच्चद्विगुणमानं स्यात् स्तम्भने विप्रभोजनम् ॥ त्रिगुणं साधनोच्चाटद्वेषणे तु प्रकीर्त्तितम् । हुतसंख्यासमानं स्यादपि मारणकर्मणि ॥ हुतावसाने विप्रेन्द्रानतिशुद्धकुलोद्भवान् । भोजयेत्साङ्गवेदज्ञान् स्वादुभिर्भोज्यव-

---

(१) उन्मत्तः-धत्तूरः ॥

योगः पल्लव इत्येते विन्यासाः षट्सुकर्म्मसु ।
मन्त्रार्णान्तरितान्कुर्यान्नाम वर्णान्यथाविधि ॥ १३७ ॥
ग्रथनं तद्विजानीयात्प्रशस्तं शान्तिकर्मणि ।
मन्त्रार्णद्वन्द्वमध्यस्थं साध्यनामाक्षरं लिखेत् ।
विदर्भ एष विज्ञेयो मन्त्रिभिर्वश्यकर्मणि ॥ १३८ ॥
आदावन्ते च मन्त्रःस्यान्नाम्नोऽसौ संपुटःस्मृतः ।
एष संस्तम्भने शस्त इत्युक्तोमन्त्रवेदिभिः ॥ १३९ ॥
नाम्न आद्यन्तमध्येषु मन्त्रः स्याद्रोधनं मतम् ।
विद्वेषणविधानेतु प्रशस्तमिदमीरितम् ॥ १४० ॥
मन्त्रस्यान्ते भवेन्नाम योगः प्रोच्चाटने मतः ।
अन्ते नाम्नो भवेन्मन्त्रः पल्लवोमारणे मतः ॥ १४१ ॥

स्तुभिः ॥ देवताप्रति(१)पत्त्या तान्नमस्कृत्य यथाविधि । वितत्तं च यथाशीर्भिरभीष्टफलदं भवेदित्ति ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

मन्त्रेति अन्तरितान् व्यवहितान् । तदुक्तम्—"एकं मन्त्राक्षरं पूर्वं ततो नामाक्षरं पुनः । मन्त्राक्षरमिति ग्रन्थ" इति ॥ १३७ ॥

मन्त्रार्णेति । मन्त्रार्णद्वन्द्वयोर्मध्यस्थं साध्यनामाक्षरमिति समासः । तदुक्तं—"द्वौद्वौ मन्त्राक्षरौयत्र एकैकं साध्यवर्णकम् । विदर्भितं तु तत्प्रोक्तमि"ति ॥ १३८ ॥

असौ—विन्यासः ॥ *सम्पुटः स्मृतइति* । अत्र केचन नामान्ते विपरीतं मन्त्रपाठमाहुः । एष एव साम्प्रदायिकः पक्षः । तदुक्तं—"मन्त्रमादौ वदेत्सर्वं साध्यसंज्ञामनन्तरम् । विपरीतं पुनश्चान्ते मन्त्रं तत्सम्पुटं स्मृतमि"ति । ग्रन्थकृताप्युक्तम्—"भूतलिप्या पुटीकृत्य यो मन्त्रं भजते नरः । क्रमात् क्रमाच्छतावृत्त्ये"ति ॥ १३९ ॥ १४० ॥

मन्त्रस्यान्त इति ॥ यस्य पद्यस्य प्रामादिकश्चरणव्यत्ययः । "अन्ते नाम्नो भवेन्मन्त्रो योगः प्रोच्चाटने मतः । मन्त्रस्यान्ते भवेन्नाम पल्लवोमारणे मत"इति तु पाठः पठनीयः । *तथाच पद्मपादाचार्याः*—"नामान्ते मन्त्रयोजनं योगः । स्तम्भोच्चाटनविद्वेषेषु समस्तमन्त्रान्ते समस्तनामयोजनं पल्लवः । मारणेऽस्य विनियोग इति तु । अन्यत्रापि-"पल्लवे साध्यनामादौ भवेन्मन्त्रपदक्रमः" इति । "मन्त्रान्ते जपकर्माणी"ति । मारणे *गौतमेनाप्युक्तम्*-भैरवस्तोत्रस्यापि । "मन्त्राद्यंगेऽग्रतः साध्यं पल्लवं तद्विपर्ययादि"ति । योग पल्लवयोरन्यत्रापि विनियोग उक्तः "शान्तिके पौष्टिके दिव्ये प्रायश्चित्तविशोधने । मोहने दीपने योगं प्रयुञ्जन्ति मनीषिणः ॥ मारणे विषनाशे च ग्रहभूतविनिग्रहे । उच्चाटने च विद्वेषे पल्लवं सम्प्रचक्षत"इति । *अन्यत्र विशेषः* "अर्द्धार्द्धेनादितोन्ते च मन्त्रं कुर्याद्विचक्षणः । मध्ये चास्य भवेत् संज्ञा प्रस्तं तत्समुदाहृतम् ॥ अभिचारादिसर्वेषु योजयेन्मारणादिषु । अभिधानं लिखेत्पूर्वं मध्ये थापि महामते! । मन्त्रमेवं द्विधा कृत्वा समस्तमभिधीयते ॥ द्वेषोच्चाटनकार्येषु योजयेदविशङ्कितः । अर्द्धार्द्धेनादितोऽन्ते च मन्त्रं कुर्याद्विचक्षणः ॥ मध्ये चान्ते च साध्याख्या मन्त्रिणा क्रियते यदा । आक्रान्तं तद्भवेन्मन्त्रं सदासर्वार्थसिद्धिदम् ॥ स्तम्भस्तोभसमावेशवश्योच्चाटनकर्म्मणि । सकृत्पूर्वं खिलेन् मन्त्रमन्ते चैव त्रिधा पुनः ॥ मध्ये चैव भवेत्संज्ञा आद्यन्तमिति तद्विदुः । परस्परप्रीतियुजोर्विद्वेषजननं परम् ॥ आद्यन्तं च तथाचाद्यं त्रिधा मन्त्रं स-

---

(१) देवताबुद्ध्या ॥

सितरक्तपीतमिश्रकृष्णधूम्राः प्रकीर्तिताः ।
वर्णतो मन्त्रसंप्रोक्ता देवता षट्सु कर्मसु ॥ १४२ ॥
यन्त्राणां लेखनद्रव्यं चन्दनं रोचना निशा ।
गृहधूमचिताङ्गारौ मारणेऽष्टविषाणि च ॥ १४३ ॥
श्येनाग्निलोणपिण्डानि धत्तूरकरसंत(सः स्मृ)तः ॥
गृहधूमस्त्रिकटुकं विषाष्टकमुदाहृतम् ॥ १४४ ॥
देवता कालमुद्रादीन् सम्यक्ज्ञात्वा विचक्षणः ।
षट्कर्माणि प्रयुञ्जीत यथोक्तफलसिद्धये ॥ १४५ ॥

इति शारदातिलके त्रयोविंश पटलः ॥ २३ ॥ * ॥

मालिखेत् । साध्यनाम सकृन्मध्ये तं विदुः सर्वतो मुखम् ॥ सर्वोपद्रवशमनं महामृत्युविनाशनम् । सर्वसौभाग्यजननं मृतानाममृतप्रदमि”ति । *पिङ्गलामते अन्यान्यप्युक्तानि*—“तत्रश्च शृङ्खला सुची नाराच ककच-शक्तिभिः । भुशुण्डी मुद्गरश्चक्र कर्त्तरीमुख शम्बुजे ॥ टङ्कशूलासिशक्तीश्च मन्त्र कर्मणि चादिशेत् । षडादौ षट्पुनश्चान्ते मन्त्रवर्णास्तदन्तर ॥ साध्यनामेति सम्प्रोक्तं शृङ्खलान्येष्वयं क्रमः । रसा ६ श्री ३ न्द्रा १४ श्व ७ कामा १३ हो १५ वेदा ४ र्का १२ क्षी २ षु ५ राजभिः १६ । रुद्रा ११ ष्टा ८ ङ्क ९ ककुभ् १० वर्णैः शृङ्खलादोन्यनुक्रमात् ॥ बन्धभेदरिपुध्वंसच्छेदसन्धिविभेदने । सैन्यभञ्जनविद्वेषमन्त्रच्छेदनचालने ॥ मारणे सर्वकार्येषु वातस्तम्भनकारणे । शृङ्खलादीनि वेद्यानि साध्यमन्त्रार्णयोगतः ॥ षडादौषट् पुनश्चान्ते मन्त्रवर्णास्तदन्तरे । साध्यनामेति सम्प्रोक्तं शृङ्खलान्येष्वयं क्रम” इति ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

*चन्दनमि*त्यादिक्रमेण शान्त्यादौ अयं विशेषः । वक्ष्यमाणं सामान्यमपि ज्ञेयं मारणव्यतिरेकेण ॥ १४३ ॥

श्येनेति । श्येनः श्येनविष्ठा । अग्निश्चित्रकः । *लोणपिण्ड*—लोणमलं, त्रिकटुकं—शुण्ठीपिप्पलीमरीचानि । *पिङ्गलामते लेखनी विशेषोऽप्युक्तः*—“दूर्वामयूरपिच्छानि विभीतकनरास्थिजा । चिताङ्गारत्रिलोहोत्था हेमरूप्यार्कसम्भवा ॥ लेखनी वश्य आकृष्टौ संतापे स्तम्भमारणे । सर्वोपद्रवनाशाय शान्तौ पुष्टौ च जातिजे”ति । *अन्यत्रापि*—“लेखन्या विलिखेद्यन्त्रं वश्ये दूर्वाङ्कुरोद्भवा । आकर्षे शिखिपिच्छोत्था सङ्कोचे मुनिसम्भवा ॥ हेमजा रौप्यजा वा न्यासर्वरक्षापि सा प्रिये! । कारञ्जाक्षमयीवाथ मारणेऽपि नरास्थिजा ॥ शुभकर्मणि विज्ञेया राजवृक्षसमुद्भवा । शान्तिकेपौष्टिके चैव आयुः कर्मविधौ तथा ॥ सर्वोपसर्गशमने कर्त्तव्या जातिसम्भवा । अपामार्गोद्भवावापि शुभकर्मसु सर्वदा ॥ आसुरेषु च सर्वेषु शस्यते तीक्ष्णलोहजा । विष्टयङ्गारदिने घोरे यदिचोत्पादिता च सा ॥ ज्वालखड्गसमाज्ञया सर्वभूतनिकृन्तनी”ति । *आधारविशेषोऽपि*—“नारजे द्वीपिकृत्तौ वा लिखितं स्तम्भकृद्भवेत् । खरचर्मणि विद्वेषं तथैवोच्चाटनं ध्वजे ॥ वशश कर्षणसिद्ध्यर्थं भूर्जपत्रे नियोजयेदि”ति । कुण्डजपमालिके पूर्वोक्ते अनुसन्धेये । उपसंहरति—*देवतेति* । आदिशब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः । इदं च काम्यकर्मन्यासादिकं कृत्वा आत्मरक्षां च कृत्वान्यत्सर्वं कुर्यात् । यतः काम्यकर्मरतस्य देवाद्यैरभिभवसम्भवात् । यदाहुः—“काम्यकर्मप्रसक्तस्य शुभस्याप्यशुभस्य च । अरित्वं भजते मन्त्रः सिद्धत्वं तद्विपर्ययादि”ति ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां भट्टराघवविरचितायां पदार्थादर्शाभिख्यायां त्रयोविंशः पटलः ॥ २३ ॥ * ॥

अथ वक्ष्यामि यन्त्राणां भेदांस्तन्त्रेषु गोपितान्।
ये साधयन्ति सततं मन्त्रिणोनिजवाञ्छितम्॥ १॥
मार्णं लिखेत् सार्णयुतं स्वसाध्यं वर्गाढ्यपत्रे स्वरकेसराब्जे।
बहिः सदीर्घैर्गगनैः प्रवीतं रक्षाकरं यन्त्रमिदं प्रशस्तम्॥ २॥
पुटीकृते भूमिपुरस्य युग्मे मायां लिखेत् मध्यगसाध्ययुक्ताम्।

अथेति। यन्त्रशब्दव्युत्पत्तिरुक्ता *संहितायाम्* "मनोरथाक्षराण्यत्र नियन्त्रयन्ति तपोधनाः!। कामक्रोधादिदोषान्वा दीर्घदुःखनियन्त्रणात। यन्त्रमित्याहुरि"ति। यथा मन्त्रो देवतारूपस्तद्वद्यन्त्रमपि देवतारूपम्। अतएवेष्टसाधनक्षमं भवतीति येसाधयन्तीत्युक्तम्॥ १॥

रक्षायन्त्रमाह—*मार्णं इति*। अब्जे मार्णं इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ। कर्णिकास्थमकारमध्ये सार्णयुतं सबिन्दुसकारयुतं स्वसाध्यं लिखेदित्यन्वयः। साध्यसाधककर्मसहितमिति सर्वत्र बोद्धव्यम्। तत्र स्वनामपदं षष्ठ्यन्तं साध्यस्य द्वितीयान्तम्। ततः फलवाचकं पदम्। द्वितीयान्तं, ततः कुर्विति साम्प्रदायिकाः॥ *वर्गाढ्यपत्रे* कचटतपयशलैर्वर्गैराढ्यानि युक्तानि पत्राणि दलानि यस्य तस्मिन्। स्वराः द्विद्विक्रमेण केसरेषु यस्य तस्मिन्। सदीर्घैः गगनैर्हामिति। अत्र मातृकादेवता। तां सम्पूज्य प्राणप्रतिष्ठापनं कृत्वा धारयेत्। अत्र सर्वत्रापि यन्त्रे सामान्यप्रक्रियोच्यते। तत्रोच्चाटनादौ यन्त्रे लेख्ये। वाय्वक्षराणि द्वन्द्वशः अं आं नमः एकं नमः इत्यादि क्रमेण पञ्चमन्त्राः। तत्र त्रिकोणं सञ्चिन्त्य तन्मध्ये प्रथममन्त्रद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्त्रानरन्यादिकोणेषु पञ्चमं मध्ये सञ्चिन्त्य पूजयेत्। पूर्वोक्तरक्षादिस्थानेष्वेवमुक्तोविनियोगोऽनुसन्धेयः। "दशभिर्द्वादशभिरमीभिनमोऽन्तिकैर्द्वन्द्वशश्च बिन्दुयुतैः। योनेर्मध्येकोणत्रितये मध्ये च संयजेन्मन्त्री"ति आचार्योक्तेः। *अन्यत्राप्याचार्याः—*"प्राक् प्रोक्तान् भूतवर्णान् दशदशयुगशो बिन्दुयुक्तान्नमोन्तान्योनेर्मध्यान्तमध्येष्वपि पुनरथ संस्थाप्य भूताभवर्णानि"ति। ह्लां ह्लीं ह्लूं ह्लैं ह्लौं एतानि अपञ्चीकृतानि। एतन्मध्ये तत्तत्कार्यं एकं बीजं विलिख्य तद्बिन्दूर्ध्वाधोभागादिषु साध्यसाधककर्मयोगान् विलिख्य ह्स्रौमिति यन्त्रजीवं मध्यबीजाधोभागे विलिख्य मध्यबीजचतुर्विदिक्षु ऐशान्यादिक्रमेण हंसः सोहमिति यन्त्रप्राणं मध्याभिमुखं विलिख्य मध्यबीजपार्श्वद्वये इन्द्रं विलिख्य तद्बहिर्दशदिक्षु लं रं मं क्षं वंयंसंहंह्री आं इति यन्त्रहृदयं विलिख्य तद्बहिः प्राणप्रतिष्ठामन्त्रमपि विलिखेत्। तद्बहिस्तत्तन्मण्डलेन वेष्टयेत्। इदं पूर्वोक्तयन्त्रेष्वपि ज्ञेयम्। *तदुक्तं कामिके* "ह्स्रौं यन्त्रस्य जीवः स्यान्मध्यबीजादधो न्यसेत्। हंसः सोऽहमिति प्राणं ऐशान्यादिक्रमाल्लिखेत्॥ इंइंनेत्रे न्यस्येत् पार्श्वे उं ऊं श्रोत्रे तथैव च। विशेषोऽष्टदलादौ तु गायत्री लेखनं स्मृतम्॥ इत्यर्णान्यन्त्रगायत्र्याः प्रतिपत्रं त्रिशो लिखेत्। अग्रे रेखावकाशेषु प्रतिष्ठां प्राणदां लिखेदि"ति। *तन्त्रान्तरेऽपि*—"लरस्क्षान्वयौ सहौ ह्रीं आं यन्त्रस्य हृदयं बिन्दुयुतं लेख्यं समं ततः। (?)हंसः सोहं प्राणजीवौ यन्त्रे लेख्यौ प्रयत्नतः॥ हसावौसगसंयुक्तो यन्त्रान्तर्विलिखेद्बुध" इति। *यन्त्रगायत्री यथा*—"यन्त्रराजाय विद्महे वरप्रदाय धीमहि। तन्नो यन्त्रः प्रचोदयात्" इति। *अन्योऽपि विशेषोऽपेक्षितार्थद्योतनिकाकारोक्तः*—यत्राधारोनोक्तस्तत्रोक्तशान्त्यादिकर्माधारेषु भूर्जपत्रे नेत्रपट्टे तालपत्रे वा विलिख्य गुलिकां बध्वा सूत्रजतुच्छन्नं क्रमेण कृत्वा रजतताम्रसुवर्णैर्हिङ्गुलकाद्यन्यतमेन सम्वेष्ट्य बीजेन मन्त्रेण मातृकया वाऽधिदैवतं ध्यात्वाभ्यर्च्य संजप्य हुत्वा गलादिषु योजयेदिति॥ २॥

वश्यकृदाह—*पुटीकृत इति*॥ महीपुरेण सह पुटीकृते भूमिपुरस्य युग्मे इति सम्बन्धः।

वकारकोणेन महीपुरेण संवेष्टितं वश्यकरं तदुच्चैः ॥ ३ ॥
मध्ये सार्णविदर्भितं प्रपुटितं मृत्युञ्जयत्र्यक्षरैः ।
तान्तस्थं निजसाध्यनाम विलिखेत् किञ्जल्कसंस्थान् स्वरान् ।
पत्रेष्वष्टसु नाममन्त्रपुटितं वर्गांस्तदग्रेष्वथो
यन्त्रं पद्मपुटीकृतं निगदितं मृत्युञ्जयाख्यं परम् ॥ ४ ॥
विषज्वरशिरोरोगनाशनं श्रीजयप्रदम् ।
कान्तिपुष्टिप्रदं वश्यं सर्वकामार्थसाधकम् ॥ ५ ॥
साध्याढ्यचिन्तामणिमग्निगेहे विलिख्य बाह्येऽनलगेहवीतम् ।
प्रवेष्टयेत् तद्बहिरष्टवर्णमन्त्रेण यन्त्रं ज्वरशान्तिदं स्यात् ॥ ६ ॥
संप्लवसः प्लावयसोयन्त्रोऽष्टाक्षर ईरितः ।
एष एव भवेद्दत्तो ग्रहज्वरविनाशने ॥ ७ ॥
तारठद्वयपुटं कुरुकुल्ले मन्त्रमत्रहुतभुक्गृहयुग्मे ।
मध्यकोणविवरेषु लिखेत् तन् मन्त्रमाशु विनिहन्ति भुजङ्गान् ॥ ८ ॥

पुटीकृते पुटीकृतवदन्तरं तत्स्थ इत्यर्थः । तत्र प्रथमं चतुष्कोणं कृत्वा तदन्तस्तद्रेखालग्नदक्कोणाग्रं द्वितीयं, तदन्तस्तद्रेखालग्नविदिक्कोणाग्रं तृतीयं, लिखित्वा तन्मध्ये मायां ससाध्यां लिखेत् । तत्र साध्यकर्मलेखनप्रकारस्तु—त्रिगुणितादावुक्तोऽनुसन्धेयः । ततो वकारकोणेन सम्वेष्टितमुच्चैर्वश्यकरमिति सम्बन्धः ॥ उक्तं च *नारायणीये*—"बाह्यस्य रेखामध्यस्थामान्तरस्थाख्यमीदृशे । शक्रेदमन्त्रये शक्तिर्वश्यं स्यात्कुम्भवेष्टितमि"ति । व्याख्यातं *चापेक्षितार्थद्योतनिकायां*—"पार्थिवमण्डलं लिखित्वा तस्य पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिग्भागे दिक्षु अस्रं कोणं यथा भवतितथा तदन्तः पार्थिवमण्डलं लिखित्वा पुनरपि तदन्तस्तथा लिखित्वा तन्मध्ये ससाध्यां शक्तिं लिखित्वा कुम्भेन चतुर्थेन वेष्टयेदिति । अथ वानागरलिपौ नकारवकारयोर्लिपिसाम्यात् वकारकोणे महीपुरेणेति पठनीयम् । तत उक्तवदन्तरन्तर्भूपुरद्वयं विधाय तत्र शक्तिं विलिख्य वकारश्च कोणेवं सम्बद्धं यन्महीपुरं ताभ्यां संवेष्टितमिति व्याख्येयम् । अत्र शक्तिर्देवता ॥ ३ ॥

मृत्युञ्जययन्त्रमाह—*मध्य इति* । मध्येऽष्टदलकर्णिकायाम् । विशेषणद्वयविशिष्टं साध्यनाम क्षकारमध्ये लिखेत् । अष्टसु पत्रेषु मन्त्रपुटितं मृत्युञ्जयमन्त्रपुटितं नाम—साध्यनाम लिखेदित्यर्थः । वर्गान्—कादीन् ॥ *तदग्रेषु* । पत्राग्रेषु ॥ *पद्मपुटीकृतमिति* । अध ऊर्ध्वमुखेन उपर्यधोमुखेन पद्मेनेत्यर्थः ॥ मृत्युञ्जयो देवता ॥ ५ ॥

ज्वरघ्नमाह—*साध्येति* । चिन्तामणिं शैवम् ॥ *अनलगेहेनेति* । द्वितीयेन । अत्र चिन्तामणिर्देवता ॥ ६ ॥ ज्वै ॥

एष एवेति । केवलमन्त्रोऽप्याराधितोज्वरघ्नः । उक्तं च *नारायणीये*—"दष्टमुत्थापयेदेषस्वजप्ताम्भोऽभिषेकतः । तज्जप्तशङ्खभेर्यादिनिस्वनश्रवणेन चे"ति ॥ ७ ॥

सर्पघ्नमाह—*तारेति* तारठद्वयपुटमिति मन्त्रविशेषणम् । तेनादौ तारः । अन्ते स्वाहा । मध्ये कुरु कुल्ले इति स्वरूपम् । तेनास्य सप्ताक्षरता । *हुतभुग्गृहयुग्मे* । परस्परव्यतिभिन्ने । *लिखेदिति* । रोचनया । उक्तं च *तत्रैव*—"भूर्ज्ज रोचनया षडश्रिलिखित" इति । *विनिहन्ति* । गृहाद्बिलाच्चोच्चाटयन्तीत्यर्थः । *तदुक्तं नारायणीये*—"सर्पान्निर्गमयेद्बिलेषु निहितान् गेहात्तथोच्चाटयेदि"ति । अत्र कुरुकुल्ला देवता ॥ ८ ॥

ओं कारमायादिकमेखलेऽग्निवधूमनुं बह्निगृहस्य युग्मे ।
मध्यादिकोणेषु विलिख्य भूर्जे यन्त्रं विदध्याद्रिपुनागहारि ॥९॥
शूलाङ्किते वर्गृहस्य युग्मे धूमावतीमत्रलिखेत् क्रमेण ।
मध्याग्निकोणेषु मरुद्गृहस्थं यन्त्रं हुताशानिलवर्णवीतम् ॥१०॥
दान्तौ सार्धीशबिन्द्वन्तौ बीजे धूमावति द्विठः ।
धूमावती मनुः प्रोक्तः शत्रुनिग्रहकारकः ॥ ११ ॥
विषेण कनकाम्भोभिः प्रेतकर्पटकल्पितम् ।
श्मशाने निखनेदेतत् शत्रूनुच्चाटयेद्द्रुतम् ॥ १२ ॥
हुताशगेहद्वितये लिखित्वा वैवस्वताय द्विठवर्णमन्त्रम् ।
मध्यान्तमाकल्पितमिन्दुबिम्बे यन्त्रं महाभूतपिशाचवैरि ॥ १३ ॥
नामालिख्य मकारकोष्ठयुगले कोणेषु तस्या लिखेत् ।

अन्यत्सर्पघ्नयन्त्रमाह—*ॐमिति* । मेखले स्वरूपं ॐकारमायाद्यः सप्ताक्षरो मन्त्रः । *विलिख्येति* । गोरोचनया । तथैव तन्त्रोक्तेः ॥ *रिपुविवि* । रिपवोनागास्तद्धारि *नारायणीयेतु—"पूर्वोक्तुल्यक्रिय" इत्युक्तेः । मेखला देवता ॥ ९ ॥

उच्चाटनकृदाह—*शूलेति* । शूलाङ्कित इति बहिष्कोणाग्रेषु । *मध्यादीति* मध्ये-बीजद्वयं शिष्टाक्षराणि कोणेषु । मरुद्गृहं—प्रथमपटलोक्तं, हुताशो रेफः । अनिलो यः । अनेनावृत्तिद्वयम् । तेन पूर्वमावृत्तिद्वयं पश्चान्मरुद्गृहवेष्टनमिति ज्ञेयम् । अत्र धूमावती देवता १०

धूमावती मन्त्रमाह—*दान्ताविति* । दान्तौ—धकारौ । अर्धीश—ऊ बिन्दुश्च । प्रत्येकं तदन्तौ तेन धूं धूमिति । अष्टाक्षरो मन्त्रः । *शत्रुनिग्रहकारक इति* । अनेन पृथगाराधनाप्यस्योक्ता । अस्यर्ष्यादि यथा—"पिप्पलादो नामऋषिर्निवृच्छन्दो ज्येष्ठा देवता शत्रुनिग्रहे विनियोगः । बीजद्वयरहितषड्वर्णैः षडङ्गानि । सर्वजनोद्वेगकारिण्यतिविषमचेता दीर्घा मालिनाम्बरा विमुक्तपरुषकेशा रूक्षा विधवा विरलदशना । काकध्वजा सूर्पोदरी रूक्षाक्षिश्रया कलहातुरेति ध्यानम् । कृष्णचतुर्दश्यामुपोष्य ध्यात्वा दिगम्बरः स्वयं मुक्तशिरोरुहः सन् चितिस्थाने शून्यागारे शैले विपिने वा नक्तभोजी लक्षं जपेत् । कृतपुरश्चरणो भवति । उक्तं च *धूमावती कल्पे*—"अथातः संप्रवक्ष्यामि विद्यां धूमावतीं पराम् । तस्या धूमावति स्वाहा विद्या वेद्या षडक्षरी ॥ षडङ्गान्यत्र योज्यानि विद्याबीजैः सबिन्दुकैः । पूर्वमेवजपेत् पूर्वं ज्येष्ठागारे दिगम्बरः ॥ रात्रौ कृष्णचतुर्दश्यामनाशो मुक्तमूर्द्धजः । ततः शून्यालये शैले श्मशाने विपिनेऽपि वा ॥ पुरो धूमावतीं ध्यायन् जपेल्लक्षं क्षपाशनः । काकारूढाऽतिकृष्णा प्रविरलदशना मुक्तकेशी विरक्ता धूम्राक्षी क्षुत्तृषार्त्ता प्रतिभटचकिता चञ्चला कायलोला । दृष्टा पुष्टालसाङ्गीश्रमजलमलिना व्यक्तदर्पाविरूपा भूतिन्धूमावती वः प्रदिशतु विपुलां धूतसर्पाग्रहस्ता ॥ एषा धूमावतीनाम्ना ज्येष्ठा देवी वरप्रदे"ति ॥ *दान्त* इति प्रामादिकः पाठः । तदुक्तं *नाराणीये*—"धूगुणं मावति शिरो नाम्ना धूमावती मनुरि"ति । अग्रे "धूमावतीं पत्रगामि"ति च वक्ष्यति ॥ ११ ॥

कनकाम्भोभिरिति धत्तूरपत्ररसघृष्टेन विषेण लिखेदित्यर्थः । *प्रेतकर्पटे*—प्रेतवस्त्रे १२

भूतघ्नमाह—*हुताशेति* । द्विठः स्वाहा । सप्ताक्षरो मन्त्रः । *मध्यान्तामेति* क्रियाविशेषणम् । अन्तःयन्त्रमित्यर्थः । तेन मध्ये षट्सु कोणेषु सप्तवर्णानालिखेदित्यर्थः । मध्याद्यमिति क्वचित्पाठः । *इन्दुबिम्बे इति* । वृत्ते । अत्र यमो देवता ॥ १३ ॥

विद्वेषणकृदाह—*नामेति* । नाम-साध्यसाधककर्मरूपम् । *मकारकोष्ठयुगल इति* ।

मन्त्रज्ञो ङणनान्मकारसहितान् धूमावती यन्त्रगान् ।
वीतं घुर्घुटिकादिना परमिदं वायुत्रिगेहावृतम् ।
यन्त्रं प्रान्तपरेतभूमिनिहितं विद्वेषणं स्याद्द्विषाम् ॥ १४ ॥
पूर्वं घुर्घुटिके युग्मं ततोमर्कटिके युगम् ।
परे विद्वेषकारिणि विद्वेषोद्वेगकारिणि ॥ १५ ॥
अथ घोराघोरयोः स्यादमुकामुकयोस्ततः ।
विद्वेषयद्वयं हुं फट् विद्या घुर्घुटिकेरिता ॥ १६ ॥
प्राक्प्रत्यग्दक्षिणोदग्विधिवदभिलिखेत् स्पष्टरेखाचतुष्कम् ।
कोणोद्यच्छूलयुक्तं वलययुगयुतं मध्यपूर्वं तदन्त्यम् ।
मन्त्रस्यार्णान् परस्तात् वसुपदविवरेष्वष्टवर्णाल्लिँखित्वा ।
शूलोद्यत् द्वादशार्णं विधिवदभिहितं प्रेतराजस्य यन्त्रम् ॥१७॥
यमराजसदोमेययमेदोरुणयोदय ।
यदि योनिरपक्षेय पक्षेय चनिरामय ।
उक्तो धूमान्धकाराय स्वाहेत्यष्टात्तरोमनुः ॥ १८ ॥
प्रणवः श्री ततोदंष्ट्रा तत्परं विकृतं ततः ।
आननाय वधूवह्नेर्मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः ॥ १९ ॥

वृत्तचतुरस्रएकत्र साध्यनामापरत्र साधकनाम । तस्य मकारचतुरस्रस्य कोणेषु ईशादि लेखनीयम् । मन्त्रज्ञइत्यनेन ङणनानां सपिण्डत्वमुक्तम् । अष्टदलं कमलं विलिख्य तत्कर्णिकायां मकारं तत्पत्रेषु धूमावत्यक्षराणि तदुपरि घघुटिकादिनावृतिः । बहिस्त्रीणि वायुगृहाणि । अत्र धूमावतीघुर्घुटिके देवते । अमुकामुकयोरित्यत्र साध्यनामप्रक्षेपः । *नाराणीयेऽयं विशेषः*—"चक्रं ताड्येत कार्पासयष्ट्या विद्वेषणं द्वयोरि"ति ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

मारणयन्त्रमाह—*प्रागिति* । व्याख्यातमिदं सप्तदशे । अत्र शूलेषु शूलोत्पन्नद्वादशार्णलिखनम् । तदुक्तम्—"यमान्तकं दलाग्रेषु नेमिवाग्गतेऽग्नि"ति । अनेन द्वादशरेखाप्रान्तेषु द्वादश शूलानि कर्तव्यानीत्यप्युक्तम् । नारयणीये तथोक्तेः । मन्त्रान्तरत्वेन भेदः । *विधिवदभिहितमिति* । विधिस्त्वयम् । आदौ पार्श्वद्वये महिषाश्वशिरसी विलिख्य तन्मध्ये यन्त्रं सम्पादयेदिति । तदुक्तं *नारायणीये*—"चिताङ्गाराक्षनिम्बाद्भिर्महिषाश्वशिरोन्तरे"ति । यमो देवता । तदुक्तम्—"मारणे मोहने स्तम्भे विद्वेषोच्चाटने वशे । एवं यमार्गलं वृत्तं बहुधा तु व्यवस्थितम् ॥ द्वादशारं लिखेच्चक्रं वृत्तत्रयसमन्वितमि"ति ॥ *नारायणीयेऽपि*—"चतुः कुल्याशलाके त्रिवर्तुलकअगुणे । बहिरष्टगुणे वक्षे विधिना तं मनुं लिखेदि"ति । इदं *व्याख्यातमपेक्षितार्थद्योतन्याम्*—"त्रिवर्तुलं लिखित्वा तन्मध्ये दक्षिणोत्तररूपेण रेखाद्वयं पूर्वपश्चिमरूपेण रेखाद्वयं च लिखित्वाऽऽग्नेयादिकोणेषु रेखाचतुष्टयं लिखित्वा दिग्गतरेखाग्रेषु अष्टौशूलानृकोणरेखाग्रेषु शूलचतुष्टयमेतत् लिखित्वा तत्र शार्ङ्गोक्तप्रकारेण मन्त्राक्षराणि लिखेदिति ॥ १७ ॥ १८ ॥

यमान्तकमन्त्रमाह—*प्रणव इति* । तत अयं प्रणवः । केचित्प्रणवमायाद्यौपूर्वं विकृताननहुं फट्स्वाहेत्याहुः । मन्त्रद्वयस्य षडङ्गं यथा—ॐ ह्रां कृष्णवर्णाय हृत् । मन्त्रशेषेण शिरः ॐ नववक्त्रपिङ्गलजटामुकुट धारिणे शिखा । ॐ हुं सहस्रादित्योदयप्रभाय वर्म्म । ॐ ह्रौं त्रिनेत्रायेतिनेत्रम् ॐ श्रीं भ्रूविकृताननाय हुमस्त्रम् । ध्यानं गुरुमुखाद्बुज्ञेयम् ॥ १९ ॥

विषवृक्षस्य फलके नृचर्मणि पटेऽथवा ।
आलिख्याष्टविषैरेतत् श्मशाने निखनेन्निशि ॥ २० ॥
ज्वरेण महता विष्टो मूर्च्छाकुलितमानसः ।
रिपुर्गच्छति पक्षेण यमलोकं न संशयः ॥ २१ ॥
एकाशीतिपदेषु मध्यदहने साध्यं लिखेद्धुं पुनः ।
क्ष्म्रूं क्लूमिति दिग्गतासु विलिखेत् बीजानि पङ्क्तिष्वथ ।
शिष्टेष्वीशनिशाचरादि विलिखेत् कालीमनुं पङ्क्तिश-
स्तद्बाह्ये यमवीतमग्निपवनाऽऽवीतञ्च यन्त्रं लिखेत् ॥ २२ ॥
काली मारमाली का लीनमोलतमोनली ।
मामो देतदे मोमा रत्न तत्वत्वतत्तर ॥ २३ ॥

—

विषवृक्षस्य—कारस्करस्य । *पटे*—प्रेतपटे । *अष्टविषैरिति* । सर्वपटलान्तोक्तैः । *आलिख्येति* काकपक्षलेखन्या । *श्मशाने निखनेदिति* । शरावसंपुटस्थं कृत्वा स्निग्धयोरन्तरा नीत्वेति शेषः । ओदनोरजनीचूर्णं घृतं दधिपयोमधु । पललं मुद्गमाषौ च सक्तुर्लाजाश्चमोदकमित्यैतैर्द्रव्यैश्चक्रस्य दक्षिणदिशि यमराजकालधर्मसमनुवैवस्वतशान्तप्रेतराजमृत्युकृतान्तनामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोन्तैरष्टाक्षराद्यैरष्टभिर्बलिर्देयः । ततोमातृकाभ्यो लोकपालेभ्योऽपि स्वस्वनामभिः स्वस्वदिक्षु बलिंदत्त्वा उत्तरस्मिन् यक्षेभ्यो नैरृते राक्षसेभ्यः सर्व्वासु दिक्षु भूतेभ्यो बलिं हरेत् । पूर्वमीशाने द्वादशाक्षरेण स्वाष्टाक्षरेण यममुखे बलिं विधाय पश्चादयं बलिः । तदुक्तं *नारायणीये*—"शरावसंपुटस्थं तत्स्निग्धयोर्नीतमन्तरा । यमराजचक्रमेतत् श्मशाने द्वेषकृत्खनेदि"ति । बलिस्तु अपेक्षितार्थद्योतनिकायामुक्तोऽत्रयन्त्रे त्रिषु कार्येषु ज्ञेयः । तत्र विद्वेषे प्रेतवस्त्रे नारायणीयप्रोक्तमार्गं लिखनं श्मशाने खननं च । मारणे ग्रन्थकारोक्तरीत्या विषवृक्षफलकेन नरचर्मणि वा लिखनं श्मशाने खननम् । स्तम्भने तु—अस्यैव यन्त्रस्य विशेषो *नारायणीये*—"मेरुस्थं स्तम्भकृद्यन्त्रं तत्तु पेषणधः क्षिपेदि"ति । अस्य व्याख्याने अपेक्षितार्थद्योतन्यामुक्तम्-बिभीतकफलके शिलायामिष्टकायां वा पीतद्रव्येण ताम्रसूच्या च क्रमाद्विलिख्य मेरुगं कृत्वाभ्यर्च्य जप्त्वा बलिं निहृत्य शत्रुमार्गारिगृहश्मशाननिर्माल्यपेषणधोगर्तस्थलेषु स्थिरनक्षत्रराशिषु निखनेदिति । तदुक्तं—"ताम्रलेखन्या पीतेन स्तम्भने खनेत् । अपि भारतसङ्काशे समरे रिपुवारणमि"ति ॥ २० ॥ २१ ॥

मारणयन्त्रान्तरमाह—*एकेति* इदं त्वरितापटले व्याख्यातम् । *मध्यदहने*—मध्यकोष्ठरेफ इति पद्मपादाचार्याः । मन्त्रान्तरत्वेन भेदः । *तद्बाह्य इति* । अनेन वषडन्तया त्वरितया संवेष्टयेदित्युक्तम् । *यमवीतमिति* ईशानादिनिरृतान्तमेकवारं विलिख्य पुनश्च निरृत्यादि ईशानान्तं लिखेत् । आचार्यैः शैवादि नैरृत्यादि कालीमनुं लिखेदित्युक्त्वा "तथा क्रमाद्यमवृतमि"त्युक्तम् । केचिच्च चतुर्दिक्षु चतुर्भिश्चरणैरिति वदन्ति ॥ अग्नीरेफः । पवनोयः । ताभ्यामावृतिद्वयम् । एष साम्प्रदायिकः पक्षः । केचित्तु अग्निपवनशब्देन तद्गृहे गृह्येते इत्याहुः । तदसाम्प्रदायिकम् । मन्त्रमुक्तावल्यादिबहुग्रन्थविरोधात् । तदुक्तं—"वषडन्तां लिखेद्विद्यां त्वरितां पूर्व्ववद्बहिः । यममन्त्रगतान्वर्णान्वह्निबीजं समन्ततः ॥ प्रभञ्जनमयं बीजं तद्बाह्ये चाभितो लिखेत् । पटे शीसोद्भवे शावे वमने भूर्जकेऽपि वे"ति । अग्निमयन्त्रे ग्रन्थकृदेव वक्ष्यति "कृशानुवायुबीजावृतमि"ति । त्वरिताविद्यया माहिषाज्येना

ष्टोत्तरसहस्रं हुत्वा यन्त्रे सम्पातं सम्पाद्य पश्चाद्यन्त्रं खनेदिति ज्ञेयम् । तदुक्तं—"माहि-

काली मनुरयं प्रोक्तः कालरात्रिश्च (स्व)वैरिणाम् ।
यमामाटटमामाय माटमोटटमोटमा ॥ २४ ॥
वामो भूरिरिभूमो वा टटरीत्वत्व(स्वस्व)रोटट ।
यमात्मकोयमाख्यातः श्लोको वैरिविनाशनः ॥ २५ ॥
लिखेदष्टविषाङ्गारनिम्बनिर्यासकज्जलैः ॥
निग्रहाख्यमिदं यन्त्रं(चक्रं) काकपक्षेण कर्पटे ॥ २६ ॥
विभीतवृक्षे वल्मीके श्मशाने वा चतुष्पथे।
दक्षिणस्थेऽनिले मन्त्री निखनेदर्धरात्रके ॥ २७ ॥
सर्वथा शत्रुरेतेन सप्ताहान्मरणं व्रजेत् ।
निगृह्यते महारोगैः पतितो वा भवेदसौ ॥ २८ ॥
शिलायामिष्टकायां वा चक्रमेतत् प्रकल्पितम् ।
मर्कटी विषदण्डीभिः समालिप्तमधोमुखम् ॥ २९ ॥
यत्र रात्रौ खनेत्तत्र भूयोभूयोऽशुभम्भवेत् ।
लिखेच्चतुः षष्टिपदेषु कालीमीशादिकन्यादि यमात्मकेन ।
श्लोकेन संवेष्ट्य कृशानुवायुबीजावृतं यन्त्रमिदं विदध्यात् ॥ ३० ॥

घेन घृतेनाष्टसहस्रसहितेन च । हुतेन सिद्धं सम्पातं योजयेन्मूलविग्रहे" इति । अयं मन्त्र· विलेखनप्रकारस्तु पुरुषमुद्दिश्य । स्त्रियमुद्दिश्य तु भद्रकालीश्लोकस्थाने यमश्लोकमालिख्य यमश्लोकस्थाने भद्रकालीश्लोकेन वेष्टयेदन्यत्समानमिति सम्प्रदायविदः ॥ अत्र कालरात्रिः स्व(स्व)वैरिणां वैरिविनाशक इत्यनेन चानयोः स्वतन्त्रताऽप्युक्ता ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥ ५५ ॥

*अङ्गार*श्चिताङ्गारः । एतेषां कज्जलैः । तत्र कज्जलकरणप्रकारः—मनुष्यकपाले नरादि· स्नेहेन शूलारूढप्रेतकर्पटवर्त्या अष्टविषादिमस्या कुर्यात् । *कर्पटे*—शूलाधिरूढप्रेतक· र्पटे ॥ तदुक्तम् "स्रोतपटेऽशुके वा शावे" इति ॥ २६ ॥

विभीतवृक्ष इति तरुकोटरे । तदुक्तं—"वल्मीके चत्वरे वाक्षतरुविवरेवा निदध्या· दि"ति । *दक्षिणस्थे*—सूर्यगवायावित्यर्थः ॥ २७ ॥

मरणमिति बिभीतवृक्षे । *महारोगैरिति* । चतुः पथे । *पतित इति* । श्मशाने । वाशब्दः समुच्चये । तेन वल्मीके अवयववैकल्यमिति पद्मपादाचार्याः ॥ २८ ॥

शिलायामिति रजकशिलायाम्॥ *इष्टकायामिति* । शिवालयस्थायाम् । *दण्डी* महादण्डी । *यत्र* ग्रामनगरादौ । "मन्त्री देशेषु निःक्षिपेद्यन्त्रे"त्युक्तेः । अत्र साध्यनाम स्थाने ग्रामनगरनामनी लेखनीये ॥ २९ ॥

उच्चाटनकृदाह—*लिखेदिति* त्वरिताचतुः षष्टिपदवदिदमपि । *कालीमिति* । अन· न्तरोक्तश्लोकरूपकालीमन्त्रम् । *यमात्मकेने*त्युत्तरत्र सम्बध्यते । वेष्टनं पूर्वयन्त्राक्त· वत् । अत्र यमवेष्टनात्प्राक् वषडन्तत्वरितावेष्टनमपि । अत्र सम्प्रदायाद्रेफवेष्टने साध्यसाधक· कर्मयुक्तरेफेण वेष्टयेदिति । स्त्रियमुद्दिश्य तु पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् । तन्त्रान्तरे तु—"चतुः षष्टिपदे कालीमीशदीशाचरादिकम् । विन्यस्य मध्ये बहुषु हुंकाराद्यक्षराणि च ॥ अन्तराले तु तेषां च साध्यानां नामकर्म च । शिखान्तविषया ।याम्यमनुना दहनेन च ॥ वायुना च समावेष्ट्य क्लृप्तमेतत्सुसाधितम् । मारणोत्सादनादीनि कर्माण्याशु प्रसाधयेदि"ति ॥ ३० ॥

निशा विषमषीदण्डीमर्कटीभिरधोमुखम् ।
निखनेद्यत्र तत्र स्यान्नृणामुच्चाटनं सदा ।
सस्यहानिमनावृष्टिं गवां नाशं करोति तत् ॥ ३१ ॥
आख्यां तुम्बुरुमध्यतः स्मरगतामालिख्य जम्भादिकाम्
विद्यां दिग्गतपत्रकेष्वथ लिखेत् देवीदलेषु स्मरम् ।
कोणस्थेषु सनामकं बहिरतः पाशाङ्कुशाभ्यां वृतम्
यन्त्रं वश्यकरं ग्रहादिभयहृत् क्षुद्राभिचारापहम् ॥ ३२ ॥
जम्भे जम्भिनि ठद्वन्द्वं मोहे मोहिनि ठद्वयम् ।
अन्धे अन्धिनि ठद्वन्द्वं रुन्धे रुन्धिनि ठद्वयम् ॥ ३३ ॥
हित्वा कामं लिखेत्शान्तिः यन्त्रेऽस्मिन् नृकपालके ।
सन्ध्यासु तापयेदेतदुच्चैः साध्यं वशं नयेत् ॥ ३४ ॥
हित्वा शान्तिं लिखेद्वर्म पटे वा नरचर्मणि ।
वह्निं वायुगृहावीतं श्मशानस्थंपुरिन्नू हरेत् ॥ ३५ ॥
त्यक्त्वा वर्म लिखेदस्त्रं फलकेऽक्षतरूद्भवे ।
वह्निं वायुयुतं नाम विषाढ्यरुधिरेण तत् ॥ ३६ ॥
चत्वरे निखनेद्यन्त्रं विद्वेषं कुरुते मिथः ।
हित्वा रेफयकारौ द्वौ लकारं मध्यतो लिखेत् ॥ ३७ ॥
धरापुरेण बीजं तदिष्टकान्तर्निवेशितम् ॥
सर्वेषां स्तम्भनं कुर्य्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥

---

*मषी*पूर्वोक्तं कज्जलम् ॥ *दण्डी*—ब्रह्मदण्डी । *मर्कटी* कपिकच्छुः । उभयोस्त्वरिता देवता ॥ ३१ ॥

वश्यकृदाह—*आख्यामिति* । आख्यां कर्मसहितं साध्यसाधकनाम ॥ *तुम्बुरुमध्यतः* कर्णिकास्थतुम्बुरौ ॥ *अथ देवीरिति* । तुम्बुरुमन्त्रोक्तदेवीबीजचतुष्टयं सनामकं स्मरं च विदिग्दलेषु लिखेत् । तेनायमर्थः सम्पन्नः । देवीबीजमध्ये कामबीजं तन्मध्ये नाम । एवं कोणचतुर्दलेष्विति । तुम्बुरुर्द्देवता ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हित्वाकाममिति ॥ कामबीजपञ्चकं हित्वा-त्यक्त्वा । शान्तिं दीर्घमीकारं सबिन्दुकं लिखेत् । अन्यत्पूर्ववत् । उच्चैरित्यतिशयेन लिखेदिति । शान्तिस्थाने वर्म्म हुं ॥ ३४ ॥

पटे प्रेतपटे । "वह्निवायुगृहावीतमिति" शेषः । अन्यत्पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

*अक्षतरु*बिभीतकः ॥ ३६ ॥

चत्वरे अङ्गणे । (१)अत्रापि वह्निवायुगृहावीतमिति ज्ञेयम् । *जममिति* । तुम्बुरुबीजेन । *हित्वेति* । तुम्बुरुबीजमालिख्य तत्र लकारं लिखेत् ॥ ३७ ॥

धरापुरेणेति । वह्निवायुनिवृत्तिः । शेषं पूर्ववत् । *इष्टकान्तः—इष्टकाद्वयान्तः । अभिन्नभेदत्रये धरापुरमेवकार्यम् *तन्मध्ये* तुम्बुरुमध्ये वायुबीजं लिखेत् । अन्यत् समानम् ॥ ३८ ॥

---

(१) "अङ्गणचत्वराजिर" इत्यमरः ।

हित्वा लकारं तन्मध्ये वायुबीजं समालिखेत् ।
विषरक्तमषीकाकपुटीवैर्ध्वजवाससि ॥ ३९ ॥
श्मशाने निहितं कुर्यात् कुलोच्छेदं स्ववैरिणाम् ।
मुक्त्वावायुमयं बीजं तत्र फट्कारमालिखेत् ॥ ४०॥
परेतवस्त्रे काकस्य रुधिरेण यथाविधि ।
ईप्सिते निखनेत्स्थाने विद्वेषं कुरुते नृणाम् ॥ ४१ ॥
अस्त्रबीजमपास्यास्मिन् लकारं सार्णसंयुतम् ।
विलिखेत्पत्रमेतत्स्यात् लोहत्रयसमावृतम् ॥ ४२ ॥
सर्वरोगप्रशमनं कृत्याग्रहादिशान्तिदम् ।
विहाय बीजं लृङ्कारं ग्लौं कारं तत्र संलिखेत् ॥ ४३ ॥
लकारेणावृतं बाह्ये पाशाङ्कुशवृतं पुनः ।
ठपरेणावृतं भूयो भूमिमण्डलमध्यगम् ॥ ४४ ॥
लकारैर्बिन्दुसंयुक्तैर्वेष्टितं तद्बहिः क्रमात् ।
सर्गान्तमातृकाबीज सर्वं वृत्तेन वेष्टितम् ॥ ४५ ॥
कौशेयकर्प्पटे क्लृप्तमिष्टकाद्वयमध्यगम् ।
सेनाग्रे निखनेद्यन्त्रं स्तम्भनं कुरुते ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
मध्ये श्रीनरसिंहबीजमथ तद्बाह्ये स्वरान् केसरे ।
वारीट्चन्द्रयमेन्द्रदिक्षु विलिखेन्मध्ये मनुङ्गारुडम् ।
अन्तस्थान् मरुदग्निनिर्ऋतिशिवेष्वालिख्य वर्णावृतम् ।
यन्त्रं सर्गिभिरष्टभिः परिवृतं संवर्तकैर्गारुडम् ॥ ४७ ॥

रक्तम्-अजारक्तम् । *मषी* पूर्वोक्तकज्जलम् । *ध्वजवाससि* । प्रेतपताकावस्त्रे॥३९॥
यथाविधीति । काकपक्षलेखन्येत्युक्तम् ॥ ४० ॥
ईप्सित इति । ययोर्विद्वेषणं क्रियते ताभ्यां यन्नोल्लङ्घ्यते तत्र देश इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥
बाह्येइति । पश्चाद्बहिः । *ठपरेण*(१)-टकारेण ॥ ४४ ॥
सर्गान्तेति विसर्गवता ॥ ४५ ॥ ४६ ॥
गारुडयन्त्रमाह—मध्य इति । मध्ये कर्णिकायां श्रीयुक्तं नरसिंहबीजं षोडशपटलोक्तम् । श्रीशब्देन चैकदेशो रेफो गृहीतः । सऊर्ध्वं इति ज्ञेयम् । *तदुक्तं नारायणीये*-"बिन्द्वीभद्वह्नि-कर्णिकमि"ति । *वारीडिति* । पश्चिमदिक् । *चन्द्रेति* । उत्तरदिक् । *यमेति* । दक्षिणदिक् । *इन्द्रेति* । पूर्वदिक् ॥ *विलिखेन्मध्य इति* । गारुडमन्त्रान्त्यकर्णिकायां लिखेदित्यर्थः । *अन्तस्थान् यरलवान् सबिन्दून् । *वर्गावृतमिति* प्रामादिकः पाठः । वर्णावृतमिति पाठकः(२)पाठः साम्प्रदायिकः ॥ *सर्गिभि*र्विसर्गयुक्तैः । *सम्वर्तकैः* क्षकारैः । *परिवृत*मित्यष्टदिक्षु । तदुक्तं * नारायणीये* "वृत्तं लिप्त्वा सर्गिककोष्ठकावृतमिदं यन्त्रं फणिभ्योऽव-तीति । *अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यायते* लिप्यक्षरैर्मालेव वेष्टयित्वा सविसर्गमन्त्य-ष्टमदिक्ष लिखेदित्यर्थ इति ॥ गरुडो देवता ॥ ४७ ॥

---

(१) अत्र पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिः । ठः परो यस्मादिति ॥ (२) पाङ्क्तस्य इत्यर्थः ।

संवर्तकोनेत्रयुतः पार्श्वस्तारोऽग्निसुन्दरी ।
गारुडो मनुराख्यातो विषद्वयविनाशनः ॥ ४८ ॥
स्मरन् गरुडमात्मानं मन्त्रमेनं जपेन्नरः ।
विषमालोकनेनैव हन्यान्नागकुलोद्भवम् ॥ ४९ ॥
मध्ये वार्णं भृगुस्थं विलिखतु विधिवत्साध्यनाम्ना समेतम्
किञ्जल्केषु स्वराः स्युर्वसुदलविवरेष्वालिखेन्मध्यबीजम् ।
काद्यार्णान् केसरेषु द्विगुणवसुदलेष्वर्पयेन्मध्यबीजम्
यन्त्रं संजीवनाख्यं सलिलपुरगतं क्षुद्ररोगापहारि ॥ ५० ॥
मध्ये पिण्डमधोदलादिषु लिखेद्वारीशताराधिप-
प्रेताधीश्वरशक्रदिक्षु विमतेर्मध्ये चवर्णाँल्लिखेत् ।

गारुडमन्त्रमाह—*सम्वर्त्तक इति* संवर्त्तकः क्षः । नेत्रमिकारस्तद्युतस्तेन क्षि । *पार्श्वः* पकारः । *तारः*—प्रणवः । *अग्निसुन्दरी* स्वाहा ॥ *विषद्वयविनाशन इति* अनेन केवलमन्त्रस्यापि स्वतन्त्रतोक्ता । इदमेव यन्त्रफलम् । विषद्वयं स्थावरं जङ्गमं च । मन्त्रस्य ऋष्यादिकं *तन्त्रान्तरात्तथा*—"ऋष्यादिका रुद्रपङ्क्तिगरुडाः परिकीर्तिताः । हृदयं ज्वलयुग्मान्ते महामति पदं शिरः ॥ गरुडं चूडाननं स्याद्गरुडान्ते शिखी शिखा । कवचण्डस्तु गरुडान् प्रभञ्जनयुगं ततः ॥ प्रभेदनयुगं विन्नासययुक् युग्विमर्द्दय । नेत्रमन्त्रस्तदुग्ररूपधरसर्वविषं हर ॥ भीषयद्वयसर्वं स्यादह भस्मीकुरु द्वयम् । अस्त्रमन्त्रोऽप्रतिहतबलाप्रतिहतेति च ॥ स्वसनान्ते हुं फडन्तः स्वाहान्तैरेभिरङ्गकम् । नेत्रान्तमर्णकान्पादकटिहृद्वक्त्रमूर्द्धसु ॥ अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदेवं विचिन्तयेत् ॥ ब्रह्मयन्तारनौयुतं स्वक्षरकमलगतं पञ्चभूतात्मवर्णं कल्पाकल्पं फणान्द्रैरभयवरकरं पद्मनेत्रं सुवक्त्रम् । दुष्टाहिच्छेदतुण्डैः सरदविलविषप्रोषणं प्राणभूतं प्राणिप्रेण्यात्रिनेत्रीतनुममृतमया पक्षिराजं भजेऽहम् ॥" एतदनन्तरं गरुडमुद्रादर्शनीया । तल्लक्षणं चतुर्थपटले संक्रमनुसन्धेयम् । "वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः । घृताक्तैः कृष्णकुसुममातृकाब्जे यजेदमुम् ॥ अङ्गाष्टेनागदिक्पालतदस्त्राणि च पूजयेदि"ति । बीजस्यापीदमेव । *नारायणीये तु*—"एवमुक्तानि नेत्रान्तान्यङ्गानि विषतेश्च पदं । आजानुतः सुवर्णाभमानाभेस्तुहिनप्रभम् ॥ कुङ्कुमारुणमाकण्ठादाकेशान्तास्सितेतरम् । ब्रह्माण्डव्यापिनं तार्क्ष्यं रक्ताक्षं नागभूषणम् ॥ नीलाभ्रनासमात्मानं हेमपक्षं स्मरेद्बुधः । कृष्णं निषल्य संग्रामे रक्ताभं स्तोभकर्मणि ॥ पीतं स्तम्भे शशिप्रख्यं नाशे तार्क्ष्यं विचिन्तयेत्" इति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

सञ्जीवनयन्त्रमाह—*मध्य इति* । अष्टदलकर्णिकायां । भृगुस्थं-सकारस्थम् । *वार्णं* वकारम् । तेन स्वमिति बीजं लिखेत् । *साध्यनाम्ना विलिखितसमन्वितमिति* । विदर्भितमित्यर्थः । उक्तं च *नारायणीये*—"जीवं नाम विदर्भितं कलशगं मध्ये लिखेदि"ति । *मध्यबीजं* स्वम् । *काद्यर्णान्—क्षान्तान्* ॥ *द्विगुणवसुदले*—षोडशदले ॥ *मध्यबीजं*—स्वम् ॥ *सलिलपुरं*—प्रथमपटलोक्तम् । अत्र मृत्युञ्जयो देवता ॥ ५० ॥

पिण्डयन्त्रमाह—*मध्य इति* । मध्ये-अष्टदलकर्णिकायाम् ॥ *पिण्डं*—वक्ष्यमाणं विलिख्य तन्मध्ये तत्तद्बीजाढ्यं विदर्भितं नामालिखेत् । वश्ये पाशबीजं, शान्तौ वरुणबीजम् । उच्चाटने क्रोधाग्निबीजमिति नारायणीय उक्तेः । *दलादिषु*—केसरेषु । *अचः* स्वरान् । द्विद्विक्रमेण ॥ *वारीशेति* । पश्चिमदिक् । *ताराधिपः*-उत्तरदिक् । *प्रेताधीश्वर इति*—दक्षिणदिक् । *शक्रेति*—पूर्वदिक् । विपतेर्गरुडमन्त्रस्य मध्ये कणि हान्तरमन्त्यमक्षरम् । *यादी-

थादीन्मारुतवह्निराक्षसशिवेष्ववर्णान् बहिर्वेष्टयेत् ।
काद्यैर्वामविलोचनेन कलितं पिण्डाख्ययन्त्रं परम् ॥ ५१ ॥
मनुस्वरेन्दुजेशाग्निसंयुतश्चतुराननः ।
पिण्डबीजमिदं प्रोक्तं पुंसां सर्वार्थसाधकम् ॥ ५२ ॥
बीजेनानेन सञ्जप्तं मन्त्रं रक्षाकरं परम् ।
आयुरारोग्यजननं लक्ष्मीसौभाग्यवश्यदम् ॥ ५३ ॥
चौरसर्प्पमृगव्यालभूतामयनिकृन्तनम् ।
गर्भरक्षाकरं स्त्रीणां पुत्रदं क्षुद्रनाशनम् ॥
धृतं मूर्ध्नि करोत्येतल्लोकवश्यमनुत्तमम् ॥ ५४ ॥
मध्ये तोयगृहे लकारविवरे साणार्णाढ्यसाध्यं
पत्रेष्वष्टसु हंसमन्त्रमभितोहंसार्णसंवेष्टिनम् ।
यन्त्रं भूमिगृहेण वेष्टितमिदं मूर्द्ध्ना सदा धारितम् ।
हन्यात् क्षुद्रमहाज्वरामयरिपून् दद्यात् यशः सम्पदः ॥ ५५ ॥

नृ*—यरलवान् । *वामविलोचनेन*—दीर्घकारेण । सबिन्दुना त्रिरिति ज्ञेयम् । "त्रिर्वेर्हिम्मायया पद्मं वेष्टयेद्बिन्दुयुक्तये"ति नारायणीय उक्तेः ॥ अत्र पिण्डात्मा देवता ॥ ९ ॥

पिण्डबीजमुद्धरति—*मन्विति* । मनुस्वर औ । इन्दुर्बिदुः । *अजेशो*—जकारः । अग्नीरेफएतद्युतश्चतुराननः वकारः ॥ *सर्वार्थसाधनमिति* । तत्र प्रकारो *नारायणीये*—"पिण्डं चन्द्रेन्द्रगेहस्थं कुलिशाकारमुज्ज्वलम् ॥ पीतं चिन्तितमध्यादौ सैन्यस्तम्भकरं भवेत् ॥ सौमेन्द्रवह्निपुरगं मूर्द्धिनध्यातं तथाकृति । विद्विषन्सर्वमत्तेभमहिषाद्रिनिवारणम् ॥ तदेवाग्निसमप्रख्यं परसैन्ये विचिन्तयेत् । यायात्पराङ्मुखो पिण्डज्वालाग्रधारिवाहिनी ॥ भेदं परकृते स्वम्भे करोत्येवं विचिन्तिते । अनिलानलसंयुक्तं ध्यानात् स्तोभं करोति तत् ॥ प्रयान्ति हित्वा स्वग्रस्तमार्चनादा ग्रहादयः । एतद्रोचनयालिख्य पद्मादौ यत्र पूज्यते ॥ त्यजन्ति गेहं तच्चौरक्षुद्रधूर्तारगादयः । उद्यन्तं स्तम्भयत्यस्त्रमैन्द्रस्थं तद्वह्नीनपि । वारुणान्तर्गतं पिण्डं तेजोऽनुग्रहवर्जितम् । दृष्टो(१)त्तमाङ्गे विन्यस्तं विषनाशं करोति तद्विर्गत ॥५२॥५३॥

मृगो—व्याघ्रः । व्यालो—दुष्टगजः । *क्षुद्राः* सर्पाः ॥ *लोकवश्यमिति* । तत्र विशेषः—"पद्ममध्ये लिखेदिन्दौ पिण्डान्तर्नामबीजयुक् । विपत्तिस्ताक्ष्र्ययन्त्रोक्ता लेख्या यरलवास्तथा ॥ त्रिर्महामायया पद्मं वेष्टयेद्बिन्दुयुक्तया । गोमयाम्बुयुजा यन्त्रमेतद्रोचनया लिखेत् ॥ भूर्जे सुवर्णलेखन्या जतुरौप्येण वेष्टयेत् । हेम्ना च जपपूजाभ्यां हवनेन च साधयेत्॥ आयुष्यं पाचनं पुष्टिलक्ष्मीसौभाग्यवश्यकृत् । चौरव्यालमृगारण्यसलिलादिभयापहम् ॥ पुत्रदं गर्भरक्षाकृत् ग्रहसर्प्पामयादिहृत् । क्षुद्रोपशमनं यन्त्रं विद्यात् सर्वार्थसाधकम् ॥ उत्तमाङ्गस्थितं तत्स्यात्लोकवश्यमनुत्तमम् ॥ शिखान्तं पाशपुटितं पिण्डं वश्ये सदा जपेत् ॥ वातनीलपतत्पत्रेकाकपक्षेण कल्पितम् । बिन्द्वन्तस्थेन्दुरहितं यन्त्रमुच्चाटनं रिपोः ॥ क्रोधाग्निपुटितं मन्त्री पिण्डमुच्चाटने जपेत् । आकाशः साग्निकर्णार्द्धचन्द्रः क्रोधाग्निरुच्यते" इति ॥५४॥

यन्त्रान्तरमाह—*मध्य इति* । मध्ये तोयगृह इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ । मध्ये कर्णिकायाम् । तोयगृहं च प्रथमपटलोक्तम् । *लकारविवरे* लकारान्तः । *साणाढ्यसाध्यं* सकारसहितसाध्यसाधककर्मनाम । लिखेत् । हंसो—देवता ॥ ५५ ॥

(१) अत्र मकोऽपरछान्दसः ।

ईंकारमध्ये विलिखेत्स साध्यं तमष्टपत्रेषु पुनर्विलिख्य ।
संवेष्टयेत् तेन धरापुरस्थं यन्त्रं भवेद्वश्यकरं नराणाम् ॥ ५६ ॥
ताम्रपात्रे समालिख्य यन्त्रमेतत्प्रपूजयेत् ।
वशयेत्सकलान्मर्त्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥
मध्ये भान्तं भृगुविनिहितं नामवर्णैः प्रवीतम् ।
टान्तं लान्तान्वितमथलिखेदष्टपत्रेषु भूयः ।
भूबिम्बस्थं निगदितमिदं साधुसञ्जीवनाख्यम् ।
शस्त्रोद्भूतं भयमपहरेत् धार्यमाणं भुजेन ॥ ५८ ॥
वार्णावृतं साध्ययुतं सकारं टान्ते लिखेदष्टदलेषु हंसम् ।
आवेष्टयेदम्बुगृहेण बाह्ये लान्तावृतं यन्त्रमिदं ज्वरघ्नम् ॥ ५९ ॥
टान्ते नाम लिखेत् क्षकारविवरे मृत्युञ्जयत्र्यक्षरी-
रुद्धं तद्बहिरष्टपत्रविवरे साध्याह्वयं पूर्ववत् ।
अचूकिञ्जल्कयुते वसुद्वयदले पद्मे तथैवाह्वयम् ।
द्वात्रिंशद्दलपङ्कजेऽपि च तथा कादार्णयुक्केसरे ॥ ६० ॥
ईंकारेण समावीतं यन्त्रं मृत्युञ्जयाह्वयम् ।
सर्वरोगाभिचारघ्नं सर्वसौभाग्यसिद्धिदम् ॥ ६१ ॥
ग्लौं रुद्धं प्रणवद्वयं परिलिखेत्साध्यस्य नामान्वितम् ।
बाह्ये भूपुरमष्टवज्रविलसत्तारं लिखित्वा पुनः ।
ठं कोणेषु दिशासु लंप्रविलिखेत् पाशाङ्कुशाऽऽयत्तरी-
वीतं स्तम्भनयन्त्रमावृतिलसज्जृम्भादिविद्याष्टकम् ॥ ६२ ॥
जृम्भे वह्निवधूः पूर्वं पश्चाज्जृम्भिनि ठद्वयम् ।
मोहे पावकजाया स्यात्ततो मोहिनि ठद्वयम् ॥ ६३ ॥
अन्धे हुतभुजो जाया ततोऽन्धिनि ठयुग्मकम् ।
रुन्धे कृशानुपत्नी स्यात् रुन्धिनि द्विठसंयुतम् ॥ ६४ ॥

वश्यकृदाह—*ईंकारेति* *तम्* ईंकारम् । *तेन* ईंकारेण । माया देवता ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

अस्त्रभयहृदाह—*मध्य इति* । मध्ये अष्टदलकर्णिकायाम् । *नामवर्णैः—साध्यसाधक-नामार्णैः प्रवीतम् वेष्टितम् । *भृगुविनिहितं*—सकारस्थं *भान्त*मकारं लिखेदित्यर्थः । *टान्तं*—ठकारम् । लान्तान्वितञ्च । मृत्युञ्जयो देवता ॥ ५८ ॥

ज्वरघ्नमाह—*वार्णेति* । वार्णावृतम्—वकारेणावृतम्—*टान्ते*—ठकारे । लान्तावृतं बाह्ये अम्बुगृहेणावेष्टयेदिति सम्बन्धः । *अम्बुगृहेण*—प्रथमपटलोक्तेन । हंसो देवता ॥ ५९ ॥

रोगाभिचारघ्नमाह—*टान्त इति* । टान्ते क्षकारविवर इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ । मृत्युञ्जयत्र्यक्षरीरुद्धं नाम लिखेदित्यन्वयः । *पूर्ववत्*मृत्युञ्जयपुटितं नामेत्यर्थः ॥

अचकिञ्जल्कयुते । वसुद्वयदले—षोडशदले । *तथैवेति* । पूर्ववन्नामेत्यर्थः । कादार्णयुक्केसरे द्वात्रिंशद्दलपङ्कजे । *तथा*—पूर्ववन्नामेत्यर्थः । मृत्युञ्जयो देवता ॥ ६० ॥ ६१ ॥

स्तम्भनकृदाह—*ग्लौमिति* । *परिलिखेदिति* । वृत्तान्तरित्यर्थः । अष्टवज्राव-लसत्तारं लिखित्वेत्यन्वयः । *तदुक्तमाचार्यैः*—"प्रणवयुगलं भूयुग्मान्तःस्थितं वसन्तं च

लान्ते नाम विलिख्य दिक्षु विलिखेद्भूयस्तमेवाष्टसु।
क्षोणीबिम्बमथोरगेन्द्रभुजगावन्योन्यबद्धौ लिखेत् ॥
आख्यां तन्मुखयोर्बिभीतफलके यन्त्रं समापादितम् ।
निर्माल्ये निहितं सदा वितनुते वाचां द्विषां स्तम्भनम् ॥ ६५ ॥
साध्याख्यां कवचं लिखेत् बहिरथो दिक्पत्रमध्येषु तत् ।
ग्लौमन्येषु महीपुरस्य विलिखेत्कोणेषु गं लान्वितम् ॥
वज्रं स्वष्टसु वर्म तोयपुरगं भूबिम्बमध्ये स्थितं
यन्त्रं रात्रिविनायकान्तरगतं न्यस्येच्छरावद्वये ॥ ६६ ॥
रहस्यस्थाननिःक्षिप्तं पूजितं प्रतिवासरम् ।
स्तम्भनं कुरुते वाचां सेनादीनां च वैरिणाम् ॥ ६७ ॥

तद्वसुकुलिशगं तेषां मध्ये भुवम्भुवमन्तरा । अमरपतिदिग्लारे पाशाङ्कुशान्तरमायया वलयितमथोजृम्भाद्यष्टौ लिखेत्कुरुते जयमि"ति ॥ *कोणेष्विति* । भूपुरस्य । *पाशाङ्कुशत्र्यक्षरीति* । पाशमायाङ्कुशत्र्यक्षरीत्यर्थः । भूमिर्देवता ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

वाक्स्तम्भनकृदाह—*लान्त इति* । *लान्ते*—क्षकारे । नाम—लिखेत्सम्प्रदायात् । लकारविदर्भितमिति ज्ञेयम् ॥ *तमिति* । लकारम् । अथवा लान्ते नाम लकारदर्भमभितो भूयस्तमिति पठनीयम् ॥ *अभित इति* । कर्णिकायामेव लाष्टकलिखनम् । पूर्वयावेदिक्ष्वित्यस्याप्ययमेवार्थः ।(१) अष्टसु दिक्ष्वित्येव । तच्च वक्ष्यमाणभूगृहान्तः । *उरगेन्द्रभुजगा(१)विति* । वासुकि शङ्खपालौ । स्वचिह्नयुतौ *लिखेदिति* गैरिकेण(२) । *निर्माल्ये इति* । शिवनिर्माल्ये । अपेक्षितार्थद्योतनिकोक्तः—*द्विषां वाचां स्तम्भनं वितनुते* शिलाक्रान्तमिति ज्ञेयम् । तदुक्तं *नारायणीये* मांसा(३)ष्टकवृते क्षार्णे नाम मांसविदर्भितम् । साष्टाशावज्रमैन्द्रं पार्थिवाहिवृतं लिखेत् ॥ आस्ये च फणिनाराख्यां बिभीतफलकेऽर्पितम् । गैरिकेण शिलाक्रान्तं निर्माल्येस्तम्भकृत् खनदि"ति ॥ ६५ ॥

अन्यच्च वाक्स्तम्भनकृदाह—*साध्येति* । लिखेदित्यष्टदलकर्णिकायाम् । *तदिति* । हुम् । *अन्येषु*-विदिक्पत्रेषु । *ग्लामिति* । महीपुरस्य कोणेषु । *लिखेदिति* । वक्ष्ये निशा(४)रसैरिति ज्ञेयम् । *रात्रिविनायकान्तरगतं*—हरिद्रागणपतिमूर्तिं कृत्वा तदुदरे यन्त्रं स्थापनीयमिति सम्प्रदायविदः । केचित्तु—हरिद्रागणपतिमन्त्रेण संवेष्टितमिति वदन्ति। तदसाम्प्रदायिकम् । मन्त्रस्यानुद्धृतत्वादित्तम् ॥ ६६ ॥

पूजितमिति । पीतपुष्पैः । विनायको देवता । वैरिणां वाचामिति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ वैरिणां सेनादीनामित्यत्र आदिशब्देन विवादगत्यादि । तदुक्तं *नारायणीये*—"लिखेद्वक्ष्ये निशारसैः । विघ्नस्य कुक्षौ निःक्षिप्य निशापिष्टमयस्य तत् ॥ शरावसम्पुटे स्थाप्य पीतपुष्पैश्च पूजयेत् । स्तम्भः स्याद्दुष्टसेनावाग्विवादागमनादिष्वि"ति ॥ ६७ ॥

---

(१) भुजगाधिपतीइतितदर्थः ।
(२) एतत्तन्त्रान्तरादुद्धृतं वेदितव्यम् ॥
(३) मांसं—लकारः ।
(४) निशा—हरिद्रा । "निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रावरवर्णिनी"त्यमरः ।

कृत्वा रेखाष्टकमृजुपुनस्तिर्यगालिख्य षट्कं
ब्राह्याद्वृत्याल्लिखतु विधिवद् बिन्दुयुक्तं लकारम् ।
अन्तः पङ्क्तौ लिखतु धरणीं शिष्टकोष्ठत्रयाणाम्
कृत्वा नामप्रथितमुदितं यन्त्रमेतज्ज्वरघ्नम् ॥ ६८ ॥

यन्त्रमेतत्समभ्यर्च्य दत्त्वा भूतबलिं ततः ।
साध्यस्य मूर्ध्नि बध्नीयात्सर्वज्वरविमुक्तये ॥ ६९ ॥

तारं लिखेद्वह्निपुरस्य युग्मे तत्पार्श्वयोर्लार्णमथाग्निबीजम् ।
कोणेषु पूर्वापरयोश्च मन्त्रं पाशाङ्कुशावीतमिदं ज्वरघ्नम् ॥ ७० ॥

यन्त्रमभ्यर्च्य मन्त्रेण तारपाशाङ्कुशात्मना ।
निबध्नीयाज्ज्वरार्तस्य हस्तादौ ज्वरशान्तये ॥ ७१ ॥

पिण्डे लिखेन्नाम ससर्गटान्तविदर्भितं सस्वरकेसराढ्यम् ।
टान्ताष्टपत्रं वसुधापुरस्थं कान्तिप्रदं यन्त्रमिदं ज्वरघ्नम् ॥ ७२ ॥

तारादि लद्वयजलद्विठवर्णवीता टान्तान्तरे विलिखिता विधिनैव माया ।
साध्याऽऽवृता बहिरधोवदनार्द्धचन्द्रैर्यन्त्रं शिशोरुरुदिषां विनिहन्ति सद्यः ॥ ७३ ॥

ज्वरघ्नमाह—*कृत्वेति । *बाह्यावृत्त्येति* । विंशतिकोष्ठेषु । *विधिवदिति* । प्रादक्षिण्येन । अन्तः पङ्क्तौ द्वादशसु कोष्ठेषु धरणीं लं बिन्दुयुक्तमिति सम्बध्यते । *कोष्ठत्रयान्तः* । कोष्ठत्रयमेकीकृत्य तत्रनाम लिखेत् । *दत्त्वा भूतबलिमिति* । पञ्चवर्णौदनेनेति ज्ञेयम् । तदुक्तं *नारायणीये*—"ऋजुरेखा लिखित्वाष्टौ षट्तिर्यक् चावृतिद्वये । नारीराज्यपुटेत्येन्द्रौ लेख्यौ नाम पदत्रये ॥ पाञ्चवर्णबलिं दत्त्वा कलयेच्चक्रमार्चितौ । ऐकाहिकद्व्यहदैनादि ज्वरामासप्रशान्तय इति । *अपेक्षितार्थद्योतनिकायां*—पञ्चवर्णोदनबलिं दत्त्वेति व्याख्यातम् ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

अन्यज्ज्वरघ्नमाह—*तारमिति* । वह्निपुरस्य युग्मे दक्षिणोत्तररूपेण लिखिते । *तत्पार्श्वयो* स्तारपार्श्वयोः । *लार्णमथ कोणेष्वग्निबीजं*—सर्वेषु कोणेष्वित्यर्थः । *पूर्वापरयोश्च* दिशोर्बहिर्भागस्थयोः । *पाशाङ्कुशेति* । अन्येतु गुणाङ्कुशावीतमिति पाठमपठन् । गुणशब्देन-त्रिसङ्ख्या, तेन पूर्वापरभागयोः प्रत्येकमङ्कुशत्रयं लिखेदित्यर्थः । तदुक्तं *नारायणीये*—सौम्ययाम्यमुखे तारं लिखेद्वह्निपुरद्वये । तारस्य पार्श्वयोरिन्द्रं कोणकोष्ठेषु चानलम् ॥ प्राक्प्रतीच्योर्बहिश्चक्रमङ्कुशत्रयभूषितमि"ति । अत्र प्रणवपाशाङ्कुशात्मैव देवता ॥ ७० ॥ ७१ ॥

अन्यज्ज्वरघ्नमाह*—*पिण्ड इति* ॥ पिण्डे–पूर्वोक्ते । *ससर्गटान्त*—सविसर्गठकारविदर्भितं नामेत्यन्वयः । अत्र पिण्डात्मा देवता ॥ ७२ ॥

शिशुरोदनहृदाह—*तारेति* । लुद्वयं-लुलु । जलं–वं, द्विठः–स्वाहा । विधिनैव *साध्या* साध्योऽस्यामस्तीति साध्या । अर्शआदित्वादच् (प्रत्ययः) । मध्ये साध्यनामयुक्ताम् । एतन्मात्राऽऽवृतां च मायां विलिख्य बहिर्वृत्तद्वयं कृत्वा तत्राधोमुखैरर्द्धचन्द्रैः सम्वेष्ट्य बध्नीयात् । अधोवदनैरधोमुखैरर्द्धचन्द्रैर्वृतं "द्विरि"ति शेषः । "द्वेधा शिशोरुरुदिषां विनिहन्ति यन्त्रमि"ति वा पठनीयम् । उक्तं च *नारायणीये*—"तारं लुयुग्ममुदकं शिर एभिरर्णैः शक्तिवृंता च शिशुनामवती शशाङ्कौ । अर्द्धेन्दुकैर्बहिरधोवदनैः परीतौ यन्त्रं तदाशुशिशुरोदनमुत्क्षिणोती"ति । व्याख्यातं * चापेक्षितार्थद्योतनिकायाम्*—देवीं लिखित्वा तन्मध्ये शिशुनाम लिखित्वा ॐ लुलु वं स्वाहेति मन्त्रेण तां मालेव वेष्टयित्वा तद्बहिश्चन्द्रमण्डलद्वयं विलिख्य एकैकमधोमुखार्द्धेन्दुभिः सम्भूष्य बध्नीयादिति । शक्तिर्देवता ॥ ७३ ॥

व्योमार्णमालिख्य सबिन्दुमाख्याविदर्भितं लत्रययुक्तकोणे ।
वसुन्धरागेहयुगे निबद्धं यन्त्रं समस्तज्वरनाशनं स्यात् ॥ ७४ ॥
सार्णं नाम विदर्भितं परिलिखेद् बाह्येऽष्टपत्रे भृगुं
पद्मं स्यादथ कादिशान्तलिपिमत् त्रिंशद्दलस्वाह्यतः ॥
वीतं तोयपुरेण यन्त्रमुदितं भुर्जोदरे कल्पितम्
भूतव्याधिमहाज्वरप्रशमनं कृत्यापहं श्रीपदम् ॥ ७५ ॥
चक्रे चतुःषष्टिपदे सबिन्दूनन्तस्थवर्णान् क्रमशो विलिख्य ।
रेखाशिरः कल्पितशूलयुक्ते यन्त्रेऽथशीतज्वरशान्तिहेतोः ॥ ७६ ॥
पुटितभूमिपुरद्वयमध्यतः प्रविलिखेद्वनितां गिरिजापतेः ।
प्रणवमस्य लिखेद्वसुकोणगं ज्वरहरं परमेतदुदीरितम् ॥ ७७ ॥
वार्णे लिखेन् नाम शशाङ्कमध्ये टान्तं बहिर्भूमिपुरं पुरस्तात् ।
वृत्तावृतं यन्त्रमिदं समुक्तं वश्याय नृणां सकलार्तिशान्त्यै ॥ ७८ ॥
सस्वस्तिके दहनगेहयुगे ससाध्यां मायां लिखेन्नागलतादलान्तः ।
पाशाङ्कुशावृतमिदं निशि तापयेद्योमन्त्रं जपन् व्रजति तं स्वयमेव साध्यः॥७९॥

ज्वरघ्नमाह—*व्योमेति* । व्योमार्णं हकारं, कीदृशं ? बिन्दुश्च मश्च बिन्दुमौ ताभ्यां सहितं सबिन्दुमं तच्च तत् आख्याविदर्भितं च सबिन्दुमाख्याविदर्भितमालिख्य "मध्य" इति शेषः । तेन ह्लं साध्यसाधकनामाक्षरविदर्भितं मध्ये लिखेदित्यर्थः । एकैकस्मिन् कोणे लत्रयं लिखेत् । *निबद्धं* "हस्तादावि"ति शेषः। तदुक्तं *नारायणीये* "लत्रयं तस्य कोणेषु मध्ये च सविषं वियत् । आख्याविदर्भितं यन्त्रमेतत्सर्वज्वरापहमि"ति ॥ व्योम देवता॥७४॥

यन्त्रान्तरमाह—*सार्णमिति* । *परिलिखेदित्यष्टदलकर्णिकायाम् । *अष्टपत्रेष्विति* । वद्धव्ये बाह्य इति वदन्ति तेन व्यधिकरणे सप्तम्यौ । तेनाष्टपत्रेषु बहिर्भागे । *भृगुं* सकारं लिखेत् । पत्रमूले केसरस्थाने द्विद्विक्रमेण स्वरा लेख्या इत्यभिप्रायः । तदर्थं केचिद्वर्णाष्टपत्र इति पठन्ति । अन्येऽष्टपत्र इति पठन्ति । अत्र मातृका देवता ॥ ७५॥

ज्वरघ्नमाह—*चक्र इति* । *अन्तस्थवर्णान्*-यरलवान्विलिख्य । *क्रमश* इत्यनेनै तदुक्तं—प्रथमावृत्तौ अष्टाविंशतिकोष्ठेषु सबिन्दुं यं, द्वितीयावृत्तौ विंशतिकोष्ठेषु सबिन्दुं रं, तृतीयावृत्तौ द्वादशसु कोष्ठेषु सबिन्दुं लम् । अन्तःकोष्ठचतुष्टये सबिन्दुंवम् । इति। लिखनं च तत्तद्भूतवर्णद्रव्येण भूमाविति ज्ञेयम् । तदुक्तं *नारायणीये*—"चतुःषष्टिपुटे क्षेत्रे षट्त्रिंश-च्छूलदीपिते । जरानारीत्रपोभानुकोष्ठेषु वृत्तिषु क्रमात् ॥ लिखेत्सबिन्दूनन्तस्थान् चक्रं तद्भूस्थमर्चयेत् । नश्यन्त्यस्य शयानस्य ज्वराः सर्वे विधानत" इति । *अपेक्षितार्थद्योतनि-कायाम्*—तत्तद्वर्णद्रव्येण भूमौ लिखित्वा तत्र शय्यामापादयेति व्याख्यातम् । वाय्वग्निभूज-लानि देवता ॥ ७६ ॥

अन्यदप्याह—*पुटितेति* । *गिरिजापतेर्वनितां* मायाम् । शक्तिर्देवता ॥ ७७ ॥

वश्यकृदाह—*वार्णे इति* । *शशाङ्कमध्ये* वकारमध्ये । *वार्णे इति* । व्यधिकरणे सप्तम्यौ । *टान्तं बहिरिति* । ठकारेण वेष्टयेत् । चन्द्रो देवता ॥ ७८ ॥

स्त्रीवश्यकृदाह—*सेति* । *पाशाङ्कुशावृतमिति* । षट्कोणान्ततः । *नागलतेति* । अखण्डताम्बूलपत्रे ॥ *मन्त्रमिति* । पाशाङ्कुशपुटा शक्तिः । एषपक्षः साम्प्रदायिकः । *ताप-येदिति* । दीपशिखायाम् । तदुक्तं *मायाद्यैः*—"हृल्लेखाग्निस्थसाध्याह्वयमथबहिरां क्रों

षट्कोणे निजसाध्यनामसहितां मायां लिखेन्मध्यत-
स्तत्कोणेषु विदर्भितामभिलिखेच्छक्तिं ससाध्याख्यया।
बाह्ये भूमिपुरं सकोणमदनं ताम्बूलपत्रे कृतम्।
जप्तं खादयितुः प्रिया निशि भवेत् सा तस्य वश्या चिरम् ॥ ८० ॥
शक्तौ नाम लिखेच्चतुर्भिरभितोबीजैः समावेष्टयेत्।
वीतं शक्तिमनोभवाङ्कुशमनुं प्रों बीजकैः पिष्टजे।
रूपे साध्यनरस्य जप्तपवनं त्रिस्वादुना भर्ज्य त-
त्खादेत् तस्य वशं प्रयाति नियतं साध्यः सदा दासवत् ॥ ८१ ॥

वृतं वह्निगेहद्वन्द्वास्त्रिस्वस्तिकाढ्यं प्रविलिखतु दले यन्त्रकं नागवल्याः। जप्त्वा शक्तिं तु पाशाङ्कुशलिपिसहितां तापयेद्दीपवह्नौ नक्तं भक्ता नताङ्गीस्मरशरविवशा प्रेमलोलाभियाती"ति। शक्तिर्देवता ॥ ७९ ॥

अन्यदप्याह—*षडिति*। अत्रापि शक्तिर्देवता। *ताम्बूलपत्रे कृतमिति*। कोकिलाक्षकण्टकैरिति शेषः। *जप्तं*—"मायये"ति शेषः। *अन्यत्र तु विशेषः*—कामस्य षट्कोणेषु लेखनं साध्यविदर्भशक्त्या बहिर्वेष्टनमिति। मूले वा "लिखेच्च स्मरमि"ति पाठः साम्प्रदायिकः। *तदुक्तमाचार्यैः*—"शक्तिस्थं निजनाम वह्निभवनद्वन्द्वोदरे मान्मथं बीजं साध्यविदर्भया परिवृतं शक्त्या बहिः पार्थिवम्। तत्कोणस्मरमन्यपुष्टनयनप्राच्चैः पुनः कण्टकैस्ताम्बूले लिखिताभिजप्तम(१)दयेद्योषिन्मनोमोहनमि"ति। *खादयितुरि*त्यज्ञातमेव, स्त्रिया विदितं भक्षितं न वशयत्येव। एवमन्यथा प्रयोगेष्वपि साध्यामज्ञाप्यैव देयमिति रहस्यम्। *तन्त्रान्तरे*—"वायारष्टममग्निबिन्दुसहितं संरुद्धमायाक्षरं मध्ये संस्थितसाध्यनामवलयद्वन्द्वावृतं बाह्यतः। तद्बाह्ये दलषोडशस्वरयुतं पश्चान्महीमण्डलं कोणे कल्पितकामबीजकमिदं यन्त्रं जगद्वश्यकमि"ति। *अन्यत्र तु*—"हृल्लेखामध्यसाध्यं वलययुगयुतं चाष्टपत्रं सरोजं यन्त्रे तद्बीजसंस्थं बहिरपि च दलैः षोडशैराढ्यमब्जम्। अब्जस्यालिख्य पत्रे स्वरगगनमितं पार्थिवाख्यं(?) कोणेष्वङ्कारयुक्तं सकलजनमनोहारि कूष्माण्डयन्त्रमि"ति। अत्र तु—"शक्तिस्थं निजनाम वह्निभवने षट्कोणयुक्ते लिखेत् ह्रीकारं परितो विदर्भ्य मतिमान् साध्येन नाम्नाङ्कुशम्। एतत्कण्टकसूचिनं सुविपुले नागस्य पृष्ठे लिखेत्पश्चान्मारुतवेश्मना परिवृतं योषिन्मनोमोहनमि"ति। "कृत्वा षट्कोणमध्यं वियदनलयुतं बिन्दुमाया विविक्तं तत्कोणेष्वङ्कुशाख्यं पुनरपि कमलं शक्तिगर्भाष्टपत्रम्। पश्चात्तच्चतुरस्रपत्रं रजनिकरकलालङ्कृतं गोपुरस्थं भूर्ज्जं गोरोचनासद्रसमदराचतं वश्यमाहुर्मुनीन्द्रा" इति ॥ *तन्त्रान्तरे आचार्याश्च*—"शान्तं शिखालवयुतं दहनांशसाध्यं मायां ससाधकमथाभिवृतं कलाभिः। मध्याह्लसद्विमुखशूलमिदं तु भर्तृयन्त्राह्वयं नरनताङ्गिवशीकरं स्यात ॥ मृत्कारपुत्तलिकात्तया सङ्कुलासान्तवसायुक्तया साध्यस्याङ्घ्रिरजोयुजा मृदुमृदा क्लृप्तस्य शक्तिं हृदि। रूपस्याभिविलिख्य तद्विवरके साध्यं तद्द्वाराप्रतिष्ठाप्याजप्य निखन्य तत्र दिनशो मेहेच्चिरं वश्यकृदि"ति ॥ ८० ॥

वश्यकृदाह—*शक्ताविति*। साध्यनरस्य पिष्टजे रूपे प्रतिकृतिहृदय इत्यर्थः। शक्तिं विलिख्य तत्र कर्मसहितं साध्यनामालिख्य तां शक्तिं चतुर्भिर्बीजैर्वेष्टयेत्। तत्र केचनोपदेशान्नृसिंहचिन्तामणिशक्तिदुर्गाबीजानीत्याहुः। अन्ये तु चतुर्भिर्बीजैः समावेष्टयेदित्युक्तं तदेव विशदयति—*वीतं शक्तीत्यादिना*। पुनः श्लोकोक्तैश्चतुर्भिर्बीजैर्वीतं कुर्यात्। अत्र केचन मक-

---

(१) अत्रसन्ध्यभावः। "संज्ञापूर्वकोविधिरनित्य" इति स्मरणात्॥

कामं लिखेत्साध्ययुतं सरोजे स्वरोल्लसत् केसरपत्रके ।
वर्णोर्वितं मन्मथयन्त्रमेतत्सौभाग्यलक्ष्मीविजयप्रदायि ॥ ८२ ॥

स्त्रींबीजकैरिति पठित्वा पाँमति पक्षं वदन्ति । तदसङ्गतम् । तन्त्रान्तरविरोधात् । यदाहुः "मदनस्यान्तः स्थितसाध्यनामपरितो बीजैश्चतुर्भिः समावद्धं शक्तिमनोभवाङ्कुशक्तिपिप्रोभिः समावेष्टितमिन्ति । अत्र *पद्मपादाचार्यैर्व्याख्यातं*—समावेष्टितमिति समावद्धमित्यस्य व्याख्येति । केचिच्चतुर्भिः शक्तिबीजैरित्याहुः । *जलपवनं*—प्रतिष्ठितप्राणम् षक्तिदेवता ॥८१॥

यन्त्रान्तरमाह—*काममिति* । अत्र कामो देवता ।

कानि चित् सिद्धयन्त्राणि सिद्धयोगेश्वरीमतात् । सर्वलोकानुग्रहाय लिख्यन्तेऽत्र मया स्फुटम् ॥ कर्णिकायां लिखेन्नामपुटितं मायया बहिः ॥ १ ॥
अष्टपत्रेषु विन्यस्य नामाघोरेश्वरावृतम् । अघोरेश्वरि ! हुं फट्(?) मन्त्रः प्रोक्तोऽथर्ववैदिकः ॥२॥
द्वात्रिंशदक्षराघोरंत्वष्टपत्रेषु बाह्यतः । त्रिगुणं माययावेष्ट्य रेखान्ते क्रीं नियोजयेत् ॥ ३ ॥
भूतप्रेतपिशाचानां शाकिनीग्रहरक्षसाम् । दोषं बाहुस्थिता हन्ति रक्षेयं विधिना कृता ॥ ४ ॥
कर्णिकायां लिखेन्नाम तद्बहिस्त्र्यक्षरं मनुम् । अष्टपत्रेषु मायां च कांस्यपात्रे सुनिर्मले ॥ ५ ॥
रोचनालिखिते यन्त्रे क्षीरमध्ये निवेशिते । स वशो जायते तस्य माया तारपुटोमनुः ॥ ६ ॥
श्रीबीजपुटितं नाम लिखेत्पत्रचतुष्टये । तस्मिन्नाज्ये विनिःक्षिप्ते गृहान्तर्वा विलम्बिते ॥ ७ ॥
शान्तिर्लक्ष्मीर्यशः पुष्टिः सततं तस्यजायते । नव्याधिर्नभयं शत्रुर्यन्त्रसामर्थ्ययोगतः ॥ ८ ॥
ज्वालावृतं त्रिकोणेषु हुं युतं वह्निमण्डलम् । रेफेण पुटितं नाम मध्ये शक्त्या बहिर्वृतम् ॥ ९ ॥
श्मशानकर्पटे किंवा कपाले लिखितं द्रुतम् । तापितं वैरिणः कुर्याज्ज्वरं रौद्रं न संशयः ॥१०॥
पद्ममष्टदलं मध्ये नाम संलिख्य दिक्षु(?) घः । हुं विदिक्षु स्थिता क्षीरे रक्षा द्यूते जयावहा ॥११॥
नभोमण्डलमध्यस्थं नाम बाह्येऽथ षोडश । स्वरास्तद्बाह्यतो ज्वाला जटिलं वह्निमण्डलम् ॥१२॥
श्मशानकर्पटे लेख्यं धत्तूरस्य रसेन च । प्रेतभूनिहितं यन्त्रमिदं सौभाग्यनाशनम् ॥ १३ ॥
कर्णिकायां लिखेन्नाम चतुः पत्रे तु ह्रीं कजे । रोचना हस्तिदानाभ्यां कुङ्कुमेन शुभे दिने ॥१४॥
वेष्टयित्वाऽथ सिक्थेन घृतयन्त्रे धृते सति । सौभाग्यमतुलं स्त्रीणां जायते जोनितादपि ॥१५॥
अष्टपत्राम्बुजे मध्ये सविसर्गमवेष्टितम् । नामतद्बाह्यपत्रेषु सपरः सविसर्गकः ॥ १६ ॥
रोचनाकुङ्कुमेनेदं यन्त्रं संलिख्य दापयेत् । कारागृहगतोयस्तु तस्य मोक्षः प्रजायते ॥ १७ ॥
अष्टपत्राम्बुजे मध्ये नाम ह्रीं दिग्दलेषु च । क्रोमन्यतो लिखित्वा तु यन्त्रं देवकुले धृते ॥ १८ ॥
व्याधिना मुच्यते प्राणी बलमाप्नोति दुर्बलः । चतुरस्रे शिखाहीनहकारोदरस्थितम् ॥ १९ ॥
नाम तद्बाह्यतो लेख्यं भूपुरं कोणशक्तिगम् । काकपिच्छस्य लेखन्या लिखित्वेदं शरावके ॥२०॥
सम्पूर्याधोमुखं भूमौ मूर्छिते तस्य चोपरि । विवादे दुष्टचित्तानां विपरीतार्थभाषिणाम् ॥२१॥
मुखस्तम्भो भवेत्पुंसां सभायां वाजयोध्रुवम् । लकारपुटितं नाम तस्योर्ध्वाधश्चलद्वयम् ॥२२॥
चतुरस्रद्वयं बाह्ये वृतं सर्वत्र शक्तिभिः । भूर्ज्जे रोचयालिख्य गुप्तदेशे धृते सति ॥ २३ ॥
शतयोजनमध्वानं गच्छतो न भयं भवेत् । अष्टपत्राम्बुजे मध्ये नाम ह्रीं दलसद्वये ॥ २४ ॥
बहिर्वृत्तद्वयं भूर्ज्जे लिखेत्कुङ्कुमगोमृदा । अजितानाम विधेयं संग्रामे विषमेऽध्वनि ॥ २५ ॥
भूपालादिभयं रक्षां कुरुते बाहुसंस्थिता । प्रणवद्वयमध्यस्थं नाम मध्ये चतुर्दले ॥ २६ ॥
त्रयः पश्चिमदिक् पत्रे प्रणवाः पूर्ववत्त्रयः । एकैकमुत्तरे दक्ष भूर्ज्जे रोचनया लिखेत् ॥ २७ ॥
जीवरक्षेयमाख्याता व्याधौ जातेऽतिदुःसहे । वं चतुष्टयमध्यस्थं नाम मध्ये ततो बहिः ॥२८॥
अष्टपत्रेषु रं लेख्यं रोचना चन्द्रकुङ्कुमैः । इयं वैश्वानरी रक्षा बालानां कण्ठसंस्थिता(१४)॥२९॥
वृत्तमध्यस्थितं नाम तद्बहिश्चतुरस्रकम् । तद्बाह्येस्युः स्वराः सर्वे तद्बहिर्वृत्तं समालिखेत् ॥३०॥
तत्र द्वादशपत्राणि कल्पयेदेतदन्तरे । वज्री वज्रीति रक्षेयं पञ्चदिव्यनिरोधिनी ॥ ३१ ॥
ज्वालावृत्तत्रिकोणान्तर्नाम जम्पुटितं बहिः । वेष्टितं सविसर्गैर्वैस्तद्बहिर्वह्निमण्डलम् ॥ ३२ ॥

काश्मीररोचना लाक्षा मृगेभमदचन्दनैः ।
विलिखेत् हेमलेखन्या यन्त्राण्येतानि देशिकः ॥ ८३ ॥
भूमिस्पृष्टं शवस्पृष्टं दग्धं निर्माल्यसंगतम् ।
विशीर्णं लङ्घितं मन्त्री यन्त्रं जातु न धारयेत् ॥ ८४ ॥
अथानन्दमयीं देवीं शब्दब्रह्मस्वरूपिणीम् ।
ईडे सकलसंपत्त्यै जगत्कारणमम्बिकाम् ॥ ८५ ॥

ज्वालाकुलमिदं भूर्जे गोमूत्रा कुङ्कुमेन च । लिखित्वा स्वकरे बद्धं ज्वरं चातुर्थिकं हरेत् ॥३४॥
वृत्तान्तः संस्थितं नाम वह्निरों ह्रीं नमोऽक्षरैः । वेष्टितं स्वथ तद्बाह्ये कोणे जं बाह्निमण्डले॥३५॥
तद्बाह्ये क्ष्मापुरं वीतं चतुः कोणेषु शक्तिभिः । एकान्तरं ज्वरं हन्ति रक्षेयं बाहुसंस्थिता ॥३६॥
कर्णिकायां लिखेन्नाम रूंबीजानि दलाष्टके । रोचनाचन्दनेनेदं याहिकज्वरनाशनम् ॥ ३७ ॥
षट्कोणमध्यतो नाम रूं कोणेषु समालिखेत् । भित्तौ खटिकया दृष्टं सततज्वरनाशनम् ॥३८॥
वसभेतिपदं वायुदीक्षात्यमनिलं शिरः । एतत्स्तम्भनकृन्मन्त्रमेरुस्थाब्जदलार्पितम् ॥ ३९ ॥

तालेनेन्दौ लिखेद्बद्धे वैरिनामेन्दुदर्भितम् ।
सेनामार्गे खनेदेतत्सैन्यस्तम्भनमुत्तममि"ति ॥ ४० ॥ ८२ ॥

नारायणीययन्त्रलिखनद्रव्याण्याह—*काश्मीरेति* । काश्मीरं—कुङ्कुमम् । रोचना—गोरोचना । लाक्षा—यावकः । अनेनैव सर्वेषां घर्षणम् । मृगमदः—कस्तूरी । इभमदो—गजमदः । एभिर्मिलितैरेव लेखनम् । यदाहुः—"गजमृगमदकाश्मीरैर्मन्त्रितमः सुरभिरोचनायुक्तैः । विलिखेदलक्तकरसालुलितैर्यन्त्राणि सकलकार्यार्थी"ति । *अन्यत्र द्रव्यविशेषोऽप्युक्तः*—"नागेन्द्रमदयुक्तावं तथावश्ये च रोचना । विषधत्तूरयुक्तेन चिताङ्गारेण सतुषा ॥ ताडनोच्चाटनादीनि क्षुद्रकर्माणि साधयेत् । विषकक्षीरगुञ्जायाः संयोगे मारणं स्मृतमि"ति । *हेमले खन्येति* । शुभकर्मादौ । अन्यकर्मणितु षट्कर्मोक्ता लेखन्यो द्रष्टव्याः । लिखनं च साक्षादुपाधारस्थलं विना अन्यत्र काञ्चनरजतताम्रपत्रभूर्जादिषु ज्ञेयम् । तत्र कालविशेषोऽपि पूर्वोक्तोऽनुसन्धेयः । *अन्यत्राधारविशेषा अप्युक्ताः*—"शान्तिके पौष्टिके चैव आयुः कामविधौ तथा । सर्पोपशमने चैव आयुः कामविधौ तथा । सर्पोपशमने चैव जलसंस्तम्भने तथा ॥ विभ्रमोत्पादने चैव शिलायां तु प्रशस्यते । खड्गचर्मणि विद्वेषमहदुच्चाटनव्रजे ॥ ज्वरसंतापशोकश्च शत्रूणां मारणं तथा । लिखित्वा साधयेत्सर्वं पीतवस्त्रे तु नान्यथे"ति । *तथामुहूर्तादिविशेषोपि तन्त्रान्तरोक्तोलिख्यते*—"सुदिने शुभनक्षत्रे सुदेशे शल्यवर्जिते । सन्निष्पस्तत्र आचार्यः शिष्यो वा तदभावतः ॥ उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा उपविश्य प्रणम्य च । गुरुं विघ्नेश्वरं देवं ततो यन्त्रं समालिखेदि"ति । *कामनाविशेषे नक्षत्रविशेषोऽपि तत्रैवोक्तः*—"वश्याकृष्टौ लिखेत्पुष्येऽहिभे विद्वेषणं स्मृतम् । आर्द्रायां मारणं प्रोक्तं मघासूच्चाटने भवेदि"ति । अहिभे—अश्लेषायाम् । *तत्रैव धारणे स्थानविशेषोऽपि* "करे कण्ठे शिखायां च यथा संनिहितं भवेदि"ति । इमानि पूर्वोक्तान्यपि यन्त्राणि यस्मै कस्मै यथाकथञ्चिन्न देयानि । तदुक्तं हिरण्यगर्भसंहितायाम्—"त्वया पुत्र ! न दातव्यं यन्त्रमेतन्महोदयम् । नाशिष्याय न पापाय नाशास्तायाप्रियाय च ॥ शिष्याय सम्प्रनिष्ठाय शुभभक्तियुताय च । वसुप्रदाय दातव्यमन्यथा नरकं व्रजेदि"ति ॥ ८३ ॥

भूमिस्पृष्टमिति । साक्षात् ॥ ८४ ॥
ईडे—स्तौमि ॥ ८५ ॥

आद्यामशेषजननीमरविन्दयोनेर्विष्णोः शिवस्य च वपुः प्रतिपादयन्तीम् ।
सृष्टिस्थितिक्षयकरीं जगतां त्रयाणां स्तुत्वा गिरं विमलयाम्यहमम्बिके ! त्वाम् ॥ ८६
पृथ्व्या जलेन शिखिना मरुताम्बरेण होत्रेन्दुना दिनकरेण च मूर्तिभाजः ।
देवस्य मन्मथरिपोरपि शक्तिमत्ताहेतुस्त्वमेव खलु पर्वतराजपुत्रि ! ॥८७॥
त्रिः स्रोतसः सकललोकसमर्चितायाः वशिष्ट्यकारणमवैमि तदेव मातः ! ।
त्वत्पादपङ्कजपरागपवित्रितासु शम्भोर्जटासु सततं परिवर्तनं यत् ॥ ८८ ॥
आनन्दयेत् कुमुदिनीमधिपः कलानां नान्यामिनः कमलिनीमथ नेतरां वा ।
एकस्य मोदनविधौ परमेकमीष्टे त्वं तु प्रपञ्चमभिनन्दयसि स्वदृष्ट्या ॥८९॥
आद्याप्यशेषजगतां नवयौवनासि ।
शैलाधिराजतनयाप्यतिकोमलासि ।
त्रय्याः प्रसूरपि तया न समीक्षितासि ।
ध्येयासि गौरि ! मनसो न पथि स्थितासि ॥ ९० ॥
आसाद्य जन्म मनुजेषु चिराद् दुरापं तत्रापि पाटवमवाप्य निजेन्द्रियाणाम् ।
नाभ्यर्चयन्ति जगतां जनयित्रि ! ये त्वां निःश्रेणिकाग्रमधिरुह्य पुनः पतन्ति ॥९१॥
कर्पूरचूर्णहिमवारिविलोलितेन ये चन्दनेन कुसुमैश्च सुजातगन्धैः ।
आराधयन्ति हि भवानि ! समुत्सुकास्त्वां ते खल्वशेषभुवनाधिभुवः प्रथन्ते ९२
आविश्य मध्यपदवीं प्रथमे सरोजे सुप्ताहिराजसदृशी विरचय्य विश्वम् ।
विद्युल्लतावलयविभ्रममुद्वहन्ती पद्मानि पञ्च विदलय्य समश्नुवाना ॥ ९३ ॥
तन्निर्गतामृतरसैरभिषिक्तगात्री मार्गेण तेन निलयं पुनरप्यवाप्ता ।
येषां हृदि स्फुरसि जातु न ते भवेयुर्मातर्महेश्वरकुटुम्बिनि ! गर्भभाजः ॥९४॥
आलम्बिकुन्तलभरामभिरामवक्त्रामापीवरस्तनतटीं तनुवृत्तमध्याम् ।
चिन्ताक्षसूत्रकलशालिखिताढ्यहस्तामावर्तयामि मनसा तव गौरि ! मूर्तिम् ९५
आस्थाय योगमविजित्य च वैरिषट्कमाबध्य चेन्द्रियगणं मनसि प्रसन्ने ।
पाशाङ्कुशाभयवराढ्यकरां सुरक्तामालोकयन्ति भुवनेश्वरि ! योगिनस्त्वाम् ॥९६॥

वपुः प्रतिपादयन्तीमिति । एषां विग्रहत्वे कारणम् । अतएवाग्रिमे विशेषणम् । अहं त्वां स्तुत्वा गिरं विमलयामीति सम्बन्धः ॥ ८६ ॥

पृथ्व्येत्यष्टमूर्त्त्युपन्यासः । *शक्तिमत्तेति* । अन्यथाऽसंगत्योदासीनत्वात् ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

नान्यां कमलिनीम् । *नेतरां*-कुमुदिनीम् ॥ ८९ ॥

आद्येत्यादि—विरोधाभासचतुष्टयम् । *न समीक्षिता*-इत्यस्तया न ज्ञातेति परिहारः।
मनसो न पथि स्थितेति । अचिन्त्यरूपेति परिहारः ॥ ९० ॥

मनुजेष्विति । मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य ॥ ९१ ॥

अधिभुवो-नायकाः । "अधिभूर्नायकोनेतेत्यमर" इति कोशः ॥ ९२ ॥

आविश्येति । मध्यपदवीम् । सुषुम्णामध्यमार्गम् । *विद्युल्लतेति* । कुण्डलीरूपाम् ।
प्रथमे सरोजे-आधारे । अत्र प्रथम इत्याद्युद्वहन्तीत्यन्तमनूद्य मध्यपदवीमाविश्य पञ्चपद्मानि विदलय्येत्यन्वयः । *पञ्चपद्मानि* स्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञाख्यानि । सं-ब्रह्मरन्ध्रम् ॥ ९३ ॥ ९९ ॥

उत्तप्तहाटकनिभैः करिभिश्चतुर्भिरावर्जितामृतघटैरभिषिच्यमाना ।
हस्तद्वयेन रुचिरे नलिने वहन्ती पद्मापि साभयवरा भवसि त्वमेव ॥ ९७ ॥
अष्टाभिरुग्रविविधायुधवाहिनीभिर्दोर्वल्लरीभिरधिरुह्य मृगाधिराजम् ।
दूर्वादलद्युतिरमर्त्यविपक्षपक्षान् न्यक्कुर्वतो त्वमसि देवि! भवानि! दुर्गा ॥ ९८॥
आविर्निदाघजलशीकरशोभिवक्त्रां गुञ्जागुणेन परिकल्पितहारयष्टिम् ।
पत्रांशुकामसितकान्तिमनङ्गतन्त्रामाद्यां पुलिन्दतरुणामसकृत्स्मरामि ॥ ९९ ॥
हंसैर्गतिक्वणितनूपुरदूरकृष्टैर्मूर्तैरिवार्थवचनैरनुगम्यमानौ ।
पद्माविवोर्ध्वमुखरूढसुजातनालौ श्रीकण्ठपत्नि!शिरसैव दधे तवाङ्घ्री॥१००॥
यस्यां समीक्षितुमतृप्तिमतेव दृग्भ्यामुत्पाद्य भालनयनं वृषकेतनेन ।
सान्द्रानुरागतरलेन निरीक्ष्यमाणे जङ्घे उभे अपि भवानि! तवानतोऽस्मि॥१०१ ॥
ऊरू स्मरामि जितहस्तिकरावलेपौ स्थौल्येन पाण्डुरतया परिभूतरम्भौ ।
श्रोणीभरस्य सहनौ परिकल्प्य दत्तौ स्तम्भाविवाम्ब! वयसातव मध्यमेन ॥१०२
श्रोण्यौ स्तनौ च युगपत्प्रथयिष्यतोच्चैर्बाल्यात्परेण वयसा परिकृष्टसारः ।
रोमावलीविलसितेन विभाव्यमूर्तिर्मध्यस्तव स्फुरतु मे हृदयस्य मध्ये ॥१०३॥
सख्युः स्मरस्य हरनेत्रहुताशभीरोर्लावण्यवारिभरितं नवयौवनेन ।
आपाद्य दत्तमिव पल्वलमप्रधृष्यं नाभिं कदापि तव देवि! न विस्मरेयम् ॥१०४
ईशोपगूहपिशुनं भसितं दधाने काश्मीरकर्दममनुस्तनपङ्कजेते ।
स्नानोत्थितस्य करिणः क्षणलब्धफेनौ सिन्दूरितौ स्मरयतःसमदस्य कुम्भौ ॥
कण्ठातिरिक्तगलदुज्ज्वलकान्तिधाराशोभौ भुजौ निजरिपोर्मकरध्वजेन ।
कण्ठग्रहाय रचितौ किल दीर्घपाशौ मातर्मम स्मृतिपथं नविलङ्घयेताम् ॥१०५॥
नात्यायतं रुचिरकम्बुविलासचौर्यं भूषाभरेण विविधेन विराजमानम् ।
कण्ठं मनोहरगुणं गिरिराजकन्ये! संचिन्त्य तृप्तिमुपयामि कदापि नाहम् ॥१०७
अत्यायतात्ममभिजातललाटपट्टं मन्दस्मितेन दरफुल्लकपोलरेखम् ।
बिम्बाधरं वदनमुन्नतदीर्घनासं यस्ते स्मरत्यसकृदेव स एव जातः ॥ १०८ ॥

चिन्ता—ज्ञानमुद्रा । *आलिखितं*—पुस्तकम् । इदं सरस्वतीरूपध्यानम् । योगादीनां लक्षणमरिषड्वर्गमनन्तरमेव वक्ष्यति ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

अनङ्गतन्त्राम् । कामप्रधानाम् ॥ ९९ ॥

हंसैरित्यादिना—चरणादि मूर्द्धान्तवर्णना । *वचनं*-शब्दः ॥ १०० ॥ १०१ ॥

अवलेपोगर्व्वः । *मध्यमेन वयसा*-यौवनेन ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

*पल्वल*अल्पसरः ॥ १०४ ॥

पिशुनं—सूचकम् । *भसितं* भस्म ॥ १०५ ॥

कण्ठातिरिक्तेति । हरकण्ठादतिरिक्तौ अधिकौ बन्धनीयादधिकेनैव पाशेन बन्धनं घटते। यद्वा कण्ठात्पार्वतीकण्ठात् । अतिरिक्ते अधिके । अतएव गलन्त्यौ उज्ज्वले ये कान्तिधारे तद्वच्छोभा ययोस्तौ ॥ १०६ ॥

कम्बुः शङ्खः ॥ १०७ ॥

अभिजातम्—सुन्दरम् । दरमीषत् । *सएव जातस्त*स्यैव सार्थकं जन्मेत्यर्थः॥१०८॥

आविस्तुषारकरलेखमनल्पगन्धं पुष्पोपरिभ्रमदलिव्रजनिर्विशेषम् ।
यश्चेतसा कलयते तव केशपाशं तस्य स्वयं गलति देवि ! पुराणपाशः ॥ १०९ ॥
श्रुतिसुचरितपाकं धीमतां स्तोत्रमेतत् पठति य इह मर्त्यो नित्यमार्द्रान्तरात्मा ।
स भवति पदमुच्चैः संपदां पादनम्रक्षितिपमुकुटलक्ष्मीलक्षणानां चिराय ॥ ११० ॥

इति श्रीशारदातिलके चतुर्विंशतितमः पटलः ॥ २४ ॥ * ॥

अथ योगं प्रवक्ष्यामि साङ्गं संवित्प्रदायकम् ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥ १ ॥
जीवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं जगुरागमवेदिनः ॥ २ ॥

---

*पुराणपाशः । अविद्यारूपः ॥ १०९ ॥
धीमतां श्रुत्योः कर्णयोः । सुचरितपाकम् ॥ ११० ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां
चतुर्विंशः पटलः ॥ २४ ॥ * ॥

"लैङ्गी क्रिया मन्त्रवती स्ववेध ज्ञानाह्वयाः पञ्च भवन्ति दीक्षाः । चतुर्विधास्ताः समयाभिधानसामान्यनिर्वाणविशेषदीक्षाः ॥ एवं दीक्षासु सर्वासु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत् । बोधितोऽबोधितश्चेत्स्यान्नान्यथा दीक्षितो भवेदि"त्युक्तेर्योगं विनादीक्षाया अनिर्वाहात्सूर्यमन्त्रादौ च प्रयोगविषये अनेके योगप्रकारा उक्तास्तेषां च ज्ञानाय योगं वक्तुं प्रतिजानीते—*अथेति* । *साङ्गं* यमनियमादियुक्तं *सम्वित्प्रदायकं* नित्यानन्दानुभवरूपमोक्षदायकमित्यर्थः । एते नात्मविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष एतन्मतं निरस्तम् । सुखाभावस्य पुरुषार्थत्वाभावात् । वेदान्तपक्षमाश्रित्याह—*ऐक्यमिति* । तच्च तत्त्वमसीत्यादिश्रुतिसिद्धम् । *यत्प्रयोगसारे*—"निष्कलस्याप्रमेयस्य देवस्य परमात्मनः । सन्धानं योगमित्याहुः संसारोच्छित्तिसाधनमि"ति ॥ १ ॥

शिवप्रोक्तसूत्रमतप्रवृत्तप्रत्यभिज्ञादिग्रन्थमतमाह—*शिवेति* । प्रतिपत्तिर्ज्ञानम् । *परे* शैवाः । *तदुक्तं शिवसूत्रवृत्तौ*—"धीः सात्त्विकी विमर्शेन जायते नियतात्मनः । षडूर्मिमन्ती शिवं प्राप्य लीयते चेन्द्रियैः सहे"ति । *त्रिकभेदेऽपि*—"सत्त्वस्थश्च रजस्थश्च तमस्थो गुणवेदकः । एवं पर्यटते देही स्थानात्स्थानान्तरं व्रजन् ॥ तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहम्बुद्धिवर्त्मना । पुर्यष्टकेन संरुद्धो दुःखं तत्प्रत्ययोद्भवम् ॥ भुङ्क्ते परवशो भोगं तत्र स्थं संहरेच्छिव" इति । *स्वच्छन्दभैरवेऽपि*—"अणुमात्रं शिवानन्दस्फुरणं सर्वदोषहृत् । मनःक्षयविनाशाय मायागच्छेत्समूलत" इति । *आनन्दभैरवेऽपि*—"प्राणादिभावनं त्यक्त्वा तथा तद्रूहरूपसम्पदः । स्वात्मभावेन चित्तेन विशेच्छिवपदं शनै"रिति । उत्तराम्नायमतमाह—*शिवेति* शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं शिवशक्त्योरभेदज्ञानमित्यर्थः । यदाहुः—"एषा बोधमयी शक्तिः परमानन्दरूपिणी । सत्त्वादिगुणसम्बद्धा स्वभावान्तर्गता विभुः ॥ स्वस्वस्थजातानामिह षट्त्रिंशदन्तरम् । सर्वैः शरीरैस्तत्संस्थैरपि मर्त्यैः परस्परम् । अनाथ-

पुराणपुरुषस्यान्ये ज्ञानमाहुर्विशारदाः ।
जित्वाऽऽदावात्मनः शत्रूंकामादीन्योगमभ्यसेत् ॥ ३ ॥
कामक्रोधौ लोभमोहौ तत्परं मदमत्सरौ ।
आ(१)हुर्गैंदुः खदानेतानरिषड्वर्गमात्मनः ॥ ४ ॥
योगाष्टाङ्गैरिमाञ्जित्वा योगिनोयोगमाप्नुयुः ।
यमनियमावासनप्राणायमौ ततःपरम् ॥ ५ ॥
प्रत्याहारं धारणाख्यं ध्यानं सार्द्धं समाधिना ।
अष्टाङ्गान्याहुरेतानि योगिनो योगसाधने ॥ ६ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं कृपाऽऽर्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥ ७ ॥

ध्याससम्बद्धं विस्मृत्यात्मस्वरूपिणी । शिवात्मका भवेदेषा देवी सर्वाङ्गिता शिवे"ति ॥२।

भेदवाददैष्णवादि मतमाह—*पुराणेति* । पुरुषः सांख्यमते, ईश्वरान्यायमते । नारायणो वैष्णवमते । तत्परिचयो योगः ॥ ३ ॥

तत्र पूज्यत्वात्प्रथमोपन्यस्तत्वाच्च प्रथमं मतं ग्रन्थकृत्सम्मतमिति गम्यते । *कामेति* । स्त्रीभोगाद्यभिलाषः कामः । सत्त्वादिजिघांसा–क्रोधः । धनादितृष्णा–लोभः । तत्त्वज्ञानं मोहः । अहं सुखी धनी विद्यावानिति गर्वः मदः । अन्यशुभद्वेषो मत्सर इति । दुःखदानेनात्मनोऽरिषड्वर्गमाहुरित्यन्वयः । आत्मस्वरूपचिन्तनव्यापारतिरोधानेन तेषां शत्रुत्वम् ४

एतज्जयोपायमाह—*योगेति* । तान्याह *यममिति* ॥ ५ ॥ ६ ॥

यमेति । क्रमादेषां स्वरूपमाह—*अहिंसेति* । न कञ्चनहन्मीत्यभ्यासप्रवणताऽहिंसा । असत्यं न वच्मीत्यभ्यासप्रवणचित्तता सत्यम् । चौर्यनिवृत्तिरस्तेयम् । स्त्रीभोगेच्छानिवृत्तिर्ब्रह्मचर्यम् । प्राणिषु क्रूरबुद्धिनिवृत्तिः कृपा । चित्तकौटिल्यनिवृत्तिरार्जवम् । अभिभवं प्रत्यक्रोधप्रवणचित्तता क्षमा । इष्टवस्त्वाद्यलाभतश्चिन्ताभावो धृतिः । क्रमेणाहारापकर्षणाद्यावच्छरीरस्थितिमात्रभोजनं मिताहारः चित्तनैर्मल्यार्थं यथोक्तशौचशीलता शौचम् । *यमा इति* । "यमउपरमे"कामादेर्निवृत्तिरूपा इत्यर्थः । तत्र धृतिः सर्वत्रानुषक्ता । अहिंसाब्रह्मचर्याभ्यां कामस्य जयः । कृपाक्षमाभ्यां क्रोधस्य । अस्तेयसत्यार्जवेभ्यो लोभस्य । मिताहारशौचाभ्यां मोहस्य । क्षमार्जवाभ्यां मदस्य । अहिंसाकृपार्जवक्षमाभ्यो मत्सरस्य इत्यन्यदपि यथायथमूह्यम् । तदुक्तं *संहितायां*—"सर्वेषामपि जन्तूनामक्लेशजननं मुने ! । वाङ्मनः कर्मभिर्नूनमहिंसेत्यभिधीयते ॥ यथादृष्टश्रुतार्थानां स्वरूपकथनं पुनः । सत्यमित्युच्यत" इति । "तृणादेरप्यनादानं परस्वस्य तपोधन ! । अस्तेयमि"ति । "अवस्थास्वपि सर्वासु कर्मणा मनसा गिरा । स्त्रीसङ्गतिपरित्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥ परेषां दुःखमालोक्य स्वस्यैवालोक्य तस्य तु । उत्सादनानुसन्धानं दये"ति । "व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः । सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यं त्वार्जवं भवेदि"ति ॥ "सर्वात्मना सर्वदा वा सर्वत्रास्यापकारिषु । बन्धुष्विव समाचारः क्षमा स्यादि"ति । "इच्छाप्रयत्नराहित्यं ज्ञातेषु विषयेष्वपि । लोभवद्धृतिमि"ति ॥ "भोज्यस्यैव चतुर्थांशभोजनं स्वच्छचेतसः । हितं मेध्यं सुतीक्ष्णेन मिताहारं प्रचक्षते ॥ निर्गतं रोमकूपेभ्यो नवरन्ध्रेभ्य एव च । मलं वदन्ति द्वाराणां क्षालनं शौचमुच्यते ॥ मृज्जलाभ्यां बहिः सम्यगान्तरं त्वथवा पुनः । पूर्वोक्तभूतशुद्ध्यन्तं शौचमाचक्षते बुधा" इति ॥ ७ ॥

---

(१) अत्र वदन्तीति प्रचुरः पाठः ॥

तपः संतोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ॥ ८ ॥
दशैते नियमाः प्रोक्ताः योगशास्त्रविशारदैः ।
पद्मासनं स्वस्तिकाख्यं वज्रं भद्रासनं तथा ॥ ९ ॥
वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम् ।
ऊर्वोरुपरि विन्यस्ते सम्यक्पादतले उभे ॥ १० ॥
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमात्ततः ।
पद्मासनमिति प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम् ॥ ११ ॥
जान्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।

तप इति। कृच्छ्रादिव्रतचर्या तपः । बहुविषयेषूत्तरानभिलाषः सन्तोषः । अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकस्तस्य भाव आस्तिक्यं, परलोकबुध्या धर्माद्याचरणमिति यावत् । यथाविभवन्देवपितृमनुष्योद्देशेन ।वितरणं दानम् । देवस्य पूजन—गुरूक्तरीत्या गुरुदेवमोक्षोपायप्रवृत्तस्य विघ्नाभावाय भवन्ति । सिद्धान्त उपनिषन्मोक्षोपायोपदेशपरिमलादिशास्त्रं तस्य श्रवणम् । परिमलादिकुत्सिताचारात्स्वतउद्वेगे ह्रीः । तथासति चित्तमालिन्येन ज्ञानानुदयात् । मति-मननं तथाच *स्मृतिः* "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरि"ति ।। जप-इत्युक्तप्रकारेण ।। "जपतो नास्ति पातकमि"त्युक्तेः । चित्तशुद्धावुपयोगात् । हुत-मग्निहोत्रादिहोमः । यदकरणे प्रत्यवायाच्चित्तमालिन्ये ज्ञानानुदयात् । यद्वा हुतं मन्त्रजपस्य दशांशहोमः । तथाचोक्तम्—"नाजपात्सिध्यत मन्त्रा नाहुताश्च फलप्रदः । अनर्चिताहरेत्कामान् तस्मात्त्रितयमाचरेत्" इति ॥ ८ ॥

नियमा इति। अवश्यकर्त्तव्यतया नियमत्वमेषां । अतः कदाचिदालस्यादिना त्यागो न कार्यः । तदुक्तं *संहितायाम्*—"तपस्त्वनशनं नाम विधिपूर्वकमिष्यते । अनायासोपवासेन तुष्ट्यर्थं भैक्ष्यसेवनम् । तुष्टिरेवे"ति । "श्रुत्याद्युक्तेषु विश्वास आस्तिक्यं सम्प्रचक्षते । यदिष्टदेवतां ध्यात्वा तदर्पणधियान्वहम् ।। सत्पात्रे दीयतेऽन्नादि तद्दानमभिधीयते॥ इष्टदेवार्चनं सम्यक् विधिपूर्वकमन्वहम् । त्रिसन्ध्यमेकदा वा तु भवत्येव तदर्चनम् ॥ वैष्णवागमसिद्धान्तश्रावणं श्रवणं यथा । श्रुत्यानिभिर्लौकिकैश्च यदत्यन्तविनिन्दितम् ।। तत्राप्रवर्तनं लज्जे"ति । "तर्कैर्यदनुसन्धानं सम्यक् शब्दार्थयोरपि । शास्त्रोक्तयोर्मतिरियमि"ति । "गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य शश्वदावर्तनं जपः । द्रव्यैः कल्पोदितैर्होमो हुतमि"ति ॥ ९ ॥

आसनपञ्चकमिति। स्थितं श्रम(१)स्तल्पादौ दण्डवत्पतितं तु निद्राभिभवतीत्युपविष्टस्यैव ज्ञानाभ्यासाधिकारस्तत्र यथा कश्चिदुपवेशने रोगात्कुण्डल्यानुगुणाभावश्च तस्मात्पद्मासनाद्युक्तिः । *तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्*-"आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् । विकारं मानसं योगो प्रत्याहारेण सर्वदा ॥ धारणाभिर्मनोधैर्यं ज्ञानादैश्वर्यमुत्तमम् । समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभ" इति । *ऊर्वोरिति*। ऊर्वोरुपरि परस्परस्योर्वोरुपरि व्युत्क्रमादित्यस्यात्रापि सम्बन्धात् ॥ परिबन्धयेदित्यत्र व्युत्क्रमादिति पृष्ठभागे हस्तमात्रव्युत्क्रमः । अङ्गुष्ठबन्धने तु तत्तद्धस्तेनैव तत्तदङ्गुष्ठबन्धनम् ॥ १० ॥ ११ ॥

जान्विति। *अन्तरे इति*। दक्षिणे वामपादं वामे दक्षिणं पूर्वासने अङ्गुष्ठबन्धनेनैव

---

(१) यस्याऽभिभवतास्येननोन्वयः ॥

ऋजुकायो विशेद्योगी स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १२ ॥
सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद्गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम् ।
वृषणाधः पादपार्ष्णी (पार्श्निपादौ) पाणिभ्यां परिबन्धयेत् ॥१३॥
भद्रासनं समुद्दिष्टं योगिभिः पूजितं परम् ।
ऊर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्येज्जान्वोः प्रत्यङ्मुखाङ्गुली ॥ १४ ॥
करौ निदध्यादाख्यातं वज्रासनमनुत्तमम् ।
एकपादमधः कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम् ॥ १५ ॥
ऋजुकायो विशेद्योगी वीरासनमितीरितम् ।
इडयाऽऽकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया ॥ १६ ॥
धारयेत्पूरितं योगी चतुः षष्ट्या तु मात्रया ।
सुषुम्णा मध्यगं सम्यक् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ॥ १७ ॥
नाड्या पिङ्गलया चैनं रेचयेद्योगवित्तमः ।
प्राणायाममिमं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः ॥ १८ ॥
भूयो भूयः क्रमात्तस्य व्यत्यासेन समाचरेत् ।
मात्रावृद्धिक्रमेणैव सम्यग्द्वादश षोडश ॥ १९ ॥
प्राणायामो हि द्विविधः सगर्भोऽगर्भएव च ।

ऋजुकायता सिद्धा । अत्र तु तथाभावादृजुकाय इति उक्तम् ॥ १२ ॥

सीवन्या इति। गुदमेढ्राऽन्तरालोर्ध्वरेखा सीवनी तस्याः। *पार्श्वयोः* वामपार्श्वे दक्षिणपादगुल्फम् । अन्यस्मिन्नन्यम् । *वृषणाधः* वृषणात् अण्डकोशादधः । पादपार्ष्णी "व्यत्यासेन भवत" इति शेषः । "तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः" इति कोशः । *पाणिभ्यां परिबन्धयेत्* "पूर्ववदङ्गुष्ठाविति" शेषः । अङ्गुष्ठबन्धनेनर्जुकायत्वं सिद्धम् । तदुक्तं *योगसारे*—"सीवन्या आत्मनः पार्श्वे गुल्फौ निःक्षिप्य पादयोः । सव्ये दक्षिणगुल्फं च दक्षिणे दक्षिणेतरम् ॥ दक्षे सव्यकरं न्यस्य सव्ये न्यस्येतरं करम् । अङ्गुष्ठौ चासिवङ्गीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु" इति ॥ १३ ॥

ऊर्वोरिति । स्वस्वोरुमूले क्रमात् पदद्वयं कुर्यात् । *प्रत्यङ्मुखाङ्गुली* । स्वसंमुखाङ्गुली । प्रत्यङ्मुखाङ्गुली करौ जान्वोरुपरि विदध्यादित्यन्वयः । अत्रर्जुकायत्वं जानुहस्तदानादेव सिद्धम् ॥ १४ ॥

अथ इति ॥ अपरस्फिजः । *मात्रयेति* । मात्रालक्षणमुक्तं* तन्त्रान्तरे*—"कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम् । पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रये"ति । *अन्येऽन्यथा मात्रालक्षणमाहुः*—"स्वजानुमण्डलं पूर्व्वं त्रिः परामृश्य पाणिना । प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी"ति । *अन्ये तु*—"सोऽङ्गुलिस्फोटतुल्यश्च मात्राष्टाभिः श्रुतैः स्मृते"ति । वायवीयसंहितायां तु*—"जानू प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् । अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिते"ति । *आकर्षयेदिति* । पूरकैः पूरितं धारयेदिति कुम्भकः ॥ १५ ॥ १६ ॥ ३ ॥

सुषुम्णामध्यगं सम्यगिति। पूर्णेण सम्बध्यते । *शनैरिति* रेचकः । केवलं रेचकादिक्रमेण। *तस्य व्यत्यासेन* उक्तवैपरीत्येन द्वादशषोडश वा प्राणायामान् समाचरेदित्यन्वयः। तदुक्तं "शुचिः प्राणायामान्प्रणवसहितान् षोडश वशी प्रभाते सायं च प्रतिदिवसमेवं वितनुते। द्विजोयस्तम्भ्रूणग्रहणनकृतांहोभिकलितं पुनन्त्येते मासादपि दुरिततूलौघदहना" इति । पर समाह—श्लोकेन ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ ३ ॥

जपध्यानादिभिर्युक्तं सगर्भं तं विदुर्बुधाः ॥ २० ॥
तदपेतं विगर्भं च प्राणायामं परे विदुः ।
क्रमादभ्यस्यतः पुंसो देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ॥ २१ ॥
मध्यमः कम्पसंयुक्तोभूमित्यागः परो मतः ।
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यावच्छीलनमिष्यते ॥ २२ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥ २३ ॥
अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां ततोनसि ॥ २४ ॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्द्ध्नि द्वादशान्ते यथाविधि ।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥ २५ ॥
समाहितेन मनसा चैतन्यान्तरवर्तिना ।
आत्मन्यभीष्टदेवानां ध्यानं ध्यानमिहोच्यते ॥ २६ ॥
समस्तभावना नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।

जपेति । परे बुधा विदुरित्यन्वयः । अयं च प्राणायामःपूजाविषय इति ज्ञेयम् । "अयं प्राणायामः सकलदुरितध्वंसनकरोविगर्भः प्रोक्तोऽसौ शतगुणफलोगर्भकलितः । जपध्यानोपेतः स तु निगदितो गर्भरहितः सगर्भस्तद्युक्तो मुनिभिरविबुद्धैर्योगनिरतैरि"ति ॥ २० ॥

शीलनम् "प्राणायामस्ये"ति शेषः ॥ २२ ॥

*इन्द्रियाणा*मित्यादिना मनस एकत्र स्थितिः कार्येत्युक्तं भवति । यतो मनः सहायानामेव तेषां स्वस्वविषयग्रहणशक्तिरतस्तन्निरोधेनैव निरोधादिति भावः ॥ २३ ॥

लम्बिका—तालुमूलम् । *मस्तकं* ललाटाकाशसन्धिः ॥ २४ ॥

मूर्द्ध्नीति । तदुपरि भागः । *द्वादशान्ते* ब्रह्मरन्ध्रे । *यथाविधीति* । गुरूक्तक्रमेण । *वसिष्ठसंहितायां पञ्च धारणा उक्ताः* "भूतानां मानसं चैकं धारणा च पृथक् पृथक् । मनसोनिश्चलत्वे तु धारणाच विधीयते ॥ प्रासश्रीहरितालहेमरुचिरायत्वं कललान्वितं संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी। प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाचित्तान्वितं धारयेदेषा स्तम्भकरी सदाक्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा १ अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेवतत्त्वान्वितं तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना । प्राणांस्तत्र विनीय पञ्च घटिका श्चित्तान्वितं धारयेदेषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा २ तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेन तं तेजोनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम् । प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वानरी धारणा ३ यन्मूलं चजगत्प्रपञ्चसहितं ह्यम्भ्रुवोरन्तरे तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहितं यन्त्रेश्वरोदेवता । प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ४ आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रेस्थितं तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः । प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ कर्म्मणां साधकाः सर्वा धारणाः पञ्च दुर्लभाः । तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यत" इति॥२५॥

अभीष्टदेवानामिति । सगर्भं ध्यानमुक्तं विगर्भमपि ध्यानं ग्रन्थान्तरे उक्तम् । यदाहुः—"यत्तत्त्वे निश्चलं चित्तं तद्ध्यानं परमुच्यते । द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ।। सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा । अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानिच ॥ एकस्या ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ अन्तश्चेतोबहिश्चक्षुरधस्थाप्य सुखासनम् । समत्वं

समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम् ॥ २७ ॥
षण्णवत्यङ्गुलायामं शरीरमुभयात्मकम् ।
गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद्द्व्यङ्गुलं विदुः ॥ २८ ॥
तस्माद् द्विगुणविस्तारं वृत्तरूपेण शोभितम् ।
नाडयस्तत्र समुद्भूता मुख्यास्तिस्रः प्रकीर्तिताः ॥ २९ ॥
इडा वामे स्थिता नाडी पिङ्गला दक्षिणे मता ।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णा वंशमाश्रिता ॥ ३० ॥
पादाङ्गुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुनः ।
ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥ ३१ ॥
तस्या मध्यगता नाडी चित्राख्या योगिवल्लभा ।
ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां पद्मसूत्रनिभं परम् ॥ ३२ ॥
आधारांश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा ।
दिव्यमार्गमिमं प्राहुरमृतानन्दकारणम् ॥ ३३ ॥
इडायां सञ्चरेच्चन्द्रः पिङ्गलायां दिवाकरः ।
ज्ञातौ योगनिदानज्ञैः सुषुम्णायां तु तावुभौ ॥ ३४ ॥
आधारकन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम् ।

च शरीरस्य ध्यानमाहुश्च सिद्धिदम् ॥ नासाग्रे हाष्ठमादाय ध्यात्वा मुञ्चति बन्धनादि” त्यादिना । “गुदे मेढ्रे च नाभौ च हृदये कण्ठदेशके । घण्टिकालम्बिकास्थाने भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ॥ निर्गुणं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् । शून्ये सर्वमयं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयादि”त्यन्तेन ॥ २६ ॥ २७ ॥

योगसिद्ध्यर्थं शरीराभ्यन्तरे मूलाधारमारभ्य तत्तन्नाडीस्थाने वायुसंचारं वक्तुं शरीरप्रमाणमाह—*षडिति* । *उभयात्मकं*—शिवशक्त्यात्मकम् । अग्नीषोमात्मकं वा । शुक्रशोणितात्मकं वेति प्रथमपटलोक्तानुवादः ॥ २८ ॥

तस्मात्—उत्सेधात् ॥ २९ ॥

वंशं पृष्ठवंशम् । *आश्रिता* तदन्तर्गता । यदाहुः—“या मुण्डाधारदण्डान्तरविवरगते”ति ॥ ३० ॥

शिफाभ्याम् । मूलाभ्याम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

आधारानिति । केचन द्वादश अन्ये षोडशाहुः । परे बहूनि च ॥ यदाहुः—“ततस्तु ब्रह्मकङ्काले ध्यायेच्चक्रक्रमं सुधीः । आधारचक्रं प्रथमं कुलदीपमनन्तरम् । वज्रवक्त्रं ततः प्रोक्तं स्वाधिष्ठानात्मकं परम् ॥ रौद्रं करालचक्रं च गह्वरात्मकमेव च । विद्यापदं च त्रिमुखं त्रिपदं कालदण्डकम् ॥ आकारचक्रं च ततः कालोद्दारं करङ्ककम् ॥ दीपकं क्षोभजनकमानन्दकलिलात्मकम् ॥ मणिपूरकसंज्ञं च स्वाकुलं कलभेदनम् । महोत्साहं च परमं मादकं पदमुच्यते ॥ कङ्कालककल्पजालं ततश्चिन्त्यं घोषकल्लोलनं ततः । नादावर्तपदं प्रोक्तं त्रिपुटं च तदुत्तरम् ॥ अनाहतं पद्ममतश्चक्रं विख्यातं पुटभेदनम् । महाग्रन्थिविकाशं च बन्धोज्ज्वलनसंज्ञितम् ॥ कौञ्चं भेरुण्डविभवपुं व्योमचक्रं ततो भवेत् । बोधनं ध्रुवसंज्ञं च कालकन्दलकं ततः ॥ कौञ्चं भेरुण्डविभवं डामरं कुलपीठकम् । कुलकोलाहलं हालाहलावर्तं महद्रथम् । घोरभैरवसंज्ञं च विशुद्धिः कण्ठमुत्तमम् । घूर्णकं पदमाख्यातमाज्ञाकाकपुटं तथा । शृङ्गाटं कामरूपाख्यं पूर्णगिर्यात्मकं परम् ॥ महाव्योमात्मकं चक्रं शक्तिरूपमनुस्मरेदि”ति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

ज्योतिषां निलयं दिव्यं प्राहुरागमवेदिनः ॥ ३५ ॥
तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
परिस्फुरति सर्वात्मा सुप्ताहिसदृशाकृतिः ॥ ३६ ॥
बिभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाश्रयोनित्यं प्राणो नाडीसमाश्रयः ॥ ३७ ॥
आधारादुद्गतो वायुर्यथावत्सर्वदेहिनाम् ।
देहं व्याप्य स्वनाडीभिः प्रयाणं कुरुते बहिः ॥ ३८ ॥
द्वादशाङ्गुलमानेन तस्मात्प्राण इतीरितः ।
रम्ये मृद्वासने शुद्धे पटाजिनकुशोत्तरे ॥ ३९ ॥
बद्ध्वैकमासनं योगी योगमार्गपरो भवेत् ।
ज्ञात्वा भूतोदयं देहे विधिवत्प्राणवायुना ॥ ४० ॥
तत्तद्भूतं जपेद्देहं दृढत्वावाप्तये सुधीः ।
दण्डाकारा गतिर्भूमेः पुटयोरुभयोरधः ॥ ४१ ॥
तोयस्य पावकस्योर्द्ध्वगतिस्तिर्यङ्नभस्वतः ।
गतिर्व्योम्नो भवेन्मध्ये भूतानामुदयः स्मृतः ॥ ४२ ॥
धरणेरुदये कुर्यात्स्तम्भनं वश्यमात्मवित् ।
शान्तिकं पौष्टिकं कर्म तोयस्य समये वसोः ॥ ४३ ॥

कुण्डलीस्थानमाह—*आधारति* " ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

कुण्डलीशक्तिरात्मानं बिभर्त्ति तद्योगभागिनीभवतीत्यर्थः । कीदृक् ? हंसं जीवात्मा-न*माश्रिता* जीवाधिष्ठाना सतीत्यर्थः । *हंसः प्राणाश्रयः* प्राणवायुसमाश्रयइत्यर्थः। *प्रा-णा—नाडीसमाश्रयः* ॥ ३७ ॥

कथं तस्य नाडीसमाश्रयत्वमित्यत आह—*आधारादिति* । *प्रयाणं कुरुते* । अत एव प्राणः इति प्राणशब्दव्युत्पत्तिर्दर्शिता ॥ ३८ ॥

द्वादशाङ्गुलमानेनेति । वामदक्षिणयोरिति ज्ञेयम् । *एतत्फलमुक्तं तन्त्रान्तरे*—"भोजनं मैथुनं युद्धं फलपुष्पग्रहं तथा । कुर्य्यात् क्रूराणि कर्माणि वायौ दक्षिणसंश्रिते ॥ यात्रा-विवाहकर्माणि शुभकर्माणि यानि च । तानि सर्व्वाणि कुर्वीत वामे वायौ तु संस्थिते" इति *तथा*—"व्यायामं शयनं क्रूरं षट्कर्मादिकसाधनम् । तानि सिध्यन्ति सूर्येण नात्र कार्य्या विचारणे"ति । *अन्यत्रापि*—"दैवे दक्षिणभागगेऽथ पुरुषे रोगातुरे दक्षिणे स्थित्वा पृच्छति पृच्छकः स पुरुषोजीवत्यरोगश्चिरम् । वामायां तु रुजाकुलीकृततनौ वामाश्रिते चेद्वरे वामे पृच्छति चेत् स्थिता गतगदा वामा चिरञ्जीवती"ति ॥ देवेगते पृच्छति वामभागं स्थित्वा नरोदक्षिणतो यदीह । व्यत्यासतोऽस्मादपि कृच्छ्रसाध्यं वदन्ति सन्तः खलु रोगजात-मि"ति । अथवा आधारादुद्गतः बहिः प्रयाणं कुरुत इत्यनेनोत्पत्तिलये सन्ध्ये अहोरात्रमि-त्यादि सर्वमुक्तम् । यदाहुः—"जानीयादुदयं बुधः स्वजठरे देवस्य कन्दे नृणां घ्राणान्तिरमक-राङ्गुले खलु लयं सन्ध्ये च पूर्वापरे । उत्पत्तिं च लयं च संततमधोवृत्तिं निशां वासरे तूर्ध्व-वृत्तिमधस्तथा हिमकरं चोर्द्ध्वां दिनेशं गतमि"ति ॥ ½ ॥

योगप्रकारमाह—*रम्य इति* रम्य—एकान्त इत्यर्थः । अन्यथा चित्तविक्षेपः स्याद-तिकाठिन्ये सति देहपीडया तत्रैव मनोगमिष्यतीति मृद्वासन इत्युक्तम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ½ ॥ भूतपरिचर्य्यार्थमाह *दण्डेति* ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मारणादीनि मरुतो विपक्षोच्चाटनादिकम् ।
क्ष्वेडादिनाशनं शस्तमुदये च विहायसः ॥ ४४ ॥
अङ्गुलीभिर्दृढं बध्वा करणानि समाहितः ।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने ॥ ४५ ॥
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम् ।
बध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन् ॥ ४६ ॥
धारयेन्मारुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः ।
नादः सञ्जायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः ॥ ४७ ॥
मत्तभृङ्गाङ्गनागीतसदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
वंशिकास्याविलापूर्णवंशध्वनिनिभोऽपरः ॥ ४८ ॥
घण्टारवसमः पश्चाद् घनमेघस्वनोऽपरः ।
एवमभ्यसतः पुंसः संसारध्वान्तनाशनम् ॥ ४९ ॥
ज्ञानमुत्पद्यते पूर्वं हंसलक्षणमव्ययम् ।
पुम्प्रकृत्यात्मकौ प्रोक्तौ बिन्दुसर्गौ मनीषिभिः ॥ ५०॥
ताभ्यां क्रमात्समुद्भूतौ बिन्दुसर्गावसानकौ ।
हंसौ तौ पुम्प्रकृत्याख्यौ हं पुमान्प्रकृतिस्तु सः ॥ ५१ ॥
अजपा कथिता ताभ्यां जीवोऽयमुपतिष्ठति ।

प्रसङ्गतस्तत्तदुद्भूतोदयमाह—*धरणेरिति* । *वसो* रग्नेः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

बध्वेति । अन्यथा यदि इन्द्रियमार्गेण हठाद्वायुर्निर्गच्छेत्तदा तदुपघातः स्यात् । *करणानि* इन्द्रियाणि । *उभे* इति त्रिष्वन्वेति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

घनो निबिडो मेघस्वन वत् स्वनो यस्येति मध्यमपदलोपी समासः । एवमित्यग्रेतनेनान्वेति ॥ *ध्वनिदशकमाहुः*—"चिणीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिणीति द्वितीयकः । चिरि(चि)चाकी तृतीयस्तु चतुर्थो घर्घरः स्वरः ॥ पञ्चमस्तु मनागुच्चः षष्ठो मदकलध्वनिः । सप्तमः सूक्ष्मनादः स्यादष्टमो वेणुवद्ध्वनः ॥ नवमो मधुरध्वानो दशमो दुन्दुभिस्वन" इति । *हंसोपनिषद्यपि*—"अथ दशकोषो नादमनुभवति । स च दशविध उपजायते । चिणीति प्रथमः चिणिचिणीति द्वितीयकः । घण्टानादस्तृतीयकः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो मेघनादः । नवमं परित्यज्य दशममभ्यसेत् । तस्मान्मनो विलीयते । विलीने मनसि गते सङ्कल्पे विकल्पे, दग्धे पुण्ये पापे सदाशिवो भवति" ॥ ४९ ॥

हंसलक्षणं—शिवशक्त्यात्मकं जीवात्मकं वा । *प्रयोगसारे तु*—"कम्परोमोद्गमानन्दवैमल्यस्थैर्यलाघवम् । प्रकाशज्ञानवैदुष्यभावोद्वैतात्मसंचयः ॥ सम्भवन्ति दशावस्था योगिनः सिद्धिसूचकाः । ततस्त्रैकाल्यविज्ञानं महाप्रज्ञा मनाज्ञता ॥ छन्दतः प्राणसंरोधो नाडीनां क्रमणं तथा । वाचां सिद्धिश्चिरायुष्यमिन्द्रजालानुवर्त्तनम् ॥ देहाद्देहान्तरप्राप्तिरात्मज्योतिः प्रकाशनम् ॥ प्रत्यया दश दृश्यन्ते प्राप्तयोगस्य योगिन " इति । प्रणवोत्पत्तिमाह—*पुमिति* ॥ ५० ॥

क्रमादिति बिन्दोर्हं विसर्गात्सः ॥ *पुंप्रकृत्याख्याविति* । नामकाल्पनिकं तत्त्वतो बिन्दुविसर्गावेव । *हम्पुमानिति* च । अत एवात्रादौ अकारे निपाते योजिते अहमिति लोकप्रसिद्ध आत्माभिनयः ॥ ५१ ॥

पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमात्मना ॥ ५२ ॥
यदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमियं भवेत् ।
सकारार्णं हकारार्णं लोपयित्वा ततः परम् ॥ ५३ ॥
सन्धिं कुर्यात्पूर्वरूपन्तदासौ प्रणवो भवेत् ।
परानन्दमयं नित्यंचैतन्यैकगुणात्मकम् ।
आत्माभेदस्थितं योगी प्रणवं भावयेत्सदा ॥ ५४ ॥
आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः ।
आत्मानमानन्दरसैकसिन्धुं पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः ॥ ५५ ॥
सत्यं हेतुविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणम्
व्याप्तस्थावरजङ्गमं निरुपमं चैतन्यमन्तर्गतम् ।
आत्मानं रविवह्निचन्द्रवपुषं तारात्मकं सन्ततम्
नित्यानन्दगुणालयं सुकृतिनः पश्यन्ति रुद्धेन्द्रियाः ॥ ५६ ॥
तारस्य सप्तविभवैः परिचीयमानं मानैरगम्यमनिशं श्रुतिमौलिमृग्यम् ।
सच्चित्समस्तगमनश्वरमच्युतं तत्तेजः परं भजत सान्द्रसुधाम्बुराशिम् ॥ ५७ ॥

उपतिष्ठति—आधारयति। पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा नित्यं तमेवाश्रिता प्रकृतिरिति सम्बन्धः ॥ यदातु—प्रकृतेर्नित्यमात्मन इति पाठस्तदा आत्मनः प्रकृतेरिति समानाधिकरणे षष्ठ्यौ । प्रकृतिरविद्या सा ब्रह्मभिन्नत्वेन जीवकल्पकत्वात्तदभिन्नेव स्वाश्रयं मत्वा इयं यदा तद्भावमाप्नोतीति सम्बन्धः ॥ ५२ ॥

तद्भावमिति । प्रकृतिपुरुषयोरभेदात्परमात्मैवाहमिति जीवब्रह्मणोरैक्यमित्यर्थः । अजपाभ्यासाच्चैवमैक्यमुदेतीति व्यक्तीकृतम् ॥ *लोपयित्वेति* । व्यञ्जनयोः कल्पितत्वादेव लोपः ॥ ५३ ॥

पूर्वरूपं । "एङः पदान्तादती"त्यनेन ॥ *परानन्दमयमिति*। "आनन्दं ब्रह्मणोरूपन्तच्च मोक्षेप्रतिष्ठितमि"ति श्रुतेः । *नित्यं* वक्ष्यमाणश्रुतेरेव । चैतन्यं ज्ञानं स चासावेकोगुणश्च तदात्मकम् *सत्यम्* "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति श्रुतेः ॥" यद्वा चैतन्यं ज्ञानरूपमेकम् "एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मे"ति श्रुतेः । संसारोत्पत्तिकर्तृत्वकल्पितसत्त्वरजस्तमोगुणरूपम् । *आत्माभेदस्थितं* सोऽहं शब्दोस्य तथा तस्य च तदर्थकत्वात ॥ ५४ ॥

आम्नायेति । "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इति श्रुतेः । *आद्यं* शास्त्रयोनित्वात् । *स्वसंवेद्यगुणेन वेद्यं*—स्वप्रकाशमित्यर्थः । *आनन्दमिति* । "आनन्दं ब्रह्मणोरूपमि"ति श्रुतेः । *तारात्मकं* मुक्तरीत्या । *आत्मनिष्ठाः* । आदरनैरन्तर्य्यदीर्घकालाभ्यासैः सूचितपरयोगिनः ॥ ५५ ॥

सत्यं "सत्यं ज्ञानमि"ति श्रुतेः । *हेतुविवर्ज्जितं*—नित्यत्वादनुत्पाद्यम् । यद्वा हेतवोदुस्तर्कास्तद्विवर्जितम् । *श्रुतिगिरामाद्यं* "शास्त्रयोनित्वादि"ति सूत्रे वेदकर्तृत्वोक्तेः । प्रणवात्मकत्वाद्वा । *जगत्कारणम्* "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतेः । *व्याप्तेति* । तद्विवर्त्तरूपत्वाज्जगतः । *निरुपममिति* अद्वितीयत्वेन । *चैतन्यमन्तर्गतं*—प्रत्यक् चैतन्यम् । आत्मरूपचैतन्यमित्यर्थः । *रवीति* । रविचन्द्रवह्निवपुरिव वपुर्यस्य । प्रकाशरूपमित्यर्थः । ननु तद्वदाकारप्राहित्वे अयं दृष्टान्तः । तस्य निराकारत्वात् प्रणवरूपत्वाद्वा तद्वदुक्तिः ॥ ५६ ॥

तारस्येति । अकारोकारमकारबिन्दुनादशक्तिशान्ताख्यैः *परिचीयमानं* निरूप्यमानम् । तदेवाह—*मानैरगम्यमिति* । *श्रुतिमौलि* रुपनिषत् *सत्* सत्तात्मकमस्तीति

हिरण्मयं दीप्तमनेकवर्णं त्रिमूर्तिमूलं निगमादिबीजम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं भजन्ते चैतन्यमात्रं रविमण्डलस्थम् ॥ ५८ ॥
सुखदा दातृसुभगा शङ्करार्द्धशरीरिणी ।
ग्रन्थपुष्पोपहारेण प्रीता नः पार्वती सदा ॥ ५९ ॥
ध्यायन्ति दुग्धाब्धिभुजङ्गभोगे शयानमाद्यं कमलासहायम् ।
प्रफुल्लनेत्राम्बुजमञ्जनाभं चतुर्मुखेनाश्रितनाभिपद्मम् ॥ ६० ॥
आम्नायग्रन्थिवचनं घननीलमुद्यच्छ्रीवत्सकौस्तुभगदाम्बुजशङ्खचक्रम् ।
हृत्पुण्डरीकनिलयं जगदेकमूलमालोकयन्ति कृतिनः पुरुषं पुराणम् ॥ ६१ ॥
बिन्दोर्नादसमुद्भवः समुदिते नादे जगत्कारणम् ।
ता तत्त्वमुखाम्बुजं पुरिवृतं वर्णात्मकैर्भूर्जजैः ।
आम्नायाङ्घ्रिचतुष्टयं पुररिपोरानन्दमूलं वपुः
पायाद्व्योमुकुटेन्दुखण्डविगलद्दिव्यामृतौघप्लुतम् ॥ ६२ ॥
पिण्डं भवेत्कुण्डलिनी शिवात्मा पदं तु हंसः सकलान्तरात्मा ।
रूपं भवेद्बिन्दुरनन्तकान्तिरतीतरूपं शिवसामरस्यम् ॥ ६३ ॥
पिण्डादियोगं शिवसामरस्यात्सबीजयोगं प्रवदन्ति सन्तः ।
शिवेलयं नित्यगुणाभियुक्ते निर्बीजयोगं फलनिर्व्यपेतम् ॥ ६४ ॥

भानात् । *चित्*प्रकाशं,"सद्धीदं सर्वं तत् सदि"ति । "चिद्धीदं सर्वं प्रकाशत"इति च श्रुतेः । *समस्तगं*-व्यापकम् । *अनश्वर* मविध्वंसि । *अच्युत*मेकरूपत्वात् । वाक्यान्तरोपदेशात् श्लोकत्रयस्थानां पदानां परस्परं न पौनरुक्त्यम् ॥ ५७ ॥

सगुणब्रह्मोपास्तिरपि हिरण्यगर्भलोकप्राप्तिद्वारा मुक्तेः क्रमात्कारणमिति शास्त्रोक्तेः निर्गुणब्रह्मोपास्तावसमर्थानां सगुणब्रह्मोपास्तिमाह-*हिरण्मयमिति* । *त्रिमूर्त्तिमूलमिति* अनेनास्य न्यसनीयानि नामानि सूचितानि। यदाहुः-"ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ॐकारः प्रलयस्तथा सर्वव्यापीत्यनन्तश्च तारः सूक्ष्मश्च शुक्लकः ॥ वैद्युतश्च परं ब्रह्म एकश्चाप्येकरुद्रकः । ईशानो भगवांश्चैव ततः स्यात्तु महेश्वरः ।। महादेवः सदापूर्वः शिवः सर्वोदयस्त्रयः। रक्षितावगतश्चैव तथा प्रियतमः स्मृतः ॥ नित्यतृप्तश्च सर्वाद्या षोडशान्ताः प्रकीर्तिताः । आद्यश्चावगमः कान्तः प्रदिष्टः श्रोतृस्वामिनौ ॥ समर्थौ पावकश्चैव क्रियेच्छादीप्त एव च ॥ अवाप्तालिङ्गितौ चैव हिंसकोदाहकस्तथा ।। भावग्राह्यौ गुणं बीजं ध्रुवोवेदा दिरादियुक् । उमव्योमपरश्चैव त्रिमात्री योनिरेव च । देहाश्रयश्च संवादात्मानौ सर्वादिकाह्वयः" इति ।। ५८ ।। ५९ ॥

क्रमशोमोक्षार्थमन्यां साकारोपास्तिमाह-*ध्यायन्तीति* श्लोकद्वयेन ॥ ६० ॥

आम्नायेति आम्नाया वेदास्तद्ग्रथितुं स्रष्टुं वचनं यस्य तम् ।। ६१ ।।

क्रममुक्त्यर्थमन्यंसाकारध्यानयोगमाह *बिन्दोरिति* बिन्दुः शिवात्मा । ॐकारस्य शिरोरूपः। *तत्त्वमुखाम्बुजम्* चतुर्विंशतितत्त्वमयमुखकमलम् । सबीजयोगमाह-*पिण्डमिति* अकारोकारमकारात्मकत्वात् पिण्डः प्रणवः । *कुण्डलिनी* तद्रूपासैव *शिवात्मा* । *सकलान्तरात्म:*-हंसः *तस्याः *पदं* स्थानम् । अनयोरनन्तकान्तिबिन्दुरूपं, परमार्थतस्तु *शिवयोः* सामरस्यमतीतरूपं नीरूपमेव । यद्वाऽतीतेति-अतिपूर्वस्येणोलोण्मध्यम-पुरुषबहुवचनं, हेलोकाः! यूयं सर्वजगदतिक्रमेणैवं ध्यानात् शिवसामरस्यरूपमतीत अतियात गच्छतेत्यर्थः ।। ६२ ॥ ६३ ।।

अनेन सायुज्यमुक्तिर्भवतीत्याह-*पिण्डादीति* । सारूप्यमुक्तिमाह *शिव इति* ॥६४॥

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजमहिषीं यान्तीं सुषुम्नान्तरम् ।
भित्त्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद्दिव्यामृतौघप्लुताम्
सम्भाव्य स्वगृहं गतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत्कुण्डलीम् ॥ ६५ ॥
हंसं नित्यमनन्तमव्ययगुणं स्वाधारतोनिर्गता ।
शक्तिः कुण्डलिनी समस्तजननी हस्ते गृहीत्वा च तम् ।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयम् ।
यान्ती स्वाश्रयमर्ककोटिरुचिरा ध्येया जगन्मोहिनी ॥ ६६ ॥
अव्यक्तं परबिन्दुमाश्रितरुचिं नीत्वा शिवस्यालयम् ।
शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लता सन्निभा ।
आनन्दामृतमध्यगं पुरभिदं चन्द्रार्ककोटिप्रभम् ।
सवीक्ष्य स्वपुरं गता भगवती ध्येयाऽनवद्या गुणैः ॥ ६७ ॥
मध्येवर्त्म समीरणद्वयमिथः संघट्टसंक्षोभजम् ।
शब्दस्तोममतीत्य तेजसि तडित्कोटिप्रभाभासुरे ।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजपासिन्दूरसन्ध्यारुणाम्
सान्द्रानन्दसुधामयीं परशिवं प्राप्तां परां देवताम् ॥६८॥
गमना(१)गमनेषु जाङ्घिकी सा तनुयाद्योगफलानि कुण्डली ।
मुदिताकुलकामधेनुरेषा भजतां काङ्क्षितकल्पवल्लरी ॥ ६९ ॥
आधारस्थितशक्तिबिन्दुनिलयां नीवारशूकोपमाम् ।
नित्यानन्दमयीं गलत्परसुधावर्षैः प्रबोधप्रदैः ।

सम्प्रति आत्मानुभवैकगम्यकुण्डलिनीचिन्तनरूपं राजयोगादिप्रकारमाह—*मूलेति* । मूलात् मूलाधारात् उन्निद्रा जाग्रद्रूपा । कुण्डलयाः सर्पाकारत्वाद् भुजङ्गराजमहिषो व्यपदेशः । सुषुम्णान्तरं यान्तीम् । *आधारसमूहं* स्वाधिष्ठानमणिपूरकाऽनाहतविशुद्धाज्ञारूपम् । *व्योमाम्भोजेति* । सहस्रदलपति शिवम् । *स्वगृहं* मूलाधारम् ॥ ६५ ॥

तं—जीवं जप्यमानं हंसं हस्ते गृहीत्वेति सम्बन्धः । यथा च जीवो जपति तथा हंसमन्त्रप्रस्ताव एवोक्तम् । *स्वाश्रयं*—मूलाधारम् । पूर्वश्लोकात् हंसं गृहीत्वा यातेति विशेषः ॥ ६६ ॥

अव्यक्तं परबिन्दुं नीत्वेति पूर्वतो विशेषः । *स्वपुरं*—मूलाधारम् ॥ ६७ ॥

समीरणद्वयेति । अपानवायुनिरोधात् प्राणवायुनिरोधाच्च ऊर्ध्वाधोगतयोर्मिथः सङ्घट्टस्यार्थः । अत्र प्राणापानसंघट्टजशब्दातिक्रमणमेव विशेषः । आरक्तध्यानं च । तदुक्तं—'श्वेते ध्याने वाग्विलास आरक्ते वश्यता भवेदि'ति । अन्यत्रापि—"ध्यायेद्वश्याकर्षणे तां जपाभां श्वेतां शान्तौ स्तम्भने पीतवर्णाम् । श्यामां मुक्तौ मारणे कृष्णवर्णां धूम्राभासां द्वेषणोच्चाटने च" त्याद्यानुषङ्गिकं फलमपि ज्ञेयम् ॥ ६८ ॥

गमनेति । अत्र गमनागमनेषु जाङ्घिकेति विशेषः ॥ ६९ ॥

आधारेति । आधारामूलाधारचक्रं तत्र स्थिता या शक्तिस्त्रिकोणं तस्या मध्यस्थानं, बिन्दुः तन्निलयाम् । यद्वा । आधारस्थिता या शक्तिस्त्रिकोणम् । अथ च तत्रस्थकामबीजं ।

---

(१) शीघ्रगामिनी । "जङ्घालोऽतिजवस्तुल्यौ जङ्घाकरिकजाङ्घिकौ" इत्यमरः ॥

सिरक्षाषट्सरसीरुहाणि त्रिधिवत्कोदण्डमध्योदिताम्
ध्यायेद्धाटकबन्धुजीवरुचिरां संविँन्मयीं देवताम् ॥ ७० ॥
हृत्पङ्केरुहभानुबिम्बनिलयां विद्युल्लतामत्सराम् ।
बालार्कारुणतेजसा भगवता निर्भर्त्सयन्तीं तमः ।
नादाख्यं पदमर्द्धचन्द्रकुटिलं संविन्मयं शाश्वतम् ।
यान्तीमक्षररूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विभुं तेजसाम् ॥ ७१ ॥
भाले पूर्णनिशापतिप्रतिभटाम्नीहारहारत्विषा ।
सिञ्चन्तीममृतेन देवममितेनानन्दयन्तीं तनुम् ।
वर्णानां जननीं तदीयवपुषा संप्राप्य विश्वं स्थिताम् ।
ध्यायेत्सम्यगनाकुलेन मनसा संविन्मयीमम्बिकाम् ॥ ७२ ॥
मूले भाले हृदि च विलसद्वर्णरूपा सवित्री ।
पीनोत्तुङ्गस्तनभरनमन्मध्यदेशा महेशी ।
चक्रे चक्रे गलितसुधया सिक्तगात्रा प्रकामं
दद्याद्विद्याश्रियमविकलां वाङ्मयी देवता नः ॥ ७३ ॥
निजभवननिवासादुच्चरन्ती विलासैः ।
पथि पथि कमलानां चारुहासं विधाय ।
तरुणतरणिकान्तिः कुण्डली देवता सा ।
शिवसदनसुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः ॥ ७४ ॥
आधारबन्धप्रमुखक्रियाभिः समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः ।
त्रिधामबीजं शिवमर्चयन्ती शिवाङ्गना वः शिवमातनोतु ॥ ७५ ॥
सिन्दूरपुञ्जनिभमिन्दुकलावतंसमानन्दपूर्णनयनत्रयशोभिवक्त्रम् ।

तदापि शक्तिबीजमेतस्य शिरसि यो बिन्दुस्तन्निलयामित्यर्थः । यदाहुः—"तडित्कोटिप्रख्यं स्वरुचिजितकालानलरुचिं सहस्रादित्यांशुप्रकरसदृशोद्योतकलितम् । स्फुरन्तं योन्यतः स्फुटदरुणबन्धूककुसुमप्रभं कामं ध्यायेज्जरठ(१)शशभृत्कोटिशिशिरम् ॥ तस्योर्ध्वं वह्निशिखाऽचिरद्युतिलतापुञ्जप्रभाभासुरा सूक्ष्मा ब्रह्मपथोत्तरोत्तरगता चैतन्यमात्रा कले"ति । *कोदण्डमध्यं*—भ्रूमध्यमाज्ञाचक्रं तत्रोदिताम् । अत्रायमेव विशेषः ॥ ७० ॥

मत्सर(२) शब्दः सदृशार्थः । बालार्कारुणतेजसा तमो निर्भर्त्सयन्तीमिति सम्बन्धः । अत्र हृदयादेव नानार्थं प्रति गमनं (?) वक्षासयध्यानता च विशेषः । एतच्च प्रतिचक्रं भिन्नाः कुण्डल्य इति मते । तैः कुण्डलिनीषट्कस्य स्वीकृतत्वात् ॥ ७१ ॥

भाल इति । अत्राज्ञायां शिवेन सङ्गः वर्णोत्पादकत्वं च विशेषः । तदुक्तं—"स्वयम्भुलिङ्गं निजयोनिमध्येरन्ध्रान्तरे हृत्सरसीरुहान्तः । बाणाह्वयं चेतरमन्तराले वदन्ति सन्तोगगनाम्बुजेऽन्ये" इति ॥ ७२ ॥

स्थानत्रयेऽपि शिवसङ्गमाह—*मूल इति* ॥ ७३ ॥

इतः परं वासनादार्ढ्याय कुण्डलिनीध्यानविशेषान् वदन् स्तुतिमाह—*निजभवनेत्यादिना* । अपानवायुसङ्कोचादाधारबन्ध एव प्राणवायुष्वपि प्रमुखशब्दग्राह्यः ॥७४॥७५॥

अनङ्गतन्त्र मनङ्गप्रधानम् ॥७६॥

---

(१) जरठः पूर्णः ।
(२) "मत्सरोऽन्यशुभद्वेषः" स च सदृश एव भवतीति एतत्काव्यादर्शे दण्डी प्राह ॥

आपीनतुङ्गकुचनम्रमनङ्गतन्त्रं शम्भोः कलत्रममितां श्रियमातनोतु ॥७६॥
नयनकमलैर्दीर्घादीर्घैरलङ्कृतदिङ्मुखम् ।
विनतमरुतां कोटीराग्रैर्निघृष्टपदाम्बुजम् ।
तरुणशकलं चान्द्रं बिभ्रद्घटस्तनमण्डलम् ।
स्फुरतु हृदये बन्धूकाभं कलत्रमुमापतेः ॥ ७७ ॥
वर्णैरर्णवषड्दिशारविकलाचक्षुर्विभक्तैः क्रमा-
दाद्यैः सादिभिरावृताद्यहयुतैः षट्चक्रमध्यानिमान् ।
डाकिन्यादिभिराश्रितान्परिचितान् ब्रह्मादिभिर्दैवतैः
भिन्दाना परदेता त्रिजगतां चित्ते विधत्तां मुदः ॥ ७८ ॥
आधाराद्गुणवृत्तशोभिततनुर्निर्गत्वरां सत्वरम् ।
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मयघनाऽनन्दप्रबोधोत्तरम् ।

दीर्घादीर्घैरिति । कटाक्षेण दीर्घत्वं तत्सङ्कोचेनादीर्घत्वं च । *विनतमरुतामिति* नम्रदेवानां कोटीराग्रैर्मुकुटाग्रभागैः ॥ ७७ ॥

अन्तर्मातृकाक्रमेण कुण्डलिनी ध्यानमाह—*वर्णैरिति* । अर्णवाश्चत्वारः । दिशो दश । रवयो द्वादश । कलाः षोडश । चक्षुर्द्वयम् । सादिभिरित्यनेन व्युत्क्रमो दर्शितः *आद्यैरिति* । मूलाधारस्थितत्वेनाद्यत्वम् । यद्वा साद्यैः सकारादिककारान्तैः । आद्यैः षोडशस्वरैः । हक्षयुतैरिति योजना । तत्र विशुद्धिचक्रे अकारादीनां क्रमेण स्थितैराद्यैरिति पृथग्ग्रहणमिति केचित् । अथवाऽन्यत्राकारस्याद्यत्वमत्र वैपरीत्यक्रमेण सकारस्याद्यत्वमित्याद्यैरित्युक्तम् । द्विदले क्षहौ प्रतिलोमार्थमेव क्षहेति ग्रहणम् । *डाकिन्यादिभिराश्रितान्* । डाकिनी राकिनी काकिनी हाकिनीभिः । *ब्रह्मादिभिर्दैवतैः परिचितान्* । ब्रह्मादिस्थितिर्दीक्षापटले उक्ता । एवं भूतान् षट्चक्रमध्यान् भिन्दानेति सम्बन्धः । तदुक्तम्-"आधारस्तु चतुर्दलोऽरुणरुचिर्वासान्तवर्णाश्रयः स्वाधिष्ठानमनल्पवैद्युतनिभं बालान्तषट्पत्रकम् । रक्ताभं मणिपूरकं दशदलं डाद्यं फकारान्तकं पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरे हैमं कान्तान्वितम्॥ मात्रां षोडशपत्रकं विशदरुग्युक्तं विशुद्धाम्बुजं हक्षेत्यक्षरयुग्दलद्वययुतं रक्ताभमाज्ञापुरम् । तस्मादूर्ध्वमधोमुखं विकसितं पद्मं सहस्रच्छदं नित्यानन्दपरं भजे शिवपदं शक्त्यर्णमच्छारुणमि"ति । अन्यत्र तु "मूलाधारं ब्रह्मणः स्थानमेतत्सौवर्णाभं डाकिनी देवतात्र । स्वाधिष्ठानं विष्णुगेहं प्रदिष्टं बालार्काभं राकिनी देवतात्र ॥ मणिपूरकं तु नीलं इन्द्रस्थानं तु डाकिनी तत्र । रक्तमनाहतमीश्वरगृहं तु शाकिन्यपीहोक्ता ॥ सदाशिवस्थानमिदं विशुद्धं काकिन्यथेहापि च धूम्रवर्णम्। आज्ञापुरं शारदचन्द्रकान्तं हाकिन्यथोक्ता शिवगेहमेतदि"ति । *अध्यात्मविवेके एषां प्रतिदलं भावसञ्चारे फलमुक्तं*—"गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधारं तु चतुर्दलम् । परमः सहजस्तद्वानन्दो वीरपूर्वकः ॥ योगानन्दश्च तस्य स्यादीशानादि दले फलम् । स्वाधिष्ठानं लिङ्गमूले षट् पत्रं चक्रमस्य तु ॥ पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमात् । प्रश्रयः क्रूरता गर्वनाशौ मूर्च्छा ततः परम् । अवज्ञा स्यादविश्वासो जीवस्य चरतो ध्रुवम्॥ नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम् । सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीर्ष्या पिशुनता तथा ॥ लज्जा भयं घृणा मोहः कषायोऽथ विषादिता । हृदयेऽनाहतं चक्रं दलैर्द्वादशभिर्युतम् ॥ लौल्यप्रणाशः कपटो वितर्कोऽप्यनुतापिता । आशाप्रकाशश्चिन्ता च समीहा समता ततः ॥ क्रमेण दम्भो वैकल्यं विवेकोऽहङ्कृतिस्तथा । फलान्येतानि पूर्वादिदलस्थस्यात्मनो जगुः ॥ कण्ठेऽस्ति भारती स्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम्। तत्र प्रणव उद्गीथो हुम्फड्वषडथस्वधा। स्वाहा नमोऽमृतं सप्तस्वराः षड्जादयो द्विषाम् । इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडशे"ति ॥ ७८ ॥

संक्षुब्धध्रुवमण्डलामृतकरप्रस्पन्दमानामृत-
स्रोतः कन्दलिताममन्दतडिदाकारां शिवां भावयेत् ॥ ७९ ॥

आनन्दमौलिमनिशं श्रुतिमौलिमृग्यमर्द्धेन्दुभूषणमधिष्ठितसर्वलोकम् ।
भक्तार्तिभञ्जनपरं पदमीश्वरस्य दद्याच्छुभानि नियतं वपुरम्बिकायाः ॥ ८० ॥

मञ्जुसिञ्जितमञ्जीरं वाममर्द्धं महेशितुः ।
आश्रयामि जगन्मूलं यन्मूलं वचसामपि ॥ ८१ ॥

स्थूलेन्द्रनीलरुचिरं कुचभारनम्रं भास्वत्सुभूषणगणैः प्रविभक्तशोभम् ।
विश्वैकमूलमनिशं श्रुतिमौलिमृग्यमर्द्धं महेशितुरखण्डितमाश्रयामि ॥ ८२ ॥

दिक्कालादिविवर्जिते परशिवे चैतन्यमात्रात्मके ।
शून्ये कारणपञ्चकस्य विलयं नीते निरालम्बने ।
आत्मानं विनिवेश्य निश्चलधिया निर्लीनसर्वेन्द्रियो-
योगी योगफलं प्रयाति सुलभं नित्योदितं निष्क्रियम् ॥८३॥

महाबलाय प्रणतोऽस्मि तस्मै सम्विल्लतालिङ्गनशीतलाय ।
येनार्पितं मुक्तिफलं विपक्वमाम्नायशाखाभिरुपाश्रितेभ्यः ॥८४॥

तस्मादभूदखिलदेशिकवारणेन्द्र षट्कर्मसागरविहारविनोदशीलः ।
यस्य त्रिलोकविततं विजयाभिधानमाचार्यपण्डित इति प्रथयन्ति सन्तः ॥ ८५ ॥

तन्नन्दनो देशिकदेशिकोऽभूच्छ्रीकृष्ण इत्यभ्युदितप्रभावः ।
यत्पादकारुण्यसुधाभिषेकाल्लदर्मी परामश्नुवते कृतार्थाः ॥८६॥

आचार्यविद्याविभवस्य तस्य जातः प्रभोर्लक्ष्मणदेशिकेन्द्रः ।
विद्यास्वशेषासु कलासु सर्वास्वपि प्रथां यो महतीं प्रपेदे ॥८७॥

आदाय सारमखिलं निखिलागमेभ्यः श्रीशारदातिलकनाम चकार तन्त्रम् ।
प्राज्ञः स एष पटलैरिहतत्त्वसंख्यैः प्रीतिप्रदानविधये विदुषां चिराय ॥८८॥

अनाद्यन्ता शम्भोर्वपुषि कलिताद्धेन वपुषा ।
जगद्रूपं शश्वत्सृजति महनीयामपि गिरम् ।

आधारादिति। त्रिकोणकर्णिकं वर्त्तुलमाधारस्वरूपं तस्माद् *गुणवृत्तं* सत्त्वरजस्तमो-गुणात्मकम् ॥ ७९ ॥८०॥८१॥८२॥

दिगिति। देशतः कालतः। आदिपदेन स्वरूपतश्चानवच्छिन्ने। *कारणपञ्चकस्य* उपादानसमवायिनिमित्तप्रयोजकसहकारिकारणपञ्चकस्य। यद्यपि प्रयोजकसहकारिकारणे निमित्त-कारणान्तर्गते एवेति तार्किकाः कारणत्रयमेवाहुः। तथापीषद्भेदमाश्रित्य कारणपञ्चकोपन्यासः। यद्वा पञ्चभूतानां पञ्चतनूमात्रारूपाणि कारणानि। *तदुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे*—"मात्राः पञ्चपरित्यज्य ततः कारणपञ्चकम्। दिव्यं तु कारणं कृत्वा योजयेत्परमे पदे" इति। अतएव *शून्ये* अरूपे *निरालम्बने* आधारहीने। *आत्मानं* *निश्चलधिया विनिवेश्य योगफलं प्रयाति* ॥ ८३ ॥

ग्रन्थकर्ता स्ववंशमाख्याति—*महाबलायेति* । महाबलनामा ग्रन्थकृतः पूर्वजः । तत्पुत्र आचार्यपण्डितस्तत्पुत्रः श्रीकृष्णः *तत्त्वसंख्यैः* *पञ्चविंशतिसंख्यैः*। अत्राद्यः पटलः सृष्टिप्रतिपादकत्वेन मूलप्रकृतिप्रतिपादनपरः। मध्ये त्रयोविंशतिपटलास्तु प्रकृतिविकृति-व्यतिरिक्तपुरुषप्रतिपादनपराः। एवं पञ्चविंशतितत्त्वात्मकत्वमस्य ग्रन्थस्योक्तं भवति ॥ ८४। ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

सकलतत्त्वार्थगुम्फितग्रन्थप्रारिप्सया मङ्गलं करोति—*अनादीति*। "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्या-

सद्यो शब्दार्थस्तनभरनता शङ्करवधू-
र्भवेद्भूत्यैभूयाद्भवजनितदुःखौघशमनी ॥ ८९ ॥

इति श्रीशारदातिलके पञ्चविंशः पटलः ॥ २५ ॥ * ॥

समाप्तः ॥

नि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत् पुरुषकाणि चेत्यति भगवत् पतञ्जलिवचनादितिशिवम् ॥ ८९ ॥

पुरं गोदावर्या विलसदुपकण्ठे जनततं जनस्थानं नाम प्रथितमभवद्दक्षिणदिशि ।
महाराष्ट्रे देशे जनकतनयालक्ष्मणवृतः पुरारामोयस्मिन्नवसदतितुष्टेन मनसा ॥ १ ॥

तस्मिन्पुरे ब्राह्मणसत्तमानां कुले विशुद्धे महति प्रसिद्धे ।
श्रीभट्टरामेश्वर इत्युदारो गुणैरभूद्वादिमहेभसिंहः ॥ २ ॥

तस्मादभूत्तीक्ष्णकुशाग्रबुद्धिः श्रीभट्टपृथ्वीधरनामधेयः ।
अनेकधाध्यापयदेषभाट्टवेदान्तशास्त्रं फणिभाषितानि ॥ ३ ॥

गीर्वाणाचार्यवर्य्योदिविकृतवशतियंद्भयादेव शङ्के ।
शेषः पातालमूलं स च सपदि पराभूतिभीत्या विवेश ।
अन्येषां कैव वार्त्ता कृतकृतकवचश्चापलानां कृतं तैः ।
सम्यक् शक्योऽस्य वक्तुं नहि वदनशतैरप्यशेषः प्रभावः ॥ ४ ॥

कैश्चिद्दिनैरतिपवित्रचरित्र एष वाराणसीमभिगमच्छिवराजधानीम् ।
तत्रैव वासमकरोत्तदनुप्रतीकः कायावसानमवधिं परिचिन्त्य धीरः ॥ ५ ॥

तस्माद्राघवभट्ट एष समभूद्वेदान्तसन्न्यायवित् ।
ख्यातोभट्टनये समस्तगणिते साहित्यरत्नाकरः ।
आयुर्वेदनिधिः कलासु कुशलः कामार्थशास्त्रे गुरुः ।
संगीते निपुणः सदागमनिधिः पारं प्रयातः परम् ॥ ६ ॥

श्रीदुर्गे ! गणनायक ! महगुरो ! गोविन्द ! गौरीपते ! ।
युष्मानर्थय आनतेन शिरसा सोऽहं प्रबद्धाञ्जलिः ।
मन्त्रार्चादिविवेचने यदि भवेद्बालिश्यमत्र क्षमा-
त्काचित्कं मम भक्तिभावितहृदोदासस्य तत् क्षम्यताम् ॥ ७ ॥

अत्युष्णं तीक्ष्णधीभिर्जगदुपकृतये राघवो यद्विवव्रे
गूढार्थं मन्त्रशास्त्रं निधिमिव परमं, संप्रदायाञ्जनेन ।
सन्तः सन्तोषमस्मिन्वितरत तरसा स्वादितस्वस्वकामा
दुष्टादोष्टं स्वकीयं जहि हिताधिया नान्यथार्थागमोवः ॥ ८ ॥

पिशुनजनोऽन्तर्मलिनः परगुणसन्तापविमुखमतिः ।
तत्र मनो न विषीदति दूषणमात्रात्तु यत्र विरतोऽयम् ॥ ९ ॥

कायस्था इव वाचकाः कतिचन प्रायेण मूका इव
श्रोतारस्त्वपरे शुका इव परे साधप्रलापाः पुनः ।
ग्रन्थग्रन्थिविवेचनैकचतुरा ये कोविदाः केवलम् ।
द्वित्रास्ते तदुदारितावगतये विज्ञा पुनः पञ्चषाः ॥ १० ॥

आकाशपुष्करक्ष्मा (१५५०) परिमिते रौद्राभिधे वत्सरे ।
पौषे मासि सिते दले रवितिथौ पक्षे च सिद्धान्विते ।
तन्त्रे ऽस्मिन् सुधिया व्यधायि रुचिरा श्रीराघवेण स्फुटा ।
टीका सद्गुरुसंप्रदायविमला विश्वेशपुर्यामियम् ॥ ११ ॥

इति श्रीशारदातिलकटीकायां राघवभट्टविरचितायां सत्सम्प्रदायकृतव्याख्यायां पदार्थादर्शाभिख्यायां पञ्चविंशः पटलः ॥ २५ ॥ * ॥ श्रीरस्तु शुभमस्तु ॥

श्लोकानुक्रमणिका

व

ष

स

